श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः

श्रीमद्कृष्णद्वैपायनवेदव्यास प्रणीतम्

श्रीमद्भागवतम्

(प्रथम-खण्ड स्कन्ध १-४)

श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति एवं तदन्तर्गत भारतव्यापी श्रीगौड़ीय मठोंके
प्रतिष्ठाता, श्रीकृष्णचैतन्याम्नाय दशमाधस्तनवर
श्रीगौड़ीयाचार्य केशरी नित्यलीलाप्रविष्ट
ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशत श्री

श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजके
अनुगृहीत

त्रिदण्डिस्वामी
श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराज
द्वारा सम्पादित

गौड़ीय वेदान्त प्रकाशन

प्रकाशक — श्रीभक्तिवेदान्त माधव महाराज

प्रथम संस्करण — ३,००० प्रतियाँ
श्रीकृष्णकी हैमन्तिकी रासयात्रा
श्रीचैतन्याब्द ५२३
२ नवम्बर, २००९ ई॰

प्राप्तिस्थान

श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ
मथुरा (उ॰प्र॰)
०५६५-२५०२३३४

श्रीरूप-सनातन गौड़ीय मठ
दानगली, वृन्दावन (उ॰प्र॰)
०५६५-२४४३२७०

श्रीरमणबिहारी गौड़ीय मठ
बी-३, जनकपुरी, नई दिल्ली
०११-२५५३३५६८

श्रीगिरिधारी गौड़ीय मठ
राधाकुण्ड रोड, गोवर्धन (उ॰प्र॰)
०५६५-२८१५६६८

जयश्री दामोदर गौड़ीय मठ
चक्रतीर्थ रोड, जगन्नाथपुरी,
उड़ीसा
०६७५२-२२७३१७

खण्डेलवाल एण्ड सन्स
अठखम्भा बाजार,
वृन्दावन (उ॰प्र॰)
०५६५-२४४३१०१

श्रीश्रीकेशवजी गौड़ीय मठ
कोलेरडाङ्गा लेन
नवद्वीप, नदीया (प॰ बं॰)
०९३३३२२२७७५

Please visit us at www.purebhakti.com

समर्पण

भक्त-भागवतके सम्पूर्ण आनुगत्यमें ही ग्रन्थ-भागवतके अनुशीलनका दृढ़ अनुमोदन करनेवाले, भागवतके सिद्धान्तोंमें विशेष पारदर्शी, प्राकृत कनक-कामिनी-प्रतिष्ठाके लिए भागवतका पाठ करने-वालोंके लिए पाषण्ड-गजैकसिंह स्वरूप और शुद्ध-भागवत-परम्पराका आनुगत्य स्वीकारकर समस्त अप-उप-छलादि धर्म रूपी मेघके आवरणसे गौड़ीय गगनमें भागवत अर्ककी प्रभा राशिको निर्मुक्त रखनेवाले 'वैकुण्ठप्रिय' अस्मदीय श्रीगुरु-पादपद्म नित्यलीला प्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजकी प्रेरणासे यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है।

श्रीगुरुपादपद्मकी अपनी ही वस्तु उन्हींके श्रीकरकमलोंमें समर्पित है।

विषय-सूची

प्रस्तावना .... **क-च**

श्रीमद्भागवत् तात्पर्य **1-27**

श्रीमद्भागवत-माहात्म्य **28-41**

श्रीमद्भागवत-सप्ताहके श्रवणकी महिमा और पारायण-विधि **42-54**

प्रथमः स्कन्धः **१-२४०**

प्रथम स्कन्धकी कथाका सार **३-१२**

प्रथमोऽध्यायः—नैमिषारण्यमें शौनकादि ऋषियों द्वारा श्रीसूतगोस्वामीसे प्रश्न **१३-२१**

द्वितीयोऽध्यायः—सम्बन्ध—श्रीभगवान्, अभिधेय—श्रीभक्ति, प्रयोजन—प्रेम **२२-३१**

तृतीयोऽध्यायः—श्रीभगवान्के अवतारोंकी कथा............. **३२-४३**

चतुर्थोऽध्यायः—वक्ता एवं श्रोताकी श्रेष्ठता, श्रीव्यासका असन्तोष **४४-५१**

पञ्चमोऽध्यायः—भगवान्के यश-कीर्त्तनकी महिमा और देवर्षि नारदका पूर्वचरित **५२-६४**

षष्ठोऽध्यायः—देवर्षि नारदका वनमें गमन, श्रीकृष्णका दर्शन तथा चिन्मय स्वरूपकी प्राप्ति **६५-७४**

सप्तमोध्यायः—श्रीव्यासदेवके द्वारा भक्तियोग-समाधिमें लीला-परिकरोंके साथ पूर्णपुरुष श्रीकृष्णका दर्शन, अर्जुनके द्वारा अश्वत्थामाका मानमर्दन **७५-८९**

अष्टमोऽध्यायः—गर्भस्थ परीक्षित्‌की रक्षा, कुन्तीके द्वारा भगवान्‌की स्तुति तथा महाराज युधिष्ठिरका शोक..... ९०–१०५

नवमोऽध्यायः—युधिष्ठिर आदिका भीष्मदेवके पास जाना, भीष्मदेवके द्वारा उन्हें समझाना तथा भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति करते हुए भीष्मदेवका महाप्रयाण................ १०६–११९

दशमोऽध्यायः—पाण्डवोंके निष्कण्टक राज्यकी स्थापना, श्रीकृष्णका द्वारका गमन एवं कुरु-रमणियों द्वारा श्रीकृष्णकी स्तुति १२०–१३०

एकादशोऽध्यायः—द्वारकापुरीमें श्रीकृष्णका राजोचित अभिनन्दन... १३१–१४१

द्वादशोऽध्यायः—परीक्षित्‌का जन्म-वृत्तान्त १४२–१५०

त्रयोदशोऽध्यायः—श्रीविदुरके उपदेशसे धृतराष्ट्र और गान्धारीका वनमें गमन और युधिष्ठिर द्वारा देवर्षि नारदसे उनका वृत्तान्त श्रवण १५१–१६५

चतुर्दशोऽध्यायः—अपशकुन देखकर महाराज युधिष्ठिरका शङ्का करना और अर्जुनका द्वारकासे लौटना १६६–१७५

पञ्चदशोऽध्यायः—श्रीकृष्णके विरहमें व्यथित पाण्डवोंका परीक्षित्‌को राज्य देकर परम गतिको प्राप्त करना.... १७६–१९१

षोड़शोऽध्यायः—महाराज परीक्षित्‌की दिग्विजय तथा धर्म और पृथ्वीका संवाद....................................... १९२–२०२

सप्तदशोऽध्यायः—राजा परीक्षित् द्वारा कलिको दण्ड देना एवं अनुग्रह करना... २०३–२१३

अष्टादशोऽध्यायः—राजा परीक्षित्‌को शृङ्गी ऋषिका शाप.. २१४–२२७

एकोनविंशोऽध्यायः—महाराज परीक्षित्‌का अनशनव्रत और श्रीशुकदेव गोस्वामीका आगमन २२८–२४०

द्वितीयः स्कन्धः २४१-३७४

द्वितीय स्कन्धकी कथाका सार २४३-२४८

प्रथमोऽध्यायः—ध्यानकी विधि और भगवान्‌के विराट्‌रूपका वर्णन २४९-२६०

द्वितीयोऽध्यायः—भगवान्‌के स्थूल और सूक्ष्म रूपोंकी धारणा तथा क्रममुक्ति और सद्योमुक्तिका विवेचन २६१-२७५

तृतीयोध्यायः—कामनाओंके अनुसार विभिन्न देवताओंकी उपासना और भगवद्भक्तिके उत्कर्षका निरूपण २७६-२८३

चतुर्थोऽध्यायः—महाराज परीक्षित्‌का सृष्टिविषयक प्रश्न और श्रीशुकदेव गोस्वामी द्वारा कथाका आरम्भ २८४-२९२

पञ्चमोऽध्यायः—सृष्टिका वर्णन २९३-३०४

षष्ठोऽध्यायः—विराट् पुरुषकी अध्यात्मादि विभूतियोंका वर्णन ३०५-३१६

सप्तमोऽध्यायः—भगवान्‌के लीलावतारों और उनकी विभूतियोंका वर्णन ३१७-३३८

अष्टमोऽध्यायः—महाराज परीक्षित्‌के विविध प्रश्न ३३९-३४६

नवमोऽध्यायः—राजा परीक्षित् द्वारा पूछे गये प्रश्नोंका उत्तर और भगवान् द्वारा ब्रह्माजीको दिये गये चतुःश्लोकी भागवतके उपदेशका वृत्तान्त ३४७-३६०

दशमोऽध्यायः—श्रीमद्भागवतके दस लक्षण ३६१-३७४

तृतीयः स्कन्धः............................ ३७५-७७२

तृतीय स्कन्धकी कथाका सार ३७७-३९२

प्रथमोऽध्यायः—श्रीउद्धव और विदुरजीका मिलन और उनके बीचमें कथोपकथन ३९३-४०७

द्वितीयोऽध्यायः—श्रीकृष्णके वियोगमें शोकाकुल उद्धव द्वारा श्रीकृष्णकी बाल्यलीलाओंका वर्णन ४०८–४१७

तृतीयोऽध्यायः—भगवान् श्रीकृष्णकी मथुरा और द्वारका लीलाओंका संक्षेपमें वर्णन ४१८–४२५

चतुर्थोऽध्यायः—श्रीउद्धवजीके कहनेपर विदुरजीका मैत्रेय ऋषिके पास जाना ४२६–४३५

पञ्चमोऽध्यायः—विदुरजीका परिप्रश्न और मैत्रेय ऋषि द्वारा सृष्टिक्रमका वर्णन.. ४३६–४५०

षष्ठोऽध्यायः—विराट-मूर्त्तिकी सृष्टि........................ ४५१–४५९

सप्तमोऽध्यायः—श्रीविदुरके अन्यान्य प्रश्न ४६०–४६९

अष्टमोऽध्यायः—गर्भोदकशायी विष्णुकी नाभिसे ब्रह्माजीकी उत्पत्ति ४७०–४८१

नवमोऽध्यायः—श्रीब्रह्मा द्वारा भगवान्‌की स्तुति करके उनकी कृपासे सृष्टिके लिए सामर्थ्य प्राप्त करना ४८२–४९५

दशमोऽध्यायः—कालके लक्षण और दस प्रकारकी सृष्टिका वर्णन... ४९६–५०३

एकादशोऽध्यायः—कालका विशेष रूपसे निरूपण ५०४–५१४

द्वादशोऽध्यायः—ब्रह्मा द्वारा की गयी विविध प्रकारकी सृष्टियोंका वर्णन ५१५–५२७

त्रयोदशोऽध्यायः—श्रीवराहदेव द्वारा जलमग्न पृथ्वीका उद्धार ५२८–५४२

चतुर्दशोऽध्यायः—सन्ध्याकालमें दितिका गर्भधारण....... ५४३–५५५

पञ्चदशोऽध्यायः—वैकुण्ठका वर्णन तथा वहाँके द्वारपाल जय और विजयको सनकादिका शाप ५५६–५७३

षोडशोऽध्यायः—श्रीहरि द्वारा सनकादि मुनियोंके शापका अनुमोदन ५७४–५८४

सप्तदशोऽध्यायः—हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्षका जन्म तथा हिरण्याक्षकी दिग्विजय ५८५-५९२

अष्टादशोऽध्यायः—हिरण्याक्षके साथ भगवान् वराहदेवका युद्ध ५९३-६०१

एकोनविंशोऽध्यायः—हिरण्याक्ष दैत्यका वध ६०२-६१२

विंशोऽध्यायः—श्रीब्रह्मा द्वारा रचित विभिन्न प्रकारकी सृष्टियोंका संक्षेपमें वर्णन ६१३-६२५

एकविंशोऽध्यायः—कर्दम ऋषिकी तपस्या और मनुके साथ वार्त्तालाप ६२६-६३९

द्वाविंशोऽध्यायः—देवहूतिके साथ प्रजापति कर्दमका विवाह.. ६४०-६४९

त्रयोविंशोऽध्यायः—कर्दम और देवहूतिका विहार ६५०-६६३

चतुर्विंशोऽध्यायः—भगवान् श्रीकपिलदेवका जन्म, महर्षि कर्दम द्वारा अपनी नौ कन्याओंको नौ प्रजापतियोंको प्रदान करना तथा कर्दम ऋषिका गृहस्थाश्रम त्याग...................६६४-६७४

पञ्चविंशोऽध्यायः—देवहूतिके प्रश्न और भगवान् कपिलदेवके द्वारा भक्तियोगका माहात्म्य-वर्णन ६७५-६८६

षड्विंशोऽध्यायः—महत्-तत्त्व आदि भिन्न-भिन्न तत्त्वोंकी उत्पत्तिका वर्णन ६८७-७०२

सप्तविंशोऽध्यायः—भक्ति-मिश्र ज्ञानका साधन और पुरुष-प्रकृतिके विवेकसे मोक्षकी प्राप्तिका वर्णन........................७०३-७०९

अष्टाविंशोऽध्यायः—भक्ति-मिश्रित अष्टाङ्गयोगका वर्णन.. ७१०-७२१

एकोनत्रिंशोऽध्यायः—सगुण और निर्गुणके भेदसे भक्तियोग और कालकी महिमा ७२२-७३२

त्रिंशोऽध्यायः—देह और स्त्री, पुत्रादिमें आसक्त जीवोंकी तामसी गतिका वर्णन ७३३-७४०

एकत्रिंशोऽध्यायः—पाप-पुण्य द्वारा मनुष्य-योनिकी प्राप्तिरूप राजसी गति तथा उसमें गर्भसे लेकर पौगण्ड तक जीवकी यातनाका वर्णन ७४१–७५३

द्वात्रिंशोऽध्यायः—सकाम कर्मियोंकी पुनरावृत्ति, निष्काम कर्मियोंकी अनावृत्ति तथा अभक्तोंकी निन्दा ७५४–७६३

त्रयोस्त्रिंशोऽध्यायः—भगवान् श्रीकपिलदेवके द्वारा उपदिष्ट मार्गका अनुसरण करनेसे माता देवहूतिको भगवान्की प्राप्ति ७६४–७७२

चतुर्थः स्कन्धः ७७३–११५२

चतुर्थ स्कन्धकी कथाका सार ७७५–७८२

प्रथमोऽध्यायः—स्वायम्भुव मनुकी कन्याओंके पृथक्-पृथक् वंशका वर्णन और उनमें यज्ञादि मूर्त्ति द्वारा भगवान् श्रीहरिका आविर्भाव ७८३–७९७

द्वितीयोऽध्यायः—दक्ष प्रजापतिके द्वारा शिवजीकी निन्दा एवं शाप प्रदान ७९८–८०६

तृतीयोऽध्यायः—पिता दक्षके यज्ञोत्सवमें जानेके लिए सतीकी प्रार्थना और श्रीशिवके द्वारा नीतिपूर्ण वाक्योंसे उन्हें रोकनेकी चेष्टा ८०७–८१४

चतुर्थोऽध्यायः—पतिकी आज्ञाका उल्लंघनकर पिताके यज्ञमें आयी हुई सतीका पिताके द्वारा अपमान तथा क्रोधसे यज्ञस्थलीमें सतीका देह-त्याग ८१५–८२६

पञ्चमोऽध्यायः—वीरभद्रके द्वारा दक्षयज्ञ-विध्वंस और दक्षका वध ८२७–८३४

षष्ठोऽध्यायः—ब्रह्मादि देवताओंका कैलाश जाकर श्रीमहादेवजीको मनाना ८३५–८४७

सप्तमोऽध्यायः—यज्ञस्थलमें श्रीविष्णुका आविर्भाव और उनकी कृपासे दक्षके यज्ञका सम्पूर्ण होना ८४८–८६७

अष्टमोऽध्यायः—विमाताके दुर्वचनोंसे पाँच वर्षीय बालक ध्रुवका वन-गमन और कठोर तपस्या ८६८-८८७

नवमोऽध्यायः—ध्रुवके द्वारा भगवान्‌की स्तुति और उनका वर प्राप्तकर घर लौटना.................................. ८८८-९०६

दशमोऽध्यायः—यक्षके हाथ उत्तमका मारा जाना और ध्रुवका यक्षोंके साथ युद्ध ९०७-९१३

एकादशोऽध्यायः—यक्षोंका विनाश देखकर स्वायम्भुव मनुका ध्रुवको युद्ध बन्द करनेके लिए समझाना ९१४-९२२

द्वादशोऽध्यायः—महाराज ध्रुवके प्रति कुबेरका वरदान और ध्रुव द्वारा परमपदकी प्राप्ति...............................९२३-९३५

त्रयोदशोऽध्यायः—ध्रुवके वंशमें वेनका जन्म और उसके निष्ठुर आचरणसे उसके पिता राजा अङ्गका वन गमन ९३६-९४६

चतुर्दशोऽध्यायः—राजा वेनकी कथा ९४७-९५६

पञ्चदशोऽध्यायः—महाराज पृथुका आविर्भाव और राज्याभिषेक ९५७-९६२

षोडशोऽध्यायः—मुनियोंके आदेशानुसार वन्दीजनोंके द्वारा महाराज पृथुकी स्तुति ९६३-९६९

सप्तदशोऽध्यायः—प्रजाको भूखसे व्याकुल देखकर महाराज पृथुका पृथ्वीपर क्रोधित होना और पृथ्वी द्वारा उनकी स्तुति.......................... ९७०-९७८

अष्टादशोऽध्यायः—महाराज पृथु द्वारा पृथ्वी-दोहन ९७९-९८५

एकोनविंशोऽध्यायः—पृथु महाराजके अश्वमेध-यज्ञमें इन्द्र द्वारा अश्वका अपहरण, पृथु द्वारा इन्द्रका वध करनेकी चेष्टा एवं ब्रह्माके द्वारा उसका निवारण......................९८६-९९५

विंशोऽध्यायः—महाराज पृथुकी यज्ञशालामें भगवान् विष्णुका आविर्भाव और वर प्रदान ९९६-१००७

एकविंशोऽध्यायः—महाराज पृथुका अपनी प्रजाको उपदेश १००८–१०२०

द्वाविंशोऽध्यायः—भगवान्‌के आदेशसे सनकादि महर्षियोंके द्वारा महाराज पृथुको उपदेश.............................. १०२१–१०३६

त्रयोविंशोऽध्यायः—पत्नीके साथ महाराज पृथुका वन-गमन और भक्तियोग-समाधिके द्वारा उनका वैकुण्ठ-गमन १०३७–१०४६

चतुर्विंशोऽध्यायः—महाराज पृथुकी वंशपरम्पराका वर्णन और प्रचेताओंको श्रीरुद्रदेवका उपदेश..................... १०४७–१०६५

पञ्चविंशोऽध्यायः—प्रचेताओंके द्वारा श्रीहरिकी आराधना और पुरञ्जनोपाख्यानका प्रारम्भ १०६६–१०७९

षड्विंशोऽध्यायः—राजा पुरञ्जनका शिकार खेलने वनमें जाना और कुपित रानीको सान्त्वना प्रदान करना...... १०८०–१०८६

सप्तविंशोऽध्यायः—स्त्री, पुत्र आदिमें आसक्त पुरञ्जनकी आत्म-विस्मृति, पुरञ्जनपर चण्डवेगका आक्रमण और काल कन्याका चरित्र................................ १०८७–१०९३

अष्टाविंशोऽध्यायः—स्त्रीकी चिन्ता करनेसे पुरञ्जनको स्त्री-योनिकी प्राप्ति और अविज्ञातके उपदेशसे उसका मुक्त होना.. १०९४–११०७

एकोनत्रिंशोऽध्यायः—पुरञ्जन-उपाख्यानका तात्पर्य ... ११०८–११२९

त्रिंशोऽध्यायः—प्रचेताओंको भगवान्‌का वरदान, उनका घर लौटकर विवाह करना और राज्य-पालन ११३०–११४२

एकत्रिंशोऽध्यायः—प्रचेताओंको देवर्षि श्रीनारदका उपदेश और उनका परमपदको प्राप्त करना....................... ११४३–११५२

श्लोक-सूची ११५३–१३१८



प्रस्तावना

परमाराध्य गुरुपादपद्म नित्यलीला प्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजकी अहैतुकी अनुकम्पा और प्रेरणासे आज कृष्णद्वैपायन श्रीवेदव्यास द्वारा रचित श्रीमद्भागवतम्के मूल श्लोक एवं श्लोकानुवाद सहित प्रथम-खण्ड (स्कन्ध १-४) का हिन्दी-संस्करण प्रकाशित हो रहा है। मेरे द्वारा श्रीमद्भागवतका माहात्म्य वर्णन करना सूर्यको दीपक दिखलाना है। श्रीमद्भागवत साक्षात् भगवान्का स्वरूप है। इसीलिए महाभागवतजन भगवद्भावनासे श्रद्धापूर्वक इस ग्रन्थराज भागवत्की आराधना किया करते हैं। भगवान् श्रीवेदव्यास जैसे भगवत्-स्वरूप महापुरुषको भी वेदोंका विभाग करने, निखिल श्रुतियोंके सार ब्रह्मसूत्र, महाभारत और पुराणोंकी रचना करनेपर भी शान्ति नहीं मिली, अन्ततः श्रीमद्भागवतकी रचना करनेपर ही उन्हें शान्ति मिली। जिसमें सार्वकालिक, सार्वदेशिक और सार्वजनिक निखिल समस्याओंका समाधान है—उस श्रीमद्भागवतकी अपार महिमाको कौन वर्णन कर सकता है। यह परम मधुर भगवद्रसका छलकता हुआ अगाध-अनन्त महासागर है। इसीलिए भावुक भक्तजन इसमें अवगाहनकर परम मधुर भगवद्रसका पद-पदपर आस्वादन करते हैं। 'विद्याभागवतावधि' अर्थात् भागवत पराविद्याकी चरम सीमा है।

गरुड़पुराणमें लिखा है—

अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणां भारतार्थ विनिर्णयः।
गायत्रीभाष्यरूपोऽसौ वेदार्थ परिबृंहितः॥

श्रीमद्भागवत ब्रह्मसूत्रका अर्थ, महाभारतका तात्पर्य-निर्णय, गायत्रीका भाष्य और समस्त वेदोंके तात्पर्यका संवर्द्धन है।

पद्मपुराणमें भी कथित है—

तमादिदेवं करुणानिधानं तमालवर्णं सुहितावतारम्।
अपारसंसार-समुद्र-सेतुं भजामहे भागवत-स्वरूपम्॥

मैं अपार संसार सागरको पार करनेके लिए सेतु-स्वरूप आदिदेव, करुणानिधान, तमालवर्ण श्रीकृष्णके मङ्गलमय शाब्दिक-अवतार श्रीमद्भागवतका भजन करता हूँ।

अतः इस ग्रन्थ-भागवतकी महिमा ब्रह्माजी और महादेव शङ्करजीकी तो बात ही क्या, स्वयं श्रीकृष्ण भी पूर्ण रूपमें नहीं वर्णन कर सकते।

आजकल भारत और समस्त विश्वके हिन्दी भाषी लोगों द्वारा अधिकांशतः गीता प्रेस, गोरखपुरसे अनुवादित श्रीमद्भागवतका ही पठन-पाठन होता है। किन्तु दूसरे संस्थानोंसे प्रकाशित हिन्दीका भागवत-संस्करण उपलब्ध नहीं होता। गीता प्रेससे प्रकाशित श्रीमद्भागवतका अनुवाद प्रधानतः प्रसिद्ध निर्विशेषवादी या अद्वैतवादी ब्रह्मलीन पं॰ श्रीशान्तनु-विहारीजी द्विवेदी, संन्यास ग्रहणके पश्चात्—श्रद्धेय स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीने किया है। अत्यन्त परितापका विषय है कि उनके इस अनुवादमें भक्तिपरक श्लोकोंका भी अनुवाद अद्वैतवादपरक रूपमें किया गया है। यत्र-तत्र सर्वत्र अद्वैतवादका मिश्रण है, जैसे—'जीवका प्रधान लक्ष्य मुक्ति है', 'जीव और ब्रह्म एक हैं', 'मुक्तिके पश्चात् जीव ब्रह्म हो जाता है', जगत् मिथ्या है, ब्रह्म सत्य है इत्यादि।

किन्तु श्रीमद्भागवत्के रचयिता महाभागवत वेदव्यासजी कहते हैं—

श्रीमद्भागवतं पुराणममलं यद्वैष्णवानां प्रियं
यस्मिन परामहंस्यमेकममलं ज्ञानं परम गीयते।
तत्र ज्ञान विराग-भक्ति-सहितं नैष्यकर्म्यमाविष्कृतं
तच्छ्रृण्वन सुपठन विचारण परो भक्त्याविमुच्येन्नरः॥

(श्रीमद्भा॰ १२/१३/१८)

श्रीमद्भागवत-पुराण निर्मल अर्थात् कर्म, ज्ञान, योगसे रहित पुराण है। यह वैष्णव मात्रका प्रिय है, किन्तु यह कर्मियों, ज्ञानियों तथा योगियोंको प्रिय नहीं है। इसका श्रद्धापूर्वक श्रवण, पठन और मनन करनेवालोंको स्वयं-भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णकी प्रेमभक्ति प्राप्त हो जाती है तथा उसके आनुसङ्गिक-फलसे उनका माया-बन्धन भी समाप्त हो जाता है।

और भी—

धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सतां
वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम्।
श्रीमद्भागवते महामुनिकृते किंवापरैरीश्वरः
सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रुषुभिस्तत्क्षणात्॥
(श्रीमद्भा॰ १/१/२)

यह ग्रन्थराज श्रीमद्भागवत महामुनि श्रीनारायण ऋषिके द्वारा चतुःश्लोकीके रूपमें रचित है। इसमें निर्मत्सर अर्थात् सब प्राणियोंमें दयाविशिष्ट व्यक्तियोंके लिए धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूपी छलसे रहित (कैतवशून्य) परमधर्मकी व्याख्या हुई है। वही धर्म जीवका त्रिताप नाशक, कल्याणकारी और यथार्थ वस्तु-तत्त्वज्ञानप्रद है। जिस किसी समय सुकृतिवान पुरुष इसके श्रवणमात्रकी इच्छा करते हैं, उसी समय ईश्वर अविलम्ब ही उसके हृदयमें आकर बद्ध हो जाते हैं। अतएव अब अन्य किसी साधन या शास्त्रसे प्रयोजन ही क्या है?

श्रीधरस्वामीपादने इस प्रस्तुत श्लोकके 'प्रोज्झित कैतवो' पदमें कैतव-शब्दका अर्थ मोक्षकी कामना तकको छोड़ना किया है। श्रीवेदव्यास और भी कहते हैं—

यस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपूरुषे।
भक्तिरुत्पद्यते पुंसः शोकमोहभयापहा॥
(श्रीमद्भा॰ १/७/७)

इसके श्रवणमात्रसे पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णके प्रति परम प्रेममयी भक्ति उदित हो जाती है, जिससे जीवके शोक, मोह और भय अनायास ही नष्ट हो जाते हैं।

'ज्ञाने प्रयासमुदपास्य' (श्रीमद्भा॰ १०/१४/३) श्लोकमें भी वर्णित है—निर्विशेष ज्ञानकी तो बात ही क्या, तत्त्व-ज्ञानकी प्राप्तिके लिए भी समस्त प्रकारके प्रयासोंको छोड़कर जो भगवान्‌की लीला-कथाओंका ही श्रवण करते हैं, भगवान् उनके प्रेमके अधीन हो जाते हैं। ब्रह्माजी आगे और भी कहते हैं—

श्रेयःश्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यन्ति ये केवल बोधलब्धये।

तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥
(श्रीमद्भा० १०/१४/४)

हे प्रभो! परम कल्याण-स्वरूप आपको पानेके लिए भक्ति ही एकमात्र श्रेष्ठ उपाय है। जो लोग भक्तिको छोड़कर केवल ज्ञानकी प्राप्तिके लिए श्रम करते और दुःख भोगते हैं, उन्हें मात्र क्लेश-ही-क्लेश हाथ लगता है। जैसे थोथी-भूसी कूटनेवालेका केवल श्रम ही होता है, उसे चावल नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त—

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूपैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥
(श्रीमद्भा० ३/२९/१३)

निष्काम भक्त मेरी सेवाको छोड़कर दिये जानेपर भी सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य मोक्ष तकको ग्रहण नहीं करते। वे मुक्तिका तिरस्कारकर भक्तिको ही ग्रहण करते हैं और उसे ही परम पुरुषार्थ मानते हैं।

आत्मा और परमात्मा एक नहीं हैं। आत्मा भगवान्‌का एक क्षुद्र अंश (विभिन्नांश) है। जीव क्षुद्र हैं। परमात्मा विभु हैं; जीव अनेक हैं, ईश्वर एक हैं; जीव मायाबद्ध होनेयोग्य हैं, ईश्वर मायापति हैं। जगत् मिथ्या नहीं, अनित्य है अर्थात् जगत् सत्यसङ्कल्प परमात्माके सत्यसङ्कल्पसे उत्पन्न होनेके कारण सत्य है, किन्तु नाशवान है। श्रीमद्भागवतमें इन सिद्धान्तोंका प्रतिपादन हुआ है। भगवान् निराकार, अरूप, निर्गुण नहीं, अपितु सच्चिदानन्द स्वरूप हैं। 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयं' श्रीकृष्ण स्वयं-भगवान् हैं। श्रीकृष्ण, नन्दनन्दन, यशोदानन्दन, गोपीकान्त और राधाकान्त आदि उनके अनन्त नाम हैं। नवजलधरके समान उनका साँवला रूप है। जन्म, बालक्रीड़ा, असुर-संहार, रासलीला आदि उनकी अनन्त मधुर-मधुर लीलाएँ हैं। श्रीकृष्णके अंशों एवं अंशांश—कलाओंसे जगत्‌की सृष्टि, स्थिति और संहार होता है। अतः वे निराकार, निर्गुण आदि निर्विशेष तत्त्व कैसे हो सकते हैं?

अतएव वैष्णवोंको गीताप्रेसके भागवत-संस्करणका पठन-पाठन आनन्दप्रद नहीं, अपितु इसके विपरीत दुःखदायी ही प्रतीत होता है।

यद्यपि गीताप्रेसके श्रीमद्भागवत्‌की अनुवाद-शैली सरल-सहज, बोधगम्य, मधुर और आकर्षक है, तथापि उसके पठन-पाठनसे जीवोंका आत्यन्तिक कल्याण नहीं हो सकता अर्थात् उन्हें भगवत्-प्रेम, सेवा, शुद्धभक्ति कदापि प्राप्त नहीं हो सकती। ऐसा विचारकर ही मैंने परम विदुषी, श्रीमद्भागवतपर पी॰ एच॰ डी॰ करनेवाली मधु बेटीसे कहा कि श्रीमद्भागवतका एक यथार्थ हिन्दी अनुवाद होना आवश्यक है और यदि तुम कर सको तो जगत्‌का परम कल्याण होगा। किन्तु वह हिन्दी अनुवाद विश्वव्यापी गौड़ीय मठोंके प्रतिष्ठाता वैष्णवकुल-चूड़ामणि अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर 'प्रभुपाद' के द्वारा प्रकाशित श्रीमद्भागवतके बँगला संस्करणके आधारपर ही होना चाहिये। इसके लिए उसने बँगला भाषाका अध्ययन किया। तत्पश्चात् उसने 'श्रील प्रभुपाद' के द्वारा प्रकाशित संस्करणके आधारपर श्रीमद्भागवत्‌का हिन्दी अनुवाद किया।

बेटी मधुके द्वारा प्रस्तुत किये गये अनुवादको मैंने स्वयं बहुत सावधानीपूर्वक निरीक्षण किया तथा उसमें संशोधनके साथ-साथ विषयोंको वैष्णव-आचार्योंकी टीकाओंके आधारपर और भी स्पष्ट किया। इस संस्करणको प्रस्तुत करनेके लिए बेटी वृन्दा देवीने संस्कृतके सभी श्लोकों तथा श्लोक-सूचीको एवं श्रीमान् सुबल सखा ब्रह्मचारी तथा श्रीमान् अच्युतानन्द ब्रह्मचारीने हिन्दी-अनुवादको टाइप किया है। श्रीमान् भक्तिवेदान्त माधव महाराज, श्रीमान् परमेश्वरी दास ब्रह्मचारी, श्रीमान् विजय कृष्ण ब्रह्मचारी तथा श्रीमान् संजय दास ब्रह्मचारीने प्रूफ-संशोधन तथा बेटी कान्ता दासी और बेटी शान्ति दासीने ले-आउट आदिका कार्य किया है। मुखपृष्ठ तथा ग्रन्थमें प्रस्तुत किये गये चित्र श्रीमती श्यामरानी द्वारा बनाये गये हैं तथा डिजाइन श्रीमान् विकास ठाकुर दासाधिकारी द्वारा किया गया है। श्रीमान् अमल कृष्ण ब्रह्मचारी, श्रीमान् माधव प्रिय ब्रह्मचारी, श्रीमान् कृष्णकृपा ब्रह्मचारी तथा श्रीमान् जयगोपाल ब्रह्मचारीने प्रकाशन सम्बन्धीय सेवाओंमें योगदान दिया है।

इनके अतिरिक्त इस ग्रन्थके प्रकाशनमें (१) परलोकगत पिता श्रीसुन्दरलाल डागा और परलोकगत माता श्रीमती कान्ता देवीके

पारमार्थिक कल्याणके लिए उनके पुत्र श्रीगोविन्द डागा और श्रीगिरिधर डागा, (२) श्रीमान् रमेश खण्डेवाल एवं उनकी पत्नी श्रीमती सपना देवी (३) परलोकगत पति श्रीफूलचाँद अग्रवाल एवं उनके पुत्र राजेन्द्र कुमार अग्रवालके पारमार्थिक कल्याणके लिए श्रीमती शकुन्तला देवी, (४) श्रीमती लता अग्रवाल, श्रीलक्ष्मीचन्द्र अग्रवाल, (५) श्रीमंयक बरखा रावत—इन सबकी अपने पारमार्थिक कल्याणके लिए आर्थिक सेवा-चेष्टा सराहनीय है। श्रीश्रीगुरु-गौराङ्ग-गान्धर्विका गिरिधारी इस ग्रन्थके प्रकाशनमें जिस किसी भी प्रकारसे सहयोग करनेवाले सभी भक्तोंपर प्रचुर कृपा-आशीर्वाद वर्षण करें—यही उनके श्रीचरणोंमें विनीत प्रार्थना है।

ग्रन्थके प्रारम्भमें परमगुरुदेव नित्यलीला प्रविष्ट श्रीश्रीमद् भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी ठाकुर 'प्रभुपाद' द्वारा भागवतके सम्बन्धमें प्रदत्त वक्तृताके कुछ अंशोको 'श्रीभागवत-तात्पर्य' शीर्षकके अन्तर्गत तथा उसके बाद मदीय सतीर्थवर नित्यलीला प्रविष्ट श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त वामन महाराज द्वारा पद्मपुराणसे संगृहीत 'श्रीमद्भागत-माहात्म्य' एवं 'श्रीमद्भागवत सप्ताहके श्रवणकी महिमा और पारायण विधि' नामक दो प्रबन्धोंके अनुवादको प्रस्तुत किया गया है।

श्रीमद्भागवतके इस हिन्दी संस्करणका एक वैशिष्ट्य यह है कि इसमें प्रत्येक स्कन्धकी कथाका सार दिया गया है। जिससे पाठकोंको उस स्कन्धकी विषय वस्तुसे अवगत होनेमें सुविधा है। इसके अतिरिक्त इस संस्करणमें श्लोकका अनुवाद अभिन्न व्रजेन्द्रनन्दन श्रीचैतन्य महाप्रभु द्वारा स्थापित शक्ति-परिणामवाद समन्वित अचिन्त्यभेदाभेद सिद्धान्त पर आधारित है।

इस विशाल ग्रन्थमें भ्रम-प्रमादवशतः कुछ त्रुटि-विच्युतियोंका रह जाना अस्वाभाविक नहीं है। सुधी पाठकों द्वारा उनका संशोधनपूर्वक पाठ करनेसे हमलोग आनन्दित होंगे।

परमार्थ प्राप्तिके इच्छुक श्रद्धालुजन इस ग्रन्थराजका पठन-पाठनकर परमार्थ-पथपर अग्रसर हों—यही विनीत प्रार्थना है। अलमतिविस्तरेण।

श्रीगोपाष्टमी — श्रीहरि-गुरु-वैष्णवकृपालेश-प्रार्थी
५२३ श्रीचैतन्याब्द — त्रिदण्डिभिक्षु
२६ अक्टूबर २००९ ई० — श्रीभक्तिवेदान्त नारायण

श्रीमद्भागवत् तात्पर्य[१]

'भागवत्' शब्दका अर्थ

'भागवत्' का अर्थ है—भगवान् और उनके अनुगत भक्त। भागवतका श्रवण, पठन और चिन्तन करना भक्तिका प्रधान अङ्ग है।

श्रीमद्भागवतका इतिहास

अति पूर्वकालमें जीवोंके हृदयमें उपासनाका विचार था और वे उपास्य-वस्तुके निर्णयकी आवश्यकताको समझते थे। किन्तु समयके साथ-साथ देखा गया कि सभीके उपास्य अथवा आराध्य एवं उपासना अथवा आराधना एक नहीं हैं; उनके अनेकानेक गन्तव्य स्थान हैं और प्राप्य वस्तु भी बहुत प्रकारकी है। इसलिए बहुत-से देवताओंकी उपासना प्रचलित हुई। अति प्राचीनकालमें 'हंस' नामक केवल एक ही जाति थी। वे इस जगत्‌में वास करके भिन्न-भिन्न उपास्योंकी उपासना, पूज्योंकी पूजा करते थे। उनमें जो श्रेष्ठ थे, वही 'परमहंस' अर्थात् परमार्थ पथके पथिक कहलाते थे। पहले वैष्णवोंका नाम 'परमहंस' था। भागवत-सम्प्रदायके अति पूर्वकालकी आलोचना करनेपर हम 'हंस' और 'परमहंस' की बात जान पाते हैं। इनकी 'एकायनपद्धति' थी। श्रीमद्भागवत ग्रन्थ उस प्राग् वैदिक युगमें भी आलोच्य होनेके कारण 'पारमहंस्य' अथवा 'पारमहंसी संहिता' के नामसे पुकारा जाता है। 'संहिता' का अर्थ है—सङ्कलित ग्रन्थ। अतएव जिस ग्रन्थमें परमहंसोंके आलोच्य विषय संग्रहित हुए हैं, उसीको 'पारमहंसी संहिता' कहते हैं। एकायनोंमें पाँच स्थानोंसे जो ज्ञान संग्रह किया जाता था, उसे 'पञ्चरात्र' कहते हैं। पुष्कर, हयशीर्ष, नारदपञ्चरात्र आदि पाञ्चरात्रिक ग्रन्थ हैं।

भगवान्‌के उपासक 'भागवत' के नामसे प्रसिद्ध हैं। जिस समय तक श्रीव्यासदेवने शम्याप्रासमें श्रीशुकदेवको भागवतका अध्ययन नहीं

---

[१] विश्वव्यापी गौड़ीय मठोंके प्रतिष्ठाताचार्य जगद्गुरु ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर 'प्रभुपाद' द्वारा भागवतके सम्बन्धमें प्रदत्त वक्तृताका सारमर्म।

कराया था, उस समय भी 'पारमहंसी संहिता', 'सात्वत संहिता' आदिके नाम हमें श्रीव्यासदेवकी लेखनीमें देखनेको मिलते हैं। वेदोंके अर्थको पूर्ण करनेके लिए श्रीवेदव्यासने पुराणोंकी रचना की। पुराणोंमें प्राचीन कथाएँ हैं। श्रीमद्भागवतको भी श्रीवेदव्यास द्वारा रचित पुराण विशेष ही कहा जाता है। किन्तु श्रीमद्भागवत एकायन पद्धतिका एकमात्र ग्रन्थ है, इसे पाञ्चरात्रिक ग्रन्थ भी कहा जाता है।

एकायन स्कन्ध और बह्वायन शाखाएँ—वेदोंकी ये दो प्रकारकी स्कन्ध-शाखाएँ हैं। च्युतगोत्रीय ऋषि बह्वायन-शाखावलम्बी तथा अच्युत गोत्रीय ही एकायन पन्थी हैं। बह्वायन शाखा एकायन शाखासे स्वतन्त्र है। एकायन पद्धतिमें ही पूर्ण समन्वय विचार और एक ही पथका विचार है। सत्ययुगमें जो कथाएँ भागवतने बोली थी, उन कथाओंका विचार क्रमशः क्षीण हो गया, इसलिए वेदविभाग और वर्णविभाग आदि आरम्भ हुआ। एकपाद धर्म (तपस्या) के क्षय होनेपर ऋक्, साम, यजुः आदि संहिता, उपनिषद् एवं ब्राह्मण-क्षत्रिय आदिकी वृत्तिके विचारसे वर्ण विचार हुआ था। त्रेतासे पहले वर्णविभाग नहीं था। सभी हंस जातिके अन्तर्गत थे।

जो निष्क्रिय (समस्त काम्य-कर्मोंसे रहित) होकर परमार्थके पथपर अग्रसर होते थे, वही परमहंस कहलाते थे। वैष्णव-विद्वेषी मतके क्रमशः प्रबल होनेके साथ-ही-साथ ऋक्-साम आदि वेद विभाग और हंस जातिमें ब्राह्मण आदि वर्ण विभाग आरम्भ हुआ।

प्रारम्भिक कालमें हंसजाति काश्यपह्रद (Caspian Sea) के निकट एशिया नामक स्थानपर वास करते समय 'आर्य' के नामसे प्रसिद्ध हुई। अग्नि आदि देवोंकी उपासनाके प्रत्यक्ष विचारमें अवस्थित होकर विष्णु उपासनाको भी उन्होंने वैसा ही समझा। विष्णुसे स्वतन्त्र ईश्वरका ज्ञान करके ऋक्, साम, यजुः आदि संहिताख्य ग्रन्थोंमें भिन्न-भिन्न देवताओंका उल्लेख एवं उनके उपासनाकाण्डमें इन सब देवताओंके स्तव आदि देखनेको मिलते हैं। जो श्रीमद्भागवतके विवरणको श्रवण करेंगे, उनके लिए इन समस्त बातोंको जाननेकी आवश्यकता है, अन्यथा उनके द्वारा श्रीमद्भागवतके प्रति नवीन रूपसे उदित होनेवाले मध्ययुगीय ग्रन्थ मात्रकी भ्रान्ति होना अवश्यम्भावी है।

एकायन पद्धति रूप श्रीमद्भागवत ही एकमात्र वेद है। उपनिषदोंमें एकायन, महाभारत, पञ्चरात्र आदि शब्द पाये जाते हैं। भागवतके प्राक् इतिहास अर्थात् प्राग्वैदिक युगके इतिहासकी आलोचना करनेपर जाना जाता है कि ऋक् वेदके पहले भी मानव जाति सभ्य-उपासक थी। वह एकायन पथावलम्बी होकर सहज विष्णुभक्ति अथवा वैष्णवताके विचारमें प्रतिष्ठित थी। त्रेताके प्रारम्भमें ही स्थान-स्थानपर एकायन-विचारके शिथिल होनेके कारण वेदविभाग और वेदोंके अङ्ग आदिका प्रचार हुआ। पहले 'एकायन' 'पञ्चरात्र' 'सात्वत' आदि शब्द थे। वर्त्तमान इतिहासमें एकायनकी बात अब प्रायः विलुप्त है। प्रचुर परिमाणमें इसकी आलोचना करनेपर जाना जाता है कि प्राग्वैदिक युगमें विष्णुभक्तिकी कथाके अतिरिक्त अन्य कोई कथा नहीं थी, त्रेताके आरम्भसे ही अन्यान्य कथाओंका विस्तार हुआ है। हमारे इस देशमें कुछ समय पहले केवल बौद्ध या जैन आदि ही वास करते थे—ऐसा कहना ठीक नहीं है। यहाँ सात्वत ब्राह्मण थे, उनमें विष्णु-भक्तिकी कथा ही प्रबल थी। उन्हींके वंशधर ही अब 'सात्वती' के ही अपभ्रंश 'सात-शती' अथवा 'शम्वती' कहकर अपना परिचय प्रदान करते हैं। कान्यकुब्जसे पञ्च ब्राह्मणोंके आनेसे पहले बङ्गालमें सात्वत अथवा वैष्णव ब्राह्मण वास करते थे। प्रत्यक्ष जड़-विचार परायण बौद्ध राजाओंके प्रबल पराक्रमसे वैष्णव-धर्मका प्रचार लगभग स्तब्ध हो गया था। भगवान्की कृपासे अनेक प्रकारकी बाधाओंको अतिक्रम करके उसी पुरातन जैवधर्म (वैष्णव-धर्म) की पुनः प्रचुर परिमाणमें आलोचना हो रही है।

जो 'पुराण' शब्द सुनते ही नाक सिकोड़ते अर्थात् कुण्ठित होते हैं, वे लोग प्राग्वैदिक युगके सात्वत स्वभावसे सम्पन्न व्यक्ति क्या आलोचना करते थे, इसका विचार करें। पुराण या पञ्चरात्रके अन्तर्गत अकृत्रिम वेदान्त श्रीमद्भागवत नाकको सिकोड़नेकी (कुण्ठित होनेकी) वस्तु नहीं है। श्रीमद्भागवत महामुनि नारायण ऋषि द्वारा कही गयी थी। श्रीनारायण ऋषिने नारदको, नारदने वेदव्यासको, वेदव्यासने फिर शुकदेवको यही भागवती कथा सुनायी। बादमें श्रीकृष्णद्वैपायन वेदव्यासजीने उसे शिष्य-परम्परामें आलोचनाके लिए ग्रन्थके आकारमें

रचना की थी। श्रीव्यासदेवके शम्याप्रास आश्रममें श्रीमद्भागवतका प्रथम अधिवेशन हुआ था। श्रीशुकदेवने वहींपर भागवतकी आलोचनाकी थी। उस समयसे ही 'भागवत्' शब्दका प्रयोग प्रारम्भ हुआ। इतिहासकी आलोचना करते समय उससे पहले हम परमहंस, सात्वतोंके आलोच्य 'पारमहंसी', 'सात्वत-संहिता' आदि शब्दोंका व्यवहार ही देखते हैं।

अनेक लोग भागवतको पुराण या पञ्चरात्रके अन्तर्गत स्वीकार नहीं करते। किन्तु श्रीमद्भागवतमें आगम और निगम एकत्रित मिलकर विद्यमान हैं। हमें भागवतकी आलोचना करते समय प्रथमस्कन्धके चतुर्थ अध्यायमें 'सात्वती-श्रुति' नामक एक शब्द मिला है। श्रीनारायण ऋषिने जब नारदजीको भागवतका उपदेश दिया था, तब उसे 'वेद-संज्ञित' कहा गया था। जिस प्रकार श्रौत पद्धतिका अवलम्बन करनेवाले कर्मकाण्डीय ऋषियोंने बहुत-से देवताओंका स्तव करनेवाले साधारण शास्त्रोंको भी वेद कहा है, उसी प्रकार सात्वतगणोंने भागवतको वेदका सर्वोत्तम अंश कहकर स्वीकार किया है। प्रयोजन तत्त्वका निरूपण करते समय 'निगमकल्पतरोर्गतिलफलं' (श्रीमद्भा० १/१/३) श्लोकमें 'निगम' शब्दका व्यवहार हुआ है। इसके अतिरिक्त भागवतमें उपनिषदोंके अनेक मन्त्र यथायथ रूपमें देखे जा सकते हैं। भागवतमें स्थान-स्थानपर श्रुतिवाक्य लिखे गये हैं—श्रुतिकी प्राञ्जल व्याख्याकी गयी है। यथा, (गरुड़पुराणमें श्रीमद्भागवतके सम्बन्धमें उक्ति)—

"अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणां भारतार्थविनिर्णयः।
गायत्री भाष्य रूपोऽसौ वेदार्थपरिबृंहितः॥"

गीताका विशेष अर्थ भागवतमें देखा जा सकता है। यह ब्रह्मसूत्रका भाष्य-स्वरूप, वेदार्थसे परिपूर्ण एवं वेदमाता गायत्रीकी व्याख्याका अवलम्बन करके रचित हुआ है। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थमें भगवत्ताकी कथा प्रचुर परिमाणमें वर्णित हुई है एवं श्रीकृष्णके अतिरिक्त अन्यान्य अवतारोंका वर्णन भी इसमें किया गया है। इस श्रीमद्भागवतके विषयमें विभिन्न शास्त्रोंमें लिखा गया है। जैसे स्कन्धपुराणके विष्णु-खण्डमें चार अध्याय, पद्मपुराणके उत्तर खण्डमें,

गरुड़पुराण तथा और भी कुछेक पुराणोंमें भागवतके प्राधान्यके विषयमें लिखा गया है। सर्वोपरि भागवतके अनुगत सम्प्रदाय इसे प्रमाण शिरोमणि कहते हैं।

श्रीमद्भागवतपर विभिन्न टीकाएँ

जो श्रीचैतन्यदेवके अनुगत हैं, उन्होंने एक प्रकारकी व्याख्या की है और जिन्होंने श्रीचैतन्यदेवकी कथा श्रवण नहीं की है, उनकी व्याख्या करनेकी शैली ही दूसरी प्रकार की है। जिन्होंने श्रीचैतन्यदेवकी कथा नहीं सुनी है, जिनके निकट चैतन्यदेवका अनुग्रह पूर्ण मात्रामें नहीं पहुँचा है, वे भागवतकी आलोचनाको नहीं समझ पायेंगे। उनके द्वारा भागवतका (सठीक) अनुवाद नहीं हो सकता।

श्रीमद्भागवतके अनुगत विश्रम्भ-भावका पोषण करनेवाले अनेक ग्रन्थ हैं, यथा—श्रीरूप गोस्वामी कृत 'लघुभागवतामृतम्', श्रीसनातन गोस्वामी कृत 'बृहद्भागवामृतम्', श्रीजीव गोस्वामी कृत 'षड्सन्दर्भ', श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कृत 'सारार्थदर्शिनी टीका' और श्रीबलदेव विद्याभूषणने भी 'दशमस्कन्धकी टीका' लिखी है। इन सभीकी गौरानुगत भागवत-सम्प्रदायमें आलोचना होती है।

किन्तु कैवलाद्वैतवादियोंमेंसे किसीने भी भागवतकी टीका नहीं लिखी। वे केवल कपटतापूर्वक कहते हैं कि भागवतमें केवलाद्वैतवादकी कथा है। किन्तु हम तो भागवतमें कहीं भी केवलाद्वैतवाद नहीं देखते। भागवतसे सैकड़ो-हजारों योजन दूर रहकर क्या कोई व्यक्ति भागवतकी कथा लिख या जान सकता है? यह कभी भी सम्भवपर नहीं है। अनेक लोग कहते हैं कि मधुसूदन सरस्वती भागवतके पक्षके हैं, किन्तु ऐसा नहीं है, वह अद्वैतवादी हैं। अघ, बक और पूतना आदि असुरोंने भी अपना परिचय श्रीकृष्णके पक्षके लोगोंके रूपमें दिया था। श्रीकृष्णने मथुरामण्डलमें अघ-बक आदि १८ असुरोंका वध किया था। श्रीकृष्णको ध्वंस करना ही असुरोंकी प्रधान चेष्टा है, किन्तु श्रीकृष्ण उनकी सब चेष्टाओंको व्यर्थ कर देते हैं। यद्यपि गीता वैष्णवोंका पूज्य ग्रन्थ है, किन्तु पंचायती आखड़ेके लोगोंने उसे अपनी प्रधान पूज्य वस्तु कहकर अनेक प्रकारकी टीका-टिप्पणी

आदिकी रचना करके वैष्णव-धर्मके सरल विश्वासके प्रति आक्रमण किया है। भागवतको भी इसी प्रकार अपना बनाने जाकर उन्होंने विपरीत कथाका ही प्रचार किया है।

जैसा भी हो, सभीके लिए एकमात्र भागवत ग्रन्थ ही आलोच्य है। सोनेके बने सिंहासनपर श्रीमद्भागवतको रखकर भाद्रपद मासकी पूर्णिमामें श्रीमद्भागवत-वितरणका माहात्म्य भी शास्त्रोंमें कीर्त्तित हुआ है।

श्रीमन् महाप्रभु द्वारा श्रीमद्भागवतकी रक्षा

श्रीचैतन्यदेवके आविर्भावके पहले भागवतकी कथाको लोगोंसे आवृत करनेके लिए अनेक कुविचार प्रबल रूपसे प्रचलित थे। जो चेतनके विलासको जड़-विलासमें बदलकर भागवतके साथ आत्मीयता दिखाने जाते हैं, दुश्चेष्टाओंसे भागवतको कदर्थित करनेमें प्रवृत्त होते हैं, श्रीचैतन्यदेवने उन लोगोंसे ही भागवतकी रक्षा की है। जब जगत्में इस प्रकारके अन्यायपूर्ण विचार प्रवर्त्तित हुए थे, उस समय श्रीचैतन्यदेवने मनुष्योंके कल्याणके लिए श्रीकृष्णपादपद्म की क्या महिमा है, यह बतला दिया था। किन्तु हमारा ऐसा दुर्भाग्य है कि हमें उन श्रीकृष्णकी कथामें रुचि नहीं है।

श्रीचैतन्यदेवने जब जगत्के दुःखको जाना, उनके परमप्रिय श्रीसनातन-रूप-जीव गोस्वामी आदि जब जगत्के दुःखमें दुःखी हुए, तब उन्होंने भागवतको क्रय-विक्रयकी वस्तु बनानेमें बाधा दी। उन्होंने भागवतको कालिदास, माघ, श्रीहर्ष, भारवी, भर्त्तृहरि आदि द्वारा लिखित या अन्यान्य काव्य या पुराणोंमेंसे एक माननेसे निषेध किया।

श्रीचैतन्य महाप्रभु द्वारा आस्वादित श्रीमद्भागवतके अनुगत ग्रन्थावली तथा भागवतके प्रति निष्ठा

श्रीचैतन्यदेवने कवि जयदेवकी मधुर कोमल कान्त पदावलीका आदर किया, क्योंकि श्रीजयदेवने भागवतकी कथाका अवलम्बन करके ही उसकी परिशिष्ट कथा वर्णन की है। अनेक लोग कवि जयदेवकी कथाको समझ नहीं पानेके कारण उनका आदर नहीं कर पाये।

चण्डीदास, विद्यापति, रायेर नाटक गीति,
कर्णामृत, श्रीगीतगोविन्द।
स्वरूप-रामानन्द-सने महाप्रभु रात्रिदिने
गाय, शुने, परम आनन्दे॥
(चै॰ च॰ मध्य २/७७)

श्रीचैतन्य महाप्रभु श्रीस्वरूप दामोदर और श्रीरामानन्द रायके साथ रात-दिन चण्डीदास और विद्यापतिकी पद्यावली, श्रीरामानन्द रायके जगन्नाथ-वल्लभ नाटक, श्रीकृष्ण-कर्णामृतम् और श्रीगीत-गोविन्द—इन पाँच ग्रन्थोंको गाते, सुनते और इससे परम आनन्दका अनुभव करते थे।

इन पाँच ग्रन्थों और गीतिने श्रीगौरसुन्दरकी परम-प्रीतिका विधान किया है। यही भागवत-सम्प्रदायकी परिपाटी है। साधारण लोग अर्थोपार्जन, पुण्य सञ्चय आदिके लिए भागवत पढ़ते हैं तथा वे भागवत पाठको मार्कण्डेय सप्तशती पाठमेंसे ही एक समझते हैं।

कुलीन ग्राम निवासी गुणराज खानने श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धकी कथाओंको बङ्गला पयार-छन्दमें ग्रथित किया है। ग्रन्थका नाम 'श्रीकृष्ण-विजय' है। उस ग्रन्थमें उज्ज्वल रूपसे लिखा है—'नन्दनन्दन कृष्ण मोर प्राणनाथ।' महाप्रभुने इस बातको सुनकर अत्यधिक प्रसन्न होते हुए कहा था—'ऐई वाक्ये बिकाइनु ताँर वंशेर हात।' अर्थात् गुणराज खान द्वारा नन्दनन्दन श्रीकृष्णको अपने प्राणनाथके रूपमें स्वीकार करनेके कारण मैं उनके वंशके हाथों बिक गया हूँ।

श्रीचैतन्यदेव द्वारा भागवतका सार-संग्रह

आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनं
रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता।
श्रीमद्भागवतं प्रमाणममलं प्रेमा पुमर्थो महान्
श्रीचैतन्यमहाप्रभोर्मतमिदं तत्रादरो नः परः॥

भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण और उनके तद्रूप वैभव स्वरूप श्रीधाम वृन्दावन ही आराध्य वस्तु हैं। व्रजवधुओंने जिस भावसे श्रीकृष्णकी उपासना की थी, वह उपासना ही सर्वोत्कृष्ट है।

श्रीमद्भागवत ग्रन्थ ही निर्मल शब्द प्रमाण एवं प्रेम ही परम पुरुषार्थ है—यही श्रीचैतन्य महाप्रभुका मत है। इसी सिद्धान्तके प्रति ही हमारा परम आदर है, अन्य मतोंके प्रति नहीं।

'अपरैः किम्'—अतएव अन्य शास्त्रोंकी आलोचनाकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि केवल इसी भागवतसे ही सर्वार्थ सिद्धि होगी। श्रीहरिके हृदयमें अवरुद्ध होनेपर उस हृदयमें और कोई भी कथा नहीं रहेगी। तभी महाप्रभुकी कथा—'आनेर हृदय मन, मोर मन वृन्दावन'—विषय समझ आ पायेगा।

नाम-कीर्त्तनमें ही रूप, गुण, लीला और परिकर कीर्त्तन है। कपटतापूर्वक नाम-कीर्त्तनका त्याग करके रूप आदिका कीर्त्तन करनेसे चित्तरूपी दर्पण मलीन ही रहेगा। ऐसा होनेसे भागवत पढ़ना और सुनना नहीं होगा। श्रीचैतन्यदेवके आनुगत्यमें सुननेसे ही भागवत समझ आयेगी।

भागवतके अनुशीलन द्वारा ही श्रीचैतन्यदेवकी पूर्ण दया—'अमन्दोदय दया' प्राप्त की जा सकती है। महाप्रभुकी दया तीनों तापोंसे उत्पन्न मलिनताको दूर करनेवाली, निर्मलता प्रदान करनेवाली, निरन्तर प्राकृत चिद्रस, सेवा-प्रवृत्ति तथा भगवत्-निष्ठाको प्रदान करनेवाली है।

अनर्पितचरीं चिरात् करुणयावतीर्णः कलौ
समर्पयितुमुन्नतोज्ज्वलरसां स्वभक्तिश्रियम्।
हरिः पुरटसुन्दरद्युतिकदम्बसन्दीपितः
सदा हृदय-कन्दरे स्फुरतु वः शचीनन्दनः॥
(चै॰ च॰ आ॰ ३/४, विदग्धमाधव १ अङ्क २ श्लोक)

श्रीकृष्णचैतन्यदेवके विचारानुमोदित भागवतकी जो व्याख्या है, वही हमारे लिए अवलम्बनीय है। जिन श्रीकृष्णचैतन्यदेवने पहले जो वस्तु कभी जीवोंको दान नहीं की थी, उसी स्वभक्ति-शोभाको कृपा-परवश होकर जीवोंके लिए सुप्राप्य बनाया है। वही साक्षात् श्रीहरि कृष्णचैतन्यदेव हमारे हृदयमें भागवतमें उल्लिखित समस्त भक्तिपूर्ण कथाओंका विस्तार करें।

श्रीमद्भागवतम्में सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजन तत्त्व

वेद शास्त्रमें जिस सम्बन्ध, अभिधेय तथा प्रयोजनकी बात कही गयी है, वही सम्बन्ध भागवतके प्रथम श्लोक 'जन्माद्यस्य यतः' में अभिधेय 'धर्मः प्रोज्झितकैतव' में तथा प्रयोजन 'निगमकल्पतरोर्गलितं फलं' नामक श्लोकोंमें सूत्राकारमें निर्णीत हुआ है।

"एते चांशकलाः पुंस कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।"

(श्रीमद्भा॰ १/३/२८)

श्रीराम, श्रीनृसिंहदेव तथा वराह आदि भगवान् श्रीकृष्णके अवतार तथा उनके अंश-कलादि हैं, किन्तु श्रीकृष्ण स्वयं-भगवान् हैं—इसी तत्त्वको निरूपित करना ही भागवतका प्रतिपाद्य विषय है।

श्रीकृष्ण अखिलरसामृत-मूर्त्ति हैं। उनका कीर्त्तन ही सम्यक् कीर्त्तन है। अखिलरसामृत-मूर्त्ति श्रीकृष्णकी लीलाके श्रवण द्वारा ही सम्यक् कीर्त्तन होगा, अन्यान्य अवतारोंकी कथा सुननेसे नहीं। श्रीलक्ष्मी-नारायणके कीर्त्तनकी अपेक्षा श्रीसीता-रामके कीर्त्तन ही सब प्रकारसे जययुक्त हैं। किन्तु श्रीकृष्णकीर्त्तन होनेसे ही पूर्णतमता होती है, सब प्रकारके अभाव ही दूर हो जाते हैं। भागवतके दशमस्कन्धमें कृष्ण-कीर्त्तन पूर्ण मात्रामें है। अतः फिर केवल दशमस्कन्धको लिखनेसे ही होता, अन्यान्य स्कन्धोंकी क्या आवश्यकता थी? यद्यपि भगवत्-अवतारोंमें तारतम्यका निर्देश करनेके लिए ही अन्यान्य स्कन्धोंमें अन्यान्य अवतारोंकी कथाओंका परिवेशन किया गया है, तथापि भागवतमें श्रीकृष्णकी कथाका ही पूर्ण रूपसे वर्णन किया गया है। रस विचारसे श्रीकृष्णका सर्वोत्कर्ष दिखलाया गया है। भागवतमें कृष्णभक्तिरस वर्णित है तथा रूपानुगत्यसे ही वह प्राप्त होता है।

श्रीमद्भागवतम्में आलोचित विषय

महाभारतमें मथुरेश-कृष्ण, द्वारकेश-कृष्णकी कथा है, किन्तु श्रीवृन्दावनके व्रजेन्द्रनन्दनकी कथा सुष्ठु रूपमें नहीं है। जो इस जगत्में ही रहना चाहते हैं, इससे बाहर नहीं जाना चाहते, वे महाभारत पढ़े, किन्तु जन्म-जन्मान्तरका—नित्यकालका कृत्य ही जिनकी आलोचनाका विषय है, वे भागवतका आस्वादन करें।

श्रीमद्भागवतके द्वादश स्कन्धोंको भगवान्‌के द्वादश अङ्गोंके रूपमें वर्णन किया गया है, किन्तु यह विराट रूपकी कल्पनाकी भाँति नहीं है। भगवान् अपने वास्तविक श्रीविग्रहके रूपमें इस श्रीभागवतमें अवस्थित हैं। श्रीमद्भागवतकी विशेष आलोचना करनेपर इसे समझा जा सकता है।

भागवतमें श्रीकृष्ण, रोहिणीनन्दन राम (बलराम), दाशरथि राम, परशुराम, वामन, वराहदेव, नृसिंदेव, लक्ष्मी-नारायण, ब्रह्म, परमात्माकी व्यापकता और शक्तिके विषयमें आलोचना हुई है। अतएव भागवतमें निर्विशेष व्याधिको दूरकर सविशेष धर्मकी पूर्णता स्थापित हुई है।

यद्यपि भागवत श्रीकृष्णलीलाका वर्णन करती है—श्रीकृष्णकी पूर्वार्ध सम्भोगमयी लीलाकी कथा ही बोलती है, किन्तु विप्रलम्भमयी लीला, जिसमें सम्भोगकी पुष्टि होती है, उस परम प्रयोजनीय विषयको श्रीगौरसुन्दरने ही भागवतमें प्रदर्शित किया है। अतएव श्रीगौरसुन्दरके द्वारा प्रचारित जो भागवतकी विचार प्रणाली है—वही हमारी आलोचनाका विषय हो।

कुछ लोग कहते हैं—"भागवतमें दुर्नैतिक-कथाओंसे पूर्ण कृष्णलीलाकी आलोचना की गयी है, इसलिए भागवतकी विचार-प्रणाली व्यभिचारकी पुष्टि करनेवाली है। इससे अच्छा तो नेपोलियनकी वीरताकी कथा सुनना है।" किन्तु हमारा कहना है कि भागवत allegory (रूपक) या history (इतिहास) नहीं है। इसमें क्या-क्या समता और विषमता है, उसे समझनेके लिए साधुके मुखसे इसे श्रवण करना होगा।

श्रीमद्भागवतम्‌में श्रीराधा-नाम

पश्चिम भारतके भाग्यहीन लोग (भागवतके विषयमें) अनेक प्रश्न करते हैं। मथुराके एक पण्डितने मुझसे प्रश्न किया था कि भागवतमें जब राधाका नाम ही नहीं है, तब फिर गौरसुन्दरको यह नाम कहाँसे मिला? किन्तु हमारा कहना है कि भागवतमें वह नाम किसके लिए रहेगा? हमारे जैसे निर्दोष व्यक्ति जो भागवतको देख ही नहीं पा रहे हैं, कहते हैं कि उसमें राधाका नाम नहीं है। किन्तु हमारा कहना है कि भागवतको देख पानेसे उसमें केवल श्रीराधा नहीं, बल्कि

ललिता, विशाखा, रूप मञ्जरी, चन्द्रावली आदिका भी नाम देख पायेंगे। जिनमें योग्यता होगी, वे प्रयत्न करनेपर ये सबकुछ देख पायेंगे। ये सब बातें साधारण व्यक्तियोंके लिए नहीं है, इसलिए श्रीव्यास, शुक आदिने इन नामोंको गोपन रखा है।

कोई इस भ्रममें न रहे कि भागवतमें राधाजीका नाम नहीं है, केवल नाम ही नहीं बल्कि भागवतमें उनके (रूप, गुण) आदि अनेक विचार हैं। किन्तु, जैसे जुलाब (जोलाप) लेनेके बाद ही औषधि खानेसे काम करती है, नहीं तो वह अम्ल (पित्त) आदिमें ही परिवर्त्तित हो जाती है, उसी प्रकार यदि अनर्थ युक्त अवस्थामें एकदमसे राधाजीके विषयमें जानना चाहेंगे, तो कुछ भी हजम नहीं होगा।

श्रीमद्भागवतम्—अमल प्रमाण

व्रजवधुओंने जिस प्रकारसे श्रीकृष्णकी सेवा की है—तटस्थ होकर विचार करनेसे जाना जाता है कि वही उपासना सर्वोत्तम है। इसका प्रमाण क्या है? श्रीमद्भागवत ही इसका अमल प्रमाण है। 'प्रमाण' के नामपर वेद और वेदानुग शास्त्र असंख्य बातें बोलते हैं, किन्तु अपरा (जड़) विद्याका अनुशीलन करनेवालोंका विचार मलयुक्त होनेके कारण ग्रहणीय नहीं है। इस प्रकारके प्रमाण रेगिस्तानमें प्याससे व्याकुल व्यक्तिके लिए दूरमें स्थित सूर्यकी किरणोंसे चमकनेवाली रेतीमें जलके भ्रमके समान है। अर्थ ही नित्य प्रार्थनीय है, अनर्थ तात्कालिक है तथा अनेक प्रकारकी भ्रान्तियोंको उत्पन्न करनेवाला है। वास्तव वस्तु ही अर्थ है, अतएव वही ग्रहणीय है, अवास्तव वस्तु ग्रहणीय नहीं है। अनेक व्यक्तियोंके विचारसे निर्विशेषवाद ही सर्वश्रेष्ठ है, किन्तु वह समल अर्थात् अशुद्ध है, परन्तु भागवत अमल प्रमाण है। इस भागवतमें अन्तर्निहित वास्तविक स्वार्थपरताके कारण इसमें भुभुक्षा (भोग) और मुमुक्षा (मोक्ष) रूपी कैतव नहीं है। पाण्डित्य-प्रतिभा द्वारा जो वेदकी संहिता, ब्राह्मण, उपनिषद् आदि की व्याख्या करते हैं, अपस्वार्थपरतामें दीक्षित होनेके कारण उनका प्रमाण कैतवयुक्त है, अतएव उनकी बात स्वीकार करने योग्य नहीं है।

श्रीमद्भागवत्की विषय वस्तु—प्रेम

भागवतकी आलोचना करनेवाले जानते हैं कि जीव सेवकतत्त्व है, सेव्य नहीं। मुक्त सेव्य भगवान् केवल सेव्य हैं, वे सेवक नहीं हैं। मुक्त सेवक और मुक्त सेव्यमें परस्पर अविच्छिन्न प्रेम विद्यमान है। श्रीगुरुदेवके चरणकमलोंका आश्रय करनेसे ही भागवत नामक वस्तुका अनुसन्धान पाया जा सकता है, अन्यथा ब्रह्मा, वरुण, इन्द्र आदि भी इस वस्तुका कोई अन्त नहीं पाते।

धर्म, अर्थ और काम—ये भोगके तीन फल हैं तथा मुक्ति या मोक्ष अर्थात् बन्धनसे मुक्ति—अशान्तिके हाथसे छुटकारा पाना त्यागका फल है। इन्हींको चार पुरुषार्थ कहा जाता है, किन्तु 'प्रेम' को पञ्चम पुरुषार्थ कहते हैं। जो चतुर्वर्गकी प्रार्थनामें व्यस्त हैं, वे भागवत पढ़कर कोई फल प्राप्त नहीं कर पाते। 'प्रेम' अर्थात् श्रीकृष्णकी प्रीतिका संग्रह करना ही जिनका प्रयोजनीय विषय है, वही भागवतको पढ़नेका फल प्राप्त करते हैं। 'प्रेम' ही सर्वश्रेष्ठ वस्तु है, यह समझ आ जानेपर ही भागवत पढ़नेकी आवश्यकता पड़ती है।

साधुसङ्ग, नामकीर्त्तन, भागवतश्रवण।
मथुरावास, श्रीमूर्त्तिर श्रद्धाय सेवन॥

सकल-साधन-श्रेष्ठ एइ पञ्चअङ्ग।
कृष्णप्रेम जन्माय एइ पाँचेर अल्प-सङ्ग॥

(चै॰ च॰ म॰ २२/१२८)

प्रेम ही हमारा परम प्रयोजनीय विषय है। साधुसङ्ग, नामकीर्त्तन, भागवत श्रवण, मथुरावास, श्रद्धापूर्वक श्रीमूर्त्तिकी सेवा—यह पाँच अङ्ग समस्त साधनोंमें श्रेष्ठ हैं। इन पाँचोंका अल्प सङ्ग ही कृष्णप्रेमको उत्पन्न कर देता है, अर्थात् इनके द्वारा ही भजनीय वस्तुका अनुशीलन किया जा सकता है। इन पाँचोंके अल्प सङ्गके प्रभावसे भगवत्-वस्तुकी प्राप्ति होती है। भागवत जैसे ग्रन्थका श्रवण करनेके उपरान्त लोगोंको दूसरे-दूसरे ग्रन्थोंके श्रवणसे क्या लाभ होगा? भागवतके श्रवणसे क्या प्रयोजन सिद्ध होगा? इत्यादि, इन सब पूर्वपक्षोंकी आलोचना होना आवश्यक है। विषय-वस्तुको भलीभाँति जाननेकी आवश्यकता है।

इसलिए भागवत श्रवण ही हमारा एकमात्र कार्य है। भागवत श्रवणसे ही भक्ति साधनके अन्यान्य चार प्रधान अङ्ग—साधुसङ्ग, नामकीर्त्तन, श्रीमूर्त्तिकी सेवा तथा मथुरावासका पालन हो जायेगा।

भक्त-भागवतके निकट ग्रन्थ भागवतका श्रवण नहीं करनेसे सर्वनाश होता है। भोगी व्यक्ति भागवतका पाठ नहीं कर सकता। पञ्चोपासक अथवा अघ, बक, पूतनाके अनुगतजनोंके मुखसे भागवत नहीं सुननी चाहिये। भागवत समझनेके लिए भगवद्भक्तोंकी चरणरेणु ही एकमात्र परम प्रयोजनीय वस्तु है।

श्रीमद्भागवतम्का श्रवण, पठन तथा विचार करनेका फल—विशेष प्रकारकी मुक्तिकी प्राप्ति

यह भागवत किसे प्रिय है? यह क्या वस्तु है? इसमें किस प्रकारका ज्ञान प्रदान किया गया है? इसमें ज्ञान-विराग-भक्तिसे युक्त नैष्कर्म्यका विचार है या नहीं तथा भक्तिपूर्वक श्रवण-पठन और विचारके फलसे विशेष प्रकारकी मुक्तिकी प्राप्ति होती है या नहीं? इन सब प्रश्नोंके उत्तरमें श्रीमद्भागवतके अन्तमें (१२/१३/१८) यह श्लोक दिखायी देता है—

"श्रीमद्भागवतं पुराणममलं यद् वैष्णवानां प्रियं
यस्मिन् पारमहंस्यमेकममलं ज्ञानं परं गीयते।
यत्र ज्ञानविरागभक्तिसहितं नैष्कर्म्यमाविष्कृतं
तच्छ्रृण्वन् सुपठन् विचारणपरो भक्तया विमुच्येन्नरः॥"

श्रीमद्भागवत नामक विशुद्ध पुराण वैष्णवोंकी परमप्रिय वस्तु है। इसमें परमहंस पुरुषोंके द्वारा प्राप्य एक अमल परम ज्ञान कीर्त्तित हुआ है तथा ज्ञान-वैराग्य-भक्ति समन्वित नैष्कर्म्य प्रकाशित हुआ है। मनुष्य यदि भक्तिपूर्वक इसका श्रवण, पाठ या फिर विचार करे, तो वह मुक्त हो जाता है।

श्रीमद्भागवत विष्णु भक्तोंको जितना प्रिय है, जगत्की और कोई वस्तु उन्हें उतनी प्रिय नहीं है। वैष्णवोंने श्रीमद्भागवतको ही एकमात्र प्रमाणके रूपमें स्वीकार किया है। श्रीमद्भागवतके आनुगत्यमें ही वेद शास्त्रकी आलोचना करनी चाहिये। अज्ञ व्यक्तियों द्वारा की गयी

भक्तिकी बात भागवतमें नहीं कही गयी है। सबसे अधिक सुचतुर व्यक्तियोंकी जो सेवाकी उपलब्धि है, उसी भक्तिका भागवतमें वर्णन है।

सेवावृत्तिपूर्वक भागवतका श्रवण करना होगा। "अतः श्रीकृष्ण नामादि न भवेत् ग्राह्यमिन्द्रियैः। सेवान्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यदः।" सेवोन्मुखकी जिह्वापर अर्थात् भक्तिमान व्यक्तिकी जिह्वा और होंठपर (भागवत) स्वयं ही प्रकाशित होगी। स्वयंरूप स्वयं प्रकाश वस्तु ऐसी नहीं है कि वह अन्य किसीके द्वारा परिचित होगी। वह रजोगुण, सतोगुण आदिके अन्तर्गत नहीं, बल्कि गुणातीत—निर्गुण है।

मूर्ख व्यक्तिका भागवत पाठ और द्वितीय वस्तु अर्थात् कृष्णसे इतर वस्तुमें अभिनिविष्ट जड़-विलासीका भागवत पाठ (शुद्धभक्तोंके पाठसे) सम्पूर्ण विपरीत है। इस विषयमें 'भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिः' नामक श्लोक आलोच्य है। श्रोताकी रुचिके अनुसार ढलकर लाभ-पूजा-प्रतिष्ठाकामी कभी भी भागवतके सेवक नहीं हो सकते।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी प्रार्थना करनेवाले कपटतासे युक्त हैं। श्रीमद्भागवत चतुर्वर्गकी अभिलाषा करनेवालोंका पाठ्य ग्रन्थ नहीं है। भागवतकी आलोचना भक्ति द्वारा ही सम्भवपर है, अन्यथा भागवत पाठ करके भी भोगवृत्ति ही प्रबल होगी।

स्मरणको आग्रहसे परिपक्व करना होगा, अविस्मृतिका विचार करनेकी आवश्यकता है। केवल विचार नहीं, उसके साथ भक्ति प्राप्त करनेसे ही विमुक्ति होगी।

मनुष्योंमें भगवत्-सेवाका विचार बहुत कम हो गया है। उनके अनुसार भागवतकी कथा ही मानो अनर्थोंको उत्पन्न करनेवाली अनादरकी वस्तु है। कहाँ तो अन्य सब कथाओंको छोड़कर शत-प्रतिशत भागवतकी कथा—नित्य मङ्गलकी कथा प्रबल होगी, किन्तु वैसा न होकर उसके विपरीत विचार ही उठ रहा है। जीवोंके समस्त सङ्कीर्ण विचार रुक जायें। भागवतकी कथाकी आलोचना न करनेसे ही हम अन्यान्य विषयोंमें अपना मन लगायेंगे, हमारे मनमें केवल जड़-जगत्के ही विचार आयेंगे। जो जन्म-जन्मान्तरसे भगवत्-

प्रसङ्गसे विमुख होकर संसारके दुःख-कष्ट-अशान्ति आदिका भोग कर रहे हैं, वे क्या अब भी स्वास्थ्य (आत्मस्वरूप) की प्राप्तिके लिए चेष्टा नहीं करेंगे? प्रवृत्ति मार्गमें अनेक प्रकारकी वृत्तियों द्वारा चालित होकर पग-पगमें अशान्ति भोग करनी पड़ती है, एकमात्र भगवत्-कथाके आश्रयमें ही परमशान्ति प्राप्त हो सकती है, मनुष्य जाति क्या अभी भी इसका विचार नहीं करेगी?

श्रीमद्भागवतकी शुश्रूषा (सेवा)

भागवत निगम शास्त्रका सर्वप्रधान ग्रन्थ है। भागवतने ही वास्तव वस्तुका सन्धान प्रदान किया है, जिससे हमारे जैसे लोग उस भगवत्-वस्तुकी सेवा करनेके लिए उत्साहित हो सकें। हम सदैव सेवाविमुख हैं। सेव्य वस्तुके दर्शनसे सेवकमें सेवा करनेकी उत्कण्ठा वर्द्धित होती है।

भागवतमें ही सभी शास्त्रोंकी आलोचना हुई है—भागवतके अतिरिक्त अन्य शास्त्रोंके अध्ययनकी कोई आवश्यकता नहीं है। भागवतमें ही सबकुछ है। 'धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र' (१/१/२) श्लोकमें 'शुश्रूषुभिः' नामक एक विषय कहा गया है, 'शुश्रूषुः' अर्थात् सेवाधर्म युक्त व्यक्ति। 'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवय।'—घोड़ेकी सेवा करनेसे 'सहिस', कुत्तेकी सेवा करनेसे 'भङ्गी', लोहेका काम करनेसे 'लोहार', सोनेका काम करनेसे 'सुनार' तथा भगवान्‌की सेवा करनेसे 'भक्त' हुआ जा सकता है। जगत्‌में जिन सब विषयोंको लेकर मनुष्य जाति व्यस्त है, उन सब सीमाबद्ध पदार्थोंको ग्रहण करनेके अभिलाषी होकर भागवतको क्रय-विक्रयकी वस्तु न समझकर भागवत-भक्त हो जानेकी आवश्यकता है। किन्तु 'मैं भागवत हो गया हूँ', 'मैंने सम्पूर्ण भागवतको पढ़ लिया है'—ऐसा समझनेवालेका सर्वनाश भी अवश्यम्भावी है। अनन्त कोटि जन्मोंमें भी भागवत पढ़ना नहीं होता। यह कोई पुतलोंका खेल नहीं है—अभिनयमात्र नहीं है। भगवत्-सान्निध्यमें रहकर वास्तव सत्यका सान्निध्य प्राप्त करना चाहिये, उनकी सेवामें नियुक्त होना चाहिये। भगवान् भक्ति द्वारा ही प्राप्त होते हैं। मैं भोक्ता हूँ, द्रष्टा हूँ, श्रवणकारी हूँ, आस्वादनकारी हूँ, चिन्तन करनेवाला

हूँ—ऐसी दुर्बुद्धि होनेसे भागवतकी आलोचनाके स्थानपर सीमाविशिष्ट पदार्थकी आलोचना हो जाती है।

माया-रचित क्रियाको भक्ति कहनेसे कर्माधिकार, ज्ञानाधिकार, कर्म-ज्ञानमिश्र योगाधिकार या अन्याभिलाषितारूप अमङ्गलके हाथसे छुटकारा नहीं मिलता। जब तक यह विचार रहेगा कि मैं स्वयं ही पढ़कर समझ लूँगा, तब तक भागवतके निकट नहीं पहुँचा जा सकता। व्याकरणके लिङ्ग आदिके विचारसे उत्पन्न 'अनुस्वार-विसर्ग' द्वारा, भाषाके ज्ञानके द्वारा तथा शब्द और शब्दीमें भेद बुद्धिके द्वारा भागवत पढ़ना नहीं होगा। जो चौबीस घण्टे भगवान्‌की सेवा कर रहे है, उनके पास जाकर भागवत पढ़नी होगी, उनसे ही जानना होगा कि भागवत क्या वस्तु है, कौन-कौनसे अक्षरोंका रूप धारण करके कौन-कौनसे शास्त्रोंमें भागवतका विचार है? तब कौन-सी बात भागवतकी नहीं है, यह भी समझ आ जायेगा।

जो चौबीस घण्टेमेंसे चौबीस घण्टे भगवान्‌की सेवामें नियुक्त हैं, अन्याभिलाष-कर्म-ज्ञान आदिकी चेष्टासे पूर्णतया मुक्त हैं, भागवत उन्हींकी आराध्य है तथा वही भागवतकी आराधना करना जानते हैं। भागवतको अर्थ या पुण्य संग्रह अथवा दुःख निवृत्तिकी औषधिके रूपमें पर्यवसित करना भागवतकी सेवा नहीं है।

श्रीमद्भागवतमें आत्म-धर्म

वास्तविक अभक्त कभी भी भागवत नहीं पढ़ सकते। वे भुक्ति और मुक्तिकी पिपासा रखनेवाले कर्मी और ज्ञानी हैं। भुक्ति और मुक्ति ही जिनका प्रयोजन है, उनका भागवत पाठमें अधिकार नहीं है तथा इसकी आलोचना द्वारा उन्हें अधिक सुख भी नहीं मिलेगा। मोक्षके साधन द्वारा केवलमात्र उपाधिका ही नाश हो सकता है। किन्तु भागवतमें वर्णित कृष्णप्रेमकी कथा आत्माके नित्य धर्मके साथ संश्लिष्ट है। यद्यपि इस भागवतकी महिमा अनेक स्थानोंपर वर्णित है, तथापि यह बहुत-से लोगोंके लिए रुचिप्रद नहीं है। यहाँ तक कि भागवतके पाठक और आलोचकोंके मनकी सन्तुष्टिके लिए विपरीत पथके पथिक भी बहुत बार भागवतका आदर करते हैं। किन्तु उनके

क्रिया-कलापोंको देखनेसे बहुत बार इसका वास्तविक आदर प्रमाणित नहीं होता।

श्रीमद्भागवतम्—सभीके लिए आराध्य और आलोच्य है

यह भागवत क्या वस्तु है? इसकी इतनी प्रशंसा क्यों सुनी जाती है? इसके प्रति इतना अधिक दौरात्म्य (दुर्बुद्धि) क्यों है?—इन सब विषयोंको जाननेकी आवश्यकता है। आज यह ग्रन्थराज कितने लोगोंकी जीविकाके यन्त्रके रूपमें परिणत हो चुका है। पक्षान्तरमें जो लोग पारमार्थिकजनोंके आदर्शस्वरूप हैं, यह भागवत उनकी ही परम सेव्य है। वास्तवमें संसारमें वास करनेवाले चारों वर्णोंके सभी व्यक्तियोंके लिए ही यह ग्रन्थ आराध्य है।

कितने ही प्रकारके कर्मोंके अनुष्ठान एवं विभिन्न अवस्थाओंके उपयोगी विचार इस ग्रन्थराजमें है—जैसे ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं यतियोंके धर्मके विषयमें पृथक् भावसे सबकुछ वर्णित हुआ है। वर्ण-विचारसे विभिन्न वर्णोंका लक्षण और उन-उन लक्षणोंके द्वारा वर्णके निरूपणका विधान दिया गया है। भागवतमें दर्शनकी कथा, ज्ञानियोंकी कथा, सभी श्रेणियोंकी कथा ही है, अतएव यह सभीके लिए पाठ्य एवं परम प्रयोजनीय है। पण्डित, मूर्ख, स्त्री, पुरुष, संसारमें आसक्त तथा संसारसे मुक्त—यह सभीके लिए आलोच्य है। यह भागवत भगवान्से अभिन्न वस्तु है।

चौबीस वर्षके युवाके द्वारा काव्यके अध्ययन और बालकके द्वारा काव्यके अध्ययनमें साधारण व्यक्तिको कोई भेद भले ही न दिखायी देता हो, किन्तु बुद्धिमान व्यक्ति अच्छी तरहसे समझ सकता है कि दोनोंकी उपलब्धि एक प्रकारकी नहीं है। अनेक बार पार्थक्यके बोधके अभावके कारण हम वस्तुके निर्णयमें भ्रान्त होते हैं। वास्तवमें श्रीमद्भागत विभिन्न स्तरोंके सभी व्यक्तियोंकी आलोचनाका विषय है। तार्किक, मूक, तर्कज्ञान रहित—सभी लोग सभी अवस्थाओंमें भागवतकी आलोचना करनेके साथ-साथ अपने-अपने कर्त्तव्योंको निरूपित कर सकते हैं, इसमें किसी प्रकारके संशयकी कोई समस्या ही नहीं रहेगी। भगवत्-दर्शनसे सब प्रकारके संशय दूर होते हैं। 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशया' (श्रीमद्भा॰ ११/२०/३०) ही इसका प्रमाण है।

श्रीमद्भागवतका श्रवण और कीर्त्तन करनेके लिए गौड़ीय मठ

'मठन्ति वसन्ति छात्राः यस्मिन्' अर्थात् परमार्थिक शिक्षा सदन ही भागवत मठ है। शिक्षा शिरोमणि परमार्थ अनुशीलनके अतिरिक्त और कोई कार्य, कार्य ही नहीं है। भक्तिमठमें भगवान्की सेवाके प्रति अनुराग विशिष्ट व्यक्ति ही वास करें, सेवा-विमुख या सेवा-विरोधियोंकी यहाँ कोई आवश्यकता नहीं है। अन्याभिलाषी, कर्मी, ज्ञानी आदि अभक्त यहाँ वास करनेके सत्-उद्देश्यको नहीं समझ पायेंगे। भक्तिमठमें पञ्चरात्र विधिसे मन्त्र द्वारा विविध उपचारोंके माध्यमसे भगवान्का अर्चन होता है, भोग होता है। भगवत्-भोग्य वस्तुके भगवान्को समर्पित होनेपर उस अन्नका भगवत्-उच्छिष्टके विचारसे प्रसादके रूपमें ग्रहण किया जाता है। प्राग् वैदिक युगमें आलोच्य भागवतके विचारका अनुसरण करके नामधारी वैदिक पण्डिताभिमानियोंको अपने वर्त्तमान विचारसे छुटकारा पानेकी आवश्यकता है। भगवान्की कथा द्वारा ही सबकुछ होगा। एकमात्र भागवतको संरक्षित रखकर दूसरे समस्त ग्रन्थोंका त्याग करनेपर भी चलेगा—'किंवापरैः।' श्रीमद्भागवतमें पूर्वपक्षके रूपमें समस्त विरुद्ध कथाओंकी अवतारणा करके उनकी सम्पूर्ण अकर्मण्यताको आँखोंमें अङ्गुली डालकर दिखलाया गया है।

श्रीमद्भागवतरूपी दुष्प्राप्य वैकुण्ठ-कथाके श्रवण और कीर्त्तनका सुयोग प्रदान करनेके लिए ही गौड़ीय मठके श्रवण-सदनके निर्माणकी आवश्यकता पड़ी है। स्थान-स्थानपर श्रवण-सदनोंका निर्माण किया जा रहा है, जिससे भागवतकी कथा लोगोंके कानमें प्रविष्ट होकर अन्य कथाओंके प्रति वृथा श्रद्धाको प्रवेश करनेसे रोके। कोई-कोई कहते हैं कि श्रीमद्भागवत स्वाध्यायमें रत रहनेवाले विचार-परायण ब्राह्मणोंके विचार-योग्य ग्रन्थ नहीं है। कोई-कोई कहते हैं कि पुराणोंकी कथाएँ व्यर्थकी कथाएँ हैं, काल्पनिक कहानियाँ हैं, पुरानी कथाएँ है, इन्हें सुननेसे क्या होगा? कोई-कोई कहते हैं, भागवत वोपदेव द्वारा रचित है। भागवत विरोधी सम्प्रदाय श्रीमद्भागवतको श्रीव्यासदेव द्वारा रचित ग्रन्थ न मानकर उसके प्रति जो दोषारोपण करते है, खृष्टीय त्रयोदश या दशम शताब्दीका ग्रन्थ विशेष मानकर भागवतकी आधुनिकताको प्रमाणित करनेकी जो घृणित चेष्टा प्रदर्शित

की जाती है, श्रवण-सदनमें उसके मूल कारणकी विशेष रूपसे आलोचना होनी चाहिये। अन्यान्य लोगोंकी जिह्वारूपी गह्वरका अनेक प्रकारका वितण्डा तथा मेढ़क जैसे टरटरकी आवाज करनेवालोंकी जिह्वाके कोलाहलको सम्पूर्ण रूपसे स्तब्ध होना उचित है। इसलिए श्रवण-सदनमें भागवतकी आलोचना हो, भागवतका क्रय-विक्रय बन्द हो। सांसारिक आवश्यकताओंके उपायस्वरूप या अर्थके विनिमयमें भागवतके श्रवणका विचार आनेपर उससे एकान्तिक प्रयोजनीयताकी उपलब्धि या आशानुरूप फल प्राप्त नहीं होगा। शुद्ध सारस्वत श्रवण-सदन जितने अधिक बढ़ेंगे, भागवतकी जितनी आलोचना बढ़ेगी, उतना ही जगत्का कल्याण होगा। उस दिन जितने बड़े-बड़े टाउन हाल हैं, बड़ी-बड़ी अट्टालिकाएँ हैं, वे सभी श्रीगौड़ीय मठ (भागवत श्रवण) सदन होंगे, वहाँ सभी हरिकथाकी ही आलोचना करेंगे, सभी स्थान हरिकथामय हो जायेंगे—उस दिन ही जगत् पूर्ण सुखमय होगा।

अनेक लोगोंकी भ्रान्त धारणा है कि गौड़ीय मठमें गोस्वामियोंके ग्रन्थ अथवा भागवतकी कथाको आवृतकर और-और कथाएँ बोली जाती हैं तथा प्राकृत सहजिया ही उन सब कथाओंकी आलोचनामें नियुक्त रहते हैं। किन्तु हमारा कहना है—गलेमें (तुलसी) माला पहनकर, नाकपर तिलक लगाकर, वैष्णवके वेशमें सजकर कनक-कामिनी और प्रतिष्ठाकी आशामें घूमना-फिरना भागवत-पाठका फल नहीं है। इस प्रकारका भागवत पाठ बन्द होना चाहिये।

१९०४ ई॰ में मैंने नीलाचलमें श्रीचैतन्यचरितामृतकी व्याख्या करनी आरम्भ की थी। बहुत-से लोग सुनने आते थे, किन्तु उनमेंसे बहुत लोग मेरी बातोंको समझ नहीं पाये। जो खाने-पीने, सुविधापूर्वक रहने आदिमें ही व्यस्त हैं, वे वैष्णवतासे सैकड़ों-हजारों योजन दूर हैं। उनके साथ हमारी कोई प्रतियोगिता नहीं है। हम श्रीकृष्ण-विमुख लोगोंके सङ्गसे हजारों योजन दूर अवस्थित हैं। भागवत-श्रवणाङ्काक्षी व्यक्तिके साथ ही हमारा सम्बन्ध है। समर्पित-आत्मा व्यक्तिके निकट ही भागवतका कीर्त्तन करना चाहिये। दूसरी ओर, जो दुःखमें पड़े हुए हैं, उनका उद्धार करना भी हमारा प्रधान कर्त्तव्य है। किन्तु आजकल

उसमें भी विपद (परेशानी) है। दो पक्षोंमें झगड़ा चल रहा है, तृतीय पक्ष उनका झगड़ा मिटाने जाकर लाठी खाता है। जो जलमें डूब रहे व्यक्तिको बचाने जाता है, जलमें डूबनेवाला व्यक्ति उसीको पकड़कर डूबाना चाहता है। इसलिए विद्वेषी incorrigible (संशोधनके अयोग्य) व्यक्तिको पहचान लेनेपर उसे दूर रखना चाहिये। अश्रद्धालु व्यक्तिको भगवान्का नाम (भागवत-पाठ) श्रवण करानेसे अपराध होता है। किन्तु आजकल ऐसे व्यक्ति हरिनाम ग्रहण करनेका अभिनय करके विपथगामी हो रहे हैं। नामधारी गुरु भी कह रहे हैं—जो इच्छा हो करो, किन्तु वार्षिक (कर) दे जाना। किन्तु, अपराधयुक्त होनेपर हरिनाम नहीं होता। बाहादुरी करके जगत्के जीवोंकी वञ्चना अथवा आत्मवञ्चना करना अच्छा नहीं है। गुणजात पदार्थोंका बहुमानन करनेसे विफल मनोरथ होना पड़ता है। नामाभास, नामापराध, असत्-सङ्गका त्याग करके शुद्ध नामाश्रय ही कर्त्तव्य है।

सजातीयाशये स्निग्धे साधौ सङ्गः स्वतोवरे।
श्रीमद्भागतार्थानामास्वादो रसिकै सहः॥

(भ॰ र॰ सि॰ १/२/९१)

सजातीय अर्थात् एक ही प्रकारकी वासना द्वारा स्निग्ध, किन्तु अपनेसे श्रेष्ठ साधुका सङ्ग करना चाहिये। ऐसे रसिक साधुके साथ श्रीमद्भागवतके अर्थका आस्वादन करना चाहिये।

श्रीचैतन्य महाप्रभुके तथाकथित अनुगतजनों द्वारा उनकी शिक्षाके विरुद्ध विचारोंका प्रचार

बङ्गालमें प्राकृत-सहजिया लोगोंका प्रबल दौरात्म्य चल रहा है। भागवत-विरोधी कथाओंको चैतन्यदेवके अनुगत कथाओंके रूपमें परिचय देकर बेचा जा रहा है। लोगोंकी चापलूसी करनेके लिए भागवत-विरोधी विपरीत कथाओंको बेचना कितना कुविचार है, कैसा दौरात्म्य है, इसे भाषा द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। इसलिए हमारा कहना है—भारतमें, केवल भारतमें ही नहीं, समग्र जगत्में ही भागवतकी कथा प्रचारित हो, दूसरी समस्त कथाएँ बन्द हों। भागवतकी कथा ही श्रीचैतन्यदेवकी कथा है, भागवतकी कथासे श्रीचैतन्यदेवकी कथाका बिल्कुल भी पार्थक्य नहीं है। चैतन्यदेवकी

कथाके सुष्ठु रूपसे प्रचारित होनेपर ही लोगोंको नित्य मङ्गलकी प्राप्ति होगी। अनन्तकालसे सञ्चित—जन्म-जन्मान्तरके समस्त अनर्थ—समस्त असुविधाएँ दूर हो जायेगी। यही श्रीचैतन्यवाणी अर्थात् श्रीमद्भागवतकी कथा ही गौड़ीय मठके प्रचारका विषय है।

एक ओर भजनीय या 'सेव्य' वस्तु भागवत, दूसरी ओर, भागवतके पाठक और श्रोतारूप 'सेवक' तथा बीचमें भक्ति या भागवत-कथाका श्रवण आदि 'सेवा'। भागवतकी सुष्ठु रूपसे आलोचनाकी आवश्यकता है। श्रीचैतन्यदेवके अकृत्रिम दास भागवतकी कथाके अतिरिक्त अन्य कोई कथा नहीं कहते हैं, उन दासोंके निकट ही भागवत आलोच्य है। आज श्रीचैतन्यके अनुगत दासके परिचयमें कैसे-कैसे अन्यायपूर्ण कार्य नहीं चल रहे हैं? वे सब कार्य जगत्का कोई मङ्गल नहीं कर सकते।

हमारे बन्धु-बान्धव आज भागवत कथाको भूलकर श्रीकृष्णको रूपक या ऐतिहासिक नायकके रूपमें कल्पना करके अनेक प्रकारकी न सुनने योग्य कथाओंकी आलोचना करके तथा न देखने योग्य चित्रोंको अङ्कित करके स्वयं तो नष्ट हो ही रहे हैं, साथ ही और भी कितने लोगोंके दिमागको नष्ट कर रहे हैं। महाप्रभु परम प्रीतिपूर्वक जिन सब प्रसङ्गोंकी आलोचना करते थे, उसके अनेक प्रकारके कदर्थ करके सहजिया लोग उसे दुकानोंपर, चौराहोंपर यहाँ-वहाँ सर्वत्र इन्द्रिय तर्पणकी वस्तुके रूपमें परिवर्त्तित कर रहे हैं। यह कितने दुर्भाग्यकी बात है। अत्यधिक उच्च अधिकारके लोगोंके आलोच्य विषयोंको उच्चता या योग्यता प्राप्त करनेसे पहले ही साधारण लोगोंमें आलोचना करना अत्यन्त अन्यायपूर्ण कार्य है। मूर्ख या पण्डितभिमानी—किसीके लिए भी ऐसा करना शोभनीय नहीं है। वे इन सब रहस्यपूर्ण विषयोंकी आलोचना करनेकी दाम्भिकता करने जाकर अपने साथ-साथ बहुत लोगोंका सर्वनाश करेंगे। जो कथा मनुष्य मात्रके लिए ही प्रयोजनीय है, क्या मनुष्य उसे सुनेगा? जिससे तात्कालिक आनन्द और इन्द्रिय चाञ्चल्य उपस्थित होता है, मनुष्य उसे ही सुननेके लिए व्यस्त है। विवर्त्तवादियोंकी कथाको सुनना ही मनुष्योंने अपना प्रयोजन समझ लिया है। हरिकथा सुननेके लिए लोग

मिलते ही नहीं। जिनका भाग्य खराब है, वही भक्तिका विरोध करनेवाले अभक्तों—मायावादियोंके चङ्गुलमें जा फसते है। जो भक्तिकी नित्यताको स्वीकार नहीं करते, वे अघ-बककी शाखाके अन्तर्गत हैं, इनका सङ्ग करके कभी भी मनुष्यका मङ्गल नहीं हो सकता। अप्राकृत पञ्च-रसाश्रित सेवकोंकी धारामें विद्यमान चितवृत्तिके प्रति लोभके उपस्थित होनेमें ही जगत्का मङ्गल है। अप्राकृत रसाश्रित भक्त ही परम मुक्त पुरुष हैं। आज जगत्में उनकी ही कथाका अकाल पड़ा हुआ है।

कुछ लोग चैतन्यदेवके अनुगतके रूपमें अपना परिचय देनेपर भी भागवतके उद्देश्यको नष्ट, कलङ्कित और कलुषित करनेके लिए व्यस्त हुए हैं, ऐसे लोगोंसे श्रीमद्भागवतकी कथाका संरक्षण करके भागवतको उज्ज्वल और पुष्ट करना ही हमारा प्रधान कर्त्तव्य बन पड़ा है।

भागवत भोगोंमें लिप्त तथा कनक-कामिनी-प्रतिष्ठाके लोलुप जीवोंके लिए प्रस्तुत किया गया कोई खाद्य पदार्थ नहीं है। केवलाद्वैतवादी कहते हैं—"भागवत बहुत खराब वस्तु है, इसे छोड़कर वेदान्त, उपनिषद आदि पढ़ने चाहिये, क्योंकि भागवतका श्रवण करनेवालेमें व्यभिचार उत्पन्न होकर उन्हें नरकमें ले जायेगा।" किन्तु जो भागवतसे घृणा करते हैं, वे असाधु और मत्सरता पारायण हैं। अज्ञतावशतः हो या फिर रजोगुण, तमोगुणके कारण हो, जिनमें भागवतके प्रति विराग है, वे सब भागवत विरोधी सम्प्रदाय ही ऐसा विचार करके असत् पापिष्ठ बनकर सांसारिक भोगके लिए नरक प्राप्त करते हैं। भागवत विरोधी सम्प्रदाय भगवत्-रसको अपने भोगका विरोधी समझकर मङ्गलके पथसे विपरीत दिशाकी ओर जा रहे हैं। धर्मके नामपर अपनी इन्द्रियोंके तर्पणमें लगकर बाहरसे धार्मिकता दिखला रहे हैं।

चरम व्याधिके चङ्गुलसे छुटकारा पानेके लिए वैष्णवोंके आनुगत्यमें भागवत अनुक्षण पठनीय

जो Shakespeare, कालिदास आदि जड़ीय कवियोंके पार्थिव जड़-रसके काव्यके समान ही भागवतको लेकर खेल-खेलना चाहते हैं, उसे क्रय-विक्रयकी वस्तुके रूपमें परिणत करनेकी चेष्टा करते हैं,

उनकी ऐसी दुर्बुद्धि अत्यन्त अपराधमय कार्य है। हमारे जैसे दुर्भागे पशु-बुद्धियुक्त व्यक्तियोंमें भागवत सुननेकी प्रवृत्ति नहीं है, अपितु उसका विरोध करके अपनी मूर्खताकी वृद्धि करना ही हमारा भागवत-पाठ है।

भागवतके 'येऽन्येरविन्दाक्ष', 'श्रेयः सृतिं' एवं 'नैष्कर्ममप्यच्युत-भाववर्जित' आदि श्लोकोंमें निर्विशेष-विचारको अविवेचकोंका चिन्तास्रोत कहा गया है। भागवत श्रेष्ठ प्रमाण है। प्रमाण द्वारा शक्तिविशिष्ट होनेके बाद हम श्रद्धायुक्त हो सकते हैं। भागवत नित्य लीलामय भगवान्के चरित्र वर्णनका प्रमाण है। भागवत द्वारा कौन-सा कार्य सिद्ध होता है? ये समस्त मानव जातिकी भीषणतम व्याधिकी सबसे बड़ी औषधि और चिकित्सक—दोनों ही है। जिस भयानक व्याधिने विज्ञ दार्शनिकोंमें प्रवेश किया है, वह है वेदान्तसूत्रकी निर्विशेष परक व्याख्या—अँग्रेजी भाषामें जिसे Impersonalism कहते हैं। भगवत्ताको निर्विशेष रूपमें स्थापित करके अपने जड़ीय भोगोंमें व्यस्त होना ही मानवकी सबसे प्रधान बीमारी है। हिरण्याक्ष-हिरण्यकश्यपु, रावण-कुम्भकर्ण, कंस, जरासन्ध आदि इस बहुत कठिनतासे दूर होनेवाली बीमारीसे आक्रान्त थे। यह बीमारी चिन्ताशील प्राणी-जगत्के चरम मङ्गलके प्रति बाधा प्रदान करनेके लिए सबसे अधिक cogent (प्रभावी) है। भागवत-धर्मको नष्ट करनेके लिए कितनी प्रकारसे प्रयास किये जा रहे हैं। वर्त्तमान समयमें ईश्वरसे विमुखताका भाव एवं आनुगत्य हीनता ही हमारा स्वभाव बन गया है। यदि कोई कहे कि भागवतमें निर्विशेष विचार हैं, तो वह कभी भी भागवत नहीं समझ सकता। जिस प्रकार नामापराधीके लिए अनुक्षण नाम-ग्रहण ही नामापराधके विनाशका उपाय है, उसी प्रकार इस चरम व्याधिके चङ्गुलसे छुटकारा पानेके लिए वैष्णवोंके आनुगत्यमें अनुक्षण भागवत पढ़नेकी आवश्यकता है।

भगवत्ताको निर्विशेष विचारसे स्थापित करना अपराधकी चरम सीमा है। इस व्याधिसे मुक्त होनेके लिए भक्त-भागवतके निकट ग्रन्थ—भागवतकी आलोचना करनी चाहिये, भागवत विरोधीके निकट नहीं। जो चौबीस घण्टे भागवतकी सेवा करते हैं, जिनका प्रत्येक

कार्य ही भागवत सेवाके लिए है, जो अचित् पिण्ड (जड़) के दर्शनमें आबद्ध नहीं है, ऐसे पूर्णचेतन विग्रह वैष्णवगण अर्थात् पूर्णप्रज्ञके अधीन भागवतगण, जो अचेतनकी मलिनतासे ज्ञान संग्रह नहीं करते, वही भागवतकी सुष्ठु रूपसे आलोचना कर सकते हैं। यदि भागवत पढ़ते समय मनमें यह विचार आये कि भागवतमें कुछ मनोकल्पित उपाख्यान दिये गये हैं, तो फिर भागवत अध्ययन नहीं हुआ। श्रीगौरसुन्दरने जिस प्रणालीसे भागवतकी आलोचना करनेके लिए कहा है, उसके अनुसार आलोचना न करनेसे वृक्षके ऊपरके हिस्सेको बचाये रखकर जड़को अन्दरसे काट देने जैसी स्थिति होगी। इसलिए चौबीस घण्टेमेंसे एक निमेषकाल भी भागवत श्रवण और कीर्त्तनसे अलग नहीं होना चाहिये।

भवरोगी सम्प्रदायका विषम रोग निर्विशेषपरक वेदान्तके विचारके नामपर रजोगुण और तमोगुण प्रकृतिको वर्द्धित करना तथा सर्वत्र ब्रह्मदर्शनके नामपर दरिद्रको नारायण कहकर स्वयं दाता बनकर जन्मान्तर अर्थात् बादमें प्रशंसा या फिर सेवा प्राप्त करनेकी चेष्टा करना है। किन्तु, ऐसी चेष्टाओंका मूल्य फूटी कौड़ीसे भी कम है, यह केवल तभी समझ आ सकता है, जब भागवतकी आलोचना हो। भागवतकी आलोचनाके अभावमें ही ऐसी बातें विभिन्न देशोंमें बहुमानित हो रही हैं।

श्रीमद्भागवतमें सभी प्रकारके रोगोंकी चिकित्सा प्रणाली विद्यमान है

यद्यपि श्रीमद्भागत अखिलरसामृतमूर्त्ति भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रका स्वरूप है, तथापि अचेतन मिश्रित भाव द्वारा आवृत्त अवस्थामें उसे देखा नहीं जा सकता। पुनः जब तक हमारा अभिनिवेश मलयुक्त ज्ञानमें रहता है, तब तक हम भगवान्की श्रीमूर्त्तिमें अनेक प्रकारकी मलिनता लक्ष्य करते हैं। वास्तवमें यह अपनी-अपनी दर्शनेन्द्रियोंकी अपटुतामात्र है।

अमल ज्ञान लब्ध व्यक्ति उस प्रकारसे दर्शन नहीं करते। जो साधारण दिखायी देनेवाली स्त्रियों अर्थात् गोपियोंके अनुगत नहीं हैं,

वे जो दर्शन करते हैं, वे कामनेत्रोंसे भागवतका दर्शन करते हैं। अपनी इन्द्रियोंका तर्पण करनेकी इच्छासे संश्लिष्ट दर्शनमें मलिनता है। एक ही वस्तु अनेक बार मलिनताके परिमाणके अनुसार ही विभिन्न प्रकार की दिखलायी देती है। अनर्थकालीन अवस्था तथा अनर्थमुक्त अवस्थामें दर्शन पृथक् होता है। अनर्थयुक्त अवस्थामें पूर्ण प्रकाशित वस्तुका दर्शन नहीं होता। साधारण व्यक्ति और परममुक्त व्यक्तिके दर्शनमें पार्थक्य है।

'मैं बहुत बुद्धिमान हूँ', 'मैं भागवतको स्वयं ही समझ सकता हूँ (इसे समझनेके लिए मुझे किसीकी आवश्यकता नहीं है)'—जो ऐसा कहता है, उसे उतनी ही भूल-भ्रान्ति हुई है तथा वह वास्तवमें हरिभक्तिके मार्गपर चला ही नहीं है। यही मूर्ख बननेका सहज मार्ग है—foolishness made easy.

हमें पग-पगपर भ्रान्ति होती है। कुहक द्वारा आवृत्त रहनेपर तब तक सत्यका उद्घाटन सम्भवपर नहीं होता, जब तक सत्यके आलोकसे आलोकित न हुआ जाये। जैसे नेत्रोंके रहनेपर भी आलोकके अभावमें अन्धकारमें ही हाथ-पैर मारना होता है।

इस (श्रीचैतन्यमठ रूपी) अस्पतालमें सभी औषधियोंका भण्डार है। श्रीचैतन्य और उनके अनुगतजनोंके द्वारा उत्साह सहित औषधियाँ वितरित की जा रही है। किन्तु इस देशका ऐसा दुर्भाग्य है कि जैसे भी क्यों न हो भागवतको इस देशसे निकाल फैंकना चाहते हैं, इसलिए पूर्ण सामर्थ्यसे उसके पीछे लगाना ही लोगोंका प्रधान कर्त्तव्य हो गया है। भागवतमें छिद्र-अन्वेषण करके कर्म प्रवृत्तिको वर्द्धित किया जा रहा है। किन्तु 'कर्माणां परिणामित्वाद्' (श्रीमद्भा॰ ११/१९/१८) श्लोककी आलोचनासे रहित होने तक ही जीवोंमें फल-भोगकी आकांक्षा प्रबल होती है।

धर्म जगत्में जितने भी रोग हैं, उन सबकी चिकित्सा-प्रणाली भागवतमें है। भागवत सब प्रकारके रोगोंका विनाश करके रोगकी जड़को भी उखाड़कर फैंक देगी। यदि मनुष्यके श्रवण योग्य कान हों, तो भागवत antitheistic (आस्तिक्य विरोधी) चिन्ता-स्रोतको केवल फूँक मारकर ही उड़ा देगी। यदि भागवतके श्रवणमें उदासीन रहेंगे,

तो बहिर्जगत्का चिन्ता स्रोत हमपर आक्रमण करेगा। बहिर्जगत्के चिन्ता स्रोतको dismate (आवरण मुक्त या दूर) करनेकी व्यवस्था भागवतने दी है।

'जगत्में कुछ है'—जो ऐसा सोचकर केवल व्यर्थमें ही व्यस्त हैं, भागवत उनकी कथा नहीं है, बल्कि यह निष्किञ्चनोंकी कथा है। वे निष्किञ्चन इस जगत्की किसी वस्तुका दान करने नहीं आते, अपितु वे तो उस अप्राकृत जगत्की वस्तुको देनेके लिए ही सर्वदा प्रस्तुत हैं, जो इस जगत्में नहीं है। उन निष्किञ्चनोंके श्रीचरणोंकी धूलिसे जो मुकुट तैयार होता है, जिनके मनमें उसे पहननेकी आकांक्षा है, वही (भागवतके श्रवण-कीर्त्तन द्वारा) भगवान्के चरण-कमलोंको स्पर्श करनेका अधिकार प्राप्त करते हैं।

श्रीमद्भागवतम्—कल्पतरु

भागवत श्रवण सभी लोगोंके भाग्यमें नहीं होता। जो भावुक हैं, भावकी मर्यादा जानते हैं, भोगोंमें व्यस्त नहीं हैं, सेवा-भावसे विभावित हैं, केवल उन्हें ही प्रयोजनकी प्राप्ति होती है। उन्हें ही सम्बन्ध-ज्ञान, अभिधेय-रुचि तथा प्रयोजन-सिद्धि की प्राप्ति होती है। भागवतका प्रतिपाद्य विषय जिस किसीको भी नहीं दिया जाता। अप्रयोजनके विचारमें ही जो मग्न हैं, उनका विचार हैं—"हमारी कृष्ण-भजन अथवा भागवत श्रवणमें रुचि नहीं है, हम मद्यपानमें व्यस्त हैं, हमारी रस प्राप्तिमें रुचि नहीं है, प्रभु बननेमें ही हमें आनन्द आता है—हम दूसरेकी नौकरी नहीं करना चाहते।" अनर्थयुक्त अवस्थामें अविद्याग्रस्त जीवोंमें ऐसा अभिमान रहता है। जैसे पढ़ते समय ध्यान नहीं देनेपर पढ़नेका कोई लाभ नहीं होता, उसी प्रकार अनर्थ युक्त व्यक्ति प्रयोजनीय ज्ञानके अभावमें भागवत पाठ करके भी दूसरी-दूसरी वस्तुओंकी इच्छा करता है, किन्तु भगवद्भक्तिरसकी कथामें मन नहीं लगाता और इसी कारण वह भागवतका वास्तविक आस्वादन नहीं कर पाता। भागवत रचयिताके अनुसार भागवत वेदरूपी कल्पतरुका फल है, अतः उससे व्यक्ति जो-जो चाहता है, वह उसे वही देता है—भागवत सर्वार्थसिद्धि प्रद है।

श्रीमद्भागवत्के रसका आस्वादन करनेका क्रम

भागवतको पढ़ लेनेपर 'मैंने तो बाजी मार ली है'—ऐसा विचार आनेपर कृष्णका नित्यानुशीलन ही समाप्त हो जायेगा। इसकी अपेक्षा आस्वाद्य पदार्थका क्रमपूर्वक आस्वादन करना अच्छा है। जैसे saccharine (चीनी जैसी मीठी वस्तु) बहुत मीठी होती है, किन्तु उसे सीधे खानेसे वह स्वादिष्ट नहीं लगती, dilute करके अर्थात् उसमें अधिक परिमाणमें जल अथवा दूध मिलाकर क्रमशः आस्वादन करनेकी आवश्यकता होती है। शब्दका vibration(१) बहुत अधिक या बहुत कम होनेपर वह सुनायी नहीं देता, range (धारण क्षमता) के अनुसार ही सुननेमें सुविधा होती है। अधिक खानेसे पेटमें दर्द होता है, योग्यतानुसार ही खाद्य वस्तुओंको ग्रहण करना चाहिये।

यावता स्यात् स्वनिर्वाहः स्वीकुर्षात्तावदर्थवित्।
आधिक्ये न्यूनतायाञ्च च्यवते परमार्थतः॥

(नारदीय पुराण)

जिस परिमाणमें विषय स्वीकार करनेसे अपना प्रयोजन पूर्ण हो, अर्थज्ञ व्यक्तिको उतना परिमाणमात्र ही स्वीकार करना चाहिये, किन्तु उससे अधिक या कम ग्रहण करनेसे परमार्थसे भ्रष्ट होना पड़ता है।

सात्वत संहिता भागवतको नहीं पढ़ने तक जीव आध्यक्षिक(२) बना रहता है। भागवत—पारमहंसी संहिता है, परमहंस—परममुक्त निष्किञ्चनोंने क्या बोला है, उसे जानने और समझनेके लिए भागवतके दशमस्कन्धकी आलोचना करनी होगी। दशमस्कन्धकी आलोचनाके बाद एकादशस्कन्ध नहीं पढ़नेसे अधःपतन होगा।

श्रीमद्भागवतम्का पाठ करनेके अधिकारी

पृथ्वीपर विराजित भगवद्भावमें भावुक, सेवा-निपुण, रस-निपुण, भागवतगण—रसिक सम्प्रदाय ही भगवान्की लीलासे परिपूर्ण भागवतका पाठ करें।



(१) frequency

(२) महाज्ञानी, महाकर्मी आदि होनेका अभिमान रखनेवाला।

श्रीमद्भागवत–माहात्म्य[१]

गोकर्ण और धुन्धुकारीका उपाख्यान

दक्षिण भारतमें तुङ्गभद्रा नदीके तटपर एक अपूर्व नगर अवस्थित था। वहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र नामक चारों वर्णोंके आश्रित सभी लोग अपने–अपने धर्मके पालन द्वारा सत्पथपर चलते हुए धर्म–कर्म परायण थे। उस नगरमें सर्ववेद–विशारद, श्रुति और स्मृति शास्त्रोंमें पारदर्शी, सूर्यके समान तेजस्वी 'आत्मदेव' नामके एक धार्मिक एवं धनवान ब्राह्मण निवास करते थे। उनकी सत्कुलमें उत्पन्न, अपने वचनोंको स्थापित करनेमें दक्ष तथा परचर्चामें रत रहनेवाली, क्रूर, अधिक बोलनेवाली, कलहप्रिय तथा गृहकार्योंमें चतुर 'धुन्धुली' नामकी एक पत्नी थी। प्रचुर धन–सम्पत्ति होनेपर भी निःसन्तान होनेके कारण इस दम्पतिके मनमें किसी प्रकारकी सुख–शान्ति नहीं थी। अन्तमें ये दोनों पति–पत्नी सन्तान–प्राप्तिकी इच्छासे धर्मका पालन करते हुए दीन–दुःखी व्यक्तियोंको गो, भूमि, स्वर्ण, वस्त्रादि दान करने लगे। इस प्रकार अपनी धन–सम्पत्तिका आधा भाग उक्त दान–धर्ममें व्यय कर देनेपर भी उन्हें पुत्र अथवा कन्याकी प्राप्ति नहीं हुई। यह देखकर वे ब्राह्मण दुश्चिन्तामें निमग्न होकर अत्यन्त दुःखके साथ अपना समय व्यतीत करने लगे।

एक दिन वे ब्राह्मण अत्यधिक दुःखी होकर गृहत्याग करके वनमें चले गये। दोपहरके समय वनमें घूमते–घूमते प्याससे पीड़ित होनेपर उन्होंने एक सरोवरका जल पान किया, किन्तु सन्तानकी कामनाकी चिन्तामें दुःखी होकर वे उस सरोवरके तटपर ही बैठे रहे। उसी समय एक संन्यासीको वहाँ जलपान करते देख वे ब्राह्मण तुरन्त उनके चरणोंमें प्रणाम करके दुःखी अन्तःकरणसे उनके सम्मुख खड़े हो गये।

संन्यासीने उनसे पूछा—हे ब्राह्मण! तुम रो क्यों रहे हो? किस प्रबल चिन्ताने तुम्हें व्याकुल कर रखा है? तुम शीघ्र ही मुझे अपने दुःखका कारण बतलाओ।

---

(१) श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त वामन गोस्वामी महाराज द्वारा पद्मपुराणसे संगृहीत।

ब्राह्मणने उत्तर देते हुए कहा—हे संन्यासिवर! मैं अपने दुःखके विषयमें क्या बतलाऊँ? मैं इस समय अपने पूर्व पापोंका ही फल भोग रहा हूँ। मैं सन्तानहीन हूँ, इसलिए मेरे पिता-पितामह आदि मेरे द्वारा प्रदत्त उदकाञ्जलि (तर्पण) को गर्म-गर्म श्वास छोड़ते हुए अत्यधिक कष्टपूर्वक ग्रहण कर रहे हैं। मेरा पिण्डदान करनेवाला कोई नहीं होगा, यह विचारकर मेरे पितृपुरुष आदि अत्यन्त चिन्तित हैं। पुत्रहीन होनेके कारण मेरे द्वारा प्रदत्त कोई भी वस्तु देवता और ब्राह्मण प्रीतिसहित ग्रहण नहीं करेंगे, इसीलिए सन्तान प्राप्तिकी कामनासे मर्माहत होकर मैं प्राण त्याग करनेकी इच्छासे इस स्थानपर आया हूँ। पुत्रहीन व्यक्तिके प्राण, गृह, धन और कुलको धिक्कार है। मेरा भाग्य ही ऐसा है कि मैंने जिस गायको पाला, वह बाँझ है तथा जिस वृक्षको लगाया, वह फल-फूल हीन है। मेरा गृहस्थाश्रम विफल हो गया, पुत्रविहीन होकर मेरे जीवित रहनेका क्या लाभ है?—इस प्रकार कहकर वे ब्राह्मण उच्चस्वरसे क्रन्दन करने लगे। इसके बाद संन्यासी करुणासे द्रवीभूत हृदयसे उन ब्राह्मणकी भाग्यलिपि (पत्री) की गणना करके विस्तृत रूपसे सबकुछ जान गये और कहने लगे—हे द्विज! अज्ञानसे उत्पन्न पुत्रकामनारूपी मोहका परित्याग करो। कर्मोंकी शक्तिशाली गतिको कोई नहीं रोक सकता। तुम सन्तान प्राप्तिकी आशासे और दुःख न करके विवेकका आश्रय ग्रहणकर संसार-वासनाका परित्याग करनेका प्रयत्न करो। मैं तुम्हारे प्रारब्ध कर्मोंको जानकर उसके अनुसार कह रहा हूँ—सात जन्मों तक तुम्हारा पुत्र प्राप्तिका योग नहीं है। देखो, पूर्वकालमें राजा सगर और अङ्गराजने पुत्रादि प्राप्त करके भी कितना दुःख पाया था। अतः हे विप्र! तुम कुटुम्बकी आशाका परित्याग करो। संन्यास अर्थात् त्यागमें ही सर्वदा सुख विद्यमान है। मेरे इस वचनको तुम सत्य जानो।

यह सुनकर ब्राह्मणने कहा—यतिराज! केवल विवेकके द्वारा क्या होगा? आप अपने तपोबलसे मुझे पुत्र प्रदान कीजिये। ऐसा न होनेपर मैं शोकसे मूर्च्छित होकर आपके सम्मुख ही प्राण त्याग कर दूँगा। सन्तानादिके सुखसे रहित जो शुष्क संन्यासयोग है, मैं उसे अच्छा नहीं समझता। मैं पुत्र-पौत्रादिके साथ सरस गृहस्थ जीवन यापन करनेकी इच्छा रखता हूँ।

ब्राह्मणका संसारधर्मके प्रति अत्यधिक आग्रह देखकर संन्यासीने पुनः कहा—"देखो, राजा चित्रकेतु भी विधिका विधान नहीं बदल सके। हे द्विज! तुम यह निश्चित जान लो कि तुम्हें पुत्रसे सुख प्राप्त नहीं होगा, क्योंकि यह दैवविरुद्ध प्रयास है। मैं यह विचार नहीं कर पा रहा हूँ कि तुम हठ करके मुझसे जिस प्रकारसे प्रार्थना कर रहे हो, मैं उसके लिए क्या करूँ? तथापि तुम्हारे अत्यन्त दृढ़ सङ्कल्पको देखकर, अन्य कोई उपाय न होनेके कारण यह फल प्रदान कर रहा हूँ। इसे अपनी पत्नीको खिलाना, तुम्हें अवश्य ही पुत्र प्राप्त होगा—तुम इसमें संशय मत करना। सत्य, शौच, दया एवं दानादिका आचरण तथा प्रतिदिन केवल एक समय भोजनकर भक्तिभावसे नियमोंका पालन करनेपर तुम्हारी पत्नीके गर्भसे एक अत्यन्त सुलक्षणयुक्त पुत्रका जन्म होगा।" यह कहकर वे संन्यासी वहाँसे चले गये एवं ब्राह्मणने भी अपने घर लौटकर यत्नपूर्वक वह फल अपनी पत्नीको प्रदान किया।

तब ब्राह्मणकी नवयुवती कुटिल पत्नी अपनी सखीके पास गयी और रोते-रोते उससे कहने लगी—हे सखि! मैं एक बहुत बड़ी चिन्तामें पड़ गयी हूँ। मैं कदापि इस फलको नहीं खा सकती। इसे खाकर गर्भ धारण करनेपर मेरा पेट बड़ा हो जायेगा, तब कम भोजन करना पड़ेगा, जिससे शरीर शक्तिहीन हो जायेगा, फिर गृहकार्य कौन करेगा? दैववश चोर-डाकू आदिका उपद्रव होनेपर मैं गर्भिणी प्राण रक्षाके लिए किसी अन्य स्थानपर किस प्रकार भाग सकूँगी? यदि गर्भमें शुकदेवके समान बालक आकर गर्भमें ही रह गया, तो गर्भिणी किस प्रकार उसे प्रसव करेगी? प्रसवके समय शिशुके टेढ़ा हो जानेपर गर्भधारिणी स्त्री निश्चित रूपसे ही मृत्युके मुखमें जाती है। मैं सुकुमारी भला किस प्रकार प्रसवकी पीड़ाको सहन करूँगी? और यदि प्रसववशतः मैं दुर्बल हो गयी, तो मेरी ननद मेरे घरमें आकर मेरा सर्वस्व हरण कर लेगी। पुनः सत्य-शौचादि नियम अत्यन्त कठोर होते हैं, मैं किस प्रकार उनका पालन करूँगी? प्रसवके बाद भी स्त्रीको सन्तानके लालन-पालनके लिए बहुत कष्ट उठाना पड़ता है, इसके विपरीत बांझ अथवा विधवा स्त्री अत्यन्त सुखसे जीवन यापन

करती है। इस प्रकार कुतर्कवशतः उस ब्राह्मण पत्नीने वह फल नहीं खाया। जब उसके पतिने उससे उस फलके भक्षणके विषयमें पूछा तो उसने 'हाँ मैंने वह फल खा लिया है' कहकर झूठ बोल दिया।

एक समय दैवयोगसे इस ब्राह्मण पत्नीकी बहन अपनी इच्छासे ब्राह्मणके घरमें आयी। तब धुन्धुलीने अपनी छोटी बहनसे कहा—"मैं दिन-रात चिन्ता और दुःखमें अपना समय व्यतीत कर रही हूँ। इस चिन्तासे मेरा हृदय विदीर्ण हो रहा है और मैं अत्यन्त दुर्बल हो गयी हूँ। हे बहन! किस प्रकार यह ज्वाला शान्त होगी? मैं क्या करूँ?" यह सुनकर ब्राह्मण पत्नीकी बहनने कहा—"तुम किसी प्रकारकी चिन्ता मत करो। मैं इस समय गर्भवती हूँ, सन्तानके उत्पन्न होनेपर मैं उसे तुम्हें सौंप दूँगी। तुम अपने घरमें गुप्त रूपसे गर्भवतीके रूपमें रहो, कोई भी इस विषयमें कुछ न जान पाये। मेरे पतिको कुछ धन देनेपर वे तुम्हें अपनी सन्तान दे देंगे। 'छः मासके गर्भमें ही मेरा पुत्र मर गया है'—मेरे द्वारा लोगोंमें केवल इतना कहनेसे ही चल जायेगा। मैं प्रतिदिन तुम्हारे घरमें आकर अपने द्वारा प्रदत्त बालकका यत्नपूर्वक लालन-पालन करूँगी। किन्तु, अभी तुम इस फलको अपनी गायको खिलाकर इसकी परीक्षा करो।" स्त्री-स्वभाववशतः धुन्धुलीने अपनी बहनके कहे अनुसार वही किया। कालक्रमसे ब्राह्मणीकी बहन द्वारा पुत्र प्रसव करनेपर शिशुके पिताने धनके लोभसे मुग्ध होकर नवजात शिशुको लाकर धुन्धुलीको प्रदान कर दिया।

यथासमय धुन्धुलीने अपने पतिको यह संवाद दिया कि उसने पुत्रको जन्म दिया है। आत्मदेव भी पुत्र प्राप्त करके अत्यन्त आनन्दित मनसे नवजात शिशुका जात-कर्मादि संस्कार कराकर ब्राह्मणोंको धनादि दान करने लगे। आत्मदेवके घरमें गीत-वाद्यादि माङ्गलिक कृत्य होने लगे। तत्पश्चात् धुन्धुलीने अपने पतिसे कहा—"मेरे स्तनोंमें दुग्ध नहीं है। यदि कोई दुग्धवती स्त्री यहाँ आकर इसे स्तनपान नहीं कराती है, तो इस बालकके प्राण किस प्रकार बचेंगे? मेरी बहनके प्रसवके बाद उसका पुत्र मर गया है, यदि उसे बुलाकर घरमें रख लिया जाये, तो वह इस शिशुका पालन-पोषण

कर सकती है।” आत्मदेवने अपने पुत्रके जीवनकी रक्षाके लिए यही किया। तत्पश्चात् धुन्धुलीने अपने पुत्रका नाम रखा—‘धुन्धुकारी’।

इधर, तीन मास बीतनेपर उस गायने बछड़ेके स्थानपर सर्वाङ्गसुन्दर, अति सुनिर्मल, स्वर्णवर्णके समान एक दिव्य मनुष्याकार शिशुको जन्म दिया। आत्मदेवने भी अत्यन्त सुखपूर्वक उस शिशुके यथोचित संस्कारादि सम्पन्न कराये। गायसे उत्पन्न उस सर्वसुलक्षणयुक्त, सर्वाङ्गसुन्दर मनुष्य-शिशुको देखकर सभी स्थानीय लोग आश्चर्य चकित होकर कहने लगे—ब्राह्मण आत्मदेवका महाभाग्य उदित हुआ है, देखो! इसकी गायने भी देवपुत्रको जन्म दिया है। किन्तु उनमेंसे कोई भी इसके रहस्यको नहीं जान पाया। शिशुके कान गायके समान हैं, यह देखकर आत्मदेवने बड़े प्रेमसे उसका नाम ‘गोकर्ण’ रखा। कालक्रमसे दोनों शिशुओंने युवावस्थामें प्रवेश किया। गोकर्ण तो समस्त शास्त्रोंके ज्ञाता पण्डित हो गये और धुन्धुकारी अत्यन्त दुष्ट बन गया। धुन्धुकारीने ब्राह्मणोचित स्नान-शौच-क्रियाहीन, कदाचारी, अत्यन्त क्रोधी, शवहस्त-भोजी (शवके हाथसे छुआ भोजन खानेवाला), दुष्ट-परिग्रहकारी, चोर, सर्वद्वेषी, दूसरेके घरोंको जलानेवालेके रूपमें कु-ख्याति अर्जित की। वह अन्य लोगोंके प्राणोंके समान प्रिय बालकोंको उठाकर कुँएमें डाल देता। शस्त्र धारण किये हिंसक होकर वह प्रतिदिन दीन-अन्धे लोगोंको पीड़ा पहुँचाने लगा। सर्वदा पाश हाथमें लेकर चण्डालादि नीच जातिके व्यक्तियोंके साथ बन्धुत्व स्थापितकर उनके साथ कुत्तोंको पकड़नेके लिए घूमता रहता। वेश्याओंके कुसङ्गमें अपने पिताकी सारी सम्पत्तिको नष्ट करने लगा। एक दिन उसने अपने पिता-मातापर निर्दयतापूर्वक प्रहार करके घरमें स्थित धातु-पात्रादि समस्त सम्पत्तिका हरण कर लिया। धीरे-धीरे उसके पिता धनहीन होकर हा-हुताश करते हुए उच्चस्वरसे रोते-रोते कहने लगे—दुःखप्रद कुपुत्रकी अपेक्षा निःसन्तान रहना ही अच्छा है। अब मैं कहाँ रहूँगा? कहाँ जाऊँगा? कौन मेरे इस दुःखको दूर करेगा? इतना कष्ट अब और सहन नहीं होता। इस भीषण दुःखसे मेरे प्राण ही छूट जायेंगे।

तब ब्राह्मणके ज्ञानी पुत्र गोकर्णने वहाँ आकर अपने पितामें वैराग्य-पथसे सम्बन्धित ज्ञानका उदय कराते हुए कहा—हे पिता! यह संसार असार है तथा मोह अर्थात् बन्धनका कारण है। यहाँ सुखका लेशमात्र भी नहीं है, केवल दुःख-ही सार है। किसका पुत्र, किसका धन?—यह सब ही मायामय है। माया और स्नेहासक्त व्यक्तिको चिरकाल तक केवल अशान्ति ही प्राप्त होती है। हे पिता! देवराज इन्द्र हो अथवा चक्रवर्ती राजा, किसीको भी लेशमात्र सुख प्राप्त नहीं है। शान्ति तो केवल साधुसङ्गमें रत रहनेवाले विरक्त मुनियोंको ही प्राप्त होती है। अब आप पुत्र बुद्धिरूपी अज्ञानताका परित्याग कीजिये। मोहके वशीभूत होनेपर केवल नरक ही प्राप्त होता है। इस जड़देहका पतन अवश्य होगा, अतः सबकुछ छोड़कर हरिभजनके लिए वनकी ओर प्रस्थान कीजिये। पुत्रके वचन सुनकर आत्मदेवको वनमें जानेकी इच्छा हुई। तब उन्होंने पुनः अपने पुत्रसे पूछा—हे पुत्र! वनमें जानेके पश्चात् मेरा जो भी कर्त्तव्य है, तुम उन सब तत्त्वोंका मेरे समक्ष विस्तृत रूपसे वर्णन करो। गृहरूपी अन्धकूपमें जड़ स्नेहपाशसे बद्ध होनेके कारण मैं पङ्गु हो गया हूँ। अपने कर्मोंके फलके कारण ही मैं इतना पतित हुआ हूँ। हे पुत्र! मेरे उद्धारके उपायकी चिन्ता करो।

गोकर्णने कहा—"हे पिताजी! अस्थि-मांस-रक्तसे निर्मित इस जड़देहके प्रति वृथा अभिमानका परित्याग कीजिये तथा पत्नी-पुत्रके प्रति जो ममता है, उसका भी परित्याग कीजिये। सदैव यह विचार कीजिये कि यह जगत् क्षणभङ्गुर है, अतः वैराग्यके साथ तथा चित्तको अनुरागमें अनुरञ्जित करके भक्तिरसके द्वारा कृष्णप्रेममें निमग्न हो जाइये। सदैव भागवत-धर्मका सेवन और याजन कीजिये एवं काम्य-कर्मादि लोकधर्मका परित्याग करनेके लिए प्रतिक्षण प्रयास कीजिये। साधुओंकी सेवाके द्वारा कामनाओं और तृष्णाओंका निवारण कीजिये तथा वृथा ही दूसरोंके दोष-गुणोंका विचार परित्यागकर कृष्णसेवा और कृष्ण-कथारूपी भागवतरसका निरन्तर पान कीजिये।" पुत्रके मुखसे सुदुर्लभ उपदेश सुनकर आत्मदेवने साठ वर्षकी आयुमें

गृहत्यागकर वनकी ओर प्रस्थान किया। नियमित रूपसे श्रीकृष्णकी सेवामें नियुक्त रहकर श्रीमद्भागवत्के दशमस्कन्धका पाठ करते-करते अन्तिम समयमें उन्होंने परमधन स्वरूप श्रीकृष्णके चरणकमलोंको प्राप्त किया।

जब ब्राह्मण आत्मदेवने वनमें जाकर देहका परित्याग कर दिया तब धुन्धुकारी अपनी माताको प्रायः ही मारने-पीटने लगा और अपशब्द कहने लगा। एक दिन उसने अपनी मातासे कहा—"शीघ्र बतला कि धन कहाँ छुपा रखा है, नहीं तो लाठीसे मार-मारकर तेरी हत्या करके मैं उस धनको ले लूँगा।" चिरकालसे अपने पुत्रके व्यवहारसे दुःखी धुन्धुली उसकी इस बातसे अत्यन्त भयभीत हो गयी और रात्रिके समय उसने कुँएमें कूदकर अपने प्राण त्याग दिये। इधर गोकर्ण भी भक्तियोगका अवलम्बन करते हुए तीर्थ यात्राके लिए निकल पड़े। उन्हें दुःख-सुख, शत्रु-मित्र आदिका ज्ञान ही नहीं था। क्रूरकर्मा, हतबुद्धि धुन्धुकारी यह सुयोग पाकर पाँच वेश्याओंको घरमें ले आया और उनके साथ समय व्यतीत करने लगा। एकबार उन वेश्याओं द्वारा लोभवश स्वर्णादि अलङ्कारोंकी प्रार्थना करनेपर वह कामान्ध धुन्धुकारी मृत्युके भयसे भयभीत न होकर कहींसे प्रचुर धनराशि और बहुमूल्य वस्त्रादि लेकर घरमें आया और उसमेंसे कुछ अंश उन वेश्याओंको प्रदान किया। यह देखकर वे सभी वेश्याएँ घोर रात्रिमें आपसमें इस प्रकार परामर्श करने लगीं—"यह दुष्ट प्रतिदिन चोरी करके यह सब वस्तुएँ लाता है। किसी दिन राजा इसे पकड़कर दण्ड देगा अथवा कोई अन्य व्यक्ति इसका सारा धन छीनकर अन्तमें इसे मार डालेगा। अतः हम सब मिलकर गुप्त रूपसे इसकी हत्या करके इसका सारा धन लूट लेती हैं तथा यहाँसे भाग जाती हैं, किन्तु देखो! इस विषयमें कोई कुछ भी जान न पाये।" इस प्रकार निश्चयकर उन वेश्याओंने सोये हुए धुन्धुकारीके हाथ-पैर बाँध दिये और उसके गलेमें रस्सीका फंदा डालकर उसके प्राण लेनेका प्रयास करने लगीं। किन्तु इस उपाय द्वारा जब उसके प्राण नहीं निकले तब चिन्तायुक्त होकर वे उसके मुखमें जलते हुए अङ्गारे डालने लगीं। धुन्धुकारीने गलेमें फाँस और अङ्गारोंकी ज्वालासे पीड़ित होकर

अन्तमें प्राण त्याग दिये। मृत्युके पश्चात् उन दुष्ट वेश्याओंने घरके भीतर गड्ढा खोदकर धुन्धुकारीकी देहको वहाँ गाड़ दिया। इस प्रकार धुन्धुकारीकी मृत्युका रहस्य कोई भी जान नहीं पाया। यदि कोई उन वेश्याओंसे धुन्धुकारीके बारेमें पूछता तो वे कहतीं—"हमारे प्रियतम धन कमानेके लिए किसी दूर देशमें गये हैं। वर्षकी समाप्ति तक वे बहुत सारा धन लेकर यहाँ वापस आ जायेंगे।" पण्डितगण कभी भी दुष्ट स्त्रियोंकी बातोंपर विश्वास नहीं करते। जो मूढ़ उनपर विश्वास करते हैं, उन्हें दुःख ही प्राप्त होता है। असती नारीके मुखसे सदा ही सुधामय वाणी निकलती है, वह रसालाप अर्थात् मीठी-मीठी बातें करनेमें विशेष दक्ष होती है, किन्तु उसका हृदय छुरीकी धारके समान तीक्ष्ण होता है। इस संसारमें उसका कोई भी प्रिय नहीं होता, वह भी किसीके प्रेममें बद्ध नहीं होती। इस प्रकार यथासमय धन-रत्न-वस्त्रादि संग्रहकर वे वेश्याएँ वहाँसे भाग गयीं।

धुन्धुकारीको भी आजीवन कुसङ्गमें बुरे कर्म करनेके कारण महाप्रेत-योनि प्राप्त हुई। वह वायुभूत (बवंडर) के रूपमें निराश्रय होकर चारों दिशाओंमें इधर-उधर भ्रमण करने लगा। भूख-प्यास, गर्मी-सर्दी आदिसे पीड़ित होकर वह कहीं भी आश्रय न पाकर सर्वदा हा-हुताश करता रहता था। तीर्थस्थलोंमें वास करते हुए गोकर्णने जब यह सब सुना, तब उन्होंने अपने भाई धुन्धुकारीको अनाथ जानकर गया आदि विभिन्न तीर्थोंमें यथाविधि उसका प्रेतश्राद्ध आदि सम्पन्न किया। इस प्रकार तीर्थयात्रा समाप्त होनेपर गोकर्ण अपने नगरमें लौट आये तथा अपने घरमें उपस्थित हुए। रातमें जब वे सोते उस समय प्रेतयोनिको प्राप्त धुन्धुकारी अलक्षित रूपसे घरके आङ्गनमें आता और उन्हें अपने विभिन्न प्रकारके भयङ्कर रूप दिखाने लगता। उसने कभी भेड़, कभी भैंस, कभी इन्द्र, कभी अग्नि, तो कभी पुरुषादिका रूप धारण किया। इन सब असम्भव रूपोंको देखकर गोकर्ण जान गये कि यह कोई ऐसी जीवात्मा है, जिसकी सद्गति नहीं हुई है। तब वे धैर्यधारणकर दयापूर्वक उस अशरीरीसे कहने लगे—इस घोर रात्रिमें उग्रमूर्त्ति धारण करके यहाँ आनेवाले तुम कौन हो? तुम्हारी यह दशा किस प्रकार हुई? तुम प्रेत, पिशाच, अथवा राक्षस—कौन

हो? मुझे अपना परिचय प्रदान करो। गोकर्णके इन प्रश्नोंको सुनकर वह प्रेत उच्चस्वरसे रोने लगा। बोलनेका सामर्थ्य न होनेके कारण वह बार-बार विभिन्न प्रकारके सङ्केतोंके द्वारा गोकर्णको अपना दुःख बतलाने लगा। गोकर्णने उसके कष्टको जानकर अपनी अञ्जलिमें जल लिया और उसे अभिमन्त्रित (मन्त्र द्वारा पवित्र किया हुआ) करके उस प्रेतके ऊपर छिड़क दिया, जिससे वह प्रेत निष्पाप होकर अपने विषयमें विस्तारपूर्वक इस प्रकार कहने लगा—"मैं तुम्हारा भाई धुन्धुकारी हूँ। अपने कर्मोंके दोषोंके कारण मैंने अपना ब्राह्मणत्व खो दिया है। महामोहमें अन्धा होकर मैंने जितने कुकर्म किये हैं, उनकी गणना कौन कर सकता है? मैं दुर्मति सर्वदा लोक-हिंसामें रत रहता था। अन्तमें वेश्याओंने मुझे प्रचुर यातनाएँ देकर मेरा वध कर दिया। तब मुझे बाध्य होकर इस प्रेतयोनिको स्वीकार करना पड़ा। दैवाधीन, वाताहारी (वायुका भक्षण करनेवाला) होकर मैं अपने किये हुए कुकर्मोंका फल भोग रहा हूँ।" यह सुनकर गोकर्णने कहा—"मैंने तुम्हारे उद्देश्यसे गयामें यथाविधि पिण्डादि दान किया था, किन्तु फिर भी तुम्हारी मुक्ति नहीं हुई। यह देखकर मैं आश्चर्यचकित हो रहा हूँ। गयामें श्राद्धादि करनेपर भी जब तुम्हारी सद्गति नहीं हुई, तो फिर किस प्रकार होगी?—मैं इसके अतिरिक्त और कोई विधि-विधान नहीं जानता। अतः हे प्रेत! मुझे विस्तारसे बतलाओ कि मुझे तुम्हारी सद्गतिके लिए और किस उपायका अवलम्बन करना होगा।" यह सुनकर प्रेतने कहा—"सौ बार गयामें श्राद्ध करनेपर भी मेरी मुक्ति सम्भवपर नहीं है, तब मेरा किस प्रकार उद्धार होगा? अब तुम ही मेरे उद्धारका और कोई उपाय सोचो।" प्रेतके इन वचनोंको सुनकर गोकर्ण अत्यन्त विस्मित होकर विचार करने लगे—"सौ बार श्राद्ध करनेपर भी जिसकी मुक्ति असम्भव है, उसके उद्धारकी चेष्टा करना पशुओंके वृथा श्रमकी भाँति है। तब वे उस प्रेतको लक्ष्यकर कहने लगे—"अभी तुम निर्भय होकर अपने स्थानपर निवास करो। मैं भलीभाँति विचारकर वही व्यवस्था करूँगा, जिससे शीघ्र ही तुम्हारी मुक्ति हो।" गोकर्णके आदेशसे धुन्धुकारी अपने स्थानपर जाकर अपनी मुक्तिकी कामनासे उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा करने लगा।

दूसरी ओर, सारी रात जागकर बहुत सोचनेपर भी गोकर्ण उस प्रेतकी मुक्तिका कोई उपाय निश्चित नहीं कर पाये। प्रातःकाल होनेपर आस-पासके लोग प्रीतिपूर्वक बातचीत करनेके लिए उनके पास आने लगे। गोकर्णने उन्हें रात्रिकालमें प्रेतके साथ हुए अपने समस्त कथोपकथनके विषयमें बतलाया। पण्डित, योगी, ज्ञानी और ब्रह्मवादी आदि सभी मिलकर शास्त्रोंकी आलोचना करनेपर भी उस प्रेतकी मुक्तिके विषयमें किसी सिद्धान्तपर नहीं पहुँच सके। अन्तमें सभीने मिलकर यह स्थिर किया कि सूर्यके वचन ही इस विषयमें एकमात्र प्रमाण हैं। तब गोकर्णने मन्त्रोचारण करके सूर्यदेवकी गतिको रोक दिया और उनके शरणागत होकर उन्हें बतलाया—"हे देव! हे जगत्के साक्षी! मैं आपको प्रणाम करता हूँ। आप कृपा करके मुझे मेरे भाईकी मुक्तिका उपाय बतलाइये।" तब सूर्यदेवने दूरसे ही सुस्पष्ट भाषामें गोकर्णसे कहा—"सात दिनों तक श्रीमद्भागवतका श्रवण करनेपर ही तुम्हारे भाईकी मुक्ति होगी। तुम श्रीमद्भागवत सप्ताह-पारायणका अनुष्ठान करो।"

गोकर्णने सूर्यदेवके आदेशको शिरोधार्य किया और इसे सहज पन्था जानकर आषाढ़ मासकी शुक्ला नवमी तिथिसे आरम्भकर एक सप्ताह तक श्रीमद्भागवत पाठका अनुष्ठान किया। विभिन्न नगरों और ग्रामोंसे लङ्ड़े, अन्धे, वृद्ध और पापी आदि सभी भागवत-कथा श्रवण करनेके लिए वहाँ उपस्थित हुए। जब गोकर्णने अपने आसनपर बैठकर श्रीमद्भागवत-कथा आरम्भ की, तब प्रेत शरीरधारी धुन्धुकारी भी उस सभामें आकर अपने बैठने योग्य स्थानको इधर-उधर ढूँढ़ने लगा। वहाँ सात गाँठोंसे युक्त एक विशाल बांसके दण्डको देखकर वह उसके मूल छिद्रमें प्रवेशकर भागवत-कथा श्रवण करने लगा। वायुभूतके रूपमें निराश्रय अवस्थाके कारण धुन्धुकारी भागवत-कथा श्रवण करनेमें असमर्थ था, इसलिए उसने उस बांसके दण्डका आश्रय लिया था। वैष्णव और ब्राह्मणादि श्रेष्ठ श्रोतृमण्डलीसे युक्त उस महती सभामें प्रथम दिनके अन्त तक गोकर्ण द्वारा प्रथमस्कन्धसे आरम्भकर यथासम्भव भागवत-कथाकी आलोचना होनेपर वहाँ एक विचित्र घटना घटी। प्रेतरूपी धुन्धुकारीने जिस बांसके दण्डका आश्रय लिया

था, उसकी एक गाँठ शब्द करते हुए फट गयी। इसे सभामें उपस्थित सभी सज्जनोंने भी देखा। दूसरे दिन सन्ध्या तक पाठ होनेके पश्चात् बांसकी दूसरी गाँठ, इसी प्रकार तीसरे दिन तीसरी गाँठ और सप्ताहके अन्तमें उस बांसके दण्डकी सातवीं गाँठ भी फट गयी। एक सप्ताहमें द्वादशस्कन्ध तक श्रीमद्भागवत श्रवण करनेपर धुन्धुकारीको प्रेतयोनिसे मुक्ति प्राप्त हो गयी।

तब वह प्रेत कण्ठमें तुलसीमालासे मण्डित, पीतवस्त्र पहनकर, मुकुट तथा कुण्डलोंसे सुशोभित, घनश्यामवर्णका दिव्यरूप धारणकर गोकर्णको प्रणाम करते हुए कहने लगा—हे परम बान्धव! तुमने भागवत श्रवण कराकर पापमय प्रेत-योनिकी ज्वालासे मेरा उद्धार किया है। प्रेत-पीड़ाका विनाश करनेवाली यह भागवत-कथा संसारमें धन्य है तथा इसकी अपेक्षा यह भागवत-सप्ताह पारायण विधि धन्य है—जो कृष्णलोककी प्राप्ति करानेवाली है। एक सप्ताह तक इस भागवत-कथाका श्रवण करनेपर पापीके शरीरमें समस्त पाप कम्पित होकर शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं। जिस प्रकार अग्नि गीली-सूखी, छोटी-बड़ी समस्त लकड़ियोंको जला देती है, उसी प्रकार काय, मन और वाक्यसे होनेवाले तथा नये-पुराने, छोटे-बड़े आदि जितने भी पाप हैं, वे सभी प्रकारके पाप इस भागवत-कथाका श्रवण करनेपर अग्निमें पड़नेवाली आहुतिके समान नष्ट हो जाते हैं। इस भारतवर्षमें वेद-सभामें पण्डित सज्जनगण सुस्पष्ट रूपमें इस भागवत-कथाकी महिमाका गान करते हैं।

जो मनुष्य इस भागवतकी वाणीको श्रवण नहीं करता, उसका जन्म और जीवन निष्फल है। मोहके वशीभूत होकर बलवान और हृष्ट-पुष्ट शरीर धारण करनेसे भी उसे क्या लाभ है? इस भागवत शास्त्रकी कथाके बिना उसका शरीर धारण करना व्यर्थ है। माँस-रक्त और चर्मसे ढकी अस्थियाँ, असंख्य नाड़ियोंसे युक्त देहभार, अत्यन्त दुर्गन्धमय मल-मूत्रके द्वारोंवाला उसका शरीर केवल रोगोंका घर मात्र है। वृद्धावस्था, शोक और नाना प्रकारकी विपत्तियोंसे अत्यधिक दुःखमय, कामनाओं द्वारा व्याकुल, तृप्तिहीन तथा भार-स्वरूप यह देह अनेक दोषोंसे युक्त और क्षणस्थायी है। जिसे 'शरीर' कहा जाता

है, वह कृमि, विष्ठा और भस्मके परिणामके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। जिन अनित्य कर्मोंके कारण यह जड़देह सदा अस्थिर रहती है, यदि उन कर्मोंके विनिमयमें चिरस्थायी फल प्राप्त किया जा सके, तो कौन उसे प्राप्त करनेके लिए प्रयास नहीं करेगा? प्रातःकालमें बनाया गया उत्तम भोजन भी सन्ध्या समय तक बासी होकर नष्ट हो जाता है, उसी भोजनके रससे परिपुष्ट यह देह क्या नित्य हो सकती है? इस अनित्य संसारमें भागवत-कथाका मात्र एक सप्ताह तक श्रवण करके ही नित्यसत्य श्रीहरिको चिरकालके लिए प्राप्त किया जा सकता है। समस्त दोषोंके निवारणका एकमात्र यही साधन है। प्राणियोंमें जिस प्रकार मच्छर एवं जलमें बुलबुले एक मुहूर्त्तके लिए ही उत्पन्न होकर अगले क्षण नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार भागवत-कथासे विहीन मनुष्य भी केवल मरनेके लिए ही जन्म लेता है। भागवतकी कथासे यदि बांसके शुष्क दण्डकी गाँठें फट सकती हैं, तो इसमें क्या आश्चर्य है कि इसके द्वारा संसार आसक्तिरूप हृदयकी ग्रन्थियोंका भी छेदन हो जायेगा। भागवत-कथाके श्रवणसे हृदयकी ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं, समस्त संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं तथा सभी कर्मोंका क्षय हो जाता है। यह भागवती-वाणी संसाररूपी कीचड़में लिप्त व्यक्तिके अङ्गोंको धोकर उसे अत्यधिक पवित्र करनेमें समर्थ है। जिसका चित्त इस भागवत-कथामें स्थिर हो गया है, वह श्रीहरिके चरणकमलोंकी प्राप्तिरूपी मुक्तिका अधिकारी है।

जिस समय धुन्धुकारी प्रेत शरीरका परित्याग करके दिव्यदेह धारणकर इस प्रकार भागवत-कथाकी महिमा कह ही रहा था कि तभी आकाशमार्गमें वैकुण्ठ-पार्षदोंसे युक्त एक स्निग्ध एवं अत्यन्त ज्योर्तिमय विमान उपस्थित हुआ। धुन्धुलीके पुत्र धुन्धुकारीके उस विमानपर चढ़नेपर गोकर्ण उसमें स्थित विष्णु-पार्षद वैष्णवोंको लक्ष्यकर इस प्रकार कहने लगे—"हे भगवत्-पार्षदजन! यहाँ सरल, निर्मल चित्तयुक्त बहुत-से व्यक्ति विद्यमान हैं, जिन्होंने मुझसे भागवत-कथा श्रवण की है अर्थात् इन सबने समान रूपसे भागवत-कथामृतका श्रवण किया है, फिर इन सबके लिए भी विमान

क्यों नहीं आया? हे श्रीहरिके प्रियजनो! आप लोग कृपा करके बतलाइये कि इस प्रकारका फल भेद क्यों हुआ है?"

विमानपर विराजमान श्रीहरिके दास गोकर्णके प्रश्नके प्रत्युत्तरमें इस प्रकार कहने लगे—"श्रवणके भेदसे ही इस प्रकारका फलभेद उपस्थित हुआ है। एकसाथ बैठकर समभावसे श्रवण करनेपर भी सबने एक-समान भावसे कथाका मनन नहीं किया। और हे मानद! भजनके भेदसे भी फलभेद देखा जाता है। इस प्रेतने सात दिन तक निराहार रहकर तथा मन लगाकर भागवत-कथाका श्रवण किया है। अतः स्थिर चित्तसे इस भागवत-कथाका मनन करनेके कारण इसे उत्तम फलकी प्राप्ति हुई है। किन्तु दृढ़चित्तसे श्रवण न करनेपर ज्ञान नष्ट हो जाता है तथा कथा श्रवणमें प्रमाद (असावधानी) के कारण श्रवणका फल नष्ट हो जाता है। सन्दिग्ध चित्तवाले व्यक्तिका मन्त्र नष्ट हो जाता है एवं चित्तके चञ्चल होनेपर जपमें विघ्न उत्पन्न होता है। वैष्णव विहीन स्थान नष्ट हो जाता है और अपात्रको श्राद्धका दान देनेपर वह व्यर्थ हो जाता है। जिस प्रकार वेदके ज्ञानसे हीन व्यक्तिको दान देना अनर्थकारी होता है, उसी प्रकार अनाचारी व्यक्तिके कारण कुल नष्ट हो जाता है। अतः सद्गुरुके वचनोंपर विश्वासकर, निष्किञ्चन दीन-हीन भावसे जीवन यापन करना ही मनुष्यमात्रका कर्त्तव्य है। भागवत-कथामें निश्चला मति होनेपर मनके सभी दोषोंपर विजय प्राप्त की जा सकती है। इस प्रकारसे सभी विधियोंका भलीभाँति पालन करनेपर भागवत-कथाके श्रवण करनेका वास्तविक फल प्राप्त किया जा सकता है। अतएव यदि इन नियमोंका पालन करते हुए भागवत-कथाको पुनः श्रवण किया जाये, तो सभी श्रोता ही वैकुण्ठमें स्थान प्राप्त कर पायेंगे। हे गोकर्ण! स्वयं-भगवान् श्रीगोविन्द आपको गोलोकमें स्थान देंगे।" यह कहकर उन भगवत्-पार्षदोंने श्रीहरिकीर्त्तन करते-करते वैकुण्ठकी ओर प्रस्थान किया।

तत्पश्चात् समस्त सदगुणोंके आधार गोकर्णने श्रावण मासकी शुक्ला-नवमी तिथिको पुनः भागवत-कथाका कीर्त्तन आरम्भ किया। उन सभी पूर्व श्रोताओंके द्वारा सप्ताह तक भागवत-कथाका श्रवण करनेके पश्चात् एक अपूर्व घटना घटी। स्वयं श्रीहरि अपने भक्तोंके

साथ विमानपर आरुढ़ होकर वहाँ आविर्भूत हुए। 'जय' और 'नमः' शब्दोंकी ध्वनिसे वह स्थान गुञ्जायमान हो गया। स्वयं श्रीभगवान्‌ने अत्यन्त हर्षपूर्वक अपने पाञ्चजन्य शङ्खकी ध्वनि की। गोकर्णका गाढ़ आलिङ्गन करके श्रीहरिने उसे सारूप्य प्रदान किया एवं अन्य समस्त श्रोताओंको क्षणकालमें ही घनश्यामरूप, पीताम्बर और किरीट-कुण्डलसे विभूषित कर दिया। उस गाँवके कुत्ते-चण्डालादि जितने भी जीव थे, सभी श्रीहरिके प्रिय गोकर्णकी कृपासे उस दिव्य विमानपर चढ़ गये। वे सभी श्रीहरिलोक वैकुण्ठमें भेज दिये गये, किन्तु गोपवल्लभ गोपाल श्रीकृष्ण अपने प्रिय गोकर्णको अपने धाम गोलोक लेकर गये। भक्तवत्सल श्रीहरि स्व-स्वरूपभूत (स्वयंसे अभिन्न) भागवत-कथासे परितुष्ट होकर सदा ही उस भागवत-कथाका वर्णन करनेवाले भक्तोंके स्थानपर गमन किया करते हैं। पूर्वकालमें अयोध्यावासी भी भगवान् श्रीरामके द्वारा इसी विधिसे ही वैकुण्ठलोकमें पहुँचे थे। किन्तु सिद्ध मुनियोंके लिए भी दुर्लभ तथा चन्द्र और सूर्यके लिए भी दुष्प्राप्य श्रीभगवान्‌के इस गोलोकधामको श्रीमद्भागवतके विधिपूर्वक श्रवणके फलसे ही प्राप्त किया जा सकता है।



श्रीमद्भागवत–सप्ताहके श्रवणकी महिमा और पारायण–विधि[1]

श्रीमद्भागवत–कथामृतको कानरूपी दोनोंके द्वारा पान करनेपर किसीको भी पुनः गर्भकी यातना नहीं भोगनी पड़ती। योगीगण केवल वायु, जल एवं गिरे हुए पत्तोंके भोजनपर आश्रित रहकर कठोर तपस्याके द्वारा योग सिद्धियोंको प्राप्त करके भी जिस गतिको प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं हो पाते, मनुष्योंको वह परमगति केवल भागवत–कथाके श्रवणमात्रसे ही प्राप्त हो जाती है। इस परम–पवित्र भागवत–कथाका केवलमात्र एकबार श्रवण करनेपर ही जीवकी समस्त पापराशि भस्मीभूत हो जाती है। यदि पिता–माता आदिके श्राद्धके अवसरपर इसके पठन–पाठनका अनुष्ठान किया जाये, तो अपने लोकमें स्थित पितृ–पुरुषादि परम सन्तुष्ट होते हैं। जो व्यक्ति श्रद्धाके साथ इसका नित्य पाठ करता है, उसका पुनर्जन्म नहीं होता तथा वह भगवद्धाममें जाकर श्रीहरिकी साक्षात् सेवा प्राप्त करता है।

श्रीमद्भागवत स्वयं श्रीकृष्णका अवतार है। जो श्रद्धापूर्वक इसका पठन और श्रवण करते हैं, वे अनायास ही गोलोक धामको प्राप्त करनेमें सक्षम हो जाते हैं। इस घोर कलिकालमें कालरूपी सर्पके मुखसे जीवोंका उद्धार करनेमें केवल श्रीशुकदेव गोस्वामी द्वारा कथित भागवत–शास्त्र ही समर्थ है। जन्म–जन्मान्तरके पुण्योंके फलसे ही जीवकी इस भागवत–कथामें रुचि होती है। भागवत–कथाके अतिरिक्त दुष्ट मनका शोधन करनेका अन्य कोई उपाय नहीं है।

द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याय–यज्ञ और ज्ञान यज्ञादि सकाम–साधनरूपी कर्म हैजा रोगके समान हैं। किन्तु श्रीशुकादि श्रेष्ठ मुनिगण जिसके पाठक हैं, वह श्रीमद्भागवत कथा समस्त यज्ञोंका सार है। जिस प्रकार घोर वनमें सिंहके गर्जनसे सियार भाग जाते हैं, उसी प्रकार भागवत–वाणीकी हुङ्कारसे कलिके अनन्त दोष विनष्ट हो जाते हैं। वेद–वेदान्त और उपनिषदोंके सारका मन्थन करके यह सर्वशास्त्र–

---

[1] श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त वामन गोस्वामी महाराज द्वारा पद्मपुराणसे संगृहीत।

शिरोमणि श्रीमद्भागवत आविर्भूत हुआ है तथा अपनी अपूर्व मूर्त्तिके द्वारा यह अत्युत्तम रूपसे श्रेष्ठ फल प्रदान करनेमें समर्थ है। यद्यपि आमका फल वृक्षके रससे ही पुष्ट होकर अत्यधिक स्वादिष्ट होता है, तथापि जिस प्रकार वह रस वृक्षमें दिखायी नहीं देता, तथा जिस प्रकार दुग्धमें घीके विद्यमान रहनेपर एवं गन्नेमें शक्करके परिव्याप्त रहनेपर भी वह दिखलायी नहीं देते, उसी प्रकार वेद-उपनिषदोंसे प्रकट होनेपर भी इस श्रीमद्भागवतने उन वेद-शास्त्रोंकी अपेक्षा अपना वैशिष्टय स्थापित किया है। यह ग्रन्थराज भागवत-पुराण वेदरूपी ब्रह्मके समान है। यह भक्ति, ज्ञान और वैराग्यमें प्राणोंका सञ्चारकर उन्हें यथायोग्य स्थापित करनेके लिए प्रकाशित हुआ है। वेद-वेदान्तादि विमल सरोवरमें पूर्णता निमग्न श्रीव्यासमुनि गीता-महाभारत आदि शास्त्रोंका प्रणयन करके भी अज्ञानीकी भाँति मनमें शान्ति प्राप्त नहीं कर पानेके कारण अनुताप करते-करते अत्यन्त मोहग्रस्त हो गये थे। उस समय 'चतुःश्लोकी भागवत' का श्रवण करके ही उनके चित्तकी अशान्ति और मोह दूर हुआ था। श्रीमद्भागवत ही जीवोंकी समस्त आशाओंको परिपूर्ण करनेमें समर्थ है एवं इसके द्वारा ही अनन्त प्रकारके शोक, दुःख और जड़ताका विनाश होता है। संसार-दुःखरूपी दावाग्निमें दग्ध हो रहे जीवोंके अशुभोंका नाशकर उनका सब प्रकारसे मङ्गल करनेवाली, यह भागवत-कथामृत ही सुरसिक सज्जनोंके लिए एकमात्र प्रेय (श्रेष्ठ) वस्तु और उनका आश्रय स्वरूप है।

श्रीशुक-शास्त्र श्रीमद्भागवतकी अपार महिमा है। इसका श्रवण करनेमात्रसे ही मुक्ति करतलगत[१] होती है एवं उस श्रवण करनेवाले भक्तके हृदयमें श्रीहरि नित्य विराजमान हो जाते हैं। अतः यह अमूल्य भागवती-कथा धरातलपर स्थित जीवमात्रके लिए ही आश्रय-योग्य एवं सेव्य है। समस्त शास्त्रोंका सार यह श्रीमद्भागवत ग्रन्थ द्वादश स्कन्धोंसे युक्त और अठारह हजार श्लोकोंसे समन्वित है। श्रीशुकदेव गोस्वामी और परीक्षित् महाराजका वार्त्तालाप इसीमें कीर्त्तित हुआ है। जब तक अज्ञानसे आवृत जीवके कानोंमें यह सुधामय श्रीशुक-शास्त्र

---

[१] हाथों तले।

अर्थात् श्रीमद्भागवत-कथा प्रवेश नहीं करती, तब तक ही वह इस संसार-चक्रमें भ्रमण करता रहता है। जब एकमात्र निर्गुण श्रीमद्भागवत-शास्त्र ही समस्त जीवोंको श्रीहरिकी सेवारूपी मुक्ति प्रदान करनेकी उच्चस्वरसे घोषणा कर रहा है, तब सात्त्विक, राजसिक और तामसिकके भेदसे अनित्य धर्म-कर्म आदिका प्रतिपादन करनेवाले पुराणादि विविध शास्त्रोंके श्रवण करनेकी आवश्यकता क्या है? जिस घरमें नित्य भागवत-कथाकी आलोचना होती है, वह घर तीर्थ-स्वरूप है, क्योंकि इस कथासे गृहस्थोंके समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं। इस श्रीशुक-शास्त्र—श्रीमद्भागवतके समक्ष एक हजार अश्वमेध-यज्ञ और सौ वाजपेय-यज्ञ, सोलह कलाओंकी एक कलाके समान भी नहीं है। जब तक मनुष्य एकाग्रचित्तसे इस भागवत-कथाका श्रवण नहीं करता, तब तक ही उसकी देहमें पाप अवस्थान करते हैं।

गङ्गा, गया, काशी, प्रयागादि तीर्थ कभी भी इस श्रीशुक-शास्त्रके समान नहीं हो सकते। जो सर्वोत्तम गतिको प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें इस शास्त्रके आधे श्लोक अथवा आधेके भी आधे श्लोकका नित्य अपने मुखसे कीर्त्तन करना चाहिये। बुद्धिमान व्यक्ति वेदादिकी प्रणवरूपी ॐकार ध्वनि, वेदमाता गायत्री, पुरुषसूक्त-मन्त्र, तीन-वेद, श्रीभागवत-पुराण, द्वादशाक्षर-मन्त्र, प्रयागादि-धाम, वैष्णव-ब्राह्मण, सुरभि-माता, एकादशी-तिथि, तुलसी तथा अधोक्षज-विष्णुमें पृथक् तत्त्वकी कल्पना नहीं करते। जो प्रतिदिन नियमित रूपसे इस श्रीभागवत ग्रन्थका यथार्थ अर्थ सहित पाठ करते हैं, उनके कोटि जन्मोंके पाप नष्ट हो जाते हैं—इसमें कोई संशय नहीं है। नित्य श्रीमद्भागवतका पठन, श्रीहरिका चिन्तन, तुलसीकी सेवा और गौ-पालन प्रत्येक बुद्धिमान वैष्णवका कृत्य है। अन्तिम समयमें इस शुक-शास्त्रका श्रवण करनेवाले श्रोताको श्रीगोविन्द प्रसन्न होकर वैकुण्ठकी गति प्रदान करते हैं। श्रीमद्भागवतको स्वर्ण-सिंहासनपर स्थापितकर श्रद्धा सहित वैष्णवको दान करनेसे दाताको निश्चित ही भगवद्धाममें श्रीकृष्णकी सेवा प्राप्त होती है।

जो धूर्त अपने सम्पूर्ण जीवनमें इस शुक-शास्त्ररूपी सुधाका पान नहीं करता, वह चण्डाल और गधेके समान व्यर्थ ही अपनी देहका भार ढोता है। उसका जन्म अकारण है तथा उसकी माताका गर्भ-धारण करना भी व्यर्थ है। जिसके कानमें भागवत-कथा प्रवेश नहीं करती, वह पापी जीवित होनेपर भी मृतके समान है। वह पशुतुल्य है, देवता भी उसे धिक्कारते हैं। करोड़ो जन्मोंकी सुकृतिके बलपर भी इस श्रीमद्भागवत-कथाके श्रवणका सौभाग्य प्राप्त नहीं होता, यह इस जगत्में सुदुर्लभ है। अतः हे बुद्धिमान मानव! विशेष मनोयोगके साथ इस भागवत-कथाका श्रवण करो। इसे श्रवण करनेके लिए दिन, तिथि, वार आदिका कोई नियम नहीं है, अतएव इस कथासारको सर्वदा ही ग्रहण करो। सत्य और ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करते हुए इस भागवत-कथाका श्रवण करना कर्त्तव्य है। इस घोर कलियुगमें म्रियमाण (मृत्युकी शय्यापर पड़े हुए), आतुर, पतित, स्खलित, अवश और असमर्थ मनुष्यमात्रके लिए भी श्रीशुकदेव गोस्वामीने यह भागवत-कथारूपी विशेष व्यवस्था प्रदान की है। मनोवृत्तिको जय करनेमें, असमर्थ नियमादिका पालन करनेमें अक्षम और दीक्षादिमें अशक्त व्यक्तिके लिए इस भागवत-सप्ताह-श्रवण-विधिकी व्यवस्था हुई है। माघमासमें श्रद्धापूर्वक नित्य भागवत-कथा श्रवण करनेका जो फल है, श्रीशुकदेव गोस्वामीके आदेशसे वही फल भागवत-सप्ताहके श्रवणसे प्राप्त होता है। कलिकालके जीवोंके चञ्चल मन, रोग, क्लेश, क्षीण आयु आदि अनेक दोषोंको देखकर श्रीशुकदेव गोस्वामीने भागवत-सप्ताहके श्रवणका विधान किया है। योग, याग, समाधि आदिके द्वारा जो वस्तु प्राप्त नहीं होती, वह भागवत-सप्ताहके श्रवणसे ही प्राप्त हो जाती है। व्रत, तप, ध्यान तथा तीर्थादिको पराभूतकर यह भागवत सप्ताह-श्रवण-विधि सिंहके समान हुङ्कार कर रही है।

कर्म-ज्ञानादिको तुच्छ करके यह सर्वशास्त्र-शिरोमणि भागवत-गाथा भुक्ति-मुक्तिको सहज ही प्रदान करनेवाली है। श्रीकृष्णके (भावी) विरहमें कातर उद्धवजीने जब उनसे भक्तोंके लिए इस

धराधामपर कुछ समय और रहनेका अनुरोध किया, तब भगवान् श्रीकृष्णने अपने अप्राकृत तेजको इस भागवत ग्रन्थमें सञ्चारितकर अपने धामकी ओर प्रस्थान किया एवं वाङ्मयी-मूर्त्ति धारणकर वे भागवतरूपी सिन्धुमें प्रविष्ट हो गये। अतः श्रीमद्भागवतके सेवन, श्रवण, पठन और दर्शनसे समस्त दुःख और पाप विनष्ट हो जाते हैं। इसलिए यह भागवत-सप्ताह-श्रवण-विधि अन्य समस्त साधनोंका तिरस्कार करके कलिकालमें एकमात्र परमधर्मके रूपमें विहित हुई है। दुःख, दरिद्रता, दुर्भाग्य, पाप-प्रक्षालन एवं काम-क्रोधादिको जय करनेका यही एकमात्र सहज उपाय और आश्रय है। देवतागण भी जिससे मोहित हो जाते हैं, उस सुदुस्त्यज विष्णु-मायासे छुटकारा पानेके लिए यह श्रीमद्भागवत-सप्ताह-श्रवण-यज्ञ ही जगत्में अनुष्ठित और कीर्त्तित होता है। परब्रह्मात्मक इस भागवतकी महिमा वर्णनातीत है। यदि सुवक्ता और सुश्रोता इसका आश्रय ग्रहण करते हैं, तो वे भी श्रीकृष्णके समान गुण प्राप्त कर लेते हैं। भागवत-धर्म ही जीवोंका परम धर्म है, अतः अन्य किसी धर्मको ग्रहण करनेकी क्या आवश्यकता है?

श्रीभागवतके सप्ताह-श्रवणका अपूर्व फल शास्त्रोंमें वर्णित है। मूर्ख, धूर्त, पशु-पक्षी आदि नाना प्रकारके जीवोंने इसके द्वारा निष्पाप होकर उत्तम गति प्राप्त की है। कलियुगमें इस नरलोकमें चित्तका शोधन करनेवाली, समस्त पापोंका विनाश करनेवाली ऐसी सुपवित्र भागवत-गाथा कहीं भी सुलभ नहीं है। जो मनुष्य सदा पापकर्मोंमें लिप्त, दुराचार, कुमार्गगामी, क्रोधकी अग्निमें दग्ध, कुटिल और लम्पट हैं, वे भी इस भागवत-सप्ताह-यज्ञसे शुद्ध हो जाते हैं। जो सत्यहीन, पिता-माताकी निन्दा करनेवाले, कामनाओंकी पूर्त्तिके लिए व्याकुल, दैव-वर्णाश्रमधर्मके विरोधी, दाम्भिक, ईर्ष्यापरायण और हिंसक हैं, वे भी इस यज्ञसे ही पवित्र होते हैं। पातक, अतिपातक और महापातकादि उग्र पापोंमें लिप्त, छल-छद्मवेशधारी, क्रूर, व्यभिचारपरायण, ब्रह्मस्व-अपहरणकारी (ब्राह्मण या सद्गुरुकी वस्तुका अपहरण करनेवाले), निर्दय, भूत, प्रेत, पिशाचादि भी इस भागवत-सप्ताह-यज्ञके श्रवणसे मुक्ति प्राप्त करते हैं। शठ, हठ करनेवाले, काय, मन,

वाक्यसे पाप करनेवाले, दूसरोंका धन छीनकर उससे अपना पोषण करनेवाले, मन्द, दुराशय युक्त मनुष्य भी कलिकालमें इस श्रीमद्भागवत सप्ताह-परायण-यज्ञके द्वारा ही मुक्त होंगे।

श्रीशुकदेव गोस्वामीने ज्ञान और वैराग्यके साथ भक्तिदेवीको श्रीमद्भागवतमें स्थापित किया है, अतः यह भागवत ही ग्रन्थ-सम्राटके रूपमें जगत्में विख्यात है। भक्तिके द्वारा ही श्रीभगवान् और भगवद्भक्त वशीभूत होते हैं, अतः यह शास्त्र-शिरोमणि इन दोनोंको ही अत्यन्त प्रिय है। जो दरिद्रता-दुःखरूपी ज्वरसे सर्वदा जर्जरित, माया-पिशाचिनी द्वारा क्लिष्ट एवं संसार-समुद्रमें पतित हैं, यह भागवत-गाथा अवश्य ही उनका आत्यन्तिक मङ्गल विधान करती है। दुर्जय कलिकालमें यह भागवती-वार्त्ता भवरोग विनाशिनी है। हे सज्जनगण! तीर्थ-यात्रा आदिके परिश्रमकी क्या आवश्यकता है? श्रीकृष्णकी प्रिय, समस्त पापोंका नाश करनेवाली तथा भक्तिरूपी मुक्तिको प्रदान करनेवाली इस शुक-शास्त्ररूपी रसकथाका श्रवणेन्द्रिय द्वारा निरन्तर पान करो। श्रीयमराज अपने दूतोंको इस प्रकार आदेश देते हैं—"जो भागवत-कथामें मत्त हैं, वे वैष्णव हैं, मैं उनका शासक नहीं हूँ, अतः उन्हें दूरसे ही दण्डवत्-प्रणाम करके छोड़ देना। किन्तु जो इस असार संसारके विषयरूपी विषसे प्रमत्त हैं, आधे क्षणके लिए भी इस शुक-कथामृतका पानकर अपना कल्याण नहीं करते, विषयोंकी चर्चामें और कुपथपर चलते हुए अपना समय व्यतीत करते हैं, वे ही मेरे दण्डके योग्य हैं।"

श्रीशुकके मुखका उच्छिष्ट होनेके कारण भागवतका यह परिपक्व फल अमृतके समान स्वादिष्ट हो गया है। इस कथामृतको कण्ठमें धारण करनेवालेको शीघ्र ही गोलोकगति प्राप्त होती है। यह श्रीमद्भागवत परमगुह्य, समस्त सिद्धान्तोंका सार तथा निखिल-शास्त्र शिरोमणि है, जगत्में इस कथामृतसे सुनिर्मल वस्तु और कोई नहीं है। हे साधुओ! अपने आत्यन्तिक मङ्गलके लिए द्वादश स्कन्धोंसे युक्त इस श्रीमद्भागवतामृतका निरन्तर पान करो। शुद्ध वैष्णवोंके समीप नियमित रूपसे भक्तिपूर्वक समस्त विधि-विधानोंका पालन करते हुए इस श्रीमद्भागवत-शास्त्रका पाठ अथवा सप्ताह-पारायण करनेपर वक्ता

और श्रोता दोनोंके लिए ही जगत्‌में कोई वस्तु अप्राप्य नहीं रहती अर्थात् उनके समस्त अभीष्ट पूर्ण हो जाते हैं।

श्रीमद्भागवत-सप्ताहके श्रवण और पारायणकी विधि

श्रीमद्भागवतका यह सप्ताह-श्रवण-यज्ञ विशेष परिश्रम और बहुत धन व्यय करके पूर्ण होता है। प्रचुर धन संग्रह करनेके पश्चात् दैवज्ञ (ब्राह्मण) को बुलाकर कथा आरम्भ करनेके लिए शुभक्षणका निर्वाचन करना चाहिये। आषाढ़, श्रावण, भाद्र, आश्विन, कार्त्तिक और अग्रहायण—ये छः मास भागवत-सप्ताह श्रवणके लिए अत्यन्त उत्तम हैं। इन छः मासोंमें भागवत-कथा आरम्भ होनेपर वह श्रोताओंके लिए विशेष मोक्ष-साधक होती है। इनमेंसे किसी मासमें असुविधा होनेपर उसका परित्याग कर देना चाहिये। भद्रा, दग्धा, व्यतीपात, वैधृति आदि निन्दित योग और कालका परित्यागकर चन्द्र-तारोंसे युक्त शुद्ध दिन, शुभतिथि, और शुभवारको कथा-श्रवण-यज्ञ आरम्भ करनेपर वह विशेष फल प्रदान करता है। उत्साही लोगोंकी सहायतासे सप्ताह करानेवाले व्रतीको देश-देशान्तरमें इस भागवत-सप्ताहके सम्बन्धमें प्रचार-प्रसार करना चाहिये। 'इस स्थानपर भागवत-कथा होगी'—यह घोषितकर स्त्री, शुद्र आदिका विचार किये बिना भगवान् अच्युतके कीर्त्तनमें अनुरक्त तथा हरिकथा-पिपासु सभी लोगोंको कथामें आमन्त्रित करना चाहिये। अनेकानेक स्थानोंसे त्यागी-वैष्णव और सङ्कीर्त्तनके लिए उत्सुक रहनेवाले लोगोंके निकट निमन्त्रण-पत्रादि भेजना चाहिये। पत्रादिको इस प्रकार लिखना चाहिये—"इस स्थानपर एक सप्ताह तक सुदुर्लभ सज्जन-सभाका आयोजन किया जा रहा है। जिसमें अपूर्व कथा-रसकी धाराएँ प्रवाहित होगी। हे रसिक प्रेमिकगण! आप लोग श्रीमद्भागवतामृतका पान करनेके लिए कृपा करके अवश्य ही यहाँ उपस्थित होइये। यदि सम्पूर्ण कथा श्रवण करनेका अवकाश न मिले, तो अन्ततः किसी भी प्रकारसे एक दिनके लिए ही भागवत-कथा और साधुसङ्गके इस सुदुर्लभ सुयोगका लाभ उठाइये।" इस प्रकारके विनीत आमन्त्रणसे सबको बुलाकर सभी श्रोताओंको यथायोग्य वासस्थान प्रदान करना कर्त्तव्य है।

तीर्थमें, वनमें, गृहमें अथवा किसी बहुत खुले स्थानपर इस भागवत-कथा-यज्ञका स्थान निर्वाचन करना चाहिये। तत्पश्चात् भूमिका शोधन, मार्जन, लेपन और गैरिकादि धातुके द्वारा उक्त स्थानको सजाना चाहिये। पाँच दिन पहले ही विस्तीर्ण आसन आदिका यत्नपूर्वक संग्रहकर वहाँ रखना चाहिये। उक्त स्थानके चारों ओर केलेके वृक्ष लगाकर एक बहुत ऊँचा मण्डप बनाना चाहिये। उस मण्डपको पत्र, पुष्प, फल, दल और चन्द्रातप (चंदोवे) द्वारा सुसज्जित् कर उसके चारों ओर ध्वजा आदि लगाकर उसकी सुन्दरतामें वृद्धि करनी चाहिये। वेदीके ऊपर वैष्णव-ब्राह्मणोंके लिए सात स्थान सुरक्षित रखने चाहिये एवं उन्हें पूर्व दिशाकी ओर आसन देनेके पश्चात् वक्ताके लिए आसन प्रदान करना चाहिये। वक्ता अथवा पाठकको उत्तर दिशाकी ओर तथा श्रोताओंको पूर्व दिशाकी ओर मुख करके बैठना चाहिये। यदि वक्ता पूर्व दिशाकी ओर मुख करके बैठे, तो श्रोताओंको उत्तर दिशाकी ओर बैठना चाहिये। यदि इसमें असुविधा हो तो किसी भी दिशामें बैठा जा सकता है। उस अवस्थामें पाठक और श्रोताओंके बीचके स्थानको ही पूर्व दिशा समझना चाहिये।

पण्डित-सज्जनगण ही देश, काल, पात्रका विवेचन करके श्रोताओंके उद्देश्यसे भागवत-कथाकी आलोचना करनेके अधिकारी हैं। त्यागी, वैष्णव-ब्राह्मण, वदान्य, वेदशास्त्रोंमें पारङ्गत, दृष्टान्तोंकी व्याख्या करनेमें कुशल, निस्पृह, धीर, वक्ता, पण्डित और भगवद्भक्त ही पाठक होने योग्य हैं। बहुधर्मयाजी (पञ्चोऽपासक), भ्रान्त, स्त्रैण (स्त्रीमें आसक्त रहनेवाले) तथा पाषण्डवादी पण्डित होनेपर भी वे शुक-शास्त्र श्रीभागवतके पाठके लिए अवश्य ही परित्यज्य हैं। वक्ताके निकट ही पण्डितको तथा संशयका छेदन करनेवाले और भ्रमका संशोधन करनेमें पटु सज्जनको स्थान प्रदान करना चाहिये। वक्ताको व्रतपालनके पूर्व दिन यथाविधि मुण्डन आदि कर लेना चाहिये तथा व्रतके दिन अरुणोदयके समय शौच-स्नानादि करके संक्षेपमें नित्य सन्ध्या-वन्दनादिका अनुष्ठान करना चाहिये। विघ्न-विनाशके लिए भक्तिभावसे गणेशजीके आराध्य श्रीनृसिंहदेवकी पूजा करनी चाहिये। तत्पश्चात् चित्तशुद्धिके लिए एक मनोहर मण्डलकी रचना करके श्रीहरिको वहाँ स्थापितकर

कृष्ण-मन्त्रोच्चारण करते हुए यथाविधि उनका अर्चन-पूजन करना चाहिये। इसके बाद उनकी परिक्रमा, प्रणाम और पूजाके अन्तमें भक्तियुक्त चित्तसे उनकी इस प्रकार स्तुति करनी चाहिये—"हे करुणानिधे! मैं दीन इस संसार-सागरमें मग्न हूँ, मुझे कर्ममोहरूपी मगरमच्छने निगल लिया है। आप कृपाकर इस भवसागरसे मेरा उद्धार कीजिये।" इसके पश्चात् भक्तिभावसे विशेष यत्नके साथ विधिपूर्वक धूप-दीपादि नाना उपहारोंके द्वारा शास्त्र-चूड़ामणि श्रीमद्भागवतकी पूजा करनी चाहिये। तत्पश्चात् प्रसन्नचित्तसे अनेक स्तव-स्तुति करते हुए ग्रन्थराजको प्रणाम करके इस प्रकार दीन वाक्य उच्चारण करने चाहिये—"हे पुराण श्रेष्ठ श्रीमद्भागवत! आप साक्षात् कृष्ण हैं। इस भवसागरसे मुक्ति पानेके लिए मैं आपको नाविकके रूपमें वरण करता हूँ। हे केशवस्वरूप! आप मेरे मनोरथको निर्विघ्न सफल कीजिये। मैं आपका दास हूँ, आप ही मेरा एकमात्र सहारा हैं।"

इसके बाद कथाका आयोजन करनेवाले व्रतीको वक्ताकी वस्त्र-आभूषणादिके द्वारा पूजा करनी चाहिये। तत्पश्चात् इस प्रकार स्तुति करनी चाहिये—"आप श्रीशुक-स्वरूप, लोगोंको समझानेमें विशेष पारदर्शी और सर्वशास्त्र-विशारद हैं। आप दया प्रकाशितकर मेरे अज्ञानका विनाश करें।" व्रतीको अपने हितके लिए कथाके आरम्भसे लेकर उसके अन्त तक अर्थात् सात दिन एवं सात रात तक सभी नियमोंका यथाशक्ति पालन करनेका प्रयत्न करना चाहिये। तत्पश्चात् व्रतीको वैष्णव-ब्राह्मण तथा कीर्त्तन आदि करनेवालोंकी यथायोग्य पूजा करनेके पश्चात् श्रद्धा सहित सभीको प्रणाम करना चाहिये। लोकचिन्ता, धनचिन्ता, गृहचिन्ता तथा पुत्रादिकी चिन्ताका परित्यागकर श्रीमद्भागवत-कथामें शुद्धचित्तसे एकान्तिक रूपमें निमग्न होनेपर व्रतीको उत्तम फलकी प्राप्ति होती है।

सुधी पाठकोंको सूर्योदयसे कथा आरम्भकर सार्द्ध-त्रिप्रहरावधि (साढ़े तीन प्रहर तक) उत्तम रूपसे स्पष्ट भाषामें तथा धीर-कण्ठसे पाठ करना चाहिये। मध्याह्नके समय दो घड़ी अर्थात् ४८ मिनिट भागवत-पाठका विश्राम काल होता है। इस समय भी वैष्णवोंको हरि कीर्त्तन करना चाहिये। मल-मूत्रके वेगसे बचनेके लिए अल्पाहारको

ही सुखदायक जानकर कथा-श्रवण व्रती श्रोताओंको दिनमें केवल एकबार ही भगवत्-प्रसादका भोजन करना चाहिये। समर्थ होनेपर पूर्ण सप्ताह तक उपवास करते हुए अथवा ऐसा सम्भव न होनेपर घृत अथवा दुग्ध पानकर सुखपूर्वक हरिकथाका श्रवण करना चाहिये। फलाहारी अथवा एकाहारी भी हो सकते हैं। श्रवणके लिए जो सुखसाध्य हो, वैसा करना ही कर्त्तव्य है। यदि भागवत-श्रवण करते समय आलस्य न आये, तो भोजन करना भी उत्तम है और यदि उपवाससे श्रवणमें विघ्न उत्पन्न हो, तो उपवास करनेका भी विधान नहीं है। कथा-व्रती श्रोताओंको कथाके अन्त तक प्रतिदिन ब्रह्मचर्यका पालन, भूमिपर शयन और पत्तलमें भोजन करना चाहिये। उन्हें दाल, शहद, तेल, गरिष्ट भोजन, भावदुष्ट (कुभावनासे बना हुआ), पर्युषित (बाँसी) और शास्त्र-निषिद्ध अन्नादिका वर्जन करना चाहिये। काम, क्रोध, मद, मान, मात्सर्य, लोभ, दम्भ, मोह, द्वेषादिका परित्यागकर—वेद, वैष्णव, ब्राह्मण, गुरु, गो, व्रती, नारी, राजा, महापुरुष—इनके प्रति कभी भी कोई कटाक्ष या इनकी निन्दादि नहीं करनी चाहिये। रजस्वला, अन्त्यज, म्लेच्छ, पातकी, सावित्री-पतित[१], ब्राह्मण-द्वेषी या फिर वेदबाह्य लोगोंके साथ वार्त्तालाप न करके सत्य, शौच, दया, मौन, सरलता, नम्रताका पालन और उदारताका प्रदर्शन करना चाहिये।

दरिद्र, क्षयरोगी, भाग्यहीन, पापी, पुत्रहीन, अपुष्पा, बन्ध्या (बाँझ), काकबन्ध्या (जिसकी केवल एक ही सन्तान हुई हो), मृतसुता (जिसकी सन्तान मर जाती हो), गर्भपातरूपी व्याधिसे युक्त—ये सब भी यत्नपूर्वक भागवत-सप्ताहका श्रवण करनेसे मुक्तिके अधिकारी हो जाते हैं। इस प्रकार विधिपूर्वक इस अत्युतम दिव्य कथाका श्रवण करनेपर करोड़ों यज्ञोंके समान अक्षय फलकी प्राप्ति होती है। इस प्रकार विधि-विधानोंका पालन करते हुए व्रतीको अपने व्रतका उद्यापन करना चाहिये। फलाकांक्षी व्यक्तिको इस व्रतका जन्माष्टमीके समान पालन करना चाहिये। अकिञ्चन भक्तोंके लिए इस सप्ताह-

---

[१] गायत्री मन्त्र लेनेके उपरान्त उसे जप नहीं करनेवाला।

श्रवणरूपी व्रतका उद्यापन करनेकी व्यवस्था शास्त्रोंमें नहीं दी गयी है, क्योंकि शान्त, निष्काम वैष्णवगण स्वयं पवित्र होते हैं तथा उनके दर्शनमात्रसे ही पवित्रता प्राप्त होती है।

इस प्रकार सप्ताह–पारायण–यज्ञके अन्तमें व्रतीको विशेष भक्तिपूर्वक ग्रन्थ और वक्ताकी पूजा करके उन्हें प्रसाद और तुलसीमाला प्रदान करनी चाहिये। यज्ञके अन्तमें मृदङ्ग और करतालके साथ 'जय' और 'नमः' शब्द तथा शङ्खकी ध्वनि करते हुए सङ्कीर्त्तन करना चाहिये। यदि प्रधान श्रोता गृहत्यागी हो, तो उसके लिए गीता पाठ करना कर्त्तव्य है और यदि वह गृहस्थ हो तो उसे कर्म शान्तिके लिए होमादि करना चाहिये। दशमस्कन्धके एक–एक श्लोकके उच्चारण द्वारा खीर, शहद तथा घी आदिसे मिश्रित अन्नके द्वारा विधिपूर्वक समाहित चित्तसे गायत्रीका उच्चारण करते हुए गायत्रीमय श्रीमद्भागवतके उद्देश्यसे होमकार्य करना चाहिये। फल प्राप्तिकी आशासे होमकार्य करनेमें अशक्त व्यक्तिको होम समाप्त होनेपर अवशिष्ट वस्तुओंका वितरण कर देना चाहिये। होमके अनुष्ठानमें न्यूनता और अधिकता आदि अनेक प्रकारके दोष और भूलके निवारणके उद्देश्यसे भक्ति युक्त होकर 'विष्णुसहस्रनाम' का पाठ करना ही कर्त्तव्य है। इसके पश्चात् वैष्णव और ब्राह्मणोंको शहद और खीर आदिके साथ भोजन कराना चाहिये। दक्षिणाके साथ स्वर्ण युक्त गाय देकर अन्य याचकोंको धन–अन्नादिका दानकर सन्तुष्ट करना चाहिये। यदि सामर्थ्य हो तो बारह तोलेका स्वर्णसे निर्मित–सिंहासन बनवाकर उसके ऊपर ग्रन्थराज श्रीमद्भागवतको स्थापित करके दक्षिणा आदिके साथ आवाहनादि विविध उपचार और वस्त्र–आभूषण तथा सुगन्धित द्रव्यों आदिके द्वारा वक्ता अथवा पाठककी पूजाकर, उसे वह सिंहासन प्रदान करना चाहिये। सप्ताह–श्रवण–विधिका इस प्रकार यत्न सहित पालन करनेपर सभी पाप विनष्ट होकर शुभफल प्राप्त होता है। इस सप्ताह–पारायण–यज्ञका अनुष्ठान करनेपर मानव धर्म, अर्थ, काम और मोक्षको भी तिरस्कृत करनेवाले पञ्चम–पुरुषार्थ (प्रेम) को प्राप्तकर भगवद्धामको जाते हैं।

श्रीकृष्णके अपने धाममें जानेके पश्चात् कलियुगके तीस वर्ष बीतनेपर भाद्रमासकी शुक्ल-पक्षीय नवमी तिथिको श्रीशुकदेव गोस्वामीने परीक्षित् महाराजके समक्ष इस भागवत-कथाका कीर्त्तन आरम्भ किया था। परीक्षित् महाराजके द्वारा सात दिन श्रवण करनेके पश्चात् दो सौ वर्ष बीतनेपर पुनः आषाढ़ मासकी शुक्ल-पक्षकी नवमी तिथिको गोकर्णने धुन्धुकारीके उद्देश्यसे श्रीमद्भागवत-सप्ताह श्रवण-यज्ञका अनुष्ठान किया था। इस यज्ञके समाप्त होनेके तीस वर्षके पश्चात् कार्त्तिक मासकी शुक्ला-नवमी तिथिको सनकादि-चतुःसनने श्रीनारदजीके समक्ष सप्ताह-यज्ञमें भागवत-कथाका कीर्त्तन किया था।





प्रथमः स्कन्धः

॥ श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः ॥

प्रथम स्कन्धकी कथाका सार

बहुत समय पहले कलियुगके प्रारम्भमें नैमिषारण्यमें शौनकादि विप्र-ऋषियोंने वैकुण्ठलोककी प्राप्तिकी कामनासे हजार वर्षोंमें पूर्ण होनेवाले यज्ञका अनुष्ठान आरम्भ किया था। एक दिन प्रातःकाल जब वह अपना दैनिक होम समाप्त कर चुके थे, उस समय रोमहर्षणके(१) पुत्र महाभागवत उग्रश्रवा-सूत वहाँ उपस्थित हुए। उन्हें देखकर ऋषियोंने उनका यथायोग्य सत्कार किया तथा आदर सहित उनसे जीवके परम कल्याण और श्रीकृष्णके विषयमें कथाओंका कीर्त्तन करनेका अनुरोध किया।

तब सर्वप्रथम श्रीसूत गोस्वामीने अपने गुरु परमहंसकुल-चूड़ामणि श्रीशुकदेव गोस्वामीको प्रणाम किया और फिर ऋषियोंके भगवान् श्रीहरि-विषयक पूर्वोक्त प्रश्नोंकी प्रशंसा करके प्रथमतः श्रीविष्णुके विराटादि बहुत-से अवतारोंकी कथाका वर्णन किया। फिर उन्होंने निखिल वेदों, पुराणों और इतिहासोंके सार श्रीमद्भागवतकी रचनाके सम्बन्धमें कहा—"इस श्रीमद्भागवतको सर्वप्रथम श्रीशुकदेव गोस्वामीने श्रीव्यासदेवके निकट अध्ययन किया था। फिर जब गङ्गाके तटपर अनशनके लिए बैठे शुश्रूषामें रत महाराज परीक्षित्को श्रीशुकदेव गोस्वामीने इस श्रीमद्भागवतका श्रवण कराया था, उस समय मैंने भी उनके श्रीमुखसे इस ग्रन्थका श्रवण किया था। मैंने जो कुछ श्रीशुकदेव गोस्वामीसे श्रवण किया है, अब वही आपके समक्ष यथायथ वर्णन कर रहा हूँ।" यह सुनकर ऋषियोंने श्रीशुक और श्रीव्यासके वृत्तान्तको जाननेकी इच्छा की, तब श्रीसूत गोस्वामी श्रीव्यासदेवके विषयमें वर्णन करने लगे।

महर्षि पराशरके औरससे उपरिचर वसुकी कन्या सत्यवतीके गर्भमें श्रीहरिके अंश श्रीव्यासदेवने जन्म-ग्रहण किया। एक दिन श्रीव्यासदेव

---

(१) ये उग्रश्रवा-सूतके पिता और पुराणके वक्ता थे तथा श्रीबलदेव प्रभुके द्वारा इनका वध किया गया था।

सूर्योदयके उपरान्त सरस्वती नदीके जलमें स्नानादि समाप्तकर बदरिकाश्रममें एकान्त स्थानमें अकेले बैठकर अप्रसन्न मनसे इस प्रकार चिन्ता कर रहे थे—"क्या करनेसे समस्त जीवोंका मङ्गल हो सकता है? चारवेद, पुराण और महाभारतादि इतिहासकी रचना करनेपर भी मुझे आत्म-सन्तुष्टि और प्रसन्नता क्यों नहीं प्राप्त हो रही? अथवा भागवत-धर्म अर्थात् हरिकथाके कीर्त्तन द्वारा परमहंस वैष्णवोंको सन्तुष्ट नहीं कर पानेके कारण ही क्या मेरी आत्मा अभी तक अप्रसन्न है?" जब श्रीव्यासदेव इस प्रकारकी चिन्तासे दुःखित हो रहे थे, उसी समय उनके गुरुदेव देवर्षि श्रीनारद सहसा उनके सम्मुख आ पहुँचे। श्रीव्यासदेवने तत्क्षणात् श्रीनारदकी यथाविधि पूजा की और उन्हें आदर सहित बैठाया। फिर उन्होंने श्रीनारदसे अपनी अप्रसन्नताका कारण पूछा। तब श्रीनारदजीने श्रीव्यासदेवसे कहा—"तुमने समस्त शास्त्रोंमें कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्डके माहात्मयका ही विशेष रूपमें प्रदर्शन किया है। किन्तु तुमने भगवान् श्रीवासुदेवकी महिमाका उस प्रकार सम्पूर्ण रूपमें कीर्त्तन नहीं किया, इसीलिए तुम अभी तक भी अतृप्ति अनुभव करते हो।" इस प्रकार कहकर नारदजी अपने पूर्वजन्म और कर्मका वृत्तान्त कहने लगे।

"पूर्वजन्ममें मैंने कुछ वेदज्ञ ऋषियोंकी किसी एक दासीके गर्भसे जन्म-ग्रहण किया था। वर्षा ऋतुसे आरम्भ होनेवाले चातुर्मास-व्रतके पालनकालमें उन ऋषियोंकी सेवा-परिचर्यामें नियुक्त होकर मैंने यथाविधि उनका उच्छिष्ट भोजन ग्रहण और उनके द्वारा कीर्त्तित हरिकथाका श्रवण किया था। इस प्रकार उनके सङ्गके फलस्वरूप शुद्धचित्त होकर मैंने भगवान् श्रीनारायणके प्रति अनुराग और दृढ़भक्ति प्राप्त की। जब चातुर्मासकी समाप्तिपर वे ऋषिगण वहाँसे दूर देशको जाने लगे, तब उन्होंने मुझे परम गोपनीय विष्णु-दीक्षा और भगवत्-तत्त्वज्ञान प्रदान किया। कालक्रमसे मेरी माताका देहान्त होनेपर मैं अकेला ही उस स्थानसे चल पड़ा और चलते-चलते मैंने बहुत देशोंको पार कर लिया। तब किसी एक स्थानपर पहुँचकर एक नदीके जलमें स्नानकर उसके तटपर स्थित एक वृक्षके नीचे बैठकर मैं एकाग्र चित्तसे भगवान् श्रीनारायणका ध्यान करने लगा। क्रमशः

भगवान् श्रीनारायण मेरे हृदयमें आविर्भूत हुए, किन्तु उसी क्षण ही वे अन्तर्हित हो गये। तब मैं अत्यन्त विचलित हो गया। तत्पश्चात् उन्होंने कृपापूर्वक अलक्ष्य रूपमें मुझसे कहा—'तुम इस जन्ममें पुनः मेरे दर्शन प्राप्त नहीं करोगे। इस जन्ममें तुम साधुसेवा करते रहो, अगले जन्ममें तुम मेरे पार्षद बन पाओगे।' उसी समयसे मैं देश-देशमें सर्वत्र हरिनाम गान करते हुए भ्रमण करने लगा। प्रपञ्च त्याग करनेपर मैंने भगवान्के पार्षददेहको प्राप्त किया। कल्पके अन्तमें इस विश्वका संहारकर भगवान्के द्वारा एकार्णव-जलमें शयन करनेपर मैं उनकी निःश्वास सहित उनके शरीरमें प्रविष्ट हुआ। इस प्रकारसे हजार युगोंके उपरान्त पुनः सृष्टि करनेकी इच्छा होनेपर जब भगवान् निद्रासे उठे, तब मैं उनकी इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुआ।"

इस प्रकार अपने वृत्तान्तका वर्णन समाप्तकर श्रीनारद ऋषिने श्रीव्यासदेवसे कहा—"आजसे तुम श्रीहरिकी कथाओंका विशेष रूपसे कीर्त्तन करो, तभी तुम्हारी आत्मा अत्यधिक प्रसन्न होगी, क्योंकि अन्य किसी उपायसे आत्म-प्रसन्नता प्राप्त करना असम्भव है।"

ऐसा कहकर देवर्षि नारद वहाँसे चले गये। तब श्रीव्यासदेवने 'शम्याप्रास' नामक आश्रममें वास करते हुए भक्ति-समाहित-चित्तमें पूर्ण परमपुरुष श्रीभगवान्का उनकी समस्त शक्तियों सहित दर्शन किया, तथा जीवके माया द्वारा वशीभूत होनेके क्रमसे उदित अनर्थ और भगवद्भक्तियोगके द्वारा ही उन अनर्थोंकी निवृत्ति होने आदिका भी दर्शन किया। तब श्रीव्यासदेवने अज्ञानी लोगोंके अहैतुक मङ्गलके लिए श्रीमद्भागवतकी रचना की। इस श्रीमद्भागवतके श्रवणके फलसे जीवमें श्रीकृष्णके प्रति भक्ति उदित होती है, जो उसके समस्त शोक-मोह-भयका नाश कर देती है।

इसके उपरान्त श्रीकृष्णकी कथाके प्रसङ्गमें ही श्रीसूत गोस्वामीने महाराज परीक्षित्के जन्म और उनके देह-त्यागका वृत्तान्त वर्णन किया। कुरुक्षेत्र-युद्धके बाद टूटी हुई जाँघवाले दुर्योधनकी सन्तुष्टिके लिए अश्वत्थामा द्वारा रात्रिमें निद्रित पाण्डव-पुत्रोंका सिर काट देनेपर द्रौपदी अत्यन्त विलाप करने लगी। महावीर अर्जुनने द्रौपदीको सान्त्वना दी और श्रीकृष्णको साथ लेकर अश्वत्थामाका पीछा किया।

तब अपने प्राणोंकी रक्षाके लिए अश्वत्थामाने ब्रह्मास्त्रका प्रयोग किया। यह देखकर अर्जुनने श्रीकृष्णके आदेशसे उस ब्रह्मास्त्रका निवारण करनेके लिए अपना ब्रह्मास्त्र छोड़ा जिससे दोनों अस्त्र एक-दूसरसे टकराकर नष्ट हो गये। तब अर्जुन अश्वत्थामाको रस्सीसे बाँधकर अपने शिविरमें लाये। गुरुपुत्रकी ऐसी अवस्था देखकर द्रौपदी और अन्य सभीके द्वारा उसे बन्धनसे मुक्त करनेके लिए अनुमोदन करनेपर भी महावीर भीम उसके वधके लिए ही निरन्तर अनुरोध करने लगे। ऐसी परिस्थितिमें अर्जुनने श्रीकृष्णका अभिप्राय जानकर अपनी प्रतिज्ञाका पालन तथा भीम और द्रौपदीको सन्तुष्ट करनेके लिए अर्थात् दोनों ही कार्योंको एकसाथ पूर्ण करनेके लिए तलवार द्वारा अश्वत्थामाके मस्तककी मणिको निकालकर उसे शिविरसे बाहर निकाल दिया।

तब पाण्डवोंने महिलाओंको आगे करके श्रीकृष्ण सहित गङ्गाके तटपर जाकर उदक(अन्त्येष्टि)-क्रिया समापन की। तदुपरान्त श्रीकृष्णने युधिष्ठिर महाराजको पुनः सिंहासनपर अधिष्ठित किया तथा क्रमशः उन्हें तीन अश्वमेध-यज्ञोंमें दीक्षित और कृतार्थकर सात्यकि और उद्धवके साथ वे द्वारकाकी ओर प्रस्थान करने लगे। उसी समय अर्जुनकी पुत्रवधु उत्तरा अश्वत्थामा द्वारा छोड़े गये बाणसे पीड़ित होकर कातर स्वरसे श्रीकृष्णकी कृपाकी याचना करते-करते तीव्रगतिसे वहाँ आकर उपस्थित हुई। अश्वत्थामाने यह ब्रह्मास्त्र पृथ्वीको पाण्डवशून्य करनेके लिए छोड़ा है—यह जानकर श्रीकृष्णने अपने सुदर्शनचक्र द्वारा उस ब्रह्मास्त्रका प्रभाव समाप्तकर उत्तराके गर्भमें स्थित शिशुकी रक्षा की।

कुछ दिनोंके पश्चात् श्रीकृष्णके पुनः द्वारका जानेके लिए प्रस्तुत होनेपर पाण्डवोंकी माता कुन्तीने उन्हें जानेसे रोककर विविध प्रकारसे उनकी स्तुति की। श्रीकृष्णने उनकी प्रार्थना स्वीकारकर हस्तिनापुरमें प्रवेश किया। पुनः जब वे वहाँकी महिलाओंसे विदायी लेकर द्वारकाकी ओर जानेके लिए उद्यत हुए, तब महाराज युधिष्ठिरने पुनः उन्हें रोक लिया। फिर श्रीकृष्णके साथ महाराज युधिष्ठिर ब्राह्मणों द्वारा घिरकर महामति भीष्मके निकट विविध प्रकारके धर्मोंको श्रवण

करनेके लिए कुरुक्षेत्र गये। वहाँ बाणोंकी शय्यापर लेटे हुए तथा मानो अपनी कक्षासे च्युत हुए ज्वलनशील ग्रहके समान भीष्मदेवका निरीक्षण करके उन्होंने यथाविधि उनकी पूजा की। श्रीभीष्मने अपने आराध्यदेव श्रीकृष्णको सम्मुख देखकर श्रीकृष्णके सहायक युधिष्ठिरके भाग्यकी प्रशंसा की। फिर युधिष्ठिरकी जिज्ञासाके अनुसार उन्हें वर्णाश्रम-धर्म, प्रवृत्ति और निवृत्ति-धर्म, दृष्टान्त सहित दान-धर्म, मोक्ष-धर्म, राज-धर्म, स्त्री-धर्म और भगवत्-धर्म तथा अधिकार-भेदसे धर्मके पृथक्-पृथक् उपायोंका वर्णन किया। उसी समय उत्तरायण कालके उपस्थित होनेपर भीष्मदेवने प्राण त्याग करनेकी इच्छा की और उन्होंने अपने सम्मुख उपस्थित श्रीकृष्णकी विविध प्रकारसे शुद्धभक्तिमूलक स्तव-स्तुति करके प्राण त्याग दिये। वैकुण्ठगत पितामहकी अन्त्येष्टि क्रिया समाप्तकर महाराज युधिष्ठिर श्रीकृष्णके साथ हस्तिनापुर लौट आये। वहाँ श्रीकृष्णकी सम्मति और धृतराष्ट्रकी आज्ञा ग्रहणकर वे यथाविधि अपने पैतृक राज्यपर शासन करने लगे।

बान्धवोंके शोककी शान्ति और सुभद्राके अनुरोधसे कुछ मास तक हस्तिनापुरमें अवस्थानकर श्रीकृष्ण महाराज युधिष्ठिरसे आज्ञा लेकर द्वारका जानेके लिए रथपर आरूढ़ हुए। तब अर्जुनने उनके सिरपर श्वेत छत्र धारण किया तथा उद्धव और सात्यकि उन्हें चामर ढुलाने लगे। उस समय कुरुकुलकी महिलाएँ श्रीकृष्णका स्तव करने लगीं। बहुत-से देशोंको पारकर वे 'आनर्त्त' नामक जनपदमें उपस्थित हुए। वहाँ श्रीकृष्णने पाञ्चजन्य शङ्ख बजाया जिसे सुनकर द्वारकावासिगण उनकी स्तुति करने लगे। श्रीकृष्णने उनपर अनुग्रह करते हुए अपनी राजधानी द्वारकामें प्रवेश किया। वहाँ वसुदेव, उग्रसेन, बलदेव, अक्रूर, प्रद्युम्न आदि यादवोंने आनन्दित होकर उनका अभिनन्दन किया। श्रीकृष्णने सभीका यथोचित सम्मान करते हुए राजपथसे होकर द्वारकापुरीमें प्रवेश किया और वहाँ सर्वप्रथम अपने माता-पिताकी चरण-वन्दना कर फिर उन्होंने अपने निज अन्तःपुरमें प्रवेश किया। श्रीकृष्णकी रानियाँ भी बहुत दिनोंके बाद अपने कान्तके चरणोंका दर्शनकर हर्षके सागरमें निमग्न हो गयीं।

श्रीसूत गोस्वामीके द्वारा यहाँ तक की कथाका वर्णन करनेके उपरान्त शौनकादि ऋषियों द्वारा परीक्षित्के जन्म और चरितके विषयमें पुनः जिज्ञासा करनेपर श्रीसूतगोस्वामीने पुनः वर्णन करना आरम्भ किया—"गर्भवास कालमें अश्वत्थामाके अस्त्रकी अग्निसे दग्ध हो रहे परीक्षित्ने देखा कि श्रीभगवान्ने इस ब्रह्मास्त्रके प्रभावको नष्ट कर दिया है। श्रीविष्णु द्वारा रक्षित होनेके कारण वे 'विष्णुरात' नामसे तथा जन्म-ग्रहण करनेपर मनुष्यमात्रको देखते ही अपने गर्भवास कालमें देखे गये पुरुषका स्मरणकर 'क्या ये वही पुरुष हैं?'—इस प्रकारकी भावना (परीक्षा) करनेवाले होनेके कारण वे 'परीक्षित्' नामसे भी जाने जाते हैं। अपने स्वभावसे ही वैष्णव परीक्षित् दिन-दिन बड़े होने लगे। ब्राह्मणगण उनके अनुपम चरित्रके विषयमें धर्मराज युधिष्ठिरके निकट भविष्यवाणी करने लगे। राजा युधिष्ठिर द्वारा अश्वमेध-यज्ञकी अभिलाषा करनेपर श्रीकृष्णकी इच्छानुसार युधिष्ठिरने अपने भाईयों द्वारा उत्तर दिशासे मरुत्त राजाके यज्ञके समयमें परित्यक्त सोनेके पात्रोंको संग्रह किया, फिर श्रीकृष्णको निमन्त्रण पत्र भेजकर बुलवाया तथा उनके निर्देशानुसार तीन अश्वमेध-यज्ञोंका अनुष्ठान किया। श्रीकृष्ण भी कुछ मास हस्तिनापुरमें रहनेके पश्चात् अर्जुनके साथ द्वारका लौट आये।"

इस प्रकार वर्णनकर श्रीसूत गोस्वामी विदुरजीके विषयमें कहने लगे। बहुत-से तीर्थोंका भ्रमणकर श्रीविदुरने हस्तिनापुरमें लौटकर सभीके साथ यथोचित वार्त्तालाप आदि किया। तदुपरान्त युधिष्ठिरने उनसे यादवोंकी कुशलताके विषयमें पूछा। यदुकुलके ध्वंसके विषयमें सुनकर पाण्डव अत्यधिक कष्ट पायेंगे, इस भयसे श्रीविदुरजीने उनके सम्मुख यदुकुलके ध्वंसके वृत्तान्तका उल्लेख नहीं किया तथा कुछ दिन वहींपर रहकर विविध उपदेश आदि प्रदानकर धृतराष्ट्रके हृदयमें संसारसे वैराग्य उत्पन्न कराया। धृतराष्ट्रने अपनी पत्नी गान्धारी और विदुरके साथ गृह त्यागकर उत्तर दिशाकी ओर प्रस्थान किया। कुछ देरके बाद जब महाराज युधिष्ठिर धृतराष्ट्रको वहाँ न देख पाये, तब उन्होंने एकान्तमें बैठे हुए सञ्जयसे धृतराष्ट्रके विषयमें पूछा, किन्तु सञ्जयने इस सम्बन्धमें अपनी अज्ञता ज्ञापन की। उसी समय देवर्षि

नारद वहाँ उपस्थित हुए। तब शोकसे दुःखित धर्मराजने उनसे धृतराष्ट्र, गान्धारी और विदुरके विषयमें पूछा। देवर्षिने युधिष्ठिरको वैराग्य विषयक बहुत-से उपदेश देते हुए कहा—“भगवान् श्रीवासुदेव इस अवतारमें देवताओंका प्रियकार्य सम्पूर्णकर अब यदुकुलके ध्वंसकी प्रतीक्षा कर रहे हैं, तदुपरान्त वे अप्रकट होंगे। राजा धृतराष्ट्र भी अपनी इन्द्रियों और मनको संयमितकर योगसिद्ध होकर आजसे पाँचवें दिन देहत्याग करेंगे तथा उनकी पत्नी गान्धारी भी उनका अनुगमन करेंगी। फिर महात्मा विदुर भी उनके देहत्यागका दर्शनकर तीर्थ-भ्रमणके उद्देश्यसे वहाँसे प्रस्थान करेंगे।” ऐसा कहकर नारदजी वहाँसे चल दिये।

इधर द्वारकामें गमन करनेके उपरान्त सात मास बीत जानेपर भी जब अर्जुन लौटकर नहीं आये, तब महाराज युधिष्ठिर नाना प्रकारकी विपत्तियोंको आता देखकर चिन्तासे पीड़ित हृदयसे भीमसेनके साथ परामर्श करने लगे। उसी समय गम्भीर दुःख और शोकसे आच्छादित अर्जुनको अश्रुपूर्ण नेत्रों सहित लौटा देखकर युधिष्ठिरने आशङ्कित मनसे उनसे श्रीकृष्ण और यादवोंकी कुशलताके विषयमें पूछा। श्रीकृष्णसखा अर्जुन सहसा कुछ भी कहनेमें समर्थ नहीं हुए। बहुत देरके बाद श्रीकृष्णके अप्रकट होने और यदुकुलके समाप्त होनेका समाचार सुनाकर अर्जुन श्रीकृष्णके विरहमें गहन शोक प्रकाश करने लगे। फिर श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी चिन्ता करते-करते उनके हृदयमें गीतामें उक्त ज्ञान पुनः उदित हो गया। कुन्तीने भगवान्के अप्रकट होनेका संवाद सुनकर देहत्याग कर दिया। पाण्डवगणोंने भी परीक्षित्को कुरुराज्य तथा अनिरुद्धके पुत्र वज्रनाभको शूरसेनके राज्यमें अभिषिक्तकर द्रौपदी सहित महाप्रस्थान करते हुए भगवान् श्रीनारायण (श्रीकृष्ण) के चरणकमलोंकी चिन्ता करते-करते परम गतिको प्राप्त किया।

तदुपरान्त श्रीसूतगोस्वामीने शौनकादि ऋषियोंके निकट परीक्षित्का उत्तरकी पुत्री इरावतीके साथ विवाह, उसके गर्भसे जनमेजय इत्यादि चार पुत्रोंके उत्पन्न होनेकी कथा तथा उनके द्वारा प्रजाको प्रसन्न करने आदि विषयोंका वर्णन किया। कुरुजाङ्गल प्रदेशमें रहते समय अपने राज्यमें कलिकी दुर्जनताकी बात सुनकर वे दिग्विजयके लिए निकले

और बहुत-से देशोंको जय करके वहाँसे कर ग्रहण किया। एकबार उन्होंने धर्मरूपी बैलको एक पैरपर खड़े हुए, गायरूपी पृथ्वीको अश्रु सहित रोते हुए तथा राजवेशधारी शुद्ररूपी कलि द्वारा उन दोनोंको ताड़न करते हुए देखा। यह देख महाराज परीक्षित् क्रोधित होकर कलिका वध करनेके लिए आगे बढ़े और धर्म और पृथ्वीको सान्त्वना प्रदान की। प्राण जानेकी आशङ्कासे कलिने राजा परीक्षित्की शरण ग्रहण की। तब महाराज परीक्षित्ने तत्क्षणात् कलिको उनका राज्य त्याग करनेका आदेश दिया। तदुपरान्त उन्होंने कलिके प्रार्थना करनेपर उसे जुआ, मादकद्रव्य, स्त्री, हिंसा और अर्थ—इन पाँच स्थानोंमें वास प्रदान किया।

इस प्रकार श्रीसूत गोस्वामी द्वारा राजा परीक्षित्के विविध गुणोंका कीर्त्तन करनेपर शौनकादि ऋषि उनसे श्रीहरिकी कथा और श्रीभागवत शास्त्रको और भी अधिक रूपमें कीर्त्तन करनेका अनुरोध करने लगे। तब श्रीसूतगोस्वामी राजा परीक्षित् द्वारा ब्रह्मशाप प्राप्तिका वृत्तान्त वर्णन करने लगे।

एक दिन महाराज परीक्षित् शिकारपर निकले थे और तब शिकार करते-करते उन्हें बहुत प्यास लगी। शमीक ऋषिका आश्रम निकट देखकर वे वहाँ गये और ऋषिसे पानीके लिए याचना की। किन्तु ध्यानमग्न ऋषि द्वारा उन्हें जलप्रदान न करनेके कारण राजा क्रोधित हो उठे और उन्होंने निकटमें ही पड़े हुए एक मृत सर्पको मुनिके गलेमें डाल दिया और अपनी राजधानीको लौट आये। शमीक ऋषिके पुत्र शृङ्गीने इस वृत्तान्तको सुनकर आचमनपूर्वक 'सात दिनोंके अन्दर राजा परीक्षित्को तक्षक सर्प डसेगा'—ऐसा कहकर राजा परीक्षित्को शाप दे दिया।

ध्यानभङ्ग होनेपर समस्त घटनासे अवगत होकर शमीक ऋषिने अपने पुत्रका बड़ा तिरस्कार किया। उधर राजा परीक्षित् भी अपने द्वारा किये गये दुष्कर्मका स्मरणकर अनुताप करने लगे। उसी समय शमीक ऋषिके एक शिष्यने राजाको शापके विषयमें अवगत कराया। राजा परीक्षित्ने इस अभिशाप-संवादको अपने लिए शुभ ही समझा। महाराज परीक्षित् अपने पुत्र जनमेजयके हाथोंमें राज्यभार समर्पणकर

उत्तर दिशाकी ओर चल दिये। राजा परीक्षित्‌ने श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी सेवाको ही जीवनका सर्वश्रेष्ठ कर्त्तव्य जानकर गङ्गाके तटपर बैठकर मृत्यु तक अन्न-जल ग्रहण न करनेका सङ्कल्प किया।

धीरे-धीरे बहुत-से महर्षि, देवर्षि और ब्रह्मर्षि उस गङ्गा तटपर उपस्थित हुए तथा राजा परीक्षित्‌की हरिसेवामें मतिका दर्शनकर उसकी प्रशंसा करने लगे। महाराज परीक्षित्‌ने मुनियोंको शङ्का रहित चित्तसे हरिकथाका कीर्त्तन करनेको कहा तथा जिस व्यक्तिकी मृत्यु निकट हो, उसके लिए सर्वदा क्या करना कर्त्तव्य है—इस विषयमें प्रश्न किया। इस विषयमें विभिन्न मत होनेके कारण मुनियोंमें विवाद होना आरम्भ हो गया। उसी समय सहसा भ्रमण करते-करते परमहंसकुल-चूड़ामणि श्रीशुकदेव गोस्वामी वहाँ उपस्थित हुए। तत्क्षणात् सभीने खड़े होकर उनका स्वागत किया। महाराज परीक्षित्‌ने उन्हें दण्डवत्-प्रणाम करके विशेष रूपमें उनका अभिनन्दन और स्तव किया। तब श्रीपरीक्षित्‌ने शुश्रुषा (सेवाभाव) के साथ 'मृत्युके निकट और चरम कल्याणकी कामना करनेवाले व्यक्तिका क्या कर्त्तव्य है'—इस विषयमें श्रीशुकदेव गोस्वामीसे जिज्ञासा की। तब भगवान् श्रीशुकदेव गोस्वामीने राजा परीक्षित्‌के प्रश्नका उत्तर देना आरम्भ किया।



॥ श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः ॥

श्रीमद्भागवतम्

प्रथमः स्कन्धः

प्रथमोऽध्यायः

नैमिषारण्यमें शौनकादि ऋषियों द्वारा श्रीसूत गोस्वामीसे प्रश्न

श्रीवेदव्यास द्वारा किया मङ्गलाचरण

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत् सूरयः।
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि॥ १ ॥

जिन परमेश्वरसे इस विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति (पालन) तथा विनाश कार्य अन्वय (कारणकी कार्यमें स्थिति, जैसे—मिट्टीकी घटमें स्थिति) और उसके विपरीत व्यतिरेक (कारणका कार्यसे पृथक् भाव अर्थात् मिट्टीकी घटसे पृथक् स्थिति) रूपमें साधित होते हैं, जो जगत्के कर्त्ताके धर्मसे सम्पूर्ण रूपमें अवगत हैं, जिनमें स्वतःसिद्ध ज्ञान स्वयं विराजमान है, जिन्होंने आदि कवि ब्रह्माके हृदयमें सङ्कल्पके द्वारा तत्त्व-वस्तुको प्रकाशित किया है, जिन परमेश्वरके सम्बन्धमें ब्रह्मा, इन्द्र आदि देवता भी मोहमें पड़ जाते हैं; तथा जिस प्रकार तेज, जल और मिट्टीमें परस्पर एकके बदले दूसरी वस्तुका सत्यकी भाँति भ्रम होता है (अर्थात् जैसे तेजोमय सूर्यरश्मियोंमें जलका, जलमें स्थलका और स्थलमें जलका सत्यकी भाँति भ्रम होता है), उसी प्रकार जिन परमेश्वरमें सत्त्व, रजः और तमः गुणोंका अवस्थान सत्यकी भाँति प्रतीत होनेपर भी वस्तुतः जिनमें जड़धर्म सम्भव ही

नहीं है, जो माया और मायाके कार्य—कपटतासे सर्वदा मुक्त हैं, समस्त जीवोंके हृदयमें विराजित तथा सर्वदेशकालवर्ती उन्हीं सत्यस्वरूप-लक्षणमय परमेश्वरका हम ध्यान करते हैं॥ १॥

धर्मः प्रोज्झित-कैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सतां
वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम्।
श्रीमद्भागवते महामुनिकृते किंवापरैरीश्वरः
सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात्॥ २॥

(अब श्रोतामण्डलीको भागवत-श्रवणमें प्रेरित करानेके लिए कर्म, ज्ञान और भक्तिमूलक अन्यान्य समस्त शास्त्रोंकी अपेक्षा श्रीमद्भागवतकी श्रेष्ठता दिखला रहे हैं—)

महामुनि श्रीनारायणके द्वारा सर्वप्रथम और संक्षेपमें चतुःश्लोकी भागवत प्रकाशित हुई थी। इस श्रीमद्भागवत ग्रन्थमें दूसरोंका उत्कर्ष (श्रेष्ठता) सहन कर सकनेमें समर्थ अर्थात् मात्सर्य-भावसे रहित, समस्त प्राणियोंके प्रति दयालु साधुओंका परमधर्म अर्थात् कर्म-ज्ञान काण्डके शास्त्रोंमें वर्णित विषयोंसे भी श्रेष्ठ धर्म—शुद्धभक्तियोग निरूपित हुआ है। इस मत्सरतासे रहित सद्धर्ममें फलकी कामनावाले लक्षणोंसे युक्त धर्म, अर्थ, काम तथा सालोक्यादि मुक्तियोंकी इच्छाओं तकका भी स्थान नहीं है। श्रीमद्भागवतरूपी परम ग्रन्थके अनुशीलनके फलसे आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक—ये तीनों प्रकारके मायिक ताप और उनका मूलकारण अविद्या तक सर्वथा नष्ट हो जाते हैं तथा परमानन्दका अनुभव करानेवाले नित्य-अविनाशी अद्वयज्ञान[१] वस्तु-तत्त्वका अनुभव होता है। जैसे ही श्रीमद्भागवतका श्रवणादि अनुशीलन आरम्भ होता है, उसी क्षणसे श्रवण-इच्छुक सुकृतिसम्पन्न श्रोताओंके हृदयमें परमेश्वर श्रीहरि अतिशीघ्र ही अवरुद्ध हो जाते हैं। अतः फिर अन्य किसी शास्त्र या मार्गको अनुगमन करनेकी क्या आवश्यकता है? अतएव सभी शास्त्रोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ इस श्रीमद्भागवतका ही नित्यकाल श्रवण करना कर्त्तव्य है॥ २॥

---

[१] एक अद्वितीय वास्तव वस्तु।

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं
शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम् ।
पिबत भागवतं रसमालयं
मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः॥ ३॥

हे भगवत्-प्रीतिरस-रसिक जनो! हे अप्राकृत रसविशेषकी भावनामें चतुर भक्तो! श्रीमद्भागवत वेदरूपी कल्पतरुका परमानन्दरसमय परिपक्व फल है। यह छिलका, गुठली आदि कठिन हेय-अंशसे रहित तरल होनेके कारण पान करने योग्य है। श्रीशुकदेव गोस्वामीके मुखसे निकलकर शिष्य-प्रशिष्यादिकी परम्पराक्रमसे स्वेच्छासे पृथ्वीपर अखण्ड रूपमें अवतीर्ण इस फलको आपलोग मुक्त अवस्थामें भी पुनः-पुनः पान करते रहें। स्वर्गके सुखोंकी उपेक्षा करनेवाले परम मुक्तपुरुष भी इस रसमय फल (श्रीमद्भागवत) की उपेक्षा न करके नित्यकाल ही इसका सेवन किया करते हैं॥ ३॥

ॐ नैमिशेऽनिमिषक्षेत्रे ऋषयः शौनकादयः।
सत्रः स्वर्गाय-लोकाय सहस्रसममासत॥ ४॥

(सर्वप्रथम शास्त्रके आरम्भमें मङ्गलवाचक प्रणव 'ॐ' तथा प्रणवसे इस वेदान्त-भाष्य श्रीमद्भागवतका आरम्भ।)

नैमिषारण्य नामक विष्णुतीर्थमें शौनकादि ऋषियोंने अप्राकृत हरिलोककी प्राप्तिके उद्देश्यसे हजार वर्षोंमें पूर्ण होनेवाले यज्ञका अनुष्ठान आरम्भ किया॥ ४॥

त एकदा तु मुनयः प्रातर्हुतहुताग्नयः।
सत्कृतं सूतमासीनं पप्रच्छुरिदमादरात्॥ ५॥

एकबार प्रातःकालमें शौनकादि ऋषि जब आह्वानीय[१] आदि अग्नियोंमें आहुति प्रदान करके अपने नित्य-नैमित्तिकादि कार्योंसे निवृत्त हो गये, तब उन्होंने महाभागवत श्रीसूतजीको बड़े आदरके साथ यथोचित अति-सम्माननीय आसनपर बिठाकर पूजन किया और उनसे इस प्रकार पूछा—॥ ५॥

---

[१] एक प्रकारकी अग्नि जो विराट् पुरुषका मुख है।

श्रीऋषय ऊचुः—

त्वया खलु पुराणानि सेतिहासानि चानघ।
आख्यातान्यप्यधीतानि धर्मशास्त्राणि यान्युत॥ ६॥

ऋषियोंने पूछा—हे श्रीसूत गोस्वामी! आप समस्त पापोंसे सर्वथा मुक्त हैं। आपने महाभारतादि इतिहास ग्रन्थोंके साथ-साथ समस्त पुराणों और जितने भी धर्मशास्त्र हैं, उन सबका अपने गुरुदेवसे अध्ययन किया है। केवल अध्ययन ही किया है, ऐसा नहीं, अपितु आपने उनकी भलीभाँति व्याख्या भी की है॥ ६॥

यानि वेदविदां श्रेष्ठो भगवान् बादरायणः।
अन्ये च मुनयः सूत परावर-विदो विदुः॥ ७॥

वेत्थ त्वं सौम्य तत्सर्वं तत्त्वतस्तदनुग्रहात्।
ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत॥ ८॥

और भी, हे सौम्य श्रीसूत! आप परम साधु-स्वभावके हैं। वेदोंको जाननेवालोंमें श्रेष्ठ भगवान् वेदव्यास जो कुछ जानते हैं, और दूसरे मुनि सगुण और गुणातीत धाममें अवस्थित ब्रह्मके स्वरूपको जिस रूपमें जानते हैं, आप भी उनकी कृपासे उन इतिहास, पुराणादि समस्त शास्त्रोंको यथार्थ रूपसे जानते हैं। इसका कारण यह है कि जो शिष्य स्निग्ध-स्वभावका होता है, वह गुरुकी प्रीतिका पात्र होता है और ऐसे स्निग्ध शिष्यके निकट ही गुरुजन अति निगूढ़ रहस्यको भी प्रकट कर देते हैं॥ ७-८॥

तत्र तत्राञ्जसायुष्मन् भवता यद्विनिश्चितम्।
पुंसामेकान्ततः श्रेयस्तन्नः शंसितुमर्हसि॥ ९॥

हे आयुष्मन् (बहुतकाल तक शास्त्र अध्ययनकारी और विचारशील)! आपने उन सब अध्ययन किये हुए शास्त्रोंसे और गुरुजनोंके उपदेशोंसे कलियुगके जीवोंके एकान्तिक कल्याणका जो सहज साधन निश्चित किया है, उस परम मङ्गलमय साधनको आप हमारे समक्ष कहनेमें समर्थ हैं। अतएव कृपापूर्वक आप उस रहस्यको हमलोगोंको बतलाइये॥ ९॥

प्रायेणाल्पायुषः सभ्य कलावस्मिन् युगे जनाः।
मन्दाः सुमन्दमतयो मन्दभाग्या ह्युपद्रुताः॥ १०॥

हे साधु-समाजके भूषण! आप देश, काल और पात्रको जाननेवाले हैं। इस कलियुगमें प्रायः सभी लोग अल्पायुके हैं। यदि कोई दीर्घायु भी हों, तो परमार्थके प्रति उनकी चेष्टा नहीं होती, अर्थात् इस विषयमें वे बड़े आलसी होते हैं। यदि कोई-कोई निरलस भी हों, तो उनकी बुद्धि बड़ी मन्द होती है। यदि कोई सुबुद्धिसे युक्त भी हों, तो उनका भाग्य बड़ा मन्द होता है अर्थात् उन्हें साधुसङ्ग प्राप्त नहीं होता। यदि सौभाग्यवशतः साधुसङ्ग प्राप्त भी हो जाये, तो वे रोगादि त्रितापों और अनेक प्रकारकी बाधाओंसे विचलित रहते हैं। इसलिए साधुसङ्गमें श्रवणके द्वारा वे अपने परम कल्याणके रूपमें जो कुछ भी निश्चित करते हैं, उसका पालन नहीं कर पाते॥ १०॥

भूरीणि भूरिकर्माणि श्रोतव्यानि विभागशः।
अतः साधोऽत्र यत् सारं समुद्धृत्य मनीषया।
ब्रूहि भद्राय भूतानां येनात्मा सुप्रसीदति॥ ११॥

इस जगत्में करने योग्य बहुत-से कर्म हैं तथा श्रवणके योग्य बहुत-से साधन हैं। पुनः उन साधनोंके प्रतिपादक बहुत-से शास्त्र हैं, जिन्हें विभिन्न भागोंमें बाँटा गया है। अतएव हे विद्वन्! इन श्रेयस्कर साधनोंका मुख्य तात्पर्य अर्थात् जिसे आप सर्वश्रेष्ठ और सहज रूपमें पालनीय समझते हैं, वह क्या है? आपने अपनी अति तीक्ष्ण बुद्धिके प्रभावसे विविध शास्त्रोंसे जिन सार वचनोंको संग्रह किया है, समस्त प्राणियोंके मङ्गल और उन सबकी बुद्धिकी सुप्रसन्नता अर्थात् भगवान्के प्रति उन्मुखताके लिए कृपया हमें उन सब सार-वचनोंको बतलाइये॥ ११॥

सूत जानासि भद्रं ते भगवान् सात्वतां पतिः।
देवक्यां वसुदेवस्य जातो यस्य चिकीर्षया॥ १२॥

(पुनः शौनकादि ऋषि उत्सुकतापूर्वक आशीर्वाद देते हुए कह रहे हैं—)

हे श्रीसूत! आपका मङ्गल हो। सात्त्वतपति अर्थात् शुद्धसत्त्व वैष्णवोंके पालक भक्तवत्सल भगवान् श्रीकृष्ण जिस विशेष उद्देश्यसे श्रीवसुदेवकी पत्नी देवकीके गर्भसे आविर्भूत हुए थे, उस विषयको आप भलीभाँति जानते हैं॥ १२॥

तन्नः शुश्रूषमाणानामर्हस्यङ्गानुवर्णितुम्।
यस्यावतारो भूतानां क्षेमाय च भवाय च॥ १३॥

हे सूतजी! जिनका अवतार अथवा आविर्भाव जीवोंके परम कल्याण तथा उनमें भगवत्-प्रेमकी समृद्धिके लिए होता है, हम उन श्रीवासुदेवकी अवतार-लीलाओंको सुनना चाहते हैं। आप कृपापूर्वक हमारे लिए उनका वर्णन कीजिये॥ १३॥

आपन्नः संसृतिः घोरां यन्नाम विवशो गृणन्।
ततः सद्यो विमुच्येत यद्बिभेति स्वयं भयम्॥ १४॥

जन्म-मृत्युरूप भयङ्कर संसारमें पतित मानव यदि विवश होकर भी भगवान्के नामका उच्चारण कर लें, तो वे तुरन्त ही इस संसारसे मुक्त हो जाते हैं। भगवान्के नामोंका ऐसा प्रभाव है कि जिनसे यम और यमदूतोंकी तो बात ही क्या, स्वयं भय (महाकाल) भी भयभीत रहता है॥ १४॥

यत्पादसंश्रयाः सूत मुनयः प्रश्रमायनाः।
सद्यः पुनन्त्युपस्पृष्टाः स्वर्धन्यापोऽनुसेवया॥ १५॥

हे सूतजी! भगवान्के चरणकमलोंका आश्रय ग्रहण करनेवाले तथा उनमें निष्ठायुक्त श्रीशुकादि मुनियोंके निकटमात्र जानेसे अर्थात् उनके दर्शनमात्र करनेसे ही वे उसी क्षण ही लोगोंको पापोंसे मुक्त करके पवित्र कर देते हैं, जब कि गङ्गाकी बहुत समय तक साक्षात् सेवा करनेसे अर्थात् दीर्घकाल तक गङ्गाका स्पर्श, उसमें स्नान आदि करनेके बाद ही वह पवित्र करती है॥ १५॥

को वा भगवतस्तस्य पुण्यश्लोकेड्यकर्मणः।
शुद्धिकामो न श्रृणुयाद्यशः कलिमलापहम्॥ १६॥

आत्म-शुद्धिका इच्छुक ऐसा कौन व्यक्ति है, जिसके लिए पावनचरित्र देवताओंके पूज्य उरुक्रम भगवान्‌का कलिकालके कल्मषको हरण करनेवाला पवित्र यशगान श्रवणीय नहीं है। इसलिए सभीको भगवान्‌के यशगानका अवश्य ही श्रवण करना चाहिये॥ १६॥

तस्य कर्माण्युदाराणि परिगीतानि सूरिभिः।
ब्रूहि नः श्रद्दधानानां लीलया दधतः कलाः॥ १७॥

स्वयंरूप अवतारी भगवान् श्रीकृष्ण लीलावशतः ही पुरुषावतारादि कलाएँ धारण करते हैं। नारदादि देवगण उन भगवान्‌की विश्व-सृष्टि आदिरूप महान, अथवा परमानन्द प्रदान करनेवाली जन्मादि लीलाओंका गान करते रहते हैं। उन सब लीलाओंका श्रवण करनेके लिए हम श्रद्धावान बड़े उत्कण्ठित हो रहे हैं, कृपया आप उनका वर्णन कीजिये॥ १७॥

अथाख्याहि हरेर्धीमन्नवतारकथाः शुभाः।
लीला विदधतः स्वैरमीश्वरस्यात्ममायया॥ १८॥

हे बुद्धिमान सूतजी! भगवान् श्रीकृष्णने अपनी इच्छाशक्ति (चित्-शक्ति योगमाया) के द्वारा स्वच्छन्द रूपसे जगत्‌की स्थिति (पालन) के लिए भू-भार-हरण आदि मायातीत लीलाएँ की हैं, अतः आप हमारे निकट भगवान्‌के अवतारोंकी परम-मङ्गलदायिनी कथाओंका वर्णन कीजिये॥ १८॥

वयन्तु न वितृप्याम उत्तमःश्लोकविक्रमे।
यच्छृण्वतां रसज्ञानां स्वादु स्वादु पदे पदे॥ १९॥

रसिक श्रोता जब पुण्यकीर्त्ति उरुक्रम श्रीकृष्णके गुण और लीला-कथाओंका श्रवण करते हैं, तब उन्हें पद-पदपर नये-नये रसका आस्वादन होता है। इसीलिए श्रीकृष्णकी उन गुण-लीला-कथाओंका और अधिक आस्वादन प्राप्त करनेकी आशासे हमें तृप्ति

नहीं हो रही है, अर्थात् उन लीला-कथाओंके श्रवणसे हमारा कौतूहल और आग्रह बढ़ता ही जा रहा है॥ १९॥

कृतवान् किल कर्माणि सह रामेण केशवः।
अतिमर्त्यानि भगवान् गूढः कपटमानुषः॥ २०॥

भगवान् श्रीश्यामसुन्दर नित्य एवं अप्राकृत वस्तु होकर भी अपने मनुष्यरूपमें आविर्भूत होते हैं और मनुष्योचित लीलाएँ करते हैं, जिन्हें देखकर प्रापञ्चिक लोग श्रीकृष्णको साधारण मनुष्यकी भाँति समझते हैं। किन्तु श्रीकृष्ण अपने स्वरूपको छिपाकर श्रीबलदेवप्रभुके साथ ऐसी अलौकिक लीलाओंका भी प्रदर्शन करते हैं, जिन्हें मनुष्य नहीं कर सकता। अतएव आप परब्रह्म श्रीकृष्णकी उन सब अलौकिक कथाओंका हमारे समक्ष वर्णन कीजिये॥ २०॥

कलिमागतमाज्ञाय क्षेत्रेऽस्मिन् वैष्णवे वयम्।
आसीना दीर्घसत्रेण कथायां सक्षणा हरेः॥ २१॥

कलियुगको आया जानकर हम इस पवित्र वैष्णवक्षेत्र नैमिषारण्यमें दीर्घकालीन यज्ञके उपलक्ष्यमें आकर बैठे हुए हैं। अब हमें हरिकथा श्रवण करनेका अवसर प्राप्त हुआ है॥ २१॥

त्वं नः सन्दर्शितो धात्रा दुस्तरं निस्तितीर्षताम्।
कलिं सत्त्वहरं पुंसां कर्णधार इवार्णवम्॥ २२॥

यह कलिकाल मनुष्योंकी बल-बुद्धिका नाश करनेवाला है। इस कलिकालरूप दुसाध्य समुद्रको पार पाना बड़ा ही कठिन है। जिस प्रकार समुद्रको पार करनेके इच्छुक लोगोंको कर्णधारकी आवश्यकता होती है, उसी प्रकार इस कलिकालरूप समद्रसे पार जानेके इच्छुक हमलोगोंके लिए कर्णधारके रूपमें विधाताने ही आपको भेजा है, इसीलिए हमें आपके दर्शनका सौभाग्य प्राप्त हो रहा है॥ २२॥

ब्रूहि योगेश्वरे कृष्णे ब्रह्मण्ये धर्मवर्मणि।
स्वां काष्ठामधुनोपेते धर्मः कं शरणं गतः॥ २३॥

हे सूतजी! श्रीकृष्ण कवचके समान धर्मके रक्षक, ब्राह्मणोंके पालक और योगेश्वरोंके द्वारा वन्दित हैं। श्रीकृष्णके द्वारा अपने नित्यधाममें गमन अर्थात् अन्तर्धानरूप अप्रकट लीलामें प्रवेश करनेपर सनातनधर्मने अब किसकी शरण ली है—कृपया इसे बतलाइये?॥ २३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां प्रथम-स्कन्धे नैमिषीयोपाख्याने ऋषिप्रश्नो नाम प्रथमोऽध्यायः॥

द्वितीयोऽध्यायः

सम्बन्ध—श्रीभगवान् अभिधेय—श्रीभक्ति, प्रयोजन—प्रेम

इति सम्प्रश्न-संहृष्टो विप्राणां रौमहर्षणिः।
प्रतिपूज्य वचस्तेषां प्रवक्तुमुपचक्रमे॥ १॥

शौनकादि ब्राह्मणोंके इन प्रश्नोंको सुनकर रोमहर्षणके पुत्र उग्रश्रवा सूत अत्यधिक सन्तुष्ट हुए। उन्होंने ऋषियोंके इन सर्व-हितकारी वचनोंका अभिनन्दन किया और इस प्रकार कहने लगे—॥ १॥

श्रीसूत उवाच—

यं प्रवव्रजन्तमनुपेतमपेतकृत्यं
द्वैपायनो विरहकातर आजुहाव।
पुत्रेति तन्मयतया तरवोऽभिनेदु-
स्तं सर्वभूतहृदयं मुनिमानतोऽस्मि॥ २॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—जन्मके साथ ही उपनयनादि संस्कारके अनुष्ठानसे रहित अपने पुत्र श्रीशुकदेवजीको संन्यासके उद्देश्यसे अकेले ही वनमें जाते देखकर विरहकातर श्रीव्यासने 'पुत्र-पुत्र' कहकर उन्हें उच्चस्वरसे पुकारा था। उस समय शुकभावमय (अर्थात् शुकमें तन्मय) वृक्षोंने ही प्रतिध्वनिके छलसे विरहमें कातर पिताको उत्तर दिया था। अपने योगबलके प्रभावसे सभी प्राणियोंके हृदयमें विराजमान उन श्रीशुकदेव मुनिको मैं प्रणाम करता हूँ। (जिस प्रकार उन्होंने जड़ वृक्षोंमें प्रविष्ट होकर प्रत्युत्तर दिया था, उसी प्रकार वे मेरे भी अन्तःकरणमें प्रवेश करके मेरे मुखसे भागवत कहें)॥ २॥

यः स्वानुभावमखिलश्रुतिसारमेक-
मध्यात्म-दीपमतितितीर्षतां तमोऽन्धम्।
संसारिणां करुणयाह पुराणगुह्यं
तं व्याससूनुमुपयामि गुरुं मुनीनाम्॥ ३॥

विषयोंमें आसक्त जो लोग संसाररूप गहन अज्ञानसे पार जानेके इच्छुक हैं, उन पर कृपा करनेके लिए वेद और उपनिषदादिका सारस्वरूप अनुपम यह श्रीमद्भागवत आत्म-तत्त्वको प्रकाशित करनेवाले दीपकके समान है। जिन्होंने समस्त पुराणोंके रहस्यस्वरूप गोपनीय इस श्रीमद्भागवतकी रस-उत्कर्षमयी महिमाको अपने अनुभव द्वारा बोला था, ऐसे भागवतोपदेशक मुनियोंके गुरु व्यासपुत्र श्रीशुकदेव गोस्वामीकी मैं शरण लेता हूँ॥ ३॥

नारायणं नमस्कृत्य नरञ्चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत्॥ ४॥

भगवान्के अवतार पुरुषोत्तम नारायण और नर ऋषि इस शास्त्रके दो अधिष्ठातृ देवता हैं, पराविद्या रूपिणी देवी सरस्वती इस शास्त्रकी शक्ति हैं तथा व्यासदेव इस शास्त्रके ऋषि हैं—इन सबको प्रणाम करके ही अन्तःकरणके समस्त विकारोंपर विजय प्राप्त करनेके उपायस्वरूप इस श्रीमद्भागवत महापुराणका पाठ करना चाहिये॥ ४॥

मुनयः साधु पृष्टोऽहं भवद्भिर्लोकमङ्गलम्।
यत्कृतः कृष्णसंप्रश्नो येनात्मा सुप्रसीदति॥ ५॥

हे ऋषियो! आपके द्वारा किये गये सभी प्रश्न उत्तम हैं, अतः वे समस्त भुवनका मङ्गल करनेवाले हैं। आपके ये प्रश्न श्रीकृष्ण विषयक होनेके कारण आत्माको सम्पूर्ण रूपसे प्रसन्न (सन्तुष्ट) करनेवाले हैं॥ ५॥

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति॥ ६॥

जिस धर्ममें इन्द्रिय-ज्ञानसे अतीत भगवान् श्रीकृष्णमें लौकिक कामनासे रहित नित्य-निरन्तरमयी श्रवण-कीर्त्तन आदिरूप ऐकान्तिकी स्वाभाविकी और निरपेक्ष भक्ति बनी रहे, वही मनुष्यमात्रके लिए परम अर्थात् सर्वश्रेष्ठ धर्म है—ऐसी भक्तिके बलसे ही समस्त अनर्थ दूर हो जाते हैं और आत्मा सुप्रसन्न हो जाती है॥ ६॥

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानञ्च यदहैतुकम्॥ ७॥

भगवान् वासुदेव श्रीकृष्णके प्रति परम-धर्म अर्थात् (प्रेम) भक्तिको उदय करानेकी चेष्टारूप श्रवण-कीर्त्तन आदि (साधन) भक्ति योगके अनुष्ठित होते-होते अनायास ही विषयोंसे वैराग्य हो जाता है तथा अभेद-मोक्षकी कामनासे रहित भगवान्को प्राप्त करानेवाले शुद्ध अद्वयज्ञानका उदय होता है॥ ७॥

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेन-कथासु यः।
नोत्पादयेद् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्॥ ८॥

मनुष्य द्वारा वर्णाश्रमरूप अपने धर्मका ठीक-ठीक पालन करनेपर भी यदि उसकी श्रीभगवान्की लीला-कथाओंमें रति अर्थात् आसक्तिरूप रुचि उत्पन्न नहीं होती है, तो उसका स्वधर्म पालन निश्चित रूपसे केवलमात्र श्रम ही है। अतः स्वधर्मको छोड़कर श्रवण-कीर्त्तनादि भक्तिरूप परमधर्मका ही पालन करना चाहिये॥ ८॥

धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते।
नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः॥ ९॥

कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता।
जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्म्मभिः॥ १०॥

(नवम और दशम श्लोकमें अन्यान्य धर्मोंके साथ परमधर्मके पार्थक्यका विचार कथित हुआ है—)

कर्म्मीजन अपने वर्णाश्रमधर्मको ही परमधर्म मानते हैं, किन्तु उनका ऐसा मानना ठीक नहीं है। उनके मतानुसार धर्मका फल अर्थ है, अर्थका फल काम है और कामका फल जड़-इन्द्रियोंका भोग-विलास है। भोग-विलासमें इन्द्रियोंकी प्रसन्नता तभी तक रहती है, जब तक जीवका औपाधिक नश्वर जीवन रहता है। जब तक तत्त्व-जिज्ञासाका अभाव रहता है, तभी तक जीवकी इन्द्रिय-भोगकी चेष्टा रहती है और इन्द्रियाधिपति भगवान् श्रीहृषीकेशके विषयमें कोई प्रयत्न नहीं होता। धर्मका फल विषयभोग नहीं, बल्कि मोक्ष है। अर्थ

भी केवल धर्मके लिए है, भोगविलासके लिए नहीं। इस जगत्में स्वर्गादिकी प्राप्तिके लिए जो नित्य-नैमित्तिक अनुष्ठान किये जाते हैं, वह भी प्रयोजन नहीं है। भगवत्-जिज्ञासा ही जीवनका एकमात्र मुख्य प्रयोजन है॥ ९-१०॥

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥ ११॥

अद्वयज्ञान अर्थात् एक अद्वितीय वास्तव-वस्तुको ही तत्त्ववेत्ताजन परमार्थ कहते हैं। साधकोंके विभिन्न भाव-भेदसे वह एक ही तत्त्व-वस्तु तीन नामोंसे जानी जाती है—ज्ञानीके निकट चिन्मात्र ज्योतिःपुञ्ज ब्रह्मरूपमें, योगियोंके लिए आकारसे युक्त चिन्मय परमात्माके रूपमें तथा भक्तोंके लिए स्वयं-स्वरूप श्रीभगवान्के रूपमें प्रकाशित होती है॥ ११॥

तच्छ्रद्दधाना मुनयो ज्ञानवैराग्ययुक्तया।
पश्यन्त्यात्मनि चात्मानं भक्त्या श्रुतगृहीतया॥ १२॥

श्रीगुरुमुखसे श्रौतपथके[१] सेवनके फलसे अर्थात् शास्त्रोंके श्रवणसे जब सुकृति प्राप्त होती है तथा फिर क्रमशः सम्बन्धज्ञानके उदित होनेपर हृदय विषय-भोगोंसे रहित होकर शुद्ध हो जाता है, तब अप्राकृत वस्तुमें सुदृढ़ विश्वाससे युक्त मुनि अर्थात् कीर्त्तनकारी अपने शुद्ध हृदयरूप वृन्दावनमें भक्तिका आश्रय करके भगवान्में ही परमात्मा और ब्रह्मरूप तत्त्व-वस्तुकी उपलब्धि करते हैं॥ १२॥

अतः पुंभिर्द्विजश्रेष्ठा वर्णाश्रम-विभागशः।
स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम्॥ १३॥

अतएव हे शौनकादि ऋषियो! मनुष्य द्वारा वर्णभेद अथवा आश्रम भेदसे जिस किसी भी विभागमें स्थित होकर त्रिवर्ग (धर्म-अर्थ-काम) के अन्तर्गत स्वधर्मका उत्तम रूपसे अनुष्ठान करनेका चरम फल श्रीहरिको सन्तुष्ट करना ही है। श्रीहरिके सन्तुष्ट होनेसे ही समस्त धर्मोंकी सम्पूर्ण सिद्धि होती है॥ १३॥

[१] भजनीय वस्तुका सेवन-धर्म ही श्रौतपथ है।

तस्मादेकेन मनसा भगवान् सात्वतां पतिः।
श्रोतव्यः कीर्त्तितव्यश्च ध्येयः पूज्यश्च नित्यदा॥ १४॥

अतः श्रीहरिको प्रसन्न करनेके लिए सदा-सर्वदा एकान्त चित्तसे कर्म-ज्ञानादिके अनुष्ठानकी चञ्चलताको त्यागकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी कामनाकी गन्धसे भी रहित होकर सर्वप्रथम श्रीगुरुमुखसे भक्तवत्सल भगवान् श्रीहरिकी कथाओंका श्रवण करना चाहिये। तत्पश्चात् उन हरिकथाओंका कीर्त्तन एवं हरि विषयक स्मरण करना चाहिये। ऐसा होनेपर भजनीय वस्तु श्रीहरिका पूजारूपमें नित्य ही अनुशीलन सम्भवपर है॥ १४॥

यदनुध्यासिना युक्ताः कर्म ग्रन्थिनिबन्धनम्।
छिन्दन्ति कोविदास्तस्य को न कुर्यात् कथारतिम्॥ १५॥

विवेकके अभावमें हरिकथाका श्रवण-कीर्त्तन-स्मरण आदि न कर जीव अपनेको मायाका भोक्ता मान लेता है। किन्तु जिन भगवान्के नित्य-निरन्तर स्मरणरूप खड्ग (तलवार) से विवेकीगण अहङ्कारजनक फल-भोगमयी समस्त कर्मोंकी गाँठोंका छेदन कर डालते हैं, ऐसे भगवान्की कथामें किसकी रुचि नहीं होगी?॥ १५॥

शुश्रूषोः श्रद्दधानस्य वासुदेव-कथारुचिः।
स्यान्महत्सेवया विप्राः पुण्यतीर्थनिषेवणात्॥ १६॥

हे शौनकादि ऋषियो! विष्णुतीर्थ (भगवत्-भक्तोंकी अधिष्ठित भूमि) की परिक्रमा तथा सद्गुरु और कृष्ण-भक्तोंकी सेवासे ही साधु, गुरु एवं शास्त्रके वचनोंमें श्रद्धा होती है। ऐसे श्रद्धावानजन जब भगवत्-कथाको श्रवण करनेके अभिलाषी होते हैं, तब उनकी भगवान् श्रीवासुदेवमें रुचि उत्पन्न होती है॥ १६॥

शृण्वतां स्वकथाः कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्त्तनः।
हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत् सताम्॥ १७॥

श्रीकृष्णके नामोंका श्रवण और कीर्त्तन सभीको पवित्र करनेवाला हैं। वे श्रीकृष्ण अपनी अप्राकृत लीला-कथा अथवा नाम-गुण श्रवण करनेवालोंके हृदयमें अन्तर्यामी—चैत्यगुरुके रूपमें विराजित होकर

हृदयकी पाप-वासनाओंको समूल नष्ट कर डालते हैं, क्योंकि वे साधुओंके एकमात्र नित्य हितैषी हैं॥ १७॥

नष्टप्रायेष्वभद्रेषु नित्यं भागवतसेवया।
भगवत्युत्तमःश्लोके भक्तिर्भवति नैष्ठिकी॥ १८॥

नित्य-निरन्तर श्रीमद्भागवतकी श्रवण-कीर्त्तनादिरूप सेवा और भक्त-भागवतकी परिचर्यारूप सेवा करनेसे अशुभ वासनाओंका प्रायः नाश हो जाता है। तब मनुष्योंमें पुरुषोत्तम श्रीकृष्णके प्रति अचला एवं नैष्ठिकी भक्तिका उदय होता है॥ १८॥

तदा रजस्तमोभावाः कामलोभादयश्च ये।
चेत एतैरनाविद्धं स्थितं सत्त्वे प्रसीदति॥ १९॥

जिस समय नैष्ठिकी भक्ति उदित होती है, उस समय रजोगुण और तमोगुणसे उत्पन्न भजनमें विघ्न डालनेवाले छः शत्रु—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य—जात-रति[१] भक्तको आवृत नहीं कर पाते, क्योंकि उसका मन शुद्धसत्त्वमें निमग्न होनेके कारण दुःसङ्गसे प्रभावित नहीं होता। इस प्रकार शुद्ध निर्मल जीवात्मा दुर्गतिको प्राप्त न करके हरिसेवामयी चित्तवृत्तिमें अवस्थित होकर प्रसन्न हो जाता है॥ १९॥

एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः।
भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसङ्गस्य जायते॥ २०॥

इस प्रकार प्रत्येक क्षण भगवान् श्रीकृष्णका आसक्तिपूर्वक भजन करनेसे साधकका प्रशान्त चित्त आनन्दसे भर जाता है तथा कामादि वासनाओंसे रहित हो जाता है। तदुपरान्त श्रीभगवान्‌में प्रेममय भक्तियोगका उदय होनेपर साधकको भगवान् और उनकी समस्त शक्तियोंका विज्ञान अर्थात् साक्षात् अनुभूति होती है॥ २०॥

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे॥ २१॥

---

[१] जिसमें रति उत्पन्न हुई है।

इस प्रकार आत्माओंके आत्मा भगवान्‌के स्वरूपका साक्षात्कार होनेपर उस भगवत्-तत्त्ववेत्ताके हृदयकी गाँठ अर्थात् चित्-जड़ ग्रन्थनरूप अहङ्कार नष्ट हो जाता है, असम्भवादि सन्देहरज्जु छिन्न-भिन्न हो जाती है और कर्मबन्धन क्षीण हो जाता है॥ २१॥

अतो वै कवयो नित्यं भक्तिं परमया मुदा।
वासुदेवे भगवति कुर्वन्त्यात्म-प्रसादनीम्॥ २२॥

इसीलिए बुद्धिमान व्यक्ति निश्चय ही अति आनन्दपूर्वक नित्य-निरन्तर भगवान् श्रीवासुदेवकी भक्ति (प्रेममयी सेवा) करते रहते हैं, क्योंकि ऐसी भक्ति आत्माको प्रसन्न करनेवाली है॥ २२॥

सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणास्तै-
र्युक्तः परः पुरुष एक इहास्य धत्ते।
स्थित्यादये हरि-विरिञ्चि-हरेतिसंज्ञाः
श्रेयांसि तत्र खलु सत्त्वतनोर्नृणां स्युः॥ २३॥

सत्व, रज और तम—ये तीन प्रकृतिके गुण हैं। इन तीन गुणोंके अधीश्वररूपमें एक परमपुरुष तुरीय (तीनों गुणोंसे अतीत) श्रीनारायण अपनी माया-शक्तिके द्वारा इस विश्वका पालन, उत्पत्ति और ध्वंस करनेके लिए क्रमशः विष्णु, ब्रह्मा और शिव—ये तीन नाम धारण करते हैं। इनमेंसे सत्त्वगुणके विग्रह वासुदेव श्रीविष्णु ही भक्तोंका अभिलषित मङ्गल करते हैं, ब्रह्मा और शिव नहीं। अतः अन्य देवताओंकी उपासनाको छोड़कर एकमात्र भगवान् श्रीवासुदेवकी ही उपासना करनी चाहिये॥ २३॥

पार्थिवाद्दारुणो धूमस्तस्मादग्निस्त्रयीमयः।
तमसस्तु रजस्तस्मात् सत्त्वं यद्ब्रह्मदर्शनम्॥ २४॥

पृथ्वीका रूपान्तर चेतनाहीन जड़ लकड़ी प्रकाशसे रहित होती है, अतः उससे धुआँ श्रेष्ठ है, क्योंकि वह वस्तुका अल्पमात्र प्रकाशक और कर्मसाधक है। वस्तुके आभासरूप इस धुएँसे अग्नि श्रेष्ठ है, क्योंकि वह साक्षात् रूपसे तीनों वेदोंमें उक्त यज्ञ-यागादिके द्वारा सद्गति प्रदाता होनेके कारण क्रियासाधक और वस्तुकी प्रकाशक है।

इसी प्रकार तमोगुण प्रकाशरहित और लयात्मक है। इसकी अपेक्षा सत्त्वगुणकी निकटतावशतः रजोगुण तमोगुणसे श्रेष्ठ है और उस सत्त्वाभास रजोगुणसे साक्षात् वस्तुका प्रकाशक होनेके कारण सत्त्वगुण श्रेष्ठ है। ब्रह्मके साक्षात् रूप-गुणके आविर्भावका द्वारस्वरूप होनेके कारण सत्त्वगुण भगवान्के दर्शन करानेवाला है। इसी प्रकारसे शिव-ब्रह्मादिमें विष्णु ही श्रेष्ठ हैं॥ २४॥

भेजिरे मुनयोऽथाग्रे भगवन्तमधोक्षजम्।
सत्त्वं विशुद्धं क्षेमाय कल्पन्ते येऽनु तानिह॥ २५॥

इसीलिए प्राचीन कालमें सत्त्वगुणयुक्त ऋषि केवल विशुद्ध सत्त्वमय मूर्त्ति—अप्राकृत वैकुण्ठाधीश्वर श्रीविष्णुकी उपासना किया करते थे। अतएव इस संसारमें जो सौभाग्यवान पुरुष उन्हीं भजन-परायण मुनियोंका अनुसरण करते हैं, वे भी चरम-कल्याणके पात्र बनते हैं॥ २५॥

मुमुक्षवो घोररूपान् हित्वा भूतपतीनथ।
नारायणकलाः शान्ता भजन्ति ह्यनसूयवः॥ २६॥

अतएव अपने अनर्थोंको दूर करनेके इच्छुक लोग असत्-तृष्णाओंसे रहित होकर शान्त भावसे रहते हुए न तो किसीकी निन्दा करते हैं और न ही किसीमें दोष देखते हैं। वे भयङ्कर-आकृतिवाले तमोगुणी-रजोगुणी भूतों, प्रजापतियों और पितरों आदिकी उपासनाका त्याग करके भगवान् श्रीनारायणके अंश-कलावतारोंकी ही आराधना किया करते हैं॥ २६॥

रजस्तमःप्रकृतयः समशीला भजन्ति वै।
पितृभूत-प्रजेशादीन् श्रियैश्वर्य-प्रजेप्सवः॥ २७॥

किन्तु जो रजगुणी और तमोगुणी स्वभावके हैं, वे धन, ऐश्वर्य और सन्तानकी कामनासे पितर, भूत और प्रजापति आदि लौकिक फल-प्रदान करनेवाले अपने-अपने इष्ट देवताओंकी उपासना किया करते हैं। इन लोगोंका स्वभाव भी अपने इष्ट देवताओंसे मिलता-जुलता होता है॥ २७॥

वासुदेवपरा वेदा वासुदेवपरा मखाः।
वासुदवपरा योगा वासुदेवपराः क्रियाः॥
वासुदेवपरं ज्ञानं वासुदेवपरं तपः।
वासुदेवपरो धर्मो वासुदेवपरा गतिः॥ २८॥

चारों वेदोंका तात्पर्य भगवान् वोसुदेव श्रीकृष्ण ही हैं, वेदोंमें उक्त समस्त यज्ञ यज्ञेश्वर श्रीविष्णुके उद्देश्यसे ही हैं, योगशास्त्र भी योगेश्वरेश्वर श्रीविष्णुके उद्देश्यसे हैं और योगशास्त्रोंमें कही गयी क्रियाओंका तात्पर्य भी श्रीविष्णुभक्ति ही हैं। इसी प्रकार ज्ञान-शास्त्र भी भगवान् श्रीवासुदेवको ही लक्ष्य करते हैं, ज्ञान और वैराग्य (तपस्या) भी हरिभक्तिके उद्देश्यसे ही हैं। दान-व्रतादि विषयक धर्मशास्त्रोंका तात्पर्य भी हरिभक्तिमें पर्यवसित होता है। अतएव स्वर्गादि लोकोंकी प्राप्तिरूप अनित्य सुखोंका परित्याग करके हरिभक्तिरूप नित्यानन्द ही जीवनका परमलक्ष्य होना चाहिये॥ २८॥

स एवेदं ससर्ज्जाग्रे भगवानात्ममायया।
सदसद्रूपया चासौ गुणमय्याऽगुणो विभुः॥ २९॥

ऐसे भगवान् स्वयं निर्गुण हैं, किन्तु उनकी बहिरङ्गा-शक्ति त्रिगुणमयी है। वे भगवान् सृष्टिके प्रारम्भमें कारणोदकशायी प्रथम पुरुषके रूपमें प्रथमतः कार्य-कारण रूपवाली अपनी माया-शक्तिके प्रति ईक्षणकर इस विश्वकी सृष्टि करते हैं॥ २९॥

तया विलसितेष्वेषु गुणेषु गुणवानिव।
अन्तःप्रविष्ट आभाति विज्ञानेन विजृम्भितः॥ ३०॥

भगवान् श्रीवासुदेव अपनी चित्-शक्तिके प्रभावसे परम स्वतन्त्र अधीश्वर हैं। यह वित्रितापूर्ण जड़ आकाशादि प्रपञ्चमय विश्व उनकी बहिरङ्गा माया-शक्तिसे उत्पन्न है। पुनः इस विश्वमें अन्तर्यामी रूपसे अनुप्रविष्ट होनेके कारण वे भगवान् सगुणके समान प्रकाशित होते हैं, किन्तु वास्तवमें वे ब्रह्माण्डके अन्तर्गत गुणातीत द्वितीय पुरुष गर्भोदशायी विष्णु हैं॥ ३०॥

यथा ह्यवहितो वह्निर्दारुष्वेकः स्वयोनिषु।
नानेव भाति विश्वात्मा भूतेषु च तथा पुमान्॥ ३१॥

अग्निका उत्पत्तिस्थान काष्ठ है तथा उसमें अग्नि व्याप्त रहती है, किन्तु प्रकाशके तारतम्यसे वह एक ही अग्नि विभिन्न प्रकारसे प्रकाशित होती है। उसी प्रकार तृतीय पुरुष क्षीरोदकशायी विष्णु प्राणियोंके हृदयमें अन्तर्यामी रूपसे रहकर अनेक प्रकारकी विचित्र विभूतियों (योनियों) के रूपमें प्रकाशित होते हैं॥ ३१॥

असौ गुणमयैर्भावैर्भूतसूक्ष्मेन्द्रियात्मभिः।
स्वनिर्मितेषु निर्विष्टो भुङ्क्ते भूतेषु तद्गुणान्॥ ३२॥

वे विश्वात्मा लीलामय श्रीहरि विविध व्यूहोंका विस्तार करके पञ्चभूत, तन्मात्रा, इन्द्रिय और मनरूप त्रिगुणमय भावोंसे अपने द्वारा बनायी हुई देव-नर-तिर्यक् आदि योनियोंमें प्रविष्ट होकर जीवोंको उन-उन योनियोंके अनुरूप विषयोंका लीलाक्रमसे भोग कराते हैं॥ ३२॥

भावयत्येष सत्त्वेन लोकान् वै लोकभावनः।
लीलावतारानुरतो देव-तिर्यङ्नरादिषु॥ ३३॥

सम्पूर्ण लोकोंकी रचना करनेवाले भगवान् श्रीविष्णुने देवता, पशु, पक्षी, मनुष्य आदि योनियोंमें जो-जो लीलावतार प्रकट किये हैं, वे स्वयं उनमें अनुरक्त होकर सत्त्वगुणके द्वारा ही प्राणियोंका पालन करते हैं॥ ३३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां प्रथमस्कन्धे नैमिषीयोपाख्याने श्रीभगवदनुभाव-वर्णनं नाम द्वितीयोऽध्यायः॥

तृतीयोऽध्यायः

श्रीभगवान्‌के अवतारोंकी कथा

श्रीसूत उवाच—

जगृहे पौरुषं रूपं भगवान् महदादिभिः।
सम्भूतं षोडशकलमादौ लोकसिसृक्षया॥ १॥

श्रीसूत गोस्वामी कहने लगे—सृष्टिके प्रारम्भमें भगवान् श्रीहरिने लोकोंके निर्माणकी इच्छा की। तब सर्वप्रथम उन्होंने कारणार्णवशायी (कारण समुद्रमें शयनकारी) रूप प्रथम पुरुष अथवा विराट नामक रूप धारण किया। भगवान्‌के इस रूपमें महत्-तत्त्वसे निष्पन्न मन सहित ग्यारह इन्द्रियाँ और पञ्चमहाभूत—ये सोलह पदार्थ अंश रूपमें विद्यमान थे॥ १॥

यस्याम्भसि शयानस्य योगनिद्रां वितन्वतः।
नाभिह्रदाम्बुजादासीद्ब्रह्मा विश्वसृजांपतिः॥ २॥

तत्पश्चात् श्रीहरिने द्वितीय पुरुषावतारके रूपमें गर्भोदकमें (ब्रह्माण्डके भीतर भरे जलपर) शयन करते हुए योगनिद्राका विस्तार किया। तदनन्तर उनके नाभि-सरोवरसे उत्पन्न कमलसे प्रजापतिनाथ ब्रह्माने जन्म-ग्रहण किया॥ २॥

यस्यावयव-संस्थानैः कल्पितो लोकविस्तरः।
तद्वै भगवतो रूपं विशुद्धं सत्त्वमूर्जितम्॥ ३॥

कारणोदकशायी (कारण समुद्रमें शयनकारी) श्रीहरिके उस विराट् रूपके अङ्ग-प्रत्यङ्गमें पाताल आदि समस्त लोकोंसे युक्त प्रपञ्चकी कल्पना की गयी है। उन भगवान् श्रीहरिका स्वरूप रजोगुण और तमोगुणसे रहित सत्त्वमय है, अतः वही रूप अत्यन्त अप्राकृत और विशुद्ध है॥ ३॥

पश्यन्त्यदो रूपमदभ्रचक्षुषा
सहस्रपादोरु-भुजाननाद्भुतम् ।
सहस्रमूर्द्ध-श्रवणाक्षिनासिकं
सहस्रमौल्यम्बरकुण्डलोल्लसत् ॥४॥

योगीजन अपने असीम विज्ञान-चक्षुरूप दिव्यदृष्टिसे श्रीहरिके उस परम चमत्कारमय पुरुष रूपको देखते हैं, जिनके असंख्य सिर, कान, नेत्र, नासिकाएँ, भुजाएँ, मुख और चरण हैं। भगवान्‌का यह रूप असंख्य मुकुट, सुन्दर वस्त्र एवं कुण्डलोंसे परिशोभित रहता है॥४॥

एतन्नानावताराणां निधानं बीजमव्ययम्।
यस्यांशांशेन सृज्यन्ते देवतिर्यङ्नरादयः॥५॥

वह कारणोदकशायी विष्णु ही लीलाओंकी समाप्तिपर समस्त अवतारोंकी प्रवेश-स्थली हैं। वे अक्षय तथा समस्त अवतारोंके उद्‌गमस्थान[१] हैं। इसी रूपके अंश ब्रह्मा तथा ब्रह्माके अंश मरीचि आदि ऋषिगण—देव, तिर्यक, मनुष्य आदि समस्त प्राणियोंकी सृष्टि करते हैं॥५॥

स एव प्रथमं देवः कौमारं सर्गमाश्रितः।
चचार दुश्चरं ब्रह्मा ब्रह्मचर्यमखण्डितम्॥६॥

उन्हीं भगवान् श्रीविष्णुने पहले कौमारसर्गमें सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार—इन चार ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मणोंके रूपमें अवतीर्ण होकर अत्यन्त कठोर और अखण्ड ब्रह्मचर्यका पालन किया था॥६॥

द्वितीयन्तु भवायास्य रसातलगतां महीम्।
उद्धरिष्यन्नुपादत्त यज्ञेशः शौकरं वपुः॥७॥

---

[१] संक्षेपतः भगवान्‌के अवतारोंकी इस प्रकारसे गणना की जाती है—(१) पुरुषावतार—तीन प्रकारके हैं—महासङ्कर्षणसे कारणार्णव, गर्भोदक और क्षीरोदकशायी, (२) गुणावतार—ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर, (३) लीलावतार—मत्स्यादि, (४) मन्वन्तरावतार चौदह हैं—यज्ञ, विभु, सत्यसेन, हरि, वैकुण्ठ, अजित, वामन, सार्वभौम, ऋषभ, विष्वक्सेन, धर्मसेतु, सुधामा, योगेश्वर, बृहद्भानु, (५) युगावतार चार प्रकारके हैं—शुक्ल, रक्त, कृष्ण, पीत, (६) शक्त्यावेशावतार—पृथु, व्यास, परशुराम, बुद्ध आदि।

इस विश्वके कल्याणके लिए यज्ञेश्वर श्रीविष्णुने रसातलमें गयी हुई पृथ्वीका उद्धार करनेकी इच्छासे द्वितीय अवतारमें श्रीवराहरूप धारण किया था॥ ७॥

तृतीयमृषिसर्गं वै देवर्षित्वमुपेत्य सः।
तन्त्रं सात्वतमाचष्ट नैष्कर्म्यं कर्मणां यतः॥ ८॥

इन भगवान् श्रीविष्णुने ही तृतीय अवतारमें ऋषियोंमें देवर्षि श्रीनारदके रूपमें अवतरित होकर सात्त्वत तन्त्र—पञ्चरात्रकी व्याख्या की थी। उस पञ्चरात्रके अनुसार वर्णाश्रमधर्म आदिका अनुष्ठान करनेसे कर्मबन्धनका नाश होता है॥ ८॥

तुर्ये धर्मकलासर्गे नरनारायणावृषी।
भूत्वात्मोपशमोपेतमकरोद् दुश्चरं तपः॥ ९॥

चतुर्थ अवतारके रूपमें इन्हीं भगवान्ने धर्मकी कला अर्थात् पत्नी—मूर्त्तिके गर्भसे नर-नारायण नामक दो ऋषियोंके रूपमें अवतार ग्रहण किया था। इस अवतारमें उन्होंने आत्माको प्रसन्न करनेवाली अत्यन्त कठोर तपस्याका आचरण किया था॥ ९॥

पञ्चमः कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्लुतम्।
प्रोवाचासुरये सांख्यं तत्त्वग्रामविनिर्णयम्॥ १०॥

पञ्चम अवतारमें वे सिद्धोंमें श्रेष्ठ कपिल नामक ऋषिके रूपमें प्रकट हुए थे। तब उन्होंने कालके प्रभावसे लुप्तप्रायः और तत्त्वोंका निरूपण करनेवाले सांख्य दर्शनका आसुरि नामक ब्राह्मणको उपदेश दिया था॥ १०॥

षष्ठमत्रेरपत्यत्वं वृतः प्राप्तोऽनसूयया।
आन्वीक्षिकीमलर्काय प्रह्लादादिभ्य ऊचिवान्॥ ११॥

छठे अवतारमें वे महर्षि अत्रिकी पत्नी अनसूयाकी प्रार्थनासे दत्तात्रेय नामक उनके पुत्रके रूपमें प्रकट हुए। इस अवतारमें उन्होंने अलर्क नामक ब्राह्मण और प्रह्लादादि राजाओंको आत्म-विद्याका उपदेश दिया था॥ ११॥

ततः सप्तम आकूत्यां रुचेर्यज्ञोऽभ्यजायत।
स यामाद्यैः सुरगणैरपात् स्वायम्भुवान्तरम्॥ १२॥

तत्पश्चात् सप्तम अवतारमें वे भगवान् ही प्रजापति रुचिकी पत्नी आकूतिके गर्भसे यज्ञरूपमें प्रकट हुए थे। इन्हीं यज्ञरूपी श्रीहरिने अपने पुत्र याम आदि प्रमुख देवताओंके साथ स्वायम्भुव नामक मन्वन्तरकी रक्षा की थी॥ १२॥

अष्टमे मेरुदेव्यान्तु नाभेर्जात उरुक्रमः।
दर्शयन् वर्त्म धीराणां सर्वाश्रमनमस्कृतम्॥ १३॥

भगवान् श्रीविष्णुने आग्नीध्रके पुत्र राजा नाभिकी पत्नी मेरुदेवीके गर्भसे ऋषभ नामसे आठवाँ अवतार ग्रहण किया था। इस अवतारमें उन्होंने धीरजनोंको सभी आश्रमोंके लिए वन्दनीय परमहंसोंका मार्ग दिखलाया था॥ १३॥

ऋषिभिर्याचितो भेजे नवमं पार्थिवं वपुः।
दुग्धेमामोषधीर्विप्रास्तेनायं स उशत्तमः॥ १४॥

हे शौनकादि विप्रो! मुनियोंके द्वारा प्रार्थना किये जानेपर उन्हीं भगवान्ने अपने नवम अवतारमें राजा पृथुका रूप धारण किया था। इस अवतारमें उन्होंने पृथ्वीसे औषधियोंके साथ समस्त वस्तुओंका दोहन किया था, इसीलिए यह अवतार परम मनोहर हो गया था॥ १४॥

रूपं स जगृहे मात्स्यं चाक्षुषोदधिसम्प्लवे।
नाव्यारोप्य महीमय्यामपाद् वैवस्वतं मनुम्॥ १५॥

चाक्षुष-मन्वन्तरमें जब समस्त सागरोंके उफननेके कारण सारी त्रिलोकी उसमें डूब रही थी, तब भगवान्ने मत्स्यावतारके रूपमें दसवाँ अवतार ग्रहण किया था और पृथ्वीरूपी नौकाके द्वारा अगले मन्वन्तरके अधिपति सूर्यपुत्र वैवस्वत मनुकी रक्षा की थी॥ १५॥

सुरासुराणामुदधिं मथ्नतां मन्दराचलम्।
दध्रे कमठरूपेण पृष्ठ एकादशे विभुः॥ १६॥

जिस समय देवता और दानव समुद्र-मन्थन कर रहे थे, उस समय उनके मन्थनके लिए भगवान् श्रीहरिने ग्यारहवें अवतारके रूपमें

कच्छप रूप स्वीकार किया और मन्दर नामक पर्वतको अपनी पीठपर धारण किया॥ १६॥

धान्वन्तरं द्वादशमं त्रयोदशममेव च।
अपाययत् सुरानन्यान् मोहिन्या मोहयन् स्त्रिया॥ १७॥

वे भगवान् श्रीहरि ही बारहवें अवतारमें धन्वन्तरि-रूपको धारणकर अमृतके कलशको हाथमें उठाये हुए समुद्रसे प्रकट हुए थे। तेरहवें अवतारमें भगवान्ने मोहिनी रूपसे असुरोंको मोहितकर उनकी वञ्चना करके देवताओंको अमृत पान कराया था॥ १७॥

चतुर्दशं नारसिंहं बिभ्रद् दैत्येन्द्रमूर्जितम्।
ददार करजैरूरावेरकां कटकृद् यथा॥ १८॥

चौदहवें अवतारमें भगवान्ने श्रीनृसिंह रूप धारण करके भीषण मदमें मत्त और महाबलवान असुरराज हिरण्यकशिपुको अपनी जंघापर रखकर उसके वक्षःस्थलको अपने नखोंसे अनायास ही इस प्रकार चीर डाला था, जिस प्रकार चटाई बनानेवाला सींकको चीर डालता है॥ १८॥

पञ्चदशं वामनकं कृत्वागादध्वरं बलेः।
पादत्रयं याचमानः प्रत्यादित्सुस्त्रिविष्टपम्॥ १९॥

भगवान् श्रीहरि दैत्यराज बलिकी छलनाकर देवताओंको स्वर्गका राज्य प्रदान करना चाहते थे। तब वे पन्द्रहवें अवतारमें वामनरूप धारणकर बलिकी यज्ञशालामें पहुँचे। वे बलिसे त्रिलोकीका राज्य चाहते थे, किन्तु उन्होंने छलपूर्वक केवल तीनपग भूमि ही माँगी॥ १९॥

अवतारे षोडशमे पश्यन् ब्रह्मद्रुहो नृपान्।
त्रिःसप्तकृत्वः कुपितो निःक्षत्रामकरोन्महीम्॥ २०॥

भगवान् विष्णुने सोलहवें अवतारमें परशुरामके रूपमें अवतीर्ण होकर क्रोधके कारण पृथ्वीको इक्कीस बार क्षत्रियोंसे रहित कर दिया था, क्योंकि ये क्षत्रिय राजा देवता और ब्राह्मणोंसे बहुत द्रोह करने लगे थे॥ २०॥

ततः सप्तदशे जातः सत्यवत्यां पराशरात्।
चक्रे वेदतरोः शाखा दृष्ट्वा पुंसोऽल्पमेधसः॥ २१॥

इसके बाद सत्रहवें अवतारमें भगवान् श्रीहरि पराशर द्वारा सत्यवतीके गर्भसे कृष्णद्वैपायन श्रीवेदव्यासके रूपमें अवतरित हुए। उस समय मनुष्यकी अल्प धारणा-शक्ति और बुद्धिको देखकर मानव-कल्याणके लिए उन्होंने वेद-वृक्षका विभिन्न शाखाओंमें विस्तार किया॥ २१॥

नरदेवत्वमापन्नः सुरकार्यचिकीर्षया।
समुद्रनिग्रहादीनि चक्रे वीर्याण्यतः परम्॥ २२॥

अट्ठारहवें अवतारमें भगवान् श्रीहरि देवताओंका कार्य सम्पूर्ण करनेकी इच्छासे महाराज दशरथके पुत्र नरश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रके रूपमें अवतरित हुए और उन्होंने सेतु-बन्धन, रावण-संहार तथा माया-सीताका उद्धार आदि बहुत-से वीरतापूर्ण कार्यों (लीलाओं) को किया॥ २२॥

एकोनविंशे विंशतिमे वृष्णिषु प्राप्य जन्मनी।
रामकृष्णाविति भुवो भगवानहरद्भरम्॥ २३॥

उन्नीसवें तथा बीसवें अवतारोंमें भगवान् श्रीहरिने यदुकुलमें श्रीबलराम और श्रीकृष्ण—ये दो नाम ग्रहण करके पृथ्वीका भार उतारा था॥ २३॥

ततः कलौ संप्रवृत्ते सम्मोहाय सुरद्विषाम्।
बुद्धो नाम्नाञ्जनसुतः कीकटेषु भविष्यति॥ २४॥

इसके बाद कलियुगके आनेपर देवताओंके विद्वेषी तामसिक लोगोंको सम्मोहित करनेके लिए इक्कीसवें अवतारमें भगवान् श्रीहरि अञ्जन (अजिन) के पुत्रके रूपमें गयाप्रदेश (बिहार) में बुद्ध नामसे अवतीर्ण होंगे॥ २४॥

अथासौ युगसन्ध्यायां दस्युप्रायेषु राजसु।
जनिता विष्णुयशसो नाम्ना कल्किर्जगत्पतिः॥ २५॥

इसके बाद युग-सन्धिका काल उपस्थित होगा अर्थात् कलिका अन्त होगा, उस समय राजा लोग प्रायः दस्यु हो जायेंगे। तब जगत्के

रक्षक भगवान् श्रीविष्णु बाइसवें अवतारमें कल्कि नामसे प्रख्यात होकर विष्णुयश नामक ब्राह्मणके घरमें अवतीर्ण होंगे॥ २५॥

अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्त्वनिधेर्द्विजाः।
यथाविदासिनः कुल्याः सरसः स्युः सहस्रशः॥ २६॥

हे शौनकादि ऋषियो! जिस प्रकार अक्षय-सरोवरसे हजारों छोटी-छोटी नदियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार सत्त्व (शुद्धसत्त्व चित् और आनन्दके) सागर श्रीहरिसे असंख्य अवतार प्रकट होते हैं॥ [१]२६॥

ऋषयो मनवो देवा मनुपुत्रा महौजसः।
कलाः सर्वे हरेरेव सप्रजापतयः स्मृताः॥ २७॥

प्रजापतिगण, महान शक्तिशाली मुनि, देवता, मनु तथा मनुपुत्र मानव—सभी श्रीहरिके अंश हैं, उनकी विभूति हैं॥ २७॥

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।
इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृडयन्ति युगे युगे॥ २८॥

पहले कहे गये समस्त अवतारोंमेंसे कोई-कोई पुरुषोत्तम भगवान् श्रीहरिके अंशावतार, कोई कलावतार और कोई शक्त्यावेश अवतार हैं। प्रत्येक युगमें जब भी जगत् असुरोंसे पीड़ित होता है, तब असुरोंके उपद्रवसे जगत्की रक्षा करनेके लिए ये अवतार हुआ करते हैं। किन्तु, व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण तो साक्षात् स्वयं-भगवान् (अवतारी) हैं॥ २८॥

---

[१] कलियुगमें भगवान् अवतार-मूर्त्ति प्रकाशित न करके स्वयं अवतारी रूपमें अपने रूपको छिपाकर रखते हैं, इसीलिए उनका एक नाम 'त्रियुगी' है। तीन युगोंमें ही युगावतार प्रकाशित होते हैं, किन्तु कलियुगमें वे आच्छादित रहते हैं। यह आच्छादन श्रीगौराङ्गदेवमें ह्लादिनीशक्ति श्रीराधाकी कान्ति एवं भावके द्वारा हुआ है। भगवान्के ऐश्वर्य प्रकाशक अवतार हैं—नृसिंह, परशुराम, कल्कि और पुरुष। धर्मके प्रकाशक अवतार हैं—नारद, व्यास, वराह और बुद्ध। श्री अर्थात् सौन्दर्य प्रधान अवतार हैं—राम, धन्वन्तरि, यज्ञ, पृथु, बलराम, मोहिनी और वामन। ज्ञान प्रदर्शक अवतार हैं—दत्तात्रेय, मत्स्य, चतुःसन और कपिल। वैराग्य प्रदर्शक अवतार हैं—नारायण, नर, कूर्म और ऋषभ। स्वयं श्रीकृष्ण षडैश्वर्यसे परिपूर्ण और माधुर्यकी महानिधि हैं एवं उनमें ही समस्त अवतार और शक्तियाँ निहित हैं।

जन्मगुह्यं भगवतो य एतत् प्रयतो नरः।
सायं प्रातर्गृणन् भक्त्या दुःखग्रामाद्विमुच्यते॥ २९॥

भगवान् श्रीहरिके अवतारोंकी यह कथा अति रहस्यमय है। जो मनुष्य पवित्र होकर एकाग्रचित्तसे प्रातः एवं सन्ध्या कालमें भक्तिपूर्वक इसका पाठ करता है, वह इस क्लेशजनक संसारसे विमुक्त हो जाता है॥ २९॥

एतद्रूपं भगवतो ह्यरूपस्य चिदात्मनः।
मायागुणैर्विरचितं महदादिभिरात्मनि॥ ३०॥

प्राकृत रूपसे रहित अर्थात् अप्राकृतरूप, एकमात्र चिन्मय रसविग्रह परमात्माका यह प्राकृत-स्थूल जगदाकार रूप अनित्य है। इस स्थूलरूप महत्, अहङ्कार, पञ्च-तन्मात्रादि रूप बहिरङ्गाशक्तिसे उत्पन्न गुणों द्वारा जीवकी देह निर्मित हुई है। मायाधीश भगवान् गुणोंसे उत्पन्न जगत्में आबद्ध नहीं होते॥ ३०॥

यथा नभसि मेघौघो रेणुर्वा पार्थिवोऽनिले।
एवं द्रष्टरि दृश्यत्वमारोपितमबुद्धिभिः॥ ३१॥

जिस प्रकार अल्पबुद्धिवाले मूढ़ व्यक्ति आकाशको मेघसे ढका हुआ तथा वायुको धूलसे मलिन आरोप करते हैं, जब कि वास्तवमें मेघ वायु द्वारा चालित होते हैं और धूसरपना (मलिनता) धूलमें होता है, उसी प्रकार मूढ़ विवर्त्तवादी[१], सबके द्रष्टा सच्चिदानन्दरूप भगवान्में दृश्य अर्थात् जड़-इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किये जानेवाले धर्मसे युक्त अचित् शरीरका आरोप करते हैं॥ ३१॥

अतः परं यदव्यक्तमव्यूढगुणबृंहितम्।
अदृष्टाश्रुतवस्तुत्वात् स जीवो यत् पुनर्भवः॥ ३२॥

इस प्राकृत-जड़ विराट रूपसे पृथक् जो अव्यक्त सूक्ष्मरूप है, वह अव्यूढ़ अर्थात् हस्त-पदादि रूपमें अपरिणत मायिक गुणों द्वारा रचित आकार विशेषसे रहित है तथा उसे पहले न तो कभी देखा गया

[१] विवर्त्त—मूल वस्तुमें ही अन्य वस्तुके होनेके भ्रमको विवर्त कहते हैं, जैसे रज्जुमें सर्पका भ्रम।

है और न ही उसके विषयमें कभी सुना गया है। इस प्रकार वह सूक्ष्मरूप पुनर्जन्म ग्रहण करनेयोग्य जीवकी उपाधि—सूक्ष्म लिङ्गदेह रूपमें कल्पित होता है॥ ३२॥

यत्रेमे सदसद्रूपे प्रतिषिद्धे स्वसंविदा।
अविद्ययात्मनि कृते इति तद्ब्रह्म-दर्शनम्॥ ३३॥

उपर्युक्त सूक्ष्म और स्थूल शरीर अविद्याके कारण ही आत्मा (जीव) में आरोपित होते हैं। जिस अवस्थामें आत्म-स्वरूपके सम्पूर्ण ज्ञानके प्रभावसे जीवका यह अविद्या द्वारा रचित आरोप दूर हो जाता है, उसी समय आत्मा (जीव) का चिदानन्दमय ब्रह्मसे साक्षात्कार होता है॥ ३३॥

यद्येषोपरता देवी माया वैशारदी मतिः।
सम्पन्न एवेति विदुर्महिम्नि स्वे महीयते॥ ३४॥

तत्त्ववेत्ता जन इस बातसे अवगत हैं कि जब श्रीभगवान्‌की कृपासे उनकी दैवी-अविद्यारूपी माया दूर हो जाती है, तब जीव स्थूल-सूक्ष्म उपाधिसे रहित होकर श्रीभगवान्‌में मतियुक्त अपने परमानन्द स्वरूपमें विराजित हो जाता है। अपनी ऐसी महिमामें स्थित जीव ही पूज्य होते हैं, अन्यथा अपनी महिमासे भ्रष्ट होनेपर वे निन्दनीय हो जाते हैं॥ ३४॥

एवं जन्मानि कर्माणि ह्यकर्त्तुरजनस्य च।
वर्णयन्ति स्म कवयो वेदगुह्यानि हृत्पतेः॥ ३५॥

श्रीभगवान्‌की आविर्भाव आदि लीलाएँ जीवके जन्मादिकी भाँति माया-कल्पित नहीं, अपितु मायासे अतीत हैं। यद्यपि वेदोंमें उन अन्तर्यामी श्रीविष्णुके दिव्य जन्म और कर्मको अति रहस्यपूर्ण और परम उपादेय रूपमें भलीभाँति आवृत करके स्थापित किया गया है, तथापि रसिकजन निश्चय ही उन अलौकिक लीलाओंका कीर्त्तन करते हैं॥ ३५॥

स वा इदं विश्वममोघलीलः
सृजत्यवत्यत्ति न सज्जतेऽस्मिन्।

भूतेषु चान्तर्हित आत्मतन्त्रः
षाड्वर्गिकं जिघ्रति षड्गुणेशः॥ ३६॥

भगवान् श्रीविष्णुकी लीला अलौकिक और अमोघ है। वे लीलावशतः ही इस विश्वकी सृष्टि, पालन एवं ध्वंस करते हैं। वे समस्त प्राणियोंमें अन्तर्यामी रूपसे विराजमान रहते हैं तथा छह इन्द्रियों (ज्ञान-इन्द्रियों और मन) के विषयोंको गन्ध-ग्रहण करनेकी भाँति स्पर्श भी करते हैं। किन्तु छह इन्द्रियोंके नियन्ता भगवान् हृषीकेश परम स्वतन्त्र होनेके कारण इन सभी कार्योंमें आसक्त नहीं होते॥ ३६॥

न चास्य कश्चिन्निपुणेन धातु-
रवैति जन्तुः कुमनीष ऊतीः।
नामानि रूपाणि मनोवचोभिः
सन्तन्वतो नटचर्यामिवाज्ञः॥ ३७॥

जैसे अभिनय-कलाको न जाननेवाला व्यक्ति अभिनेता अथवा जादूगरके हाथादि-सञ्चालन द्वारा किये गये सङ्केत और वचनोंसे किये गये नाट्य-कौशलको समझ नहीं पाता, उसी प्रकार मूर्खजन प्रपञ्चमें अवतीर्ण भगवान्के नाम-रूपसे युक्त लीलाओंको अपने मन एवं वाक्योंके संयोगसे बुद्धि और कुतर्कके द्वारा नहीं समझ सकते॥ ३७॥

स वेद धातुः पदवीं परस्य
दुरन्तवीर्यस्य रथाङ्गपाणेः।
योऽमायया सन्ततयानुवृत्त्या
भजेत तत्पादसरोजगन्धम्॥ ३८॥

अलौकिक-लीलामय परमेश्वर चक्रपाणिकी लीला, शक्ति और पराक्रम अनन्त हैं। जो भक्त निष्कपट होकर अनुकूल भावसे नित्य-निरन्तर वैकुण्ठ-सेवाकी[१] वृत्तिसे भगवान्के चरणकमलोंका सेवन करते हैं, वे ही सबके विधाता भगवान्के यथार्थ तत्त्वको जान पाते हैं॥ ३८॥

---

[१] विषयके प्रति आश्रयकी चेष्टा या शुद्ध सेवा प्रवृत्ति।

अथेह धन्या भगवन्त इत्थं
यद्वासुदेवेऽखिललोकनाथे ।
कुर्वन्ति सर्वात्मकमात्मभावं
न यत्र भूयः परिवर्त्त उग्रः॥ ३९॥

हे भगवान्‌के तत्त्वको जाननेवाले शौनकादि महात्माओ! आप इस जगत्‌में अत्यन्त सौभाग्यशाली और धन्य हैं, क्योंकि आपने समग्र भुवनके पति भगवान् श्रीवासुदेवके विषयमें कौतूहलपूर्वक इस प्रकारके प्रश्न करके अपनी ऐकान्तिक मनोवृत्तिका परिचय दिया है। जिनका भगवान्‌में इस प्रकारका आत्मभाव और निश्चल प्रेम होता है, उन्हें पुनः-पुनः जन्म-मरणरूप संसारके भयङ्कर चक्रसे छुटकारा मिल जाता है॥ ३९॥

इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मितम्।
उत्तमःश्लोक-चरितं चकार भगवानृषिः।
निःश्रेयसाय लोकस्य धन्यं स्वस्त्ययनं महत्॥ ४०॥

श्रीमद्भागवत पुराण भगवान् श्रीकृष्णके तुल्य अर्थात् उनका प्रतिनिधि है। भगवान् वेदव्यासने शान्तिप्रद, कल्याण-साधक, भगवत्-लीला-कथाओंसे परिपूर्ण तथा वेदोंके समान इस श्रीमद्भागवत नामक महापुराणकी जगत्‌के परम-मङ्गलके लिए रचना की है॥ ४०॥

तदिदं ग्राहयामास सुतमात्मवतांवरम्।
सर्ववेदेतिहासानां सारं सारं समुद्धृतम्॥ ४१॥

यह श्रीमद्भागवत नामक शास्त्र दधि-मन्थनसे उत्पन्न नवनीतके समान ही समस्त वेदादि शास्त्रोंके मन्थनकी सार-वस्तु है। श्रीव्यासदेवने अत्यन्त स्नेहसे धीर व्यक्तियोंमें श्रेष्ठ अपने पुत्र श्रीशुकदेवको इसका अध्ययन कराया था और वेदादिरूप दधि-मन्थनके अपने श्रमको सार्थक किया था॥ ४१॥

स तु संश्रावयामास महाराजं परीक्षितम्।
प्रायोपविष्टं गङ्गायां परीतं परमर्षिभिः॥ ४२॥

पुनः इसी श्रीमद्भागवत पुराणका उन आत्मज्ञानी-शिरोमणि श्रीशुकदेव गोस्वामीने गङ्गाके तटपर परम वैराग्यके कारण आमरण अनशनपर बैठे तथा महर्षियोंसे घिरे हुए महाराज परीक्षित्को श्रवण कराया था॥ ४२॥

कृष्णे स्वधामोपगते धर्मज्ञानादिभिः सह।
कलौ नष्टदृशामेषः पुराणार्कोऽधुनोदितः॥ ४३॥

धर्मके संस्थापक भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा अपनी लीलाको सम्वरण करके धर्म-ज्ञानादि षडैश्वर्योंके साथ अपने धाममें गमन करनेपर इस कलिकालमें अज्ञानके अन्धकारसे अन्धे हो रहे लोगोंको दिव्य-ज्ञानका आलोक प्रदान करनेके लिए इस श्रीमद्भागवतरूप पुराण सूर्यका उदय हुआ है। श्रीकृष्णरूप सूर्यके अस्त होनेपर श्रीमद्भागवतरूप पुराणसूर्य उदित हुए हैं॥ ४३॥

तत्र कीर्तयतो विप्रा विप्रर्षेर्भूरितेजसः।
अहञ्चाध्यगमं तत्र निविष्टस्तदनुग्रहात्।
सोऽहं वः श्रावयिष्यामि यथाधीतं यथामति॥ ४४॥

हे शौनकादि ब्राह्मणो! उस समय परीक्षित्की सभामें उपस्थित रहकर मैंने भी महा-तेजस्वी मुनिश्रेष्ठ श्रीशुकदेवके मुखसे कीर्त्तित इस कथाको उनकी कृपाके प्रभावसे सुना था। अपने गुरुदेव श्रीशुकदेव गोस्वामीके निकट मैंने जिस रूपमें इस श्रीमद्भागवत कथाको सुना और जिस रूपमें इसका अनुभव किया, उसीके अनुसार ही मैं इसे आपको सुनाऊँगा॥ ४४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां प्रथमस्कन्धे नैमिषीयोपाख्याने जन्मगुह्यं नाम तृतीयोऽध्यायः॥

चतुर्थोऽध्यायः

वक्ता एवं श्रोताकी श्रेष्ठता, श्रीव्यासदेवका असन्तोष

श्रीव्यास उवाच—

इति ब्रुवाणं संस्तूय मुनीनां दीर्घसत्रिणाम्।
वृद्धः कुलपतिः सूतं बह्वृचः शौनकोऽब्रवीत्॥ १॥

श्रीव्यासदेवने कहा—श्रीसूतके इस प्रकार कहनेपर मुनियोंने उनका बहुत आदर किया। दीर्घकालीन सत्रमें होनेवाले यज्ञ कार्योंमें दीक्षित, वयोवृद्ध, कुलपति, वेदाभ्यास ज्ञानमें प्रवीण और ऋग्वेदी शौनक मुनि ही समस्त मुनियोंके द्वारा प्रश्न-कर्त्ताके रूपमें नियुक्त हुए थे। तब श्रीशौनकमुनिने श्रीसूत गोस्वामीकी प्रशंसा करते हुए कहा—॥ १॥

श्रीशौनक उवाच—

सूत सूत महाभाग वद नो वदतां वर।
कथां भागवतीं पुण्यां यदाह भगवाञ्छुकः॥ २॥

श्रीशौनक ऋषिने कहा—हे श्रीसूत! हे परम भाग्यवान्! आप वक्ताओंमें श्रेष्ठ हैं। अतएव भगवान् श्रीशुकदेव गोस्वामीने जो भगवत्-सम्बन्धित पवित्र और पुण्यमयी कथाएँ कही हैं, कृपया आप उन सब कथाओंको हमें सुनाइये॥ २॥

कस्मिन् युगे प्रवृत्तेयं स्थाने वा केन हेतुना।
कुतः सञ्चोदितः कृष्णः कृतवान् संहितां मुनिः॥ ३॥

हे सूतजी! यह कथाएँ किस युगमें तथा किस स्थानपर हुई? महाभारतादि धर्मशास्त्रोंकी रचना करनेपर भी कृष्णद्वैपायन मुनिवरने किस कारणसे इस पारमहंसी संहिताका आरम्भ किया? तथा इस भागवती संहिताकी रचना करनेकी प्रेरणा उन्हें किससे प्राप्त हुई?॥ ३॥

तस्य पुत्रो महायोगी समदृङ्निर्विकल्पकः।
एकान्तमतिरुन्निद्रो गूढो मूढ इवेयते॥ ४॥

श्रीव्यासदेवके पुत्र श्रीशुकदेव महायोगी (भक्तियोगी) तथा ब्रह्मदर्शी होनेके कारण समदर्शी थे। वे मायारूपी निद्रा (अविद्या) से जगे हुए और परब्रह्म श्रीकृष्णमें एकान्तिक रूपसे अनुरक्त परमहंस थे। जो उनके परिचयसे अनजान थे, वे ही उन्हें पागल अथवा जड़के समान समझते थे॥४॥

दृष्ट्वानुयान्तमृषिमात्मजमप्यनग्नं
देव्यो ह्रिया परिदधुर्न सुतस्य चित्रम्।
तद्वीक्ष्य पृच्छति मुनौ जगदुस्तवास्ति
स्त्रीपुंभिदा न तु सुतस्य विविक्तदृष्टेः॥५॥

जब श्रीशुकदेव गोस्वामीने नग्नावस्थामें ही संन्यासके लिए वनकी ओर गमन किया, तब उन्हें देखकर जल-क्रीड़ामें रत अप्सराओंने अपने अङ्गोंको वस्त्रोंसे नहीं ढका, परन्तु श्रीशुकदेवजीका पीछा करते हुए वस्त्रोंसे आवृत उनके पिता श्रीव्यासदेवको देखकर उन स्त्रियोंने लज्जासे अपने वस्त्र पहन लिये। इस आश्चर्यजनक घटनाको देखकर जब श्रीव्यासदेवने उन स्त्रियोंसे इसका कारण पूछा, तब उन अप्सराओंने उत्तर दिया—"यह स्त्री है, यह पुरुष है—इस प्रकारका भेद-ज्ञान आपमें विद्यमान है, किन्तु आपके पुत्रमें ऐसा कोई भेद-ज्ञान नहीं है। आपका पुत्र विविक्त अर्थात् पवित्र दृष्टिसे युक्त है। हम स्त्रियाँ किसीकी आँखोंसे ही उसके हृदयके समस्त भावोंको जाननेमें समर्थ हैं॥"५॥

कथमालक्षितः पौरैः सम्प्राप्तः कुरुजाङ्गलान्।
उन्मत्त-मूकजडवद्विचरन् गजसाह्वये॥६॥

इसी अवस्थामें श्रीशुकदेव गोस्वामीने पहले कुरु और जाङ्गल प्रदेशमें भ्रमण किया था। इसके बाद वे हस्तिनापुरमें कभी पागलकी भाँति, तो कभी गूँगे और कभी मूढ़की भाँति विचरण किया करते थे। (हे सूतजी!) उस समय हस्तिनापुरके वासियोंने उन्हें किस प्रकार पहचाना?॥६॥

कथं वा पाण्डवेयस्य राजर्षेर्मुनिना सह।
संवादः समभूत्तात यत्रैषा सात्वती श्रुतिः॥७॥

हे तात! ऐसे भेद-ज्ञानसे रहित महामुनि श्रीशुकदेवके साथ पाण्डव-वंशके राजर्षि परीक्षित्का कैसा वार्त्तालाप हुआ, जिसके फलस्वरूप यह भागवती संहिता प्रकट हुई॥७॥

स गोदोहनमात्रं हि गृहेषु गृहमेधिनाम्।
अवेक्षते महाभागस्तीर्थीकुर्वंस्तदाश्रमम्॥८॥

परम भाग्यवान श्रीशुकदेव गोस्वामी गृहस्थोंके घरके द्वारपर भिक्षाके छलसे उतनी ही देर रुकते थे, जितनी देरमें एक गाय दुही जाती है। उनके द्वारा भिक्षा करनेका एकमात्र उद्देश्य था—गृहस्थोंके घरोंको पवित्र-तीर्थ स्वरूप बनाना॥८॥

अभिमन्यु-सुतं सूत प्राहुर्भागवतोत्तमम्।
तस्य जन्म महाश्चर्यं कर्माणि च गृणीहि नः॥९॥

हे सूत गोस्वामी! हमने सुना है कि लोग अभिमन्यु-पुत्र परीक्षित्को महाभागवत और भगवान्का बड़ा प्रेमी मानते थे। कृपया उन राजा परीक्षित्के अत्यन्त आश्चर्यमय जन्म और कर्मोंका भी वर्णन कीजिये॥९॥

स सम्राट् कस्य वा हेतोः पाण्डूनां मानवर्द्धनः।
प्रायोपविष्टो गङ्गायामनादृत्याधिराट्श्रियम्॥१०॥

राजाधिराज परीक्षित् पाण्डव-वंशके गौरव थे, अतः वे किस कारणसे युधिष्ठिरादिकी राज्यलक्ष्मीका परित्याग करके गङ्गाके तटपर मृत्यु तक अनशन-व्रतका सङ्कल्प करके बैठ गये?॥१०॥

नमन्ति यत्पादनिकेतमात्मनः
शिवाय हानीय धनानि शत्रवः।
कथं स वीरः श्रियमङ्ग दुस्त्यजां
युवैषतोत्स्रष्टुमहो सहासुभिः॥११॥

हे सूत गोस्वामी! विपक्षी राजा अपने मङ्गलके लिए धन-रत्नादि उपहार सहित जिनकी चरण रखनेवाली चौकीमें प्रणाम किया करते थे, ऐसे महावीर राजा परीक्षित्ने यौवनकालमें ही अपने प्राणोंके

साथ-साथ उस दुस्त्यज राज्यलक्ष्मीका किस कारणसे परित्याग करनेकी इच्छा की?॥ ११॥

शिवाय लोकस्य भवाय भूतये
य उत्तमःश्लोकपरायणाः जनाः।
जीवन्ति नात्मार्थमसौ पराश्रयं
मुमोच निर्विद्य कुतः कलेवरम्॥ १२॥

जो व्यक्ति भगवान्‌में अनुरक्त होते हैं, वे संसारके परम कल्याण और सुख-समृद्धिके लिए ही जीवन धारण करते हैं। उनकी देह दूसरोंके उपकारके लिए होती है, अपने स्वार्थके लिए नहीं। अतः ऐसी राजदेह धारण करनेवाले महाराज परीक्षित्‌ने विरक्त होकर प्रजाके आश्रय-स्वरूप अपनी देहका किस कारणसे परित्याग किया था?॥ १२॥

तत् सर्वं नः समाचक्ष्व पृष्टो यदिह किञ्चन।
मन्ये त्वां विषये वाचां स्नातमन्यत्र छान्दसात्॥ १३॥

हम यह जानते हैं कि आप वेद-शास्त्रोंके कुछेक कर्मकाण्ड प्रतिपादक विषयोंके अतिरिक्त अन्यान्य समस्त श्रेष्ठ शास्त्रोंमें पारङ्गत हैं। अतएव हमने इस समय आपसे जो कुछ भी पूछा है, कृपया वह सब हमें बतलाइये॥ १३॥

श्रीसूत उवाच—

द्वापरे समनुप्राप्ते तृतीये युगपर्यये।
जातः पराशराद् योगी वासव्यां कलया हरेः॥ १४॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—वैवस्वत मन्वन्तरकी इस वर्त्तमान चतुर्युगीके तृतीय युगके परिवर्तनके समय द्वापरके समुपस्थित होनेपर महर्षि पराशरके द्वारा उपरिचर-वसुकी कन्या सत्यवतीके गर्भसे भगवान् श्रीविष्णुके अंशके अंश (कलावतार) महाज्ञानी कृष्णद्वैपायन श्रीवेदव्यासने जन्म-ग्रहण किया था॥ १४॥

स कदाचित् सरस्वत्या उपस्पृश्य जलं शुचिः।
विविक्त एक आसीन उदिते रविमण्डले॥ १५॥

पराशर-पुत्र श्रीव्यासदेव एक दिन सूर्योदय होनेपर सरस्वती नदीके जलमें स्नानादि क्रिया समापन करके पवित्र होकर बदरिकाश्रममें किसी एक एकान्त स्थानमें अकेले बैठे हुए थे॥ १५॥

परावरज्ञः स ऋषिः कालेनाव्यक्तरंहसा।
युगधर्मव्यतिकरं प्राप्तं भुवि युगे युगे॥ १६॥
भौतिकानाञ्च भावानां शक्तिह्रासञ्च तत्कृतम्।
अश्रद्दधानान् निःसत्त्वान् दुर्मेधान् ह्रसितायुषः॥ १७॥
दुर्भगांश्च जनान् वीक्ष्य मुनिर्दिव्येन चक्षुषा।
सर्ववर्णाश्रमाणां यद् दध्यौ हितममोघदृक्॥ १८॥

महर्षि श्रीव्यासदेव भूत-भविष्यको जाननेवाले तथा समस्त प्रकारके ज्ञानसे सम्पन्न थे। उन्होंने अपनी दिव्य-दृष्टिसे देखा कि प्रत्येक युगमें कालके प्रभावसे पृथ्वीपर युगधर्ममें अव्यवस्था उपस्थित हो जाती है, जिसके फलस्वरूप पञ्च-भौतिक वस्तुओंकी शक्ति अर्थात् देहादिके सामर्थ्यका भी ह्रास होता रहता है। ऐसे समयमें मनुष्य श्रद्धाहीन, धैर्यहीन, मन्दमति, अल्पायु और भाग्यरहित हो जाते हैं। वे विचार करने लगे कि ऐसी परिस्थितिमें सभी वर्णों एवं सभी आश्रमोंका कल्याण कैसे हो?॥ १६-१८॥

चातुर्होत्रं कर्मशुद्धं प्रजानां वीक्ष्य वैदिकम्।
व्यदधाद् यज्ञसन्तत्यै वेदमेकं चतुर्विधम्॥ १९॥

ऋक् आदि चारों वेदोंके होता, उद्गाता, अध्वर्यु और ब्रह्मा नामक चार ऋत्विक (पुरोहित) हैं। इन पुरोहितोंके द्वारा अनुष्ठित होनेवाले वैदिक यज्ञादि चातुर्होत्र कर्म लोगोंको शुद्ध करनेवाले हैं—यह जानकर श्रीवेदव्यासने निरन्तर यज्ञानुष्ठान द्वारा यज्ञोंका विस्तार करनेके लिए एक ही यजुःवेदको चार भागोंमें विभक्त कर दिया॥ १९॥

ऋग्यजुःसामाथर्वाख्या वेदाश्चत्वार उद्धृताः।
इतिहास-पुराणञ्च पञ्चमो वेद उच्यते॥ २०॥

तब श्रीवेदव्यासने ऋक्, यजुः, साम और अथर्व नामक चार वेदोंको पृथक् किया। इतिहास और पुराण पञ्चम वेदके नामसे प्रसिद्ध हुए॥ २०॥

तत्रर्ग्वेदधरः पैलः सामगो जैमिनिः कविः।
वैशम्पायन एवैको निष्णातो यजुषामुतः॥ २१॥

अथर्वाङ्गिरसामासीत् सुमन्तुर्दारुणो मुनिः।
इतिहास-पुराणानां पिता मे रोमहर्षणः॥ २२॥

इन चारों वेदोंमें एकमात्र पैलऋषि ही ऋग्वेदके वेत्ता, स्तवगान करनेवाले जैमिनी कवि सामवेदके विद्वान, वैशम्पायन ऋषि यजुर्वेदमें प्रवीण, अथर्व-वेदोक्त अभिचार-क्रियादिमें प्रवृत्तिवशतः निष्ठुर-स्वभाववाले सुमन्तु मुनि अथर्ववेदमें तथा मेरे पिता रोमहर्षण इतिहास एवं पुराणोंके स्नातक थे॥ २१-२२॥

त एत ऋषयो वेदं स्वं स्वं व्यस्यन्ननेकधा।
शिष्यैः प्रशिष्यैस्तच्छिष्यैर्वेदास्ते शाखिनोऽभवन्॥ २३॥

पूर्वोक्त पैलादि ऋषियोंने जिन-जिन वेदोंमें प्रवीणता प्राप्त की थी, उन्होंने अपनी-अपनी उसी शाखाको और भी अनेक भागोंमें विभक्त कर दिया। ये विभक्त वेद पुनः शिष्य-प्रशिष्यकी परम्पराक्रमसे बहुत-सी शाखाओंमें विभाजित हो गये॥ २३॥

त एव वेदा दुर्मेधैर्धार्यन्ते पुरुषैर्यथा।
एवं चकार भगवान् व्यासः कृपणवत्सलः॥ २४॥

ये विभक्त वेद भी केवल मेधावी व्यक्तियोंके ही बोधगम्य थे। अतः अल्पबुद्धि और कम स्मरणशक्तिवाले लोग भी इन्हें समझ सकें—ऐसा विचार करके दीनवत्सल कृपालु भगवान् श्रीवेदव्यासने इन वेदोंका उसी प्रकार विभाग किया॥ २४॥

स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।
कर्मश्रेयसि मूढानां श्रेयः एवं भवेदिह।
इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम्॥ २५॥

स्त्री, शूद्र तथा द्विजबन्धु अर्थात् सावित्री-पतित ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य कुलमें उत्पन्न व्यक्तियोंका वेदत्रयी (ऋक्, यजु और साम) के श्रवणमें अधिकार नहीं है। अतएव इस संसारमें वेदोक्त शुभ-कर्मोंसे अनजान लोगोंका मङ्गल किस प्रकार हो—यह सोचकर महर्षि श्रीवेदव्यासने कृपापूर्वक महाभारत नामक इतिहासकी रचना की॥ २५॥

एवं प्रवृत्तस्य सदा भूतानां श्रेयसि द्विजाः।
सर्वात्मकेनापि यदा नातुष्यद्धृदयं ततः॥ २६॥

नातिप्रसीदद्धृदयः सरस्वत्यास्तटे शुचौ।
वितर्कयन् विविक्तस्थ इदं प्रोवाच धर्मवित्॥ २७॥

हे शौनकादि ऋषियो! इस प्रकार श्रीव्यासदेव अपनी सम्पूर्ण शक्तिके साथ सदैव प्राणियोंके हित-साधनमें ही लगे रहे। बहुत-से उद्देश्यों तथा बहुत-से कर्मानुष्ठानोंके द्वारा भी जब धर्मवेत्ता श्रीव्यासदेवका मन सन्तुष्ट नहीं हुआ, तब वे अत्यधिक खिन्न होकर सरस्वती नदीके तटपर निर्जनमें एकान्त भावसे पवित्र होकर बैठ गये और अपने मनकी अप्रसन्नताके कारणका चिन्तन करते-करते अपने आपसे इस प्रकार कहने लगे—॥ २६-२७॥

धृतव्रतेन हि मया छन्दांसि गुरवोऽग्नयः।
मानिता निर्व्यलीकेन गृहीतञ्चानुशासनम्॥ २८॥

मैंने निष्कपट रूपसे ब्रह्मचर्यादि व्रतोंका पालन करते हुए निश्चित रूपसे वेद, गुरुवर्ग और यज्ञ-अग्निकी पूजा की है तथा उनके अनुशासनका भी अनुसरण किया है॥ २८॥

भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थः प्रदर्शितः।
दृश्यते यत्र धर्मादि स्त्रीशूद्रादिभिरप्युत॥ २९॥

इसके अतिरिक्त महाभारतकी रचनाके छलसे मैंने गुरु-शिष्य परम्पराक्रमसे प्राप्त वेदके अर्थको सरल-सहज रूपमें प्रकाशित किया है, जिससे अन्योंकी तो बात ही क्या, स्त्री, शूद्रादि भी धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इस चतुर्वर्ग-साधक धर्मको पालन करनेके योग्य हो जाते हैं॥ २९॥

तथापि बत मे दैह्यो ह्यात्मा चैवात्मना विभुः।
असम्पन्न इवाभाति ब्रह्मवर्चस्यसत्तमः॥ ३०॥

किन्तु हाय! वेदोंका विभाग और महाभारतकी रचना करके भी देहस्थित मेरी आत्मा—वस्तुतः तपस्या और ज्ञानादिके द्वारा परिपूर्ण तथा अति श्रेष्ठ वेदादि अध्ययनादिके द्वारा ब्रह्म-तेजसे सम्पन्न होकर भी स्वरूपतः अभावग्रस्त और अपूर्ण-कामके समान जान पड़ती है॥ ३०॥

किंवा भागवता धर्मा न प्रायेण निरूपिताः।
प्रियाः परमहंसानां त एव ह्यच्युतप्रियाः॥ ३१॥

अब तक मैंने भगवान्‌को प्राप्त करानेवाले तथा परमहंसों अर्थात् वर्णाश्रमसे अतीत चारों वर्णाश्रमोंके गुरु महाभागवत वैष्णवोंके प्रिय भागवत-धर्मका भलीभाँति निरूपण नहीं किया। निश्चय ही यही मेरे चित्तकी खिन्नताका कारण है, क्योंकि नित्य भागवत-धर्म ही भगवान् श्रीविष्णुका प्रिय है॥ ३१॥

तस्यैवं खिलमात्मानं मन्यमानस्य खिद्यतः।
कृष्णस्य नारदोऽभ्यागादाश्रमं प्रागुदाहृतम्॥ ३२॥

इस प्रकार स्वयंको अपूर्ण मानकर जब श्रीकृष्णद्वैपायन वेदव्यास खिन्न हो रहे थे, तभी पूर्वोक्त सरस्वती नदीके तटपर स्थित उनके आश्रममें देवर्षि श्रीनारद उपस्थित हुए॥ ३२॥

तमभिज्ञाय सहसा प्रत्युत्थायागतं मुनिः।
पूजयामास विधिवन्नारदं सुरपूजितम्॥ ३३॥

देवताओंके द्वारा वन्दित देवर्षि श्रीनारदको वहाँ आया देखकर श्रीव्यासदेवजी तुरन्त ही अपने आसनसे उठ खड़े हुए और उन्होंने अपने गुरु ब्रह्माकी भाँति श्रीनारदजीकी यथाविधि पूजा की॥ ३३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां प्रथमस्कन्धे नारदागमनं नाम चतुर्थोऽध्यायः॥

पञ्चमोऽध्यायः

भगवान्‌के यश-कीर्त्तनकी महिमा और देवर्षि नारदका पूर्वचरित

श्रीसूत उवाच—

अथ तं सुखमासीन उपासीनं बृहच्छ्रवाः।
देवर्षिः प्राह विप्रर्षिं वीणापाणिः स्मयन्निव॥ १॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—तदनन्तर हाथोंमें वीणाको धारण करनेवाले महायशस्वी देवर्षि श्रीनारद सुखपूर्वक बैठ गये और पासमें बैठे हुए विप्रर्षि श्रीवेदव्याससे मृदु-मन्द मुसकानके साथ कहने लगे—॥ १॥

श्रीनारद उवाच—

पाराशर्य महाभाग भवतः कच्चिदात्मना।
परितुष्यति शारीर आत्मा मानस एव वा॥ २॥

देवर्षि नारदने कहा—हे महात्मा पराशरनन्दन! क्या आपकी आत्मा शरीर (कर्म) और मन (चिन्तन) सहित सन्तुष्ट तो है?॥ २॥

जिज्ञासितं सुसम्पन्नमपि ते महदद्भुतम्।
कृतवान् भारतं यस्त्वं सर्वार्थपरिबृंहितम्॥ ३॥

धर्मादिके विषयमें आपकी जो कुछ जाननेकी इच्छा थी, उस सबको तो आपने सम्पूर्ण रूपसे जान ही लिया है और उसका अनुष्ठान भी कर लिया है, क्योंकि आपने परमाश्चर्यमय धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इस चतुर्वर्गसे परिपूर्ण महाभारतकी रचना की है॥ ३॥

जिज्ञासितमधीतञ्च ब्रह्म यत्तत् सनातनम्।
तथापि शोचस्यात्मानमकृतार्थ इव प्रभो॥ ४॥

हे तत्त्ववेत्ता! नित्य-सनातन परब्रह्म-स्वरूप भगवान्‌को भी आपने पर्याप्त विचार करके प्राप्त कर लिया है, फिर भी आप स्वयंको

विफल मनोरथ समझकर अकृतार्थ-पुरुषके समान किसलिए शोक कर रहे हैं?॥ ४॥

श्रीव्यास उवाच—

अस्त्येव मे सर्वमिदं त्वयोक्तं
तथापि नात्मा परितुष्यते मे।
तन्मूलमव्यक्तमगाधबोधं
पृच्छाम हे त्वात्मभवात्मभूतम्॥ ५॥

श्रीव्यासदेवने कहा—आपने मेरे विषयमें जो कुछ भी कहा, वह सब ठीक ही है, तथापि मेरा चित्त (आत्मा) प्रसन्न नहीं है। हे देवर्षि नारद! आप स्वयम्भू ब्रह्माके पुत्र होनेके कारण अगाध ज्ञानसे सम्पन्न हैं, अतएव मैं आपसे अपने चित्तकी अप्रसन्नताका गूढ़ कारण जानना चाहता हूँ॥ ५॥

स वै भवान् वेद समस्तगुह्य-
मुपासितो यत् पुरुषः पुराणः।
परावरेशो मनसैव विश्वं
सृजत्यवत्यत्ति गुणैरसङ्गः॥ ६॥

आप सभी गूढ़ रहस्योंको अवश्य ही जानते हैं, क्योंकि विश्वके कार्य-कारणके नियन्ता तथा स्वयं अनासक्त अर्थात् निर्विकार रहकर भी सङ्कल्पमात्रसे ही तीनों गुणों द्वारा इस विश्वकी सृष्टि, पालन और ध्वंस करनेवाले आदिपुरुष श्रीविष्णुकी आप उपासना करते हैं॥ ६॥

त्वं पर्यटन्नर्क इव त्रिलोकी-
मन्तश्चरो वायुरिवात्मसाक्षी।
परावरे ब्रह्मणि धर्मतो व्रतैः
स्नातस्य मे न्यूनमलं विचक्ष्व॥ ७॥

सूर्यकी भाँति तीनों लोकोंमें परिभ्रमण करनेके कारण आप सर्वदर्शी हैं। अपने योगबलके प्रभावसे प्राण-वायुके समान समस्त प्राणियोंके अन्तःकरणमें विचरण करनेके कारण आप सबकी बुद्धिकी वृत्तियोंके भी ज्ञाता हैं। अतः आप विचार करके कहिये कि

योगानुष्ठानसे परमब्रह्ममें और स्वाध्याय-नियमादि अर्थात् व्रत-ध्यान आदिके द्वारा शब्द-ब्रह्ममें प्रवीण होनेपर भी मुझे इतना अधिक अभाव क्यों अनुभव हो रहा है? ॥ ७ ॥

श्रीनारद उवाच—

भवतानुदितप्रायं यशो भगवतोऽमलम्।
येनैवासौ न तुष्येत मन्ये तद्दर्शनं खिलम्॥ ८॥

देवर्षि नारदने कहा—हे महर्षे! आपने श्रीहरिकी पवित्र लीलाओंकी महिमाका स्पष्ट रूपसे वर्णन नहीं किया है। श्रीभगवान्‌की कथाओंके गानके अतिरिक्त जो धर्मादिके ज्ञानका अनुशीलन है, उससे भगवान् श्रीहरि सन्तुष्ट नहीं होते। इसीलिए ऐसा ज्ञान अपूर्ण और हेय है—मेरा यह विचार है॥ ८॥

यथा धर्मादयश्चार्था मुनिवर्यानुकीर्तिताः।
न तथा वासुदेवस्य महिमा ह्यनुवर्णितः॥ ९॥

हे ऋषिवर! आपने स्वरचित समस्त ग्रन्थोंमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इस चतुर्वर्गको प्रधान पुरुषार्थके रूपमें जिस प्रकारसे वर्णन किया है, इन सबके ऊपर विराजमान पुरुषार्थ शिरोमणि भगवान् श्रीवासुदेवकी महिमा कथाको उस प्रकारसे मुख्य पुरुषार्थके रूपमें वर्णन नहीं किया॥ ९॥

न यद्वचश्चित्रपदं हरेर्यशो
जगत्पवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित्।
तद्वायसं तीर्थमुशन्ति मानसा
न यत्र हंसा निरमन्त्युशिक्क्षयाः॥ १०॥

मानस-सरोवरके कोमल-कमलके वनमें रहनेवाले राजहंस जिस प्रकार कौओंके क्रीड़ा-स्थल अपवित्र अन्नादिसे पूर्ण उच्छिष्ट (जूठन) के गड्ढेमें कभी भी उल्लसित नहीं होते, उसी प्रकार ब्रह्म-धाममें विचरण करनेवाले भगवान्‌के चरणकमलोंके आश्रित परमहंस भक्त भी विचित्र रस, भाव, अलङ्कारादि पदोंसे युक्त उन आडम्बरपूर्ण शब्दों और विचारोंसे उल्लसित नहीं होते, जो भुवन-पावन श्रीवासुदेवकी

महिमा सूचक हरिकथाके रससे हीन होते हैं अर्थात् वे ऐसे शुष्क वचनों अथवा ग्रन्थोंको कौओंके तुल्य कामीजनोंका रतिस्थान जानकर परित्याग कर देते हैं॥ १०॥

तद्वाग्विसर्गो जनताघविप्लवो
यस्मिन् प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि।
नामान्यनन्तस्य यशोऽङ्कितानि यत्
शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधवः॥ ११॥

इसके विपरीत जिन वाणियों अथवा ग्रन्थोंमें भगवान् अनन्तदेवकी महिमासूचक नामोंका वर्णन है, उसका प्रत्येक श्लोक अथवा आख्यान दूषित अपशब्दादिसे युक्त रहनेपर भी, तथा सुर, मान, लय, ताल आदि साहित्यगत अलङ्कार-गुणोंसे रहित होनेपर भी लोगोंके पापोंका विनाश करता है। ऐसी वाणीका वक्ता मिलनेपर ही साधुजन उसका श्रवण करते हैं, श्रोता मिलनेपर कीर्त्तन करते हैं और यदि कोई न हो तो स्वयं ही गान करते हैं॥ ११॥

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं
न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे
न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम्॥ १२॥

समस्त प्रकारकी कर्म-वासनाओंसे रहित होनेपर भी मोक्षकी प्राप्तिका साक्षात् साधन—निर्मल ब्रह्मज्ञान यदि भगवान् श्रीहरिकी भक्तिसे रहित हो, तो वह भी शोभा नहीं देता। अतएव जो साधन और सिद्धि दोनों ही अवस्थाओंमें सदा ही अमङ्गलस्वरूप तथा दुःखप्रद है, वह काम्य कर्म और यहाँ तक कि निष्काम कर्म भी यदि भगवान्‌को अर्पण नहीं किये गये हों, तो वह कर्म भी कैसे सुशोभित हो सकते हैं? इसका कारण है कि वह भगवत्-सेवा और सत्त्व-शुद्धिके भावसे रहित होते हैं॥ १२॥

अथो महाभाग भवानमोघदृक्
शुचिश्रवाः सत्यरतो धृतव्रतः।

उरुक्रमस्याखिल-बन्धमुक्तये
समाधिनानुस्मर तद्विचेष्टितम्॥ १३॥

अतएव हे महाभाग वेदव्यासजी! आपकी दृष्टि अमोघ अर्थात् यथार्थ बुद्धिसे युक्त है। आपका यश पवित्र है। आप हरिकथा श्रवणरत, सत्यनिष्ठ और नियमपरायण हैं। अतः सभी जीवोंको मायाके बन्धनसे मुक्त करानेके लिए आप अचिन्त्यशक्ति भगवान् उरुक्रमकी विविध लीला-चेष्टाओंका समाधि द्वारा (एकाग्र चित्तसे) ध्यान कीजिये और फिर वर्णन कीजिये। विशुद्ध चित्तमें श्रीभगवान्‌की लीलाएँ स्वयं प्रकाशित होती हैं॥ १३॥

ततोऽन्यथा किञ्चन यद्विवक्षतः
पृथग्दृशस्तत्कृतरूपनामभिः ।
न कर्हिचित् क्वापि च दुःस्थिता मति-
र्लभेत वाताहत-नौरिवास्पदम्॥ १४॥

भगवान् श्रीहरिकी लीला-चेष्टा अर्थात् उनकी महिमाके वर्णनके अतिरिक्त यदि कोई किसी अन्य विषयको वर्णन करनेकी इच्छा करता है, तो वह अनर्थका परिचायक मनोधर्म है। उस मनोधर्ममें विभिन्न नाम और रूप स्फुरित होते हैं, जिनसे विक्षिप्त होकर बुद्धि उसी प्रकार स्थिर नहीं रह पाती, जिस प्रकार वायुवेगसे डगमगाती हुई नौका॥ १४॥

जुगुप्सितं धर्मकृतेऽनुशासतः
स्वभावरक्तस्य महान् व्यतिक्रमः।
यद्वाक्यतो धर्म इतीतरः स्थितो
न मन्यते तस्य निवारणं जनः॥ १५॥

स्वभावतः ही निन्दित काम्य-कर्मोंमें आसक्त संसारी लोगोंके धर्मके लिए आपने जो काम्यकर्मोंकी विधि दी है—जैसे 'देवता और पितरोंका भलीभाँति अर्चन करके मांस खानेपर दोषका भागी नहीं होना पड़ता' इत्यादि—आपके द्वारा दिये गये इन विधि-वाक्योंको ही विषयलोलुप मूर्खलोग मुख्य-धर्मके रूपमें मान लेते हैं। अतः आपसे

यह महा–अनर्थ हो गया है। यदि कोई तत्त्वज्ञ व्यक्ति इस प्रकारके पशु–हिंसा आदि विधि–विधानके अनुष्ठानका निषेध भी करें, तो भी संसारमें आसक्त लोग उसके उपदेशको न तो समझेंगे और न ही मानेंगे॥ १५॥

विचक्षणोऽस्यार्हति वेदितुं विभो–
रनन्तपारस्य निवृत्तितः सुखम्।
प्रवर्तमानस्य गुणैरनात्मन–
स्ततो भवान् दर्शय चेष्टितं विभो॥ १६॥

तत्त्व–विचारोंमें अति निपुण कोई–कोई व्यक्ति ही समस्त सांसारिक विषयोंको छोड़कर असीम, अनन्त, सर्वव्यापी भगवान् श्रीहरिके सेवासुखरूप परमानन्दको जाननेमें समर्थ हो सकता है, किन्तु पारमार्थिक बुद्धिसे रहित व्यक्ति नहीं। इसलिए हे सर्वज्ञ! आप सत्त्वादि तीनों गुणों द्वारा नचाये जानेवाले देहाभिमानी समस्त लोगोंके कल्याणके लिए भगवान्‌की नव–नवायमान लीलाओंका वर्णन कीजिये॥ १६॥

त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरे–
र्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि।
यत्र क्व वाभद्रमभूदमुष्य किं
को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः॥ १७॥

जो अपने वर्णाश्रमधर्मका परित्यागकर श्रीहरिके चरणकमलोंका भजन करता है, सिद्ध होनेकी बात तो दूर रहे, असिद्ध अवस्थामें भी यदि वह भजनसे किसी प्रकारसे भ्रष्ट हो जाये अथवा उसकी मृत्यु हो जाये, तो भी कर्म–त्यागवशतः उसका कभी भी अमङ्गल अथवा पतन नहीं हो सकता। अर्थात् वह किसी भी अवस्थामें रहे, यहाँ तक कि नीच योनिमें भी रहे, तो भी ऐसे भगवत्–रसिकमें सेवाकी वासना रहनेके कारण क्या कभी उसका अमङ्गल हो सकता है? किन्तु भक्तिहीन स्वधर्मका पालन करनेवाले मनुष्योंको न तो कोई लाभ मिलता है और न ही उनका कोई प्रयोजन सिद्ध होता है॥ १७॥

तस्यैव हेतोः प्रयतेत कोविदो
न लभ्यते यद् भ्रमतामुपर्यधः।
तल्लभ्यते दुःखवदन्यतः सुखं
कालेन सर्वत्र गभीररंहसा॥ १८॥

विवेकी पुरुष कभी भी उन लोभपूर्ण वचनोंसे प्रभावित नहीं होते, जो वचन स्वधर्मके पालनसे प्राप्त होनेवाले लौकिक फलोंका निरूपण करते हैं। वे तो उस नित्य सुखके लिए प्रयत्न करते हैं, जो उच्च ब्रह्मासे लेकर निम्न स्थावर—तृण तककी योनियोंमें भ्रमण करनेवाले जीवको भी कभी प्राप्त नहीं होता। जिस प्रकार बिना चेष्टाके भी दुःख प्राप्त होता है, उसी प्रकार गम्भीर वेगशाली कालके प्रभावसे विषय-सुख भी पूर्व कर्मफलोंके कारण सभी अवस्थाओंमें, यहाँ तक कि नारकीय शूकरादि योनियोंमें भी प्राप्त होता है॥ १८॥

न वै जनो जातु कथञ्चनाव्रजे-
न्मुकुन्दसेव्यन्यवदङ्ग संसृतिम्।
स्मरन् मुकुन्दाङ्घ्र्युपगूहनं पुन-
र्विहातुमिच्छेन्न रसग्रहो जनः॥ १९॥

अहो! भक्तिसे रहित कर्मी जिस प्रकार संसार-दशा प्राप्त करते हैं, श्रीहरिके चरणकमलोंकी सेवामें रत व्यक्तिको कभी भी वैसी दशा प्राप्त नहीं होती। किसी कारणवश यदि वे कुयोनि भी प्राप्त कर लें, तो भी वे कदापि कर्मीकी भाँति भोगमय संसारमें प्रवेश नहीं करते। भक्तोंको श्रीभगवान्की इच्छासे ही शुभ अथवा अशुभ फल प्राप्त होता है तथा वे कभी भी इससे विचलित नहीं होते। रसस्वरूप श्रीभगवान्में आग्रहपूर्वक अनुरक्त रसिक भक्त बारम्बार भगवान्के चरणकमलोंके आलिङ्गनका स्मरण करके उनका परित्याग करनेकी कभी इच्छा नहीं करते॥ १९॥

इदं हि विश्वं भगवानिवेतरो
यतो जगत्स्थाननिरोधसम्भवाः।
तद्धि स्वयं वेद भवांस्तथापि ते
प्रादेशमात्रं भवतः प्रदर्शितम्॥ २०॥

जिनकी शक्तिसे विश्वकी सृष्टि, स्थिति और प्रलय होती है, उन भगवान्‌से यह विश्वरूप प्रपञ्च अभिन्न होनेपर भी भगवान् विश्वसे पृथक् हैं। चेतन (जीव) और अचेतन (जगत्) तत्त्वका भगवान्‌से अलग अवस्थान नहीं है। यद्यपि श्रुतियोंके प्रमाणके बलसे आप इस तत्त्वको स्वयं ही जानते हैं, तथापि मैंने आपको यत्किञ्चित् सङ्केतमात्रसे बतलाया है॥ २०॥

त्वमात्मनात्मानमवेह्यमोघदृक्
परस्य पुंसः परमात्मनः कलाम्।
अजं प्रजातं जगतः शिवाय त-
न्महानुभावाभ्युदयोऽधिगण्यताम् ॥ २१ ॥

हे सत्यदर्शिन्! आप परमात्मा परमपुरुष श्रीहरिके कलावतार हैं। अजन्मा होकर भी आपने जगत्‌के मङ्गलके लिए जन्म-ग्रहण किया है—यह आप स्वयं जानते हैं। अतः सभी अवतारोंकी अपेक्षा प्रभावशाली श्रीहरिके परम-मङ्गलमय लीला-पराक्रमका विशेष रूपसे कीर्त्तन कीजिये॥ २१ ॥

इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य वा
स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धिदत्तयोः।
अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितो
यदुत्तमःश्लोक-गुणानुवर्णनम् ॥ २२ ॥

महर्षियोंने निरूपित किया है कि पुरुषोंकी तपस्या, वेदाध्ययन, यथाविधिसे अनुष्ठित यज्ञ, भलीभाँति उच्चारित वेदमन्त्र, ब्रह्मज्ञान तथा दानका एकमात्र नित्य फल उत्तमश्लोक श्रीकृष्णकी लीलाओंका गुण-कीर्त्तन है। श्रीहरिका कीर्त्तन तो हरि-सेवनका ही मुख्य अङ्ग है॥ २२ ॥

अहं पुरातीतभवेऽभवं मुने
दास्याश्च कस्याश्चन वेदवादिनाम्।
निरूपितो बालक एव योगिनां
शुश्रूषणे प्रावृषि निर्विविक्षताम्॥ २३ ॥

हे महर्षे! पिछले कल्पमें हुए अपने पूर्वजन्ममें मैंने वेदज्ञ ब्राह्मणोंकी किसी एक दासीके गर्भसे जन्म-ग्रहण किया था। एकबार वर्षाकालमें चातुर्मास्य व्रतके उपलक्ष्यमें किसी एक स्थानपर एक साथ वास करनेके इच्छुक कृष्णकथाका गान करनेवाले भक्त-योगियोंकी सेवा-शुश्रूषाके लिए बालक होनेपर भी मैं नियुक्त हुआ था॥ २३॥

ते मय्यपेताखिल-चापलेऽर्भके
दान्तेऽधृतक्रीडनकेऽनुवर्तिनि ।
चक्रुः कृपां यद्यपि तुल्यदर्शनाः
शुश्रूषमाणे मुनयोऽल्पभाषिणि॥ २४॥

मैं बालक होनेपर भी बाल-सुलभ चञ्चलतासे सर्वथा रहित था तथा बालक्रीड़ासे दूर रहता था। मैं जितेन्द्रिय था तथा मैंने वाणीको संयतकर अर्थात् प्रगल्भता त्यागकर आज्ञानुवर्ती अनुचरके रूपमें उन ऋषियोंकी सेवा-शुश्रूषा की थी। इस प्रकार समदर्शी होनेपर भी उन ऋषियोंने शील-स्वभाववाले मुझ बालकके प्रति अनुग्रह किया॥ २४॥

उच्छिष्टलेपाननुमोदितो द्विजैः
सकृत् स्म भुञ्जे तदपास्तकिल्बिषः।
एवं प्रवृत्तस्य विशुद्ध-चेतस-
स्तद्धर्म एवात्मरुचिः प्रजायते॥ २५॥

मैंने उन ब्राह्मणोंकी अनुमति प्राप्तकर उनके भोजन-पात्रमें लगे हुए उच्छिष्ट अन्नका मात्र एकबार भोजन किया था। इसके परिणामस्वरूप मेरे समस्त पाप अर्थात् भक्तिके प्रतिबन्धक अनर्थ दूर हो गये। उनकी सेवा करते-करते मेरा चित्त निर्मल हो गया तथा परमेश्वर श्रीहरिकी श्रवण-कीर्त्तनादि रूप भक्तिमें अनायास ही मेरी रुचि उदित हो गयी॥ २५॥

तत्रान्वहं कृष्णकथाः प्रगायता-
मनुग्रहेणाश्रृणवं मनोहराः।
ताः श्रद्धया मेऽनुपदं विश्रृण्वतः
प्रियश्रवस्यङ्ग ममाभवद्रतिः॥ २६॥

हे व्यासजी! वे ऋषिगण उस स्थानपर प्रतिदिन निरन्तर चित्तको उन्मत्त कर देनेवाली श्रीहरिकी लीला और गुणोंका गान करते थे। उनके अनुग्रहसे मैं उन मनोहर लीला-कथाओंका श्रवण किया करता था। इस प्रकार प्रत्येक पदको परम श्रद्धाके साथ सुनते-सुनते प्रियकीर्त्ति भगवान् श्रीहरिमें मेरी प्रीति और आसक्ति (रति) उत्पन्न हो गयी॥ २६॥

तस्मिंस्तदा लब्धरुचेर्महामते
प्रियश्रवस्यस्खलिता मतिर्मम।
ययाहमेतत् सदसत् स्वमायया
पश्ये मयि ब्रह्मणि कल्पितं परे॥ २७॥

हे महामुने! तदनन्तर उन मनोहरकीर्त्ति भगवान्में रुचिका उदय होनेसे मेरी उनमें निश्चला बुद्धि हो गयी। उस बुद्धिके प्रभावसे मैं तत्काल ही अनुभव करने लगा कि मेरे प्रपञ्चातीत शुद्ध स्वरूपपर यह स्थूल और सूक्ष्म शरीर अविद्यासे विरचित है। मैं यह भी जान गया कि यह स्थूल और सूक्ष्म शरीर श्रीकृष्णकी सेवाके लिए ही है॥ २७॥

इत्थं शरत्प्रावृषिकावृतू हरे-
र्विशृण्वतो मेऽनुसवं यशोऽमलम्।
सन्कीर्त्यमानं मुनिभिर्महात्मभि-
र्भक्तिः प्रवृत्तात्मरजस्तमोपहा॥ २८॥

इस प्रकार शरत् और वर्षा—इन दो ऋतुओं अर्थात् चार मास तक उन महात्मा ऋषियोंके मुखसे प्रतिदिन तीनों सन्ध्याओंमें गान किये जानेवाले श्रीहरिके निर्मल लीला-यशके विशेष रूपसे श्रवण करनेके कारण मेरे हृदयमें रज और तम गुणोंको नष्ट करनेवाली भक्तिका प्रादुर्भाव हो गया॥ २८॥

तस्यैवं मेऽनुरक्तस्य प्रश्रितस्य हतैनसः।
श्रद्दधानस्य बालस्य दान्तस्यानुचरस्य च॥ २९॥

ज्ञानं गुह्यतमं यत्तत् साक्षाद्भगवतोदितम्।
अन्ववोचन् गमिष्यन्तः कृपया दीनवत्सलाः॥ ३०॥

इस प्रकार अत्यन्त अनुरागके साथ बड़े विनीतभाव, निष्पाप मन और श्रद्धासे युक्त होकर तथा संयत चित्त, वाणी और मनसे मैं उन महात्माओंका आज्ञाकारी होकर निरन्तर उनकी सेवा करने लगा। चातुर्मास्य समाप्त होनेपर जब वे दीनवत्सल मुनि जाने लगे, तब उन्होंने मुझ जैसे बालकको साधन-स्वरूप गुह्य धर्मतत्त्वका ज्ञान, गुह्यतर नैष्कर्म्यरूप आत्म अथवा ब्रह्म-ज्ञान एवं उससे भी अधिक परम रहस्यमय उस भगवत्-ज्ञान अर्थात् एकमात्र भक्ति-तात्पर्यसे विशिष्ट भागवत-धर्मका कृपापूर्वक उपदेश दिया, जिस उपदेशको स्वयं भगवान्ने ब्रह्मा, उद्धव और अर्जुनको प्रदान किया था॥ २९-३०॥

येनैवाहं भगवतो वासुदेवस्य वेधसः।
मायानुभावमविदं येन गच्छन्ति तत्पदम्॥ ३१॥

ऐसे परम गोपनीय भक्ति-तात्पर्ययुक्त भगवत्-ज्ञानके प्रभावसे ही मैं विश्वके विधाता भगवान् श्रीवासुदेवकी चित्-शक्ति अथवा स्वरूप-शक्तिके वैभवको जान पाया हूँ। उस भगवत्-ज्ञानके प्रभावसे ही जीव श्रीविष्णुके परम पदको प्राप्त करते हैं॥ ३१॥

एतत् संसूचितं ब्रह्मंस्तापत्रयचिकित्सितम्।
यदीश्वरे भगवति कर्म ब्रह्मणि भावितम्॥ ३२॥

हे ब्रह्मज्ञ! सर्वनियन्ता ईश्वर भगवान्में जो कर्म समर्पित होते हैं, वे कर्म ही आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—इन तीन तापोंको दूर करनेवाले अर्थात् उनका उपशम करनेकी औषधि-स्वरूप हैं। यही शास्त्रोंके मर्मको जाननेवालों द्वारा कथित हुआ है॥ ३२॥

आमयो यश्च भूतानां जायते येन सुव्रत।
तदेव ह्यामयं द्रव्यं न पुनाति चिकित्सितम्॥ ३३॥

हे भगवन्निष्ठ व्यासदेव! जिन-जिन द्रव्योंके भोजनसे प्राणियोंमें रोग उत्पन्न होते हैं, केवल उन रोग उत्पन्न करनेवाले द्रव्योंका सेवन

करनेमात्रसे वे रोग कभी भी दूर नहीं हो सकते, किन्तु यदि उन सभी द्रव्योंका चिकित्सा-विधिके अनुसार अर्थात् अन्य द्रव्यों या औषधियोंके मिश्रणके साथ सेवन किया जाये, तो वे रोग अवश्य ही दूर हो जाते हैं॥ ३३॥

एवं नृणां क्रियायोगाः सर्वे संसृतिहेतवः।
त एवात्मविनाशाय कल्पन्ते कल्पिताः परे॥ ३४॥

इसी प्रकार मनुष्योंके नैमित्तिक-काम्यकर्म ही संसार-बन्धनके अथवा विभिन्न योनियोंमें भ्रमणके कारण होते हैं। किन्तु यदि इन समस्त कर्मोंको ईश्वरको समर्पित कर दिया जाये, तो उन कर्मोंमें कर्त्तापनका भाव ही नहीं रहता, अर्थात् वही कर्म भगवत्-विमुख अहङ्कारमय बुद्धिका विनाश करनेमें समर्थ होते हैं॥ ३४॥

यदत्र क्रियते कर्म भगवत्परितोषणम्।
ज्ञानं यत्तदधीनं हि भक्तियोगसमन्वितम्॥ ३५॥

श्रवण-कीर्त्तनादि रूप भक्तियोगसे युक्त भागवत-ज्ञान ही इस संसारमें भगवान्‌के सन्तोषके लिए अनुष्ठित शास्त्र विहित कर्मोंका नित्य फल है॥ ३५॥

कुर्वाणा यत्र कर्माणि भगवच्छिक्षयाऽसकृत्।
गृणन्ति गुणनामानि कृष्णास्यानुस्मरन्ति च॥ ३६॥

जिस समय मानव (हे अर्जुन! जो कुछ भी करो, वह समस्त मुझे ही अर्पित करो—इत्यादि) भगवान्‌की शिक्षाके अनुसार कर्मोंको करनेके लिए प्रस्तुत हो जाता है, उसी समय वह पुनः-पुनः श्रीकृष्णके नाम और गुणोंका कीर्त्तन एवं स्मरण करने लग जाता है॥ ३६॥

ॐ नमो भगवते (तुभ्यं) वासुदेवाय धीमहि।
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय नमः सङ्कर्षणाय च॥ ३७॥

हे श्रीकृष्ण! आप ही प्रणव-स्वरूप हैं। आप ही वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध रूपमें चतुर्व्यूहात्मक स्वरूप हैं। हम आपको हृदयसे नमस्कार करते हैं। हम आपका ध्यान करते हैं॥ ३७॥

इति मूर्त्यभिधानेन मन्त्रमूर्तिममूर्तिकम्।
यजते यज्ञपुरुषं स सम्यग्दर्शनः पुमान्॥ ३८॥

इस प्रकार जो लोग वासुदेवादि चारों भगवत्-मूर्त्तियोंके (पञ्चरात्रात्मक विधिके अनुसार) 'वासुदेवाय नमः', 'प्रद्युम्नाय नमः' आदि नामात्मक मन्त्रोंके द्वारा उन-उन मन्त्रोंमें उक्त चिन्मय रूपसे युक्त अथवा प्राकृत-मूर्त्ति-रहित भगवान् यज्ञपुरुषकी पूजा करते हैं, उन्हीं लोगोंका ज्ञान पूर्ण और यथार्थ है॥ ३८॥

इमं स्वनिगमं ब्रह्मन्नवेत्य मदनुष्ठितम्।
अदान्मे ज्ञानमैश्वर्यं स्वस्मिन् भावञ्च केशवः॥ ३९॥

हे ब्रह्मन्! इस प्रकार मैंने भगवान्‌की आज्ञाका भलीभाँति पालन किया। यह जानकर भगवान् श्रीहरिने मुझे अपना अनुभव (आत्म-ज्ञान) और अणिमादि ऐश्वर्य प्रदान किये। तत्पश्चात् मेरे इन सबसे अनासक्त होनेके कारण उन्होंने मुझे प्रेमाभक्ति प्रदान की॥ ३९॥

त्वमप्यदभ्र-श्रुतविश्रुतं विभोः
समाप्यते येन विदां बुभुत्सितम्।
प्रख्याहि दुःखैर्मुहुरर्द्दितात्मनां
संक्लेशनिर्वाणमुशन्ति नान्यथा॥ ४०॥

हे महर्षे! आप भी सर्वव्यापी श्रीविष्णुके उस यशका भलीभाँति कीर्त्तन कीजिये, जिसे जाननेसे विद्वानोंकी भी समस्त जिज्ञासाएँ समाप्त हो जाती हैं। मुनियोंने भी कहा है कि जो मनुष्य बारम्बार त्रिविध दुःखोंसे तापित हैं, श्रीहरिके गुण-गानके अतिरिक्त उनके सांसारिक क्लेशोंको शान्त करनेका अन्य कोई उपाय नहीं है॥ ४०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां प्रथमस्कन्धे व्यास-नारदसंवादो नाम पञ्चमोऽध्यायः॥

षष्ठोऽध्यायः

देवर्षि नारदका वनमें गमन, श्रीकृष्णका दर्शन तथा चिन्मय स्वरूपकी प्राप्ति

श्रीसूत उवाच—

एवं निशम्य भगवान् देवर्षेर्जन्म कर्म च।
भूयः पप्रच्छ तं ब्रह्मन् व्यासः सत्यवतीसुतः॥ १॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—हे ब्रह्मन्! इस प्रकार सत्यवती-नन्दन भगवान् वेदव्यासने देवर्षि नारदजीसे उनके जन्म और साधनका वृत्तान्त बड़े आदरके साथ सुना एवं पुनः उनसे यह प्रश्न किया—॥ १॥

श्रीव्यास उवाच—

भिक्षुभिर्विप्रवसिते विज्ञानादेष्टृभिस्तव।
वर्तमानो वयस्याद्ये ततः किमकरोद्भवान्॥ २॥

श्रीव्यासदेवने कहा—हे देवर्षे! जब आपको रहस्यपूर्ण भगवत्-ज्ञानका उपदेश करनेवाले परिव्राजक महात्मागण चले गये, तब अपने जीवनकी उस प्राथमिक अर्थात् बाल्यावस्थामें आपने क्या किया? ॥ २॥

स्वायम्भुव कया वृत्त्या वर्तितं ते परं वयः।
कथं चेदमुदस्राक्षीः काले प्राप्ते कलेवरम्॥ ३॥

हे ब्रह्मनन्दन (श्रीनारद)! आपने बाल्यावस्थाके बादकी अपनी आयुको किस प्रकारसे व्यतीत किया? कालवशतः आपको वार्द्धक्य (बुढ़ापा) भी आया होगा। अतः मृत्यु उपस्थित होनेपर आपने उस दासीके गर्भसे उत्पन्न देहका किस प्रकार त्याग किया? ॥ ३॥

प्राक्कल्पविषयामेतां स्मृतिं ते मुनिसत्तम।
न ह्येष व्यवधात् काल एष सर्वनिराकृतिः॥ ४॥

हे मुनिश्रेष्ठ! कालके प्रभावसे तो समस्त वस्तुएँ ही लुप्त हो जाती हैं, अतः यह काल आपके पूर्वकल्पोंके जन्मोंकी स्मृति-शक्तिका नाश क्यों नहीं कर सका?॥ ४॥

श्रीनारद उवाच—

भिक्षुभिर्विप्रवसिते विज्ञानादेष्टृभिर्मम।
वर्तमानो वयस्याद्ये तत एतदकारषम्॥ ५॥

श्रीनारद ऋषिने कहा—मुझे भगवत्-ज्ञानका उपदेश करनेवाले महात्मागण जब किसी दूसरे स्थानपर चले गये, तब अपने जीवनकी प्राथमिक (बाल्यावस्था) मैंने इस प्रकार व्यतीत की—॥ ५॥

एकात्मजा मे जननी योषिन्मूढा च किङ्करी।
मय्यात्मजेऽनन्यगतौ चक्रे स्नेहानुबन्धनम्॥ ६॥

मेरी माँ एक अबला स्त्री थी। वह स्वभावसे ही बुद्धिहीन और पराधीन दासी थी। मैं ही उसका एकमात्र पुत्र था। अतः मेरी अन्य कोई गति न देखकर वह मुझसे अत्यधिक स्नेह करती थी॥ ६॥

सास्वतन्त्रा न कल्पासीद् योगक्षेमं ममेच्छती।
ईशस्य हि वशे लोको योषा दारुमयी यथा॥ ७॥

वह मेरी रक्षा तथा पालन-पोषणकी बहुत चिन्ता करती थी, परन्तु पराधीन होनेके कारण कुछ कर नहीं पाती थी। जिस प्रकार कठपुतली अपने नचानेवालेकी इच्छाके अनुसार ही नाचती है, वैसे ही प्राणीमात्र ईश्वरकी इच्छाके अधीन होता है॥ ७॥

अहञ्च तद्ब्रह्मकुले ऊषिवांस्तदपेक्षया।
दिग्देशकालाव्युत्पन्नो बालकः पञ्चहायनः॥ ८॥

मैं उस समय पाँच वर्षका बालक था तथा मुझे दिशा, देश एवं कालका कोई भी ज्ञान न था। सदैव माताके स्नेहपाशमें बँधे रहनेके कारण मैं उसका त्याग भी नहीं कर सकता था। अतः उसके स्नेह-पाशसे कब मुक्त हो पाऊँगा—इसी प्रतीक्षाके साथ मैं उसी ब्राह्मण-कुलमें वास करने लगा॥ ८॥

एकदा निर्गतां गेहाद्दुहन्तीं निशि गां पथि।
सर्पोऽदशत् पदास्पृष्टः कृपणां कालचोदितः॥ ९॥

एक बार रात्रिके समय मेरी माता गो-दोहनके लिए घरसे बाहर निकली। कालकी प्रेरणासे उसका पाँव एक साँपको छू गया और साँपने पथमें ही उस बेचारीको डस लिया॥ ९॥

तदा तदहमीशस्य भक्तानां शमभीप्सतः।
अनुग्रहं मन्यमानः प्रातिष्ठं दिशमुत्तराम्॥ १०॥

भगवान् सदैव अपने भक्तोंके मङ्गलकी अभिलाषा करते हैं। उस समय मैंने अपनी माताकी मृत्युको भगवान्‌की कृपा माना और उत्तर दिशाकी ओर चल पड़ा॥ १०॥

स्फीतान् जनपदांस्तत्र पुरग्रामव्रजाकरान्।
खेटखर्वटवाटीश्च वनान्युपवनानि च॥ ११॥

चित्रधातुविचित्राद्रीनिभभग्नभुजद्रुमान्।
जलाशयाञ्छिवजलान् नलिनीः सुरसेविताः॥ १२॥

चित्रस्वनैः पत्ररथैर्विभ्रमद्भ्रमरश्रियः।
नलवेणुशरस्तम्बकुशकीचकगह्वरम्॥ १३॥

एक एवातियातोऽहमद्राक्षं विपिनं महत्।
घोरं प्रतिभयाकारं व्यालोलूकशिवाजिरम्॥ १४॥

मैं अकेला ही उत्तर दिशामें तीव्र-गतिसे चलता जा रहा था। मार्गमें मैंने बहुत-से धन-धान्यसे सम्पन्न देश और नगर, ब्राह्मण, शूद्रों और अहीरोंकी बस्तियाँ, रत्नोंकी खानें, कृषकोंकी खेड़े, पहाड़की तलहटीपर स्थित ग्राम, पुष्प-कुञ्ज (वाटिकाएँ), वन-उपवन तथा स्वर्ण-रत्नादि विविध धातुओंसे रञ्जित विचित्र पर्वत देखे। कहीं-कहीं मुझे विशाल वृक्ष दिखायी पड़े, जिनकी शाखाएँ हाथियोंकी सूँड़ोंसे टूटी हुई थीं। कहींपर स्वास्थ्यवर्धक पुण्य जलसे भरे हुए जलाशय थे, जिनमें देवताओंके प्रयोगमें आनेवाले कमल खिले हुए थे। फिर कहीं विविध प्रकारकी बोली बोलनेवाले पक्षियोंके कलरवकी ध्वनिसे

आकृष्ट इधर-उधर विचरणशील भ्रमरोंके दलोंसे परिशोभित देवताओंके रमणीय आवास स्थल थे। इतना दीर्घ मार्ग पार करके मैं एक घन-घोर जङ्गलमें पहुँचा। वह जङ्गल नरकट, वेणु, सरपत (सेंठा), स्तम्भ आदि विविध प्रकारकी झाड़ियोंसे परिपूर्ण था तथा विपुल अन्तरालसे युक्त छिद्ररहित बाँस, कुश एवं कीचकके कारण वहाँका मार्ग अतीव दुर्गम, दुःसह और भयङ्कर था। उस जङ्गलकी लम्बाई-चौड़ाई भी बहुत अधिक थी और वह सर्प, उल्लू और सियारोंका क्रीड़ा-स्थल बना हुआ था॥ ११-१४॥

परिश्रान्तेन्द्रियात्माहं तृट्परीतो बुभुक्षितः।
स्नात्वा पीत्वा ह्रदे नद्या उपस्पृष्टो गतश्रमः॥ १५॥

चलते-चलते मेरा शरीर क्लान्त हो गया और इन्द्रियाँ शिथिल पड़ गयीं। मैं भूख-प्याससे व्याकुल हो रहा था। तब मैंने नदीके जलमें स्नान, उस जलका पान और आचमन किया, जिससे मेरी थकावट दूर हो गयी॥ १५॥

तस्मिन्निर्मनुजेऽरण्ये पिप्पलोपस्थ आश्रितः।
आत्मनात्मस्थमात्मानं यथाश्रुतमचिन्तयम्॥ १६॥

तदनन्तर उसी निर्जन वनमें मैं एक पीपलके पेड़के नीचे आसन लगाकर बैठ गया। तब मैं आत्म-बुद्धि द्वारा हृदयस्थित अन्तर्यामी परमात्माके उस मन्त्रोपदिष्ट स्वरूपका ध्यान करने लगा जिसके विषयमें उन महात्माओंने मुझे बतलाया था॥ १६॥

ध्यायतश्चरणाम्भोजं भावनिर्जितचेतसा।
औत्कण्ठ्याश्रुकलाक्षस्य हृद्यासीन्मे शनैर्हरिः॥ १७॥

भक्ति-भावसे शुद्ध हुए हृदयमें श्रीहरिके चरणकमलोंका ध्यान करते-करते भगवान्को प्राप्त करनेकी तीव्र लालसासे मेरे दोनों नेत्रोंसे अश्रुधारा निकलने लगी। तब मेरे शुद्ध हृदयमें श्रीहरि धीरे-धीरे प्रकट हो गये। (उस समय हृदयकी तीनों वृत्तियाँ—नासिका, कान और नेत्र क्रमशः उनके अङ्ग-सौरभ, नूपुरकी सुमधुर ध्वनि और श्रीमुखके सौन्दर्यका रसास्वादन करने लगीं)॥ १७॥

प्रेमातिभरनिर्भिन्नपुलकाङ्गोऽतिनिर्वृतः ।
आनन्दसंप्लवे लीनो नापश्यमुभयं मुने॥ १८॥

हे महर्षि वेदव्यास! गम्भीर प्रेमकी प्रचुरतासे भरा मेरा शरीर पुलकित और रोमाञ्चित हो उठा। मेरा हृदय अत्यधिक सुखका अनुभव करता हुआ परमानन्दके सागरमें डूब गया। उस समय मुझे न तो अपना भान रहा और न ही मैं ध्येय वस्तु—श्रीहरिको प्रत्यक्ष देख सका॥ १८॥

रूपं भगवतो यत्तन्मनःकान्तं शुचापहम्।
अपश्यन् सहसोत्तस्थे वैक्लव्याद् दुर्मना इव॥ १९॥

भगवान् श्रीहरिके उस मनमोहक, अनिर्वचनीय तथा समस्त शोकोंका नाश करनेवाले रूपको सहसा न देख पानेके कारण मैं इस प्रकार दुःखी और व्याकुल हो गया, जिस प्रकार प्राप्त धन-सम्पत्तिके हरण हो जानेसे लोग दुःखी और व्याकुल हो जाते हैं। मेरा हृदय उस विरह दुःखसे अनमना-सा होकर व्याकुल हो गया और तब मेरा ध्यान भङ्ग हो गया॥ १९॥

दिदृक्षुस्तदहं भूयः प्रणिधाय मनो हृदि।
वीक्षमाणोऽपि नापश्यमवितृप्त इवातुरः॥ २०॥

पुनः भगवान्के उस रूपके दर्शनकी इच्छासे मैंने अपने हृदय और मनको समाहित किया और उन्हें देखनेका बहुत प्रयास किया, परन्तु देख नहीं पाया। अतृप्त रह जानेसे मैं व्याकुल और अधीर हो उठा॥ २०॥

एवं यतन्तं विजने मामाहागोचरो गिराम्।
गम्भीरश्लक्ष्णया वाचा शुचः प्रशमयन्निव॥ २१॥

अपनी इस व्याकुल अवस्थामें मैं निर्जन वनमें भगवान्के दर्शनके लिए बारम्बार चेष्टा करने लगा। यह देखकर वाणीके अगोचर रहनेवाले भगवान् श्रीहरि गम्भीर, स्नेहपूर्ण और मधुर वचनोंसे अपने अदर्शनसे उत्पन्न मेरे विरह-दुःख और शोकको दूर करते हुए कहने लगे— ॥ २१॥

हन्तास्मिन् जन्मनि भवान् मा मां द्रष्टुमिहार्हति।
अविपक्वकषायाणां दुर्दर्शोऽहं कुयोगिनाम्॥ २२॥

हे वत्स! खेद है कि इस जन्ममें तुम पुनः मेरा दर्शन नहीं कर सकोगे। जिनकी सांसारिक कामना-वासनारूपी मलिनता दग्ध नहीं हुई है, ऐसे अपरिपक्व योगियोंके लिए मेरा दर्शन अत्यन्त दुर्लभ है॥ २२॥

सकृद्यद्दर्शितं रूपमेतत् कामाय तेऽनघ।
मत्कामः शनकैः साधुः सर्वान् मुञ्चति हृच्छयान्॥ २३॥

हे निष्पाप बालक! तथापि मैंने एकबार जो तुम्हें अपने रूपकी झलक दिखलायी है, वह मेरे प्रति तुम्हारे अनुरागकी वृद्धिके लिए ही है। मुझमें अनुराग हो जानेपर ही साधु-पुरुष क्रमशः अपने हृदयकी सम्पूर्ण कामना-वासनाओंका भलीभाँति त्याग करनेमें समर्थ होते हैं॥ २३॥

सत्सेवयादीर्घयापि जाता मयि दृढा मतिः।
हित्वावद्यमिमं लोकं गन्ता मज्जनतामसि॥ २४॥

तुमने जो अति अल्पकाल मात्रके लिए साधु-सेवा की है, उसके द्वारा ही तुम्हारा चित्त मुझमें स्थिर हो गया है। अतएव अब तुम दासीके गर्भसे उत्पन्न अपनी इस मलिन-देहका परित्याग करके मेरे पार्षदत्वको प्राप्त करोगे॥ २४॥

मतिर्मयि निबद्धेयं न विपद्येत कर्हिचित्।
प्रजासर्गनिरोधेऽपि स्मृतिश्च मदनुग्रहात्॥ २५॥

मुझे प्राप्त करनेके लिए दृढ़तापूर्वक मुझमें अनुरक्त तुम्हारी यह बुद्धि कभी भी किसी प्रकारसे विलुप्त नहीं होगी। मेरी कृपाके प्रभावसे सृष्टि तथा प्रलयके समय भी तुम्हें अपने पूर्व जन्मकी स्मृति बनी रहेगी॥ २५॥

एतावदुक्त्वोपरराम तन्महद्-
भूतं नभोलिङ्गमलिङ्गमीश्वरम्।

अहञ्च तस्मै महतां महीयसे
शीर्ष्णावनामं विदधेऽनुकम्पितः॥ २६॥

इतना कहकर वे आकाशके समान सर्वव्यापी, अशरीरी, सर्वनियन्ता, विभुचैतन्य श्रीहरि मौन हो गये। उनकी कृपाका अनुभव करके महानसे भी महानतम उन भगवान्‌को मैंने सिर झुकाकर प्रणाम किया॥ २६॥

नामान्यनन्तस्य हतत्रपः पठन्
गुह्यानि भद्राणि कृतानि च स्मरन्।
गां पर्यटंस्तुष्टमना गतस्पृहः
कालं प्रतीक्षन्नमदो विमत्सरः॥ २७॥

तभीसे मैं उस (अपनी मलिन-देहको त्यागकर भगवान्‌के पार्षदत्वको प्राप्त करनेके) कालकी प्रतिक्षा करते हुए लज्जा-सङ्कोचको छोड़कर भगवान् अनन्तदेवके मङ्गलमय नामोंका निरन्तर कीर्त्तन और उनकी रहस्यमय लीलाओंका स्मरण करते-करते पृथ्वीपर पर्यटन करने लगा। इसके फलस्वरूप मेरा हृदय सन्तुष्ट हो गया और समस्त प्रकारकी कामनाओंका परित्याग करके मैं अहङ्कार और मात्सर्यसे रहित हो गया॥ २७॥

एवं कृष्णमतेर्ब्रह्मन्नासक्तस्यामलात्मनः।
कालः प्रादुरभूत् काले तडित् सौदामनी यथा॥ २८॥

हे ब्रह्मज्ञ! इस प्रकार मेरा जीवन कृष्णमय हो गया। हृदय कृष्णानुरागमें मग्न रहने लगा तथा अन्तःकरण शुद्ध हो जानेके कारण मेरी स्वरूप-सिद्धि हो गयी अर्थात् मुझे अपने स्वरूपका अनुभव हुआ। इसीके साथ ही स्थूल-देहको छोड़नेका समय भी आ गया और आकाशमें बिजलीके चमकनेके समान सहसा मृत्यु आकर उपस्थित हुई॥ २८॥

प्रयुज्यमाने मयि तां शुद्धां भागवतीं तनुम्।
आरब्धकर्मनिर्वाणो न्यपतत् पाञ्चभौतिकः॥ २९॥

श्रीहरिके कथनानुसार जब मैं भगवत्-कृपासे अपनी उस शुद्धसत्त्वमय, अप्राकृत, चिन्मय, भगवत्-पार्षदोचित भागवती तनु[१] प्राप्त करनेके योग्य हो गया, तब मेरे प्रारब्ध कर्मोंका नाश हो गया और मेरा पाञ्चभौतिक शरीर नष्ट हो गया॥ २९॥

कल्पान्त इदमादाय शयानेऽम्भस्युदन्वतः।
शिशयिषोरनुप्राणं विविशेऽन्तरहं विभोः॥ ३०॥

कल्पके अन्तमें इस विश्वका ध्वंस करनेके लिए श्रीनारायणने एकार्णव (प्रलयकालीन समुद्र) के जलमें शयन किया, तब शयन करनेके इच्छुक भगवान्के अन्तरमें उनके निःश्वासके साथ मैंने भी प्रवेश किया॥ ३०॥

सहस्रयुगपर्यन्ते उत्थायेदं सिसृक्षतः।
मरीचिमिश्रा ऋषयः प्राणेभ्योऽहञ्च जज्ञिरे॥ ३१॥

इस प्रकार एक हजार चतुर्युगोंके बीत जानेपर भगवान् पुनः जाग्रत हुए। तब उनके द्वारा विश्व-सृष्टि करनेकी इच्छा करनेपर उनकी इन्द्रियोंसे मैं भी मरीचि आदि प्रमुख ऋषियोंके साथ प्रकट हो गया॥ ३१॥

अन्तर्बहिश्च लोकांस्त्रीन् पर्येम्यस्कन्दितव्रतः।
अनुग्रहान्महाविष्णोरविघातगतिः क्वचित्॥ ३२॥

तभीसे भगवान् श्रीहरिकी कृपासे मैं वैकुण्ठादि अप्राकृत लोकोमें तथा इस जगत्के तीनों लोकोंमें बाहर और भीतर सर्वत्र बिना किसी रोक-टोकके विचरण किया करता हूँ। भगवत्-भक्तिमें मेरी निष्ठा अखण्ड होनेके कारण ही ऐसा सम्भव हुआ है॥ ३२॥

देवदत्तामिमां वीणां स्वरब्रह्म-विभूषिताम्।
मूर्च्छयित्वा हरिकथां गायमानश्चराम्यहम्॥ ३३॥

---

[१] स्वरूप-सिद्ध भक्त द्वारा भगवान्की सेवाके उपयोगी उपकरणरूप अपनी चिन्मय प्रतीतिको ही शुद्ध भागवती तनु कहा जाता है।

मैं भगवान् द्वारा प्रदत्त सप्तस्वर[१]—स्वरब्रह्मसे स्वाभाविक रूपमें झंकृत इस वीणापर मूर्च्छनासे आलाप करते हुए अर्थात् तान छेड़कर श्रीहरिके नामों और गुणोंका कीर्त्तन करता हुआ सर्वत्र विचरण करता हूँ॥ ३३॥

प्रगायतः स्ववीर्याणि तीर्थपादः प्रियश्रवाः।
आहूत इव मे शीघ्रं दर्शनं याति चेतसि॥ ३४॥

जब मैं उन उत्तमश्लोक श्रीहरिकी लीलाओंका भलीभाँति गान करता हूँ, जिनके श्रीचरणकमल समस्त तीर्थोंके उद्‌गमस्थल हैं, तब वे आह्वान किये गये व्यक्तिकी भाँति तुरन्त ही मेरे हृदयमें प्रकट हो जाते हैं॥ ३४॥

एतद्ध्यातुरचित्तानां मात्रास्पर्शेच्छया मुहुः।
भवसिन्धुप्लवो दृष्टो हरिचर्यानुवर्णनम्॥ ३५॥

जिनका चित्त सदैव विषय-भोगकी वासनाओंसे व्याकुल हो रहा है, उनके लिए श्रीहरिचरित्र-कथाका निरन्तर कीर्त्तन ही भवसागरसे पार होनेका एकमात्र उपाय है। प्रत्यक्ष, परोक्ष और अपरोक्ष सब प्रकारसे मेरा यही अनुभव है, अतः इसमें किसी प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है॥ ३५॥

यमादिभिर्योगपथैः कामलोभहतो मुहुः।
मुकुन्दसेवया यद्वत् तथाद्धात्मा न शाम्यति॥ ३६॥

निरन्तर काम-लोभादि रूप शत्रुओंके वशीभूत अशान्त मन भगवान् श्रीमुकुन्दकी सेवाके द्वारा जिस प्रकारसे प्रत्यक्ष शान्तिका अनुभव करता है, यम-नियमादिसे युक्त अष्टाङ्गयोग-मार्गका अवलम्बन करनेसे वह वैसा शान्त नहीं हो पाता॥ ३६॥

सर्वं तदिदमाख्यातं यत् पृष्टोऽहं त्वयानघ।
जन्मकर्मरहस्यं मे भवतश्चात्मतोषणम्॥ ३७॥

---

[१] षडज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद आदि ब्रह्मव्यञ्जक सप्तस्वर।

हे निष्पाप! आपने मुझसे जो कुछ पूछा था, उसीके अनुसार मैंने आपको अपने जन्म–कर्मादि गुह्य विषय अर्थात् साधन–सिद्धिका रहस्य तथा आपके चित्तकी प्रसन्नताका उपाय आदि सभी कुछ बतला दिया। ये सब रहस्य वेदान्तदर्शियोंके लिए भी अत्यन्त दुर्लभ है॥ ३७॥

श्रीसूत उवाच—

एवं सम्भाष्य भगवान् नारदो वासवीसुतम्।
आमन्त्र्य वीणां रणयन् ययौ यादृच्छिको मुनिः॥ ३८॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—इस प्रकार महर्षि वेदव्यासके साथ सम्भाषण करनेके उपरान्त देवर्षि नारदजीने उनसे जानेकी अनुमति ली। तब इच्छानुसार विचरण करनेवाले वे महायोगी श्रीनारद वीणावादनके साथ श्रीहरिके गुण गाते–गाते वहाँसे चल दिये॥ ३८॥

अहो देवर्षिर्धन्योऽयं यः कीर्तिं शार्ङ्गधन्वनः।
गायन्माद्यन्निदं तन्त्र्या रमयत्यातुरं जगत्॥ ३९॥

अहा! श्रीहरिकीर्त्तनमें रत नारदमुनि धन्य हैं, जो शार्ङ्गपाणि[१] भगवान् श्रीविष्णुके यशोगुणको अपने वीणायन्त्रमें गान करते हुए स्वयं तो प्रसन्नचित्त रहते ही हैं और साथ ही विषयभोगोंसे तप्त विश्ववासियोंको भी सर्वदा कृष्ण–प्रेमानन्द प्रदान करके आनन्दित करते रहते हैं॥ ३९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्र–भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां प्रथमस्कन्धे व्यासनारद–संवादो नाम षष्ठोऽध्यायः॥

---

[१] शार्ङ्गपाणि अर्थात् शार्ङ्ग नामक धनुषको धारण करनेवाले।

सप्तमोध्यायः

श्रीव्यासदेवके द्वारा भक्तियोग–समाधिमें लीला–परिकरोंके साथ पूर्णपुरुष श्रीकृष्णका दर्शन, अर्जुनके द्वारा अश्वत्थामाका मानमर्दन

श्रीशौनक उवाच—

निर्गते नारदे सूत भगवान् बादरायणः।
श्रुतवांस्तदभिप्रेतं ततः किमकरोद्विभुः॥ १॥

श्रीशौनक ऋषिने पूछा—हे श्रीसूत गोस्वामी! सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान भगवान् श्रीव्यासदेवने देवर्षि श्रीनारदका अभिप्राय सुनकर उनके वहाँसे प्रस्थान करनेपर क्या किया?॥ १॥

श्रीसूत उवाच—

ब्रह्मनद्यां सरस्वत्यामाश्रमः पश्चिमे तटे।
शम्याप्रास इति प्रोक्त ऋषीणां सत्रवर्द्धनः॥ २॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—ब्रह्मनदी अर्थात् ब्राह्मणोंसे घिरी हुई सरस्वती नदीके पश्चिम तटपर शम्याप्रास नामक एक आश्रम है। वहाँ ऋषियोंके यज्ञ होते ही रहते हैं॥ २॥

तस्मिन् स्व आश्रमे व्यासो बदरीषण्डमण्डिते।
आसीनोऽप उपस्पृश्य प्रणिदध्यौ मनः स्वयम्॥ ३॥

वहींपर बेरके वृक्षोंके सुन्दर वन द्वारा परिशोभित श्रीव्यासजीका आश्रम है। वे अपने आश्रममें आसनपर बैठ गये और उन्होंने जलस्पर्श अर्थात् आचमन किया। आचमनके बाद जड़-प्रक्रियाओंकी सहायताके बिना वे देवर्षि श्रीनारदके उपदेशानुसार भक्ति-समाधि द्वारा अपने मनको स्थिर करते हुए ध्यान करने लगे॥ ३॥

भक्तियोगेन मनसि सम्यक् प्रणिहितेऽमले।
अपश्यत् पुरुषं पूर्णं मायाञ्च तदपाश्रयाम्॥ ४॥

भक्तियोगके प्रभावसे व्यासदेवजीका मन पूर्णतः एकाग्र और निर्मल हो गया। तब उन्होंने लीला-परिकरोंके साथ पूर्णपुरुष श्रीकृष्णका दर्शन किया और उनके पृष्ठ भाग (पीछे) में लज्जित भावसे आश्रय लेकर खड़ी बहिरङ्गा मायाको भी देखा॥ ४॥

यया सम्मोहितो जीव आत्मानं त्रिगुणात्मकम्।
परोऽपि मनुतेऽनर्थं तत्कृतञ्चाभिपद्यते॥ ५॥

इसी मायाके द्वारा जीवका स्वरूप आवृत और विक्षिप्त हो जाता है। उस समय जीव मोहित होकर गुणातीत होनेपर भी स्वयंको त्रिगुणात्मक मान लेता है और जड़ातीत होनेपर भी इस जड़-देहमें आत्म-बुद्धि (जड़-शरीरमें 'मैं' का अहङ्कार) करने लगता है। इस जड़-अभिमानके कारण ही वह अपनेको कर्त्ता और भोक्ता मानकर सांसारिक भोगोंकी वासनाको प्राप्त करता है॥ ५॥

अनर्थोपशमं साक्षाद्भक्तियोगमधोक्षजे।
लोकस्याजानतो विद्वांश्चक्रे सात्वतसंहिताम्॥ ६॥

अधोक्षज अर्थात् इन्द्रिय-ज्ञानसे अतीत भगवान् श्रीविष्णुमें अहैतुक भक्तियोग अनुष्ठित होनेसे संसारके दुःखोंका भोगना समाप्त हो जाता है। सर्वज्ञ श्रीव्यासदेवने जब समाधिमें इन सबका दर्शन किया तब इन विषयोंसे अनजान लोगोंके कल्याणके लिए उन्होंने श्रीमद्भागवत नामक पारमहंसी संहिताकी रचना की॥ ६॥

यस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपुरुषे।
भक्तिरुत्पद्यते पुंसः शोकमोहभयापहा॥ ७॥

इस श्रीमद्भागवत नामक पारमहंसी संहिताके श्रवणके साथ-साथ ही भगवान् पुरुषोत्तम श्रीकृष्णके प्रति प्रेमभक्ति उदित होती है, जिसके फलस्वरूप शोक-मोह और भयका नाश हो जाता है॥ ७॥

स संहितां भागवतीं कृत्वानुक्रम्य चात्मजम्।
शुकमध्यापयामास निवृत्तिनिरतं मुनिम्॥ ८॥

महर्षि श्रीव्यासदेवने इस पारमंहसी भागवत्-संहिताकी रचना की अर्थात् प्रथमतः स्वयं ही इसे संक्षेपमें भक्तियुक्त रूपमें प्रस्तुत किया

और फिर बादमें श्रीनारदजीके उपदेशानुसार एकमात्र श्रीभगवद्भक्तिको ही प्रधान रूपसे स्थापित करते हुए उसका क्रमपूर्वक विस्तार किया। तत्पश्चात् उन्होंने भोग-तृष्णासे रहित तथा भगवान्के मननमें रत अपने पुत्र श्रीशुकदेवजीको इसका अध्ययन कराया था॥ ८॥

श्रीशौनक उवाच—

स वै निवृत्तिनिरतः सर्वत्रोपेक्षको मुनिः।
कस्य वा बृहतीमेतामात्मारामः समभ्यसत्॥ ९॥

श्रीशौनक ऋषिने पूछा—हे सूतजी! श्रीशुकदेव गोस्वामी तो परम विरक्त थे, वे किसी भी वस्तुकी अपेक्षासे रहित, ब्रह्मानन्दमें निमग्न और ब्रह्म-चिन्तनमें डूबे रहते थे। अतः किसलिए उन्होंने इस विशाल श्रीमद्भागवत ग्रन्थका भलीभाँति अध्ययन किया?॥ ९॥

श्रीसूत उवाच—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥ १०॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—ब्रह्मानन्द-सुखमें मग्न एवं आत्मामें ही रमण करनेके कारण जिनकी अविद्याकी गाँठ खुल गयी है, वे मुनिगण भी क्रोध-मोह-अहङ्कारादिसे मुक्त होकर निष्काम भावसे अर्थात् फलकी कामनासे रहित होकर अमित-विक्रम श्रीहरिकी सेवा करते रहते हैं, क्योंकि भगवान् श्रीहरिके गुण ही ऐसे हैं जिससे वे आत्मारामगणोंको भी आकर्षित कर लेते हैं॥ १०॥

हरेर्गुणाक्षिप्तमतिर्भगवान् बादरायणिः।
अध्यगान्महदाख्यानं नित्यं विष्णुजनप्रियः॥ ११॥

महायोगी व्यासनन्दन श्रीशुकदेव गोस्वामीका चित्त भगवान् श्रीहरिके गुणोंसे आकृष्ट हो चुका था, इसीलिए उन्होंने इतने विशाल महापुराण श्रीमद्भागवतका अध्ययन किया। इस भागवतकी ऐसी सुन्दर व्याख्या करनेके कारण ही श्रीशुकदेव भगवद्भक्तों अर्थात् वैष्णवोंके नित्य प्रिय हैं॥ ११॥

परीक्षितोऽथ राजर्षेर्जन्म-कर्म-विलापनम्।
संस्थाञ्च पाण्डुपुत्राणां वक्ष्ये कृष्णकथोदयम्॥ १२॥

अब मैं राजर्षि परीक्षित्के जन्म, कर्म, आमरण अनशन और देहत्याग अर्थात् मुक्तिका वृत्तान्त कहूँगा तथा साथ ही पाण्डवोंके स्वर्ग-आरोहणरूप महाप्रस्थानका भी वर्णन करूँगा। इन सब वृत्तान्तोंके द्वारा प्रधान रूपसे श्रीकृष्णकी बहुत-सी कथाओंका उदय होता है॥ १२॥

यदा मृधे कौरवसृञ्जयानां
वीरेष्वथो वीरगतिं गतेषु।
वृकोदराविद्धगदाभिमर्ष-
भग्नोरुदण्डे धृतराष्ट्रपुत्रे॥ १३॥

भर्त्तुः प्रियं द्रौणिरिति स्म पश्यन्
कृष्णासुतानां स्वपतां शिरांसि।
उपाहरद्विप्रियमेव तस्य
जुगुप्सितं कर्म विगर्हयन्ति॥ १४॥

माता सुतानां निधनं शिशूनां
निशम्य घोरं परितप्यमाना।
तदारुदद्वाष्पकलाकुलाक्षी
तां सान्त्वयन्नाह किरीटमाली॥ १५॥

जिस समय कौरवों और सृञ्जयवंशमें उत्पन्न पाञ्चालराज द्रुपदके पुत्र धृष्टद्युम्नके द्वारा परिचालित पाण्डवोंकी सेनाओंके बीच हुए महाभारतके युद्धमें बहुत-से योद्धा वीरगति (स्वर्ग) को प्राप्त हो चुके थे और भीमसेनकी गदाके प्रहारसे दुर्योधनकी जाँघ टूट चुकी थी, उस समय अश्वत्थामाने स्वयं ही अपने पालनकर्त्ता दुर्योधनका प्रिय-कार्य सोचकर द्रौपदीके पाँचों पुत्रोंका उनकी सुप्त अवस्थामें ही वध करके उनके सिरोंको दुर्योधनको उपहारके रूपमें प्रदान किया। परन्तु दुर्योधनको भी यह निन्दनीय कर्म अप्रिय ही लगा, क्योंकि ऐसे नितान्त नीच, घृणित और भीषण पापकार्योंकी सभी निन्दा करते हैं। जब द्रौपदीने अपने पुत्रोंकी हत्याकी बात सुनी, तब वह असहनीय

शोक-तापसे जर्जरित होकर पुत्रोंके वियोगमें क्रन्दन करने लगी और उनकी आँखोंसे अविरल अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी। उनकी यह दशा देखकर किरीटमाली[१] अर्जुन द्रौपदीको सान्त्वना देते हुए कहने लगे— ॥ १३-१५ ॥

तदा शुचस्ते प्रमृजामि भद्रे
यद्ब्रह्मबन्धोः शिर आततायिनः।
गाण्डीवमुक्तैर्विशिखैरुपाहरे
त्वाक्रम्य यत् स्नास्यसि दग्धपुत्रा॥ १६॥

(श्रीअर्जुनने कहा—)हे कल्याणि! जब मैं उस आततायी[२] अर्थात् हाथोंमें शस्त्र धारणकर छलसे पुत्रोंका वध करनेवाले अधम ब्राह्मण अश्वत्थामाका सिर अपने गाण्डीव-धनुषके द्वारा छोड़े गये बाणोंसे काटकर तुम्हें उपहार-स्वरूपमें प्रदान करूँगा और पुत्रोंके दाह-संस्कारके बाद जब तुम उसपर पैर रखकर स्नान करोगी, तभी मैं तुम्हारे शोकाश्रुओंको पोछूँगा॥ १६॥

इति प्रियां वल्गुविचित्रजल्पैः
सः सान्त्वयित्वाच्युतमित्रसूतः।
अन्वाद्रवद्दंशित उग्रधन्वा
कपिध्वजो गुरुपुत्रं रथेन॥ १७॥

इस प्रकार अर्जुनने विविध मनोहर और विचित्र वचनोंसे अपनी पत्नी द्रौपदीको सान्त्वना दी। तत्पश्चात् श्रीकृष्ण ही जिनके एक साथ बन्धु और सारथी—दोनों ही हैं, उन कपिध्वज अर्जुनने अपने भयङ्कर गाण्डीव-धनुषको धारण किया, कवच पहना और रथपर सवार होकर वे गुरुपुत्र अश्वत्थामाके पीछे दौड़ पड़े॥ १७॥

तमापतन्तं स विलोक्य दूरात्
कुमारहोद्विग्नमना रथेन।

---

[१] किरीटमाली अर्थात् मुकुटोंकी मालाको धारण करनेवाले।

[२] आग लगानेवाला, विष देनेवाला, बुरी नियतसे हाथमें शस्त्र धारण करनेवाला, धन लूटनेवाला, खेत और स्त्रीको छीननेवाला—ये छह आततायी कहलाते हैं।

पराद्रवत् प्राणपरीप्सुरुर्व्यां
यावद्गमं रुद्रभयाद् यथा कः॥ १८॥

बालकोंके हत्यारे अश्वत्थामाने जब दूरसे ही अर्जुनको रथपर सवार होकर अपनी ओर तीव्रगतिसे आते हुए देखा, तो उसका हृदय काँपने लगा और वह अपने प्राणोंकी रक्षाके लिए पृथ्वीपर यथाशक्ति ठीक उसी प्रकार भागा, जिस प्रकार रुद्रके भयसे भयभीत होकर सूर्य भाग रहे थे॥ [1]१८॥

यदा शरणमात्मानमैक्षत श्रान्तवाजिनम्।
अस्त्रं ब्रह्मशिरो मेने आत्मत्राणं द्विजात्मजः॥ १९॥

किन्तु जब द्रोणाचार्यके पुत्र अश्वत्थामाने देखा कि वह अब रक्षकहीन होनेके कारण बिलकुल अकेला है तथा उसके घोड़े भी थक गये हैं, तब उस नासमझ विप्रने ब्रह्मास्त्रको ही अपनी रक्षाका एकमात्र उपाय समझा॥ १९॥

अथोपस्पृश्य सलिलं सन्दधे तत् समाहितः।
अजानन्नपि संहारं प्राणकृच्छ्र उपस्थिते॥ २०॥

यद्यपि अश्वत्थामा ब्रह्मास्त्रको लौटानेकी विधिसे अवगत नहीं था, तथापि प्राणोंपर सङ्कट आया देख उसने आचमन किया और ध्यानस्थ होकर ब्रह्मास्त्रका सन्धान किया॥ २०॥

ततः प्रादुष्कृतं तेजः प्रचण्डं सर्वतो दिशम्।
प्राणापदमभिप्रेक्ष्य विष्णुं जिष्णुरुवाच ह॥ २१॥

तब उस अस्त्रसे भयङ्कर आग निकलने लगी और वह दसों दिशाओंमें फैल गयी। उस समय अपने प्राणोंपर ही सङ्कट आया देखकर अर्जुनने श्रीकृष्णसे प्रार्थना की॥ २१॥

---

[1] वामनपुराणके अनुसार शिवभक्त विद्युन्माली नामक कोई राक्षस शिवजी द्वारा प्रदत्त सुवर्णमय विमानपर सवार होकर सूर्यके पीछे-पीछे भ्रमण करता हुआ उस विमानकी चमकसे रात्रिके अन्धकारको दूर कर रहा था। इससे सूर्यने क्रोधित होकर अपने तेजसे उसे विमानसे नीचे गिरा दिया। उसी समय श्रीरुद्रदेव आ पहुँचे, उनसे डरकर सूर्य तीव्रगतिसे भागते हुए वाराणसीमें गिर पड़े, जिससे उनका नाम लोलार्क प्रसिद्ध हो गया।

श्रीअर्जुन उवाच—

कृष्ण कृष्ण महाबाहो भक्तानामभयङ्कर।
त्वमेको दह्यमानानामपवर्गोऽसि संसृतेः॥ २२॥

श्रीअर्जुनने कहा—हे कृष्ण! हे कृष्ण! हे महाबाहो! (आपकी शक्ति अनन्त है।) आप भक्तोंको अभय प्रदान करनेवाले हैं। हे हरि! एकमात्र आप ही त्रितापकी ज्वालासे दग्ध लोगोंके संसारके तापका विनाश करनेवाले हैं॥ २२॥

त्वमाद्यः पुरुषः साक्षादीश्वरः प्रकृतेः परः।
मायां व्युदस्य चिच्छक्त्या कैवल्ये स्थित आत्मनि॥ २३॥

आप ही समस्त कारणोंके कारण हैं। आप ही प्रकृतिसे अतीत आदि पुरुष साक्षात् परमेश्वर हैं, अतएव आप निर्लिप्त अथवा अविकारी हैं। आप अपनी स्वरूप-शक्तिके प्रभावसे त्रिगुणमयी बहिरङ्गा माया-शक्तिको दूर रखकर केवल स्व-स्वरूपमें प्रतिष्ठित रहते हैं॥ २३॥

स एव जीवलोकस्य मायामोहितचेतसः।
विधत्से स्वेन वीर्येण श्रेयो धर्मादिलक्षणम्॥ २४॥

मायासे दूर अवस्थित रहनेपर भी आप अपनी शक्तिके प्रभावसे माया द्वारा अभिभूत अर्थात् हरिसेवासे विमुख तथा भोगपरायण जीवोंके लिए धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामक चतुर्वर्गरूप कल्याणका विधान करते हैं॥ २४॥

तथायञ्चावतारस्ते भुवो भारजिहीर्षया।
स्वानाञ्चानन्यभावानामनुध्यानाय चासकृत्॥ २५॥

पूर्व-पूर्व अवतारोंकी भाँति आपका वर्त्तमान श्रीकृष्णरूपमें अवतार भी पृथ्वीका भार हरण करनेके लिए और आपके स्वजनों तथा एकान्तिक भक्तोंके निरन्तर भजन-सुख (स्मरण-ध्यान) के लिए ही हुआ है॥ २५॥

किमिदं स्वित् कुतो वेति देवदेव न वेद्म्यहम्।
सर्वतोमुखमायाति तेजः परमदारुणम्॥ २६॥

हे देवादिदेव भगवन्! मैं यह जो अपने समीपमें सर्वव्यापी अत्यन्त भयङ्कर अग्नि देख रहा हूँ, यह क्या वस्तु है और कहाँसे आ रही है? मुझे इसके विषयमें कुछ भी ज्ञान नहीं है॥ २६॥

श्रीभगवानुवाच—

वेत्थेदं द्रोणपुत्रस्य ब्राह्ममस्त्रं प्रदर्शितम्।
नैवासौ वेद संहारं प्राणबाध उपस्थिते॥ २७॥

श्रीभगवान्ने कहा—हे अर्जुन! यह अश्वत्थामाका ब्रह्मास्त्र है। अपने जीवनको सङ्कटमें आया देखकर उसने इसका प्रयोग तो कर दिया है, किन्तु वह इस अस्त्रको लौटाना बिलकुल नहीं जानता, किन्तु तुम जानते हो॥ २७॥

न ह्यस्यान्यतमं किञ्चिदस्त्रं प्रत्यवकर्शनम्।
जह्यस्त्रतेज उन्नद्धमस्त्रज्ञोऽस्यस्त्रतेजसा॥ २८॥

इस ब्रह्मास्त्रका दमन किसी भी अन्य अस्त्र द्वारा नहीं हो सकता, अतएव तुम अपने ब्रह्मास्त्रके तेजके द्वारा ही इस उत्कट ब्रह्मास्त्रके तेजका विनाश करो। तुम अस्त्र-विद्याके कुशल जानकार हो, अतः तुम्हें इसका प्रयोग भी आता है और इसे लौटाना भी॥ २८॥

श्रीसूत उवाच—

श्रुत्वा भगवता प्रोक्तं फाल्गुनः परवीरहा।
स्पृष्ट्वापस्तं परिक्रम्य ब्राह्मं ब्राह्माय सन्दधे॥ २९॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—अर्जुन वीर-शत्रुओंको मारनेमें बड़े प्रवीण थे। भगवान्के इन वचनोंको सुनकर अर्जुनने आचमन किया और उनकी परिक्रमा की। तत्पश्चात् उस ब्रह्मास्त्रका निवारण करनेके लिए श्रीकृष्णके आदेशानुसार उन्होंने अपने ब्रह्मास्त्रका ही सन्धान किया॥ २९॥

संहत्यान्योन्यमुभयोस्तेजसी शरसंवृते।
आवृत्य रोदसी खञ्च ववृधातेऽर्कवह्निवत्॥ ३०॥

इसके बाद बाणोंसे घिरे हुए उन दोनों ब्रह्मास्त्रोंका प्रचण्ड तेज, प्रलयकालके समय नीचेसे सङ्कर्षणकी मुखाग्नि और ऊपर स्थित

सूर्यके प्रखर तापके समान, परस्पर मिलकर स्वर्ग, मर्त्त्य और अन्तरीक्ष लोकोंको आच्छन्नकर सभी दिशाओंमें वर्द्धित होने लगा॥ ३०॥

दृष्ट्वास्त्रतेजस्तु तयोस्त्रील्लौँकान् प्रदहन्महत्।
दह्यमानाः प्रजाः सर्वाः सांवर्तकममंसत॥ ३१॥

अर्जुन और अश्वत्थामाके उन भीषण ब्रह्मास्त्रोंकी आगकी लपटे तीनों भुवनोंको ही दग्ध करने लगीं, जिससे समस्त जीव उत्तप्त हो गये और समझने लगे कि प्रलयकालीन सांवर्तक अग्नि ही उपस्थित हो गयी है॥ ३१॥

प्रजोपद्रवमालक्ष्य लोकव्यतिकरञ्च तम्।
मतञ्च वासुदेवस्य संजहारार्जुनो द्वयम्॥ ३२॥

उस प्रचण्ड प्रलयाग्निसे प्रजाओंका सङ्कट और समस्त लोकोंका विनाश होते देखकर महावीर पार्थने भगवान् श्रीकृष्णका अभिप्राय जानकर उनकी अनुमतिसे उन दोनों ही ब्रह्मास्त्रोंको लौटा लिया॥ ३२॥

तत आसाद्य तरसा दारुणं गौतमीसुतम्।
बबन्धामर्षताम्राक्षः पशुं रशनया यथा॥ ३३॥

अर्जुनकी आँखें क्रोधसे लाल हो रही थीं। उन्होंने गौतम-वंशमें उत्पन्न कृपी (कृपाचार्यकी बहिन) के पुत्र नृशंस (अर्थात् नर-वध करनेवाले) अश्वत्थामाको झपटकर बलपूर्वक पकड़ लिया और उसे इस प्रकार बाँध दिया, जिस प्रकार याज्ञिक लोग रस्सी द्वारा यज्ञके पशुको बाँध देते हैं॥ ३३॥

शिबिराय निनीषन्तं रज्वा बध्वा रिपुं बलात्।
प्राहार्जुनं प्रकुपितो भगवानम्बुजेक्षणः॥ ३४॥

इस प्रकार जब अर्जुन अपने शत्रु अश्वत्थामाको रस्सी द्वारा बलपूर्वक बाँधकर शिविरकी ओर ले जा रहे थे, तभी कमल दलके समान नेत्रोंवाले भगवान् श्रीकृष्ण मानो क्रोधित होकर अर्जुनसे कहने लगे— ॥ ३४॥

मैनं पार्थार्हसि त्रातुं ब्रह्मबन्धुमिमं जहि।
योऽसावनागसः सुप्तानवधीन्निशि बालकान्॥ ३५॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे पार्थ! इस अश्वत्थामाने रातके समय सोये हुए निरपराध शिशुओंकी हत्या की है। अतः इस अधम ब्राह्मणको छोड़ना युक्तिसङ्गत नहीं है, इसका वध कर डालो॥ ३५॥

मत्तं प्रमत्तमुन्मत्तं सुप्तं बालं स्त्रियं जडम्।
प्रपन्नं विरथं भीतं न रिपुं हन्ति धर्मवित्॥ ३६॥

धर्मवेत्ता पुरुष न तो ऐसे व्यक्तिका वध करते हैं जो मद्यपानसे मत्त, असावधान, ग्रह या वायु-रोग आदिसे पीड़ित (पागल) हो और न ही वे सोये हुए, चेष्टारहित, विवेकशून्य, शरणागत, रथहीन, बालकों, स्त्रियों अथवा भयभीत शत्रुका ही वध करते हैं॥ ३६॥

स्वप्राणान् यः परप्राणैः प्रपुष्णात्यघृणः खलः।
तद्वधस्तस्य हि श्रेयो यद्दोषाद्यात्यधः पुमान्॥ ३७॥

परन्तु जो दुष्ट और क्रूर व्यक्ति दूसरोंका वधकर अपने प्राणोंका पोषण करते हैं, उनके लिए मृत्यु-दण्ड ही कल्याणकारी है। मानव जब पापादि कार्य करते हैं, तब राजाओंके द्वारा दण्डित होनेसे उनका पाप धुल जाता है और वे सुकृतिवानोंके समान स्वर्गलोक जाते हैं। अन्यथा इस लोकमें दण्ड और प्रायश्चित्तसे रहित रहनेपर पापके फलसे वे नरकगामी होते हैं॥ ३७॥

प्रतिश्रुतञ्च भवता पाञ्चाल्यै शृण्वतो मम।
आहरिष्ये शिरस्तस्य यस्ते मानिनि पुत्रहा॥ ३८॥

हे अर्जुन! मैं जानता हूँ कि तुमने द्रौपदीसे यह प्रतिज्ञा की है कि "हे मानवती! जिस अश्वत्थामाने तुम्हारे पुत्रोंकी हत्या की है, मैं उसके सिरको तुम्हें उपहारके रूपमें प्रदान करूँगा॥"३८॥

तदसौ वध्यतां पाप आततायात्मबन्धुहा।
भर्त्तुश्च विप्रियं वीर कृतवान् कुलपांसनः॥ ३९॥

हे शूर! इस शस्त्रधारी, स्वजनोका वध करनेवाले, पापी, कुलाङ्गार अश्वत्थामाने ऐसा घृणित कार्य किया है, जिससे इसके स्वामी दुर्योधनको भी दुःख पहुँचा है, अतएव हे अर्जुन! इसका वध कर ही डालो॥ ३९॥

श्रीसूत उवाच—

एवं परीक्षता धर्मं पार्थः कृष्णेन चोदितः।
नैच्छद्धन्तुं गुरुसुतं यद्यप्यात्महनं महान्॥ ४०॥

श्रीसूतगोस्वामीने कहा—इस प्रकार अर्जुनकी धर्म-निष्ठाकी परीक्षा करते हुए यद्यपि श्रीकृष्ण उन्हें अश्वत्थामाके वधके लिए प्रोत्साहित ही करते रहे, तथापि महात्मा अर्जुनने अपने महत्वके लिए पुत्रोंका हत्यारा होनेपर भी गुरुपुत्र अश्वत्थामाका वध करनेकी इच्छा नहीं की॥ ४०॥

अथोपेत्य स्वशिबिरं गोविन्द-प्रियसारथिः।
न्यवेदयत्तं प्रियायै शोचन्त्यायात्मजान् हतान्॥ ४१॥

तत्पश्चात् अर्जुन अपने सखा और सारथी श्रीकृष्णके साथ अपने शिविरमें उपस्थित हुए और पुत्रोंके मर जानेपर शोक करती हुई द्रौपदीके निकट अश्वत्थामाको उसी स्थितिमें समर्पित कर दिया॥ ४१॥

तथाहृतं पशुवत् पाशबद्ध-
मवाङ्मुखं कर्मजुगुप्सितेन।
निरीक्ष्य कृष्णापकृतं गुरोः सुतं
वामस्वभावा कृपया ननाम च॥ ४२॥

द्रौपदीने देखा कि अश्वत्थामाको रस्सीसे बाँधकर पशुके समान बड़े ही असम्माननीय रूपसे लाया गया है। अपने निन्दनीय कर्म-दोषके कारण वह मौन है और नीचेकी ओर मुख किये हुए है। उस अनिष्ट करनेवाले गुरुपुत्र अश्वत्थामाको इस अवस्थामें देखकर शोभनीय स्वभावसे युक्त द्रौपदीका चित्त दयासे भर गया और उसने सम्मानके साथ अश्वत्थामाको नमस्कार किया॥ ४१-४२॥

उवाच चासहन्त्यस्य बन्धनानयनं सती।
मुच्यतां मुच्यतामेष ब्राह्मणो नितरां गुरुः॥ ४३॥

गुरुपुत्र अश्वत्थामाको इस प्रकार पशुकी भाँति बाँधकर लाना साध्वी द्रौपदीको सहन नहीं हुआ। वह बड़े आदरके साथ अर्जुनसे कहने लगीं—"आप इसे छोड़ दीजिये, छोड़ दीजिये। यह तो ब्राह्मण है और ब्राह्मण तो सब समय ही हमारे लिए पूजनीय हैं॥ ४३॥

सरहस्यो धनुर्वेदः सविसर्गोपसंयमः।
अस्त्रग्रामश्च भवता शिक्षितो यदनुग्रहात्॥ ४४॥
स एव भगवान् द्रोणः प्रजारूपेण वर्तते।
तस्यात्मनोऽर्द्धं पत्न्यास्ते नान्वगाद्वीरसूः कृपी॥ ४५॥

"हे नाथ! जिनकी कृपासे आपने रहस्यपूर्ण मन्त्रोंके साथ धनुर्विद्या तथा प्रयोग एवं उपसंहारके कौशलके साथ समस्त अस्त्रोंकी शिक्षा प्राप्त की है, वे भगवान् द्रोणाचार्य अपने पुत्र इसी अश्वत्थामाके रूपमें विद्यमान हैं। आपने इन्हें क्यों बाँधा? श्रीद्रोणाचार्यकी अर्द्धाङ्गिनी कृपी भी अभी जीवित हैं। अपने इसी वीरपुत्रकी ममताके कारण ही उन कृपीने अपने पतिका अनुगमनकर मृत्युको स्वीकार नहीं किया॥ ४४-४५॥

तद्धर्मज्ञ महाभाग भवद्भिर्गौरवं कुलम्।
वृजिनं नार्हति प्राप्तुं पूज्यं वन्द्यमभीक्ष्णशः॥ ४६॥

"हे महायशस्विन् आर्यपुत्र! आप तो धर्मके ज्ञाता हैं। जिस गुरु-वंशका नित्य पूजन और वन्दन करना चाहिये, उसीको दुःख प्रदान करना आपके लिए उचित नहीं है॥ ४६॥

मा रोदीदस्य जननी गौतमी पतिदेवता।
यथाहं मृतवत्सार्ता रोदिम्यश्रुमुखी मुहुः॥ ४७॥

"जिस प्रकार आज मैं अपने पुत्रोंके मर जानेपर दुःखी होकर रो रही हूँ, बार-बार आँसुओंके आनेके कारण मेरा मुख सूख ही नहीं रहा है, इस अश्वत्थामाकी माता पतिव्रता कृपी उस प्रकारसे न रोयें॥ ४७॥

यैः कोपितं ब्रह्मकुलं राजन्यैरजितात्मभिः।
तत्कुलं प्रदहत्याशु सानुबन्धं शुचार्पितम्॥ ४८॥

यदि कोई क्षत्रिय राजा अपने असंयमित कार्योंसे ब्राह्मण-कुलको क्रोधित कर देता है, तब वह कुपित ब्राह्मण-कुल भी उस क्षत्रिय-वंशको सपरिवार शोकाग्निमें निमग्नकर शीघ्र ही उसे नष्ट कर देता है॥ ४८॥

श्रीसूत उवाच—

धर्म्यं न्यायं सकरुणं निर्व्यलीकं समं महत्।
राजा धर्मसुतो राज्ञ्याः प्रत्यनन्दद्वचो द्विजाः॥ ४९॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—हे शौनकादि ब्राह्मणो! महारानी द्रौपदीके वचन धर्म और न्यायके अनुकूल, कपटतारहित, समता-सूचक और करुणापूर्ण थे। अतएव धर्मपुत्र महाराज युधिष्ठिरने रानी द्रौपदीके इन हितपूर्ण, श्रेष्ठ और उदार वचनोंका अनुमोदन किया॥ ४९॥

नकुलः सहदेवश्च युयुधानो धनञ्जयः।
भगवान् देवकीपुत्रो ये चान्ये याश्च योषितः॥ ५०॥

स्वयं-भगवान् श्रीवासुदेव, नकुल, सहदेव, सात्यकि, अर्जुन तथा अन्यान्य जो सभी पुरुष एवं नारियाँ उस स्थानपर उपस्थित थे, उन सभीने द्रौपदीकी बात सुनकर उसका समर्थन किया॥ ५०॥

तत्राहामर्षितो भीमस्तस्य श्रेयान् वधः स्मृतः।
न भर्तुर्नात्मनश्चार्थे योऽहन् सुप्तान् शिशून् वृथा॥ ५१॥

किन्तु उसी समय भीमसेन क्रोधित होकर बोले—इस दुर्मति अश्वत्थामाने न तो अपने स्वामी दुर्योधनका और न ही अपना हित किया है। इसने बिना किसी कारणके ही सोये हुए बालकोंकी हत्या की है, अतएव इस पापीका वध करनेमें ही इसका कल्याण है अन्यथा निश्चय ही इसका नरकपात होगा॥ ५१॥

निशम्य भीमगदितं द्रौपद्याश्च चतुर्भुजः।
आलोक्य वदनं सख्युरिदमाह हसन्निव॥ ५२॥

इस प्रकारसे भीमसेन एवं द्रौपदीके द्वारा कहे गये वचनोंको सुनकर श्रीकृष्णने सहसा चतुर्भुज रूप धारण कर लिया। (भीम यदि क्रोधित होकर अश्वत्थामाका वध करनेमें उद्यत हों, तब द्रौपदी उन्हें अवश्य ही रोकेगी। अतः दोनोंको ही रोकनेके लिए श्रीकृष्णने चतुर्भुज रूप धारण किया।) अर्जुनका मन स्थिर नहीं हो रहा था। भगवान् श्रीकृष्ण अपने सखा अर्जुनके मुखकी ओर दृष्टिपात करके (आज तुम्हारी बुद्धिकी गम्भीरताकी परीक्षा होगी, इस अभिप्रायसे) हँसते हुए इस प्रकार कहने लगे—॥५२॥

श्रीभगवानुवाच—

ब्रह्मबन्धुर्न हन्तव्य आततायी वधार्हणः।
मयैवोभयमाम्नातं परिपाह्यनुशासनम्॥५३॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—ब्राह्मण अधम होनेपर भी वधके योग्य नहीं है, किन्तु शस्त्रधारी-प्राणघातक आततायीका वध अवश्य ही कर देना चाहिये। मैंने इन दोनों ही विधानोंकी व्यवस्था शास्त्रोंमें की है। हे अर्जुन! परस्पर विरोधी होनेपर भी तुम मेरी इन दोनों ही आज्ञाओंका पालन करो॥५३॥

कुरु प्रतिश्रुतं सत्यं यत्तत् सान्त्वयता प्रियाम्।
प्रियञ्च भीमसेनस्य पाञ्चाल्या मह्यमेव च॥५४॥

हे सखे! शोकसे व्याकुल पत्नी द्रौपदीको सान्त्वना प्रदान करते हुए तुमने जो पुत्रोंके हत्यारेके सिरको उपहारके रूपमें प्रदान करनेकी प्रतिज्ञा की थी, तुम उस प्रतिज्ञाको यथार्थ रूपसे सत्य करो। अश्वत्थामाका वध करके भीमका, वध न करके द्रौपदीका, एवं वध तथा अवध—इन दोनों विधियोंकी रक्षा करते हुए अपनी प्रतिज्ञा पूर्णकर मेरा और सभीका प्रिय कार्य करो॥५४॥

श्रीसूत उवाच—

अर्जुनः सहसाज्ञाय हरेर्हार्दमथासिना।
मणिं जहार मूर्द्धन्यं द्विजस्य सहमूर्द्धजम्॥५५॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—तदनन्तर सहसा श्रीकृष्णके अभिप्रायको जानकर वध और अवध परस्पर विरुद्ध दोनों कार्योंको साधित करते हुए महावीर धनञ्जयने अपनी तलवारसे ब्रह्मबन्धु अश्वत्थामाके सिरका मुण्डनकर उसके मस्तककी मणिको निकाल लिया॥ ५५॥

विमुच्य रसनाबद्धं बालहत्याहतप्रभम्।
तेजसा मणिना हीनं शिबिरान्निरयापयत्॥ ५६॥

सोये हुए बालकोंका वध करनेके कारण अश्वत्थामा पहलेसे ही तेजहीन और शोभाहीन हो गया था। अब पुनः मणिसे रहित और ब्रह्मतेजसे भी हीन हो गया। यह देखकर अर्जुनने रस्सीसे बँधे हुए अश्वत्थामाको बन्धनमुक्त करके शिविरसे बाहर निकाल दिया॥ ५६॥

वपनं द्रविणादानं स्थानान्निर्यापणं तथा।
एष हि ब्रह्मबन्धूनां वधो नान्योऽस्ति दैहिकः॥ ५७॥

शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार सिरका मुण्डन कर देना, धन छीन लेना और अपने स्थानसे बाहर निकाल देना—यह सब पतित ब्राह्मणके लिए उसका वध करनेके समान ही हैं। इसके अतिरिक्त सिर काटना इत्यादि द्वारा ब्राह्मणके शारीरिक-वधकी आज्ञा शास्त्रोंमें नहीं दी गयी है॥ ५७॥

पुत्रशोकातुराः सर्वे पाण्डवाः सह कृष्णया।
स्वानां मृतानां यत्कृत्यं चक्रुर्निर्हरणादिकम्॥ ५८॥

तत्पश्चात् पुत्रशोकसे कातर पाँचो पाँण्डवों और द्रौपदीने अपने परलोकगत भाई-बन्धुओंके शवोंकी दाहादि समस्त ऊर्ध्व-दैहिक (अन्त्येष्टि) क्रियाएँ सम्पन्न की॥ ५८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां प्रथमस्कन्धे द्रौणिदण्डो नाम सप्तमोऽध्यायः॥

अष्टमोऽध्यायः

गर्भस्थ परीक्षित्‌की रक्षा, माता कुन्तीके द्वारा भगवान्‌की स्तुति तथा महाराज युधिष्ठिरका शोक

श्रीसूत उवाच—

अथ ते सम्परेतानां स्वानामुदकमिच्छताम्।
दातुं सकृष्णा गङ्गायां पुरस्कृत्य ययुः स्त्रियः॥ १॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—इसके बाद पाण्डव परलोकगत आत्मीय-बन्धुओंके उद्देश्यसे तर्पण करनेके लिए शास्त्र-विधिके अनुसार द्रौपदी सहित स्त्रियोंको आगे करके गङ्गाके तटपर आये॥ १॥

ते निनीयोदकं सर्वे विलप्य च भृशं पुनः।
आप्लुता हरिपादाब्ज-रजःपूतसरिज्जले॥ २॥

उन सबने स्नानके बाद मृत-बन्धुओंको जलाञ्जलि प्रदान की अर्थात् तर्पण किया तथा उनके गुणोंका स्मरण करते हुए विलाप करने लगे। तदुपरान्त सभीने श्रीहरिके चरणकमलोंकी धूलिसे पवित्र गङ्गाके जलमें पुनः स्नान किया॥ २॥

तत्रासीनं कुरुपतिं धृतराष्ट्रं सहानुजम्।
गान्धारीं पुत्रशोकार्त्तां पृथां कृष्णाञ्च माधवः॥ ३॥

सान्त्वयामास मुनिभिर्हतबन्धून् शुचार्पितान्।
भूतेषु कालस्य गतिं दर्शयन्नप्रतिक्रियाम्॥ ४॥

उस गङ्गाके तटपर भीमादि भाइयोंके साथ महाराज युधिष्ठिर, दुर्योधनादिके पिता धृतराष्ट्र, पुत्रोंके शोकसे कातर दुर्योधनादिकी माता गान्धारी, पाण्डवोंकी माता कुन्ती, पाण्डव-पत्नी द्रौपदी आदि बैठे हुए थे। वे सभी बन्धु-बान्धवोंके निधनसे शोकमें अभिभूत हो रहे थे। यह देखकर भगवान् श्रीकृष्णने मुनियोंके साथ उन सबको सान्त्वना

देते हुए कहा—कालकी गतिको रोका नहीं जा सकता है तथा कोई भी प्राणी इससे बच नहीं सकता॥ ३-४॥

साधयित्वाजातशत्रोः स्वराज्यं कितवैर्हृतम्।
घातयित्वाऽसतो राज्ञः कचस्पर्शक्षतायुषः॥ ५॥

याजयित्वाश्वमेधैस्तं त्रिभिरुत्तमकल्पकैः।
तद्यशः पावनं दिक्षु शतमन्योरिवातनोत्॥ ६॥

इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णने अजातशत्रु राजा युधिष्ठिरके जिस पैतृक राज्यको दुर्योधनादि धूर्त्त राजाओंने छलसे छीन लिया था, उसे वापस दिलवाया तथा द्रौपदीके केशोंको खींचनेके दोषसे जिन दुष्ट राजाओंकी आयु क्षीण हो गयी थी, उनका विनाश करवाया। तत्पश्चात् उन्होंने महाराज युधिष्ठिरके द्वारा सर्वश्रेष्ठ सामग्रियों एवं पुरोहितोंसे तीन अश्वमेध यज्ञ करवाकर सौ यज्ञ करनेवाले इन्द्रके समान उनकी पवित्र कीर्त्तिका चारों दिशाओंमें विस्तार किया॥ ५-६॥

आमन्त्र्य पाण्डुपुत्रांश्च शैनेयोद्धवसंयुतः।
द्वैपायनादिभिर्विप्रैः पूजितैः प्रतिपूजितः॥ ७॥

गन्तुं कृतमतिर्ब्रह्मन् द्वारकां रथमास्थितः।
उपलेभेऽभिधावन्तीमुत्तरां भयविह्वलाम्॥ ८॥

हे ब्रह्मन्! अब भगवान् श्रीकृष्ण द्वारका जाना चाहते थे। अतः उन्होंने पाण्डवोंसे यथायोग्य संभाषण करते हुए विदायी ली और श्रीवेदव्यास आदि मुनियोंका बड़ा सत्कार किया। पुनः उन ऋषियोंने भी श्रीकृष्णकी पूजा की। तदनन्तर जैसे ही श्रीकृष्ण शिनिपौत्र सात्यकि और उद्धवके साथ द्वारका जानेके लिए रथपर सवार हुए, उसी समय उन्होंने देखा कि अभिमन्युकी पत्नी उत्तरा भयसे व्याकुल होकर तीव्रगतिसे उनकी ओर दौड़ी चली आ रही है॥ ७-८॥

श्रीउत्तरोवाच—

पाहि पाहि महायोगिन् देवदेव जगत्पते।
नान्यं त्वदभयं पश्ये यत्र मृत्युः परस्परम्॥ ९॥

श्रीउत्तरादेवीने कहा—हे देवादिदेव! हे विश्वस्वामिन्! हे महायोगी! मेरी रक्षा करो, मेरी रक्षा करो। इस मर्त्यलोकमें एक वस्तु दूसरी वस्तुके विनाशका कारण है। आपके अतिरिक्त इस संसारमें अभय प्रदान करनेवाला कोई दूसरा दिखलायी नहीं देता, अतएव आपको छोड़कर मैं किससे प्रार्थना करूँ?॥ ९॥

अभिद्रवति मामीश शरस्तप्तायसो विभो।
कामं दहतु मां नाथ मा मे गर्भो निपात्यताम्॥ १०॥

हे परमेश्वर! हे सर्वव्यापिन्! हे सर्वशक्तिमान! देखिये! यह दहकता हुआ लोहेके बाणसे युक्त ब्रह्मास्त्र मुझे पीड़ा देनेके उद्देश्यसे मेरी ओर वेगपूर्वक चला आ रहा है। हे नाथ! यह चाहे मुझे दग्ध कर डाले, मुझे कोई चिन्ता नहीं, किन्तु मेरी गर्भस्थ सन्तानको नष्ट न करे॥ १०॥

श्रीसूत उवाच—

उपधार्य वचस्तस्या भगवान् भक्तवत्सलः।
अपाण्डवमिदं कर्त्तुं द्रौणेरस्त्रमबुध्यत॥ ११॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—भगवान् श्रीकृष्ण शरणागतोंके पालक हैं। उन्होंने उत्तराके इन दुःखपूर्ण वचनोंको सुना और भलीभाँति विचारकर समझ गये कि अपनी पराजयके कारण अत्यन्त क्रोधित द्रोणपुत्र अश्वत्थामाने इस संसारको पाण्डवोंसे रहित करनेके लिए ब्रह्मास्त्र छोड़ा है॥ ११॥

तर्ह्येवाथ मुनिश्रेष्ठ पाण्डवाः पञ्च सायकान्।
आत्मनोऽभिमुखान् दीप्तानालक्ष्यास्त्राण्युपाददुः॥ १२॥

हे मुनिश्रेष्ठ शौनक! ठीक उसी समय पाण्डवोंने देखा कि जलते हुए पाँच बाण उनकी ओर बढ़े चले आ रहे हैं। यह देखकर उन्होंने अपने-अपने अस्त्र धारण कर लिये॥ १२॥

व्यसनं वीक्ष्य तत् तेषामनन्यविषयात्मनाम्।
सुदर्शनेन स्वास्त्रेण स्वानां रक्षां व्यधाद्विभुः॥ १३॥

सर्वशक्तिमान भगवान् श्रीकृष्णने जब देखा कि उनके ऐकान्तिक प्रेमी और शरणागत भक्त पाण्डवोंपर बहुत बड़ी विपत्ति आ पड़ी है तथा दूसरे-दूसरे अस्त्रोंसे इस घोर विपत्तिजनक ब्रह्मास्त्रको रोका नहीं जा सकता, तब उन्होंने तत्काल ही अपने सुदर्शनचक्रसे अपने निजजन उन पाण्डवोंकी रक्षा की॥ १३॥

अन्तःस्थः सर्वभूतानामात्मा योगेश्वरो हरिः।
स्वमाययावृणोद्गर्भं वैराट्याः कुरुतन्तवे॥ १४॥

भगवान् श्रीहरि षडैश्वर्यपूर्ण और सभी प्राणियोंके हृदयमें विराजमान परमात्मा हैं। उन्होंने कुरुवंशमें उत्पन्न पाण्डवोंके वंशकी रक्षाके लिए विराटनन्दिनी उत्तराके गर्भमें श्रीकृष्णरूपमें ही प्रवेश किया और अपने योगमायारूपी कवचसे उसके गर्भको ढक दिया॥ १४॥

यद्यप्यस्त्रं ब्रह्मशिरस्त्वमोघञ्चाप्रतिक्रियम्।
वैष्णवं तेज आसाद्य समशाम्यद् भृगूद्वह॥ १५॥

हे भार्गव शौनकजी! यद्यपि ब्रह्मास्त्र अमोघ है अर्थात् कभी व्यर्थ नहीं जाता और उसके निवारणका भी कोई उपाय नहीं है, तथापि श्रीविष्णु (श्रीकृष्ण) से सम्बन्धित तेजके समक्ष आकर वह ब्रह्मास्त्र पूर्णतया शान्त हो गया॥ १५॥

मा मंस्था ह्येतदाश्चर्यं सर्वाश्चर्यमयेऽच्युते।
य इदं मायया देव्या सृजत्यवति हन्त्यजः॥ १६॥

हे ब्रह्मन्! परमपुरुष श्रीविष्णु जन्मादिसे रहित हैं। वे अपनी बहिरङ्गा माया-शक्तिसे इस विश्वकी सृष्टि, स्थिति और विनाश करते हैं। अचिन्त्यशक्तिमान होनेके कारण वे अनेक परम चमत्कारपूर्ण लीलाएँ करते हैं। उन अच्युत श्रीकृष्णके लिए इस ब्रह्मास्त्रको शान्त करना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है॥ १६॥

ब्रह्मतेजोविनिर्मुक्तैरात्मजैः सह कृष्णया।
प्रयाणाभिमुखं कृष्णमिदमाह पृथा सती॥ १७॥

तत्पश्चात् श्रीकृष्ण द्वारकाकी ओर प्रस्थान करनेके लिए तत्पर हुए। यह देखकर साध्वी कुन्ती ब्रह्मास्त्रकी ज्वालासे मुक्त अपने पुत्रों

और द्रौपदीके साथ उनकी इस प्रकारसे स्तुति करने लगीं—॥ १७॥

श्रीकुन्त्युवाच—

नमस्ये पुरुषं त्वाद्यमीश्वरं प्रकृतेः परम्।
अलक्ष्यं सर्वभूतानामन्तर्बहिरवस्थितम्॥ १८॥

माता कुन्तीने कहा—हे कृष्ण! आप मेरे भतीजे होते हुए भी आदिपुरुष हैं। आप मायासे अतीत तत्त्व हैं तथा मायाके नियन्ता हैं। यद्यपि आप समस्त प्राणियोंके भीतर एवं बाहरमें पूर्ण रूपसे अवस्थित हैं, तथापि आपको इन्द्रियों और उनकी वृत्तियोंके द्वारा नहीं जाना जा सकता। मैं आपको नमस्कार करती हूँ॥ १८॥

मायाजवनिकाच्छन्नमज्ञाधोक्षजमव्ययम् ।
न लक्ष्यसे मूढदृशा नटो नाट्यधरो यथा॥ १९॥

हे वासुदेव! आप अपने मायारूपी आवरणसे ढके रहते हैं। आप इन्द्रियज्ञानसे अतीत, अपरिच्छिन्न और अच्युत हैं। मैं भक्तियोगसे अनजान हूँ, इसलिए आपको केवल नमस्कार करती हूँ। जिस प्रकार गान-नृत्य-तालादिसे युक्त अभिनय करता हुआ कोई नट भिन्न-भिन्न वेश धारणकर भिन्न-भिन्न भाव प्रस्तुत करता है और उसके अभिनयसे मुग्ध द्रष्टा उसे पहचान नहीं पाते, उसी प्रकार आप देहाभिमानियोंके सामने प्रत्यक्ष रहकर भी उनके दृष्टिगोचर नहीं होते॥ १९॥

तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम्।
भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येम हि स्त्रियः॥ २०॥

मननशील, आसक्ति रहित, आत्म-अनात्म विवेकी जीवन्मुक्त परमहंस पुरुष भी आपकी महिमाके प्रभावके कारण आपका दर्शन नहीं कर पाते। अतएव ऐसे पुरुषोंमें भी अपने प्रति भक्ति उत्पन्न करानेके उद्देश्यसे अवतीर्ण आपका मेरे जैसी मुग्ध स्त्रियाँ कैसे दर्शन कर सकती है अर्थात् किस प्रकार आपको जाननेमें समर्थ हो सकती हैं?॥ २०॥

कृष्णाय वासुदेवाय देवकीनन्दनाय च।
नन्दगोपकुमाराय गोविन्दाय नमो नमः॥ २१॥

हे श्रीकृष्ण! समस्त अवतारोंकी तुलनामें आपका यह श्रीकृष्ण अवतार ही अति श्रेष्ठ है। पुनः इस अवतारमें आपने जिन्हें अपने सम्बन्धसे प्रीतियुक्त और कृतार्थ किया है, उनमें मेरे भाई वसुदेव ही अति धन्य हैं, क्योंकि आपने उन्हें अपने पिताके रूपमें वरण किया है, इसलिए आपका नाम वासुदेव है। पिता वसुदेवकी अपेक्षा भी अधिक स्नेहवत्सला एवं सौभाग्यशालिनी माता देवकी हैं, जिनके गर्भसे प्रकट होकर आपने उन्हें अधिक धन्या और समृद्धिमती बनाया है, इसीलिए आप 'देवकीनन्दन' कहलाते हैं। इसकी भी अपेक्षा अधिक धन्य वात्सल्य-स्नेहसे परिपूर्ण गोपराज नन्द हैं। उन्होंने आपकी कौमार-लीलाके माधुर्यका आस्वादन किया है, इसलिए आप 'नन्दगोपकुमार' अर्थात् 'नन्दनन्दन' कहलाते हैं। उनकी भी अपेक्षा प्रीतिमती देवी यशोदा धन्या हैं, इसलिए आप 'यशोदानन्दन' कहलाते हैं। आपकी कौमार-लीलाकी अपेक्षा व्रजकी कैशोर-लीलाका माधुर्य श्रेष्ठ है, क्योंकि आप अपनी कैशोर-लीला द्वारा सभीकी समस्त इन्द्रियोंको आकर्षणकर आनन्दका उपभोग करते हैं, इसलिए आप 'गोविन्द' हैं। आपको बार-बार प्रणाम है॥ २१॥

नमः पङ्कजनाभाय नमः पङ्कजमालिने।
नमः पङ्कजनेत्राय नमस्ते पङ्कजाङ्घ्रये॥ २२॥

आपकी नाभिसे ब्रह्माजीका जन्म-स्थान 'कमल' प्रकट हुआ है, आपके गलेमें सुन्दर कमलोंकी माला सुशोभित है, आपके दोनों नेत्र कमलके समान प्रफुल्लित एवं विशाल हैं, आपके दोनों चरणोंमें कमलका चिह्न अङ्कित है। आपको देखकर मेरे नेत्र सुशीतल हो जाते हैं, अतएव मैं आपको पुनः-पुनः प्रणाम करती हूँ॥ २२॥

यथा हृषीकेश खलेन देवकी
कंसेन रुद्धातिचिरं शुचार्पिता।
विमोचिताहञ्च सहात्मजा विभो
त्वयैव नाथेन मुहुर्विपद्गणात्॥ २३॥

हे सर्वशक्तिमान इन्द्रियाधिपति! आपकी माता देवकीको क्रूर कंसने बहुत समय तक कारागारमें बन्द कर दिया था, जिससे वे शोकसे व्याकुल रहती थीं। जिस प्रकार आपने उन्हें कारागारसे मुक्त किया है, उसी प्रकार हे सर्वव्यापिन् प्रभो! आपने मेरे और मेरे पुत्र—पाण्डवोंके रक्षक एवं पालकके रूपमें हमें अनेक विपत्तियोंसे अति शीघ्र ही बार-बार मुक्त किया है॥ २३॥

विषान्महाग्नेः पुरुषाद-दर्शना-
दसत्सभाया वनवासकृच्छ्रतः।
मृधे मृधेऽनेकमहारथास्त्रतो
द्रौण्यस्त्रतश्चास्म हरेऽभिरक्षिताः॥ २४॥

हे श्रीहरि! आप सर्वशक्तिमान हैं। आपने विष-मिश्रित मोदक (लड्डु) से होनेवाली मृत्युसे, लाक्षा-गृह-दाहसे, मानव-भक्षक हिडिम्बादि दुष्ट राक्षसोंकी दृष्टिसे, दुष्टोंकी द्यूत-सभासे, वनवासरूप कष्टोंसे और प्रत्येक युद्धमें भीष्म, द्रोण, कर्ण आदि अनेकों महारथियोंके प्राणघाती अस्त्रोंसे तथा अभी-अभी अश्वत्थामाके इस ब्रह्मास्त्रसे सभी प्रकारसे हमारी रक्षा की है॥ २४॥

विपदः सन्तु ताः शश्वत् तत्र तत्र जगद्गुरो।
भावतो दर्शनं यत् स्यादपुनर्भवदर्शनम्॥ २५॥

हे विश्वपति श्रीकृष्ण! इन सब विपत्तियोंके बार-बार उपस्थित होनेके कारण ही हमें आपके दुर्लभ दर्शनका सौभाग्य प्राप्त होता है। आपका दर्शन होनेपर पुनः इस संसार-चक्रमें आना नहीं पड़ता। इसलिए हे सम्पद्रूप अहङ्कारकी आँधीको ध्वंस करनेवाले! हमारी वे सभी विपत्तियाँ इस प्रकारकी विचित्र अवस्थाओंमें चिरस्थायी बनी रहें, बार-बार आती रहें॥ २५॥

जन्मैश्वर्यश्रुतश्रीभिरेधमानमदः पुमान्।
नैवार्हत्यभिधातुं वै त्वामकिञ्चनगोचरम्॥ २६॥

हे श्रीकृष्ण! उच्चकुलमें जन्म, ऐश्वर्य, विद्या और रूपादिको प्राप्तकर जिनका अभिमान बढ़ता जाता है, वे कभी भी आपके

श्रीकृष्ण, गोविन्द इत्यादि पावन नामोंका कीर्त्तन करनेमें समर्थ नहीं हो सकते। यह सौभाग्य तो एकमात्र सांसारिक अभिमानसे रहित निष्किञ्चन भक्तोंको ही प्राप्त होता है॥ २६॥

नमोऽकिञ्चनवित्ताय निवृत्तगुणवृत्तये।
आत्मारामाय शान्ताय कैवल्यपतये नमः॥ २७॥

आप अकिञ्चन भक्तोंके परम धन हैं और ये अकिञ्चन भक्त भी आपके सर्वस्व हैं। आप धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी वाञ्छारूप विषयोंकी कामनासे रहित हैं, अपितु ये सब तो आपको स्पर्श भी नहीं कर सकते, क्योंकि आप अपनी आत्मामें ही विहार करनेवाले हैं। आप पूर्णानन्दस्वरूप, शान्तस्वरूप तथा मोक्ष प्रदाता हैं। अतः मैं आपको बार-बार प्रणाम करती हूँ॥ २७॥

मन्ये त्वां कालमीशानमनादिनिधनं विभुम्।
समं चरन्तं सर्वत्र भूतानां यन्मिथः कलिः॥ २८॥

हे श्रीकृष्ण! आप केवल देवकीके पुत्र ही नहीं, अपितु सभीके कालस्वरूप हैं। आप सभीके नियन्ता हैं, अतः आपका न आदि है और न ही अन्त। आप सर्व-समर्थ प्रभु हैं तथा सर्वत्र समान भावसे रहते हैं। यद्यपि आप पार्थसारथी हैं, तथापि आपको निमित्त बनाकर प्राणी परस्पर कलह करते रहते हैं कि आप ईश्वर हैं, दुःख और सुख प्रदाता हैं, सम और विषम हैं, करुणापूर्ण और करुणाहीन हैं। किन्तु वस्तुतः आपमें किसी प्रकारकी विषमता नहीं है॥ २८॥

न वेद कश्चिद्भगवंश्चिकीर्षितं
तवेहमानस्य नृणां विडम्बनम्।
न यस्य कश्चिद्दयितोऽस्ति कर्हिचिद्
द्वेष्यश्च यस्मिन् विषमा मतिर्नृणाम्॥ २९॥

हे ईश्वर! आपका कभी भी कोई भी प्रिय मित्र अथवा अप्रिय शत्रु नहीं है। जब आप नरवत् लौकिक-लीलाका अनुकरण करनेके लिए तत्पर होते हैं, तब यह कोई नहीं जान सकता कि आप किस अभीष्ट कार्यको सम्पन्न करना चाहते हैं। आपके सम्बन्धमें मनुष्य

कृपा और दण्डरूप भ्रम-बुद्धिका आरोप उसी प्रकार कर लेता है, जिस प्रकार सूर्य सूर्यकान्त शिलामें अपने ही समान दाहिका शक्तिका गुण प्रदान करता है, जिससे अन्ध, उदासीन और चक्रवाक पक्षियोंका तो उपकार होता है, किन्तु उल्लूपक्षी, तस्कर और अन्धकारादिका अपकार होता है। वस्तुतः सूर्यमें किसी प्रकारकी विषमता नहीं होती॥ २९॥

जन्म कर्म च विश्वात्मन्नजस्याकर्तुरात्मनः।
तिर्यङ्नृषिषु यादःसु तदत्यन्तविडम्बनम्॥ ३०॥

हे विश्वकी आत्मा! आप परमात्मा अन्तर्यामी विश्वरूप हैं। आप न तो जन्म लेते हैं और न ही कर्म करते हैं, तथापि पशु-लीला करते हुए वराहादि रूपमें, नर-लीला करते हुए रामादि रूपमें, ऋषि-लीला करते हुए नर-नारायणादि रूपमें, जल-जन्तुकी लीला करते हुए मत्स्यादि रूपमें अवतीर्ण होकर आप जिन-जिन क्रियाओंको करते हैं—वह समस्त केवल अभिनय हैं अर्थात् लोक प्रवञ्चना मात्र हैं॥ ३०॥

गोप्याददे त्वयि कृतागसि दाम तावद्
या ते दशाश्रुकलिलाञ्जनसम्भ्रमाक्षम्।
वक्त्रं निनीय भयभावनया स्थितस्य
सा मां विमोहयति भीरपि यद्बिभेति॥ ३१॥

बाल्यकालमें आपने दधि-भाण्डको फोड़ दिया था। आपके इस 'अपराध' के लिए गोपराज पत्नी श्रीयशोदादेवीने आपको बाँधनेके लिए जिस समय हाथोंमें रस्सी धारण की थी, उस समय आपके अञ्जन लगे हुए नेत्र व्याकुल होने लगे और उनसे आँसू निकलने लगे। आपने अपना मुख नीचे कर लिया और 'माता मुझे मारेगी'—इस भयसे भीत होकर चिन्तामग्न हो गये। आप तो साक्षात् भयस्वरूप हैं, महाकाल भी आपसे भयभीत होता है। अतः उस समय आपकी जो अवस्था हुई थी, उस लीला छविको स्मरण करके मैं मोहित हो रही हूँ॥ ३१॥

केचिदाहुरजं जातं पुण्यश्लोकस्य कीर्तये।
यदोः प्रियस्यान्ववाये मलयस्येव चन्दनम्॥ ३२॥

आपने अजन्मा होकर भी जन्म-ग्रहण किया है। आपके इस प्रादुर्भावके कारणके विषयमें कई मतभेद है। कोई-कोई कहते हैं कि जिस प्रकार मलय-पर्वतके यशकी वृद्धिके लिए उसपर चन्दन-वृक्षोंका जन्म होता है, उसी प्रकार पुण्यश्लोक प्रिय युधिष्ठिर और पवित्रकीर्त्ति यदुओंके यशके विस्तारके लिए ही आप यदुवंशमें अवतीर्ण हुए हैं॥ ३२॥

अपरे वसुदेवस्य देवक्यां याचितोऽभ्यगात्।
अजस्त्वमस्य क्षेमाय वधाय च सुरद्विषाम्॥ ३३॥

अन्य कुछ लोग कहते हैं कि सुतपा-पृश्निरूप क्षत्रिय दम्पत्तिने आपको पुत्ररूपमें प्राप्त करनेके लिए आपसे वरदान माँगा था, इसलिए आपने इस जगत्के कल्याण और असुरोंके नाशके लिए अजन्मा होकर भी वसुदेव-देवकी (पूर्व जन्ममें सुतपा-पृश्नि) के पुत्र होनेके भावको सम्पूर्ण रूपसे अङ्गीकार किया है॥ ३३॥

भारावतरणायान्ये भुवो नाव इवोदधौ।
सीदन्त्या भूरि भारेण जातो ह्यात्मभुवार्थितः॥ ३४॥

दैत्योंके असहनीय पाप-भारके कारण पृथ्वी अति पीड़ित होकर इस प्रकार डगमगा रही थी, जिस प्रकार समुद्रके बीचमें अत्यधिक भारके कारण नौका डूबने लगती है। ब्रह्माजीने (समस्त देवताओंके साथ) पृथ्वीके भार-हरणके लिए आपसे प्रार्थना की थी। उनकी प्रार्थनाके फलस्वरूप ही आप अवतीर्ण हुए हैं—ऐसा भी कोई-कोई कहते हैं॥ ३४॥

भवेऽस्मिन् क्लिश्यमानानामविद्याकामकर्मभिः।
श्रवणस्मरणार्हाणि करिष्यन्निति केचन॥ ३५॥

इस संसारमें आपके परमानन्द स्वरूपकी जो अज्ञानरूपिणी अविद्या है, उसके कारण ही जीवकी शरीरके प्रति आत्मबुद्धि होती है, जिससे उसमें अनेकों कामनाओंकी उत्पत्ति होती है। कोई-कोई

ऐसा भी कहते हैं कि आपने जन्म-ग्रहण करके अनेकों प्रकारकी लीलाएँ की है, जिससे इन कामनाओंकी अग्निमें दग्ध हो रहे जीव अपने दुःखोंकी निवृत्तिके लिए ही इन लीलाओंका श्रवण-स्मरण-ध्यान कर सकें॥ ३५॥

शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः
स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः।
त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं
भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुजम्॥ ३६॥

जो लोग आपकी पवित्र कथाका बार-बार श्रवण, कीर्त्तन, उच्चारण और स्मरण करके आनन्दित होते हैं अथवा दूसरेके द्वारा आपकी कथाका कीर्त्तन होनेपर उसका बड़ा आदर करते हैं, वे लोग अतिशीघ्र ही आपके चरणकमलोंका दर्शन प्राप्त कर लेते हैं, जिसके प्रभावसे उनका जन्म-मृत्युका प्रवाह सदाके लिए रुक जाता है॥ ३६॥

अप्यद्य नस्त्वं स्वकृतेहित प्रभो
जिहाससि स्वित् सुहृदोऽनुजीविनः।
येषां न चान्यद्भवतः पदाम्बुजात्
परायणं राजसु योजितांहसाम्॥ ३७॥

हे भगवन्! आप सदा अपने भक्तोंके कार्योंको सम्पन्न करनेके इच्छुक रहते हैं। युद्धमें मेरे पुत्रों द्वारा राजाओंके बन्धु-बान्धवादिके वधके कारण वे राजा मेरे पुत्रोंके विद्वेषी और शत्रु हो गये हैं। हमलोग पूर्णतया आपके आश्रित हैं, अतएव आपके चरणकमलोंके अतिरिक्त हमारा कोई दूसरा सहारा नहीं है। क्या अब आप अपने आश्रित स्वजनोंको छोड़कर जाना चाहते हैं?॥ ३७॥

के वयं नामरूपाभ्यां यदुभिः सह पाण्डवाः।
भवतो दर्शनं यर्हि हृषीकाणामिवेशितुः॥ ३८॥

जिस प्रकार इन्द्रियोंके चालक जीवके अदृश्य होते ही इन्द्रियाँ अपने नाम और रूपसे रहित तथा शक्तिहीन हो जाती हैं, उसी प्रकार यदि हमपर आपकी कृपादृष्टि न रहे, तो यशस्वी और समृद्धिशाली

यदुओंके साथ युक्त होनेपर भी, पाँचों पाण्डवोंका और मेरा मूल्य ही क्या रह जायेगा? हमारा अस्तित्व तो अति तुच्छ है। हम सैकड़ों बलोंसे भी बलवान क्यों न हों—आपके अभावमें सब कुछ निष्फल ही है, क्योंकि आप ही हमारा एकमात्र बल और सहारा हैं॥ ३८॥

नेयं शोभिष्यते तत्र यथेदानीं गदाधर।
त्वत्पदैरङ्किता भाति स्वलक्षणविलक्षितैः॥ ३९॥

हे गदाधर कृष्ण! अब जिस प्रकार हमारी पाल्य—कुरुजाङ्गल देशकी भूमि असाधारण ध्वज, वज्र, अंकुश आदि चिह्नोंसे युक्त आपके चरण-युगलोंसे चिह्नित होकर शोभा पा रही है, आपके चले जानेपर उसकी वैसी शोभा नहीं हो सकती॥ ३९॥

इमे जनपदाः स्वृद्धाः सुपक्वौषधिवीरुधः।
वनाद्रिनद्युदन्वन्तो ह्येधन्ते तव वीक्षिताः॥ ४०॥

विशेष रूपसे आपके दर्शनके प्रभावसे यह देश समस्त प्रकारके उत्तम फलों, औषधियों और लता-वृक्षोंसे समृद्ध हो रहा है। आपकी कृपादृष्टिसे समृद्ध होकर ही ये वन, पर्वत, नदियाँ और सागर वर्द्धित हो रहे हैं॥ ४०॥

अथ विश्वेश विश्वात्मन् विश्वमूर्ते स्वकेषु मे।
स्नेहपाशमिमं छिन्धि दृढं पाण्डुषु वृष्णिषु॥ ४१॥

हे जगदीश! हे सबके अन्तर्यामिन्! हे विश्वरूप! अब आप यहाँसे प्रस्थान करें या यहाँ रहें, जो भी करें, परन्तु इन पाण्डवों एवं यादवोंके प्रति मेरा जो स्नेहबन्धन बड़ा गाढ़ हो गया है—आप कृपया इसका छेदन कर दीजिये॥ ४१॥

त्वयि मेऽनन्यविषया मतिर्मधुपतेऽसकृत्।
रतिमुद्वहतादद्धा गङ्गेवौघमुदन्वति॥ ४२॥

हे माधव! गङ्गा जिस प्रकार किसी भी विघ्नको विघ्न नहीं मानतीं तथा समस्त नद-नदियोंके आश्रय सागरकी ओर उन्मुख होकर अपने स्रोतको प्रवाहित करती रहती हैं, उसी प्रकार मेरी एकान्तिक साध्वी

मति विघ्नोंसे मुक्त होकर समस्त भक्तोंके आश्रय-स्वरूप आपके प्रति निरन्तर प्रेममयी बनी रहे॥ ४२॥

श्रीकृष्ण कृष्णसख वृष्ण्यृषभावनीध्रुग्-
राजन्यवंशदहनानपवर्गवीर्य ।
गोविन्द गोद्विज-सुरार्तिहरावतार
योगेश्वराखिलगुरो भगवन् नमस्ते॥ ४३॥

हे कृष्ण! हे अर्जुनसखा! हे यादवश्रेष्ठ! आप पृथ्वीद्रोही राजवेशधारी दैत्योंके कुलका विनाश करनेवाले हैं। हे गोविन्द! आप अपने अक्षय प्रभावसे वैकुण्ठ और गोलोकाधिपति हैं। गौ, ब्राह्मण और देवताओंके दुःखोंको दूर करनेके लिए आपका अवतार हुआ है। हे योगेश्वर! हे विश्वगुरु! हे ईश्वर! मैं आपको प्रणाम करती हूँ॥ ४३॥

श्रीसूत उवाच—

पृथयेत्थं कलपदैः परिणूताखिलोदयः।
मन्दं जहास वैकुण्ठो मोहयन्निव मायया॥ ४४॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—श्रीकुन्तीदेवीने इस प्रकार मधुर पदोंसे युक्त वचनोंके द्वारा भगवान्‌की सम्पूर्ण महिमाके विषयमें विशेष भावसे स्तुति की, जिसे सुनकर अप्राकृत वैकुण्ठके ईश्वर श्रीकृष्ण उन्हें अपनी मायासे मानो मोहित करते हुए मन्द-मन्द मुसकराने लगे॥ ४४॥

तां बाढमित्युपामन्त्र्य प्रविश्य गजसाह्वयम्।
स्त्रियश्च स्वपुरं यास्यन् प्रेम्णा राज्ञा निवारितः॥ ४५॥

'आपमें मेरी एकान्तिक मति निरन्तर प्रेममयी रहे'—माता कुन्तीकी इस प्रार्थनाको स्वीकार करते हुए श्रीकृष्णने 'तथास्तु' कहा और कुन्तीके अनुरोधको भी स्वीकार करके रथसे उतरकर हस्तिनापुरमें प्रवेश किया। इसके बाद पुनः जब वे कुन्ती और सुभद्रा आदि अन्यान्य स्त्रियोंसे विदायी लेकर अपने राज्य द्वारकापुरीको जाने लगे, तब राजा श्रीयुधिष्ठिरने उनसे 'यहाँ कुछ दिन और रह जाइये'—इस प्रकारकी अत्यन्त प्रेमभरी प्रार्थना करके उन्हें रोक लिया॥ ४५॥

व्यासाद्यैरीश्वरेहाज्ञैः कृष्णेनाद्भुतकर्मणा।
प्रबोधितोऽपीतिहासैर्नाबुध्यत शुचार्पितः॥ ४६॥

राजा युधिष्ठिरको अपने भाई-बन्धुओंके मारे जानेका बड़ा शोक हो रहा था,[१] भगवान्‌की लीलाका मर्म जाननेवाले व्यास आदि महर्षियोंने और स्वयं अलौकिक लीलाएँ करनेवाले श्रीकृष्णने पूर्व इतिहास बतलाकर अबोध युधिष्ठिरको समझानेका बहुत प्रयास किया, परन्तु उन्हें सान्त्वना नहीं मिली, न ही उनका विवेक जगा अर्थात् उन्हें शान्ति प्राप्त नहीं हुई॥ ४६॥

आह राजा धर्मसुतश्चिन्तयन् सुहृदां वधम्।
प्राकृतेनात्मना विप्राः स्नेहमोहवशं गतः॥ ४७॥

हे शौनकादि ब्राह्मणो! धर्मपुत्र महाराज युधिष्ठिरका हृदय अविवेकसे ग्रस्त हो रहा था। सुहृद और स्वजनोंके विनाशकी चिन्तासे वे स्नेह और मोहके वशीभूत होकर कहने लगे—॥ ४७॥

अहो मे पश्यताज्ञानं हृदिरूढं दुरात्मनः।
पारक्यस्यैव देहस्य बह्व्यो मेऽक्षौहिणीर्हताः॥ ४८॥

हाय! मैं बड़ा ही पापी हूँ। मेरे हृदयके मूलमें बद्ध हुए इस गाढ़ मोहरूप अज्ञानको तो देखो! मैंने सियार और कुत्तोंके आहार इस

---

[१] मूल श्लोकमें 'ईश्वरेहाज्ञैः' पदका अर्थ 'ईश्वरेहाया अज्ञैः' भी किया गया है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरने स्वरचित टीकामें इस पद की व्याख्या इस प्रकार की है—भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा अपने भक्त भीष्मको उनके निर्याणके समयमें दर्शन देनेके लिए राजा युधिष्ठिरके साथ कुरुक्षेत्र जाना और उन्हीं भीष्मदेवके मुखसे युधिष्ठिरको सान्त्वना दिलाना—व्यासदेव इत्यादि ऋषि भी श्रीकृष्णके इन दोनों कार्योंको सम्पन्न करनेके अभिप्रायसे अवगत नहीं थे। जिन भगवान् द्वारा कौरव और पाण्डवोंकी सन्धिके लिए यथेष्ट चेष्टा करनेपर भी जिस प्रकार उन भगवान्‌ने युद्धको ही पहलेसे निश्चित कर रखा था, उसी प्रकार यहाँपर भी भक्तराज भीष्मदेवके माहात्म्यको दिखलानेके लिए उन श्रीकृष्णने स्वयं अन्तर्यामी रूपमें राजा युधिष्ठिरके अन्तरमें प्रवेशकर उनमें अविवेक उत्पन्न किया और बाहरसे स्वयं और व्यासादि ऋषियों द्वारा युधिष्ठिरको समझानेपर भी उनका अविवेक ही दृढ़ किया—]

अनात्म शरीरके लिए कितनी ही अक्षौहिणी[१] सेनाओंको मार डाला॥ ४८॥

बालद्विज-सुहृन्मित्र-पितृभ्रातृगुरुद्रुहः ।
न मे स्यान्निरयान्मोक्षो ह्यपि वर्षायुतायुतैः॥ ४९॥

हाय! मैंने बालक, ब्राह्मण, सम्बन्धी, सखा, चाचा-ताऊ, भाई और गुरुजनोंका वध किया है, अतः मैं करोड़ों वर्षों तक भी नरकसे छुटकारा प्राप्त नहीं कर पाऊँगा॥ ४९॥

नैनो राज्ञः प्रजाभर्तुर्धर्मो युद्धे वधो द्विषाम्।
इति मे न तु बोधाय कल्पते शासनं वचः॥ ५०॥

'युद्धके समय प्रजाके पालनके उद्देश्यसे राजा शत्रुओंका विनाश कर सकता है तथा यह उसका स्वधर्म है, इसमें पाप नहीं होता—यही धर्मशास्त्रका विधान है', परन्तु मुझे इन लिखित वचनोंसे सान्त्वना नहीं मिल रही है। भावार्थ—शत्रु द्वारा अपनी प्रजामें अशान्ति उत्पन्न होनेपर राजा द्वारा शत्रुओंका वध शास्त्र-विहित है। किन्तु दुर्योधन तो अपनी प्रजाका सुखपूर्वक पालन कर रहा था। मैंने तो केवल राज्यके लोभसे उसका वध किया है, अतः मेरे द्वारा पाप ही हुआ है॥ ५०॥

स्त्रीणां मद्धतबन्धूनां द्रोहो योऽसाविहोत्थितः।
कर्मभिर्गृहमेधीयैर्नाहं कल्पो व्यपोहितुम्॥ ५१॥

इस युद्धमें मैंने जिनके पति, बन्धु-बान्धवोंका वध किया है, उन स्त्रियोंके मनमें मेरे प्रति भयानक हिंसाका भाव उत्पन्न हो गया है। उनके प्रति हुए मेरे इस अपराधको मैं गृहस्थाश्रममें विहित समस्त धर्म-कर्मादि द्वारा भी धोनेमें समर्थ नहीं हो सकता॥ ५१॥

यथा पङ्केन पङ्काम्भः सुरया वा सुराकृतम्।
भूतहत्यां तथैवैकां न यज्ञैर्मार्ष्टुमर्हति॥ ५२॥

---

[१] २१८७० रथ, २१८७० हाथी, १०९३५० पैदल, ६५६०० घुड़सवार—इतनी सेनाको अक्षौहिणी कहते हैं।

जिस प्रकार कीचड़ द्वारा कीचड़ मिश्रित जल स्वच्छ नहीं होता अथवा जिस प्रकार एक बिन्दु मदिराके स्पर्शकी अपवित्रताको मदिरापान द्वारा शुद्ध नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार मनुष्य द्वारा प्रमादवशतः हो जानेवाली प्राणियोंकी हत्यासे उत्पन्न पापको हिंसामूलक बहुत-से यज्ञोंके द्वारा शोधित नहीं किया जा सकता, अर्थात् हिंसा द्वारा उसका प्रायश्चित्त नहीं किया जा सकता॥५२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां प्रथमस्कन्धे श्रीकुन्तीस्तवः श्रीयुधिष्ठिरानुतापो नामाष्टमोऽध्यायः॥

नवमोऽध्यायः

युधिष्ठिर आदिका भीष्मदेवके पास जाना, भीष्मदेवके द्वारा उन्हें समझाना तथा भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति करते हुए भीष्मदेवका महाप्रयाण

श्रीसूत उवाच—

इति भीतः प्रजाद्रोहात् सर्वधर्मविवित्सया।
ततो विनशनं प्रागाद्यत्र देवव्रतोऽपतत्॥ १॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—इस प्रकार राजा युधिष्ठिर प्रजाके विद्रोहकी आशङ्कासे भयभीत हो गये। ऐसी अवस्थामें समस्त धर्मोंके तत्त्वको जाननेके इच्छुक महाराज युधिष्ठिर भगवान् श्रीकृष्णके कहे अनुसार कुरुक्षेत्रकी ओर चल दिये, जहाँ श्रीभीष्मदेव शर-शय्यापर लेटे हुए थे॥ १॥

तदा ते भ्रातरः सर्वे सदश्वैः स्वर्णभूषितैः।
अन्वगच्छन् रथैर्विप्रा व्यासधौम्यादयस्तथा॥ २॥

हे शौनकादि ऋषियो! सब भाई स्वर्ण-जड़ित रथोंपर सवार हुए जिनमें उत्तम-उत्तम अश्व जुते हुए थे। सभी भाई महाराज युधिष्ठिरका अनुगमन कर रहे थे तथा व्यास, धौम्य आदि ब्राह्मण भी उनके साथ थे॥ २॥

भगवानपि विप्रर्षे रथेन सधनञ्जयः।
स तैर्व्यरोचत नृपः कुबेर इव गुह्यकैः॥ ३॥

हे शौनकजी! श्रीकृष्ण भी अर्जुनके साथ रथपर चढ़कर धर्मराज युधिष्ठिरके पीछे-पीछे चलने लगे। उस समय समस्त भाईयोंके साथ राजा युधिष्ठिर इस प्रकारसे शोभायमान हो रहे थे, मानो यक्षोंसे घिरे हुए धनाधिपति साक्षात् कुबेर चले जा रहे हों॥ ३॥

दृष्ट्वा निपतितं भूमौ दिवश्च्युतमिवामरम्।
प्रणेमुः पाण्डवा भीष्मं सानुगाः सह चक्रिणा॥ ४॥

महाराज युधिष्ठिर आदि पाण्डवोंने भगवान् श्रीकृष्ण और अपने अनुचरोंके साथ कुरुक्षेत्रमें उपस्थित होकर देखा कि श्रीभीष्मदेव स्वर्गसे गिरे हुए श्रेष्ठ देवताके समान भूमिपर पड़े हुए हैं। तब सभीने उन्हें प्रणाम किया॥ ४॥

तत्र ब्रह्मर्षयः सर्वे देवर्षयश्च सत्तम।
राजर्षयश्च तत्रासन् द्रष्टुं भरतपुङ्गवम्॥ ५॥

पर्वतो नारदो धौम्यो भगवान् बादरायणः।
बृहदश्वो भरद्वाजः सशिष्यो रेणुकासुतः॥ ६॥

वशिष्ठ इन्द्रप्रमदस्त्रितो गृत्समदोऽसितः।
काक्षीवान् गौतमोऽत्रिश्च कौशिकोऽथ सुदर्शनः॥ ७॥

हे साधुश्रेष्ठ शौनक! उस समय भरतकुलके तिलक श्रीभीष्मदेवको देखनेके लिए ब्रह्मर्षि, देवर्षि, राजर्षि एवं शिष्योंके सहित नारद, धौम्य, भगवान् बादरायण, बृहदश्व, भरद्वाज, रेणुकासुत (परशुराम), वशिष्ठ, इन्द्रप्रमद, त्रित, गृत्समद, असित, काक्षीवान्, गौतम, अत्रि, कौशिक और सुदर्शन आदि मुनि वहीं कुरुक्षेत्रमें उपस्थित हुए॥ ५-७॥

अन्ये च मुनयो ब्रह्मन् ब्रह्मरातादयोऽमलाः।
शिष्यैरुपेता आजग्मुः कश्यपाङ्गिरसादयः॥ ८॥

हे ब्रह्मन्! इनके अतिरिक्त श्रीशुकदेव आदि अमल परमहंसगण तथा कश्यप, अङ्गिरापुत्र बृहस्पति प्रमुख मुनि भी अपने शिष्योंको साथ लेकर वहाँ पहुँचे॥ ८॥

तान् समेतान् महाभागानुपलभ्य वसूत्तमः।
पूजयामास धर्मज्ञो देशकालविभागवित्॥ ९॥

वसुश्रेष्ठ भीष्म पितामह धर्म-व्यवहारको जाननेवाले तथा देश-काल-पात्रके विचारके अनुसार किये जानेवाले कार्योंकी रीतिसे भलीभाँति अवगत थे। उन्होंने महाभाग्यवान उन समस्त मुनियोंको अपने पास समुपस्थित देखकर यथाविधि उनका सत्कार किया॥ ९॥

कृष्णञ्च तत्प्रभावज्ञ आसीनं जगदीश्वरम्।
हृदिस्थं पूजयामास माययोपात्तविग्रहम्॥ १०॥

भक्तराज भीष्मदेव भगवान् श्रीकृष्णकी महिमाको भलीभाँति जानते थे। उन्होंने अन्तर्यामीके रूपमें हृदयमें स्थित तथा स्वरूपशक्तिके बलसे अप्राकृत शरीर धारण करके मनुष्यवत् लीला करनेवाले और अपने सम्मुख विराजमान जगत्पति भगवान् श्रीकृष्णकी बाहर एवं भीतरसे पूजा की॥ १०॥

पाण्डुपुत्रानुपासीनान् प्रश्रयप्रेमसङ्गतान्।
अभ्याचष्टानुरागास्रैरन्धीभूतेन चक्षुषा॥ ११॥

पाण्डव विनय और स्नेहसे युक्त होकर भीष्म पितामहके सम्मुख ही अवनत भावसे बैठे हुए थे। उन्हें देखकर भीष्म पितामहकी दृष्टि स्नेहाश्रुओंके कारण ढक गयी। तब वे पाण्डवोंसे कहने लगे—॥ ११॥

श्रीभीष्म उवाच—

अहो कष्टमहोऽन्यायं यद्यूयं धर्मनन्दनाः।
जीवितुं नार्हथ क्लिष्टं विप्रधर्माच्युताश्रयाः॥ १२॥

श्रीभीष्मदेवने कहा—हे धर्मपुत्र पाण्डवो! तुम लोगोंने ब्राह्मण, धर्म और भगवान् श्रीकृष्ण—इन तीनोंका ही आश्रय लिया हुआ था, तथापि तुमलोगोंको इतने कष्टके साथ जीवन यापन करना पड़ा—यह कदापि तुम लोगोंके योग्य नहीं था। यह तो बहुत ही दुःख और अन्यायकी बात थी॥ १२॥

संस्थितेऽतिरथे पाण्डौ पृथा बालप्रजा वधूः।
युष्मत्कृते बहून् क्लेशान् प्राप्ता तोकवती मुहुः॥ १३॥

आह! जिस समय तुमलोगोंके पिता महाराज महारथी पाण्डुकी मृत्यु हुई, उस समय तुमलोग छोटे-छोटे शिशु थे। तुम्हारी माता बालवधू कुन्तीदेवी अति दीन हो पड़ी थी। तुम्हारे लिए कुन्तीदेवीको बार-बार बहुत-से कष्टोंको झेलना पड़ा॥ १३॥

सर्वं कालकृतं मन्ये भवताञ्च यदप्रियम्।
सपालो यद्वशे लोको वायोरिव घनावलिः॥ १४॥

हे पाण्डवो! तुमने जो इतना निरानन्द और दुःख पाया है तथा तुम्हारे साथ जो इतनी अप्रिय घटनाएँ घटी हैं, उन सबको मैं कालके प्रभाव द्वारा ही हुई मानता हूँ। मेघ जिस प्रकार वायुके अधीन होकर परिचालित होते हैं, उसी प्रकार लोकपालोंके साथ समस्त लोक अर्थात् ब्रह्माण्ड भी कालके अधीन होकर रहते हैं॥ १४॥

यत्र धर्मसुतो राजा गदापाणिर्वृकोदरः।
कृष्णोऽस्त्री गाण्डिवं चापं सुहृत् कृष्णस्ततो विपत्॥ १५॥

जहाँ धर्मपुत्र युधिष्ठिर राज्याधिपति हों, गदाधारी भीमसेन और अस्त्रधारी अर्जुन जैसे वीर रक्षक हों, जहाँ गाण्डीव धनुष हो और जहाँ बान्धवके रूपमें स्वयं श्रीकृष्ण विद्यमान हों, उस स्थानपर भी विपत्ति हो सकती है! अर्थात् पुण्य-बल, दैहिक-बल, अस्त्र-नैपुण्य और सुहृत्-बल अर्थात् इष्टदेव—इस प्रकारसे तुम लोगोंके पास चार प्रकारकी अद्भुत सम्पत्ति होनेपर भी तुमलोगोंने इतना दुःख पाया। बड़ा ही आश्चर्य है! अहो! कालका कैसा प्रभाव है॥ १५॥

न ह्यस्य कर्हिचिद्राजन् पुमान् वेद विधित्सितम्।
यद्विजिज्ञासया युक्ता मुह्यन्ति कवयोऽपि हि॥ १६॥

हे राजन्! इस समय कालस्वरूप श्रीकृष्ण हमारे सम्मुख समुपस्थित हैं। ये क्या करना चाहते हैं, इसे ब्रह्मा और शिवादि कोई भी कभी नहीं जान सकते। अधिक क्या, जो इन्हें विशेष रूपसे जाननेके इच्छुक रहते हैं, वे योगसे युक्त ज्ञानी, पण्डित अथवा देवतागण भी इनके विषयमें मोहित हो जाते हैं॥ १६॥

तस्मादिदं दैवतन्त्रं व्यवस्य भरतर्षभ।
तस्यानुविहितोऽनाथा नाथ पाहि प्रजाः प्रभो॥ १७॥

अतएव हे कुल-परम्परागत स्वामिन्! हे शासन-पालनमें समर्थ राजन्! जीवोंके सुख-दुःखादिको ईश्वरके अधीन जानकर उन ईश्वर श्रीकृष्णके अनुगत होकर अनाथ प्रजाका पालन करो॥ १७॥

एष वै भगवान् साक्षादाद्यो नारायणः पुमान्।
मोहयन्मायया लोकं गूढश्चरति वृष्णिषु॥ १८॥

सबके ईश्वर आदिपुरुष साक्षात् नारायण—भगवान् श्रीकृष्ण हमारे सम्मुख विराजमान हैं। ये अपनी चित्-शक्तिके बलसे विश्वको मुग्ध करते हुए यदुकुलमें छिपकर लीला कर रहे हैं॥ १८॥

अस्यानुभावं भगवान् वेद गुह्यतमं शिवः।
देवर्षिर्नारदः साक्षाद्भगवान् कपिलो नृप॥ १९॥

यं मन्यसे मातुलेयं प्रियं मित्रं सुहृत्तमम्।
अकरोः सचिवं दूतं सौहृदादथ सारथिम्॥ २०॥

हे राजन्! भगवान् शम्भु, देवर्षि नारद और साक्षात् भगवान् कपिलदेव ही श्रीकृष्णके अति गूढ़ प्रभावको जानते हैं, अन्य कोई नहीं। उन श्रीकृष्णको तुमलोग मामा वसुदेवका पुत्र (ममेरा भाई), प्रिय-मित्र और सबसे बड़ा हितैषी मानते हो और प्रगाढ़ प्रीतिके कारण उन्हें मन्त्री, दूत और सारथीके रूपमें नियुक्त कर बैठे हो॥ १९-२०॥

सर्वात्मनः समदृशो ह्यद्वयस्यानहङ्कृतेः।
तत्कृतं मतिवैषम्यं निरवद्यस्य न क्वचित्॥ २१॥

सभीकी आत्मा होनेके कारण भगवान् श्रीकृष्ण समदर्शी, अद्वितीय, निरभिमान और आसक्ति आदिसे रहित हैं। श्रीकृष्णमें उच्च-नीच कर्मोंके द्वारा मतिकी विषमता नहीं होती अर्थात् यह मेरे योग्य है और यह योग्य नहीं है—उनमें ऐसी सङ्कल्प-विकल्पात्मक बुद्धि नहीं होती॥ २१॥

तथाप्येकान्तभक्तेषु पश्य भूपानुकम्पितम्।
यन्मेऽसूंस्त्यजतः साक्षात् कृष्णो दर्शनमागतः॥ २२॥

हे राजन्! इस प्रकार सर्वत्र समदर्शी होनेपर भी अपने ऐकान्तिक भक्तोंके प्रति श्रीकृष्णका कृपा-वात्सल्य तो देखो! ऐसे समयमें जब कि मैं अपने प्राणोंका त्याग करने ही वाला हूँ, मुझे साक्षात् दर्शन देनेके लिए ये यहाँ चले आये हैं॥ २२॥

भक्त्यावेश्य मनो यस्मिन् वाचा यन्नाम कीर्तयन्।
त्यजन् कलेवरं योगी मुच्यते कामकर्मभिः॥ २३॥

जिनका अन्तःकरण इन श्रीकृष्णके प्रति भक्ति द्वारा एकाग्र हो गया है, ऐसे भक्तयोगी पूर्ण भक्तिभावसे इन श्रीकृष्णमें अपने मनको समर्पित कर देते हैं और अपने वचनों (मुख) से इनका नाम-सङ्कीर्त्तन करते हुए देह-त्यागके साथ-साथ सकाम कर्मोंके बन्धनसे भी मुक्त हो जाते हैं॥ २३॥

स देवदेवो भगवान् प्रतीक्षतां
कलेवरं यावदिदं हिनोम्यहम्।
प्रसन्नहासारुणलोचनोल्लस-
न्मुखाम्बुजो ध्यानपथश्चतुर्भुजः॥ २४॥

जब तक मैं स्वेच्छासे इस शरीरका परित्याग नहीं करता, तब तक प्रफुल्लित हास्य और अरुण नेत्रोंसे सुशोभित मुखकमलवाले तथा सभीके ध्यानके विषय चतुर्भुजधारी परमेश्वर श्रीकृष्ण मेरे सम्मुख विद्यमान होकर कृपापूर्वक मेरे मृत्युकालकी प्रतीक्षा करें॥ २४॥

श्रीसूत उवाच—

युधिष्ठिरस्तदाकर्ण्य शयानं शरपञ्जरे।
अपृच्छद्विविधान् धर्मानृषीणामनुशृण्वताम्॥ २५॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—भीष्म पितामहके इन कृपापूर्ण वचनोंको सुनकर धर्मपुत्र युधिष्ठिर बहुत-से ऋषियोंके सामने ही बाणोंकी शय्यापर लेटे हुए उन भीष्म पितामहसे नाना प्रकारके धर्मोंके सम्बन्धमें अनेकों प्रश्न पूछने लगे॥ २५॥

पुरुषस्वभाव-विहितान् यथावर्णं यथाश्रमम्।
वैराग्यरागोपाधिभ्यामाम्नातोभयलक्षणान्॥ २६॥

दानधर्मान् राजधर्मान् मोक्षधर्मान् विभागशः।
स्त्रीधर्मान् भगवद्धर्मान् समासव्यासयोगतः॥ २७॥

धर्मार्थकाममोक्षांश्च सहोपायान् यथा मुने।
नानाख्यानेतिहासेषु वर्णयामास तत्त्ववित्॥ २८॥

हे ऋषिवर शौनक! तत्त्ववेत्ता भीष्म पितामहने नाना प्रकारके उपाख्यानों और इतिहास आदिमें जिस रूपमें वर्णन किया गया हैं,

उसी रूपमें ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्णोंके तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ आदि आश्रमोंके अनुसार मनुष्योंके स्वभावोचित यथाविधि धर्म बतलाये। उन्होंने वैराग्य और आसक्तिरूप उपाधिके द्वारा क्रमशः निवृत्ति और प्रवृतिके लक्षणसे युक्त धर्म बतलाये। दान-धर्म, राज-धर्म, शम-दमादि मोक्षधर्म, स्त्रीधर्म तथा इन सबसे पृथक् भगवत्-धर्म—इन सबका अलग-अलग रूपमें संक्षेप एवं विस्तारसे वर्णन किया। इसके अतिरिक्त धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इस चतुर्वर्ग-धर्मका अधिकारके अनुसार वर्णन किया और इसकी प्राप्तिके उपायों अर्थात् साधनोंका भी यथाविधि वर्णन किया॥ २६-२८॥

धर्मं प्रवदतस्तस्य स कालः प्रत्युपस्थितः।
यो योगिनश्छन्द-मृत्योर्वाञ्छितस्तूत्तरायणः॥ २९॥

योगैश्वर्यशाली और मृत्युको अपनी इच्छाके अधीन करनेवाले भीष्म पितामह इस प्रकारसे धर्मतत्त्वकी व्याख्या कर ही रहे थे कि वह पवित्र उत्तरायण काल आ पहुँचा, जिसकी वे अपेक्षा कर रहे थे॥ २९॥

तदोपसंहृत्य गिरः सहस्रणी-
र्विमुक्तसङ्गं मन आदिपुरुषे।
कृष्णे लसत्पीतपटे चतुर्भुजे
पुरःस्थितेऽमीलितदृग्व्यधारयत्॥ ३०॥

उस समय हजारों रथियोंके अधिनायक महावीर भीष्मदेवने कथाका उपसंहार करते हुए अपनी वाणीको विराम दिया और अपने समीपमें ही स्थित उज्ज्वल पीताम्बर धारण किये हुए चतुर्भुजधारी आदिपुरुष भगवान् श्रीकृष्णको अपलक नेत्रोंसे निहारते हुए अपने मनको समस्त जड़ वस्तुओंसे हटाकर विशेष रूपसे उनमें निविष्ट (लगा) कर दिया॥ ३०॥

विशुद्धया धारणया हताशुभ-
स्तदीक्षयैवाशु गतायुधश्रमः।
निवृत्तसर्वेन्द्रियवृत्तिविभ्रम-
स्तुष्टाव जन्यं विसृजन् जनार्दनम्॥ ३१॥

इस प्रकार श्रीकृष्णमें विशुद्ध ध्यानके कारण भीष्मदेवके समस्त अशुभ नष्ट हो गये। भगवान् श्रीकृष्णकी कृपा दृष्टिके प्रभावसे श्रीभीष्म पितामहकी बाणोंके चुभनेसे होनेवाली पीड़ा तत्क्षण ही दूर हो गयी। उनकी समस्त इन्द्रियोंकी वृत्तियाँ शान्त हो गयीं। तदनन्तर महाबुद्धिमान भीष्म पितामह अपनी देहका परित्याग करते समय बड़े प्रेमसे भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति करने लगे—॥ ३१ ॥

श्रीभीष्म उवाच—

इति मतिरुपकल्पिता वितृष्णा
भगवति सात्वतपुङ्गवे विभूम्नि।
स्वसुखमुपगते क्वचिद्विहर्त्तुं
प्रकृतिमुपेयुषि यद्भवप्रवाहः॥ ३२॥

श्रीभीष्मदेवने कहा—मेरा मन अनेक प्रकारके साधनोंका अनुष्ठान करनेसे कामना-रहित हो गया है। मैं इस शुद्ध मनको षड् ऐश्वर्यसे परिपूर्ण परमस्वरूप नारायणके भी मूल अवतारी यदुकुल-चूड़ामणिके रूपमें प्रसिद्ध तथा यादव एवं पाण्डवोंके साथ परमानन्दमें मग्न रहनेवाले भगवान् श्रीकृष्णमें समर्पित करता हूँ। लीला-विहार करनेकी इच्छासे जिनसे प्रकृतिकी सृष्टि-परम्परा चलती है, इस मायाके प्रति ईक्षणमात्र स्वीकार करनेपर भी जो जीवके समान आवृत-स्वरूप अथवा परतन्त्र नहीं होते हैं, जिनकी तुलनामें और कोई विराट स्वरूप नहीं है—मैं उन परात्पर, स्वस्वरूप सत्तावान श्रीकृष्णको प्रणाम करता हूँ॥ ३२॥

त्रिभुवन-कमनं तमालवर्णं
रविकरगौर-वराम्बरं दधाने।
वपुरलककुलावृताननाब्जं
विजयसखे रतिरस्तु मेऽनवद्या॥ ३३॥

जिनका त्रिभुवन-सुन्दररूप कमनीय है, जिनका वर्ण श्याम-तमालवृक्षके समान साँवला है, जो अर्जुनके रथके ऊपर सारथी रूपमें अवस्थित हैं तथा जो सूर्यकी किरणोंके समान निर्मल पीतवस्त्र (परिधेय और

उत्तरीय) से विभूषित हैं और जिनका मुखकमल घुँघराले केशोंसे ढका हुआ है, उन अर्जुन सखा श्रीकृष्णके प्रति मेरी अहैतुकी अर्थात् फलकी कामनासे रहित रति हो॥ ३३॥

युधि तुरगरजोविधूम्रविष्वक्-
कचलुलित-श्रमवार्यलङ्कृतास्ये ।
मम निशितशरैर्विभिद्यमान-
त्वचि विलसत्कवचेऽस्तु कृष्ण आत्मा॥ ३४॥

मुझे युद्धकालकी वह विलक्षण छवि याद आती है, जब घोड़ोंके खुरोंसे उठी हुई धूलसे इधर-उधर बिखरी हुई उनकी घुँघराली अलकें मटमैली हो गयी थीं और पसीनेकी बूँदोंसे जिनका मुखमण्डल परिशोभित हो रहा था, अपने तीक्ष्ण बाणोंसे मैं जिनके शरीरको क्षत-विक्षत कर रहा था, उन उज्ज्वल कवचसे मण्डित भगवान् श्रीकृष्णमें ही मेरा मन रमण करें॥ ३४॥

सपदि सखिवचो निशम्य मध्ये
निजपरयोर्बलयो रथं निवेश्य।
स्थितवति परसैनिकायुरक्ष्णा।
हृतवति पार्थसखे रतिर्ममास्तु॥ ३५॥

'हे अच्युत! मेरा रथ दोनों सेनाओंके बीचमें ले चलिये, जिससे मैं युद्धके लिए प्रस्तुत वीरोंको देख सकूँ'—अपने सखा अर्जुनके इन वचनोंको सुनकर जिन्होंने तत्क्षणात् रथको अपनी और शत्रु सेनाके बीचमें स्थापित कर दिया था तथा स्वयं वहाँपर स्थित होकर अपनी कालरूप दृष्टिके प्रभावसे दुर्योधन और उसके पक्षके योद्धाओंका—ये भीष्म हैं, ये द्रोण हैं, यह कर्ण हैं इत्यादि प्रकारसे परिचय देनेके छलसे जिन्होंने उन सबकी आयुका हरणकर अर्जुनकी भावी विजयकी नींव रख दी थी, उन अर्जुनके सखा श्रीकृष्णमें मेरी परम प्रीति हो॥ ३५॥

व्यवहितपृतनामुखं निरीक्ष्य
स्वजनवधाद्विमुखस्य दोषबुद्ध्या।

कुमतिमहरदात्मविद्यया य-
श्चरणरतिः परमस्य तस्य मेऽस्तु॥ ३६॥

जब अर्जुनने दूर स्थित विशाल सेना तथा उस सेनाके अग्रभागमें स्थित सेनापति स्वरूप हमलोगोंको देखा था, तब वह स्वजनोंके वधसे होनेवाले पापके भयसे युद्धसे विरत हो गया था और अपना गाण्डीव उतारकर रथके ऊपर बैठ गया था। तब जिन्होंने आत्मविद्या द्वारा अर्जुनके अज्ञानको दूर किया था, उन श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें मेरी आसक्ति हो॥ ३६॥

स्वनिगममपहाय मत्प्रतिज्ञा-
मृतमधिकर्तुमवप्लुतो रथस्थः।
धृतरथचरणोऽभ्ययाच्चलद्गु-
र्हरिरिव हन्तुमिभं गतोत्तरीयः॥ ३७॥

शितविशिखहतो विशीर्णदंशः
क्षतजपरिप्लुत आततायिनो मे।
प्रसभमभिससार मद्वधार्थं
स भवतु मे भगवान् गतिर्मुकुन्दः॥ ३८॥

'श्रीकृष्णको शस्त्र धारण कराऊँगा', मेरी इस प्रतिज्ञाको सत्य और ऊँचा करनेके लिए जो 'मैं युद्धमें कदापि शस्त्र नहीं उठाऊँगा, केवल सहायता मात्र करूँगा'—अपनी इस प्रतिज्ञाका उल्लघंनकर अर्जुनके रथसे सहसा ही कूद पड़े तथा अपनी नर-लीलाके अभिनयको भूलकर क्रोधवशतः रथका पहिया लेकर इस प्रकार प्रबल वेगसे मेरी ओर झपटे, जिस प्रकार हाथीका वध करनेके लिए सिंह प्रबल-वेगसे दौड़ पड़ता है। उस समय दौड़नेके वेगसे उनके कन्धेसे उत्तरीय वस्त्र गिर गया और पृथ्वी काँपने लगी। उस समय मुझ विस्मित धनुर्धारीके तीक्ष्ण बाणोंसे उनका कवच टुट चुका था तथा शरीर लहुलुहान हो चुका था। अर्जुनके द्वारा रोके जानेपर भी वे तीव्रगतिसे मेरा वध करनेके लिए मेरी ओर बढ़ते चले आ रहे थे। अर्थात् बाह्य दृष्टिसे वे अर्जुनका पक्ष लेनेवाले प्रतीत हो रहे थे, पर वस्तुतः भक्तवत्सलतासे

परिपूर्ण वे प्रभु मुझपर ही अनुग्रह कर रहे थे—ऐसे भगवान् मुकुन्द मेरे आश्रय हों॥ ३७-३८॥

विजयरथकुटुम्ब आत्ततोत्रे
धृतहयरश्मिनि तच्छ्रियेक्षणीये।
भगवति रतिरस्तु मे मुमूर्षो-
र्यमिह निरीक्ष्य हता गताः स्वरूपम्॥ ३९॥

अर्जुनके रथ-रक्षक श्रीकृष्णके दाहिने हाथमें चाबुक, बाएँ हाथमें घोड़ोंकी रस्सी (लगाम) और मुखारविन्दसे प्रकट हुम्, हुम् अश्वताड़नका शब्द—इस प्रकार रणभूमिमें सारथीके रूपमें श्रीकृष्णकी अद्भुत छवि थी। मैंने अपनी दिव्यदृष्टिके प्रभावसे देखा कि महाभारत युद्धमें मरनेवाले सभी योद्धा उनकी इस अनुपम छविका दर्शन करते हुए सारूप्य नामक मुक्तिको प्राप्त हो रहे थे। प्राकृत लौकिक दृष्टिसे जिनके प्रति मेरा अन्याय आचरण होनेपर भी जो अपने भक्तोंकी रक्षाके लिए सदा व्याकुल रहते हैं, अचिन्त्य ऐश्वर्यसे युक्त उन्हीं पार्थसारथी श्रीकृष्णके प्रति इस मरणासन्न अवस्थामें मेरी प्रीति हो॥ ३९॥

ललितगतिविलास-वल्गुहास-
प्रणयनिरीक्षण-कल्पितोरुमानाः ।
कृतमनुकृतवत्य उन्मदान्धाः
प्रकृतिमगन् किल यस्य गोपवध्वः॥ ४०॥

जिन श्रीकृष्णकी सुचारु मञ्जुल-गति, रास-नृत्य आदि विलास, सुन्दर हास्य और प्रेमपूर्ण चितवनसे प्रचुरमात्रामें सम्मानित होकर गोपियाँ रासलीलामें उनके अन्तर्धान हो जानेपर प्रेमके उन्मादसे मतवाली होकर उनमें पूर्णता तदात्मिक होकर उनकी गोवर्द्धन-धारण आदि लीलाओंका अनुकरण करती हुई उनके स्वरूपको ही प्राप्त हो गयी थीं—उन्हीं श्रीकृष्णमें मेरी परम रति हो॥ ४०॥

मुनिगण-नृपवर्य-संकुलेऽन्तः-
सदसि युधिष्ठिरराजसूय एषाम्।

अर्हणमुपपेद ईक्षणीयो
मम दृशि गोचर एष आविरात्मा॥ ४१॥

जिस समय धर्मराज युधिष्ठिरका राजसूय यज्ञ हो रहा था, तब उस सभामें बड़े-बड़े मुनि और श्रेष्ठ राजागण रत्नासनोंपर विराजमान थे। उन सभीको विस्मित करते हुए सबके दर्शनीय जिन श्रीकृष्णने मेरे ही सामने अग्रपूजाको स्वीकार किया था, वे ही विश्वात्मा श्रीकृष्ण आज मेरे सामने साक्षात् विद्यमान हैं। अहो! मेरा कितना सौभाग्य है! यही श्रीमूर्त्ति मेरे हृदयमें सदैव स्फुरित होती रहे॥ ४१॥

तमिममहमजं शीरीरभाजां
हृदि हृदि धिष्ठितमात्मकल्पितानाम्।
प्रतिदृशमिव नैकधार्कमेकं
समधिगतोऽस्मि विधूतभेदमोहः॥ ४२॥

जिस प्रकार एक ही सूर्य अनेक घड़ोंके जलमें पृथक्-पृथक् सूर्यके रूपमें दृष्टिगोचर होता है, उसी प्रकार एक ही श्रीकृष्ण प्रत्येक प्राणीके हृदयमें अन्तर्यामी रूपमें विराजमान हैं, किन्तु भ्रमवशतः वे अनेक शरीरधारियोंके हृदयोंमें अनेक रूपोंमें जान पड़ते हैं। मैं प्राकृत भेद-ज्ञानसे उत्पन्न मोहका परित्यागकर उन एक परमात्माको श्रीकृष्णका ही अंश जानकर ऐसे अनादि, जन्मरहित तथा यहाँ समुपस्थित श्रीकृष्णकी शरण लेता हूँ॥ ४२॥

श्रीसूत उवाच—

श्रीकृष्ण एवं भगवति मनोवाग्दृष्टिवृत्तिभिः।
आत्मन्यात्मानमावेश्य सोऽन्तःश्वास उपारमत्॥ ४३॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—इस प्रकार मन, वाणी और चक्षु आदि इन्द्रियोंकी वृत्तियोंके द्वारा अपने मनको परमात्म-स्वरूप भगवान् पार्थसारथी श्रीकृष्णमें लगाकर प्राणवायुको रोककर श्रीभीष्मदेवने प्राणत्याग किये॥ ४३॥

सम्पद्यमानमाज्ञाय भीष्मं ब्रह्मणि निष्कले।
सर्वे बभूवुस्ते तूष्णीं वयांसीव दिनात्यये॥ ४४॥

इस प्रकार श्रीभीष्मदेवको निरुपाधि परब्रह्मको प्राप्त होता देखकर वहाँपर उपस्थित सभी लोग इस प्रकार मौन हो गये, जिस प्रकार दिनकी समाप्तिपर पक्षियोंका कलरव शान्त हो जाता है॥ ४४॥

तत्र दुन्दुभयो नेदुर्देवमानव-वादिताः।
शशंसुः साधवो राज्ञां खात् पेतुः पुष्पवृष्टयः॥ ४५॥

उस समय स्वर्गमें देवता और मर्त्यलोकमें मनुष्य नगाड़े बजाने लगे और उस तुमुल ध्वनिसे सभी दिशाएँ गूँज उठीं। मात्सर्य-रहित साधु स्वभावके राजा महात्मा भीष्मदेवकी प्रशंसा करने लगे तथा आकाशसे पुष्पोंकी वर्षा होने लगी॥ ४५॥

तस्य निर्हरणादीनि सम्परेतस्य भार्गव।
युधिष्ठिरः कारयित्वा मुहूर्तं दुःखितोऽभवत्॥ ४६॥

हे भृगुवंश-तिलक शौनकजी! धर्मराज युधिष्ठिर भीष्मदेवके द्वारा त्यागे गये शरीरका दाह-संस्कार आदि अन्त्येष्टि क्रिया सम्पन्नकर कुछ क्षणोंके लिए शोकमग्न हो गये॥ ४६॥

तुष्टुवुर्मुनयो हृष्टाः कृष्णं तद्गुह्यनामभिः।
ततस्ते कृष्णहृदयाः स्वाश्रमान् प्रययुः पुनः॥ ४७॥

तब वहाँ उपस्थित मुनिगण आनन्दचित्तसे वेदोंमें कहे गये भगवान् श्रीकृष्णके गूढ़ नामोंका सङ्कीर्त्तन करते हुए उनकी स्तुति करने लगे। इसके पश्चात् श्रीकृष्णको अपने-अपने हृदयमें धारण करके उन्होंने अपने-अपने आश्रमोंकी ओर प्रस्थान किया॥ ४७॥

ततो युधिष्ठिरो गत्वा सहकृष्णो गजाह्वयम्।
पितरं सान्त्वयामास गान्धारीञ्च तपस्विनीम्॥ ४८॥

तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्णके साथ महाराज युधिष्ठिर हस्तिनापुर चले आये और वहाँ अपने ज्येष्ठ-पिता धृतराष्ट्र और शोक-सन्तप्त गान्धारीको सान्त्वना देने लगे॥ ४८॥

पित्रा चानुमतो राजा वासुदेवानुमोदितः।
चकार राज्यं धर्मेण पितृपैतामहं विभुः॥ ४९॥

इसके बाद ऐश्वर्यशाली धर्मराज युधिष्ठिर ज्येष्ठ-पिता धृतराष्ट्रकी आज्ञा और श्रीकृष्णकी सम्मति प्राप्तकर अपने पिता-पितामह आदि वंश-परम्पराके उत्तराधिकारीके रूपमें धर्मके अनुसार साम्राज्यका पालन करने लगे॥ ४९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां प्रथमस्कन्धे श्रीयुधिष्ठिरराज्यप्राप्तिर्नाम नवमोऽध्यायः॥

दशमोऽध्यायः

पाण्डवोंके निष्कण्टक राज्यकी स्थापना, श्रीकृष्णका द्वारका गमन एवं कुरु-रमणियों द्वारा श्रीकृष्णकी स्तुति

श्रीशौनक उवाच—

हत्वा स्वरिक्थस्पृध आततायिनो
युधिष्ठिरो धर्मभृतां वरिष्ठः।
सहानुजैः प्रत्यवरुद्धभोजनः
कथं प्रवृत्तः किमकारषीत् ततः॥ १॥

श्रीशौनक ऋषिने पूछा—महाराज युधिष्ठिर धार्मिक शिरोमणि थे। अपने भाईयोंके साथ मिलकर अपनी पैतृक सम्पत्तिको संग्राम द्वारा हड़पनेवाले आततायियोंका वध करके वे बन्धु-बान्धवोंके वधके दुःखके कारण भोग-विलाससे कुण्ठित हो गये थे। तब फिर वे किस प्रकारसे राज्य-शासनमें प्रवृत्त हुए तथा अपने भाइयोंके साथ मिलकर उन्होंने कौन-कौनसे विशेष कार्य किये? ॥ १॥

श्रीसूत उवाच—

वंशं कुरोर्वंश-दवाग्निनिर्हृतं
संरोहयित्वा भवभावनो हरिः।
निवेशयित्वा निजराज्य ईश्वरो
युधिष्ठिरं प्रीतमना बभूव ह॥ २॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—कौरव और पाण्डवोंकी परस्पर क्रोधाग्निसे दग्ध परीक्षित्‌की रक्षा करके भगवान् श्रीकृष्णने कुरुवंशको पुनः अङ्कुरित किया। महाराज युधिष्ठिरको उनके राज्य-सिंहासनपर बिठाकर सम्पूर्ण सृष्टिका पालन करनेवाले जगत्-पिता सर्वशक्तिमान भगवान् श्रीकृष्ण बहुत प्रसन्न हो गये॥ २॥

निशम्य भीष्मोक्तमथाच्युतोक्तं
प्रवृत्तविज्ञानविधूतविभ्रमः ।

शशास गामिन्द्र इवाजिताश्रयः
परिध्युपान्तामनुजानुवर्त्तिनः ॥ ३ ॥

श्रीभीष्मदेव द्वारा कथित वचनों और बादमें श्रीकृष्णके श्रीमुखसे उक्त उपदेशोंको श्रवण करके तथा श्रीकृष्णके आश्रयमें रहते हुए धर्मराज युधिष्ठिरके अन्तःकरणमें 'जगत् परमेश्वरके अधीन है, स्वतन्त्र नहीं है'—इस प्रकारका विज्ञान उदित हो गया। इसके फलस्वरूप 'मैं कर्त्ता हूँ'—इस प्रकारके मोहसे रहित होकर राज्यके पालनमें भाईयोंकी सेवाको प्राप्त करते हुए महाराज युधिष्ठिर देवराज इन्द्रकी भाँति समुद्र तक पृथ्वीका पालन करने लगे॥ ३ ॥

कामं ववर्ष पर्जन्यः सर्वकामदुघा मही।
सिषिचुः स्म व्रजान् गावः पयसोधस्वतीर्मुदा॥ ४ ॥

महाराज युधिष्ठिरके राज्यकालमें मेघ आवश्यकतानुसार वर्षा करते थे। पृथ्वी समस्त वस्तुएँ प्रदान करके सभीकी कामनाएँ पूर्ण करती थी। दूधसे भरे बड़े-बड़े थनोंवाली गायें प्रसन्नचित्तसे प्रचुर दूध देकर गोशालाओंको दूधसे परिपूर्ण कर दिया करती थीं॥ ४॥

नद्यः समुद्रा गिरयः सवनस्पति-वीरुधः।
फलन्त्योषधयः सर्वाः काममन्वृतु तस्य वै॥ ५ ॥

राजा युधिष्ठिरके राज्यमें नदियाँ, सागर, वनस्पति और लताओंके साथ सभी पर्वत तथा सभी फसलें और औषधियाँ प्रत्येक ऋतुमें इच्छाके अनुरूप ही अपनी-अपनी वस्तुएँ प्रदान किया करती थीं॥ ५ ॥

नाधयो व्याधयः क्लेशा दैवभूतात्महेतवः।
अजातशत्रावभवन् जन्तूनां राज्ञि कर्हिचित्॥ ६ ॥

अजातशत्रु राजा युधिष्ठिरके राज्य-कालमें प्राणियोंके आधिदैविक, आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक तापोंके कारण कभी भी आत्मिक क्लेश, रोग और शीतोष्णादिसे उत्पन्न कष्ट नहीं होते थे॥ ६ ॥

उषित्वा हास्तिनपुरे मासान् कतिपयान् हरिः।
सुहृदाञ्च विशोकाय स्वसुश्च प्रियकाम्यया॥ ७ ॥

आमन्त्र्य चाभ्यनुज्ञातः परिष्वज्याभिवाद्य तम्।
आरुरोह रथं कैश्चित् परिष्वक्तोऽभिवादितः॥ ८॥

पाण्डवोंके शोकको दूर करनेके लिए और अपनी बहन सुभद्राको प्रसन्न करनेके लिए भगवान् श्रीकृष्ण कुछ मास तक हस्तिनापुरमें ही रहे। तत्पश्चात् श्रीकृष्ण द्वारा महाराज युधिष्ठिरसे द्वारका जानेकी अनुमति माँगनेपर युधिष्ठिरने उन्हें स्वीकृति प्रदान की। उस समय श्रीकृष्णने झुककर महाराज युधिष्ठिरका अभिनन्दन किया और फिर आलिङ्गन किया। कुछ लोगोंने भगवान्‌का आलिङ्गन किया और कुछने उन्हें प्रणाम किया। इस प्रकार सभीसे अनुमति ग्रहणकर भगवान् श्रीकृष्ण रथपर सवार हुए॥ ७-८॥

सुभद्रा द्रौपदी कुन्ती विराटतनया तथा।
गान्धारी धृतराष्ट्रश्च युयुत्सुर्गौतमो यमौ॥ ९॥
वृकोदरश्च धौम्यश्च स्त्रियो मत्स्यसुतादयः।
न सेहिरे विमुह्यन्तो विरहं शार्ङ्गधन्वनः॥ १०॥

सुभद्रा, द्रौपदी, कुन्तीदेवी, विराटतनया उत्तरा, गान्धारी, धृतराष्ट्र और उनकी वैश्या-पत्नीके गर्भसे उत्पन्न पुत्र युयुत्सु, कृपाचार्य, जुड़वाँ भाई—नकुल-सहदेव, भीमसेन, पाण्डवोंके पुरोहित धौम्य और सत्यवती आदि स्त्रियाँ—सभी शार्ङ्गपाणि श्रीकृष्णके विच्छेदको सहन नहीं कर पाये और शोकसे मूर्च्छित हो गये॥ ९-१०॥

सत्सङ्गान्मुक्त-दुःसङ्गो हातुं नोत्सहते बुधः।
कीर्त्यमानं यशो यस्य सकृदाकर्ण्य रोचनम्॥ ११॥
तस्मिन् न्यस्तधियः पार्थाः सहेरन् विरहं कथम्।
दर्शनस्पर्शनालाप-शयनासनभोजनैः ॥ १२॥

साधु-सङ्गके प्रभावसे जिनका पुत्रादि-विषयरूप दुःसङ्ग छूट गया है, ऐसे बुद्धिमान व्यक्ति उन साधुओंके मुखसे कीर्त्तित तथा हृदयके लिए रसायन और कर्णके लिए रुचिकर जिन श्रीकृष्णके गुण-लीलारूपी सुयशको एक बार भी श्रवण करते हैं, फिर वे क्षणमात्रके लिए भी उन साधुओंका सङ्ग परित्याग नहीं कर पाते। अतएव जिन पृथानन्दन

पाण्डवोंने एक ही साथमें सदा-सर्वदा साक्षात् उन श्रीकृष्णका दर्शन, स्पर्श, उनके साथ वार्त्तालाप, शयन, उठना-बैठना और भोजनादि कार्य किये थे तथा जिनकी बुद्धि पूर्ण रूपसे उनमें निविष्ट हो गयी थी, वे पाण्डव फिर किस प्रकार उन श्रीकृष्णका विच्छेद सहन करनेमें समर्थ हो सकते थे?॥ ११-१२॥

सर्वे तेऽनिमिषैरक्षैस्तमनुद्रुतचेतसः।
वीक्षन्तः स्नेहसम्बद्धा विचेलुस्तत्र तत्र ह॥ १३॥

उन पाण्डवादि सभीका हृदय भगवान्के स्नेह-पाशमें सम्पूर्ण रूपसे बँधा हुआ था और उनका चित्त श्रीकृष्णमें ही लगा हुआ था। जिन-जिन स्थानोंपर श्रीकृष्ण जा रहे थे, पाण्डवादि सभी बिना पलकें झपकाये उनका दर्शन करते हुए उन-उन स्थानोंपर उनके पूजनके उद्देश्यसे उनका अनुगमन कर रहे थे॥ १३॥

न्यरुन्धन्नुद्गलद्बाष्पमौत्कण्ठ्याद्देवकीसुते।
निर्यात्यगारान्नोऽभद्रमिति स्याद्बान्धवस्त्रियः॥ १४॥

देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण जब अपने भवनसे निकले, तब अत्यन्त आसक्तिके कारण उनके बन्धुओंकी स्त्रियोंके नेत्र आँसुओंसे भर गये। किन्तु, श्रीकृष्णकी यात्रामें किसी प्रकारका अमङ्गल न हो—इस भयसे उन सबने बड़ी कठिनतासे अपनी आँखोंसे बहते हुए आँसुओंको रोक लिया॥ १४॥

मृदङ्गशङ्खभेर्यश्च वीणा-पणव-गोमुखाः।
धुन्धुर्यानक-घण्टाद्या नेदुर्दुन्दुभयस्तदा॥ १५॥

भगवान्के प्रस्थानके समय मृदङ्ग, शङ्ख, भेरी, वीणा, ढोल, नरसिंगे, धुन्धुरी, नगाड़े, घण्टे और दुन्दुभि आदि सभी वाद्य एक साथ बजने लगे॥ १५॥

प्रासादशिखरारूढाः कुरुनार्यो दिदृक्षया।
ववृषुः कुसुमैः कृष्णं प्रेमव्रीडास्मितेक्षणाः॥ १६॥

भगवान् श्रीकृष्णके दर्शनकी इच्छासे कुरुवंशकी स्त्रियाँ अपने-अपने भवनोंकी अटारियोंपर चढ़ गयीं तथा अनुराग एवं लज्जासे परिपूर्ण

मुसकानसे युक्त नयनोंसे श्रीकृष्णको देखती हुईं उनपर पुष्पोंकी वर्षा करने लगीं॥ १६॥

सितातपत्रं जग्राह मुक्तादामविभूषितम्।
रत्नदण्डं गुडाकेशः प्रियः प्रियतमस्य ह॥ १७॥

उस समय भगवान्‌के प्रियसखा निद्राको जीतनेवाले अर्जुनने अपने प्रियतम सखा श्रीकृष्णके सिरपर श्वेतछत्र धारण किया हुआ था। उस छत्रका दण्ड रत्नोंसे निर्मित था तथा वह छत्र चारों ओरसे मोतियोंकी झालरोंसे मण्डित था॥ १७॥

उद्धवः सात्यकिश्चैव व्यजने परमाद्भुते।
विकीर्यमाणः कुसुमै रेजे मधुपतिः पथि॥ १८॥

उद्धव और सात्यकि दोनों ही भगवान्‌को अत्यन्त अद्भुत चामर ढुला रहे थे। मार्गमें चारों ओरसे पुष्प-वर्षण हो रहा था, जिससे भगवान् श्रीमाधवकी परम शोभा हो रही थी॥ १८॥

अश्रूयन्ताशिषः सत्यास्तत्र तत्र द्विजेरिताः।
नानुरूपानुरूपाश्च निर्गुणस्य गुणात्मनः॥ १९॥

समस्त नित्य चिन्मयगुणोंसे विशिष्ट एवं मनुष्य जैसी लीलाका अभिनय करनेवाले श्रीकृष्ण अपने गमन-पथपर ब्राह्मणों द्वारा उच्चारित यथार्थ आशीर्वाद-वचनोंको सुन रहे थे। यद्यपि ऐश्वर्यकी दृष्टिसे त्रिगुणातीत परमानन्दस्वरूप श्रीकृष्णके लिए 'तुम सुखी रहो' आदि आशीर्वाद उपयुक्त नहीं थे, तथापि माधुर्यकी दृष्टिसे उन श्रीकृष्ण द्वारा ब्राह्मणोंका हित करना तथा अपने भक्तोंके प्रेमके वशीभूत रहना इत्यादि उनके अप्राकृत गुणमय स्वरूपके कारण ये आशीर्वाद उपयुक्त भी थे॥ १९॥

अन्योन्यमासीत् संजल्प उत्तमःश्लोकचेतसाम्।
कौरवेन्द्रपुरस्त्रीणां सर्वश्रुतिमनोहरः॥ २०॥

उस समय हस्तिनापुरकी कुलीन रमणियाँ, जिनका चित्त श्रीकृष्णमें ही रम गया था, परस्पर उपनिषद आदि श्रुतियोंके द्वारा अभिनन्दित

श्रीकृष्ण-विषयक कथाओंकी चर्चा करती हुईं सभीके कान और मनको आकृष्ट कर रही थीं॥ २०॥

स वै किलायं पुरुषः पुरातनो
य एक आसीदविशेष आत्मनि।
अग्रे गुणेभ्यो जगदात्मनीश्वरे
निमीलितात्मन् निशि सुप्तशक्तिषु॥ २१॥

शान्तरतिमती कुरुनारियाँ विस्मयपूर्वक परस्पर कहने लगीं—हमने श्रीव्यासादिके मुखसे सुना है कि अद्वितीय पुरातन-पुरुष अपने प्रपञ्चातीत रूपमें वर्त्तमान रहते हैं तथा उनसे श्रेष्ठ अन्य कोई भी नहीं है—वे निश्चय ही ये श्रीकृष्ण ही हैं। सत्त्वादि प्राकृत गुणोंकी सृष्टि अथवा क्षोभसे पहले अर्थात् प्रलयकालमें उपाधिभूत सत्त्वादि शक्तियोंके सुप्त होनेसे समस्त जगत् और जीव प्रकृतिके अन्तर्यामी परमात्मा-स्वरूप इन ईश्वर अर्थात् गर्भोदकशायी विष्णुमें लीन रहते हैं। उस समय मात्र ये ही पुरातन-पुरुष अपने प्रपञ्चातीत स्वरूपमें वर्त्तमान रहते हैं॥ २१॥

स एव भूयो निजवीर्यचोदितां
स्वजीवमायां प्रकृतिं सिसृक्षतीम्।
अनामरूपात्मनि रूपनामनी
विधित्समानोऽनुससार शास्त्रकृत्॥ २२॥

ये भगवान् ही अपने अच्युत स्वरूपमें स्थित रहकर इस सृष्टि-प्रवाहको अनादि रूपमें परिचालित करनेके उद्देश्यसे जड़ीय नाम-रूपसे रहित जीवात्माके भोगोंके लिए नाम-रूप आदिकी सृष्टि करनेकी इच्छा करते हैं। इसके लिए वे अपनी काल-शक्तिसे प्रेरित अपने ही अंश-भूत जीवोंको मोहित करके सृष्टि करनेकी इच्छुक बहिरङ्गाशक्तिमें अन्तर्यामी रूपसे अधिष्ठित रहते हैं तथा कर्मोंका विधान करनेके लिए वेदादि शास्त्रोंकी सृष्टि भी करते हैं॥ २२॥

स वा अयं यत्पदमत्र सूरयो
जितेन्द्रिया निर्जितमातरिश्वनः।

पश्यन्ति भक्त्युत्कलितामलात्मना
नन्वेष सत्त्वं परिमार्ष्टुमर्हति॥ २३॥

सुनो सखियो! इस संसारमें जो ज्ञानी-साधु जितेन्द्रिय होकर तथा प्राणवायुका निरोध करके भक्तिसे उदित उत्कण्ठा सहित निर्मल बुद्धि-योगके द्वारा जिनके परम पद अथवा स्वरूपका दर्शन करते हैं, ये वही परम ब्रह्म विष्णु हैं। देखो! जिस बुद्धिको योगादिसे निर्मल करना सम्भव नहीं है, उसे निर्मल करनेमें ये ही समर्थ हैं। अथवा अहो! इनका हमें मोहित करके हमारी दृष्टिसे दूर जाना उचित नहीं है, अतः हमें इनके साथ ही चलना चाहिये॥ २३॥

स वा अयं सख्यनुगीतसत्कथो
वेदेषु गुह्येषु च गुह्यवादिभिः।
य एक ईशो जगदात्मलीलया
सृजत्यवत्यत्ति न तत्र सज्जते॥ २४॥

हे सखि! वास्तवमें ये वही अद्वितीय परमेश्वर हैं, जिनकी पवित्र लीलाओंका वर्णन वेदशास्त्रों और अन्य-अन्य गोपनीय आगमों (तन्त्रादि शास्त्रों) में रहस्यवादी श्रीव्यासादि ऋषियोंने किया है। ये अपनी लीला-विलासके कारण इस विश्वकी सृष्टि, पालन और संहार करते हैं, किन्तु स्वयं कभी उसमें लिप्त नहीं होते—देखो! वे ही हमारे सम्मुख वर्त्तमान हैं॥ २४॥

यदा ह्यधर्मेण तमोधियो नृपा
जीवन्ति तत्रैष हि सत्त्वतः किल।
धत्ते भगं सत्यमृतं दयां यशो
भवाय रूपाणि दधद् युगे युगे॥ २५॥

अरी सखि! जब तामसी बुद्धिवाले राजा अधर्मपूर्ण आचरण करते हुए केवल अपने ही प्राणोंका पालन करते हैं, तब ये भगवान् श्रीकृष्ण ही विश्वकी स्थिति बनाये रखनेके लिए विशुद्ध-सत्त्वगुणका आश्रय लेकर युग-युगमें विविध अवतारोंके रूपमें ऐश्वर्य, सत्य-प्रतिज्ञता, भक्त-कृपा और अद्भुत चेष्टा इत्यादि अपने विविध लीला-पराक्रमको दिखलाया करते हैं॥ २५॥

अहो अलं श्लाघ्यतमं यदोः कुल-
महो अलं पुण्यतमं मधोर्वनम्।
यदेष पुंसामृषभः श्रियः पतिः
स्वजन्मना चंक्रमणेन चाञ्चति॥ २६॥

अहो! कैसा आश्चर्य है! पृथ्वीपर यह यदुवंश धन्यातिधन्य है, क्योंकि लक्ष्मीपति पुरुषोत्तम श्रीहरिने स्वयं यहाँ जन्म-ग्रहण करके इसका सत्कार किया है। अहो! यह मथुरा (व्रजमण्डल) भी पुण्यतरसे भी पुण्यतम तीर्थ है, क्योंकि श्रीकृष्णने अपनी बाल्य और किशोरावस्थामें लीला-विहार करके इसे सुशोभित किया है॥ २६॥

अहो बत स्वर्यशसस्तिरस्करी
कुशस्थली पुण्ययशस्करी भुवः।
पश्यन्ति नित्यं यदनुग्रहेषितं
स्मितावलोकं स्वपतिं स्म यत्प्रजाः॥ २७॥

अहो! कैसा आश्चर्य है! कुशस्थली अर्थात् द्वारकापुरी स्वर्गके यशका भी तिरस्कारकर इस पृथ्वीकी पवित्र कीर्त्तिका विस्तार कर रही है। इसका कारण है कि ये द्वारकावासी आत्माओंकी आत्मा इन भगवान् श्रीकृष्णका मन्द-मन्द मुस्कानसे युक्त अनुग्रह अर्थात् श्रीकृष्णकी कृपा-दृष्टिको प्राप्त करनेके लिए नित्य-निरन्तर उन्हें निहारा करते हैं॥ २७॥

नूनं व्रतस्नान-हुतादिनेश्वरः
समर्चितो ह्यस्य गृहीतपाणिभिः।
पिबन्ति याः सख्यधरामृतं मुहु-
र्व्रजस्त्रियः संमुमुहुर्यदाशयाः॥ २८॥

उज्ज्वलरसमयी कोई रमणी दूसरी रमणीसे कहने लगी—अरी सखि! जिनके अधरामृत-पानके स्मरणमात्रसे ही व्रजबालाएँ व्याकुल चित्त होकर मूर्च्छित हो जातीं हैं—उस अधर-सुधाका वे स्त्रियाँ बार-बार पान करती हैं, जिन सबका भगवान्ने पाणिग्रहण किया है। अतः निश्चय ही इन स्त्रियोंने पूर्व-पूर्व जन्मोंमें विविध व्रत-स्नान और

होमादिके द्वारा इन विश्वात्मा श्रीकृष्णकी भलीभाँति पूजा की होगी॥ २८॥

या वीर्यशुल्केन हृताः स्वयंवरे
प्रमथ्य चैद्यप्रमुखान् हि शुष्मिणः।
प्रद्युम्नसाम्बाम्ब-सुतादयोऽपरा
याश्चाहृता भौमवधे सहस्रशः॥ २९॥

एताः परं स्त्रीत्वमपास्तपेशलं
निरस्तशौचं बत साधु कुर्वते।
यासां गृहात् पुष्करलोचनः पति-
र्न जात्वपैत्याहृतिभिर्हृदि स्पृशन्॥ ३०॥

ये श्रीकृष्ण स्वयंवर-सभामें बलशाली शिशुपाल आदि प्रमुख राजाओंको अनायास ही पराजितकर जिन्हें अपने बाहुबलसे हरणकर ले लाये थे, वे प्रद्युम्न, साम्ब और आम्बकी माताएँ—रुक्मिणी, जाम्बवती और नाग्नजिती आदि आठों पटरानियाँ, तथा पृथ्वीपुत्र नरकासुरका वध करके श्रीकृष्ण द्वारा लायी गयीं अन्यान्य हजारों राजकुमारियाँ वास्तवमें धन्य हैं। अहो! इन समस्त नारियोंने अबला और अपवित्र स्त्रीजातिको पवित्र एवं उज्ज्वल बनाकर सम्पूर्ण रूपसे धन्य कर दिया है। इसका कारण है कि इनके प्राणेश्वर कमललोचन भगवान् श्रीकृष्ण हैं, जो अपने अद्भुत व्यवहार, अनेक प्रकारकी चेष्टाओं तथा पारिजातादि प्रिय वस्तुओंकी भेंटसे उन रानियोंके हृदयमें प्रेम और आनन्दकी अभिवृद्धि किया करते हैं। यहाँ तक कि वे एक क्षणके लिए उन्हें छोड़कर और कहीं भी नहीं जाते॥ २९-३०॥

श्रीसूत उवाच—

एवंविधा वदन्तीनां स गिरः पुरयोषिताम्।
निरीक्षणेनाभिनन्दन् सस्मितेन ययौ हरिः॥ ३१॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—हस्तिनापुरकी शान्तरतिमयी और उज्ज्वल-रतिमयी स्त्रियाँ इस प्रकारसे परस्पर विचित्र वार्त्तालाप कर ही रही थीं

कि भगवान् श्रीकृष्णने प्रेमपूर्ण चितवन और मन्द-मुसकानसे उनका सत्कार करते हुए वहाँसे द्वारकाकी ओर प्रस्थान किया॥ ३१॥

अजातशत्रुः पृतनां गोपीथाय मधुद्विषः।
परेभ्यः शङ्कितः स्नेहात् प्रायुङ्क्त चतुरङ्गिणीम्॥ ३२॥

धर्मराज युधिष्ठिरने श्रीकृष्णके प्रति स्नेहके वशीभूत होकर 'शत्रु कहीं रास्तेमें श्रीकृष्णका अनिष्ट न कर दें'—इस आशङ्कासे मधुसूदन भगवान् श्रीकृष्णकी रक्षाके लिए हाथी, घोड़े, रथ और पैदल सेनाओंसे युक्त विराट सेनाको उनके साथ भेज दिया॥ ३२॥

अथ दूरागतान् शौरिः कौरवान् विरहातुरान्।
सन्निवर्त्य दृढं स्निग्धान् प्रायात् स्वनगरीं प्रियैः॥ ३३॥

तत्पश्चात् सुदृढ़ सौहृदके कारण कुरुवंशी-पाण्डव बहुत दूर तक श्रीकृष्णके साथ चले। श्रीकृष्णसे बिछुड़नेके विरहसे उनका हृदय व्याकुल हो रहा था। तब भगवान् श्रीकृष्णने बड़े आग्रहके साथ अपने प्रिय पाण्डवोंको भलीभाँति समझा-बुझाकर विदा किया और उद्धव, सात्यकि आदि प्रिय सखाओंके साथ द्वारकाकी ओर गमन किया॥ ३३॥

कुरुजाङ्गलपाञ्चालान् शूरसेनान् स यामुनान्।
ब्रह्मावर्तं कुरुक्षेत्रं मत्स्यान् सारस्वतानथ॥ ३४॥

मरुधन्वमतिक्रम्य सौवीराभीरयोः परान्।
आनर्तान् भार्गवोपागाच्छ्रान्तवाहो मनाग्विभुः॥ ३५॥

हे भृगुनन्दन शौनकजी! इसके बाद भगवान् श्रीकृष्ण यमुनातटवर्ती प्रदेश कुरुजाङ्गल, पाञ्चाल, शूरसेन, ब्रह्मावर्त्त, कुरुक्षेत्र, मत्स्य, सारस्वत, मरुदेश और जलके अभाववाले मरुधन्वादि प्रदेशोंको पार करते हुए सौवीर (सौराष्ट्र) और आभीर (गुजरात) प्रान्तमें पहुँचे और अन्तमें इन सबके पश्चिममें स्थित आनर्त्त नामक द्वारकाके प्रदेशमें उपस्थित हुए। अधिक चलनेके कारण भगवान्के रथके वाहक घोड़े कुछ थक गये थे॥ ३४-३५॥

तत्र तत्र हि तत्रत्यैर्हरिः प्रत्युद्यतार्हणः।
सायं भेजे दिशं पश्चाद्गविष्ठो गां गतस्तदा॥ ३६॥

द्वारका जानेके मार्गमें श्रीहरि जिन-जिन प्रान्तोंमें प्रवेश करते थे, उन समस्त प्रदेशोंके वासी उन्हें उपहारादि प्रदान करते थे। श्रीभगवान् भी उन सबके द्वारा किया गया अभिनन्दन स्वीकार करते। सायंकाल होनेपर वे रथसे उतर आते और जलाशयपर जाकर सन्ध्या-वन्दना करते थे॥ ३६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां प्रथमस्कन्धे श्रीकृष्णद्वारका-गमनं नाम दशमोऽध्यायः॥

एकादशोऽध्यायः

द्वारकापुरीमें श्रीकृष्णका राजोचित अभिनन्दन

श्रीसूत उवाच—

आनर्तान् स उपव्रज्य स्वृद्धान् जनपदान् स्वकान्।
दध्मौ दरवरं तेषां विषादं शमयन्निव॥ १॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—इसके बाद अपने समृद्धशाली आनर्त्त नामक द्वारका देशके निकट पहुँचकर श्रीकृष्णने वहाँके निवासियोंकी विरह-वेदनाको शान्त करनेके लिए अपना पाञ्चजन्य नामक श्रेष्ठ शङ्ख बजाया॥ १॥

स उच्चकाशे धवलोदरो दरो-
ऽप्युरुक्रमस्याधरशोणशोणिमा ।
दाध्मायमानः करकञ्जसम्पुटे
यथाब्जषण्डे कलहंस उत्स्वनः॥ २॥

श्रीकृष्णके अधरोंकी लालीसे लाल हुआ वह श्वेतवर्णका शङ्ख बजते समय उनके कर-कमलरूप सम्पुटमें इस प्रकारसे अति सुशोभित हो रहा था, मानो लाल रङ्गके कमलोंपर बैठकर कोई राजहंस उच्चस्वरसे मधुर गान कर रहा हो॥ २॥

तमुपश्रुत्य निनदं जगद्भयभयावहम्।
प्रत्युद्ययुः प्रजाः सर्वा भर्तृदर्शनलालसाः॥ ३॥

संसारके भयको भी भयभीत करनेवाली उस पाञ्चजन्य शङ्खकी ध्वनिको श्रवणकर उस देशमें रहनेवाली समस्त प्रजा अपने प्रभुका दर्शन करनेके लिए उत्सुक होकर नगरके बाहर निकल आयी॥ ३॥

तत्रोपनीतबलयो रवेर्दीपमिवादृताः।
आत्मारामं पूर्णकामं निजलाभेन नित्यदा

प्रीत्युत्फुल्लमुखाः प्रोचुर्हर्षगद्गदया गिरा।
पितरं सर्वसुहृदमवितारमिवार्भकाः॥ ४॥

सबके मुखकमल प्रेमसे खिल उठे। तत्पश्चात् सूर्यको प्रदीप दान करनेके समान वे समस्त प्रजागण श्रीकृष्णके निकट परम आदरपूर्वक विभिन्न उपहार समर्पित करने लगे और सर्वदा परमानन्दस्वरूपसे युक्त, अपने स्वरूपानन्दमें ही तृप्त, अपनी इच्छासे विचरण करनेवाले, समस्त जीवोंके बन्धु और रक्षक श्रीकृष्णके प्रति प्रीतियुक्त होकर और आनन्दसे गद्‌गद वचनोंसे उनसे वैसे ही बोलने लगे जैसे बालक तोतली बोलीमें अपने पितासे बातें करते हैं॥ ४॥

नताः स्म ते नाथ सदाङ्घ्रिपङ्कजं
विरिञ्चवैरिञ्च्य-सुरेन्द्रवन्दितम् ।
परायणं क्षेममिहेच्छतां परं
न यत्र कालः प्रभवेत् परःप्रभुः॥ ५॥

(प्रजाजनोंने कहा—)हे प्रभो! ब्रह्माादिपर भी अपना प्रभाव विस्तार करनेवाला काल तक जिन श्रीचरणकमलोंके ऊपर किसी प्रकारका प्रभुत्व स्थापित करनेमें समर्थ नहीं हो पाता, जो श्रीचरण-कमल इस संसारमें अपने चरम कल्याणकी अभिलाषा करनेवालोंके लिए परम आश्रय हैं, ब्रह्मा, उनके पुत्र सनकादि ऋषि एवं देवराज इन्द्रादि अन्यान्य देवतागण भी जिन चरणकमलोंकी वन्दना किया करते हैं, आपके उन श्रीचरणकमलोंमें हम सदा-सर्वदा प्रणाम करते हैं॥ ५॥

भवाय नस्त्वं भव विश्वभावन
त्वमेव माताथ सुहृत् पतिः पिता।
त्वं सद्गुरुर्नः परमञ्च दैवतं
यस्यानुवृत्त्या कृतिनो बभूविम॥ ६॥

हे जगत्पालक हरि! आप हमारा कल्याण कीजिये। आप ही हमारे पिता, माता, बन्धु और स्वामी हैं तथा आप ही हमारे सद्‌गुरु एवं परम आराध्यदेव हैं। आपके आगमनसे हम कृतार्थ हो गये हैं॥ ६॥

अहो सनाथा भवता स्म यद्वयं
त्रैपिष्टपानामपि दूरदर्शनम्।
प्रेमस्मितस्निग्ध-निरीक्षणाननं
पश्येम रूपं तव सर्वसौभगम्॥ ७॥

अहो! आपकी कृपासे हमारे जैसे अनाथ अब सनाथ हो गये हैं। प्रेमपूर्ण मन्द-हास्ययुक्त और सुन्दर नेत्रविशिष्ट मुखमण्डलसे परिशोभित सर्वाङ्गसुन्दर आपके जिस रूपका हम दर्शन कर रहे हैं, इस रूपका दर्शन करना स्वर्गवासी देवताओंके लिए भी दुर्लभ है॥ ७॥

यर्ह्यम्बुजाक्षापससार भो भवान्
कुरून् मधून् वाथ सुहृद्दिदृक्षया।
तत्राब्दकोटिप्रतिमः क्षणो भवेद्-
रविं विनाक्ष्णोरिव नस्तवाच्युत॥ ८॥

हे कमलनयन हरि! जब आप अपने बन्धु-बान्धवोंसे मिलनेकी इच्छासे हमें छोड़कर हस्तिनापुर एवं मथुरा चले जाते हैं, तब हे अच्युत! आपके विरहमें आपके चरणोंके आश्रित हमें क्षणभरका काल भी करोड़ो-करोड़ो वर्षोंके समान प्रतीत होता है। जैसे सूर्यके बिना आँखें अन्धी हो जाती हैं, हमारी भी वैसी ही दशा हो जाती है॥ ८॥

कथं वयं नाथ चिरोषिते त्वयि
प्रसन्नदृष्ट्याखिलतापशोषणम् ।
जीवेम ते सुन्दरहासशोभित-
मपश्यमाना वदनं मनोहरम्॥ ९॥

हे स्वामिन्! आपकी प्रफुल्लित दृष्टि हमारा ताप दूर करनेवाली है और मनोहर मुसकानसे अलंकृत आपका यह मुखमण्डल चित्तको आकर्षित करनेवाला है। आपके द्वारा इतने दिनों तक प्रवासमें रहनेसे इसे देखे बिना हम किस प्रकार अपना जीवन धारण करते हैं—यह हम ही जानते हैं॥ ९॥

इति चोदीरिता वाचः प्रजानां भक्तवत्सलः।
शृण्वानोऽनुग्रहं दृष्ट्या वितन्वन् प्राविशत् पुरीम्॥ १०॥

मधुभोजदशार्हार्ह-कुकुरान्धकवृष्णिभिः ।
आत्मतुल्यबलैर्गुप्तां नागैर्भोगवतीमिव ॥ ११ ॥

सर्वर्तुसर्वविभव-पुण्यवृक्षलताश्रमैः ।
उद्यानोपवनारामैर्वृतपद्माकरश्रियम् ॥ १२ ॥

गोपुरद्वारमार्गेषु कृतकौतुकतोरणाम् ।
चित्रध्वजपताकाग्रैरन्तःप्रतिहतातपाम् ॥ १३ ॥

सम्मार्जितमहामार्ग-रथ्यापणकचत्वराम् ।
सिक्तां गन्धजलैरुप्तां फलपुष्पाक्षताङ्कुरैः ॥ १४ ॥

द्वारि द्वारि गृहाणाञ्च दध्यक्षतफलेक्षुभिः ।
अलङ्कृतां पूर्णकुम्भैर्बलिभिर्धूपदीपकैः ॥ १५ ॥

इसके बाद भक्तवत्सल श्रीकृष्णने प्रजाओंके इस प्रकारके एवं अन्यान्य हर्षोत्साहपूर्ण वचनोंको श्रवणकर उनपर सहर्ष दृष्टिसे कृपाकी वर्षा करते हुए द्वारकापुरीमें प्रवेश किया। जिस प्रकार पाताल नगरी अनन्त-नाग आदि प्रमुख नागोंसे सुरक्षित है, उसी प्रकार श्रीकृष्णके ही समान पराक्रमशाली मधु, भोज, दशार्ह, अर्ह, कुकुर, अन्धक और वृष्णिवंशियों द्वारा द्वारकापुरी सुरक्षित थी। उस द्वारकापुरीमें सभी ऋतुओंके समस्त प्रकारके पुष्प आदि सम्पदाओंसे भूषित पवित्र वृक्ष एवं लता-मण्डपोंसे परिपूर्ण उद्यान-बगीचे थे। वहाँ कहींपर फल-प्रधान बाग थे, तो कहीं पुष्प-प्रधान बगीचे। कहींपर केलि-कुञ्ज वाटिकाएँ थीं, तो कहीं क्रीड़ोद्यानोंसे घिरे हुए सुशोभित सरोवर थे। पुर-द्वार, गृह-द्वार, राजमार्ग तथा अन्यान्य मार्गोंको उत्सवके कारण तोरणोंसे सुसज्जित किया गया था। उन तोरणोंपर विचित्र गरुड़ादि चिह्नोंसे चिन्हित ध्वजाएँ और जयप्रद मन्त्रोंसे अङ्कित पताकाएँ लहरा रही थीं, जिनके कारण उन-उन स्थानोंपर सूर्यकी किरणें अवरुद्ध होकर प्रवेश करनेमें समर्थ नहीं हो पा रही थीं। राजपथपर प्रचुर छाया थी और वह धूलिसे रहित साफ-सुथरा था। छोटे-छोटे अन्यान्य पथ, गलियाँ, बाजार, चौक, आँगन आदि सभीको झाड़-बुहारकर सुगन्धित जलसे सिञ्चित किया गया था। श्रीभगवान्के स्वागतके लिए फल, फूल, अरवा चावल, मङ्गलसूचक शस्यादिके अङ्कुर यहाँ-वहाँ बिखेरे गये

थे। प्रत्येक घरके द्वारपर दही, अरवा चावल, फल, ईख एवं जलसे भरे हुए कलश सुशोभित हो रहे थे। इस प्रकार श्रीकृष्णने धूप-दीप आदि विविध पूजाके द्रव्योंसे विभूषित पुरीमें प्रवेश किया॥ १०—१५॥

निशम्य प्रेष्ठमायान्तं वसुदेवो महामनाः।
अक्रूरश्चोग्रसेनश्च रामश्चाद्भुतविक्रमः॥ १६॥

प्रद्युम्नश्चारुदेष्णश्च साम्बो जाम्बवतीसुतः।
प्रहर्षवेगोच्छशित-शयनासनभोजनाः॥ १७॥

वारणेन्द्रं पुरस्कृत्य ब्राह्मणैः ससुमङ्गलैः।
शङ्खतूर्यनिनादेन ब्रह्मघोषेण चादृताः॥ १८॥

प्रत्युज्जग्मू रथैर्हृष्टाः प्रणयागतसाध्वसाः।
वारमुख्याश्च शतशो यानैस्तद्दर्शनोत्सुकाः।
लसत्कूण्डलनिर्भात-कपोलवदनश्रियः॥ १९॥

प्राणप्रिय श्रीकृष्ण द्वारका लौट रहे हैं—यह शुभ संवाद सुनकर महात्मा वसुदेव, अक्रूर, उग्रसेन, अद्भुत-बलशाली बलदेव, प्रद्युम्न, चारुदेष्ण और जाम्बवतीनन्दन साम्ब आदि सभीने अत्यधिक आनन्दवशतः सोना, बैठना, भोजन करना आदि आवश्यक कार्योंको छोड़ दिया। श्रीकृष्णके आगमनसे उनमें हर्षकी लहर दौड़ने लगी तथा वे आदरसे युक्त और प्रणयके कारण सम्भ्रमयुक्त हो गये। मङ्गल शकुनके लिए एक राजहाथीको आगे करके तथा पुष्प आदि माङ्गलिक सामग्रियोंसे युक्त ब्राह्मणोंको साथ लेकर सभी रथपर सवार हुए। शङ्ख और तुरहीकी स्वागत-ध्वनि और ब्राह्मणोंके स्वस्त्ययन पाठके साथ भगवान् श्रीकृष्णकी अगवानीकी व्यवस्था की जाने लगी। उज्ज्वल कुण्डलोंकी चमकसे युक्त कपोलोंके कारण जिनके मुखमण्डल अत्यन्त शोभायुक्त हो रहे थे, ऐसी रूपवती सैकड़ों श्रेष्ठ नर्त्तकी वराङ्गनाएँ भी श्रीकृष्णके दर्शनके कौतूहलसे व्याकुल होकर पालकियोंपर सवार होकर उनकी अगवानीमें सम्मिलित होनेके लिए चल पड़ीं॥ १६—१९॥

नटनर्तक-गन्धर्वाः सूतमागध-वन्दिनः।
गायन्ति चोत्तमःश्लोक-चरितान्यद्भुतानि च॥ २०॥

रसके अभिनयमें चतुर बहुत-से नट, ताल-तालपर नाचनेवाले नर्त्तक, राग-रागिनियोंसे युक्त गीत गानेवाले गायक, पौराणिक वक्ता, वंशीवादक, निर्मल ज्ञानसम्पन्न एवं प्रकरणके अनुसार वर्णन करनेवाले वन्दी आदि सभी प्रियश्रवा श्रीकृष्णके भक्त-वात्सलतादि विस्मयपूर्ण चरित्रोंका गान करते हुए उनकी ओर चलने लगे॥ २०॥

भगवांस्तत्र बन्धूनां पौराणामनुवर्तिनाम्।
यथाविध्युपसंगम्य सर्वेषां मानमादधे॥ २१॥

उस समय भगवान् श्रीकृष्णने अपनी अगवानी करनेवाले बन्धु-बान्धवों आदि सुहृद पुरवासियोंसे अलग-अलग मिलकर उनका यथोचित सम्मान किया॥ २१॥

प्रह्वाभिवादनाश्लेष-करस्पर्शस्मितेक्षणैः।
आश्वास्य चाश्वपाकेभ्यो वरैश्चाभिमतैर्विभुः॥ २२॥

भगवान् श्रीकृष्णने अपने पिता श्रीवसुदेव और गर्गाचार्य आदिको सिर झुकाकर प्रणाम किया, यदुवंशियों आदिकी वाणी द्वारा वन्दना की, किसीको हृदयसे लगाया, किसीका अपने कोमल हाथोंसे स्पर्श किया और किसीको प्रेमभरी दृष्टिसे देखकर मात्र मुसकरा दिये, किसीको अभीष्ट वर प्रदान करते हुए अभय प्रदान किया—इस प्रकार भगवान्‌ने चण्डाल तक सभीको सम्मान प्रदान करके सन्तुष्ट किया॥ २२॥

स्वयञ्च गुरुभिर्विप्रैः सदारैः स्थविरैरपि।
आशीर्भिर्युज्यमानोऽन्यैर्वन्दिभिश्चाविशत् पुरीम्॥ २३॥

इसके बाद श्रीकृष्णने स्वयं ही सपत्नीक वृद्ध, गुरुजन, ब्राह्मण तथा अन्यान्य व्यक्तियोंसे आशीर्वाद लिया और वन्दीजनोंसे विरुदावली सुनते हुए सबके साथ नगरमें प्रवेश किया॥ २३॥

राजमार्गं गते कृष्णे द्वारकायाः कुलस्त्रियः।
हर्म्याण्यारुरुहुर्विप्रास्तदीक्षणमहोत्सवाः॥ २४॥

हे ब्राह्मणो! जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण द्वारकाके राजमार्गसे जा

रहे थे, उस समय उनके दर्शनके आनन्दसे मतवाली होकर द्वारका-वासिनी कुल-महिलाएँ अपने भवनोंकी अटारियोंपर चढ़ गयीं॥ २४॥

नित्यं निरीक्षमाणानां यदपि द्वारकौकसाम्।
नैव तृप्यन्ति हि दृशः श्रियो धामाङ्गमच्युतम्॥ २५॥

इसका कारण यह है कि श्रीकृष्ण सम्पूर्ण शोभाके आधारस्वरूप हैं। उनका अङ्ग-प्रत्यङ्ग सौन्दर्यका सार है। परम रमणीय एवं मनोहर श्रीहरिके सदा-सर्वदा दर्शन करके भी द्वारकावासियोंके नेत्र कभी तृप्त नहीं होते थे॥ २५॥

श्रियो निवासो यस्योरः पानपात्रं मुखं दृशाम्।
बाहवो लोकपालानां सारङ्गाणां पदाम्बुजम्॥ २६॥

भगवान् श्रीकृष्णका वक्षःस्थल सौन्दर्यकी मूर्त्तिमान-स्वरूप लक्ष्मीका विलासस्थान है, उनका मुखचन्द्र समस्त प्राणियोंके नेत्रोंके लिए सौन्दर्यरूप अमृत पानका पात्र-स्वरूप है, उनकी भुजाएँ लोकपालोंकी आश्रय हैं तथा उनके चरणकमल सार अर्थात् उनका यश गान करनेवाले परमहंस भक्तोंके आश्रय हैं॥ २६॥

सितातपत्र-व्यजनैरुपस्कृतः
प्रसूनवर्षैरभिवर्षितः पथि।
पिशङ्गवासा वनमालया बभौ
घनो यथार्कोडुपचापवैद्युतैः॥ २७॥

पीताम्बर एवं वनमालासे सुशोभित भगवान् श्रीश्यामसुन्दर जब राजपथपर चल रहे थे, उस समय उनके ऊपर श्वेत वर्णका छत्र शोभायमान था और उन्हें श्वेत वर्णके ही चामर ढुलाये जा रहे थे। उनपर चारों ओरसे पुष्पोंकी प्रचुर वर्षा हो रही थी। श्रीभगवान्की यह समस्त शोभा ऐसी प्रतीत हो रही थी, मानो नीलमेघ एक ही समयमें सूर्य, चन्द्रमा, इन्द्रधनुष और बिजलीसे सुशोभित हो॥ २७॥

प्रविष्टस्तु गृहं पित्रोः परिष्वक्तः स्वमातृभिः।
ववन्दे शिरसा सप्त देवकीप्रमुखास्तदा॥ २८॥

तब भगवान् श्रीकृष्णने सबसे पहले अपने माता-पिताके महलमें प्रवेश किया। माता-तुल्य श्रीवसुदेवजीकी अन्य पत्नियोंने स्नेहसे सराबोर होकर उन्हें हृदयसे लगाया। भगवान् श्रीकृष्णने देवकी आदि सातों माताओंको सिर झुकाकर प्रणाम किया॥ २८॥

ताः पुत्रमङ्कमारोप्य स्नेहस्नुतपयोधराः।
हर्षविह्वलितात्मानः सिषिचुर्नेत्रजैर्जलैः॥ २९॥

उन श्रीदेवकी आदि प्रमुख माताओंमेंसे प्रत्येकने ही पुत्र श्रीकृष्णको अपनी-अपनी गोदमें बिठाया और उन्हें लाड़-प्यार करने लगीं। अत्यधिक स्नेहके कारण माताओंके स्तनोंसे स्वतः ही दूध झरने लगा। उनका हृदय आनन्दसे छलकने लगा और वे अपने आनन्दाश्रुकी धाराओंसे श्रीकृष्णको अभिषिक्त करने लगीं॥ २९॥

अथाविशत् स्वभवनं सर्वकाममनुत्तमम्।
प्रासादा यत्र पत्नीनां सहस्राणि च षोडश॥ ३०॥

माताओंसे अनुमति लेकर श्रीहरिने समस्त प्रकारकी कामनाओंको पूर्ण करनेवाले और सर्वोत्कृष्ट भोग-सामग्रियोंसे परिपूर्ण अपने अन्तःपुरमें प्रवेश किया। वहाँ उनकी सोलह हजार एक सौ आठ रानियोंके अलग-अलग उत्तम महल थे॥ ३०॥

पत्न्यः पतिं प्रोष्य गृहानुपागतं
विलोक्य सञ्जातमनोमहोत्सवाः।
उत्तस्थुरारात् सहसासनाशयात्
साकं व्रतैर्व्रीडितलोचनाननाः॥ ३१॥

तदनन्तर श्रीभगवान्ने एक साथ ही पृथक्-पृथक् रानियोंके महलोंमें एक ही समयमें प्रवेश किया। प्रवासके बाद अपने प्राणनाथको दूरसे ही निकट आते देखकर श्रीकृष्णकी उन समस्त पत्नियोंका हृदय परमानन्दसे पूर्ण हो गया तथा उनके मुख और नेत्र लज्जावशतः झुक गये। अपने प्रियतमको निकट देखकर वे स्मृतिमें उक्त प्रोषितभर्तृका[१] द्वारा धारण किये गये समस्त प्रकारके भोग-विलासके त्याग आदिके

[१] जिसका पति प्रवासमें हो अर्थात् परदेश गया हो।

विधि-नियमको परित्याग किये बिना ही अपने-अपने आसन अर्थात् देह और सर्वान्तःकरणके साथ उठ खड़ी हुईं॥ ३१॥

तमात्मजैर्दृष्टिभिरन्तरात्मना
दुरन्तभावाः परिरेभिरे पतिम्।
निरुद्धमप्यास्रवदम्बु नेत्रयो-
र्विलज्जतीनां भृगुवर्य वैक्लवात्॥ ३२॥

हे भार्गवश्रेष्ठ शौनकजी! इन महिषियोंका भगवान् श्रीकृष्णके प्रति बड़ा ही गम्भीर भाव था। श्रीकृष्णको दूरसे ही आता देखकर प्रेम-विवशताके कारण पहले उन्होंने मन-ही-मन, फिर नेत्रोंके द्वारा, पुनः उन्हें समीप आते देखकर अपने पुत्रों द्वारा श्रीकृष्णका कण्ठ धारणकर उन्हें उनसे आलिङ्गित करवाकर स्वयं आलिङ्गन सुखका अनुभव किया। उस समय विह्वलताके कारण उनके नेत्रोंसे आँसू बह रहे थे तथा वे संकोचके कारण उन आँसुओंको रोकनेका बहुत प्रयास कर रही थीं। किन्तु धैर्य न रहने कारण वे रानियाँ विशेष रूपसे लज्जित हो रही थीं। अब इन श्रीकृष्णकी पत्नियोंके विशिष्ट प्रेम-विलासका श्रवण कीजिये॥ ३२॥

यद्यप्यसौ पार्श्वगतो रहोगत-
स्तथापि तस्याङ्घ्रियुगं नवं नवम्।
पदे पदे का विरमेत तत्पदा-
च्चलापि यत् श्रीर्न जहाति कर्हिचित्॥ ३३॥

यद्यपि भगवान् श्रीकृष्ण एकान्तमें सर्वदा ही अपनी पत्नियोंके समीप रहते थे, तथापि उनके श्रीचरणकमल प्रत्येक क्षण नवनवायमान ही जान पड़ते थे। अतएव चञ्चल स्वभावयुक्त साक्षात् लक्ष्मीजी भी जिनके श्रीचरणकमलोंको कभी नहीं छोड़तीं, तो फिर कोई अन्य स्त्री भी उन चरण-युगलकी सेवासे किस प्रकार विरत हो सकती है?॥ ३३॥

एवं नृपाणां क्षितिभारजन्मना-
मक्षौहिणीभिः परिवृत्ततेजसाम्।

विधाय वैरं श्वसनो यथानलं
मिथो वधेनोपरतो निरायुधः॥ ३४॥

जिस प्रकार वायु बाँसके वृक्षोंमें परस्पर संघर्षणके द्वारा दावानल उत्पन्न कराकर उन बाँसोंको जलाकर स्वयं शान्त हो जाती है, उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण भी स्वयं निरस्त्र रहकर पृथ्वीके भार स्वरूप बहुत-सी अक्षौहिणी सेनाओंसे युक्त शक्तिशाली राजाओंमें परस्पर शत्रुता उत्पन्न कराकर उनके द्वारा एक-दूसरेका वध करवाकर स्वयं शान्त हो गये॥ ३४॥

स एष नरलोकेऽस्मिन्नवतीर्णः स्वमायया।
रेमे स्त्रीरत्नकूटस्थो भगवान् प्राकृतो यथा॥ ३५॥

अद्वितीय भोक्ता तथा एकमात्र परमपुरुष तुरीय श्रीकृष्ण अपनी अचिन्त्य स्वरूपशक्ति—योगमायाके बलसे इस मर्त्यधाममें अवतीर्ण हुए। उन्होंने प्राकृत दृष्टिसे सहस्त्रों उत्तम रमणी-रत्नोंके साथ साधारण मनुष्यके समान रमण किया था॥ ३५॥

उद्दामभावपिशुनामलवल्गुहास-
व्रीडावलोकनिहतोऽमदनोऽपि यासाम्।
सम्मुह्य चापमजहात् प्रमदोत्तमास्ता
यस्येन्द्रियं विमथितुं कुहकैर्न शेकुः॥ ३६॥

तमयं मन्यते लोको ह्यसक्तमपि सङ्गिनम्।
आत्मौपम्येन मनुजं व्यापृण्वानं यतोऽबुधः॥ ३७॥

जिन समस्त परम सुन्दरियोंके गूढ़ हाव-भावसूचक निर्मल मनोहर हास्य और सलज्ज कटाक्षसे अत्यन्त सम्मोहित होकर कामरिपु साक्षात् महादेव भी अपने पिनाक-धनुषका परित्याग कर देते हैं, अथवा स्वयं कामदेव अपने कर्त्तव्यसे सम्मोहित होकर लज्जापूर्वक अपने कुसुम-धनुषका परित्याग कर देते हैं, वैसी महेश-मदन-विजयिनी श्रेष्ठ रमणियाँ भी अपने कपट हाव-भावोंके पूर्ण विक्रमादि द्वारा श्रीकृष्णके मनको तनिक भी क्षुब्ध न कर सकीं। ऐसे निर्विकार और प्राकृत सङ्गसे अतीत श्रीकृष्णको प्राकृत-मायासे मुग्ध संसारके

अतत्त्वज्ञ लोग मूर्खताके कारण अपने ही समान कामी, स्त्री-आसक्त और मरणशील सामान्य मनुष्य मान लेते हैं॥ ३६-३७॥

एतदीशनमीशस्य प्रकृतिस्थोऽपि तद्गुणैः।
न युज्यते सदात्मस्थैर्यथा बुद्धिस्तदाश्रया॥ ३८॥

जिस प्रकार परम-भागवतजनोंकी भगवान्‌के प्रति शरणागत बुद्धि प्रकृतिमें स्थित होनेपर भी प्राकृत गुणोंसे लिप्त नहीं होती, उसी प्रकार श्रीभगवान् प्रकृतिके अन्तर्गत प्रपञ्चमें अवस्थित होकर भी सुख-दुःख आदि प्राकृत गुणोंसे कदापि लिप्त नहीं होते। परमेश्वर या उनकी वस्तुओंका यही ऐश्वर्य है॥ ३८॥

तं मेनिरेऽबला मौढ्यात् स्त्रैणञ्चानुव्रतं रहः।
अप्रमाणविदो भर्तुरीश्वरं मतयो यथा॥ ३९॥

जिस प्रकार अहंबुद्धिसे युक्त व्यक्ति अपनी-अपनी कल्पनाके अनुसार क्षेत्रज्ञ ईश्वरको अपने-अपने धर्मसे युक्त मानते हैं, उसी प्रकार ये अबलाएँ भी श्रीकृष्णकी महिमाको नहीं जानती थीं, अतः मोहवश उन ईश्वरको अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार स्त्रीपरायण एवं अपना एकान्त अनुगत मानती थीं॥ ३९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां प्रथमस्कन्धे श्रीकृष्णद्वारका-प्रवेशो नामैकादशोऽध्यायः॥

द्वादशोऽध्यायः

परीक्षित्‌का जन्म-वृत्तान्त

श्रीशौनक उवाच—

अश्वत्थाम्नोपसृष्टेन ब्रह्मशीर्ष्णोरुतेजसा।
उत्तराया हतो गर्भ ईशेनाजीवितः पुनः॥ १॥

श्रीशौनक ऋषिने कहा—हे श्रीसूत गोस्वामी! अश्वत्थामाके द्वारा छोड़े गये महाभयङ्कर ब्रह्मास्त्रसे उत्तराका गर्भ नष्ट हो गया था, तथापि भगवान् श्रीकृष्णने उस गर्भस्थ शिशुकी भलीभाँति रक्षा की॥ १॥

तस्य जन्म महाबुद्धेः कर्माणि च महात्मनः।
निधनञ्च यथैवासीत् स प्रेत्य गतवान् यथा॥ २॥

तदिदं श्रोतुमिच्छामो गदितुं यदि मन्यसे।
ब्रूहि नः श्रद्दधानानां यस्य ज्ञानमदाच्छुकः॥ ३॥

शक्तिशाली, महाज्ञानी और महानुभाव उन परीक्षित्‌का उस गर्भसे कैसे जन्म हुआ? कौन-कौनसे कर्म किये एवं किस प्रकार अपनी देहका परित्याग किया? वे किस प्रकारसे अपनी देहका त्याग करके वैकुण्ठ गये? परमहंसचूड़ामणि श्रीशुकदेवने उन्हें तत्त्व-ज्ञान श्रवण कराकर कृतार्थ किया था, अतः उन श्रीपरीक्षित्‌के विषयमें समस्त वृत्तान्त जाननेकी हमारी बड़ी अभिलाषा है। यदि आप अनुग्रहपूर्वक उस वृत्तान्तको कहना चाहे, तो हम आपसे प्रार्थना करते हैं कि आप हमें उनका सम्पूर्ण चरित बतलायें, हम बड़ी श्रद्धाके साथ उसे सुनना चाहते हैं॥ २-३॥

श्रीसूत उवाच—

अपीपलद्धर्मराजः पितृवद्रञ्जयन् प्रजाः।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यः कृष्णपादानुसेवया॥ ४॥

श्रीसूतगोस्वामीने कहा—भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी प्रतिक्षण सेवा करनेके कारण धर्मराज युधिष्ठिर समस्त प्रकारकी कामनाओंसे निर्मुक्त हो गये थे। वे अपने पिता पाण्डुके समान ही अपनी प्रजाको भलीभाँति सन्तुष्ट करते हुए उसका पालन करने लगे॥४॥

सम्पदः क्रतवो लोका महिषी भ्रातरो मही।
जम्बुद्वीपाधिपत्यञ्च यशश्च त्रिदिवं गतम्॥५॥

हे शौनकादि ऋषियो! धर्मराज युधिष्ठिरके पास प्रचुर धन-सम्पत्ति थी। उन्होंने बड़े-बड़े यज्ञ किये, जिसके परिणामस्वरूप उन्हें पुण्यलोकोंका अधिकार प्राप्त हो गया था। अनुकूल रानी, आज्ञाकारी भाई, सम्पूर्ण पृथ्वीपर शासन, जम्बूद्वीप तक प्रभुत्व एवं स्वर्ग तक विस्तृत कीर्त्ति—सभी कुछ उन्हें प्राप्त था॥५॥

किं ते कामाः सुरस्पार्हा मुकुन्दमनसो द्विज।
अधिजह्रुर्मुदं राज्ञः क्षुधितस्य यथेतरे॥६॥

किन्तु हे ब्रह्मन्! जिस प्रकार अन्न-भोजनकी लालसावाले भूखसे पीड़ित व्यक्तिको भूख-मिटानेके लिए अन्न-भोजनके अतिरिक्त माला, चन्दनादि अन्य कुछ भी सुखकर नहीं लगता, उसी प्रकार जिनका चित्त एकमात्र श्रीकृष्णमें ही रमा हुआ है, उनके पास देवताओं द्वारा भी वाञ्छित सम्पदाएँ विद्यमान रहनेपर क्या ये सम्पदादि विषय उन्हें आनन्द प्रदान कर सकते हैं? कदापि नहीं॥६॥

मातुर्गर्भगतो वीरः स तदा भृगुनन्दन।
ददर्श पुरुषं कञ्चिद्दह्यमानोऽस्त्रतेजसा॥७॥

हे भृगुनन्दन! जब ब्रह्मास्त्रने उत्तराके गर्भमें प्रवेश किया, उस समय उत्तराके गर्भमें स्थित महावीर शिशु परीक्षित् उस ब्रह्मास्त्रके तेजसे जलने लगे, किन्तु तभी उन्होंने अपनी आँखोंके सामने एक ज्योतिर्मय पुरुषका दर्शन किया॥७॥

अङ्गुष्ठमात्रममलं स्फुरत्पुरटमौलिनम्।
अपीव्यदर्शनं श्यामं तडिद्वाससमच्युतम्॥८॥

श्रीमद्दीर्घचतुर्बाहुं तप्तकाञ्चनकूण्डलम्।
क्षतजाक्षं गदापाणिमात्मनः सर्वतो दिशम्।
परिभ्रमन्तमुल्काभां भ्रामयन्तं गदां मुहुः॥ ९॥

अस्त्रतेजः स्वगदया नीहारमिव गोपतिः।
विधमन्तं सन्निकर्षे पर्यैक्षत क इत्यसौ॥ १०॥

बालक परीक्षित्‌ने देखा कि उन पुरुषका माप तो केवल अङ्गूठे मात्रका है और उनकी कान्ति निर्मल है। वे उज्ज्वल स्वर्णमुकुटधारी अति सुन्दर रूपयुक्त हैं तथा उन्होंने अपने अङ्गोंपर विद्युतसे विभूषित मेघके समान पीताम्बर धारण किया हुआ है। उन निर्विकार पुरुषकी घुटने तक लम्बी-लम्बी सुन्दर चार भुजाएँ हैं, तथा उनके कान अग्निसे तपाये हुए स्वर्णमय कुण्डलोंसे सुशोभित हैं। 'अहो! मेरे भक्तको गर्भवासकालमें ही ब्रह्मास्त्रके तापको सहन करना पड़ रहा है।'—यह देखकर क्रोधसे भरे अपने अत्यन्त लाल नेत्रोंको वह चारों ओर घुमा रहे हैं। उन पुरुषने हाथमें गदा धारण कर रखी है तथा उल्काके समान जलती हुई अपनी गदाको वह पुनः-पुनः अपने चारों ओर घुमा रहे हैं। जिस प्रकार सूर्य कुहरेका विनाश कर देता है, ठीक उसी प्रकार वह अपनी गदाके द्वारा अश्वत्थामा द्वारा छोड़े गये ब्रह्मास्त्रके तेजका विनाश कर रहे हैं। ऐसे पुरुषको अपने समीपमें स्थित देख गर्भस्थित बालक परीक्षित् 'यह कौन हैं?'—इस प्रकार मन-ही-मन विचार करने लगे॥ ८—१०॥

विधूय तदमेयात्मा भगवान् धर्मगुब्विभुः।
मिषतो दशमास्यस्य तत्रैवान्तर्दधे हरिः॥ ११॥

असीम शक्तिशाली, धर्मके परिपालक और सर्वगत परमेश्वर श्रीहरि उस ब्रह्मास्त्रका विनाश करके दस मासके गर्भस्थ शिशु (उन परीक्षित्) की आँखोंके सामने उस गर्भमें ही अन्तर्धान हो गये॥ ११॥

ततः सर्वगुणोदर्के सानुकूलग्रहोदये।
जज्ञे वंशधरः पाण्डोर्भूयः पाण्डुरिवौजसा॥ १२॥

तदनन्तर समस्त सद्‌गुणोंको विकसित करनेवाले तत्कालीन उदय लग्नके साथ अन्यान्य अनुकूल ग्रहोंके सम्मिलित होनेपर उस शुभ समयमें पाण्डुके समान ही पराक्रमी पाण्डुके वंशधर परीक्षित्‌ने जन्म-ग्रहण किया॥ १२॥

तस्य प्रीतमना राजा विप्रैर्धौम्यकृपादिभिः।
जातकं कारयामास वाचयित्वा च मङ्गलम्॥ १३॥

पौत्रके जन्मका समाचार सुनकर धर्मराज युधिष्ठिरका चित्त प्रफुल्लित हो गया। उन्होंने धौम्य, कृपाचार्य आदि ब्राह्मणोंके द्वारा पुण्याह आदि स्वस्ति-वाचन पाठ करवाये और नवजात बालकका जातकर्म संस्कार सम्पन्न करवाया॥ १३॥

हिरण्यं गां महीं ग्रामान् हस्त्यश्वान् नृपतिर्वरान।
प्रादात् स्वन्नञ्च विप्रेभ्यः प्रजातीर्थे स तीर्थवित्॥ १४॥

दानके उचित समय और योग्य पात्रको जाननेवाले महाराज युधिष्ठिरने सन्तानोत्पत्ति रूप प्रजातीर्थ नामक पुण्यकालमें अर्थात् नाल काटनेसे पहले ही ब्राह्मणोंको स्वर्ण, गाय, भूमि, श्रेष्ठ गाँव, हाथी, घोड़े आदि एवं आवश्यकतानुसार उत्तम-उत्तम भोजन सामग्री प्रदान की॥ १४॥

तमूचुर्ब्राह्मणास्तुष्टा राजानं प्रश्रयानतम्।
एष ह्यस्मिन् प्रजातन्तौ पुरूणां पौरवर्षभ॥ १५॥
दैवेनाप्रतिघातेन शुक्ले संस्थामुपेयुषि।
रातो वोऽनुग्रहार्थाय विष्णुना प्रभविष्णुना॥ १६॥

उस समय ब्राह्मणगण सन्तुष्ट होकर राजा युधिष्ठिरसे कहने लगे—हे पुरुवंशश्रेष्ठ! पुरुवंशियोंके पवित्र वंशका अङ्कुर यह पुत्र कालकी प्रायः निश्चित गतिसे दैववशतः विनाशको प्राप्त हो ही गया था, किन्तु महाप्रभावशाली श्रीनारायणने आपके प्रति अनुग्रह करते हुए इस बालककी रक्षाकर इसे आपको प्रदान किया है॥ १५-१६॥

तस्मान्नाम्ना विष्णुरात इति लोके भविष्यति।
न सन्देहो महाभाग महाभागवतो महान्॥ १७॥

भगवान् श्रीविष्णुके द्वारा रक्षित होनेके कारण यह बालक जगत्में 'विष्णुरात' नामसे प्रसिद्ध होगा। हे सौभाग्यवान महाराज! इसमें कोई सन्देह नहीं है कि यह बालक संसारमें महागुणशाली और परम वैष्णव होगा॥ १७॥

श्रीयुधिष्ठिर उवाच—

अप्येष वंश्यान् राजर्षीन् पुण्यश्लोकान् महात्मनः।
अनुवर्तिता स्विद्यशसा साधुवादेन सत्तमाः॥ १८॥

यह सुनकर धर्मराज युधिष्ठिर परमानन्दित हो गये और गम्भीरताके साथ पूछने लगे—हे श्रेष्ठ सज्जनो! क्या यह नवजात कुमार अपनी उज्ज्वल कीर्त्ति और सद्-प्रशंसाके द्वारा हमारे वंशके पवित्रकीर्त्ति महान् राजर्षियोंका अनुसरण करेगा?॥ १८॥

श्रीब्राह्मणा ऊचुः—

पार्थ प्रजाविता साक्षादिक्ष्वाकुरिव मानवः।
ब्रह्मण्यः सत्यसन्धश्च रामो दाशरथिर्यथा॥ १९॥

ब्राह्मणोंने कहा—हे कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर! यह बालक साक्षात् मनुपुत्र इक्ष्वाकुके समान प्रजारक्षक, दशरथ-नन्दन श्रीरामचन्द्रके समान ब्राह्मणोंका हितकारी और सत्यप्रतिज्ञ होगा॥ १९॥

एष दाता शरण्यश्च यथा ह्यौशीनरः शिबिः।
यशो वितनिता स्वानां दौष्मन्तिरिव यज्वनाम्॥ २०॥

अपना माँस प्रदान करके बाजके आक्रमणसे शरणागत कबूतरकी रक्षा करनेवाले उशीनर नरेश शिबिके समान यह बालक उदार-दाता और शरणागतजनोंका पालक तथा दुष्मन्त-पुत्र भरतके समान ही सुहृद्-सम्बन्धियोंके यशका विस्तार तथा बहुत-से यज्ञ करनेवाला होगा॥ २०॥

धन्विनामग्रणीरेष तुल्यश्चार्जुनयोर्द्वयोः।
हुताश इव दुर्द्धर्षः समुद्र इव दुस्तरः॥ २१॥

हे राजन्! यह कुमार धनुर्धारियोंमें अपने दादा महावीर पार्थ और हैहयाधिपति कार्त्तवीर्य (सहस्त्रार्जुन) के समान श्रेष्ठ, अग्निके समान ही

दुर्जय एवं समुद्रके समान ही दुस्तर अर्थात् गम्भीर होगा॥ २१॥

मृगेन्द्र इव विक्रान्तो निषेव्यो हिमवानिव।
तितिक्षुर्वसुधेवासौ सहिष्णुः पितराविव॥ २२॥

यह शिशु पशुराज सिंहके समान पराक्रमशाली, हिमालयके समान साधुओंकी अनन्यगति, पृथ्वीके समान क्षमाशील और माता-पिताके समान स्नेहवशतः सहनशील होगा॥ २२॥

पितामहसमः साम्ये प्रसादे गिरिशोपमः।
आश्रयः सर्वभूतानां यथा देवो रमाश्रयः॥ २३॥

इस बालकमें ब्रह्माजीके समान द्वेषभावसे रहित समता गुण होगा, आशुतोष शिवके समान सन्तोष गुण होगा तथा भगवान् लक्ष्मीपति श्रीहरिके समान यह समस्त प्राणियोंका आश्रयदाता होगा॥ २३॥

सर्वसद्गुणमाहात्म्ये एष कृष्णमनुव्रतः।
रन्तिदेव इवौदार्ये ययातिरिव धार्मिकः॥ २४॥

यह कुमार समस्त सद्गुणोंसे युक्त महिमाको धारण करनेमें श्रीकृष्णका अनुयायी होगा, रन्तिदेवके समान उदार तथा ययातिके समान धार्मिक होगा॥ २४॥

धृत्या बलिसमः कृष्णे प्रह्लाद इव सद्ग्रहः।
आहर्तैषोऽश्वमेधानां वृद्धानां पर्युपासकः॥ २५॥

महाराज युधिष्ठिर! यह शिशु धैर्यमें प्रह्लादपौत्र बलिके समान और भगवान् श्रीकृष्णके प्रति दृढ़ मनोयोगमें भक्तराज प्रह्लादके समान होगा। यह बहुत-से अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान और वृद्धोंका सम्मान करनेवाला होगा॥ २५॥

राजर्षीणां जनयिता शास्ता चोत्पथगामिनाम्।
निग्रहीता कलेरेष भुवो धर्मस्य कारणात्॥ २६॥

यह जनमेजय आदि राजर्षियोंका जन्मदाता, असत्-पथ पर चलनेवाले (मर्यादाका उल्लंघन करनेवाले) लोगोंका शासनकर्त्ता, पृथ्वी और धर्मकी रक्षाके लिए कलिको दण्ड देनेवाला होगा॥ २६॥

तक्षकादात्मनो मृत्युं द्विजपुत्रोपसर्जितात्।
प्रपत्स्यत उपश्रुत्य मुक्तसङ्गः पदं हरेः॥ २७॥

तदनन्तर ब्राह्मण (शमीक) के पुत्र शृङ्गी ऋषिके शापसे तक्षक नागके द्वारा अपनी मृत्युको अनिवार्य जानकर यह इस संसारसे विरक्त हो जायेगा और श्रीहरिके अभय चरणकमलोंका आश्रय लेगा॥ २७॥

जिज्ञासितात्मयाथार्थ्यो मुनेर्व्याससुतादसौ।
हित्वेदं नृप गङ्गायां यास्यत्यद्धाकुतोभयम्॥ २८॥

हे महाराज! यह श्रीमान् बालक वेदव्यास-पुत्र ब्रह्मर्षि श्रीशुकदेवके मुखसे अपने (आत्माके) वास्तविक तत्त्वको जाननेका अभिलाषी होकर उनसे तत्त्वज्ञान प्राप्त करेगा। अन्ततः गङ्गाके तटपर अपने स्थूलशरीरका परित्याग करके निश्चित रूपसे भगवान् श्रीविष्णुके श्रीचरणकमलोंको प्राप्त करेगा॥ २८॥

इति राज्ञ उपादिश्य विप्रा जातककोविदाः।
लब्धापचितयः सर्वे प्रतिजग्मुः स्वकान् गृहान्॥ २९॥

नवजात शिशुकी अदृष्ट गणनामें निपुण अर्थात् ज्योतिष-शास्त्रके विशेषज्ञ वह समस्त ब्राह्मण धर्मराज युधिष्ठिरको बालकके जन्मलग्नका फल बतलाकर भेंट-पूजा आदि प्राप्त करके अपने-अपने घर चले गये॥ २९॥

स एव लोके विख्यातः परीक्षिदिति यत् प्रभुः।
गर्भे दृष्टमनुध्यायन् परीक्षेत नरेष्विह॥ ३०॥

उस बालकने माताके गर्भमें ही परम पुरुषका दर्शन किया था, अतः कुछ बड़ा होनेपर वह निरन्तर उनका ही स्मरण करता हुआ, संसारमें जितने भी लोग हैं, सभीकी 'क्या ये वही पुरुष हैं जिन्हें मैंने गर्भमें देखा था' इस प्रकारसे परीक्षा किया करता था। इसी कारण वह इस जगत्में 'परीक्षित्' के नामसे प्रसिद्ध हुआ॥ ३०॥

स राजपुत्रो ववृधे आशु शुक्ल इवोडुपः।
आपूर्यमाणः पितृभिः काष्ठाभिरिव सोऽन्वहम्॥ ३१॥

जिस प्रकार चन्द्रमा शुक्लपक्षीय पन्द्रह कलाओंसे परिपूर्ण होकर दिन-प्रतिदिन वृद्धिको प्राप्त होता है, उसी प्रकार वह राजकुमार भी पितामह युधिष्ठिर आदि गुरुजनोंके लालन-पालनसे क्रमशः समस्त गुणोंसे परिपूर्ण होकर शीघ्र ही वर्द्धित होने लगा॥ ३१॥

बाल एव स धर्मात्मा कृष्णभक्तो निसर्गतः।
प्रीतिदः सर्वलोकस्य महाभागवतः सुधीः॥ ३२॥

हे शौनक ऋषि! परीक्षित् बाल्यावस्थासे ही स्वभावतः धार्मिक, कृष्णभक्त, समस्त लोगोंका प्रिय करनेवाले, महाभागवत एवं परम बुद्धिमान थे॥ ३२॥

यक्ष्यमाणोऽश्वमेधेन ज्ञातिद्रोहजिहासया।
राजालब्धधनो दध्यौ नान्यत्र कर-दण्डयोः॥ ३३॥

धर्मराज युधिष्ठिर अश्वमेध यज्ञके द्वारा स्वजनोंके वधसे उत्पन्न अधर्मको दूर करनेके लिए प्रायश्चित्त करना चाहते थे। किन्तु कर-ग्रहण और दण्ड-विधान (जुर्माना)—इन दोनों विधियोंसे प्राप्त होनेवाला समस्त धन परिजनोंके भरण-पोषणादि कार्योंमें व्यय हो जाता था। इसके अतिरिक्त धन-आगमनका अन्य कोई उपाय न होनेके कारण अर्थके अभाववशतः वे यज्ञके लिए उपयोगी अर्थकी व्यवस्थाके लिए चिन्ता करने लगे॥ ३३॥

तदभिप्रेतमालक्ष्य भ्रातरोऽच्युतचोदिताः।
धनं प्रहीणमाजह्रुरुदीच्यां दिशि भूरिशः॥ ३४॥

धर्मराजके अभिप्रायसे भलीभाँति अवगत होकर भीमसेन आदि सभी भाई श्रीकृष्णकी प्रेरणानुसार उत्तर दिशामें गये और मरुत्त राजाके यज्ञमें ब्राह्मणों द्वारा परित्यक्त प्रचुर स्वर्ण-पात्रादि रूप धन-रत्नोंको उठा लाये॥ ३४॥

तेन संभृतसम्भारो लब्धकामो युधिष्ठिरः।
वाजिमेधैस्त्रिभिर्भीतो यज्ञेशमयजद्धरिम्॥ ३५॥

स्वजनोंके वधसे उदित पापसे शंकित-चित्त धर्मराज युधिष्ठिरने उस धनके द्वारा यज्ञके उपकरणों एवं सामग्रियोंकी व्यवस्था की। इस

प्रकार अभीष्ट प्राप्ति अर्थात् यज्ञके लिए धनको प्राप्तकर उन्होंने तीन अश्वमेध यज्ञ किये और उन यज्ञोंके द्वारा यज्ञेश्वर श्रीहरिका पूजन किया॥ ३५॥

आहूतो भगवान् राज्ञा याजयित्वा द्विजैर्नृपम्।
उवास कतिचिन्मासान् सुहृदां प्रियकाम्यया॥ ३६॥

अश्वमेध यज्ञमें धर्मराज युधिष्ठिरने भगवान् श्रीकृष्णको निमन्त्रित किया। भगवान् श्रीकृष्णने वहाँ पधारकर ब्राह्मणोंके द्वारा उनका यज्ञ सम्पन्न करवाया तथा पाण्डवादि बन्धु-बान्धवोंकी प्रसन्नताके लिए वे कुछ मास तक वहीं रहे॥ ३६॥

ततो राज्ञाभ्यनुज्ञातः कृष्णया सह बन्धुभिः।
ययौ द्वारवतीं कृष्णः सार्जुनो यदुभिर्वृतः॥ ३७॥

तदनन्तर द्रौपदी, धर्मराज युधिष्ठिर और बन्धु-बान्धवोंसे सब प्रकारसे अनुमति ग्रहणकर यदुवंशियोंसे घिरे हुए भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके साथ द्वारकानगरीके लिए प्रस्थान किया॥ ३७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां प्रथमस्कन्धे श्रीपरीक्षिज्जन्म नाम द्वादशोऽध्यायः॥

त्रयोदशोऽध्यायः

श्रीविदुरके उपदेशसे धृतराष्ट्र और गान्धारीका वनमें गमन और युधिष्ठिर द्वारा देवर्षि नारदसे उनका वृत्तान्त श्रवण

श्रीसूत उवाच—

विदुरस्तीर्थयात्रायां मैत्रेयादात्मनो गतिम्।
ज्ञात्वागाद्धास्तिनपुरं तयावाप्तविवित्सितः॥ १॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—जब विदुरजी तीर्थयात्राके लिए गये थे, उस समय उन्हें श्रीहरिके विषयमें सबकुछ जाननेकी तीव्र अभिलाषा थी। इसीलिए वहाँ उन्होंने श्रीमैत्रेय ऋषिसे आत्माकी गति—परमात्मा श्रीहरिके विषयमें ज्ञान प्राप्त किया और उन श्रीहरिमें एकाग्र चित्त होकर वे हस्तिनापुर लौट आये॥ १॥

यावतः कृतवान् प्रश्र्नान् क्षत्ता कौशारवाग्रतः।
जातैकभक्तिर्गोविन्दे तेभ्यश्चोपरराम ह॥ २॥

महात्मा विदुरने श्रीमैत्रेय ऋषिसे पहले तो कर्म-योगादिके विषयमें बहुत प्रश्न किये थे। किन्तु बादमें अर्थात् तीन-चार प्रश्नोंका उत्तर सुननेमात्रसे ही उनमें श्रीगोविन्ददेवके प्रति ऐकान्तिक भक्ति उदित हो गयी, जिसके फलस्वरूप वे कर्मयोगादिसे सम्बन्धित प्रश्नोंको पूछनेसे विरत हो गये अर्थात् उनके उत्तर सुननेकी भी उनमें इच्छा ही नहीं रही। इसका कारण है कि भक्ति उदित हो जानेपर अन्य समस्त जिज्ञासाएँ दूर हो जाती हैं॥ २॥

तं बन्धुमागतं दृष्ट्वा धर्मपुत्रः सहानुजः।
धृतराष्ट्रो युयुत्सुश्च सूतः शारद्वतः पृथा॥ ३॥
गान्धारी द्रौपदी ब्रह्मन् सुभद्रा चोत्तरा कृपी।
अन्याश्च यामयः पाण्डोर्ज्ञातयः ससुताः स्त्रियः॥ ४॥

प्रत्युज्जग्मुः प्रहर्षेण प्राणं तन्व इवागतम्।
अभिसङ्गम्य विधिवत् परिष्वङ्गाभिवादनैः॥ ५॥

हे ब्रह्मन्! जब किसी भी प्रकारसे मूर्च्छादि दोषके कारण प्राणवायु प्रायः रुक जाती है, तब जिस प्रकार देह और हाथ-पैर आदि निश्चेष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार पाण्डव विदुरजीके दर्शन न होनेपर अत्यन्त दुःखित रहते थे। परन्तु आज भीम आदि अनुजों सहित धर्मपुत्र युधिष्ठिर, धृतराष्ट्र, युयुत्सु, सञ्जय, कृपाचार्य, कुन्ती, गान्धारी, द्रौपदी, सुभद्रा, उत्तरा, कृपी, पाण्डुराजके सम्बन्धी, सम्बन्धियोंकी पत्नियाँ, पुत्रों सहित अन्यान्य महिलाएँ आदि सभी बन्धु विदुरजीको आया देखकर बड़े आनन्दित हो गये, मानो उनके प्राणहीन शरीरोंमें पुनः प्राणोंका सञ्चार हो गया हो। सबने परम आनन्दके साथ विधिवत् उनकी अगवानी करनेके लिए उनके समीप जाकर आलिङ्गन, प्रणाम आदिके द्वारा उनका यथोचित सत्कार किया॥ ३–५॥

मुमुचुः प्रेमबाष्पौघं विरहौत्कण्ठ्यकातराः।
राजा तमर्हयाञ्चक्रे कृतासनपरिग्रहम्॥ ६॥

विदुरजी महाराज युधिष्ठिर द्वारा दिये गये आसनपर सुखपूर्वक बैठ गये। राजा युधिष्ठिरने उनका पूजा-सत्कार किया। विदुरजीके विरहसे उदित उत्कण्ठासे कातर होकर पाण्डवगण प्रेमाश्रु बहाने लगे॥ ६॥

तं भुक्तवन्तं विश्रान्तमासीनं सुखमासने।
प्रश्रयावनतो राजा प्राह तेषाञ्च शृण्वताम्॥ ७॥

महात्मा विदुरने भोजन करके विश्राम किया और उसके बाद जब वे पुनः सुखसे आसनपर बैठ गये, तब सभीके सामने राजा युधिष्ठिर सिर झुकाकर विदुरजीसे बड़े नम्र वचनोंसे कहने लगे—॥ ७॥

श्रीयुधिष्ठिर उवाच—

अपि स्मरथ नो युष्मत्पक्षच्छायासमेधितान्।
विपद्गणाद्विषाग्न्यादेर्मोचिता यत् समातृकाः॥ ८॥

महाराज युधिष्ठिरने कहा—जिस प्रकार पक्षी अपने पंखोंकी छाया द्वारा अति स्नेहसे अपने शावकोंकी रक्षा करते हुए उन्हें सम्वर्द्धित करते हैं, उसी प्रकार आपने भी हमें अत्यन्त वात्सल्यके साथ अपने कर-कमलोंकी छत्रछायामें पाला-पोसा है। पक्षपातरूप छायाके द्वारा भी आपने विष-दान, लाक्षागृह-दाह आदि विपत्तियोंसे बार-बार हमारी एवं हमारी माताजी की रक्षा की थी। तीर्थमें भ्रमण करते समय क्या आप कभी हमलोगोंका स्मरण करते थे?॥ ८॥

कया वृत्त्या वर्तितं वश्चरद्भिः क्षितिमण्डलम्।
तीर्थानि क्षेत्रमुख्यानि सेवितानीह भूतले॥ ९॥

चाचाजी! जब आप पृथ्वीपर विचरण कर रहे थे, तब आपने किस प्रकारकी वृत्ति द्वारा अपनी देह-यात्राका निर्वाह किया? आपने पृथ्वीके विभिन्न क्षेत्रोंमेंसे कौन-कौनसे प्रधान तीर्थोंका सेवन किया?॥ ९॥

भवद्विधा भागवतास्तीर्थभूताः स्वयं विभो।
तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता॥ १०॥

हे प्रभो! आप जैसे भागवतजन तो स्वयं ही तीर्थस्वरूप होते हैं, क्योंकि वे अपने अन्तःकरणमें स्थित गदाधारी भगवान्‌की पवित्रताके बलसे पापियोंके पाप द्वारा मलिन समस्त तीर्थोंको पुनः पवित्र कर देते हैं॥ १०॥

अपि नः सुहृदस्तात बान्धवाः कृष्णदैवताः।
दृष्टाः श्रुता वा यदवः स्वपुर्यां सुखमासते॥ ११॥

हे तात! श्रीकृष्णमें ही जिनके प्राण समर्पित हैं, वे हमारे आत्मीय और सुहृद बन्धु यादवगण अपनी राजधानी द्वारकामें कुशलसे तो हैं न? क्या आपकी उनसे भेंट हुई थी? अथवा आपने उनके विषयमें कुछ सुना तो अवश्य ही होगा?॥ ११॥

इत्युक्तो धर्मराजेन सर्वं तत् समवर्णयत्।
यथानुभूतं क्रमशो विना यदुकुलक्षयम्॥ १२॥

जब धर्मराज युधिष्ठिरने यह सब पूछा, तब विदुरजीने अपने तीर्थ-भ्रमण और द्वारकाका समस्त वृत्तान्त जैसा देखा था अथवा

सुना था, वैसा ही यथाक्रमसे वर्णन कर दिया। परन्तु उन्होंने पाण्डवोंको यदुवंशके ध्वंसके विषयमें कुछ भी नहीं बतलाया॥ १२॥

नन्वप्रियं दुर्विषहं नृणां स्वयमुपस्थितम्।
नावेदयत् सकरुणो दुःखितान् द्रष्टुमक्षमः॥ १३॥

इस जगत्में मनुष्योंके निकट उनके लिए असहनीय तथा उनके अमङ्गलकी बातको बोलना भी उचित नहीं है। परमकरुणामय परदुःखदुःखी विदुरजी पाण्डवोंको दुःखी नहीं देख सकते थे, इसलिए उन्होंने यह अप्रिय और असहनीय घटना पाण्डवोंको नहीं सुनायी, क्योंकि वह तो स्वयं प्रकट होने ही वाली थी॥ १३॥

कञ्चित् कालमथावात्सीत् सत्कृतो देववत् स्वकैः।
भ्रातुर्ज्येष्ठस्य श्रेयस्कृत् सर्वेषां प्रीतिमावहन्॥ १४॥

इसके बाद महात्मा विदुरने तत्त्वोपदेश द्वारा ज्येष्ठ भ्राता धृतराष्ट्रके कल्याणकी कामनासे एवं सभीकी प्रसन्नताके लिए कुछ दिनों तक हस्तिनापुरमें ही वास किया। विदुरजीके सभी आत्मीयजन उनकी देवताके समान सेवा-पूजा किया करते थे॥ १४॥

अबिभ्रदर्यमा दण्डं यथाघमघकारिषु।
यावद्दधार शूद्रत्वं शापाद्वर्षशतं यमः॥ १५॥

(यदि आपत्ति हो कि विदुर शूद्र होकर किस प्रकार तत्त्वोंका उपदेश कर सकते हैं? इसके उत्तरमें कह रहे हैं—वे शूद्र नहीं हैं) माण्डव्य मुनिके शापसे साक्षात् धर्मराज यम ही सौ वर्षोंके लिए शूद्ररूपमें विदुर होकर आये थे। इतने काल तक यमराजके पदपर सूर्यदेव थे और वे ही पापियोंको उचित दण्ड दिया करते थे॥ १५॥

युधिष्ठिरो लब्धराज्यो दृष्ट्वा पौत्रं कुलन्धरम्।
भ्रातृभिर्लोकपालाभैर्मुमुदे परया श्रिया॥ १६॥

राज्याधिकार प्राप्त हो जानेपर महाराज युधिष्ठिर इन्द्रादि लोकपालोंके तुल्य भाइयोंके साथ और वंशधर पौत्र परीक्षित्को देखते हुए श्रेष्ठ राज्य लक्ष्मीरूप सम्पत्तिसे सेवित होकर आनन्दित रहने लगे॥ १६॥

एवं गृहेषु सक्तानां प्रमत्तानां तदीहया।
अत्यक्रामदविज्ञातः कालः परमदुस्तरः॥ १७॥

इस प्रकार पाण्डवगण घर–गृहस्थीके कार्योंमें आसक्त होकर रम गये और एक प्रकारसे यह बात भूल ही गये कि परम दुस्तर काल अज्ञात रूपसे उनपर आक्रमण कर रहा है, अर्थात् उनका आयु–काल सम्पूर्ण हो रहा है॥ १७॥

विदुरस्तदभिप्रेत्य धृतराष्ट्रमभाषत।
राजन् निर्गम्यतां शीघ्रं पश्येदं भयमागतम्॥ १८॥

विदुरजी कालकी गतिको जानते थे, अतः आयुकी समाप्तिके कालको उपस्थित हुआ जानकर वे अपने बड़े भाई धृतराष्ट्रसे बोले—राजन्! देखिये! अब बड़ा भयङ्कर समय उपस्थित हुआ है, शीघ्र ही इस स्थानसे बाहर निकलिये॥ १८॥

प्रतिक्रिया न यस्येह कुतश्चित् कर्हिचित् प्रभो।
स एष भगवान् कालः सर्वेषां नः समागतः॥ १९॥

हे प्रभो! यह सर्वसंहारक काल अब हमारे निकट ही उपस्थित हो चुका है। इस जगत्में इसे टालनेका कोई भी उपाय नहीं है॥ १९॥

येन चैवाभिपन्नोऽयं प्राणैः प्रियतमैरपि।
जनः सद्यो वियुज्येत किमुतान्यैर्धनादिभिः॥ २०॥

इस कालके वशीभूत होनेसे अन्यान्य समस्त प्रकारकी धन–सम्पत्तियोंकी बात तो दूर रहे, सर्वाधिक प्रिय प्राणोंसे भी क्षण भरमें ही वियोग हो जाता है॥ २०॥

पितृभ्रातृ–सुहृत्पुत्रा हतास्ते विगतं वयः।
आत्मा च जरया ग्रस्तः परगेहमुपाससे॥ २१॥

(महामति विदुरजी राजा धृतराष्ट्रको वैराग्य उत्पन्न कराते हुए कहने लगे—)आपके पिता, भाई, बन्धु, पुत्र सभी मृत्युको प्राप्त हो चुके है। अब आपकी आयु भी ढल चुकी है। आपकी यह देह जरावस्थाके कारण जीर्ण हो रही है, अतः ऐसी दशामें भी आप इस पराये घरमें पड़े हुए हैं?॥ २१॥

अन्धः पूरैव बधिरो मन्दप्रज्ञश्च साम्प्रतम्।
विशीर्णदन्तो मन्दाग्निः सरागः कफमुद्वहन्॥ २२॥

आप तो जन्मसे ही अन्धे हैं, उसपर भी अब आप बहरे और मन्द बुद्धि हो गये हैं। आपके सारे दाँत टूट चुके हैं, जठराग्नि मन्द हो गयी है, कफ निकल रहा है, फिर भी आप विषयोंमें इतने आसक्त हैं? ॥ २२॥

अहो महीयसी जन्तोर्जीविताशा यया भवान्।
भीमापवर्जितं पिण्डमादत्ते गृहपालवत्॥ २३॥

अहो! प्राणियोंमें जीवित रहनेकी आशा कितनी बलवती होती है! इसी आशासे मोहित होकर ही तो आप अपने पुत्रोंका वध करनेवाले उस भीमके द्वारा भी दिया हुआ रोटीका टुकड़ा खाकर घरमें पाले जानेवाले कुत्ते जैसा जीवन व्यतीत कर रहे हैं॥ २३॥

अग्निर्निसृष्टो दत्तश्च गरो दाराश्च दूषिताः।
हृतं क्षेत्रं धनं येषां तद्दत्तैरसुभिः कियत्॥ २४॥

आपने जिन्हें जलाकर मार डालनेकी कामनासे लाक्षागृहमें आग लगवा दी थी, जिन्हें विष देकर मार डालनेका प्रयत्न किया था, जिनकी धर्मपत्नीको अपमानित किया था, जिनकी भूमि एवं धनको छीन लिया था, आज उनके ही अन्नसे आप अपना जीवन यापन कर रहे हैं? ऐसा जीवन जीनेमें क्या गौरव है? ॥ २४॥

तस्यापि तव देहोऽयं कृपणस्य जिजीविषोः।
परैत्यनिच्छतो जीर्णो जरया वाससी इव॥ २५॥

आप जीवित रहनेकी इच्छा करते हैं, पर आपके चाहनेसे क्या होगा? देह-त्यागके लिए आपका शोक करना व्यर्थ है, क्योंकि अपने शरीरको परित्याग करनेकी इच्छा नहीं करनेपर भी फटे-पुराने वस्त्रोंके समान इस देहका क्षय होता जा रहा है॥ २५॥

गतस्वार्थमिमं देहं विरक्तो मुक्तबन्धनः।
अविज्ञातगतिर्जह्यात् स वै धीर उदाहृतः॥ २६॥

महाराज! जो विषय आदिमें आसक्तिरहित और अभिमानशून्य होकर ऐहिक (लौकिक) और पारत्रिक (पारलौकिक) सुखसाधनकी कामनासे रहित इस शरीरका दूसरोंके बिना जाने त्याग कर देते हैं, वे ही 'धीर' कहलाते हैं॥ २६॥

यः स्वकात् परतो वेह जातनिर्वेद आत्मवान्।
हृदि कृत्वा हरिं गेहात् प्रव्रजेत् स नरोत्तमः॥ २७॥

भैया! आत्म-तत्त्वको जाननेवाला जो व्यक्ति अपने विवेकसे या दूसरेके समझानेपर वैराग्यवान होकर अपने हृदयमें श्रीहरिको धारणकर संन्यासके लिए घरसे निकल जाता है, वही 'नरोत्तम' अर्थात् उत्तम मनुष्य है॥ २७॥

अथोदीचीं दिशं यातु स्वैरज्ञातगतिर्भवान्।
इतोऽर्वाक् प्रायशः कालः पुंसां गुणविकर्षणः॥ २८॥

इसलिए अब आप अपने आत्मीयजनोंसे छिपकर उत्तर-दिशाकी ओर प्रस्थान कीजिये। इसके बाद जो समय आ रहा है, वह मनुष्योंके धैर्य, दया आदि गुणोंको छिन्न-भिन्न करनेवाला है॥ २८॥

एवं राजा विदुरेणानुजेन
प्रज्ञाचक्षुर्बोधितो ह्याजमीढः।
छित्त्वा स्वेषु स्नेहपाशान् द्रढिम्नो
निश्चक्राम भ्रातृसन्दर्शिताध्वा॥ २९॥

इस प्रकार छोटे भाई विदुरजीने अपने बड़े भाई अजमीढ़ वंशजात अन्धे राजा धृतराष्टको समझाते हुए उनके समक्ष बन्धन और मोक्षका मार्ग प्रदर्शित किया। विदुरजीके इन उपदेशोंसे राजा धृतराष्ट्रके ज्ञानके नेत्र खुल गये और वे दृढ़चित्तसे आत्मीय-जनोंका स्नेहबन्धन काटकर घर त्यागकर अपने छोटे भाईके दिखलाये हुए मार्गपर निकल पड़े॥ २९॥

पतिं प्रयान्तं सुबलस्य पुत्री
पतिव्रता चानुजगाम साध्वी।

हिमालयं न्यस्तदण्डप्रहर्षं
मनस्विनामिव सन् सम्प्रहारः॥ ३०॥

सुबलतनया पतिव्रता सुशीला गान्धारीने अपने पतिको हिमालय पर्वतकी ओर जाते देखा। यह हिमालय संन्यासियोंको उसी प्रकारसे आनन्द प्रदान करता है, जिस प्रकार युद्धमें वीरोंको अपने शत्रुके द्वारा किये गये न्यायोचित तीव्र प्रहारोंसे आनन्द प्राप्त होता है। अतः गान्धारी भी अपने पतिके पीछे-पीछे चल पड़ी॥ ३०॥

अजातशत्रुः कृतमैत्रो हुताग्नि-
र्विप्रान् नत्वा तिलगोभूमि-रुक्मैः।
गृहं प्रविष्टो गुरुवन्दनाय
न चापश्यत् पितरौ सौबलीञ्च॥ ३१॥

इधर अजातशत्रु युधिष्ठिरने प्रातःकालमें सन्ध्या-वन्दन और अग्निहोत्रादि कार्योंका समापन करनेके पश्चात् ब्राह्मणोंको नमस्कार किया और तिल, गौ, भूमि एवं स्वर्ण आदिका दान देकर उनका भलीभाँति सत्कार किया। इसके बाद जब वे गुरुजनोंकी वन्दनाके लिए उनके महलमें प्रविष्ट हुए, तो देखा कि चाचा विदुर, धृतराष्ट्र और सुबलतनया गान्धारी आदि कोई भी वहाँ नहीं हैं॥ ३१॥

तत्र सञ्जयमासीनं पप्रच्छोद्विग्नमानसः।
गावल्गणे क्व नस्तातो वृद्धो हीनश्च नेत्रयोः।
अम्बा च हतपुत्रार्त्ता पितृव्यः क्व गतः सुहृत्॥ ३२॥

गुरुजनोंको घरमें न देखकर युधिष्ठिरका चित्त बहुत उद्विग्न हो गया। वहाँ सञ्जयको बैठा हुआ देखकर उन्होंने उससे पूछा—हे गवलगणनन्दन सञ्जय! मेरे वृद्ध एवं नेत्रहीन ताऊ धृतराष्ट्र कहाँ हैं? पुत्रोंके मर जानेसे शोकसे पीड़ित मेरी दुःखिया माता गान्धारी कहाँ हैं? मेरे परम आत्मीय हितैषी चाचा विदुरजी कहाँ चले गये?॥ ३२॥

अपि मय्यकृतप्रज्ञे हतबन्धुः स भार्यया।
आशंसमानः शमलं गङ्गायां दुःखितोऽपतत्॥ ३३॥

मैंने अपने ताऊजीके पुत्रोंका विनाश किया है। मैं बड़ा ही मन्दबुद्धि हूँ। कही मुझसे किसी अपराधकी आशङ्का करके दुःखी होकर वे पत्नी गान्धारीके साथ गङ्गामें तो नहीं कूद पड़े?॥ ३३॥

पितर्युपरते पाण्डौ सर्वान् नः सुहृदः शिशून्।
अरक्षतां व्यसनतः पितृव्यौ क्व गतावितः॥ ३४॥

सञ्जय! जब हमारे पिता महाराज पाण्डुने स्वधाममें गमन किया, तब हम छोटे-छोटे बालक थे। उस समय इन चाचाजी और ताऊजीने ही अपने बालकोंके समान हमारी बड़ी-बड़ी विपत्तियोंसे रक्षा की थी। वे हमपर बड़ा ही वात्सल्य रखते थे। हाय! ताऊजी और माता गान्धारी यहाँसे कहाँ चले गये?॥ ३४॥

श्रीसूत उवाच—

कृपया स्नेहवैक्लव्यात् सूतो विरहकर्षितः।
आत्मेश्वरमचक्षाणो न प्रत्याहातिपीड़ितः॥ ३५॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—अपने स्वामी धृतराष्ट्रको न देखकर विरहसे कातर हो रहे सञ्जयका हृदय भी दया और स्नेहसे व्याकुल हो रहा था। अत्यधिक दुःखी होनेके कारण वे युधिष्ठिरको तत्क्षण कोई प्रत्युत्तर न दे सके॥ ३५॥

विमृज्याश्रूणि पाणिभ्यां विष्टभ्यात्मानमात्मना।
अजातशत्रुं प्रत्यूचे प्रभोः पादावनुस्मरन्॥ ३६॥

कुछ क्षणोंके बाद सञ्जयने दोनों हाथोंसे अपने आँसू पोंछे और बुद्धि द्वारा चित्तमें धैर्य धारणकर अपने स्वामी धृतराष्ट्रके चरणोंका स्मरण करते हुए वे अजातशत्रु युधिष्ठिरको उत्तर देने लगे—॥ ३६॥

श्रीसञ्जय उवाच—

नाहं वेद्मि व्यवसितं पित्रोर्वः कुलनन्दन।
गान्धार्या वा महाबाहो मुषितोऽस्मि महात्मभिः॥ ३७॥

श्रीसञ्जयने कहा—हे पाण्डव कुलतिलक! मैं आपके चाचा और ताऊ दोनोंके तथा गान्धारीके अभिप्रायों अथवा सङ्कल्पोंके विषयमें

कुछ नहीं जानता। हे महाबाहो! मैं उन महात्माओंके द्वारा ठग लिया गया॥ ३७॥

अथाजगाम भगवान् नारदः सह तुम्बुरुः।
प्रत्युत्थायाभिवाद्याह सानुजोऽभ्यर्चयन्निव॥ ३८॥

(इस प्रकार सञ्जय कुछ समय तक शोक प्रकट करते रहे।) तभी तुम्बुरु हाथमें लिए देवर्षि भगवान् श्रीनारद वहाँ उपस्थित हुए। उन्हें देखकर युधिष्ठिर और उनके सभी भाई उठ खड़े हुए और उन्हें प्रणाम किया। इसके बाद महाराज युधिष्ठिर उनका सम्मान करते हुए कहने लगे—॥ ३८॥

श्रीयुधिष्ठिर उवाच—

नाहं वेद गतिं पित्रोर्भगवन् क्व गताावितः।
अम्बा वा हतपुत्रार्त्ता क्व गता च तपस्विनी।
कर्णधार इवापारे भगवान् पारदर्शकः॥ ३९॥

अथाबभाषे भगवान् नारदो मुनिसत्तमः॥ ४०॥

महाराज युधिष्ठिरने कहा—हे भगवन्! आप सर्वज्ञ हैं। अपार शोकके सागरमें पतित मनुष्योंके आप ही कर्णधार और मार्गदर्शक हैं। हे प्रभो! मेरे चाचा और ताऊ यहाँसे कब और कहाँ चले गये—इस विषयमें मैं कुछ नहीं जानता। पुत्रोंके मर जानेसे माता गान्धारी शोकसे कातर तथा सदा दुःखमें डूबी रहती थीं—वे कहाँ चली गयीं, मैं यह भी नहीं जानता। युधिष्ठिरके इस प्रकार शोकार्त्त वचनोंको सुनकर मुनिश्रेष्ठ भगवान् श्रीनारद कहने लगे॥ ३९-४०॥

श्रीनारद उवाच—

मा कञ्चन शुचो राजन् यदीश्वरवशं जगत्।
लोकाः सपाला यस्येमे वहन्ति बलिमीशितुः।
स संयुनक्ति भूतानि स एव वियुनक्ति च॥ ४१॥

देवर्षि श्रीनारदने कहा—हे राजन्! किसीके लिए भी शोक नहीं करना चाहिये। यह जगत् तो ईश्वरके अधीन है। समस्त लोक और

लोकपाल उनकी ही आज्ञाका पालन करते हैं। वे ईश्वर ही समस्त जीवोंको एक-दूसरेसे मिलाते और अलग करते है॥ ४१॥

यथा गावो नसि प्रोतास्तन्त्र्यां बद्धाश्च दामभिः।
वाक्तन्त्र्यां नामभिर्बद्धा वहन्ति बलिमीशितुः॥ ४२॥

जिस प्रकारसे बैल बड़ी रस्सीसे बँधे और छोटी रस्सियोंसे नथे रहकर अपने स्वामीका भार ढोते हैं, उसी प्रकार इन्द्र आदि लोकपाल तथा अन्यान्य समस्त प्राणी कर्त्तव्य और अकर्त्तव्यका निरूपण करनेवाली वेदवाणीरूप लम्बी रस्सीसे बँधकर और ब्राह्मण, क्षत्रिय, ब्रह्मचारी और गृहस्थ आदि अलग-अलग नामरूपी छोटी-छोटी रस्सियोंसे नथे रहकर ईश्वरकी ही आज्ञाका अनुसरणकर उनकी पूजा करते हैं॥ ४२॥

यथा क्रीडोपस्कराणां संयोगविगमाविह।
इच्छया क्रीडितुः स्यातां तथैवेशेच्छया नृणाम्॥ ४३॥

जिस प्रकार खिलाड़ी व्यक्तिकी इच्छासे ही क्रीड़ाकी साधन वस्तुओं (पासे आदि खिलौनों) का संयोग और वियोग होता है, उसी प्रकार इस संसारमें भगवान्‌की इच्छासे ही मनुष्योंका परस्पर मिलन और वियोग हुआ करता है॥ ४३॥

यन्मन्यसे ध्रुवं लोकमध्रुवं वा न चोभयम्।
सर्वथा न हि शोच्यास्ते स्नेहादन्यत्र मोहजात्॥ ४४॥

युधिष्ठिर! देखो! तुम मनुष्योंको जीव रूपसे नित्य और देह रूपसे अनित्य मानो अथवा अनिर्वचनीय होनेके कारण चित् रूपसे नित्य और जड़ रूपसे अनित्य दोनों ही प्रकारसे मानो—ऐसा मान लेनेपर किसी भी अवस्थामें उनके लिए शोक करना उचित नहीं है। मोहसे उत्पन्न स्नेहके अतिरिक्त शोकका अन्य कोई भी कारण दिखलायी नहीं देता॥ ४४॥

तस्माज्जह्यङ्ग वैक्लव्यमज्ञानकृतमात्मनः।
कथन्त्वनाथाः कृपणा वर्तेरंस्ते च मां विना॥ ४५॥

अतएव हे राजन्! 'असहाय और शोकसे कातर वे मेरे चाचा-ताऊ और माता गान्धारी मेरी सहायताके बिना किस प्रकारसे जीवन धारण करेंगे'—अज्ञानसे उदित मनकी इस व्याकुलताका आप परित्याग कीजिये॥ ४५॥

कालकर्म-गुणाधीनो देहोऽयं पाञ्चभौतिकः।
कथमन्यांस्तु गोपायेत् सर्पग्रस्तो यथापरम्॥ ४६॥

यह पाञ्चभौतिक शरीर काल, कर्म और गुणोंके अधीन है। जो व्यक्ति स्वयं ही अजगरके मुहँमें पड़ा हुआ है, वह दूसरेकी रक्षा किस प्रकार कर सकता है?॥ ४६॥

अहस्तानि सहस्तानामपदानि चतुष्पदाम्।
फल्गूनि तत्र महतां जीवो जीवस्य जीवनम्॥ ४७॥

हाथयुक्त मनुष्यादिके लिए हाथ रहित पशु आदि प्राणी, चार पैरवाले पशुओंके लिए पैर रहित तृणादि और बड़े जीवोंके लिए छोटे जीव आहार हैं। इस प्रकार एक जीव ही दूसरे जीवका जीवन है॥ ४७॥

तदिदं भगवान् राजन्नेक आत्मात्मनां स्वदृक्।
अन्तरोऽनन्तरो भाति पश्य तं माययोरुधा॥ ४८॥

इसलिए हे युधिष्ठिर! यह परिदृश्यमान हस्तयुक्त और हस्त रहित रूप जगत् विश्व-प्रकाशक भगवत्-स्वरूप है। इन समस्त रूपोंमें जीवोंके बाहर और भीतर सम्पूर्ण आत्माओंके आत्मा वही एक स्वयंप्रकाश भगवान् मायाके द्वारा अनेक प्रकारसे प्रकट हो रहे हैं। तुम केवल उन्हींको देखो॥ ४८॥

सोऽयमद्य महाराज भगवान् भूतभावनः।
कालरूपोऽवतीर्णोऽस्यामभवाय सुरद्विषाम्॥ ४९॥

हे महाराज! समस्त प्राणियोंको जीवन दान देनेवाले भूतभावन भगवान् अभी इस पृथ्वीपर देव-विद्वेषी असुरोंके विनाशके लिए काल-स्वरूप होकर अवतीर्ण हुए हैं॥ ४९॥

निष्पादितं देवकृत्यमवशेषं प्रतीक्षते।
तावद् यूयं प्रतीक्षध्वं भवेद्यावदिहेश्वरः॥ ५०॥

वे देवताओंके सभी कार्य पूर्ण कर चुके हैं और इस समय वे अपने बचे हुए कार्यको पूरा करनेके लिए ही प्रतीक्षा कर रहे हैं। उस कार्यके सम्पन्न होते ही वे अपने धामको चले जायेंगे। अतः हे महाराज! जब तक वे ईश्वर इस पृथ्वीपर विराजमान हैं, तब तक आप भी उनकी प्रतीक्षा कीजिये॥ ५०॥

धृतराष्ट्रः सह भ्रात्रा गान्धार्या च स्वभार्यया।
दक्षिणेन हिमवत ऋषीणामाश्रमं गतः॥ ५१॥

आपके ताऊजी धृतराष्ट्र अपनी पत्नी गान्धारी और भाई विदुरजीके साथ हिमालयकी दक्षिण दिशामें स्थित ऋषिओंके आश्रममें गये हैं॥ ५१॥

स्रोतोभिः सप्तभिर्या वै स्वर्धुनी सप्तधा व्यधात्।
सप्तानां प्रीतये नाम्ना सप्तस्रोतः प्रचक्षते॥ ५२॥

उस स्थानपर अति प्रसिद्ध देवनदी गङ्गाजी सातों ऋषियोंकी प्रसन्नताके लिए स्वयंको सप्त-धाराओंमें विभक्तकर प्रवाहित होती हैं, इसलिए उस स्थानको 'सप्तस्रोत तीर्थ' कहा जाता है॥ ५२॥

स्नात्वानुसवनं तस्मिन् हुत्वा चाग्निं यथाविधि।
अब्भक्ष उपशान्तात्मा स आस्ते विगतैषणः॥ ५३॥

जितासनो जितश्वासः प्रकेत्याहृतषडिन्द्रियः।
हरिभावनया ध्वस्त-रजःसत्त्वतमोमलः॥ ५४॥

तुम्हारे ताऊजी उसी तीर्थमें त्रिकाल सन्ध्या-स्नान एवं विधिपूर्वक अग्निहोत्र आदि करते हुए केवल जल पीकर वहाँ वास कर रहे हैं। उनका चित्त शान्त प्रशान्त हो गया है और वे पुत्र, राज्य आदि कामनारूप समस्त भोग-इच्छाओंसे विरत हो गये हैं। आसन और श्वासवायुकी प्रक्रियाको वशमें करके उन्होंने शब्दादि विषयोंसे छहों इन्द्रियोंका मुख श्रीहरिकी ओर मोड़कर श्रीहरिकी भावना अर्थात्

ध्यान-धारणा द्वारा सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंके मलको धो डाला है॥ ५३-५४॥

विज्ञानात्मनि संयोज्य क्षेत्रज्ञे प्रविलाप्य तम्।
ब्रह्मण्यात्मानमाधारे घटाम्बरामिवाम्बरे॥ ५५॥

ध्वस्तमायागुणोदर्को निरुद्धकरणाशयः।
निवर्तिताखिलाहार आस्ते स्थाणुरिवाधुनाः॥ ५६॥

उन्होंने अहङ्कारको बुद्धिके साथ जोड़कर पुनः उसे क्षेत्रज्ञ जीवके साथ संयुक्तकर दिया है तथा घटाकाश जिस प्रकार महाकाशमें युक्त होता है, उसी प्रकार जीवात्माका सभीके आश्रय परब्रह्ममें संयोगकर वे माया-गुणके वासनारूप परिणामोंसे निर्मुक्त हो गये हैं। संयत-इन्द्रिय होनेके कारण अब उनमें भोक्ता बुद्धि द्वारा बाह्य-विषयोंका चिन्तनरूप विक्षोभ नहीं होता। समस्त कर्मोंसे निवृत होकर इस समय वे ठूँठकी तरह निश्चल होकर वास कर रहे हैं॥ ५५-५६॥

तस्यान्तरायो मैवाभूः संन्यस्ताखिलकर्मणः।
स वा अद्यतनाद्राजन् परतः पञ्चमेऽहनि।
कलेवरं हास्यति स्वं तच्च भस्मीभविष्यति॥ ५७॥

(युधिष्ठिरको उनके पास जानेके लिए तत्पर देख नारदजीने कहा—हे राजन् धर्मराज!) जिन्होंने अपने समस्त कर्मोंसे संन्यास ले लिया है, उन धृतराष्ट्रके लिए आप विघ्न स्वरूप न बनें। वे आजसे पाँचवे दिन अपनी देहका परित्याग कर देंगे और उनकी देह भी भस्मके रूपमें परिणत हो जायेगी॥ ५७॥

दह्यमानेऽग्निभिर्देहे पत्युः पत्नी सहोटजे।
बहिः स्थिता पतिं साध्वी तमग्निमनुवेक्ष्यति॥ ५८॥

गान्धारीको भी लौटा लानेके विषयमें मत सोचो। अपने पतिकी देहको पर्ण (कुश निर्मित) कुटिके सहित ही योगाग्नि एवं गार्हपत्यादि अग्निके द्वारा जलते देख बाहर खड़ी पतिव्रता पत्नी गान्धारी भी अपने पतिका अनुगमन करती हुई उस अग्निमें प्रवेश कर जायेंगी॥ ५८॥

विदुरस्तु तदाश्चर्यं निशाम्य कुरुनन्दन।
हर्षशोकयुतस्तस्माद् गन्ता तीर्थनिषेवकः॥ ५९॥

हे कुरुनन्दन! तुम्हारे द्वारा विदुरजीको भी लौटा लाना उचित नहीं है। विदुरजी इस आश्चर्यजनक घटनाका दर्शन करके भाईकी मुक्तिसे उत्पन्न हर्ष एवं लोक-व्यवहारकी दृष्टिसे उनकी मृत्युसे उत्पन्न शोकसे अभिभूत होकर उस स्थानसे तीर्थपर्यटनके लिए चल देंगे॥ ५९॥

इत्युक्त्वाथारुहत् स्वर्गं नारदः सहतुम्बुरुः।
युधिष्ठिरो वचस्तस्य हृदि कृत्वाजहाच्छुचः॥ ६०॥

यह सब कहकर वीणाको धारण करनेवाले देवर्षि श्रीनारद स्वर्गको चले गये। महाराज युधिष्ठिरने भी नारदजीके वचनोंको हृदयमें धारण करके शोकका परित्याग कर दिया॥ ६०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां प्रथमस्कन्धे श्रीनारदवाक्यं नाम त्रयोदशोऽध्यायः॥

चतुर्दशोऽध्यायः

अपशकुन देखकर महाराज युधिष्ठिरका शङ्का करना और अर्जुनका द्वारकासे लौटना

श्रीसूत उवाच—

सम्प्रस्थिते द्वारकायां जिष्णौ बन्धुदिदृक्षया।
ज्ञातुञ्च पुण्यश्लोकस्य कृष्णस्य च विचेष्टितम्॥ १॥

व्यतीताः कतिचिन्मासास्तदा नायात् ततोऽर्जुनः।
ददर्श घोररूपाणि निमित्तानि कुरूद्वहः॥ २॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—बन्धु-बान्धवोंसे मिलनेके लिए और पुण्यश्लोक भगवान् श्रीकृष्ण अब क्या करना चाहते हैं, इसे जाननेके लिए अर्जुन द्वारका गये हुए थे। कई मास बीत जानेपर भी अर्जुन द्वारकासे लौटकर नहीं आये। इसी समय धर्मराज युधिष्ठिरको अनिष्टसूचक भयङ्कर अपशकुन दिखने लगे॥ १-२॥

कालस्य च गतिं रौद्रां विपर्यस्तर्तुधर्मिणः।
पापीयसीं नृणां वार्तां क्रोधलोभानृतात्मनाम्॥ ३॥

जिह्मप्रायं व्यवहृतं शाठ्यमिश्रञ्च सौहृदम्।
पितृमातृ-सुहृद्भ्रातृ-दम्पतीनाञ्च कल्कनम्॥ ४॥

निमित्तान्यत्यरिष्टानि काले त्वनुगते नृणाम्।
लोभाद्यधर्मप्रकृतिं दृष्ट्वोवाचानुजं नृपः॥ ५॥

धर्मराज युधिष्ठिरने देखा—कालकी गति अति भयावह हो गयी है। ऋतुओंका धर्म विपरीत हो गया है, उनकी क्रियाएँ और समय भी बदल गया है। लोग क्रोधी, लोभी और असत्यवादी हो गये हैं। इसीलिए लोगोंने पाप-पथका अनुसरण करते हुए पापपूर्ण क्रियाओं आदिसे जीविकाका निर्वाह करना आरम्भ कर दिया है। उनका व्यवहार कपटतासे परिपूर्ण हो गया है और मित्रतामें भी छल-कपट

मिश्रित होने लगा है। पिता, माता, सुहृत्, भ्राता, पति और पत्नीमें परस्पर कलह आरम्भ हो गया है। इस प्रकार महाराज युधिष्ठिर अपने शासनकालमें ही इन समस्त अत्यन्त अशुभ अनिष्टसूचक अपशकुनों और लोगोंको लोभ, दम्भ आदि अधर्मोंके वशीभूत होते देख अपने छोटे भाई भीमसेनसे कहने लगे—॥ ३—५ ॥

श्रीयुधिष्ठिर उवाच—

सम्प्रेषितो द्वारकायां जिष्णुर्बन्धुदिदृक्षया।
ज्ञातुञ्च पुण्यश्लोकस्य कृष्णस्य च विचेष्टितम्॥ ६ ॥

महाराज युधिष्ठिरने कहा—भीमसेन! मैंने अर्जुनको द्वारका भेजा था कि वह वहाँ जाकर बन्धुओंसे मिल आये और यह भी जान ले कि पुण्यश्लोक श्रीकृष्ण इस समय क्या कर रहे हैं॥ ६॥

गताः सप्ताधुना मासा भीमसेन तवानुजः।
नायाति कस्य वा हेतोर्नाहं वेदेदमञ्जसा॥ ७॥

तबसे सात महीने बीत गये हैं, पर तुम्हारा छोटा भाई अर्जुन अभी तक लौटा नहीं है। वह किस कारणसे नहीं लौटा, मुझे यह ठीकसे समझमें नहीं आ रहा है॥ ७॥

अपि देवर्षिणादिष्टः स कालोऽयमुपस्थितः।
यदात्मनोऽङ्गमाक्रीडं भगवानुत्सिसृक्षति॥ ८ ॥

यस्मान्नः सम्पदो राज्यं दाराः प्राणाः कुलं प्रजाः।
आसन् सपत्नविजयो लोकाश्च यदनुग्रहात्॥ ९ ॥

कहीं देवर्षि श्रीनारद द्वारा बतलाया हुआ वह समय तो उपस्थित नहीं हो गया है, जिसमें भगवान् श्रीकृष्ण अपनी नरवत् लीला-विग्रहका सम्वरण करना चाहते हैं। उन्हीं भगवान्‌की कृपासे हमें यह सम्पत्ति, राज्य, पत्नी, प्राण, कुल, प्रजा, शत्रुओंपर विजय और यज्ञोंके द्वारा स्वर्गादि लोकोंका अधिकार प्राप्त हुआ है॥ ८-९॥

पश्योत्पातान् नरव्याघ्र दिव्यान् भौमान् सदैहिकान्।
दारुणान् शंसतोऽदूराद्भयं नो बुद्धिमोहनम्॥ १०॥

हे व्याघ्रके समान बलवान भीमसेन! देखो तो सही! आकाशमें उल्कापातादि, पृथ्वीमें भूकम्पादि और शरीरमें रोगादि विविध प्रकारके भयङ्कर उत्पात उपस्थित हो रहे हैं। यह सब घटनाएँ इस बातकी सूचना दे रही हैं कि हमारी बुद्धिको मोहमें डालनेवाला कोई भय निकट भविष्यमें उपस्थित होनेवाला है॥ १०॥

ऊर्वक्षिबाहवो मह्यं स्फुरन्त्यङ्ग पुनःपुनः।
वेपथुश्चापि हृदय आराद्दास्यन्ति विप्रियम्॥ ११॥

हे भीमसेन! मेरी बायीं जाँघ, बायाँ नेत्र और बायीं भुजा पुनः-पुनः फड़क रहीं हैं तथा हृदय भी बार-बार धड़क रहा है। ऐसा लगता है कि शीघ्र ही हमारे ऊपर कोई घोर विपत्ति आनेवाली है॥ ११॥

शिवैषोद्यन्तमादित्यमभिरौत्यनलानना ।
मामङ्ग सारमेयोऽयमभिरेभत्यभीरुवत्॥ १२॥

प्रिय भीम! यह देखो, यह सियारिन उदयगिरिपर खड़ी होकर सूर्यकी ओर मुख करके भीषण आर्त्तनाद कर रही है। अरे! इसके मुखसे तो आग भी निकल रही है। यह कुत्ता भी निर्भय होकर मेरी ओर मुख करके कितने ऊँचे स्वरसे चिल्ला रहा है॥ १२॥

शस्ताः कुर्वन्ति मां सव्यं दक्षिणं पशवोऽपरे।
वाहांश्च पुरुषव्याघ्र लक्षये रुदतो मम॥ १३॥

हे पुरुषश्रेष्ठ! गौ आदि शुभ पशु मुझे अपनी बायीं ओर रखकर जा रहे हैं और गधे आदि अशुभ जीव मेरी दायीं ओरसे चल रहे हैं। मुझे तो हमारे घोड़े भी रोते हुए प्रतीत हो रहे हैं॥ १३॥

मृत्युदूतः कपोतोऽयमुलूकः कम्पयन् मनः।
प्रत्युलूकश्च कुह्वानैर्विश्वं वै शून्यमिच्छतः॥ १४॥

जरा देखो तो! यह कबूतर मुझे यमके दूतके समान प्रतीत हो रहा है। यह उल्लू और उसका प्रतिपक्षी कौआ अपने कर्कश स्वरसे मेरे हृदयमें कम्पन उत्पन्न कर रहे हैं। ऐसा लग रहा है, मानो ये सम्पूर्ण विश्वको ही सूना कर देना चाहते हैं॥ १४॥

धूम्रा दिशः परिधयः कम्पते भूः सहाद्रिभिः।
निर्घातश्च महांस्तात साकञ्च स्तनयित्नुभि॥ १५॥

अग्निका धुआँ जिस प्रकार अग्निको आवृत करता है, उसी प्रकार ये धुँधली दिशाएँ समस्त लोकोंको आवृत कर रही हैं। पृथ्वी पर्वतोंके साथ काँप रही है। हे तात! यह देखो! बिना बादलोंके ही भीषण गर्जना हो रही है और जहाँ-तहाँ भयङ्कर वज्रपात हो रहा है॥ १५॥

वायुर्वाति खरस्पर्शो रजसा विसृजंस्तमः।
असृग्वर्षन्ति जलदा वीभत्समिव सर्वतः॥ १६॥

प्रचण्ड वायु धूलि-कणोंसे सभी दिशाओंको अन्धकारमय बनाती हुए प्रबल वेगसे प्रवाहित हो रही है। बादल अति भयानक रूपमें चारों दिशाओंमें मानो रक्तकी वर्षा कर रहे हैं॥ १६॥

सूर्यं हतप्रभं पश्य ग्रहमर्दं मिथो दिवि।
ससङ्कुलैर्भूतगणैर्ज्वलिते रोदसी इव॥ १७॥

हे भीम! देखो! सूर्यकी प्रभा कितनी मन्द पड़ गयी है। आकाशमें ग्रह परस्पर टकरा रहे हैं। रुद्रके अनुचर भूत आदि और अन्यान्य प्राणी मिलकर आकाश और पृथ्वीको मानों जला रहे हैं॥ १७॥

नद्यो नदाश्च क्षुभिताः सरांसि च मनांसि च।
न ज्वलत्यग्निराज्येन कालोऽयं किं विधास्यति॥ १८॥

और यह देखो! नहरें, नदियाँ और सरोवर क्षुब्ध दिखायी दे रहे हैं। समस्त प्राणियोंके मन भी खिन्न प्रतीत हो रहे हैं। घीकी आहुति प्रदान किये जानेपर भी अग्नि प्रज्वलित नहीं हो रही है। न जाने यह घोर काल और कैसी-कैसी भयङ्कर विपत्तियाँ उपस्थित करेगा?॥ १८॥

न पिबन्ति स्तनं वत्सा न दुह्यन्ति च मातरः।
रुदन्त्यश्रुमुखा गावो न हृष्यन्त्यृषभा व्रजे॥ १९॥

यहाँ देखो! बछड़े अपनी माता गौवोंका दूध पीनेके लिए उनके थनोंमें मुँह नहीं लगा रहे हैं। गौवोंके थनोंसे भी दूध धारा नहीं

निकल रही। गौशालामें स्थित इन समस्त गायोंकी आखोंमें आँसू भरे हैं और वे रो रही हैं। गोष्ठ (चरागाहों) में बैल भी प्रसन्न न होकर बड़े उदास हो रहे हैं॥ १९॥

दैवतानि रुदन्तीव स्विद्यन्ति प्रचलन्ति च।
इमे जनपदा ग्रामाः पुरोद्यानाकराश्रमाः।
भ्रष्टश्रियो निरानन्दाः किमघं दर्शयन्ति नः॥ २०॥

देवताओंकी मूर्त्तियाँ रोती हुई प्रतीत हो रही हैं, उनमेंसे पसीना बह रहा है और वे कम्पित हो रही हैं। इन समस्त जनपद, ग्राम, पुर, उद्यान, खानों और आश्रमोंकी ओर तो देखो! ये सभी मानो शोभाहीन और आनन्द रहित हो गये हैं। पता नहीं, ये सब लक्षण हमारे लिए कौन-सी विपत्तियोंकी सूचना दे रहे हैं॥ २०॥

मन्य एतैर्महोत्पातैर्नूनं भगवतः पदैः।
अनन्यपुरुषश्रीभिर्हीना भूर्हतसौभगा॥ २१॥

हे भीमसेन! इन समस्त अशुभ लक्षणोंको देखकर ऐसा लग रहा है कि आज पृथ्वीका सौभाग्य नष्ट हो गया है। निश्चय ही यह पृथ्वी आज भगवान् श्रीकृष्णके उन श्रीचरणकमलोंसे रहित हो गयी है, जिन चरणकमलोंका सौन्दर्य तथा जिनके ध्वजा, वज्र अङ्कुशादि विलक्षण चिह्न किसी भी दूसरे व्यक्तिके चरणोंमें नहीं हैं॥ २१॥

इति चिन्तयतस्तस्य दृष्टारिष्टेन चेतसा।
राज्ञः प्रत्यागमद् ब्रह्मन् यदुपुर्याः कपिध्वजः॥ २२॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—हे ब्राह्मण शौनक! महाराज युधिष्ठिर इन अशुभ लक्षणोंको देखकर मन-ही-मन चिन्तित हो रहे थे कि उसी समय कपिध्वज अर्जुन द्वारकासे लौट आये॥ २२॥

तं पादयोर्निपतितमयथापूर्वमातुरम्।
अधोवदनमब्बिन्दून् सृजन्तं नयनाब्जयोः॥ २३॥

विलोक्योद्विग्नहृदयो विच्छायमनुजं नृपः।
पृच्छति स्म सुहृन्मध्ये संस्मरन् नारदेरितम्॥ २४॥

अर्जुन आते ही महाराज युधिष्ठिरके चरणोंमें गिर पड़े। किन्तु अर्जुन पहले जिन भावोंसे उनके चरणोंमें झुकते थे, आज वे भाव नहीं थे। वे अत्यन्त व्याकुल और दुःखित दिखायी दे रहे थे। उनका मुख-मण्डल झुका हुआ तथा उनके कमलके समान नेत्रोंसे बूँद-बूँद आँसू गिर रहे थे। अपने छोटे भाई अर्जुनके मुखको इस कान्तिहीन अवस्थामें देखकर धर्मराज युधिष्ठिरका हृदय व्याकुल हो उठा। उन्हें देवर्षि श्रीनारदके वचनोंका स्मरण होने लगा। वे सुहृदोंके सामने ही अर्जुनसे पूछने लगे— ॥ २३-२४ ॥

श्रीयुधिष्ठिर उवाच—

कच्चिदानर्तपुर्यां नः स्वजनाः सुखमासते।
मधुभोजदशार्हार्हाः सात्वतान्धकवृष्णयः॥ २५॥

श्रीयुधिष्ठिरने पूछा—हे अर्जुन! द्वारकापुरीमें हमारे आत्मीय मधु, भोज, दशार्ह, आर्ह, सात्वत, अन्धक एवं वृष्णिगण सभी कुशलसे तो है न? ॥ २५ ॥

शूरो मातामहः कच्चित् स्वस्त्यास्ते वाथ मारिषः।
मातुलः सानुजः कच्चित् कुशल्यानकदुन्दुभिः॥ २६॥

हमारे महा-माननीय नाना शूरसेनजी आनन्दसे तो हैं न? मामा श्रीवसुदेव अपने छोटे भाइयोंके साथ प्रसन्न तो हैं? ॥ २६ ॥

सप्त स्वसारस्तत्पत्न्यो मातुलान्यः सहात्मजाः।
आसते सस्नुषाः क्षेमं देवकीप्रमुखाः स्वयम्॥ २७॥

श्रीवसुदेवजीकी सहधर्मिणी देवकी आदि सातों बहनें—हमारी मामियाँ अपने-अपने पुत्रों एवं पुत्रवधुओंके साथ सुखपूर्वक तो हैं? ॥ २७ ॥

कच्चिद्राजाहुको जीवत्यसत्पुत्रोऽस्य चानुजः।
हृदीकः ससुतोऽक्रूरो जयन्त-गदसारणाः॥ २८॥

आसते कुशलं कच्चिद्ये च शत्रुजिदादयः।
कच्चिदास्ते सुखं रामो भगवान् सात्वतां प्रभुः॥ २९॥

जिनका पुत्र कंस अत्यन्त दुष्ट था, वे राजा उग्रसेन और उनके कनिष्ठ भाई देवक अब भी जीवित हैं क्या? हृदीक और उनके पुत्र कृतवर्मा, अक्रूर तथा जयन्त, गद, सारण तथा शत्रुजित् आदि श्रीकृष्णके भाई और अपने भक्तोंके प्रभु श्रीबलदेवजी आनन्दपूर्वक तो हैं न?॥ २८-२९॥

प्रद्युम्नः सर्ववृष्णीनां सुखमास्ते महारथः।
गम्भीररयोऽनिरुद्धो वर्द्धते भगवानुत॥ ३०॥

वृष्णिवंशियोंमें सर्वश्रेष्ठ महारथी प्रद्युम्नका कुशल-मङ्गल तो है न? युद्धमें अत्यधिक वेगवान भगवान् अनिरुद्ध आनन्दपूर्वक तो हैं न?॥ ३०॥

सुषेणश्चारुदेष्णश्च साम्बो जाम्बवतीसुतः।
अन्ये च कार्ष्णिप्रवराः सपुत्रा ऋषभादयः॥ ३१॥
तथैवानुचराः शौरेः श्रुतदेवोद्धवादयः।
सुनन्द-नन्दशीर्षण्या ये चान्ये सात्वतर्षभाः॥ ३२॥
अपि स्वस्त्यासते सर्वे रामकृष्णभुजाश्रयाः।
अपि स्मरन्ति कुशलमस्माकं बद्धसौहृदाः॥ ३३॥

सुषेण, चारुदेष्ण, जाम्बवतीनन्दन साम्ब तथा अपने पुत्रोंके साथ ऋषभादि अन्यान्य प्रधान-प्रधान श्रीकृष्णके पुत्र, श्रुतदेव, उद्धव आदि श्रीकृष्णके सेवक और सुनन्द-नन्द आदि प्रमुख यदुवंशी तथा अन्यान्य हमारे परम सुहृद सात्वत-श्रेष्ठ—वे सभी श्रीबलराम और श्रीकृष्णके बाहुबलसे सुरक्षित होकर कुशल-मङ्गल तो है न? हमसे अत्यन्त घनिष्ठ प्रेम रखनेवाले वे सबलोग क्या कभी हमारा कुशल-मङ्गल पूछते थे?॥ ३१-३३॥

भगवानपि गोविन्दो ब्रह्मण्यो भक्तवत्सलः।
कच्चित् पुरे सुधर्मायां सुखमास्ते सुहृद्वृतः॥ ३४॥

ब्राह्मणोंके हितकारी भक्तवत्सल भगवान् श्रीगोविन्द द्वारकापुरीमें सुधर्मा नामक सभामें सुहृदोंसे घिरकर सुखपूर्वक विराज रहे हैं न?॥ ३४॥

मङ्गलाय च लोकानां क्षेमाय च भवाय च।
आस्ते यदुकुलाम्भोधावाद्योऽनन्तसखः पुमान्॥ ३५॥

आदिपुरुष भगवान् श्रीकृष्ण चराचर जीवोंके मङ्गल-साधन, परिपालन, उन्नति और सम्पद्-प्रदानके उद्देश्यसे यदुकुलरूप सागरमें श्रीबलरामजीके साथ विराजमान हैं न?॥ ३५॥

यद्बाहुदण्डगुप्तायां स्वपुर्यां यदवोऽर्चिताः।
क्रीडन्ति परमानन्दं महापौरुषिका इव॥ ३६॥

यदुवंशी लोग इन दोनोंके ही भुजदण्डोंसे सुरक्षित होकर अपनी नगरी द्वारकापुरीमें वैकुण्ठनाथके पार्षदोंके समान तीनों लोकोंमें पूजित होकर परमानन्दके साथ विहार कर रहे हैं न?॥ ३६॥

यत्पाद-शुश्रूषणमुख्यकर्मणा
सत्यादयो द्व्यष्टसहस्रयोषितः।
निर्जित्य संख्ये त्रिदशांस्तदाशिषो
हरन्ति वज्रायुधवल्लभोचिताः॥ ३७॥

सत्यभामा आदि सोलह हजार रमणियाँ अपने मुख्य-कर्मके रूपमें जिनके चरणकमलोंकी सेवामें सदैव रत रहती हैं, उन श्रीकृष्णके बाहुबलसे युद्धमें इन्द्रादि देवताओंको पराजित कराकर उन्होंने इन्द्रकी पत्नी शचीदेवीके भोगयोग्य पारिजात-कुसुमका अपहरण करा लिया था। वे अपनी उन अभीष्ट वस्तुओंका उपभोग तो करती हैं न?॥ ३७॥

यद्बाहुदण्डाभ्युदयानुजीविनो
यदुप्रवीरा ह्यकुतोभया मुहुः।
अधिक्रमन्त्यङ्घ्रिभिराहृतां बलात्
सभां सुधर्मां सुरसत्तमोचिताम्॥ ३८॥

जिनके भुजदण्डके प्रभावसे प्रतिपालित होकर यदुवंशके वीर किसीसे भी भयभीत नहीं होते और स्वर्गसे बलपूर्वक अपहरण की गयी श्रेष्ठ देवताओंके बैठने योग्य सुधर्मा नामकी सभाको अपने चरणोंसे आक्रान्त करते हैं, वे भगवान् श्रीगोविन्द आनन्दसे तो हैं न?॥ ३८॥

कच्चित्तेऽनामयं तात भ्रष्टतेजा विभासि मे।
अलब्धमानोऽवज्ञातः किंवा तात चिरोषितः॥ ३९॥

हे तात! तुम स्वयं तो कुशलसे हो न? आज तुम मुझे तेजहीन दिखायी दे रहे हो? तुम बहुत दिनों तक द्वारकापुरीमें बन्धुओंके भवनमें रहकर आये हो। वहाँ किसीने तुम्हारा अपमान तो नहीं किया? अथवा तुम्हारे यथोचित सम्मानमें तो किसी प्रकार की कमी नहीं हुई?॥ ३९॥

कच्चिन्नाभिहतोऽभावैः शब्दादिभिरमङ्गलैः।
न दत्तमुक्तमर्थिभ्य आशया यत् प्रतिश्रुतम्॥ ४०॥

क्या किसीने प्रेमशून्य कठोर वचनोंसे तुम्हारे चित्तको दुखाया है? अथवा किसी याचकके प्रार्थना करनेपर क्या अभाववशतः तुम उसे कुछ देनेमें समर्थ नहीं हुए हो? अथवा 'तुम्हारी आशा पूर्ण करूँगा'—इस प्रकारसे प्रतिज्ञा करके क्या तुम किसी याचकको कुछ दे नहीं पाये?॥ ४०॥

कच्चित्त्वं ब्राह्मणं बालं गां वृद्धं रोगिणं स्त्रियम्।
शरणोपसृतं सत्त्वं नात्याक्षीः शरणप्रदः॥ ४१॥

भ्राता अर्जुन! तुम सदैव शरणागत व्यक्तियोंको आश्रय प्रदान करते आये हो। आज कहीं तुमने किसी ब्राह्मण, बालक, गाय, वृद्ध, रोगी, स्त्री अथवा अन्य किसी शरणागत प्राणीका त्याग तो नहीं कर दिया?॥ ४१॥

कच्चित्त्वं नागमोऽगम्यां गम्यां वासत्कृतां स्त्रियम्।
पराजितो वाथ भवान् नोत्तमैर्नासमैः पथि॥ ४२॥

क्या तुमने किसी अगम्य स्त्रीके साथ समागम किया है? अथवा किसी समागम करने योग्य स्त्रीके मलिन वस्त्रादि देखकर उसका परित्याग तो नहीं कर दिया? अथवा मार्गमें अपने समान या अपनेसे निकृष्ट व्यक्तिके द्वारा पराजित तो नहीं हो गये?॥ ४२॥

अपिस्वित् पर्यभुङ्क्थास्त्वं सम्भोज्यान् वृद्धबालकान्।
जुगुप्सितं कर्म किञ्चित् कृतवान् न यदक्षमम्॥ ४३॥

कहीं तुमने अपने साथ भोजन करनेके योग्यपात्र—वृद्ध अथवा बालकका परित्याग करके पहले ही स्वयं (अकेले) तो भोजन नहीं कर लिया? अथवा कोई अनुचित या निन्दित कर्म तो नहीं किया?॥ ४३॥

कच्चित् प्रेष्ठतमेनाथ हृदयेनात्मबन्धुना।
शून्योऽस्मि रहितो नित्यं मन्यसे तेऽन्यथा न रुक्॥ ४४॥

अथवा क्या तुम अपने अति प्रियतम आत्मबन्धु श्रीकृष्णके विरहमें अपनेको शून्य मान रहे हो? अन्यथा तुममें इस प्रकारकी अशान्ति तो हो ही नहीं सकती॥ ४४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां प्रथमस्कन्धे श्रीयुधिष्ठिरवितर्को नाम चतुर्दशोऽध्यायः॥

पञ्चदशोऽध्यायः

श्रीकृष्णके विरहमें व्यथित पाण्डवोंका परीक्षित‍्को राज्य देकर परम गतिको प्राप्त करना

श्रीसूत उवाच—

एवं कृष्णसखः कृष्णो भ्रात्रा राज्ञा विकल्पितः।
नानाशङ्कास्पदं रूपं कृष्णविश्लेषकर्शितः॥ १॥

शोकेन शुष्यद्वदन-हृत्सरोजो हतप्रभः।
विभुं तमेवानुध्यायन् नाशक्नोत् प्रतिभाषितुम्॥ २॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—हे विप्र शौनक! भगवान् श्रीकृष्णके प्रिय सखा अर्जुन श्रीकृष्णके विरहमें दुःखित हो रहे थे, उनका कमल-सदृश हृदय शोकसे सूख गया था और मुख कान्तिहीन हो गया था। उनकी ऐसी विरहाविष्ट अवस्था देखकर उनके सहोदर महाराज युधिष्ठिरने उनसे अनेक प्रकारकी आशङ्काओंसे युक्त प्रश्न किये, परन्तु अर्जुन परमेश्वर श्रीकृष्णके चिन्तनमें ऐसे डूबे हुए थे कि वे उनके किसी भी प्रश्नका उत्तर देनेमें समर्थ नहीं हुए॥ १-२॥

कृच्छ्रेण संस्तभ्य शुचः पाणिनामृज्य नेत्रयोः।
परोक्षेण समुन्नद्ध-प्रणयौत्कण्ठ्यकातरः॥ ३॥

सख्यं मैत्रीं सौहृदञ्च सारथ्यादिषु संस्मरन्।
नृपमग्रजमित्याह बाष्पगद्गदया गिरा॥ ४॥

श्रीकृष्णके दर्शन न होनेके कारण अर्जुनकी प्रेमोत्कण्ठा अत्यधिक रूपमें बढ़ती जा रही थी, जिससे वे अत्यन्त दीनहीन और कातर हो पड़े थे। उस समय सारथी आदिके कार्योंमें श्रीकृष्णका सख्यभाव, मित्रता एवं बन्धुताका स्मरणकर उनका कण्ठ भीतरसे अवरुद्ध हो गया। तब उन्होंने बड़े कष्टसे अपनी आँखोंसे विगलित होनेवाले अपने शोकके वेगको रोका, अपने हाथोंसे नेत्रोंके आँसुओंको पोंछा

और फिर गद्गद स्वरसे अपने बड़े भाई युधिष्ठिरसे इस प्रकार कहने लगे— ॥ ३-४ ॥

श्रीअर्जुन उवाच—

वञ्चितोऽहं महाराज हरिणा बन्धुरूपिणा।
येन मेऽपहृतं तेजो देवविस्मापनं महत्॥ ५॥

श्रीअर्जुनने कहा—महाराज! मेरे ममेरे भाई और घनिष्ठ मित्रका रूप धारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने आज मुझे ठग लिया है। श्रीकृष्णके द्वारा दिया गया मेरा जो शौर्य-वीर्य देवताओंको भी विस्मित करता था, मेरे उस तेजका उन्होंने अपहरण कर लिया है॥ ५॥

यस्य क्षणवियोगेन लोको ह्यप्रियदर्शनः।
उक्थेन रहितो ह्येषः मृतकः प्रोच्यते यथा॥ ६॥

जिस प्रकार अति प्रिय माता-पिता आदिके प्राण जब देहसे निकल जाते हैं, तब उनकी मृत देह भी अत्यन्त अप्रिय हो जाती है और लोग उस मृत देहसे अत्यधिक घृणा करते हैं, उसी प्रकार श्रीकृष्णके क्षण भरके वियोगसे ही मुझे सारा संसार अप्रिय जान पड़ता है॥ ६॥

यत्संश्रयाद्द्रुपदगेहमुपागतानां
राज्ञां स्वयंवरमुखे स्मरदुर्मदानाम्।
तेजो हृतं खलु मया निहतश्च मत्स्यः
सज्जीकृतेन धनुषाऽधिगता च कृष्णा॥ ७॥

मैंने जिनके बलसे बलवान होकर राजा द्रुपदके राजभवनमें द्रौपदी-स्वयंवर-सभामें समागत कामोन्मत्त राजाओंके तेजको मात्र धनुष ग्रहण करते ही हर लिया था तथा बादमें उसी धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ाकर चञ्चल मत्स्यको बेधकर मैंने द्रौपदीको प्राप्त किया था॥ ७॥

यत्सन्निधावहमु खाण्डवमग्नयेऽदा-
मिन्द्रञ्च सामरगणं तरसा विजित्य।

लब्धा सभा मयकृताद्भुतशिल्पमाया
दिग्भ्योऽहरन् नृपतयो बलिमध्वरे ते॥ ८॥

उन श्रीकृष्णके सान्निध्यके प्रभावसे ही मैंने अपने बलसे देवताओं सहित देवराज इन्द्रको युद्धमें पराजित करके इन्द्रका खाण्डव-वन अग्निको भोजनके लिए प्रदान कर दिया था। इसी खाण्डव-वनके दहनमें मयदानवके प्राणोंकी रक्षा हुई थी और उसने हमारे लिए अद्भुत शिल्पसे परिपूर्ण मायामयी सभाका निर्माण कर दिया था। श्रीकृष्णकी कृपासे ही चारों दिशाओंसे राजाओंने आकर आपके राजसूय यज्ञमें कर प्रदान किया था॥ ८॥

यत्तेजसा नृपशिरोऽङ्घ्रि-महन्मखार्थ-
मार्योऽनुजस्तव गजायुतसत्त्ववीर्यः।
तेनाहृताः प्रमथनाथमखाय भूपा
यन्मोचितास्तदनयन् बलिमध्वरे ते॥ ९॥

जिनके तेजसे ही दस हजार हाथियोंके समान बलवान एवं उत्साह और वीरतासे सम्पन्न आपके अनुज आर्य भीमसेनने राजसूय यज्ञके लिए उस जरासन्धका वध किया था, जिसके चरणोंकी पूजा अनेक राजाओं द्वारा होती थी। जरासन्धको जीते बिना राजसूय यज्ञका होना सम्भव नहीं था, क्योंकि जरासन्धने महाभैरव यज्ञमें बलि चढ़ानेके लिए विभिन्न दिशाओंसे राजाओंको पराजितकर बन्दी बना कर रखा था। भगवान् श्रीकृष्णने ही उन बन्दी राजाओंको कारागारसे मुक्त किया था, जिसके कारण उन समस्त राजाओंने हमारे यज्ञमें अनेक प्रकारके उपहार प्रदान किये थे॥ ९॥

पत्न्यास्तवाधिमख-क्लृप्तमहाभिषेक-
श्लाघिष्ठचारुकबरं कितवैः सभायाम्।
स्पृष्टं विकीर्य पदयोः पतिताश्रुमुख्या
यस्तत्स्त्रियोऽकृत हतेशविमुक्तकेशाः॥ १०॥

राजसूय यज्ञकी समाप्तिपर महाभिषेकके समय हमारी पत्नी द्रौपदीने जो अति प्रशंसनीय एवं सुचारु रूपसे केश-बन्धन किया था,

उस सुन्दर वेणी-बन्धनको कपटाचारी धूर्त्त दुःशासनने भरी सभामें ही खोलकर खींच लिया था। वनवास-कालमें बिखरे हुए केशोंवाली द्रौपदीने श्रीकृष्णका स्मरण मात्र किया था, जिससे श्रीकृष्ण उसके निकट उपस्थित हुए थे। जब आँखोंमें आँसू भरकर द्रौपदीने उनके चरणोंमें प्रणाम किया, तब उसके आँसुओंने भगवान्‌के चरणोंको अभिषिक्त किया था। तब करुणावशतः भगवान् श्रीकृष्णने कुरुक्षेत्रके युद्धमें हमलोगोंके द्वारा उस दुष्ट दुःशासनादि की स्त्रियोंकी भी ऐसी दशा कर दी कि विधवा हो जानेके कारण उन्हें अपने केशोंको स्वयं ही खोल देना पड़ा॥ १०॥

यो नो जुगोप वनमेत्य दुरन्तकृच्छ्राद्-
दुर्वाससोऽरिरचितादयुताग्रभुग्यः ।
शाकान्नशिष्टमुपयुज्य यतस्त्रिलोकीं
तृप्तामममंस्त सलिले विनिमग्नसङ्घः॥ ११॥

दुर्वासा ऋषि दस हजार शिष्योंके साथ बैठकर भोजन करें—दुर्योधनने ऐसा षडयन्त्र रचकर महर्षि दुर्वासाको अतिथि रूपमें वनमें हमारे पास भेजा था। उस समय हम घोर सङ्कटमें पड़ गये थे। श्रीकृष्णके चिन्तनमें व्याकुल द्रौपदीके स्मरणमात्रसे ही श्रीकृष्ण अपनी गोदमें स्थित रुक्मिणीदेवीको उसी क्षण त्यागकर वनमें ही चले आये थे और उन्होंने सूर्य द्वारा प्रदत्त द्रौपदीकी बटलोईमें लगे शाकका एक कणमात्र ही खाकर—'तृप्तोऽस्मि' कहकर हमारी रक्षा की थी। उनके ऐसा कहते ही जलमें स्नान करती हुई मुनि-मण्डली पूर्ण रूपसे तृप्त हो गयी थी, यहाँ तक की समस्त त्रिलोकी ही तृप्त हो गयी थी। इस प्रकार महाक्रोधी दुर्वासा-मुनिके शापरूप भयङ्कर विपत्तिसे भगवान्‌ने हमारी रक्षा की थी॥ ११॥

यत्तेजसाथ भगवान् युधि शूलपाणि-
र्विस्मापितः सगिरिजोऽस्त्रमदान्निजं मे।
अन्येऽपि चाहममुनैव कलेवरेण
प्राप्तो महेन्द्रभवने महदासनार्द्धम्॥ १२॥

श्रीकृष्णके प्रभावसे ही मैंने युद्धमें पार्वती सहित महादेवजीको अपने तेजसे आश्चर्यचकित कर दिया था, जिसके फलस्वरूप उन्होंने मुझे अपना पाशुपत नामक अस्त्र प्रदान किया था, तथा साथ ही दूसरे लोकपालोंने भी प्रसन्न होकर मुझे अपने-अपने अस्त्र दिये थे। उनकी कृपासे ही मैंने इसी मनुष्य शरीरसे स्वर्गमें देवराज इन्द्रकी सभामें उसके साथ आधे आसनपर बैठनेका गौरव प्राप्त किया था॥ १२॥

तत्रैव मे विहरतो भुजदण्डयुग्मं
गाण्डीवलक्षणमरातिवधाय देवाः।
सेन्द्राः श्रिता यदनुभावितमाजमीढ
तेनाहमद्य मुषितः पुरुषेण भूम्ना॥ १३॥

हे अजमीढ़-वंशके भूषण! मेरे स्वर्ग अवस्थानके समय इन्द्रके साथ अन्यान्य देवताओंने निवातकवच आदि असुरोंका संहार करनेके लिए मेरी इन दोनों भुजाओंका आश्रय लिया था, जो श्रीकृष्णके प्रतापसे गाण्डीव धारण करनेवाली और अतुल बलशाली हो गयी थीं। महाराज! आज मैं उन्हीं परमपुरुष विभु श्रीकृष्णकी महती कृपासे वञ्चित हो गया हूँ॥ १३॥

यद्बान्धवः कुरुबलाब्धिमनन्तपार-
मेको रथेन ततरेऽहमतीर्यसत्त्वम्।
प्रत्याहृतं पुरु धनञ्च मया परेषां
तेजस्पदं मणिमयञ्च हृतं शिरोभ्यः॥ १४॥

महाराज! उनकी सहायतासे ही मैंने अकेले ही रथपर सवार होकर भीष्म, द्रोण आदि भीषण महामत्स्योंसे परिपूर्ण दुस्तरणीय अपार कुरुसेनारूपी सागरको अनायास ही पार कर लिया था। उन्हींके प्रभावसे मैंने शत्रुओंसे राजा विराटका गोधन तो वापिस ले ही लिया था, साथ ही उनके सिरोंपर समस्त तेजके आश्रय स्वरूप चमकते हुए मणिमय मुकुट और अङ्गोंके आभूषण भी छीन लिये थे॥ १४॥

यो भीष्मकर्ण-गुरुशल्यचमूष्वदभ्र-
राजन्यवर्यरथमण्डलमण्डितासु ।

अग्रेचरो मम विभो रथयूथपाना-
मायुर्मनांसि च दृशा सह ओज आर्च्छत्॥ १५॥

प्रभो! जिस समय कौरवोंकी सेना प्रधान-प्रधान राजाओं, क्षत्रिय वीरों और महारथी भीष्म, कर्ण, द्रोणाचार्य एवं शल्य आदिके रथोंसे मण्डित थी, उस समय सारथीके रूपमें मेरे आगे अवस्थानकर उन्होंने अपनी अचिन्त्यशक्तिसे एकबार दृष्टिपात करके ही उन सब रथ-यूथपतियोंकी आयु, उत्साह, शक्ति, बल और अस्त्रकौशल आदिका हरण कर लिया था॥ १५॥

यद्दोःषु मा प्रणिहितं गुरुभीष्मकर्ण-
नप्तृत्रिगर्त-शलसैन्धव-बाह्लिकाद्यैः ।
अस्त्राण्यमोघमहिमानि निरूपितानि
नोपस्पृशुर्नृहरिदासमिवासुराणि ॥ १६॥

उन्होंने अपनी भुजाओंकी छत्रछायामें मुझे स्थापित कर रखा था, इसलिए गुरु द्रोणाचार्य, भीष्म, कर्ण, भूरिश्रवा, त्रिगर्तदेशाधिपति सुशर्मा, शल्य, सिंधुदेशाधिपति जयद्रथ, शान्तनु राजाके भाई बाह्लीक आदि वीर-चूड़ामणियों द्वारा चलाये गये अचूक अस्त्र मेरे अङ्गोंका उसी प्रकार स्पर्श न कर सके, जिस प्रकार प्राचीनकालमें हिरण्यकशिपु आदि असुरों द्वारा चलाये अस्त्र-शस्त्र नृसिंह-सेवक प्रह्लादके अङ्गोंको स्पर्श तक नहीं कर पाये थे॥ १६॥

सौत्ये वृतः कुमतिनात्मद ईश्वरो मे
यत्पादपद्ममभवाय भजन्ति भव्याः।
मां श्रान्तवाहमरयो रथिनो भुविष्ठं
न प्राहरन् यदनुभावनिरस्तचित्ताः॥ १७॥

भगवान् श्रीकृष्ण सभीके लिए स्वयं तकको प्रदान कर देनेवाले ईश्वर हैं। श्रेष्ठ व्यक्ति मोक्ष-प्राप्तिके लिए उनके चरणकमलोंका भजन करते हैं। हाय! मेरी कैसी दुर्बुद्धि थी कि मैंने उनका भजन न कर उन्हें अपना सारथी बना डाला। मैं इतना अपराधी था, फिर भी उनकी दया असीम थी। जयद्रथके वधके समय मेरे रथके घोड़े

जल-पान न कर पानेके कारण बड़े प्यासे थे तथा अत्यन्त थक गये थे। उस समय जब मैं रथसे उतरकर भूमिपर आया था और बाण द्वारा पृथ्वीकी सतहको भेदकर उन्हें पानी पिला रहा था, तब शत्रु पक्षके लोग बाणोंके द्वारा मेरे प्राणोंका संहार कर सकते थे, किन्तु वे लोग उनके प्रभावसे अनमने-से हो गये थे—मानो उनकी बुद्धि मारी गयी हो। वे बड़े-बड़े महारथी शत्रु मुझपर प्रहार न कर सके। अहो! श्रीकृष्णका प्रभाव कितना अद्भुत था॥ १७॥

नर्माण्युदाररुचिरस्मितशोभितानि
हे पार्थ हेऽर्जुन सखे कुरुनन्दनेति।
सञ्जल्पितानि नरदेव हृदिस्पृशानि
स्मर्तुर्लुठन्ति हृदयं मम माधवस्य॥ १८॥

हे राजन्! वे माधव मेरे प्रति गम्भीर, उन्मुक्त, हृदयस्पर्शी, विनोदभरे और सुन्दर हास-परिहासपूर्ण वचनोंका प्रयोग करते थे। किसी भी कार्यके प्रस्तावके समय मुझे कभी 'हे पार्थ!', कभी 'हे अर्जुन!', कभी 'हे सखे!', कभी 'हे कुरुनन्दन' आदि मधुर और मनोहर सम्बोधनोंसे पुकारा करते थे। आज वह सब स्मरण करके मेरा हृदय अत्यन्त व्याकुल हो रहा है॥ १८॥

शय्यासनाटनविकत्थनभोजनादि-
ष्वैक्याद्वयस्य ऋतवानिति विप्रलब्धः।
सख्युः सखेव पितृवत् तनयस्य सर्वं
सेहे महान् महितया कुमतेरघं मे॥ १९॥

हम लोग एक साथ ही सोते, बैठते, भ्रमण करते, अपने-अपने गुणोंकी प्रशंसा और भोजनादि करते थे। यदि किसी दिन दैवात् किसी कार्यमें अथवा वाक्यमें भूल या बाधा उपस्थित होती, तब मैं व्यंग्यसे—'अहो! तुम तो बड़े सत्यवादी हो' इस प्रकारकी वक्रोक्तियोंसे उनका तिरस्कार करता। किन्तु जिस प्रकार सखा अपने सखाका और पिता अपने पुत्रका अपराध सहन कर लेता है, उसी प्रकार देवपूज्य वे भी मुझ दुर्बुद्धिके समस्त अपराधोंको अपने गुणोंसे क्षमा करते हुए सह लिया करते थे॥ १९॥

सोऽहं नृपेन्द्र रहितः पुरुषोत्तमेन
सख्या प्रियेण सुहृदा हृदयेन शून्यः।
अध्वन्युरुक्रमपरिग्रहमङ्ग रक्षन्
गोपैरसद्भिरबलेव विनिर्जितोऽस्मि॥ २०॥

हे राजश्रेष्ठ! जो पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण मेरे सखा, मेरे परम सुहृद और मेरे प्राण ही थे, उनके द्वारा मैं परित्यक्त हो गया हूँ। अब मेरा वैसा पराक्रम नहीं रहा, यहाँ तक कि मेरा हृदय भी शून्य हो गया है। मैं उनकी सोलह हजार रानियोंकी रक्षा करता हुआ आ रहा था, परन्तु मार्गमें कुछ दुष्ट गोपोंने आकर मुझे अबलाके समान सहज ही परास्त कर दिया॥ २०॥

तद्वै धनुस्त इषवः स रथो हयास्ते
सोऽहं रथी नृपतयो यत आनमन्ति।
सर्वं क्षणेन तदभूदसदीशरिक्तं
भस्मन् हुतं कुहकराद्धमिवोप्तमूष्याम्॥ २१॥

आज मेरे पास वही गाण्डीव धनुष है, वही बाण हैं, वही रथ है, वही घोड़े हैं और मैं भी वही रथी हूँ जिसके सामने समस्त राजा सिर झुकाया करते थे। किन्तु जिन श्रीकृष्णके प्रभावसे मेरा ऐसा पराक्रम था, उनके वियोगमें क्षणभरमें ही सब कुछ उसी प्रकार सार-शून्य हो गया है, जिस प्रकार विविध मन्त्र-उच्चारणोंके साथ भस्ममें आहुति प्रदान करनेसे, किसी मायावी द्वारा अति प्रसन्न होकर द्रव्य प्रदान करनेसे अथवा बञ्जर भूमिमें बीज बोनेसे कोई फल उत्पन्न नहीं होता। अर्थात् श्रीकृष्णके विरहमें मैं, मेरा धनुषादि सब कुछ अक्षम हो गये हैं॥ २१॥

राजंस्त्वयानुपृष्टानां सुहृदां नः सुहृत्पुरे।
विप्रशापविमूढानां निघ्नतां मुष्टिभिर्मिथः॥ २२॥

वारुणीं मदिरां पीत्वा मदोन्मथितचेतसाम्।
अजानतामिवान्योन्यं चतुःपञ्चावशेषिताः॥ २३॥

हे राजन्! आपने द्वारकापुरीके जिन सुहृदोंके विषयमें पूछा है, उन लोगोंमें ब्राह्मणके शापसे कुछ विशेष मोह उत्पन्न हो गया था। उन्होंने अन्न (सड़े हुए चावल) से बनी वारुणी नामक मदिराका पान किया, जिससे उनके चित्तमें ऐसा उन्माद उपस्थित हुआ कि वे एक-दूसरेको पहचान भी नहीं पाये और एरका नामक तृणोंको मुष्टिमें पकड़कर अपरिचितोंकी भाँति एक-दूसरेपर प्रहार करने लगे। इससे प्रायः वे सभी नष्ट हो गये। इस समय उनमेंसे केवलमात्र चार या पाँच लोग ही बचे हैं॥ २२-२३॥

प्रायेणैतद्भगवत ईश्वरस्य विचेष्टितम्।
मिथो निघ्नन्ति भूतानि भावयन्ति च यन्मिथः॥ २४॥

वस्तुतः यह निश्चित रूपसे उन षडैश्वर्यपूर्ण भगवान् श्रीजगदीश्वरकी ही लीला है कि कभी-कभी तो संसारके प्राणी एक-दूसरेका पालन-पोषण करते हैं और कभी एक-दूसरेका संहार भी कर डालते हैं॥ २४॥

जलौकसां जले यद्वन्महान्तोऽदन्त्यणीयसः।
दुर्बलान् बलिनो राजन् महान्तो बलिनो मिथः॥ २५॥
एवं बलिष्ठैर्यदुभिर्महद्भिरितरान् विभुः।
यदून् यदुभिरन्योन्यं भूभारान् सञ्जहार ह॥ २६॥

हे महाराज! जिस प्रकार जलचरोंमें बड़ी मछलियाँ अपनेसे छोटे-छोटे जलचरोंका एवं बलवान जीव-जन्तु दुर्बल जीव-जन्तुओंका भक्षण करते हैं तथा समान बलशाली और बड़े प्राणियोंमें जो जिसे परास्त कर लेता है, वही उसे खा जाता है, उसी प्रकार उन सर्वव्यापी भगवान्ने भी बलवान और महान यादवोंके द्वारा दुर्बल राजाओंका संहार कराया। इसके बाद समान बलवाले यदुवंशियोंका एक-दूसरेके द्वारा संहार कराके पृथ्वीका भार हरण किया॥ २५-२६॥

देशकालार्थयुक्तानि हृत्तापोपशमानि च।
हरन्ति स्मरतश्चित्तं गोविन्दाभिहितानि मे॥ २७॥

भगवान् श्रीगोविन्दने मुझे देश, काल और प्रयोजनके अनुरूप जो उपदेश दिये थे, वे सब वचन हृदयके तापका विनाश करनेवाले थे। उनकी वे सब शिक्षाएँ मेरे स्मृतिपथपर उदित होकर मेरे चित्तको आकर्षित कर रही हैं॥ २७॥

श्रीसूत उवाच—

एवं चिन्तयतो जिष्णोः कृष्णपादसरोरुहम्।
सौहार्देनातिगाढेन शान्तासीद्विमला मतिः॥ २८॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—इस प्रकारसे अत्यन्त प्रगाढ़ प्रेमके साथ श्रीकृष्णके चरणकमलोंका निरन्तर चिन्तन करते-करते अर्जुनका मन शोकसे रहित हो गया और वे विषयोंके प्रति अनुराग रहित हो गये॥ २८॥

वासुदेवाङ्घ्र्यनुध्यान-परिबृंहितरंहसा ।
भक्त्या निर्मथिताशेष-कषायधिषणोऽर्जुनः॥ २९॥
गीतं भगवता ज्ञानं यत्तत् संग्राममूर्द्धनि।
कालकर्म-तमोरुद्धं पुनरध्यगमद्विभुः॥ ३०॥

भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंके निरन्तर चिन्तनसे अर्जुनकी उनके प्रति प्रेममयी भक्ति अत्यन्त बढ़ गयी। भक्तिके वेगने उनके हृदयको मथकर उसमेंसे समस्त विकारोंको बाहर निकाल दिया। तब अर्जुनको कुरुक्षेत्र युद्धके प्रारम्भमें भगवान्के द्वारा उपदेश दिया गया गीताका ज्ञान पुनः स्मरण हो आया, जिसकी कालके व्यवधान और कर्मोंके विस्तारके कारण भोगाभिनिवेश वशतः उन्हें कुछ दिनोंके लिए विस्मृति हो गयी थी॥ २९-३०॥

विशोको ब्रह्मसम्पत्त्या सञ्छिन्नद्वैतसंशयः।
लीनप्रकृतिनैर्गुण्यादलिङ्गत्वादसम्भवः ॥ ३१॥

इस प्रकार ब्रह्मज्ञानको प्राप्तकर प्रकृतिके तीनों गुणोंकी कारण स्वरूप अर्जुनकी अविद्या दूर हो गयी। अविद्याके लयसे सत्त्व-रज-तम रूपी तीनों गुण क्षयको प्राप्त हो गये। इसलिए गुणोंके कार्यभूत

सूक्ष्मशरीर विषयक ज्ञानके तिरोहित होनेसे अन्ततः उनमें स्थूलशरीरका अभिमान भी नहीं रहा। इस प्रकारके शोकके प्रधान कारण द्वैत-भ्रमके[1] दूर हो जानेपर अर्जुन सम्पूर्ण रूपसे शोकरहित हो गये॥ ३१॥

निशम्य भगवन्मार्गं संस्थां यदुकुलस्य च।
स्वःपथाय मतिं चक्रे निभृतात्मा युधिष्ठिरः॥ ३२॥

भगवान् श्रीकृष्णके स्वधाम-गमन एवं यदुकुलके विनाशकी वार्त्ताको सुनकर निश्चलमति महाराज युधिष्ठिरने स्वयं भी श्रीकृष्ण-धामके मार्गपर जानेका निश्चय कर लिया॥ ३२॥

पृथाप्युपश्रुत्य धनञ्जयोदितं
नाशं यदूनां भगवद्गतिञ्च ताम्।
एकान्तभक्त्या भगवत्यधोक्षजे
निवेशितात्मोपरराम संसृतेः॥ ३३॥

जैसे ही कुन्तीदेवीने भी धनञ्जयके मुखसे यदुवंशियोंके नाश और भगवान्के अत्यन्त कठिनतासे समझ आनेवाले स्वधाम-गमनके विषयमें सुना, उसी क्षण उन्होंने ऐकान्तिक भक्तिके साथ अपने चित्तको इन्द्रिय ज्ञानातीत भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें समर्पित कर दिया और सदाके लिए इस जन्म-मृत्युरूप संसारसे अपना मुँह मोड़ लिया अर्थात् अपनी देहका परित्याग कर दिया॥ ३३॥

ययाहरद्भुवो भारं तां तनुं विजहावजः।
कण्टकं कण्टकेनेव द्वयञ्चापीशितुः समम्॥ ३४॥

---

[1] 'द्वैत-भ्रम' का तात्पर्य है—आत्मासे भिन्न दूसरी वस्तु स्वरूपदेहके साथ सम्बन्ध होने या नहीं होनेका सन्देह। (किन्तु इस प्रसङ्गमें इस पदका वास्तविक तात्पर्य है कि—)अर्जुनका अपने सखा श्रीकृष्णसे भिन्न होनेका संशय अर्थात् (अर्जुन विचार कर रहे थे कि) श्रीकृष्ण और मुझमें पहले तो सख्य भाववशतः ऐक्य था, किन्तु अब द्वैत अर्थात् पार्थक्य हो गया है। अतः क्या वे श्रीकृष्ण पुनः मुझे सख्य-सुखमय अद्वैत अर्थात् एकत्वके रूपमें स्वीकार करेंगे अथवा पार्थक्य लक्षणस्वरूप द्वैत-दुःखके सागरमें निमज्जित करेंगे?—ऐसे भावनामय सन्देहको ही द्वैत-भ्रम कहा गया है। (श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरकी टीकाका सारांश)

जिस प्रकार किसीके पैरमें काँटा चुभ जानेपर एक अन्य काँटेकी सहायतासे उस काँटेको निकाला जाता है और बादमें उन दोनों ही काँटोंको फेंक दिया जाता है, उसी प्रकार जन्म-रहित भगवान् श्रीकृष्णने भी जिन यादवादि-मूर्त्तियों द्वारा पृथ्वीके भारस्वरूप असुरोंका वध करके पृथ्वीका भार हरण किया था, बादमें उन यादवादि-मूर्त्तियोंको भी अप्रकट कर दिया। इसका कारण है कि भगवान्के लिए तो यादवादि देवगण और भू-भार स्वरूप असुर दोनों ही समान हैं॥ ३४॥

यथा मत्स्यादिरूपाणि धत्ते जह्याद्यथा नटः।
भूभारः क्षपितो येन जहौ तच्च कलेवरम्॥ ३५॥

जिस प्रकार एक ही नट विभिन्न चरित्रोंका अभिनय करनेके लिए बहुत प्रकारसे सजता है और अभिनयके अन्तमें उन सभी रूपोंको अन्तर्हित कर लेता है, उसी प्रकार भगवान् भी विशेष प्रयोजनके उद्देश्यसे ही मत्स्यादि बहुत-से रूपोंको धारण करते हैं और प्रयोजन पूर्ण हो जानेपर उन सब रूपोंको अप्रकट कर लेते हैं। इसी प्रकारसे भगवान् श्रीकृष्णने भी जिस कलेवरसे भू-भार हरण किया, उसे अन्तर्हित कर लिया॥ ३५॥

यदा मुकुन्दो भगवानिमां महीं
जहौ स्वतन्वा श्रवणीयसत्कथः।
तदाहरेवाप्रतिबुद्धचेतसा-
मभद्रहेतुः कलिरन्ववर्तत॥ ३६॥

जिनका पवित्र यशोगान ही श्रवण करनेके योग्य है, उन भगवान् श्रीमुकुन्ददेवने जिस क्षण इस पृथ्वीका अपने मनुष्य जैसे दिखायी देनेवाले शरीरसे परित्याग किया, उसी दिन ही अविवेकी लोगोंका अमङ्गल करनेवाले कलियुगने इस पृथ्वीपर प्रवेश किया॥ ३६॥

युधिष्ठिरस्तत्परिसर्पणं बुधः
पुरे च राष्ट्रे च गृहे तथात्मनि।

विभाव्य लोभानृतजिह्महिंसना-
द्यधर्मचक्रं गमनाय पर्यधात्॥ ३७॥

महाराज युधिष्ठिर परम विज्ञ थे। लोभ, मिथ्याचार, कुटिलता और हिंसा आदि अधर्म-चक्रका प्रचलन देखकर वे समझ गये कि नगर, राज्य, घर और प्राणियोंमें कलिका सञ्चार हो गया है। अतः उन्होंने महाप्रस्थान करनेके उद्देश्यसे समुचित वस्त्रोंको पहन लिया॥ ३७॥

सम्राट् पौत्रं विनियतमात्मनः सुसमं गुणैः।
तोयनीव्याः पतिं भूमेरभ्यषिञ्चद् गजाह्वये॥ ३८॥

सम्राट युधिष्ठिरने समस्त प्रकारसे अपने ही समान गुणशाली और विनयी अपने पौत्र परीक्षित्‌को सागर तक पृथ्वीके अधिपतिके रूपमें हस्तिनापुरके सिंहासनपर अभिषिक्त कर दिया॥ ३८॥

मथुरायां तथा वज्रं शूरसेनपतिं ततः।
प्राजापत्यां निरूप्येष्टिमग्नीनपिबदीश्वरः॥ ३९॥

उन्होंने अनिरुद्धके पुत्र वज्रनाभको शूरसेन प्रदेशके अधिपतिके रूपमें मथुरामें अभिषिक्त कर दिया। इसके बाद अपने उसी प्रबल प्रतापसे नरपति महाराज युधिष्ठिरने प्राजापत्य-यज्ञका अनुष्ठान करके गार्हपत्य, प्राजापत्य और आह्वानीय आदि तीनों अग्नियोंको आत्मामें आरोपित कर लिया अर्थात् गृहस्थाश्रम धर्मसे मुक्त होकर समर्थ युधिष्ठिरने संन्यास ग्रहण किया॥ ३९॥

विसृज्य तत्र तत् सर्वं दुकूलवलयादिकम्।
निर्ममो निरहङ्कारः सञ्छिन्नाशेषबन्धनः॥ ४०॥

उन्होंने उसी समय वहींपर अपने वस्त्र और कङ्गन आदि आभूषण त्याग दिये और 'मैं और मेरा' रूप अहङ्कार और ममतासे रहित होकर समस्त बन्धनोंको काट डाला॥ ४०॥

वाचं जुहाव मनसि तत् प्राण इतरे च तम्।
मृत्यावपानं सोत्सर्गं तं पञ्चत्वे ह्यजोहवीत्॥ ४१॥

तत्पश्चात् उन्होंने दृढ़ भावनासे अपनी वाणी आदि इन्द्रियोंको मनमें, मनको प्राणमें, प्राणको अपानमें और अपानको उसकी (मल-मूत्रादि त्यागरूप) क्रियाके साथ उसके अधिष्ठात्री देवता मृत्युमें तथा मृत्युको पञ्चभूतमय शरीरमें लीन कर दिया॥ ४१ ॥

त्रित्वे हुत्वा च पञ्चत्वं तच्चैकत्वेऽजुहोन्मुनिः।
सर्वमात्मन्यजुहवीद् ब्रह्मण्यात्मानमव्यये॥ ४२ ॥

बादमें मुनि युधिष्ठिरने पञ्चभूतोंके ऐक्यस्वरूप देहको सत्त्वादि त्रिगुणोंमें लीनकर त्रिगुणोंको एकत्वमें अर्थात् अविद्यामें लीन कर दिया। तत्पश्चात् सब प्रकारके आरोपोंकी कारण स्वरूप अविद्याको जीवात्मामें और जीवात्माको कूटस्थ-स्वरूप ब्रह्ममें लीन कर दिया॥ ४२ ॥

चीरवासा निराहारो बद्धवाङ्मुक्तमूर्द्धजः।
दर्शयन्नात्मनो रूपं जडोन्मत्तपिशाचवत्।
अनवेक्षमाणो निरगादशृण्वन् बधिरो यथा॥ ४३ ॥

इस प्रकार सब ओरसे निश्चिन्त महाराज युधिष्ठिरने चीर-वस्त्र पहन लिये, भोजनका त्याग कर दिया, मौन हो गये और केश बिखेर लिये। स्वयंको जड़, पागल अथवा पिशाचके समान दिखाते हुए अपने छोटे भाई आदि किसीकी भी अपेक्षा न करके बहरेके समान किसी की भी कोई बात न सुनते हुए वे घरसे बाहर निकल पड़े॥ ४३ ॥

उदीचीं प्रविवेशाशां गतपूर्वां महात्मभिः।
हृदि ब्रह्म परं ध्यायन् नावर्तेत यतो गतः॥ ४४॥

फिर वे एकाग्र चित्तसे परब्रह्म श्रीकृष्णका ध्यान करते हुए श्रीकृष्णकी प्राप्तिके लिए उस उत्तर दिशाकी ओर चल दिये, जहाँसे फिर लौटना नहीं पड़ता। पूर्व-पूर्व महात्माओंने भी भगवान्की प्राप्तिके लिए इसी उत्तर दिशाका आश्रय लिया था॥ ४४॥

सर्वे तमनुनिर्जग्मुर्भ्रातरः कृतनिश्चयाः।
कलिनाधर्ममित्रेण दृष्ट्वा स्पृष्टाः प्रजा भुवि॥ ४५ ॥

जब धर्मराज युधिष्ठिरके छोटे भाइयोंने देखा कि पृथ्वीपर प्रजाओंको अधर्मके बन्धु कलियुगने प्रभावित कर लिया है, तब वे भी श्रीकृष्णके चरणोंकी प्राप्तिके लिए एकाग्र चित्त और दृढ़ निश्चय होकर बड़े भाईके पीछे-पीछे चल पड़े॥ ४५॥

ते साधुकृतसर्वार्था ज्ञात्वात्यन्तिकमात्मनः।
मनसा धारयामासुर्वैकुण्ठचरणाम्बुजम्॥ ४६॥

यद्यपि सभी पाण्डवोंने ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप चतुर्वर्गका सम्पूर्ण रूपसे अनुष्ठान कर लिया था, तथापि भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंको ही जीवोंका परम पुरुषार्थ जानकर वे मन-ही-मन उनका ध्यान करने लगे॥ ४६॥

तद्ध्यानोद्रिक्तया भक्त्या विशुद्धधिषणाः परे।
तस्मिन् नारायणपद एकान्तमतयो गतिम्॥ ४७॥
अवापुर्दुरवापां ते असद्भिर्विषयात्मभिः।
विधूतकल्मषास्थानं विरजेनात्मनैव हि॥ ४८॥

पाँचों पाण्डवोंके हृदयमें परम पुरुष भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंके ध्यानसे भक्ति-प्रवाहकी तरङ्गें उच्छलित होने लगीं, उनकी बुद्धि विशुद्ध हो गयी तथा भगवान् श्रीकृष्णके सर्वोत्कृष्ट स्वरूपमें चित्तके एकाग्र हो जानेसे उनका चित्त निष्पाप हो गया। अन्ततः रज और तमसे रहित अप्राकृत (शुद्धसत्त्व) शरीर द्वारा उन्होंने श्रीकृष्णके उस धामको प्राप्त किया, जो विषयोंमें आसक्त असाधु मनुष्योंको कभी प्राप्त नहीं हो सकता॥ ४७-४८॥

विदुरोऽपि परित्यज्य प्रभासे देहमात्मनः।
कृष्णावेशेन तच्चित्तः पितृभिः स्वक्षयं ययौ॥ ४९॥

आत्म-तत्त्वको जाननेवाले श्रीविदुरने भी श्रीकृष्णकी भक्ति द्वारा उनमें अपने चित्तको निमग्नकर प्रभास तीर्थमें अपनी देहका त्याग कर दिया। देह-त्यागके समय उन्हें लेनेके लिए आये हुए पितरोंके साथ ही वे अपने अधिकारानुसार लोकमें चले गये॥ ४९॥

द्रौपदी च तदाज्ञाय पतीनामनपेक्षताम्।
वासुदेवे भगवति ह्येकान्तमतिराप तम्॥ ५०॥

जब द्रौपदीने देखा कि उसके पतियोंमें किसीने भी उसकी अपेक्षा नहीं की और एक-एक करके सभी चले गये, तब उसने भी एकान्त भावसे भगवान् श्रीवासुदेवमें चित्त समर्पितकर उन्हें प्राप्त कर लिया॥ ५०॥

यच्छ्रद्धयैतद्भगवत्प्रियाणां
पाण्डोः सुतानामिति सम्प्रयाणम्।
शृणोत्यलं स्वस्त्ययनं पवित्रं
लब्ध्वा हरौ भक्तिमुपैति सिद्धिम्॥ ५१॥

जो भगवान्‌के प्रियपात्र पाण्डवोंके इस परम पवित्र मङ्गलमय महाप्रस्थानकी कथाका श्रद्धा-सहित श्रवण करता है, वह श्रीहरिके प्रति भक्तिको प्राप्त करके सिद्ध अवस्थाको प्राप्त कर लेता है॥ ५१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां प्रथमस्कन्धे पारीक्षिते श्रीयुधिष्ठिरादि-स्वधाम-गमनं नाम पञ्चदशोऽध्यायः॥

षोड़शोऽध्यायः

महाराज परीक्षित्‌की दिग्विजय तथा धर्म और पृथ्वीका संवाद

श्रीसूत उवाच—

ततः परीक्षिद्‌द्विजवर्यशिक्षया
महीं महाभागवतः शशास ह।
यथा हि सूत्यामभिजातकोविदाः
समादिशन् विप्र महद्‌गुणस्तथा॥ १॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—हे विप्र शौनकजी! पाण्डवोंके महाप्रयाणके बाद परम भागवत परीक्षित् श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके उपदेशोंके अनुसार पृथ्वीपर शासन करने लगे। परीक्षित्‌के जन्मके समय भाग्य-गणनामें पारङ्गत ज्योतिषियोंने उनके जिन महान गुणोंका वर्णन किया था, वे सभी गुण उनमें काल-क्रमसे प्रकट होने लगे॥ १॥

स उत्तरस्य तनयामुपयेमे इरावतीम्।
जनमेजयादींश्चतुरस्तस्यामुत्पादयत् सुतान्॥ २॥

राजा परीक्षित्‌ने उत्तर राजाकी पुत्री इरावतीसे विवाह किया और उससे उन्होंने जनमेजयादि चार पुत्र उत्पन्न किये॥ २॥

आजहाराश्वमेधांस्त्रीन् गङ्गायां भूरिदक्षिणान्।
शारद्वतं गुरुं कृत्वा देवा यत्राक्षिगोचराः॥ ३॥

उन्होंने कृपाचार्यको आचार्यके रूपमें वरण किया और गङ्गाके तटपर तीन अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान किया, जिसमें उन्होंने ब्राह्मणोंको प्रचुर दक्षिणा दी। इन यज्ञोंमें देवताओंने प्रत्यक्ष रूपसे प्रकट होकर अपना-अपना भाग ग्रहण किया था॥ ३॥

निजग्राहौजसा वीरः कलिं दिग्विजये क्वचित्।
नृपलिङ्गधरं शूद्रं घ्नन्तं गोमिथुनं पदा॥ ४॥

वीरोंके चूड़ामणि राजा परीक्षित् एक बार दिग्विजयके लिए निकले। तब उन्होंने एक स्थानपर देखा कि शूद्रके रूपमें कलि राजाका वेश धारण करके गाय और बैलके एक जोड़ेपर अपने पैरोंसे ठोकरें मार रहा है। यह देखकर उन्होंने अपना पराक्रम प्रकाशित करते हुए कलिको बलपूर्वक पकड़ लिया और उसे दण्ड दिया॥ ४॥

श्रीशौनक उवाच—

कस्य हेतोर्निजग्राह कलिं दिग्विजये नृपः।
नृदेवचिह्नधृक् शूद्रः कोऽसौ गां यः पदा अहन्॥ ५॥

श्रीशौनक ऋषिने पूछा—कलि तो अत्यन्त अधम और निन्दित शूद्र ही था। वह राजाका वेष धारण करके भी गाय और बैलके जोड़ेपर पदाघात कर रहा था। किन्तु दिग्विजयके लिए निकले महाराज परीक्षित्ने उसका संहार न करके केवल उसे दण्ड ही क्यों दिया? कृपया इसका कारण बतलाइये?॥ ५॥

तत् कथ्यतां महाभाग यदि विष्णुकथाश्रयम्।
अथवास्य पदाम्भोज-मकरन्दलिहां सताम्॥ ६॥

महाभाग्यवान सूतजी! यदि यह वृत्तान्त भगवान् श्रीकृष्णकी लीला अथवा उनके चरणकमलोंके मकरन्द-रसका पान करनेवाले रसिक महानुभावोंसे किसी प्रकारका सम्बन्ध रखता हो, तो उसका वर्णन अवश्य ही कीजिये॥ ६॥

किमन्यैरसदालापैरायुषो यदसद्व्ययः।
क्षुद्रायुषां नृणामङ्ग मर्त्यानामृतमिच्छताम्॥ ७॥

हे श्रीसूत गोस्वामी! मरणधर्मी मनुष्यकी आयु तो अत्यन्त अल्प है। उसमें भी जो लोग अपना समय वृथा ही आयु क्षय करनेवाले असत् आलापोंमें बिताते हैं, किन्तु साथ ही अमृतस्वरूप श्रीकृष्णको प्राप्त करनेकी इच्छा करते हैं, उन्हें क्या मिलेगा?॥ ७॥

इहोपहूतो भगवान् मृत्युः शामित्रकर्मणि।
न कश्चिन्म्रियते तावद् यावदस्ति इहान्तकः॥ ८॥

जब तक यमराज यहाँ (नैमिषारण्यमें) रहेंगे, तब तक किसीकी मृत्यु नहीं होगी, इसलिए मृत्युस्वरूप भगवान् यमको आवाहन करके उन्हें यहाँ शान्तिकर्ममें नियुक्त कर दिया गया है॥ ८॥

एतदर्थं हि भगवानाहूतः परमर्षिभिः।
अहो नृलोके पीयेत हरिलीलामृतं वचः॥ ९॥

मनुष्यलोकके मृत्युसे ग्रस्त जीव निश्चिन्त होकर भगवान् श्रीहरिके लीला-कथामृतका पान करते रहें, इसी उद्देश्यसे महर्षियोंने यमराजको यहाँ बुलाया है॥ ९॥

मन्दस्य मन्दप्रज्ञस्य वयो मन्दायुषश्च वै।
निद्रया ह्रियते नक्तं दिवा च व्यर्थकर्मभिः॥ १०॥

श्रीहरिकी लीलारूप कथामृतके पानसे वञ्चित मन्दभाग्य, आलसी, अल्पबुद्धि एवं अल्पायु मनुष्योंका जीवन वृथा ही जा रहा है। उनका रात्रिकाल नींदमें और दिन व्यर्थके कार्य-कलापोंमें व्यतीत हो रहा है॥ १०॥

श्रीसूत उवाच—

यदा परीक्षित् कुरुजाङ्गले वसन्
कलिं प्रविष्टं निजचक्रवर्तिते।
निशम्य वार्तामनतिप्रियां ततः
शरासनं संयुगशौण्ड आददे॥ ११॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—जिस समय रणनिपुण राजा परीक्षित् अपनी सेनाओं द्वारा रक्षित अपने साम्राज्य कुरुजाङ्गल प्रदेशमें निवास कर रहे थे, उसी समय उन्होंने अपने राज्यमें कलिके प्रवेशका सामाचार सुना। इस अप्रिय संवादको सुनते ही उन्हें दुःख हुआ और तब उन्होंने उस दुष्टको दण्डित करनेके लिए धनुष हाथमें ले लिया॥ ११॥

स्वलङ्कृतं श्यामतुरङ्गयोजितं
रथं मृगेन्द्रध्वजमास्थितः पुरात्।

वृतो रथाश्व-द्विपपत्तियुक्तया
स्वसेनया दिग्विजयाय निर्गतः॥ १२॥

वे बिना किसी विलम्बके ही नाना प्रकारके अलङ्कारोंसे अलंकृत श्याम (काले) वर्णके घोड़ोंसे जुते हुए और सिंहकी ध्वजासे चिह्नित रथपर सवार होकर दिग्विजयके लिए अपने नगरसे बाहर निकल पड़े। उस समय रथ, घोड़े, हाथी और पैदल सेना उनके साथ-साथ चल रही थी॥ १२॥

भद्राश्वं केतुमालञ्च भारतञ्चोत्तरान् कुरून्।
किम्पुरुषादीनि वर्षाणि विजित्य जगृहे बलिम्॥ १३॥

राजा परीक्षित्ने क्रमसे एक-एक करके भद्राश्व, केतुमाल, भारत, उत्तर-कुरु और किंपुरुष आदि समुद्रसे संलग्न सभी वर्षोंको जीतकर वहाँके राजाओंसे कर ग्रहण किया॥ १३॥

तत्र तत्रोपशृण्वानः स्वपूर्वेषां महात्मनाम्।
प्रगीयमाणञ्च यशः कृष्णमाहात्म्यसूचकम्॥ १४॥

आत्मानञ्च परित्रातमश्वत्थाम्नोऽस्त्रतेजसः।
स्नेहञ्च वृष्णिपार्थानां तेषां भक्तिञ्च केशवे॥ १५॥

तेभ्यः परमसंहृष्टः प्रीत्युज्जृम्भितलोचनः।
महाधनानि वासांसि ददौ हारान् महामनाः॥ १६॥

उदारचित्त राजा परीक्षित्को उन-उन देशोंमें सर्वत्र ही वहाँके निवासियोंसे अपने पूर्वज महापुरुषोंका सुयश सुननेको मिला। वहाँके प्रमुख निवासी अपना-अपना अनुभव सुनाते थे, जिसमें पग-पगपर श्रीकृष्णके माहात्म्यका ही ज्ञापन होता था। वहींपर उन्होंने यह सुना कि अश्वत्थामाने ब्रह्मास्त्रके तीव्र तापसे गर्भस्थ उन्हें दग्ध करना चाहा था, परन्तु भगवान् श्रीकृष्णने उनकी रक्षा की थी। उन्होंने यह भी सुना कि यादवों एवं पाण्डवोंमें प्रगाढ़ सौहार्द्द था। श्रीकृष्णभक्तिसे सम्बन्धित इन सब बातोंको सुनकर राजा परीक्षित्को परम आनन्द प्राप्त हुआ था तथा उनके दोनों नेत्र हर्षसे खिल उठे थे। तब उन्होंने ऐसा यश गान करनेवाले लोगोंको प्रचुर धन, वस्त्र और हार आदि आभूषणोंसे पुरस्कृत किया था॥ १४-१६॥

सारथ्य-पारषद-सेवन-सख्य-दौत्य-
वीरासनानुगमन-स्तवन-प्रणामान् ।
स्निग्धेषु पाण्डुषु जगत्प्रणतिञ्च विष्णो-
र्भक्तिं करोति नृपतिश्चरणारविन्दे॥ १७॥

महाराज परीक्षित्‌ने उन-उन देशोंमें सुना कि इस जगत्‌में समस्त जीव ही जिन्हें प्रणाम करते हैं, वे श्रीकृष्णप्रेमके वशीभूत होकर अपने प्रिय पाण्डवोंके सारथी बने, सभापति बने, उनके मनके अनुसार कार्य करके उनकी सेवा की, उनके साथ सखाके समान व्यवहार किया तथा उनके दूत भी बने। केवल इतना ही नहीं, अपितु रात्रिके समय हाथमें तलवार लेकर द्वारपालके समान जागरण करते हुए शिविरका पहरा दिया, उनके पीछे-पीछे चले, उनकी स्तुति की और उन्हें प्रणाम भी किया। यहाँ तक कि अपने प्रेमी पाण्डवोंके चरणोंमें उन्होंने समस्त जगत्‌को झुका दिया। यह सब वृत्तान्त सुनकर महाराज परीक्षित्‌में भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंके प्रति भक्ति अत्यधिक रूपमें वर्द्धित हो गयी॥ १७॥

तस्यैवं वर्तमानस्य पूर्वेषां वृत्तिमन्वहम्।
नातिदूरे किलाश्चर्यं यदासीत् तन्निबोध मे॥ १८॥

राजा परीक्षित् दिन-प्रतिदिन अपने पूर्वज पाण्डवोंके आचार-व्यवहार आदि विषयक बातोंको श्रवण किया करते और इसी प्रकार वे उन्हींकी श्रेष्ठ वृत्तियोंका अनुसरण करते हुए दिग्विजय कर रहे थे। तभी सहसा एक आश्चर्यजनक घटना घटित हुई, आप उसे श्रवण करें॥ १८॥

धर्मः पदैकेन चरन् विच्छायामुपलभ्य गाम्।
पृच्छति स्माश्रुवदनां विवत्सामिव मातरम्॥ १९॥

जब धर्म बैलके रूपमें अपने एक पैरसे विचरण कर रहा था, तब उसने एक स्थानपर गायका रूप धारण की हुई पृथ्वीको देखा जो पुत्रके वियोगसे दुःखी माताके समान क्रन्दन कर रही थी। आँसुओंके झरनेसे उसका मुखमण्डल भीगा हुआ था तथा उसकी

कान्ति अत्यन्त मलिन पड़ गयी थी। पृथ्वीको इस अवस्थामें देखकर धर्म उसके पास जाकर पूछने लगा—॥१९॥

श्रीधर्म उवाच—

कच्चिद्भद्रेऽनामयमात्मनस्ते
विच्छायासि म्लायते यन्मुखेन।
आलक्षये भवतीमन्तराधिं
दूरे बन्धुं शोचसि कञ्चनाम्ब॥२०॥

धर्मने पूछा—हे कल्याणि! तुम शारीरिक रूपसे कुशल तो हो न? यद्यपि बाहरसे तो तुममें किसी प्रकारकी व्याधिका चिह्न दिखायी नहीं दे रहा है, किन्तु तुम्हारी यह मलिन कान्ति और शोभाहीन मुख देखकर जान पड़ता है कि तुम्हारे हृदयमें अवश्य ही कोई तीव्र पीड़ा है। हे माता! क्या तुम्हारा कोई सम्बन्धी या बन्धु दूरदेश चला गया है, जिसके लिए तुम इतना शोक कर रही हो?॥२०॥

पादैर्न्यूनं शोचसि मैकपाद-
मुतात्मानं वृषलैर्भोक्ष्यमाणम्।
आहो सुरादीन् हृतयज्ञभागान्
प्रजा उत स्विन्मघवत्यवर्षति॥२१॥

मेरे तीन पैर नहीं रहे हैं और अब मैं केवल एक पैरपर ही खड़ा हूँ—क्या तुम मेरी इस अवस्थाको देखकर चिन्तित हो? अथवा क्या यह सोचकर इतनी दुःखित हो रही हो कि अब शूद्र राजा तुम्हारे ऊपर शासन करेंगे? क्या तुम यह देखकर तो व्याकुल नहीं हो रही हो कि आजकल कोई यज्ञानुष्ठान नहीं करता, अतः देवताओंको आहुति द्वारा उनका यज्ञभाग अर्पित नहीं किया जा रहा है? अथवा यह सोचकर शोकाकुल हो रही हो कि यज्ञभाग प्राप्त न होनेके कारण देवराज इन्द्र अब पहलेकी भाँति वर्षाकालमें वर्षा नहीं करेंगे, जिस कारणसे समस्त प्रजाको अकाल और भुखमरीसे पीड़ित होना पड़ेगा?॥२१॥

अरक्ष्यमाणाः स्त्रियः उर्वि बालान्
शोचस्यथो पुरुषादैरिवार्तान्।

वाचं देवीं ब्रह्मकुले कुकर्म-
ण्यब्रह्मण्ये राजकुले कुलाग्र्यान्॥ २२॥

देवि! वर्त्तमान कालमें पति अपनी स्त्रीकी और पिता अपनी सन्तानोंकी रक्षा नहीं कर रहे हैं, बल्कि राक्षसोंकी भाँति उनके प्रति निर्दय व्यवहार कर रहे हैं। अब (विद्यादेवी) सरस्वती सदाचार-विहीन ब्राह्मणोंकी सेवा कर रही हैं तथा श्रेष्ठ ब्राह्मणगण द्विजद्वेषी क्षत्रियोंके दास बने हुए हैं—क्या इन कारणोंसे तुम शोक कर रही हो?॥ २२॥

किं क्षत्रबन्धून् कलिनोपसृष्टान्
राष्ट्राणि वा तैरवरोपितानि।
इतस्ततो वाशनपानवासः-
स्नानव्यवायोन्मुखजीवलोकम् ॥ २३॥

कलियुगके प्रभाव द्वारा मोहग्रस्त अधम राजा केवल नाम-मात्रके राजा रह गये हैं और वे परवर्तीकालमें बड़े-बड़े राज्योंको भी उजाड़ डालेंगे—क्या यही सोचकर तुम शोक कर रही हो? अथवा सारी प्रजा शास्त्रीय नियमोंका पालन न करके स्वेच्छाचारपूर्वक यहाँ-तहाँ अपनी ही रुचिके अनुरूप भोजन, पान, स्नान, अवस्थान और परस्त्री-सहवासके लिए उन्मुख हो रही है—क्या यह देखकर तुम इतनी शोकग्रस्त हो रही हो?॥ २३॥

यद्वाम्ब ते भूरिभारावतार-
कृतावतारस्य हरेर्धरित्रि।
अन्तर्हितस्य स्मरती विसृष्टा
कर्माणि निर्वाणविलम्बितानि॥ २४॥

हे माता धरति! भगवान् श्रीहरि तुम्हारे ऊपर पड़े हुए प्रबल भारको दूर करनेके लिए ही अवतीर्ण हुए और उन्होंने ऐसी लीलाएँ कीं, जो मोक्षसुखसे भी अधिक आनन्दप्रदायिनी थीं। अब वे श्रीहरि अन्तर्हित हो गये हैं, अतः उनकी समस्त लीलाओंका स्मरण करके ही क्या तुम शोक कर रही हो?॥ २४॥

इदं ममाचक्ष्व तवाधिमूलं
वसुन्धरे येन विकर्शितासि।

कालेन वा ते बलिनां बलीयसा
सुरार्चितं किं हृतमम्ब सौभगम्॥ २५॥

हे वसुन्धरे! तुम्हें ऐसी कौन-सी मानसिक पीड़ा है, जिसके कारण तुम इतनी दुबली हो रही हो। कृपया मुझे अपने कष्टका मूल कारण तो बतलाओ। पूर्वकालमें देवतागण भी तुम्हारे जिस सौभाग्यकी वन्दना किया करते थे, क्या प्रबल बलशाली कालने इस समय तुम्हारे उस सौभाग्यको छीन लिया है?॥ २५॥

श्रीधरण्युवाच—

भवान् हि वेद तत्सर्वं यन्मां धर्मानुपृच्छसि।
चतुर्भिर्वर्तसे येन पादैर्लोकसुखावहैः॥ २६॥

श्रीपृथ्वीने कहा—हे धर्म! आपने मुझसे जो कुछ भी पूछा है, आप स्वयं ही उसके सम्बन्धमें अर्थात् उन भगवान् श्रीकृष्णके सम्बन्धमें सबकुछ जानते हैं, जिनके प्रभावसे पहले आप तप, शौच, दया और सत्य—इन चार चरणोंसे पूर्ण होकर लोगोंके सुखको बढ़ाते हुए अवस्थान करते थे॥ २६॥

सत्यं शौचं दया क्षान्तिस्त्यागः सन्तोष आर्जवम्।
शमो दमस्तपः साम्यं तितिक्षोपरतिः श्रुतम्॥ २७॥
ज्ञानं विरक्तिरैश्वर्यं शौर्यं तेजो बलं स्मृतिः।
स्वातन्त्र्यं कौशलं कान्तिर्धैर्यं मार्दवमेव च॥ २८॥
प्रागल्भ्यं प्रश्रयः शीलं सह ओजो बलं भगः।
गाम्भीर्यं स्थैर्यमास्तिक्यं कीर्तिर्मानोऽनहङ्कृतिः॥ २९॥
एते चान्ये च भगवन् नित्या यत्र महागुणाः।
प्रार्थ्या महत्त्वमिच्छद्भिर्न वियन्ति स्म कर्हिचित्॥ ३०॥
तेनाहं गुणपात्रेण श्रीनिवासेन साम्प्रतम्।
शोचामि रहितं लोकं पाप्मना कलिनेक्षितम्॥ ३१॥

सत्यता, पवित्रता, दया, क्षमा, त्याग, सन्तोष, सरलता, शम (मनकी स्थिरता), दम (इन्द्रियोंका संयम), तप (स्वधर्म), समता, सहनशीलता, उपरति (लाभ आदिमें उदासीन), शास्त्रविचार, ज्ञान,

वैराग्य, ऐश्व र्य, वीरता, तेज, बल, स्मृति (कर्त्तव्य अनुसन्धान), स्वतन्त्रता, कौशल, कान्ति, धैर्य, कोमलता, निर्भीकता, विनय, शील (सु-स्वभाव), सङ्कल्प, उत्साह (ज्ञान इन्द्रियोंकी दक्षता), बल (कर्म इन्द्रियोंकी दक्षता), सौभाग्य, गम्भीरता, स्थिरता, आस्तिकता, कीर्त्ति, गौरव और निरहङ्कारता—महत्त्वाकांक्षी पुरुषोंके द्वारा वाञ्छनीय ये उनतालीस अप्राकृत गुण तथा और भी बहुत-से महान गुण जिनमें नित्य अक्षय रूपमें विद्यमान हैं, उन्हीं समस्त गुणोंके आश्रय, सौन्दर्यके धाम भगवान् श्रीकृष्णने इस समय इस लोकसे अपनी लीला सम्वरण कर ली है और यह संसार पापमय कलियुगकी कुदृष्टिका शिकार हो गया है। यह देखकर मुझे बड़ा शोक हो रहा है॥ २७—३१॥

आत्मानाञ्चानुशोचामि भवन्तञ्चामरोत्तमम्।
देवानृषीन् पितृन् साधून् सर्वान् वर्णांस्तथाश्रमान्॥ ३२॥

हे अमरश्रेष्ठ! आपके लिए, अपने लिए तथा देवता, ऋषि, पितर, साधु और समस्त वर्णों तथा आश्रमोंके मनुष्योंकी दशाकी चिन्ताकर मैं शोकग्रस्त हो रही हूँ॥ ३२॥

ब्रह्मादयो बहुतिथं यदपाङ्गमोक्ष-
कामास्तपः समचरन् भगवत्प्रपन्नाः।
सा श्रीः स्ववासमरविन्दवनं विहाय
यत्पादसौभगमलं भजतेऽनुरक्ता॥ ३३॥

भगवान्के चरणोंमें शरणागत होकर भी ब्रह्मादि देवताओंने जिन लक्ष्मीजीकी किञ्चित् करुणा-कटाक्षको प्राप्त करनेकी आशासे बहुत समय तक तपस्या की थी, वही कमला (लक्ष्मीजी) अपने निवास-स्थान कमलवनका परित्यागकर अनुरागके साथ श्रीकृष्णके अमल-चरणकमलके सौन्दर्यकी निरन्तर सेवा करती हैं॥ ३३॥

तस्याहमब्जकुलिशाङ्कुश-केतुकेतैः
श्रीमत्पदैर्भगवतः समलङ्कृताङ्गी।
त्रीनत्यरोच उपलभ्य ततो विभूतिं
लोकान् स मां व्यसृजदुत्स्मयतीं तदन्ते॥ ३४॥

जिस समय मैं भगवान् श्रीकृष्णके ध्वजा, वज्र, अङ्कुश और कमल आदि चिह्नोंसे चिह्नित श्रीचरणों द्वारा भलीभाँति अलंकृत थी, उस समय त्रिलोकीका समस्त सौन्दर्य मेरी शोभासे पराजित हो गया था, क्योंकि मैं भगवान्‌की समस्त विभूतियोंसे सम्पन्न रहा करती थी। परन्तु जब उन विभूतियोंके नाशका समय उपस्थित हुआ, उस समय तक मुझमें अपने सौभाग्यका बहुत अभिमान होने लगा। ऐसा लगता है कि भगवान्‌ने मेरे उस अभिमानको चूर करनेके लिए ही मेरा त्याग कर दिया है॥ ३४॥

यो वै ममातिभरमासुरवंशराज्ञा-
मक्षौहिणीशतमपानुददात्मतन्त्रः ।
त्वां दुःस्थमूनपदमात्मनि पौरुषेण
सम्पादयन् यदुषु रम्यमविभ्रदङ्गम्॥ ३५ ॥

का वा सहेत विरहं पुरुषोत्तमस्य
प्रेमावलोक-रुचिरस्मितवल्गुजल्पैः ।
स्थैर्यं समानमहरन्मधुमानिनीनां
रोमोत्सवो मम यदङ्घ्रि विटङ्कितायाः॥ ३६ ॥

मैं असुरवंशी राजाओंकी सैकड़ों अक्षौहिणी सेनाओंके प्रबल भारसे पीड़ित हो रही थी। उन परम स्वतन्त्र भगवान्‌ने असुरोंका संहारकर मेरे उस भारका हरण कर लिया था। आप भी तीनों पैरोंसे विरहित हो जानेके कारण दुःखसे पीड़ित हो रहे थे। आपको भी अपने पौरुषके द्वारा स्वस्थ करनेके लिए उन्होंने यदुकुलमें जन्म ग्रहणकर अत्यन्त रमणीय शरीर धारण किया था। भगवान्‌ने अपने प्रेमसे परिपूर्ण चितवन, मनोहर मुसकान और मधुर सम्भाषणसे सत्यभामा आदि मधुमयी मानिनी-कामिनियोंके धैर्य और मानका एक साथ ही हरण कर लिया था। मैं उनके धूलिरूपी परागसे अङ्कित चरणचिह्नोंसे अलंकृत होकर उनके चरण-स्पर्शका अनुभव किया करती थी और आनन्दके कारण दुर्वादि घासोंके छलसे मेरे अङ्ग पुलकित होते थे। अतः उन पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णका विरह कौन-सी कामिनी सहन कर सकती है?॥ ३५-३६॥

तयोरेवं कथयतोः पृथिवीधर्मयोस्तदा।
परीक्षिन्नाम राजर्षिः प्राप्तः प्राचीं सरस्वतीम्॥ ३७॥

पृथ्वी एवं धर्ममें परस्पर इस प्रकारसे वार्त्तालाप चल ही रहा था कि उसी समय राजर्षि परीक्षित् पूर्व दिशाकी ओर प्रवाहित होनेवाली सरस्वती नदीके तटपर स्थित कुरुक्षेत्रमें आ पहुँचे॥ ३७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां प्रथमस्कन्धे पारीक्षिते श्रीधर्मपृथ्वीसंवादो नाम षोडशोऽध्यायः॥

सप्तदशोऽध्यायः

राजा परीक्षित् द्वारा कलिको दण्ड देना एवं अनुग्रह करना

श्रीसूत उवाच—

तत्र गोमिथुनं राजा हन्यमानमनाथवत्।
दण्डहस्तञ्च वृषलं ददृशे नृपलाञ्छनम्॥ १॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—हे शौनकजी! कुरुक्षेत्र पहुँचनेपर राजा परीक्षित्ने देखा कि एक शूद्रने राज-वेषको धारण किया हुआ है और वह अपने हाथमें डण्डा लेकर बैल एवं गायके एक जोड़ेको इस प्रकार पीटता जा रहा है, मानो वे अनाथ हों॥ १॥

वृषं मृणालधवलं मेहन्तमिव बिभ्यतम्।
वेपमानं पदैकेन सीदन्तं शूद्रताडितम्॥ २॥

बैल कमल-नालके समान सफेद वर्णका था और शूद्रकी ताड़नासे उत्पीड़ित एवं भयभीत होकर मूत्र त्याग कर रहा था। वह इतना दुर्बल हो गया था कि एक पैरसे खड़ा हुआ काँप रहा था॥ २॥

गाञ्च धर्मदुघां दीनां भृशं शूद्रपदाहताम्।
विवत्सामश्रुवदनां क्षामां यवसमिच्छतीम्॥ ३॥

उन्होंने और भी देखा कि धर्मके उपयोगी दूध, घी आदि हविष्य पदार्थोंको देनेवाली वह गाय भी शूद्र द्वारा बार-बार मारे जानेवाली पैरोंकी ठोकरसे अत्यन्त पीड़ित हो रही थी। आँसुओंसे उसका मुख इस प्रकार भीगा हुआ था मानो वह अपना बछड़ा मर जानेके कारण रो रही हो। वह अत्यन्त दुबली-पतली थी और भूखी होनेके कारण घास खानेके लिए लालायित थी॥ ३॥

पप्रच्छ रथमारूढः कार्तस्वरपरिच्छदम्।
मेघगम्भीरया वाचा समारोपितकार्मुकः॥ ४॥

रथपर विराजमान राजा परीक्षित्‌ने अपने धनुषपर बाण चढ़ाया और सोनेसे बने कटिबन्धको धारण करनेवाले उस शूद्रको मेघके समान गम्भीर वाणीमें ललकारते हुए उससे पूछने लगे॥ ४॥

कस्त्वं मच्छरणे लोके बलाद्धंस्यबलान् बली।
नरदेवोऽसि वेशेण नटवत् कर्मणाऽद्विजः॥ ५॥

अरे! तू कौन है? तुझमें ऐसी क्या शक्ति है कि तू अपने बलसे गर्वित होकर मेरे राज्यमें मेरे शरणागत दुर्बल प्राणियोंकी हिंसा कर रहा है? तूने अभिनयकारी नटके समान राजाका वेश तो धारण किया हुआ है, परन्तु तेरा कर्म शूद्र जैसा है॥ ५॥

यस्त्वं कृष्णे गते दूरं सह गाण्डीवधन्वना।
शोच्योऽस्यशोच्यान् रहसि प्रहरन् वधमर्हसि॥ ६॥

भगवान् श्रीकृष्णके गाण्डीवधारी अर्जुनके साथ परम धाम पधार जानेके कारण तू इस निर्जन स्थानपर निरपराध प्राणियोंको मारनेका दुस्साहस कर रहा है? अपने इस अपराधके कारण तू वधके ही योग्य है॥ ६॥

त्वं वा मृणालधवलः पादैर्न्यूनः पदा चरन्।
वृषरूपेण किं कश्चिद्देवो नः परिखेदयन्॥ ७॥

पुनः बैलके प्रति लक्ष्य करके राजा परीक्षित् कहने लगे—आप कौन हैं? आपका वर्ण कमल-नालके समान सफेद है। आपके तीन पैर नहीं हैं, आप केवल एक पैरसे ही विचरण कर रहे हैं। क्या आप कोई देवता हैं? आप बैलका रूप धारण करके मुझसे छल तो नहीं कर रहे हैं?॥ ७॥

न जातु कौरवेन्द्राणां दोर्दण्डपरिरम्भिते।
भूतलेऽनुपतन्त्यस्मिन् विना ते प्राणिनां शुचः॥ ८॥

कुरुवंशके श्रेष्ठ वीरोंकी भुजाओंके बलसे सुरक्षित इस राज्यमें मैंने आपके अतिरिक्त किसी भी प्राणीकी आँखोंसे कभी भी शोकके आँसू बहते हुए नहीं देखे हैं॥ ८॥

मा सौरभेयात्र शुचो व्येतु ते वृषलाद्भयम्।
मा रोदीरम्ब भद्रं ते खलानां मयि शास्तरि॥ ९॥

हे सुरभिनन्दन! अब और शोक न कीजिये। इस शूद्रसे और भयभीत होनेकी आवश्यकता नहीं है। (पुनः गायको लक्ष्यकर कहने लगे—)हे गोमाता! आप भी और न रोयें। दुष्टोंको दण्ड देनेवाला शासक मैं अभी जीवित हूँ, अतः आपका कल्याण ही होगा॥ ९॥

यस्य राष्ट्रे प्रजाः सर्वास्त्रस्यन्ते साध्व्यसाधुभिः।
तस्य मत्तस्य नश्यन्ति कीर्तिरायुर्भगो गतिः॥ १०॥

हे साध्वि! जिस राजाके राज्यमें प्रजाएँ दुष्ट व्यक्तियोंके द्वारा अत्यन्त पीड़ित रहती हों, उस मदमत्त दुराचारी राजाके यश, परमायु, सौभाग्य और परलोक आदि सभी कुछ नष्ट हो जाते हैं॥ १०॥

एष राज्ञः परो धर्मो ह्यार्तानामार्तिनिग्रहः।
अत एनं वधिष्यामि भूतद्रुहमसत्तमम्॥ ११॥

जो त्रस्त एवं पीड़ित हैं, उनके भय और दुःखको दूर करना ही राजाका परम धर्म है। यह राजवेशधारी दुष्टोंका सरदार है और प्राणियोंकी हिंसा करनेवाला है, अतएव मैं अभी इसके प्राणोंका संहार करूँगा॥ ११॥

कोऽवृश्चत् तव पादांस्त्रीन् सौरभेय चतुष्पद।
मा भूवंस्त्वादृशो राष्ट्रे राज्ञां कृष्णानुवर्तिनाम्॥ १२॥

(महाराज परीक्षित्‌ने पुनः बैलको सम्बोधित करते हुए पूछा—)हे सुरभि-पुत्र! तुम तो चार पैरवाले प्राणी हो, अतः तुम्हारे अन्य तीन पैरोंको किसने काट डाला? श्रीकृष्णके अनुवर्ती कौरववंशके राजाओंके राज्यमें तुम्हारे जैसा दुःख तो कभी किसीको भी नहीं हुआ॥ १२॥

आख्याहि वृष भद्रं वः साधूनामकृतागसाम्।
आत्मवैरूप्यकर्तारं पार्थानां कीर्तिदूषणम्॥ १३॥

हे वृष! निरपराधी और साधु-स्वभाववाले तुम्हारा मङ्गल हो। किस दुष्ट व्यक्तिने तुम्हारे तीन पैरोंको काटकर तुम्हें विरूप कर दिया

है? अथवा कृपया मुझे उसका नाम तो बतलाइये, जिसने पाण्डवोंकी कीर्त्तिको कलङ्कित किया है?॥ १३॥

जनेऽनागस्यघं युञ्जन् सर्वतोऽस्य च मद्भयम्।
साधूनां भद्रमेव स्यादसाधुदमने कृते॥ १४॥

जो व्यक्ति निरपराध प्राणियोंको कष्ट प्रदान करता है, वह अवश्य ही सब प्रकारसे मेरे द्वारा भयभीत रहता है। दुष्टोंका दमन करनेसे ही साधुओंका कल्याण होता है॥ १४॥

अनागःस्विह भूतेषु य आगस्कृन्निरङ्कुशः।
आहर्तास्मि भुजं साक्षादमर्त्यस्यापि साङ्गदम्॥ १५॥

जिस उद्दण्ड व्यक्तिने निरपराध प्राणियोंको दुःख देकर अपराध किया है, वह चाहे साक्षात् देवता ही क्यों न हो, मैं उसकी बाजूबन्द और अन्य आभरणोंसे विभूषित भुजाओंको काट डालूँगा॥ १५॥

राज्ञो हि परमो धर्मः स्वधर्मस्थानुपालनम्।
शासतोऽन्यान् यथाशास्त्रमनापद्युत्पथानिह॥ १६॥

जो विपत्तिकालके बिना ही शास्त्रोंकी मर्यादाका उल्लंघन करके विपथगामी होते हैं, उन्हें शास्त्रानुसार दण्ड देना तथा जो शास्त्रके अनुसार अपने-अपने धर्ममें स्थित रहते हैं, उन लोगोंका पालन करना राजाका परम धर्म है॥ १६॥

श्रीधर्म उवाच—

एतद्वः पाण्डवेयानां युक्तमार्ताभयं वचः।
येषां गुणगणैः कृष्णो दौत्यादौ भगवान् कृतः॥ १७॥

श्रीधर्मने कहा—राजन्! जिन पाण्डवोंके श्रेष्ठ गुणोंसे आकृष्ट होकर भगवान् श्रीकृष्णने उनका सारथी और दूत बनना स्वीकार किया था, आप उन्हीं पाण्डवोंके वंशज हैं, इसलिए हम जैसे दुःखित व्यक्तियोंके प्रति इस प्रकारसे अभय प्रदान करना आपके योग्य ही है॥ १७॥

न वयं क्लेशबीजानि यतः स्युः पुरुषर्षभ।
पुरुषं तं विजानीमो वाक्यभेदविमोहिताः॥ १८॥

हे पुरुषश्रेष्ठ! शास्त्रोंके विविध वचनोंमें भेदवशतः विमोहित होनेके कारण हमारे लिए यह निश्चित करना अत्यन्त कठिन है कि कौन व्यक्ति प्राणियोंके ऐसे क्लेशोंका मूल कारण है॥ १८॥

केचिद्विकल्पवसना आहुरात्मानमात्मनः।
दैवमन्येऽपरे कर्म स्वभावमपरे प्रभुम्॥ १९॥

जो लोग विकल्प अर्थात् भेदज्ञानको आवृत करते हैं, ऐसे कोई-कोई (योगी) कहते हैं कि जीव स्वयं ही अपने सुख-दुःखका कर्त्ता है। अन्य कोई-कोई दैव (प्रारब्ध) को ही सुख-दुःखका प्रदाता मानते हैं। पुनः कोई-कोई (मीमांसक) कर्मको ही सुख-दुःखका कारण मानते हैं। दूसरे कोई-कोई (लोकायतिक या निरीश्वर सांख्य) स्वभाव या प्रकृतिको ही हमारे सुख-दुःखका प्रभु बतलाते हैं॥ १९॥

अप्रतर्क्यादनिर्देश्यादिति केष्वपि निश्चयः।
अत्रानुरूपं राजर्षे विमृश स्वमनीषया॥ २०॥

कोई-कोई ऐसा भी कहते हैं कि सुख-दुःखादि सभी कुछ वाणी और मन (तर्क) के अगोचर किसी अनिर्देश्य कारण अर्थात् परमेश्वरसे ही प्राप्त होता है। अतएव हे वैष्णवराज! जो सिद्धान्त समुचित हो, उसे आप स्वयं ही अपनी वैष्णवी बुद्धिके द्वारा विचार कीजिये॥ २०॥

श्रीसूत उवाच—

एवं धर्मे प्रवदति स सम्राड् द्विजसत्तमाः।
समाहितेन मनसा विखेदः पर्यचष्ट तम्॥ २१॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—हे द्विजश्रेष्ठ शौनक! धर्मके इस प्रकार कहनेके बाद सम्राट परीक्षित् विशेष मनोयोगपूर्वक चिन्तन करते हुए मोह रहित हो गये और प्रसन्न होकर उनसे कहने लगे॥ २१॥

श्रीराजोवाच—

धर्मं ब्रवीषि धर्मज्ञ धर्मोऽसि वृषरूपधृक्।
यदधर्मकृतः स्थानं सूचकस्यापि तद्भवेत्॥ २२॥

हे धर्मके तत्त्वको जाननेवाले बैल! यद्यपि आप स्वयं निरपराधी हैं तथा अपने अनिष्ट करनेवालेका नाम जानते हैं, तथापि मेरे पूछनेपर भी आपने मुझे उसका नाम नहीं बतलाया। धर्मशास्त्रमें कथित है कि अधार्मिक तथा पापाचारियोंको जो-जो नरकादि स्थान प्राप्त होते हैं, अधर्मकी सूचना अर्थात् निर्देश करनेवालेको भी वैसी ही निम्नगति प्राप्त होती है। आप तो धर्मकी बातें बतला रहे हैं, इसलिए बैलके रूपमें आप निश्चय ही साक्षात् धर्म हैं॥ २२॥

अथवा देवमायाया नूनं गतिरगोचरा।
चेतसो वचसश्चापि भूतानामिति निश्चयः॥ २३॥

अथवा यही सिद्धान्त निश्चित है कि प्राणियोंके मन और वाणीसे दैवी (परमेश्वरकी) मायाके स्वरूप अर्थात् गतिका निरूपण नहीं किया जा सकता॥ २३॥

तपः शौचं दया सत्यमिति पादाः कृते कृताः।
अधर्मांशैस्त्रयो भग्नाः स्मय-सङ्ग-मदैस्तव॥ २४॥

हे धर्म! सत्ययुगमें तपस्या, शौच, दया और सत्यतारूप आपके चारों चरण थे। परन्तु अब गर्व, स्त्रीमें आसक्ति और मद्यपानसे उत्पन्न मत्तता—अधर्मके इन तीन अंशों द्वारा आपके तपः, शौच और दया—ये तीन चरण नष्ट हो गये हैं॥ २४॥

इदानीं धर्म पादस्ते सत्यं निर्वर्तयेद् यतः।
तं जिघृक्षत्यधर्मोऽयमनृतेनैधितः कलिः॥ २५॥

हे धर्म! इस समय आपके चारों चरणोंमेंसे केवल एक सत्यरूप चरण ही बाकी रह गया है। इस सत्यरूप चरणके कारण ही आप किसी प्रकार जीवन धारण कर रहे हैं, परन्तु यह अधर्मरूपी कलि क्रमशः असत्य द्वारा संवर्धित होकर आपके इस चरणको भी नष्टकर देना चाहता है॥ २५॥

इयं भूमिर्भगवता न्यासितोरुभरा सती।
श्रीमद्भिस्तत्पदन्यासैः सर्वतः कृतकौतुका॥ २६॥

ये गौ रूपमें साक्षात् पृथ्वीदेवी हैं। श्रीभगवान्‌ने इनका बहुत भारी बोझ हरण कर लिया था। जब तक भगवान् श्रीकृष्ण इनके ऊपर असीम सौन्दर्य बिखेरनेवाले अपने श्रीचरणोंको रखा करते थे, तब तक ये समस्त प्रकारकी शोभाओंसे युक्त थीं॥ २६॥

शोचत्यश्रुकला साध्वी दुर्भगेवोज्झिता सती।
अब्रह्मण्या नृपव्याजाः शूद्रा भोक्ष्यन्ति मामिति॥ २७॥

अब ये पृथ्वी श्रीकृष्णके द्वारा परित्यक्त होकर अभागिनीके समान रो रही हैं। इन साध्वीके नेत्रोंसे इस चिन्ताके कारण आँसू बह रहे हैं कि अब ब्राह्मणोंका अहित करनेवाले शूद्र राजा बनकर इसका भोग करेंगे॥ २७॥

श्रीसूत उवाच—

इति धर्मं महीञ्चैव सान्त्वयित्वा महारथः।
निशातमाददे खड्गं कलयेऽधर्महेतवे॥ २८॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—इस प्रकार राजा परीक्षित्‌ने धर्म और पृथ्वीको सान्त्वना प्रदान की। इसके बाद उन्होंने अधर्मके कारणरूप कलिका विनाश करनेके लिए हाथमें तीक्ष्ण तलवार उठा ली॥ २८॥

तं जिघांसुमभिप्रेत्य विहाय नृपलाञ्छनम्।
तत्पादमूलं शिरसा समगाद्भयविह्वलः॥ २९॥

तब कलि समझ गया कि राजा परीक्षित् तो अब मुझे मार ही डालना चाहते हैं, अतः तुरन्त उसने अपना राजवेश उतार डाला और भयसे व्याकुल होकर राजा परीक्षित्‌के चरणोंमें अपना सिर रख दिया॥ २९॥

पतितं पादयोर्वीरः कृपया दीनवत्सलः।
शरण्यो नावधीत् श्लोक्य आह चेदं हसन्निव॥ ३०॥

दीनवत्सल, शरणागतपालक, यशस्वी और महावीर महाराज परीक्षित्‌ने कलिको अपने चरणोंमें पड़ा हुआ देखकर कृपावशतः उसका वध नहीं किया और मन्द हास्य सहित उससे कहने लगे— ॥ ३०॥

श्रीराजोवाच—

न ते गुडाकेशयशोधराणां
बद्धाञ्जलेर्वै भयमस्ति किञ्चित्।
न वर्तितव्यं भवता कथञ्चन
क्षेत्रे मदीये त्वमधर्मबन्धुः॥ ३१॥

महाराज परीक्षित्‌ने कहा—हे कलि! निद्राको जीतनेवाले अर्जुनके वंशज मेरे निकट हाथ जोड़कर शरणागत हुए तुम्हें किसी भी प्रकारके भयकी आशङ्का नहीं करनी चाहिये। किन्तु तुम अधर्मके प्रधान सहचर हो, इसलिए तुम मेरे द्वारा शासित राज्यमें किसी भी स्थानपर रह नहीं पाओगे॥ ३१॥

त्वां वर्तमानं नरदेवदेहे-
ष्वनुप्रवृत्तोऽयमधर्मपूगः ।
लोभोऽनृतं चौर्यमनार्यमंहो
ज्येष्ठा च माया कलहश्च दम्भः॥ ३२॥

तुम्हारे द्वारा मनुष्य अथवा देवताओंके शरीरमें रहनेसे तुम्हारे पीछे-पीछे लोभ, असत्य, चोरी, दुर्जनता, स्वधर्म-त्याग, दरिद्रता, कपटता, कलह एवं दम्भ आदि अधर्म समूह वहाँ प्रवेश करते हैं॥ ३२॥

न वर्तितव्यं तदधर्मबन्धो
धर्मेण सत्येन च वर्तितव्ये।
ब्रह्मावर्ते यत्र यजन्ति यज्ञै-
र्यज्ञेश्वरं यज्ञवितानविज्ञाः॥ ३३॥

यस्मिन् हरिर्भगवानिज्यमान
इज्यात्ममूर्तिर्यजतां शं तनोति।
कामानमोघान् स्थिरजङ्गमाना-
मन्तर्बहिर्वायुरिवैष आत्मा॥ ३४॥

अतः हे अधर्मके बन्धु! इस क्षेत्रमें यज्ञविधिके विस्तारमें निपुण महात्मागण यज्ञोंके द्वारा निरन्तर यज्ञेश्वर भगवान् श्रीहरिकी आराधना

करते रहते हैं। वायुकी भाँति समस्त चराचर जीवोंमें एक ही साथ भीतर और बाहर रहनेवाले वे सबके अन्तर्यामी भगवान् श्रीहरि इस देशमें यज्ञोंके रूपमें निवास करते हैं, यज्ञोंके द्वारा उनकी पूजा होती है तथा वे यज्ञ करनेवालोंको नित्य मङ्गल प्रदानकर उनकी समस्त कामनाओंको पूर्ण करते हैं। अतः धर्म और सत्यके निवास स्थान इस ब्रह्मावर्तमें तू एक क्षणके लिए भी न ठहरना॥ ३३-३४॥

श्रीसूत उवाच—

परीक्षितैवमादिष्टः स कलिर्जातवेपथुः।
तमुद्यतासिमाहेदं दण्डपाणिमिवोद्यतम्॥ ३५॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—राजा परीक्षित्के इस प्रकारके आदेशोंको सुनकर कलि भयसे काँप उठा। उस समय हाथमें तलवार लेकर यमराजके समान मारनेके लिए उद्यत महाराज परीक्षित्से उसने इस प्रकार कहा—॥ ३५॥

कलिरुवाच—

यत्र क्व वाथ वत्स्यामि सार्वभौम तवाज्ञया।
लक्षये तत्र तत्रापि त्वामात्तेषुशरासनम्॥ ३६॥

कलिने कहा—हे पृथ्वीके एकमात्र सम्राट! मैं आपकी आज्ञाके अनुसार जिस किसी भी स्थानपर वास करनेका विचार करता हूँ, उन समस्त स्थानोंपर ही आप मुझे धनुषपर बाण चढ़ाये हुए दिखायी देते हैं॥ ३६॥

तन्मे धर्मभृतां श्रेष्ठ स्थानं निर्देष्टुमर्हसि।
यत्रैव नियतो वत्स्ये आतिष्ठंस्तेऽनुशासनम्॥ ३७॥

अतएव हे धार्मिकोंमें अग्रगण्य! आप ही ऐसा कोई स्थान निर्दिष्ट कीजिये, जिस स्थानपर मैं स्थिरचित्तसे आपकी आज्ञाका पालन करते हुए वास कर सकूँ॥ ३७॥

श्रीसूत उवाच—

अभ्यर्थितस्तदा तस्मै स्थानानि कलये ददौ।
द्यूतं पानं स्त्रियः सूना यत्राधर्मश्चतुर्विधः॥ ३८॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—कलिकी इस प्रार्थनाको सुनकर राजा परीक्षित्‌ने उसके उपयोगी ये चार स्थान उसे प्रदान किये—द्यूत (जुआ), मद्यपान, (अवैद्य) स्त्री-सङ्ग और हिंसा। इन चारों स्थानोंपर असत्य, तपस्यानाश, अपवित्रता और क्रूरता—ये चार अधर्म वास करते हैं॥ ३८॥

पुनश्च याचमानाय जातरूपमदात् प्रभुः।
ततोऽनृतं मदं कामं रजो वैरञ्च पञ्चमम्॥ ३९॥

चार स्थानोंको प्राप्त करके भी कलिके पुनः याचना करनेपर दण्ड देने और कृपा करनेमें समर्थ राजा परीक्षित्‌ने उसे रहनेके लिए पाँचवाँ स्थान स्वर्ण (धन) प्रदान कर दिया। इस प्रकारसे कलिके पास रहनेके लिए असत्य, अहङ्कार, काम, रजोगुणकी मूल प्रवृत्ति हिंसा और शत्रुता—ये पाँच स्थान हो गये॥ ३९॥

अमूनि पञ्च स्थानानि ह्यधर्मप्रभवः कलिः।
औत्तरेयेण दत्तानि न्यवसत् तन्निदेशकृत्॥ ४०॥

अधर्मको उत्पन्न करनेवाला कलि उत्तरानन्दन राजर्षि परीक्षित्‌की आज्ञाके अनुसार उनके द्वारा दिये गये इन पाँचों स्थानोंपर जाकर वास करने लगा॥ ४०॥

अथैतानि न सेवेत बुभूषुः पुरुषः क्वचित्।
विशेषतो धर्मशीलो राजा लोकपतिर्गुरुः॥ ४१॥

अतएव जो पुरुष आत्म-कल्याणकी कामना करते हैं, उन्हें इन पाँचों स्थानोंका सेवन नहीं करना चाहिये। विशेषतः धार्मिक व्यक्ति, राजा, प्रजापालक लोक-नेता और धर्मोपदेष्टा गुरुओंके लिए तो इन सब स्थानोंसे सम्पर्क रखना भी सर्वथा अनुचित है॥ ४१॥

वृषस्य नष्टांस्त्रीन् पादांस्तपः शौचं दयामिति।
प्रतिसन्दध आश्वास्य महीञ्च समवर्द्धयत्॥ ४२॥

इसके बाद महाराज परीक्षित्‌ने बैलका रूप धारण करनेवाले धर्मके तप, शौच और दयारूप तीनों टूटे हुए पैरोंको पुनः जोड़ दिया और पृथ्वीको अपने आश्वासन-वचनोंसे संवर्धित किया॥ ४२॥

स एष एतर्ह्यध्यास्ते आसनं पार्थिवोचितम्।
पितामहेनोपन्यस्तं राज्ञारण्यं विविक्षता॥ ४३॥

इस प्रकार वे ही महाराज परीक्षित् इस समय अपने पितामह महाराज युधिष्ठिर द्वारा गृहत्याग कर वन जाते समय प्रदान किये गये राजसिंहासनपर विराजमान हैं॥[१]४३॥

आस्तेऽधुना स राजर्षिः कौरवेन्द्रश्रियोल्लसन्।
गजाह्वये महाभागश्चक्रवर्ती बृहच्छ्रवाः॥ ४४॥

अब वे ही परम भाग्यशाली, परमयशस्वी, चक्रवर्ती सम्राट राजर्षि परीक्षित् कौरव-कुलकी राजलक्ष्मीसे अत्यधिक दीप्तिशाली होकर हस्तिनापुरमें रह रहे हैं॥ ४४॥

इत्थम्भूतानुभावोऽयमभिमन्युसुतो नृपः।
यस्य पालयतः क्षोणीं यूयं सत्राय दीक्षिताः॥ ४५॥

अभिमन्युपुत्र राजा परीक्षित् वास्तवमें ऐसे महान गुणोंसे सम्पन्न हैं कि उनके द्वारा पृथ्वीपर शासन किये जानेके कारण ही आपलोग यज्ञमें दीक्षित हो सके हैं॥ ४५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां प्रथमस्कन्धे पारीक्षिते कलिनिग्रहो नाम सप्तदशोऽध्यायः॥

---

[१] श्लोक ४३ से ४५ तक वर्त्तमान कालका प्रयोग किया गया है। संस्कृत व्याकरणके अनुसार कभी-कभी वर्त्तमान कालका प्रयोग निकटवर्ती भूतकाल और भविष्यत्-कालको सूचित करनेके लिए भी किया जाता है।

अष्टादशोऽध्यायः

राजा परीक्षित्‌को शृङ्गी ऋषिका शाप

श्रीसूत उवाच—

यो वै द्रौण्यस्त्रविप्लुष्टो न मातुरुदरे मृतः।
अनुग्रहाद्भगवतः कृष्णस्याद्भुतकर्मणः॥ १॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—हे मुनियो! जब परीक्षित् अपनी माताके गर्भमें थे, तब द्रोणाचार्यके पुत्र अश्वत्थामाने उनपर ब्रह्मास्त्र चलाया था, जिससे वे दग्ध हो गये थे। परन्तु अद्भुत कार्य करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णके अनुग्रहसे वे मृत्युके मुखमें जानेसे बच गये॥ १॥

ब्रह्मकोपोत्थिताद् यस्तु तक्षकात् प्राणविप्लवात्।
न सम्मुमोहोरुभयाद्भगवत्यर्पिताशयः॥ २॥

जब ब्राह्मणके शापसे तक्षक महाराज परीक्षित्‌को डसनेके लिए आया, उस समय वे प्राणनाशके महान भयसे भी मोहित नहीं हुए, क्योंकि वे सर्वान्तःकरणसे भगवान्‌के चरणोंमें समर्पित थे॥ २॥

उत्सृज्य सर्वतः सङ्गं विज्ञाताजित-संस्थितिः।
वैयासकेर्जहौ शिष्यो गङ्गायां स्वं कलेवरम्॥ ३॥

व्यासपुत्र श्रीशुकदेव गोस्वामीके शिष्य महाराज परीक्षित्‌ने भगवत्-तत्त्वको भलीभाँति जानकर समस्त प्रकारकी आसक्तियोंका परित्यागकर गङ्गाके तटपर अपने शरीरका परित्याग किया था॥ ३॥

नोत्तमःश्लोकवार्तानां जुषतां तत्कथामृतम्।
स्यात् सम्भ्रमोऽन्तकालेऽपि स्मरतां तत्पदाम्बुजम्॥ ४॥

महाराज परीक्षित् अपने अन्तिम समयमें भी श्रीहरिका स्मरण कर रहे थे। इसमें किसी प्रकारका भी आश्चर्य नहीं है, क्योंकि जो लोग उत्तमश्लोक भगवान्‌की लीला-कथाओंमें ही निरन्तर डूबे रहते हैं,

अर्थात् जो लोग सदैव भगवत्-कथारूप अमृतका पान करते हैं और उनके चरणकमलोंका स्मरण करते हैं, मृत्युके समय भी उनकी बुद्धि भ्रमित नहीं होती है॥ ४॥

तावत् कलिर्न प्रभवेत् प्रविष्टोऽपीह सर्वतः।
यावदीशो महानुर्व्यामाभिमन्यव एकराट्॥ ५॥

यद्यपि कलियुग पहलेसे ही इस पृथ्वीपर सर्वत्र प्रविष्ट हो गया था, परन्तु महानुभव चक्रवर्ती अभिमन्युनन्दन महाराज परीक्षित्के शासनकालमें वह अपने प्रभावका विस्तार करनेमें समर्थ नहीं हुआ॥ ५॥

यस्मिन्नहनि यर्ह्येव भगवानुत्ससर्ज गाम्।
तदैवेहानुवृत्तोऽसावधर्मप्रभवः कलिः॥ ६॥

जिस दिन और जिस क्षणमें भगवान् श्रीकृष्णने इस धरा-धामका परित्याग किया था, उसी दिन और उसी मुहूर्त्तमें ही अधर्मके मूल कारण कलिका इस जगत्में प्रवेश हुआ॥ ६॥

नानुद्वेष्टि कलिं सम्राट् सारङ्ग इव सारभुक्।
कुशलान्याशु सिध्यन्ति नेतराणि कृतानि यत्॥ ७॥

सम्राट परीक्षित्ने कलिका वध नहीं किया, क्योंकि वे भ्रमरके समान सारग्राही थे। उन्होंने देखा कि कलियुगमें श्रीभगवान्के नामोंका कीर्त्तनादिरूप शुभकर्म सङ्कल्प करनेमात्रसे ही सफल हो जाता है, परन्तु कलिकालमें पापकर्मका फल शरीरसे करनेपर ही मिलता है, सङ्कल्प करनेमात्रसे नहीं॥ ७॥

किन्नु बालेषु शूरेण कलिना धीरभीरुणा।
अप्रमत्तः प्रमत्तेषु यो वृको नृषु वर्तते॥ ८॥

राजा परीक्षित्का एक और अभिप्राय भी था कि कलि स्वयं सावधान रहकर अविवेकी असावधान लोगोंपर ही सिंहके समान अपना प्रभाव दिखला सकता है। अतः ऐसे पराक्रमशाली कलिसे फिर क्या क्षति हो सकती है, क्योंकि धीर, विवेकी और भक्तोंसे तो

कलि स्वयं ही भयभीत रहता है। जिस प्रकार भेड़िया बालकपर ही आक्रमण कर सकता है, उसी प्रकार कलि भी असावधान व्यक्तियोंपर ही अपनी वीरता दिखला सकता है॥ ८॥

उपवर्णितमेतद्वः पुण्यं पारीक्षितं मया।
वासुदेवकथोपेतमाख्यानं यदपृच्छत॥ ९॥

हे शौनकादि ऋषियो! आपने मुझसे भगवान् श्रीवासुदेवकी कथासे युक्त राजा परीक्षित्‌का जो पवित्र चरित्र पूछा था, उसे मैंने आपके समक्ष वर्णन किया है॥ ९॥

या याः कथा भगवतः कथनीयोरुकर्मणः।
गुणकर्माश्रयाः पुंभिः संसेव्यास्ता बुभूषुभिः॥ १०॥

भगवान् श्रीकृष्णके अद्भुत चरित्र सभी जीवोंके द्वारा कीर्त्तन एवं श्रवण करने योग्य हैं। आत्म-कल्याणके इच्छुक व्यक्तियोंको उनके गुण और कर्मोंको सूचित करनेवाली कथाओंका भलीभाँति सेवन करना चाहिये॥ १०॥

श्रीऋषय ऊचुः—

सूत जीव समाः सौम्य शाश्वतीर्विशदं यशः।
यस्त्वं शंससि कृष्णस्य मर्त्त्यानाममृतं हि नः॥ ११॥

ऋषियोंने कहा—हे सौम्य श्रीसूत! आप अनन्तकाल तक जीवित रहें, क्योंकि आप हमारे जैसे मरणशील मनुष्योंके लिए मृत्युका भय दूर करनेवाला श्रीकृष्णके अमृतमय उज्ज्वल विशुद्ध यशका कीर्त्तन कर रहे हैं॥ ११॥

कर्मण्यस्मिन्ननाश्वासे धूमधूम्रात्मनां भवान्।
आपाययति गोविन्दपादपद्मासवं मधु॥ १२॥

हम जिस दीर्घ यज्ञका अनुष्ठान कर रहे थे, उसके धुएँसे हमलोगोंका शरीर धूमिल हो गया है। ऐसे यज्ञमें बहुत प्रकारके विघ्नोंकी सम्भावनाके कारण फल प्राप्तिके विषयमें कोई निश्चयता नहीं है। हमारी धूएँ द्वारा धूमिल ऐसी अवस्थामें तो आप भगवान्

श्रीगोविन्दके चरणकमलोंके मादक एवं मधुर मकरन्दका पान कराके हमें पूर्ण रूपसे स्वस्थ कर रहे हैं॥ १२॥

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥ १३॥

भगवान्के प्रेमीभक्तोंके लवमात्रकालके सत्सङ्गसे जीवोंका जो असीम मङ्गल साधित होता है, उससे स्वर्ग और मोक्षकी भी तुलना नहीं की जा सकती, फिर मरणशील मनुष्योंके तुच्छ राज्यादि भोगोंकी तो बात ही क्या है?॥ १३॥

को नाम तृप्येद्रसवित् कथायां
महत्तमैकान्तपरायणस्य ।
नान्तं गुणानामगुणस्य जग्मु-
र्योगेश्वरा ये भवपाद्ममुख्याः॥ १४॥

ऐसा कौन-सा रसज्ञ व्यक्ति होगा, जो परम श्रेष्ठ महापुरुषोंके एकमात्र जीवन-सर्वस्व श्रीकृष्णकी लीला-कथाओंसे तृप्त हो जाये? समस्त प्राकृतगुणोंसे अतीत भगवान्के अचिन्त्य अनन्त कल्याणमय गुणोंका पार तो ब्रह्मा, शङ्कर आदि बड़े-बड़े योगेश्वर भी नहीं पा सके॥ १४॥

तन्नो भवान् वै भगवत्प्रधानो
महत्तमैकान्तपरायणस्य ।
हरेरुदारं चरितं विशुद्धं
शुश्रूषतां नो वितनोतु विद्वन्॥ १५॥

अतएव हे विद्वन्! आप परम भागवत हैं और हम श्रवणके अभिलाषी श्रद्धालु श्रोता हैं। अतएव आप श्रेष्ठ पुरुषोंके एकमात्र आश्रय श्रीहरिके विशुद्ध और उदार चरित्रोंका विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिये॥ १५॥

स वै महाभागवतः परीक्षिद्-
येनापवर्गाख्यमदभ्रबुद्धिः ।

ज्ञानेन वैयासकिशब्दितेन
भेजे खगेन्द्रध्वजपादमूलम्॥ १६॥

महाभागवत और महाबुद्धिमान परीक्षित्‌ने व्यासनन्दन श्रीशुकदेवसे भगवत्-चरित्ररूप ज्ञान प्राप्त करके गरुड़ध्वज श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी प्राप्तिरूप मोक्षफल प्राप्त किया था॥ १६॥

तन्नः परं पुण्यमसंवृतार्थ-
माख्यानमत्यद्भुतयोगनिष्ठम्।
आख्याह्यनन्ताचरितोपपन्नं
पारीक्षितं भागवताभिरामम्॥ १७॥

हे सूत गोस्वामी! श्रीव्यासनन्दन द्वारा महाराज परीक्षित्‌के लिए वर्णित अद्भुत श्रीमद्भागवत आख्यानका आप हमारे लिए यथायथ रूपसे वर्णन कीजिये। यह आख्यान निश्चय ही परम पवित्र भक्ति-योग-निष्ठ होगा तथा इसमें श्रीकृष्णकी उन अपार लीला-कथाओंका पद-पदपर वर्णन किया गया होगा, जो भगवान्‌के प्रेमी भक्तोंके लिए अत्यधिक प्रिय और रमणीय हैं॥ १७॥

श्रीसूत उवाच—

अहो वयं जन्मभृतोऽद्य हास्म
वृद्धानुवृत्त्यापि विलोमजाताः।
दौष्कुल्यमाधिं विधुनोति शीघ्रं
महत्तमानामभिधानयोगः ॥ १८॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—अहो! आज मैं धन्य हो गया। यद्यपि मैं विलोम[१] जातिमें उत्पन्न वर्णसङ्कर हूँ, तथापि महात्माओंकी सेवाके उद्देश्यसे भगवान्‌के गुणोंका वर्णनकर ज्ञानवृद्ध श्रीशुकदेव गोस्वामीका अनुसरण करके मेरा जन्म सफल हो गया। नीच जातिमें जन्म लेनेके कारण जो मानसिक पीड़ा होती है, वह महापुरुषोंके साथ भगवत्-यशोगानरूप सम्भाषण करनेमात्रसे शीघ्र ही मिट जाती है॥ १८॥

---

[१] उच्च वर्णकी माता और निम्न कुलके पिता द्वारा उत्पन्न सन्तानको 'विलोमज' कहते हैं। सूत जाति ब्राह्मणकुलकी माता और क्षत्रियकुलके पितासे उत्पन्न हुई है।

कुतः पुनर्गृणतो नाम तस्य
महत्तमैकान्तपरायणस्य ।
योऽनन्तशक्तिर्भगवाननन्तो
महद्गुणत्वाद् यमनन्तमाहुः॥ १९॥

महापुरुषोंके एकान्त परम-आश्रय भगवान् श्रीकृष्णके नामोंका उच्चारण करनेसे नीच कुलमें जन्मके कारण होनेवाले मानसिक कष्ट अवश्य ही दूर हो जाते हैं, इस विषयमें मैं और अधिक क्या कहूँ? भगवान्‌की शक्ति अनन्त है, वे स्वयं भी अनन्त हैं, उनके गुणोंकी अनन्तताके कारण लोग उन्हें अनन्त कहते हैं॥ १९॥

एतावतालं ननु सूचितेन
गुणैरसाम्यानतिशायनस्य ।
हित्वेतरान् प्रार्थयतो विभूति-
र्यस्याङ्घ्रिरेणुं जुषतेऽनभीप्सोः॥ २०॥

पुनः श्रीकृष्णके माहात्म्यका विस्तारसे वर्णन करनेका भी क्या प्रयोजन है? उनके गुणोंकी समानता किसीमें नहीं है, तब फिर किसीमें उनसे अधिक गुणोंके होनेका प्रश्न ही नहीं उठता। जिन श्रीलक्ष्मीदेवीकी कृपा प्राप्त करनेके लिए ब्रह्मादि देवता निरन्तर प्रार्थना करते हैं, वे लक्ष्मीदेवी उन ब्रह्मादि देवताओंका परित्याग करके भगवान्‌के न चाहनेपर भी उनके चरणकमलोंकी रजकी ही सेवा करती हैं॥ २०॥

अथापि यत्पादनखावसृष्टं
जगद्विरिञ्चोपहृतार्हणाम्भः ।
सेशं पुनात्यन्यतमो मुकुन्दात्
को नाम लोके भगवत्पदार्थः॥ २१॥

श्रीभगवान्‌के चरणोंको धोनेके लिए ब्रह्माजीने जो जल समर्पित किया था, वही जल उनके चरण-नखोंके स्पर्शसे गङ्गाके रूपमें महादेव सहित सम्पूर्ण जगत्‌को पवित्र करता है। इस जगत्‌में उन भगवान् मुकुन्दके अतिरिक्त और कौन भगवान् कहलानेके योग्य हो सकता है?॥ २१॥

यत्रानुरक्ताः सहसैव धीरा
व्यपोह्य देहादिषु सङ्गमूढम्।
व्रजन्ति तत् पारमहंस्यमन्त्यं
यस्मिन्नहिंसोपशमः स्वधर्मः॥ २२॥

उन भगवान्में अनुरक्त होकर धीर मनीषिगण बिना किसी संकोचके सहसा ही देह और गृहकी आसक्तिका परित्यागकर सभी आश्रमोंकी चरम सीमास्वरूप उस परमहंस आश्रमको प्राप्त होते हैं, जिसमें मात्सर्यादि रहित भगवत्-निष्ठा ही स्वाभाविक स्वधर्म होता है॥ २२॥

अहं हि पृष्टोऽर्यमणो भवद्भि-
राचक्ष आत्मावगमोऽत्र यावान्।
नभः पतन्त्यात्मसमं पतत्रिण-
स्तथा समं विष्णुगतिं विपश्चितः॥ २३॥

हे ऋषियो! आपलोग वेदमूर्त्ति हैं, इसलिए सूर्यके समान प्रकाशमान हैं। आपने मुझसे जो राजा परीक्षित्का उपाख्यान और उससे सम्बन्धित श्रीकृष्णकी लीलाओंके वर्णनके विषयमें प्रश्न किया है, उसे मैं जितना जानता हूँ, उसीके अनुसार कहूँगा। जिस प्रकार पक्षी अपनी शक्तिके अनुसार ही आकाशमें उड़ते हैं, उसी प्रकार समस्त पण्डित अपनी-अपनी समझके अनुसार ही भगवान् श्रीहरिकी लीलाओंका गान करते हैं॥ २३॥

एकदा धनुरुद्यम्य विचरन् मृगयां वने।
मृगाननुगतः श्रान्तः क्षुधितस्तृषितो भृशम्॥ २४॥
जलाशयमचक्षाणः प्रविवेश तमाश्रमम्।
ददर्श मुनिमासीनं शान्तं मीलितलोचनम्॥ २५॥
प्रतिरुद्धेन्द्रियप्राण-मनोबुद्धिमुपारतम्।
स्थानत्रयात् परं प्राप्तं ब्रह्मभूतमविक्रियम्॥ २६॥

एक बार महाराज परीक्षित् धनुषपर बाण चढ़ाकर शिकारके लिए वन-वनमें भ्रमण कर रहे थे। हिरणोंके पीछे भागते-भागते वे अत्यन्त थक गये और भूख एवं प्याससे व्याकुल हो गये। कहीं भी जलाशय

न दिखनेपर वे समीपमें ही एक ऋषिके आश्रममें प्रवेश कर गये। वहाँ उन्होंने देखा कि एक मुनि आँखे बन्द करके आसनपर प्रशान्त भावसे बैठे हुए हैं। उनके इन्द्रिय, प्राण, मन एवं बुद्धि सभी अपने-अपने विषयोंसे विरक्त हो गये थे तथा उनका चित्त शान्त हो चुका था। वे जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओंसे परे तुरीय (समाधि) अवस्थामें स्थित थे। वे ब्रह्मभूत अर्थात् जड़ाभिनिवेश-शून्य और निर्विकार थे॥ २४-२६॥

विप्रकीर्णजटाच्छन्नं रौरवेणाजिनेन च।
विशुष्यत्तालुरुदकं तथाभूतमयाचत॥ २७॥

उन मुनिकी जटाएँ इधर-उधर बिखरी हुई थीं तथा देह रुरु (कृष्णसार) नामक मृगकी चर्मसे ढकी हुई थी। प्यासके कारण राजाका तालु तक सूख गया था, अतः उन्होंने समाधि अवस्थामें स्थित मुनिसे जलके लिए प्रार्थना की॥ २७॥

अलब्धतृणभूम्यादिरसम्प्राप्तार्घ्यसूनृतः।
अवज्ञातमिवात्मानं मन्यमानश्चुकोप ह॥ २८॥

राजाने जब देखा कि मुनिने उन्हें बैठनेके लिए तृणका आसन तक भी नहीं दिया, अर्घ्य आदि कुछ भी प्रदान नहीं किया, यहाँ तक कि प्रिय वचनोंसे उनके साथ सम्भाषण भी नहीं किया, तब वे स्वयंको अपमानित मानकर अत्यधिक क्रोधमें आविष्ट हो गये॥ २८॥

अभूतपूर्वः सहसा क्षुत्तृड्भ्यामर्दितात्मनः।
ब्राह्मणं प्रत्यभूद्ब्रह्मन् मत्सरो मन्युरेव च॥ २९॥

हे ब्रह्मन्! भूख और प्याससे अत्यन्त व्याकुल हो रहे महाराज परीक्षित्के मनमें सहसा ही शमीक मुनिके प्रति ऐसा क्रोध और मत्सर भाव जाग उठा, जो उनके जीवनमें पहले कभी भी उदित नहीं हुआ था॥ २९॥

स तु ब्रह्मऋषेरंसे गतासुमुरगं रुषा।
विनिर्गच्छन् धनुष्कोट्या निधाय पुरमागतः॥ ३०॥

अपनेको उपेक्षित अनुभवकर राजा परीक्षित्‌ने लौटते समय क्रोधवशतः अपने धनुषकी नोकसे एक मरा हुआ साँप उठाया और उस मृत सर्पको ब्रह्मर्षिके कन्धेपर रख दिया और फिर वे अपने नगरमें लौट आये॥ ३०॥

एष किं निभृताशेषकरणो मीलितेक्षणः।
मृषासमाधिराहोस्वित् किं नु स्यात् क्षत्रबन्धुभिः॥ ३१॥

रास्तेमें उनके मनमें यह विचार आने लगा कि क्या वास्तवमें ही मुनिने अपनी इन्द्रियोंको विषयोंसे हटा रखा था और नेत्रोंको बन्द करके समाधिस्थ थे? अथवा मेरे जैसे क्षत्रियाधमके इस आश्रममें आनेसे ही क्या लाभ और यहाँसे चले जानेपर भी क्या लाभ—ऐसा विचार करके झूठ-मूठ समाधिका बहाना बनाते हुए मुनिने मेरी अवज्ञा की है?॥ ३१॥

तस्य पुत्रोऽतितेजस्वी विहरन् बालकोऽर्भकैः।
राज्ञाघं प्रापितं तातं श्रुत्वा तत्रेदमब्रवीत्॥ ३२॥

शमीक मुनिका पुत्र शृङ्गी बालक होनेपर भी बड़ा तेजस्वी था। जब वह अन्यान्य ऋषि कुमारोंके साथ खेल रहा था, तभी उसने सुना कि राजा परीक्षित्‌ने उसके पिताका बड़ा अपमान किया है। तब वह अपने साथियोंके सम्मुख ही कहने लगा—॥ ३२॥

अहो अधर्मः पालानां पीव्नां बलिभुजामिव।
स्वामिन्यघं यद्दासानां द्वारपानां शुनामिव॥ ३३॥

(ब्राह्मण बालक शृङ्गीने कहा—)कितने आश्चर्यकी बात है! भोगोंसे परिपुष्ट सण्ड-मुसण्ड राजाओंका यह कैसा अधर्म है! जिनकी तुलना उच्छिष्टभोजी कौओं और द्वार-रक्षक कुत्तोंके साथ हो सकती है, ऐसे राजालोग ऋषियों (ब्राह्मणों) के दास होकर भी अपने स्वामीके प्रति पापाचरण करने लगे हैं!॥ ३३॥

ब्राह्मणैः क्षत्रबन्धुर्हि गृहपालो निरूपितः।
स कथं तद्‌गृहे द्वाःस्थः सभाण्डं भोक्तुमर्हति॥ ३४॥

ब्राह्मणोंने इन नीच क्षत्रियोंको गृह-रक्षक कुत्तोंके रूपमें नियुक्त किया है। घरके द्वारपर ही जिनका स्थान निर्दिष्ट किया है, आज वे किस साहससे घरमें ही प्रवेशकर स्वामीके पात्रमें रखे हुए अन्नको खा सकते हैं?॥ ३४॥

कृष्णे गते भगवति शास्तर्युत्पथगामिनाम्।
तद्भिन्नसेतुमद्याहं शास्मि पश्यत मे बलम्॥ ३५॥

समस्त कुमार्गगामी लोगोंके शासनकर्त्ता भगवान् श्रीकृष्ण अपने धामको चले गये हैं—यह जानकर जो व्यक्ति अपनी मर्यादा भङ्ग कर रहा है, मैं इसी मूहुर्त्तमें उसे दण्ड देता हूँ। तुमलोग मेरी तपशक्तिको देखो॥ ३५॥

इत्युक्त्वा रोषताम्राक्षो वयस्यानृषिबालकः।
कौशिक्याप उपस्पृश्य वाग्वज्रं विससर्ज ह॥ ३६॥

ऋषि बालककी दोनों आँखें क्रोधसे लाल हो रही थीं। अपने मित्रोंसे ऐसा कहकर उसने कौशिकी नदीके जलमें आचमन किया और वज्रके समान वचनोंका प्रयोग करते हुए बोला—॥ ३६॥

इति लङ्घितमर्यादं तक्षकः सप्तमेऽहनि।
दङ्क्ष्यति स्म कुलाङ्गारं चोदितो मे ततद्रुहम्॥ ३७॥

"जिस कुलाङ्गारने मर्यादाका उल्लघंन करके मेरे पिताका इस प्रकारसे अपमान किया है, मेरी प्रेरणासे तक्षक सर्प आजसे सातवें दिन उसे डस लेगा॥"३७॥

ततोऽभ्येत्याश्रमं बालो गले सर्पकलेवरम्।
पितरं वीक्ष्य दुःखार्तो मुक्तकण्ठो रुरोद ह॥ ३८॥

ऐसा कहकर ऋषिकुमार अपने आश्रममें लौट आया। अपने पिताके गलेमें मृत-सर्प देखकर वह अत्यधिक दुःखी हो गया और उच्च स्वरसे रोने लगा॥ ३८॥

स वा आङ्गिरसो ब्रह्मन् श्रुत्वा सुतविलापनम्।
उन्मील्य शनकैर्नेत्रे दृष्ट्वा चांसे मृतोरगम्॥ ३९॥

विसृज्य तञ्च पप्रच्छ वत्स कस्माद्धि रोदिषि।
केन वा तेऽप्यपकृतमित्युक्तः स न्यवेदयत्॥ ४०॥

हे ब्रह्मन् शौनकजी! अङ्गिरा गोत्रमें उत्पन्न शमीक ऋषिने अपने पुत्रका विलाप सुनकर धीरे-धीरे अपनी आँखें खोलीं। तब अपने गलेमें एक मरा हुआ साँप लटका देखकर उन्होंने उसे दूर फेंक दिया और अपने पुत्रसे पूछने लगे "वत्स! तुम किसलिए रो रहे हो? क्या किसीने तुम्हारा अनिष्ट किया है?" इन वचनोंको सुनकर ऋषि बालकने पिताको सारी बात बतला दी॥ ३९-४०॥

निशम्य शप्तमतदर्हं नरेन्द्रं
स ब्राह्मणो नात्मजमभ्यनन्दत्।
अहो बतांहो महदज्ञ ते कृत-
मल्पीयसि द्रोह उरुर्दमो धृतः॥ ४१॥

अपने पुत्र द्वारा दिये गये शापकी बात सुनकर शमीक ऋषिने अपने पुत्रकी प्रशंसा नहीं की, क्योंकि राजा परीक्षित् कदापि शापके योग्य नहीं थे। बल्कि उन्होंने पुत्रसे कहा—अहो! कितने दुःखकी बात है! तुम तो बड़े ही मूर्ख हो! आज तुमने महापाप किया है, क्योंकि तुमने इतने छोटे-से अपराधके लिए राजाको इतना बड़ा दण्ड दे दिया॥ ४१॥

न वै नृभिर्नरदेवं पराख्यं
सम्मातुमर्हस्यविपक्वबुद्धे ।
यत्तेजसा दुर्विषहेण गुप्ता
विन्दन्ति भद्राण्यकुतोभयाः प्रजाः॥ ४२॥

हे अल्पबुद्धे! जो राजा विष्णुतुल्य भगवत्-स्वरूप माने जाते हैं तथा जिनके दुःसह तेजके प्रभावसे ही सारी प्रजा सुरक्षित रहकर निर्भयताके साथ सुख एवं ऐश्वर्यका उपभोग कर रही है, तुम्हारे द्वारा उस राजाको साधारण मनुष्यके समान समझना युक्तिसङ्गत नहीं हुआ है॥ ४२॥

अलक्ष्यमाणे नरदेवनाम्नि
रथाङ्गपाणावयमङ्ग लोकः।

तदा हि चौरप्रचुरो विनङ्क्ष्य-
त्यरक्ष्यमाणोऽविवरूथवत् क्षणात्॥ ४३॥

हे वत्स! राजाका नाम और रूप धारण करनेवाले भगवान् चक्रपाणिके अन्तर्हित होते ही पृथ्वीपर चोरोंका उत्पात प्रचुर रूपमें बढ़ जायेगा और सारी प्रजा रक्षकहीन होकर अरक्षित भेड़ोंके समान क्षणभरमें ही नष्ट हो जायेगी॥ ४३॥

तदद्य नः पापमुपैत्यनन्वयं
यन्नष्टनाथस्य वसोर्विलुम्पकात्।
परस्परं घ्नन्ति शपन्ति वृञ्जते
पशून् स्त्रियोऽर्थान् पुरुदस्यवो जनाः॥ ४४॥

अतएव प्रजा-रक्षक राजाके अभावमें चोरी आदिकी प्रचुरता होनेपर जो पाप होंगे, दूसरोंके द्वारा किये गये उन पापोंका हमसे कोई सम्बन्ध न होनेपर भी हम ही उन पापोंके उत्तरदायी होंगे। राजाके अभावमें लुटेरे बहुत परिमाणमें बढ़ जायेंगे और वे आपसमें एक दूसरेके साथ मार-पीट, गाली-गलौज करेंगे तथा पशु, स्त्री एवं धन आदिका भी अपहरण करेंगे॥ ४४॥

तदार्यधर्मश्च विलीयते नृणां
वर्णाश्रमाचारयुतस्त्रयीमयः ।
ततोऽर्थकामाभिनिवेशितात्मनां
शुनां कपीनामिव वर्णसङ्करः॥ ४५॥

उस समय जगत्में वर्णाश्रममें विहित वेदोक्त सदाचार और वैदिक आर्यधर्मका विनाश हो जायेगा। केवल अर्थ और काम-वासनामें ही चित्तके अभिनिविष्ट हो जानेसे लोग कुत्तों और बन्दरोंके समान हो जायेंगे और इस कारणसे तब वर्णसङ्कर पैदा होने लगेंगे॥ ४५॥

धर्मपालो नरपतिः स तु सम्राड्बृहच्छ्रवाः।
साक्षान्महाभागवतो राजर्षिर्हयमेधयाट्।
क्षुत्तट्श्रमयुतो दीनो नैवास्मच्छापमर्हति॥ ४६॥

सम्राट परीक्षित् तो धर्मरक्षक, महायशस्वी और परमभागवत हैं। बहुत-से अश्वमेध यज्ञ करनेवाले वे राजर्षि भूख-प्यास और परिश्रमसे व्याकुल होकर बड़े ही विपत्तिग्रस्त भावसे हमारे आश्रममें आये थे, अतएव वे कदापि हमारे शापके योग्य नहीं थे॥ ४६॥

अपापेषु स्वभृत्येषु बालेनापक्वबुद्धिना।
पापं कृतं तद्भगवान् सर्वात्मा क्षन्तुमर्हति॥ ४७॥

इस पापका कोई प्रायश्चित्त न देखकर शमीक मुनिने कहा—हे सर्वात्मा भगवन्! आप सबके अन्तर्यामी हैं। मेरे इस बालककी बुद्धि अपरिपक्व होनेके कारण यह नितान्त नासमझ है, इसीलिए इसने आपके ही समान निरपराध आपके भक्तके प्रति पापका आचरण किया है। आप इसे क्षमा करें॥ ४७॥

तिरस्कृता विप्रलब्धाः शप्ताः क्षिप्ता हता अपि।
नास्य तत् प्रतिकुर्वन्ति तद्भक्ताः प्रभवोऽपि हि॥ ४८॥

यदि भगवान्‌के भक्त दूसरोंके द्वारा निन्दित, वञ्चित, अपमानित, अभिशप्त और प्रताड़ित होते हैं, तब भी वे अपने अनिष्टकारीका अपकारकर उनसे बदला लेनेमें समर्थ होनेपर भी अन्यायका आचरण नहीं करते॥ ४८॥

श्रीसूत उवाच—

इति पुत्रकृताघेन सोऽनुतप्तो महामुनिः।
स्वयं विप्रकृतो राज्ञा नैवाघं तदचिन्तयत्॥ ४९॥

इस प्रकार मुनिश्रेष्ठ शमीक अपने पुत्र द्वारा किये गये अपराधकी चिन्तासे बड़ा पश्चात्ताप करने लगे। किन्तु राजा परीक्षित्‌के द्वारा हुए अपने अपमानरूपी अपराधके प्रति उन्होंने एक बार भी ध्यान तक नहीं दिया॥ ४९॥

प्रायशः साधवो लोके परैर्द्वन्द्वेषु योजिताः।
न व्यथन्ति न हृष्यन्ति यत आत्माऽगुणाश्रयः॥ ५०॥

साधुओंका स्वभाव ही ऐसा होता है कि वे दूसरोंके द्वारा सुख-दुःखादिरूप द्वन्द्वके प्राप्त होनेपर प्रायः दुःखोंसे दुःखित और सुखोंसे अत्यन्त हर्षित नहीं होते। वे जानते हैं कि आत्मा तो सुख-दुःखादि गुणोंसे सर्वथा परे है॥ ५०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्र-भाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां प्रथमस्कन्धे पारीक्षिते विप्रशापोपलम्भो नामाष्टादशोऽध्यायः॥

एकोनविंशोऽध्यायः

महाराज परीक्षित्‌का अनशनव्रत और श्रीशुकदेव गोस्वामीका आगमन

श्रीसूत उवाच—

महीपतिस्त्वथ तत्कर्मगर्ह्यं
विचिन्तयन्नात्मकृतं सुदुर्मनाः।
अहो मया नीचमनार्यवत् कृतं
निरागसि ब्रह्मणि गूढतेजसि॥ १॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—हे मुनियो! इसके बाद महाराज परीक्षित् मुनिवर शमीकके आश्रमसे अपने महलमें लौट आये। लौटते समय उनका मन अत्यन्त क्षुब्ध हो रहा था। अतएव अपने महलमें पहुँचकर वे विचार करने लगे—अहो! मैंने बड़ा ही निन्दनीय कार्य कर डाला है। मैंने उस निरपराध ब्राह्मणके छिपे हुए ब्रह्मतेजको पहचान न पानेके कारण अति नीच अनार्य व्यक्तिके समान कार्य कर डाला। इस प्रकार चिन्ता करते-करते वे अत्यन्त उदास हो गये॥ १॥

ध्रुवं ततो मे कृतदेवहेलनाद्-
दुरत्ययं व्यसनं नातिदीर्घात्।
तदस्तु कामं ह्यघनिष्कृताय मे
यथा न कुर्यां पुनरेवमद्धा॥ २॥

मैंने देवतुल्य ऋषिका अपमान किया है, इसलिए निःसन्देह शीघ्र ही मुझपर कोई भयङ्कर विपत्ति आयेगी। मैं भी यही चाहता हूँ कि वह विपत्ति शीघ्र ही मुझपर आये, जिससे मेरे पापका उपयुक्त प्रायश्चित्त हो जाय और मैं पुनः ऐसा घृणित कार्य करनेका दुःसाहस न कर सकूँ॥ २॥

अद्यैव राज्यं बलमृद्धकोषं
प्रकोपितब्रह्मकुलानलो मे।

दहत्वभद्रस्य पुनर्न मेऽभूत्
पापीयसी धीर्द्विज-देवगोभ्यः॥ ३॥

मैं अत्यन्त अशिष्ट हूँ, अतः आज ही मेरा राज्य, मेरी सेना और अक्षय भण्डार आदि मेरी समस्त सम्पत्ति ब्राह्मणकुलकी कोप-अग्निसे भस्म हो जाये। ऐसा होनेपर पुनः गौ, ब्राह्मण अथवा देवताओंको कष्ट देनेकी मेरी दुर्बुद्धि नहीं होगी॥ ३॥

स चिन्तयन्नित्थमथाशृणोद्यथा
मुनेः सुतोक्तो निर्ऋतिस्तक्षकाख्यः।
स साधु मेने न चिरेण तक्षका-
नलं प्रसक्तस्य विरक्ति-कारणम्॥ ४॥

महाराज परीक्षित् ऐसा सोच ही रहे थे कि उसी समय शमीक मुनिके द्वारा भेजे गये उनके शिष्यने उन्हें संवाद दिया कि मुनिपुत्र शृङ्गीके अभिशापसे तक्षक नागके डसनेसे आजसे सातवें दिन उनकी मृत्यु हो जायेगी। 'इस तक्षककी विष-अग्नि मेरे लिए विषय-आसक्तियोंसे वैराग्यका कारण बनेगी'—यह सोचकर राजा परीक्षित्ने इस अभिशाप-संवादको अपने लिए शुभ ही समझा॥ ४॥

अथो विहायेमममुञ्च लोकं
विमर्शितौ हेयतया पुरस्तात्।
कृष्णाङ्घ्रि-सेवामधिमन्यमान
उपाविशत् प्रायममर्त्यनद्याम्॥ ५॥

राजा परीक्षित्ने पहलेसे ही स्थिर कर लिया था कि यह लोक और परलोक (स्वर्गादि)—दोनों ही हेय हैं। अतएव अब उन्होंने ऐहिक और पारलौकिक सुखोंकी कामनाका सम्पूर्ण रूपसे परित्यागकर श्रीकृष्णके चरणोंकी सेवाको ही समस्त पुरुषार्थोंका सार निश्चय किया और उन्हीं श्रीकृष्णके अमल चरणकमलोंकी प्राप्तिकी लालसासे गङ्गातटपर आमरण अनशनका सङ्कल्प लिया॥ ५॥

या वै लसच्छ्रीतुलसीविमिश्र-
कृष्णाङ्घ्रिरेण्वभ्यधिकाम्बुनेत्री ।

पुनाति सेशानुभयत्र लोकान्
कस्तां न सेवेत मरिष्यमाणः॥ ६॥

भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंके परागसे मिश्रित तुलसी दलके संस्पर्शवशतः भगवती गङ्गा सर्वोत्कृष्ट जलको लेकर प्रवाहित होती हैं। अतः वे लोकपालों सहित समस्त जीवोंको अन्दर और बाहरसे पवित्र करती हैं। ऐसा कौन व्यक्ति है, जो अपनी मृत्युको निकट जानकर उन पवित्र भागीरथीकी सेवा (गङ्गाका पूजन, आचमन, उसमें स्नानादि) नहीं करेगा?॥ ६॥

इति व्यवच्छिद्य स पाण्डवेयः
प्रायोपवेशं प्रति विष्णुपद्याम्।
दधौ मुकुन्दाङ्घ्रिमनन्यभावो
मुनिव्रतो मुक्तसमस्तसङ्गः॥ ७॥

श्रीहरिके चरणकमलोंसे निकली गङ्गाके तटपर मृत्यु तक अनशन करनेका निश्चयकर पाण्डुवंशधर परीक्षित्‌ने समस्त आसक्तियोंका परित्याग कर दिया और वे मुनियोंके समान शान्तचित्त होकर एकाग्रचित्तसे श्रीकृष्णके चरणकमलोंका चिन्तन करने लगे॥ ७॥

तत्रोपजग्मुर्भुवनं पुनाना
महानुभावा मुनयः सशिष्याः।
प्रायेण तीर्थाभिगमापदेशैः
स्वयं हि तीर्थानि पुनन्ति सन्तः॥ ८॥

उस समय अपनी तपस्याके प्रभावसे त्रिलोकीको पवित्र करनेवाले बड़े-बड़े महानुभाव ऋषि-मुनि अपने शिष्योंके साथ वहाँपर पधारे। साधुगण स्वयं ही तीर्थस्वरूप होते हैं, अतः वे तीर्थयात्राके छलसे समस्त तीर्थोंको ही पवित्र करते हैं॥ ८॥

अत्रिर्वशिष्ठश्च्यवनः शरद्वा-
नरिष्टनेमिर्भृगुरङ्गिराश्च ।
पराशरो गाधिसुतोऽथ राम
उतथ्य इन्द्रप्रमदः सुबाहु॥ ९॥

मेधातिथिर्देवल आर्ष्टिषेणो
भरद्वाजो गौतमः पिप्पलादः।
मैत्रेय और्वः कवषः कुम्भयोनि-
र्द्वैपायनो भगवान् नारदश्च॥ १०॥

अन्ये च देवर्षिमहर्षिवर्या
राजर्षिवर्या अरुणादयश्च।
नानार्षेयप्रवरान् समेता-
नभ्यर्च्य राजा शिरसा ववन्दे॥ ११॥

अत्रि, वशिष्ठ, च्यवन, शरद्वान्, अरिष्टनेमि, भृगु, अङ्गिरा, पराशर, गाधितनय विश्वामित्र, परशुराम, उतथ्य, इन्द्रप्रमद, सुबाहु, मेधातिथि, देवल, आर्ष्टिषेण, भरद्वाज, गौतम, पिप्पलाद, मैत्रेय, और्व, कवष, कुम्भयोनि अगस्त्य, द्वैपायन वेदव्यास, भगवान् नारद तथा इनके अतिरिक्त और भी कई देवर्षि, महर्षि और राजर्षि एवं अरुण आदि काण्डर्षि वहाँपर उपस्थित हुए। श्रेष्ठ-श्रेष्ठ ऋषियोंको एकत्र देखकर राजाने सबका यथायोग्य सत्कार किया और उनके चरणोंमें सिर रखकर उन सबकी वन्दना की॥ ९-११॥

सुखोपविष्टेष्वथ तेषु भूयः
कृतप्रणामः स्वचिकीर्षितं यत्।
विज्ञापयामास विविक्तचेता
उपस्थितोऽग्रेऽभिगृहीतपाणिः ॥ १२॥

तत्पश्चात् जब वे सभी सुखपूर्वक अपने-अपने आसनोंपर बैठ गये, तब महाराज परीक्षित्‌ने उन्हें फिरसे प्रणाम किया और उनके सामने खड़े होकर शुद्ध हृदयसे हाथ जोड़कर अपने अभिलषित मृत्यु तक अनशनके विषयमें क्या कर्त्तव्य और क्या अकर्त्तव्य है, यह पूछने लगे॥ १२॥

श्रीराजोवाच—

अहो वयं धन्यतमा नृपाणां
महत्तमानुग्रहणीयशीलाः ।

राज्ञां कुलं ब्राह्मणपादशौचा-
दाराद्विसृष्टं बत गर्ह्यकर्म॥ १३॥

राजा परीक्षित्‌ने कहा—अहो, कैसा भाग्य है! साधारणतः ब्राह्मणगण क्षत्रियोंको उनके हिंसक और निन्दित कर्मोंके कारण उन्हें अपने चरण धोनेके स्थान तकसे भी दूर रखते हैं, परन्तु आज हम आप सब महापुरुषोंके कृपापात्र बन गये हैं। अतएव आज हम समस्त राजाओंमें धन्यतम हुए हैं॥ १३॥

तस्यैव मेऽघस्य परावरेशो
व्यासक्तचित्तस्य गृहेष्वभीक्ष्णन्।
निर्वेदमूलो द्विजशापरूपो
यत्र प्रसक्तो भयमाशु धत्ते॥ १४॥

समस्त कार्य और कारणके नियन्ता स्वयं भगवान्‌ने ही मुझपर कृपा की है। एक तो मैं सदैव गृहमें अत्यधिक आसक्त हूँ और उसपर फिर ब्राह्मणका अपमान करके मैंने पाप किया है। भय ही विषयोंमें आसक्त व्यक्तिके वैराग्यका कारण होता है तथा बिना वैराग्यके भगवान्‌को प्राप्त करनेका कोई उपाय भी नहीं है। अतः ऐसा लगता है कि भगवान् स्वयं ही मेरे वैराग्य प्राप्त करनेके मूल कारण—ब्राह्मणके शापके रूपमें मुझपर कृपा करनेके लिए पधारे हैं॥ १४॥

तं मोपयातं प्रतियन्तु विप्रा
गङ्गा च देवी धृतचित्तमीशे।
द्विजोपसृष्टः कुहकस्तक्षको वा
दशत्वलं गायत विष्णुगाथाः॥ १५॥

हे ब्राह्मणो! अब मैंने अपने चित्तको भगवान्‌के चरणोंमें समर्पित कर दिया है। आपलोग और गङ्गादेवी शरणागत जानकर मुझपर कृपा करें। अब ब्राह्मणकुमारके शापसे प्रेरित तक्षक ही हो अथवा कोई दूसरा भी कपटसे तक्षकका रूप धारणकर अपनी इच्छासे मुझे डस ले, इसकी मुझे तनिक भी चिन्ता नहीं है। आपलोग भगवान् श्रीहरिकी रसमयी कथाका गान कीजिये॥ १५॥

पुनश्च भूयाद्भगवत्यनन्ते
रतिः प्रसङ्गश्च तदाश्रयेषु।
महत्सु यां यामुपयामि सृष्टिं
मैत्र्यस्तु सर्वत्र नमो द्विजेभ्यः॥ १६॥

मैं आप सब ब्राह्मणोंके चरणोंमें प्रणाम करते हुए यही प्रार्थना करता हूँ कि यदि मुझे पुनः इस जगत्‌में जन्म लेना पड़े, तब प्रति जन्ममें ही मेरा उन अनन्त गुणोंसे युक्त भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें अनुराग हो, मुझे उनके चरणाश्रित महानुभव साधु भक्तोंका सङ्ग प्राप्त हो और समस्त जीवोंके प्रति मेरी मैत्री हो॥ १६॥

श्रीसूत उवाच—

इति स्म राजाध्यवसाययुक्तः
प्राचीनमूलेषु कुशेषु धीरः।
उदङ्‌मुखो दक्षिणकूल आस्ते
समुद्रपत्न्याः स्वसुत-न्यस्तभारः॥ १७॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—महाराज परीक्षित् परम धीर (आत्म संयमी) थे। ऐसा दृढ़ निश्चय करके उन्होंने राज्यका भार अपने पुत्र जनमेजयको सौंप दिया और स्वयं गङ्गाके दक्षिण तटपर पूर्वकी ओर अभिमुख जड़ोंवाले कुशके आसनोंपर उत्तरकी ओर मुख करके बैठ गये॥ १७॥

एवञ्च तस्मिन् नरदेवदेवे
प्रायोपविष्टै दिवि देवसङ्‌घाः।
प्रशस्य भूमौ व्यकिरन् प्रसूनै-
र्मुदा मुहुर्दुन्दुभयश्च नेदुः॥ १८॥

जब राजाधिराज परीक्षित् इस प्रकार आमरण अनशन करके बैठ गये, तब स्वर्गके देवतालोग राजाकी प्रशंसा करते हुए आनन्द सहित पृथ्वीपर पुष्पोंकी वर्षा करने लगे तथा उनके नगाड़े बार-बार बजने लगे॥ १८॥

महर्षयो वै समुपागता ये
प्रशस्य साध्वित्यनुमोदमानाः।

ऊचुः प्रजानुग्रहशीलसारा
यदुत्तमःश्लोकगुणाभिरूपम् ॥ १९ ॥

वहाँ उपस्थित सभी महर्षियोंने महाराज परीक्षित्के सङ्कल्पकी प्रशंसा की और 'साधु-साधु' (बहुत-अच्छा) कहकर उनका अनुमोदन किया। ऋषिजन स्वभावसे ही लोगोंपर कृपाकी वर्षा करते रहते हैं, क्योंकि इस कार्यमें वे समर्थ होते हैं। उन महर्षियोंने भगवान् श्रीकृष्णके गुणोंसे प्रभावित परीक्षित्के प्रति उनके अनुरूप मनोरम वचन कहे॥ १९॥

न वा इदं राजर्षिवर्य चित्रं
भवत्सु कृष्णं समनुव्रतेषु।
येऽध्यासनं राजकिरीटजुष्टं
सद्यो जहुर्भगवत्पार्श्वकामाः॥ २० ॥

हे राजर्षियोंके शिरोमणे! भगवान्का नित्य सान्निध्य प्राप्त करनेकी अभिलाषासे जिन्होंने बड़े-बड़े राजाओंके मुकटों द्वारा परिसेवित सार्वभौम सिंहासनका सहज ही त्याग कर दिया था, श्रीकृष्णके एकान्त भक्त उन्हीं पाण्डवोंके वंशमें आपने जन्म-ग्रहण किया है। अतः सहसा ही वैराग्य और विषय वासनाओंका त्याग करना आपके लिए आश्चर्यकी बात नहीं है॥ २०॥

सर्वे वयं तावदिहास्महेऽथ
कलेवरं यावदसौ विहाय।
लोकं परं विरजस्कं विशोकं
यास्यत्ययं भागवतप्रधानः॥ २१ ॥

(मुनिगण राजाको इस प्रकार कहकर आपसमें विचार करने लगे—)जब तक भगवान्के परमभक्त महाराजा परीक्षित् अपनी देहको त्यागकर मायाके दोष और शोकसे रहित भगवान्के परम धाममें नहीं गमन करते, तबतक हम सब यहीं रहेंगे॥ २१॥

आश्रुत्यर्षिगणवचः परीक्षित्
समं मधुच्युद्गुरु चाव्यलीकम्।

आभाषतैनानभिवन्द्य युक्तः
शुश्रूषमाणश्चरितानि विष्णोः॥ २२॥

ऋषियोंके अमृतमय मधुर, गम्भीर अर्थवाले, सत्य और पक्षपात रहित वचनोंको सुनकर राजा परीक्षित्‌ने उन सबका अभिनन्दन किया और श्रीकृष्णके मनोहर चरित्रको सुननेकी इच्छासे उनसे कहने लगे—॥ २२॥

समागताः सर्वत एव सर्वे
वेदा यथा मूर्तिधरास्त्रिपृष्ठे।
नेहाथ नामुत्र च कश्चनार्थ
ऋते परानुग्रहमात्मशीलम्॥ २३॥

राजा परीक्षित्‌ने कहा—हे महात्माओ! आप सभी सब ओरसे यहाँ पधारे हैं। आप त्रिभुवनके ऊपरमें स्थित सत्यलोकमें रहनेवाले मूर्त्तिमान वेदोंके समान हैं। दूसरोंपर निःस्वार्थ अनुग्रह करना ही आपका सहज स्वभाव है, इसके अतिरिक्त इस लोक या परलोकमें आपका कोई अन्य स्वार्थ नहीं है॥ २३॥

ततश्च वः पृच्छ्यमिदं विपृच्छे
विश्रभ्य विप्रा इतिकृत्यतायाम्।
सर्वात्मना म्रियमाणैश्च कृत्यं
शुद्धञ्च तत्रामृशताभियुक्ताः॥ २४॥

अतएव हे श्रेष्ठ विप्रो! आपलोगोंपर पूर्ण विश्वास करके मैं अपने कर्त्तव्यके विषयमें पूछने योग्य प्रश्न कर रहा हूँ। आपलोग कृपया भलीभाँति विचार करके बतलाइये कि सबके लिए सब अवस्थाओंमें और विशेषकर जिसकी मृत्यु अति निकट हो, उस मनुष्यके लिए पाप-स्पर्शसे रहित शुद्ध कर्त्तव्य क्या है?॥ २४॥

श्रीसूत उवाच—

तत्राभवद्भगवान् व्यासपुत्रो
यदृच्छया गामटमानोऽनपेक्षः।

अलक्ष्यलिङ्गो निजलाभतुष्टो
वृतश्च बालैरवधूतवेशः॥ २५॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—उसी समय किसीसे कोई अपेक्षा नहीं रखनेवाले व्यासनन्दन भगवान्[१] श्रीशुकदेव पृथ्वीपर अपनी इच्छापूर्वक विचरण करते हुए वहाँपर उपस्थित हुए। वे बाह्य विषयोंके प्रति उदासीन, किसी विशेष वर्ण अथवा आश्रमके चिह्नोंसे रहित तथा आत्मानुभूतिमें सन्तुष्ट थे। उनका वेष अवधूत जैसा था। बच्चों और स्त्रियोंने उन्हें घेर रखा था॥ २५॥

तं द्व्यष्टवर्षं सुकुमारपाद–
करोरुबाह्वंस–कपोलगात्रम्।
चार्वायताक्षोन्नसतुल्यकर्ण–
सुभ्र्वाननं कम्बुसुजातकण्ठम्॥ २६॥

श्रीव्यासनन्दनकी आयु मात्र सोलह वर्षकी थी। चरण, हाथ, जंघा, भुजाएँ, कन्धे, कपोल और अन्य सब अङ्ग अत्यन्त सुकुमार थे। उनके नेत्र कान तक विस्तृत बड़े–बड़े और मनोहर थे, नासिका कुछ ऊँची थी, दोनों कान बराबर थे तथा भौंहें सुन्दर थीं। इनसे उनका मुखमण्डल अत्यधिक शोभायमान हो रहा था। उनका कण्ठ तो मानो तीन रेखाओंसे अङ्कित सुन्दर शङ्ख ही था॥ २६॥

निगूढजत्रुं पृथुतुङ्गवक्षस–
मावर्तनाभिं वलिवल्गूदरञ्च।
दिगम्बरं वक्त्रविकीर्णकेशं
प्रलम्बबाहुं स्वमरोत्तमाभम्॥ २७॥

उनकी हँसली[२] माँससे ढकी हुई, वक्षःस्थल विशाल और उभरा हुआ, नाभि भँवरके समान गहरी तथा उदर त्रिवलीसे युक्त बड़ा ही

---

[१] विष्णुपुराणमें कहा गया है—'उत्पत्तिं प्रलयञ्चैव भूतानाम् आगतिं गतिं। वेत्ति विद्यामविद्यांश्च स वाच्यो भगवानिति॥' अर्थात् जो ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति और प्रलय, जीवोंका संसारसे गमन और आगमन तथा अविद्या और विद्यारूप भगवत् शक्तियोंके वेत्ता हैं, वही 'भगवान्' पद वाच्य हैं।

[२] कण्ठके नीचे स्थित अस्थि।

सुन्दर था। उनकी भुजाएँ लम्बी-लम्बी थीं, उनके सुन्दर मुखमण्डलपर घुँघराले बाल बिखरे हुए थे। दिशाएँ ही उनके वस्त्र थीं। उनकी अङ्गकान्ति देवोत्तम श्रीहरिके समान अत्यन्त रमणीय प्रतीत हो रही थी॥ २७॥

श्यामं सदापीव्यवयोऽङ्गलक्ष्म्या
स्त्रीणां मनोज्ञं रुचिरस्मितेन।
प्रत्युत्थितास्ते मुनयः स्वासनेभ्य-
स्तल्लक्षणज्ञा अपि गूढवर्चसम्॥ २८॥

उनका वर्ण श्यामल था तथा उनकी नव-युवावस्था चित्तको चुरानेवाली थी। उस नवयौवनके अनुरूप देहकी छटा और मन्द-मधुर मुसकानसे वे स्त्रियोंको सदा ही मनोहर जान पड़ते थे। यद्यपि उन्होंने अपने तेजको अर्थात् वास्तव महिमाको छिपा रखा था, फिर भी महापुरुषके लक्षणोंको जाननेवाले मुनियोंने उन्हें पहचान लिया और वे सभी अपने-अपने आसन छोड़कर उनके सम्मानके लिए उठ खड़े हुए॥ २८॥

स विष्णुरातोऽतिथये आगताय
तस्मै सपर्यां शिरसाजहार।
ततो निवृत्ता ह्यबुधाः स्त्रियोऽर्भका
महासने सोपविवेश पूजितः॥ २९॥

विष्णुरात अर्थात् विष्णु द्वारा रक्षित उन राजा परीक्षित्‌ने अतिथि रूपसे पधारे हुए श्रीशुकदेवको सिर झुकाकर प्रणाम किया और उनकी पूजा की। उनके वास्तविक स्वरूपको न जाननेवाले बच्चे और स्त्रियाँ उनकी ऐसी महिमा देखकर वहाँसे लौट गये। फिर सबके द्वारा सम्मानित होकर श्रीशुकदेव गोस्वामी श्रेष्ठ आसनपर विराजमान हुए॥ २९॥

स संवृतस्तत्र महान् महीयसां
ब्रह्मर्षिराजर्षिदेवर्षिसङ्घैः।

व्यरोचतालं भगवान् यथेन्दु-
ग्रहर्क्षतारानिकरैः परीतः ॥ ३० ॥

तब उस सभामें ब्रह्मर्षि, देवर्षि और राजर्षियोंके समूहसे घिरे हुए महान् भगवान् श्रीशुकदेव उसी प्रकार अत्यन्त शोभायमान होने लगे, जिस प्रकार ग्रह, नक्षत्र और तारोंसे घिरे हुए चन्द्रमाकी शोभा होती है॥ ३०॥

प्रशान्तमासीनमकुण्ठमेधसं
मुनिं नृपो भागवतोऽभ्युपेत्य।
प्रणम्य मूर्ध्नावहितः कृताञ्जलि-
र्नत्वा गिरा सूनृतयान्वपृच्छत्॥ ३१ ॥

उस समय संयमी परम भागवत राजा परीक्षित्‌ने देखा कि मुनिवर श्रीशुकदेव सुखपूर्वक बैठ गये हैं, उनका हृदय पूर्ण रूपसे शान्त है तथा उनकी मेधा अतुलनीय है अर्थात् वे समस्त विषयोंका निसंकोच रूपमें समाधान करनेवाली तीक्ष्ण बुद्धिसे युक्त हैं। अतः राजाने उनके समीप जाकर उनके चरणोंमें सिर रखकर प्रणाम किया और फिर खड़े होकर प्रश्न करनेके उद्देश्यसे पुनः हाथ जोड़कर नमस्कार करके अत्यन्त मधुर वाणीसे उनसे पूछने लगे—॥ ३१॥

श्रीपरीक्षिदुवाच—

अहो अद्य वयं ब्रह्मन् सत्सेव्याः क्षत्रबन्धवः।
कृपयातिथिरूपेण भवद्भिस्तीर्थकाः कृताः॥ ३२ ॥

श्रीपरीक्षित्‌ने कहा—हे ब्रह्मन्! आज हमारा परम सौभाग्य है, क्योंकि आपने कृपापूर्वक अतिथिरूपमें पधारकर हमें तीर्थके समान पवित्र कर दिया है। अतएव अधम क्षत्रिय होनेपर भी हम साधुओंकी सेवा करनेके अधिकारी हुए हैं॥ ३२॥

येषां संस्मरणात् पुंसां सद्यः शुद्ध्यन्ति वै गृहाः।
किं पुनर्दर्शनस्पर्श-पादशौचासनादिभिः॥ ३३ ॥

आप-जैसे महात्माओंके स्मरणमात्रसे ही गृहस्थोंके घर तत्काल पवित्र हो जाते हैं, तब फिर आपके दर्शन, स्पर्श, आपके चरणको

धोने और आपको आसन प्रदानादिका सुअवसर मिलनेपर मनुष्य पवित्र होगा, इस विषयमें तो फिर कहना ही क्या है?॥ ३३॥

सान्निध्यात्ते महायोगिन् पातकानि महान्त्यपि।
सद्यो नश्यन्ति वै पुंसां विष्णोरिव सुरेतराः॥ ३४॥

हे महायोगिन्! जिस प्रकार भगवान् श्रीविष्णुके सामने आते ही असुर नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार आपके सान्निध्यमें जीवोंके बड़े-बड़े पाप भी तुरन्त नष्ट हो जाते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है॥ ३४॥

अपि मे भगवान् प्रीतः कृष्णः पाण्डुसुतप्रियः।
पैतृष्वसेयप्रीत्यर्थं तद्गोत्रस्यात्तबान्धवः॥ ३५॥

पाण्डवोंके सुहृद् भगवान् श्रीकृष्ण अवश्य ही मुझपर भी प्रसन्न हैं। उन्होंने अपने फुफेरे भाइयोंकी प्रसन्नताके लिए उन्हींके कुलमें उत्पन्न हुए मुझे भी बन्धुरूपमें स्वीकार किया है॥ ३५॥

अन्यथा तेऽव्यक्तगतेर्दर्शनं नः कथं नृणाम्।
नितरां म्रियमाणानां संसिद्धस्य वनीयसः॥ ३६॥

यदि भगवान् श्रीकृष्णकी कृपा नहीं होती, तो आप-जैसे एकान्त वनवासी और सामान्य लोगोंसे अलक्षित रहकर विचरण करनेवाले परम सिद्धपुरुषका स्वयं पधारकर मुझ-जैसे मरणासन्न प्राकृत मनुष्योंको दर्शन देना कैसे सम्भव होता?॥ ३६॥

अतः पृच्छामि संसिद्धिं योगिनां परमं गुरुम्।
पुरुषस्येह यत् कार्यं म्रियमाणस्य सर्वथा॥ ३७॥

आप योगियोंके परम गुरु हैं तथा सबकुछ जाननेवाले हैं। इसलिए मैं आपसे परम सिद्धिके स्वरूप और साधनके सम्बन्धमें प्रश्न कर रहा हूँ। जो पुरुष मरणासन्न है, उसे सिद्धि प्राप्तिके विषयमें सब प्रकारसे क्या करना चाहिये?॥ ३७॥

यच्छ्रोतव्यमथो जप्यं यत् कर्तव्यं नृभिः प्रभो।
स्मर्तव्यं भजनीयं वा ब्रूहि यद्वा विपर्ययम्॥ ३८॥

प्रभो! साथ ही कृपापूर्वक यह भी बतलाइये कि मनुष्यमात्रके लिये क्या करना आवश्यक है अर्थात् वे किसका श्रवण, किसका जप, किसका स्मरण और किसका भजन करें तथा उसे क्या-क्या नहीं करना चाहिये?॥ ३८॥

नूनं भगवतो ब्रह्मन् गृहेषु गृहमेधिनाम्।
न लक्ष्यते ह्यवस्थानमपि गोदोहनं क्वचित्॥ ३९॥

हे ब्रह्मन्! आपका दर्शन अत्यन्त दुर्लभ है, क्योंकि जितनी देरमें एक गाय दुही जाती है, आप उतनी देर भी गृहस्थोंके घरपर नहीं ठहरते हैं। (इसलिए कृपापूर्वक इसी क्षण मेरे प्रश्नोंका उत्तर प्रदान कीजिये)॥ ३९॥

श्रीसूत उवाच—

एवमाभाषितः पृष्टः स राज्ञा श्लक्ष्णया गिरा।
प्रत्यभाषत धर्मज्ञो भगवान् बादरायणिः॥ ४०॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—जब राजाने बड़े ही मधुर वचनोंसे इस प्रकार सम्भाषण और प्रश्न किया, तब समस्त धर्मोंके सारको जाननेवाले भगवान् व्यासनन्दन श्रीशुकदेवने राजाको उत्तर देना आरम्भ किया॥ ४०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां प्रथमस्कन्धे पारीक्षिते श्रीशुकागमनं नाम एकोनविंशोऽध्यायः॥

॥ प्रथमः स्कन्धः समाप्तः॥


द्वितीयः स्कन्धः

द्वितीय स्कन्धकी कथाका सार

"जिस व्यक्तिकी मृत्यु निकट हो और जो अपने चरम कल्याणको चाहनेवाले हैं—ऐसे लोगोंका क्या कर्त्तव्य है?" महाराज परीक्षित्‌के इस प्रश्नके उत्तरमें भगवान् श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा कि समस्त वस्तुओंके सर्वप्रधान आराध्यदेवके सम्बन्धमें यह प्रश्न और इसका उत्तर सभी प्राणियोंके लिए सर्वोत्तम श्रवण करने योग्य, परम-हितकर तथा आत्मवेत्ता महात्माओंके लिए भी अभिलषित विषय है। गृहव्रत (सांसारिक जीवनका व्रत) लिये हुए व्यक्ति परममङ्गलमय हरिकथाका श्रवण न कर अपनी-अपनी इन्द्रियों और जड़-देहके सम्पर्कयुक्त नाममात्रके आत्मीयजनोंकी सन्तुष्टिमें ही एकान्त रूपसे निमग्न रहते हैं तथा अपने जीवनके कर्त्तव्य और परमार्थके अनुशीलनमें सम्पूर्ण रूपसे उदासीन रहते हैं। जो श्रीभगवान्‌का अभयपद (धाम) प्राप्त करनेके अभिलाषी हैं, उनके लिए केवल हरिकथाका श्रवण, कीर्त्तन और स्मरण करना ही कर्त्तव्य है। इसके द्वारा ही जीवके हृदयमें श्रीहरिके चरणकमलोंकी स्मृति उदित होती है। स्वधर्म-पालनादिमें निष्ठा और सांख्य योगादि जितने भी अवान्तर (अन्यान्य) कर्त्तव्य हैं, उन सबका एकमात्र चरम उद्देश्य ही श्रीहरिके चरणकमलोंका स्मरण होना है। हरिकथा शोक, मोह और भयका नाश करनेवाली है। इसके अतिरिक्त जीवके लिए वाञ्छनीय अन्य कुछ भी नहीं है, इसीलिए परमहंस मुनि भी सभी कुछ परित्याग करके निरन्तर श्रीहरिके गुणोंका अनुकीर्त्तन करते हैं। वह श्रीहरिगुण-अनुकीर्त्तनरूप पुराण-कथा ही समस्त वेदोंके समान महापुराण है। इस पुराणराजका नाम 'श्रीमद्भागवत' है। द्वापरयुगके अन्तमें श्रीशुकदेवने इसी पुराणका अपने गुरु श्रीकृष्णद्वैपायनसे अध्ययन किया था। इस श्रीमद्भागवतके एकमात्र वर्णनीय विषय 'श्रीकृष्ण' का ऐसा माधुर्य है कि आत्माराम मुक्त परमहंसगण भी उनके माधुर्यसे मुग्ध और आकृष्ट होकर शुद्धभावसे उनका भजन करते हैं। इसीलिए श्रीशुकदेव गोस्वामीका ब्रह्ममें रत

चित्त भी स्वतः ही श्रीगोविन्दकी लीलाकथामें निविष्ट हुआ। इस श्रीमद्भागवतके अध्ययनमें एकान्तिक रूपसे श्रीकृष्णके शरणागत महात्माओंका ही अधिकार है, इसीलिए श्रीशुकदेव गोस्वामी श्रीपरीक्षित्‌की भाँति श्रीकृष्णैक शरण तथा शुश्रुषु भागवत-जनके निकट इस श्रीभागवत-कथाका कीर्त्तन कर रहे हैं। श्रीमद्भागवतमें श्रद्धा रखनेवाले सौभाग्यवानजनोंकी ही श्रीकृष्णमें एकान्तिकी रति उदित होती है तथा हरिनामके अनुकीर्त्तन द्वारा ही जीवको चरम-कल्याण प्राप्त होता है।

श्रीहरिसे विमुख जीवोंका जीवन दीर्घ होनेपर भी वृथा ही है। जीवनका अति अल्प समय भी हरिसेवामें नियोजित होनेसे वह सभी प्रकारके अर्थों (अभिलाषाओं) की सिद्धि प्रदान करता है। खट्वाङ्ग राजाने अपने जीवनके बचे हुए (अन्तिम) मुहूर्त्त कालमात्रमें भी एकान्तिकी हरिसेवामें मग्न रहकर अन्तमें श्रीहरिके अभय पद (धाम) को प्राप्त किया था। अतएव आसन्न-मृत्यु व्यक्ति अर्थात् जिस व्यक्तिकी मृत्यु निकट हो उसे पुत्र-पत्नी-धनादिमें आसक्ति त्यागकर चित्तको निरन्तर भगवान्‌के श्रवण-कीर्त्तन-स्मरणादिमें रत रखना चाहिये। भगवान्‌की चिन्ता और ध्यानके प्रभावसे स्वभावसे चञ्चल चित्त भगवान्‌में एकाग्र होकर सुस्थिर हो जाता है, तथा धारणाके द्वारा हृदयके प्रशान्त होनेपर उस हृदयमें ही शीघ्र भक्ति लक्षणरूप योगके उदित होनेकी सम्भावना होती है। अतः राजा परीक्षित्‌के लिए उस समय एक सप्ताह कालकी आयु बची रहनेके कारण उनके लिए चिन्ताका कोई कारण नहीं था।

महाराज परीक्षित् द्वारा इस विषयको और भी अधिक जाननेकी इच्छा करनेपर योगीजन श्रीभगवान्‌के जिस स्थूल विराट् रूपकी मनमें धारणा करते हैं, श्रीशुकदेव गोस्वामीने उसी विराट् विश्वरूपका विषय वर्णन किया, तत्पश्चात् उन्होंने महत्तत्त्व, अहङ्कार-तत्त्व और सृष्टिके वैचित्र्यका वर्णन किया। इसके बाद श्रीशुकदेव गोस्वामीने अष्टाङ्ग-योगियोंकी क्रमोन्नतिके पथको व्यक्त किया। अष्टाङ्गयोगके अनुष्ठानमें रत योगीगण सबके अन्तर्यामी श्रीनारायणके शङ्ख, चक्र, गदा और कमलसे सुशोभित सुन्दररूपका सदा-सर्वदा ध्यानकर अपने अन्तरमें उनका साक्षात्कार करते हैं। इसीके द्वारा उनकी सम्पूर्ण प्रकारसे सिद्धि

होती है। परमात्मा श्रीहरि ही सबके अन्तर्यामी ईश्वर हैं। अतएव सर्वदा और सर्वत्र श्रीहरिका श्रवण, कीर्त्तन और स्मरण करना ही नित्यमङ्गलकामी व्यक्तिका एकमात्र कर्त्तव्य है।

इस प्रकार श्रीशुकदेव गोस्वामीने आसन्न-मृत्यु व्यक्तिके कर्त्तव्यका निर्णय करते हुए कहा कि धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष इत्यादि विविध कामनाओंमें अनुरक्त सकाम उपासक सूर्य, गणेश, दुर्गा, शिवादि बहुत-से देवताओंको अपनी-अपनी इन्द्रियोंका तर्पण करनेवाले यन्त्र मानकर उन देवताओंकी उपासना करते हैं, किन्तु निष्काम भक्त केवलमात्र श्रीहरिकी ही उपासना करते हैं। श्रीहरिसेवा ही सभीके नित्यमङ्गलका द्वारस्वरूप है। अन्य देवी-देवताओंके उपासकगण यदि कभी भक्तोंके सङ्गसे हरिभक्ति प्राप्तकर सकेंगे तभी उनकी भी मायातीत विष्णुके परम-धामको प्राप्त करनेकी सम्भावना है। साधुसङ्गमें प्रेमामृतको प्राप्तकर सभीकी समस्त प्रकारकी इतर (अन्य-अन्य) कामनाएँ परिपूर्ण होती हैं।

श्रीसूत गोस्वामीसे हरिकथाका श्रवण करते-करते शौनकादि मुनियोंने श्रीसूत गोस्वामीको परममङ्गलमयी इस हरिकथाको और भी विस्तारसे वर्णन करनेका अनुरोध करते हुए कहा कि ऐसे सर्वाङ्ग सुन्दर नरदेहको प्राप्तकर जो व्यक्ति अपनी समस्त इन्द्रियों द्वारा सर्वदा श्रीहरिकी सेवा नहीं करता, उसके द्वारा इस देहको धारण करना वृथा ही है तथा वह वृक्ष-पर्वतादिकी भाँति आवृत-चेतन अचरमात्र है।

तदुपरान्त श्रीसूत गोस्वामीने महाराज परीक्षित्‌के सौभाग्यका वर्णन करनेके प्रसङ्गमें प्रथमतः उनका विषयोंसे प्रगाढ़ वैराग्य, श्रीकृष्णमें उनकी एकान्तिकी रति और सर्वश्रेष्ठ उपास्यके रूपमें एकमात्र श्रीकृष्णमें ही उनकी स्थिर मतिकी प्रशंसा की। फिर श्रीशुकदेव गोस्वामीने सभी कारणोंके कारण, अखिल जगत्‌में सबके एकमात्र आश्रय, भक्तोंका त्राण करनेवाले, अभक्तोंके दण्डदाता तथा निर्विशेषवादी कुयोगियोंके लिए सुदुर्लभ श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें पुनः-पुनः स्तुति और नमन किया तथा भगवान् श्रीव्यासदेवकी चरण-वन्दना करते हुए कहने लगे—यह श्रीमद्भागवत पूर्वकालमें श्रीभगवान्‌ने स्वयं श्रीब्रह्माजीको कही थी और ब्रह्माजीने अपने शिष्य श्रीनारदजीको कही थी।

पहले-पहले श्रीनारद ब्रह्माजीको ही जगत्-कर्त्ताके रूपमें मानते थे, किन्तु इस भागवत-श्रवणके प्रसङ्गमें ब्रह्माजीके मुखसे ही उन्हें ज्ञात हुआ कि सर्वात्मा श्रीहरि ही सभी कारणोंके कारण और असमोर्द्ध (अद्वितीय) अधीश्वर हैं। श्रीहरिके भक्तगण ही उनके तत्त्वको जान सकते हैं, अन्य कोई कभी भी किसी भी उपायसे उसे नहीं जान सकते। इसके बाद ब्रह्माजीने श्रीनारदको सृष्टि-तत्त्वके विषयमें उपदेश दिया, तथा किस प्रकार सबके मूल-आश्रय श्रीविष्णुसे ही सूक्ष्मसे स्थूलरूप यह लोक-प्रपञ्च उत्पन्न हुआ है, किस प्रकार वे एकांशमें सर्वमय परमात्मा होकर भी युगपत् सर्वदा मायाधीश्वरके रूपमें विराज कर रहे हैं—इन सबका वर्णन किया।

श्रीब्रह्माने और भी कहा—"उन कारणशायी महाविष्णु द्वारा गर्भवारिमें शयन करनेपर उनके नाभिकमलसे मैंने जन्म-ग्रहण किया है। वे ही समस्त अवतारोंके बीजस्वरूप हैं। उनकी दुरत्यया मायासे विमोहित होकर कोई भी उन्हें जान नहीं सकता। मैं सर्वदा उनके ही चरणकमलोंका ध्यान करता हूँ। मैं समग्र ब्रह्माण्डका अधीश्वर हूँ तथा लोकपालगण भी मेरी पूजा करते हैं, किन्तु ऐसा होनेपर भी मैं उन श्रीहरिकी चरण-पीठसे भी अत्यन्त क्षुद्र हूँ। सर्वदा योगयुक्त रहकर भी उन जन्मदाता पिताके परमतत्त्वके एक बिन्दुको भी मैं जान नहीं सका, तथा रुद्रादि अन्य कोई भी नहीं जान सके। अहो! वे तो स्वयं ही अपनी महिमाका अन्त नहीं पाते, दूसरा कोई फिर कैसे जानेगा? जीवगण मायाके द्वारा विमोहित होकर कुतर्कके सहारे उनके गूढ़तत्त्वका निर्णय करने जाकर धृष्टता प्रदर्शन करते हैं। ऐसे लोगोंके निकट श्रीहरिका परमस्वरूप सदाके लिए ही तिरोहित रहता है।"

श्रीभगवान् जीवोंके हितके लिए भिन्न-भिन्न समयमें ब्रह्माण्डमें असंख्य मायाधीश अवताररूप ग्रहण करते हैं। ब्रह्माजीने श्रीनारदके निकट उनमेंसे श्रीविष्णुके वराह, यज्ञ, कपिल, दत्त, चतुःसन, नर-नारायण, पृश्निगर्भ, हरि, ऋषभ, हयग्रीव, मत्स्य, कूर्म, नृसिंह, गजेन्द्र-मोचन, गरुड़वाहन, वामन, हंस, धन्वन्तरी, परशुराम, श्रीराम-लक्ष्मण-भरत-शत्रुघ्न, श्रीबलराम-वासुदेव, व्यासदेव और बुद्ध इत्यादि

बहुत-से अवतारोंका वर्णन किया। उन्होंने श्रीनारदजीको यह भी बतलाया कि वही श्रीविष्णु कलिके अन्तमें पूर्ण रूपसे श्रीकृष्णसे विमुख हुए नास्तिक जनसमूहको ध्वंस करनेके लिए कल्किके रूपमें अवतीर्ण होंगे। ब्रह्मादि प्रजापतिगण सभी उन श्रीविष्णुके अनन्त वैभवके अंशमात्र हैं। भगवान्‌की मायासे मोहित जीवगण भगवान्‌की कृपाके बिना कभी भी उनकी लीलाके रहस्यको नहीं जान सकते हैं। केवल शरणागत भक्तगण ही भगवान्‌के तत्त्वको जानकर कृतार्थ होते हैं। इसलिए ब्रह्मा, नारद, शिव और सनकादि एवं प्रह्लाद, सपत्नीक मनु, प्रियव्रत-उत्तानपाद, प्राचीनबर्हि, ऋभु, वेण-पिता अङ्ग, ध्रुव, इक्ष्वाकु, पुरूरवा, मुचुकुन्द, विदेह, गधि, रघु, अम्बरीष, सगर, गय, ययाति, मान्धाता, अलर्क, शतधन्, रन्तिदेव, भीष्म, बलि, दिलीप, सौभरी, उतङ्क, शिबि, देवल, पिप्पलाद, सारस्वत, उद्धव, पराशर, भूरिषेण, विभीषण, हनुमान, शुक, अर्जुन, आर्ष्टिषेण, विदुर, श्रुतदेव इत्यादि कतिपय भाग्यवानजन भगवान्‌की योगमायाकी कृपासे उन्हें जान सके हैं। अत्यन्त नीचकुलमें उत्पन्न व्यक्ति भी श्रीहरिका चरणाश्रयकर शुद्ध और पवित्र हो जाते हैं। मुनिगण श्रीहरिको ही परमार्थ-तत्त्व कहते हैं। योगीगण श्रीहरिके चरणोंका ही ध्यान करते हैं। वे ही विधाता हैं।

इस सम्पूर्ण कथाको कहकर श्रीब्रह्माने नारदजीको मायाके मलको नाश करनेवाले हरिकथामय इस श्रीमद्भागवतको प्रकाश करनेका आदेश दिया।

इस सब कथाको श्रवणकर महाराज परीक्षित्‌ने श्रीशुकदेव गोस्वामीसे अनेक विषयोंको जाननेकी इच्छासे जिज्ञासा की—"किस प्रकारसे जीवकी मायासे मुक्ति होती है? श्रीभगवान् किस प्रकारसे लीला करते हैं?" इत्यादि। श्रीपरीक्षित्‌ने यह भी कहा—"आपके मुखसे हरिकथारूप अमृत पानकर मेरा मृत्युभय तक दूर हो गया है तथा मैं इस अमृतको निरन्तर पान करनेका अभिलाषी हुआ हूँ। श्रीकृष्ण कथाका आलाप करते-करते ही मैं इस देहका त्याग करूँगा।"

यह सुनकर श्रीशुकदेव गोस्वामीने श्रीपरीक्षित्‌को सृष्टिविस्तार प्रसङ्गमें सर्वप्रथम श्रीनारायणके नाभिकमलसे ब्रह्माके उद्भव (जन्म),

श्रीनारायण द्वारा 'तप-तप' इन दो शब्दोंका उच्चारण, ब्रह्माजीकी तपस्या, ब्रह्माजी द्वारा भगवद्धाम-वैकुण्ठ और अप्राकृत ऐश्वर्यका दर्शन, ब्रह्माजीके प्रति भगवान्‌की कृपा और तत्त्वोपदेश तथा ब्रह्माजीसे जड़जगत्‌की उत्पत्ति रूप वृत्तान्तयुक्त पुराण कथाका विस्तारसे वर्णन किया। इस श्रीभागवत-पुराणमें सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, मन्वन्तर, ऊति, इशानुकथा, निरोध, मुक्ति और आश्रय—यह दस लक्षण कथित हुए हैं। इसके बाद श्रीशुकदेव गोस्वामीने श्रीभगवान्‌के स्थूल अर्थात् प्रपञ्च-परिणत विश्वरूप और निर्विशेष-चिन्मात्र रूपका वर्णनकर महाकल्प और अवान्तर (मध्यवर्ती) कल्पादिके संवादका भी संक्षेपमें वर्णन किया। अन्तमें उन्होंने पाद्मकल्पके वर्णनकी प्रतिज्ञा की।

शौनकादि ऋषियोंके द्वारा मैत्रेय-विदुरके संवादको श्रवण करनेके अभिलाषी होनेपर श्रीसूत गोस्वामीने श्रीशुकदेव गोस्वामीके मुखसे जो-जो सुना था, उसीका ही वर्णन करना आरम्भ किया।



श्रीमद्भागवतम्

द्वितीयः स्कन्धः

प्रथमोऽध्यायः

ध्यानकी विधि और भगवान्के विराट्रूपका वर्णन

श्रीशुक उवाच—

वरीयानेष ते प्रश्नः कृतो लोकहितं नृप।
आत्मवित्सम्मतः पुंसां श्रोतव्यादिषु यः परः॥ १॥

(पिछले अध्यायमें राजा परीक्षित्ने श्रीशुकदेव गोस्वामीसे प्रश्न पूछे थे कि जो पुरुष मरणशील है, उसे सम्पूर्ण सिद्धि अर्थात् भगवान्के चरणोंकी प्राप्तिके लिए क्या करना चाहिये, कौन-से विषयोंको सुनना चाहिये, किसका जप करना चाहिये और किसका स्मरण तथा भजन करना चाहिये, उस व्यक्तिके लिए क्या करने योग्य है और क्या नहीं? इन प्रश्नोंके उत्तरमें ही) श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! आपने अति उत्तम प्रश्न पूछे हैं। इन प्रश्नोंमें कोई प्राकृत दोष नहीं है, ये सभी लोगोंके लिए बड़े हितकारी हैं तथा ये प्रश्न यहाँ आपकी सभामें उपस्थित समस्त आत्मज्ञानी मुक्तजनोंके द्वारा भी सम्मत हैं॥ १॥

श्रोतव्यादीनि राजेन्द्र नृणां सन्ति सहस्रशः।
अपश्यतामात्मतत्त्वं गृहेषु गृहमेधिनाम्॥ २॥

हे राजश्रेष्ठ! जिनका चित्त गृहमें आसक्त है और जो गृहमेधी पञ्चसूना[१] परायण हैं, तथा मैं कौन हूँ, मैं क्या कर रहा हूँ,

---

[१] ऊखल, जूता, चूल्हा, घड़ा और सम्मार्जनी (झाड़ु)—गृहस्थोंके लिए ये पाँच पञ्चसूना या प्राणी हिंसाके स्थान हैं।

भविष्यमें मेरा क्या होगा, किस प्रकारसे मेरा उद्धार होगा? इत्यादि आत्मतत्त्वके ज्ञानकी समालोचनाके प्रति उदासीन हैं—ऐसे व्यक्तियोंके लिए कहने-सुनने और सोचनेके लिए असंख्य बातें हुआ करती हैं॥ २॥

निद्रया ह्रियते नक्तं व्यवायेन च वा वयः।
दिवा चार्थेहया राजन् कुटुम्बभरणेन वा॥ ३॥

ऐसे व्यक्तियोंकी आयु व्यर्थ ही बीत जाती है। उनकी रात नींद और रतिक्रिया (स्त्री-सङ्ग) में तथा दिन अर्थ-संग्रहकी चेष्टामें और उसके द्वारा कुटुम्बियोंके भरण-पोषणरूप कार्योंमें समाप्त हो जाता है॥ ३॥

देहापत्यकलत्रादिष्वात्मसैन्येष्वसत्स्वपि।
तेषां प्रमत्तो निधनं पश्यन्नपि न पश्यति॥ ४॥

देह, स्त्री और पुत्रादि आत्माकी उस सेनाके समान हैं, जो कालके साथ युद्ध करनेकी इच्छा करते हैं, परन्तु वास्तवमें ये सब अनित्य ही हैं। पिता, पितामह सभी कालके द्वारा विनाशको प्राप्त होते हैं, इस प्रकार अपने पूर्व-पूर्व आत्मीयजनोंकी देहादिका विनाश देखकर भी स्त्री, पुत्र, देहादि असत् वस्तुओंमें आसक्त व्यक्तियोंको इन सबका विनाश दिखलायी नहीं देता। अर्थात् वे विनाशके कारणको जानकर भी अपनी भगवद्-विमुखताको त्याग नहीं पाते हैं॥ ४॥

तस्माद्भारत सर्वात्मा भगवानीश्वरो हरिः।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताऽभयम्॥ ५॥

हे भरतवंशके मुकुट परीक्षित्! जो व्यक्ति समस्त प्रकारके भयोंका निवारण करनेवाले, सर्वानन्दमय तथा पुरुषार्थ-प्राप्तिरूप अभयपदको प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें समस्त जीवोंके 'परमात्मा' अभय प्रदान करनेवाले भगवान् श्रीहरिके विषयमें ही श्रवण, कीर्त्तन और स्मरण करना चाहिये॥ ५॥

एतावान् सांख्ययोगाभ्यां स्वधर्मपरिनिष्ठया।
जन्मलाभः परः पुंसामन्ते नारायणस्मृतिः॥ ६॥

सांख्य-ज्ञान (आत्म-अनात्म विवेक) के द्वारा, योग (यम-नियमादि अष्टाङ्गयोग) के द्वारा अथवा अपने स्वधर्ममें विशेष निष्ठाके साथ श्रीनारायणका स्मरण करना ही मनुष्य जन्म प्राप्त करनेका श्रेष्ठ फल है। किन्तु[१] जन्मके अन्तमें अर्थात् मृत्युके समय भी श्रीनारायणकी स्मृति ही सर्वश्रेष्ठ प्राप्य वस्तु है। इसकी महिमा अनन्त है तथा इसीसे मनुष्यका जन्म सार्थक एवं कृतार्थ होता है॥ ६॥

प्रायेण मुनयो राजन् निवृत्ता विधिसेधतः।
नैर्गुण्यस्था रमन्ते स्म गुणानुकथने हरेः॥ ७॥

हे राजन्! जो मुनि विधि-निषेध (करणीय-अकरणीय) से अतीत होकर सांख्य और योग शास्त्रसे प्राप्त होनेवाली गौण-निर्गुणताका परित्याग करके वास्तविक निर्गुणतामें स्थित हो जाते हैं, अर्थात् मुक्त हो जाते हैं, वे भी भगवान्के गुण-कीर्त्तनमें ही निरन्तर आनन्द प्राप्त करते हैं॥ ७॥

इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मितम्।
अधीतवान् द्वापरादौ पितुर्द्वैपायनादहम्॥ ८॥

हे परीक्षित्! भागवत नामक पुराणमें भगवान्का विषय सन्निविष्ट है, अथवा साक्षात् भगवान्के श्रीमुखसे निकली हुई वाणी होनेके कारण इसका नाम भागवत है। यह भागवत-पुराण समस्त उपनिषदोंका रस-सार है। यह अनादि कालसे ही सिद्ध है। मेरे पिता श्रीव्यासदेवने इसे जगत्में प्रकाशित किया है। यह पुराण परब्रह्मके समान है। द्वापरयुगकी समाप्तिपर मैंने अपने पिता श्रीकृष्णद्वैपायनसे इसका अध्ययन किया था, क्योंकि इसके तात्पर्यको स्वयं ही अपने बुद्धि-बलसे हृदयङ्गम नहीं किया जा सकता॥ ८॥

परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्ये उत्तमःश्लोकलीलया।
गृहीतचेता राजर्षे आख्यानं यदधीतवान्॥ ९॥

तदहं तेऽभिधास्यामि महापौरुषिको भवान्।
यस्य श्रद्दधतामाशु स्यान्मुकुन्दे मतिः सती॥ १०॥

---

[१] 'अन्ते' शब्दका दूसरा अर्थ।

हे राजर्षे! मेरा चित्त निर्गुण-ब्रह्ममें विशेष भावसे मग्न रहता था, तथापि उत्तमश्लोक श्रीभगवान्‌की लीलाओंके द्वारा मेरा चित्त आकर्षित हो उठा और मैंने इस आख्यानका अध्ययन किया। हे राजन्! आपमें महापुरुष श्रीकृष्णको प्राप्त करनेकी योग्यता है, इसीलिए मैं आपके समक्ष इस भागवत शास्त्रका वर्णन कर रहा हूँ। यह महापुराण सभीके लिए परम साधन भी है और परम साध्य भी। जिसकी इसके प्रति श्रद्धा होती है, उसके हृदयमें भगवान् श्रीमुकुन्दके प्रति शीघ्र ही प्रेम उदित हो जाता है॥ ९-१०॥

एतन्निर्विद्यमानानामिच्छतामकुतोभयम्।
योगिनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्तनम्॥ ११॥

हे राजन्! जो इस संसारसे विरक्त होकर ऐकान्तिक भक्ति कर रहे हैं, जिनकी स्वर्ग अथवा मोक्षादिकी कामना है और जो आत्माराम योगी पुरुष हैं, उन सभीके लिए श्रीहरिके नाम और गुणोंका पुनः-पुनः श्रवण, कीर्त्तन और स्मरण ही परम साधन और साध्यके रूपमें पूर्व-पूर्व आचार्यों द्वारा निर्णीत हुआ है॥ ११॥

किं प्रमत्तस्य बहुभिः परोक्षैर्हायनैरिह।
वरं मुहूर्तं विदितं घटेत श्रेयसे यतः॥ १२॥

इस संसारमें भोगोंमें प्रमत्त असावधान व्यक्तियोंके बहुत-से वर्ष अनजानेमें व्यर्थ ही चले जाते हैं। जब क्षण भरके लिए भी उन्हें यह ज्ञान होता है कि उनका समय व्यर्थ जा रहा है, तो वही ज्ञान श्रेष्ठ है, क्योंकि यह जानकर ही लोग नित्य मङ्गलकी प्राप्तिके लिए प्रयत्न कर सकते हैं॥ १२॥

खट्वाङ्गो नाम राजर्षिर्ज्ञात्वेयत्तामिहायुषः।
मुहूर्तात् सर्वमुत्सृज्य गतवानभयं हरिम्॥ १३॥

खट्वाङ्ग नामक राजर्षिको जब यह ज्ञात हुआ कि उनकी परमायु मुहूर्त्तमात्रकी ही रह गयी है, तब वे उसी क्षण इस भूतलपर आ गये और समस्त विषयोंका परित्याग करके श्रीहरिके अभय प्रदान करनेवाले श्रीचरणकमलोंमें शरणागत हो गये॥ १३॥

तवाप्येतर्हि कौरव्य सप्ताहं जीवितावधिः।
उपकल्पय तत् सर्वं तावद् यत् साम्परायिकम्॥ १४॥

हे कुरुवंश-प्रदीप परीक्षित्! आपके पास तो अभी भी आपकी आयुका सप्ताह भरका काल बाकी है, अतएव इतने कालमें ही आप अपने कल्याणके लिए पारलौकिक साधन सम्पन्न करें॥ १४॥

अन्तकाले तु पुरुष आगते गतसाध्वसः।
छिन्द्यादसङ्गशस्त्रेण स्पृहां देहेऽनु ये च तम्॥ १५॥

जब जीवनका अन्तकाल उपस्थित हो जाये, तब व्यक्तिको मृत्युसे भय नहीं करना चाहिये, बल्कि अनासक्ति (वैराग्य) रूप शस्त्रसे शरीर और शरीरसे सम्बन्धित पुत्र-पत्नी आदिके प्रति भोग-बुद्धि एवं ममताको काट डालना चाहिये॥ १५॥

गृहात् प्रव्रजितो धीरः पुण्यतीर्थजलाप्लुतः।
शुचौ विविक्त आसीनो विधिवत् कल्पितासने॥ १६॥
अभ्यसेन्मनसा शुद्धं त्रिवृद्ब्रह्माक्षरं परम्।
मनो यच्छेज्जितश्वासो ब्रह्मवीजमविस्मरन्॥ १७॥

तत्पश्चात् वह व्यक्ति घरका त्याग करके निकल जाये और धीर अर्थात् ब्रह्मचर्यादि रूप यम (प्रथम योगाङ्ग) का पालन करे, पुण्यतीर्थमें स्नानादि रूप नियम (द्वितीय योगाङ्ग) करे एवं पवित्र निर्जन स्थानपर कुश, मृगचर्म और वस्त्र इन तीनोंका क्रमके अनुसार आसन (तृतीय योगाङ्ग) बिछाकर उसपर बैठ जाये। इसके बाद ॐकार अर्थात् 'अ'कार, 'उ'कार और 'म'-कार—इन तीन अक्षरोंमें ग्रथित शुद्ध ब्रह्माक्षर प्रणवका मन-ही-मन जप करे। तत्पश्चात् प्रणवको एक क्षणके लिए भी विस्मृत न करके प्राणवायु (साँस) को रोककर कुम्भक द्वारा मनको स्थिर कर (प्राणायाम-चतुर्थ योगाङ्ग) का अभ्यास करे॥ १६-१७॥

नियच्छेद् विषयेभ्योऽक्षान् मनसा बुद्धिसारथिः।
मनः कर्मभिराक्षिप्तं शुभार्थे धारयेद्धिया॥ १८॥

मनके दमन हो जानेपर उसके द्वारा रूप-रसादि विषयोंसे चक्षु-कर्णादि इन्द्रियोंका प्रत्याहार (पञ्चम योगाङ्ग) करे अर्थात् विभिन्न स्थानोंपर विक्षिप्त हो रही इन्द्रियोंको वहाँ-वहाँसे हटाकर एक निर्दिष्ट स्थानपर लगा दे। अपनी निश्चयात्मिका अर्थात् स्थिर बुद्धिको सारथी बनाये। पूर्व संस्कारोंकी बहुत अधिक प्रबलता रहनेके कारण यदि प्राणायाम द्वारा मनका भलीभाँति स्थिर होना असम्भव हो रहा हो, तो बुद्धि द्वारा भगवान्‌के रूपकी धारणा (षष्ठ योगाङ्ग) करके मनको शुभ विषयोंमें लगाये॥ १८॥

तत्रैकावयवं ध्यायेदव्युच्छिन्नेन चेतसा।
मनो निर्विषयं युक्त्वा ततः किञ्चन न स्मरेत्।
पदं तत् परमं विष्णोर्मनो यत्र प्रसीदति॥ १९॥

इसके बाद श्रीभगवान्‌के समग्र रूपसे मनको कभी भी न हटाये और इस प्रकार युक्त-चित्तसे श्रीभगवान्‌के स्वरूपमें कर-चरणादि उनके एक-एक अङ्गका ध्यान (सप्तम योगाङ्ग) करे। श्रीभगवान्‌में विषयका स्पर्शमात्र भी नहीं है, अतः मनको उनमें ऐसा निमग्न कर दे कि फिर अन्य किसी भी विषयका स्मरण ही न रहे। ऐसा होनेपर मन उपशमता अर्थात् समाधि (अष्टम योगाङ्ग) को प्राप्त कर लेता है। यही भगवान् श्रीविष्णुका परमपद है॥ १९॥

रजस्तमोभ्यामाक्षिप्तं विमूढं मन आत्मनः।
यच्छेद्धारणया धीरो हन्ति या तत्कृतं मलम्॥ २०॥

पुनः यदि श्रीभगवान्‌के रूपका ध्यान करते समय मन रजोगुणसे चञ्चल तथा तमोगुणसे विमूढ़ होने लगे, तो धीर व्यक्तियोंको धारणाके द्वारा मनको वशमें करना चाहिये। इसका कारण है कि धारणा ही रजोगुण और तमोगुणसे उत्पन्न मलिनताको दूर कर सकती है॥ २०॥

यतः सन्धार्यमाणायां योगिनो भक्तिलक्षणः।
आशु संपद्यते योग आश्रयं भद्रमीक्षतः॥ २१॥

इस प्रकार जब भक्ति-लक्षणोंसे युक्त धारणाका अभ्यास हो जाता है, तब इस धारणा-योगमें ही भगवान्‌का दर्शन होने लगता है, जिसके

फलस्वरूप ऐसे धारणा-परायण योगियोंकी भक्ति-योगमें शीघ्र ही प्रीति हो जाती है॥ २१॥

श्रीराजोवाच—

यथा सन्धार्यते ब्रह्मन् धारणा यत्र सम्मता।
यादृशी वा हरेदाशु पुरुषस्य मनोमलम्॥ २२॥

राजा परीक्षित्ने पूछा—हे ब्रह्मन्! धारणा जिस रीतिसे सुचारु रूपसे की जा सकती है और वह जिस वस्तुमें प्रतिष्ठित रहती है तथा जिस प्रकारकी होनेसे व्यक्तिके मनकी मलिनतको अतिशीघ्र ही दूर करती है—इन सबके विषयमें आप मुझे बतलाइये॥ २२॥

श्रीशुक उवाच—

जितासनो जितश्वासो जितसङ्गो जितेन्द्रियः।
स्थूले भगवतो रूपे मनः सन्धारयेद्धिया॥ २३॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—मनुष्य आसन-नियमादि द्वारा आसनको जीतकर, प्राणायाम द्वारा श्वासको जीतकर और फिर जितेन्द्रिय और आसक्तिरहित होकर सबसे पहले बुद्धि-योगसे भगवान्के स्थूल रूप—विराट् स्वरूपकी मनमें धारणा करे॥ २३॥

विशेषस्तस्य देहोऽयं स्थविष्ठश्च स्थवीयसाम्।
यत्रेदं दृश्यते विश्वं भूतं भव्यं भवच्च सत्॥ २४॥

भगवान्की विराट् देह अति स्थूलसे भी स्थूलतर है। भूत, भविष्य एवं वर्त्तमान कार्यरूप यह समस्त विश्व भगवान्की उस विराट् देहमें ही प्रकाशित हो रहा है॥ २४॥

अण्डकोषे शरीरेऽस्मिन् सप्तावरणसंयुते।
वैराजः पुरुषो योऽसौ भगवान् धारणाश्रयः॥ २५॥

पचास करोड़ योजन परिमाणवाले ब्रह्माण्डरूप भगवान्का विराट् शरीर पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, अहङ्कार और महत्-तत्त्व—इन सात आवरणोंसे घिरा हुआ है। इसके बीचमें स्थित जीवोंके नियन्ता भगवान् विराट् पुरुष ही धारणाके आश्रय स्वरूप हैं, अर्थात् उनकी ही धारणा की जाती है॥ २५॥

पातालमेतस्य हि पादमूलं
पठन्ति पार्ष्णिप्रपदे रसातलम्।
महातलं विश्वसृजोऽथ गुल्फौ
तलातलं वै पुरुषस्य जङ्घे॥ २६॥

(तत्त्ववेत्ता व्यक्ति उनके स्वरूपका इस प्रकार वर्णन करते हैं—) पाताल उन विराट् पुरुषके तलवे हैं, रसातल उनके चरणोंका आगे एवं पीछेका भाग (पंजे और एड़ियाँ) हैं। उनके दोनों चरणोंकी एड़ीके ऊपरकी गाँठे महातल हैं और दोनों पैरोंके पिण्डे तलातल हैं॥ २६॥

द्वे जानुनी सुतलं विश्वमूर्ते-
रूरुद्वयं वितलञ्चातलञ्च।
महीतलं तज्जघनं महीपते
नभस्तलं नाभिसरो गृणन्ति॥ २७॥

सुतल उन विश्वमूर्त्ति विराट् पुरुषके दो घुटने हैं, वितल एवं अतल उनकी दोनों जाँघें हैं, भूतल उनका जघन (पेड़ू) है तथा आकाश अथवा भुवर्लोक उनका नाभि-सरोवर है॥ २७॥

उरःस्थलं ज्योतिरनीकमस्य
ग्रीवा महर्वदनं वै जनोऽस्य।
तपो रराटीं विदुरादिपुंसः
सत्यन्तु शीर्षाणि सहस्रशीर्ष्णः॥ २८॥

स्वर्गलोक उन विराट् पुरुषका वक्षःस्थल है, महर्लोक उनका गला, जनलोक उनका मुख और तपोलोक उनका ललाट है। सत्यलोकको उन सहस्र सिरवाले विराट् पुरुषके सिरके रूपमें जाना जाता है॥ २८॥

इन्द्रादयो बाहव आहुरुस्राः
कर्णौ दिशः श्रोत्रममुष्य शब्दः।
नासत्यदस्रौ परमस्य नासे
घ्राणोऽस्य गन्धो मुखमग्निरिद्धः॥ २९॥

इन्द्रादि देवता विराट् पुरुषकी भुजाएँ हैं और समस्त दिशाएँ उनके कान हैं। शब्द उनकी श्रवणेन्द्रिय और दोनों अश्विनी कुमार परम-पुरुषके दोनों नासाछिद्र हैं, गन्ध घ्राणेन्द्रिय है तथा धधकती हुई आग उनका मुख है॥ २९॥

द्यौरक्षिणी चक्षुरभूत् पतङ्गः
पक्ष्माणि विष्णोरहनी उभे च।
तद्भ्रूविजृम्भः परमेष्ठिधिष्ण्य-
मापोऽस्य तालू रस एव जिह्वा॥ ३०॥

भगवान्‌के नेत्रगोलक अन्तरीक्ष हैं और उनमें देखनेकी शक्ति सूर्य है। रात और दिन उनकी दोनों पलकें तथा ब्रह्मपद उनका भ्रू-विलास है। जल उनके तालुका अधिष्ठान तथा रस उनकी जिह्वा है॥ ३०॥

छन्दांस्यनन्तस्य शिरो गृणन्ति
दंष्ट्रा यमः स्नेहकला द्विजानि।
हासो जनोन्मादकरी च माया
दुरन्तसर्गो यदपाङ्गमोक्षः॥ ३१॥

वेदोंको उन अनन्त विराट् पुरुषका ब्रह्मरन्ध्र कहा जाता है। यम उनके बड़े दाँत अर्थात् दाढ़ें हैं। पुत्रादिके प्रति स्नेहलेश उनकी दन्तपंक्ति है तथा जगत्‌को उन्मादित करनेवाली माया उनकी मुसकान है। यह अपार संसार उनका कटाक्ष-पात है॥ ३१॥

व्रीडोत्तरोष्ठोऽधर एव लोभो
धर्मः स्तनोऽधर्मपथोऽस्य पृष्ठम्।
कस्तस्य मेढ्रं वृषणौ च मित्रौ
कुक्षिः समुद्रा गिरयोऽस्थिसङ्घाः॥ ३२॥

लज्जा उनके ऊपरका होंठ और लोभ उनका अधर (नीचेका होंठ) है। धर्म उनका स्तन और अधर्मका पथ उनकी पीठ है। प्रजापति उनकी मूत्रेन्द्रिय तथा मित्र और वरुण उनके दोनों अण्ड-कोश हैं। समुद्र उनकी कोख एवं बड़े-बड़े पर्वत उनकी हड्डियाँ हैं॥ ३२॥

नद्योऽस्य नाड्योऽथ तनूरुहाणि
महीरुहा विश्वतनोर्नृपेन्द्र।
अनन्तवीर्यः श्वसितं मातरिश्वा
गतिर्वयः कर्म गुणप्रवाहः॥ ३३॥

हे राजश्रेष्ठ! नदियाँ उन विश्व-तनु विराट् पुरुषकी नाड़ियाँ तथा वृक्ष उनके रोम हैं। अनन्त विक्रमशाली पवन उनका निःश्वास, काल उनकी चाल (गमन-गति) तथा गुण प्रवाहरूप प्राणियोंका संसार उनका कर्म अर्थात् क्रीड़ा है॥ ३३॥

ईशस्य केशान् विदुरम्बुवाहान्
वासस्तु सन्ध्यां कुरुवर्य भूम्नः।
अव्यक्तमाहुर्हृदयं मनश्च
स चन्द्रमाः सर्वविकारकोषः॥ ३४॥

हे कुरुश्रेष्ठ परीक्षित्! बादलोंको उन विराट् पुरुषका केश माना जाता है, सन्ध्या उनका वस्त्र है, अव्यक्त अर्थात् प्रधान उनका हृदय और सब विकारोंका आश्रय-स्वरूप प्रसिद्ध चन्द्रमा उनका मन है॥ ३४॥

विज्ञानशक्तिं महिमामनन्ति
सर्वात्मनोऽन्तःकरणं गिरित्रम्।
अश्वाश्वतर्युष्ट्रगजा नखानि
सर्वे मृगाः पशवः श्रोणिदेशे॥ ३५॥

विद्वान व्यक्ति महत्-तत्त्वको ही उनकी विज्ञान-शक्ति अर्थात् चित्त कहते हैं और श्रीरुद्रको उन सर्वात्माका अहङ्कार कहते हैं; घोड़े, खच्चर, ऊँट और हाथी इत्यादि उनके नख हैं तथा समस्त मृगादि पशु उनके कटि प्रदेशमें स्थित हैं॥ ३५॥

वयांसि तद्व्याकरणं विचित्रं
मनुर्मनीषा मनुजो निवासः।
गन्धर्वविद्याधरचारणाप्सरः-
स्वरस्मृतीरसुरानीकवीर्यः॥ ३६॥

पक्षियोंमें उनका विचित्र शिल्प-कौशल प्रकाशित हो रहा है, (जिसके द्वारा हंसोंका श्वेत वर्ण, शुकपक्षीका हरित वर्ण और मोरोंका रङ्ग-बिरङ्गा वर्ण दिखायी दे रहा है) स्वायम्भुव मनु उनकी विचार करनेवाली बुद्धि है और मनुकी सन्तान मनुष्य उनका निवास-स्थान है। गन्धर्व, विद्याधर, चारण और अप्सराएँ उनके षडजादि स्वर हैं और समस्त असुर-सेनामें श्रेष्ठ प्रह्लाद उनकी स्मृति हैं। सभी दैत्य उनका वीर्य अर्थात् शक्ति हैं॥ ३६॥

ब्रह्माननं क्षत्रभुजो महात्मा
विड्रुरङ्घ्रिश्रितकृष्णवर्णः ।
नानाभिधाभीज्यगणोपपन्नो
द्रव्यात्मकः कर्म वितानयोगः॥ ३७॥

ब्राह्मण उनका मुख, क्षत्रिय दोनों भुजाएँ, वैश्य उनकी जङ्घाएँ और कालेवर्णवाले शूद्र उनके चरण है। वे विराट् पुरुष वसु, रुद्र आदि विविध नामवाले देवताओंसे युक्त हैं तथा हवि आदि द्रव्यों द्वारा साधित यज्ञ उनके कर्म हैं॥ ३७॥

इयानसावीश्वरविग्रहस्य
यः सन्निवेशः कथितो मया ते।
सन्धार्यतेऽस्मिन् वपुषि स्थविष्ठे
मनः स्वबुद्ध्या न यतोऽस्ति किञ्चित्॥ ३८॥

हे महाराज परीक्षित्! मैंने उन विराट्-विग्रहके सम्पूर्ण विभिन्न अङ्गोंका आपके लिए वर्णन कर दिया है। योगीलोग अपने-अपने बुद्धि-योगसे भगवान्के इस स्थूलशरीरकी हृदयमें धारणा करते हैं, क्योंकि इस विराट्-विग्रहके अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु ही नहीं है॥ ३८॥

स सर्वधीवृत्त्यनुभूतसर्व
आत्मा यथा स्वप्नजनेक्षितैकः।
तं सत्यमानन्दनिधिं भजेत
नान्यत्र सज्जेद् यत आत्मपातः॥ ३९॥

जिस प्रकार जीव अपने स्वप्नमें पात्र, मित्र, सैन्यादिका तथा उनके द्वारा उपलक्षित स्वयंके मनोरथ द्वारा रचित राज्यादि भोगोंका अनुभव करता है, उसी प्रकार योगी अपनी बुद्धिकी समस्त वृत्तियोंके द्वारा अपने पूर्व–पूर्वके बहुत–से जन्मोंमें देवराज इन्द्र, राजा आदि रूपमें भोग–ऐश्वर्योंको भोग चुकनेका अनुभव करता है। इन भोगादि ऐश्वर्योंकी कोई स्थिरता नहीं है। अतः उन सत्यस्वरूप, आनन्दनिधि और विराट्के अन्तर्यामी श्रीनारायणका भजन करना चाहिये। अन्य किसी भी वस्तुमें आसक्ति नहीं रखनी चाहिये, क्योंकि यह आसक्ति ही अधःपतन अर्थात् संसार प्रवृत्तिका कारण है॥ ३९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां द्वितीयस्कन्धे श्रीमहापुरुषसंस्थानुवर्णनं नाम प्रथमोऽध्यायः॥

द्वितीयोऽध्यायः

भगवान्‌के स्थूल और सूक्ष्म रूपोंकी धारणा तथा क्रममुक्ति और सद्योमुक्तिका विवेचन

श्रीशुक उवाच—

एवं पुरा धारणयात्मयोनि-
र्नष्टां स्मृतिं प्रत्यवरुध्य तुष्टात्।
तथा ससर्जेदममोघदृष्टि-
र्यथाप्ययात् प्राग् व्यवसायबुद्धिः॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—प्राचीनकालमें प्रलयके समयमें ब्रह्माजीकी सृष्टि-विषयक स्मृति नष्ट हो गयी थी। तब श्रीब्रह्माने इस प्रकारकी धारणाके बलपर ही भगवान्‌को प्रसन्न करके अपनी नष्ट स्मृतिको पुनः प्राप्त किया था। इसी धारणाके बलपर ही उनकी बुद्धि निश्चयात्मिका और दृष्टि अमोघ हो गयी थी। तब उन्होंने इस विश्वको वैसा ही रच दिया, जैसा कि वह प्रलयसे पहले था॥ १॥

शाब्दस्य हि ब्रह्मण एष पन्था
यन्नामभिर्ध्यायति धीरपार्थैः।
परिभ्रमंस्तत्र न विन्दतेऽर्थान्
मायामये वासनया शयानः॥ २॥

(स्वर्गकी प्राप्तिके लिए यज्ञादि साधन करने चाहिये तथा इस विषयमें वेद ही प्रमाण हैं—जो ऐसा कहना चाहते हैं, उनके लिए श्रीशुकदेव गोस्वामी कह रहे हैं—)शब्द-ब्रह्मरूप वेदोंका पथ अथवा कर्म-फलको बोध करानेका मार्ग कुछ ऐसा है कि लोग निरर्थक स्वर्गादि नामोंकी सृष्टि कर लेते हैं और 'यह कर्म करके मैं स्वर्ग-सुख प्राप्त करूँगा' इत्यादिरूप चिन्तामें अपनी बुद्धिका व्यर्थ ही प्रयोग करते हैं। सुखकी वासनासे सोया हुआ पुरुष जिस प्रकार

स्वप्न-कालमें सुखको देखता अवश्य है, पर वास्तवमें उन सुखोंका भोग नहीं कर पाता, उसी प्रकार मायामय-पथमें भटकता हुआ जीव स्वर्गादि नश्वर लोकोंके प्राप्त होनेके कारण कभी भी ऐकान्तिक और निर्मल सुख प्राप्त नहीं कर पाता, अपितु वह पुनः मृत्युलोकमें पतित हो जाता है। कर्मकाण्ड जीवको कभी भी आत्यन्तिक अथवा नित्य-मङ्गल प्रदान नहीं कर सकता॥ २॥

अतः कविर्नामसु यावदर्थः
स्यादप्रमत्तो व्यवसायबुद्धिः।
सिद्धेऽन्यथार्थे न यतेत तत्र
परिश्रमं तत्र समीक्षमाणः॥ ३॥

इसलिए बुद्धिमान व्यक्तिको नाममात्रके भोग्य-पदार्थोंकी प्राप्तिके लिए प्रयत्न नहीं करना चाहिये। जितना ग्रहण करनेसे देह-यात्राका निर्वाह हो जाये, किन्तु इन्द्रिय-तर्पण नहीं, उतना ही ग्रहण करना चाहिये। पुनः उन प्राप्त विषयोंमें भी आसक्ति नहीं रखनी चाहिये तथा इनसे नित्य सुख प्राप्त नहीं हो सकता—इस विषयमें भी दृढ़ निश्चय रहना चाहिये, क्योंकि भगवान्के श्रीचरणोंमें अहैतुकी भक्ति ही एकमात्र नित्य सुख है। यदि देह-यात्राका निर्वाह प्रारब्धवशतः बिना किसी परिश्रमके अनायास ही हो जाये, तो पुनः उसके उपार्जनके लिए प्रयास नहीं करना चाहिये, क्योंकि वह प्रयास व्यर्थ है। श्रीकृष्ण-प्रीतिके लिए भोगोंका त्याग करना ही युक्त-वैराग्यका लक्षण है। अपनी साधन-सिद्धिके विषयमें सावधान रहना चाहिये। यदि विघ्न उपस्थित हो, तो भी पीछे नहीं हटना चाहिये॥ ३॥

सत्यां क्षितौ किं कशिपोः प्रयासै-
र्बाहौ स्वसिद्धे ह्युपबर्हणैः किम्।
सत्यञ्जलौ किं पुरुधान्नपात्र्या
दिग्वल्कलादौ सति किं दुकूलैः॥ ४॥

जब भूमिपर ही सोया जा सकता है, तो पलङ्गके लिए प्रयास क्यों? जब भुजाओंके रूपमें स्वतः सिद्ध तकिया है, तो दूसरे

तकियोंसे क्या प्रयोजन? जब अञ्जलि है, तो बहुत प्रकारके भोजन पात्रोंको संग्रह करनेकी क्या आवश्यकता है? जब दिशाएँ ही वस्त्र हैं, अथवा जब वृक्षोंकी छाल आदि पहनकर जीवनका निर्वाह हो सकता है, तो वस्त्रोंको एकत्रित करनेका प्रयत्न करनेकी क्या आवश्यकता है?॥४॥

चीराणि किं पथि न सन्ति दिशन्ति भिक्षां
नैवाङ्घ्रिपाः परभृतः सरितोऽप्यशुष्यन्।
रुद्धा गुहाः किमजितोऽवति नोपसन्नान्
कस्माद् भजन्ति कवयो धनदुर्मदान्धान्॥५॥

यदि कहो कि सर्दीसे रक्षा कैसे हो सकती है, तो क्या रास्तेमें फटे-पुराने वस्त्र नहीं पड़े रहते? भूखकी ज्वालाको शान्त करनेके लिए क्या ये परोपकारी वृक्ष फल-फूलकी भिक्षा दान नहीं करते? पीनेके लिए जलकी आवश्यकता होनेपर क्या नदियोंका जल सूख गया है? वर्षा होने, ओले गिरने इत्यादि परिस्थितियोंमें आश्रय लेनेके लिए क्या पर्वतोंकी गुफाएँ बन्द हो गयी हैं? यदि कहो कि उनमें रहनेसे व्याघ्रादि हिंसक जन्तुओंका भय रहेगा, तो क्या अजित भगवान् अपने चरणाश्रित भक्तोंकी सदा-सर्वदा रक्षा नहीं करते हैं? वे तो व्याघ्रादिके भी अन्तर्यामी हैं, फिर भक्तवत्सल भगवान् किसलिए इन जन्तुओंको वहाँ प्रेरित करेंगे। अतः विवेकी व्यक्ति फिर किसलिए धनके नशेमें चूर व्यक्तियोंकी चापलूसी करेंगे?॥[१]५॥

एवं स्वचित्ते स्वत एव सिद्ध
आत्मा प्रियोऽर्थो भगवाननन्तः।
तं निर्वृतः नियतार्थो भजेत
संसारहेतूपरमश्च यत्र॥६॥

---

[१] संसारमें आसक्त मूढ़ व्यक्ति भगवान्के द्वारा प्रदत्त धन, रूप, कुल और पाण्डित्यके मदमें मत्त हो जाते हैं और भगवान्के शरणागत निष्किञ्चन व्यक्तियोंको दुःखी मानकर उनका अपमान करते हैं। किन्तु निष्किञ्चन हरिजन भिक्षादिके छलसे इन भोग-ऐश्वर्यके मदमें मत्त लोगोंकी भगवदोन्मुखी सुकृति उत्पन्न करनेके मङ्गल उद्देश्यसे ही उनके घरोंमें उपस्थित होते हैं।

इस प्रकारसे विरक्त होकर अपने अन्तःकरणमें स्वतःसिद्ध रूपमें उपस्थित उन भजनीय भगवान्‌की ही सेवा करना कर्त्तव्य है। चित्तके अधिष्ठाता श्रीवासुदेव हैं, अतः उनके आह्वानके लिए परिश्रम करनेकी भी आवश्यकता नहीं है। परम-सत्य, परम-गुरुरूप वे भगवान् स्वभावतः ही परम-प्रियतम हैं तथा सौन्दर्यादि गुणोंके द्वारा दृश्य हैं। अनन्त और सर्वव्यापक होनेके कारण वे समस्त स्थानोंपर स्थित हैं। इस प्रकार श्रीहरिके भजनान्दमें मग्न होकर बड़ी निष्ठा और प्रेमके साथ उनकी सेवा करनी चाहिये। इसके गौणफलसे जन्म-मृत्युरूप संसार बन्धनकी हेतु अविद्याका भी नाश हो जाता है॥ ६॥

कस्तां त्वनादृत्य परानुचिन्ता-
मृते पशूनसतीं नाम कुर्यात्।
पश्यन् जनं पतितं वैतरण्यां
स्वकर्मजान् परितापान् जुषाणम्॥ ७॥

पशु अर्थात् कर्मजड़व्यक्तिके अतिरिक्त ऐसा कौन व्यक्ति है जो इस प्रसिद्ध भक्तिका अनादर करके अनित्य एवं असत्य विषयोंकी चिन्तामें फँसेगा? जो व्यक्ति विषयोंमें रमा रहता है, उसे यमके द्वारपर स्थित वैतरणी नदीमें गिरना पड़ता है और अपने कर्मोंसे उत्पन्न त्रितापोंका भोग करना पड़ता है। यह देखकर भी पशुओंको छोड़कर दूसरा कौन अपने चित्तको परमात्मा श्रीहरिकी धारणाका अनादर करके विषय-भोगोंमें भटकने देगा॥ ७॥

केचित् स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे
प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम्।
चतुर्भुजं कञ्जरथाङ्गशङ्ख-
गदाधरं धारणया स्मरन्ति॥ ८॥

योगियोंकी पूर्वोक्त विराट् पुरुषकी धारणासे भी अन्तर्यामी चिद्घनस्वरूप श्रीभगवान्‌की धारणा अति श्रेष्ठ है। जैसे, कोई-कोई योगी पुरुष अपनी-अपनी देहके भीतर हृदयरूप गुफामें विराजित प्रादेशमात्र पुरुष अर्थात् अपनी अचिन्त्यशक्तिके प्रभावसे पन्द्रह वर्षीय किशोररूप श्रीहरिकी धारणा द्वारा उनका स्मरण करते हैं कि वे व्यष्टि अन्तर्यामी

चतुर्भुज हैं और अपनी चार भुजाओंमें शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म धारण किये हुए हैं॥ ८॥

प्रसन्नवक्त्रं नलिनायतेक्षणं
कदम्बकिञ्जल्क-पिशङ्गवाससम् ।
लसन्महारत्नहिरण्मयाङ्गदं
स्फुरन्महारत्न-किरीटकुण्डलम् ॥ ९ ॥

उन्निद्रहृत्पङ्कजकर्णिकालये
योगेश्वरास्थापितपादपल्लवम् ।
श्रीलक्ष्मणं कौस्तुभरत्नकन्धर-
मम्लानलक्ष्म्या वनमालयाचितम्॥ १० ॥

विभूषितं मेखलयाङ्गुरीयकै-
र्महाधनैर्नूपुरकङ्कणादिभिः ।
स्निग्धामलाकुञ्चितनीलकुन्तलै-
र्विरोचमानाननहासपेशलम् ॥ ११ ॥

अदीनलीलाहसितेक्षणोल्लसद्-
भ्रूभङ्गसंसूचितभूर्यनुग्रहम् ।
ईक्षेत चिन्तामयमेतमीश्वरं
यावन्मनो धारणयावतिष्ठते॥ १२ ॥

उन श्रीहरिका मुख प्रसन्न दिखायी दे रहा है, उनके दोनों नेत्र कमलदलके समान विशाल एवं प्रफुल्लित हैं, वे कदम्बके पुष्पके केसरके समान पीतवर्णके वस्त्रोंको धारण किये हुए हैं, उनकी भुजाओंमें महारत्नोंसे जड़े हुए सोनेके बाजूबन्द सुशोभित हो रहे हैं तथा उनके मुकुट और कुण्डलोंमें पद्मरागादि मणियाँ झिलमिला रही हैं। उनके चरणकमलरूप पल्लव योगेश्वरोंके विकसित हृदयरूप कमलकी कर्णिका (कमलके बीचमें स्थित बीजकोष) में विराजमान हैं। उनके बाँयें स्तनके ऊपर लक्ष्मीरेखा अर्थात् श्रीवत्सका चिह्न है और कण्ठमें कौस्तुभमणि जगमगा रही है। उनका वक्षःस्थल और गला कभी न मुरझानेवाली वनमालासे घिरा हुआ है। उनके अन्यान्य अङ्ग—जैसे कमरमें मेखला, अँगुलियोंमें अँगूठियाँ, चरणोंमें नूपुर और

हाथोंमें कङ्कनादि—बहुमूल्य आभूषणोंसे झिलमिला रहे हैं। उनका मुख घुँघराले, स्निग्ध (चिकने), निर्मल और नीले रङ्गके केशोंसे अत्यधिक शोभायमान है। अपनी मन्द-मन्द मुस्कानसे वे परम मनोहर दिखलायी दे रहे हैं। उनके माधुर्यपूर्ण लीला-हास्ययुक्त चितवनमें जो चमत्कारपूर्ण भ्रू-भङ्गिमा अति दीप्तिमान हो रही है, उसके द्वारा अपने भक्तोंपर उनकी प्रचुर मात्रामें कृपाकी वर्षा स्पष्ट रूपसे सूचित हो रही है। अतएव जब तक मन ऐसी धारणाके द्वारा स्थिर न हो जाये, तब तक यही चिन्तन करते हुए भगवान्‌का ध्यान करना चाहिये॥ ९-१२॥

एकैकशोऽङ्गानि धियानुभावयेत्
पादादि यावद्धसितं गदाभृतः।
जितं जितं स्थानमपोह्य धारयेत्
परं परं शुद्ध्यति धीर्यथा यथा॥ १३॥

गदाधारी भगवान्‌के श्रीचरणकमलोंसे लेकर मधुर-मुसकानसे युक्त उनके मुखकमल तक समस्त अङ्गोंमेंसे एक-एक अङ्गकी बुद्धिके द्वारा भावना करें। जब चरण, एड़ी इत्यादि जो-जो अङ्ग स्वाभाविक रूपसे स्फुरित होने लगें, अर्थात् उन अङ्गोंका ध्यान ठीक-ठीक होने लगे, तब उनका त्याग करके जंघा, जानु इत्यादि दूसरे अङ्गोंका ध्यान करना चाहिये। जैसे-जैसे चित्तकी शुद्धि होती जायेगी, वैसे-वैसे चित्त स्थिर होकर ध्यान गाढ़ा होता जायेगा॥ १३॥

यावन्न जायेत परावरेऽस्मिन्
विश्वेश्वरे द्रष्टरि भक्तियोगः।
तावत् स्थवीयः पुरुषस्य रूपं
क्रियावसाने प्रयतः स्मरेत॥ १४॥

भगवान् विश्वेश्वर द्रष्टा अथवा सर्वसाक्षी हैं, दृश्य वस्तु नहीं। वे ब्रह्मादि देवताओंके भी शीर्ष स्थानीय हैं अर्थात् उन सबसे श्रेष्ठ हैं। जब तक इन भगवान्‌में प्रेमलक्षणमय भक्तियोगका उदय न हो जाये, तब तक आवश्यक नित्य-नैमित्तिक कर्मोंको करनेके पश्चात् यत्नपूर्वक विराट् पुरुषके उक्त स्थूलरूपका चिन्तन करना चाहिये॥ १४॥

स्थिरं सुखञ्चासनमास्थितो यति-
र्यदा जिहासुरिममङ्ग लोकम्।
देशे च काले च मनो न सज्जयेत्
प्राणान् नियच्छेन्मनसा जितासुः॥ १५॥

इसी प्रकार जब योगी स्वयं ही देहका परित्याग करना चाहे, तब अपने मनको किसी पुण्य-क्षेत्र अथवा युक्त-काल उत्तरायणादिमें न लगाये। इसका कारण है कि योगियोंके लिए देश और काल सिद्धिके कारण नहीं हैं, बल्कि एकमात्र योग ही सिद्धिका कारण है—इस प्रकार दृढ़ निश्चय करके निश्चल अर्थात् स्थिर और सुखकर आसनपर बैठकर प्राण एवं इन्द्रियोंको मन द्वारा संयत करे॥ १५॥

मनः स्वबुद्ध्यामलया नियम्य
क्षेत्रज्ञ एतां निलयेत्तमात्मनि।
आत्मानमात्मन्यवरुध्य धीरो
लब्धोपशान्तिर्विरमेत कृत्यात्॥ १६॥

इसके पश्चात् अपनी निर्मल बुद्धिसे मनको संयमित करके मनको बुद्धिमें विलीन कर दे। अपनी बुद्धिको क्षेत्रज्ञ अर्थात् बुद्धि आदिके द्रष्टा जीवमें विलीन कर दे। फिर उस क्षेत्रज्ञ (जीव) को आत्मा अर्थात् शुद्ध जीवमें और इस आत्माको परब्रह्मके साथ एक करके परम शान्तिको प्राप्त हो जाये। ऐसा योगी पुरुष समस्त कार्योंसे विरत हो जाये, क्योंकि मुक्त पुरुषके लिए कोई भी कर्त्तव्य शेष नहीं रहता॥ १६॥

न यत्र कालोऽनिमिषां परः प्रभुः
कुतो नु देवा जगतां य ईशिरे।
न यत्र सत्त्वं न रजस्तमश्च
न वै विकारो न महान् प्रधानम्॥ १७॥

परीक्षित्! जो योगी पुरुष इस प्रकारसे ब्रह्मस्वरूपको प्राप्त कर लेता है, उसे देवताओंका भी परमनियामक—काल स्पर्श भी नहीं कर सकता। सामान्य इन्द्रादि देवता मात्र प्राकृत जगत्पर ही अपना अधिकार कर सकते हैं, किन्तु योगियोंपर वे अपना प्रभाव नहीं दिखा

सकते। ब्रह्मस्वरूप प्राप्त हो जानेपर सत्त्व, रज और तम तीनों गुण ही निरस्त हो जाते हैं और अहङ्कार-तत्त्व, महत्-तत्त्व तथा प्रधानरूप प्रकृतिका भी उन योगियोंपर कोई प्रभाव नहीं रहता॥ १७॥

परं पदं वैष्णवमामनन्ति तद्
यन्नेति नेतीत्यतदुत्सिसृक्षवः।
विसृज्य दौरात्म्यमनन्यसौहृदा
हृदोपगुह्यार्हपदं पदे पदे॥ १८॥

योगी पुरुष 'नेति, नेति' ('यह नहीं, यह नहीं')—इस प्रकारके भावसे अतत् (परमात्माके अतिरिक्त) वस्तुओंका त्याग कर देते हैं अर्थात् विष्णु-सम्बन्धरहित वस्तुओंमें स्नेहसे रहित हो जाते हैं। वे शरीर तथा शरीरसे सम्बन्धित वस्तुओंमें आत्म-बुद्धिका विशेष रूपसे परित्याग कर देते हैं। उन्हें यही अनुभव होता है कि एकमात्र श्रीविष्णुके अतिरिक्त और कोई भी सुहृद नहीं है। अतः वे क्षण-क्षणमें श्रीविष्णुके चरणकमलोंको सर्वस्व जानकर उनका आलिङ्गन करते हुए प्रेमसे परिपूर्ण रहते हैं॥ १८॥

इत्थं मुनिस्तूपरमेद्व्यवस्थितो
विज्ञानदृग्वीर्य-सुरन्धिताशयः ।
स्वपार्ष्णिनापीड्य गुदं ततोऽनिलं
स्थानेषु षट्सून्नमयेज्जितक्लमः॥ १९॥

इस प्रकार शास्त्र-ज्ञानरूप दृष्टिके प्रभावसे जिनके चित्तकी विषय-वासनाएँ जड़ सहित नष्ट हो गयी हैं, ऐसे मुनि ब्रह्मस्वरूपमें अवस्थित होकर शान्तिको प्राप्त करते हैं। ऐसे योगियोंको अपने शरीरका इस प्रकारसे त्याग करना चाहिये—सबसे पहले एड़ीके द्वारा मूलाधार (गुदा) को दबाकर स्थिर हो जाये। फिर बिना घबराहटके प्राणोंको षट्चक्रभेदन रीतिसे अर्थात् नाभि, हृदय, वक्षःस्थल, तालुमूल और भौहोंके बीचसे ब्रह्मरन्ध्रकी ओर क्रमशः ऊपर ले जाये॥ १९॥

नाभ्यां स्थितं हृद्यधिरोप्य तस्मा-
दुदानगत्योरसि तं नयेन्मुनिः।

ततोऽनुसन्धाय धिया मनस्वी
स्वतालुमूलं शनकैर्नयेत॥ २०॥

मनस्वी योगी सर्वप्रथम प्राणवायुको नाभिके नीचे स्थित स्वाधिष्ठान चक्रसे ऊपर नाभिमें अर्थात् मणिपुर चक्रमें और वहाँसे हृदयमें स्थित अनाहतचक्रमें ले जाये। फिर इस स्थानसे उदान वायुकी गतिके द्वारा कण्ठके अधोदेशमें स्थित विशुद्ध चक्रमें ले जाये। इसके बाद चित्तको जीतनेवाला वह मुनि बुद्धि द्वारा अनुसन्धान करके उस वायुको धीरे-धीरे तालुमूल अर्थात् विशुद्ध चक्रके अग्रभागमें ले जाये॥ २०॥

तस्माद् भ्रुवोरन्तरमुन्नयेत
निरुद्धसप्तास्वयनोऽनपेक्षः
स्थित्वा मुहूर्तार्द्धमकुण्ठदृष्टि-
निर्भिद्य मूर्द्धन् विसृजेत् परं गतः॥ २१॥

प्राणोंके सात मार्ग हैं—दो कान, दो नेत्र, दो नासाछिद्र और एक मुख। इन सातों छिद्रोंको रोककर वह योगी तालुमूलमें स्थित प्राणवायुको दोनों भौंहोके बीच स्थित आज्ञाचक्रमें स्थापित कर दे। यदि ब्रह्मा इत्यादिके पदके भोगकी इच्छा नहीं है, तो उस स्थानपर आधी घड़ीके लिए प्राणवायुको रोक दे। इसके बाद प्राणोंके स्थिर लक्ष्यके साथ ब्रह्म-रन्ध्रका भेदन करते हुए देह और इन्द्रियादिका परित्याग कर दे॥ २१॥

यदि प्रयास्यन् नृप पारमेष्ठ्यं
वैहायसानामुत यद्विहारम्।
अष्टाधिपत्यं गुणसन्निवाये
सहैव गच्छेन्मनसेन्द्रियैश्च॥ २२॥

(सद्योमुक्तिका मार्ग बतलाकर अब क्रममुक्तिका मार्ग बतला रहे हैं—)हे परीक्षित्! यदि योगीकी इच्छा ब्रह्माके पदको प्राप्त करनेकी हो, अथवा उसमें आकाशचारियोंके साथ विहार करनेका कौतूहल हो, अथवा आठ प्रकारकी सिद्धियों—अणिमा, लघिमा, व्याप्ति, प्राकाम्य, महिमा, ईशिता, वशिता और कामावसायितारूप ऐश्वर्यपूर्ण स्थानोंको

भोग करनेकी हो, अथवा वह सर्वत्र आधिपत्य प्राप्त करना चाहे, अर्थात् उसकी त्रिगुणात्मक ब्रह्माण्डके किसी भी प्रदेशमें विचरण करनेकी अभिलाषा हो, तो उसे पूर्वोक्त प्रकारसे देह त्याग करनेके समय मन एवं इन्द्रियोंका परित्याग न कर उनके साथ ही उन–उन लोकोंमें भोग प्राप्तिके लिए जाना चाहिये॥ २२॥

योगेश्वराणां गतिमाहुरन्त–
र्बहिस्त्रिलोक्याः पवनान्तरात्मनाम्।
न कर्मभिस्तां गतिमाप्नुवन्ति
विद्यातपोयोग–समाधिभाजाम् ॥ २३॥

भोग–विषयमें भी कर्मियोंके साथ योगियोंकी समानता नहीं है। योगी भगवत्–उपासना (विद्या), भगवत्–धर्म (तप) अष्टाङ्गयोग (योग), समाधि (ज्ञान) से भजन करते हैं। वे वायुमें अपने लिङ्गशरीरको आबद्धकर स्वच्छन्द रूपसे मर्त्यलोक आदि त्रिलोकीके अन्दर और बाहर सर्वत्र विचरण कर सकते हैं। इन योगेश्वरोंको जो गति प्राप्त होती है, वह कर्मियोंको उनके कर्मोंके द्वारा प्राप्त नहीं हो सकती॥ २३॥

वैश्वानरं याति विहायसा गतः
सुषुम्नया ब्रह्मपथेन शोचिषा।
विधूतकल्कोऽथ हरेरुदस्तात्
प्रयाति चक्रं नृप शैशुमारम्॥ २४॥

योगीजन देहकी समाप्तिपर आकाशमार्गसे जब ब्रह्मलोककी ओर जाते हैं, तब उस ज्योतिर्मयी सुषुम्ना नाड़ीके सहयोगसे वे पहले अग्निलोकमें अग्नि अभिमानी (नामक) देवताके पास जाते हैं। उस स्थानपर उनके बचे हुए समस्त कल्मष (मल) भी दूर हो जाते हैं। इसके बाद वे ऊपर स्थित शिशुमाराकार ज्योतिर्मय चक्रमें स्थित आदित्यादि ध्रुवान्त पदकी ओर गमन करते हैं॥ २४॥

तद्विश्वनाभिं त्वतिवर्त्य विष्णो–
रणीयसा विरजेनात्मनैकः।

नमस्कृतं ब्रह्मविदामुपैति
कल्पायुषो यद्विबुधा रमन्ते॥ २५॥

वह शिशुमाराकार विष्णु-चक्र विश्वात्मक पुरुषका नाभि-स्थानीय है। निर्मल लिङ्ग (सूक्ष्म) शरीरसे विष्णु-चक्रका अतिक्रमण करके योगी अकेला उस महर्लोकमें पहुँचता है, जो ब्रह्मवेत्ताओंके द्वारा भी आराधित है तथा जहाँ महाकल्प तक जीवित रहनेवाले भृगु आदि ऋषि विहार करते हैं॥ २५॥

अथो अनन्तस्य मुखानलेन
दन्दह्यमानं स निरीक्ष्य विश्वम्।
निर्याति सिद्धेश्वरजुष्टधिष्ण्यं
यद्द्वैपरार्द्ध्यं तदु पारमेष्ठ्यम्॥ २६॥

यदि वह योगी कौतूहलवशतः कल्प तक वहीं रहनेकी इच्छा करता है, तो वह कल्पके अन्तमें अनन्तदेवके मुखसे निकलती हुई आगसे तीनों लोकोंको जलते हुए देखता है और अपने उस स्थानपर भी उष्णताका अनुभव करता है। तब वह इस महर्लोकसे ऊपर ब्रह्माकी आयुके समान दो परार्द्ध तक स्थायी रहनेवाले सत्यलोकमें चला जाता है, जहाँपर सिद्धेश्वरों द्वारा सेवित विमानसमूह विराजमान रहते हैं॥ २६॥

न यत्र शोको न जरा न मृत्यु-
र्नार्तिर्न चोद्वेग ऋते कुतश्चित्।
यच्चित्ततोऽदः कृपयाऽनिदंविदां
दुरन्तदुःखप्रभवानुदर्शनात् ॥ २७॥

उस सत्यलोकके वासियोंमें चित्तके दुःखके अतिरिक्त शोक, बुढ़ापा, मृत्यु, दुःख, भयादि कुछ भी नहीं रहता। उस चित्तके दुःखका प्रकार और निर्देश यह है कि जो लोग वैष्णव-योगसे अवगत नहीं हैं, त्रिलोकमें स्थित वैसे लोगोंके जन्म-मृत्युरूप घोर दुःखको देखकर सत्यलोकके वासियोंका चित्त अत्यन्त व्याकुल हो जाता और उन दुःखी लोगोंके प्रति उनमें बड़ी दया उदित होती है॥ २७॥

ततो विशेषं प्रतिपद्य निर्भय-
स्तेनात्मनापोऽनलमूर्तिरत्वरन् ।
ज्योतिर्मयो वायुमुपेत्य काले
वाय्वात्मना खं बृहदात्मलिङ्गम्॥ २८॥

यदि वह योगी महाकल्प तक इस सत्यलोकमें ही रहनेकी इच्छा करता है, तो वह कल्पके अन्तमें ब्रह्माके साथ ही मुक्त होता है। यदि इसके पहले ही वह मोक्षकी इच्छा करता है, तो वह निर्भय होकर पृथ्वी-जल-अग्नि-वायु-आकाश-अहङ्कार और महत्-तत्त्व आदि क्रमशः सात आवरणोंका भेदन करके ब्रह्ममें प्रवेश करता है। सबसे पहले वह पृथ्वीरूपसे ही पचास कोटि योजन विशाल ब्रह्माण्डके प्रथम आवरण पृथ्वीको प्राप्त करता है, इसके बाद पृथ्वीसे दस गुना परिमाणवाले जलरूप आवरणको प्राप्त होता है, जलरूपसे तेजोमय होकर तेजोमय आवरणको प्राप्त होता है। वहाँपर शीघ्रता न करके पृथ्वी, जल इत्यादि रूप आवरणोंमें घ्राण, रसनादि इन्द्रियोंके द्वारा गन्ध, रस आदि विचित्र भोगोंको भोगनेके लिए सुस्थिर हो जाता है। भोगोंकी समाप्तिपर वह वायु स्वरूपसे तेजसे दसगुना परिमाणवाले वायुरूप आवरणको प्राप्त होता है। इसके बाद वायुसे दसगुना परिमाणयुक्त आकाश स्वरूपको प्राप्त होता है। यह आकाश ही बृहदात्मा अर्थात् उपासनाके उपकरणोंमें परमात्माकी मूर्त्तिरूपमें कहा गया है। अथवा वेद शब्दरूपमें उन परमात्माके ही निर्देशक है॥ २८॥

घ्राणेन गन्धं रसनेन वै रसं
रूपञ्च दृष्ट्या श्वसनं त्वचैव।
श्रोत्रेण चोपेत्य नभोगुणत्वं
प्राणेन चाकूतिमुपैति योगी॥ २९॥

योगी जब स्थूल आवरणोंको प्राप्त करता है, उस समय उसकी इन्द्रियाँ भी अपने सूक्ष्म अधिष्ठानमें लीन होती जाती हैं। घ्राणेन्द्रिय गन्ध तन्मात्रामें, रसनेन्द्रिय रस तन्मात्रामें, चक्षु इन्द्रिय रूप तन्मात्रामें, त्वक् इन्द्रिय स्पर्श तन्मात्रामें, श्रोत्रेन्द्रिय आकाशके गुण शब्द तन्मात्रामें

और कर्मेन्द्रिय अपनी-अपनी क्रियाओंका अतिक्रमण करके सूक्ष्म स्वरूपको प्राप्त हो जाती है॥ २९॥

स भूतसूक्ष्मेन्द्रियसन्निकर्षं
मनोमयं देवमयं विकार्यम्।
संसाद्य गत्या सह तेन याति
विज्ञानतत्त्वं गुणसन्निरोधम्॥ ३०॥

इसके बाद वह योगी पुरुष सूक्ष्मभूत एवं इन्द्रियोंके लय स्थानको प्राप्त करता है, जहाँ उसे मनोमय अर्थात् तामस-राजस एवं देवमय अर्थात् सात्त्विक अहङ्कार प्राप्त होते हैं। वह सूक्ष्मभूतोंको तामस अहङ्कारमें, इन्द्रियोंको राजस अहङ्कारमें तथा मन और इन्द्रियोंके अधिष्ठाता देवताओंको सात्त्विक अहङ्कारमें लीन कर देता है। इसके बाद वह अवशिष्ट अहङ्कारके साथ लयरूप गतिके द्वारा विज्ञानतत्त्व अर्थात् महत्-तत्त्वको प्राप्त होता है और उस अहङ्कारको महत्-तत्त्वमें लीन करता है। अन्तमें वह समस्त गुणोंके सम्पूर्ण लय स्थान 'प्रधान' की ओर गमन करके महत्-तत्त्वको प्रधान (प्रकृति) में लय करा देता है॥ ३०॥

तेनात्मनात्मानमुपैति शान्त-
मानन्दमानन्दमयोऽवसाने ।
एतां गतिं भागवतीं गतो यः
स वै पुनर्नेह विषज्जतेऽङ्ग॥ ३१॥

इसके बाद वह प्रधान स्वरूपमें ही अर्थात् प्रकृतिके साथ अपने-अपने रूपमें अर्थात् प्रकृति स्वरूपमें आनन्दित होने लगता है। प्रकृतिके आवरणके बाद कारणार्णवशायी महापुरुष विराजते हैं। सम्पूर्ण उपाधियोंकी समाप्ति होनेपर वह योगी अपने निरावरण रूपसे अविकृत, आनन्द-स्वरूप, शान्त परमात्माको प्राप्त होता है। जो पुरुष इस प्रकारसे भागवती गतिको प्राप्त करते हैं, उन्हें पुनः इस संसारमें आना नहीं पड़ता॥ ३१॥

एते सृती ते नृप वेदगीते
त्वयाभिपृष्टे व सनातने च।
ये वै पुरा ब्रह्मण आह तुष्ट
आराधितो भगवान् वासुदेवः॥ ३२॥

हे राजन्! तुम्हारे द्वारा पूछे गये 'मरणशील व्यक्तिका क्या कर्त्तव्य है?' इत्यादि प्रश्नोंके उत्तरमें मैंने मुक्ति विषयमें वेदोंमें कथित सद्यमुक्ति एवं क्रममुक्ति रूप दोनों प्रकारके सनातन मार्गोंका वर्णन कर दिया है। प्राचीन कालमें ब्रह्माजीने भगवान् श्रीवासुदेवकी आराधना की थी। तब भगवान्ने प्रसन्न होकर ब्रह्माजीको इन दोनों मुक्ति मार्गोंके विषयमें बतलाया था॥ ३२॥

न ह्यतोऽन्यः शिवः पन्था विशतः संसृताविह।
वासुदेवे भगवति भक्तियोगो यतो भवेत्॥ ३३॥

यद्यपि इस संसार-चक्रमें भ्रमण करनेवाले मनुष्योंके लिए अपवर्ग (मुक्ति) की प्राप्तिके विभिन्न पथ हैं, तथापि जिन भगवत्-अर्पित कर्मोंसे भगवान्को सन्तोष होता है, वही विघ्न रहित अर्थात् सुखकर और मङ्गलमय पथ है। भगवान्को सन्तुष्ट करनेवाले कर्मोंसे भगवान् श्रीवासुदेवमें भक्तियोग अर्थात् हृदयमें प्रेमका उदय होता है और यही भक्तियोग मानवका परम धर्म भी है॥ ३३॥

भगवान् ब्रह्म कार्त्स्न्येन त्रिरन्वीक्ष्य मनीषया।
तदध्यवस्यत् कूटस्थो रतिरात्मन् यतो भवेत्॥ ३४॥

सर्ववेदसिद्ध भगवान् ब्रह्माजीने एकाग्र चित्तसे समग्र वेद-शास्त्रोंका तीन बार विचार करके अपनी बुद्धि द्वारा यह निश्चय करना चाहा था कि किस प्रकारसे परमात्मा श्रीहरिमें अनन्य प्रेम हो सकता है। तब उन्होंने शुद्ध भक्तियोगको ही मनुष्यका सर्वश्रेष्ठ धर्म स्थिर किया था॥ ३४॥

भगवान् सर्वभूतेषु लक्षितः स्वात्मना हरिः।
दृश्यैर्बुद्ध्यादिभिर्द्रष्टा लक्षणैरनुमापकैः॥ ३५॥

समस्त प्राणियोंमें भगवान् श्रीहरि ही अन्तर्यामी रूपमें अनुभूत (लक्षित) होते हैं, क्योंकि ये बुद्धि आदि दृश्य पदार्थ उनका अनुमान करानेवाले लक्षण हैं तथा वे इन सबके साक्षी एकमात्र द्रष्टा हैं॥ ३५॥

तस्मात् सर्वात्मना राजन् हरिः सर्वत्र सर्वदा।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यो भगवान् नृणाम्॥ ३६॥

अतएव हे राजन्! मनुष्यमात्रको ही चाहिये कि भगवान् श्रीहरिमें परम भक्तियोगका उदय करानेके लिए वह सब समय और सभी परिस्थितियोंमें भगवान् श्रीहरिका श्रवण, कीर्त्तन एवं स्मरण आदि रूप भक्तिके अङ्गोंका अनुष्ठान करता रहे, क्योंकि इसके अतिरिक्त दूसरा कोई निर्विघ्न पथ नहीं है॥ ३६॥

पिबन्ति ये भगवत आत्मनः सतां
कथामृतं श्रवणपुटेषु सम्भृतम्।
पुनन्ति ते विषयविदूषिताशयं
व्रजन्ति तच्चरणसरोरुहान्तिकम्॥ ३७॥

(महाराज परीक्षित् द्वारा पूछे गये 'सम्यक् सिद्धि' से सम्बन्धित प्रश्नके उत्तरमें श्रीशुकदेव गोस्वामी कह रहे हैं—)हे परीक्षित्! भक्तजन अपने भावोंके अनुरूप भगवान्के बाल्य, पौगण्ड एवं किशोर लीलारूप कथामृतका वितरण करते ही रहते हैं। जो लोग भक्तोंकी आत्माके प्रकाशक उन भगवान् श्रीहरिके इस कथामृतका श्रवण करके अपने कानरूपी दोनोंमें भर-भरकर उस अमृतका पान करते हैं, उनका विषय-कामनाओंसे दूषित अन्तःकरण पवित्र हो जाता है तथा वे भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंका सान्निध्य प्राप्त कर लेते हैं॥ ३७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां द्वितीयस्कन्धे श्रीमहापुरुषसंस्थानुवर्णनं नाम द्वितीयोऽध्यायः॥

तृतीयोध्यायः

कामनाओंके अनुसार विभिन्न देवताओंकी उपासना और भगवद्भक्तिके उत्कर्षका निरूपण

श्रीशुक उवाच—

एवमेतन्निगदितं पृष्टवान् यद्भवान् मम।
नृणां यन्म्रियमाणानां मनुष्येषु मनीषिणाम्॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे महाराज! आपने मुझसे जो मरणशील व्यक्तिके आवश्यक कर्त्तव्यके विषयमें पूछा था, उसके उत्तरमें मैंने आपको योगमतके अनुसार दो पथ बतलाये हैं। कदाचित् दैवयोगसे जीवोंमें जिन्हें मानव-जन्म प्राप्त हुआ है और उन मनुष्योंमें भी जो बुद्धिमान हैं, पुनः उन बुद्धिमानोंमें भी जो आपके समान मृत्युके निकट हैं, उनके लिए एकान्त रूपसे मात्र यही कर्त्तव्य है कि वे श्रीहरि-कथामृतका श्रवण, कीर्त्तन और स्मरण करते रहें॥ १॥

ब्रह्मवर्चसकामस्तु यजेत ब्रह्मणः पतिम्।
इन्द्रमिन्द्रियकामस्तु प्रजाकामः प्रजापतीन्॥ २॥

(हे परीक्षित्! आपने पूछा है कि मनुष्योंके लिए सुनने योग्य, जप योग्य, स्मरण योग्य और भजनीय क्या है। मैं सबसे पहले आपको मन्दबुद्धिवाले अर्थात् विषय-कामी व्यक्तियोंके भजनीय देवताओंके विषयमें बतला रहा हूँ—)जो ब्रह्मतेज प्राप्त करना चाहते हैं, वे वेदपति ब्रह्माकी उपासना करें, जिन्हें इन्द्रियोंकी पटुता (विशेष शक्ति) की इच्छा हो, वे इन्द्रकी तथा जो पुत्रादिकी कामना करते हैं, उन्हें दक्षादि प्रजापतिकी आराधना करनी चाहिये॥ २॥

देवीं मायान्तु श्रीकामस्तेजस्कामो विभावसुम्।
वसुकामो वसून् रुद्रान् वीर्यकामोऽथ वीर्यवान्॥ ३॥

जिन्हें लक्ष्मीकी कामना है, वे दुर्गादेवीकी; जो तेज प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें अग्निकी; धन चाहनेवालोंको अष्ट वसुओंकी तथा बल चाहनेवाले वीर्यवान पुरुषोंको रुद्रोंकी आराधना करनी चाहिये॥ ३॥

अन्नाद्यकामस्त्वदितिं स्वर्गकामोऽदितेः सुतान्।
विश्वान् देवान् राज्यकामः साध्यान् संसाधको विशाम्॥ ४॥

बहुत-सा अन्न प्राप्त करनेकी इच्छावाले भोजनकामी व्यक्तियोंको अदितिकी, स्वर्गकी कामना रखनेवालोंको अदितिके पुत्र द्वादश आदित्योंकी, राज्यकी इच्छा करनेवाले मनुष्योंको विश्वदेवोंकी एवं कृषि और वाणिज्य आदिमें सम्पूर्ण आत्म-निर्भरता चाहनेवालोंको साध्य देवताओंकी पूजा करनी चाहिये॥ ४॥

आयुष्कामोऽश्विनौ देवौ पुष्टिकामो इलां यजेत्।
प्रतिष्ठाकामः पुरुषो रोदसी लोकमातरौ॥ ५॥

आयुकी कामना करनेवाले पुरुषोंको दोनों अश्विनीकुमारोंकी, पुष्टिकी अभिलाषा रखनेवालोंको पृथ्वीकी, प्रतिष्ठा अर्थात् अपने पदसे कभी च्युत न होना पड़े—इस कामनासे लोक-अधिष्ठान स्वरूप स्वर्ग और पृथ्वीकी पूजा करनी चाहिये॥ ५॥

रूपाभिकामो गन्धर्वान् स्त्रीकामोऽप्सरउर्वशीम्।
आधिपत्यकामः सर्वेषां यजेत परमेष्ठिनम्॥ ६॥

सौन्दर्य चाहनेवालोंको गन्धर्वोंकी, श्रेष्ठ स्त्रीकी कामनावाले पुरुषोंको उर्वशी नामक अप्सराकी और सभीके ऊपर अपना प्रभुत्व स्थापित करनेकी आकाङ्क्षा करनेवालोंको ब्रह्माकी आराधना करनी चाहिये॥ ६॥

यज्ञं यजेद् यशस्कामः कोशकामः प्रचेतसम्।
विद्याकामस्तु गिरिशं दाम्पत्यार्थ उमां सतीम्॥ ७॥

जो यशकी कामना करते हैं, उन्हें यज्ञ नामक इन्द्रकी; जो धन-संचयके अभिलाषी हैं, उन्हें वरुणकी; विद्या चाहनेवालोंको शिवकी तथा पति-पत्नीमें परस्पर प्रेम बने रहनेकी कामनावाले व्यक्तियोंको सती उमादेवीकी पूजा करनी चाहिये॥ ७॥

धर्मार्थ उत्तमःश्लोकं तन्तुं तन्वन् पितृन् यजेत्।
रक्षाकामः पुण्यजनानोजस्कामो मरुद्गणान्॥ ८॥

धर्म उपार्जनकी कामना करनेवाले व्यक्तियोंको पुण्यश्लोक विष्णुकी, सन्तानादि वंश-परम्पराके विस्तारकी इच्छा करनेवालोंको पितरोंकी, समस्त विघ्न-बाधाओंसे रक्षा चाहनेवाले पुरुषोंको पुण्यवान यक्षोंकी तथा बल-प्राप्तिकी कामना करनेवाले मनुष्योंको मरुदादि देवताओंकी आराधना करनी चाहिये॥ ८॥

राज्यकामो मनून् देवान् निर्ऋतिन्त्वभिचरन् यजेत्।
कामकामो यजेत् सोममकामः पुरुषं परम्॥ ९॥

जो राज्य प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें मन्वन्तरोंके अधिपतियोंकी; जो अभिचार अर्थात् शत्रुकी मृत्युकी इच्छा करते हैं, उन्हें राक्षसोंकी तथा काम-भोगके इच्छुक व्यक्तियोंको सोमदेव—चन्द्रमाकी पूजा करनी चाहिये। किन्तु जो व्यक्ति (जागतिक) कामनाओंका नाश करना चाहते हैं, वे परम-पुरुष पुरुषोत्तम भगवान्की आराधना करें॥ ९॥

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥ १०॥

जो उदार-बुद्धिवाले व्यक्ति हैं, वह चाहे स्वसुखरूपी समस्त कामनाओंसे युक्त हों, निष्काम अर्थात् अप्राकृत-बुद्धिसे युक्त एकान्त भक्त हों, अथवा मोक्षकी अभिलाषा करनेवाले हों—उन सबको तो शुद्ध एवं तीव्र (ऐकान्तिक) भक्तियोगके द्वारा परमपुरुष भगवान् श्रीविष्णुका भजन करना चाहिये॥ १०॥

एतावानेव यजतामिह निःश्रेयसोदयः।
भगवत्यचलो भावो यद्भागवतसङ्गतः॥ ११॥

इस पृथ्वीपर इन्द्र आदि देवताओंके जितने भी उपासक हैं, उनके लिए परम कल्याण इसीमें है कि वे भगवान्के प्रेमी भक्तों—महाभागवतोंका सङ्गकर भगवान् अच्युतकी अविचल भक्ति प्राप्त कर लें॥ ११॥

ज्ञानं यदा प्रतिनिवृत्तगुणोर्मिचक्र-
मात्मप्रसाद उत यत्र गुणेष्वसङ्गः।

कैवल्यसम्मतपथस्त्वथ भक्तियोगः
को निर्वृतो हरिकथासु रतिं न कुर्यात्॥ १२॥

देवताओंके उपासकोंकी बात तो दूर रहे, ब्रह्मोपासकोंकी भी श्रीभगवान्‌में शुद्धाभक्ति हो जाती है—इसीकी क्रमरीतिको इस श्लोकमें बतलाया गया है। भागवतजनोंके मुखसे भगवान्‌की लीला-कथाओंका श्रवण करते-करते ऐसा दुर्लभ ज्ञान उदित हो जाता है, जिससे संसारकी गुणमयी तरङ्गमालाओंके आघात शान्त हो जाते हैं और आत्मा प्रसन्न हो जाती है। चित्तकी प्रसन्नता प्राप्त होनेपर लौकिक और परलौकिक विषयोंसे वैराग्य उत्पन्न हो जाता है, कैवल्यपथ (मोक्ष) स्वरूप प्राकृत गुणसे पूर्णता मुक्ति हो जाती है और तब भक्तियोग प्राप्त होता है। अतएव भक्ति-सुखमें निमग्न हो जानेपर भी ऐसा कौन व्यक्ति होगा जो श्रीहरिकी कथाओंसे प्रेम नहीं करेगा? ॥ १२ ॥

श्रीशौनक उवाच—

इत्यभिव्याहृतं राजा निशम्य भरतर्षभः।
किमन्यत् पृष्टवान् भूयो वैयासकिमृषिं कविम्॥ १३॥

श्रीशौनकादि ऋषियोंने कहा—हे श्रीसूतजी! जब राजा परीक्षित्‌ने श्रीशुकदेव गोस्वामीके द्वारा कहे गये इन सब वचनोंको सुना, तब उन्होंने परब्रह्मदर्शी, शब्दब्रह्ममें निष्णात और भगवान्‌की कथाओंकी माधुरीके वर्णनमें अतिशय निपुण व्यासनन्दन श्रीशुकदेव गोस्वामीसे और किन-किन विषयोंमें प्रश्न किये थे? ॥ १३ ॥

एतच्छुश्रूषतां विद्वन् सूत नोऽर्हसि भाषितुम्।
कथा हरिकथोदर्काः सतां स्युः सदसि ध्रुवम्॥ १४॥

हे विद्वन् सूतजी! तदनन्तर और क्या-क्या कथाएँ हुई थीं, हम उन कथाओंको सुननेके बड़े इच्छुक हैं, अतएव आप हमें उन कथाओंको कृपापूर्वक कहिये। भागवतजनोंकी सभामें जो समस्त कथाएँ होती हैं, उनका फल भी निश्चय ही हरिकथाके अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता॥ १४॥

स वै भागवतो राजा पाण्डवेयो महारथः।
बालः क्रीडनकैः क्रीडन् कृष्णक्रीडां य आददे॥ १५॥

पाण्डव पुत्र महारथी राजा परीक्षित् परमभागवत थे। अपनी बाल्यावस्थामें भी वे खिलौनोंसे खेलते हुए कृष्ण-पूजादि रूप खेल-ही-खेला करते थे, अर्थात् कृष्ण-क्रीड़ाओंका ही अनुकरण किया करते थे॥ १५॥

वैयासकिश्च भगवान् वासुदेवपरायणः।
उरुगायगुणोदाराः सतां स्युर्हि समागमे॥ १६॥

भगवान् व्यासनन्दन श्रीशुकदेव गोस्वामी भी श्रीवासुदेवमें अनुरक्त थे। अतः श्रीशुकदेव और महाराज परीक्षित् दोनों ही साधु थे। इस प्रकार दो महाभागवत साधुओंका समागम होनेपर, अपने उदार गुणोंसे सभी की मनोकामनाओंको पूर्ण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णकी कथाएँ अवश्य ही हुई होंगी, क्योंकि महाभागवतजनोंके मिलनके परिणाम स्वरूप ऐसी रसमयी कथाएँ ही तो भक्तोंकी आस्वादनीय वस्तु हैं॥ १६॥

आयुर्हरति वै पुंसामुद्यन्नस्तञ्च यन्नसौ।
तस्यर्ते यत् क्षणो नीत उत्तमःश्लोकवार्तया॥ १७॥

अतः श्रीकृष्ण-कथाओंके श्रवणमें विलम्ब करना उचित नहीं है, क्योंकि सूर्यदेव प्रतिदिन उदित और अस्त होकर मनुष्योंकी हरिकथासे रहित व्यर्थ आयुको हरण कर लेते हैं। जिनका समय केवल उत्तमश्लोक श्रीहरिकी कथाओंमें ही व्यतीत होता है, उनकी ही आयुका वे हरण नहीं कर पाते। श्रीकृष्ण-कथामें क्षणमात्र काल भी व्यतीत होनेपर सम्पूर्ण जीवन सफल हो जाता है॥ १७॥

तरवः किं न जीवन्ति भस्त्राः किं न श्वसन्त्युत।
न खादन्ति न मेहन्ति किं ग्रामे पशवोऽपरे॥ १८॥

क्या वृक्ष जीवित नहीं रहते है? क्या लुहारकी धौंकनी श्वास लेती अथवा छोड़ती नहीं है? क्या गाँवके अन्य पशु आहार अथवा मैथुन नहीं करते? अतएव जो हरिभजन न कर आहार और निद्रादिमें ही अपना समय बिताते है, वे नराकारमें पशु ही हैं॥ १८॥

श्वविड्वराहोष्ट्रखरैः संस्तुतः पुरुषः पशुः।
न यत्कर्णपथोपेतो जातु नाम गदाग्रजः॥ १९॥

जिनके कानोंमें कभी भी श्रीकृष्णके नामने प्रवेश नहीं किया, वे मानव कुत्ते, ग्रामके शूकर, ऊँट और गधेके समान पशु कहे गये हैं, अर्थात् ऐसे श्रीकृष्ण-भजनसे हीन मनुष्योंको पशुसे भी अधिक निन्दनीय माना गया है॥ १९॥

बिले बतोरुक्रमविक्रमान् ये
न शृण्वतः कर्णपुटे नरस्य।
जिह्वासती दार्दुरिकेव सूत
न चोपगायत्युरुगायगाथाः॥ २०॥

जो व्यक्ति अपने कानोंसे प्रचुर गुणोंसे युक्त भगवान्के पराक्रमकी कथा नहीं सुनते, उनके दोनों कानोंके छिद्र बिलके समान व्यर्थ ही हैं। जिसकी जिह्वा भगवान्के पराक्रमका कीर्त्तन नहीं करती, अर्थात् जो जिह्वा अपने पति भगवान् हृषीकेशकी लीलाओंका गुणगान न करके तरह-तरहकी सांसारिक वार्त्ताको ही कहती रहती है, वह असती नारी अथवा वेश्याके समान है। वह मेंढककी जिह्वाके समान केवल टर्र-टर्रका शोर मचाकर कालसर्पके समान मृत्युका ही आह्वान करती है॥ २०॥

भारः परं पट्टकिरीटजुष्ट-
मप्युत्तमाङ्गं न नमेन्मुकुन्दम्।
शावौ करौ नो कुरुतः सपर्यां
हरेर्लसत्काञ्चनकङ्कणौ वा॥ २१॥

जो मस्तक भगवान् मुकुन्दके श्रीचरणोंमें नहीं झुकता, रेशमी वस्त्रोंसे सुसज्जित और मुकुटसे युक्त रहनेपर भी वह उत्तमाङ्ग रूपी मस्तक संसार सागरके अतल जलमें प्रवेश करनेवाले व्यक्तिको और भी अधिक शीघ्रतासे उसमें डुबोनेके लिए केवल बोझमात्र ही है। जो हाथ सोनेके कङ्गनोंसे सुशोभित होकर भी श्रीहरिकी सेवामें नियुक्त नहीं होते, वे मृतकके हाथोंके समान हैं। (इसका कारण है कि देव

पितरादि भी इन हाथों द्वारा दिये गये जल-पिण्ड आदिको अपवित्र मानकर स्वीकार नहीं करते)॥ २१॥

बर्हायिते ते नयने नराणां
लिङ्गानि विष्णोर्न निरीक्षतो ये।
पादौ नृणां तौ द्रुमजन्मभाजौ
क्षेत्राणि नानुव्रजतो हरेर्यौ॥ २२॥

जिन व्यक्तियोंके नेत्र भगवान्‌के श्रीविग्रह, तीर्थ आदिका दर्शन नहीं करते, वे मोरोंके पंखमें बनी हुई आँखोंके समान व्यर्थ ही हैं। ऐसी निरर्थक आँखोंवाले व्यक्ति अपने उद्धारके पथको न देख पानेके कारण संसाररूप कण्टक-क्षेत्रमें ही पड़े रहते हैं। जिन मनुष्योंके पैर श्रीहरिकी लीलाभूमि अथवा तीर्थोंमें नहीं जाते, उनके पैर न चलनेवाले वृक्षोंके समान स्थावर ही हैं। जिस प्रकार वृक्षकी जड़को कुठार द्वारा काट डाला जाता है, उसी प्रकार यमदूत भी कुठारके द्वारा ऐसे व्यक्तियोंके पैरोंको काट डालते हैं॥ २२॥

जीवञ्छवो भागवताङ्घ्रिरेणून्
न जातु मर्त्योऽभिलभेत यस्तु।
श्रीविष्णुपद्या मनुजस्तुलस्याः
श्वसञ्छवो यस्तु न वेद गन्धम्॥ २३॥

जिस व्यक्तिने कभी भी भगवद्भक्तोंकी चरणरेणुको भलीभाँति अपने समस्त अङ्गोंमें नहीं लगाया, जीवित रहनेपर भी उस व्यक्तिके अङ्ग प्रेतके समान हैं, क्योंकि वह सदा-सर्वदा साधुओंसे भयभीत रहता है। उसके हाथों द्वारा की गयी पूजा-सेवाको भी भगवान् स्वीकार नहीं करते। इसी प्रकार जो मनुष्य भगवान् श्रीविष्णुके श्रीचरणोंमें अर्पित तुलसीकी सुगन्धको लेकर आनन्दित नहीं होता, वह व्यक्ति साँस लेते हुए भी मृत प्राणीके समान ही है॥ २३॥

तदश्मसारं हृदयं बतेदं
यद्गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः ।

न विक्रियेताथ यदा विकारो
नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः॥ २४॥

(इस प्रकार एक-एक करके बाह्य अङ्गोंकी और अब आन्तरिक भावोंकी निन्दा करते हुए कह रहे हैं कि) भगवान् श्रीहरिके मङ्गलमय नामोंको ग्रहण करनेपर भी जिनका हृदय नहीं पिघलता, आँखें आँसुओंसे भर नहीं जातीं, रोम-रोम आनन्दसे पुलकित नहीं हो जाते, हाय! उनका हृदय लोहेके समान अति कठोर है। (ये श्रीनामके प्रति अपराधके भी लक्षण हैं)॥ २४॥

अथाभिधेह्यङ्ग मनोऽनुकूलं
प्रभाषसे भागवतप्रधानः।
यदाह वैयासकिरात्मविद्या-
विशारदो नृपतिं साधु पृष्टः॥ २५॥

हे श्रीसूत गोस्वामी! जो भक्त नहीं हैं, उनका सब कुछ ही व्यर्थ है—यह तो आपने हमारे मनके अनुकूल ही कहा है। अब महा-भागवतोंमें प्रधान आत्म-तत्त्वको जाननेवाले व्यासनन्दन श्रीशुकदेव गोस्वामीने परीक्षित् महाराजके प्रश्नोंके उत्तरमें जो समस्त कथाएँ कहीं, उन संवादमयी कथाओंको आप कृपापूर्वक हमें सुनाइये॥ २५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां द्वितीयस्कन्धे श्रीमहापुरुषसंस्थानुवर्णनं नाम तृतीयोऽध्यायः॥

चतुर्थोऽध्यायः

महाराज परीक्षित्‌का सृष्टिविषयक प्रश्न और श्रीशुकदेव गोस्वामी द्वारा कथाका आरम्भ

श्रीसूत उवाच—

वैयासकेरिति वचस्तत्त्वनिश्चयमात्मनः।
उपधार्य मतिं कृष्णे औत्तरेयः सतीं व्यधात्॥ १॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—हे ऋषियो! आत्म-विद्यामें निपुण व्यासनन्दन श्रीशुकदेव गोस्वामीके आत्मतत्त्वका निर्णय करनेवाले इन वचनोंको सुनकर उत्तरानन्दन परीक्षित्‌ने अपनी शुद्ध, ऐकान्तिकी मतिको और भी विशेषभावसे भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें स्थापित कर दिया॥ १॥

आत्म-जाया-सुतागार-पशु-द्रविण-बन्धुषु ।
राज्ये चाविकले नित्यं निरूढां ममतो जहौ॥ २॥

महाराज परीक्षित्‌की अपनी देह, पत्नी, पुत्र, महल, हाथी आदि पशु, धन, भाई-बन्धु और भलीभाँति परिचालित अपने निष्कण्टक राज्यमें जो अत्यधिक दृढ़ आसक्ति थी, उस ममताको उन्होंने क्षण-भरमें ही सदाके लिए त्याग दिया॥ २॥

पप्रच्छ चेममेवार्थं यन्मां पृच्छथ सत्तमाः।
कृष्णानुभावश्रवणे श्रद्दधानो महामनाः॥ ३॥

हे शौनकादि श्रेष्ठ ऋषियो! 'जो मनुष्य हरिकथा नहीं सुनते, उनके दिन व्यर्थमें ही बीत रहे हैं, अतएव आप हमें श्रीकृष्ण विषयक कथा कहिये'—इस वाक्यके द्वारा आपने मुझसे जिस विषयमें प्रश्न किये हैं, उदार बुद्धिवाले महाराज परीक्षित्‌ने भी श्रीकृष्णकी महिमाको सुननेके लिए बड़ी श्रद्धाके साथ इसी विषयपर श्रीशुकदेव गोस्वामीसे प्रश्न पूछे थे॥ ३॥

संस्थां विज्ञाय सन्न्यस्य कर्म त्रैवर्गिकञ्च यत्।
वासुदेवे भगवति आत्मभावं दृढं गतः॥ ४॥

राजा परीक्षित्ने अपनी मृत्युके निश्चित समयको विशेष रूपसे जान लिया था। अतः उन्होंने धर्म, अर्थ और कामकी प्रधानतावाले त्रैवर्गिक कर्मोंका सम्पूर्ण रूपसे परित्यागकर भगवान् श्रीकृष्णमें अपने पूर्वसिद्ध सेवाभावको और भी सुदृढ़ कर दिया था॥ ४॥

श्रीराजोवाच—

समीचीनं वचो ब्रह्मन् सर्वज्ञस्य तवानघ।
तमो विशीर्यते मह्यं हरेः कथयतः कथाम्॥ ५॥

राजा परीक्षित्ने कहा—हे ब्रह्मन्! आप निष्पाप और सर्वज्ञ हैं। आपके द्वारा कीर्त्तित श्रीहरिकी इन कथाओंका श्रवण करते-करते मेरा अज्ञानरूप अन्धकार नष्ट होता जा रहा है। अतएव आपकी कथाएँ युक्तियुक्त और अतिश्रेष्ठ हैं॥ ५॥

भूय एव विवित्सामि भगवानात्ममायया।
यथेदं सृजते विश्वं दुर्विभाव्यम् मुनीश्वरैः॥ ६॥

(महाराज परीक्षित् मायाशक्तिसे युक्त भगवान्‌की सृष्टि आदि लीलाओंके विषयमें जिज्ञासा करते हुए कहने लगे—)हे मुने! भगवान् अपनी माया द्वारा किस प्रकार इस विश्वकी सृष्टि करते हैं—मैं इसे फिरसे जानना चाहता हूँ। यह विषय इतना रहस्यमय है कि बड़े-बड़े मुनीश्वर भी अत्यधिक तर्क विचार द्वारा इसका ठीक-ठीक निर्णय नहीं कर पाते॥ ६॥

यथा गोपायति विभुर्यथा संयच्छते पुनः।
यां यां शक्तिमुपाश्रित्य पुरुशक्तिः परः पुमान्।
आत्मानं क्रीडयन् क्रीडन् करोति विकरोति च॥ ७॥

अन्तरङ्गा, बहिरङ्गा, तटस्था नामक बहुत-सी शक्तियोंसे सम्पन्न परमपुरुष श्रीहरि किस प्रकारसे और अपनी कौन-कौनसी शक्तियोंके द्वारा इस जगत्‌की रक्षा करते हैं तथा किस प्रकारसे पुनः संहारकर उसे अपने आपमें ही लीन कर लेते हैं? वे क्रीड़ा करनेवाले पुरुष

किस प्रकार स्वयंसे ही क्रीड़ा करते हैं, किस प्रकार मायाशक्तिके साथ खेलते हैं, किस प्रकार स्वयंका ही महत्-अहङ्कारादि रूपमें सृजन करते हैं (सर्ग-विषयक प्रश्न) तथा किस प्रकार ब्रह्मा, मरीचि आदि देवतारूपमें क्रीड़ाके छलसे स्वयंको देव, तिर्यक्, नर आदि रूपमें सृजन करते हैं (विर्सग विषयक प्रश्न)? आप इन सबका वर्णन कीजिये॥ ७॥

नूनं भगवतो ब्रह्मन् हरेरद्भुतकर्मणः।
दुर्विभाव्यमिवाभाति कविभिश्चापि चेष्टितम्॥ ८॥

हे ब्रह्मन्! भगवान् श्रीहरि बड़े ही अद्भुत-कर्म करनेवाले हैं। अर्थात् उनकी लीलाएँ अद्भुत और अचिन्त्य हैं। उनके सृष्टि आदि चरित्रोंका रहस्य समझना न्यायादि शास्त्रकारोंके लिए भी अत्यन्त कठिन है, फिर मेरी तो बात ही क्या है?॥ ८॥

यथा गुणांस्तु प्रकृतेर्युगपत् क्रमशोऽपि वा।
बिभर्ति भूरिशस्त्वेकः कुर्वन् कर्माणि जन्मभिः॥ ९॥

वही एक परमपुरुष भगवान् पुरुषरूपमें एक ही साथ एक ही समयमें प्रकृतिके सत्त्व, रज और तम आदि गुणोंका पालन करते हैं, परन्तु वे उनमें लिप्त नहीं होते। वे अपने ईक्षणमात्रसे ही इस विश्वको धारण भी करते हैं और इसका पालन भी करते हैं। अतः ब्रह्मा, मरीचि आदि रूपमें प्रादुर्भूत होकर क्रमपूर्वक सृष्टि-कार्य करते हुए वे भगवान् किस प्रकारसे प्रकृतिके गुणोंको ग्रहण करते हैं?॥ ९॥

विचिकित्सितमेतन्मे ब्रवीतु भगवान् यथा।
शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परस्मिंश्च भवान् खलु॥ १०॥

इन समस्त विषयोंमें मुझे सन्देह है, अतएव आप कृपा करके मुझे इन सब तत्त्वोंको ठीकसे समझाइये। आप भगवान् श्रीकृष्णके भक्त हैं, इसलिए आपका शब्दब्रह्म—वेदमें विशेष रूपसे प्रवेश है तथा परब्रह्म श्रीकृष्णके तत्त्वको भी आपने यथार्थ रूपमें निश्चित् ही अनुभव किया है॥ १०॥

श्रीसूत उवाच—

इत्युपामन्त्रितो राज्ञा गुणानुकथने हरेः।
हृषीकेशमनुस्मृत्य प्रतिवक्तुं प्रचक्रमे॥ ११॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—राजा परीक्षित् द्वारा इस प्रकारसे श्रीहरिके गुण-कीर्त्तनके लिए प्रार्थना किये जानेपर श्रीशुकदेव गोस्वामीने समस्त इन्द्रियोंके पति भगवान् श्रीकृष्णको बार-बार स्मरण किया, और फिर गुरुवर्गको प्रणाम करके परीक्षित्के प्रश्नोंका उत्तर देना आरम्भ किया॥ ११॥

श्रीशुक उवाच—

नमः परस्मै पुरुषाय भूयसे
सदुद्भवस्थान-निरोधलीलया ।
गृहीतशक्तित्रितयाय देहिना-
मन्तर्भवायानुपलक्ष्यवर्त्मने ॥ १२॥

श्रीशुकदेव गोस्वामी कहने लगे—पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें बार-बार नमस्कार है। उन्होंने अपने पुरुषादि अवतारोंके द्वारा अपने अनन्त ऐश्वर्यको इस प्रकारसे प्रकाशित किया है कि उसकी महिमाका परिमाण बताया नहीं जा सकता। प्रथम पुरुषावतारकी लीलाके रूपमें वे विश्वकी सृष्टि, स्थिति एवं लयके कारण-स्वरूप हैं। जब वे ब्रह्मा-विष्णु एवं रुद्र रूपोंको स्वीकार करते हैं, तब वे सत्त्व, रज एवं तम—इन तीन शक्तियोंको ग्रहण करते हैं। जब उनकी द्वितीय और तृतीय पुरुषावतार लीला होती है, तब वे समष्टि ब्रह्मादिके और व्यष्टि जीवोंके हृदयमें अन्तर्यामी रूपसे विराजित रहते हैं। उनके स्वरूप एवं अलौकिक गतिको बुद्धिसे नहीं समझा जा सकता। भक्तियोग ही उन्हें जाननेका एकमात्र मार्ग है, जो योगियोंके लिए भी परम दुर्लभ है॥ [१]१२॥

भूयो नमः सद्वृजिनच्छिदेऽसता-
मसम्भवायाखिलसत्त्वमूर्तये ।

---

[१] प्रस्तुत श्लोक (१२) से श्लोक २४ तक श्रीशुकदेव मुनिने नमस्काररूप मङ्गलाचरण किया है।

पुंसां पुनः पारमहंस्य आश्रमे
व्यवस्थितानामनुमृग्यदाशुषे ॥ १३ ॥

भगवान् श्रीकृष्णको पुनः-पुनः नमस्कार है। वे श्रीराम-श्रीकृष्णादि अवतारोंके रूपमें अपने भक्तोंके दुःखोंको दूर करते हैं। वे भक्तिहीन राक्षसों और असुरोंका वध करके उनका भी संसार-दुःख विनाशकर उन्हें पुनर्जन्मसे मुक्ति प्रदान करते हैं। वे अप्राकृत शुद्ध-सत्त्व तनुसे युक्त हैं। वे ही परमहंस आश्रममें स्थित भक्ति-मिश्रित ज्ञानियोंको ब्रह्मानन्द और अपने शुद्ध भक्तोंको परम प्रेमानन्दको प्रदान करते हैं॥ १३ ॥

नमो नमस्तेऽस्त्वृषभाय सात्वतां
विदूरकाष्ठाय मुहुः कुयोगिनाम्।
निरस्तसाम्यातिशयेन राधसा
स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते नमः ॥ १४ ॥

मैं अपने इष्टदेव भगवान् श्रीकृष्णको पुनः-पुनः नमस्कार करता हूँ। वे अत्यधिक भक्त-वत्सल हैं और अपने भक्तोंका बड़े प्रेमसे पालन करते हैं। भक्तिसे हीन मनुष्य उन्हें कभी भी जान ही नहीं सकते। उनके समान ऐश्वर्य ही किसीके पास नहीं है, फिर उनसे अधिक ऐश्वर्यकी तो बात ही क्या है। वे अपने अनन्त ऐश्वर्य और माधुर्य द्वारा विभावित होकर स्वधाम—मथुरामण्डल और ब्रह्म-स्वरूप गोपालपुरमें विहार करते रहते हैं॥ १४॥

यत्कीर्तनं यत्स्मरणं यदीक्षणं
यद्वन्दनं यच्छ्रवणं यदर्हणम्।
लोकस्य सद्यो विधुनोति कल्मषं
तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः ॥ १५ ॥

जिनके विषयमें श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण तथा जिनका श्रीविग्रह-दर्शन, वन्दन एवं अर्चन शीघ्र ही लोगोंके अनर्थों और कल्मषोंका विनाश करता है, ऐसे मङ्गलमय-यश-स्वरूप-माधुर्यमय श्रीभगवान्‌को मैं पुनः-पुनः नमस्कार करता हूँ॥ १५ ॥

विचक्षणा यच्चरणोपसादनात्
सङ्गं व्युदस्योभयतोऽन्तरात्मनः।
विन्दन्ति हि ब्रह्मगतिं गतक्लमा-
स्तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः॥ १६॥

अनर्थोंसे निवृत्त विवेकी पुरुष जिनके चरणोंकी उपासना करके अपने हृदयसे लौकिक और पारलौकिक आसक्तियोंका त्यागकर तथा समस्त प्रकारके क्लेशोंसे रहित होकर सहज रूपसे ब्रह्म-स्वरूप गतिको प्राप्त कर लेते हैं, उन सुमङ्गल यशयुक्त भगवान्‌को पुनः-पुनः प्रणाम है॥ १६॥

तपस्विनो दानपरा यशस्विनो
मनस्विनो मन्त्रविदः सुमङ्गलाः।
क्षेमं न विन्दन्ति विना यदर्पणं
तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः॥ १७॥

जब तक बड़े-बड़े तपस्या-परायण ज्ञानी, दानशील कर्मी, अश्वमेधयज्ञ करनेवाले प्रतिष्ठावान कर्मी, मननशील योगी, वेदशास्त्रोंमें कुशल जप-परायण व्यक्ति अथवा सदाचारी पुरुष अपने-अपने कर्मों और साधनाओंको भगवान् श्रीकृष्णके श्रीचरणोंमें अर्पण नहीं करते, तब तक उन्हें कल्याणकी प्राप्ति नहीं हो सकती। जिनके प्रति आत्म-समर्पणकी ऐसी महिमा है, ऐसे सुमङ्गल कीर्त्तिमान भगवान्‌को पुनः-पुनः नमस्कार है॥ १७॥

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुक्कशा
आभीरशुह्मा यवनाः खशादयः।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः
शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः॥ १८॥

जातिगत पापसे दुष्ट किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुक्कश, आभीर, शुह्म, यवन और खस इत्यादि नीच जातियाँ तथा जो लोग अपने कर्मोंसे पापी हैं, वे सब भी जिन श्रीभगवान्‌के आश्रित भागवत-स्वरूप सद्‌गुरुके चरणोंमें शरणागत होनेमात्रसे ही जातिगत

और कर्मगत दोषोंसे शुद्ध हो जाते हैं, उन स्वाभाविक रूपसे प्रभुता-सम्पन्न, सर्वशक्तिमान भगवान्को नमस्कार है॥[१]१८॥

स एष आत्मात्मवतामधीश्वर-
स्त्रयीमयो धर्ममयस्तपोमयः।
गतव्यलीकैरज-शङ्करादिभि-
र्वितर्क्यलिङ्गो भगवान् प्रसीदताम्॥ १९॥

वे भगवान् ही सबके अधीश्वरके रूपमें प्रसिद्ध हैं। वे कर्मकाण्डियोंके लिए वेदत्रयीरूप देवमय हैं, धार्मिकोंके लिए धर्ममय एवं तपस्वियोंके लिए तपोमय हैं। वे ही आत्म-निष्ठ-धीर ज्ञानी एवं योगी पुरुषोंके लिए आत्म-तत्त्वके रूपमें उपास्य हैं। कैतवयुक्त अर्थात् मुक्तिकी कामनावाले कपट-धर्मयुक्त ज्ञानी एवं योगी पुरुषोंकी बात तो दूर रहे, निष्कपट ब्रह्मा और शङ्कर आदि भी अपने शुद्ध हृदयसे जिनके स्वरूपका चिन्तन करते रहते हैं, पर उनके निश्चित स्वरूपको जान नहीं पाते, वे भगवान् परमेश्वर मुझपर प्रसन्न हों॥ १९॥

श्रियःपतिर्यज्ञपतिः प्रजापति-
र्धियां पतिर्लोकपतिर्धरापतिः।
पतिर्गतिश्चान्धकवृष्णिसात्वतां
प्रसीदतां मे भगवान् सतां पतिः॥ २०॥

जो परमेश्वर समस्त सम्पत्तियोंकी अधिष्ठात्री लक्ष्मीदेवीके पति हैं, यज्ञेश्वर रूपमें यज्ञोंका भोग करनेवाले और फल प्रदान करनेवाले हैं, सम्पूर्ण प्रजाओंके अधीश्वर हैं, व्यष्टि रूपमें जीवोंके अन्तर्यामी पुरुष हैं तथा समस्त भोग्य भुवनों (लोकों) के एकमात्र भोक्ता हैं, उन्होंने ही कृपापूर्वक अवतार लेकर पृथ्वीदेवीके पतिके रूपमें लीलाको प्रकाशित किया है। वे अन्धक, वृष्णि और यदुवंशीय भक्तोंके एकमात्र पालक और आश्रय-स्थल हैं। समस्त साधुओंके स्वामी ऐसे भक्त-वत्सल श्रीभगवान् मुझपर प्रसन्न हों॥ २०॥

यदङ्घ्र्यभिध्यानसमाधिधौतया
धियानुपश्यन्ति हि तत्त्वमात्मनः।

---

[१] यहाँ भक्तिदेवीका प्रारब्ध और अप्रारब्ध पापनाशकत्व व्यक्त हुआ है।

वदन्ति चैतत् कवयो यथारुचं
स मे मुकुन्दो भगवान् प्रसीदताम्॥ २१॥

पण्डितगण पाण्डित्यके बलपर अपनी-अपनी रुचिके अनुसार परमात्माके स्वरूपको साकार अथवा निराकार बतलाते हैं, जीवात्माके स्वरूपको अणुप्रमाण अथवा सर्वगत, विश्वको मिथ्या अथवा सत्य या नित्य—अपनी युक्तियोंके द्वारा कुछ भी वर्णन करते रहते हैं—ये समस्त विचार ही मनोधर्मसे सम्बन्धित हैं, क्योंकि उनकी बुद्धि ईश्वरपर आश्रित न होनेके कारण शुद्ध नहीं हुई है, अतः वे भगवान्के यथार्थ तत्त्वका दर्शन नहीं कर सकते। परन्तु एकमात्र जिन भगवान्के श्रीचरणकमलोंके श्रेष्ठ ध्यानरूप समाधिसे सूरीगण (विद्वान) अपनी बुद्धिको शुद्ध करते हैं, अर्थात् मनोधर्मसे निर्मुक्त होकर निश्चित रूपसे आत्मतत्त्वकी उपलब्धि कर पाते हैं, वे भगवान् मुकुन्द मुझपर प्रसन्न हों॥ २१॥

प्रचोदिता येन पुरा सरस्वती
वितन्वताजस्य सतीं स्मृतिं हृदि।
स्वलक्षणा प्रादुरभूत् किलास्यतः
स मे ऋषीणामृषभः प्रसीदताम्॥ २२॥

यह प्रसिद्ध है कि श्रीभगवान्ने ही कल्पके प्रारम्भमें ब्रह्माजीके हृदयमें पूर्वकल्पकी सृष्टिसे सम्बन्धित स्मृतिको प्रकटित करनेके लिए वेद-वाणीकी अधिष्ठात्री देवी सरस्वतीको प्रेरित कर उन्हें ब्रह्माजीके मुखसे वेद-रूपमें प्रकटित कराया था। ये सरस्वतीदेवी श्रीकृष्णको ही उपास्य मानती हैं। अतः ऐसे वेद-वाणीरूप ज्ञानके मूलकारण श्रीभगवान् मेरे प्रति प्रसन्न हों। (अर्थात् जिस प्रकार ब्रह्मादिके मुखसे वेद अपने आरण्यकादि अङ्गोंके साथ प्रकटित हुए थे, उसी प्रकार मेरे मुखसे उन भगवान्की लीलाकथाएँ प्रकट हों)॥ २२॥

भूतैर्महद्भिर्य इमाः पुरो विभु-
र्निर्माय शेते यदमूषु पूरुषः।
भुङ्क्ते गुणान् षोडश षोडशात्मकः
सोऽलङ्कृषीष्टाखिलविद्वचांसि मे॥ २३॥

जो विभु पुरुष देव, मनुष्य, तिर्यकादि शरीरोंकी रचना करके उनमें अन्तर्यामी रूपसे स्वयं वास द्वारा उन समस्त शरीरोंको सफल और सार्थक करते हैं, जो महत्–तत्त्व आदिके द्वारा विभिन्न शरीरोंकी सृष्टिरूप पुरमें शयन (वास) करनेके कारण 'पुरुष' नामसे प्रसिद्ध हैं, जो ग्यारह इन्द्रियों और पञ्चमहाभूतरूप सोलह गुणोंकी चेतनताको प्रकाशित करनेवाले आत्मा (परमात्मा) के रूपमें अथवा विराजमान रहकर साक्षीस्वरूप और अनासक्त भावसे केवल दृष्टिके द्वारा ही इन सोलह गुणोंके सोलह विषयोंका भोग करते हैं, वे सर्वभूतमय भगवान् मेरी वाणीको अलंकृत करें॥ (१)२३॥

नमस्तस्मै भगवते व्यासायामिततेजसे(२)।
पपुर्ज्ञानमयं सौम्या यन्मुखाम्बुरुहासवम्॥ २४॥

भक्तगण जिनके मुखकमलसे विगलित ज्ञानमय मकरन्दके मधुर आसवका पान करते रहते हैं, मैं भगवान् श्रीवासुदेवके उन शक्त्यावेशावतार अतुलनीय विक्रमशाली और भक्तियोगके ऐश्वर्यसे सम्पन्न, शास्त्रकर्त्ता अपने गुरुदेव भगवान् श्रीवेदव्यासके चरणोंमें बार–बार प्रणाम करता हूँ॥ २४॥

एतदेवात्मभू राजन् नारदाय विपृच्छते।
वेदगर्भोऽभ्यधात् साक्षाद्यदाह हरिरात्मनः॥ २५॥

हे राजन्! साक्षात् भगवान्‌ने वेदगर्भ ब्रह्माजीको अपने श्रीमुखसे जिस विषयका वर्णन किया था तथा जो विषय (स्वयंभू) ब्रह्माजीने नारदको बतलाये थे, अब मैं तुमसे वही सब कह रहा हूँ॥ २५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां द्वितीयस्कन्धे श्रीमहापुरुषसंस्थानुवर्णनं नाम चतुर्थोऽध्यायः॥

---

(१) श्रीशुकदेव गोस्वामीके उक्त कथनका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार आत्मासे रहित देह बहुमूल्य अलङ्कारोंसे युक्त रहनेपर भी साधुओंके स्पर्शके योग्य नहीं होती, उसी प्रकार मेरी वाणी भी भगवान्‌के गुण–गानके अभावमें साधुओं द्वारा अस्पृश्य न हो अर्थात् भगवान् मेरे वाक्योंमें अवस्थानकर साधुजनोंका आनन्द–वर्धन करे।

(२) 'व्यासायामिततेजसे' के स्थानपर पाठान्तर 'वासुदेवाय वेधसे'।

पञ्चमोऽध्यायः

सृष्टिका वर्णन

श्रीनारद उवाच—

देवदेव नमस्तेऽस्तु भूतभावन पूर्वज।
तद्विजानीहि यज्ज्ञानमात्मतत्त्वनिदर्शनम्॥ १॥

देवर्षि नारदने ब्रह्माजीसे कहा—हे देवाधिदेव! आप भूतभावन हैं अर्थात् आपने ही समस्त प्राणियोंकी सृष्टि की है। आप समस्त प्राणियोंसे पहले उत्पन्न हुए हैं, अतएव मैं आपको प्रणाम करता हूँ। आप परमात्मा और जीवात्माके तत्त्वसूचक ज्ञानसे भलीभाँति अवगत हैं, अतः उस ज्ञानको मुझे भी विशेष रूपसे प्रदान कीजिये॥ १॥

यद्रूपं यदधिष्ठानं यतः सृष्टमिदं प्रभो।
यत्संस्थं यत्परं यच्च तत्तत्त्वं वद तत्त्वतः॥ २॥

हे प्रभो! इस विश्वका क्या लक्षण है? इसका क्या आश्रय है? इसकी रचना किसने की है? यह किसमें लीन होता है? यह किसके अधीन है? इसका यथार्थ स्वरूप क्या है? यह सब तत्त्व मुझे यथार्थ रूपसे बतलाइये॥ २॥

सर्वं ह्येतद्भवान् वेद भूतभव्यभवत्प्रभुः।
करामलकवद्विश्वं विज्ञानावसितं तव॥ ३॥

आप परमात्मा, जीवात्मा और सम्पूर्ण जगत्के तत्त्वको निश्चित रूपसे जानते हैं। जो सब कुछ उत्पन्न हुआ है, जो उत्पन्न होगा और जो उत्पन्न हो रहा है, उन सभीके आप ही स्वामी हैं। अतएव आपको अपनी विलक्षण ज्ञान-दृष्टिसे यह सारा संसार ऐसा दिखायी देता है, मानो हाथोंमें रखा आँवलेका फल हो॥ ३॥

यद्विज्ञानो यदाधारो यत्परस्त्वं यदात्मकः।
एकः सृजसि भूतानि भूतैरेवात्ममायया॥ ४॥

हे प्रभो! मैं तो समझता था कि आप ही स्वतन्त्र परमेश्वर हैं, क्योंकि आप बिना किसीकी सहायताके अकेले ही अपनी मायाके प्रभावसे पञ्च-महाभूतों द्वारा समस्त प्राणियोंकी सृष्टि कर लेते हैं। किन्तु जब मैंने आपको भी तपस्या करते हुए देखा, तब मुझे आशङ्का हुई की आपके भी कोई स्वामी हैं, इसलिए मैं आपसे पूछ रहा हूँ—आपको यह विशेष ज्ञान किसने दिया है? आपके आधार कौन हैं? आप जिनके अधीन हैं, वे श्रेष्ठ पुरुष कौन हैं? आपका वास्तविक स्वरूप क्या है?॥ ४॥

आत्मन् भावयसे तानि न पराभावयन् स्वयम्।
आत्मशक्तिमवष्टभ्य ऊर्णनाभिरिवाक्लमः॥ ५॥

जिस प्रकार मकड़ी अपनी शक्तिके द्वारा अनायास ही जालका निर्माण कर लेती है, उसी प्रकार आप भी अपनी शक्तिके बलपर ही स्वयंको किसी अन्यके अधीन न कर बिना किसी परिश्रमके समस्त प्राणियोंकी सृष्टि करते हैं और स्वयं ही उनका पालन करते हैं॥ ५॥

नाहं वेद परन्त्वस्मिन्नापरं न समं विभो।
नामरूपगुणैर्भाव्यं सदसत् किञ्चिदन्यतः॥ ६॥

हे प्रभो! इसी कारणसे इस जगत्में कौन-सी वस्तु उत्तम है, कौन-सी अधम और कौन-सी मध्यम अर्थात् समान है—मेरी समझमें कुछ भी नहीं आता। इन वस्तुओंमें भी मनुष्यादि नाम, द्विपदत्वादि रूप, शुक्लत्वादि गुणों द्वारा साध्य स्थूल एवं सूक्ष्म जो कुछ भी पदार्थ हैं—ये सब आपसे ही उत्पन्न होते हैं, मैं यही मानता हूँ। मैं यह नहीं जानता कि उनकी उत्पत्ति आपके अतिरिक्त और किसी वस्तुसे हुई है॥ ६॥

स भवानचरद्घोरं यत्तपः सुसमाहितः।
तेन खेदयसे नस्त्वं पराशङ्कां प्रयच्छसि॥ ७॥

इस प्रकारसे सबके ईश्वर होनेपर भी अत्यन्त एकाग्र चित्तसे आपने जो इतनी घोर तपस्या की, इससे मुझमें मोह उत्पन्न हो रहा है। क्या आपसे भी बढ़कर कोई स्वतन्त्र ईश्वर हैं? आपने स्वयं ही अपने कार्य द्वारा इस प्रकारकी आशङ्काको मुझमें जाग्रत किया है॥ ७॥

एतन्मे पृच्छतः सर्वं सर्वज्ञ सकलेश्वर।
विजानीहि तथैवेदमहं बुध्येऽनुशासितः॥ ८॥

आप सर्वज्ञ हैं तथा सबके ईश्वर हैं। मैंने इस ईश्वर-सम्बन्धित विषयपर जितने भी प्रश्न किये हैं, उन सभीका उत्तर मुझे विशेष रूपसे बतलाइये जिससे कि आपसे प्राप्त उपदेशके द्वारा मैं इस तत्त्वसे भलीभाँति अवगत हो सकूँ॥ ८॥

श्रीब्रह्मोवाच—

सम्यक् कारुणिकस्येदं वत्स ते विचिकित्सितम्।
यदहं चोदितः सौम्य भगवद्वीर्यदर्शने॥ ९॥

श्रीनारदके इन प्रश्नोंके उत्तरमें श्रीब्रह्माने कहा—हे पुत्र! तुम्हारा यह सन्देह बड़ा उचित है। तुमने मुझसे जो भी प्रश्न किये हैं, उनके द्वारा मेरे प्रति तुम्हारी करुणा ही प्रकाशित हुई है, क्योंकि इन प्रश्नोंके आधारपर मैं भगवान्‌के तत्त्वका कीर्त्तन करके भगवान्‌के विश्व-सृष्टि आदि पराक्रमके दर्शनके लिए प्रेरणा प्राप्त कर रहा हूँ। अर्थात् भगवान्‌के तत्त्वका कीर्त्तन करते समय मैं अपने हृदयमें अनन्त पराक्रमशाली भगवान्‌का दर्शन कर सकूँगा॥ ९॥

नानृतं तव तच्चापि यथा मां प्रब्रवीषि भोः।
अविज्ञाय परं मत्त एतावत्त्वं यतो हि मे॥ १०॥

हे पुत्र! तुमने जिस प्रकारसे सृष्टिकर्त्ता ईश्वरके रूपमें मेरा वर्णन किया है, वह भी असत्य नहीं है। इसका कारण है कि जगत्‌में मुझसे भी श्रेष्ठ परमेश्वरको तुम जानते नहीं हो, इसीलिए—तुम मेरे विषयमें इस प्रकारसे वर्णन कर रहे हो॥ १०॥

येन स्वरोचिषा विश्वं रोचितं रोचयाम्यहम्।
यथार्कोऽग्निर्यथा सोमो यथर्क्षग्रहतारकाः॥ ११॥

यह सम्पूर्ण विश्व स्वयं-प्रकाश भगवान्‌से ही प्रकाशित हुआ है। जिस प्रकार सूर्य, अग्नि, चन्द्रमा, ग्रह और नक्षत्रादि परमेश्वर द्वारा प्रकाशित वस्तुओंको पुनः प्रकाशित करते हैं, उसी प्रकार मैं भी केवल परमेश्वरकी ही शक्तिसे प्रकाशित वस्तुओंकी सृष्टि करके

पिष्ट-पेषण (पिसे हुए को फिरसे पीसना) न्यायके द्वारा उन्हें पुनः प्रकाशित करता हूँ। ब्रह्मकी ज्योतिके द्वारा दीप्तिमान होकर ब्रह्मके अनुगत भावसे सूर्यादि प्रकाश प्राप्त करते हैं और दूसरोंको प्रकाशित करते हैं। जिस प्रकार सूर्य आदि कोई भी स्वतन्त्र प्रकाशक नहीं हैं, उसी प्रकार मैं भी स्वतन्त्र सृष्टिकर्त्ता नहीं हूँ॥ ११॥

तस्मै नमो भगवते वासुदेवाय धीमहि।
यन्मायया दुर्जयया मां वदन्ति जगद्गुरुम्॥ १२॥

मैं भगवान् श्रीवासुदेवको नमस्कार करता हूँ और उनका ध्यान करता हूँ। उन भगवान्की अपार मायाके द्वारा विमोहित होकर लोग मुझे ही जगत्-गुरु कहते हैं, वस्तुतः वे यह नहीं जानते कि मेरे भी एक ईश्वर हैं॥ १२॥

विलज्जमानया यस्य स्थातुमीक्षापथेऽमुया।
विमोहिता विकत्थन्ते ममाहमिति दुर्धियः॥ १३॥

जिस प्रकार कपटी स्त्री 'पति मेरी कपटता समझ गये हैं'—इस भयसे पतिके सम्मुख आनेमें लज्जाका अनुभव करती है, उसी प्रकार श्रीकृष्णकी दासी जड़माया भी 'जीवोंको मोहित करना भगवान्को रुचिकर नहीं है'—ऐसा जानकर उक्त कुकर्म करनेवाली स्त्रीके समान भगवान्के नेत्रोंके सामने आनेमें लज्जा-बोध करती है। यह माया भगवान्की पीठके पीछे ही स्थित रहती है और इसी मायासे विमोहित होनेके कारण ही सभी जीवोंकी बुद्धि विपरीत (ईश्वरसे विमुख) हो जाती है। तब वे स्वयंको देह और मन मानकर 'मै', 'मेरा' इत्यादि प्रकारसे अपनी ही प्रशंसा किया करते हैं॥ १३॥

द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च।
वासुदेवात् परो ब्रह्मन् न चान्योऽर्थोऽस्ति तत्त्वतः॥ १४॥

हे नारद! उपादान-रूप महाभूतादि द्रव्य, जन्म प्राप्त करनेके कारण स्वरूप कर्म (कर्मफल), गुणोंका क्षोभक काल, इसके (द्रव्य) परिणामका हेतु स्वभाव और भोक्ता जीव—इनमेंसे किसी की भी श्रीवासुदेवसे भिन्न सत्ता नहीं है। (इसका कारण यह है कि द्रव्यादि मायाके कार्य हैं तथा जीव और माया भगवान्की शक्ति हैं। अतः

यह विश्व वासुदेवरूप है—यह प्रमाणित हुआ। यही तुम्हारे 'यद्रूपम्' (श्रीमद्भा॰ २/५/२)—इस प्रथम प्रश्नका उत्तर है।)॥ १४॥

नारायणपरा वेदा देवा नारायणाङ्गजाः।
नारायणपरा लोका नारायणपरा मखाः॥ १५॥

श्रीनारायण ही 'उपास्य' रूपमें वेदोंके तात्पर्य-विषय हैं। दूसरे सभी देवताओंके उपास्यरूपमें कहलाये जानेपर भी वे श्रीनारायणके श्रीअङ्गसे ही उत्पन्न हुए हैं, अर्थात् श्रीनाराणके प्रभावसे ही उनका प्रभाव है। वे श्रीनारायणके अधीन-तत्त्व हैं। स्वर्गादि जितने भी लोक हैं, वे सब भी श्रीनारायणके आनन्दांशके मात्र आभासरूप ही हैं। समस्त यज्ञ भी श्रीनारायण-परायण हैं अर्थात् उनकी प्राप्तिके साधन स्वरूप हैं (यह 'यदधिष्ठानम्' (श्रीमद्भा॰ २/५/२)—तुम्हारे द्वितीय प्रश्नका उत्तर है)॥ १५॥

नारायणपरो योगो नारायणपरं तपः।
नारायणपरं ज्ञानं नारायणपरा गतिः॥ १६॥

अष्टाङ्ग अथवा सांख्य आदि सभी योग श्रीनारायण-परायण हैं, अर्थात् उनकी प्राप्तिके ही हेतु हैं। समस्त तपस्याओंके परम कारण श्रीनारायण हैं, अर्थात् सभी तपस्याएँ उनकी ओर ही ले जाती हैं। तपस्याओंका साध्य ब्रह्म-ज्ञानादि भी श्रीनारायण-पर है, अर्थात् उनके आंशिक स्वरूपको ही प्रकट करता है। मोक्षके भी परम विषय श्रीनारायण ही हैं, अर्थात् श्रीनारायणका तत्त्वसूचक जो ज्ञान है, उसका फल मोक्ष है और वह भी श्रीनारायणके अधीन है॥ १६॥

तस्यापि द्रष्टुरीशस्य कूटस्थस्याखिलात्मनः।
सृज्यं सृजामि सृष्टोऽहमीक्षयैवाभिचोदितः॥ १७॥

एकमात्र श्रीनारायण ही सभी प्राणियोंके नियन्ता, कूटस्थ, साक्षी, अन्तर्यामी और अन्तरात्मा हैं। मेरी सृष्टि भी उन्होंने ही की है, अतएव न तो मेरी कोई स्वतन्त्र शक्ति है और न ही कोई स्वतन्त्र इच्छा। मैं उनकी ईक्षण शक्ति द्वारा प्रेरित होकर उनके द्वारा सृष्ट वस्तुओंकी सृष्टि करता हूँ॥ [1]१७॥

---

[1] इसके द्वारा ब्रह्माका जीवत्व एवं नारायणका ईश्वरत्व प्रमाणित हुआ है।

सत्त्वं रजस्तम इति निर्गुणस्य गुणास्त्रयः।
स्थितिसर्गनिरोधेषु गृहीता मायया विभोः॥ १८॥

वे परमेश्वर सर्वव्यापक और सत्त्वादि प्राकृत गुणोंसे रहित होकर भी जगत्‌की सृष्टि, स्थिति और लयके लिए अपनी अधीनस्थ मायाशक्तिके सत्त्व, रज एवं तम गुणोंको अपनी स्वतन्त्रतावशतः स्वेच्छासे ग्रहण करते हैं॥ १८॥

कार्यकारणकर्तृत्वे द्रव्यज्ञानक्रियाश्रयाः।
बध्नन्ति नित्यदा मुक्तं मायिनं पुरुषं गुणाः॥ १९॥

सत्त्व, रज एवं तमो–गुणात्मक माया भगवान्‌की तटस्थाशक्तिकी वृत्तिरूप जीवोंको बन्धनमें डाल देती है। वस्तुतः नित्यमुक्त होनेपर भी तटस्थशक्तिभूत होनेके कारण अनादिकालसे ही जीवकी भगवान्‌के प्रति बहिर्मुखता और उन्मुखतारूप दोनों ही अवस्थाएँ रही हैं। वह अपने स्वरूपके विषयमें अज्ञानी भी रहा है और ज्ञानयुक्त भी। माया भगवान्‌की पीठके पीछे स्थित है और बहिर्मुख जीव भी उनकी पीठके पीछे स्थित है। दोनोंके एकत्र होनेके कारण जीवका मायाके साथ सङ्ग हो जाना अति सम्भवपर है। इसलिए अधिभूत (कार्य), अध्यात्म (कारण) एवं अधिदैव (कर्त्ता)—इनका कर्त्तृत्व, महाभूतरूप द्रव्य, देवतारूप ज्ञान, इन्द्रियरूप क्रियाओंके आश्रय अर्थात् कारणभूत मायाके गुण उस–उस अभिमानके द्वारा अपनी तटस्थावस्थामें माया–मुग्धतासे रहित जीवको बाँध लेते हैं॥ १९॥

स एष भगवाँल्लिङ्गैस्त्रिभिरेतैरधोक्षजः।
स्वलक्षितगतिर्ब्रह्मन् सर्वेषां मम चेश्वरः॥ २०॥

हे नारद! श्रीभगवान् मायाशक्तिके अधीश्वर तथा इन्द्रियोंके अतीत हैं। जीवके स्वरूपज्ञानको ढकनेवाले उपाधिरूप तीनों गुणोंके द्वारा उन भगवान्‌के अतीन्द्रिय तत्त्वको जाना नहीं जा सकता। श्रीभगवान्‌के प्रियतम भक्त ही उनके तत्त्वका निर्णय कर सकते हैं। वे मेरे और हम सभीके ईश्वर हैं॥ २०॥

कालं कर्म स्वभावञ्च मायेशो मायया स्वया।
आत्मन् यदृच्छया प्राप्तं विबुभूषुरुपाददे॥ २१॥

उन मायाधीश भगवान्ने स्वयं (एक) अपनेसे ही बहुत होनेकी इच्छा की। उन्होंने अपनेमें अनुस्यूत (लीन) भावसे स्थित रहनेवाले जीवोंके अदृष्ट (कर्म), काल एवं स्वभावको आश्रय प्रदान किया अर्थात् स्वीकार किया, जिससे वे अपनी इच्छासे उनकी सृष्टि कर सकें॥ २१॥

कालाद्गुणव्यतिकरः परिणामः स्वभावतः।
कर्मणो जन्म महतः पुरुषाधिष्ठितादभूत्॥ २२॥

भगवान्के द्वारा कालमें अधिष्ठित होनेपर उस कालके द्वारा गुणोंका क्षोभ होता है, अर्थात् सत्त्व, रज एवं तम—इन तीनों गुणोंकी साम्यावस्था जो प्रकृति है, उसके गुण अपनी साम्य अवस्थाका त्याग कर देते हैं। भगवान्के द्वारा स्वभावमें अधिष्ठित होनेपर रूपान्तरकी प्राप्ति होती है और भगवान्के द्वारा जीवोंके अदृष्ट (कर्म) में अधिष्ठित होनेपर उससे महत्-तत्त्वका आविर्भाव होता है॥ २२॥

महतस्तु विकुर्वाणाद्रजःसत्त्वोपबृंहितात्।
तमःप्रधानस्त्वभवद्द्रव्यज्ञानक्रियात्मकः ॥ २३॥

वही महत्तत्त्व काल, स्वभाव और कर्मके द्वारा विकारको प्राप्त हुआ तथा रज एवं सत्त्वगुणके द्वारा वर्धित होनेपर उस महत्-तत्त्वसे तमः-प्रधान अधिभूत—द्रव्य, अधिदैव—ज्ञान और अध्यात्म—एक क्रियात्मक तत्त्व (अहङ्कार) उत्पन्न हुआ॥ २३॥

सोऽहङ्कार इति प्रोक्तो विकुर्वन् समभूत् त्रिधा।
वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेति यद्भिदा।
द्रव्यशक्तिः क्रियाशक्तिर्ज्ञानशक्तिरिति प्रभो॥ २४॥

यही तत्त्व 'अहङ्कार' कहलाता है। जब यह अहङ्कार विकारको प्राप्त हुआ, तब तीन प्रकारका हो गया—वैकारिक (सात्त्विक), तैजस (राजस) और तामस। तामस अहङ्कार-तत्त्वकी शक्ति द्रव्यस्वरूप आकाशादि महाभूतोंपर, राजस अहङ्कार-तत्त्वकी शक्ति इन्द्रियोंपर और सात्त्विक अहङ्कार-तत्त्वकी शक्ति इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ देवताओंके ऊपर क्रिया करती है॥ २४॥

तामसादपि भूतादेर्विकुर्वाणादभून्नभः।
तस्य मात्रा गुणः शब्दो लिङ्गं यद्द्रष्टृदृश्ययोः॥ २५॥

पञ्चभूतोंके कारणरूप तामस भूतादिका विकार होनेपर आकाशकी उत्पत्ति होती है। तामस अहङ्कार-तत्त्वसे सर्वप्रथम शब्द उत्पन्न होता है। यही शब्द आकाशका सूक्ष्म रूप और स्वभाव है, अर्थात् शब्दसे आकाशकी उत्पत्ति होती है। शब्द ही द्रष्टा एवं दृश्यका बोध करानेवाला लक्षण है॥ २५॥

नभसोऽथ विकुर्वाणादभूत् स्पर्शगुणोऽनिलः।
परान्वयाच्छब्दवांश्च प्राण ओजः सहो बलम्॥ २६॥

इसके बाद आकाशमें विकार उत्पन्न हुआ, जिससे स्पर्श गुणसे युक्त वायुकी उत्पत्ति हुई। वायुका अपने कारणरूप आकाशसे सम्बन्ध रहनेके कारण वायुमें भी आकाशका शब्द-गुण विद्यमान रहता है। वायुसे ही देह-धारण, इन्द्रियोंकी ओज शक्ति, मनकी सहन शक्ति तथा शरीरमें बल होता है॥ २६॥

वायोरपि विकुर्वाणात् कालकर्मस्वभावतः।
उदपद्यत वै तेजो रूपवत् स्पर्शशब्दवत्॥ २७॥

काल, कर्म और स्वभाववशतः वायुमें विकार उत्पन्न हुआ, जिससे तेजकी उत्पत्ति हुई। तेजका प्रधान गुण रूप है। आकाश और वायु तेजके कारण हैं, इसलिए स्वाभाविक रूपवान तेजमें आकाश और वायुके सम्बन्धसे शब्द एवं स्पर्श गुण भी विद्यमान रहते हैं॥ २७॥

तेजसस्तु विकुर्वाणादासीदम्भो रसात्मकम्।
रूपवत् स्पर्शवच्चाम्भो घोषवच्च परान्वयात्॥ २८॥

तेजमें विकार होनेपर जलकी उत्पति हुई, जिसका गुण रस है। जलमें आकाश, वायु और तेजका कारण रूपसे सम्बन्ध रहनेसे उसमें शब्द, स्पर्श और रूप भी प्रविष्ट रहते हैं। इस प्रकार रसात्मक जल चार गुणोंसे युक्त होता है॥ २८॥

विशेषस्तु विकुर्वाणादम्भसो गन्धवानभूत्।
परान्वयाद्रसस्पर्श-शब्दरूपगुणान्वितः ॥ २९॥

जलके विकारसे पृथ्वी उत्पन्न होती है। पृथ्वीका स्वाभाविक गुण गन्ध है। पृथ्वीका आकाश, वायु, तेज एवं जलके साथ कारण रूपसे सम्बन्ध होनेके कारण पृथ्वीमें शब्द, स्पर्श, रूप एवं रस—ये चारों गुण भी विद्यमान रहते हैं॥ २९॥

वैकारिकान्मनो जज्ञे देवा वैकारिका दश।
दिग्वातार्कप्रचेतोऽश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्रमित्रकाः ॥ ३०॥

वैकारिक अर्थात् सात्त्विक अहङ्कारके विकार प्राप्त होनेपर मनकी उत्पत्ति होती है। (मन शब्दसे उसके अधिष्ठाता चन्द्रकी भी उत्पत्ति समझनी चाहिये।) इसी सात्त्विक अहङ्कारसे दस देवता भी उत्पन्न होते हैं। कान, त्वचा, चक्षु, जिह्वा और नासिका—इन पाँच ज्ञानेन्द्रियोंके अधिष्ठातृ देवता क्रमशः दिशा, पवन, सूर्य, वरुण एवं दोनों अश्विनीकुमार हैं। वाक्, पाणि, पाद, पायु एवं उपस्थ—इन पाँच कर्मेन्द्रियोंके अधिष्ठातृ देवता यथाक्रमसे अग्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, मित्र एवं प्रजापति हैं॥ ३०॥

तैजसात्तु विकुर्वाणादिन्द्रियाणि दशाभवन्।
ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिर्बुद्धिः प्राणश्च तैजसौ।
श्रोत्रं त्वग्घ्राणदृग्जिह्वावाग्दोर्मेढ्राङ्घ्रिपायवः॥ ३१॥

जब तैजस अर्थात् राजस अहङ्कार विकारको प्राप्त होता है, तब दस इन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है। पाँच-ज्ञानशक्ति रूप इन्द्रियाँ अथवा बुद्धि एवं पाँच-क्रियाशक्ति रूप इन्द्रियाँ अथवा प्राण राजस अहङ्कारके कार्य हैं। दस इन्द्रियोंमें पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं—कान, त्वचा, चक्षु, जिह्वा और नासिका तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं—वाक्, पाणि, पाद, पायु एवं उपस्थ॥ ३१॥

यदैतेऽसङ्गता भावा भूतेन्द्रियमनोगुणाः।
यदायतननिर्माणे न शेकुर्ब्रह्मवित्तम॥ ३२॥

(इस प्रकार कारणकी सृष्टि बतलाकर अब कार्यकी सृष्टि बतला रहे हैं।) हे ब्रह्मविदोंमें श्रेष्ठ नारदजी! ये सब भूतेन्द्रियाँ, मन एवं सत्वादि गुणोंके कार्यरूप भाव पहले पृथक्-पृथक् थे, इसलिए ये शरीर निर्माणमें समर्थ नहीं थे॥ ३२॥

तदा संहत्य चान्योन्यं भगवच्छक्तिचोदिताः।
सदसत्त्वमुपादाय चोभयं ससृजुर्ह्यदः॥ ३३॥

तब भगवान्‌की प्रेरणासे उनकी संयोगकारिणी शक्तिने इन सबमें प्रवेशकर इनका परस्पर योग करा दिया। परस्पर संयुक्त होनेपर इन समस्त तत्त्वोंने मुख्य एवं गौण भावको स्वीकार करते हुए व्यष्टि-समष्टि रूप पिण्ड एवं ब्रह्माण्ड दोनोंकी सृष्टि की॥ ३३॥

वर्षपूगसहस्रान्ते तदण्डमुदकेशयम्।
कालकर्मस्वभावस्थो जीवोऽजीवमजीवयत्॥ ३४॥

यह ब्रह्माण्ड कई हजारों वर्षों तक जलमें अचेतन रूपसे अवस्थित था। इसके बाद काल, जीवके अदृष्टरूप कर्म और स्वभावमें अधिष्ठित होकर हिरण्यगर्भ-अन्तर्यामी पुरुषने उस अचेतन अण्डको सचेतन कर दिया॥ ३४॥

स एव पुरुषस्तस्मादण्डं निर्भिद्य निर्गतः।
सहस्रोर्वङ्घ्रिबाह्वक्षः सहस्राननशीर्षवान्॥ ३५॥

तदनन्तर उस अण्डेको फोड़कर उसमेंसे वही विराट् पुरुष निकले, जिनके हजारों सिर, हजारों मुख, हजारों नेत्र, हजारों बाहु, हजारों जंघा और हजारों चरण हैं॥ ३५॥

यस्येहावयवैर्लोकान् कल्पयन्ति मनीषिणः।
कट्यादिभिरधः सप्त सप्तोर्ध्वं जघनादिभिः॥ ३६॥

पण्डितलोग उन्हीं पुरुषके अवयवों (अङ्गों) में चौदह लोकोंकी कल्पना करते हैं। अर्थात् उन पुरुषकी कमरसे नीचेके अङ्गोंमें तल, अतल, सुतल, वितल, महातल, रसातल और पाताल—सात अधोलोक तथा उनके जघन (पेड़ू) से ऊपरके अङ्गोंमें भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तप और सत्य—ये सात ऊर्ध्वलोक हैं॥ ३६॥

पुरुषस्य मुखं ब्रह्म क्षत्रमेतस्य बाहवः।
ऊर्वोर्वैश्यो भगवतः पद्भ्यां शूद्रो व्यजायत॥ ३७॥

उन विराट् पुरुषके मुखसे ब्राह्मण, भुजाओंसे क्षत्रिय, जाँघोंसे वैश्य और पैरोंसे शूद्र उत्पन्न हुए हैं॥ ३७॥

भूर्लोकः कल्पितः पद्भ्यां भुवर्लोकोऽस्य नाभितः।
हृदा स्वर्लोक उरसा महर्लोको महात्मनः॥ ३८॥

उन महापुरुषके दोनों चरणोंसे कमर तक सातों पाताल तथा भूलोककी, नाभिमें भुवर्लोककी, हृदयमें स्वर्ग-लोककी तथा उनके वक्षःस्थलमें महर्लोककी कल्पना की जाती है॥ ३८॥

ग्रीवायां जनलोकोऽस्य तपोलोकः स्तनद्वयात्।
मूर्धभिः सत्यलोकस्तु ब्रह्मलोकः सनातनः॥ ३९॥

उन पुरुषके गलेमें जनलोक, दोनों स्तनोंमें तपोलोक एवं सिरमें सत्यलोककी कल्पना की गयी है। इसके ऊपर स्थित वैकुण्ठ नामक भगवान्‌का जो नित्य लोक है, वह सृष्ट-प्रपञ्चके अन्तर्गत नहीं आता। वह वैकुण्ठधाम विराट् पुरुषके अङ्ग-रूपमें ध्येय नहीं है, क्योंकि वह सनातन है। अर्थात् अण्डमें स्थित होनेपर भी भगवान् जिस प्रकार नित्य हैं, उनका वह धाम भी उसी प्रकार नित्य है॥ ३९॥

तत्कट्याञ्चातलं क्लृप्तमूरुभ्यां वितलं विभोः।
जानुभ्यां सुतलं शुद्धं जङ्घाभ्यान्तु तलातलम्॥ ४०॥
महातलस्तु गुल्फाभ्यां प्रपादाभ्यां रसातलम्।
पातालं पादतलत इति लोकमयः पुमान्॥ ४१॥

उन परमेश्वरकी कमरमें अतल, दोनों जाँघोंमें वितल, दोनों घुटनोंमें शुद्ध[१] सुतल, जंघाओंमें तलातल, एड़ीके ऊपरकी गाँठोंमें महातल, दोनों चरणोंके अग्रभाग (पञ्जों) में रसातल और दोनों पैरोंके तलुओंमें पातालकी कल्पना की गयी है। इस प्रकार वह पुरुष चौदह भुवनात्मक हैं॥ ४०-४१॥

---

[१] सुतलको शुद्ध और पवित्र लोक कहा जाता है, क्योंकि वह प्रह्लाद, बलि आदि हरिभक्तोंका निवास स्थान है।

भूर्लोकः कल्पितः पद्भ्यां भुवर्लोकोऽस्य नाभितः।
स्वर्लोकः कल्पितो मूर्द्ध्ना इति वा लोककल्पना॥ ४२॥

अथवा विराट् पुरुषके अङ्गोंमें तीनों लोकोंकी कल्पना इस प्रकार भी की जाती है कि उन पुरुषके दोनों चरणोंमें भूर्लोक, नाभिमें भुवर्लोक और सिरमें स्वर्लोक हैं॥ ४२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां द्वितीयस्कन्धे श्रीपुरुषसंस्थानुवर्णनं नाम पञ्चमोऽध्यायः॥

षष्ठोऽध्यायः

विराट् पुरुषकी अध्यात्मादि विभूतियोंका वर्णन

श्रीब्रह्मोवाच—

वाचां वह्नेर्मुखं क्षेत्रं छन्दसां सप्त धातवः।
हव्यकव्यामृतान्नानां जिह्वा सर्वरसस्य च॥ १॥

श्रीब्रह्माने नारदजीसे कहा—उन विराट् पुरुषका मुख, वाक् इन्द्रिय और उसके अधिष्ठातृ देवता अग्निका उत्पत्ति-स्थान है। उनकी त्वचा आदि सातों धातुओंसे गायत्री, त्रिष्टुप्, अनुष्टुप, उष्णिक, बृहती, पंक्ति और जगती—ये सातों छन्द निकले हैं। उनकी जिह्वासे हव्य (देवताओंका अन्न), कव्य (पितरोंका अन्न), अमृत (देवताओं और पितरोंका अवशिष्ट मनुष्योंका अन्न), मधुरादि छह प्रकारके रस, हमारी रसनेन्द्रियाँ और उनके अधिष्ठातृ देवता वरुण उत्पन्न हुए हैं॥ १॥

सर्वासूनाञ्च वायोश्च तन्नासे परमायणे।
अश्विनोरोषधीनाञ्च घ्राणो मोदप्रमोदयोः॥ २॥

उनके दोनों नासाछिद्रोंसे समस्त जीवोंके प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान—ये पाँचों प्राण तथा वायु उत्पन्न हुए हैं। उनकी घ्राणेन्द्रियोंसे दोनों अश्विनीकुमार, समस्त औषधियाँ तथा साधारण एवं विशेष गन्ध उत्पन्न हुए हैं॥ २॥

रूपाणां तेजसां चक्षुर्दिवः सूर्यस्य चाक्षिणी।
कर्णौ दिशाञ्च तीर्थानां श्रोत्रमाकाशशब्दयोः॥ ३॥

उनकी नेत्रेन्द्रिय समस्त प्रकारके रूपों और रूप-प्रकाशक वस्तुओं अर्थात् तेजादिका उत्पत्ति-स्थान है। उनके नेत्रोंके दोनों गोलक स्वर्ग और सूर्यके उत्पत्ति-स्थान हैं। उनके कानोंसे समस्त दिशाएँ एवं तीर्थ निकले हैं। उनकी श्रवणेन्द्रियसे आकाश और शब्द उत्पन्न हुए हैं॥ ३॥

तद्गात्रं वस्तुसाराणां सौभगस्य च भाजनम्।
त्वगस्य स्पर्शवायोश्च सर्वमेधस्य चैव हि॥ ४॥

उनका शरीर वस्तुओंके सारांश और सौभाग्य (सौन्दर्य) का आधार है। उनकी त्वचा स्पर्श, वायु एवं समस्त यज्ञोंकी उत्पत्तिका स्थान है॥ ४॥

रोमाण्युद्भिज्जजातीनां यैर्वा यज्ञस्तु सम्भृतः।
केश-श्मश्रु-नखान्यस्य शिला-लोहाभ्र-विद्युताम्॥ ५॥

जिन सब वृक्षों द्वारा यज्ञोंका भलीभाँति अनुष्ठान होता है, वे समस्त वृक्ष भगवान्‌के रोमसे उत्पन्न हुए हैं। उनके केशों एवं दाढ़ी-मूँछोंसे जलवाही मेघोंका उद्गम हुआ है तथा उनके हाथ एवं चरणोंके कान्तिमय नखोंसे विद्युत्, श्वेत और रक्त वर्णकी शिलाएँ तथा लोहा प्रकट हुआ है॥ ५॥

बाहवो लोकपालानां प्रायशः क्षेमकर्मणाम्॥ ६॥

उनकी भुजाओंसे शुभकार्य करनेवाले अर्थात् संसारका पालन करनेवाले लोकपाल देवताओंकी उत्पत्ति हुई है॥ ६॥

विक्रमो भूर्भुवः स्वश्च क्षेमस्य शरणस्य च।
सर्वकाम-वरस्यापि हरेश्चरण आस्पदम्॥ ७॥

उन पुरुषका पद-न्यास (चलना-फिरना) भू, भुव एवं स्वर्ग—तीनों लोकोंका आश्रय है। उन श्रीहरिके चरणकमल कल्याण अर्थात् प्राप्त वस्तुओंकी रक्षा करनेवाले हैं, शरण अर्थात् समस्त प्रकारके भयोंको दूर करनेवाले हैं तथा समस्त प्रकारकी कामनाओंकी पूर्ति एवं वरोंकी प्राप्तिका आश्रय स्थल हैं॥ ७॥

अपां वीर्यस्य सर्गस्य पर्जन्यस्य प्रजापतेः।
पुंसः शिश्न उपस्थस्तु प्रजात्यानन्दनिर्वृतेः॥ ८॥

उन विराट् पुरुषका लिङ्ग जल, शुक्र (वीर्य), प्रजासृष्टि, मेध (वर्षारूपी जल) एवं प्रजापतिका आधार है। उनकी उपस्थेन्द्रिय सन्तान उत्पत्तिके लिए सम्भोगजनित आनन्द द्वारा कामरूपी तापके नाशका आधार है॥ ८॥

पायुर्यमस्य मित्रस्य परिमोक्षस्य नारद।
हिंसाया निर्ऋतेर्मृत्योर्निरयस्य गुदः स्मृतम्॥ ९॥

हे नारद! उन विराट् पुरुषकी गुह्येन्द्रिय (पायु इन्द्रिय) यम, मित्र एवं मल-त्यागका स्थान माना जाता है तथा उनका पायुस्थान (गुदा) हिंसा, अलक्ष्मी (निर्ऋति), मृत्यु एवं नरकका आश्रय कहा जाता है॥ ९॥

पराभूतेरधर्मस्य तमसश्चापि पश्चिमः।
नाड्यो नद-नदीनाञ्च गोत्राणामस्थिसंहतिः॥ १०॥

उन विराट् पुरुषकी पीठ पराजय, अधर्म और अज्ञानका स्थान है, उनकी नाड़ियाँ समस्त नद-नदियोंका तथा उनकी हड्डियाँ पर्वतोंका आश्रय हैं॥ १०॥

अव्यक्तरससिन्धूनां भूतानां निधनस्य च।
उदरं विदितं पुंसो हृदयं मनसः पदम्॥ ११॥

उन विराट् पुरुषका उदर प्रधान अर्थात् त्रिगुणा-प्रकृति, अन्नादि-रस, समुद्र, प्राणियोंके लय (मृत्यु) का स्थान है, जब कि उनका हृदय प्राणियोंके लिङ्ग अर्थात् सूक्ष्म शरीरका आश्रय है—ऐसा ज्ञानीलोग कहते हैं॥ ११॥

धर्मस्य मम तुभ्यञ्च कुमाराणां भवस्य च।
विज्ञानस्य च सत्त्वस्य परस्यात्मा परायणम्॥ १२॥

हे नारद! उन पुरुषका अन्तःकरण (चित्त) धर्म, मेरा, तुम्हारा, सनत्-कुमारादि, रुद्र, बुद्धि (विज्ञान) और हम सबके सत्त्व—तत्त्वात्मक चित्तका परम आश्रय है॥ १२॥

अहं भवान् भवश्चैव त इमे मुनयोऽग्रजाः।
सुरासुर-नरा नागाः खगा मृगसरीसृपाः॥ १३॥

गन्धर्वाप्सरसो यक्षा रक्षोभूतगणोरगाः।
पशवः पितरः सिद्धा विद्याध्राश्चारणा द्रुमाः॥ १४॥

अन्ये च विविधा जीवा जलस्थलनभौकसः।
ग्रहर्क्षकेतवस्तारास्तडितस्तनयित्नवः ॥ १५॥

सर्वं पुरुष एवेदं भूतं भव्यं भवच्च यत्।
तेनेदमावृतं विश्वं वितस्तिमधितिष्ठति॥ १६॥

हे नारदजी! मैं, तुम, रुद्र, तुम्हारे बड़े भाई सनकादि, देवतागण, असुर, मनुष्य, नाग, पक्षी, मृग, सरीसृप (रेंगनेवाले पशु), गन्धर्व, अप्सरा, यक्ष, राक्षस, भूत-प्रेत, उरग (सर्प), पशु, पितर, सिद्ध, विद्याधर, चारण, वृक्ष तथा जल, स्थल और अन्तरीक्षमें विचरण करनेवाले अन्यान्य विविध प्राणीसमूह, ग्रह, नक्षत्र, धूमकेतु (पुच्छल तारे), तारे, बिजली, मेघ, भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान सभी कुछ विराट् पुरुष ही हैं। अर्थात् उनसे भिन्न किसीकी भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं हैं। वे दस अङ्गुलके स्थानमात्रमें अधिष्ठित रहकर इस सम्पूर्ण विश्वमें जो कुछ भी था, है और होगा—उसे घेरे हुए हैं॥ १३-१६॥

स्वधिष्ण्यं प्रतपन् प्राणो बहिश्च प्रतपत्यसौ।
एवं विराजं प्रतपंस्तपत्यन्तर्बहिः पुमान्॥ १७॥

जिस प्रकार सूर्य अपने मण्डलको प्रकाशित करते हुए बाहर भी अपने प्रकाशको फैलाता है, उसी प्रकार वे परमपुरुष भी अपनी विराट् देहको प्रकाशित करते हुए ब्रह्माण्डके भीतर और बाहर अपने प्रकाशसे सभी वस्तुओंको प्रकाशित कर रहे हैं। वे सर्वत्र एकरससे प्रकाशित होते हैं॥ १७॥

सोऽमृतस्याभयस्येशो मर्त्यमन्नं यदत्यगात्।
महिमैष ततो ब्रह्मन् पुरुषस्य दुरत्ययः॥ १८॥

हे नारद! वे परमेश्वर अमृत और अभयपद (मोक्ष) के स्वामी हैं तथा मरणधर्मी अर्थात् नश्वर विषय-सुखोंसे परे हैं, इसीलिए उन परमेश्वरकी महिमा असीम है॥ १८॥

पादेषु सर्वभूतानि पुंसः स्थितिपदो विदुः।
अमृतं क्षेममभयं त्रिमूर्ध्नोऽधायि मूर्द्धसु॥ १९॥

पण्डितजन कहते हैं कि जिनके चरणकमल ही स्थिति-पद अर्थात् समस्त लोकोंके पालक हैं, उन विराट् पुरुषके (एकपाद) अंशभूत मायिक और त्रिपाद अमायिक (माया रहित) प्रदेशोंमें क्रमशः बद्ध

और मुक्त जीव विराजित हैं। त्रिगुणमय स्थानोंके ऊपरी भागमें परव्योम है, जहाँ मरणका अभाव (अमृत), रोगादिका अभाव (क्षेम) तथा भगवत्-अपराधके कारण भयका अभाव (अभय) नित्य विराजित है। अर्थात् वहाँ मृत्यु, व्याधि एवं भय नहीं हैं, बल्कि अमृत, क्षेम एवं अभयकी सदा-सर्वदा अवस्थिति है॥ १९॥

पादास्त्रयो बहिश्चासन्नप्रजानां य आश्रमाः।
अन्तस्त्रिलोक्यास्त्वपरो गृहमेधोऽबृहद्व्रतः॥ २०॥

ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी एवं संन्यासी—इन तीन आश्रमियोंको प्राप्त होने योग्य जो जन, तप और सत्य आदि लोक हैं, वे उन पुरुषके त्रिपाद अंशमें और त्रिलोकीके बाहरमें स्थित हैं। किन्तु दीर्घकालीन अर्थात् नैष्ठिकी ब्रह्मचर्य और भगवत्-व्रतसे रहित गृहस्थ-कर्मियोंको प्राप्त होने योग्य स्थान त्रिलोकीके ही अन्दर स्थित हैं। वे भूलोक, भुवर्लोक और स्वर्गलोकमें ही वास करते हैं॥ २०॥

सृती विचक्रमे विष्वङ् साशनानशने उभे।
यदविद्या च विद्या च पुरुषस्तूभयाश्रयः॥ २१॥

अपने कर्मवशतः अविद्या और विद्याके वशीभूत होकर विश्व-परिभ्रमणकारी जीव क्रमशः एकपाद एवं त्रिपाद-विभूतिको प्राप्त करनेके दो मार्ग—दक्षिण एवं उत्तरमें विचरण करता है। दक्षिण पथ भोगके साधन अविद्यारूप कर्मका है तथा उत्तर पथ मोक्षके साधन विद्यारूप ज्ञानका है। अविद्या-दशामें जीव एकपाद विभूति और विद्या-दशामें त्रिपाद विभूतिको प्राप्त करता है। परमेश्वर विद्या और अविद्या दोनोंके आश्रय हैं अर्थात् दोनों प्रकारकी माया ही परमेश्वरके अधीन है, वे ही एकमात्र मायाधीश हैं॥ २१॥

यस्मादण्डं विराड्जज्ञे भूतेन्द्रियगुणात्मकः।
तद्द्रव्यमत्यगाद्विश्वं गोभिः सूर्य इवातपन्॥ २२॥

जिन पुरुषसे इस अण्ड, पञ्चभूत, इन्द्रिय एवं गुणात्मक विराट्‌की उत्पत्ति हुई है, वे ही ईश्वर हैं। जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणोंसे विश्वको प्रकाशित करके भी अपने ही मण्डलमें स्थित रहते हैं, उसी

प्रकार वे पुरुष भी ब्रह्माण्ड एवं विराट् शरीरको प्रकाशित करके भी अपने अन्तरङ्ग स्थान त्रिपाद-विभूतिमें सर्वदा विराजित रहते हैं॥ २२॥

यदास्य नाभ्यान्नलिनादहमासं महात्मनः।
नाविदं यज्ञसम्भारान् पुरुषावयवानृते॥ २३॥

हे नारद! जिस समय मैं (ब्रह्मा) उन महापुरुषके नाभि-कमलसे उत्पन्न हुआ, उस समय उन विराट् पुरुषके अङ्गोंके अतिरिक्त पृथक् रूपसे यज्ञकी और कोई सामग्री मुझे दिखायी नहीं दी॥ (१)२३॥

तेषु यज्ञस्य पशवः सवनस्पतयः कुशाः।
इदञ्च देवयजनं कालश्चोरुगुणान्वितः॥ २४॥

उस समय मैंने यज्ञ-पशु, यूप (स्तम्भ), कुश, यज्ञके लिए उपयुक्त स्थान और बहुत गुणोंसे युक्त वसन्तादि उत्तम काल इत्यादि समस्त नित्य-सिद्ध यज्ञकी सामग्रियोंका उन पुरुषके अङ्गोंसे ही संग्रह किया॥ २४॥

वस्तून्योषधयः स्नेहा रस-लोह-मृदो जलम्।
ऋचो यजूंषि सामानि चातुर्होत्रञ्च सत्तम॥ २५॥

नामधेयानि मन्त्राश्च दक्षिणाश्च व्रतानि च।
देवतानुक्रमः कल्पः सङ्कल्पस्तन्त्रमेव च॥ २६॥

गतयो मतयश्चैव प्रायश्चित्तं समर्पणम्।
पुरुषावयवैरेते सम्भाराः सम्भृता मया॥ २७॥

यज्ञ करनेके लिए पात्र, जौ-चावलादि शस्य, घृतादि स्नेह पदार्थ, मधुरादि छह रस, सोना-चाँदी आदि धातुएँ, मिट्टी, जल, ऋक्, यजुः, साम तथा होता, उद्गाता, ब्रह्मा एवं ऋत्विक—इन चारोंके द्वारा करणीय कर्म, यज्ञ आदिके ज्योतिष्टोमादि नाम, स्वाहाकारादि मन्त्र,

(१) यद्यपि अद्वयज्ञान भगवान्‌के अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तुकी पृथक् सत्ता नहीं है, तथापि भक्तगण सर्वदा भगवान्‌की सेवा करनेके लिए उत्कण्ठित रहते हैं। जिस प्रकार पार्थिव गन्ध, पुष्पादि द्वारा पृथ्वीकी आराधना होती है, उसी प्रकार भगवत्-सम्बन्धी वस्तुओंके द्वारा ही भगवान्‌की आराधना सिद्ध होती है। यही भगवान्‌का आदेश है और मैंने इसी दृष्टान्तका अनुसरण किया है।

दक्षिणा, व्रत, देवताओं आदिके उद्देश्य, बोधायनादि कर्म-पद्धति ग्रन्थ, 'मैं इस प्रकारका यज्ञ करूँगा'—ऐसा सङ्कल्प तन्त्र अर्थात् अनुष्ठानका प्रकार, विष्णुक्रमादि गति, देवताओंका ध्यानादिरूप मति, प्रायश्चित्त, कर्मोंका भगवान्के प्रति समर्पण—ये सब नित्य-सिद्ध यज्ञके उपकरण मेरे द्वारा उन विराट् पुरुषकी देहसे एकत्रित हुए हैं॥ २५-२७॥

इति सम्भृतसम्भारः पुरुषावयवैरहम्।
तमेव पुरुषं यज्ञं तेनैवायजमीश्वरम्॥ २८॥

इस प्रकार उन विराट् पुरुषके अङ्गोंसे यज्ञ-सामग्रियोंका संग्रह करके मैंने उन समस्त यज्ञ-सामग्रियोंसे यज्ञेश्वर पुरुषके उद्देश्यसे यज्ञ किया था॥ २८॥

ततस्ते भ्रातर इमे प्रजानां पतयो नव।
अयजन् व्यक्तमव्यक्तं पुरुषं सुसमाहिताः॥ २९॥

हे नारद! तदनन्तर तुम्हारे बड़े भाई मरीचि आदि इन नौ प्रजापतियोंने एकाग्र चित्तसे इन्द्रादिके रूपमें प्रकटित (साकार) एवं स्वतः अव्यक्त पुरुषके (निराकार) उद्देश्यसे यज्ञ किया था॥ २९॥

ततश्च मनवः काले ईजिरे ऋषयोऽपरे।
पितरो विबुधा दैत्या मनुष्याः क्रतुभिर्विभुम्॥ ३०॥

तदनन्तर मनुओंने अपने-अपने उचित समयपर तथा अन्यान्य ऋषियों, पितरों, देवताओं, दैत्यों, मनुष्योंने उन परमेश्वरकी यज्ञोंके द्वारा ही आराधना की॥ ३०॥

नारायणे भगवति तदिदं विश्वमाहितम्।
गृहीतमायोरुगुणः सर्गादावगुणः स्वतः॥ ३१॥

('यदधिष्ठानम्' इस प्रश्नके उत्तरका उपसंहार करते हुए कह रहे है कि) भगवान् श्रीनारायणमें ही यह सम्पूर्ण विश्व अधिष्ठित है। भगवान् स्वतः प्रकृतिके गुणोंसे रहित रहकर भी सृष्टिादिके प्रारम्भमें ब्रह्मा, रुद्रादि रूपोंमें सृष्टि और प्रलयादिके लिए त्रिगुणात्मक मायाके द्वारा महत्-गुणोंको ग्रहण कर लेते हैं॥ ३१॥

सृजामि तन्नियुक्तोऽहं हरो हरति तद्वशः।
विश्वं पुरुषरूपेण परिपाति त्रिशक्तिधृक्॥ ३२॥

(यत्परं—इस प्रश्नके उत्तरका उपसंहार करते हुए कहते हैं कि) भगवान् श्रीहरिकी आज्ञासे नियुक्त होकर ही मैं संसारका सृजन करता हूँ तथा उनके ही अधीन होकर शिव इस विश्वका संहार करते हैं। त्रिगुण-माया-शक्तिधर (अन्तरङ्गा चित्-शक्ति, बहिरङ्गा मायाशक्ति और तटस्था जीवशक्तिको धारण करनेवाले) श्रीहरि विष्णुके रूपमें विश्वका पालन करते हैं॥ ३२॥

इति तेऽभिहितं तात यथेदमनुपृच्छसि।
नान्यद्भगवतः किञ्चिद्भाव्यं सदसदात्मकम्॥ ३३॥

(प्रकरणका उपसंहार करते हुए कह रहे हैं—)हे तात! तुमने मुझसे जिस प्रकारसे प्रश्न किये थे, मैंने उसी प्रकारसे ही बतलाया है। सत् अर्थात् कार्य और असत् अर्थात् कारणरूप सृष्टि तथा एकपादात्मक या त्रिपादात्मक सभी कुछ उन भगवान्से पृथक् है—ऐसी भावना कभी नहीं करना॥ ३३॥

न भारती मेऽङ्ग मृषोपलक्ष्यते
न वै क्वचिन्मे मनसो मृषा गतिः।
न मे हृषीकाणि पतन्त्यसत्पथे
यन्मे हृदौत्कण्ठ्यवता धृतो हरिः॥ ३४॥

हे नारद! मैंने अत्यन्त उत्कण्ठित और सेवोन्मुख भावसे अपने हृदयमें श्रीहरिका ध्यान किया है, जिसके प्रभावसे मेरी वाणी, मन एवं इन्द्रियोंकी वृत्तियाँ सभी कुछ दोष रहित हैं। अतएव मेरी वाणी कभी मिथ्या नहीं होती, मेरा मन भी कभी मिथ्या भावना नहीं करता और मेरी इन्द्रियाँ भी असत्-पथ अर्थात् कुमार्गपर नहीं जातीं॥ ३४॥

सोऽहं समाम्नायमयस्तपोमयः
प्रजापतीनामभिवन्दितः पतिः।
आस्थाय योगं निपुणं समाहित-
स्तं नाध्यगच्छं यत आत्मसम्भवः॥ ३५॥

इस प्रकार उत्काण्ठापूर्ण चित्तसे श्रीहरिका ध्यान करनेवाले मेरे चारों मुखोंसे समस्त वेद प्रकट हुए हैं, श्रीभगवान्के आदेशसे मेरा जीवन तपोमय हुआ है तथा मैं प्रजापतियों द्वारा पूजित उनका ईश्वर हूँ। मैंने एकाग्र चित्तसे बड़ी निष्ठापूर्वक योगका आश्रय करके योगके सभी अङ्गोंका अनुष्ठान किया है। मैंने जिनसे जन्म-ग्रहण किया है, जब मैं ही उन्हें जान नहीं पाया हूँ, तो मेरे द्वारा सृष्ट अन्यान्य जीव किस प्रकार उन पुरुषको जान सकते हैं॥ ३५॥

नतोऽस्म्यहं तच्चरणं समीयुषां
भवच्छिदं स्वस्त्ययनं सुमङ्गलम्।
यो ह्यात्ममायाविभवञ्च पर्यगाद्
यथा नभः स्वान्तमथापरे कुतः॥ ३६॥

मैं श्रीभगवान्के उन मङ्गलजनक श्रीचरणोंमें प्रणत होता हूँ, जो चरण शरणागत भक्तोंके भव-बन्धनरूप दुःखोंका छेदन करनेवाले तथा भक्तोंको निज प्रेमरूप सुख प्रदान करनेवाले हैं। जिस प्रकार आकाश स्वयं ही अपना अन्त नहीं पा सकता, उसी प्रकार वे परमेश्वर भी अपनी योगमायाके विस्तारकी सीमाको प्राप्त नहीं कर सकते। अतएव फिर हम जैसे तुच्छ जीव किस प्रकारसे उनकी मायाके विस्तारको मापनेमें समर्थ हो सकते हैं?॥ ३६॥

नाहं न यूयं यदृतां गतिं विदु-
र्न वामदेवः किमुतापरे सुराः।
तन्मायया मोहितबुद्धयस्त्विदं
विनिर्मितञ्चात्मसमं विचक्ष्महे॥ ३७॥

मैं, तुमलोग और रुद्र उन श्रीनारायणकी एकपाद विभूतिको भी जान नहीं सकते, तब फिर दूसरे देवता उन्हें किस प्रकारसे जान सकेंगे? हम सबकी बुद्धि उनकी माया द्वारा विमोहित रहती है, अतः उनकी माया द्वारा रचे हुए इस विश्वका हम अपने-अपने ज्ञानके अनुसार ही वर्णन करते रहते हैं॥ ३७॥

यस्यावतारकर्माणि गायन्ति ह्यस्मदादयः।
न यं विदन्ति तत्त्वेन तस्मै भगवते नमः॥ ३८॥

इस प्रकार हम सभी देवता उनके अवतारों और लीला-चरित्रोंका कीर्त्तन-गान करते रहते हैं, परन्तु हममेंसे कोई भी उनके यथार्थ शक्ति-स्वरूप-तत्त्वको ठीकसे नहीं जान पाता। अतः मैं उन भगवान्‌के स्वरूपके विषयमें क्या कहूँ? मैं तो उन भगवान्‌को केवल प्रणाम कर सकता हूँ॥ ३८॥

स एष आद्यः पुरुषः कल्पे कल्पे सृजत्यजः।
आत्मात्मन्यात्मनात्मानं संयच्छति पाति च॥ ३९॥

वे आदि (मूल) पुरुषावतार प्रत्येक कल्पके आरम्भमें स्वयं अपनेमें अपने द्वारा अपना ही सृजन, पालन एवं संहार करते हैं॥ ३९॥

विशुद्धं केवलं ज्ञानं प्रत्यक् सम्यगवस्थितम्।
सत्यं पूर्णमनाद्यन्तं निर्गुणं नित्यमद्वयम्॥ ४०॥

भगवान्‌का निर्विशेष-स्वरूप उपाधिशून्य अर्थात् मायाके लेशमात्रसे रहित होनेके कारण विशुद्ध है। कर्त्ता, कर्म और करणके अभावके कारण वे केवल शुद्ध ज्ञान-स्वरूप हैं, सबके भीतर विराजित रहनेसे प्रत्यक् हैं, चारों दिशाओंमें ओत-प्रोत होनेके कारण वे सम्यक् रूपसे स्थित हैं, व्याप्तिरूप होकर सर्वत्र सत्तारूपमें स्थित होनेके कारण सत्य हैं, तारतम्यके अभाववशतः शक्ति, बल एवं ऐश्वर्यसे परिपूर्ण अपरिच्छिन्न हैं, जन्मादि विकारोंसे शून्य होनेके कारण वे अनादि एवं अनन्त हैं, सत्त्वादि मायिक गुणोंके संसर्गके अभावके कारण वे निर्गुण हैं, सर्वकालमें एक ही रूप—एक रससे स्थिर होनेके कारण वे नित्य हैं, उनके जैसी किसी द्वितीय वस्तुके अभावके कारण वे अद्वय हैं॥ ४०॥

ऋषे विदन्ति मुनयः प्रशान्तात्मेन्द्रियाशयाः।
यदा तदेवासत्तर्कैस्तिरोधीयेत विप्लुतम्॥ ४१॥

हे देवर्षि नारद! जिनकी देह, इन्द्रियाँ और मन प्रशान्त एवं सम्पूर्ण रूपसे दोष रहित हो गये हैं—ऐसे मननशील मुनि ही भगवान्‌के तत्त्वको जान सकते हैं, अर्थात् उनका साक्षात्कार कर सकते हैं। किन्तु जब यही भगवत्-तत्त्व अज्ञानीजनोंके कुतर्कोंसे परिव्याप्त होकर ढक जाता है, तब इसका सम्यक् दर्शन सम्भव नहीं हो पाता॥ ४१ ॥

आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य
कालः स्वभावः सदसन्मनश्च।
द्रव्यं विकारो गुण इन्द्रियाणि
विराट् स्वराट् स्थास्नु चरिष्णु भूम्नः॥ ४२॥

प्रकृतिके प्रति ईक्षणकर्त्ता कारणार्णशायी पुरुष परव्योमाधिपति भगवान् श्रीनारायणके प्रथम अवतार हैं। गुणोंमें क्षोभ करनेवाला काल, स्वभाव, कार्य-कारण रूप (सत्-असत् रूप) प्रकृति, महत्-तत्त्व, पञ्च-महाभूत (द्रव्य), अहङ्कार (विकार), सत्त्वादि गुण, इन्द्रियाँ, समष्टि शरीररूप पातालादि (ब्रह्माण्ड), समष्टि जीव अर्थात् हिरण्यगर्भ, स्थावर—जङ्गमरूप व्यष्टि शरीर—ये सभी परमेश्वरसे सम्बन्धित वस्तुएँ हैं॥ ४२ ॥

अहं भवो यज्ञ इमे प्रजेशा
दक्षादयो ये भवदादयश्च।
स्वर्लोकपालाः खगलोकपाला
नृलोकपालास्तललोकपालाः ॥ ४३ ॥

गन्धर्व-विद्याधर-चारणेशा
ये यक्ष-रक्षोरग-नागनाथाः।
ये वा ऋषीणामृषभाः पितृणां
दैत्येन्द्र-सिद्धेश्वर-दानवेन्द्राः ।
अन्ये च ये प्रेत-पिशाच-भूत-
कुष्माण्ड-यादो-मृग-पक्ष्यधीशाः ॥ ४४ ॥

यत् किञ्च लोके भगवन्महस्व-
दोजःसहस्वद्बलवत् क्षमावत्।

श्री-ह्री-विभूत्यात्मवदद्भुतार्णं
तत्त्वं परं रूपवदस्वरूपम्॥ ४५॥

मैं (ब्रह्मा), श्रीरुद्र, श्रीविष्णु, दक्षादि प्रजापति, तुम (नारद) और तुम्हारे जैसे सनकादि, स्वर्गलोकके अधिपति इन्द्रादि, पक्षियोंके राजा गरुड़ादि, मनुष्यलोकके समस्त राजा, पातालादि नीचेके लोकोंके राजा, गन्धर्व, विद्याधर, चारणोंके अधिनायक, यक्ष, राक्षस, सर्प, नागोंके स्वामी, ऋषिगण, पितरोंमें श्रेष्ठगण, दैत्येन्द्र, सिद्धेश्वर और समस्त दानवराज, अन्यान्य समस्त प्रेत-पिशाच, भूत, कुष्माण्ड, जल-जन्तु, मृग, पक्षियोंके अधिपति तथा लोकमें जो कुछ भी ऐश्वर्ययुक्त, तेजयुक्त, इन्द्रियशक्तियुक्त, मनःशक्तियुक्त, बलवान, शोभासम्पन्न, लज्जायुक्त, विभूतिसम्पन्न, बुद्धियुक्त, आश्चर्यवर्ण (अर्थात् अद्भुत वर्णोंसे युक्त), रूपवान (हमारे समान साकार) अथवा अरूप (निराकार) है, वे सभी कुछ परमपुरुषकी विभूतियाँ हैं, किन्तु उनका स्वरूप नहीं॥ ४३-४५॥

प्राधान्यतो यानृष आमनन्ति
लीलावतारान् पुरुषस्य भूम्नः।
आपीयतां कर्णकषायशोषान्-
अनुक्रमिष्ये त इमान् सुपेशान्॥ ४६॥

हे देवर्षि नारद! इन विभूतियोंके अतिरिक्त उन भूमा-पुरुषके वराह, यज्ञ आदि परम पवित्र और प्रधान-प्रधान लीलावतार भी हैं, जिनका साधुलोग गुणगान करते रहते हैं। इन कथाओंका श्रवण करनेपर दूसरी-दूसरी वार्त्ताओंको सुननेकी वासनारूपी मलिनता दूर हो जाती है। इन समस्त मधुर कथाओंको मैं क्रमशः तुम्हें सुनाऊँगा, अतएव इस सम्पूर्ण कथामृतका तुम बड़े आग्रहके साथ भलीभाँति पान करो॥ ४६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां द्वितीयस्कन्धे श्रीब्रह्मनारद-संवादे पुरुषविभूतिवर्णनं नाम षष्ठोऽध्यायः॥

सप्तमोऽध्यायः

भगवान्‌के लीलावतारों और उनकी विभूतियोंका वर्णन

श्रीब्रह्मोवाच—

यत्रोद्यतः क्षितितलोद्धरणाय बिभ्रत्
क्रौडीं तनुं सकलयज्ञमयीमनन्तः।
अन्तर्महार्णव उपागतमादिदैत्यं
तं दंष्ट्रयाद्रिमिव वज्रधरो ददार॥ १॥

श्रीब्रह्माने नारदजीसे कहा—जब भगवान् श्रीविष्णु प्रलयके जलमें डूबी हुई पृथ्वीका उद्धार करनेके लिए समुद्रके तलमें जानेके लिए तत्पर हुए, तब उन्होंने सर्वयज्ञमय वराह-शरीर धारण किया। उसी समय उस महासमुद्रमें हिरण्याक्ष नामक आदि दैत्य उनसे लड़नेके लिए जलके भीतर ही उनके सामने आ गया। भगवान्‌ने पहले अपने हाथोंसे उसे आहत किया और फिर अपनी दाढ़ोंसे उसे इस प्रकार टुकड़े-टुकड़े कर डाला, जिस प्रकार इन्द्रने अपने वज्रसे पर्वतोंके पंख काट दिये थे॥ १॥

जातो रुचेरजनयत् सुयमान् सुयज्ञ
आकूतिसूनुरमरानथ दक्षिणायाम्।
लोकत्रयस्य महतीमहरद् यदार्तिं
स्वायम्भुवेन मनुना हरिरित्यनूक्तः॥ २॥

उन्हीं भगवान्‌ने प्रजापति रुचिकी पत्नी आकूतिके गर्भसे सुयज्ञ रूपमें अवतार लिया। इस अवतारमें उन्होंने अपनी पत्नी दक्षिणाके गर्भसे 'सुयम' नामके देवताओंको उत्पन्न किया। उन्होंने ही इन्द्र बनकर त्रिलोकीके बड़े-बड़े दुःखोंको हर लिया था। सुयज्ञ नामसे प्रसिद्ध होनेपर भी विपत्तियोंको हर लेनेके कारण उनके नाना स्वायम्भुव मनुने[१] उन्हें 'हरि' के नामसे पुकारा॥ २॥

---

[१] चौदह मनुओंमें स्वायम्भुव मनु प्रथम मनु हैं। स्वयम्भू ब्रह्मासे जन्म लेनेके कारण इन्हें स्वायम्भुव मनु कहा जाता है।

जज्ञे च कर्दमगृहे द्विज देवहूत्यां
स्त्रीभिः समं नवभिरात्मगतिं स्वमात्रे।
ऊचे ययात्मशमलं गुणसङ्गपङ्क-
मस्मिन् विधूय कपिलस्य गतिं प्रपेदे॥ ३॥

हे नारद! भगवान्ने कर्दम ऋषिके घरमें उनकी पत्नी देवहूतिके गर्भसे नौ बहिनोंके साथ कपिलके रूपमें अवतार ग्रहण किया। भगवान् कपिलने अपनी माता देवहूतिको इस प्रकारके भगवत्-ज्ञानका उपदेश दिया था, जिससे देवहूतिने अपने उसी जन्ममें आत्माको मलिन करनेवाले मायाके तीनों गुणोंके आसक्तिरूपी मलको धोकर भगवान्के वैकुण्ठ धामको प्राप्त किया॥ ३॥

अत्रेरपत्यमभिकाङ्क्षत आह तुष्टो
दत्तो मयाहमिति यद्भगवान् स दत्तः।
यत्पादपङ्कजपरागपवित्रदेहा
योगर्द्धिमापुरुभयीं यदु-हैहयाद्याः॥ ४॥

अत्रि ऋषिने पुत्र-प्राप्तिकी कामनासे भगवान्की आराधना की थी। उनकी इस आराधनासे सन्तुष्ट होकर भगवान्ने अत्रि ऋषिसे कहा—"मैंने अपने-आपको पुत्र-रूपमें तुम्हें दान कर दिया।" इसीसे इस अवतारमें भगवान्का नाम दत्तात्रेय हुआ। दत्तात्रेयके रूपमें उन्होंने भुक्ति-मुक्तिरूप योग-सम्पत्तिको प्रदान किया। उनके श्रीचरणकमलोंके परागसे अपने शरीरको पवित्र करके राजा यदु और कार्त्तवीर्यार्जुन आदिने लौकिक और पारलौकिक—भोग और मोक्षरूप दोनों ही प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त की॥ ४॥

तप्तं तपो विविधलोकसिसृक्षया मे
आदौ सनात् स्वतपसः स चतुःसनोऽभूत्।
प्राक्कल्पसंप्लव-विनष्टमिहात्मतत्त्वं
सम्यग् जगाद मुनयो यदचक्षतात्मन्॥ ५॥

हे नारद! मैंने प्रथमतः विविध लोकोंकी सृष्टि करनेकी इच्छासे तपस्या की। मेरी अखण्ड तपस्यासे प्रसन्न होकर श्रीहरि चतुःसन[१]

[१] 'सन' तप् अर्थमें प्रयुक्त है।

(सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्-कुमार) के रूपमें आविर्भूत हुए। इस चतु:सन अवतारमें उन्होंने पूर्वकल्पमें प्रलयके कारण विनष्ट हुए आत्मतत्त्वके ज्ञानको भलीभाँति और यथावत् रूपमें मुनियोंके लिए वर्णन किया था। मुनियोंने जैसे ही इस आत्मतत्त्वको सुना, उसी क्षण उन्होंने अपने शुद्ध हृदयमें उस परमतत्त्वका आत्म-साक्षात्कार कर लिया॥ ५॥

धर्मस्य दक्षदुहितर्यजनिष्ट मूर्त्यां
नारायणो नर इति स्वतपःप्रभावः।
दृष्ट्वाऽऽत्मनो भगवतो नियमावलोपं
देव्यस्त्वनङ्गपृतना घटितुं न शेकुः॥ ६॥

धर्मकी पत्नी और दक्षकी कन्या मूर्त्तिके गर्भसे भगवान्‌ने नारायण एवं नर—इन दो स्वरूपोंमें जन्म-ग्रहण किया। इन अवतारोंमें उनकी तपस्याका प्रभाव उनके ही जैसा असाधारण था। कामदेवकी सेनारूप अप्सराएँ उनकी तपस्या भङ्ग करनेके उद्देश्यसे उनके पास आयीं, किन्तु जब इन अप्सराओंने भगवान् नारायण द्वारा उत्पन्न अपनी प्रतिरूप उर्वशी (भगवान् नारायणके उरूके मलसे उत्पन्न) आदि अपनेसे भी अत्यन्त सुन्दर अप्सराओंको देखा, तो वे विस्मयसे उनके व्रतको भङ्ग करनेकी आशाको निरर्थक मानकर स्तब्ध रह गयीं॥ ६॥

कामं दहन्ति कृतिनो ननु रोषदृष्ट्या
रोषं दहन्तमुत ते न दहन्त्यसह्यम्।
सोऽयं यदन्तरमलं प्रविशन् बिभेति
कामः कथं नु पुनरस्य मनः श्रयेत॥ ७॥

श्रीरुद्र आदि शक्तिशाली देवता अपनी क्रोधभरी दृष्टिसे कामको जला डालते हैं, किन्तु वही क्रोध उनके चित्तको भी जलाता रहता है। वे अपने क्रोधको दग्ध नहीं कर पाते, बल्कि इस असहनीय क्रोधसे स्वयं ही पीड़ित अर्थात् पराजित होते रहते हैं। ऐसा क्रोध भी जब भगवान् नर-नारायणके अमल अन्तःकरणमें प्रवेश करनेसे पहले ही भयभीत हो उठता है, तब उनके मनमें क्रोधसे भयभीत रहनेवाले कामका प्रवेश ही किस प्रकार हो सकता है?॥ ७॥

विद्धः सपत्न्युदितपत्रिभिरन्ति राज्ञो
बालोऽपि सन्नुपगतस्तपसे वनानि।
तस्मा अदाद्ध्रुवगतिं गृणते प्रसन्नो
दिव्याः स्तुवन्ति मुनयो यदुपर्यधस्तात्॥ ८॥

राजा उत्तानपादके समक्ष ही ध्रुवकी सौतेली माता सुरुचिने अपने कटु वचनरूपी बाणोंसे उस पाँच वर्षके बालकके हृदयको बेंध डाला। उन कटु उक्तियोंसे बालकको इतनी आत्म-ग्लानि हुई कि वह ऐसी छोटी अवस्थामें ही तपस्या करनेके लिए वनमें चला गया। ध्रुवकी कठोर तपस्यासे भगवान् श्रीनारायण प्रसन्न हो गये और पृश्निगर्भ अवतार धारणकर प्रकट हुए। उन्होंने वरदानके रूपमें ध्रुवको नित्य स्थल-विशेष ध्रुवपद प्रदान किया। आज भी ध्रुवपदके ऊपर स्थित भृगु आदि दिव्य महर्षिगण और नीचे स्थित सप्तर्षिगण उस पदकी परिक्रमा करते हुए उसकी स्तव-स्तुति करते रहते हैं॥ ८॥

यद्वेणमुत्पथगतं द्विजवाक्यवज्र-
निष्प्लुष्टपौरुषभगं निरये पतन्तम्।
त्रात्वार्थितो जगति पुत्रपदञ्च लेभे
दुग्धा वसूनि वसुधा सकलापि येन॥ ९॥

जब राजा वेन कुमार्गपर चलने लगा, तब ब्राह्मणोंने वज्रके समान कठोर शापसे उसके पौरुष और ऐश्वर्यको जलाकर भस्म कर दिया। जब वह नरकमें गिरने लगा, तब ऋषियोंकी प्रार्थनापर भगवान्ने उसके शरीरके मन्थनसे 'पृथु' अवतार धारण कर 'पुत्र' शब्दको सार्थक करते हुए नरककी यातनाओंसे उसका उद्धार किया। इसी पृथु अवतारमें उन्होंने जगत्के कल्याणके लिए पृथ्वीको गाय बनाकर बहुत-से रत्न एवं खाद्यान्नादि द्रव्योंका दोहन किया॥ ९॥

नाभेरसावृषभ आस सुदेविसूनु-
र्यो वै चचार समदृग्जडयोगचर्याम्।
यत् पारमहंस्यमृषयः पदमामनन्ति
स्वस्थः प्रशान्तकरणः परिमुक्तसङ्गः॥ १०॥

आग्नीध्रके पुत्र राजा नाभिकी पत्नी सुदेवीके गर्भसे भगवान् ऋषभदेवके रूपमें अवतीर्ण हुए थे। इस ऋषभदेव अवतारमें भगवान् समस्त प्रकारकी आसक्तियोंसे रहित, समदर्शी, प्रशान्त अन्तः करणसे युक्त और जितेन्द्रिय रहते हैं। अपने इस शान्त स्वरूपमें स्थित रहकर तथा नित्य समाधि योगका आश्रय लेकर उन्होंने जड़ अर्थात् अवधूतके समान योगका आचरण किया। ऋषिगण जिस अवस्थाको परमहंसोका सेव्यपद कहकर वर्णन करते हैं, उन्होंने उसी पदका चिन्तनपूर्वक आचरण किया था॥ १०॥

सत्रे ममास भगवान् हयशीरषाथो
साक्षात् स यज्ञपुरुषस्तपनीयवर्णः।
छन्दोमयो मखमयोऽखिलदेवतात्मा
वाचो बभूवुरुशतीः श्वसतोऽस्य नस्तः॥ ११॥

वही यज्ञेश्वर साक्षात् भगवान् मेरे (ब्रह्माके) यज्ञमें हयग्रीव रूपमें आविर्भूत हुए। उनकी कान्ति सुवर्णमयी थी तथा उनका श्रीविग्रह वेदमय (कर्म-काण्ड), यज्ञमय (ज्ञान-काण्ड) और सम्पूर्ण देवताओंके ईश्वर (देवता-काण्ड) रूपमें प्रकाशित हुआ था। हयशीर्ष अवतारमें जब उन्होंने श्वासका त्याग किया, तब उनके नासापुटोंमेंसे कमनीय वेदवाणी उत्पन्न हुई थी॥ ११॥

मत्स्यो युगान्तसमये मनुनोपलब्धः
क्षौणीमयो निखिलजीवनिकायकेतः।
विस्रंसितानुरुभये सलिले मुखान्मे
आदाय तत्र विजहार ह वेदमार्गान्॥ १२॥

जब चाक्षुष मन्वन्तर अपनी समाप्तिपर था, तब भावी वैवस्वत मनुने भगवान्‌को मत्स्य रूपमें देखा था। उस मत्स्यावतारमें वे पृथ्वीके साथ-साथ जरायु, अण्ड, स्वेद और उद्भिद् (वृक्षादि)—इन चार प्रकारसे उत्पन्न जीवोंके आश्रय स्थल बन गये थे। मन्वन्तरके अन्तमें प्रलयके महाभयङ्कर जलमें भयके कारण मेरे मुखसे वेद निकले थे, तब इन्हीं मत्स्य भगवान्‌ने उन वेदोंको धारण किया और उस प्रलय-समुद्रके जलमें विहार किया॥ १२॥

क्षीरोदधावमरदानवयूथपाना-
मुन्मथ्नताममृतलब्धय आदिदेवः।
पृष्ठेन कच्छपवपुर्विदधार गोत्रं
निद्राक्षणोऽद्रिपरिवर्तकषाणकण्डूः ॥ १३ ॥

जब देवता और दानव अमृतकी प्राप्तिके लिए क्षीर-सागरका मन्थन कर रहे थे, तब आदिदेव भगवान् कच्छप रूपमें प्रकट हुए और उन्होंने मन्दर पर्वतको मथनी बनाकर अपनी पीठपर धारण किया। जब कच्छप भगवान्की पीठपर पर्वत घूम रहा था, तब उसकी रगड़से उनकी पीठकी खुजलाहट थोड़ी दूर हो गयी, जिसके फलस्वरूप वे कुछ क्षण तक सुखसे सो सके॥ १३॥

त्रैपिष्टपोरुभयहा स नृसिंहरूपं
कृत्वा भ्रमद्भ्रुकुटिदंष्ट्रकरालवक्त्रम्।
दैत्येन्द्रमाशु गदयाभिपतन्तमारा-
दूरौ निपात्य विददार नखैः स्फुरन्तम्॥ १४॥

देवताओंके महान् भयका विनाश करनेके लिए उन भगवान् श्रीविष्णुने नृसिंह रूप धारण किया। भगवान् श्रीनृसिंहकी फड़कती हुई भयङ्कर भौंहों तथा धर्षित हो रही तीखी दाढ़ोंसे युक्त उनका मुख अति विकराल लगता था। उन्हें देखते ही दैत्यराज हिरण्यकशिपुने हाथोंमें गदा लेकर उनपर आक्रमण किया। श्रीनृसिंह भगवान्ने उस दैत्यको पकड़कर जैसे ही अपनी जँघापर रखा, वह छटपटाने लगा। इसी अवस्थामें ही भगवान्ने अपने प्रचण्ड नखोंसे शीघ्र ही उसके वक्षःस्थलको फाड़ डाला॥ १४॥

अन्तःपयस्युरुबलेन पदे गृहीतो
ग्राहेण यूथपतिरम्बुजहस्त आर्तः।
आहेदमादिपुरुषाखिललोकनाथ
तीर्थश्रवः श्रवणमङ्गलनामधेय॥ १५॥

वरुणोद्यानके बड़े विशाल सरोवरमें महाबली ग्राहने यूथपति गजराजका पैर पकड़ लिया था। अपने पैरको छुड़ानेकी बहुत चेष्टा

करनेपर भी अन्तमें वह थककर अत्यन्त व्याकुल हो उठा और अपनी सूँड़में कमलका फूल लेकर भगवान्‌की स्तुति करते हुए पुकारने लगा—"हे आदि पुरुष! हे अखिल लोकोंके नाथ! मेरा भी परित्राण कीजिये। हे पुण्यश्रवः (तीर्थयश)! आप दुर्जातिके दोषको भी पवित्र कर सकते हैं। हे श्रवण-मङ्गल! आप अपने नामके श्रवण मात्रसे मङ्गल करनेवाले हैं। मेरी रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये॥"१५॥

श्रुत्वा हरिस्तमरणार्थिनमप्रमेय-
श्चक्रायुधः पतगराजभुजाधिरूढः।
चक्रेण नक्रवदनं विनिपाट्य तस्मा-
द्धस्ते प्रगृह्य भगवान् कृपयोज्जहार॥ १६॥

अपनी शरणमें आये गजराजकी इस कातर पुकारको सुनकर अनन्तशक्तिमान भगवान् चक्रपाणिने श्रीहरि नामका अवतार धारण किया और पक्षीराज गरुड़की पीठपर चढ़कर वहाँ आये तथा अपने चक्रसे उस ग्राहके सिरको काट डाला। भगवान् श्रीहरिने गजराजपर कृपा करते हुए उसकी सूँड़को पकड़ा और शरणागत गजेन्द्रको ग्राहके मुखसे छुड़ाकर उसका उद्धार किया॥ १६॥

ज्यायान् गुणैरवरजोऽप्यदितेः सुतानां
लोकान् विचक्रम इमान् यदथाधियज्ञः।
क्ष्मां वामनेन जगृहे त्रिपदच्छलेन
याच्ञामृते पथि चरन् प्रभुभिर्न चाल्यः॥ १७॥

भगवान् वामन अदितिके पुत्रों—द्वाद्वश आदित्योंमें आयुमें सबसे छोटे थे, परन्तु गुणोंकी दृष्टिमें वे सबसे बड़े थे। अपने इस अवतारमें उन यज्ञाधिष्ठाता भगवान् श्रीविष्णुने वामन बनकर राजा बलिसे तीनपग भूमिकी याचना की और महाराज बलिके सङ्कल्प लेते ही भगवान्‌ने तीनपग भूमिके बहाने समस्त त्रिलोकी ही नाप ली। इस कार्य द्वारा भगवान्‌ने प्रमाणित कर दिया कि जो कृपा करने और दण्ड देनेमें समर्थ हैं, यद्यपि वे सभी कुछ कर सकते हैं, तथापि याचनाके बिना अन्य किसी उपायसे धर्म मार्गपर चलनेवाले पुरुषोंको उनके ऐश्वर्यसे भ्रष्ट करना उचित नहीं है॥ १७॥

नार्थो बलेरयमुरुक्रमपादशौच-
मापः शिखाधृतवतो विबुधाधिपत्यम्।
यो वै प्रतिश्रुतमृते न चिकीर्षदन्य-
दात्मानमङ्ग मनसा हरयेऽभिमेने॥ १८॥

हे नारद! भगवान् वामन दैत्यराज बलिको अपना सालोक्यादि पद प्रदान करना चाहते थे, इसलिए उन्होंने उसके द्वारा अधिकृत भूमिका हरण कर लिया था। उन महाराज बलिने भगवान्के चरणामृतको बड़े आदरके साथ अपने सिरपर धारण किया था तथा गुरु शुक्राचार्यके द्वारा उन्हें शाप देकर मना करनेपर भी वे तीन-पग भूमि दानकी अपनी प्रतिज्ञापर अटल रहे। अतः जब वामनरूपी भगवान् तीसरे पगके लिए स्थान जानना ही चाहते थे, उसी समय बलिने मन-ही-मनमें अपनी अहंतास्पद देहको भगवान्को समर्पित कर अपने उत्तमाङ्ग मस्तकको उनके चरणोंमें रख दिया था। ऐसे राजा बलिके लिए इन्द्राधिपत्य (इन्द्र-पद) की प्राप्ति कभी भी पुरुषार्थ नहीं हो सकता, इसीलिए भगवान्ने बलिका राज्य हरण किया था॥ १८॥

तुभ्यञ्च नारद भृशं भगवान् विवृद्ध-
भावेन साधु परितुष्ट उवाच योगम्।
ज्ञानञ्च भागवतमात्म-सतत्त्वदीपं
यद्वासुदेवशरणा विदुरञ्जसैव॥ १९॥

हे नारद! उन भगवान्ने अपने हंसावतारमें तुम्हारी ऐकान्तिक भक्तिसे परम सन्तुष्ट होकर तुम्हें परिपूर्ण रूपसे भक्तियोग, प्रेम द्वारा प्राप्त होनेवाले भगवान्के सौन्दर्य और माधुर्य आदि सद्गुणोंके अनुभव तथा जीवोंके आत्मतत्त्व प्रकाशक अर्थात् उनकी अविद्याके निवारणके लिए प्रदीप-स्वरूप भागवत-ज्ञानको प्रदान किया था। यह ज्ञान भगवान् श्रीवासुदेवके ऐकान्तिक भक्तोंको अनायास ही प्राप्त होता है॥ १९॥

चक्रञ्च दिक्ष्वविहतं दशसु स्वतेजो
मन्वन्तरेषु मनुवंशधरो बिभर्ति।

दुष्टेषु राजसु दमं व्यदधात् स्वकीर्तिं
सत्ये त्रिपृष्ठ उशतीं प्रथयंश्चरित्रैः॥ २०॥

वे ही भगवान् मन्वन्तरावतार लेकर मनुवंशका पालन और रक्षण करते हुए दसों दिशाओंमें सुदर्शनचक्रके समान तेज अपने अपराजित प्रभावसे महर्लोक, जनलोक और तपलोकमें निष्कण्टक राज्य करते हैं। वे अपने विचित्र-गुणों द्वारा उसके ऊपर स्थित सत्यलोकमें भी अपने कमनीय यशका विस्तार करते हैं और साथ ही दुष्ट राजाओंको दण्ड प्रदान करते हैं॥ २०॥

धन्वन्तरिश्च भगवान् स्वयमेव कीर्ति-
र्नाम्ना नृणां पुरुरुजां रुज आशु हन्ति।
यज्ञे च भागममृतायुरवावरुन्धे
आयुष्यवेदमनुशास्त्यवतीर्य लोके॥ २१॥

भगवान् धन्वन्तरि रूपमें पृथ्वीपर अवतीर्ण होकर अपने धन्वन्तरि नामके प्रभावसे ही महारोगी मनुष्योंके विषम रोगोंका भी शीघ्र ही विनाश कर देते हैं। उन्होंने अमृत पिलाकर देवताओंको अमर बना दिया तथा दैत्योंके द्वारा हरण किये गये उनके यज्ञ-भागको देवताओंको फिरसे दिला दिया। भगवान् धन्वन्तरिने ही अवतार लेकर पृथ्वीपर आयुर्वेद (चिकित्सा-शास्त्र) का प्रवर्त्तन किया॥ २१॥

क्षत्रं क्षयाय विधिनोपभृतं महात्मा
ब्रह्मध्रुगुज्झितपथं नरकार्तिलिप्सु।
उद्धन्त्यसाववनिकण्टकमुग्रवीर्य-
स्त्रिःसप्तकृत्व उरुधारपरश्वधेन॥ २२॥

जब ब्राह्मण-द्रोही, वेदमार्गके उल्लंघनकारी, पृथ्वीके कण्टक-स्वरूप तथा नरक-यातना भोगनेके इच्छुक क्षत्रिय जगत्के विनाशके लिए दैववश बढ़ गये, तब भगवान्‌ने महाबलशाली परशुरामके रूपमें अवतार लेकर अनन्त पराक्रमका प्रकाश करते हुए अपने तीखी धारवाले फरसेसे इक्कीस बार इन क्षत्रियोंका संहार किया॥ २२॥

अस्मत्प्रसादसुमुखः कलया कलेश
इक्ष्वाकुवंश अवतीर्य गुरोर्निदेशे।
तिष्ठन् वनं सदयितानुज आविवेश
यस्मिन् विरुध्य दशकन्धर आर्तिमार्च्छत्॥ २३॥

मायाधीश पूर्णब्रह्म भगवान् ब्रह्मादिसे लेकर गुल्म (झाड़ी) तक समस्त जीवोंपर कृपा करनेके लिए अपने अंश लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्नके साथ इक्ष्वाकुवंशमें दशरथनन्दन श्रीरामके रूपमें अवतरित हुए। इस अवतारमें अपने पिताकी आज्ञाका पालन करनेके लिए वे अपनी पत्नी सीता और छोटे भाई लक्ष्मणके साथ वनमें चले गये। वहींपर दस मुखवाले रावणने उनके साथ विरोध ठान लिया और अन्ततः वह विनाशको प्राप्त हुआ॥ २३॥

यस्मा अदादुदधिरूढभयाङ्गवेपो
मार्गं सपद्यरिपुरं हरवद्दिधक्षोः।
दूरे सुहृन्मथितरोषसुशोणदृष्ट्या
तातप्यमान-मकरोरगनक्रचक्रः ॥ २४॥

जिस प्रकार महादेव त्रिपुरको जला डालनेके लिए तत्पर थे, उसी प्रकार भगवान् श्रीरामचन्द्र भी शत्रुकी पुरी लङ्काको जला देना चाहते थे। रावणने उनकी प्रियतमा सीताका हरण कर उन्हें दूर लङ्कामें रख लिया था। उसी लङ्कामें प्रवेश करनेके लिए भगवान् श्रीरामचन्द्र समुद्र तटपर आये। सीता-हरणके कारण वे अत्यन्त क्षुब्ध हो रहे थे, प्रचण्ड क्रोधके कारण उनके नेत्र लाल हो रहे थे तथा उनकी दृष्टिके प्रखर तापसे ही समुद्रके गर्भमें स्थित मगर, साँप और ग्राह (मगरमच्छ) आदि जलने लगे। अतएव समुद्र अपने परिजनोंके साथ अपने विनाशकी आशङ्कासे भयभीत होकर काँपने लगा और उसने तुरन्त ही श्रीरामचन्द्रको मार्ग दे दिया॥ २४॥

वक्षःस्थलस्पर्शरुग्णमहेन्द्रवाह-
दन्तैर्विडम्बित-ककुब्जुष ऊढहासम्।

सद्योऽसुभिः सह विनेष्यति दारहर्तु-
र्विस्फूर्जितैर्धनुष उच्चरतोऽधिसैन्ये॥ २५॥

युद्धमें रावणकी छातीके स्पर्शसे ही इन्द्रके वाहन ऐरावत हाथीके प्रचण्ड दाँत चूर-चूर होकर विभिन्न स्थानोंपर गिर गये थे। उन दाँतोंकी श्वेत-रश्मिसे समस्त दिशाएँ चमक उठीं। अब तो रावण स्वयंको 'दिग्विजयी' और 'मेरे समान कोई नहीं है' समझकर बड़े गर्व और अहङ्कारके साथ हँसते-हँसते अपनी और विपक्षी सेनाओंके बीचमें यहाँ-वहाँ विचरण करने लगा। किन्तु भगवान् श्रीरामने धनुषकी टङ्कारमात्रसे ही अपनी पत्नीका अपहरण करनेवाले रावणके प्राणोंका विनाश कर डाला, जिससे उसका दर्पीला हास्य भी समाप्त हो गया॥ २५॥

भूमेः सुरेतरवरूथविमर्द्दितायाः
क्लेशव्ययाय कलया सितकृष्णकेशः।
जातः करिष्यति जनानुपलक्ष्यमार्गः
कर्माणि चात्ममहिमोपनिबन्धनानि॥ २६॥

जिस समय असुर राजाओंकी सेनाओंके अत्याचारोंसे यह पृथ्वी पीड़ित हो जायेगी, तब इस पृथ्वीका भार उतारनेके लिए हमारे लिए भी दुर्ज्ञेय तत्त्व तथा (शृङ्गारकलाकी) विशेष निपुणतासे बँधे हुए अत्यन्त काले केशवाले माधुर्य-ऐश्वर्यमय श्रीकृष्ण अपने स्वांश बलरामजीके साथ आविर्भूत होंगे। वे इस जगत्में अपनी माधुर्यमयी लीलाओंको प्रकाश करनेवाली अलौकिक क्रीड़ाएँ करेंगे, जिससे समस्त लोगोंका चित्त उनके प्रति आकर्षित हो उठेगा॥ २६॥

तोकेन जीवहरणं यदुलूकिकाया-
स्त्रैमासिकस्य च पदा शकटोऽपवृत्तः।
यद्रिङ्गतान्तरगतेन दिविस्पृशोर्वा
उन्मूलनत्वितरथार्जुनयोर्न भाव्यम्॥ २७॥

छोटे-से बालकके रूपमें ही विशाल शरीरवाली पूतनाके प्राणोंको हर लेना, तीन महीनेकी अवस्थामें ही अपने सुकोमल चरणोंके

आघातसे छकड़ा उलट देना, घुटनोंके बल चलते-चलते आकाशको छूनेवाले अत्यन्त ऊँचे यमलार्जुन वृक्षोंके बीचमें प्रवेशकर उन्हें जड़ समेत उखाड़ डालना—ये सब कार्य क्या ईश्वरके अतिरिक्त और कोई कर सकता है?[१] ॥ २७॥

यद्वै व्रजे व्रजपशून् विषतोयपीतान्
पालानजीवयदनुग्रहदृष्टिवृष्ट्या ।
तच्छुद्धयेऽतिविषवीर्यविलोलजिह्व-
मुच्चाटयिष्यदुरगं विहरन् ह्रदिन्याम्॥ २८॥

यमुनाके विषैले जलको पीकर जब व्रजके पशु और गोप मर जायेंगे, तब श्रीकृष्ण अपनी अमृतमयी कृपा-दृष्टिसे उन्हें जीवित कर देंगे। वे उस ह्रदके जलको विषसे रहित करनेके लिए उसमें विहार करेंगे और वहाँ स्थित विषके पराक्रमसे लपलपाती जिह्वावाले कालिय नागको वहाँसे निकाल देंगे। ऐसे अलौकिक कार्य क्या भगवान्के अतिरिक्त और कोई कर सकता है?॥ २८॥

तत् कर्म दिव्यमिव यन्निशि निःशयानं
दावाग्निना शुचिवने परिदह्यमाने।
उन्नेष्यति व्रजमतोऽवसितान्तकालं
नेत्रे पिधाप्य सबलोऽनधिगम्यवीर्यः॥ २९॥

---

[१] श्रीकृष्णमें महैश्वर्य होनेपर भी वे महा-माधुर्यमय स्वयं-भगवान् हैं, क्योंकि बालकरूपमें उन्होंने महामाधुर्य द्वारा अपने समस्त महैश्वर्यको ढककर सभीके मनको आकर्षित किया था। ऐश्वर्यमय वामनावतारमें अति विराटाकार शरीर त्रिविक्रम मूर्त्तिसे उन्होंने तीन पग भूमिको नाप लिया था। किन्तु श्रीकृष्णने अति भयङ्कर आकारवाली और अत्यन्त बलशाली पूतनाके वधोपयोगी ऐश्वर्यमयी वामनावतारकी त्रिविक्रम मूर्त्तिके समान वैसी कोई भी मूर्त्ति ग्रहणकर पूतनाका वध नहीं किया, अपितु छोटे-से बालकरूपमें ही उसका वध किया था। हिरण्यकशिपुका वध करनेके लिए भगवान्ने जिस प्रकार भयङ्कर नृसिंह मूर्त्ति धारण की थी, किन्तु शकटभञ्जनके लिए श्रीकृष्णने वैसा कोई भी भाव ग्रहण नहीं किया, अपितु तीन माहकी आयुवाले शिशुरूपमें ही अपने सुकोमल पदाघात द्वारा शकटासुरका वध कर डाला। पृथ्वीके उद्धारके लिए भगवान्ने भीषण वराहरूप धारण किया, किन्तु यमलार्जुन वृक्षोंके उद्धारके लिए बालक कृष्णको कोई विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ा।

वास्तवमें तो श्रीकृष्णके समस्त कार्य ही अचिन्त्य और अप्राकृत हैं। जिस दिन कालिय-दमन होगा, उसी रात्रिको समस्त व्रजवासी वहीं यमुना तटपर सो जायेंगे। उस समय दावाग्नि द्वारा ग्रीष्मकालका शुष्क मूँजका वन चारों ओरसे जलने लगेगा, जिससे व्रजवासियोंकी मृत्यु अनिवार्य हो पड़ेगी। किन्तु तब उस मुञ्जाटवीमें प्राणोंके सङ्कटमें पड़े हुए व्रजवासियोंसे उनकी आँखें बन्द करवाकर दुर्जेय श्रीकृष्ण अपने भाई बलरामके साथ उस दावाग्निसे उनका उद्धार करेंगे॥ २९॥

गृह्णीत यद्यदुपबन्धममुष्य माता
शुल्बं सुतस्य न तु तत्तदमुष्य माति।
यज्जृम्भतोऽस्य वदने भुवनानि गोपी
संवीक्ष्य शङ्कितमनाः प्रतिबोधितासीत्॥ ३०॥

माता यशोदा पुत्र कृष्णको बाँधनेके लिए जितनी भी रस्सियाँ जोड़ती जायेंगी, वे सभी रस्सियाँ श्रीकृष्णको बाँधनेके लिए दो अङ्गुल कम ही पड़ती जायेंगी। इसके बाद एकदिन जब श्रीकृष्ण जँभाई लेंगे, तब माता यशोदा बालकके मुखमें चौदह भुवनोंको देखकर भयभीत हो जायेंगी और इसका कारण निश्चित न कर पानेके कारण यह सोचकर विस्मित हो जायेंगी कि क्या यह स्वप्न है अथवा देवमायाका कार्य है। तब श्रीकृष्णके द्वारा ही प्रकटित ऐश्वर्यज्ञानके विपरीत पुत्र-स्नेह रूप माधुर्यसे भरकर प्रार्थना करने लगेंगी "मैं भगवान् नारायणके चरणोंमें प्रणत हूँ, वे ही मेरे पुत्रकी रक्षा करें॥"३०॥

नन्दञ्च मोक्ष्यति भयाद्वरुणस्य पाशाद्-
गोपान् बिलेषु पिहितान् मयसूनुना च।
अह्न्यापृतं निशि शयानमतिश्रमेण
लोकं विकुण्ठमुपनेष्यति गोकुलं स्म॥ ३१॥

इसी प्रकार श्रीकृष्णके दर्शनकी अभिलाषासे वरुणदेव निषिद्ध समयमें स्नान करनेवाले नन्दरायजीको वरुणालयमें ले जायेगा, तब श्रीकृष्ण वरुण-पाशके कारण भयभीत नन्दबाबाको भयसे मुक्त करेंगे। जब मय दानवका पुत्र व्योमासुर गोप-बालक वेशमें आकर सब-के-सब

सखाओंको पर्वतकी गुफाओंमें छिपा देगा, तब श्रीकृष्ण उन सब गोप-बालकोंकी रक्षाकर उन्हें लौटा लायेंगे। गोकुलवासी लोग दिनके समय श्रीनन्द और श्रीकृष्णके विच्छेद दुःखमें उन्हें ढूँढ़नेके कारण तथा नाना प्रकारके कामधन्धोंमें व्यस्त रहनेके कारण रातमें अत्यधिक थककर सो जायेंगे, तब तदनुरूप साधनसे हीन होनेपर भी श्रीकृष्ण उन्हें अपने वैकुण्ठधाममें ले जायेंगे॥ ३१॥

गोपैर्मखे प्रतिहते व्रजविप्लवाय
देवेऽभिवर्षति पशून् कृपया रिरक्षुः।
धर्तोच्छिलीन्ध्रमिव सप्त दिनानि सप्त-
वर्षो महीध्रमनघैककरे सलीलम्॥ ३२॥

हे निष्पाप नारदजी! नन्दादि गोप जब श्रीकृष्णकी बात मानकर इन्द्र-यज्ञको बन्द कर देंगे, तब इन्द्र व्रजभूमिका नाश करनेके लिए सात दिनों तक लगातार मूसलाधार वर्षा करने लगेगा। उस समय सात वर्षके बालक श्रीकृष्ण कृपा-परवश होकर गोप-गोपियों, गायों और व्रजके पशुओंकी रक्षा करनेकी इच्छासे बिना किसी परिश्रमसे अपने एक हाथसे छत्रपुष्प (कुकुरमुत्ते) की भाँति गोवर्धन पर्वतको उठाकर उसे सात दिनों तक धारण किये रहेंगे॥ ३२॥

क्रीडन् वने निशि निशाकररश्मिगौर्यां
रासोन्मुखः कलपदायतमूर्च्छितेन।
उद्दीपितस्मररुजां व्रजभृद्वधूनां
हर्तुर्हरिष्यति शिरो धनदानुगस्य॥ ३३॥

जिस रात्रिकालमें उज्ज्वल चाँदनी चारों ओर छिटक रही होगी, उस रात्रिमें रास-क्रीड़ा करनेकी इच्छासे उत्कण्ठित होकर श्रीकृष्ण अपनी बाँसुरीपर मनोहर पदों तथा दीर्घ-आलापसे युक्त मधुर सङ्गीतकी तान छेड़ेंगे, जिससे व्रजकी गोपरमणियोंमें काम-पीड़ा उद्दीपित होने लगेगी। उस समय धनके अधिपति कुबेरके अनुचर (सेवक) शङ्खचूड़ द्वारा उन गोपवधुओंका हरण कर लिए जानेपर श्रीकृष्ण उस शङ्खचूड़का सिर काट डालेंगे॥ ३३॥

ये च प्रलम्ब-खर-दर्दुर-केश्यरिष्ट-
मल्लेभ-कंस-यवनाः कपि-पौण्ड्रकाद्याः।
अन्ये च शाल्व-कुज-बल्वल-दन्तवक्र-
सप्तोक्ष-शम्बर-विदूरथ-रुक्मिमुख्याः ॥ ३४॥

ये वा मृधे समितिशालिन आत्तचापाः
काम्बोज-मत्स्य-कुरु-सृञ्जय-कैकयाद्याः ।
यास्यन्त्यदर्शनमलं बल-पार्थ-भीम-
व्याजाह्वयेन हरिणा निलयं तदीयम्॥ ३५॥

प्रलम्बासुर, धेनुकासुर, बकासुर, केशी, वृषासुर आदि दैत्य, चाणूर और मुष्टिकादि मल्ल, कुवलयापीड़ हाथी, कंस, कालयवन, भूमिपुत्र नरकासुर और पौण्ड्रकादि जो सभी जीव तथा शाल्व, द्विविद वानर, बल्वल, दन्तवक्र, राजा नग्नजित्के सात बैल, संग्राममें अपनी ही प्रशंसा करनेवाले शम्बरासुर, विदूरथ और रुक्मी आदि प्रमुख प्रसिद्ध शूर एवं काम्बोज, मत्स्य, कुरु, कैकय, सृञ्जयादि देशोंके वीर राजा अपने-अपने हाथोंमें धनुष ग्रहण करके युद्ध करेंगे—वे सभी बलराम, भीम और अर्जुनादिके द्वारा मारे जायेंगे। किन्तु वास्तवमें इन सबका वध तो श्रीहरि ही करेंगे। इस प्रकारके लोग श्रीहरिका दर्शन करनेके योग्य नहीं होते। प्रलम्बासुर और धेनुकासुर आदि दैत्य निधन होनेपर सायुज्य प्राप्त करते हैं, जब कि पौण्ड्रक-दन्तवक्रादि जीव वैकुण्ठको जाते हैं॥ ३४-३५॥

कालेन मीलितधियामवमृश्य नृणां
स्तोकायुषां स्वनिगमो बत दूरपारः।
आविर्हितस्त्वनुयुगं स हि सत्यवत्यां
वेदद्रुमं विटपशो विभजिष्यति स्म॥ ३६॥

कालके प्रभावसे मनुष्योंकी बुद्धि संकुचित होने लगती है और उनकी आयु भी कम हो जाती है। ऐसी स्थितिमें मनुष्योंके लिए वेदोंके तात्पर्योंको हृदयंगम करना अति दुर्गम होगा—यह विचार करके भगवान् कल्प-कल्पमें सत्यवतीके गर्भसे व्यासरूपमें आविर्भूत होते हैं और वे वेदरूपी वृक्षका विभिन्न शाखाओंके रूपमें विभाजन करते हैं॥ ३६॥

देवद्विषां निगमवर्त्मनि निष्ठितानां
पूर्भिर्मयेन विहिताभिरदृश्यतूर्भिः।
लोकान् घ्नतां मतिविमोहमतिप्रलोभं
वेषं विधाय बहु भाष्यत औपधर्म्यम्॥ ३७॥

देवताओंके शत्रु असुरलोग भी वैदिक-पथका आश्रय लेकर उसके प्रभावसे मय दानव द्वारा बनायी हुई अलक्षित वेगवाली पुरियोंका निर्माण करेंगे और वहीं रहकर लोगोंका विनाश करने लगेंगे। तब भगवान् उन लोगोंकी बुद्धिको मोहित करने तथा उनमें अत्यन्त लोभ उत्पन्न करनेके लिए पाखण्ड-वेश धारण करके बुद्धरूपमें अवतीर्ण होंगे और बहुत प्रकारके पाखण्ड-धर्म रूपी उपधर्मोंका प्रचार करेंगे॥ ३७॥

यर्ह्यालयेष्वपि सतां न कथा हरेः स्युः
पाषण्डिनो द्विजजना वृषला नृदेवाः।
स्वाहा स्वधा वषड़िति स्म गिरो न यत्र
शास्ता भविष्यति कलेर्भगवान् युगान्ते॥ ३८॥

कलियुगके अन्तमें वर्णाश्रम-धर्मका पालन करनेमें तत्पर व्यक्तियोंके आश्रमोंमें भी हरिकथा-कीर्त्तनके नहीं होनेसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य—ये तीनों वर्ण पाखण्डी हो जायेंगे। शूद्र, म्लेच्छ आदि राजा हो जायेंगे। 'स्वाहा', 'स्वधा', 'वषट्' इत्यादि वेदमन्त्रकी ध्वनियाँ सुनायी नहीं पड़ेंगी। तब कलिपर शासन करनेके लिए भगवान् कल्कि अवतार ग्रहण करेंगे॥ ३८॥

सर्गे तपेऽहमृषयो नव ये प्रजेशाः
स्थानेऽथ धर्ममखमन्वमरावनीशाः।
अन्ते त्वधर्महरमन्यु-वशासुराद्या
मायाविभूतय इमाः पुरुशक्तिभाजः॥ ३९॥

हे नारद! जब सृष्टि रचनाका काल आता है, तब तपस्या, नौ प्रजापति और मैं (ब्रह्मा); सृष्टिकी स्थिति (रक्षण) के समय धर्म, यज्ञ (विष्णु), मनु, देवता और राजागण; तथा सृष्टिके संहार-कालमें

अधर्म, हर (रुद्र), क्रोधी सर्प एवं असुर आदि—ये समस्त ही अनन्त शक्तिधारी भगवान्‌की मायाकी विभूतियोंके रूपमें प्रकटित होते हैं॥ ३९॥

विष्णोर्नु वीर्यगणनां कतमोऽर्हतीह
यः पार्थिवान्यपि कविर्विममे रजांसि।
चस्कम्भ यः स्वरहसास्खलता त्रिपृष्ठं
यस्मात् त्रिसाम्यसदनादुरुकम्पयानम्॥ ४०॥

जिन श्रीविष्णुने एकबार त्रिलोकीको नापते समय त्रिविक्रमावतार धारण करके अपने चरणोंके प्रबल वेगसे प्रकृतिरूप अन्तिम आवरणसे लेकर सत्यलोक आदि तक सारा ब्रह्माण्ड कँपा दिया था और फिर उन्होंने अपनी शक्तिसे सत्यलोक सहित समस्त ब्रह्माण्डको स्थिर भी कर दिया था, अतएव कौन व्यक्ति उनके पराक्रमकी गणना करनेमें समर्थ हो सकेगा? अर्थात् जो व्यक्ति अपनी प्रतिभाके बलसे पृथ्वीके धूलि-कणोंकी एक-एक करके गणना कर सकता है, ऐसे पण्डित व्यक्ति भी भगवान् श्रीविष्णुके पराक्रमोंकी गणना करनेमें समर्थ नहीं हो सकते॥ ४०॥

नान्तं विदाम्यहममी मुनयोऽग्रजास्ते
मायाबलस्य पुरुषस्य कुतोऽवरा ये।
गायन् गुणान् दशशतानन आदिदेवः
शेषोऽधुनापि समवस्यति नास्य पारम्॥ ४१॥

हे नारद! मैं (ब्रह्मा) एवं तुम्हारे बड़े भाई सनकादि मुनि भी जब उन परमपुरुष भगवान्‌की मायाशक्तिका ही अन्त नहीं पा सकते, तब फिर उनकी चित्-शक्तिका अन्त पाना तो बहुत दूरकी बात है। आदिदेव अनन्त हजारों मुखोंसे भगवान्‌के गुणोंका नित्य कीर्त्तन करते रहते हैं, परन्तु आज तक भी उन गुणोंकी सीमाको प्राप्त नहीं कर सके, फिर अन्यान्य जीव उन्हें किस प्रकारसे जान सकेंगे?॥ ४१॥

येषां स एष भगवान् दययेदनन्तः
सर्वात्मनाश्रितपदो यदि निर्व्यलीकम्।

ते दुस्तरामतितरन्ति च देवमायां
नैषां ममाहमिति धीः श्वशृगालभक्ष्ये॥ ४२॥

जो लोग तन, मन, वचनसे कपटताका त्याग करके तथा धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्षकी इच्छासे रहित होकर अर्थात् एकान्तिक रूपसे श्रीभगवान्के चरणोंमें शरणागत होते हैं, उनपर ही वे अनन्त भगवान् कृपा करते हैं। ऐसे शरणागत भक्त ही दुस्तरा दैवी-मायाको पार कर पाते हैं तथा मायाके वैभवको भी जान सकते हैं। वास्तवमें ऐसे सब शरणागत भक्तोंकी कुक्कुर-शृगाल द्वारा भक्ष्य अपनी और पुत्रादिके देहमें 'मैं' और 'मेरे' की बुद्धि नहीं होती॥ ४२॥

वेदाहमङ्ग परमस्य हि योगमायां
यूयं भवश्च भगवानथ दैत्यवर्यः।
पत्नी मनोः स च मनुश्च तदात्मजाश्च
प्राचीनबर्हि ऋभुरङ्ग उत ध्रुवश्च॥ ४३॥

इक्ष्वाकुरैल-मुचुकुन्द-विदेह-गाधि-
रघ्वम्बरीष-सगरा गय-नाहुषाद्याः।
मान्धात्रलर्क-शतधन्वनु-रन्तिदेवा
देवव्रतो बलिरमूर्त्तरयो दिलीपः॥ ४४॥

सौभर्युतङ्क-शिबि-देवल-पिप्पलाद-
सारस्वतोद्धव-पराशर-भूरिषेणाः ।
येऽन्ये विभीषण-हनूमदुपेन्द्रदत्त-
पार्थार्ष्टिषेण-विदुर-श्रुतदेववर्याः ॥ ४५॥

हे नारद! मुझपर भगवान्की कृपा है, इसलिए मैं उन परमपुरुषकी योगमायाको जानता हूँ तथा तुम भी जानते हो। भगवान् महादेव, दैत्यकुलभूषण प्रह्लाद, स्वायम्भुव मनु, मनुपत्नी शतरूपा, मनुपुत्र-प्रियव्रत और उत्तानपाद, मनुपुत्री देवहूति आदि, प्राचीनबर्हि, ऋभु, वेनके पिता अङ्ग एवं ध्रुव भी इस योगमायाके तत्त्वको जानते हैं। इक्ष्वाकु, ऐल (पुरुरवा), मुचुकुन्द, जनक, गाधि, रघु, अम्बरीष, सगर, गय, ययाति, मान्धाता, अलर्क, शतधन्वा, अनु, रन्तिदेव, भीष्म, बलि, अमूर्त्तरय, दिलीप आदि राजा तथा सौभरि, उतङ्क, शिवि, देवल, पिप्पलाद,

सारस्वत, उद्धव, पराशर, भूरिषेण एवं विभीषण, हनुमान, शुकदेव, अर्जुन, आर्ष्टिषेण, विदुर और श्रुतदेव आदि महात्मा भी जानते हैं॥ ४३-४५॥

ते वै विदन्त्यतितरन्ति च देवमायां
स्त्रीशूद्रहूणशबरा अपि पापजीवाः।
यद्यद्भुतक्रम-परायण-शीलशिक्षा-
स्तिर्यग्जना अपि किमु श्रुतधारणा ये॥ ४६॥

जो व्यक्ति भगवान्के प्रति ऐकान्तिक रूपमें आश्रित प्रेमीभक्तोंका आनुगत्य स्वीकार करके उनके द्वारा आचरण किये जानेवाले भक्तिधर्मकी शिक्षा प्राप्त करते हैं, वे स्त्री, शूद्र, हूण, शबर इत्यादि पाप-जातिके होनेपर भी, अथवा पापके कारण हंस, गज, शुक, सारिका आदि पशु-पक्षी योनि प्राप्त करके भी भगवान्की मायाको जानकर संसार-सागरसे पार हो सकते हैं। अतएव जो समस्त मनुष्य श्रीगुरुके मुखसे भगवान्के नाम-रूपादिका श्रवण करके भगवान्के उस स्वरूपको हृदयमें धारण करते हैं, वे भगवान्की उस मायाको जानकर उसे अनायास ही निश्चित रूपसे पार कर जाते हैं—इस विषयमें फिर आश्चर्य ही क्या है?॥ ४६॥

शश्वत् प्रशान्तमभयं प्रतिबोधमात्रं
शुद्धं समं सदसतः परमात्मतत्त्वम्।
शब्दो न यत्र पुरुकारकवान् क्रियार्थो
माया परैत्यभिमखे च विलज्जमाना।
तद्वै पदं भगवतः परमस्य पुंसो
ब्रह्मेति यद्विदुरजस्रसुखं विशोकम्॥ ४७॥

ज्ञानीजन जिसे ब्रह्म कहते हैं, वह परमपुरुष विचित्र रूप-गुणादिसे युक्त भगवान्की प्रथम प्रतीति हैं। वह ब्रह्म प्रतिरोध-मात्र, सदैव एकरस, नित्य सुख-स्वरूप, शोकसे अतीत, सदा क्षोभ रहित, अभय, शुद्ध, सम और सत्-असत्से परे हैं। लौकिक शब्द उसे प्रकाशित नहीं कर सकते अर्थात् वह साधारण शब्दके विषय नहीं हैं, किन्तु वह उपनिषदोंका प्रतिपाद्य विषय हैं। और तो क्या, माया भी उनके

सामने जानेमें लज्जा बोध करती है और उनसे दूरमें ही अवस्थित रहती है॥ ४७॥

सध्र्यङ्नियम्य यतयो यमकर्तहेतिं।
जह्युः स्वराडिव निपानखनित्रमिन्द्रः॥ ४८॥

हे नारद! यत्नशील योगी और संन्यासी (ज्ञानी) आत्माके सहचर-स्वरूप मनको परमात्मा और ब्रह्म-स्वरूपमें संलग्न कर देते हैं, तथा 'अभेदके साधनभूत ज्ञानकी अब कोई आवश्यकता नहीं है'—ऐसा समझकर उस ज्ञानको भी त्याग देते हैं। जिस प्रकार दरिद्र व्यक्ति कुआँ खोदते-खोदते धनको प्राप्त कर धनी हो जानेपर कुआँ खोदनेके साधन-स्वरूप कुदालका परित्याग कर देता है, उसी प्रकार उक्त योगी एवं ज्ञानी परमात्मा अथवा ब्रह्ममें अपने मनके संलग्न हो जानेपर अभेदके साधन-स्वरूप ज्ञानका भी परित्याग कर देते हैं। परन्तु इसके विपरीत भगवद्भक्तों द्वारा अपने साध्यकी प्राप्ति कर लेनेपर वे अपने साधन (भक्ति) को और भी तीव्र कर देते हैं, अर्थात् वे अपने साधनका और भी अधिक समादर करने लगते हैं। वस्तुतः भगवद्भक्तोंके लिए जिस प्रकार भगवद्भक्ति साधन है, उसी प्रकार वही भक्ति उनका साध्य भी है॥ ४८॥

स श्रेयसामपि विभुर्भगवान् यतोऽस्य
भावस्वभावविहितस्य सतः प्रसिद्धिः।
देहे स्वधातुविगमेऽनुविशीर्यमाणे
व्योमेव तत्र पुरुषो न विशीर्यतेऽजः॥ ४९॥

परमात्माके उपासक, ब्रह्मके उपासक अथवा अन्य कोई भी उपासक क्यों न हों, किसीकी भी भगवान्के आश्रयके बिना फलसिद्धि नहीं हो सकती। भगवान् ही पाँचों प्रकारकी मुक्तियों और दूसरे-दूसरे पुरुषार्थोंके एकमात्र ईश्वर हैं, इसलिए कर्मी, ज्ञानी और योगीके लिए भी अपने-अपने साधनकी सिद्धिके लिए भगवद्भक्तिका आश्रय लेना ही कर्त्तव्य है। भगवान्की प्रेरणासे शुद्ध भक्तोंका दास्य, सख्यादि भावोंसे युक्त जो स्वभाव है, उस स्वभावसे किये जानेवाले उत्तम साधनसे सम्पूर्ण सिद्धि प्राप्त होती है, किन्तु परमात्मा और

ब्रह्मके साधनसे वैसी सिद्धि प्राप्त नहीं होती। अतएव प्रेमकी सिद्धिके लिए भक्तोंको भक्तिके अतिरिक्त कर्म-ज्ञान-योगादि अन्य कुछ भी करनेकी आवश्यकता नहीं है। यदि भक्तियोग या ज्ञानादिका साधन करते-करते सिद्धिको प्राप्त करनेसे पहले ही देह-त्याग हो जाये, तो भी भक्ति-ज्ञानादिके साधनकी वासनाके अनुसार समुचित स्थानपर पुनः वैसे साधनके उपयोगी देहकी प्राप्ति होती है तथा साधन द्वारा ही अगले जन्ममें सिद्धि प्राप्ति सम्भव होती है। इसका कारण है कि कालवशतः शरीरके आरम्भक (संघटनके द्रव्य-स्वरूप) पञ्चभूतोंका वियोग होकर देह-त्याग हो जानेपर भी देहमें स्थित जीव देहस्थ आकाशके समान विनाशको प्राप्त नहीं होता, क्योंकि आत्मा जन्मरहित वस्तु है, वह देहके साथ उत्पन्न नहीं होता॥ ४९॥

सोऽयं तेऽभिहितस्तात भगवान् विश्वभावनः।
समासेन हरेर्नान्यदन्यस्मात् सदसच्च यत्॥ ५०॥

हे वत्स! इस विश्वको सङ्कल्पसे प्रकाशित करनेवाले भगवान्का स्वरूप मैंने तुम्हें संक्षेपमें बतलाया है। समष्टि और व्यष्टिात्मक जगत्रूप कार्य एवं जीव और मायारूप कारण—ये सब श्रीहरिसे भिन्न अन्य कोई वस्तु नहीं हैं अर्थात् श्रीहरि ही एकमात्र अद्वय वस्तु हैं॥ (१)५०॥

इदं भागवतं नाम यन्मे भगवतोदितम्।
संग्रहोऽयं विभूतीनां त्वमेतद्विपुलीकुरु॥ ५१॥

हे नारद! ऐसा मत समझना कि यह सब केवल मैं तुम्हें अपनी कल्पनाके अनुसार बतला रहा हूँ। भगवान्ने साक्षात् रूपसे मुझे इसका उपदेश दिया था तथा इसका नाम ही भागवत पुराण है। यह

---

(१) जीव और माया उन चित्-शक्तिमान श्रीहरिकी ही शक्तियाँ हैं। शक्ति और शक्तिमानमें अचिन्त्यभेदाभेद सम्बन्ध है, इसी कारणसे शक्तियोंकी कोई भिन्न सत्ता नहीं है। श्रीहरि तटस्था जीवशक्ति और बहिरङ्गा मायाशक्तिसे पृथक् हैं, परन्तु ये शक्तियाँ उनके ही आश्रित हैं। श्रीहरि जगत्से स्वतन्त्र, चैतन्य एवं आनन्दमय हैं। उनके अनासक्त द्रष्टामात्र होनेसे मायाशक्ति और जीवशक्तिके दोषोंका सम्पर्क मात्र भी उनमें नहीं है।

भगवान्‌की विभूतियों (अंश-कलावतारों) का संग्रह-स्वरूप है अर्थात् साक्षात् भगवान् इस शास्त्रमें विराज रहे हैं। अतएव तुम भी सर्वत्र इसका विस्तार करके इस भागवतकी सेवा करो॥ ५१॥

यथा हरौ भगवति नृणां भक्तिर्भविष्यति।
सर्वात्मन्यखिलाधारे इति सङ्कल्प्य वर्णय॥ ५२॥

जिस प्रकारसे इस श्रीमद्भागवतका वर्णन करनेसे सबकी आत्मा और सबके आधार श्रीहरिके प्रति मनुष्यमात्रकी ही प्रेममयी भक्ति उदित हो, तुम आजसे ही उसी प्रकारसे भगवान्‌की भक्तिका वर्णन अर्थात् भागवतका प्रचार करनेका सङ्कल्प करो॥ ५२॥

मायां वर्णयतोऽमुष्य ईश्वरस्यानुमोदतः।
शृण्वतः श्रद्धया नित्यं माययात्मा न मुह्यति॥ ५३॥

यद्यपि यह सृष्टि आदि लीलाएँ मायासे सम्बन्धित हैं, तथापि इनका भगवान्‌से सम्बन्ध होनेके कारण ये लीलाएँ निर्गुण हैं। जो व्यक्ति श्रद्धाके साथ इन लीलाओंका नित्य श्रवण अथवा कीर्त्तन करते हैं अथवा इनके वर्णनका अनुमोदन करते हैं, वे कभी भी मायाके द्वारा विमोहित नहीं होते॥ ५३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां द्वितीयस्कन्धे श्रीब्रह्मानारद-संवादो नाम सप्तमोऽध्यायः॥

अष्टमोऽध्यायः

महाराज परीक्षित्के विविध प्रश्न

श्रीराजोवाच—

ब्रह्मणा चोदितो ब्रह्मन् गुणाख्यानेऽगुणस्य च।
यस्मै यस्मै यथा प्राह नारदो देवदर्शनः॥ १॥

एतद्वेदितुमिच्छामि तत्त्वं तत्त्वविदांवर।
हरेरद्भुतवीर्यस्य कथा लोकसुमङ्गलाः॥ २॥

महाराज परीक्षित्ने श्रीशुकदेव गोस्वामीसे कहा—हे ब्रह्मन्! जब ब्रह्माजीने देवताके समान सौम्य दर्शनयुक्त श्रीनारदको प्राकृत गुणोंसे रहित श्रीभगवान्के गुणोंका वर्णन करनेका आदेश दिया, तब उन्होंने किस-किसके समक्ष और किस-किस प्रकारसे अपूर्व शक्तिमान श्रीहरिकी परम मङ्गलमयी कथाओंका वर्णन किया। मैं इस तत्त्वको जानना चाहता हूँ। आप तत्त्ववेत्ताओंमें श्रेष्ठ हैं, अतः आप कृपापूर्वक मुझे बतलाइये॥ १-२॥

कथयस्व महाभाग यथाहमखिलात्मनि।
कृष्णे निवेश्य निःसङ्गं मनस्त्यक्ष्ये कलेवरम्॥ ३॥

हे महाभाग्यशाली श्रीशुकदेव गोस्वामी! मैं जिस प्रकारसे सम्पूर्ण विषय-मलसे निर्मुक्त एवं अन्य समस्त आसक्तियोंसे शून्य होकर अपने मनको अखिलात्मा श्रीकृष्णमें सन्निविष्ट करके अपनी देहका परित्याग कर सकूँ—इस विषयमें आप मुझे उपदेश दीजिये॥ ३॥

शृण्वतः श्रद्धया नित्यं गृणतश्च स्वचेष्टितम्।
नातिदीर्घेण कालेन भगवान् विशते हृदि॥ ४॥

जो श्रीहरिकी परम कल्याणमयी कथाओंको अत्यन्त श्रद्धाके साथ नित्य श्रवण करते हैं अथवा स्वयं कीर्त्तन करते हैं, भगवान् अतिशीघ्र ही उन भक्तोंके हृदयमें स्वयं ही आकर विराजमान हो जाते हैं। इसके

लिए भक्तोंको पृथक् रूपसे कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता, क्योंकि श्रवण-कीर्त्तनके फलस्वरूप स्मरण तो स्वयं ही होने लगता है॥ ४॥

प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण स्वानां भावसरोरुहम्।
धुनोति शमलं कृष्णः सलिलस्य यथा शरत्॥ ५॥

श्रीहरि कथाके रूपमें कानोंके माध्यमसे अपने भक्तोंके हृदयमें प्रवेश करके स्वयं ही उनके दास्य-सख्यादि भावरूप हृद-कमलासनपर विराजित हो जाते हैं। अतः जिस प्रकार शरद्-ऋतुके आगमनपर समस्त नदियों और सरोवरों आदिकी मलिनता सम्पूर्ण रूपसे विनष्ट होनेपर उनका जल निर्मल हो जाता है, उसी प्रकार भगवान् उन भक्तोंके सभी प्रकारके पाप तथा काम, क्रोध, हिंसादिरूप मलिनताके लेशमात्रको भी बाकी न रखते हुए उन्हें सम्पूर्ण रूपसे दूर कर देते हैं॥ ५॥

धौतात्मा पुरुषः कृष्णपादमूलं न मुञ्चति।
मुक्तसर्वपरिक्लेशः पान्थः स्वशरणं यथा॥ ६॥

जिस प्रकार कोई पथिक धनादिके उपार्जनके कष्टसे मुक्त होकर अर्थात् परिपूर्ण अर्थका संग्रह करके जब अपने घरको लौट आता है, उस समय उसकी सभी आशाएँ पूर्ण हो जानेके कारण वह अपने घरकी शान्तिको छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं जाता, उसी प्रकार जिनका अन्तःकरण श्रीकृष्णसे अभिन्न उनकी कथाओंके श्रवणरूप संस्पर्शसे सम्पूर्ण रूपसे शुद्ध हो गया है, वे एकक्षणके लिए भी श्रीकृष्णके श्रीचरणकमलोंका परित्याग नहीं कर पाते॥ ६॥

यदधातुमतो ब्रह्मन् देहारम्भोऽस्य धातुभिः।
यदृच्छया हेतुना वा भवन्तो जानते यथा॥ ७॥

हे ब्रह्मन्! यद्यपि जीवात्माका पञ्चभूतादिसे कोई सम्बन्ध नहीं है, तथापि जीवका शरीर पञ्चभूतोंसे ही बनता है। क्या ऐसा स्वाभाविक रूपसे ही होता है अर्थात् बिना कारणके ही सिद्ध होता है? अथवा कर्मादि किसी कारणवशतः होता है? आप इस विषयको यथार्थ रूपसे जानते हैं, अतएव इसे मुझे भी बतलाइये॥ ७॥

आसीद्यदुदरात् पद्मं लोकसंस्थानलक्षणम्।
यावानयं वै पुरुष इयत्तावयवैः पृथक्।
तावानसाविति प्रोक्तः संस्थावयववानिव॥ ८॥

हे ब्रह्मन्! लोक-सृष्टिके लक्षणसे युक्त अण्डात्मक पद्म जिनकी नाभिसे उत्पन्न हुआ, वे भगवान् यदि अपने उचित परिमाणवाले अङ्गोंसे युक्त लौकिक पुरुषोंसे भिन्न हैं, तब वे इन लौकिक पुरुषोंके समान स्थूल, कृश एवं दीर्घ अङ्गों तथा उसी प्रकार कर-चरणादिसे युक्त क्यों है? यदि ईश्वरको हाथ पैरोंसे युक्त जीवके समान ही कहा जाये, तब फिर भगवान् और लौकिक पुरुषोंमें अन्तर क्या है? जीवसे भगवान्‌की विशेषता क्या है?॥ ८॥

अजः सृजति भूतानि भूतात्मा यदनुग्रहात्।
ददृशे येन तद्रूपं नाभिपद्मसमुद्भवः॥ ९॥

लौकिक पुरुष और ईश्वरमें अवश्य ही भेद कहा जायेगा, क्योंकि जैसा आपने बतलाया है—ईश्वरके अनुग्रहसे ब्रह्माजी समस्त प्राणियोंके स्रष्टा और नियन्ता हैं। इसके अतिरिक्त ईश्वरको निराकार भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अजन्मा होनेपर भी ब्रह्माजीने उनके नाभिकमलसे उत्पन्न होकर उनके रूपका दर्शन किया था॥ ९॥

स चापि यत्र पुरुषो विश्वस्थित्युद्भवाप्ययः।
मुक्त्वात्ममायां मायेशः शेते सर्वगुहाशयः॥ १०॥

जिनसे समस्त जगत्‌की सृष्टि, स्थिति और प्रलय होती है, वही पुरुष मायाके अधिपति, प्रकृतिके ईक्षणकर्त्ता तथा सभीमें अन्तर्यामी रूपसे विराजित हैं। वे पुरुष अपनी बहिरङ्गा मायाशक्तिका स्पर्श न करते हुए ही किस स्थानपर तथा किस रूपमें शयन करते हैं? इस विषयमें भी मुझे बतलाइये॥ १०॥

पुरुषावयवैर्लोकाः सपालाः पूर्वकल्पिताः।
लोकैरमुष्यावयवाः सपालैरिति शुश्रुम॥ ११॥

'लोकपालोंके साथ सम्पूर्ण लोकोंके रूपमें उन पुरुषके अङ्गोंकी कल्पना होती है', और पुनः 'विराट् पुरुषके अङ्गोंसे लोकपाल सहित

लोकोंकी कल्पना होती है'—ये दोनों ही प्रकारके वचन मैंने आपके मुखसे सुने हैं। इन दोनों कथनोंमें यदि कोई विशेषता है, तो कृपया आप उसे भी कहिये॥ ११॥

यावान् कल्पो विकल्पो वा यथा कालोऽनुमीयते।
भूत-भव्य-भवच्छब्द आयुर्मानञ्च यत् सतः॥ १२॥

महाकल्प (सृष्टि, स्थिति और प्रलयकाल) तथा अवान्तर-कल्प (मन्वन्तर इत्यादि) का परिमाण कितना है? किस प्रकारसे भूत, भविष्य एवं वर्तमान—इन तीनों कालोंका अनुमान किया जाता है? तथा स्थूल देहाभिमानी मनुष्य, पितर एवं देवताओंकी आयुका परिमाण काल कितना है? इन सबका भी वर्णन कीजिये॥ १२॥

कालस्यानुगतिर्या तु लक्ष्यतेऽण्वी बृहत्यपि।
यावत्यः कर्मगतयो यादृशीर्द्विजसत्तम॥ १३॥

हे द्विजश्रेष्ठ! कालकी त्रुटि आदि सूक्ष्म-गति और वर्ष आदि स्थूल-गति किस प्रकारसे जानी जाती है तथा शुभ एवं अशुभ कर्मोंके द्वारा प्राप्त होनेवाले स्थानोंकी संख्या, परिमाण और इनका जो प्रकार है, वह भी मुझे बतलाइये॥ १३॥

यस्मिन् कर्मसमावायो यथा येनोपगृह्यते।
गुणानां गुणिनाञ्चैव परिणाममभीप्सताम्॥ १४॥

सत्त्वादि गुणों और उनके परिणामसे देव आदि योनियोंको प्राप्त करनेके अभिलाषी जीवोंमें किस परिमाणमें सुकृत, दुष्कृत, योग, ज्ञान और भक्तिरूप कर्मोंके उदय होनेकी सम्भावना रहती है? अर्थात् मनुष्योंमें कौन कर्मके और कौन ज्ञान आदिके अधिकारी हैं? किस प्रकारसे कौन-कौनसा साधन करके क्या-क्या साध्य वस्तु प्राप्त होती है—यह सब भी मुझे बतलाइये॥ १४॥

भूः-पाताल-ककुब्व्योम-ग्रह-नक्षत्र-भूभृताम्।
सरित्समुद्र-द्वीपानां सम्भवश्चैतदोकसाम्॥ १५॥

भूमि, पाताल, दिशाएँ, आकाश, ग्रह, नक्षत्र, पर्वत, नदी, समुद्र,

द्वीप—ये सब और इन स्थानोंमें जो समस्त प्राणी वास करते हैं, उन सबकी उत्पत्ति किस प्रकारसे होती है?॥ १५॥

प्रमाणमण्डकोषस्य बाह्याभ्यन्तरभेदतः।
महताञ्चानुचरितं वर्णाश्रमविनिश्चयः॥ १६॥

बाहर और भीतरके भेदसे इस ब्रह्माण्डका परिमाण मुझे बतलाइये। महत् व्यक्तियोंके चरित्र एवं जो-जो लक्षण और स्वभाव हैं तथा इनके अनुसार जो वर्ण और आश्रम धर्म निर्दिष्ट होते हैं, वह भी कृपा करके कहिये॥ १६॥

युगानि युगमानञ्च धर्मो यश्च युगे युगे।
अवतारानुचरितं यदाश्चर्यतमं हरेः॥ १७॥

युग कितने प्रकारके हैं? उनका परिमाण क्या है? इन युगोंके अलग-अलग धर्म क्या-क्या हैं? किस-किस युगमें भगवान् श्रीहरिके कौन-कौनसे युगावतार होते हैं और उनके कैसे-कैसे आश्चर्यजनक चरित्र हैं? यह सब भी कृपा करके मुझे बतलाइये॥ १७॥

नृणां साधारणो धर्मः सविशेषश्च यादृशः।
श्रेणीनां राजर्षीणाञ्च धर्मः कृच्छ्रेषु जीवताम्॥ १८॥

मनुष्य-मात्रका साधारण धर्म तथा विशेष धर्म अर्थात् वर्ण और आश्रमके अनुसार धर्म क्या-क्या हैं? विभिन्न व्यवसायोंसे जीविका उपार्जन करनेवाले व्यक्तियोंका व्यवहार, नियम और लक्षणरूप धर्म क्या है? प्रजा-पालनके अधिकारी धर्म-परायण राजाओंका धर्म क्या है? तथा जीवोंका आपात्कालीन धर्म अर्थात् बड़े कष्टके साथ जीविकाका निर्वाह करनेवाले जीवोंका धर्म क्या है? इन सबको कहिये॥ १८॥

तत्त्वानां परिसंख्यानं लक्षणं हेतुलक्षणम्।
पुरुषाराधनविधिर्योगस्याध्यात्मिकस्य च॥ १९॥

प्रकृति आदि तत्त्वोंकी संख्या कितनी है? उनका स्वरूप किस प्रकारका है? उन-उन कार्योंके हेतु उनके लक्षण किस प्रकारके हैं?

देवपूजाका प्रकार अर्थात् पुरुषोत्तम भगवान्‌की उपासना-प्रणाली कैसी है? अध्यात्म शास्त्रोंमें बतलाये गये अष्टाङ्गयोगकी विधि कैसी है? यह भी कृपापूर्वक बतलाइये॥ १९॥

योगेश्वरैश्वर्यगतिर्लिङ्गभङ्गस्तु योगिनाम्।
वेदोपवेद-धर्माणामितिहास-पुराणयोः ॥ २०॥

शम्भु आदि महानुभाव भक्तोंकी अणिमादि ऐश्वर्यरूपा गति किस प्रकारकी है? योगी पुरुष आदिके लिङ्गशरीरका लय किस प्रकारसे होता है? ऋक् आदि वेदोंका तात्पर्य क्या है? आयुर्वेदादि उपवेद, धर्मशास्त्र, इतिहास एवं पुराणोंके लक्षण क्या-क्या हैं?॥ २०॥

संप्लवः सर्वभूतानां विक्रमः प्रतिसंक्रमः।
इष्टापूर्तस्य काम्यानां त्रिवर्गस्य च यो विधिः॥ २१॥

समस्त प्राणियोंके लिए संसार-सिन्धुसे भलीभाँति उत्तीर्ण होनेका साधन क्या है? शूरता (सामर्थ्य) अर्थात् भक्तिके अनुकूल विषय क्या हैं? विनाश अर्थात् भक्तिके प्रतिकूल विषय क्या-क्या हैं? इन सबको भी बतलाइये। अथवा समस्त प्राणियोंकी सृष्टि, स्थिति और संहार किस प्रकार होता है? यज्ञ-यागादि वैदिक कर्म तथा बावली, कुआँ, तलाबादि खुदवाना, देवमन्दिर-प्रतिष्ठा, अन्न-दान, वृक्षवाटिका निर्माण आदि स्मार्त्त-कर्म एवं काम्य-कर्मोंकी विधि तथा धर्म, अर्थ और कामके साधनोंकी विधिका भी वर्णन कीजिये॥ २१॥

यो वानुशायिनां सर्गः पाषण्डस्य च सम्भवः।
आत्मनो बन्धमोक्षौ च व्यवस्थानं स्वरूपतः॥ २२॥

महाप्रलयके समय जिन जीवोंकी उपाधि (स्थूल एवं सूक्ष्म देह) ईश्वरमें लय होती है, उन जीवोंकी पुनः किस प्रकारसे सृष्टि होती है? पाखण्डियोंकी उत्पत्ति किस प्रकारसे होती है? जीवोंका मायारचित संसारमें बन्धन और संसारसे मुक्तिका हेतु क्या है? उनका निज-स्वरूप (श्रीकृष्ण-दास्य) में पूर्ण रूपसे अवस्थान किस प्रकारका है?॥ २२॥

यथात्मतन्त्रो भगवान् विक्रीडत्यात्ममायया।
विसृज्य वा यथा मायामुदास्ते साक्षिवद्विभुः॥ २३॥

भगवान् श्रीकृष्ण सर्वतन्त्र स्वतन्त्र परमेश्वर हैं। वे अपनी योगमायाके द्वारा किस प्रकारसे पूतना-वधादि लीला करते हैं? तथा प्रलयकालमें इसी आत्म-माया द्वारा मौषलादि अन्तर्द्धान-लीलारूप विशेष भावकी सृष्टि करके वे किस प्रकार साक्षीके समान उदासीन रहकर क्रीड़ा करते हैं? यह सब भी बतलाइये॥ २३॥

सर्वमेतच्च भगवन् पृच्छते मेऽनुपूर्वशः।
तत्त्वतोऽर्हस्युदाहर्तुं प्रपन्नाय महामुने॥ २४॥

हे भगवन्! हे महामुने! मैं आपके शरणागत हूँ। जिन समस्त विषयोंमें मैंने आपसे प्रश्न किये हैं और जिन सब विषयोंको मैं पूछ नहीं सका, आप कृपापूर्वक उन सबका तात्त्विक निरूपण करके मेरी जिज्ञासाओंको शान्त कीजिये॥ २४॥

अत्र प्रमाणं हि भवान् परमेष्ठी यथात्मभूः।
अपरे चानुतिष्ठन्ति पूर्वेषां पूर्वजैः कृतम्॥ २५॥

हे मुने! आत्मयोनि (स्वयंभू) ब्रह्माके समान आप ही पूछे गये इन विषयोंको जाननेवाले एकमात्र तत्त्ववेत्ता अर्थात् परम प्रमाण हैं। इस लोकमें अन्यान्य सभी लोग अपनी पूर्व-परम्परासे सुनी-सुनायी बातोंका ही आचरण करते हैं, अर्थात् उन प्राचीनजनोंके द्वारा अनुष्ठित कर्मादिको देखकर उनसे बार-बार उसीका अध्ययन करते हैं और उनका ही अनुसरण करते हैं॥ २५॥

न मेऽसवः परायन्ति ब्रह्मन्ननशनादमी।
पिबतोऽच्युतपीयूषमन्यत्र कुपिताद् द्विजात्॥ २६॥

हे ब्रह्मन्! अनशन तथा कुपित ब्राह्मणके शापसे मेरा चित्त व्याकुल नहीं हो रहा है, (अर्थात् इनसे मेरे प्राणोंका वियोग नहीं हो सकता,) क्योंकि मैं तो आपके मुखारविन्दसे निकले हुए वाक्यरूप समुद्रसे उदित अच्युत-कथामृतका पान कर रहा हूँ॥ २६॥

श्रीसूत उवाच—

स उपामन्त्रितो राज्ञा कथायामिति सत्पतेः।
ब्रह्मरातो भृशं प्रीतो विष्णुरातेन संसदि॥ २७॥

श्रीसूत गोस्वामीने ऋषियोंसे कहा—इस प्रकार महाराज परीक्षित्‌ने सन्तोंकी उस सभामें जब श्रीशुकदेव गोस्वामीसे सात्त्वत-पति श्रीकृष्णकी गुण-गाथाका वर्णन करनेके लिए जिज्ञासा की, तो श्रीशुकदेव अत्यन्त आनन्दित हुए॥ २७॥

प्राह भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मितम्।
ब्रह्मणे भगवत्प्रोक्तं ब्रह्मकल्प उपागते॥ २८॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने परीक्षित्‌को वेदगर्भ श्रीमद्भागवत महापुराणको सुनाना आरम्भ किया, जिसे सृष्टिके प्रारम्भ होनेपर सर्वप्रथम कल्प—ब्रह्मकल्पमें स्वयं भगवान्‌ने ब्रह्माजीको सुनाया था॥ २८॥

यद्यत् परीक्षिदृषभः पाण्डूनामनुपृच्छति।
आनुपूर्व्येण तत् सर्वमाख्यातुमुपचक्रमे॥ २९॥

पाण्डुवंशशिरोमणि महाराज परीक्षित्‌ने श्रीशुकदेव गोस्वामीसे जिन विषयोंसे सम्बन्धित प्रश्नोंको पूछा था, श्रीशुकदेव गोस्वामीने क्रमशः उन समस्त विषयोंका प्रत्युत्तर देना आरम्भ कर दिया॥ २९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां द्वितीयस्कन्धे श्रीपरीक्षित् प्रश्नो नामाष्टमोऽध्यायः॥

नवमोऽध्यायः

राजा परीक्षित् द्वारा पूछे गये प्रश्नोंका उत्तर और भगवान् द्वारा ब्रह्माजीको दिये गये चतुःश्लोकी भागवतके उपदेशका वृत्तान्त

श्रीशुक उवाच—

आत्ममायामृते राजन् परस्यानुभवात्मनः।
न घटेतार्थसम्बन्धः स्वप्नद्रष्टुरिवाञ्जसा॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! जिस प्रकार स्वप्न देखनेवाले व्यक्तिका स्वप्नमें देखी गयी देहादि वस्तुओंके साथ वास्तविक रूपसे कोई सम्बन्ध नहीं होता है, उसी प्रकार परमात्मा श्रीहरिकी मायाके बिना अन्य किसी भी कारणसे अनुभवस्वरूप अर्थात् ज्ञानमय जीवात्माका भी देहादिके साथ वस्तुतः कोई सम्बन्ध संघटित नहीं हो सकता॥ १॥

बहुरूप इवाभाति मायया बहुरूपया।
रममाणो गुणेष्वस्या ममाहमिति मन्यते॥ २॥

इस बहुरूपिणी मायाके प्रभावसे ही जीव देव, नर, बालक, युवा, वृद्धादि बहुत प्रकारके रूपोंवाला प्रतीत होता है। जब जीव इस मायाके ही गुणोंमें पूरी तरह रम जाता है, तब वह जड़शरीरमें 'मैं' और शरीरसे सम्बन्धित वस्तुओंमें 'मेरा'—इस प्रकारका अभिमान करने लगता है॥ २॥

यर्हि वाव महिम्नि स्वे परस्मिन् काल-माययोः।
रमेत गतसम्मोहस्त्यक्त्वोदास्ते तदोभयम्॥ ३॥

किन्तु जिस समय जीव पुरुष और प्रकृतिसे अतीत होकर अपने स्वरूपकी महिमा (कृष्णदासत्व) में अनुरक्त हो जाता है, अर्थात्

ममतास्पद श्रीभगवान्‌से ही सम्पूर्ण रूपसे प्रेम करने लगता है, तब उसका मोह दूर हो जाता है। इसके फलस्वरूप वह मायाकृत देहादिमें 'मैं' और 'मेरा'—इन दोनों प्रकारकी बुद्धिका परित्यागकर अपने शुद्ध जीवात्म-स्वरूपमें अवस्थित हो जाता है॥ ३॥

आत्मतत्त्वविशुद्ध्यर्थं यदाह भगवानृतम्।
ब्रह्मणे दर्शयन् रूपमव्यलीकव्रतादृतः॥ ४॥

भगवान् श्रीहरिने ब्रह्माजीकी निष्कपट तपस्यासे सन्तुष्ट होकर उन्हें जो अपने सत्य, चिद्‌घन स्वरूपका दर्शन कराया तथा अपने भजनके विषयमें बतलाया—उसे जीवके तत्त्व-ज्ञानके उद्देश्यसे ही समझना। यही मैं तुम्हें बतलाऊँगा॥ ४॥

स आदिदेवो जगतां परो गुरुः
स्वधिष्ण्यमास्थाय सिसृक्षयैक्षत।
तां नाध्यगच्छद्दृशमत्र सम्मतां
प्रपञ्चनिर्माणविधिर्यया भवत्॥ ५॥

इस जगत्‌के परम गुरु और आदिदेव ब्रह्माजी अपने आधार-स्थान पद्मासनपर बैठकर मन-ही-मन विचार करने लगे कि किस प्रकारसे इस जगत्‌की सृष्टि की जाये। किन्तु वे तब भी प्रपञ्चकी सृष्टिके विषयमें उस निश्चित ज्ञानदृष्टिको प्राप्त नहीं कर सके, जो सृष्टिके लिए वाञ्छनीय विधि है॥ ५॥

स चिन्तयन् द्व्यक्षरमेकदाम्भ-
स्युपाशृणोद् द्विर्गदितं वचो विभुः।
स्पर्शेषु यत् षोडशमेकविंशं
निष्किञ्चनानां नृप यद्धनं विदुः॥ ६॥

वे इस प्रकारसे चिन्तन कर ही रहे थे कि उसी समय दो अक्षरोंसे ग्रथित एक ही शब्द प्रलय-जलके भीतरसे दो बार उनके सम्मुख उच्चरित होता हुआ सुनायी पड़ा। उस शब्दका प्रथम वर्ण व्यञ्जनोंका सोलहवाँ अक्षर 'त' एवं द्वितीय वर्ण व्यञ्जनोंका इक्कीसवाँ अक्षर 'प' था। हे राजन्! यह 'तप' शब्द ही निष्किञ्चन त्यागियोंका एकमात्र धन माना जाता है॥ ६॥

निशम्य तद्वक्तृदिदृक्षया दिशो
विलोक्य तत्रान्यदपश्यमानः।
स्वधिष्ण्यमास्थाय विमृश्य तद्धितं
तपस्युपादिष्ट इवादधे मनः॥ ७॥

इस 'तप' शब्दको दो बार सुनते ही ब्रह्माजीने उक्त शब्दके उच्चारण करनेवालेको देखनेके लिए चारों दिशाओंमें दृष्टि डाली, किन्तु उन्हें कहीं भी कोई भी दिखायी नहीं पड़ा। तब वे पुनः अपने आसनपर बैठ गये 'मुझे तपस्या करनेके लिए किसीने साक्षात् आदेश दिया है'—ऐसा अनुभव करके तपस्यामें ही नियुक्त होना अपने लिए हितकर समझकर उन्होंने तपस्यामें अपने मनको पूरी तरह लगा दिया॥ ७॥

दिव्यं सहस्राब्दममोघदर्शनो
जितानिलात्मा विजितोभयेन्द्रियः।
अतप्यत स्माखिललोकतापनं
तपस्तपीयांस्तपतां समाहितः॥ ८॥

तपस्वियोंमें श्रेष्ठ उन ब्रह्माजीने 'तप' 'तप'—इस वाक्यके अर्थमें अमोघदृष्टि अर्थात् सत्यदर्शनकर अपने प्राण और मनको जय कर, तथा अपनी ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियोंको संयत करके एकाग्र चित्तसे एक हजार दिव्य वर्ष तक ऐसी तपस्या की। जिसके प्रभावसे वे समस्त लोकोंको प्रकाशित करनेमें समर्थ हो सके॥ ८॥

तस्मै स्वलोकं भगवान् सभाजितः
सन्दर्शयामास परं न यत्परम्।
व्यपेतसंक्लेश-विमोहसाध्वसं
स्वदृष्टवद्भिः पुरुषैरभिष्टुतम्॥ ९॥

अनन्तर भगवान्‌ने ब्रह्माजीकी इस प्रकारकी तपस्यासे सन्तुष्ट होकर उन्हें अपना लोक—महावैकुण्ठधाम दिखलाया। उस वैकुण्ठधाममें क्लेश और क्लेशसे उत्पन्न मोह अथवा भय नहीं है तथा उस स्थानसे श्रेष्ठ अन्य कोई भी स्थान नहीं है। पुण्यवान आत्मवेत्तागण सदा-सर्वदा उस धामकी स्तुति किया करते हैं॥ ९॥

प्रवर्तते यत्र रजस्तमस्तयोः
सत्त्वञ्च मिश्रं न च कालविक्रमः।
न यत्र माया किमुतापरे हरे-
रनुव्रता यत्र सुरासुरार्चिताः॥१०॥

उस वैकुण्ठधाममें रजोगुण, तमोगुण तथा इनसे मिश्रित सत्त्वगुण भी नहीं है। उस स्थानपर मात्र शुद्ध-सत्त्व ही वर्त्तमान है। वहाँ कालका प्रभाव नहीं है तथा लौकिक सुख-दुःखादिकी कारणभूता मायाका भी प्रवेश नहीं है, फिर अन्यान्य राग द्वेषादिका होना तो बहुत दूरकी बात है। वहाँ देवता एवं असुर दोनों ही के द्वारा वन्दित भगवान्‌के पार्षदगण सर्वदा विराजमान रहते हैं॥१०॥

श्यामावदाताः शतपत्रलोचनाः
पिशङ्गवस्त्राः सुरुचः सुपेशसः।
सर्वे चतुर्बाहव उन्मिषन्मणि-
प्रवेकनिष्काभरणाः सुवर्चसः।
प्रवाल-वैदूर्य-मृणालवर्चसः
परिस्फुरत्कुण्डलमौलिमालिनः ॥११॥

इन सभी भगवत्-पार्षदोंका वर्ण उज्ज्वल आभासे युक्त श्याम है, नेत्र खिले हुए कमलके समान और वस्त्र पीले रङ्गके हैं। उनके अति कोमल अङ्ग-प्रत्यङ्गसे सौन्दर्य झलकता है। उन सभीकी चार भुजाएँ हैं तथा वे सभी अत्यन्त प्रभाशाली हैं। वे मणिजटित स्वर्णमय हारादि आभूषणोंसे अलंकृत और महातेजस्वी हैं। उनकी कान्ति मूँग, वैदूर्यमणि और उज्ज्वल कमल-तन्तुके समान है। उनके कानोंमें दीप्तिमान कुण्डल, सिरपर अतिशय उज्ज्वल मुकुट और गलेमें झिलमिलाती मालाएँ शोभायमान हैं॥११॥

भ्राजिष्णुभिर्यः परितो विराजते
लसद्विमानावलिभिर्महात्मनाम् ।
विद्योतमानः प्रमदोत्तमाद्युभिः
सविद्युदभ्रावलिभिर्यथा नभः॥१२॥

जिस प्रकार आकाश बिजलीसे सुशोभित घने बादलोंसे परिमण्डित होकर शोभायमान होता है, उसी प्रकार वह वैकुण्ठधाम महात्माओंके देदीप्यमान विमानों और वराङ्गनाओं (कामिनियों) की परमोज्ज्वल कान्तिसे सुशोभित रहता है॥ १२॥

श्रीर्यत्र रूपिण्युरुगायपादयोः
करोति मानं बहुधा विभूतिभिः।
प्रेङ्खं श्रिता या कुसुमाकरानुगै-
र्विगीयमाना प्रियकर्म गायती॥ १३॥

इस वैकुण्ठधाममें अनन्त सम्पत्तियोंकी मूर्त्तिमती लक्ष्मीदेवी प्रेयसीके रूपमें अपनी सहचरी विभूतियोंके साथ विमलकीर्त्ति भगवान् श्रीहरिके श्रीचरणोंकी पूजा करती हैं। वे लक्ष्मीदेवी प्रेमके वशीभूत होकर झूलेपर झूलती हुई अपने प्रियतम श्रीनारायणकी लीलाओंका गान करती रहती हैं। उनके सौन्दर्य और सौरभसे मतवाले होकर वसन्तके अनुचर-भ्रमर उन लक्ष्मीजीका गुण-गान करने लगते हैं॥ १३॥

ददर्श तत्राखिलसात्वतां पतिं
श्रियः पतिं यज्ञपतिं जगत्पतिम्।
सुनन्द-नन्द-प्रबलार्हणादिभिः
स्वपार्षदाग्रैः परिसेवितं विभुम्॥ १४॥

ब्रह्माजीने देखा कि उस वैकुण्ठलोकमें समस्त भक्तोंके वल्लभ, यज्ञपति, जगत्पति, लक्ष्मीपति, विभु भगवान् विराजमान हैं। वहाँ सुनन्द, नन्द, प्रबल और अर्हण आदि पार्षदवृन्द उन्हें घेरकर उनकी सेवा कर रहे हैं॥ १४॥

भृत्यप्रसादाभिमुखं दृगासवं
प्रसन्नहासारुणलोचनाननम् ।
किरीटिनं कुण्डलिनं चतुर्भुजं
पीतांशुकं वक्षसि लक्षितं श्रिया॥ १५॥

भगवान् श्रीहरि वहाँ सेवकोंपर अपनी कृपा वितरण करनेके लिए उपस्थित रहते हैं। उनकी चितवन बड़ी मनमोहक है तथा देखनेवालोंका

आनन्द विधान करती है। उनका मुख-मण्डल सदैव ही मधुर मुसकानसे सुप्रसन्न रहता है तथा उनकी आँखोंमें लालिमा छायी रहती है। उनके श्रीमस्तकपर मुकुट एवं कानोंमें कुण्डल दीप्तिमान रहते हैं। वे चतुर्भुजधारी हैं। उन्होंने अपने श्याम वर्णपर पीतवर्णका झिलमिलता वस्त्र धारण कर रखा है। उनके वक्षःस्थलके वाम भागमें स्वर्ण रेखाकृति 'श्री' (लक्ष्मीदेवी) समलंकृत होकर सदा विराजमान रहती हैं॥ १५॥

अध्यर्हणीयासनमास्थितं परं
वृतं चतुः-षोडश-पञ्चशक्तिभिः।
युतं भगैः स्वैरितरत्र चाध्रुवैः
स्व एव धामन् रममाणमीश्वरम्॥ १६॥

(वैकुण्ठीय योगपीठका वर्णन करते हुए कहते हैं—)वे परमेश्वर श्रीनारायण श्रेष्ठ सिंहासनपर विराजित हैं। वे धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य रूप चार अन्तरङ्ग शक्तियों; चण्ड, प्रचण्ड, भद्र, सुभद्र इत्यादि सोलह बहिरङ्ग शक्तियों तथा कूर्म, अनन्त, गरुड़ इत्यादि पाँच समीप स्थित शक्तियों—इन पच्चीस शक्तियों द्वारा घिरकर तथा स्वरूपभूत ऐश्वर्यादि शक्तियोंसे युक्त होकर विराजमान हैं। भगवान्‌की लेशमात्र कृपा द्वारा योगी कभी-कभी इन सब शक्तियोंका आभासमात्र प्राप्त करते हैं। वे सर्वशक्तिमान परमेश्वर हैं और अपने स्वरूपभूत धाममें नित्य रमण करते हैं॥ १६॥

तद्दर्शनाह्लादपरिप्लुतान्तरो
हृष्यत्तनुः प्रेमभराश्रुलोचनः।
ननाम पादाम्बुजमस्य विश्वसृग्-
यत् पारमहंस्येन पथाधिगम्यते॥ १७॥

उन भगवत्-स्वरूपके दर्शनमात्रसे ही ब्रह्माजीका हृदय प्रेमसे परिपूर्ण हो गया तथा उनका रोम-रोम पुलकित हो उठा। विश्वकी रचना करनेवाले श्रीब्रह्माने प्रेमाश्रुसे छलकते नेत्रों सहित भगवान्‌के श्रीचरणोंमें अपना सिर झुकाकर प्रणाम किया। इसका कारण है कि

भागवत् परमहंसों अर्थात् भगवद्भक्तोंके मार्ग 'भक्तियोग' का आश्रय करनेसे ही भगवान् श्रीवासुदेवके चरणकमलोंकी प्राप्ति होती है॥ १७॥

तं प्रीयमाणं समुपस्थितं तदा
प्रजाविसर्गे निजशासनार्हणम्।
बभाष ईषत्स्मितशोचिषा गिरा
प्रियः प्रियं प्रीतमनाः करे स्पृशन्॥ १८॥

तब प्रेमके वशमें रहनेवाले भगवान् अपने प्रिय ब्रह्माजीको शरणागत तथा प्रजा सृष्टिके लिए उपदेश देनेके योग्य देखकर बहुत प्रसन्न हुए। श्रीभगवान्ने अत्यन्त प्रीतिके साथ अपने हाथोंसे उनका हाथ पकड़कर उनके प्रति समादर प्रदर्शित किया तथा मृदु-मन्द मुसकान करते-करते सुमधुर और सुललित वाणीमें कहना आरम्भ किया॥ १८॥

श्रीभगवानुवाच—

त्वयाहं तोषितः सध्रग्वेदगर्भ सिसृक्षया।
चिरं भृतेन तपसा दुस्तोषः कूटयोगिनाम्॥ १९॥

श्रीभगवान्ने कहा—हे वेदगर्भ! (ब्रह्मा—जिनके हृदयमें भगवान्ने समस्त वेदोंके ज्ञानको सञ्चारित किया) तुमने सृष्टि करनेकी इच्छासे बहुत समय तक तपस्या करके मुझे भलीभाँति सन्तुष्ट कर लिया है। मोक्षादि नाना प्रकारकी कामना-वासनाओंसे युक्त कपट योगी मुझे कभी भी सन्तुष्ट नहीं कर सकते॥ १९॥

वरं वरय भद्रं ते वरेशं माऽभिवाञ्छितम्।
ब्रह्मन् श्रेयः परिश्रामः पुंसां मद्दर्शनावधिः॥ २०॥

हे ब्रह्मन! तुम्हारा कल्याण हो। तुम मुझसे अपनी अभिलषित वस्तु माँग लो, क्योंकि एकमात्र मैं ही समस्त अभिलाषाओंको प्रदान करनेमें समर्थ हूँ। सभी लोग श्रेय-प्राप्तिके लिए मङ्गलमय श्रवणादि साधनरूप जो कुछ भी परिश्रम करते हैं, मेरा साक्षात्कार (दर्शन) ही उसका चरम फल है। इसका कारण है कि मेरे भक्त मेरे दर्शनके अतिरिक्त किसी अन्य फलकी इच्छा ही नहीं करते॥ २०॥

मनीषितानुभावोऽयं मम लोकावलोकनम्।
यदुपश्रुत्य रहसि चकर्थ परमं तपः॥ २१॥

हे ब्रह्मन्! तुमने जो मेरे इस वैकुण्ठलोकका दर्शन किया है, इसे मेरी ही इच्छाका प्रभाव समझो। तुमने मुझे देखे बिना ही निर्जनमें 'तप' 'तप'—मेरी इस वाणीको सुनकर कठोर तपस्या की है॥ २१॥

प्रत्यादिष्टं मया तत्र त्वयि कर्मविमोहिते।
तपो मे हृदयं साक्षादात्माऽहं तपसोऽनघ॥ २२॥

हे निष्पाप ब्रह्मन्! तुम सृष्टिके प्रारम्भमें अपने कर्त्तव्यके विषयमें विमूढ़ हो रहे थे। उस समय मेरे द्वारा आज्ञा दिये जानेपर तुम तपस्यामें नियुक्त हुए। तपस्या मेरा हृदय है तथा मैं तपस्याकी आत्मा अर्थात् आश्रय अथवा लक्ष्य हूँ॥ २२॥

सृजामि तपसैवेदं ग्रसामि तपसा पुनः।
बिभर्मि तपसा विश्वं वीर्यं मे दुश्चरं तपः॥ २३॥

मैं इस परिदृष्यमान जगत्‌की सृष्टि तपस्या द्वारा ही करता हूँ, तपस्यासे ही इसका पालन-पोषण करता हूँ और तपस्यासे ही पुनः इसका संहार करता हूँ। दुष्कर तपस्या ही मेरी शक्ति है॥ २३॥

श्रीब्रह्मोवाच—

भगवन् सर्वभूतानामध्यक्षोऽवस्थितो गुहाम्।
वेद ह्यप्रतिरुद्धेन प्रज्ञानेन चिकीर्षितम्॥ २४॥

श्रीब्रह्माने कहा—हे भगवन्! आप समस्त प्राणियोंके अध्यक्ष हैं तथा सबकी हृदय-कन्दराओंमें अन्तर्यामी रूपसे विराजित रहते हैं। आप अपने अप्रतिहत ज्ञानके प्रभावसे सभीके अभीष्टको जानते हैं। अतएव मैं क्या करना चाहता हूँ—इससे भी आप अवगत ही हैं॥ २४॥

तथापि नाथमानस्य नाथ नाथय नाथितम्।
परावरे यथारूपे जानीयां ते त्वरूपिणः॥ २५॥

हे नाथ! तथापि मैं आपसे जो याचना कर रहा हूँ, मेरी उस अभिलाषाको आप परिपूर्ण कीजिये। मेरी प्रार्थना यह है कि मैं प्राकृत रूपरहित अर्थात् निरुपाधिक स्वरूप आपके पर (अप्राकृत) और अवर (प्राकृत)—इन दोनों ही प्रकारके रूपोंको जान सकूँ॥ २५॥

यथात्ममायायोगेन नानाशक्त्युपबृंहितम्।
विलुम्पन् विसृजन् गृह्णन् बिभ्रदात्मानमात्मना॥ २६॥
क्रीडस्यमोघसङ्कल्प ऊर्णनाभिर्यथोर्णुते।
तथा तद्विषयां धेहि मनीषां मयि माधव॥ २७॥

हे माधव (हे लक्ष्मीपते)! आपका सङ्कल्प कभी व्यर्थ नहीं जाता। मकड़ी जिस प्रकार अपनेसे जाला निकालकर स्वयं ही उसमें विहार करती हैं, किन्तु स्वयं उसमें नहीं फँसती, उसी प्रकार आप स्वयं ही आत्म-माया (योगमाया) के प्रभावसे ब्रह्मादि नाना प्रकारके रूप प्रकटित करके विविध शक्तिसे समन्वित इस संसारकी जिस प्रकारसे सृष्टि, पालन एवं संहार करते हुए क्रीड़ा करते हैं—मुझे भी इन सबको समझनेकी बुद्धि प्रदान कीजिये॥ २६-२७॥

भगवच्छिक्षितमहं करवाणि ह्यतन्द्रितः।
नेहमानः प्रजासर्गं बध्येयं यदनुग्रहात्॥ २८॥

हे भगवन्! आप मुझपर ऐसी कृपा कीजिये कि जिससे आलस्य त्याग करके मैं आपके द्वारा दी गयी उपदेशरूप आज्ञाका निश्चित रूपसे पालन कर सकूँ। इसके साथ ही तत्त्वज्ञानके उपदेशरूप आपका अनुग्रह प्राप्तकर मैं प्रजाकी सृष्टि करके भी अहङ्कारादि द्वारा कहीं अपनेको स्वतन्त्र सृष्टिकर्त्ता न मान बैठूँ॥ २८॥

यावत् सखा सख्युरिवेश ते कृतः
प्रजाविसर्गे विभजामि भो जनम्।
अविक्लवस्ते परिकर्मणि स्थितो
मा मे समुन्नद्ध-मदोऽजमानिनः॥ २९॥

हे ईश! सखा जिस प्रकार सखाके साथ व्यवहार करता है, आपने भी मेरे हाथोंको पकड़कर मेरे साथ उसी प्रकारसे सम्मानपूर्वक व्यवहार किया है। अतएव आपसे मेरी यह प्रार्थना है कि जब तक मैं बिना किसी व्याकुलताके अर्थात् स्थिर चित्त होकर उत्तम-मध्यमादिके भेदसे प्रजासृष्टि कार्यरूप आपकी सेवामें नियुक्त रहूँ, तब तक—मैं आपके समान स्वतन्त्र भगवान्, स्वराट् और आपके समकक्ष हूँ—इस प्रकारका अभिमान मुझमें कदापि उदित न हो॥ २९॥

श्रीभगवानुवाच—

ज्ञानं परमगुह्यं मे यद्विज्ञानसमन्वितम्।
सरहस्यं तदङ्गञ्च गृहाण गदितं मया॥ ३०॥

श्रीभगवान्ने कहा—हे ब्रह्मन्! भगवान्के स्वरूपकी उपलब्धि और रहस्यमयी प्रेमाभक्तिके साथ अत्यन्त गोपनीय शब्द शास्त्रोंका प्रतिपाद्य मेरा ज्ञान तथा उस प्रेमाभक्तिके अङ्ग—साधनभक्तिको मैं तुम्हें बतला रहा हूँ, तुम इसे ग्रहण करो॥ ३०॥

यावानहं यथाभावो यद्रूपगुणकर्मकः।
तथैव तत्त्वविज्ञानमस्तु ते मदनुग्रहात्॥ ३१॥

स्वरूपतः मेरा जो परिमाण (आकार) है, सत्तावान होना जो लक्षण है तथा मेरे (श्याम, चतुर्भुज आदि) जो-जो रूप (भक्तवात्सल्यादि) गुण और कर्म (लीलाएँ) हैं, तुम उन सब विषयोंका ठीक-ठीक वैसा ही अनुभव मेरी कृपासे सम्पूर्ण रूपसे प्राप्त करो॥ ३१॥

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद्यत् सदसत् परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्॥ ३२॥

सृष्टिके पूर्व एकमात्र मैं ही था। स्थूल और सूक्ष्म तथा इन दोनोंके कारणभूत प्रधान अथवा प्रकृतिादि मुझसे पृथक् रूपमें अन्य कुछ भी नहीं था। सृष्टिके पश्चात् भी एकमात्र मैं ही रहता हूँ, क्योंकि यह विश्व भी मैं ही हूँ तथा प्रलयमें भी एकमात्र मैं ही अवशिष्ट (बचा) रहता हूँ॥ ३२॥

ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
तद्विद्यादात्मनो मायां यथाभासो यथा तमः॥ ३३॥

वास्तव प्रयोजन तत्त्वके अतिरिक्त जो कुछ भी प्रतीत होता है अथवा सत्तायुक्त होनेपर भी मेरे अधिष्ठानमें जिसकी प्रतीति नहीं है, उसे ही मेरी माया समझो। उदाहरण स्वरूप—जिस प्रकार दो चन्द्रमाओंका अधिष्ठान न रहनेपर भी काँचादिमें दो चन्द्रमाओंकी प्रतिछवि दिखायी देती है, अथवा जिस प्रकार राहु ग्रह-मण्डलमें रहनेपर भी दिखायी नहीं देता, उसी प्रकार। भावार्थ यह है कि ज्योतिर्मय वस्तुके दर्शनके समय आभास और अन्धकारका दर्शन कुछ भी नहीं होता और आभास तथा अन्धकारके दर्शनकालमें ज्योतिर्मय वस्तुका दर्शन भी नहीं होता, तथा आभास और अन्धकारकी कर्त्तृत्व-सत्तामें ज्योतिर्मय वस्तुके अतिरिक्त उन दोनोंकी स्वतन्त्रता नहीं है। उसी प्रकार भगवान् और उनकी माया हैं। श्रीभगवान् ज्योतिर्मय वस्तु हैं—उनकी माया दो प्रकारकी है—आभास-स्थानीय जीव-माया और तम-स्थानीय गुण-माया। इन दोनोंके ही श्रीभगवान्के आश्रित होनेपर भी भगवदन्तरङ्ग-प्रतीतिमें जीव और मायाकी प्रतीतिका अभाव है और जीव और मायिक प्रतीतिमें भी भगवत्-प्रतीति नहीं होती है॥ ३३॥

यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु।
प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम्॥ ३४॥

जिस प्रकार पृथ्वी, जल, अग्नि आदि महाभूत देव-तिर्यक् आदि उच्च-नीच प्राणियोंमें प्रविष्ट होकर भी अप्रविष्ट रूपसे स्वतन्त्र होकर वर्त्तमान हैं, उसी प्रकार मैं भी भूतमय जगत्में सभी प्राणियोंमें (सत्त्वाश्रयरूप परमात्मभावसे) प्रविष्ट होकर भी पृथक् भगवत्-स्वरूपमें सभीके भीतरमें और बाहरमें स्फुरित होता हूँ॥ ३४॥

एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनात्मनः।
अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा॥ ३५॥

आत्म-तत्त्वके जिज्ञासु व्यक्ति मेरे स्वरूप-तत्त्वका अनुवृत्ति और व्यावृत्ति (निष्कासन) क्रमसे अथवा विधि और निषेध द्वारा विचार करके जो वस्तु सर्वत्र और सर्वदा नित्य है, उस विषयमें ही परिप्रश्न करेंगे॥ ३५॥

एतन्मतं समातिष्ठ परमेण समाधिना।
भवान् कल्पविकल्पेषु न विमुह्यति कर्हिचित्॥ ३६॥

हे ब्रह्मन्! तुम चित्तकी परम एकाग्रताके साथ मेरे इस मतका अनुष्ठान करो। इसीसे कल्प-कल्पमें विविध प्रकारकी सृष्टि करके भी तुम 'मैं ही सृष्टिकर्त्ता हूँ'—इस प्रकारके अहङ्कारसे कभी भी विमोहित नहीं होओगे॥ ३६॥

श्रीशुक उवाच—

सम्प्रदिश्यैवमजनो जनानां परमेष्ठिनम्।
पश्यतस्तस्य तद्रूपमात्मनो न्यरुणद्धरिः॥ ३७॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—अलौकिक नित्य-शरीरी श्रीहरिने लोकोंके परम अधिपति पितामह ब्रह्माजीको इस प्रकार उपदेश प्रदान करके उनके समक्ष ही अपने उस रूपको अन्तर्हित कर लिया॥ ३७॥

अन्तर्हितेन्द्रियार्थाय हरये विहिताञ्जलिः।
सर्वभूतमयो विश्वं ससर्जेदं स पूर्ववत्॥ ३८॥

श्रीभगवान्ने ब्रह्माजीको सौन्दर्य और सौरभ्यसे युक्त अपने रूपका प्रत्यक्ष दर्शन दिया था। उनका वह स्वरूप जब ब्रह्माजीके सम्मुख ही अन्तर्हित हो गया, तब सर्वभूतमय ब्रह्माजीने श्रीहरिके उद्देश्यसे हाथ जोड़कर प्रणाम किया और पूर्व-पूर्व कल्पोंमें जैसी सृष्टि थी, उसीके समान इस विश्वकी सृष्टि की॥ ३८॥

प्रजापतिर्धर्मपतिरेकदा नियमान् यमान्।
भद्रं प्रजानामन्विच्छन्नातिष्ठत् स्वार्थकाम्यया॥ ३९॥

चतुःश्लोकी-भागवतको सुननेके बाद किसी एक समय धर्मका पालन करनेवाले ब्रह्माजीने समस्त प्रजाओंके मङ्गलकी कामना करके

स्वयं यम-नियमादिका अनुष्ठान किया जिससे कि उनके आचरणसे शिक्षा प्राप्त करके प्रजा भी यम-नियमादिका पालन करे॥ ३९॥

तं नारदः प्रियतमो रिक्थादानामनुव्रतः।
शुश्रूषमाणः शीलेन प्रश्रयेण दमेन च॥ ४०॥
मायां विविदिषन् विष्णोर्मायेशस्य महामुनिः।
महाभागवतो राजन् पितरं पर्यतोषयत्॥ ४१॥

श्रीब्रह्माजीके पैतृक धनके अधिकारी उनके दक्षादि पुत्रोंमेंसे श्रीनारद ही भक्तियुक्त होनेके कारण उनके प्रियतम पुत्र हैं। परम वैष्णव देवर्षि श्रीनारद मायाधीश्वर श्रीविष्णुकी मायाके तत्त्वको जाननेकी इच्छासे बड़े ही प्रणत भावसे अपने गुरु (पिता) की सेवामें तत्पर हो गये। उन्होंने अपने चरित्र, विनय और संयमादिसे अपने पिता ब्रह्माजीको सन्तुष्ट कर लिया॥ ४०-४१॥

तुष्टं निशाम्य पितरं लोकानां प्रपितामहम्।
देवर्षिः परिपप्रच्छ भवान् यन्माऽनुपृच्छति॥ ४२॥

हे महाराज परीक्षित्! जब श्रीनारदने लोक पितामह और अपने पिता ब्रह्माजीको इस प्रकार प्रसन्न और सन्तुष्ट देखा, तब उन्होंने उनसे वही समस्त प्रश्न पूछे थे, जो अब आप मुझसे पूछ रहे हैं॥ ४२॥

तस्मा इदं भागवतं पुराणं दशलक्षणम्।
प्रोक्तं भगवता प्राह प्रीतः पुत्राय भूतकृत्॥ ४३॥

श्रीनारदके प्रश्नोंसे ब्रह्माजी और भी प्रसन्न हो गये। तब प्राणियोंके स्रष्टा ब्रह्माजीने सर्ग-विसर्गादि दस लक्षणोंसे युक्त श्रीभागवत-पुराण अपने पुत्र नारदजीको सुनाया, जिसका उपदेश स्वयं भगवान्ने उन्हें प्रदान किया था॥ [१]४३॥

---

[१] श्रीभगवान्ने चतुःश्लोकीके द्वारा इस भागवतको ब्रह्माजीको कहा था, ब्रह्माजीने अपने पुत्र नारदजीको, श्रीनारदजीने श्रीव्यासदेवको और श्रीव्यासदेवने विस्तारपूर्वक सर्ग-विसर्ग आदि दस लक्षणोंसे युक्त द्वादश स्कन्धात्मक सम्पूर्ण भागवत श्रीशुकदेवजीको कही थी।

नारदः प्राह मुनये सरस्वत्यास्तटे नृप।
ध्यायते ब्रह्म परमं व्यासायामिततेजसे॥ ४४॥

हे राजन्! यह भागवत शास्त्र मुझे साम्प्रदायिक गुरु-परम्परासे प्राप्त हुआ है। जिस समय परम तेजस्वी महर्षि वेदव्यास सरस्वती नदीके तटपर परब्रह्म श्रीकृष्णके ध्यानमें मग्न थे, उस समय देवर्षि श्रीनारदने उन्हें इसी चतुःश्लोकी-भागवतको कहा था॥ [१]४४॥

तदुताहं त्वया पृष्टो वैराजात् पुरुषादिदम्।
यथासीत् तदुपाख्यास्ये प्रश्नानन्यांश्च कृत्स्नशः॥ ४५॥

हे महाराज! यह विश्व विराट पुरुषसे किस प्रकार उत्पन्न होता है, यह आपने मुझसे पूछा है। मैं श्रीभागवत-पुराणकी व्याख्याके रूपमें आपके इस प्रश्नका एवं अन्यान्य समस्त प्रश्नोंका उत्तर क्रमबद्ध रूपसे कहूँगा—आप श्रवण कीजिये॥ ४५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां द्वितीयस्कन्धे श्रीभागवत-प्रवृत्तिर्नाम नवमोऽध्यायः॥

---

[१] सत्साम्प्रदायिक गुरु-परम्परासे तात्पर्य है—पहले भगवान् श्रीनारायणने ब्रह्माजीको, ब्रह्माजीने नारदको, श्रीनारदने व्यासजीको, श्रीव्यासदेवने शुकदेव गोस्वामीको, श्रीशुकदेव गोस्वामीने परीक्षित्को और सूत गोस्वामीने शौनकादि ऋषियोंको भागवत सुनायी थी। इस प्रकारसे यह छह संवाद युक्त भागवतीय कथा ही प्रसिद्ध है।

दशमोऽध्यायः

श्रीमद्भागवतके दस लक्षण

श्रीबादरायणिरुवाच—

अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः।
मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः॥ १॥

व्यासनन्दन श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—इस भागवत शास्त्रमें सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊति, मन्वन्तर, ईशानुकथा, निरोध, मुक्ति और आश्रय—इन दस लक्षणोंका वर्णन किया गया है॥ १॥

दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानामिह लक्षणम्।
वर्णयन्ति महात्मानः श्रुतेनार्थेन चाञ्जसा॥ २॥

इनमें जो दसवाँ लक्षण आश्रय है, उसके विशुद्ध विचार अर्थात् तत्त्व-ज्ञानके लिए सर्गादि नौ लक्षणोंका स्वरूप विदुर-मैत्रेय आदि महात्माओंने कहीं श्रुत अर्थात् स्तुति आदिके स्थानपर अपने ही वचनों द्वारा साक्षात् रूपसे, तो कहीं अर्थ अर्थात् विविध आख्यानोंमें तात्पर्य वृत्ति द्वारा वर्णन किया है॥ २॥

भूतमात्रेन्द्रियधियां जन्म सर्ग उदाहृतः॥
ब्रह्मणो गुणवैषम्याद्विसर्गः पौरुषः स्मृतः॥ ३॥

सत्त्वादि तीनों गुणोंके परिणाम द्वारा परमेश्वरसे आकाशादि पञ्चभूत, शब्द-स्पर्शादि पञ्च तन्मात्राएँ, चक्षु-कर्णादि ग्यारह इन्द्रियाँ, महत्-तत्त्व एवं अहङ्कार तत्त्वोंकी स्वरूपतः और विराट् रूपमें जो उत्पत्ति होती है, उसका नाम 'सर्ग' है। वैराजः पुरुष अर्थात् ब्रह्मा द्वारा रचित जो विश्वकी चराचर सृष्टि है, उसका नाम 'विसर्ग' है॥ ३॥

स्थितिर्वैकुण्ठविजयः पोषणं तदनुग्रहः।
मन्वन्तराणि सद्धर्म ऊतयः कर्मवासनाः॥ ४॥

अपने द्वारा सृष्ट वस्तुओंको यथायथ स्थिति अर्थात् मर्यादामें स्थिर रखनेसे भगवान् श्रीविष्णुकी (ब्रह्मा और शम्भुसे) जो श्रेष्ठता है, उसका नाम 'स्थान' है। अपने द्वारा सुरक्षित इस सृष्टिमें अपने भक्तोंके प्रति भगवान्‌का जो अनुग्रह है, उसका नाम 'पोषण' है। मन्वन्तरोंके अधिपति (मनु) जो भगवद्भक्ति और प्रजापालनरूप सद्धर्म अर्थात् शुद्ध धर्मका अनुष्ठान करते हैं, उसे 'मन्वन्तर' कहते हैं। इस प्रकारकी स्थितिमें जो बहुत प्रकारकी शुभ और अशुभ कर्मजनित वासनाएँ हैं, उनका नाम 'ऊति' है॥ ४॥

अवतारानुचरितं हरेश्चास्यानुवर्तिनाम्।
पुंसामीशकथाः प्रोक्ता नानाख्यानोपबृंहिताः॥ ५॥

श्रीहरिके अवतारोंके चरित्र और उनके प्रेमी भक्तोंके विविध उपाख्यानोंसे परिपुष्ट सत्कथाएँ ही 'ईशकथा' कही जाती हैं॥ ५॥

निरोधोऽस्यानुशयनमात्मनः सह शक्तिभिः।
मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः॥ ६॥

जब श्रीहरि योगनिद्रा स्वीकार करके शयन करते हैं, तब जीवोंका अपनी उपाधियोंके साथ ही जो शयन (अर्थात् महाप्रलयके समय परमेश्वरमें लय) है, उसीका नाम 'निरोध' है। मायिक स्थूल एवं सूक्ष्म रूप दोनों उपाधियोंका परित्याग करके अपने स्वरूप अर्थात् शुद्ध जीव-रूपमें और किसी-किसीका भगवत्-पार्षद रूपमें विशुद्ध भावसे अवस्थानका नाम 'मुक्ति' है॥ ६॥

आभासश्च निरोधश्च यतोऽस्त्यध्यवसीयते।
स आश्रयः परं ब्रह्म परमात्मेति शब्द्यते॥ ७॥

जिनसे सृष्टि और लय होता है तथा जिनसे यह विश्व प्रकाशित होता है, वे ही 'आश्रय' हैं—उन्हें ही शास्त्रोंमें परब्रह्म और परमात्मा कहा जाता है॥ ७॥

योऽध्यात्मिकोऽयं पुरुषः सोऽसावेवाधिदैविकः।
यस्तत्रोभयविच्छेदः पुरुषो ह्याधिभौतिकः॥ ८॥

जो स्वयंको इन्द्रियाभिमानी अर्थात् चक्षु आदि इन्द्रियोंके रूपमें मानता है, वे जीवात्मा ही आध्यात्मिक पुरुष है, तथा जो चक्षु आदि इन्द्रियोंका अधिष्ठाता अर्थात् सूर्यादि देवतारूपमें उनपर अधिपत्य करता है, वह जीवात्मा ही आधिदैविक पुरुष है। पुनः उस एक ही पुरुष (जीवात्मा) में जिस कारणसे इन्द्रियाभिमानी और उनके अधिष्ठाता देवता—यह दो प्रकारकी भेद-बुद्धि होती है, वही आधिभौतिक पुरुष है अर्थात् चक्षु आदि इन्द्रियोंके रूपमें लक्षित दृश्य देह है तथा वही जीवकी उपाधि है॥ ८॥

एकमेकतराभावे यदा नोपलभामहे।
त्रितयं तत्र यो वेद स आत्मा स्वाश्रयाश्रयः॥ ९॥

इन तीनों (अर्थात् इन्द्रिय, इन्द्रियाधिष्ठाता और दृश्य देह) मेंसे यदि एक का भी अभाव हो जाये तो अन्य दोनोंके अस्तित्वकी उपलब्धि नहीं की जा सकती। अतः जो इन तीनोंके साक्षी रूपमें द्रष्टा हैं, वही परमात्मा स्वयं ही अपना आश्रय हैं और वही समस्त जीवोंके भी आश्रय हैं॥ ९॥

पुरुषोऽण्डं विनिर्भिद्य यदासौ स विनिर्गतः।
आत्मनोऽयनमन्विच्छन्नपोऽस्राक्षीच्छुचिः शुचीः॥ १०॥

वह पूर्वोक्त विराट् पुरुष (प्रथम पुरुष) जिस समय ब्रह्माण्डको अपनेसे पृथक्कर गर्भोदकशायीके रूपमें बाहर निकले, उस समय वे विशुद्ध पुरुष अपने रहनेका स्थान ढूँढ़ने लगे। तब अपने आवास स्थानकी अभिलाषासे उन शुद्ध-सङ्कल्प पुरुषने पवित्र जलकी सृष्टि की॥ १०॥

तास्ववात्सीत् स्वसृष्टासु सहस्रं परिवत्सरान्।
तेन नारायणो नाम यदापः पुरुषोद्भवाः॥ ११॥

उन विराट् पुरुषरूप 'नर' से उत्पन्न होनेके कारण ही वह जल 'नार' कहलाता है। वे स्वयंसे उत्पन्न हुए उस जलमें एक हजार वर्ष तक वास करते रहे, इसीलिए उनका नाम नारायण हुआ। अर्थात् यही नार जिनका आश्रय या अयन है, वे ही नारायण हैं॥ ११॥

द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च।
यदनुग्रहतः सन्ति न सन्ति यदुपेक्षया॥ १२॥

द्रव्य (अर्थात् महत्-तत्त्वसे उपादान स्वरूप पृथ्वी तक), कर्म (निमित्तभूत शुभ-अशुभ रूप जीवका अदृष्ट), काल (गुणोंको क्षोभित करनेका कारण), स्वभाव (परिणामका हेतु) एवं जीव (हिरण्यगर्भ भोक्ता)—इन सबका उन भगवान् श्रीनारायणके अनुग्रहसे ही अस्तित्व है। यदि वे भगवान उपेक्षा कर दें, तो ये सब अपने-अपने कार्य करनेमें अक्षम हो जायेंगे॥ १२॥

एको नानात्वमन्विच्छन् योगतल्पात् समुत्थितः।
वीर्यं हिरण्मयं देवो मायया व्यसृजत् त्रिधा॥ १३॥
अधिदैवमथाध्यात्ममधिभूतमिति प्रभुः।
अथैकं पौरुषं वीर्यं त्रिधाभिद्यत तच्छृणु॥ १४॥

हे राजन्! जब उन पुरुष भगवान् श्रीनारायणने योगनिद्रासे जागकर देव, मनुष्य, पशु-पक्षी आदि अनेक रूपोंमें होनेकी इच्छा की,[१] तब उन्होंने अखिल ब्रह्माण्डके बीजस्वरूप सोनेके समान अपने वीर्यको अपनी शक्ति मायासे अधिदैव, अध्यात्म और अधिभूत—इन तीन भागोंमें विभक्त कर दिया। भगवान्‌ने एक ही पौरुष वीर्य अर्थात् समष्टि विराट्‌रूप देहको उक्त तीन प्रकारमें कैसे विभक्त किया, वह भी मैं आपको बतलाता हूँ, श्रवण कीजिये॥ १३-१४॥

अन्तःशरीर आकाशात् पुरुषस्य विचेष्टतः।
ओजः सहो बलं जज्ञे ततः प्राणो महानसुः॥ १५॥

अपनी क्रियाशक्ति द्वारा विविध चेष्टा करनेमें रत उन पुरुषके हृदयाकाशसे इन्द्रियबल, मनोबल और देहबल प्रकट हुए। तदनन्तर इन तीनों शक्तियोंके सूक्ष्म रूपसे इन सबका राजा अर्थात् जीवनस्वरूप मुख्य प्राण उत्पन्न हुआ॥ १५॥

---

[१] प्रलयमें स्वांश और विभिन्नांश जीवोंको अपनेमें अवस्थित देखकर, अब सृष्टिके समय उन-उन स्वांशादि जीवोंको अपनेसे अलग करनेकी इच्छा की।

अनु प्राणन्ति यं प्राणाः प्राणन्तं सर्वजन्तुषु।
अपानन्तमपानन्ति नरदेवमिवानुगाः॥ १६॥

सेवक जिस प्रकार राजाके पीछे-पीछे चलते हैं, उसी प्रकार जीवकी इन्द्रियाँ मुख्य प्राणकी शक्तिसे सञ्चालित होती हैं। मुख्य प्राण कार्य करना बन्द कर दें, तो ये इन्द्रियाँ भी कार्य करना बन्द कर देती हैं॥ १६॥

प्राणेनाक्षिपता क्षुत्तृडन्तराजायते विभोः।
पिपासतो जक्षतश्च प्राङ्मुखं निरभिद्यत॥ १७॥

उस विराट् पुरुषके उदरके भीतर जब प्राण जोर-जोरसे आने-जाने लगे, तब उन्हें भूख-प्यासका अनुभव हुआ। खाने-पीनेकी इच्छा होते ही सबसे पहले उनके शरीरमें मुख प्रकट हुआ॥ १७॥

मुखतस्तालु निर्भिन्नं जिह्वा तत्रोपजायते।
ततो नानारसो जज्ञे जिह्वया योऽधिगम्यते॥ १८॥

इसके बाद मुखसे तालु प्रकट हुआ और तालुसे रसनेन्द्रिय (जिह्वा) उत्पन्न हुई। तदनन्तर रसनेन्द्रिय द्वारा ग्रहण किये जानेवाले नाना प्रकारके मधुर-अम्लादि रस एवं उनके अधिष्ठातृ देवता वरुण उत्पन्न हुए॥ १८॥

विवक्षोर्मुखतो भूम्नो वह्निर्वाग्व्याहृतं तयोः॥ १९॥

जब उन भूमा पुरुषको बोलनेकी इच्छा हुई, तब उनके मुखसे वाक् इन्द्रिय, उसके अधिष्ठातृ देवता अग्नि और वाक्-इन्द्रियका विषय बोलना—ये तीनों प्रकट हुए॥ १९॥

जले चैतस्य सुचिरं निरोधः समजायत।
नासिके निरभिद्येतां दोधूयति नभस्वति।
तत्र वायुर्गन्धवहो घ्राणो नसि जिघृक्षतः॥ २०॥

बहुत समय तक उस जलमें ही रहनेसे उन विराट् पुरुषकी प्राणवायु अवरुद्ध हो गयी। बादमें श्वास (प्राणवायु) के अत्यधिक वेगसे उसके अधिष्ठान रूपमें दो नासिका छिद्र उत्पन्न हुए।

नासाछिद्रोंसे प्राणवायुके चलनेपर गन्धको वहन करनेवाले वायुदेव प्रकट हुए। जब उन पुरुषको इस गन्धके विषयोंको सूँघनेकी इच्छा हुई, तब घ्राणेन्द्रिय अर्थात् नाक उत्पन्न हुई॥ २०॥

यदात्मनि निरालोकमात्मानञ्च दिदृक्षतः।
निर्भिन्ने अक्षिणी तस्य ज्योतिश्चक्षुर्गुणग्रहः॥ २१॥

जब उनमें प्रकाशका अभाव था, तब उन्हें स्वयंको और अन्यान्य वस्तुओंको देखनेकी इच्छा हुई। इसके कारण अधिष्ठान रूपमें उनके दोनों नेत्र-गोलक और उनसे नेत्रोंके अधिष्ठातृ देवता प्रकाशरूप सूर्य प्रकट हुए तथा रूपको ग्रहण करनेवाली नेत्र इन्द्रिय प्रकट हुई॥ २१॥

बोध्यमानस्य ऋषिभिरात्मनस्तज्जिघृक्षतः।
कर्णौ च निरभिद्येतां दिशः श्रोत्रं गुणग्रहः॥ २२॥

जब वेदरूप ऋषि वेद-स्तुतियोंके द्वारा विराट् पुरुषको जगा रहे थे, तब उन्हें उन वेद-स्तुतियोंको सुननेकी इच्छा हुई। इससे अधिष्ठान रूपमें उनके दोनों कान, उन कानोंके अधिष्ठातृ देवता दिशाएँ और शब्द गुणरूपी विषयको ग्रहण करनेवाली श्रवणेन्द्रिय प्रकट हो गयी॥ २२॥

वस्तुनो मृदुकाठिन्य-लघुगुर्वोष्णशीतताम्।
जिघृक्षतस्त्वङ्निर्भिन्ना तस्यां रोममहीरुहाः।
तत्र चान्तर्बहिर्वातस्त्वचा लब्धगुणो वृतः॥ २३॥

इसके बाद उन्हें वस्तुओंकी कोमलता, कठिनता, हल्कापन, भारीपन, उष्णता और शीतलता आदिको अनुभव करनेकी इच्छा हुई, तब अधिष्ठान रूप उनके शरीरमें त्वचा अर्थात् त्वगेन्द्रिय अभिव्यक्त हो गयी। इस त्वचासे रोम-इन्द्रियाँ उसी प्रकार प्रकट हुईं, जिस प्रकार पृथ्वीसे वृक्ष प्रकट होते हैं। साथ ही त्वगेन्द्रियोंके अधिष्ठातृ देवता समस्त औषधियाँ भी प्रादुर्भूत हो गयीं। स्पर्श-गुणके विषयको ग्रहण करनेवाली वायु त्वगेन्द्रियके अन्दर एवं बाहर चारों ओरसे व्याप्त होकर अवस्थित हो गयी॥ २३॥

हस्तौ रुरुहतुस्तस्य नानाकर्मचिकीर्षया।
तयोस्तु बलवानिन्द्र आदानमुभयाश्रयम्॥ २४॥

जब उन विराट् पुरुषको पकड़ने या छोड़ने आदि अनेक प्रकारके कर्म करनेकी अभिलाषा हुई, तभी उनके दोनों हाथ निकल आये। इससे बलेन्द्रिय (हस्तेन्द्रिय) के साथ-साथ उनके अधिष्ठातृ देवता इन्द्र भी प्रकट हो गये। बल-इन्द्रिय और उनके अधिष्ठातृ देवतासे ही द्रव्यादिका आदान-प्रदानरूप कर्म होता है॥ २४॥

गतिं जिगीषतः पादौ रुरुहातेऽभिकामिकाम्।
पद्भ्यां यज्ञः स्वयं हव्यं कर्मभिः क्रियते नृभिः॥ २५॥

जब विराट् पुरुषकी किसी स्थानपर जानेकी इच्छा हुई, तब उनके शरीरमें इसके अधिष्ठान रूप दो चरण उत्पन्न हुए। दोनों चरणोंके साथ अधिष्ठाता रूपमें वहाँ स्वयं यज्ञपुरुष भगवान् श्रीविष्णुकी शक्तिसे आविष्ट उसके अधिष्ठाता कोई देवता प्रकटित हो गये। मनुष्य गति रूप इन्द्रिय (पैर) द्वारा साध्य कर्म अर्थात् यज्ञके लिए सामग्री संग्रह करते हैं॥ २५॥

निरभिद्यत शिश्नो वै प्रजानन्दामृतार्थिनः।
उपस्थ आसीत् कामानां प्रियं तदुभयाश्रयम्॥ २६॥

जब उन विराट् पुरुषने सन्तान, रति-सुख और स्वर्गादि विषयोंकी इच्छा की, तब उनकी उपस्थेन्द्रियके अधिष्ठान रूपमें लिङ्ग प्रकट हुआ। उसके बाद उपस्थेन्द्रिय और उसके अधिष्ठातृ देवता प्रजापति उत्पन्न हुए। स्त्री-सम्भोगसे प्राप्त होनेवाला सुख इसी इन्द्रिय और देवताके अधीन है॥ २६॥

उत्सिसृक्षोर्धातुमलं निरभिद्यत वै गुदम्।
ततः पायुस्ततो मित्र उत्सर्ग उभयाश्रयः॥ २७॥

जब उन्होंने खाये हुए अन्नादिके असार अंश (विष्ठा) का त्याग करनेकी इच्छा की, तब इसके अधिष्ठान रूपमें गुदाद्वार उत्पन्न हो गया। इसके बाद पायु-इन्द्रिय और उसके अधिष्ठातृ देवता मित्र प्रकट हुए। मल-त्याग इसी इन्द्रिय एवं इन्हीं देवताके अधीनरूप विषय हैं॥ २७॥

आसिसृप्सोः पुरः पुर्या नाभिद्वारमपानतः।
तत्रापानस्ततो मृत्युः पृथक्त्वमुभयाश्रयम्॥ २८॥

जब उन्होंने सम्पूर्ण रूपसे एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जानेकी इच्छा की, तब उस शरीरसे गमनके उपयोगी अधिष्ठानरूप नाभिद्वार प्रकाशित हो गया। उससे अपान-इन्द्रिय और उसके अधिष्ठातृ देवता मृत्यु उत्पन्न हो गये। इन दोनोंके आश्रयसे ही प्राण एवं अपानका वियोग होनेपर मृत्यु होती है। मरणरूपी विषय इसी इन्द्रिय और देवताके अधीन हैं॥ २८॥

आदित्सोरन्नपानानामासन् कुक्ष्यन्त्रनाडयः।
नद्यः समुद्राश्च तयोस्तुष्टिः पुष्टिस्तदाश्रये॥ २९॥

जब विराट् पुरुषकी भोजन और जल ग्रहण करनेकी इच्छा हुई, तब उसके अधिष्ठान रूपमें उदर, आँत एवं नाड़ियाँ (इन्द्रिय) प्रकट हो गयीं। नाड़ी-इन्द्रियकी अधिष्ठातृ देवता नदियाँ और आँत-इन्द्रियका अधिष्ठातृ देवता समुद्र हैं। तुष्टि (उदर पूर्तिरूप विषय) आँत-इन्द्रिय और समुद्र देवताके अधीन और पुष्टि (रस-परिणाम स्वरूप स्थूलशरीरकी उन्नति) नाड़ी-इन्द्रिय और नदीके अधीन हैं। इस प्रकार ये दोनों उनके आश्रित विषय उत्पन्न हुए॥ २९॥

निदिध्यासोरात्ममायां हृदयं निरभिद्यत।
ततो मनस्ततश्चन्द्रः सङ्कल्पः काम एव च॥ ३०॥

जब विराट् पुरुष अपनी माया और मायिक वस्तुओंका अत्यधिक चिन्तन करनेकी इच्छा करने लगे, तब उसका अधिष्ठान रूप हृदय प्रकट हो गया। उससे मन (इन्द्रिय) और उसके अधिष्ठातृ देवता चन्द्र उत्पन्न हुए। मनसे ही सङ्कल्प एवं कामनादि विषय उत्पन्न हुए हैं॥ ३०॥

त्वक्चर्ममांसरुधिर-मेदोमज्जास्थिधातवः।
भूम्यप्तेजोमयाः सप्त प्राणो व्योमाम्बुवायुभिः॥ ३१॥

विराट् पुरुषके शरीरमें भूमि, जल और तेजसे त्वचा, चर्म, माँस, रूधिर, मेद, मज्जा एवं अस्थि—ये सात धातुएँ उत्पन्न हुईं। उनमें आकाश, जल और वायुसे प्राण-वायु प्रकटित हुई॥ ३१॥

गुणात्मकानीन्द्रियाणि भूतादिप्रभवा गुणाः।
मनः सर्वविकारात्मा बुद्धिर्विज्ञानरूपिणी॥ ३२॥

इन्द्रियाँ शब्दादि विषयोंको ग्रहण करनेवाले स्वभावसे युक्त हैं। शब्द-स्पर्शादि गुण पृथ्वी आदि भूतोंके आदिभूत अहङ्कारसे उत्पन्न होते हैं। मन सुख-दुःखादि समस्त विकारोंका प्राण-स्वरूप है। बुद्धि शब्दादि विषयोंकी विवेक-शक्ति-रूपिणी है॥ ३२॥

एतद्भगवतो रूपं स्थूलं ते व्याहृतं मया।
मह्यादिभिश्चावरणैरष्टभिर्बहिरावृतम्॥ ३३॥

हे राजन्! मैंने आपके निकट भगवान्‌के स्थूलरूपका वर्णन किया है। इस स्थूलरूपका बाह्य भाग पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, अहङ्कार, महत् और प्रकृति—इन आठ प्राकृत आवरणोंसे घिरा हुआ है॥ ३३॥

अतः परं सूक्ष्मतममव्यक्तं निर्विशेषणम्।
अनादिमध्यनिधनं नित्यं वाङ्मनसः परम्॥ ३४॥

इसके अतिरिक्त भगवान्‌का अत्यन्त सूक्ष्मतम नित्य रूप है। वह इन्द्रियोंसे अतीत अर्थात् अव्यक्त, वर्ण-आकारादिसे रहित निर्विशेष, जन्म, स्थिति और अन्तसे रहित तथा मन और वाणीकी पहुँचसे परे है॥ ३४॥

अमुनी भगवद्रूपे मया ते ह्यनुवर्णिते।
उभे अपि न गृह्णन्ति मायासृष्टे विपश्चितः॥ ३५॥

मैंने आपके समक्ष उनके स्थूल और सूक्ष्म दोनों ही रूपोंका वर्णन किया है। शुद्ध भक्तिमान पण्डितगण उपासनाके लिए इन दोनों रूपोंको ही स्वीकार नहीं करते, क्योंकि ये दोनों ही मायाके द्वारा रचित हैं॥ ३५॥

स वाच्यवाचकतया भगवान् ब्रह्मरूपधृक्।
नामरूपक्रिया धत्ते सकर्माकर्मकः परः॥ ३६॥

वे भगवान् परमेश्वर प्राकृत क्रियाओंसे रहित होकर भी ब्रह्माके रूपको धारण करके क्रियाशील हो जाते हैं। वाच्य रूपमें वे देवादि बहुत प्रकारके रूप धारण करते हैं तथा वाचक रूपमें देव-तिर्यक, मनुष्यादि बहुत प्रकारके नाम स्वीकारकर उन नाम एवं रूपोंके अधिकारके अनुरूप क्रियाओंकी सृष्टि करते हैं॥ ३६॥

प्रजापतीन् मनून् देवानृषीन् पितृगणान् पृथक्।
सिद्धचारणगन्धर्वान् विद्याध्रासुरगुह्यकान्॥ ३७॥

किन्नराप्सरसो नागान् सर्पान् किम्पुरुषान् नरान्।
मातृरक्षःपिशाचांश्च प्रेतभूतविनायकान्॥ ३८॥

कुष्माण्डोन्मादवेतालान् यातुधानान् ग्रहानपि।
मृगान् खगान् पशून् वृक्षान् गिरीन् नृप सरीसृपान्।
द्विविधाश्चतुर्विधा येऽन्ये जलस्थलनभौकसः॥ ३९॥

हे नराधिप परीक्षित्! वे भगवान् ब्रह्माका रूप धारणकर प्रजापति, मनु, देवता, ऋषि, पितर, सिद्ध, चारण, गन्धर्व, विद्याधर, असुर, गुह्यक (यक्ष), किन्नर, अप्सरा, नाग, सर्प, किम्पुरुष, नर, मातृका, राक्षस, पिशाच, प्रेत, भूत, विनायक, कुष्माण्ड, उन्माद, बेताल, यातुधान, ग्रह, मृग, पक्षी, पशु, वृक्ष, पर्वत, सरीसर्प—इन सभीकी तथा अन्यान्य स्थावर एवं जङ्गम रूपमें दो प्रकारके; जरायुज, अण्डज, स्वेदज एवं उद्भिज्ज रूपमें चार प्रकारके और जल, स्थल एवं आकाशमें विचरण करनेवाले प्राणियोंकी पृथक्-पृथक् भावसे सृष्टि करते हैं॥ ३७-३९॥

कुशलाकुशला मिश्राः कर्मणां गतयस्त्विमाः॥ ४०॥

विभिन्न प्रकारकी सृष्टिका कारण विभिन्न प्रकारके कर्मोंकी गति अर्थात् फल है। कर्मकी गति तीन प्रकारकी हैं—कुशल (उत्तम) अर्थात् पुण्य कर्मोंकी फलरूप गति, अकुशल (अधम) अर्थात् पाप कर्मोंकी फलरूप गति एवं मिश्र (मध्यम) अर्थात् पाप एवं पुण्य दोनों प्रकारके कर्मोंकी फलरूप गति॥ ४०॥

सत्त्वं रजस्तम इति तिस्रः सुरनृनारकाः॥ ४१॥

तत्राप्येकैकशो राजन् भिद्यन्ते गतयस्त्रिधा।
यदैकैकतरोऽन्याभ्यां स्वभाव उपहन्यते॥ ४२॥

हे राजन्! सत्त्वगुणकी प्रधानतासे देवता, रजोगुणकी प्रधानतासे मनुष्य और तमोगुणकी प्रधानतासे नारकीय योनियोंकी प्राप्ति—यह तीन प्रकारकी गतियाँ होती हैं। जिस समय तीनों गुणोंमेंसे कोई एक गुण अन्य दो गुणोंके द्वारा बाधाको प्राप्त होता है, तब एक ही गति तीन-तीन प्रकारसे प्रकाशित होती है। जिस प्रकार रजोगुणके स्वभावसे युक्त मनुष्य सत्त्वगुणके स्वभावके मिश्रणकी अधिकताके कारण ब्राह्मण बन जाता है, परन्तु फिर जब उसमें तमोगुणके स्वभावके मिश्रणकी अधिकता होती है, तब वह शूद्र हो जाता है। इस प्रकार कर्मोंकी कुल नौ प्रकारकी गतियाँ होती हैं॥ ४१-४२॥

स एवेदं जगद्धाता भगवान् धर्मरूपधृक्।
पुष्णाति स्थापयन् विश्वं तिर्यङ्नरसुरादिभिः॥ ४३॥

वे भगवान् ही विष्णुरूप धारण करके जगत्का पालन और पोषण करते हैं। वे ही (वराह, मीन, कच्छप) आदि तिर्यक रूपमें, (राम-कृष्णादि) नर रूपमें एवं (वामन-यज्ञादि) देवता रूपमें अवतारोंको प्रकट करते हैं। इस प्रकार वे धर्मरूपमें रक्षक भावसे समस्त संसारका पालन-पोषण करते हैं॥ ४३॥

ततः कालाग्निरुद्रात्मा यत् सृष्टमिदमात्मनः।
सन्नियच्छति तत् कालेन घनानीकमिवानिलः॥ ४४॥

अनन्तर वे ही फिर प्रलयकालमें कालाग्नि और रुद्ररूप धारण करके अपने ही द्वारा रचित इस जगत्का उसी प्रकार संहार कर देते हैं, जिस प्रकार वायु मेघोंको छिन्न-भिन्न कर डालती है॥ ४४॥

इत्थं भावेन कथितो भगवान् भगवत्तमः।
नेत्थं भावेन हि परं द्रष्टुमर्हन्ति सूरयः॥ ४५॥

श्रुतियोंने षडैश्वर्यशाली भगवान्‌का इसी प्रकारसे ही निरूपण किया है, किन्तु तत्त्वदर्शी शुद्धभक्तोंको केवल विश्व-सृष्टा आदि रूपमें ही उनका दर्शन नहीं करना चाहिये॥ ४५॥

नास्य कर्माणि जन्मादौ परस्यानुविधीयते।
कर्तृत्वप्रतिषेधार्थं माययारोपितं हि तत्॥ ४६॥

विश्वकी सृष्टि आदि कार्य भगवान्‌के निज स्वरूपका कर्म नहीं है। श्रुतियाँ और स्मृतियाँ भगवान्‌में प्राकृत सृष्टिके कर्त्तापनका निषेध करनेके लिए इन कार्योंका वैसा वर्णनमात्र करती हैं, इनमें भगवान्‌का कर्त्तापन दिखाना उनका तात्पर्य नहीं है। इसका कारण है कि बहिरङ्गा माया ही अपने कार्योंमें अपने प्रभु परमेश्वरके कर्त्तृत्वका आरोप करती है॥ ४६॥

अयन्तु ब्रह्मणः कल्पः सविकल्प उदाहृतः।
विधिः साधारणो यत्र सर्गाः प्राकृतवैकृताः॥ ४७॥

हे राजन्! इस प्रकार ब्रह्माजीके अवान्तर कल्पके साथ महाकल्पका संक्षेपमें उदाहरणके छलसे वर्णन किया गया है। सब कल्पोंमें सृष्टिका क्रम एक-सा ही है, अन्तर केवल इतना है कि महाकल्पके प्रारम्भमें प्राकृत महत्-तत्त्व आदिकी सृष्टि तथा अवान्तर कल्पमें वैकृत चराचर प्राणियोंकी सृष्टि नवीन रूपसे होती है॥ ४७॥

परिमाणञ्च कालस्य कल्पलक्षणविग्रहम्।
यथा पुरस्ताद्व्याख्यास्ये पाद्मं कल्पमथो शृणु॥ ४८॥

कालके स्थूल और सूक्ष्म परिमाण एवं कल्पके लक्षण और विभागोंकी मैं बादमें (तृतीय-स्कन्धमें) व्याख्या करूँगा। अभी पाद्मकल्पका विषय विस्तार सहित वर्णन कर रहा हूँ—श्रवण करो॥ ४८॥

श्रीशौनक उवाच—
यदाह नो भवान् सूत क्षत्ता भागवतोत्तमः।
चचार तीर्थानि भुवस्त्यक्त्वा बन्धून् सुदुस्त्यजान्॥ ४९॥

क्षत्तुः कौशारवेस्तस्य संवादोऽध्यात्मसंश्रितः।
यद्वा स भगवांस्तस्मै पृष्टस्तत्त्वमुवाच ह॥ ५०॥
ब्रूहि नस्तदिदं सौम्य विदुरस्य विचेष्टितम्।
बन्धुत्यागनिमित्तञ्च तथैवागतवान् पुनः॥ ५१॥

श्रीशौनक ऋषिने कहा—हे सौम्य सूतजी! आपने कहा था कि जिन बन्धुओंका त्याग करना बड़ा दुष्कर होता है, महाभागवत विदुरजीने उनका भी परित्याग करके पृथ्वीके सम्पूर्ण तीर्थोंका भ्रमण किया था। उस यात्रामें उन विदुरजीका महामुनि मैत्रेयजीके साथ जो अध्यात्म-ज्ञानके सम्बन्धमें वार्त्तालाप हुआ था, कृपया उसका वर्णन कीजिये। विदुरजीने क्या-क्या प्रश्न पूछे तथा भगवान् मैत्रेयजीने उन प्रश्नोंके उत्तरमें किन तत्त्वोंका उपदेश दिया? हे सूतजी! आप हमें यह भी बतलाइये कि विदुरजीने किसलिए बन्धुओंका त्याग किया और पुनः वे उनके पास क्यों लौट आये?॥ ४९-५१॥

श्रीसूत उवाच—

राज्ञा परीक्षिता पृष्टो यदवोचन्महामुनिः।
तद्वोऽभिधास्ये शृणुत राज्ञः प्रश्नानुसारतः॥ ५२॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—हे शौनकादि ऋषियो! आपने जो प्रश्न पूछे हैं, महाराज परीक्षित्‌ने भी श्रीशुकदेव गोस्वामीसे वही प्रश्न किये थे। श्रीशुकदेव गोस्वामीने विदुर और मैत्रेयके संवादके अनुसार ही राजाके समस्त प्रश्नोंके उत्तर दिये थे। मैं भी उसी संवादको कहूँगा—आपलोग सावधानीसे श्रवण कीजिये॥ ५२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां द्वितीयस्कन्धे दशलक्षणकथनं नाम दशमोऽध्यायः॥

॥ द्वितीयः स्कन्धः समाप्तः॥



तृतीयः स्कन्धः

तृतीय स्कन्धकी कथाका सार

श्रीशुकदेव गोस्वामी द्वारा कथित श्रीउद्धव और विदुरजीके सम्वादका वर्णन करते हुए श्रीसूत गोस्वामीने कहा—जब विदुरजीने देखा कि अपने पुत्रोंके प्रति मोहवशतः धृतराष्ट्रने श्रीकृष्णके किसी भी सत्परामर्श और उनके द्वारा प्रदान की गयी सत्मन्त्रणाको स्वीकार नहीं किया है, विशेषतः दुर्योधनादिके द्वारा अपना तिरस्कार होनेपर विदुरजी हस्तिनापुर और बन्धु-बान्धवोंका परित्यागकर अकेले ही पृथ्वीके विभिन्न तीर्थोंका भ्रमण करते-करते सौराष्ट्र, सौबीर, मत्स्य और कुरुजाङ्गल देशको पारकर यमुनाके तटपर उपस्थित हुए। वहाँपर भगवान् श्रीवासुदेवके अनुचर (सेवक), नीतिशास्त्रको जाननेवाले, बृहस्पतिके पूर्व शिष्य परमभागवत उद्धवजीके साथ विदुरजीका साक्षात्कार हुआ। तब विदुरजीने उद्धवजीसे श्रीकृष्ण और उनके आश्रित ज्ञाति (बन्धु-बान्धवों) की कुशलताके विषयमें पूछा तथा भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा अधार्मिक व्यक्तियोंके विनाश और भक्तोंके अभीष्ट प्रयोजनको पूर्ण करनेके लिए उनकी प्रपञ्चमें अवतरण करनेकी लीलाका उल्लेख करके उन्होंने श्रीउद्धवसे भगवान्‌की कथाको श्रवण करनेकी इच्छा प्रकटित की।

तब श्रीउद्धवने कहा—"हे विदुर! भगवान् श्रीकृष्णके अन्तर्धान होनेके साथ-साथ ही हमारे घरकी समस्त शोभा ही चली गयी है। हाय! श्रीकृष्ण सहित एक साथ रहकर भी यादवगण उन्हें स्वयं-भगवान्‌के रूपमें नहीं जान पाये, अपितु यादवोंने उन्हें केवलमात्र यदुश्रेष्ठके रूपमें जानकर ही उनका सम्मान किया। इसका कारण है कि ऐश्वर्यज्ञानसे मिश्रित सेवा-बुद्धिमें गोकुलपतिके माधुर्यकी स्फूर्ति नहीं होती। यही श्रीकृष्ण-मूर्त्ति गोकुलका नित्यधन है तथा चित्-शक्तिके प्रभावसे प्रपञ्चमें प्रकटित हुई है। ये मूर्त्ति ही मर्त्त्यलीलाके उपयोगी है। व्रजरमणियाँ तथा समस्त भुवनोंके सभी प्राणी श्रीकृष्णकी इस मोहनमूर्त्ति द्वारा आकृष्ट हैं, यहाँ तक कि वह मूर्त्ति अपने माधुर्यमय

स्वरूपसे स्वयं श्रीकृष्णमें भी विस्मय उत्पन्न करती है। श्रीकृष्णने सभी प्राणियोंके अधिपति तथा तीनों शक्तियोंके अधीश्वर, असमोर्ध्व पुरुष होकर भी उग्रसेनके भृत्य (सेवक) होनेका अभिनय किया है। जिन्होंने दुष्ट पूतना तकको धात्री गति प्रदान की, उन श्रीकृष्णके अतिरिक्त और कौन इतना दयालु और शरण लेने योग्य हो सकता है। श्रीकृष्णने अपने भक्तोंपर कृपा करनेके लिए ही विविध लीलाएँ की हैं। उन्होंने व्रजमें विविध प्रकारकी बाल्य और कौमार लीलाओंका प्रदर्शनकर श्रीबलदेव सहित मथुरामें आगमन किया।

"श्रीकृष्णने मथुरामें कंसवध आदि विविध लीलाएँ कीं। उन्होंने मथुरासे द्वारका जाकर सांख्य अर्थात् प्रकृति-पुरुषके विवेक द्वारा लोक और वेदधर्मकी शिक्षा दी। द्वारकामें श्रीकृष्ण मर्त्यलोक, अमरलोक, यदुगण और पुर-रमणियोंको प्रसन्न करते हुए विहार करते थे।

"किसी एक समय यदु और भोज वंशके कुमार बालकोंने द्वारकापुरीमें क्रीड़ा करते-करते मुनियोंको कुपित कर दिया, जिसके फलस्वरूप मुनियोंने उन्हें शाप दे दिया। उसके कुछ दिनोंके पश्चात् ही वृष्णि, भोज, अन्धक इत्यादि यादवगण दैवी मायासे मोहित होकर प्रभास-तीर्थमें गये तथा वहाँ स्नान-तर्पणादिके उपरान्त पैष्टी मदिराके[१] पानसे उनका ज्ञान भ्रष्ट होनेपर उन्होंने परस्पर विवाद आरम्भ कर दिया एवं सूर्यास्तके समयपर उनके संहारका क्रम आरम्भ हुआ। श्रीभगवान् आत्म-मायासे यादवोंकी ऐसी गतिको देखकर एक वृक्षके नीचे बैठ गये।

"श्रीकृष्णने अपने कुलके संहारकी अभिलाषा करके पहलेसे ही मुझे बदरिकाश्रम जानेको कहा था। मैं उनके अदर्शनको सहन करनेमें असमर्थ होकर उनके सङ्गको प्राप्त करनेके अभिप्रायसे उन्हें ढूँढ़ने लगा और ढूँढ़ते-ढूँढ़ते उन्हें उक्त वृक्षके नीचे बैठे देखा। उसी समय वहाँ महर्षि मैत्रेय मुनि आकर उपस्थित हुए। श्रीकृष्ण उनके समक्ष ही मुझे कहने लगे—'हे उद्धव! पूर्वजन्ममें तुम वसु थे तथा तुमने विश्वस्रष्टा प्रजापति और वसुओंके यज्ञमें मेरी आराधना की थी, इसलिए इस जन्ममें तुमने मेरी कृपा प्राप्त की है। अतः यही तुम्हारा

[१] आटे अथवा चावलके मांडसे बनी मदिरा।

अन्तिम जन्म है। मैं अभी नरलोक परित्याग करके जा रहा हूँ। मैं पाद्म-कल्पमें सृष्टिके प्रारम्भमें ब्रह्माको जो परमज्ञान प्रदान करता हूँ, वही ज्ञान चतुःश्लोकी-भागवतके रूपमें उक्त होता है।' श्रीभगवान्‌के इस अनुग्रहको प्राप्तकर मुझमें उसी आत्मरहस्य प्रकाशक चतुःश्लोकीके प्रतिपाद्य भगवत्-ज्ञानको श्रवण करनेकी इच्छा हुई। तब भगवान्‌ने मुझे उसी परमज्ञानका उपदेश दिया (एकादश-स्कन्ध द्रष्टव्य है)। श्रीभगवान्‌के द्वारा प्रदत्त उस परमज्ञानको श्रवण करनेके बाद ही मैं यहाँ आ रहा हूँ, तथा यहाँसे बदरिकाश्रम जाऊँगा। वहाँपर नर-नारायण ऋषि दुश्चर (कठोर) तपस्याका आचरण कर रहे हैं।"

तदुपरान्त विदुरजीने श्रीउद्धवको जानेके लिए प्रस्तुत देखकर उन्हें चतुःश्लोकी-भागवतका कीर्त्तन करनेके लिए अनुरोध किया। इसपर श्रीउद्धवने विदुरजीको श्रीमैत्रेय ऋषिके निकट जानेको कहा।

यह सब वृत्तान्त सुनकर राजा परीक्षित्‌ने श्रीशुकदेव गोस्वामीसे पूछा—"वृष्णि और भोजवंशियोंका निधन होनेपर भगवान् श्रीकृष्णने भी अपनी प्रपञ्च-लीलाका परित्याग कर दिया था, तब फिर केवल श्रीउद्धवके ही बचे रहनेका क्या कारण था?" श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—श्रीकृष्णकी इच्छा ही यादववंशके ध्वंसका मूल कारण थी, ब्रह्मशाप तो एक उपलक्ष्यमात्र था। श्रीकृष्णने चिन्ता की कि उनकी अप्रकट लीलाके बाद एकमात्र उद्धव ही उनके विषयमें ज्ञान प्राप्त करने तथा लोगोंको उपदेश देनेके योग्य पात्र हैं, अतएव उद्धवका जगत्‌में अवस्थान करना उचित है। उद्धवजी श्रीकृष्णकी तुलनामें किञ्चित्‌मात्र भी कम नहीं हैं। भक्तराज विदुर उद्धवजीके मुखसे श्रीकृष्णसे सम्बन्धित कथाका श्रवणकर भागीरथीके तटपर श्रीमैत्रेय ऋषिके निकट उपस्थित हुए।

श्रीमैत्रेय ऋषिके निकट आकर विदुरजीने उनसे तत्त्वविषयक बहुत-से परिप्रश्न किये। उन्होंने तुच्छसुख प्रदान करनेवाले वर्णाश्रमधर्मकी कथाको श्रवण करनेके स्थानपर श्रीनारद आदि द्वारा कीर्त्तित समस्त कथाओंकी सार—श्रीकृष्णकथाको श्रवण करनेके लिए विशेष आग्रह प्रकाश किया। श्रीमैत्रेय ऋषि कहने लगे—"हे भक्तप्रवर विदुर! आपके प्रश्नों द्वारा जगत्‌का असीम मङ्गल होगा। आप पूर्वजन्ममें यम थे।

माण्डव्य मुनिके शापसे विचित्रवीर्यकी पत्नीके रूपमें ग्रहण की गयी दासीके गर्भसे सत्यवतीके पुत्र श्रीव्यासदेवके औरससे आपका जन्म हुआ है। आप श्रीभगवान्‌के द्वारा चिह्नित भक्त हैं। श्रीभगवान्‌ने स्वयं ही आपको तत्त्वज्ञानका उपदेश किया है। अपने वैकुण्ठ गमनकालमें भगवान्‌ने मुझे आपको इस ज्ञानका स्मरण करा देनेका आदेश दिया है। अब मैं भगवान्‌की स्वांश-माया द्वारा विस्तारित सृष्टि-स्थिति-प्रलय लीलाका वर्णन कर रहा हूँ—

"जीवजगत् की सृष्टि होनेसे पूर्व सृष्टिकी इच्छा भगवान्‌में ही अनुस्यूत (बद्ध) थी, इसलिए श्रीभगवान् नाना प्रकारके वैभवोंसे युक्त होकर भी एक अद्वयतत्त्वके रूपमें विराजित थे। सृष्टिसे पहले यह विश्व भी प्रकृतिके ईक्षणकर्त्ता पुरुषमें लीन था। श्रीभगवान्‌में चित्-शक्तिके नित्य ही देदीप्यमान रहनेके कारण मायाशक्ति सुप्त अवस्थामें थी। द्रष्टास्वरूप भगवान्‌की कार्य-कारणात्मिका शक्ति—मायाके द्वारा ही जगत् उत्पन्न होता है। श्रीभगवान् चिद्विलासयुक्त नित्यधाममें स्वतन्त्र स्वराट् पुरुषरूपमें सेवित होते हैं। अपने स्वांशभूत कारणार्णवशायी पुरुषके द्वारा ही वे अपनी अत्यक्त प्रकृतिमें जीवरूप वीर्यका आधान कराते हैं। उस प्रकृतिसे ही फिर महत्-तत्त्वादिके क्रमसे सृष्टि और उन तत्त्वोंके अधिष्ठात्री देवताओंकी सृष्टि होती है।"

श्रीमैत्रेय ऋषिने और भी कहा—"महत्-तत्त्वादिके परस्पर मिलित न होनेपर विश्वकी सृष्टि आदि कार्यमें उनकी असमर्थताको जानकर श्रीभगवान्‌ने अन्तर्यामी-स्वरूपसे एक ही साथ तेइस तत्त्वोंमें प्रवेश किया तथा उन तत्त्वोंकी क्रिया शक्तिको विकसित कर उन सबको एक साथ मिला दिया। इस प्रकारसे सम्मिलित होनेमात्रसे ही श्रीभगवान्‌की इच्छा-शक्तिकी प्रेरणासे इन समस्त तत्त्वोंने अपने-अपने अंशों द्वारा चराचर लोकके अवस्थान स्वरूप विराट्-देहको उत्पन्न किया। इस विराट्-मूर्त्तिने ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति और आत्मशक्ति विशिष्ट होकर जीवशक्ति द्वारा एक, प्राणशक्ति द्वारा दस और अध्यात्मशक्ति द्वारा तीन प्रकारसे अपनेको विभक्त किया। ये विराट् पुरुष ही सभी जीवोंकी आत्मा और परमात्माके आदि अवतार स्वरूप हैं।"

विदुरजी द्वारा श्रीमैत्रेय ऋषिसे इस समस्त कथाको श्रवणकर पुनः परिप्रश्न किये जानेपर श्रीमैत्रेयने उसके उत्तरमें कहा—"भगवान्‌की बहिरङ्गा-शक्ति माया द्वारा अनात्म प्रतीतिमें ही बद्धजीव क्लेश पाता है, आत्म-प्रतीतिसे युक्त शुद्धजीवात्माके लिए किसी भी प्रकारका क्लेश नहीं है। श्रीभगवान्‌के प्रति भक्तिमान होते ही बद्धजीवके समस्त प्रकारके कष्ट दूर हो जाते हैं।" इसके बाद विदुरजीने श्रीमैत्रेय ऋषिसे विराट्-पुरुषकी विभूति, प्रजापतियोंका विवरण तथा जीव और ईश्वरतत्त्व इत्यादि बहुत-से विषयोंको पूछा।

श्रीमैत्रेय ऋषिने विदुरजीके प्रश्नोंको श्रवणकर उनके निकट श्रीभगवान् द्वारा कीर्त्तित श्रीमद्भागवतका कीर्त्तन किया। भगवान् सङ्कर्षणने इस पुराणको सनत्कुमारादि ऋषियोंको, सनत्कुमारने सांख्यान ऋषिको, सांख्यान ऋषिने पराशर मुनिको और फिर बृहस्पतिको, पराशर मुनिने पुलस्त्यको और फिर पुलस्त्य ऋषिने मैत्रेय ऋषिके निकट इसका कीर्त्तन किया था तथा अब मैत्रेयने विदुरको इसका श्रवण कराया। जब भगवान् श्रीनारायण प्रलयजलमें अनन्त-शय्यापर शयन कर रहे थे, उस समय उनके नाभिकमलसे आत्मयोनि वेदमय श्रीब्रह्मा उत्पन्न हुए। स्वयं आविर्भूत होनेके कारण वे 'स्वयम्भू' नामसे जाने जाते हैं। ब्रह्माजी उस नाभिसे उत्पन्न कमलकी कर्णिकामें किसीको भी न देखकर उस स्थानके चारों ओर भ्रमण करने लगे। वहाँ भी किसीको न देखकर आकाशमें चारों ओर अपनी गर्दनको घुमाने लगे, उसी समय ही ब्रह्माजीके चार मुख हुए। ब्रह्माजी अपने अधिष्ठानतत्त्व, लोकतत्त्व, आत्मतत्त्वादिको न जान पानेके कारण कमलनालके छेदवाले पथ द्वारा श्रीनारायणकी नाभिके निकट जाकर भी कुछ नहीं जान पाये। तब उन्होंने अपने स्थानपर लौटकर दिव्य सौ वर्षों तक योगके अनुष्ठान द्वारा भगवत् तत्त्वज्ञानको प्राप्त किया और अपने हृदयमें शेषशायी भगवान्‌को विराजित देखा। तब ब्रह्माजी द्वारा प्रजाकी सृष्टि करनेकी इच्छासे दृष्टिपात करनेपर उन्होंने गर्भोदकशायी पुरुषके नाभिसरोवरमें स्थित अपने कारणस्वरूप कमलको, स्वयंको, प्रलयकालीन जल और वायु तथा आकाश—इन पाँच वस्तुओंको सृष्टि-क्रियाके कारण रूपमें देखा और सृष्टि करनेके लिए उन्मुख और अभिनिविष्ट चित्तसे भगवान्‌का स्तव करने लगे।

श्रीब्रह्माजी कहने लगे—"श्रीभगवान् एक अद्वयतत्त्व हैं, अतः उनसे पृथक् अन्य कोई सत्ता नहीं है। इस जगत्का वैचित्र्य श्रीभगवान्की बहिरङ्गा-शक्ति—मायाके गुणका परिणाम है। चित्-शक्तिके नित्य प्रकटित रहनेके कारण भगवान् प्रकृतिके समस्त गुणोंसे रहित हैं। वे समस्त अवतारोंके एकमात्र मूल कारण हैं। रजोगुणसे विभावित रहनेके कारण ब्रह्माजी प्रथमतः श्रीभगवान्का पूर्णस्वरूप देख नहीं पाये। स्वयंरूप भगवान् सृष्टि आदि कार्योंमें उदासीन रहते हैं और मायाधीश कारणार्णवशायी पुरुष ही मायाके प्रति ईक्षण द्वारा सृष्टि-कार्य सम्पन्न करते हैं। कुतर्कमें निष्ठ व्यक्तिगण श्रीभगवान्के सच्चिदानन्द सविशेष स्वरूपका आदर नहीं कर पाते। शुद्धभक्तिके साथ भगवान्की लीलाका श्रवण और उनके चरणोंमें सम्पूर्ण रूपसे शरणागति होनेसे जीवके समस्त प्रकारके अनर्थोंका नाश हो जाता है और उसे परम मङ्गलकी प्राप्ति होती है।" सत्यलोकमें अवस्थित होकर भी ब्रह्माजीको कालसे भय हुआ और भगवत्-प्राप्तिके लिए यज्ञानुष्ठानादि तपस्या करनी पड़ी।

श्रीब्रह्माने गर्भोदकशायी पुरुषसे पूर्व-पूर्व कल्पोंकी भाँति सृष्टि करनेका सामर्थ्य प्राप्त करनेके लिए प्रार्थना की। गर्भोदकशायी पुरुषके आदेशानुसार ब्रह्माजीने दिव्य सौ वर्षों तक तपस्या की और फिर उन्होंने कमलनालको ही त्रिभुवन रूपमें तीन भागोंमें विभक्त किया। गुणोंके महत्-तत्त्वादि परिणाम द्वारा जो व्यक्त होता है, वही 'काल' है। वह काल आदि-अन्त शून्य है। उसे निमित्त कारण बनाकर ईश्वरने 'आत्म' शब्दवाच्य विश्वकी सृष्टि की। यह विश्व ईश्वरकी सृष्टि आदि शक्तियोंके साथ उनमें लीन था, किन्तु बादमें काल द्वारा प्रकाशित हुआ। विश्वकी सृष्टि नौ प्रकारकी है तथा प्राकृत और विकृत—ये दोनों सृष्टिका दसवाँ प्रकार हैं। इस रूपमें दस प्रकारकी सृष्टिका वर्णन कर श्रीमैत्रेय ऋषि विदुरजीके समक्ष वेश (आश्रम) और मन्वन्तरका वर्णन करने लगे।

इसी प्रसङ्गमें श्रीमैत्रेय ऋषिने 'परमाणु' और 'परम महत्'—इन दो शब्दोंकी व्याख्याकर उनके लक्षणों द्वारा प्रथमतः कालका निरूपण किया और फिर युग-मन्वन्तरादिसे कल्प-मानादिका भेद वर्णन किया।

उन्होंने यह भी बतलाया कि जब ब्रह्माजीकी परमायु तक क्षीण हो जाती है, तब कालसे भयभीत ब्रह्माजी भी विषयभोगसे विरत होकर श्रीभगवान्‌की उपासना करते हैं, अतः फिर भोगोंमें आसक्त और अल्प आयु वाले मनुष्य किस साहससे भगवत्-सेवासे विमुख होते हैं? देह, गृहादिमें अभिमान रखनेवाले व्यक्तिके ऊपर ही कालशक्तिका आधिपत्य होता है। जिनमें करोड़ों-करोड़ों ब्रह्माण्ड प्रविष्ट रहकर परमाणुके तुल्य लक्षित होते हैं, पण्डितगण उन्हें 'ब्रह्म' कहते हैं। ये ब्रह्म ही कारणार्णवशायी विष्णुका धाम अर्थात् अङ्गकान्ति है।

तदुपरान्त श्रीमैत्रेय ऋषि ब्रह्माजीकी सृष्टिके विषयका वर्णन करते हुए कहने लगे—ब्रह्माजीने सृष्टिसे पूर्व तमः, मोह, महामोह, तामिस्र, अन्धतामिस्र इत्यादि अज्ञानवृत्तियोंकी सृष्टि की। इसके द्वारा भी सन्तुष्ट नहीं होनेपर उन्होंने चतुःसनकी सृष्टि की। ये चतुःसन ऊर्ध्वरेता थे, अतः प्रजासृष्टिके विषयमें उदासीनता प्रकाश करनेके कारण ब्रह्माजीको क्रोध उत्पन्न हुआ। तब उनकी दोनों भ्रूओंके बीचसे नीले और लाल रङ्गके एक पुरुष रोते-रोते आविर्भूत हुए। उन पुरुषने ब्रह्माजीसे अपने नाम और स्थानादिके विषयमें प्रश्न किया। तब ब्रह्माजीने उनकी रोदन क्रियासे उनका 'रुद्र' नाम निर्देश किया तथा यह भी बतलाया कि वे मन्यु, मनु, शिव इत्यादि और भी दस नामोंसे तथा उनकी पत्नी रुद्रानी, अम्बिका आदि नामोंसे विख्यात होगी। इस रुद्रसे जगत् ग्रासकारी असंख्य रुद्रोंकी सृष्टि होनेपर ब्रह्माजीने भयभीत होकर पूर्वोक्त (मूल) रुद्रको जगत्-मङ्गलकारी तपस्याके प्रभावसे सृष्टि करनेका अनुरोध किया।

श्रीब्रह्माके द्वारा लोक-सृष्टिकी चिन्तामें रत रहनेपर उनके विभिन्न अङ्गोंसे मरीचि आदि दस पुत्र तथा पीठसे अधर्म और काम-क्रोधादि अनर्थोंकी उत्पत्ति हुई। देवहुतिके पति कर्दम मुनिने उनकी छायासे जन्म-ग्रहण किया। वाक् नामकी उनकी एक मनोहारिणी कन्या भी उत्पन्न हुई थी। ब्रह्माके द्वारा अपनी पुत्रीके प्रति कामोन्मत्त होनेपर वे अपने पुत्रों द्वारा लज्जित हुए और फलस्वरूप उन्होंने अपनी तात्कालिक तनुका त्याग कर दिया। ब्रह्माकी वही तनु तमोमय (अन्धकारमय) कोहरा हुई। अन्य एक समयमें ब्रह्मा द्वारा सृष्टिकी

चिन्तामें रत होनेपर उनके चार मुखोंसे चार वेद, चातुर्होत्र, उपवेद, कर्मतन्त्र, धर्मके चार पद, आश्रमोंकी वृत्तियाँ, पञ्चमवेद इतिहास एवं भिन्न-भिन्न स्थानोंसे सावित्र्यादि गार्हस्थ्य, वैखानसादि चार प्रकारके वानप्रस्थ तथा कुटीचकादि चार प्रकारकी संन्यास अवस्था उत्पन्न हुई। इस प्रकारसे क्रमशः व्याहृतित्रय (भू, भुवः, स्वः), छन्दः और सप्तस्वरादि उत्पन्न हुए। उन ब्रह्माकी देह दो भागोंमें विभक्त होकर एक भाग 'स्वायम्भुव मनु' नामसे पुरुष तथा दूसरा भाग 'शतरूपा' नामकी स्त्री हुई। इन मनुके उत्तानपाद और प्रियव्रत नामक दो पुत्र तथा आकूति, देवहूति और प्रसूति नामकी तीन कन्याएँ उत्पन्न हुईं। रुचिके साथ आकूतिका, कर्दमके साथ देवहूतिका तथा दक्षके साथ प्रसूतिका विवाह हुआ। इनके वंशजोंके द्वारा ही यह जगत् परिपूर्ण है।

तदुपरान्त श्रीमैत्रेय ऋषि विदुरजीको भगवद्भक्त मनुके सृष्टि प्रकरणादि बतलाने लगे—मनुके जन्म-ग्रहण करते ही पिता ब्रह्माजीने उन्हें प्रजासृष्टिके लिए आदेश दिया। तब मनुने ब्रह्माजीसे जलमें मग्न पृथ्वीके उद्धारके लिए प्रार्थना की। ब्रह्माजी द्वारा इस विषयमें चिन्तित होनेपर भगवान् श्रीविष्णु उनकी नाकके छिद्रसे एक सूक्ष्म वराहमूर्त्ति धारण करके निकले और देखते-ही-देखते उस वराहमूर्त्तिने भीषणाकार धारणकर रसातलमें प्रवेश किया। क्षणकालमें ही उन्होंने पृथ्वीको अपने दातोंके अग्रभागपर रखकर उसे रसातलसे बाहर निकाला और फिर जलमें ही हिरण्याक्ष दैत्यका वध किया। इसपर देवताओंने वराहमूर्त्तिका स्तव किया। वराहदेव पृथ्वीको जलके ऊपर रखकर अन्तर्हित हो गये।

विदुरजी द्वारा हिरण्याक्षके वधका वृत्तान्त और वराहावतारके कारण इत्यादिको श्रवण करनेकी इच्छा करनेपर मैत्रेय ऋषि कहने लगे—एक दिन सन्ध्याकालमें दाक्षायणी दितिने मरीचिपुत्र कश्यपके निकट रमणकी प्रार्थना की। कश्यप द्वारा महाभयङ्कर रुद्राधिकार-ग्रस्त अशुभ सन्ध्याकालके दोषका वर्णन करनेपर भी वे दितिका निवारण न कर सके और उन्होंने उसकी मनोभिलाषाको पूर्ण किया। किन्तु, नियमभङ्ग करनेके कारण कश्यपका चित्त असन्तुष्ट था, अतः उन्होंने

दितिको अभिशाप देते हुए कहा—तुम्हारे गर्भसे अभद्र स्वरूपवाले दो अधम और अत्याचारी पुत्र जन्म लेंगे और वे वधके योग्य होंगे। ये दोनों पुत्र ही हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु थे। दितिने इन दोनों पुत्रोंकी भगवान् श्रीविष्णुके हाथोंसे ही निहत होनेकी प्रार्थना की। कश्यपने दितिकी कातरतासे सन्तुष्ट होकर कहा—"तुम्हारे पुत्र हिरण्यकशिपुका प्रह्लाद नामक एक हरिभक्त पुत्र होगा तथा भगवान् विष्णु ही तुम्हारे दोनों पुत्रोंका वध करेंगे।"

इसके बाद मैत्रेय ऋषि विदुरजीको हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपुके जन्मका रहस्य बतलाने लगे—दिति द्वारा सौ वर्षों तक कश्यप ऋषिके वीर्यको धारण करनेके कारण दितिके गर्भके तेजसे देवतागण भयभीत होकर ब्रह्माजीके निकट अभयकी प्रार्थना करने लगे। ब्रह्माजी देवताओंको आश्वासन देकर दितिके गर्भमें स्थित उन दोनों दैत्योंके पूर्वजन्मका वृत्तान्त वर्णन करने लगे—एक समय चतुःसन (चार कुमारों) ने भगवान्के दर्शनके उद्देश्यसे वैकुण्ठधाममें गमन किया। वहाँ छह कक्षोंको पार करनेपर सातवें कक्षमें उनका जय और विजय नामक दो द्वारपालोंसे सामना हुआ। इन दोनों द्वारपालोंने चारों कुमारोंको उलङ्ग (नग्न) देखकर उपहासपूर्वक उन्हें प्रवेश करनेसे निषेध किया। द्वारपालोंके ऐसे विषम स्वभावको देखकर तथा भगवान्के दर्शनमें बाधाप्राप्त होनेके कारण चतुःसनने उन्हें अभिशाप दिया—"भेदबुद्धिके कारण तुम वैकुण्ठधामसे भ्रष्ट होकर काम-क्रोधादिसे परिपूर्ण पापीयसी योनिमें जन्म ग्रहण करो।" इस प्रकारसे अभिशाप प्राप्त होनेपर उन द्वारपालोंने चार ऋषियोंसे श्रीहरिके स्मरणमें बाधा उपस्थित न हो, ऐसी प्रार्थना की। उसी समय भगवान् श्रीनारायण चतुःसनके क्रोधके कारणको जानकर लक्ष्मी सहित वहाँ उपस्थित हुए।

श्रीनारायणने मुनियोंको सान्त्वना प्रदान करते हुए कहा—"आज इन जय-विजयने आपके जैसे भक्तोंका असम्मान कर मेरी ही अवज्ञा की है। आपलोगोंने उन्हें जो दण्ड दिया है, वह मेरे द्वारा सम्पूर्ण रूपसे ही अनुमोदित है। जो व्यक्ति भक्तोंके प्रति द्रोहका आचरण करता है, वह लोकेश्वर होनेपर भी वधके योग्य है।" मुनिगण जय-विजयको अभिशाप प्रदान करनेके कारण सन्तप्त हो गये और

अपने प्रति भगवान्से उचित दण्ड देनेके लिए अनुरोध करने लगे। भगवान्ने कहा—"तुमलोगोंके द्वारा दिया गया यह शाप मेरे द्वारा ही सृष्ट है।" फिर भगवान्ने जय-विजयसे कहा—"तुम दोनों शीघ्र ही ब्रह्मशापसे मुक्त होकर मेरे समीप आ सकोगे।" जय और विजय वैकुण्ठसे पतनोन्मुख होकर शोभा और गर्व—दोनोंसे रहित हो पड़े। ये जय-विजय ही कश्यप पुत्र हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु हुए।

दितिने सौ वर्षों तक गर्भ धारणकर इन दो जुड़वा पुत्रोंको जन्म दिया। दोनों पुत्र मूर्त्तिमान अमङ्गल स्वरूप हो उठे। उनके अत्याचारोंसे भयभीत होकर विश्ववासी महाप्रलयकी आशङ्का करने लगे। हिरण्याक्षके द्वारा पहले जन्म लेनेपर भी पिताके शुक्र (वीर्य) पातके क्रमानुसार हिरण्यकशिपु ही ज्येष्ठ हैं। हिरण्याक्ष हिरण्यकशिपुका अत्यन्त प्रिय था। हिरण्यकशिपुने ब्रह्माके वरसे अमर होनेपर त्रिलोकीको अपने वशमें कर लिया। हिरण्याक्ष युद्धकामी होकर हाथमें गदा लेकर सर्वत्र परिभ्रमण करने लगा। स्वर्ग और मर्त्यलोकमें अपने समान किसीको भी न देखकर उसने समुद्रगर्भमें—पातालमें प्रवेश किया। पातालके अधिपति वरुणदेव हिरण्याक्षके प्रतिद्वन्दी होनेमें समर्थ नहीं थे, अतः वरुणने यह जानकर उसके उपयुक्त प्रतिपक्षके रूपमें भगवान् श्रीविष्णुका ही निर्देश किया।

हिरण्याक्षने श्रीनारदसे भगवान् श्रीहरिके गन्तव्य स्थानसे अवगत होकर रसातलमें प्रवेश किया। तब उस समय भगवान् श्रीविष्णुने वराहमूर्त्ति धारणकर अपने दाँतोंके अग्रभागपर पृथ्वीको उठा रखा था। हिरण्याक्ष द्वारा भगवान्के साथ युद्ध करनेकी इच्छा करनेपर भगवान् वराहदेवने जलके ऊपरी भागपर आधारशक्तिको स्थापित कर वहाँ पृथ्वीको संरक्षित किया और फिर वे युद्धके लिए प्रस्तुत हुए। हिरण्याक्षके साथ युद्धमें बहुत समय बीतनेके कारण तथा देवताओंके भय और अधैर्यको देखकर भगवान् वराहदेवने शीघ्र ही हिरण्याक्षको निहत करनेके लिए 'सुनाभ' चक्र द्वारा दैत्यके समस्त प्रकारके अस्त्र-शस्त्र और उसकी आसुरी मायाको नष्ट कर दिया। अन्तमें उन्होंने अपने पदाघातसे हिरण्याक्षको भी विनष्ट कर डाला। यह देखकर ब्रह्मादि देवताओंने वराहदेवकी बहुत प्रकारसे स्तव-स्तुति की।

तदनन्तर श्रीसूत गोस्वामी शौनकादि ऋषियोंके समक्ष विदुर-मैत्रेय संवाद द्वारा इस प्रकारसे भगवान्‌की महिमाका कीर्त्तन कर पुनः पूर्ववर्णित मनुवंशका विवरण कहने लगे।

श्रीमैत्रेय ऋषि विदुरजीके अत्यधिक आग्रहवशतः स्वायम्भुव मनुके वंश-विस्तारका वर्णन करने लगे—ब्रह्माजी द्वारा प्रजापति कर्दमको प्रजासृष्टिके लिए कहनेपर इन ऋषिवरने सरस्वतीके तटपर जाकर दस हजार वर्षों तक श्रीहरिकी तपस्या की। श्रीभगवान्‌ने सन्तुष्ट होकर उन्हें दर्शन दिया तथा ऋषिराजकी प्रजासृष्टिके उद्धेश्यसे पत्नी प्राप्त करनेकी कामनाको पूर्णकर कहने लगे—"स्वायम्भुवकी कन्या देवहूति तुम्हारी पत्नी होगी और देवहूतिके गर्भसे उत्पन्न नौ कन्याएँ मरीचि आदि प्रजापतियोंकी पत्नियाँ होंगी। कर्दम और देवहूतिका 'कपिल' नामसे एक पुत्र प्रकटित होकर सांख्य-कर्त्ताके रूपमें जगत्‌में विख्यात होगा।" ऐसा कहकर भगवान् अन्तर्हित हो गये। तब कर्दम मुनि बिन्दुसरोवरके तटपर रहने लगे। इसी बीचमें मनु अपनी पत्नी शतरूपा और कन्या देवहूतिके साथ वहाँ उपस्थित हुए।

स्वायम्भुव मनुने महर्षि कर्दमसे अपनी कन्या देवहूतिको पत्नीके रूपमें स्वीकार करनेके लिए अनुरोध किया। कर्दम ऋषिने इससे सहमत होकर मनुसे कहा कि वे देवहूतिके सन्तान-उत्पत्ति काल तक ही ग्रह-आश्रममें वास करेंगे और फिर श्रीहरिकी आराधनाके लिए प्रव्राजक-वृत्ति ग्रहण करेंगे। मनु शास्त्रविधिके अनुसार अपनी कन्याको उपयुक्त पात्रको देकर ब्रह्मावर्त्तमें अपनी बर्हिष्मति नामक पुरीमें लौट आये।

कर्दम ऋषिने पतिव्रता पत्नीकी प्रार्थनाके अनुसार योगबलसे एक कामग (इच्छानुसार गतिसे गमन करनेवाला) विमान लाकर उसमें देवहूतिके साथ विहार किया और अपनेको नौ भागोंमें विभक्तकर देवहूतिके गर्भमें वीर्यका आधान किया। इससे देवहूतिकी नौ सुन्दर कन्याएँ उत्पन्न हुईं। कर्दम द्वारा अपने पूर्वकथित सङ्कल्पानुसार प्रव्रज्याके लिए प्रस्तुत होनेपर देवहूतिको भोगके प्रति निर्वेद हो गया।

देवहूतिके निर्वेदपूर्ण वचनोंको सुनकर कर्दम ऋषिने सन्तुष्ट होकर उसे भगवान्‌की आराधना करनेका उपदेश दिया। देवहूतिने भी बहुत

वर्षों तक श्रीहरिकी आराधना की। देवहूतिके गर्भसे भगवान् श्रीहरि अपने शक्त्यावेश अवतार श्रीकपिलदेवके रूपमें उदित हुए। ब्रह्माजी कर्दम ऋषिके प्रजासृष्टिके कार्योंसे सन्तुष्ट होकर मरीचि आदि नौ ऋषियोंके साथ कर्दमके आश्रममें आये और उन्होंने कर्दमकी नौ कन्याओंको उन नौ प्रजापतियोंको प्रदान करनेका आदेश दिया। ब्रह्माजीके आदेशानुसार कर्दमने अपनी कलादि कन्याओंको मरीचि आदि प्रजापतियोंको समर्पण किया। तदुपरान्त कर्दम ऋषिने भगवान् श्रीकपिलदेवका स्तव किया और उनकी अनुमति लेकर वनमें गमन किया।

शौनकादि ऋषियों द्वारा कपिलदेवके विषयमें और भी सुननेकी इच्छा करनेपर श्रीसूतगोस्वामीने विदुर-मैत्रेय संवादके वर्णन-प्रसङ्गमें कहा—"कर्दम ऋषिके प्रव्रज्यामें गमन करनेपर कपिलदेव देवहूतिके मङ्गलके लिए बिन्दुसरोवरके तटपर अवस्थान करने लगे। देवहूतिने ब्रह्माजीके वाक्योंको स्मरणकर कपिलदेवके निकट प्रणिपात और परिप्रश्न सहित आत्म-अनात्म विवेक तथा प्रकृति और पुरुषके तत्त्वकी जिज्ञासा की। इसके उत्तरमें श्रीकपिलदेवने कर्म, ज्ञान और भक्तियोगमेंसे एकमात्र भक्तियोगकी ही श्रेष्ठता और उसके परम कल्याणको प्रदान करनेके सामर्थ्यका वर्णन किया। असत् विषयोंमें आसक्ति ही जीवका बन्धन है तथा शुद्धभक्त और भगवान्‌के चरणोंमें आसक्ति ही जीवकी मुक्ति है। भगवान्‌के शुद्धभक्तोंके मुखसे हरिकथाके श्रवणके फलसे समस्त प्रकारके अनर्थ दूर हो जाते हैं तथा श्रीकृष्णके चरणोंमें रति और प्रेमभक्तिकी प्राप्ति होती है।

इसके बाद कपिलदेवने देवहूतिको प्रकृति-पुरुषके तत्त्वज्ञानके लिए महत्-तत्त्वादिकी उत्पत्तिका वर्णन करते हुए सांख्य-योगका वर्णन किया।

तदुपरान्त भगवान् कपिलदेवने प्रकृति-पुरुष विवेक द्वारा मोक्षरीतिके वर्णनके प्रसङ्गमें कहा कि शुद्ध-जीवात्मा देहमें रहकर भी प्राकृत गुणोंके साथ निर्लिप्त भावसे रह सकता है। किन्तु, जीवके प्राकृतिक गुणोंमें आसक्त होते ही वह अहङ्कार-विमूढ़ात्मा हो जाता है, जिसके फलस्वरूप उत्तम-अधम बहुत-सी योनियोंमें भ्रमण करते हुए उसे

संसारकी गति प्राप्त होती है। भगवान्से इतर वस्तुओंमें ऐसी आसक्ति तीव्र भक्तियोग और वैराग्यके द्वारा क्रमशः दूर होती है।

इसके बाद कपिलदेवने देवहूतिके सावलम्बन-योग (बीज सहित योग अर्थात् भगवत्-श्रीविग्रहके ध्यानका अवलम्बनपूर्वक योग) का लक्षण वर्णनकर निर्मल योग द्वारा एकाग्र हुए चित्तमें अप्राकृत श्रीमूर्त्तिके ध्यानकी कथाका वर्णन किया। फिर उन्होंने ध्यानका क्रमपन्था और श्रीभगवान्की ध्येयमूर्त्तिका वर्णन किया। योगमिश्रा भक्तिके शुद्धाभक्तिमें परिणत होनेपर योग साधन क्रिया परित्यक्त हो जाती है तथा कैवल्यकी कामनासे चित्त क्रमशः निर्मुक्त हो जाता है। अपने स्वरूपकी उपलब्धि करनेवाले साधकोंको देहादिकी कोई स्मृति नहीं रहती, केवल पूर्व संस्कारवशतः ही उनका आरब्धकर्म कृत होता है। भक्तियोगी समस्त प्राणियोंमें परमात्माको और परमात्मामें समस्त प्राणियोंको देखते हैं।

तदन्तर देवहूति द्वारा भक्तियोगके प्रकार, जीवोंकी विचित्र संसार गति तथा भगवान्के स्वरूपके विषयमें श्रवण करनेके इच्छुक होनेपर कपिलदेव तामसिक, राजसिक और सात्त्विकके भेदसे तीन प्रकारके सकाम और सगुण भक्तिके लक्षणोंको कहकर निर्गुण और निष्काम शुद्धभक्तिके लक्षण कहने लगे। भगवान्के गुण श्रवणमात्रसे उनके प्रति जीवात्माकी अहैतुकी, अव्यवहिता (व्यवधान रहित) और स्वाभाविकी गति ही शुद्धभक्तिके लक्षण हैं। भगवान्के भक्तोंको अनायास ही सालोक्यादि मुक्ति प्राप्त होनेपर भी वे उसे स्वीकार नहीं करते। भगवान्की सेवाके अतिरिक्त उनकी अन्य कोई भी अभिलाषा नहीं होती। इसके बाद कपिलदेवने श्रीअर्चा-पूजा और वैष्णवोंकी श्रेष्ठता इत्यादि विषयोंका वर्णन किया।

कपिलदेवने बहिर्मुख जीवोंकी चेष्टाका वर्णन करते हुए कहा कि जीव अनित्य वस्तुमें नित्य वस्तुका अभिमानकर उससे सुख प्राप्त करनेकी आशा करता है, किन्तु फलमें उसे दुःख ही प्राप्त होता है। वह जो-जो योनि प्राप्त करता है, उस-उस योनिमें प्राप्त देह-गृहादिमें अत्यन्त आसक्तिके कारण वह गृहव्रत हो पड़ता है तथा नाना प्रकारके दुःख और कष्टोंको भोगकर जीवनके अन्तमें यमदण्ड प्राप्त

करता है। तत्त्ववेत्तागण कहते हैं कि इस भोगभूमिकामें ही स्वर्ग और नरक वर्त्तमान हैं, क्योंकि नरक-यातना इस जगत्‌में भी दिखायी देती है। गृहव्रत पाप-आचरणकारी नाना प्रकारकी अधम योनियोंमें निक्षिप्त होकर बहुत यातना भोगते हैं और भोगके अन्तमें पुनः नरलोकमें आगमन करते हैं।

भगवान् कपिलदेव और भी कहने लगे कि जीवके पूर्वकृत भोगमय कर्मोंके फलसे ही उसका गर्भवास होता है। सप्तम मासमें गर्भस्थ बद्धजीव समस्त अङ्गोंसे पूर्ण हो जाता है तथा ज्ञानके उदय होनेके साथ ही गर्भ-यन्त्रणा अनुभव करने लगता है। उस समय वह पुनः गर्भवाससे भयभीत होकर भगवान्‌की स्तव-स्तुति करने लगता है तथा भगवान्‌के भजनमें कृत-सङ्कल्प होकर ऐसी कातरतासे प्रार्थना करता है कि जिससे उसे फिर गर्भवासरूप दुःख न भोगना पड़े। फिर दसवें मासमें वह जीव गर्भसे बाहर आकर जननीके गर्भमें अपने वासकी समस्त स्मृतिको भूलकर अन्य विषयोंमें आसक्त हो पड़ता है। आयुकी वृद्धिके साथ-साथ क्रमशः असत्-सङ्गके फलसे नाना प्रकारके पापाचरणमें प्रवृत्त होता है और फलस्वरूप पुनः नरकभोग करता है। आत्मवान पुरुष असत्-सङ्गको तृण द्वारा ढके हुए कुएँकी भाँति मृत्युस्वरूप देखते हैं। भगवान्‌की सेवाके अभिलाषी व्यक्तिके लिए स्त्रीसङ्ग और स्त्रीसङ्गीका सङ्ग सम्पूर्ण रूपसे परित्यज्य है।

गृहव्रत व्यक्ति त्रैवर्गिक (धर्म-अर्थ-काम) धर्मका याजन करके भगवान्‌की सेवासे विमुख तथा आत्मेन्द्रिय-तर्पणके मूलमें कर्मजड़ होकर यज्ञादि द्वारा प्राकृत देवता और पितृपुरुषोंका अर्चन और व्रतधारण करता है। इसके फलसे वह स्वर्गादि लोक प्राप्त करता है तथा पुण्योंके क्षय होनेपर पुनः अधपतित होता है अर्थात् मृत्युलोकमें आगमन करता है। महाप्रलयके समय इन समस्त लोकोंके साथ-साथ इन लोकोंको प्राप्त करनेवाले प्राणियोंका लय हो जाता है। ब्रह्मादि देवतागण तक भक्तिके अभावमें स्वतन्त्र ईश्वर होनेके अभिमानवशतः तथा भगवान्‌के स्वरूपमें मायिक-बुद्धि करके संसारमें लौटकर आते हैं। भक्तिके बिना किसी भी पथमें चरम प्रयोजनकी प्राप्ति नहीं होती है। कर्म और ज्ञानादिके द्वारा प्रपञ्चके सङ्गसे उदासीनतामात्र प्राप्त

होती है। भगवान्‌के अतिरिक्त किसी दूसरी वस्तुमें अभिनिवेशवशतः ही इन्द्रियोंसे अतीत भगवान् इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य स्वरूपमें प्रतीत होते हैं। श्रद्धारहित व्यक्ति अथवा भगवान् और भक्तोंके विद्वेषियोंके समक्ष ये समस्त कथाएँ वर्णनीय नहीं है।

भगवान् कपिलदेवसे इन समस्त तत्त्वोंसे सम्बन्धित कथाओंको सुनकर देवहूतिके मोहका आवरण दूर हो गया। उसने कपिलदेवको प्रणाम किया तथा उनका स्तव करते हुए कहा कि भगवान्‌के नामोंका श्रवण, अनुकीर्त्तन, स्मरण और वन्दनकारी चण्डालकुलमें उत्पन्न व्यक्ति भी जब भगवद्भक्तिसे हीन ब्राह्मणसे श्रेष्ठ है, तब फिर साक्षात् भगवान्‌के दर्शनकारीके विषयमें क्या कहा जाये? देवहूति भगवान् कपिलदेवके उपदेशानुसार भक्तियोगका आश्रय करके सरस्वतीके तटपर स्थित आश्रममें कठोर वैराग्यके अभ्यास द्वारा श्रीहरिकी आराधनामें नियुक्त हो गयी।

देवहूतिने जिस स्थानपर सिद्धि प्राप्ति की, वह स्थान 'सिद्धपद' के नामसे विख्यात है। योगके प्रभावसे उसके शरीरका समस्त धातुमल दूर हो गया और वह सिद्धजनों द्वारा सेवित सिद्धिदायिनी नदीके रूपमें भूतलपर प्रवाहित है। श्रीकपिलदेवने माता देवहूतिको उपदेश प्रदान करके पिताके आश्रमसे उत्तरकी ओर गमन किया और फिर गङ्गासागरके सङ्गममें नित्य समाधिस्थ होकर रहने लगे।



श्रीमद्भागवतम्

तृतीयः स्कन्धः

प्रथमोऽध्यायः

श्रीउद्धव और विदुरजीका मिलन और
उनके बीचमें कथोपकथन

श्रीशुक उवाच—

एवमेतत् पुरा पृष्टो मैत्रेयो भगवान् किल।
क्षत्त्रा वनं प्रविष्टेन त्यक्त्वा स्वगृहमृद्धिमत्॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे परीक्षित्! पूर्वकालमें विदुरजी समस्त सम्पत्तियोंसे युक्त अपने घरका परित्यागकर वनमें चले गये थे और उन्होंने योगैश्वर्यशाली महर्षि मैत्रेयसे वही प्रश्न पूछे थे, जो अभी आपने मुझसे पूछे हैं॥ १॥

यद्वा अयं मन्त्रकृद्वो भगवानखिलेश्वरः।
पौरवेन्द्रगृहं हित्वा प्रविवेशात्मसात्कृतम्॥ २॥

समस्त ईश्वरोंके भी ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण जब पाण्डवोंके दूत बनकर हस्तिनापुरमें गये थे, तब वे कौरव-राज दुर्योधनके महलोंको त्यागकर बिना बुलाये ही विदुरजीके घर चले गये थे। इस प्रकार भगवान्‌ने विदुरजीके घरको अपने ही घरके रूपमें अङ्गीकार किया था॥ २॥

श्रीराजोवाच—

कुत्र क्षत्तुर्भगवता मैत्रेयेणास सङ्गमः।
कदा वा सह संवाद एतद्वर्णय नः प्रभो॥ ३॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—हे प्रभो! कृपया मुझे यह बतलाइये कि भगवान् मैत्रेयजीके साथ महात्मा विदुरजीका मिलन कहाँपर हुआ था तथा किस समय उन दोनोंका परस्पर वार्त्तालाप हुआ था? ॥ ३ ॥

न ह्यल्पार्थोदयस्तस्य विदुरस्यामलात्मनः।
तस्मिन् वरीयसि प्रश्नः साधुवादोपबृंहितः॥ ४॥

शुद्धात्मा विदुरजी द्वारा महर्षि मैत्रेयसे पूछे गये प्रश्न साधुओंके द्वारा अनुमोदित तथा प्रशंसित हैं, अतः ऐसे श्रेष्ठ प्रश्नोंके उत्तर भी अवश्य ही साधारण अर्थको प्रकाशित करनेवाले नहीं होंगे॥ ४॥

श्रीसूत उवाच—

स एवमृषिवर्योऽयं पृष्टो राज्ञा परीक्षिता।
प्रत्याह तं सुबहुवित् प्रीतात्मा श्रूयतामिति॥ ५॥

श्रीसूतगोस्वामीने कहा—महाराज परीक्षित्‌के इस प्रकार पूछनेपर मुनियोंमें श्रेष्ठ एवं सर्वज्ञ श्रीशुकदेव गोस्वामी अत्यन्त प्रसन्न होकर बोले—महाराज! श्रवण कीजिये॥ ५॥

श्रीशुक उवाच—

यदा तु राजा स्वसुतानसाधून्
पुष्णन्नधर्मेण विनष्टदृष्टिः।
भ्रातुर्यविष्ठस्य सुतान् विबन्धून्
प्रवेश्य लाक्षाभवने ददाह॥ ६॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—(यह उस समयकी बात है) जब जन्मसे अन्ध राजा धृतराष्ट्रने अपने दुष्ट-पुत्रोंका अन्यायपूर्वक पक्ष लेते हुए अपने छोटे भाई पाण्डुके अनाथ बालकोंको लाक्षागृहमें भेजकर उसमें आग लगवाकर उन्हें दग्ध करनेकी चेष्टा की थी॥ ६॥

यदा सभायां कुदेवदेव्याः
केशाभिमर्षं सुतकर्म गर्ह्यम्।
न वारयामास नृपः स्नुषायाः
स्वास्रैर्हरन्त्याः कुचकुङ्कुमानि॥ ७॥

जिस समय उनका पुत्र दुःशासन उनके छोटे भाई पाण्डुके पुत्र महाराज युधिष्ठिरकी पटरानी द्रौपदीके केश पकड़कर उसे खींचते हुए भरी सभामें ले आया था, उस समय द्रौपदी क्रन्दन कर रही थी और आँसुओंकी धाराओंसे उसका वक्षःस्थल भीग गया था; किन्तु तथापि राजा धृतराष्ट्रने अपने पुत्रको ऐसा निन्दित कर्म करनेसे नहीं रोका॥ ७॥

द्यूते त्वधर्मेण जितस्य साधोः
सत्यावलम्बस्य वनं गतस्य।
न याचतोऽदात् समयेन दायं
तमो जुषाणो यदजातशत्रोः॥ ८॥

जब द्युतक्रीड़ामें दुर्योधनने सत्यका आश्रय लेनेवाले और सरल-स्वभावयुक्त राजा युधिष्ठिरको कपटतापूर्वक पराजित कर दिया, तब युधिष्ठिर अपनी प्रतिज्ञानुसार वनमें चले गये। वनसे लौट आनेपर युधिष्ठिर द्वारा पूर्व प्रतिज्ञाके अनुसार अपने पैतृक राज्यभागकी प्रार्थना करनेपर भी धृतराष्ट्रने मोहवशतः अजातशत्रु युधिष्ठिरको उनका न्यायोचित राज्यभाग नहीं दिया॥ ८॥

यदा च पार्थप्रहितः सभायां
जगद्गुरुर्यानि जगाद कृष्णः।
न तानि पुंसाममृतायनानि
राजोरु मेने क्षतपुण्यलेशः॥ ९॥

और हे परीक्षित्! जिस समय युधिष्ठिरने कलह मिटानेके लिए जगद्गुरु श्रीकृष्णको कौरवोंकी सभामें दूतके रूपमें भेजा था, उस समय भगवान्‌ने उस सभामें हितपरक और अमृतके समान सुमधुर वचन कहे थे। श्रीकृष्णके उन वचनोंको सुनकर भीष्म आदिको तो परमानन्दका अनुभव हुआ, किन्तु राजा धृतराष्ट्र और दुर्योधनने भगवान्‌के वचनोंका समादर नहीं किया, क्योंकि उन दोनोंके समस्त पुण्य नष्ट हो चुके थे॥ ९॥

यदोपहूतो भवनं प्रविष्टो
मन्त्राय पृष्टः किल पूर्वजेन।

अथाह तन्मन्त्रदृशां वरीयान्
यन्मन्त्रिणो वैदुरिकं वदन्ति॥ १०॥

बड़े भाई धृतराष्ट्रने जब विदुरजीसे परामर्श लेनेके लिए उन्हें अपने भवनमें बुलवाया, उस समय मन्त्रियोंमें श्रेष्ठ विदुरजीने धृतराष्ट्रके द्वारा पूछे जानेपर उन्हें जो सदुपदेश प्रदान किये थे, उन उपदेशोंको आज भी मन्त्रणामें विशारद लोग 'वैदुरिक' अर्थात् 'विदुर-वाक्य' अथवा 'विदुर-नीति' कहते हैं॥ १०॥

अजातशत्रोः प्रतियच्छ दायं
तितिक्षतो दुर्विषहं तवागः।
सहानुजो यत्र वृकोदराहिः
श्वसन् रुषा यत् त्वमलं बिभेषि॥ ११॥

विदुरजीने बड़े भाई धृतराष्ट्रसे कहा—हे महाराज! आपके द्वारा दी गयी असहनीय यातनाओंको भी जो चुपचाप सहन कर रहे हैं, आप उन अजातशत्रु राजा युधिष्ठिरको उनका हिस्सा दे दीजिये। आपको अत्यन्त भीत करनेवाला वह भीम तो साक्षात् कालसर्पके समान है। आपके द्वारा किये गये अत्याचारोंका बदला लेनेके लिए वह अपने भाइयोंके साथ क्रोधसे भरकर निरन्तर लम्बी-लम्बी साँसें छोड़ रहा है॥ ११॥

पार्थांस्तु देवो भगवान् मुकुन्दो
गृहीतवान् सक्षितिदेवदेवः।
आस्ते स्वपुर्यां यदुदेवदेवो
विनिर्जिताशेषनृदेवदेवः॥ १२॥

आप अपने अनेक पुत्र होनेका गर्व मत कीजिये, क्योंकि आपको पता नहीं है कि सर्वशक्तिमान भगवान् श्रीकृष्णने पृथापुत्र—पाण्डवोंको अपना लिया है तथा ब्राह्मण और देवता भी श्रीकृष्णके पक्षमें हैं। वे यदुवीरोंके आराध्यदेव इस समय अपनी राजधानी द्वारकापुरीमें विराजमान हैं तथा उन्होंने पृथ्वीके सभी बड़े-बड़े राजाओंको अपने अधीन कर लिया है॥ १२॥

स एष दोषः पुरुषद्विडास्ते
गृहान् प्रविष्टो यमपत्यमत्या।
पुष्णासि कृष्णाद्विमुखो गतश्री-
स्त्यजाश्वशैव्यं कुलकौशलाय॥ १३॥

जिसे आप पुत्र समझकर पोषण कर रहे हैं, वह दुर्योधन तो मूर्त्तिमान पापस्वरूपमें आपके घरमें घुसकर बैठा हुआ है। वह परमेश्वर श्रीकृष्णसे विद्वेष करनेवाला तथा उनसे विमुख है, अतः उसीके दुःसङ्गसे आप भी कृष्णविमुख होकर श्रीहीन हो रहे हैं। अतएव यदि आप अपने वंशका मङ्गल चाहते हैं, तो शीघ्र ही इस अमङ्गलस्वरूप दुर्योधनका त्याग कर दीजिये॥ १३॥

इत्यूचिवांस्तत्र सुयोधनेन
प्रवृद्धकोपस्फुरिताधरेण ।
असत्कृतः सत्स्पृहणीयशीलः
क्षत्ता सकर्णानुजसौबलेन॥ १४॥

विदुरजीके द्वारा इस प्रकार कहनेपर दुर्योधन अत्यन्त क्रोधित हो उठा और आक्रोशके कारण उसके दोनों होंठ काँपने लगे। विदुरजीका उत्तम चरित्र तो साधुओंके लिए भी वाञ्छनीय था, तथापि दुर्योधन कर्ण, दुःशासन और शकुनिके साथ मिलकर विदुरजीका तिरस्कार करते हुए कहने लगा— ॥ १४॥

क एनमत्रोपजुहाव जिह्मं
दास्याः सुतं यद्बलिनैव पुष्टः।
तस्मिन् प्रतीपः परकृत्य आस्ते
निर्वास्यतामाशु पुराच्छ्वसानः॥ १५॥

अरे! ऐसे खल-स्वभाववाले इस दासीपुत्रको यहाँ किसने बुलाया है? यह व्यक्ति इतना कृतघ्न है कि जिसके अन्नपर पल रहा है, उसके ही प्रतिकूल आचरण करके उसके शत्रुओंकी सहायता कर रहा है। इसे अपने कर्मोंका फल मिलना चाहिये। अतः इसके प्राणोंका हनन तो मत करो, परन्तु इसे हस्तिनापुरसे तुरन्त बाहर कर दो॥ १५॥

स इत्थमत्युल्बणकर्णबाणै-
र्भ्रातुः पुरो मर्मसु ताडितोऽपि।
स्वयं धनुर्द्वारि निधाय मायां
गतव्यथोऽयादुरु मानयानः॥ १६॥

दुर्योधनके ऐसे अत्यन्त कठोर वचनोंने बाणकी भाँति विदुरजीके कानोंमें प्रवेशकर उनके मर्म-स्थान (हृदय) को आघात किया। तथापि 'यह सब भगवान्‌की मायाका खेल है'—ऐसा सोचकर विदुरजी तनिक भी दुःखित नहीं हुए। उन्होंने अपने धनुष-बाणको राजघरके द्वारपर रख दिया और बिना एक शब्द कहे स्वयं ही वहाँसे चल दिये॥ १६॥

स निर्गतः कौरवपुण्यलब्धो
गजाह्वयात् तीर्थपदः पदानि।
अन्वाक्रमत् पुण्यचिकीर्षयोर्व्या-
मधिष्ठितो यानि सहस्रमूर्तिः॥ १७॥

कौरवोंको विदुर जैसे महात्मा बड़े पुण्योंसे प्राप्त हुए थे। किन्तु, अब विदुरजी हस्तिनापुरसे निकलकर पृथ्वीमें जिन-जिन स्थानोंपर तीर्थपाद भगवान्‌की मत्स्य, कूर्मादि बहुत प्रकारकी श्रीमूर्त्तियाँ विराजित थीं, उन सभी स्थानोंमें पुण्यको सञ्चय करनेकी इच्छासे भ्रमण करने लगे॥ १७॥

पुरेषु पुण्योपवनाद्रिकुञ्जे-
ष्वपङ्कतोयेषु सरित्सरःसु।
अनन्तलिङ्गैः समलङ्कृतेषु
चचार तीर्थायतनेष्वनन्यः॥ १८॥

वे अकेले ही भगवान् अनन्तके श्रीविग्रहोंसे अलंकृत विष्णुमन्दिर आदि तीर्थ स्थानों एवं भगवान्‌के धामोंमें स्थित पुण्यमय उपवनों, पर्वतीय कुञ्जों, पावन जलसे परिपूर्ण नदी, सरोवर आदि पुण्य-क्षेत्रोंमें विचरण करने लगे॥ १८॥

गां पर्यटन् मेध्यविविक्तवृत्तिः
सदाप्लुतोऽधःशयनोऽवधूतः ।

अलक्षितः स्वैरवधूतवेषो
व्रतानि चेरे हरितोषणानि॥ १९॥

तीर्थोंमें भ्रमण करते समय विदुरजी पवित्र और साधारण भोजन करते थे तथा शुद्धवृत्तिसे जीवन-निर्वाह करते थे। वे प्रत्येक तीर्थमें स्नान करते, भूमिपर सोते और अपने शरीरको सजाते नहीं थे। वे वृक्षकी खालका वस्त्र धारण करनेवाले अवधूतके रूपमें स्वच्छन्दतापूर्वक विचरण करते हुए इस प्रकारसे रहते थे कि उनके आत्मीय-जन भी उन्हें पहचान न सकें। वे श्रीहरिको प्रसन्न करनेवाले व्रतोंका भी पालन करते थे॥ १९॥

इत्थं व्रजन् भारतमेव वर्षं
कालेन यावद्गतवान प्रभासम्।
तावच्छशास क्षितिमेकचक्रा-
मेकातपत्रामजितेन पार्थः॥ २०॥

इस प्रकार समस्त भारतवर्षमें परिभ्रमण करते हुए जिस समय वे प्रभासक्षेत्रमें उपस्थित हुए, तब तक भगवान् श्रीकृष्णकी सहायतासे धर्मराज युधिष्ठिर पृथ्वीपर एकछत्र अखण्ड शासन करने लगे थे॥ २०॥

तत्राथ शुश्राव सुहृद्विनष्टिं
वनं यथा वेणुजवह्निसंश्रयम्।
संस्पर्द्धया दग्धमथानुशोचन्
सरस्वतीं प्रत्यगियाय तूष्णीम्॥ २१॥

तदनन्तर विदुरजीने प्रभासतीर्थमें पहुँचकर सुना कि कौरव आदि उनके स्वजन परस्परकी विरोध-अग्निसे उसी प्रकार विनष्ट हो गये हैं, जिस प्रकार अपनी ही रगड़से उत्पन्न हुई आगसे बाँसका समस्त जङ्गल जलकर भस्म हो जाता है। यह सुनकर वे बड़े दुःखी हुए और पश्चिमकी ओर बहनेवाली सरस्वती नदीकी ओर चल दिये॥ २१॥

तस्यां त्रितस्योशनसो मनोश्च
पृथोरथाग्नेरसितस्य वायोः।
तीर्थं सुदासस्य गवां गुहस्य
यच्छ्राद्धदेवस्य स आसिषेवे॥ २२॥

विदुरजीने सरस्वतीके तटपर स्थित त्रित, उशना, मनु, पृथु, अग्नि, असित, वायु, सुदास, गौ, गुह और श्राद्धदेव नामक प्रसिद्ध ग्यारह तीर्थोंकी स्नान-दान आदिसे विधिपूर्वक सेवा की॥ २२॥

अन्यानि चेह द्विजदेवदेवैः
कृतानि नानायतनानि विष्णोः।
प्रत्यङ्गमुख्याङ्कितमन्दिराणि
यद्दर्शनात् कृष्णमनुस्मरन्ति॥ २३॥

इसके अतिरिक्त विदुरजीने देवताओं और ब्राह्मणोंके द्वारा भलीभाँति निर्दिष्ट एवं स्थापित भगवान्‌के अन्यान्य पुण्यक्षेत्रों अथवा तीर्थोंका दर्शन भी किया। उन्होंने उन समस्त विष्णु-मन्दिरोंका सेवन किया, जिनके शिखर चक्र आदिसे चिह्नित थे, क्योंकि इन मन्दिरोंके दर्शनके फलसे भगवान् श्रीकृष्ण उनकी स्मृति-पटलपर बार-बार आ जाते थे॥ २३॥

ततस्त्वतिव्रज्य सुराष्ट्रमृद्धं
सौवीरमत्स्यान् कुरुजाङ्गलांश्च।
कालेन तावद्यमुनामुपेत्य
तत्रोद्धवं भागवतं ददर्श॥ २४॥

इसके बाद वे समृद्धिशाली सौराष्ट्र, सौवीर, मत्स्य और कुरुजाङ्गल आदि देशोंको पार करते हुए श्रीयमुनाके तटपर उपस्थित हुए। वहाँपर भक्तचूड़ामणि परमभागवत श्रीउद्धवके साथ उनका मिलन हुआ॥ २४॥

स वासुदेवानुचरं प्रशान्तं
बृहस्पतेः प्राक्तनयं प्रतीतम्।
आलिङ्ग्य गाढं प्रणयेन भद्रं
स्वानामपृच्छद्भगवत्प्रजानाम् ॥ २५॥

श्रीउद्धव भगवान् श्रीकृष्णके प्रख्यात सेवक और अत्यन्त शान्त-स्वभावके थे। वे पहले नीतिकुशल बृहस्पतिजीके शिष्य रह चुके थे। श्रीउद्धवका दर्शन करते ही विदुरजी पुलकित हो उठे और उन्होंने अति स्नेहके साथ उनका गाढ़ आलिङ्गन किया। तत्पश्चात् उन्होंने उनसे अपने आराध्य भगवान् श्रीकृष्ण और उनके आश्रित अपने स्वजनोंका कुशल समाचार पूछा॥ २५॥

कच्चित् पुराणौ पुरुषौ स्वनाभ्य-
पाद्मानुवृत्त्येह किलावतीर्णौ।
आसात उर्व्याः कुशलं विधाय
कृतक्षणौ कुशलं शूरगेहे॥ २६॥

सबसे पहले वे श्रीकृष्ण और श्रीबलरामकी कुशलवार्त्ता पूछते हुए बोले—हे उद्धवजी! जिन्होंने अपने नाभिकमलसे ब्रह्माजीको उत्पन्न किया और उन ब्रह्माजीके अनुरोधसे ही जो दोनों सनातन पुरुष—श्रीकृष्ण और श्रीबलराम इस प्रपञ्चमें अवतीर्ण हुए हैं, वे सर्वमङ्गलमय राम-कृष्ण पृथ्वीका भार दूर करके इस समय श्रीवसुदेवजीके घरपर कुशल-मङ्गलसे तो हैं न?॥ २६॥

कच्चित् कुरूणां परमः सुहृन्नो
भामः स आस्ते सुखमङ्ग शौरिः।
यो वै स्वसॄणां पितृवद्ददाति
वरान् वदान्यो वरतर्पणेन॥ २७॥

हे अङ्ग! हे प्रियवर! कुरुकुलके परम-हितैषी और सर्वाराध्य श्रीवसुदेवजी अपनी कुन्ती आदि बहिनोंके प्रति उनके पतियोंको प्रसन्न रखनेके लिए अपने पितासे भी अधिक यत्न एवं अर्थ प्रदान करते थे। वे उदारचित्त श्रीवसुदेवजी इस समय कुशलसे तो हैं न?॥ २७॥

कच्चिद्वरूथाधिपतिर्यदूनां
प्रद्युम्न आस्ते सुखमङ्ग वीरः।
यं रुक्मिणी भगवतोऽभिलेभे
आराध्य विप्रान् स्मरमादिसर्गे॥ २८॥

प्रिय उद्धवजी! यदुओंके सेनानायक महावीर प्रद्युम्न इस समय कैसे हैं? वे पूर्वजन्ममें कामदेव थे। रुक्मिणीने बहुत समय तक ब्राह्मणोंकी आराधना करके भगवान् श्रीकृष्णसे उन्हें पुत्रके रूपमें प्राप्त किया है॥ २८॥

कच्चित् सुखं सात्वतवृष्णिभोज-
दाशार्हकाणामधिपः स आस्ते।
यमभ्यषिञ्चच्छतपत्रनेत्रो
नृपासनाशां परिहृत्य दूरात्॥ २९॥

जो कंस आदि दुष्टोंके अत्याचारसे राज्य-प्राप्तिकी अभिलाषाका परित्याग करके प्राणोंके भयसे दूर देशमें रहने लगे थे और जिन्हें कमललोचन भगवान् श्रीकृष्णने पुनः सिंहासनपर अभिषिक्त किया था, वे सात्वत, वृष्णि, भोज, दाशार्हवंशियोंके अधिपति महाराज उग्रसेन कुशलसे हैं न?॥ २९॥

कच्चिद्धरेः सौम्य सुतः सदृक्ष
आस्तेऽग्रणी रथिनां साधु साम्बः।
असूत यं जाम्बवती व्रताढ्या
देवं गुहं योऽम्बिकया धृतोऽग्रे॥ ३०॥

हे सौम्य! श्रीकृष्णके ही अनुरूप उनके पुत्र रथीश्रेष्ठ साम्ब इस समय कैसे हैं? पूर्वजन्ममें इन्होंने अम्बिकाके गर्भसे कार्तिकेयके नामसे जन्म-ग्रहण किया था। इस जन्ममें श्रीकृष्णकी महिषी जाम्बवतीने अनेक व्रतोंके फलसे उन कार्तिकेयको ही अपने पुत्र साम्बके रूपमें प्राप्त किया है॥ ३०॥

क्षेमं स कच्चिद्युयुधान आस्ते
यः फाल्गुनाल्लब्धधनूरहस्यः।
लेभेऽञ्जसाधोक्षजसेवयैव
गतिं तदीयां यतिभिर्दुरापाम्॥ ३१॥

जिन्होंने अर्जुनसे धनुर्विद्याके रहस्यकी शिक्षा प्राप्त की है, वे सात्यकि कुशलसे तो हैं? ये भगवान् श्रीकृष्णकी सेवा करके

अनायास ही अधोक्षज-सम्बन्धिनी अर्थात् भगवद्भक्तोंसे सम्बन्धित उस महान गति (अवस्था) को प्राप्त कर चुके हैं, जो परम योगियोंके लिए भी दुर्लभ है॥ ३१॥

कच्चिद्बुधः स्वस्त्यनमीव आस्ते
श्वफल्कपुत्रो भगवत्प्रपन्नः।
यः कृष्णपादाङ्कितमार्गपांशु-
ष्वचेष्टत प्रेमविभिन्नधैर्यः॥ ३२॥

भगवान्के शरणागत और बुद्धिमान श्वफल्कके पुत्र अक्रूरजी कुशलपूर्वक तो हैं न? वे श्रीकृष्णके ऐसे प्रेमी हैं कि जब उन्होंने श्रीनन्दमहाराजके नगर गोकुलकी सीमापर श्रीकृष्णके चरण-चिह्नोंको रजमें अङ्कित देखा, उस समय वे प्रेमसे गद्गद होकर उस धूलिपर लोटने लगे थे॥ ३२॥

कच्चिच्छिवं देवकभोजपुत्र्या
विष्णुप्रजाया इव देवमातुः।
या वै स्वगर्भेण दधार देवं
त्रयी यथा यज्ञवितानमर्थम्॥ ३३॥

भोजकुलमें उत्पन्न देवककी पुत्री श्रीकृष्ण-जननी श्रीदेवकी कुशलपूर्वक तो हैं? जिस प्रकार देवमाता अदितिने अपने गर्भमें भगवान् विष्णुको धारण किया था, उसी प्रकार श्रीदेवकीने भी श्रीकृष्णको अपने गर्भमें धारण किया था। जिस प्रकार तीनों वेद अपने मन्त्रोंमें यज्ञ-विस्ताररूप अर्थको प्रकाशित करते हैं, उसी प्रकार माता देवकीने श्रीकृष्णको प्रकाशित किया है॥ ३३॥

अपिस्विदास्ते भगवान् सुखं वो
यः सात्वतां कामदुघोऽनिरुद्धः।
यमामनन्ति स्म हि शब्दयोनिं
मनोमयं सत्त्वतुरीयतत्त्वम्॥ ३४॥

सात्वत वैष्णवोंकी वाञ्छाको पूर्ण करनेवाले षड़ैश्वर्यपूर्ण अनिरुद्ध कुशलसे तो हैं? मन, बुद्धि, चित्त एवं अहङ्कार—इस अन्तःकरण

चतुष्टयमें मनके प्रवर्त्तक और अधिष्ठाताके रूपमें वेदादि शास्त्र भगवान् अनिरुद्धको तुरीय-तत्त्व और शब्दब्रह्मका मूलस्वरूप बतलाते हैं॥ ३४॥

अपिस्विदन्ये च निजात्मदैव-
मनन्यवृत्त्या समनुव्रता ये।
हृदीकसत्यात्मजचारुदेष्ण-
गदादयः स्वस्ति चरन्ति सौम्य॥ ३५॥

हे सौम्य-स्वभाव उद्धवजी! इसके अतिरिक्त जो चिरकालसे इन्द्रिय आदि समस्त देहकी अन्तरात्माके रूपमें अपने हृदयेश्वर भगवान् श्रीकृष्णका एकान्तभावसे अनुसरण करते हैं, वे हृदीक, सत्यभामाके पुत्र चारुदेष्ण और गद आदि श्रीकृष्णके अनुचरगण सुखपूर्वक तो हैं न?॥ ३५॥

अपि स्वदोर्भ्यां विजयाच्युताभ्यां
धर्मेण धर्मः परिपाति सेतुम्।
दुर्योधनोऽतप्यत यत्सभायां
साम्राज्यलक्ष्म्या विजयानुवृत्त्या॥ ३६॥

धर्मराज युधिष्ठिरके साम्राज्यमें श्री और जय इतने अखण्डित रूपसे प्रतिष्ठित थे कि उनके राज्य-वैभव और मयदानवकी बनायी हुई उनकी सभाकी शोभाको देखकर महाभिमानी दुर्योधनको अत्यधिक ईर्ष्या हुई थी। वे राजा युधिष्ठिर श्रीकृष्ण एवं अर्जुनरूप अपनी दोनों भुजाओंकी सहायतासे पहलेके समान ही धर्मका प्रतिपालन करते हुए धर्म-मर्यादाकी रक्षा कर रहे हैं न?॥ ३६॥

किं वा कृताघेष्वघमत्यमर्षी
भीमोऽहिवद्दीर्घतमं व्यमुञ्चत्।
यस्याङ्घ्रिपातं रणभूर्न सेहे
मार्गं गदायाश्चरतो विचित्रम्॥ ३७॥

अपराधी कुरुओंके प्रति अत्यन्त क्रोधपरायण और असहिष्णु भीमसेनने सर्पके समान अपने दीर्घकालीन क्रोधका परित्याग कर दिया

है क्या? जब वे युद्धक्षेत्रमें गदा घुमाते हुए विचित्र-विचित्र पैंतरे बदलते हैं, तब उनके गदाघात और पदाघातसे रणभूमि सिहर उठती है॥ ३७॥

कच्चिद्यशोधा रथयूथपानां
गाण्डीवधन्वोपरतारिरास्ते ।
अलक्षितो यच्छरकूटगूढो
मायाकिरातो गिरिशस्तुतोष॥ ३८॥

कपट-किरात वेशधारण करनेके कारण सबसे अलक्षित रहनेवाले शिवजी जिनके बाण-जालसे घिरकर भी उनके युद्ध-नैपुण्यसे अत्यन्त प्रसन्न हुए थे, वे महारथियोंमें सुयशस्वी गाण्डीवधारी अर्जुन कुशलसे तो हैं न? अब तक तो अर्जुनने अपने समस्त शत्रुओंका नाश कर दिया होगा॥ ३८॥

यमावुतस्वित् तनयौ पृथायाः
पार्थैर्वृतौ पक्ष्मभिरक्षिणीव।
रेमात उद्दाय मृधे स्वरिक्थं
परात् सुपर्णाविव वज्रिवक्त्रात्॥ ३९॥

हे उद्धवजी! नकुल और सहदेव माद्रीके जुड़वा-पुत्र हैं। जिस प्रकार दोनों पलकें नेत्रोंकी रक्षा करती हैं, उसी प्रकार पृथापुत्र अर्जुन आदिने उन्हें सुरक्षा प्रदान की थी। कुन्तीके द्वारा लालन-पालन किये जानेके कारण वे कुन्तीपुत्रके रूपमें ही परिचित हैं। जिस प्रकार गरुड़ इन्द्रके मुखसे अमृतका हरणकर लाये थे, उसी प्रकार वे युद्धमें शत्रु दुर्योधनसे अपना राज्य छीनकर आनन्दपूर्वक तो हैं?॥ ३९॥

अहो पृथापि ध्रियतेऽर्भकार्थे
राजर्षिवर्येण विनापि तेन।
यस्त्वेकवीरोऽधिरथो विजिग्ये
धनुर्द्वितीयः ककुभश्चतस्रः॥ ४०॥

अहो! राजर्षिश्रेष्ठ पाण्डुके वियोगमें मृतप्राय-सी होकर भी इन पुत्रोंके लिए ही प्राण धारण करनेवाली वे कुन्तीदेवी कैसी हैं?

महाराज पाण्डु रथियोंमें श्रेष्ठ एवं अद्वितीय योद्धा थे। उन्होंने केवल एक धनुष लेकर अकेले ही चारों दिशाओंको जीत लिया था॥ ४०॥

सौम्यानुशोचे तमधःपतन्तं
भ्रात्रे परेताय विदुद्रुहे यः।
निर्यापितो येन सुहृत् स्वपुर्या
अहं स्वपुत्रान् समनुव्रतेन॥ ४१॥

हे सौम्य-स्वभाववाले उद्धवजी! जिन्होंने अपने परलोकवासी भाई पाण्डुके अनाथ पुत्रों—पाण्डवोंसे द्रोहकर अपने भाई पाण्डुसे ही द्रोह किया, अपने पुत्र दुर्योधनके कहनेपर मेरे जैसे हितकारी भाईको भी अपने भवनसे निकाल दिया, अधःपतनकी ओर जानेवाले उन धृतराष्ट्रके लिए मैं बार-बार शोक कर रहा हूँ॥ ४१॥

सोऽहं हरेर्मर्त्यविडम्बनेन
दृशो नृणां चालयतो विधातुः।
नान्योपलक्ष्यः पदवीं प्रसादा-
च्चरामि पश्यन् गतविस्मयोऽत्र॥ ४२॥

हे उद्धवजी! मुझे धृतराष्ट्र और उनके पुत्रोंकी कुचेष्टाओंका कुछ भी खेद अथवा आश्चर्य नहीं है। यह सत्य है कि जगद्विधाता भगवान् श्रीकृष्ण मनुष्योंकी-सी लीलाएँ करते हुए लोगोंकी मनोवृत्तियोंको भ्रमित कर देते हैं, परन्तु मैं तो उन श्रीहरिकी कृपासे उनकी महिमाकी उपलब्धिकर समस्त प्रकारके संशयोंसे मुक्त हो चुका हूँ तथा अलक्षित रूपसे इस भूमण्डलपर सुखपूर्वक विचरण कर रहा हूँ॥ ४२॥

नूनं नृपाणां त्रिमदोत्पथानां
महीं मुहुश्चालयतां चमूभिः।
वधात् प्रपन्नार्त्तिजिहीर्षयेशो-
ऽप्युपैक्षताघं भगवान् कुरूणाम्॥ ४३॥

यद्यपि कौरवोंने बहुत-से अपराध किये थे, तथापि समर्थवान होनेपर भी भगवान् उन समस्त अपराधोंको अनदेखा करते रहे। वे

उन कौरवोंके साथ-साथ धन, विद्या और जातिके मदसे अन्धे होकर कुमार्गगामी तथा बार-बार अपनी सेनाओंके द्वारा पृथ्वीको कँपानेवाले समस्त दुष्ट राजाओंको भी एक ही समयमें मारकर अपने शरणागत भक्तोंका दुःख दूर करना चाहते थे॥ ४३॥

अजस्य जन्मोत्पथनाशनाय
कर्माण्यकर्तुर्ग्रहणाय पुंसाम्।
नन्वन्यथा कोऽर्हति देहयोगं
परो गुणानामुत कर्मतन्त्रम्॥ ४४॥

हे उद्धवजी! भगवान् जन्मरहित होकर भी दुराचारियोंके विनाशके लिए आविर्भूत होते हैं तथा कर्मरहित होकर भी भक्तोंको अपनी ओर आकर्षित करनेके लिए दिव्य लीलाएँ करते हैं। अन्यथा, गुणातीत भगवान्‌के जन्मादिके द्वारा देह-सम्बन्ध और कर्म-विस्तारका संयोग ही कहाँ है? ॥ ४४॥

तस्य प्रपन्नाखिललोकपाना-
मवस्थितानामनुशासने स्वे।
अर्थाय जातस्य यदुष्वजस्य
वार्तां सखे कीर्तय तीर्थकीर्तेः॥ ४५॥

हे सखे! अपने शरणागत राजाओं और अपने शासनमें रहनेवाले अन्यान्य भक्तोंके प्रियकार्य सम्पन्न करनेके उद्देश्यसे श्रीभगवान्‌ने अजन्मा होकर भी यदुकुलमें अवतार लिया है। उन भगवान् श्रीकृष्णकी संसार-तारिणी परमपावनी कीर्त्तिका विस्तार करनेवाली लीला-कथाओंका वर्णन कीजिये॥ ४५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां तृतीयस्कन्धे श्रीविदुरोद्धवसंवादे प्रथमोऽध्यायः॥

द्वितीयोऽध्यायः

श्रीकृष्णके वियोगमें शोकाकुल उद्धव द्वारा श्रीकृष्णकी बाल्यलीलाओंका वर्णन

श्रीशुक उवाच—

इति भागवतः पृष्टः क्षत्त्रा वार्तां प्रियाश्रयाम्।
प्रतिवक्तुं न चोत्सेहे औत्कण्ठ्यात् स्मारितेश्वरः॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—इस प्रकार जब विदुरजीने श्रीउद्धवसे उनके आराध्य भगवान् श्रीकृष्णके विषयमें बहुत-सी बातें पूछी, तब उत्कण्ठाके कारण परमभागवत श्रीउद्धवके स्मृतिपटलपर श्रीकृष्ण उदित हो आये, जिससे वे उनके वियोगमें व्याकुल हो उठे और किसी भी प्रश्नका उत्तर न दे सके॥ १॥

यः पञ्चहायनो मात्रा प्रातराशाय याचितः।
तन्नैच्छद्रचयन् यस्य सपर्यां बाललीलया॥ २॥

हे राजन्! जब श्रीउद्धवजी पाँच वर्षके बालक थे, तब बाल्य-क्रीड़ा करते हुए श्रीकृष्णकी मूर्त्ति बनाकर पूजा-सामग्रियोंसे उस मूर्त्तिकी अर्चना करते थे। उस समय जब उनकी माता प्रातःकालीन भोजनके लिए उन्हें बार-बार बुलाती थी, तो वे 'अभी मेरी पूजा सम्पूर्ण नहीं हुई'—यह कहकर भोजन करनेकी इच्छा भी नहीं करते थे॥ २॥

स कथं सेवया तस्य कालेन जरसं गतः।
पृष्टो वार्तां प्रतिब्रूयाद्भर्तुः पादावनुस्मरन्॥ ३॥

वे महात्मा उद्धव दीर्घकालसे भगवान्‌की सेवा करते हुए कालक्रमसे वृद्ध हो गये थे। विदुरजी द्वारा प्रश्न करनेमात्रसे ही उन्हें अपने प्यारे प्रभु श्रीकृष्णके चरणकमलोंका स्मरण हो आया और उनका चित्त विरहसे व्याकुल हो गया। अतः वे सहसा किस प्रकार प्रत्युत्तर देनेमें समर्थ हो सकते थे?॥ ३॥

स मुहूर्तमभूत् तूष्णीं कृष्णाङ्घ्रिसुधया भृशम्।
तीव्रेण भक्तियोगेन निमग्नः साधु निर्वृतः॥ ४॥

अतएव उस समय उद्धवजी भगवान् श्रीकृष्णके चरण-कमलोंके ध्यानरूप अमृत-रसके आस्वादनमें उत्तम रूपसे आनन्दित हो गये और चित्तको विरहाकुल करनेवाले भक्तियोगमें अतिशय निमग्न होकर क्षणकाल तक निःशब्द ही रहे॥ ४॥

पुलकोद्भिन्नसर्वाङ्गो मुञ्चन्मीलद्दृशा शुचः।
पूर्णार्थो लक्षितस्तेन स्नेहप्रसरसंप्लुतः॥ ५॥

उनका अङ्ग-प्रत्यङ्ग प्रेमके कारण पुलकित हो उठा तथा उनके किञ्चित् मुँदे हुए नेत्रोंसे प्रेमाश्रु प्रवाहित होने लगे। वे भगवान्‌के प्रति अपने स्नेहके प्रवाहमें डूब गये। यह देखकर विदुरजी समझ गये कि उद्धवजी भगवत्-भाव प्राप्त करके कृतार्थ हो चुके हैं॥ ५॥

शनकैर्भगवल्लोकान्नृलोकं पुनरागतः।
विमृज्य नेत्रे विदुरं प्रीत्याहोद्धव उत्स्मयन्॥ ६॥

कुछ क्षणके पश्चात् महात्मा उद्धव नित्यलीलामय भगवद्धामसे उतरकर धीरे-धीरे पुनः आत्म-लोक[१] में आ गये। उन्होंने अपने दोनों नेत्रोंको पोंछा और यदुकुल-संहार आदि भगवान्‌की चातुर्यपूर्ण लीलाओंके स्मरणसे विस्मित होकर विदुरजीको सम्बोधन करके कहने लगे॥ ६॥

श्रीउद्धव उवाच—

कृष्णद्युमणिनिम्लोचे गीर्णेष्वजगरेण ह।
किं नु नः कुशलं ब्रूयां गतश्रीषु गृहेष्वहम्॥ ७॥

श्रीउद्धवजीने कहा—हे विदुरजी! श्रीकृष्णरूप सूर्यके अस्त हो जानेसे हमारे घरोंको महा-अजगररूप शोकान्धकारने निगल लिया है, अतः वे शोभाहीन हो गये हैं। ऐसी अवस्थामें आपके द्वारा पूछी गयी बन्धुवर्गकी कुशलताके विषयमें मैं क्या कहूँ?॥ ७॥

---

[१] **आत्म-लोक अर्थात् बाह्य-दशा**—महाभागवतोंमें तीन प्रकारकी दशा उदित होती है—अन्तर-दशा, अर्द्धबाह्य-दशा और बाह्य-दशा। जब सम्पूर्ण रूपसे बाह्य जगत्‌का ज्ञान रहता है, उस दशाको बाह्य-दशा कहते हैं।

दुर्भगो बत लोकोऽयं यदवो नितरामपि।
ये संवसन्तो न विदुर्हरिं मीना इवोडुपम्॥ ८॥

हाय! यह मनुष्यलोक बड़ा ही अभागा है और उसमें भी यादव तो सबसे अधिक भाग्यहीन ही हैं। जिस प्रकार क्षीरसमुद्रमें उत्पन्न चन्द्रमाके साथ एकत्र वास करनेपर भी उसी समुद्रमें रहनेवाली मछलियाँ चन्द्रको कोई कमनीय जलचरमात्र समझकर उसके अमृतमय स्वरूपको नहीं पहचान पातीं, उसी प्रकार ये यादव निरन्तर श्रीकृष्णके साथ एकत्र वास करनेपर भी उनके भगवत्-स्वरूपको पहचान नहीं पाये॥ ८॥

इङ्गितज्ञाः पुरुप्रौढ़ा एकारामाश्च सात्वताः।
सात्वतामृषभं सर्वे भूतावासममंसत॥ ९॥

हे विदुरजी! यादवलोग मनके भावोंको जाननेवाले, बड़े समझदार और भगवान्‌के साथ एक ही स्थानमें रहकर क्रीड़ा करनेवाले थे, तथापि उन सबने समस्त विश्वके आश्रय और सर्वान्तर्यामी श्रीकृष्णको एक श्रेष्ठ यादवमात्र ही समझा॥ ९॥

देवस्य मायया स्पृष्टा ये चान्यदसदाश्रिताः।
भ्राम्यते धीर्न तद्वाक्यैरात्मन्युप्तात्मनौ हरौ॥ १०॥

किन्तु भगवान् श्रीकृष्णकी मायासे मोहित उन यादवोंके 'ये यादव हैं, ये हमारे बन्धु है'—आदि प्रकारसे उनके प्रति अवहेलनासूचक वचनों तथा श्रीकृष्णसे व्यर्थका वैर ठाननेवाले शिशुपाल आदिके द्वारा उनके निन्दासूचक वचनोंसे भगवत्प्राण महानुभावोंकी बुद्धि भ्रममें नहीं पड़ती है॥ १०॥

प्रदर्श्यातप्ततपसामवितृप्तदृशां नृणाम्।
आदायान्तरधाद्यस्तु स्वबिम्बं लोकलोचनम्॥ ११॥

उन भगवान् श्रीकृष्णने तपस्या हीन लोगोंको भी इतने दिनों तक दर्शन दिया किन्तु अब वे उनकी दर्शन-लालसाको तृप्त किये बिना ही पुनः जगत्‌के नयन स्वरूप अपने त्रिभुवन-मोहन श्रीविग्रहको उनके नेत्रोंसे छिपाकर अन्तर्धान हो गये हैं॥ ११॥

यन्मर्त्यलीलौपयिकं स्वयोग-
मायाबलं दर्शयता गृहीतम्।
विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः
परं पदं भूषणभूषणाङ्गम्॥ १२॥

भगवान्‌ने प्रपञ्च जगत्‌में योगमायाके बलसे अपनी जिस श्रीमूर्त्तिको प्रकटित किया था, वह मर्त्यलीलाके लिए बहुत ही उपयोगी थी। वह श्रीमूर्त्ति इतनी मनमोहक थी कि स्वयं श्रीकृष्ण भी उसे देखकर विस्मित हो जाते थे, अर्थात् उस रूपमें सौभाग्य और सौन्दर्यकी चरमसीमा प्रदर्शित थी। वह श्रीमूर्त्ति समस्त लौकिक दृश्योंमें भी परम अलौकिक तथा समस्त भूषणोंकी भी भूषणस्वरूप थी॥ १२॥

यद्धर्मसूनोर्बत राजसूये
निरीक्ष्य दृक्स्वस्त्ययनं त्रिलोकः।
कार्त्स्न्येन चाद्येह गतं विधातु-
रर्वाक्सृतौ कौशलमित्यमन्यत॥ १३॥

अहो! धर्मपुत्र युधिष्ठिरके राजसूय-यज्ञमें भगवान् श्रीकृष्णके उस नयनोंको आनन्दित करनेवाले रूपको देखकर तीनों भुवनोंमें स्थित प्राणी यह अनुमान करने लगे कि मानव-सृष्टिके विषयमें विधाताकी जितनी भी निपुणता थी, वह सब इस श्रीमूर्त्तिको प्रकाशित करनेमें ही समाप्त हो गयी है॥ १३॥

यस्यानुरागप्लुतहासरास-
लीलावलोकप्रतिलब्धमानाः।
व्रजस्त्रियो दृग्भिरनुप्रवृत्त-
धियोऽवतस्थुः किल कृत्यशेषाः॥ १४॥

श्रीकृष्णके अनुरागपूर्ण हास-परिहास, आमोद-प्रमोद और लीलामय चितवनसे सम्मानित होकर व्रजसुन्दरियाँ अभिमानवती हो जाया करती थीं। श्रीकृष्ण जहाँ भी जाते, उन व्रजरमणियोंके नेत्र उनकी ओर ही लगे रहते थे। उनके नेत्रोंके साथ-साथ उनका चित्त भी श्रीकृष्णमें ऐसा आविष्ट हो जाता था कि वे अपने घरके कार्योंको अधूरा ही

छोड़कर काठकी पुतलियोंकी भाँति खड़ी-की-खड़ी रह जाती थीं॥ १४॥

स्वशान्तरूपेष्वितरैः स्वरूपै-
रभ्यर्द्यमानेष्वनुकम्पितात्मा ।
परावरेशो महदंशयुक्तो
ह्यजोऽपि जातो भगवान् यथाग्निः॥ १५॥

चित् और अचित्के ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण जब अपने शान्तस्वरूप भक्तोंको अपने ही आश्रित अशान्त-स्वभावयुक्त भगवत्-विमुख असुरोंके द्वारा पीड़ित होता देखते हैं, तब वे अपने भक्तोंके प्रति करुणाभावसे द्रवित हो जाते हैं और जिस प्रकार काष्ठसे अग्नि उत्पन्न होती है, उसी प्रकार अजन्मा होनेपर भी वे अपनी कला महत्-स्रष्टा कारणाब्धिशायीके अंशके रूपमें भिन्न-भिन्न अवतार लेकर प्रपञ्चमें अवतीर्ण होते हैं॥ १५॥

मां खेदयत्येतदजस्य जन्म-
विडम्बनं यद्वसुदेवगेहे।
व्रजे च वासोऽरिभयादिव स्वयं
पुराद्व्यवात्सीद्यदनन्तवीर्यः ॥ १६॥

श्रीउद्धवने कहा—अजन्मा होनेपर भी श्रीवसुदेवजीके घरमें जन्म लेनेका अभिनय करना, शत्रुओंसे भयभीत होकर व्रजमें वास करना, अनन्त पराक्रमशाली होनेपर भी कालयवन आदिके भयसे मथुरा परित्यागरूप श्रीकृष्णकी विचित्र लीलाओंका स्मरण करते-करते मेरे मनमें खेद उत्पन्न हो रहा है॥ १६॥

दुनोति चेतः स्मरतो ममैतद्-
यदाह पादावभिवन्द्य मित्रोः।
ताताम्ब कंसादुरुशङ्कितानां
प्रसीदतं नोऽकृतनिष्कृतीनाम्॥ १७॥

श्रीकृष्णने अपने माता-पिताके चरणोंकी वन्दना करते हुए कहा था—"हे पिताजी! हे माताजी! कंसके भयसे अत्यधिक भयभीत

होकर मैं आपकी सेवा नहीं कर सका। आप मेरे इस अपराधपर ध्यान न देकर मुझपर प्रसन्न हों।" श्रीहरिके इन अद्भुत चरित्रोंका स्मरण करते हुए मेरा चित्त अत्यन्त दुःखित हो रहा है॥ १७॥

को वा अमुष्याङ्घ्रिसरोजरेणुं
विस्मर्तुमीशीत पुमान् विजिघ्रन्।
यो विस्फुरद्भ्रूविटपेन भूमे-
र्भारं कृतान्तेन तिरश्चकार॥ १८॥

जिन्होंने अपनी कालरूप भ्रू-भङ्गीसे पृथ्वीके भारका अपहरण कर लिया था, उन श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी परागरूप रेणुका आस्वादन करनेवाला ऐसा कौन पुरुष है, जो उन्हें भूल सके?॥ १८॥

दृष्टा भवद्भिर्ननु राजसूये
चैद्यस्य कृष्णं द्विषतोऽपि सिद्धिः।
यां योगिनः संस्पृहयन्ति सम्यग्
योगेन कस्तद्विरहं सहेत॥ १९॥

हे विदुरजी! युधिष्ठिरके राजसूय-यज्ञमें आपने साक्षात् अपनी आँखोंसे ही देखा था कि श्रीकृष्णके विद्वेषी शिशुपालने उनकी निन्दा करते हुए भी जिस सिद्धिको प्राप्त किया था, उस सिद्धिको योगी अपने योग-साधनके बलपर प्राप्त करनेकी स्पृहा करनेपर भी प्राप्त नहीं कर पाते। अतः ऐसे श्रीकृष्णका विरह फिर कौन सहन कर सकता है?॥ १९॥

तथैव चान्ये नरलोकवीरा
य आहवे कृष्णमुखारविन्दम्।
नेत्रैः पिबन्तो नयनाभिरामं
पार्थास्त्रपूताः पदमापुरस्य॥ २०॥

महाभारत युद्धक्षेत्रमें जिन अन्यान्य योद्धाओंने श्रीकृष्णके नयनाभिराम मुखकमलके मकरन्दका अपने नेत्रोंके द्वारा पान करते-करते ही अर्जुनके बाणोंके आघातसे अपने प्राणोंको त्याग दिया था, वे लोग भी पवित्र होकर भगवान्‌के परमधाम—विष्णुपदको प्राप्त हुए हैं॥ २०॥

स्वयन्त्वसाम्यातिशयस्त्र्यधीशः
स्वाराज्य-लक्ष्म्याप्तसमस्तकामः ।
बलिं हरद्भिश्चिरलोकपालैः
किरीटकोटीडितपादपीठः ॥ २१ ॥

स्वयं-भगवान् श्रीकृष्ण तीनों लोकों, गुणों और शक्तियोंके अधिपति हैं। उनके समान ही कोई नहीं है, फिर उनसे श्रेष्ठ होनेकी तो बात ही क्या? वे अपने परमानन्द-स्वरूपमें ही परिपूर्णकाम हैं। इन्द्रादि असंख्य लोकपालगण विभिन्न प्रकारके पूजा-उपहार समर्पणकर अपने करोड़ों-करोड़ों मुकुटोंके अग्रभागसे उनके चरण रखनेकी चौकीको प्रणाम करते हैं तथा मुकुटके स्पर्शसे उत्पन्न ध्वनिसे उस चौकीकी स्तुति किया करते हैं॥ २१ ॥

तत् तस्य कैङ्कर्यमलं भृतान् नो
विग्लापयत्यङ्ग यदुग्रसेनम्।
तिष्ठन् निषण्णं परमेष्ठिधिष्ण्ये
न्यबोधयद्देव निधारयेति॥ २२ ॥

हे प्रिय विदुरजी! ब्रह्मादि देवतागण भी जिस राजसिंहासनकी कामना करते हैं, उसपर विराजित उग्रसेनके समक्ष खड़े होकर जब श्रीकृष्ण 'हे महाराज! कृपया विचार कीजिये'—ऐसा कहकर उग्रसेनको निवेदन करते, तब भगवान्‌के उस सेवक-भावका स्मरणकर मेरे जैसे सेवकोंका अन्तःकरण आज भी अत्यधिक पीड़ित हो उठता है॥ २२॥

अहो बकी यं स्तनकालकूटं
जिघांसयापाययदप्यसाध्वी ।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं
कं वा दयालुं शरणं व्रजेम॥ २३ ॥

अहो! कैसा आश्चर्य है! बकासुरकी बहन दुष्ट पूतनाने श्रीकृष्णको मार डालनेकी इच्छासे अपने स्तनोंमें कालकूट विष लगाकर उन्हें पान कराया था, परन्तु उसे भी भगवान्‌ने वह परम गति प्रदान की, जो धात्रीको मिलनी चाहिये। अतएव हे विदुरजी!

भगवान् श्रीकृष्णके अतिरिक्त और ऐसा कौन दयालु है, जिसकी शरण ली जाये? ॥ २३ ॥

मन्येऽसुरान् भागवतांस्त्र्यधीशे
संरम्भमार्गाभिनिविष्टचित्तान् ।
ये संयुगेऽचक्षत तार्क्ष्यपुत्र-
मंसे सुनाभायुधमापतन्तम् ॥ २४ ॥

अहो! मैं तो उन असुरोंको भी धन्य भक्त मानता हूँ, जिनका चित्त वैरभावसे उदित क्रोधवशतः भी तीनों शक्तियोंके अधीश्वर श्रीकृष्णमें ही लगा रहता था। वे सुदर्शनचक्रधारी भगवान् श्रीहरिको अपने कन्धेपर वहन किये हुए, कश्यपतनय गरुड़जीको रणभूमिमें नित्य-निरन्तर अपने ऊपर झपटते हुए देखा करते थे॥ २४॥

वसुदेवस्य देवक्यां जातो भोजेन्द्रबन्धने।
चिकीर्षुर्भगवानस्याः शमजेनाभियाचितः ॥ २५ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण ब्रह्माजीकी प्रार्थनासे पृथ्वीका भार उतारकर उसे आनन्दित करनेके लिए कंसके कारागारमें श्रीवसुदेवकी पत्नी देवकीके गर्भसे अवतीर्ण हुए॥ २५॥

ततो नन्दव्रजमितः पित्रा कंसाद्धि बिभ्यता।
एकादश समास्तत्र गूढार्चिः सबलोऽवसत् ॥ २६ ॥

उस समय कंसके भयसे अत्यन्त भीत पिता श्रीवसुदेवजीने उन्हें ले जाकर नन्दबाबाके व्रजमें पहुँचा दिया था। वहाँपर वे बलरामजीके साथ ग्यारह वर्ष तक इस प्रकार छिपकर रहे कि उनका प्रभाव व्रजके बाहर किसीपर भी प्रकट नहीं हुआ॥ २६॥

परीतो वत्सपैर्वत्सांश्चारयन् व्यहरद्विभुः।
यमुनोपवने कूजद्द्विजसङ्कुलिताङ्घ्रिपे ॥ २७ ॥

सर्वव्यापक भगवान् श्रीकृष्ण बछड़ोंका पालन करनेवाले ग्वाल-बालोंके साथ मिलकर बछड़ोंको चराते हुए यमुनाके तटपर स्थित पक्षियोंके कलरवसे गुञ्जित सुरम्य हरे-भरे वृक्षोंसे मण्डित उपवनमें क्रीड़ा करते हुए विचरण किया करते थे॥ २७॥

कौमारीं दर्शयंश्चेष्टां प्रेक्षणीयां व्रजौकसाम्।
रुदन्निव हसन् मुग्ध-बालसिंहावलोकनः॥ २८॥
स एव गोधनं लक्ष्म्या निकेतं सितगोवृषम्।
चारयन्ननुगान् गोपान् रणद्वेणुररीरमत्॥ २९॥

वे व्रजवासियोंको अपनी कौमारलीलाकी माधुरीका प्रदर्शन कराते हुए कभी तो मानो रोते, कभी हँसते और कभी मुग्ध सिंहशिशुकी भाँति प्रतीत होते थे। आयुमें कुछ और बड़े होनेपर वे परम शोभाशाली सफेद बैलों और रङ्ग-बिरङ्गी गौओंको चराते हुए वंशी-ध्वनिके द्वारा अनुचर गोपबालकोंको रिझाने लगे॥ २८-२९॥

प्रयुक्तान् भोजराजेन मायिनः कामरूपिणः।
लीलया व्यनुदत् तांस्तान् बालः क्रीडनकानिव॥ ३०॥

जब भोजराज कंसने श्रीकृष्णको मारनेके लिए मायावी और इच्छानुरूप आकार धारण करनेवाले असुरोंको भेजा, तब उन्होंने उन असुरोंको खेल-ही-खेलमें इस प्रकार मार डाला, जिस प्रकार बालक खिलौनोंको तोड़-फोड़ डालता है॥ ३०॥

विपन्नान् विषपानेन निगृह्य भुजगाधिपम्।
उत्थाप्यापाययद्गावस्तत्तोयं प्रकृतिस्थितम्॥ ३१॥

उन्होंने कालियनागका दमन करके यमुनाका विषैला जल पीनेसे मरे हुए गोपबालकों और गायोंको पुनर्जीवित कर दिया। तत्पश्चात् कालियको वहाँसे निकालकर उन सबको यमुनाका निर्दोष एवं निर्मल जल पान कराया था॥ ३१॥

अयाजयद्गोसवेन गोपराजं द्विजोत्तमैः।
वित्तस्य चोरुभारस्य चिकीर्षुः सद्व्ययं विभुः॥ ३२॥

भगवान् श्रीकृष्णने संग्रहीत प्रचुर धनके सद्व्यय एवं इन्द्रका मान भङ्ग करनेकी इच्छासे उत्तम ब्राह्मणोंके द्वारा गोपराज नन्दसे गौ-पूजारूप यज्ञका आयोजन करवाया था॥ ३२॥

वर्षतीन्द्रे व्रजः कोपाद्भग्नमानेऽतिविह्वलः।
गोत्रलीलातपत्रेण त्रातो भद्रानुगृह्णता॥ ३३॥

हे भद्र विदुरजी! उस पूजासे इन्द्रका मान भङ्ग हो गया। उसने क्रोधित होकर व्रजका विनाश करनेके लिए मूसलाधार जल बरसाना आरम्भ कर दिया, जिससे गोप आदि सभी व्रजवासी भयसे व्याकुल हो गये। तब भगवान् श्रीकृष्णने क्रीड़ाके छलसे गोवर्धन-पर्वतको छत्रके समान धारणकर व्रजवासियों एवं व्रजके पशुधनकी रक्षा की थी॥ ३३॥

शरच्छशिकरैर्मृष्टं मानयन् रजनीमुखम्।
गायन् कलपदं रेमे स्त्रीणां मण्डलमण्डनः॥ ३४॥

शरत्-चन्द्रमाकी चाँदनीसे उज्ज्वल वृन्दावनमें प्रदोष-काल (रात्रिके प्रथम प्रहर) को उपयुक्त जानकर श्रीकृष्णने अव्यक्त मधुर-पदोंका गान करते हुए गोपीमण्डलसे सुशोभित होकर रासक्रीड़ा की थी॥ ३४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां तृतीयस्कन्धे श्रीविदुरोद्धवसंवादे द्वितीयोऽध्यायः॥

तृतीयोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णकी मथुरा और द्वारका लीलाओंका संक्षेपमें वर्णन

श्रीउद्धव उवाच—

ततः स आगत्य पुरं स्वपित्रो–
श्चिकीर्षया शं बलदेवसंयुतः।
निपात्य तुङ्गाद्रिपुयूथनाथं
हतं व्यकर्षद्व्यसुमोजसोर्व्याम्॥ १॥

श्रीउद्धवने कहा—इसके बाद श्रीकृष्ण अपने पिता श्रीवसुदेव और माता देवकीको सुख पहुँचाने और उनका मङ्गल करनेकी इच्छासे बलदेवजीके साथ व्रजसे मथुरामें पधारे। वहाँ उन्होंने शत्रुओंके यूथपति कंसको राजमञ्चसे भूमिपर गिरा दिया तथा मृत कंसके शवको बलपूर्वक पृथ्वीपर घसीटा॥ १॥

सान्दीपनेः सकृत् प्रोक्तं ब्रह्माधीत्य सविस्तरम्।
तस्मै प्रादाद्वरं पुत्रं मृतं पञ्चजनोदरात्॥ २॥

उन्होंने सान्दीपनि मुनिके मुखसे उच्चारित अङ्ग-उपाङ्ग सहित सम्पूर्ण वेदोंका मात्र एकबार श्रवण करके ही अपना अध्ययन समाप्त किया एवं गुरु-दक्षिणामें उन मुनिकी इच्छानुसार पञ्चजन असुरके पेटको फाड़कर मुनिके मृत पुत्रको यमलोकसे लाकर उन्हें प्रदान किया॥ २॥

समाहुता भीष्मककन्यया ये
श्रियः सवर्णेन बुभूषयैषाम्।
गान्धर्ववृत्त्या मिषतां स्वभागं
जह्रे पदं मूर्ध्नि दधत् सुपर्णः॥ ३॥

राजा भीष्मककी कन्या रुक्मिणीदेवीके साक्षात् लक्ष्मीके समान सौन्दर्यसे आकृष्ट होकर शिशुपाल और उसके सहायक समस्त राजा विवाहके नियमानुसार रुक्मिणीके भाई रुक्मीके द्वारा बुलाये जानेपर उनके साथ विवाह करनेकी इच्छासे राजधानी कुण्डिनपुरमें उपस्थित थे। उन समागत राजाओंके देखते–ही–देखते भगवान् श्रीकृष्णने उनके सिरपर पैर रखकर अर्थात् उनका अनादर कर और उन्हें युद्धमें पराजितकर गान्धर्व विधिसे विवाह करनेके लिए स्वांश–रूपा रुक्मिणीको इस प्रकार हरण कर लिया, जिस प्रकार गरुड़ने सर्पोंके बीचसे अमृत–कलशका हरण कर लिया था॥ ३॥

ककुद्मिनोऽविद्धनसो दमित्वा
स्वयंवरे नाग्नजितीमुवाह।
तद्भग्नमानानपि गृध्यतोऽज्ञान्
जघ्नेऽक्षतः शस्त्रभृतः स्वशस्त्रैः॥ ४॥

बिना नथे हुए सात बैलोंको एक ही रस्सीसे नथकर श्रीकृष्णने स्वयंवरमें नाग्नजिती (सत्यभामा) से विवाह किया। वहाँपर उपस्थित जो मूर्ख राजा थे, वे सब अपमानित होकर तथा कन्याके लोभकी इच्छासे शस्त्र उठाकर राजकुमारीको छीन लेना चाहते थे। परन्तु श्रीकृष्णने स्वयं बिना घायल हुए अपने शस्त्रोंसे उन राजाओंका वध कर दिया॥ ४॥

प्रियं प्रभुर्ग्राम्य इव प्रियाया
विधित्सुरार्च्छद्द्युतरुं यदर्थे।
वज्र्याद्रवत् तं सगणो रुषान्धः
क्रीडामृगो नूनमयं वधूनाम्॥ ५॥

साधारण विषयी पुरुष लौकिक–व्यवहारमें जिस प्रकार अपनी प्रियाको प्रसन्न करनेकी चेष्टा करते हैं, परम स्वतन्त्र भगवान् श्रीकृष्ण भी उसी प्रकार जब अपनी प्राणप्रिया सत्यभामाको सन्तुष्ट करनेकी इच्छासे स्वर्गसे पारिजात वृक्ष उखाड़ लाये थे, तब स्त्रियोंके क्रीड़ामृग इन्द्रने क्रोधित होकर वज्र हाथमें लेकर अपने सैनिकोंके साथ श्रीकृष्णसे युद्ध किया था॥ ५॥

सुतं मृधे खं वपुषा ग्रसन्तं
दृष्ट्वा सुनाभोन्मथितं धरित्र्या।
आमन्त्रितस्तत्तनयाय शेषं
दत्त्वा तदन्तःपुरमाविवेश॥ ६॥

जब नरकासुरने अपने विशाल शरीरसे आकाशको ग्रास करनेके लिए चेष्टा की, तब युद्धमें श्रीकृष्णने उसे चक्रसे मार डाला। अपने पुत्रको मरा हुआ देखकर नरकासुरकी माता पृथ्वीदेवीने श्रीकृष्णसे प्रार्थना की, तो भगवान्‌ने नरकके पुत्र भगदत्तको उसका बचा हुआ राज्य देकर उसके अन्तःपुरमें प्रवेश किया॥ ६॥

तत्राहृतास्ता नरदेवकन्याः
कुजेन दृष्ट्वा हरिमार्तबन्धुम्।
उत्थाय सद्यो जगृहुः प्रहर्ष-
व्रीडानुरागप्रहितावलोकैः ॥ ७॥

वहाँ नरकासुरके द्वारा हरण करके लायी हुई बहुत-सी राजकन्याएँ थीं। वे दीनबन्धु श्रीहरिका दर्शन करते ही खड़ी हो गयीं और उन सबने प्रचुर आनन्द, लज्जा, अनुराग और प्रेमपूर्ण चितवनसे तत्काल ही श्रीकृष्णको पतिरूपमें वरण कर लिया॥ ७॥

आसां मुहूर्त एकस्मिन् नानागारेषु योषिताम्।
सविधं जगृहे पाणीननुरूपः स्वमायया॥ ८॥

श्रीकृष्णने अपनी चित्-शक्ति योगमायाके बलसे उन सब स्त्रियोंके अनुरूप उतने ही रूप धारणकर विविध महलोंमें स्थित होकर उन सब स्त्रियोंके साथ एक ही मुहूर्तमें शास्त्रीय विधि-विधानसे विवाह कर लिया॥ ८॥

तास्वपत्यान्यजनयदात्मतुल्यानि सर्वतः।
एकैकस्यां दश दश प्रकृतेर्विबुभूषया॥ ९॥

इसके बाद स्वरूप-वैभवकी अभिलाषासे भगवान् श्रीकृष्णने उन स्त्रियोंमेंसे प्रत्येकके गर्भसे अपने ही समान दस-दस पुत्रोंको उत्पन्न किया॥ ९॥

कालमागधशाल्वादीननीकै रुन्धतः पुरम्।
अजीघनत् स्वयं दिव्यं स्वपुंसां तेज आदिशत्॥ १०॥

कालयवन, जरासन्ध, शाल्व आदिने जब अपनी सेनाओंके साथ मथुरापुरीको घेर लिया, तब अपने निजजन मुचुकुन्द और भीमादिको निमित्तमात्र बनाकर और उनमें अपनी शक्तिका सञ्चारकर भगवान्ने स्वयं ही उन असुरोंका वध किया। इसके द्वारा भगवान्ने अपने निज भक्तोंको यश प्रदान किया॥ १०॥

शम्बरं द्विविदं बाणं मुरं बल्वलमेव च।
अन्यांश्च दन्तवक्त्रादीनवधीत् कांश्च घातयत्॥ ११॥

शम्बर, द्विविद, बाणासुर, मुर, बल्वल तथा अन्यान्य दन्तवक्र आदि अनेक असुरोंका भगवान्ने स्वयं ही वध किया एवं अनेकोंका बलराम-प्रद्युम्न आदिके द्वारा भी संहार करवाया॥ ११॥

अथ ते भ्रातृपुत्राणां पक्षयोः पतितान् नृपान्।
चचाल भूः कुरुक्षेत्रं येषामापततां बलैः॥ १२॥

हे विदुरजी! इसके बाद आपके भतीजे युधिष्ठिर और दुर्योधनके पक्षपाती होकर भगवान्ने कुरुक्षेत्रके युद्धमें एकत्रित उन समस्त राजाओंका संहार किया था जिन राजाओंकी सेनाओंसे पृथ्वी काँप उठी थी॥ १२॥

स कर्णदुःशासनसौबलानां
कुमन्त्रपाकेन हतश्रियायुषम्।
सुयोधनं सानुचरं शयानं
भग्नोरुमुर्व्यां न ननन्द पश्यन्॥ १३॥

कर्ण, दुःशासन और शकुनिकी कुमन्त्रणाओंसे जिसकी श्री एवं आयु दोनों ही नष्ट हो चुकी थी, तथा भीमसेनकी गदाके प्रहारसे जिसकी जाँघ टूँट चुकी थी, उस दुर्योधनको उसके अनुचरोंके साथ भूमिपर पड़ा हुआ देखकर श्रीकृष्णको प्रसन्नता नहीं हुई थी॥ १३॥

कियान् भुवोऽयं क्षपितोरुभारो
यद्द्रोणभीष्मार्जुन-भीममूलैः ।

अष्टादशाक्षौहिणीको मदंशै-
रास्ते बलं दुर्विषहं यदूनाम्॥ १४॥

वे सोचने लगे—यद्यपि द्रोण, भीष्म, अर्जुन और भीम आदिके कारण अट्ठारह अक्षौहिणी सेनाओंका संहार होनेसे पृथ्वीका भार तो हरण हुआ है, किन्तु बहुत ही कम मात्रामें, क्योंकि मेरे अंशभूत प्रद्युम्न आदिके द्वारा संरक्षित यादवोंकी दुःसह सेना अभी भी विद्यमान है॥ १४॥

मिथो यदैषां भविता विवादो
मध्वामदाताम्रविलोचनानाम् ।
नैषां वधोपाय इयानतोऽन्यो
मय्युद्यतेऽन्तर्दधते स्वयं स्म॥ १५॥

जब ये यादव मधुपान करके सम्पूर्ण रूपसे मदमत्त हो जायेंगे, तब इनकी आँखें लाल-लाल हो जायेंगी और उसी मत्तताके कारण ये एक दूसरेके साथ कलह करने लग जायेंगे। यही कलह उनके विनाशका कारण होगा, क्योंकि इसके अतिरिक्त उनके विनाशका और कोई उपाय नहीं है। मेरी अन्तर्धानकी इच्छा होते ही ये सभी निश्चित रूपसे परस्पर विवादकर स्वयं ही अन्तर्हित हो जायेंगे॥ १५॥

एवं सञ्चिन्त्य भगवान् स्वराज्ये स्थाप्य धर्मजम्।
नन्दयामास सुहृदः साधूनां वर्त्म दर्शयन्॥ १६॥

इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णने भलीभाँति विचारकर धर्मनन्दन युधिष्ठिरको उनके पैतृकराज्यमें स्थापित करके अपने सभी सगे-सम्बन्धियोंको साधु-पुरुषोंका मार्ग दिखलाकर सन्तुष्ट किया॥ १६॥

उत्तरायां धृतः पूरोर्वंशः साध्वभिमन्युना।
स वै द्रौण्यस्त्रसंप्लुष्टः पुनर्भगवता धृतः॥ १७॥

उत्तराके उदरमें अभिमन्युने जो पुरुवंशका बीज (गर्भ) स्थापित किया था, वह गर्भ द्रोणपुत्र अश्वत्थामाके ब्रह्मास्त्रके द्वारा प्राय विनष्ट हो गया था; परन्तु भगवान् श्रीकृष्णने उसे बचा लिया॥ १७॥

अयाजयद्धर्मसुतमश्वमेधैस्त्रिभिर्विभुः ।
सोऽपि क्ष्मामनुजै रक्षन् रेमे कृष्णमनुव्रतः॥ १८॥

भगवान् श्रीकृष्णने धर्मराज युधिष्ठिरसे तीन अश्वमेधयज्ञ करवाये। युधिष्ठिर भी एकमात्र श्रीकृष्णके ही शरणागत होकर भीम, अर्जुन आदि अपने छोटे भाइयोंके साथ पृथ्वीका पालन करते हुए आनन्दपूर्वक काल-यापन करने लगे॥ १८॥

भगवानपि विश्वात्मा लोकवेदपथानुगः।
कामान् सिषेवे द्वार्वत्यामसक्तः सांख्यमास्थितः॥ १९॥

विश्वके अन्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्णने भी द्वारकापुरीमें रहते हुए भोक्ता (पुरुष) और भोग्य (प्रकृति) के विवेकसे युक्त होकर स्वयंको लौकिक एवं वैदिक मार्गका अनुगामी दिखलाकर युक्तवैराग्यके साथ विषयोंका भोग किया था॥ १९॥

स्निग्धस्मितावलोकेन वाचा पीयूषकल्पया।
चरित्रेणानवद्येन श्रीनिकेतेन चात्मना॥ २०॥

इमं लोकममुञ्चैव रमयन् सुतरां यदून्।
रेमे क्षणदया दत्तक्षणस्त्रीक्षणसौहृदः॥ २१॥

स्निग्ध मुसकानयुक्त अवलोकन, सुधामयी शिष्ट वाणी, निर्दोष चरित्र एवं परम शोभा और सौन्दर्यसे युक्त अपनी देहसे सभीकी प्रीतिका विषय होकर श्रीकृष्णने इस मर्त्यलोक तथा देवलोकमें स्थित भक्तोंको और उन सबमें भी विशेष रूपसे यादवोंको अत्यन्त आनन्दित किया था। जो कामिनियाँ रात्रिमें अवकाश पाकर उनके निकट आतीं, वे उन रमणियोंके साथ उसी क्षण रत्युत्सव द्वारा प्रणय संस्थापित करते हुए क्रीड़ा विहार करते॥ २०-२१॥

तस्यैवं रममाणस्य संवत्सरगणान् बहून्।
गृहमेधेषु योगेषु विरागः समजायत॥ २२॥

इस प्रकार बहुत वर्षों तक आनन्दपूर्वक विहार-क्रीड़ामें रत रहनेवाले भगवान् श्रीकृष्णकी प्रपञ्चमें प्रकटित गृहस्थ-लीलासे अवसर प्राप्त करनेकी इच्छा हुई॥ २२॥

दैवाधीनेषु कामेषु दैवाधीनः स्वयं पुमान्।
को विश्रम्भेत योगेन योगेश्वरमनुव्रतः॥ २३॥

ये कामादि भोग्य विषय और स्वयं जीव भी ईश्वरके अधीन हैं। जब भगवान्‌को ही अपने अधीन रहनेवाले भोग्य विषयोंसे वैराग्य हो गया, तब फिर भक्तियोगके प्रभावसे उन योगेश्वर श्रीकृष्णका अनुगमन करनेवाले भक्त उन विषयोंपर प्रीति या विश्वास कैसे स्थापित कर सकते हैं?॥ २३॥

पुर्यां कदाचित् क्रीडद्भिर्यदुभेजकुमारकैः।
कोपिता मुनयः शेपुर्भगवन्मतकोविदाः॥ २४॥

किसी एक समय द्वारकापुरीमें यदुवंशीय और भोजवंशीय कुमारोंने खेल-खेलमें ही मुनियोंको क्रोधित कर दिया। तब भगवान् श्रीकृष्णके पृथ्वीका भार-हरणरूप अभिप्रायको जाननेवाले मुनियोंने कुमारोंको अभिशाप दे दिया॥ २४॥

ततः कतिपयैर्मासैर्वृष्णिभोजान्धकादयः।
ययुः प्रभासं संहृष्टा रथैर्देवविमोहिताः॥ २५॥

इसके कुछ महीनोंके भीतर ही वृष्णि, भोज, अन्धक आदि यादव श्रीकृष्णकी दैवीमायासे विमोहित होकर आनन्दित हृदयसे रथोंपर चढ़कर प्रभासतीर्थमें गये॥ २५॥

तत्र स्नात्वा पितृन् देवानृषींश्चैव तदम्भसा।
तर्पयित्वाथ विप्रेभ्यो गावो बहुगुणा ददुः॥ २६॥

वहाँ जाकर उन्होंने प्रभासतीर्थमें स्नान किया एवं पितर, देव और ऋषियोंको तीर्थजलके द्वारा तर्पण किया तथा ब्राह्मणोंको दुग्धवती बहुत-सी गौएँ आदि दान कीं॥ २६॥

हिरण्यं रजतं शय्यां वासांस्यजिनकम्बलान्।
इयानिभान् रथान् कन्या धरां वृत्तिकरीमपि॥ २७॥

उन्होंने सोना, चाँदी, शय्या, वस्त्र, मृगचर्म, कम्बल, पालकी, रथ, घोड़े, हाथी, कन्याएँ तथा जीविका निर्वाहके योग्य भूमि भी ब्राह्मणोंको दान की॥ २७॥

अन्नञ्चोरुरसं तेभ्यो दत्त्वा भगवदर्पणम्।
गोविप्रार्थासवः शूराः प्रणेमुर्भुवि मूर्द्धभिः॥ २८॥

तदनन्तर उन ब्राह्मणोंको भगवदर्पित बहुत-से रसोंसे युक्त सरस अन्न प्रदानकर, गायों और ब्राह्मणोंके लिए ही जीवनधारण करनेवाले उन यदुवीरोंने भूमिपर मस्तक टेककर उन ब्राह्मणोंको प्रणाम किया॥ २८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां तृतीयस्कन्धे श्रीविदुरोद्धवसंवादे तृतीयोऽध्यायः॥

चतुर्थोऽध्यायः

श्रीउद्धवजीके कहनेपर विदुरजीका मैत्रेय ऋषिके पास जाना

श्रीउद्धव उवाच—

अथ ते तदनुज्ञाता भुक्त्वा पीत्वा च वारुणीम्।
तया विभ्रंशितज्ञाना दुरुक्तैर्मर्म पस्पृशुः॥ १॥

श्रीउद्धवने कहा—इसके बाद उन सभी यादवोंने ब्राह्मणोंकी अनुमति लेकर भोजन किया। तदनन्तर उन्होंने वारुणी मदिराका पान किया, जिससे उनका ज्ञान नष्ट हो गया और बुद्धि मारी गयी। वे कटूक्तियों और दुर्वचनोंका प्रयोग करके एक-दूसरेको मर्माहत करने लगे॥ १॥

तेषां मैरेयदोषेण विषमीकृतचेतसाम्।
निम्लोचति रवावासीद्वेणुनामिव मर्दनम्॥ २॥

जिस प्रकार बाँसोंके परस्पर संघर्षणसे निकली आगसे बाँसका समस्त वन ही विनष्ट हो जाता है, उसी प्रकार दिनमणि—सूर्यके अस्ताचलकी ओर जाते ही वारुणी सुरापानसे विकृतचित्त समस्त यादव आपसमें ही संघर्ष करते हुए विनाशको प्राप्त हो गये॥ २॥

भगवान् स्वात्ममायाया गतिं तामवलोक्य सः।
सरस्वतीमुपस्पृश्य वृक्षमूल उपाविशत्॥ ३॥

भगवान् श्रीकृष्ण अपनी मायाकी इस विचित्र गतिको देखकर सरस्वतीके तटपर आ गये और आचमन करके एक वृक्षके नीचे विराजमान हो गये॥ ३॥

अहञ्चोक्तो भगवता प्रपन्नार्त्तिहरेण ह।
बदरीं त्वं प्रयाहीति स्वकुलं संजिहीर्षुणा॥ ४॥

शरणागतजनोंके दुःखोंका हरण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने अपने कुलका संहार करनेकी इच्छासे द्वारकामें ही मुझसे कह दिया था—“उद्धव! तुम बदरिकाश्रम चले जाओ॥”४॥

तथापि तदभिप्रेतं जानन्नहमरिन्दम।
पृष्ठतोऽन्वगमं भर्तुः पादविश्लेषणाक्षमः॥५॥

किन्तु हे शत्रुदमनकारी[१] विदुरजी! तथापि मैं भगवान् श्रीकृष्णके कुल-संहारके अभिप्रायको जानकर तथा उनके श्रीचरणकमलोंके दर्शनके विच्छेद-दुःखको सहन करनेमें असमर्थ होकर उनके पीछे-पीछे प्रभासक्षेत्रमें पहुँच गया॥५॥

अद्राक्षमेकमासीनं विचिन्वन् दयितं पतिम्।
श्रीनिकेतं सरस्वत्यां कृतकेतमकेतनम्॥६॥

प्रियतम प्राणपति श्रीकृष्णकी खोजमें जाते-जाते मैंने देखा कि सबके आश्रय वे प्रभु श्रीनिवास आज निराश्रय-भावसे सरस्वतीके तटपर अकेले ही बैठे हैं॥६॥

श्यामावदातं विरजं प्रशान्तारुणलोचनम्।
दोर्भिश्चतुर्भिर्विदितं पीतकौशाम्बरेण च॥७॥

विदुरजी! उनका शरीर उज्ज्वल श्यामवर्णका था, दोनों नेत्र प्रशान्त और अरुणवर्णके थे। वे शुद्धसत्त्व चतुर्भुज-स्वरूप थे और रेशमी पीताम्बर धारण किये हुए थे। यह देखकर मैं समझ गया कि ये श्रीकृष्ण ही हैं॥७॥

वाम ऊरावधिश्रित्य दक्षिणाङ्घ्रिसरोरुहम्।
अपाश्रितार्भकाश्वत्थमकृशं त्यक्तपिप्पलम्॥८॥

वे एक छोटे-से पीपलके वृक्षके नीचे उस वृक्षसे पीठ लगाकर तथा बायीं जाँघके ऊपर दायें चरणकमलको रखकर बैठे हुए थे। सम्पूर्ण ब्रह्माण्डकी विलास-लीला अर्थात् विषय-सुखोंका परित्याग करके भी वे आनन्दसे परिपूर्ण थे॥८॥

---

[१] काम, क्रोध आदि शत्रुओंका दमन करनेवाले।

तस्मिन् महाभागवतो द्वैपायनसुहृत्सखा।
लोकाननुचरन् सिद्ध आससाद यदृच्छया॥ ९॥

हे विदुर! उसी समय कृष्ण-द्वैपायन वेदव्यासजीके सुहृत् एवं सखा महाभागवत मैत्रेय ऋषि त्रिभुवनमें विचरण करते हुए अकस्मात् वहाँपर उपस्थित हुए॥ ९॥

तस्यानुरक्तस्य मुनेर्मुकुन्दः
प्रमोदभावानतकन्धरस्य ।
आश‍ृण्वतो मामनुरागहास-
समीक्षया विश्रमयन्नुवाच॥ १०॥

मैत्रेय ऋषि भगवान्‌के प्रति अत्यन्त अनुरक्त थे। भगवान्‌के दर्शनसे उदित आनन्द एवं भक्तिभावसे उनका सिर झुका हुआ था। भगवत्-कथाके श्रवणमें अनुरक्त उन ऋषिके समक्ष ही भगवान् मुकुन्दने अनुराग और मुस्कानयुक्त चितवनसे मेरे विरहसे उत्पन्न श्रमको दूर करते हुए कहा॥ १०॥

श्रीभगवानुवाच—

वेदाहमन्तर्मनसीप्सितं ते
ददामि यत्तद्दुरवापमन्यैः।
सत्रे पुरा विश्वसृजां वसूनां
मत्सिद्धिकामेन वसो त्वयेष्टः॥ ११॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—प्रिय उद्धव! मैं तुम्हारे अन्तःकरणमें अवस्थित रहकर तुम्हारे हृदयकी अभिलाषाको भलीभाँति जानता हूँ। पूर्वजन्ममें तुम वसु थे। विश्वस्रष्टा प्रजापति एवं वसुओंके द्वारा मिलकर किये गये यज्ञमें मुझे प्राप्त करनेकी कामनासे तुमने मेरी आराधना की थी। अतएव मुझसे बहिर्मुख व्यक्तियोंके लिए जो दुष्प्राप्य है, मैं वही साधन तुम्हें प्रदान कर रहा हूँ॥ ११॥

स एष साधो चरमो भवाना-
मासादितस्ते मदनुग्रहो यत्।
यन्मां नृलोकान् रह उत्सृजन्तं
दिष्ट्या ददृश्वान् विशदानुवृत्त्या॥ १२॥

विरह-दुःखसे व्याकुल उद्धवजीको सान्त्वना प्रदान करते हुए श्रीभगवान्ने कहा—हे साधुस्वभाव उद्धव! समस्त जन्मोंमेंसे तुम्हारा यह वर्त्तमान जन्म ही अन्तिम जन्म है, क्योंकि इस जन्ममें तुम्हें मेरा अनुग्रह प्राप्त हुआ है। मैं इस नरलोकका परित्यागकर वैकुण्ठको जानेके लिए तैयार हूँ। अतः ऐसे समयमें इस निर्जनस्थानमें ऐकान्तिक भक्तियोगके प्रभावसे बड़े सौभाग्यवशतः ही तुमने मेरा दर्शन प्राप्त किया है॥ १२॥

पुरा मया प्रोक्तमजाय नाभ्ये
पद्मे निषण्णाय ममादिसर्गे।
ज्ञानं परं मन्महिमावभासं
यत् सूरयो भागवतं वदन्ति॥ १३॥

हे उद्धव! पूर्वकाल अर्थात् पाद्म-कल्पमें सृष्टिके आरम्भमें मैंने अपने नाभि-कमलमें बैठे हुए ब्रह्माको अपनी महिमाको प्रकाशित करनेवाले परमगुह्य ज्ञानका उपदेश दिया था। मनीषिगण उसे 'चतुःश्लोकी-भागवत' के रूपमें जानते हैं। वही ज्ञान अब मैं तुम्हें भी प्रदान कर रहा हूँ॥ १३॥

इत्यादृतोक्तः परमस्य पुंसः
प्रतीक्षणानुग्रहभाजनोऽहम्।
स्नेहोत्थरोमा स्खलिताक्षरस्तं
मुञ्चञ्छुचः प्राञ्जलिराबभाषे॥ १४॥

परमपुरुष श्रीकृष्णके इस प्रकारके आदरपूर्ण वचनों तथा कृपादृष्टिरूप अनुग्रहको प्राप्त करके मेरा शरीर प्रेमसे रोमाञ्चित हो गया और वाणी गद्गद होने लगी। कुछ क्षण पश्चात् मैंने अपने शोकाश्रुओंको पोंछते हुए हाथ जोड़कर भगवान्से निवेदन किया॥ १४॥

को न्वीश ते पादसरोजभाजां
सुदुर्लभोऽर्थेषु चतुर्ष्वपीह।
तथापि नाहं प्रवृणोमि भूमन्
भवत्पदाम्भोजनिषेवणोत्सुकः॥ १५॥

हे भगवन्! जो व्यक्ति आपके चरणकमलोंके सेवक हैं, उनके लिए इस संसारमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार प्रकारके पुरुषार्थोंमेंसे कुछ भी दुर्लभ नहीं है। तथापि हे प्रभो! मुझे उनमेंसे किसीकी भी कामना नहीं है। मैं तो केवल आपके चरणकमलोंकी सेवाके लिए ही लालायित रहता हूँ॥ १५॥

कर्माण्यनीहस्य भवोऽभवस्य ते
दुर्गाश्रयोऽथारिभयात् पलायनम्।
कालात्मनो यत् प्रमदायुताश्रमः
स्वात्मन् रतेः खिद्यति धीर्विदामिह॥ १६॥

हे प्रभो! आप अपनी अचिन्त्यशक्तिके बलसे निःस्पृह होकर भी कर्म करते हैं, प्राकृत जन्मसे रहित होकर भी जन्म स्वीकार करते हैं, साक्षात् कालस्वरूप होकर भी शत्रुके भयसे भागकर द्वारकाके किलेमें छिप जाते हैं तथा आत्माराम होकर भी सोलह हजार रानियोंके साथ गृहस्थ-धर्म स्वीकार करते हैं—आपकी इन क्रियाओंका समाधान करते समय विद्वानोंकी बुद्धि भी भ्रमित हो जाती है॥ १६॥

मन्त्रेषु मां वा उपहूय यत् त्व-
मकुण्ठिताखण्डसदात्मबोधः ।
पृच्छेः प्रभो मुग्ध इवाप्रमत्त-
स्तन्नो मनो मोहयतीव देव॥ १७॥

आप कुण्ठाधर्म और संशय आदिसे रहित, कालादिके द्वारा अखण्डित तथा विद्याशक्तिसे युक्त होनेपर भी जो मुझे बुलवाकर अज्ञकी भाँति मुझसे मन्त्रणा लेते थे—हे देव! आपका वैसा व्यवहार मेरे चित्तको मुग्ध कर रहा है॥ १७॥

ज्ञानं परं स्वात्मरहःप्रकाशं
प्रोवाच कस्मै भगवान् समग्रम्।
अपि क्षमं नो ग्रहणाय भर्त-
र्वदाञ्जसा यद्वृजिनं तरेम॥ १८॥

हे भगवन्! अपने स्वरूपके गूढ़ रहस्य-तत्त्वको प्रकाशित करनेवाला जो परम गुह्य एवं समग्र ज्ञान आपने ब्रह्माजीको बतलाया था, यदि वह ज्ञान हमारे समझने योग्य हो, तो कृपापूर्वक हमें भी बतलाइये। उसे श्रवणकर हम अनायास ही संसारदुःखसे पार हो जायेंगे ॥ १८ ॥

इत्यावेदितहार्दाय मह्यं स भगवान् परः।
आदिदेशारविन्दाक्ष आत्मनः परमां स्थितिम्॥ १९॥

इस प्रकार जब मैंने उनके सम्मुख अपने हृदयका अभिप्राय निवेदन किया, तब उन परमपुरुष कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णने मुझे अपने परमगुह्य-तत्त्वका उपदेश प्रदान किया॥ १९॥

स एवमाराधितपादतीर्था-
दधीततत्त्वात्मविबोधमार्गः ।
प्रणम्य पादौ परिवृत्य देव-
मिहागतोऽहं विरहातुरात्मा॥ २०॥

इस प्रकार परमपूज्यपाद गुरु श्रीकृष्णसे परमात्म-तत्त्वके ज्ञानमें पारदर्शी होकर मैंने उनके चरणकमलोंमें प्रणाम किया और उनकी प्रदक्षिणा करके विरहके कष्टसे व्याकुल होकर मैं यहाँ चला आया हूँ॥ २०॥

सोऽहं तद्दर्शनाह्लाद-वियोगार्तियुतः प्रभो।
गमिष्ये दयितं तस्य बदर्याश्रममण्डलम्॥ २१॥

हे प्रभो विदुरजी! प्रतिक्षण श्रीकृष्णका दर्शन करते हुए मैं आनन्दको प्राप्त करता था और अब उनके वियोगके कारण अत्यन्त पीड़ित हो रहा हूँ। अब मैं उनके परमप्रिय क्षेत्र बदरिकाश्रममें चला जाऊँगा, क्योंकि भगवान्ने स्वयं मुझे वहाँ जानेके लिए आदेश दिया है॥ २१॥

यत्र नारायणो देवो नरश्च भगवानृषिः।
मृदु तीव्रं तपो दीर्घं तेपाते लोकभावनौ॥ २२॥

बदरिकाश्रममें जगत्के लोगोंपर अनुग्रह करनेवाले श्रीकृष्णके अंशस्वरूप भगवान् नारायण और नर ऋषि रहते हैं। ये दोनों वहाँपर

कल्पके अन्तकाल तक समस्त लोगोंको सुख प्रदान करनेवाली, उपद्रवसे रहित—कठोर तपस्याका आचरण कर रहे हैं॥ २२॥

श्रीशुक उवाच—

इत्युद्धवादुपाकर्ण्य सुहृदां दुःसहं वधम्।
ज्ञानेनाशमयत् क्षत्ता शोकमुत्पतितं बुधः॥ २३॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—इस प्रकार श्रीउद्धवजीके मुखसे प्रिय बन्धुओंके निधनका असहनीय समाचार सुनकर परम पण्डित विदुरजीमें शोकका जो वेग उत्पन्न हुआ, उसे उन्होंने विवेकरूप ज्ञानके द्वारा शान्त कर दिया॥ २३॥

स तं महाभागवतं व्रजन्तं कौरवर्षभः।
विश्रम्भादभ्यधत्तेदं मुख्यं कृष्णपरिग्रहे॥ २४॥

कुरुश्रेष्ठ विदुरजीने श्रीकृष्णकी कृपाके मुख्यपात्र महाभागवत श्रीउद्धवको बदरिकाश्रम जानेके लिए तत्पर देखकर श्रद्धा एवं विश्वास सहित उनसे कहा॥ २४॥

श्रीविदुर उवाच—

ज्ञानं परं स्वात्मरहःप्रकाशं
यदाह योगेश्वर ईश्वरस्ते।
वक्तुं भवान् नोऽर्हति यद्धि विष्णो-
र्भृत्याः स्वभृत्यार्थकृतश्चरन्ति॥ २५॥

श्रीविदुरने कहा—हे उद्धवजी! भगवान् विष्णुके दास वैष्णवजन अपने सेवकोंके प्रयोजनको सिद्ध करनेके लिए ही इस संसारमें विचरण करते हैं। अतएव योगेश्वरोंके ईश्वर भगवान् श्रीकृष्णने आपको जो आत्मतत्त्वको प्रकाश करनेवाला परमगुह्य-ज्ञान बतलाया था, उसे आप कृपापूर्वक मुझे भी बतलाइये॥ २५॥

श्रीउद्धव उवाच—

ननु ते तत्त्वसंराध्य ऋषिः कौषारवोऽन्तिके।
साक्षाद्भगवतादिष्टो मर्त्यलोकं जिहासता॥ २६॥

श्रीउद्धवने कहा—हे विदुरजी! उस तत्त्वज्ञानको प्राप्त करनेके लिए आपको मैत्रेय ऋषिकी सेवा करनी चाहिये, क्योंकि इस मर्त्यलोकको परित्याग करनेके अभिलाषी भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं मेरे समक्ष ही आपको उस तत्त्वका उपदेश देनेके लिए उन्हें आज्ञा दी थी॥ २६॥

श्रीशुक उवाच—

इति सह विदुरेण विश्वमूर्ते-
र्गुणकथया सुधया प्लावितोरुतापः।
क्षणमिव पुलिने यमस्वसुस्तां
समुषित औपगविर्निशां ततोऽगात्॥ २७॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—इस प्रकार विदुरजीके साथ विश्वमूर्त्ति भगवान् श्रीकृष्णके गुण-लीलादिरूप कथामृतके द्वारा उद्धवजीका वियोगसे उत्पन्न महान मानसिक ताप दूर हो गया। उस रात्रि उन्होंने यमुना-पुलिनपर ही वास किया तथा वह रात्रि मानो क्षण भरके समान ही बीत गयी। प्रातःकाल होनेपर श्रीउद्धव वहाँसे बदरिकाश्रमके लिए चल दिये॥ २७॥

श्रीराजोवाच—

निधनमुपगतेषु वृष्णिभोजे-
ष्वधिरथयूथपयूथपेषु मुख्यः।
स तु कथमवशिष्ट उद्धवो य-
द्धरिरपि तत्यज आकृतिं त्र्यधीशः॥ २८॥

महाराज परीक्षित्ने पूछा—हे ब्रह्मन्! वृष्णिवंश एवं भोजवंशके अधिरथी, यूथपति और यूथपतियोंके भी यूथपति ब्रह्मशापसे विनष्ट हो गये थे। यहाँ तक कि ब्रह्मादि तीनों देवताओंके अधीश्वर भगवान् श्रीहरिने भी जब मनुष्याकारका त्याग कर दिया था, तब फिर केवल उद्धवजी ही किस प्रकार बचे रहे?॥ २८॥

श्रीशुक उवाच—

ब्रह्मशापापदेशेन कालेनामोघवाञ्छितः।
संहृत्य स्वकुलं स्फीतं त्यक्ष्यन् देहमचिन्तयत्॥ २९॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—ब्रह्मशाप ही यदुकुलके विनाशका मूल कारण नहीं है, बल्कि भगवान्‌की इच्छा ही इसका मूल कारण है। भगवान् अव्यर्थसङ्कल्प हैं अर्थात् उनका सङ्कल्प कभी भी व्यर्थ नहीं जाता। उन्होंने ब्रह्मशापके छलसे अपनी कालरूप शक्तिके द्वारा अपने विशाल वंशका संहार करवाया और स्वयं पृथ्वीका त्याग करनेकी इच्छा करते हुए वे इस प्रकार विचार करने लगे—॥ २९॥

अस्माल्लोकादुपरते मयि ज्ञानं मदाश्रयम्।
अर्हत्युद्धव एवाद्धा सम्प्रत्यात्मवतां वरः॥ ३०॥

मेरे द्वारा इस प्रापञ्चिक लोकसे अप्रकट होनेपर आत्म-वेत्ताओंमें श्रेष्ठ उद्धव ही मेरे आश्रित रहनेवाले तत्त्वज्ञानको सम्पूर्ण रूपसे जाननेके योग्य होंगे॥ ३०॥

नोद्धवोऽण्वपि मन्न्यूनो यद्गुणैर्नार्दितः प्रभुः।
अतो मद्वयुनं लोकं ग्राहयन्निह तिष्ठतु॥ ३१॥

उद्धव मुझसे किञ्चित्मात्र भी कम नहीं हैं, क्योंकि वे गोस्वामी हैं अर्थात् वे विषयोंके द्वारा क्षुब्ध नहीं होते। अतः वे ही लोगोंमें मुझसे सम्बन्धित ज्ञानका उपदेश देते हुए इस जगत्‌में रहें॥ ३१॥

एवं त्रिलोकगुरुणा सन्दिष्टः शब्दयोनिना।
बदर्याश्रममासाद्य हरिमीजे समाधिना॥ ३२॥

तीनों लोकोंके गुरु वेदकर्त्ता भगवान्‌के द्वारा इस प्रकार आदेश दिये जानेपर श्रीउद्धवजी बदरिकाश्रम चले गये और वहाँ वे समाधियोगमें श्रीकृष्णकी आराधना करने लगे॥ ३२॥

विदुरोऽप्युद्धवाच्छ्रुत्वा कृष्णस्य परमात्मनः।
क्रीडयोपात्तदेहस्य कर्माणि श्लाघितानि च॥ ३३॥
देहन्यासञ्च तस्यैवं धीराणां धैर्यवर्धनम्।
अन्येषां दुष्करतरं पशूनां विक्लवात्मनाम्॥ ३४॥
आत्मानञ्च कुरुश्रेष्ठ कृष्णेन मनसेक्षितम्।
ध्यायन् गते भागवते रुरोद प्रेमविह्वलः॥ ३५॥

हे कुरुश्रेष्ठ परीक्षित्‌जी! भगवान् श्रीकृष्णने लीलाके लिए ही अपना मनुष्य जैसा श्रीविग्रह ग्रहण किया था और लीलासे ही उसे अन्तर्धान भी कर दिया। भगवान्‌की यह अन्तर्धान लीला धीर व्यक्तियोंके लिए प्रेमवर्धक, परन्तु अधीर-चित्त और पशुओंके समान भगवत्-बहिर्मुख पाखण्डियोंके लिए अत्यन्त दुष्कर है। परमभागवत उद्धवजीके मुखसे भगवान्‌की प्रशंसनीय लीला तथा उनके अन्तर्धान होनेके विषयमें श्रवणकर एवं भगवान् श्रीकृष्णने परमधाम जाते समय मुझे भी स्मरण किया था—इन सब बातोंको जानकर उद्धवजीके जानेके बाद विदुरजी इन सबका ध्यान करते-करते प्रेमसे विह्वल हो गये और भगवान् श्रीकृष्णके अन्तर्धान होनेके कारण व्यथित चित्तसे रोने लगे॥ ३३-३५॥

कालिन्द्याः कतिभिः सिद्ध अहोभिर्भरतर्षभ।
प्रापद्यत स्वःसरितं यत्र मित्रासुतो मुनिः॥ ३६॥

हे राजन्! इस प्रकार परमभागवत विदुरजी कुछ दिनों तक यमुनाके तटपर ही निवास करनेके बाद सुरधुनीके तटपर चले गये, जहाँपर मैत्रेय ऋषि वास कर रहे थे॥ ३६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां तृतीयस्कन्धे श्रीविदुरोद्धवसंवादे चतुर्थोऽध्यायः॥

पञ्चमोऽध्यायः

विदुरजीका परिप्रश्न और मैत्रेय ऋषि द्वारा सृष्टिक्रमका वर्णन

श्रीशुक उवाच—

द्वारि द्युनद्या ऋषभः कुरूणां
मैत्रेयमासीनमगाधबोधम्।
क्षत्तोपसृत्याच्युतभाव-सिद्धः
पप्रच्छ सौशील्यगुणाभितृप्तः॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—श्रीकृष्णभक्तिके कारण निर्मलचित्त एवं सरलता और कारुण्य आदि गुणोंसे सन्तुष्ट कौरवश्रेष्ठ विदुरजीने गङ्गाके तटपर स्थिर-भावसे विराजमान असीम ज्ञानशाली मैत्रेय ऋषिके समीप पहुँचकर उनसे पूछा॥ १॥

श्रीविदुर उवाच—

सुखाय कर्माणि करोति लोको
न तैः सुखं वान्यदुपारमं वा।
विन्देत भूयस्तत एव दुःखं
यदत्र युक्तं भगवान् वदेन्नः॥ २॥

श्रीविदुरने कहा—हे महर्षि! इस संसारमें लोग जागतिक-सुखोंको प्राप्त करनेके लिए कर्म करते रहते हैं, किन्तु उन कर्मोंसे न तो उन्हें सुख मिलता और न ही उनका दुःख दूर होता है, अपितु उन कर्मोंसे उन्हें पुनः दुःख और क्लेश ही प्राप्त होता है। आप सर्वज्ञ हैं, अतः कृपापूर्वक हमें यह बतलाइये कि इस संसारमें हमारे लिए क्या करना उचित है॥ २॥

जनस्य कृष्णाद्विमुखस्य दैवा-
दधर्मशीलस्य सुदुःखितस्य।

अनुग्रहायेह चरन्ति नूनं
भूतानि भव्यानि जनार्दनस्य॥ ३॥

जो लोग अपने पूर्व कर्मोंके कारण दुर्भाग्यवशतः भगवान् श्रीकृष्णसे विमुख होकर अधर्ममें रत हैं, क्लेशोंसे अत्यन्त तप्त उन लोगोंपर कृपा करनेके लिए निश्चय ही श्रीकृष्णके मङ्गलमय भक्तजन इस मर्त्त्यलोकमें विचरण करते हैं॥ ३॥

तत् साधुवर्यादिश वर्त्म शं नः
संराधितो भगवान् येन पुंसाम्।
हृदि स्थितो यच्छति भक्तिपूते
ज्ञानं सतत्त्वाधिगमं पुराणम्॥ ४॥

अतएव हे साधुश्रेष्ठ मैत्रेयजी! कृपया आप मुझे उस सुख-स्वरूप साधन-पथके विषयमें उपदेश दीजिये, जिस पथके द्वारा भगवान् भलीभाँति आराधित होकर अपने भक्तोंके भक्तियोगसे पवित्र हुए हृदयमें विराजमान हो जाते हैं और अपने स्वरूपका अनुभव करानेवाला अनादि वेद-प्रमाणक ज्ञान प्रदान करते हैं॥ ४॥

करोति कर्माणि कृतावतारो
यान्यात्मतन्त्रो भगवांस्त्र्यधीशः।
यथा ससर्जाग्र इदं निरीहः
संस्थाप्य वृत्तिं जगतो विधत्ते॥ ५॥

हे महर्षि! त्रिलोकीके सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र अधीश्वर एवं त्रिगुणात्मिका मायाके नियन्ता भगवान् श्रीकृष्ण पुरुषरूपमें अवतार लेकर कौन-कौनसी लीलाएँ करते हैं तथा निःस्पृह होकर किस प्रकार पहले इस जगत्की सृष्टि करके और पुनः इसे सुस्थिर करके जीवोंकी जीविकाका विधान करते हैं—कृपया इन सबका वर्णन कीजिये॥ ५॥

यथा पुनः स्वे ख इदं निवेश्य
शेते गुहायां स निवृत्तवृत्तिः।
योगेश्वराधीश्वर एक एत-
दनुप्रविष्टो बहुधा यथासीत्॥ ६॥

पुनः वे किस प्रकारसे इस जगत्‌को अपने हृदयाकाशमें स्थापित करके निश्चेष्ट भावसे योगमायाका आश्रय लेकर शयन करते हैं और किस प्रकारसे योगेश्वरोंके अधीश्वर वे भगवान् एक होनेपर भी ब्रह्माण्डमें अनुप्रविष्ट होकर ब्रह्मादि अनेक रूपोंमें प्रकट होते हैं—इन रहस्योंको भी आप मुझे बतलाइये॥ ६॥

क्रीडन् विधत्ते द्विजगोसुराणां
क्षेमाय कर्माण्यवतारभेदैः।
मनो न तृप्यत्यपि शृण्वतां नः
सुश्लोकमौलेश्चरितामृतानि ॥ ७॥

वे गायों, ब्राह्मणों एवं देवताओं आदिके मङ्गलकी कामनासे मत्स्य, कूर्म आदि अवतार धारणकर जो-जो लीलाएँ करते हैं, उन सबका भी आप वर्णन कीजिये। पुण्य-कीर्त्तिवानोंके मुकुटमणि भगवान् श्रीहरिके चरितामृतका श्रवण करते हुए हमारा मन तृप्त नहीं हो रहा है॥ ७॥

यैस्तत्त्वभेदैरधिलोकनाथो
लोकानलोकान् सहलोकपालान्।
अचीक्लपद्यत्र हि सर्वसत्त्व-
निकायभेदोऽधिकृतः प्रतीतः॥ ८॥

समस्त लोकपतियोंके अधीश्वर भगवान्‌ने पृथ्वी आदि कौन-कौनसे तत्त्वभेदोंके द्वारा इन्द्रादि लोकपालोंके साथ स्वर्ग-मर्त्त्य आदि लोकोंकी और लोकालोक पर्वतके बाहरके भागोंकी रचना की है, तथा उन-उन स्थानोंपर प्राणी अपने-अपने जातिभेदसे जिन-जिन कर्मोंके अधिकारी बनकर रहते हैं, उन सबका भी वर्णन कीजिये॥ ८॥

येन प्रजानामुत आत्मकर्म-
रूपाभिधानाञ्च भिदां व्यधत्त।
नारायणो विश्वसृगात्मयोनि-
रेतच्च नो वर्णय विप्रवर्य॥ ९॥

हे विप्रश्रेष्ठ! विश्वस्रष्टा स्वतःसिद्ध भगवान् नारायणने जिस प्रकारसे जीवोंके स्वभाव, कर्म, रूप एवं नाम आदिका भेद किया है, कृपया उसका भी वर्णन कीजिये॥ ९॥

परावरेषां भगवन् व्रतानि
श्रुतानि मे व्यासमुखादभीक्ष्णम्।
अतृप्नुम क्षुल्लसुखावहानां
तेषामृते कृष्णकथामृतौघात्॥ १०॥

हे भगवन्! मैंने श्रीवेदव्यासजीके मुखसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आदि नीच जातियोंके धर्मको कई बार श्रवण किया है। इन तुच्छ-सुख उत्पन्न करनेवाले धर्मोंके विषयमें सुनकर मेरा चित्त तृप्त हो चुका है, किन्तु श्रीकृष्णके कथामृत-प्रवाहके पानसे मेरा चित्त तृप्त नहीं हुआ है॥ १०॥

कस्तृप्नुयात्तीर्थपदोऽभिधानात्
सत्रेषु वः सूरिभिरीड्यमानात्।
यः कर्णनाडीं पुरुषस्य यातो
भवप्रदां गेहरतिं छिनत्ति॥ ११॥

आप जैसे साधुओंके समाजमें श्रीनारद आदि महात्माओंके द्वारा वर्णन की गयी तीर्थपद श्रीकृष्णकी लीला-गुण आदिकी कथाओंके श्रवणसे कौन तृप्त हो सकता है? वैसा भगवत्-कीर्त्तन मनुष्योंके कर्ण-रन्ध्रोंमें प्रविष्ट होकर संसार-बन्धनमें डालनेवाली उसकी गृह-आसक्तिको काट डालता है॥ ११॥

मुनिर्विवक्षुर्भगवद्गुणानां
सखापि ते भारतमाह कृष्णः।
यस्मिन् नृणां ग्राम्यसुखानुवादै-
र्मतिर्गृहीता नु हरेः कथायाम्॥ १२॥

हे मुने! आपके सखा मुनिवर कृष्णद्वैपायन वेदव्यासने भी भगवान्के गुणोंका वर्णन करनेकी अभिलाषासे ही महाभारतकी रचना की थी। उसमें उन्होंने अर्थ और कामसे सम्बन्धित सांसारिक-कथाओंका उल्लेख करते हुए साधारण मनुष्योंकी बुद्धिको भगवान् श्रीहरिकी कथाओंकी ओर ही उन्मुख करनेका प्रयत्न किया है॥ १२॥

सा श्रद्दधानस्य विवर्द्धमाना
विरक्तिमन्यत्र करोति पुंसः।

हरेः पदानुस्मृतिनिर्वृतस्य
समस्तदुःखाप्ययमाशु धत्ते॥ १३॥

श्रद्धावान पुरुषकी मति जैसे-जैसे श्रीकृष्णमें वर्द्धित होती है, वैसे-वैसे ही उसे हरिकथाके अतिरिक्त अन्य विषय-सुखोंसे विरक्ति होने लगती है। श्रीकृष्णके चरणकमलोंके निरन्तर चिन्तनसे आनन्दित होनेपर शीघ्र ही उस व्यक्तिके समस्त दुःख दूर हो जाते हैं॥ १३॥

तान् शोच्यशोच्यानविदोऽनुशोचे
हरेः कथायां विमुखानघेन।
क्षिणोति देवोऽनिमिषस्तु येषा-
मायुर्वृथावादगतिस्मृतीनाम् ॥ १४॥

मैं तो शोचनीयोंके भी शोचनीय उन अज्ञानी मूढ़ पुरुषोंके लिए शोक कर रहा हूँ, जो अपने पूर्व पापोंके कारण हरिकथासे विमुख हैं। हाय! ये लोग वाणी, देह और मनसे व्यर्थके चिन्तन और विषयोंमें आसक्त हैं और काल उनकी आयुको वृथा ही क्षीण कर रहा है॥ १४॥

तदस्य कौषारव शर्मदातु-
र्हरेः कथामेव कथासु सारम्।
उद्धृत्य पुष्पेभ्य इवार्तबन्धो
शिवाय नः कीर्तय तीर्थकीर्तेः॥ १५॥

अतएव हे दीनबन्धु महर्षि मैत्रेय! भ्रमर जिस प्रकार पुष्पोंसे उसके सारस्वरूप मधुको निकाल लेता है, उसी प्रकार आप भी समस्त कथाओंकी सारभूता पवित्रकीर्त्ति श्रीहरिकी परम मङ्गलमयी कथाओंको हमें सुनाइये, जिससे हमारा कल्याण हो॥ १५॥

स विश्वजन्मस्थितिसंयमार्थे
कृतावतारः प्रगृहीतशक्तिः।
चकार कर्माण्यतिपूरुषाणि
यानीश्वरः कीर्तय तानि मह्यम्॥ १६॥

उन सर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्णने इस विश्वकी उत्पत्ति, पालन एवं संहारके लिए सम्पूर्ण रूपसे अपनी शक्तिका आश्रय लेकर पुरुषावतारोंके

रूपमें अवतीर्ण होकर जो समस्त अलौकिक लीलाएँ की हैं, उन सबका भी वर्णन कीजिये॥ १६॥

श्रीशुक उवाच—

एवं स भगवान् पृष्टः क्षत्त्रा कौशारवो मुनिः।
पुंसां निःश्रेयसार्थेन तमाह बहुमानयन्॥ १७॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—इस प्रकार विदुरजीने जब योगैश्वर्यशाली महर्षि मैत्रेयसे ये सब प्रश्न पूछे, तब उन्होंने विदुरजीकी प्रशंसा करते हुए मनुष्योंके नित्य कल्याणके लिए उनसे कहना आरम्भ किया॥ १७॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

साधु पृष्टं त्वया साधो लोकान् साध्वनुगृह्णता।
कीर्तिं वितन्वता लोके आत्मनोऽधोक्षजात्मनः॥ १८॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे साधुस्वभाव विदुर! आपने जो उत्तम प्रश्न पूछे हैं, उनसे आपने जगत्-वासियों और मेरे प्रति परम अनुग्रह ही प्रकाशित किया है। आपका चित्त तो सर्वदा ही इन्द्रियोंसे अतीत भगवान् श्रीकृष्णमें लगा ही रहता है, किन्तु इन प्रश्नोंके द्वारा आपका सुयश भी समस्त संसारमें विस्तारित होगा॥ १८॥

नैतच्चित्रं त्वयि क्षत्तर्बादरायणवीर्यजे।
गृहीतोऽनन्यभावेन यत् त्वया हरिरीश्वरः॥ १९॥

हे विदुरजी! आपने अनन्यभावसे सर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्णको साक्षात् रूपमें प्राप्त किया है और इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है, क्योंकि आप भगवान् वेदव्यासके औरस-पुत्रके रूपमें उत्पन्न हुए हैं॥ १९॥

माण्डव्यशापाद्भगवान् प्रजासंयमनो यमः।
भ्रातुः क्षेत्रे भुजिष्यायां जातः सत्यवतीसुतात्॥ २०॥

आप पूर्वजन्ममें प्रजाका संहार करनेवाले यमराज थे। आप माण्डव्य-मुनिके शापसे सत्यवती-नन्दन श्रीव्यासदेव द्वारा विचित्रवीर्यकी पत्नीके रूपमें स्वीकृत दासीके गर्भसे प्रकटित हुए हैं॥ २०॥

भवान् भगवतो नित्यं सम्मतः सानुगस्य च।
यस्य ज्ञानोपदेशाय मादिशद्भगवान् व्रजन्॥ २१॥

आप सर्वदा ही भगवान् श्रीहरि द्वारा स्वीकार किये गये उनके पार्षद भक्त हैं, इसीलिए भगवान् श्रीकृष्ण अपने धाममें पधारते समय मुझे आपको तत्त्वज्ञानका उपदेश करनेकी आज्ञा दे गये हैं॥ २१॥

अथ ते भगवल्लीला योगमायोपबृंहिताः।
विश्वस्थित्युद्भवान्तार्था वर्णयाम्यनुपूर्वशः॥ २२॥

इसलिए अब मैं आपके समक्ष भगवान्की स्वांश-मायाके द्वारा विस्तारित इस सम्पूर्ण जगत्की सृष्टि, स्थिति और प्रलयसे सम्बन्धित लीलाओंका क्रमपूर्वक वर्णन कर रहा हूँ॥ २२॥

भगवानेक आसेदमग्र आत्मात्मनां विभुः।
आत्मेच्छानुगतावात्माऽनानामत्युपलक्षणः ॥ २३॥

इस दृश्यमान जगत्की सृष्टि होनेसे पूर्व समस्त जीवोंके आत्मस्वरूप और ईश्वर—छह ऐश्वर्योंसे परिपूर्ण एकमात्र भगवान् ही थे। वे भगवान् असीम वैकुण्ठ आदि नाना प्रकारके वैभवोंसे युक्त थे तथा जीव-जगत्की सृष्टि करनेकी इच्छा उनके हृदयमें लीन रहनेके कारण वे अकेले ही अद्वयतत्त्व भगवत्-स्वरूपमें विद्यमान थे॥ २३॥

स वा एष तदा द्रष्टा नापश्यद्दृश्यमेकराट्।
मेनेऽसन्तमिवात्मानं सुप्तशक्तिरसुप्तदृक्॥ २४॥

सृष्टिके प्रारम्भमें उन सर्वाधिकारी दृष्टा अर्थात् प्रकृतिके ईक्षणकर्त्ता पुरुषको दृश्य स्वरूप—प्रधान दिखलायी नहीं दिया, क्योंकि प्रकृति उस समय उनमें ही लीन थी। पुरुषमें चित्-शक्ति नित्यकाल प्रकाशित रहती है, किन्तु विश्वसृष्टिकी सहायकारिणी बहिरङ्गा मायाशक्ति उस समय उनमें ही सुप्त थी। अतः उन्होंने समष्टि विराटको अपनेमें सूक्ष्म रूपमें विराजित रहनेपर भी उसकी नहीं रहनेके समान ही विवेचना की, क्योंकि कारणार्णवशायी पुरुषके प्रकृतिके प्रति ईक्षणके अतिरिक्त समष्टि विराटका प्रकटन असम्भव है॥ २४॥

सा वा एतस्य संद्रष्टुः शक्तिः सदसदात्मिका।
माया नाम महाभाग ययेदं निर्ममे विभुः॥ २५॥

द्रष्टा-स्वरूप परमेश्वरकी दृश्य-स्वरूप शक्ति ही माया है, जो कार्य और कारणरूपमें अभिव्यक्त होती है। हे महाभाग! इस मायाशक्तिके द्वारा ही परमेश्वरने इस परिदृश्यमान विश्वकी सृष्टि की है॥ २५॥

कालवृत्त्यात्ममायायां गुणमयामधोक्षजः।
पुरुषेणात्मभूतेन वीर्यमाधत्त वीर्यवान्॥ २६॥

चित्-शक्तिसे युक्त अतीन्द्रिय पुरुष भगवान्‌ने अपने अंशभूत प्रकृतिके अधिष्ठातृरूप पुरुषावतारके द्वारा कालशक्तिसे क्षोभित अपनी बहिरङ्गाशक्ति मायामें चिदाभासरूप बीज अर्थात् जीवसमूहको स्थापित किया॥ २६॥

ततोऽभवन्महत्तत्त्वमव्यक्तात् कालचोदितात्।
विज्ञानात्मात्मदेहस्थं विश्वं व्यञ्जंस्तमोनुदः॥ २७॥

इसके बाद कालके द्वारा प्रेरित अव्यक्त मायासे तमोगुणका नाशक विशिष्ट ज्ञानस्वरूप महत्-तत्त्व आविर्भूत हुआ। जिस प्रकार बीजसे निकला अङ्कुर विशाल वृक्षको प्रकटित करता है, उसी प्रकारसे महत्-तत्त्व भी अपनेमें सूक्ष्म रूपसे स्थित विश्वको प्रकाशित करनेवाला है॥ २७॥

सोऽप्यंशगुणकालात्मा भगवद्दृष्टिगोचरः।
आत्मानं व्यकरोदात्मा विश्वस्यास्य सिसृक्षया॥ २८॥

तत्पश्चात् चिदाभास, गुण एवं गुण-क्षोभक काल—इन तीनोंके अधीन उस महत्-तत्त्वने उत्पन्न होनेवाले विश्वके आश्रय उन महान् एवं सर्वाध्यक्ष भगवान्‌की इच्छाके अनुरूप अहङ्कार-तत्त्वकी सृष्टिके लिए स्वयंको रूपान्तरित कर दिया॥ २८॥

महत्तत्त्वाद्विकुर्वाणादहंतत्त्वं व्यजायत।
कार्यकारणकर्त्रात्मा भूतेन्द्रियमनोमयः।

वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिधा॥ २९॥

महत्-तत्त्वके विकार प्राप्त होनेपर उससे अहङ्कार-तत्त्वकी उत्पत्ति हुई। यह अहङ्कार कार्य (अधिभूत), कारण (अध्यात्म) और कर्त्ता (अधिदैव)—इन तीन रूपोंमें अभिव्यक्त होता है। यह अहङ्कार पञ्चभूत, इन्द्रिय और मन—इन तीनोंका विकार-विशिष्ट है, इसलिए सात्त्विक, राजसिक एवं तामसिक भेदसे यह तीन प्रकारका है॥ २९॥

अहंतत्त्वाद्विकुर्वाणान्मनो वैकारिकादभूत्।
वैकारिकाश्च ये देवा अर्थाभिव्यञ्जनं यतः॥ ३०॥

सात्त्विक अहङ्कारके विकारको प्राप्त होनेपर उससे मनकी उत्पत्ति हुई। जिन सब वैकारिक देवताओंसे शब्दादि कार्य प्रकाशित होते हैं, वे वैकारिक देवता भी सात्त्विक अहङ्कारसे उत्पन्न हुए हैं॥ ३०॥

तैजसानीन्द्रियाण्येव ज्ञानकर्ममयानि च॥ ३१॥

राजस अहङ्कारके विकारको प्राप्त होनेपर ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न हुईं॥ ३१॥

तामसो भूतसूक्ष्मादिर्यतः खं लिङ्गमात्मनः॥ ३२॥

तामस अहङ्कारके विकारको प्राप्त होनेपर उससे शब्द उत्पन्न हुआ। इस शब्दसे ही परमात्माका बोध करानेवाले आकाशकी उत्पत्ति हुई॥ ३२॥

कालमायांशयोगेन भगवद्वीक्षितं नभः।
नभसोऽनुसृतं स्पर्शं विकुर्वन्निर्ममेऽनिलम्॥ ३३॥

इसके बाद काल और मायाके आंशिक योगसे आकाशने भगवान्‌की इच्छानुसार स्पर्शको उत्पन्न किया। तब इसी आकाशसे उत्पन्न स्पर्शतन्मात्राके फिरसे रूपान्तरको प्राप्त होनेपर वायुकी सृष्टि हुई॥ ३३॥

अनिलोऽपि विकुर्वाणो नभसोरुबलान्वितः।
ससर्ज रूपतन्मात्रं ज्योतिर्लोकस्य लोचनम्॥ ३४॥

जब आकाशके साथ महाबलशाली वायु विकारको प्राप्त हुआ, तब रूपतन्मात्राकी सृष्टि हुई, जिससे समस्त भुवनको प्रकाशित करनेवाला तेज उत्पन्न हुआ॥ ३४॥

अनिलेनान्वितं ज्योतिर्विकुर्वत् परवीक्षितम्।
आधत्ताम्भो रसमयं कालमायांशयोगतः॥ ३५॥

जब वह ज्योति (तेज) वायुके साथ मिलकर परमेश्वरके दृष्टिपात द्वारा विकारको प्राप्त हुई, तब काल और मायाके आंशिक योगसे रस-तन्मात्राके कार्य जलकी उत्पत्ति हुई॥ ३५॥

ज्योतिषाम्भोऽनुसंसृष्टं विकुर्वद्ब्रह्मवीक्षितम्।
महीं गन्धगुणामाधात् कालमायांशयोगतः॥ ३६॥

हे विदुरजी! इसके बाद जब जल ज्योति (तेज) के साथ मिलकर भगवान्‌की दृष्टिपातसे विकारको प्राप्त हुआ, तब काल और बहिरङ्गा-मायाके सहयोगसे गन्ध-गुणयुक्त पृथ्वीकी सृष्टि हुई॥ ३६॥

भूतानां नभ आदीनां यद्यद्भव्यावरावरम्।
तेषां परानुसंसर्गाद् यथासंख्यं गुणान् विदुः॥ ३७॥

हे सौम्य! आकाश आदि पञ्चभूतोंमें जो-जो भूत क्रमशः निकृष्ट हैं, उनके साथ स्व-स्व कारणका क्रमशः सम्बन्ध होनेके कारण उनमें अपने पूर्व-पूर्व भूतोंके गुणोंको भी विद्यमान जानना चाहिये। (जिस प्रकार आकाशका केवल शब्दमात्र एक ही गुण है। इस गुणका वायुके साथ मिलन होनेपर वायुमें स्पर्श और शब्द ये दो गुण होते हैं; तेजमें आकाश और वायुका सम्बन्ध होनेपर तेजमें रूप, शब्द एवं स्पर्श—ये तीन गुण होते हैं; जलमें आकाश आदि पूर्व भूतत्रयका अनुप्रवेश होनेपर जलमें रस, शब्द, स्पर्श और रूप चार गुण होते हैं; तथा पृथ्वीमें आकाश आदि भूत-चतुष्टयके अनुप्रविष्ट होनेपर गन्ध, शब्द, स्पर्श, रूप एवं रस—ये पाँच गुण विद्यमान रहते हैं।)॥ ३७॥

एते देवाः कला विष्णोः कालमायांशलिङ्गिनः।
नानात्वात् स्वक्रियानीशाः प्रोचुः प्राञ्जलयो विभुम्॥ ३८॥

इन सब महत् आदि तत्त्वोंके अभिमानी देवता विष्णुके अंश हैं तथा इनमें विकार, विक्षेप और चेतना आदि गुण समभावसे विद्यमान रहते हैं। किन्तु उनमें परस्पर सम्बन्ध न हो पानेके कारण जब वे ब्रह्माण्डकी रचना करनेमें असमर्थ हो गये, तब वे हाथ जोड़कर श्रीभगवान्‌से कहने लगे॥ ३८॥

श्रीदेवा ऊचुः—

नमाम ते देव पदारविन्दं
प्रपन्नतापोपशमातपत्रम् ।
यन्मूलकेता यतयोऽञ्जसोरु-
संसारदुःखं बहिरुत्क्षिपन्ति॥ ३९॥

देवताओंने कहा—हे परमदेव! हम आपके उन चरणकमलोंमें प्रणत हैं, जो छत्रके समान शरणागत व्यक्तियोंके तापको दूर करते हैं। आपके इन चरणकमलोंके तलका आश्रय लेनेवाले यतिलोग संसार-दुःखको सहज रूपमें दूर फेंक देते हैं॥ ३९॥

धातर्यदस्मिन् भव ईश जीवा-
स्तापत्रयेणाभिहता न शर्म।
आत्मन् लभन्ते भगवंस्तवाङ्घ्रि-
च्छायां सविद्यामत आश्रयेम॥ ४०॥

हे पिता! हे जगदीश्वर! इस संसारमें जीव आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक—इन त्रितापोंसे दग्ध होकर किसी भी प्रकारसे शान्ति प्राप्त नहीं कर पाते हैं। अतएव हे भगवन्! हम आपके चरणकमलोंकी विद्यामयी छायाका ही आश्रय ग्रहण करते हैं॥ ४०॥

मार्गन्ति यत् ते मुखपद्मनीडै-
श्छन्दःसुपर्णैर्ऋषयो विविक्ते।
यस्याघमर्षोद-सरिद्वरायाः
पदं पदं तीर्थपदः प्रपन्नाः॥ ४१॥

ऋषिगण अपने आसक्तिशून्य अन्तःकरणमें आपके मुखकमलरूप घोंसलेका आश्रय लेनेवाले वेदमन्त्ररूप पक्षियोंकी सहायतासे जिस

परमपद स्वरूप चरणकमलोंका अनुसन्धान करते रहते हैं, तथा समस्त पापनाशिनी नदियोंमें श्रेष्ठ श्रीगङ्गा जिन चरणकमलोंसे निकली हैं, उस गङ्गाकी सेवामें तत्पर होकर ही भक्तगण भी समस्त तीर्थोंके आश्रय स्वरूप आपके उन श्रीचरणकमलोंको प्राप्त करते हैं। अतः हम आपके उन परम पावन चरणकमलोंका आश्रय लेते हैं॥ ४१॥

यच्छ्रद्धया श्रुतवत्या च भक्त्या
संमृज्यमाने हृदयेऽवधाय।
ज्ञानेन वैराग्यबलेन धीरा
व्रजेम तत् तेऽङ्घ्रिसरोजपीठम्॥ ४२॥

हे भगवन्! विषयोंमें पूर्णता आसक्त व्यक्ति भी श्रद्धा और श्रवणमें आग्रहरूप भक्तिके द्वारा भलीभाँति मार्जित अपने हृदयमें आपके जिन चरणकमलोंका अनुभव करते हैं तथा वैराग्यके बलसे उन चरणकमलोंके माधुर्यके आस्वादनरूप ज्ञानके द्वारा तत्त्ववेत्ता हो जाते हैं, हम आपके उन्हीं चरणकमलोंका आश्रय ग्रहण करते हैं॥ ४२॥

विश्वस्य जन्मस्थितिसंयमार्थे
कृतावतारस्य पदाम्बुजं ते।
व्रजेम सर्वे शरणं यदीश
स्मृतं प्रयच्छत्यभयं स्वपुंसाम्॥ ४३॥

हे ईश! आप विश्वकी सृष्टि, स्थिति एवं प्रलयके लिए अवतार लेते हैं, अतः हम सब आपके चरणारविन्दोंमें शरणागत हैं। आपके चरणकमल अपने आश्रितोंको स्मृति अर्थात् स्वरूपज्ञान और अभय प्रदान करते हैं॥ ४३॥

यत् सानुबन्धेऽसति देहगेहे
ममाहमित्यूढ-दुराग्रहाणाम् ।
पुंसां सुदूरं वसतोऽपि पुर्यां
भजेम तत्ते भगवन् पदाब्जम्॥ ४४॥

स्त्री-पुत्र आदि विषयों सहित तुच्छ देह, घर आदिमें जिनका 'मैं और मेरा' रूप प्रबल दुराग्रह रहता है, उन समस्त जीवोंके देहपुरमें

आपके द्वारा अन्तर्यामी रूपसे अवस्थित रहनेपर भी आपके जो श्रीचरणकमल उन देहाभिमानियोंके लिए दुष्प्राप्य हैं, हम आपके उन्हीं पदारविन्दोंका भजन करते हैं॥ ४४॥

तान् वै ह्यसद्वृत्तिभिरक्षिभिर्ये
पराहृतान्तर्मनसः परेश।
अथो न पश्यन्त्युरुगाय नूनं
ये ते पदन्यासविलासलक्ष्म्याः॥ ४५॥

हे परम यशस्वी परमेश्वर! जिनका अन्तःकरण बहिर्मुखी इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंमें ही विचरण करनेके कारण भगवान्से दूर रहता है, वे मूढ़ निश्चय ही लीलाकथा-विलासकी स्मरण, कीर्त्तनादि रूप सम्पत्ति द्वारा परम कृतार्थ हुए भक्तोंका दर्शन नहीं कर पाते॥ ४५॥

पानेन ते देव कथासुधायाः
प्रवृद्धभक्त्या विशदाशया ये।
वैराग्यसारं प्रतिलभ्य बोधं
यथाञ्जसान्वीयुरकुण्ठधिष्ण्यम् ॥ ४६॥

हे देव! आपके कथामृतका पान करनेके फलस्वरूप सम्पूर्ण रूपसे उच्छलित भक्तिके द्वारा कपटतारहित होकर भक्त वैराग्यके सार स्वरूप आत्मज्ञानको प्राप्त करके शीघ्र ही काल आदिके प्रभावसे रहित वैकुण्ठलोकको प्राप्त कर लेते हैं॥ ४६॥

तथापरे चात्मसमाधियोग-
बलेन जित्वा प्रकृतिं बलिष्ठाम्।
त्वामेव धीराः पुरुषं विशन्ति
तेषां श्रमः स्यान्न तु सेवया ते॥ ४७॥

मोक्षमात्रकी कामना करनेवाले अन्य धीर व्यक्ति चित्त-निरोधरूप समाधि अर्थात् ज्ञानयोगके बलसे आपकी बलवती मायाको जीतकर आदि पुरुषमें ही प्रवेशकर सायुज्य प्राप्त करते हैं। इसमें उन्हें बहुत परिश्रम होता है, किन्तु भक्तोंको आपकी सेवामें श्रम नहीं होता,

क्योंकि सदा ही सेवानन्दका अनुभव करनेके कारण वे आनुषङ्गिक रूपसे ही मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं॥ ४७॥

तत्ते वयं लोकसिसृक्षयाद्य
त्वयानुसृष्टास्त्रिभिरात्मभिः स्म।
सर्वे वियुक्ताः स्वविहारतन्त्रं
न शक्नुमस्तत्प्रतिहर्तवे ते॥ ४८॥

हे आदिदेव! लोक-निर्माणकी कामनासे आपने सत्त्वादि तीन प्रकारके स्वभाव द्वारा हमारी सृष्टि की है। यद्यपि हमसब आपके अधीन हैं, तथापि परस्पर विरुद्ध-स्वभावके कारण हमारा आपसमें वियोग ही रहता है। अतः आपकी क्रीड़ाके उपकरणरूप ब्रह्माण्डका निर्माण न कर पानेके कारण हम उसे आपको समर्पित करनेमें असमर्थ हो रहे हैं॥ ४८॥

यावद्बलिं तेऽज हराम काले
यथा वयञ्चान्नमदाम यत्र।
यथोभयेषां त इमे हि लोका
बलिं हरन्तोऽन्नमदन्त्यनूहाः॥ ४९॥

अतः हे जन्मरहित भगवन्! कृपया हमें ऐसी शक्ति प्रदान कीजिये जिससे कि हम ब्रह्माण्डकी रचना करके आपको सब प्रकारके भोग समर्पण कर सकें और उसमें स्थित होकर हम भी अपनी योग्यताके अनुसार अन्न ग्रहण कर सकें तथा ये सब जीव भी सब प्रकारकी विघ्न-बाधाओंसे दूर रहकर हमें और आपको भोग समर्पण करते हुए अपना-अपना अन्न भक्षण अर्थात् अपने-अपने कर्मका फल भोग कर सकें॥ ४९॥

त्वं नः सुराणामसि सान्वयानां
कूटस्थ आद्यः पुरुषः पुराणः।
त्वं देवशक्त्यां गुणकर्मयोनौ
रेतस्त्वजायां कविमादधेऽजः॥ ५०॥

हे परमदेव! आप ही हम देवताओंके कारण सहित कार्यस्वरूप आदिकारण, अविकारी, आदिरहित पुरातन पुरुष और सभीके अधिष्ठाता हैं। प्राकृत जन्मरहित आपने ही सत्त्वादि गुण और कर्मादिकी कारणभूता आद्य-शक्ति मायामें समष्टि जीवरूप अथवा महत्-तत्त्वरूप वीर्यका आधान किया है॥ ५०॥

ततो वयं मत्प्रमुखा यदर्थे
बभूविमात्मन् करवाम किं ते।
त्वं नः स्वचक्षुः परिदेहि शक्त्या
देव क्रियार्थे यदनुग्रहाणाम्॥ ५१॥

हे परमात्मन्! महत्-तत्त्व आदि अभिमानी हम देवता जिन कार्योंके लिए उत्पन्न हुए हैं, उसके लिए हमें निर्देश और आज्ञा प्रदान कीजिये? हे देव! आपने हमपर अनुग्रह किया है, अतः इस ब्रह्माण्डकी रचनाके लिए आप हमें क्रियाशक्तिके साथ ज्ञानशक्ति भी प्रदान कीजिये—यही हमारी प्रार्थना है॥ ५१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां तृतीयस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे
महदाद्युत्पत्तिर्नाम पञ्चमोऽध्यायः॥

षष्ठोऽध्यायः

विराट–मूर्त्तिकी सृष्टि

श्रीऋषिरुवाच—

इति तासां स्वशक्तीनां सतीनामसमेत्य सः।
प्रसुप्तलोकतन्त्राणां निशाम्य गतिमीश्वरः॥ १॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! इस प्रकार सर्वशक्तिमान भगवान्‌ने अपनी महत्–तत्त्व आदि शक्तियोंके परस्पर संगठित न होनेके कारण विश्व–रचनाकी क्रियामें उनकी असमर्थताके विषयमें सुना॥ १॥

कालसंज्ञां तदा देवीं बिभ्रच्छक्तिमुरुक्रमः।
त्रयोविंशतितत्त्वानां गणं युगपदाविशत्॥ २॥

तब उरुक्रम भगवान्‌ने अपनी काल–नामक प्रकृतिको स्वीकारकर एक ही समयमें महत्–तत्त्व, अहङ्कार, पञ्चभूत, पञ्चतन्मात्रा और मनसहित ग्यारह इन्द्रियाँ—इन तेईस तत्त्वोंके समूहमें प्रवेश किया॥ २॥

सोऽनुप्रविष्टो भगवांश्चेष्टारूपेण तं गणम्।
भिन्नं संयोजयामास सुप्तं कर्म प्रबोधयन्॥ ३॥

अन्तर्यामी पुरुषने अपनी क्रिया–शक्तिकी सहायतासे इन समस्त तत्त्वोंमें प्रवेश किया और इनकी क्रियाओं अथवा जीवके सुप्त अदृष्ट (कर्मों) को प्रकाशित किया। इसके पश्चात् उन्होंने इन सभी भिन्न–भिन्न तत्त्वोंको एकत्रितकर संयुक्त कर दिया॥ ३॥

प्रबुद्धकर्मा दैवेन त्रयोविंशतिको गणः।
प्रेरितोऽजनयत् स्वाभिर्मात्राभिरधिपुरुषम्॥ ४॥

जब इन तेईस तत्त्वोंकी क्रियाशक्ति जाग्रत हो गयी, तब उन तत्त्वोंने भगवान्‌की प्रेरणासे परिचालित होकर अपने अंशोंके द्वारा ब्रह्माण्डरूप विराट् देहकी रचना की॥ ४॥

परेण विशता स्वस्मिन् मात्रया विश्वसृग्गणः।
चुक्षोभान्योऽन्यमासाद्य यस्मिँल्लोकाश्चराचराः॥ ५॥

जब परमेश्वर अपने अंशरूपमें विश्वकी रचना करनेवाले महदादि तत्त्वोंमें प्रविष्ट हो गये, तब उनकी शक्तिसे वे समस्त तत्त्व परस्पर मिलित होकर विराट् देहके रूपमें परिणत हो गये। यह चराचर जगत् इसी विराट् देहमें अवस्थित है॥ ५॥

हिरण्मयः स पुरुषः सहस्रपरिवत्सरान्।
अण्डकोष उवासाप्सु सर्वसत्त्वोपबृंहितः॥ ६॥

ब्रह्माण्डमें स्थित उन हिरण्यगर्भ पुरुषने अपनेमें शयन करनेवाले समस्त जीवोंके साथ मिलित होकर ब्रह्माण्डके अन्तर्गत स्थित जलमें एक हजार वर्ष तक वास किया॥ ६॥

स वै विश्वसृजां गर्भो दैवकर्मात्मशक्तिमान्।
विबभाजात्मनात्मानमेकधा दशधा त्रिधा॥ ७॥

महदादि तत्त्वोंके कार्यस्वरूप गर्भ अर्थात् इस विराट् मूर्त्तिने ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति और आत्मशक्तिके साथ संयुक्त होकर (जीवशक्ति द्वारा) एक, (प्राणशक्तिके द्वारा) दस तथा (अध्यात्मशक्तिके द्वारा) तीन प्रकारके भेदोंमें स्वयंको विभक्त कर दिया॥ ७॥

एष ह्यशेषसत्त्वानामात्मांशः परमात्मनः।
आद्योऽवतारो यत्रासौ भूतग्रामो विभाव्यते॥ ८॥

ये विराट् पुरुष ही समष्टि जीव स्वरूप होनेके कारण समस्त प्राणियोंके आत्मा हैं, जीवरूप होनेके कारण परमात्माके अंश हैं एवं परमात्माके साथ ऐक्य भावनाके कारण आदि अवतार-स्वरूप हैं। समस्त भूतसमूह इनमें ही प्रकाशित होते हैं॥ ८॥

साध्यात्मः साधिदैवश्च साधिभूत इति त्रिधा।
विराट् प्राणो दशविध एकधा हृदयेन च॥ ९॥

ये विराट् पुरुष अपनी चित्-शक्ति द्वारा अध्यात्म (समस्त इन्द्रियों), अधिदैव (इन्द्रिय-अधिष्ठाता देवताओं) एवं अधिभूत (इन्द्रियोंके

विषय)—इन तीनोंके साथ मिलकर तीन प्रकारके, प्राण आदि स्वरूप होकर दस प्रकारके तथा हृदयस्थित चैतन्यके साथ मिलकर एक प्रकारके हुए हैं॥ ९॥

स्मरन् विश्वसृजामीशो विज्ञापितमधोक्षजः।
विराजमतपत् स्वेन तेजसैषां विवृत्तये॥ १०॥

इन्द्रियातीत भगवान्के अंश विश्वस्रष्टा कारणार्णवशायी पुरुषने महदादि तत्त्वोंकी प्रार्थनाका स्मरण करके महदादिकी विभिन्न वृत्तियोंको स्वीकार करनेके लिए अपनी चित्-शक्तिके द्वारा विराट् शरीरको प्रकाशित किया॥ १०॥

अथ तस्याभितप्तस्य कतिधायतनानि ह।
निरभिद्यन्त देवानां तानि मे गदतः शृणु॥ ११॥

तत्पश्चात् परमेश्वरके द्वारा प्रकाशित उस विराट् पुरुषमें देवताओंके लिए जितने प्रकारके स्थान उत्पन्न हुए, उनसब स्थानोंका मैं वर्णन कर रहा हूँ—श्रवण करो॥ ११॥

तस्याग्निरास्यं निर्भिन्नं लोकपालोऽविशत् पदम्।
वाचा स्वांशेन वक्तव्यं ययासौ प्रतिपद्यते॥ १२॥

उस विराट् पुरुषका मुख पृथक् रूपसे प्रकाशित होनेपर लोकपाल अग्नि अपनी शक्ति वाक्-इन्द्रियके साथ अपने स्थानस्वरूप उस मुखमें प्रविष्ट हो गये। उस वाक्-शक्तिके द्वारा ही यह जीव (विराट्) अपनेको शब्दोंके द्वारा अभिव्यक्त करता है॥ १२॥

निर्भिन्नं तालु वरुणो लोकपालोऽविशद्धरेः।
जिह्वयांशेन च रसान् ययासौ प्रतिपद्यते॥ १३॥

उस विराट् पुरुषका तालु प्रकाशित होनेपर लोकपाल वरुण अपनी शक्ति रसना-इन्द्रियके साथ उस तालुके मूलमें प्रवेश कर गये। इस रसनाके द्वारा जीव (विराट्) रसोंको ग्रहण करता है॥ १३॥

निर्भिन्ने अश्विनौ नासे विष्णोराविशतां पदम्।
घ्राणेनांशेन गन्धस्य प्रतिपत्तिर्यतो भवेत्॥ १४॥

विराट् पुरुषकी दोनों नासिका पृथक् रूपमें उत्पन्न होनेपर उनके अधिष्ठाता दोनों अश्विनीकुमार अपने अंश घ्राणेन्द्रियके साथ उसमें प्रविष्ट हुए। इस घ्राणेन्द्रियके द्वारा ही जीवमें गन्ध ग्रहण करनेकी शक्ति उदित होती है॥ १४॥

निर्भिन्ने अक्षिणी त्वष्टा लोकपालोऽविशद्विभोः।
चक्षुषांशेन रूपाणां प्रतिपत्तिर्यतो भवेत्॥ १५॥

इसी प्रकार जब विराट् पुरुषके चक्षुके दो गोलक (नेत्र) पृथक् रूपमें प्रकट हुए, तब लोकपाल आदित्यने अपने अंश चक्षु-इन्द्रियके साथ उसमें प्रवेश किया। इस चक्षु-इन्द्रियसे जीवको रूपका दर्शन होता है॥ १५॥

निर्भिन्नान्यस्य चर्माणि लोकपालोऽनिलोऽविशत्।
प्राणेनांशेन संस्पर्शं येनासौ प्रतिपद्यते॥ १६॥

उन विराट् पुरुषके शरीरमें त्वचाके पृथक् रूपसे प्रकट होनेपर लोकपाल वायुने त्वक्-इन्द्रियरूप अपनी आंशिक शक्तिके साथ उसमें प्रवेश किया। इस त्वक्-इन्द्रियके द्वारा जीवको स्पर्शका अनुभव होता है॥ १६॥

कर्णावस्य विनिर्भिन्नौ धिष्ण्यं स्वं विविशुर्दिशः।
श्रोत्रेणांशेन शब्दस्य सिद्धिं येन प्रपद्यते॥ १७॥

विराट् पुरुषके दोनों कान पृथक् रूपसे उत्पन्न होनेपर समस्त दिशाओंने अपने श्रवणेन्द्रियरूप अंशके साथ उन कानोंमें प्रवेश किया। इन श्रवणेन्द्रियोंके द्वारा ही जीवको शब्दका ज्ञान प्राप्त होता है॥ १७॥

त्वचमस्य विनिर्भिन्नां विविशुर्धिष्ण्यमोषधीः।
अंशेन रोमभिः कण्डूं यैरसौ प्रतिपद्यते॥ १८॥

जब इन विराट् पुरुषकी त्वचा पृथक् रूपसे प्रकाशित हुई, तब रोमरूप अंशके साथ औषधियोंने अपने-अपने वासस्थान-स्वरूप रोमकूपोंमें प्रवेश किया। इन समस्त रोमकूपोंके द्वारा जीव खुजलाहटका सुख अनुभव करता है॥ १८॥

मेढ्रं तस्य विनिर्भिन्नं स्वधिष्ण्यं क उपाविशत्।
रेतसांशेन येनासावानन्दं प्रतिपद्यते॥ १९॥

उन विराट् पुरुषकी उपस्थेन्द्रियके पृथक् रूपसे उत्पन्न होनेपर प्रजापतिने शुक्ररूप अंशके साथ अपने आवासस्थान उस इन्द्रियमें प्रवेश किया। इस उपस्थेन्द्रियके द्वारा जीव जड़ानन्द अर्थात् जड़ कामसुखको प्राप्त करता है॥ १९॥

गुदं पुंसो विनिर्भिन्नं मित्रो लोकेश आविशत्।
पायुनांशेन येनासौ विसर्गं प्रतिपद्यते॥ २०॥

विराट् पुरुषकी पायु-इन्द्रिय (मलद्वार) के पृथक् रूपसे उत्पन्न होनेपर पायु-इन्द्रियके साथ लोकपाल सूर्य अधिदेवताके रूपमें उसमें प्रविष्ट हो गये। इस इन्द्रियके द्वारा जीव मलत्याग करता है॥ २०॥

हस्तावस्य विनिर्भिन्नाविन्द्रः स्वःपतिराविशत्।
वार्तायांशेन पुरुषो यया वृत्तिं प्रपद्यते॥ २१॥

उन विराट् पुरुषके दोनों हाथ पृथक् रूपसे उत्पन्न होनेपर स्वर्गपति इन्द्र क्रय-विक्रयादि अंशके साथ उसमें प्रविष्ट हो गये। इस इन्द्रियकी सहायतासे जीव अपनी जीविकाका निर्वाह करता है॥ २१॥

पादावस्य विनिर्भिन्नौ लोकेशो विष्णुराविशत्।
गत्या स्वांशेन पुरुषो यया प्राप्यं प्रपद्यते॥ २२॥

उन विराट् पुरुषके दोनों चरण पृथक् रूपसे उत्पन्न होनेपर लोकपाल विष्णु गमनरूप अपने अंशके साथ उनमें प्रविष्ट हो गये। इस गमन शक्तिके द्वारा जीव देशान्तरमें गमनागमन करते हुए अपने गन्तव्य स्थानपर पहुँचता है॥ २२॥

बुद्धिञ्चास्य विनिर्भिन्नां वागीशो धिष्ण्यमाविशत्।
बोधेनांशेन बोद्धव्यं प्रतिपत्तिर्यतो भवेत्॥ २३॥

तत्पश्चात् उन विराट् पुरुषकी बुद्धि भिन्न रूपसे प्रकट होनेपर वाक्पति ब्रह्माने बोधरूप अंशके साथ अपने वासस्थान बुद्धिमें प्रवेश किया। इससे जीव ज्ञातव्य विषयका अनुभव करता है॥ २३॥

हृदयञ्चास्य निर्भिन्नं चन्द्रमा धिष्ण्यमाविशत्।
मनसांशेन येनासौ विक्रियां प्रतिपद्यते॥ २४॥

उन विराट् पुरुषका हृदय भी पृथक् रूपसे प्रकाशित हुआ और चन्द्रमाने मनरूप अपने अंशके साथ उसमें प्रवेश किया। इस मनके द्वारा जीव सङ्कल्प-विकल्पादि रूप विकारोंको प्राप्त करता है॥ २४॥

आत्मानञ्चास्य निर्भिन्नमभिमानोऽविशत् पदम्।
कर्मणांशेन येनासौ कर्तव्यं प्रतिपद्यते॥ २५॥

उन विराट् पुरुषका अहङ्कार पृथक् रूपसे उत्पन्न होनेपर रुद्रने अहंवृत्तिरूप अंशके साथ अपने उस अधिष्ठानमें प्रवेश किया। इस अहंवृत्तिके द्वारा जीव अभिमानके विषय देह आदिको 'मैं' मानकर नानाप्रकारके कर्त्तव्य कर्म करता है॥ २५॥

सत्त्वञ्चास्य विनिर्भिन्नं महान् धिष्ण्यमुपाविशत्।
चित्तेनांशेन येनासौ विज्ञानं प्रतिपद्यते॥ २६॥

तत्पश्चात् उन विराट् पुरुषके चित्तका अधिष्ठान गोलक (हृदयका एक भाग) पृथक् रूपसे प्रकाशित होनेपर विष्णु अपने अधिष्ठानरूप इस चित्तगोलकमें अपनी चेतनाके साथ प्रविष्ट हुए। इस चेतनारूप इन्द्रिय द्वारा जीव ज्ञेय वस्तुका विज्ञान प्राप्त करता है॥ २६॥

शीर्ष्णोऽस्य द्यौर्धरा पद्भ्यां खं नाभेरुदपद्यत।
गुणानां वृत्तयो येषु प्रतीयन्ते सुरादयः॥ २७॥

विराट् पुरुषके सिरसे स्वर्ग, दोनों चरणोंसे पृथ्वी और नाभिदेशसे अन्तरीक्ष (आकाश) उत्पन्न हुआ। इन स्थानोंपर क्रमशः सत्त्व, रज और तम—इन गुणोंके परिणामस्वरूप देवता, मनुष्य और प्रेतादि देखे जाते हैं॥ २७॥

आत्यन्तिकेन सत्त्वेन दिवं देवाः प्रपेदिरे।
धरां रजःस्वभावेन पणयो ये च ताननु॥ २८॥

देवतालोग सत्त्वगुणकी अधिकताके कारण स्वर्ग-लोकमें रहते हैं। यज्ञ आदि द्वारा परस्पर व्यवहारसे युक्त मानव और उनके (यज्ञके)

उपकरण-स्वरूप गाय आदि रज प्रकृतिके कारण पृथ्वीपर रहते हैं॥ २८॥

तार्तीयेन स्वभावेन भगवन्नाभिमाश्रिताः।
उभयोरन्तरं व्योम ये रुद्रपार्षदां गणाः॥ २९॥

तृतीय तमः प्रकृतिके द्वारा रुद्रके पार्षद—भूतगण स्वर्ग और पृथ्वीके बीचमें स्थित विराट्की नाभिका आश्रय करके रहते हैं, जिसे अन्तरीक्ष अर्थात् भुवर्लोक भी कहा जाता है॥ २९॥

मुखतोऽवर्तत ब्रह्म पुरुषस्य कुरूद्वह।
यस्तून्मुखत्वाद्वर्णानां मुख्योऽभूद्ब्राह्मणो गुरुः॥ ३०॥

हे कुरुश्रेष्ठ! विराट् पुरुषके मुखसे वेद और ब्राह्मण उत्पन्न हुए। भगवान् और वेदोंके उन्मुख होनेके कारण ब्राह्मण सभी वर्णोंमें श्रेष्ठ और सबके गुरु हैं॥ ३०॥

बाहुभ्योऽवर्तत क्षत्रं क्षत्रियस्तदनुव्रतः।
यो जातस्त्रायते वर्णान् पौरुषः कण्टकक्षतात्॥ ३१॥

उन विराट् पुरुषकी दोनों भुजाओंसे पालनरूप वृत्ति और उस वृत्तिका अनुसरण करनेवाले क्षत्रिय उत्पन्न हुए। विष्णुका अंश क्षत्रियवर्ण चोरी आदि उपद्रवोंसे सभी वर्णोंकी रक्षा करता है॥ ३१॥

विशोऽवर्तन्त तस्योर्वोर्लोकवृत्तिकरीर्विभोः।
वैश्यस्तदुद्भवो वार्तां नृणां यः समवर्तयत्॥ ३२॥

उन विराट् पुरुषकी दोनों जाँघोंसे समस्त लोगोंकी जीविकाके कारणस्वरूप कृषि आदि समस्त व्यवसाय-वृत्तिके साथ वैश्य वर्ण भी उत्पन्न हुआ। यह वैश्यवर्ण अपने व्यवसायके द्वारा सभी मनुष्योंकी जीविकाका निर्वाह करता है॥ ३२॥

पद्भ्यां भगवतो जज्ञे शुश्रूषाधर्मसिद्धये।
तस्यां जातः पुरा शूद्रो यद्वृत्त्या तुष्यते हरिः॥ ३३॥

विराट् पुरुषके दोनों चरणोंसे धर्मकी सिद्धि (रक्षा) के लिए सेवावृत्तिके साथ उसके निमित्तस्वरूप शूद्रवर्ण उत्पन्न हुआ। इस सेवावृत्तिके द्वारा ही श्रीहरि सन्तुष्ट होते हैं॥ ३३॥

एते वर्णाः स्वधर्मेण यजन्ति स्वगुरुं हरिम्।
श्रद्धयात्मविशुद्ध्यर्थं यज्जाताः सह वृत्तिभिः॥ ३४॥

ये सभी वर्ण अपनी-अपनी जीविका (वृत्ति) के साथ जिन भगवान्से उत्पन्न हुए हैं, आत्मशोधनके लिए श्रद्धापूर्वक स्वधर्म पालनके द्वारा ये सभी वर्ण अपने गुरु उन श्रीहरिकी पूजा करते हैं॥ ३४॥

एतत् क्षत्तर्भगवतो दैवकर्मात्मरूपिणः।
कः श्रद्दध्यादुपाकर्तुं योगमायाबलोदयम्॥ ३५॥

हे विदुर! काल, कर्म और स्वभाव-शक्तिसे युक्त भगवान्की योगमायाके बलसे उत्पन्न इस विराट् रूपका सम्पूर्ण रूपसे निरूपण करनेकी इच्छा भी कौन व्यक्ति कर सकता है?॥ ३५॥

तथापि कीर्तयाम्यङ्ग यथामति यथाश्रुतम्।
कीर्तिं हरेः स्वां सत्कर्तुं गिरमन्याभिधासतीम्॥ ३६॥

तथापि श्रीगुरुके सान्निध्यमें श्रीहरिके यशका श्रवण करके अपनी बुद्धिकी योग्यतानुसार मैंने जो कुछ धारण किया है, तुम्हारे समक्ष उसीका वर्णन कर रहा हूँ। हे अङ्ग! भगवान्के अतिरिक्त अन्य विषयोंकी चर्चासे मेरी वाणी मलिन हो गयी है, अब श्रीहरिके गुणोंका वर्णन करके अपनी वाणीको पवित्र करनेके लिए मैं इस विषयमें प्रवृत्त हो रहा हूँ॥ ३६॥

एकान्तलाभं वचसो नु पुंसां
सुश्लोकमौलेर्गुणवादमाहुः।
श्रुतेश्च विद्वद्भिरुपाकृतायां
कथासुधायामुपसंप्रयोगम्॥ ३७॥

हे विदुर! उत्तमश्लोक भगवान्‌के गुणोंका वर्णन करनेमें ही मनुष्योंकी वाणीकी सार्थकता है तथा विद्वानोंके द्वारा कीर्त्ति भगवत्-कथामृतके प्रवाहके सान्निध्यमें अपनी श्रवणेन्द्रियोंको स्थापन करनेमें अर्थात् उसका पान करनेमें ही कानोंकी सार्थकता है—पण्डितजन यही बतलाते हैं॥ ३७॥

आत्मनोऽवसितो वत्स महिमा कविनादिना।
संवत्सरसहस्रान्ते धिया योगविपक्वया॥ ३८॥

हे वत्स! आदिकवि ब्रह्माजी अपनी योग-परिपक्व बुद्धिके द्वारा हजारों वर्षों तक परमात्मा श्रीहरिके अचिन्त्य ऐश्वर्यादिका चिन्तन करते रहे, तथापि वे उसका पार नहीं पा सके॥ ३८॥

अतो भगवतो माया मायिनामपि मोहिनी।
यत् स्वयञ्चात्मवर्त्मात्मा न वेद किमुतापरे॥ ३९॥

भगवान्‌की माया मायावियोंको भी निश्चित रूपसे मोहित करनेवाली और संसारमें पतित करानेवाली है, क्योंकि जब परमेश्वर स्वयं ही अपने स्वरूप-ऐश्वर्यका निर्णय नहीं कर सकते, तो फिर दूसरोंकी तो बात ही क्या?॥ ३९॥

यतोऽप्राप्य न्यवर्तन्त वाचश्च मनसा सह।
अहञ्चान्य इमे देवास्तस्मै भगवते नमः॥ ४०॥

जहाँ न पहुँचकर मनके साथ वाणी भी लौट आती है तथा अहङ्कारके अधिष्ठाता रुद्र और अन्यान्य इन्द्रियोंके अधिष्ठाता देवता भी जिनकी अचिन्त्य महिमामें प्रवेश करनेमें असमर्थ होकर निवृत्त हुए हैं, उन भगवान्‌को नमस्कार है॥ ४०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां तृतीयस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे षष्ठोऽध्यायः॥

सप्तमोऽध्यायः

श्रीविदुरके अन्यान्य प्रश्न

श्रीशुक उवाच—

एवं ब्रुवाणं मैत्रेयं द्वैपायनसुतो बुधः।
प्रीणयन्निव भारत्या विदुरः प्रत्यभाषत॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—मैत्रेय ऋषिके ऐसे मधुर वचनोंको सुनकर व्यासनन्दन परमविज्ञ विदुरजी अपनी वाणीके द्वारा उन्हें प्रसन्न करते हुए प्रत्युत्तरमें कहने लगे॥ १॥

श्रीविदुर उवाच—

ब्रह्मन् कथं भगवतश्चिन्मात्रस्याविकारिणः।
लीलया वापि युज्येरन् निर्गुणस्य गुणाः क्रियाः॥ २॥

श्रीविदुरने कहा—हे ब्रह्मन्! जो भगवान् विभुचित्-स्वरूप, निर्विकार, प्राकृत गुणोंसे अतीत और चिन्मात्र हैं, उनके साथ लीलावशतः भी प्राकृत गुणों एवं क्रियाओंका सम्बन्ध कैसे हो सकता है?॥ २॥

क्रीडायामुद्यमोऽर्भस्य कामश्चिक्रीडिषान्यतः।
स्वतस्तृप्तस्य च कथं निवृत्तस्य सदान्यतः॥ ३॥

श्रीभगवान्की लीलाको बालकोंकी क्रीड़ाके समान भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि बालकोंकी अभिलाषा ही उनकी स्वाभाविक क्रीड़ा प्रवृत्तिका कारण होती है अथवा अन्य वस्तुओं या दूसरे बालकोंसे भी उन्हें खेलनेकी प्रेरणा मिलती है, इसीलिए वे खेलनेके लिए प्रयत्न करते हैं; परन्तु आत्माराम, पूर्णकाम एवं सर्वदा अन्य वस्तुके असङ्गके कारण अद्वयतत्त्व श्रीभगवान्में क्रीड़ाकी इच्छा भी कैसे सम्भव है?॥ ३॥

अस्राक्षीद्भगवान् विश्वं गुणमय्यात्ममायया।
तया संस्थापयत्येतद्भूयः प्रत्यपिधास्यति॥ ४॥

भगवान्‌ने जीवमें कर्त्ता और भोक्तादिका मोह उत्पन्न करनेवाली त्रिगुणात्मिका बहिरङ्गा मायाके द्वारा इस विश्वकी सृष्टि की है। वे इस मायाके द्वारा ही इस विश्वका पालन करते हैं और फिर विपरीत क्रमसे उसी मायासे इसका संहार भी करते हैं॥ ४॥

देशतः कालतो योऽसाववस्थातः स्वतोऽन्यतः।
अविलुप्तावबोधात्मा स युज्येताजया कथम्॥ ५॥

देश, काल, अवस्था, स्वभाव या अन्य किसी भी कारणसे जिस शुद्ध जीवात्माकी नित्य ज्ञानशक्ति कभी विलुप्त नहीं होती, उस जीवात्माका अविद्या अर्थात् मायाके साथ संयोग किस प्रकार हो सकता है?॥ ५॥

भगवानेक एवैष सर्वक्षेत्रेष्ववस्थितः।
अमुष्य दुर्भगत्वं वा क्लेशो वा कर्मभिः कुतः॥ ६॥

अद्वयतत्त्व श्रीभगवान् ही अन्तर्यामी रूपसे समस्त जीवोंकी देहोंमें अवस्थित हैं। ऐसी अवस्थामें चित्स्वरूप जीव चिदानन्दसे किस प्रकार भ्रष्ट हुआ और उसके लिए कर्मसे उत्पन्न क्लेश कहाँसे आये?॥ ६॥

एतस्मिन् मे मनो विद्वन् खिद्यतेऽज्ञानसङ्कटे।
तन्नः पराणुद विभो कश्मलं मानसं महत्॥ ७॥

हे विद्वन्! इस अज्ञानरूप दुर्गमें पड़कर मेरा मन खिन्न हो रहा है। अतः हे विभो! कृपापूर्वक मेरे हृदयसे इस मोहको दूर कीजिये॥ ७॥

श्रीशुक उवाच—

स इत्थं चोदितः क्षत्त्रा तत्त्वजिज्ञासुना मुनिः।
प्रत्याह भगवच्चित्तः स्मयन्निव गतस्मयः॥ ८॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे महाराज! तत्त्व-जिज्ञासु विदुरजीके द्वारा इस प्रकार प्रश्न पूछे जानेपर यद्यपि मुनिवर मैत्रेयको किसी प्रकारका भी विस्मय नहीं हुआ, तथापि वे विस्मय-सा प्रकाशित करते हुए प्रत्युत्तरमें कहने लगे—॥ ८॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

सेयं भगवतो माया यन्नयेन विरुध्यते।
ईश्वरस्य विमुक्तस्य कार्पण्यमुत बन्धनम्॥ ९॥

महर्षि मैत्रेयने कहा—ईश्वर अर्थात् स्वरूप-ज्ञान और आनन्द आदिको अनुभव करनेमें समर्थ, कुछ-कुछ चित्-ऐश्वर्यसे युक्त, अतएव जड़-बन्धनसे सम्पूर्ण रूपसे मुक्त शुद्धजीवोंका शोक और त्रिगुणके द्वारा जो बन्धन है, वह अचिन्त्य-स्वरूपशक्तिसे युक्त भगवान्‌की प्रसिद्ध मायाशक्तिका ही कार्य है, किन्तु यह बात युक्तिके द्वारा अवश्य ही विरुद्ध रूपमें प्रतीत होती है॥ ९॥

यदर्थेन विनामुष्य पुंस आत्मविपर्ययः।
प्रतीयत उपद्रष्टुः स्वशिरश्छेदनादिकः॥ १०॥

जिस प्रकार स्वप्न देखनेवाले जीवके लिए बिना सिर कटे भी 'मेरा यह सिर कट गया है'—इस प्रकारसे स्वरूप-भ्रमका होना केवल मिथ्या प्रतीतिमात्र है, उसी प्रकार इस शुद्ध जीवके लिए बन्धन अर्थात् उसका ज्ञान-आनन्द आदिसे भ्रष्ट होना तथा कर्मसे उत्पन्न क्लेश आदिके वस्तुतः न होनेपर भी वह सब केवल उसकी अज्ञानसे उत्पन्न प्रतीतिके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है॥ १०॥

यथा जले चन्द्रमसः कम्पादिस्तत्कृतो गुणः।
दृश्यतेऽसन्नपि द्रष्टुरात्मनोऽनात्मनो गुणः॥ ११॥

जिस प्रकार जलमें प्रतिबिम्बित चन्द्रमामें ही जलरूप उपाधि द्वारा किये गये कम्पन आदि धर्म दृष्ट होते हैं—वस्तुतः वह कम्पनादि आकाशमें स्थित चन्द्रमाके धर्म नहीं होते, उसी प्रकार शुद्ध जीवात्मामें—शोक, मोह आदि अनात्मगुणोंके न रहनेपर भी देहाभिमानी (बद्ध) जीवमें ही वे सब गुण देखे जाते हैं॥ ११॥

स वै निवृत्तिधर्मेण वासुदेवानुकम्पया।
भगवद्भक्तियोगेन तिरोधत्ते शनैरिह॥ १२॥

हे विदुर! निष्कामस्वभाव तथा भक्तियोगवशतः श्रीकृष्णकी कृपासे अविद्याका अभिनिवेश निश्चय ही धीरे-धीरे दूर हो जाता है॥ १२॥

यदेन्द्रियोपरामोऽथ द्रष्ट्रात्मनि परे हरौ।
विलीयन्ते तदा क्लेशाः संसुप्तस्येव कृत्स्नशः॥ १३॥

तदनन्तर जिस समय समस्त इन्द्रियाँ विषयोंसे हटकर सबके साक्षी परमात्मा श्रीहरिमें निश्चल भावसे स्थित हो जाती हैं, उस समय गाढ़ निद्रामें सोये हुए व्यक्तिके समान जीवके अविद्यासे उत्पन्न राग-द्वेष आदि समस्त क्लेश सब प्रकारसे नष्ट हो जाते हैं॥ १३॥

अशेषसंक्लेशशमं विधत्ते
गुणानुवादश्रवणं मुरारेः।
किं वा पुनस्तच्चरणारविन्द-
परागसेवारतिरात्मलब्धा ॥ १४॥

मुरारि श्रीकृष्णके गुणोंका कीर्त्तन और श्रवण करनेमात्रसे ही जब अनन्त प्रकारके दुःख दूर हो जाते हैं, तब हृदयमें उनके चरणकमलोंकी सेवासे सम्बन्धित रति उदित होनेपर क्या फल होगा, इस विषयमें फिर क्या कहा जाये?॥ १४॥

श्रीविदुर उवाच—

संछिन्नः संशयो मह्यं तव सूक्तासिना विभो।
उभयत्रापि भगवन् मनो मे संप्रधावति॥ १५॥

श्रीविदुरने कहा—हे विभो! आपके पवित्र वचनोंरूपी तलवारसे मेरे संशय सम्पूर्ण रूपसे छिन्न-भिन्न हो गये हैं। अब मेरा मन ईश्वरकी स्वतन्त्रता और जीवकी परतन्त्रता—इन दोनों विषयोंमें भलीभाँति प्रवेश कर रहा है॥ १५॥

साध्वेतद्व्याहृतं विद्वन्नात्ममायायनं हरेः।
आभात्यपार्थं निर्मूलं विष्वमूलं न यद्बहिः॥ १६॥

हे विज्ञवर! आपने यह सत्य ही कहा है कि जीवके बन्धन आदि श्रीहरिकी मायाके द्वारा ही साधित होते हैं, क्योंकि भगवान्‌की बहिरङ्गा मायाके अतिरिक्त जीवोंके क्लेशका और कोई भी कारण नहीं है। यह माया ही जीवको स्वप्नावस्थामें सिर कट जानेकी मिथ्या प्रतीतिकी भाँति अकारण ही सुख एवं दुःख आदि क्लेशोंमें लिप्त करती है॥ १६॥

यश्च मूढतमो लोके यश्च बुद्धेः परं गतः।
तावुभौ सुखमेधेते क्लिश्यत्यन्तरितो जनः॥ १७॥

इस जगत्‌में जो व्यक्ति विषयासक्त बुद्धिके कारण पशुओंके समान सार–असार विवेकसे रहित मूढ़ हैं तथा जो प्रकृतिसे परे परमेश्वरको प्राप्त कर चुके हैं—ये दोनों प्रकारके व्यक्ति ही सुखी हैं। किन्तु बीचकी श्रेणीके संशयात्मा लोग तो दुःख ही भोगते रहते हैं॥ १७॥

अर्थाभावं विनिश्चित्य प्रतीतस्यापि नात्मनः।
ताञ्चापि युष्मच्चरणसेवयाहं पराणुदे॥ १८॥

भगवन्! अब मुझे यह दृढ़विश्वास हो गया है कि इस अनात्म–संसाररूप प्रपञ्चकी प्रतीति होनेपर भी वास्तवमें इसका कोई अर्थ नहीं है। आपके श्रीचरणोंकी सेवाके द्वारा मैं इस प्रतीतिको भी दूर करनेमें समर्थ हो जाऊँगा॥ १८॥

यत्सेवया भगवतः कूटस्थस्य मधुद्विषः।
रतिरासो भवेत्तीव्रः पादयोर्व्यसनार्दनः॥ १९॥

भगवद्भक्तोंके श्रीचरणोंकी सेवासे निर्विकार, सर्वकाल–व्यापी भगवान् श्रीमधुसूदनके चरणकमलोंमें ऐकान्तिक प्रेमरूप उत्सव उदित होता है और उसके आनुसङ्गिक फलसे संसार–बन्धनका भी नाश हो जाता है॥ १९॥

दुरापा ह्यल्पतपसः सेवा वैकुण्ठवर्त्मसु।
यत्रोपगीयते नित्यं देवदेवो जनार्दनः॥ २०॥

विशुद्ध भक्तोंकी सेवा ही भगवान् श्रीविष्णु अथवा उनके वैकुण्ठलोककी प्राप्तिका साक्षात् मार्ग है। किन्तु, अल्प सुकृतिवालोंके लिए ऐसी सेवाको प्राप्त करना परम दुर्लभ है। इन भक्तोंके समाजमें ही सर्वदा देवताओंके देव और समस्त प्राणियोंके नियन्ता भगवान्‌के गुणोंका गान होता रहता है॥ २०॥

सृष्ट्वाग्रे महदादीनि सविकाराण्यनुक्रमात्।
तेभ्यो विराजमुद्धृत्य तमनु प्राविशद्विभुः॥ २१॥

विदुरजीने कृतार्थ भावसे कहा—हे ब्रह्मन्! आपने कहा है कि कारणार्णवशायी पुरुषने सृष्टिके प्रारम्भमें इन्द्रियों आदिके साथ महदादि-तत्त्वोंको क्रमपूर्वक उत्पन्नकर उनके अंशोंसे विराटशरीरका निर्माण किया और इसके पश्चात् वे स्वयं उसमें अनुप्रविष्ट हो गये॥ २१॥

यमाहुराद्यं पुरुषं सहस्राङ्घ्र्युरुबाहुकम्।
यत्र विश्व इमे लोकाः सविकाशं त आसते॥ २२॥

उन कारणार्णवशायी पुरुषको ही पण्डितजन आदिपुरुष कहते हैं। वे आदिपुरुष ही गर्भोदकशायीके रूपमें हजारों चरण, हजारों जाँघों और हजारों भुजाओंवालेके रूपमें कीर्त्तित होते हैं। उनके ही रोमकूपोंमें समस्त विश्व और ये लोक विस्तारपूर्वक स्थित हैं॥ २२॥

यस्मिन् दशविधः प्राणः सेन्द्रियार्थेन्द्रियस्त्रिवृत्।
त्वयेरितो यतो वर्णास्तद्विभूतीर्वदस्व नः॥ २३॥

हे ब्रह्मन्! आपने उन विराट् पुरुषकी इन्द्रियों, शब्द-स्पर्श आदि इन्द्रियोंके विषय और इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ देवताओंके सहित दस प्रकारके प्राण तथा सह (इन्द्रिय), ओज (मन) और बल (शारीरिक)—इन तीन प्रकारकी जीवनी शक्तिका वर्णन किया है। उनसे ही ब्राह्मण आदि सभी वर्णोंकी उत्पत्ति हुई है। अब आप मुझे उन परमेश्वरकी प्रजापति इत्यादि विभूतियोंके विषयमें बतलाइये॥ २३॥

यत्र पुत्रैश्च पौत्रैश्च नप्तृभिः सह गोत्रजैः।
प्रजा विचित्राकृतय आसन् याभिरिदं ततम्॥ २४॥

इन समस्त विभूतियोंमें ही पुत्र, पौत्र, दौहित्र (नाती), गोत्रज (कुटुम्बियों) आदि विभिन्न भावोंसे युक्त प्रजाएँ अवस्थित हैं और इन सबसे ही यह समस्त विश्व परिपूर्ण हो रहा है॥ २४॥

प्रजापतीनां स पतिश्चक्लिपे कान् प्रजापतीन्।
सर्गांश्चैवानुसर्गांश्च मनून् मन्वन्तराधिपान्।
एतेषामपि वंशांश्च वंशानुचरितानि च॥ २५॥

हे महर्षि! कृपया यह बतलाइये कि प्रजापतियोंके पति ब्रह्माजीने किस-किसको प्रजापति बनाया, कौन-कौनसे सर्गों और सर्गोंके भेदरूप अनुसर्गोंकी रचना की तथा मन्वन्तरोंके अधिपति मनुओंका किस क्रममें निर्णय किया। इसके अतिरिक्त मनुवंश एवं उनके वंशधरोंके चरित्रोंका भी वर्णन कीजिये॥ २५॥

उपर्यधश्च ये लोका भूमेर्मित्रात्मजासते।
तेषां संस्थां प्रमाणञ्च भूर्लोकस्य च वर्णय॥ २६॥

हे मित्रके पुत्र (मैत्रेयजी)! पृथ्वीके ऊपर और नीचे व्याप्त होकर जो भी लोक वर्त्तमान हैं, उनके साथ-साथ भूलोक (पृथ्वी) के भी आकार, स्थिति और परिमाणादिका वर्णन कीजिये॥ २६॥

तिर्यङ्मानुषदेवानां सरीसृपपतत्रिणाम्।
वद नः सर्गसंव्यूहं गार्भस्वेदद्विजोद्भिदाम्॥ २७॥

देवता, मनुष्य, पशु, सरीसृप (सर्प आदि रेंगनेवाले जन्तु), पक्षी और जरायुज (गर्भजात मनुष्य आदि), स्वेदज (पसीनेसे उत्पन्न कृमि), अण्डज (अण्डेसे उत्पन्न) एवं उद्भिज्ज (तृण, गुल्म पौधे इत्यादि) आदिकी सृष्टिका विभाग भी बतलाइये॥ २७॥

गुणावतारैर्विश्वस्य सर्गस्थित्यप्ययाश्रयम्।
सृजतः श्रीनिवासस्य व्याचक्ष्वोदारविक्रमम्॥ २८॥

ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र आदि अपने गुणावतारोंके द्वारा इस विश्वकी क्रमशः सृष्टि, स्थिति एवं संहारका कार्य करनेवाले भगवान् श्रीलक्ष्मीपतिके उदार पराक्रमका विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिये॥ २८॥

वर्णाश्रमविभागांश्च रूपशीलस्वभावतः।
ऋषीणां जन्मकर्मादि वेदस्य च विकर्षणम्॥ २९॥

हे प्रभो! वेषादि लक्षण, आचरण और शम-दम आदि स्वभावके अनुसार वर्ण एवं आश्रमोंका विभाग, ऋषियोंके जन्म और कर्म तथा वेदोंके विभागका भी निरूपण कीजिये॥ २९॥

यज्ञस्य च वितानानि योगस्य च पथः प्रभो।
नैष्कर्म्यस्य च सांख्यस्य तन्त्रं वा भगवत्स्मृतम्॥ ३०॥

इसके साथ ही कृपया यज्ञोंके विस्तार, अष्टाङ्गयोगके मार्ग, नैष्कर्म्य (ज्ञान) और उसके उपाय-स्वरूप सांख्यका पथ एवं भगवान् श्रीनारायणके द्वारा कहे गये नारदपञ्चरात्र आदि तन्त्र-शास्त्रोंके विषयमें भी बतलाइये॥ ३०॥

पाषण्डपथवैषम्यं प्रतिलोमनिवेशनम्।
जीवस्य गतयो याश्च यावतीर्गुणकर्मजाः॥ ३१॥

पाखण्ड-मार्गोंके प्रचारसे होनेवाली विषमता, प्रतिलोम अर्थात् सूत आदि वर्णसङ्कर जातियोंकी स्थिति और जीवोंके गुणों एवं कर्मोंके अनुसार उनकी जैसी और जितनी भी गतियाँ हैं—उन सबका भी वर्णन कीजिये॥ ३१॥

धर्मार्थकाममोक्षाणां निमित्तान्यविरोधतः।
वार्ताया दण्डनीतेश्च श्रुतस्य च विधिं पृथक्॥ ३२॥

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इस चतुर्वर्गके परस्पर अविरोधी साधनों; कृषि, वाणिज्य आदि शास्त्रों तथा अर्थशास्त्र (दण्डनीति) एवं वेदशास्त्रोंकी पृथक्-पृथक् विधियों और प्रकारोंको भी बतलाइये॥ ३२॥

श्राद्धस्य च विधिं ब्रह्मन् पितृणां सर्गमेव च।
ग्रहनक्षत्रताराणां कालावयवसंस्थितिम्॥ ३३॥

हे ब्रह्मन्! श्राद्धकी विधि, पितृ-लोककी सृष्टि, दिन-रात्रि-मास-वर्ष आदिमें ग्रहों, नक्षत्रों और तारोंकी स्थितियोंका भी वर्णन कीजिये॥ ३३॥

दानस्य तपसो वापि यच्चेष्टापूर्तयोः फलम्।
प्रवासस्थस्य यो धर्मो यश्च पुंस उतापदि॥ ३४॥

दान, तपस्या और इष्ट (अग्निष्टोमादि यज्ञ), पूर्त्त (वापी, कूप और जलाशय खुदवाना) आदि सकाम कर्मोंके फल एवं प्रवासमें स्थित व्यक्तिके विपत्तिकालीन धर्म अर्थात् कर्त्तव्यका भी वर्णन कीजिये॥ ३४॥

येन वा भगवांस्तुष्येद्धर्मयोनिर्जनार्दनः।
संप्रसीदति वा येषामेतदाख्याहि मेऽनघ॥ ३५॥

हे निष्पाप! कृपया हमें यह भी बतलाइये कि समस्त धर्मोंके मूल कारण भगवान् श्रीजनार्दन किसके द्वारा सन्तुष्ट होते हैं और किसपर अनुग्रह करते हैं॥ ३५॥

अनुव्रतानां शिष्याणां पुत्राणाञ्च द्विजोत्तम।
अनापृष्टमपि ब्रूयुर्गुरवो दीनवत्सलाः॥ ३६॥

हे द्विजश्रेष्ठ! परदुःखदुखी गुरुजन बिना पूछे जानेपर भी अपने अनुगत शिष्यों एवं पुत्रोंको उनके हितकारक कर्त्तव्यके विषयमें उपदेश दिया करते हैं॥ ३६॥

तत्त्वानां भगवंस्तेषां कतिधा प्रतिसंक्रमः।
तत्रेमं क उपासीरन् क उ स्विदनुशेरते॥ ३७॥

हे मुने! आपने जिन महत् आदि तत्त्वोंका वर्णन किया है, उनका कितने प्रकारका प्रलय होता है? (राजाके शयन करनेपर चामरधारी सेवक जिस प्रकार राजाकी सेवा करते हैं, उसी प्रकार) प्रलयकालमें परमेश्वरके योगनिद्रामें शयन करनेपर कौन उनकी सेवा करते हैं और कौन उनके पश्चात् सोते हैं? इन सबका भी वर्णन कीजिये॥ ३७॥

पुरुषस्य च संस्थानं स्वरूपं वा परस्य च।
ज्ञानञ्च नैगमं यत्तद्गुरुशिष्य-प्रयोजनम्॥ ३८॥

जीवका तत्त्व, परमेश्वरका स्वरूप, उन दोनोंका आंशिक ऐक्य एवं उपनिषदोंका प्रतिपादित-ज्ञान—जो गुरु और शिष्यके लिए प्रयोजनीय है, उसका भी वर्णन कीजिये॥ ३८॥

निमित्तानि च तस्येह प्रोक्तान्यनघ सूरिभिः।
स्वतो ज्ञानं कुतः पुंसां भक्तिर्वैराग्यमेव च॥ ३९॥

हे निष्पाप! सद्‌गुरुके आनुगत्यके बिना व्यक्तिको अपने-आप ज्ञान, भक्ति अथवा वैराग्य कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता। अतः

निरपराध विद्वान भक्तोंने परतत्त्वके ज्ञानके जो समस्त साधन बतलाये हैं, वे सब भी हमें सुनाइये॥ ३९॥

एतान् मे पृच्छतः प्रश्नान् हरेः कर्मविवित्सया।
ब्रूहि मेऽज्ञस्य मित्रत्वादजया नष्टचक्षुषः॥ ४०॥

हे महर्षि! मैं अविद्याग्रस्त हूँ तथा माया-मोहके द्वारा मेरी विचार-दृष्टि नष्ट हो गयी है, अतएव श्रीहरिकी लीलाओंको जाननेकी इच्छासे ही मैंने आपसे बन्धुभावसे ये सब प्रश्न पूछे हैं। आप कृपापूर्वक मेरे इन प्रश्नोंका उत्तर दीजिये॥ ४०॥

सर्वे वेदाश्च यज्ञाश्च तपो दानानि चानघ।
जीवाभयप्रदानस्य न कुर्वीरन् कलामपि॥ ४१॥

हे पुण्यमय महर्षि मैत्रेय! भगवत्-तत्त्वके उपदेश द्वारा जीवोंको संसार-बन्धनसे छुड़ाकर अभय प्रदानकर देनेसे जो पुण्य-यश प्राप्त होता है, समस्त वेदोंके अध्ययन, समस्त यज्ञ, तपस्या और दानसे होनेवाला पुण्य उसके एक अंशकी भी तुलना नहीं कर सकता॥ ४१॥

श्रीशुक उवाच—

स इत्थमापृष्टपुराणकल्पः
कुरुप्रधानेन मुनिप्रधानः।
प्रवृद्धहर्षो भगवत्कथायां
सञ्चोदितस्तं प्रहसन्निवाह॥ ४२॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे महाराज! इस प्रकार जब कुरुश्रेष्ठ विदुरजीने प्रश्न पूछे, तो पुराणविद् मुनिश्रेष्ठ मैत्रेयजी भगवान्‌के गुण-कीर्त्तनकी प्रेरणा प्राप्तकर अतिशय आनन्दित हो उठे और मन्द-मन्द मुस्कानके साथ कहने लगे—॥ ४२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां तृतीयस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे
श्रीविदुरप्रश्नो नाम सप्तमोऽध्यायः॥

अष्टमोऽध्यायः

गर्भोदकशायी विष्णुकी नाभिसे ब्रह्माजीकी उत्पत्ति

श्रीमैत्रेय उवाच—

सत्सेवनीयो बत पूरुवंशो
यल्लोकपालो भगवत्प्रधानः।
बभूविथेहाजितकीर्तिमालां
पदे पदे नूतनयस्यभीक्ष्णम्॥ १॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! पुरुवंश अति पवित्र होनेके कारण साधुओंके द्वारा सेवनीय है, क्योंकि आप परमभागवत लोकपाल यमराज होकर भी इसी वंशमें उत्पन्न हुए हैं। आप अजित भगवान् श्रीहरिकी कीर्त्तिमयी लीलाओंको प्रत्येक क्षण नवनवायमान रूपमें आस्वादनके योग्य करते रहते हैं॥ १॥

सोऽहं नृणां क्षुल्लसुखाय दुःखं
महद्गतानां विरमाय तस्य।
प्रवर्तये भागवतं पुराणं
यदाह साक्षाद्भगवानृषिभ्यः॥ २॥

जो मनुष्य तुच्छ विषयसुखकी प्राप्तिके लिए महादुःखरूपी समुद्रमें डूब रहे हैं, उनके दुःखोंकी निवृत्तिके लिए अब मैं श्रीमद्भागवत महापुराणका कीर्त्तन आरम्भ कर रहा हूँ। स्वयं-भगवान् श्रीसङ्कर्षणने इस पुराणको सनत्कुमार आदि ऋषियोंको सुनाया था॥ २॥

आसीनमुर्व्यां भगवन्तमाद्यं
सङ्कर्षणं देवमकुण्ठसत्त्वम्।
विवित्सवस्तत्त्वमतः परस्य
कुमारमुख्या मुनयोऽन्वपृच्छन्॥ ३॥

किसी एक समय तत्त्ववस्तुकी जिज्ञासासे सनत्कुमार आदि ऋषियोंने पाताल-लोकमें जाकर वहाँपर विराजमान अखण्ड-ज्ञानसे सम्पन्न, आदिपुरुष भगवान् श्रीसङ्कर्षणसे उनके प्रभु परम पुरुषोत्तम श्रीवासुदेवके तत्त्वको जाननेकी अभिलाषासे प्रश्न पूछे थे॥ ३॥

स्वमेव धिष्ण्यं बहुमानयन्तं
यद्वासुदेवाभिधमामनन्ति ।
प्रत्यग्धृताक्षाम्बुजकोषमीष-
दुन्मीलयन्तं विबुधोदयाय॥ ४॥

उस समय श्रीसङ्कर्षणदेव अपने आश्रयस्वरूप तथा वेदोंके द्वारा निरूपित भगवान् श्रीवासुदेव नामक परमानन्दमय स्वरूपको ध्यानपथमें अनुभवकर बहुत सम्मानपूर्वक उनकी मानसी पूजा कर रहे थे। किन्तु सनत्कुमार आदि ऋषियोंके कल्याणके लिए उन्होंने अपने अन्तर्मुखी किये हुए कमलके समान नेत्रोंको थोड़ा-सा खोल लिया॥ ४॥

स्वर्धुन्युदार्द्रैः स्वजटाकलापै-
रुपस्पृशन्तश्चरणोपधानम् ।
पद्मं यदर्चन्त्यहिराजकन्याः
सप्रेम-नानाबलिभिर्वरार्थाः ॥ ५॥

सनत्कुमारादि ऋषिगण श्रीमद्भागवतको श्रवण करनेके उद्देश्यसे सत्यलोकसे गङ्गाके माध्यम द्वारा पातालमें आये थे। इसलिए उन्होंने गङ्गाजलसे भीगी हुई अपनी जटाओंके द्वारा भगवान् सङ्कर्षणकी उस चरणकमलोंकी चौकीको प्रणाम करते हुए प्रश्न किया, जिस चौकीकी नागराजकी कन्याएँ अभिलषित पतिकी कामनासे प्रेमपूर्वक नाना प्रकारकी पूजा-सामग्रियोंसे पूजा करती हैं॥ ५॥

मुहुर्गृणन्तो वचसानुराग-
स्खलत्पदेनास्य कृतानि तज्ज्ञाः।
किरीटसाहस्रमणिप्रवेक-
प्रद्योतितोद्दामफणासहस्रम् ॥ ६॥

सनत्कुमार आदि ऋषिगण श्रीभगवान्‌की लीला-चरितावलीसे पूर्ण रूपसे परिचित थे, अतएव वे प्रेमपूर्ण गद्‌गद वचनोंसे उन लीलाओंका बार-बार वर्णन करने लगे। उस समय भगवान् सङ्कर्षणदेवके हजारों मुकुटोंमें जड़ित उत्कृष्ट रत्नोंकी किरणोंसे उनके हजारों उन्नत फण उद्भासित होने लगे॥ ६॥

प्रोक्तं किलैतद्भगवत्तमेन
निवृत्तिधर्माभिरताय तेन।
सनत्कुमाराय स चाह पृष्टः
सांख्यायनायाङ्ग धृतव्रताय॥ ७॥

हे विदुरजी! भगवान् सङ्कर्षणदेवने इस भागवत-पुराणको निवृत्तिपरायण सनत्कुमारादि ऋषियोंको सुनाया था। तदनन्तर व्रतपरायण 'सांख्यायन' नामक ऋषिके द्वारा प्रश्न किये जानेपर सनत्कुमारने उन्हें भागवत सुनायी थी॥ ७॥

सांख्यायनः पारमहंस्यमुख्यो
विवक्षमाणो भगवद्विभूतीः।
जगाद सोऽस्मद्गुरवेऽन्विताय
पराशरायाथ बृहस्पतेश्च॥ ८॥

परमहंसोंमें श्रेष्ठ सांख्यायन मुनिने भगवान्‌के ऐश्वर्यका वर्णन करनेकी इच्छासे इस श्रीमद्भागवतको अपने एकान्त अनुगत शिष्य हमारे गुरुदेव पराशर मुनिको तथा बादमें बृहस्पतिजीको भी सुनाया था॥ ८॥

प्रोवाच मह्यं स दयालुरुक्तो
मुनिः पुलस्त्येन पुराणमाद्यम्।
सोऽहं तवैतत् कथयामि वत्स
श्रद्धालवे नित्यमनुव्रताय॥ ९॥

परम कारुणिक महर्षि पराशरने पुलस्त्य मुनिसे वर प्राप्तकर कृपापूर्वक यह सनातन भागवत-पुराण मुझे सुनाया था। हे वत्स! तुम अति श्रद्धावान हो और मेरे नित्य अनुगत हो, अतएव मैं उसी श्रीमद्भागवतको तुम्हें सुना रहा हूँ॥ ९॥

उदाप्लुतं विश्वमिदं तदासीद्-
यन्निद्रयामीलितदृङ्न्यमीलयत्
अहीन्द्रतल्पेऽधिशयान एकः
कृतक्षणः स्वात्मरतौ निरीहः॥ १०॥

सृष्टिके पूर्व जिस समय यह सम्पूर्ण विश्व प्रलयजलमें डूबा हुआ था, उस समय अद्वयतत्त्व भगवान् श्रीनारायणने (मायाके प्रति ईक्षण परित्यागपूर्वक) अपनी स्वरूप-शक्ति सहित स्वरूपानन्दमें अनन्त शय्यापर शयनकर निष्क्रिय और निश्चेष्ट भावसे अपने दोनों नेत्र मूँदे हुए थे॥ १०॥

सोऽन्तःशरीरेऽर्पितभूतसूक्ष्मः
कालात्मिकां शक्तिमुदीरयाणः।
उवास तस्मिन् सलिले पदे स्वे
यथानलो दारुनिरुद्धवीर्यः॥ ११॥

जिस प्रकार अग्नि अपनी दाहिका आदि शक्तियोंको छिपाये हुए काष्ठमें व्याप्त रहती है, उसी प्रकार श्रीभगवान् त्रिभुवन स्थित समस्त प्राणियोंके सूक्ष्म शरीरोंको अपने शरीरमें लीन करके अपने आधारभूत उस एकार्णव-जलमें शयन किये हुए थे। पुनः सृष्टिकाल आनेपर भगवान्ने उन जीवोंको जगानेके लिए अपनी कालशक्तिको प्रेरित किया॥ ११॥

चतुर्युगानाञ्च सहस्रमप्सु
स्वपन् स्वयोदीरितया स्वशक्त्या।
कालाख्ययासादितकर्मतन्त्रो
लोकानपीतान् ददृशे स्वदेहे॥ १२॥

इस प्रकार भगवान्ने अपनी स्वरूपभूता चित्-शक्तिके साथ एक हजार चतुर्युग तक योगनिद्रामें शयन किया। तत्पश्चात् प्रलयकालके अन्तमें भगवान्के द्वारा नियुक्त उनकी कालशक्तिने जीवोंके कर्मोंकी प्रवृत्तिके लिए प्रेरितकर उन्हें समस्त सृष्टिकर्मके सम्बन्धमें अवगत कराया तथा उन्होंने अपनी देहमें चौदह-भुवनको लीन हुए देखे॥ १२॥

तस्यार्थसूक्ष्माभिनिविष्टदृष्टे-
रन्तर्गतोऽर्थो रजसा तनीयान्।
गुणेन कालानुगतेन विद्धः
सूष्यंस्तदाभिद्यत नाभिदेशात्॥ १३॥

लोकसृष्टिके उद्देश्यसे जिस समय भगवान्की दृष्टि अपनेमें निहित जीवोंके लिङ्गशरीरपर पड़ी, तब वह सूक्ष्मतत्त्व कालाश्रित रजोगुणसे क्षोभित होकर सृष्टिरचनाके लिए उनके नाभिदेशसे बाहर निकला॥ १३॥

स पद्मकोषः सहसोदतिष्ठत्
कालेन कर्मप्रतिबोधनेन।
स्वरोचिषा तत् सलिलं विशालं
विद्योतयन्नर्क इवात्मयोनिः॥ १४॥

भगवान् श्रीविष्णुकी इच्छासे ही जीवोंके अदृष्ट अर्थात् कर्मको प्रकाशित करनेवाले कालके द्वारा प्रेरित वह सूक्ष्म पदार्थविशेष कमलकोषके आकारमें परिणत हो गया। फिर वह अपनी सूर्यके समान कान्तिसे प्रलयकालीन विशाल जलराशिको देदीप्यमान करता हुआ सहसा आविर्भूत हुआ॥ १४॥

तल्लोकपद्मं स उ एव विष्णुः
प्रावीविशत् सर्वगुणावभासम्।
तस्मिन् स्वयं वेदमयो विधाता
स्वयम्भुवं यं स्म वदन्ति सोऽभूत्॥ १५॥

हे विदुर! उस सर्वलोकमय कमलमें समस्त गुण-कार्यों अर्थात् जीवके भोग्य स्वर्ग और नरक आदिको प्रकाशित करनेवाले गर्भोदशायी भगवान् श्रीविष्णु अन्तर्यामी रूपसे प्रविष्ट हो गये। श्रीविष्णुके द्वारा अधिष्ठित इस कमलसे विधाता अर्थात् सृष्टिकर्त्ता और सम्पूर्ण वेदोंको जाननेवाले वेदमूर्त्ति ब्रह्माजी आविर्भूत हुए। स्वयं आविर्भूत होनेके कारण लोग उन्हें 'स्वयम्भू' कहते हैं॥ १५॥

तस्यां स चाम्भोरुहकर्णिकाया-
मवस्थितो लोकमपश्यमानः।

परिक्रमन् व्योम्नि विवृत्तनेत्र-
श्चत्वारि लेभेऽनुदिशं मुखानि॥ १६॥

कमलकोषसे आविर्भूत होकर ब्रह्माजी उस पद्मकी कर्णिकारूप गद्दीपर बैठ गये, परन्तु तथापि उन्हें कहीं कोई लोक दिखलायी नहीं दिया। तब वे उसी स्थानपर बैठकर आकाशमें चारों ओर गर्दन घुमाकर लोकोंको देखनेके लिए दृष्टिपात करने लगे। इस प्रकार अपनी गर्दनको चारों दिशाओंमें घुमानेसे ब्रह्माजीके चार मुख हो गये॥ १६॥

तस्माद्युगान्तश्वसनावघूर्ण-
जलोर्मिचक्रात् सलिलाद्विरूढम्।
उपाश्रितः कञ्जमु लोकतत्त्वं
नात्मानमध्वाविददादिदेवः ॥ १७॥

यद्यपि आदिदेव ब्रह्माजी प्रलयवायुके वेगसे कम्पित भँवरयुक्त जलराशिमें उत्पन्न कमलपर बैठे हुए थे, तथापि ब्रह्माजी न तो उस पद्मस्वरूप अपने अधिष्ठानके उद्गम-तत्त्वके रहस्यको जान पाये, न सृष्टि-तत्त्वको और न ही आत्म-तत्त्व अर्थात् स्वयंको॥ १७॥

क एष योऽसावहमब्जपृष्ठे
एतत् कुतो वाब्जमनन्यदप्सु।
अस्ति ह्यधस्तादिह किञ्चनैत-
दधिष्ठितं यत्र सता नु भाव्यम्॥ १८॥

वे विचार करने लगे—इस कमलकी कर्णिकामें बैठा हुआ मैं कौन हूँ? जलमें कहाँसे यह एकमात्र पद्म उत्पन्न हुआ है? निश्चय ही इसके नीचे कुछ आधार होना चाहिये, जिसपर यह पद्म अवस्थित है॥ १८॥

स इत्थमुद्वीक्ष्य तदब्जनाल-
नाडीभिरन्तर्जलमाविवेश ।
नार्वाग्गतस्तत्खरनालनाल-
नाभिं विचिन्वंस्तदविन्ददाजः॥ १९॥

इस प्रकार विचार करके ब्रह्माजी उस कमलनालके छिद्रसे होकर प्रलयजलमें प्रवेश कर गये, परन्तु कमलनालके आधारको खोजते-खोजते उसके आधारस्वरूप श्रीनारायणके नाभिदेशके निकट पहुँचकर भी वे कुछ न जान पाये॥ १९॥

तमस्यपारे विदुरात्मसर्गं
विचिन्वतोऽभूत् सुमहांस्त्रिनेमिः।
यो देहभाजां भयमीरयाणः
परिक्षिणोत्यायुरजस्य हेतिः॥ २०॥

हे विदुर! जो काल भगवान् श्रीविष्णुके सुदर्शनचक्रके रूपमें देहधारी मनुष्योंको घोर अज्ञानके अन्धकारसे भयभीत करके उनकी परमायुको पूर्ण रूपसे क्षीण करता है, अपनी उत्पत्तिके कारणको खोजनेमें लगे हुए ब्रह्माजीके लिए भी वही दिव्य सौ वर्षोंका अन्तिम काल आकर उपस्थित हो गया॥ २०॥

ततो निवृत्तोऽप्रतिलब्धकामः
स्वधिष्ण्यमासाद्य पुनः स देवः।
शनैर्जितश्वासनिवृत्तचित्तो
न्यषीददारूढसमाधियोगः ॥ २१॥

तत्पश्चात् अपने अभीष्ट लक्ष्यकी प्राप्तिमें विफल-मनोरथ होकर ब्रह्माजी पुनः अपने अधिष्ठानस्वरूप कमल-कर्णिकापर लौट आये तथा उन्होंने अन्तर्मुख-वृत्तिके द्वारा क्रमशः प्राणवायुको जीत लिया और भगवान्‌के ध्यानके द्वारा एकाग्रचित्त होकर समाधिमें स्थित हो गये॥ २१॥

कालेन सोऽजः पुरुषायुषाभि-
प्रवृत्तयोगेन विरूढबोधः।
स्वयं तदन्तर्हृदयेऽवभात-
मपश्यतापश्यत यन्न पूर्वम्॥ २२॥

दिव्य सौ वर्षों तक योगानुष्ठानके द्वारा ब्रह्माजीने भगवत्-तत्त्वज्ञान प्राप्त किया। पहले बहुत समय तक खोज करनेपर भी वे जिनका

दर्शन प्राप्त नहीं कर पाये थे, इस समय उन्होंने उन्हें ही अपने हृदयमें स्वयं प्रकाशित होते देखा॥ २२॥

मृणालगौरायतशेषभोग-
पर्यङ्क एकं पुरुषं शयानम्।
फणातपत्रायुतमूर्द्धरत्न-
द्युभिर्हतध्वान्तयुगान्ततोये ॥ २३॥

ब्रह्माजीने देखा कि प्रलयकालीन जलमें कमलनालके समान गौरवर्ण और विशालकाय शेषनागके शरीररूपी शय्यापर एक पुरुष शयन किये हुए हैं। उस शेषनागके फण छत्रके समान उन पुरुषके ऊपर फैले हुए थे तथा उनके असंख्य फणोंपर स्थित मणियोंकी प्रभाके द्वारा प्रलय-समुद्रके जलका अन्धकार दूर हो रहा था॥ २३॥

प्रेक्षां क्षिपन्तं हरितोपलाद्रेः
सन्ध्याभ्रनीवेरुरुरुक्ममूर्ध्नः ।
रत्नोदधारौषधिसौमनस्य-
वनस्रजो वेणुभुजाङ्घ्रिपाङ्घ्रेः॥ २४॥

वे परमपुरुष अपने निरूपम लावण्यसे मरकत शिलाओंसे युक्त पर्वतकी शोभाका तिरस्कार कर रहे थे। मरकत पर्वतके प्रान्तदेशमें छाये हुए सायंकालके पीले-पीले चमकीले मेघोंके द्वारा परिधेय वस्त्रोंके रूपमें मरकत पर्वतकी शोभाका विस्तार करनेपर भी वह उन पुरुषके पीताम्बरकी शोभासे पराभूत हो रहे थे। विचित्र सुवर्णमय शिखरोंसे उस मरकत पर्वतकी जैसी शोभा विस्तार होती है, उन पुरुषके सिरपर स्थित मुकुटमें जड़ित रत्न उनसे भी अधिक शोभा प्रकाशितकर उस मरकत पर्वतकी शोभाको फीका कर रहे थे। मरकत पर्वतपर स्थित रत्न, जलधारा, औषधि और पुष्पोंकी वनमालाके रूपमें; वेणु-दण्डकी बाहुके रूपमें और वृक्षोंकी चरणोंके रूपमें कल्पना करनेपर उस पर्वतकी जो रमणीयता है, वह भी उन विराट्मूर्त्ति भगवान्‌की रत्नमाला, मुक्तामाला, तुलसीमाला, पुष्पमाला, भुजाओं एवं चरणोंकी शोभाके द्वारा तिरस्कृत हो रही थी॥ २४॥

आयामतो विस्तरतः स्वमान-
देहेन लोकत्रयसंग्रहेण।
विचित्रदिव्याभरणांशुकानां
कृतश्रियापाश्रितवेषदेहम् ॥ २५ ॥

उन पुरुषका श्रीविग्रह लम्बाई-चौड़ाईमें असीम था तथा उसमें स्वर्ग, मर्त्त्य एवं पाताल—ये तीनों लोक विराजित थे। उनका श्रीविग्रह स्वतः ही नाना प्रकारके अपूर्व वस्त्रों एवं आभूषणोंकी शोभाको सुशोभितकर परम सौन्दर्य प्रदर्शन करनेवाला था। अतः उन्होंने मानो उन अलङ्कारोंकी शोभाको बढ़ानेके लिए ही उन्हें धारण किया हुआ था॥ २५॥

पुंसां स्वकामाय विविक्तमार्गै-
रभ्यर्चतां कामदुघाङ्घ्रिपद्मम्।
प्रदर्शयन्तं कृपया नखेन्दु-
मयूखभिन्नाङ्गुलिचारुपत्रम् ॥ २६ ॥

वे विराट् पुरुष कृपापूर्वक अपनी-अपनी अभिलाषाकी पूर्तिके लिए वेदोक्त विशुद्ध भक्तिमार्ग द्वारा पूजा करनेवाले भक्तजनोंको उनकी सेवोपयोगी वाञ्छाको पूर्ण करनेके लिए कल्पतरुके समान अपने सहस्र चरणकमलोंमेंसे एक चरणकमलको किञ्चित् उठाकर प्रदर्शित कर रहे थे। उनके उस चरणकमलके नखचन्द्रकी किरणोंसे उद्भासित उनके मनोहर अङ्गुलि-दलरूप पत्रोंकी भी अतिशय शोभा हो रही थी॥ २६॥

मुखेन लोकार्तिहरस्मितेन
परिस्फुरत्कुण्डलमण्डितेन ।
शोणायितेनाधरबिम्बभासा
प्रत्यर्हयन्तं सुनसेन सुभ्र्वा॥ २७॥

वे पुरुष सेवकोंके दुःखको विनाश करनेवाले मन्दहास्यसे युक्त, उज्ज्वल कुण्डलोंसे विभूषित, बिम्बफलके समान लाल-लाल अधरोंकी कान्ति, सुन्दर नासिका एवं दोनों भौहोंसे सुशोभित मुखकमलके द्वारा अपने सेवकोंका अभिनन्दन कर रहे थे॥ २७॥

कदम्बकिञ्जल्कपिशङ्गवाससा
स्वलङ्कृतं मेखलया नितम्बे।
हारेण चानन्तधनेन वत्स
श्रीवत्सवक्षःस्थलवल्लभेन ॥ २८ ॥

हे वत्स विदुर! ब्रह्माजीने देखा कि उनका नितम्बदेश कदम्ब-कुसुमकी केसरके समान पीतवस्त्र और सुवर्णमयी मेखला द्वारा विभूषित हो रहा था। उनका वक्षःस्थल सुनहरी रेखावाले श्रीवत्सचिह्न एवं उस वक्षःस्थलके प्रियस्वरूप बहुमूल्य हारोंसे सुशोभित हो रहा था॥ २८ ॥

परार्ध्यकेयूरमणिप्रवेक-
पर्यस्तदोर्दण्डसहस्रशाखम् ।
अव्यक्तमूलं भुवनाङ्घ्रिपेन्द्र-
महीन्द्रभोगैरधिवीतवल्शम् ॥ २९ ॥

वे विराट् पुरुष महाचन्दन वृक्षके समान विराजित थे। महामूल्य केयूरादि और उत्तम-उत्तम मणियोंके द्वारा सुशोभित उनके अनन्त विशाल भुजदण्ड ही मानो उस वृक्षकी सहस्रों शाखाएँ थीं। जिस प्रकार चन्दन-वृक्षका मूलदेश अव्यक्त रहता है, उसी प्रकार उनके भी मूल अर्थात् अधोभागमें अव्यक्त प्रकृति विराज रही थी। (अथवा वे ही सबके मूल होनेके कारण उनका अन्य कोई मूल नहीं था)। चन्दनके वृक्षोंमें जिस प्रकार बड़े-बड़े सर्प लिपटे रहते हैं, उसी प्रकार उन पुरुषके कन्धोंको नागराज अनन्तदेवके फणोंने लपेट रखा था॥ २९ ॥

चराचरौको भगवन्महीध्र-
महीन्द्रबन्धुं सलिलोपगूढम्।
किरीटसाहस्रहिरण्यशृङ्ग-
माविर्भवत्कौस्तुभरत्नगर्भम् ॥ ३० ॥

अथवा, वे विराट् पुरुष महापर्वतके समान विराजमान थे। पर्वत जिस प्रकार चराचर प्राणियोंका आवासस्थान होता है, विराट् पुरुषकी देह भी उसी प्रकारसे चराचर समस्त प्राणियोंका आश्रयस्थान है।

पर्वतपर सर्पोंके वासके कारण उसे 'सर्पबन्धु' कहा जाता है, उसी प्रकार भगवान् भी नागराज अनन्तके बन्धु हैं। मैनाक आदि प्रधान-प्रधान पर्वत जिस प्रकार समुद्रके जलमें निमग्न रहते हैं, वे भगवान् भी उसी प्रकार प्रलय-समुद्रके जलसे आवृत रहते हैं। जिस प्रकार प्रधान पर्वतोंके शिखर आदि स्वर्णवर्णके होते हैं, उसी प्रकार उन भगवान्‌के सहस्रों मुकुट स्वर्ण-शिखरोंके रूपमें शोभित हो रहे थे। जिस प्रकार पर्वतके गर्भसे कहीं-कहीं रत्न आदि प्रकट होते हैं, उसी प्रकार उनकी भी श्रीमूर्त्तिमें स्पष्ट रूपसे दृश्यमान कौस्तुभमणि विराजित थी॥ ३०॥

निवीतमाम्नायमधुव्रतश्रिया
स्वकीर्तिमय्या वनमालया हरिम्।
सूर्येन्दुवाय्वग्न्यगमं त्रिधामभिः
परिक्रमत्प्राधनिकैर्दुरासदम् ॥ ३१ ॥

श्रीब्रह्माजीने देखा कि पर्वतके समान उन भगवान् श्रीहरिके कण्ठदेशमें उनकी अपनी कीर्त्तिमयी वनमाला विराजमान थी। वेदरूप मधुकरोंके समूह अपनी गुञ्जारसे उस मनोहर वनमालाकी शोभाका विस्तार कर रहे थे। सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि आदि अपनी-अपनी कार्य-क्षमताके द्वारा उन पुरुषकी धारणा भी नहीं कर सकते। जिन युद्ध-अस्त्रोंकी कान्तिसे तीनों भुवन व्याप्त हैं और जो अस्त्र उपासकोंकी रक्षाके लिए चारों दिशाओंमें बाधा रहित होकर धावित हो रहे हैं, संग्राममें प्रयोजनीय उन सुदर्शनचक्र आदि आयुधोंने भगवान्‌को दुष्प्राप्य कर रखा था॥ ३१॥

तर्ह्येव तन्नाभिसरःसरोज-
मात्मानमम्भः श्वसनं वियच्च।
ददर्श देवो जगतो विधाता
नातः परं लोकविसर्गदृष्टिः॥ ३२॥

जगत्-विधाता ब्रह्माजीने जब प्रजासृष्टि करनेकी इच्छासे दृष्टिपात किया, तब गर्भोदकशायी पुरुषके नाभि-सरोवरमें स्थित अपने कारण

अर्थात् अपने उत्पत्ति-स्थल पद्मको, स्वयंको तथा अपने चारों ओर प्रलयकालीन वायु, जल और आकाश—इन पाँच ही पदार्थोंको देखा। इसके अलावा उन्हें कुछ भी दिखलायी नहीं दिया॥ ३२॥

स कर्मबीजं रजसोपरक्तः
प्रजाः सिसृक्षन्नियदेव दृष्ट्वा।
अस्तौद्विसर्गाभिमुखस्तमीड्य-
मव्यक्तवर्त्मन्यभिवेशितात्मा ॥ ३३ ॥

उस समय रजोगुणसे युक्त होनेके कारण ब्रह्माजी प्रजाकी सृष्टि करना चाहते थे। किन्तु, जब उन्होंने सृष्टि-क्रियाके कारणरूपमें पूर्वोक्त नाभिपद्म आदि पाँच पदार्थोंको ही देखा, तब लोकरचनाके लिए उत्सुक होनेके कारण वे अपना चित्त भगवान् श्रीहरिमें लगाकर उन परमपूजनीय भगवान्‌की स्तव-स्तुति करने लगे॥ ३३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां तृतीयस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे श्रीभगवद्दर्शनं नामाष्टमोऽध्यायः॥

नवमोऽध्यायः

श्रीब्रह्मा द्वारा भगवान्‌की स्तुति करके उनकी कृपासे सृष्टिके लिए सामर्थ्य प्राप्त करना

श्रीब्रह्मोवाच—

ज्ञातोऽसि मेऽद्य सुचिरान्ननु देहभाजां
न ज्ञायते भगवतो गतिरित्यवद्यम्।
नान्यत्त्वदस्ति भगवन्नपि तन्न शुद्धं
मायागुणव्यतिकराद् यदुरुर्विभासि॥ १॥

श्रीब्रह्माने कहा—हे भगवन्! बहुत समय तक उपासना करनेके बाद मैं आज आपको जान सका हूँ। अहो! देहधारी जीवोंका कैसा दुर्भाग्य है कि वे आपके तत्त्वको जान नहीं सकते। आप ही एकमात्र जाननेके योग्य पुरुष हैं, क्योंकि आपके अतिरिक्त किसी अन्य वस्तुकी पृथक् सत्ता नहीं है और जो सत्ता पृथक् रूपसे प्रतीत भी होती है, वह भी स्वरूपतः सत्य नहीं है। आप जो जगत्‌रूपमें बहुत रूप होकर प्रकाशित होते हैं, वह भी आपकी बहिरङ्गा प्रधानरूप मायाके गुणोंके परिणामसे ही प्रतीत होता है, अर्थात् उसमें भी सत्यता नहीं है॥ १॥

रूपं यदेतदवबोधरसोदयेन
शश्वन्निवृत्ततमसः सदनुग्रहाय।
आदौ गृहीतमवतारशतैकबीजं
यन्नाभिपद्मभवनादहमाविरासम् ॥ २॥

हे भगवन्! आपकी चित्‌शक्तिके नित्य ही प्रकाशित रहनेके कारण मायाके समस्त गुण सदा ही आपसे दूर रहते हैं। सैकड़ों अवतारोंके एकमात्र मूलकारणस्वरूप आपकी यह (गर्भोदशायी) श्रीमूर्त्ति भक्तोंके प्रति कृपा करनेके लिए प्रकटित हुई है तथा मैं उसीके ही नाभि-कमलसे उत्पन्न हुआ हूँ॥ २॥

नातः परं परम यद्भवतः स्वरूप-
मानन्दमात्रमविकल्पमविद्धवर्चः ।
पश्यामि विश्वसृजमेकमविश्वमात्मन्
भूतेन्द्रियात्मकमदस्त उपाश्रितोऽस्मि॥ ३॥

हे परमपुरुष! देश, काल आदिके आवरणसे रहित आपका जो प्रकाशमय, निर्भेद, आनन्दमात्र ब्रह्मस्वरूप है, उसे मैं इस सविशेष अद्वयतत्त्वके रूपसे भिन्न नहीं देख रहा हूँ, अपितु वह ब्रह्मस्वरूप इसी अद्वयतत्त्वकी ही आंशिक प्रतीति है। हे आत्मन्! इसीलिए उपास्योंमें मुख्य, विश्वकी सृष्टि करनेवाले, अतः विश्वसे भिन्न एवं जीवोंकी इन्द्रियोंके अधिष्ठान आपके इस अद्वितीय सविशेष रूपका ही मैं आश्रय लेता हूँ॥ ३॥

तद्वा इदं भुवनमङ्गल मङ्गलाय
ध्याने स्म नो दर्शितं त उपासकानाम्।
तस्मै नमो भगवतेऽनुविधेम तुभ्यं
योऽनादृतो नरकभाग्भिरसत्प्रसङ्गैः॥ ४॥

हे भुवनमङ्गल! हम आपके उपासक हैं। आपने हमारे कल्याणके लिए ही ध्यान-योगमें जिस रूपको दिखलाया है, ईश्वरको न माननेवाले कुतार्किक व्यक्ति आपके इस स्वरूपको सच्चिदानन्दमय विग्रह न मानकर मायामय कहकर अनादर करते हैं और नरकमें पतित होते हैं। मैं षड़ैश्वर्य युक्त आपको पुनः-पुनः नमस्कार करता हूँ॥ ४॥

ये तु त्वदीयचरणाम्बुजकोषगन्धं
जिघ्रन्ति कर्णविवरैः श्रुतिवातनीतम्।
भक्त्या गृहीतचरणः परया च तेषां
नापैषि नाथ हृदयाम्बुरुहात् स्वपुंसाम्॥ ५॥

हे प्रभो! आपके शुद्धभक्त वेद अथवा श्रवणभक्तिरूप वायुके द्वारा लायी हुई आपके चरणकमलोंकी सुगन्धको अपने कर्णपुटोंसे ग्रहण करते हैं, अर्थात् बड़े आदरके साथ आपकी लीला-कथाएँ सुनते हैं।

आप भी अपने भक्तोंके हृदयकमलसे कभी दूर नहीं होते, क्योंकि उन्होंने आपके चरणकमलोंको परमपुरुषार्थके रूपमें स्वीकारकर उन्हें प्रेमकी डोरीसे अपने हृदयमें बाँध रखा है॥ ५॥

तावद्भयं द्रविणदेहसुहृन्निमित्तं
शोकः स्पृहा परिभवो विपुलश्च लोभः।
तावन्ममेत्यसदवग्रह आर्तिमूलं
यावन्न तेऽङ्घ्रिमभयं प्रवृणीत लोकः॥ ६॥

हे भगवन्! जब तक लोग आपके अभय प्रदानकारी चरणकमलोंको सम्पूर्ण रूपसे वरण नहीं करते, तभी तक उन्हें धन, देह और बन्धुजनोंके नष्ट हो जानेका भय, उनके नष्ट होनेपर शोक, पुनः उन्हें प्राप्त करनेकी इच्छा, उन सब वस्तुओंके द्वारा तिरस्कार होनेपर भी उनके लिए अत्यधिक लालसा तथा उनके पुनः प्राप्त होनेपर उनमें 'मैं और मेरेका' दुराग्रह रहता है। यह सब ही उनके दुःखोंका एकमात्र कारण है॥ ६॥

दैवेन ते हतधियो भवतः प्रसङ्गात्
सर्वाशुभोपशमनाद्विमुखेन्द्रिया ये।
कुर्वन्ति कामसुखलेशलवाय दीना
लोभाभिभूतमनसोऽकुशलानि शश्वत्॥ ७॥

हे भगवन्! आपकी कथाएँ सब प्रकारके अमङ्गलोंको नष्ट कर देती हैं। जो व्यक्ति समस्त प्रकारके दुःखोंको शान्त करनेवाली आपकी लीला-कथाओंके श्रवण-कीर्त्तनादि रूप प्रसङ्गोंसे विमुख होकर तुच्छ विषय-सुखकी आशाओंके लोभसे निरन्तर अमङ्गलजनक कर्मोंमें लगे रहते हैं, वे निश्चय ही अत्यधिक भाग्यहीन हैं, क्योंकि उनकी बुद्धिको दैवने हर लिया है॥ ७॥

क्षुत्तृट्त्रिधातुभिरिमा मुहुरर्द्यमानाः
शीतोष्णवातवरषैरितरेतराच्च ।
कामाग्निनाच्युतरुषा च सुदुर्भरेण
संपश्यतो मन उरुक्रम सीदते मे॥ ८॥

आह! हरिकथासे विमुख जीव भूख-प्यास, वात, पित्त, कफ, सर्दी-गर्मी, पवन और वर्षा आदिके द्वारा तथा पुत्र, स्त्री आदि बहुत-से कारणोंसे बार-बार कष्ट पाते रहते हैं। इसके अतिरिक्त असहनीय कामाग्नि और अविराम क्रोधके कारण वे दुःखी होते रहते हैं। हे उरुक्रम! इन जीवोंकी इस अवस्थाको देखकर मेरा मन बड़ा ही दुःखित होता है। हाय, हाय इनका उद्धार किस प्रकार होगा? ॥ ८ ॥

यावत् पृथक्त्वमिदमात्मन इन्द्रियार्थ-
मायाबलं भगवतो जन ईश पश्येत्।
तावन्न संसृतिरसौ प्रतिसंक्रमेत
व्यर्थापि दुःखनिवहं वहती क्रियार्था॥ ९ ॥

हे परमेश्वर! जब तक लोग इन्द्रियभोगके विषयरूप फलोंको प्रदान करनेवाली आपकी मायासे वर्द्धित इस देहादिके भावोंको ग्रहण करते रहते हैं, अर्थात् जड़ शरीरमें 'मैं' की बुद्धि रखते हैं और अपने शुद्धस्वरूपको देहसे पृथक् रूपमें उपलब्धि नहीं करते, तभी तक अनित्य दुःखोंको प्राप्त करानेवाले एवं कर्मफलोंको उत्पन्न करनेवाले इस संसार-चक्रके निरर्थक होनेपर भी वे इससे मुक्त नहीं हो सकते॥ ९ ॥

अह्न्यापृतार्तकरणा निशि निःशयाना
नानामनोरथधिया क्षणभग्ननिद्राः।
दैवाहतार्थरचना ऋषयोऽपि देव
युष्मत्प्रसङ्गविमुखा इह संसरन्ति॥ १० ॥

(यदि कहो कि अविवेकी व्यक्तियोंके लिए सांसारिक कष्ट सम्भव हो सकते हैं, किन्तु विवेकी व्यक्ति तो मुक्त हैं, उन्हें भक्तिकी क्या आवश्यकता है? इसके उत्तरमें कहते हैं—)हे देव! यदि साक्षात् मुनि भी आपके कथाप्रसङ्गसे विमुख हो जायें तो उन्हें भी संसार-चक्रमें फँसना पड़ता है। दिनमें उनकी इन्द्रियाँ भगवान्‌के अतिरिक्त दूसरे विषयोंमें व्यस्त होकर अत्यन्त क्लान्त हो जाती हैं और रात्रिके समय भी उन्हें लेशमात्र विषयसुख नहीं मिलता, क्योंकि वे बाह्य इन्द्रियोंकी

क्रियाओंसे निवृत्त होकर सोते तो हैं, किन्तु उस समय भी नाना प्रकारके असत्‌-विषयोंमें धावित मनोधर्मरूप स्वप्न-दर्शनके द्वारा उनकी नींद क्षण-क्षणमें भङ्ग होती रहती है। इसके अतिरिक्त अर्थसिद्धिके लिए की गयी उनकी समस्त चेष्टाएँ भी दैववश विफल होती रहती हैं॥ १०॥

त्वं भक्तियोगपरिभावितहृत्सरोज
आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसाम्‌।
यद्यद्‌ धिया त उरुगाय विभावयन्ति
तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय॥ ११॥

हे नाथ! श्रीगुरुमुखसे आपकी कथाओंको सुननेके बाद लोग आपकी सेवाप्राप्तिके मार्गको जान पाते हैं। आप भक्तियोगसे विशुद्ध हुए अपने निजजनोंके हृदय-कमलमें निश्चय ही सर्वदा विश्राम करते हैं। हे उत्तमश्लोक! भक्तगण अपनी-अपनी सिद्धदेहकी भावनाके अनुसार आपके जिन नित्य स्वरूपोंकी विशेष रूपसे भावना करते हैं, आप उनके प्रति अनुग्रह करनेके लिए उन-उन स्वरूपोंको प्रकट करते हैं॥ ११॥

नातिप्रसीदति तथोपचितोपचारै-
राराधितः सुरगणैर्हृदिबद्धकामैः।
यत्‌ सर्वभूतदययासदलभ्ययैको
नानाजनेष्ववहितः सुहृदन्तरात्मा॥ १२॥

हे प्रभो! आप समस्त प्राणियोंके अन्तःकरणमें अन्तर्यामी रूपसे स्थित हैं और सभीके एकमात्र बन्धु हैं। देवतागण कामनाओं सहित नाना प्रकारके साधनोंसे आपकी उपासना करते हैं, किन्तु आप उनसे इतने प्रसन्न नहीं होते, जितने प्रसन्न आप उन भक्तोंसे होते हैं, जो अभक्तोंके लिए अप्राप्य समस्त प्राणियोंके प्रति दयाशीलता गुणसे युक्त हैं॥ १२॥

पुंसामतो विविधकर्मभिरध्वराद्यै-
र्दानेन चोग्रतपसा परिचर्यया च।

आराधनं भगवतस्तव सत्क्रियार्थो
धर्मोऽर्पितः कर्हिचिदन्म्रियते न यत्र॥ १३॥

इसलिए समस्त जीवों द्वारा श्रुति और स्मृति अर्थात् वैदिक और लौकिक यज्ञादि कर्म, दान, कठोर तपस्या, व्रत एवं परिचर्याके द्वारा आपकी आराधना ही इन समस्त कर्मोंका श्रेष्ठ फल है। किसी भी कामनाके लिए किया गया धर्म उस कामनाको पूर्ण करके नष्ट हो जाता है, किन्तु आपमें अर्पित धर्मका कभी भी विनाश नहीं होता॥ १३॥

शश्वत् स्वरूपमहसैव निपीतभेद-
मोहाय बोधधिषणाय नमः परस्मै।
विश्वोद्भवास्थितिलयेषु निमित्तलीला-
रासाय ते नम इदं चकृमेश्वराय॥ १४॥

हे भगवन्! आपके स्वरूपके प्रकाशके द्वारा ही प्राणियोंका भेद-भ्रमरूपी मोह सर्वदा दूर हो जाता है। आप विद्याशक्तिके आश्रय होनेके कारण परतत्त्व हैं, अतः आपको नमस्कार है। विश्वकी सृष्टि, स्थिति एवं लयका निमित्त कारण जो बहिरङ्गा मायाका लीला-विलास है, उसी मायाके साथ आप ईक्षणादि द्वारा क्रीड़ा करते हैं। आप मायाके नियन्ता होनेके कारण परमेश्वर हैं। हम आपको पुनः-पुनः नमस्कार करते हैं॥ १४॥

यस्यावतारगुणकर्मविडम्बनानि
नामानि येऽसुविगमे विवशा गृणन्ति।
तेऽनेकजन्मशमलं सहसैव हित्वा
संयान्त्यपावृतमृतं तमजं प्रपद्ये॥ १५॥

जो लोग प्राणत्याग करते समय विवश होकर भी आपके देवकीनन्दन इत्यादि अवतारसूचक, सर्वज्ञ, भक्तवत्सल आदि गुणसूचक और गोवर्धनधारी, कंसारि आदि लीलासूचक नामोंका केवलमात्र उच्चारण करते हैं, वे अनेक जन्मोंके सञ्चित पापोंसे तत्काल मुक्त होकर मायाके आवरणसे रहित सच्चिदानन्दस्वरूप आपको प्राप्त हो

जाते हैं। मैं (ब्रह्मा) उन जन्मरहित भगवान् (आप) की शरण लेता हूँ॥ १५॥

यो वा अहञ्च गिरिशश्च विभुः स्वयञ्च
स्थित्युद्भवप्रलयहेतव आत्ममूलम्।
भित्त्वा त्रिपाद्ववृध एक उरुप्ररोह-
स्तस्मै नमो भगवते भुवनद्रुमाय॥ १६॥

हे भगवन्! इस विश्वरूपवृक्षके रूपमें आप ही विराजमान हैं। आप स्वयं ही अपने जिस मूल अर्थात् प्रकृतिके अधिष्ठान हैं, उसी प्रकृतिको भेद करके सत्त्व, रज और तमरूप तीनगुणोंमें विभक्त होकर यथाक्रमसे जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके लिए मेरे (ब्रह्मा), अपने (विष्णु) और महादेव रूप तीन प्रधान शाखाओंमें विभक्त हुए हैं। फिर इन प्रधान शाखाओंसे मरीचि आदि मुनि एवं मनु आदि प्रजापतिरूप शाखा-प्रशाखाओंके रूपमें आपका बहुत अधिक विस्तार हुआ है, अतएव भुवनाकार वृक्षस्वरूप भगवान् आपको मैं नमस्कार करता हूँ॥ १६॥

लोको विकर्मनिरतः कुशले प्रमत्तः
कर्मण्ययं त्वदुदिते भवदर्चने स्वे।
यस्तावदस्य बलवानिह जीविताशां
सद्यश्छिनत्त्यनिमिषाय नमोऽस्तु तस्मै॥ १७॥

हे विभो! जब तक लोग साक्षात् आपके द्वारा कथित भगवदर्चनरूप अपने कल्याणसे उदासीन रहते हैं एवं निषिद्ध कर्मोंमें रत रहते हैं, तब तक ही बलवान काल उन अभक्तोंकी आयुको बड़ी शीघ्रतासे काटता रहता है। वह काल भी आपका ही स्वरूप है, मैं उसे नमस्कार करता हूँ॥ १७॥

यस्माद्बिभेम्यहमपि द्विपरार्द्धधिष्ण्य-
मध्यासितः सकललोकनमस्कृतं यत्।
तेपे तपो बहुसवोऽवरुरुत्समान-
स्तस्मै नमो भगवतेऽधिमखाय तुभ्यम्॥ १८॥

हे भगवान्! द्विपरार्ध काल तक विद्यमान रहनेवाले और समस्त लोकोंके वन्दनीय सत्यलोकमें अधिष्ठित होकर भी मैं कालरूप आपसे भयभीत रहता हूँ। आपको प्राप्त करनेके लिए मैंने बहुत प्रकारके यज्ञोंका अनुष्ठान करते हुए बहुत वर्षों तक तपस्या की है। उन यज्ञादि कर्मोंके अधिष्ठाता आपको मैं नमस्कार करता हूँ॥ १८॥

तिर्यङ्मनुष्यविबुधादिषु जीवयोनि-
ष्वात्मेच्छयात्मकृतसेतुपरीप्सया यः।
रेमे निरस्तविषयोऽप्यवरुद्धदेह-
स्तस्मै नामे भगवते पुरुषोत्तमाय॥ १९॥

हे पूर्णकाम! अपनी आत्मरामताके कारण विषय-सुखसे अतीत रहकर भी आप अपने द्वारा रचित धर्म-मर्यादाके पालनके लिए स्वेच्छाक्रमसे पशु-पक्षी, देव और मनुष्य आदि योनियोंमें अपनी नित्यमूर्त्ति प्रकटित करके अनेकों प्रकारकी क्रीड़ाएँ करते हैं। औपाधिक धर्मके संस्पर्शसे रहित होनेके कारण आप ही पुरुषोत्तम हैं। ऐसे षडैश्वर्यशाली भगवान् आपको नमस्कार है॥ १९॥

योऽविद्ययानुपहतोऽपि दशार्द्धवृत्त्या
निद्रामुवाह जठरीकृतलोकयात्रः।
अन्तर्जलेऽहिकशिपुस्पर्शानुकूलां
भीमोर्मिमालिनि जनस्य सुखं विवृण्वन्॥ २०॥

हे प्रभो! आप पाँच प्रकारकी वृत्तियोंसे[१] युक्त रहनेवाली निद्राकी कारणभूत अविद्यासे कभी भी अभिभूत नहीं होते हैं, तथापि इस समय तीनों लोकोंके संस्थानरूप विश्वको अपने उदरमें विलीन करके अविवेकी, निद्रामें रत जीवोंका निद्रासुख प्रदर्शन करनेके लिए ही आपने भयानक तरङ्गोंसे विक्षुब्ध प्रलय-समुद्रके जलमें अनन्तनागकी शय्यापर लेटकर उसके कोमल स्पर्श-सुखमें निमग्न होकर निद्राको स्वीकार किया था॥ २०॥

---

[१] अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश।

यन्नाभिपद्मभवनादहमासमीड्य
लोकत्रयोपकरणो यदनुग्रहेण।
तस्मै नमस्त उदरस्थभवाय योग-
निद्रावसानविकसन्नलिनेक्षणाय ॥ २१ ॥

हे स्तवनीय पुरुष! आपके अनुग्रहसे मैं आपके नाभिकमलसे प्रकट होकर और आपकी ही कृपाको प्राप्तकर सृष्टि आदि द्वारा तीनों लोकोंका उपकार करनेके लिए नियुक्त हुआ हूँ। प्रलयकालमें जब संसाररूप प्रपञ्च आपके उदरमें स्थित रहता है, उस समय आप शयन करते रहते हैं। अब आपकी योगनिद्राके विराम होनेपर आपके कमलनयन विकसित हो रहे हैं, आपको नमस्कार है॥ २१॥

सोऽयं समस्तजगतां सुहृदेक आत्मा
सत्त्वेन यन्मृडयते भगवान् भगेन।
तेनैव मे दृशमनुस्पृशताद् यथाहं
स्रक्ष्यामि पूर्ववदिदं प्रणतप्रियोऽसौ ॥ २२ ॥

हे भगवन्! आप ही समस्त जगत्के एकमात्र सुहृत्, आत्मा और भक्तवत्सल हैं—मैं आपके चरणोंमें प्रणत हूँ। अतः आप अपने जिस ज्ञान एवं ऐश्वर्यके द्वारा विश्वको सुखी करते हैं, मेरी बुद्धिको भी उसीसे युक्त कर दीजिये जिससे कि मैं पूर्व-पूर्व कल्पोंके समान इस विश्वकी सृष्टि करनेमें समर्थ हो सकूँ॥ २२॥

एष प्रपन्नवरदो रमयात्मशक्त्या
यद्यत् करिष्यति गृहीतगुणावतारः।
तस्मिन् स्वविक्रममिदं सृजतोऽपि चेतो
युञ्जीत कर्मशमलञ्च यथा विजह्याम् ॥ २३ ॥

(इस प्रकार भगवान्की स्तुतिकर श्रीब्रह्मा चार श्लोकोंमें भगवान्से प्रार्थना कर रहे हैं—)प्रणतजनोंको वर प्रदान करनेवाले एवं भक्तवात्सल्य आदि गुणोंके अवतार वे भगवान् अपनी स्वरूपशक्तिके साथ जो-जो लीलाएँ करेंगे, मेरे द्वारा उन श्रीविष्णुके आदेशसे इस विश्वसृष्टिका कार्य भी उनकी लीलाओंमेंसे एक है। वे मेरे चित्तको इस प्रकारसे

नियुक्त करें कि जिससे सृष्टि आदि कर्ममें मेरी आसक्ति न रहे और उससे उत्पन्न विषमता आदि पापोंका परित्याग करनेमें मैं समर्थ हो सकूँ॥ २३॥

नाभिह्रदादिह सतोऽम्भसि यस्य पुंसो
विज्ञानशक्तिरहमासमनन्तशक्तेः ।
रूपं विचित्रमिदमस्य विवृण्वतो मे
मा रीरिषीष्ट निगमस्य गिरां विसर्गः॥ २४॥

हे भगवन्! प्रलयकालीन जलमें सोये हुए अनन्त शक्तिसे युक्त परमपुरुष आपके नाभि-सरोवरमें उदित कमलसे विज्ञानशक्ति अर्थात् बुद्धितत्त्वका अधिष्ठाता मैं उत्पन्न हुआ हूँ और आपके विचित्ररूप इस विश्वका विस्तार कर रहा हूँ। अतएव आप ऐसी कृपा कीजिये कि वेदके अवयवरूप मेरा वाक्य-उच्चारण लुप्त न हो, अर्थात् ऋगादि भेदसे वेदोंका विस्तार मायाके प्रभावसे मुझे विस्मृत न हो जाये॥ २४॥

सोऽसावदभ्रकरुणो भगवान् विवृद्ध-
प्रेमस्मितेन नयनाम्बुरुहं विजृम्भन्।
उत्थाय विश्वविजयाय च नो विषादं
माध्व्या गिरापनयतात् पुरुषः पुराणः॥ २५॥

आप अपार करुणामय पुरातन पुरुष हैं। अतः आप कृपापूर्वक परम प्रेममयी मुस्कानके साथ अपने नेत्रकमलोंको खोलिये तथा इस विश्वके उद्भव और मेरे प्रति अनुग्रह करनेके लिए शेषशय्यासे उठकर सुमधुर वाणीसे मेरे विषादको दूर कीजिये॥ २५॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

स्वसम्भवं निशाम्यैवं तपोविद्यासमाधिभिः।
यावन्मनोवचः स्तुत्वा विरराम स खिन्नवत्॥ २६॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! इस प्रकार ब्रह्माने तपस्या, उपासना और समाधिके द्वारा अपने उत्पत्तिस्थान गर्भोदशायी पुरुषको देखा तथा यथाशक्ति मन एवं वाणीके द्वारा उनकी स्तुति करके वे थके हुए की भाँति मौन हो गये॥ २६॥

अथाभिप्रेतमन्वीक्ष्य ब्रह्मणो मधुसूदनः।
विषण्णचेतसस्तेन कल्पव्यतिकराम्भसा॥ २७॥
लोकसंस्थानविज्ञान आत्मनः परिखिद्यतः।
तमाहागाधया वाचा कश्मलं शमयन्निव॥ २८॥

इसके बाद भगवान् श्रीमधुसूदनने देखा कि ब्रह्मा देव, पशु-पक्षी आदि रूप लोक-सृष्टिकी रीतिके विषयमें विज्ञान प्राप्त करनेके लिए चिन्तित तथा प्रलय-जलको देखकर अत्यन्त विषादग्रस्त हो रहे हैं। तब उनके अभिप्रायको जानकर तथा उनके मोहको दूर करनेके लिए श्रीभगवान् गम्भीर वाणीसे कहने लगे॥ २७—२८॥

श्रीभगवानुवाच—

मा वेदगर्भ गास्तन्द्रीं सर्ग उद्यममावह।
तन्मयापादितं ह्यग्रे यन्मां प्रार्थयते भवान्॥ २९॥

श्रीभगवान्ने कहा—हे वेदगर्भ! विषादके वशीभूत होकर आलस्य मत करो और सृष्टिके लिए प्रयत्न करो। तुम मुझसे जो कुछ भी याचना कर रहे हो, वह मैं पहले ही तुम्हें प्रदान कर चुका हूँ॥ २९॥

भूयस्त्वं तप आतिष्ठ विद्याञ्चैव मदाश्रयाम्।
ताभ्यामन्तर्हृदि ब्रह्मन् लोकान् द्रक्ष्यस्यपावृतान्॥ ३०॥

हे ब्रह्मन्! तुम पुनः तप करो और मेरी उपासनासे सम्बन्धित विद्याका अभ्यास करो। इन दोनोंके द्वारा तुम अपने हृदयमें ही पृथ्वी आदि समस्त लोकोंको स्पष्ट रूपसे देख सकोगे॥ ३०॥

तत आत्मनि लोके च भक्तियुक्तः समाहितः।
द्रष्टासि मां ततं ब्रह्मन् मयि लोकांस्त्वमात्मनः॥ ३१॥

इसके बाद भक्तियुक्त और समाहितचित्त हो जानेपर तुम मुझे अपनी आत्मामें और इन समस्त लोकोंमें व्याप्त देख सकोगे तथा मुझमें अपनेको, सभी लोकको तथा समस्त जीवोंको भी देख सकोगे॥ ३१॥

यदा तु सर्वभूतेषु दारुष्वग्निमिव स्थितम्।
प्रतिचक्षीत मां लोको जह्यात् तर्ह्येव कश्मलम्॥ ३२॥

काष्ठमें स्थित अग्निकी भाँति मैं समस्त प्राणियोंमें अवस्थित हूँ। जिस समय जीव मुझे इस भावसे देखता है, उसी समय वह अपने अज्ञानरूप मोहको त्याग करनेमें समर्थ हो जाता है॥ ३२॥

यदा रहितमात्मानं भूतेन्द्रियगुणाशयैः।
स्वरूपेण मयोपेतं पश्यन् स्वाराज्यमृच्छति॥ ३३॥

जिस समय लोग पृथ्वी आदि पञ्चभूत, इन्द्रिय, सत्त्वादि गुण और विषयोंसे पूर्णतया मुक्त शुद्ध जीवात्माको अपने आश्रयस्वरूप मेरे साथ अभिन्न रूपमें दर्शन करते हैं, तभी वे स्वस्वरूप अर्थात् श्रीकृष्ण-दास्यरूप मोक्षको प्राप्त करते हैं।॥ ३३॥

नानाकर्मवितानेन प्रजा बह्वीः सिसृक्षतः।
नात्मावसीदत्यस्मिंस्ते वर्षीयान् मदनुग्रहः॥ ३४॥

हे ब्रह्मा! तुमने नाना प्रकारके कर्मोंका विस्तार करते हुए अनेक प्रकारकी प्रजा-सृष्टि करनेकी इच्छा की है, इससे तुम्हारा चित्त खिन्न नहीं होगा, क्योंकि सब समयके लिए ही तुमपर मेरा अत्यधिक अनुग्रह है॥ ३४॥

ऋषिमाद्यं न बध्नाति पापीयांस्त्वां रजोगुणः।
यन्मनो मयि निर्बद्धं प्रजाः संसृजतोऽपि ते॥ ३५॥

तुम ही सर्वप्रथम ऋषि हो, क्योंकि प्रजाकी सृष्टि करनेके इच्छुक होनेपर भी तुम्हारा मन मुझमें लगा रहता है। अतः तुम पापमय रजोगुणसे भयभीत मत होओ, वह तुम्हें बाँध नहीं सकेगा॥ ३५॥

ज्ञातोऽहं भवता त्वद्य दुर्विज्ञेयोऽपि देहिनाम्।
यन्मां त्वं मन्यसेऽयुक्तं भूतेन्द्रियगुणात्मभिः॥ ३६॥

मैं देहधारी जीवोंके लिए दुर्ज्ञेय हूँ, तथापि आज तुमने मुझे जान लिया है। इसका कारण है कि तुमने मेरे सविशेष रूपको पञ्चभूत, इन्द्रियों, सत्त्वादि मायिक गुणों और अहङ्कारसे रहित अनुभव किया है॥ ३६॥

तुभ्यं मद्विचिकित्सायामात्मा मे दर्शितोऽबहिः।
नालेन सलिले मूलं पुष्करस्य विचिन्वतः॥ ३७॥

जिस समय कमलनालके छिद्र-पथ द्वारा जलके अन्दर प्रवेश करके उस नालके मूलको खोजते-खोजते तुममें मेरे विषयमें 'अस्ति', 'नास्ति' रूप (अर्थात् मैं हूँ या नहीं हूँ) संशय हुआ था, उसी समय मैंने तुम्हारे हृदयमें अपने स्वरूपको दिखलाया था॥ ३७॥

यच्चकर्थाङ्ग मत्स्तोत्रं मत्कथाभ्युदयाङ्कितम्।
यद्वा तपसि ते निष्ठा स एष मदनुग्रहः॥ ३८॥

हे ब्रह्मन्! तुमने जीवोंके लिए मङ्गल-स्वरूप मेरी कथाओंके वर्णन द्वारा जो स्तुति की है, तथा मुझे जाननेके लिए तपस्यामें तुमने जो एकाग्रता दिखलायी है, तुम्हारा वह सामर्थ्य मेरी कृपासे ही उत्पन्न हुआ है—ऐसा जानना॥ ३८॥

प्रीतोऽहमस्तु भद्रं ते लोकानां विजयेच्छया।
यदस्तौषीर्गुणमयं निर्गुणं मानुवर्णयन्॥ ३९॥

हे ब्रह्मन्! लोक-सृष्टिकी इच्छासे तुमने प्राकृतलोगोंकी भोगदृष्टिमें गुणमय प्रतीत होनेवाले मेरे अप्राकृत गुणमय भगवत्-स्वरूपकी जो अप्राकृत गुणों तथा निर्गुण (प्राकृत गुण रहित) रूपसे स्तुति की है, उससे मैं बहुत प्रसन्न हुआ हूँ। अतः मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ कि तुम्हारा मङ्गल हो॥ ३९॥

य एतेन पुमान् नित्यं स्तुत्वा स्तोत्रेण मां भजेत्।
तस्याशु सम्प्रसीदेयं सर्वकामवरेश्वरः॥ ४०॥

जो लोग नित्यप्रति तुम्हारे द्वारा रचित इस स्तोत्रके द्वारा स्तुति करके मेरा भजन करेंगे, समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाला तथा सभीको वर प्रदान करनेवाला मैं उनपर शीघ्र ही प्रसन्न हो जाऊँगा॥ ४०॥

पूर्तेन तपसा यज्ञैर्दानैर्योगैः समाधिना।
राद्धं निःश्रेयसं पुंसां मत्प्रीतिस्तत्त्वविन्मतम्॥ ४१॥

हे ब्रह्मन्! जलाशय-खननादि कर्म, तपस्या, यज्ञ, दान, योग और समाधि द्वारा लोगोंको जो फल प्राप्त होता है, वह फल तो मेरे प्रति प्रीतिसे ही प्राप्त हो जाता है—यही तत्त्वदर्शी साधुओंका मत है॥४१॥

अहमात्मात्मनां धातः प्रेष्ठः सन् प्रेयसामपि।
अतो मयि रतिं कुर्याद्देहादिर्यत्कृते प्रियः॥४२॥

हे विधाता (ब्रह्मा)! मैं आत्माओंका भी आत्मा हूँ, इसलिए प्राणियोंके लिए स्त्री-पुत्र आदि अतिप्रिय वस्तुओंसे भी अधिक प्रियतम एवं निर्दोष हूँ। मेरे लिए ही देहादिके प्रति प्रियभाव उदित होता है (अर्थात् यह देह श्रीकृष्णकी सेवामें नियुक्त होनेके उपयोगी है, अन्यथा देहप्रीति तो केवल देहसुखमात्र है)। अतएव मुझसे ही प्रेम करना कर्त्तव्य है॥४२॥

सर्ववेदमयेनेदमात्मनात्मात्मयोनिना ।
प्रजाः सृज यथापूर्वं याश्च मय्यनुशेरते॥४३॥

हे ब्रह्मन्! मैं ही तुम्हारा कारण हूँ अर्थात् तुम मुझसे ही प्रकट हुए हो। अतएव सर्ववेदमय स्वरूप तुम अन्योंकी अपेक्षासे रहित होकर पूर्व-पूर्वकल्पकी भाँति मुझमें लीन प्रजाओं एवं त्रिलोकीको प्रकाशित करो॥४३॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

तस्मा एवं जगत्स्रष्ट्रे प्रधानपुरुषेश्वरः।
व्यज्येदं स्वेन रूपेण कञ्जनाभस्तिरोदधे॥४४॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—प्रकृति और जीवके ईश्वर गर्भोदकशायी पुरुषावतारने जगत्स्रष्टा ब्रह्माके समक्ष इस प्रकारसे सृष्टिविषयक ज्ञान प्रकाशित करके अपने नारायण स्वरूपको अन्तर्हित कर लिया॥४४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां तृतीयस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे पाद्मोद्भवे श्रीब्रह्मस्तवो नाम नवमोऽध्यायः॥

दशमोऽध्यायः

कालके लक्षण और दस प्रकारकी सृष्टिका वर्णन

श्रीविदुर उवाच—

अन्तर्हिते भगवति ब्रह्मा लोकपितामहः।
प्रजाः ससर्ज कतिधा दैहिकीर्मानसीर्विभुः॥ १॥

श्रीविदुरने कहा—हे महर्षि! भगवान् श्रीनारायणके अन्तर्धान हो जानेपर सम्पूर्ण लोकोंके पितामह श्रीब्रह्माने अपनी देह और मनसे कितने प्रकारकी प्रजाकी सृष्टि की?॥ १॥

ये च मे भगवन् पृष्टास्त्वय्यर्था बहुवित्तम।
तान् वदस्वानुपूर्व्येण छिन्धि नः सर्वसंशयान्॥ २॥

हे भगवन्! आप विज्ञजनोंमें श्रेष्ठ पुरुष हैं। मैंने पहले भी आपसे जिन समस्त विषयोंको पूछा है, उन सबका क्रमपूर्वक वर्णन कीजिये और मेरे समस्त प्रकारके संशयोंको दूर कीजिये॥ २॥

श्रीसूत उवाच—

एवं सञ्चोदितस्तेन क्षत्त्रा कौशारविर्मुनिः।
प्रीतः प्रत्याह तान् प्रश्नान् हृदिस्थानथ भार्गव॥ ३॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—हे भृगुनन्दन श्रीशौनक! विदुरजीके द्वारा इस प्रकार प्रार्थना किये जानेपर महर्षि मैत्रेय अति प्रसन्न हुए और अपने हृदयमें स्थित उन प्रश्नोंका यथाक्रमसे उत्तर देने लगे॥ ३॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

विरिञ्चोऽपि तथा चक्रे दिव्यं वर्षशतं तपः।
आत्मन्यात्मानमावेश्य यथाह भगवानजः॥ ४॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! प्राकृत जन्मरहित श्रीभगवान्ने जिस प्रकारसे उपदेश प्रदान किया था, ब्रह्माने भी तदनुसार ही एक

सौ दिव्य वर्षों तक भगवान्‌में मनको अभिनिविष्ट करके तपस्या की थी॥ ४॥

तद्विलोक्याब्जसम्भूतो वायुना यदधिष्ठितः।
पद्ममम्भश्च तत्कालकृतवीर्येण कम्पितम्॥ ५॥

तपसा ह्येधमानेन विद्यया चात्मसंस्थया।
विवृद्धविज्ञानबलो न्यपाद्वायुं सहाम्भसा॥ ६॥

इसके बाद कमलयोनि ब्रह्माजीने देखा कि वे जिस कमलपर बैठे हैं, वह कमल और उसका आधारस्वरूप जल प्रलयकालीन प्रबल वायुके वेगसे कम्पित हो रहा है। उस समय ब्रह्माजी अपनी वर्द्धित तपस्या और हृदयमें स्थित आत्म-ज्ञानके द्वारा प्रचुर विज्ञानबलसे सम्पन्न हो गये थे, अतः उन्होंने प्रलय जलके साथ इस प्रबल वायुका भी पान कर लिया॥ ५-६॥

तद्विलोक्य वियद्व्यापि पुष्करं यदधिष्ठितम्।
अनेन लोकान् प्राग्लीनान् कल्पितास्मीत्यचिन्तयत्॥ ७॥

श्रीब्रह्मा जिस कमलपर बैठे थे, उसे आकाशव्यापी अर्थात् सत्यलोक तक विस्तृत देखकर उन्होंने विचार किया कि 'मैं इस कमलके द्वारा ही पूर्वकल्पमें विलीन हुए लोकोंकी रचना करूँगा॥ '७॥

पद्मकोषं तदाविश्य भगवत्कर्मचोदितः।
एकं व्यभाङ्क्षीदुरुधा त्रिधा भाव्यं द्विसप्तधा॥ ८॥

तदनन्तर श्रीभगवान्‌के द्वारा सृष्टि-रचनारूप कर्त्तव्य-कार्यमें नियुक्त ब्रह्माजीने उस कमलकोशमें प्रवेश किया और चौदह भुवन या उससे भी अधिक लोकोंके रूपमें विभक्त होने योग्य उस एक कमलको ही भूः, भुवः एवं स्वः रूप त्रिभुवनमें विभक्त कर दिया॥ ८॥

एतावान् जीवलोकस्य संस्थाभेदः समाहृतः।
धर्मस्य ह्यनिमित्तस्य विपाकः परमेष्ठ्यसौ॥ ९॥

इस भूः, भूवः और स्वः रूप त्रिलोकीका ही शास्त्रोंमें ब्रह्माके प्रत्येक दिनमें सृष्ट जीवोंके भोग-स्थानके रूपमें वर्णन हुआ है। जो

निष्काम कर्म करनेवाले हैं, उन्हें महः, तपः, जनः और सत्यलोकरूप ब्रह्मलोककी प्राप्ति होती है जो प्रतिदिन सृष्ट नहीं होते हैं॥ ९॥

श्रीविदुर उवाच—

यदात्थ बहुरूपस्य हरेरद्भुतकर्मणः।
कालाख्यं लक्षणं ब्रह्मन् यथा वर्णय नः प्रभो॥ १०॥

श्रीविदुरने कहा—हे प्रभो! परम अद्भुत लीलामय तथा अनेक रूपोंमें विद्यमान श्रीविष्णुके 'काल' नामक जिस स्वरूपकी बात आपने कही है, कृपया हमारे समक्ष उस काल स्वरूपका यथावत् वर्णन कीजिये॥ १०॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

गुणव्यतिकराकारो निर्विशेषोऽप्रतिष्ठितः।
पुरुषस्तदुपादानमात्मानं लीलयासृजत्॥ ११॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—जिससे गुणोंका महत्-तत्त्वादि रूपमें परिणाम व्यक्त होता है, वही 'काल' है। यह काल अनादि और अनन्त है। भगवान् लीलावशतः इसी कालको निमित्त बनाकर अपनी बहिरङ्गा मायाशक्तिके कार्यस्वरूप 'आत्म' शब्दवाच्य विश्वकी सृष्टि करते हैं॥ ११॥

विश्वं वै ब्रह्मतन्मात्रं संस्थितं विष्णुमायया।
ईश्वरेण परिच्छिन्नं कालेनाव्यक्तमूर्तिना॥ १२॥

विष्णुकी सृष्टि आदि शक्तियोंके साथ यह विश्व पहले ब्रह्म अर्थात् विष्णुमें ही तादात्म्य रूपमें लीन था। वही विश्व पुनः अव्यक्तस्वरूप ईश्वरके प्रभावरूपी कालके द्वारा पृथक् रूपसे प्रकाशित हुआ है॥ १२॥

यथेदानीं तथा चग्रे पश्चादप्येतदीदृशम्॥ १३॥

यह विश्व इस समय जैसा है, महाप्रलयके पहले भी यह ऐसा ही था और फिर प्रलयके बादमें भी ऐसा ही रहेगा॥ १३॥

सर्गो नवविधस्तस्य प्राकृतो वैकृतस्तु यः।
कालद्रव्यगुणैरस्य त्रिविधः प्रतिसंक्रमः॥ १४॥

इस विश्वकी सृष्टि नौ प्रकारकी होती है तथा प्राकृत और वैकृतके भेदसे इसकी एक दसवीं सृष्टि भी है। इस दसवीं सृष्टिका काल, द्रव्य और गुणोंके अनुसार तीन प्रकारका प्रलय निरूपित हुआ है। (केवल कालके कारण नित्य प्रलय, सङ्कर्षणकी मुखाग्निरूप द्रव्यके द्वारा नैमित्तिक प्रलय और स्व-स्व कार्य-ग्रासकारी गुणोंके द्वारा प्राकृतिक प्रलय होती है)॥ १४॥

आद्यस्तु महतः सर्गो गुणवैषम्यमात्मनः।
द्वितीयस्त्वहमो यत्र द्रव्यज्ञानक्रियोदयः॥ १५॥

नौ प्रकारकी सृष्टिमें महत्-तत्त्वकी उत्पत्ति प्रथम सृष्टि है। यह महत्-तत्त्व परमेश्वरकी प्रेरणासे सत्त्वादि गुणोंमें विषमता उत्पन्न करता है। दूसरी सृष्टि अहङ्कारकी है—इससे पृथ्वी आदि पञ्चभूत, ज्ञानेन्द्रिय, देवता और मन तथा कर्मेन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है॥ १५॥

भूतसर्गस्तृतीयस्तु तन्मात्रो द्रव्यशक्तिमान्।
चतुर्थ ऐन्द्रियः सर्गो यस्तु ज्ञानक्रियात्मकः॥ १६॥

तीसरी सृष्टि भूतसर्गकी है जिसमें पृथ्वी आदि पञ्च महाभूतोंको उत्पन्न करनेवाले पञ्चतन्मात्र रूप सूक्ष्मभूत रहते हैं। ज्ञान और कर्मकी कारणभूत इन्द्रियोंकी सृष्टि चौथी सृष्टि है॥ १६॥

वैकारिको देवसर्गः पञ्चमो यन्मयं मनः।
षष्ठस्तु तमसः सर्गो यस्त्वबुद्धिकृतः प्रभो॥ १७॥

सात्त्विक अहङ्कारसे उत्पन्न इन्द्रियाधिष्ठाता देवताओं और मनकी सृष्टि पाँचवीं है तथा परमेश्वरकी अविद्या नामक जीव मोहिनी शक्ति द्वारा रचित तमः (अज्ञान) ही छठी सृष्टि है॥ १७॥

षडिमे प्राकृताः सर्गा वैकृतानपि मे शृणु।
रजोभाजो भगवतो लीलेयं हरिमेधसः॥ १८॥

यह छह प्रकारकी सृष्टि मायाशक्तिसे उत्पन्न होनेके कारण प्राकृत सृष्टि कहलाती है। अब समष्टि विराट् ब्रह्मासे उत्पन्न वैकृतिक सृष्टियोंके विषयमें भी सुनो। जो भगवान् श्रीहरि अपना चिन्तन करनेवालोंके संसाररूपी सम्पूर्ण क्लेशोंको हर लेते हैं, वे ही ब्रह्माके रूपमें रजोगुणको स्वीकारकर इस जगत्की रचना रूप लीला करते हैं॥ १८॥

सप्तमो मुख्यसर्गस्तु षड्विधस्तस्थुषाञ्च यः।
वनस्पत्योषधिलतात्वक्सारा वीरुधो द्रुमाः॥ १९॥

सातवीं सृष्टि स्थावरोंकी है। वैकृत सृष्टियोंमें यह सर्वप्रथम सृष्टि है। स्थावर छह प्रकारके हैं—वनस्पति (पुष्परहित फलवान वृक्ष—गूलर, बड़, पीपल), औषधि (फलोंके पक जानेपर जो वृक्ष मर जाते हैं, जैसे धान, गेहूँ, चना आदि), लता (जो बढ़नेके लिए किसीके आश्रयकी अपेक्षा रखती है—ब्राह्मी, गिलोय आदि), त्वक्सार (जिसकी छाल बहुत कठोर होती है—बाँस आदि), वीरुध् (एक प्रकारकी लता जो कठोर होनेके कारण बढ़नेके लिए किसी दूसरे आश्रयकी अपेक्षा नहीं रखती), द्रुम (पुष्पोंके साथ ही फलवान् होनेवाले वृक्ष—आम, जामुन आदि)॥ १९॥

उत्स्रोतसस्तमःप्राया अन्तःस्पर्शा विशेषिणः॥ २०॥

वत्स! ये सभी स्थावर अपने आहारके लिए नीचेसे ऊपरकी ओर सञ्चरणशील हैं। इनकी चेतना अव्यक्त रहती है, किन्तु ये अन्दरमें ही वेदनाका अनुभव करते हैं और अव्यवस्थित परिणामादि अर्थात् जातिके भेदसे अनेक प्रकारके होते हैं॥ २०॥

तिरश्चामष्टमः सर्गः सोऽष्टाविंशद्विधो मतः।
अविदो भूरितमसो घ्राणज्ञा हृद्यवेदिनः॥ २१॥

आठवीं सृष्टि तिर्यग्योनियों (पशु-पक्षी-जलचरों) की है जो अट्ठाईस प्रकारकी है। ये भविष्यत् ज्ञानसे शून्य हैं तथा तमोगुणकी अधिकताके कारण आहार, मैथुन और शयन आदिमें ही तत्पर रहते हैं। वे केवल अपनी घ्राणेन्द्रिय द्वारा अभिलषित वस्तुका ज्ञान प्राप्त

कर लेते हैं। इनमें दूरदर्शिता नहीं होती अर्थात् ये अपने हृदयमें सुख-दुःखके विषयमें अल्प चिन्ता ही कर सकते हैं॥ २१॥

गौरजो महिषः कृष्णः शूकरो गवयो रुरुः।
द्विशफाः पशवश्चेमे अविरुष्ट्रश्च सत्तम॥ २२॥

खरोऽश्वोऽश्वतरो गौरः शरभश्चमरी तथा।
एते चैकशफाः क्षत्तः शृणु पञ्चनखान् पशून्॥ २३॥

श्वा शृगालो वृको व्याघ्रो मार्जारः शशशल्लकौ।
सिंहः कपिर्गजः कूर्मो गोधा च मकरादयः॥ २४॥

कङ्क-गृध्र-वक-श्येन-भास-भल्लक-बर्हिणः ।
हंससारस-चक्राह्व-काकोलूकादयः खगाः॥ २५॥

हे साधुश्रेष्ठ विदुर! गाय, बकरी, भैंस, कृष्णसार मृग (काला हिरण), सुअर, नीलगाय, रुरु नामका विशेष हिरण, भेड़ और ऊँट—ये नौ प्रकारके पशु दो खुरवाले हैं। गधा, घोड़ा, खच्चर, गौर (सपोद हिरण), शरभ (अरना भैंसा) और चमरी (जङ्गली गाय)—ये छह प्रकारके पशु एक खुरवाले हैं। अब पाँच नखोंसे युक्त पशुओंके विषयमें सुनो—कुत्ता, शृगाल, भेड़िया, बाघ, बिलाव, खरगोश, साही, सिंह, बन्दर, हाथी, कच्छप, गोह—ये बारह प्रकारके पाँच नखवाले जन्तु हैं। इस प्रकार ये सत्ताईस प्रकारके स्थलचर हैं। मकर आदि जलचर हैं एवं बगुला, गिद्ध, बटेर, बाज, भास, भल्लूक, मोर, हंस, सारस, चकवा, कौआ और उल्लू—ये सब आकाशमें उड़नेवाले पक्षी कहलाते हैं। मगरसे उल्लू तक सभीको एक श्रेणीमें माननेसे कुल अट्ठाइस प्रकारके तिर्यग्‌की सृष्टि है॥ २२-२५॥

अर्वाक्स्रोतस्तु नवमः क्षत्तरेकविधो नृणाम्।
रजोऽधिकाः कर्मपरा दुःखे च सुखमानिनः॥ २६॥

मनुष्योंकी जो सृष्टि है, वह नवीं है। यह सृष्टि एक ही प्रकारकी है तथा इनके आहारका प्रवाह ऊपर (मुँह) से नीचेकी ओर होता है। मनुष्योंमें रजोगुण ही अधिक होता है, इसलिए ये कर्मोंमें बड़े तत्पर होते हैं और दुःखकर विषयोंको ही सुखकारी मानते हैं॥ २६॥

वैकृतास्त्रय एवैते देवसर्गश्च सत्तम।
वैकारिकस्तु यः प्रोक्तः कौमारस्तूभयात्मकः॥ २७॥

हे सत्तम! यह जो (सातवीं, आठवीं, नवीं) तीन प्रकारकी सृष्टियोंके विषयमें बतलाया गया—यह वैकृत हैं। पहले जिस वैकारिक देवसृष्टिके विषयमें कहा गया है, वह प्राकृत सृष्टि है, परन्तु उससे भिन्न अर्थात् ब्रह्मा द्वारा सृष्ट देवसृष्टि वैकृत भी है। किन्तु सनत्कुमारादिकी सृष्टि प्राकृत एवं वैकृत दोनों प्रकारकी है, क्योंकि उनमें मनुष्य एवं देव दोनोंके ही गुण विद्यमान हैं॥ २७॥

देवसर्गश्चाष्टविधो विबुधाः पितरोऽसुराः।
गन्धर्वाप्सरसः सिद्धा यक्षरक्षांसि चारणाः॥ २८॥

भूतप्रेतपिशाचाश्च विद्याध्राः किन्नरादयः।
दशैते विदुराख्याताः सर्गास्ते विश्वसृक्कृताः॥ २९॥

हे विदुर! वैकारिक देव-सृष्टि भी आठ प्रकारकी है—(१) देव, (२) पितर, (३) असुर, (४) गन्धर्व और अप्सरा, (५) यक्ष और राक्षस, (६) सिद्ध, चारण और विद्याधर, (७) भूत, प्रेत और पिशाच, (८) किन्नर आदि। इस प्रकार विश्व-स्रष्टा श्रीब्रह्माने पहले जो दस प्रकारकी सृष्टि की थी, उसके विषयमें कहा गया है॥ २८-२९॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि वंशान् मन्वन्तराणि च।
एवं रजःप्लुतः स्रष्टा कल्पादिष्वात्मभूर्हरिः।
सृजत्यमोघसङ्कल्प आत्मैवात्मानमात्मना॥ ३०॥

इसके बाद मैं वंश और मन्वन्तरोंके विषयमें बतलाऊँगा। श्रीहरि ही अपने अमोघ सङ्कल्पसे रजोगुणको स्वीकारकर सृष्टिकर्त्ता आत्मभू ब्रह्मा होकर स्वयं ही अपनी शक्तिके द्वारा जगत्के रूपमें स्वयंको प्रकाशित करते हैं॥ ३०॥

गुणव्यत्यय एतस्मिन् मायावित्वादधीशितुः।
न पौर्वापर्यमिच्छन्ति सृष्टे नद्यां यथा भ्रमे॥ ३१॥

जिस प्रकार नदियोंमें भँवर, बुलबुले आदि एक साथ उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार सृष्टिकर्त्ता ईश्वर मायावी अर्थात् आश्चर्य शक्तिसे युक्त होनेके कारण गुणपरिवर्त्तनशील इस सृष्टिकी रचना करते हैं। पण्डितगण इसमें पूर्वापर भावकी इच्छा नहीं रखते॥[१]३१॥

देवासुरादयो नामरूपाभ्यां ये प्रकीर्त्तिताः।
अस्मिन् कल्पे त एवासन् क्षत्तर्मन्वन्तरान्तरे॥ ३२॥

हे विदुर! इन्द्र आदि नाम तथा सहस्रलोचन आदि रूप भेदसे इस कल्पमें जो समस्त देव-असुर इत्यादि वर्णित हुए हैं, वे ही अन्य मन्वन्तर (कल्प) में अन्यान्य नाम-रूप भेदसे थे, क्योंकि नये-नये जीवोंकी सृष्टि नहीं होती॥ ३२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां तृतीयस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे तत्त्वाद्युत्पतिक्रमो नाम दशमोऽध्यायः॥

---

[१] अर्थात् महत्-तत्त्व आदि तथा ब्रह्माण्डके अन्तर्गत प्राणियोंकी सृष्टि दोनों ही एकसाथ हुई है।

एकादशोऽध्यायः

कालका विशेष रूपसे निरूपण

श्रीमैत्रेय उवाच—

चरमः सद्विशेषाणामनेकोऽसंयुतः सदा।
परमाणुः स विज्ञेयो नृणामैक्यभ्रमो यतः॥ १॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—कार्यस्वरूप पृथ्वी आदिके सूक्ष्मतम अंश जिसका पुनः कोई अंश (विभाग) नहीं हो सकता, जो अंशकार्यावस्थाको भी प्राप्त नहीं होता तथा जो अन्यके साथ संयोग रूप समुदायवस्थाको भी प्राप्त नहीं हुआ हो, अतएव कार्य और समुदायावस्थाके दूर होनेपर भी जो विद्यमान रहता है, उसे ही परमाणुके रूपमें जाना जाता है। इन सभी परमाणुओंके परस्पर मिलनेसे परमाणुके समुदायरूप जीव-देहके प्रति भ्रमवशतः मनुष्योंकी देही अर्थात् देहमें आत्मबुद्धिका उदय होता है॥ १॥

सत एव पदार्थस्य स्वरूपावस्थितस्य यत्।
कैवल्यं परममहानविशेषो निरन्तरः॥ २॥

जिसका सूक्ष्मतम अंश परमाणु है, उन पृथ्वी आदि कार्योंकी अवस्थामें भेद न होकर स्वरूपमें अवस्थित होनेपर उनका जो ऐक्य है, उसीका नाम परम महान है। उसमें विशेष विवक्षा और भेद-विवक्षा नहीं है, इसीलिए सारा प्रपञ्च ही 'परम महान्' शब्दवाच्य है॥ २॥

एवं कालोऽप्यनुमितः सौक्ष्म्ये स्थौल्ये च सत्तम।
संस्थानभुक्त्या भगवानव्यक्तो व्यक्तभुग्विभुः॥ ३॥

हे साधुश्रेष्ठ! इस प्रकार यह वस्तुके सूक्ष्मतम और महतम स्वरूपका विचार हुआ। अतएव परमाणु आदि जिस प्रकारकी अवस्थाओंमें व्याप्त होकर स्थूल, सूक्ष्म और मध्यम अवस्थाको प्राप्त होते हैं, कालका भी उसी प्रकार अनुमान किया जाता है। भगवान्

श्रीहरि स्वयं अव्यक्त होकर भी अपनी शक्ति—कालके द्वारा समस्त व्यक्त प्रपञ्चका भाग करते हैं, क्योंकि वे स्वयं विभु अर्थात् व्यापक हैं, अथवा उत्पत्ति आदिके विषयमें दक्ष हैं॥ ३॥

स कालः परमाणुर्वै यो भुङ्क्ते परमाणुताम्।
सतोऽविशेषभुग्यस्तु स कालः परमो महान्॥ ४॥

जो काल प्रपञ्चकी परमाणुके समान सूक्ष्म अवस्थाका भोग करता है अर्थात् उसमें व्याप्त रहता है, उसीको अत्यन्त सूक्ष्म परमाणु काल कहते हैं तथा जो काल प्रपञ्चकी सृष्टिसे प्रलय तक की सभी अवस्थाओंको भोग करता है, उसे परम महान अथवा स्थूल काल कहते हैं (अर्थात् सूर्य जब परमाणु स्थानको लाँघकर गमन करता है, वही परमाणुकाल है तथा जिस परिमाणके कालमें वह बारह राशियोंसे युक्त समग्र भुवन-कोषका अतिक्रमण करता है, वह काल ही परम महान संवत्सर काल है। उस संवत्सर कालकी अनुवृत्तिके द्वारा ही युग-मन्वन्तरादि क्रमसे द्विपरार्द्ध तक भेद होता है)॥ ४॥

अणुर्द्वौ परमाणु स्यात् त्रसरेणुस्त्रयः स्मृतः।
जालार्करश्म्यवगतः खमेवानुपतन्नगात्॥ ५॥

दो परमाणु मिलकर एक 'अणु' होता है तथा तीन अणुओंके मिलनेसे एक 'त्रसरेणु' होता है। अत्यन्त लघु होनेके कारण ये त्रसरेणु जब झरोखोंसे होकर घरमें प्रविष्ट होते हैं, तो सूर्यकी किरणोंमें प्रत्यक्ष आकाशमें उड़ते हुए दिखायी देते हैं॥ ५॥

त्रसरेणुत्रिकं भुङ्क्ते यः कालः सा त्रुटिः स्मृता।
शतभागस्तु वेधः स्यात् तैस्त्रिभिस्तु लवः स्मृतः॥ ६॥

इस प्रकार तीन त्रसरेणु जितने कालका भोग करते हैं, अथवा ऐसे तीन त्रसरेणुओंको पार करनेमें सूर्यको जितना समय लगता है, उस अवधिका नाम त्रुटि है। (सूईके द्वारा कमलके पत्तेको छेदनेमें जितना समय लगता है, उस कालको त्रुटि कहा जाता है)। सौ त्रुटियोंकी अवधिका (त्रुटिसे सौगुणा) काल 'वेध' कहलाता है और तीन वेधका एक 'लव' होता है॥ ६॥

निमेषस्त्रिलवो ज्ञेय आम्नातास्ते त्रयः क्षणः।
क्षणान् पञ्च विदुः काष्ठां लघु ता दश पञ्च च॥ ७॥

तीन लवका एक 'निमेष' होता है और तीन निमेषका एक 'क्षण' होता है। पाँच क्षणोंकी एक 'काष्ठा' होती है और पन्द्रह काष्ठाओंका एक 'लघु' होता है—ऐसा जानो॥ ७॥

लघूनि वै समाम्नाता दश पञ्च च नाडिका।
ते द्वे मुहूर्तः प्रहरः षड्यामः सप्त वा नृणाम्॥ ८॥

पन्द्रह लघुकी एक 'नाड़ी' अर्थात् दण्ड होता है। दो दण्डोंका एक मुहूर्त्त होता है और छह या सात दण्डोंका एक प्रहर होता है। यह प्रहर मनुष्योंके दिन या रात्रिका एक चौथाई भाग होता है॥ ८॥

द्वादशार्द्धपलोन्मानं चतुर्भिश्चतुरङ्गुलैः।
स्वर्णमाषैः कृतच्छिद्रं यावत् प्रस्थजलप्लुतम्॥ ९॥

हे विदुर! 'नाड़ी' अथवा दण्डका अनुमान इस रूपमें होता है—छह पल ताँबेका एक ऐसा पात्र बनाया जाये जिसमें एक प्रस्थ[१] जल भरा जा सके और चार मासे सोनेसे बनी हुई चार अङ्गुल लम्बी शलाका द्वारा उसमें छेद करके उस बर्तनको जलमें छोड़ दिया जाये। जितने समयमें एक प्रस्थ जल उस पात्रमें भर जाये और वह पात्र जलमें डूब जाये, उतने समयको एक नाड़ी अथवा दण्ड कहा जाता है॥ ९॥

यामाश्चत्वारश्चत्वारो मर्त्यानामहनी उभे।
पक्षः पश्चदशाहानि शुक्लः कृष्णश्च मानद॥ १०॥

हे मानद विदुर! मनुष्योंके एक दिन और रात चार-चार प्रहरके होते हैं। ऐसे पन्द्रह दिनों और रातोंका एक पक्ष होता है और वह कृष्ण एवं शुक्ल भेदसे दो प्रकारका होता है॥ १०॥

तयोः समुच्चयो मासः पितृणां तदहर्निशम्।
द्वौ तावृतुः षडयनं दक्षिणञ्चोत्तरं दिवि॥ ११॥

---
(१) बत्तीस पलका एक प्राचीन परिमाण।

अयने अहनी प्राहुर्वत्सरो द्वादश स्मृतः।
संवत्सरशतं नृणां परमायुर्निरूपितम्॥ १२॥

इन दोनों (शुक्ल और कृष्ण) पक्षोंको मिलाकर एक मास होता है, जो पितरोंका एक दिन-रात है। दो मासकी एक ऋतु और छह मासका एक अयन होता है। दक्षिणायन एवं उत्तरायण भेदसे अयन दो प्रकारका होता है। दोनों अयन मिलकर देवताओंके एक दिन-रात होते हैं। मनुष्यलोकमें ये दोनों अयन एक वर्ष या बारह मास कहे जाते हैं। ऐसे सौ वर्षोंकी मनुष्यकी परमायु निरूपित हुई है॥ ११-१२॥

ग्रहर्क्षताराचक्रस्थः परमाण्वादिना जगत्।
संवत्सरावसानेन पर्येत्यनिमिषो विभुः॥ १३॥

चन्द्रमा आदि ग्रह, अश्विनी इत्यादि नक्षत्र एवं अन्यान्य तारोंका जो कालचक्र अर्थात् ज्योतिचक्र हैं, उसमें स्थित कालस्वरूप ईश्वरके अंश सूर्य परमाणुसे लेकर संवत्सरकाल तक द्वादश राशियोंरूप सम्पूर्ण भुवनकोषका निरन्तर भ्रमण करते रहते हैं॥ १३॥

संवत्सरः परिवत्सर इदावत्सर एव च।
अनुवत्सरो वत्सरश्च विदुरैवं प्रभाष्यते॥ १४॥

हे विदुर! सौर, बार्हस्पत्य, सावन, चान्द्र और नक्षत्रके भेदसे पाँच प्रकारके संवत्सर विख्यात हैं—संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, अनुवत्सर और वत्सर॥ [१]१४॥

यः सृज्यशक्तिमुरुधोच्छ्वसयन् स्वशक्त्या
पुंसोऽभ्रमाय दिवि धावति भूतभेदः।
कालाख्यया गुणमयं क्रतुभिर्वितन्वं-
स्तस्मै बलिं हरत वत्सरपञ्चकाय॥ १५॥

---

(१) जितने समयमें सूर्य, बृहस्पति और चन्द्र अपनी-अपनी गतिसे बारह राशियोंका भोग करते हैं, उस कालको क्रमशः संवत्सर, परिवत्सर और अनुवत्सर कहते हैं। नक्षत्रोंके सत्ताइस दिनमान युक्त संक्रान्त मासके बारह मास 'वत्सर' कहलाते हैं। तीस सौर दिनोंका जो सावन मास होता है, उस अवधिके बारह मास 'इदावत्सर' कहलाते हैं।

हे विदुर! पञ्चमहाभूतोंमें विशेष तेजमण्डल स्वरूप सूर्यदेव लोगोंके मोहकी निवृत्ति अर्थात् आयु क्षयके द्वारा उनकी विषयासक्तिको हटानेके लिए अन्तरीक्षमें धावमान हो रहे हैं। वे अपनी कालशक्तिके द्वारा कार्यसमूहके बीज अर्थात् मूलकारणको अङ्कुरादि उत्पन्न करनेकी शक्ति प्रदानकर उसे बहुत प्रकारसे कार्योन्मुख करते हैं तथा सकाम पुरुषोंको स्वर्ग आदि फल प्रदान करनेवाले यज्ञादि कर्मोंका विस्तार करते हैं। अतः हे धार्मिक लोगो! इन पाँच प्रकारके वत्सरोंके प्रवर्त्तक काल स्वरूप ईश्वरके अंश सूर्यकी अर्घ्यादिके द्वारा पूजा करो॥ १५॥

श्रीविदुर उवाच—

पितृदेवमनुष्याणामायुः परमिदं स्मृतम्।
परेषां गतिमाचक्ष्व ये स्युः कल्पाद्बहिर्विदः॥ १६॥

श्रीविदुरने कहा—हे मैत्रेय ऋषि! जिस प्रकारसे पितर, देव एवं मनुष्योंकी अपने-अपने मानमें सौ वर्षोंकी परमायु होती है, उसे आपने बतलाया है। किन्तु अब कल्प अर्थात् प्रतिदिन सृष्ट त्रिलोकीके बहिर्भागमें स्थित सनकादि एवं भृगु आदि ज्ञानियोंकी आयुका भी वर्णन कीजिये॥ १६॥

भगवान् वेद कालस्य गतिं भगवतो ननु।
विश्वं विचक्षते धीरा योगराद्धेन चक्षुषा॥ १७॥

हे भगवन्! आप कालरूपी ईश्वरकी गतिको भलीभाँति जानते हैं, क्योंकि बुद्धिमान व्यक्ति अपने योग-सिद्ध चक्षुओंके द्वारा समस्त विश्वको देख सकते हैं॥ १७॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

कृतं त्रेता द्वापरञ्च कलिश्चेति चतुर्युगम्।
दिव्यैर्द्वादशभिर्वर्षैः सावधानं निरूपितम्॥ १८॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि—इन चारों युगोंका इनकी अपनी सन्ध्याओं और सन्ध्यांशोंके साथ पूर्ण योग बारह हजार दिव्य (अर्थात् देवताओंके) वर्षोंके समान निरूपण किया गया है॥ १८॥

चत्वारि त्रीणि द्वे चैकं कृतादिषु यथाक्रमम्।
संख्यातानि सहस्राणि द्विगुणानि शतानि च॥ १९॥

सत्य, त्रेता, द्वापर और कलिकी अवधि यथाक्रमसे देवताओंके चार, तीन, दो और एक हजार वर्षकी होती है, तथा उससे दुगुने दिव्य सौ वर्ष उनकी सन्ध्या और सन्ध्यांशोंमें होते हैं॥ [1]१९॥

सन्ध्या-सन्ध्यांशयोरन्तर्यः कालः शतसंख्ययोः।
तमेवाहुर्युगं तज्ज्ञा यत्र धर्मो विधीयते॥ २०॥

हे विदुर! युगके प्रारम्भमें सन्ध्या होती है और अन्तमें सन्ध्यांश। इनका परिमाण यथाक्रमसे युगकी संख्याके अनुसार सैकड़ोंकी संख्यामें होता है।[2] इस सन्ध्या एवं सन्ध्यांशके बीचके कालको कालवेत्ता पण्डितोंने 'युग' कहा है। प्रत्येक युगमें ध्यान-यज्ञादि एक-एक विशेष युगधर्मका विधान पाया जाता है॥ २०॥

धर्मश्चतुष्पान्मनुजान् कृते समनुवर्तते।
स एवान्येष्वधर्मेण व्येति पादेन वर्द्धता॥ २१॥

सत्ययुगमें धर्म अपने चारों चरणों (तप, शौच, दया, और सत्य) पर विद्यमान होकर अर्थात् सम्पूर्ण रूपसे मनुष्योंका अनुवर्त्ती होता है। त्रेता आदि युगोंमें अधर्मका एक-एक चरण बढ़ता जाता है और धर्मका क्रमशः एक-एक चरण घटता जाता है॥ २१॥

त्रिलोक्या युगसाहस्रं बहिराब्रह्मणो दिनम्।
तावत्येव निशा तात यन्निमीलति विश्वसृक्॥ २२॥

---

[1] सत्ययुगमें ४००० दिव्य वर्ष युगके और ८०० वर्ष सन्ध्या एवं सन्ध्यांशके—इस प्रकार कुल ४८०० वर्ष होते हैं। इसी प्रकार त्रेतामें ३६००, द्वापरमें २४०० और कलियुगमें १२०० दिव्यवर्ष होते हैं। मनुष्योंका एक वर्ष देवताओंका एक दिन होता है, अतः देवताओंका एक वर्ष मनुष्योंके ३६० वर्षोंके बराबर हुआ। इस प्रकार मनुष्योंकी गणनाके अनुसार कलियुगमें ४,३२,००० वर्ष हुए तथा इससे दुगुने द्वापरमें, तिगुने त्रेतामें और चौगुने सत्ययुगमें होते हैं।

[2] अर्थात् यदि सत्ययुग ४००० दिव्य वर्ष तो सन्ध्या और सन्ध्यांश ४००-४०० वर्ष, कुल ४८०० दिव्यवर्ष।

हे तात! इस त्रिलोकीके बाहर महर्लोकसे ब्रह्मलोक तक एक हजार चतुर्युगोंका एक दिन और इतनी ही बड़ी रात्रि होती है। इसी रात्रिकालमें विश्वस्रष्टा ब्रह्मा शयन करते हैं॥ २२॥

निशावसान आरब्धो लोककल्पोऽनुवर्तते।
यावद्दिनं भगवतो मनून् भुञ्जंश्चतुर्दश॥ २३॥

श्रीब्रह्माकी रात्रिका अन्त होनेपर लोक-सृष्टिका कार्य पुनः आरम्भ होता है, जो चौदह मनुओं (मन्वन्तर) की जीवन-अवधि तक चलता रहता है और तभी तक भगवान् श्रीब्रह्माका दिन रहता है॥ २३॥

स्वं स्वं कालं मनुर्भुङ्क्ते साधिकां ह्येकसप्ततिम्॥ २४॥

हे विदुर! प्रत्येक मनु इकहत्तर चतुर्युगीसे कुछ अधिक काल तक अपने-अपने आधिपत्यका भोग करते हैं॥ २४॥

मन्वन्तरेषु मनवस्तद्वंश्या ऋषयः सुराः।
भवन्ति चैते युगपत् सुरेशाश्चानु ये च तान्॥ २५॥

मन्वन्तरोंमें स्वायम्भुव मनु आदि और मनुवंशीय पृथ्वी पालक राजा लोग क्रमसे उत्पन्न होते हैं। इसके अतिरिक्त सप्तर्षि, देवगण, इन्द्र और उनके अनुयायी गन्धर्वादि भी एक ही समयमें उत्पन्न होते हैं॥ २५॥

एष दैनन्दिनः सर्गो ब्राह्मस्त्रैलोक्यवर्तनः।
तिर्यङ् नृपितृदेवानां सम्भवो यत्र कर्मभिः॥ २६॥

हे विदुर! त्रिलोकीको उत्पन्न करनेवाले श्रीब्रह्माकी यही प्रतिदिनकी सृष्टि है। इसमें अपने-अपने कर्मोंके अनुसार पशु-पक्षी, मनुष्य, पितर एवं देवता जन्म लेते रहते हैं॥ २६॥

मन्वन्तरेषु भगवान् बिभ्रत् सत्त्वं स्वमूर्तिभिः।
मन्वादिभिरिदं विश्वमवत्युदितपौरुषः॥ २७॥

प्रत्येक मन्वन्तरमें श्रीभगवान् सत्त्वगुणका आश्रय लेकर अपना पौरुष प्रकाशित करते हुए मन्वन्तरावतारोंके द्वारा इस विश्वकी रक्षा करते हैं॥ २७॥

तमोमात्रामुपादाय प्रतिसंरुद्धविक्रमः।
कालेनानुगताशेष आस्ते तूष्णीं दिनात्यये॥ २८॥

श्रीब्रह्माकी रात्रि उपस्थित होनेपर श्रीभगवान् त्रिलोकीके संहारके लिए तमोगुणका किञ्चित् मात्र सम्पर्क स्वीकारकर कालाग्नि—रुद्रके रूपमें अपने सम्पूर्ण विक्रमको स्थगित करते हैं। उस समय तीनों लोकोंमें स्थित जीव उनमें ही लीन हो जाते हैं और वे मायिक लीलाविनोदका परित्याग करके निश्चेष्ट हो जाते हैं॥ २८॥

तमेवान्वपिधीयन्ते लोका भूरादयस्त्रयः।
निशयामनुवृत्तायां निर्मुक्तशशिभास्करम्॥ २९॥

जिस प्रकार चन्द्र और सूर्यसे सम्पूर्ण रूपसे रहित होनेपर भूः, भुवः और स्वः—इन तीनों लोकोंकी अवस्था अन्धकारमय हो जाती है, उसी प्रकार ब्रह्माकी रात्रिके उपस्थित होनेपर कालाग्नि रुद्रके पीछे-पीछे स्वयं ही तिरोहित हो जाती है॥ २९॥

त्रिलोक्यां दह्यमानायां शक्त्या सङ्कर्षणाग्निना।
यान्त्युष्मणा महर्लोकाज्जनं भृग्वादयोऽर्दिताः॥ ३०॥

जिस समय उक्त तीनों लोक भगवान् सङ्कर्षणके मुखसे निकली हुई अग्निरूप भगवान्की शक्तिसे दग्ध होने लगते हैं, उस समय इस अग्निके तीव्र तापसे पीड़ित भृगु इत्यादि महर्षि महर्लोकसे जनलोकको चले जाते हैं॥ ३०॥

तावत् त्रिभुवनं सद्यः कल्पान्तैधितसिन्धवः।
प्लावयन्त्युत्कटाटोप-चण्डवातेरितोर्मयः ॥ ३१॥

कल्पका अन्तकाल उपस्थित होनेपर समस्त समुद्र बढ़ने लगते हैं तथा तीव्र क्षोभकारी प्रचण्ड वायुके वेगसे युक्त अपनी उत्तङ्ग तरङ्गोंसे शीघ्र ही तीनों भुवनोंको जलमग्न कर देते हैं॥ ३१॥

अन्तः स तस्मिन् सलिले आस्तेऽनन्तासनो हरिः।
योगनिद्रानिमीलाक्षः स्तूयमानो जनालयैः॥ ३२॥

उस समय भगवान् श्रीहरि प्रलय-समुद्रके जलमें अनन्त-शय्यापर नेत्र मूँदकर योगनिद्रामें शयन करते हैं और जनलोक एवं महर्लोकसे आये भृगु इत्यादि महर्षि उनकी स्तुति करते हैं॥ ३२॥

एवंविधैरहोरात्रैः कालगत्योपलक्षितैः।
उपक्षितमिवास्यापि परमायुर्वयःशतम्॥ ३३॥

इस प्रकार कालकी गतिके द्वारा उपलक्षित एक-एक हजार चतुर्युगोंके रूपमें प्रतीत होनेवाले दिन-रातके अनुसार श्रीब्रह्माकी सौ वर्षकी परमायु भी कालधर्मसे बीती हुई-सी ज्ञात होती है॥ ३३॥

यदर्द्धमायुषस्तस्य परार्द्धमभिधीयते।
पूर्वः परार्द्धोऽपक्रान्तो ह्यपरोऽद्य प्रवर्तते॥ ३४॥

श्रीब्रह्माकी सौ वर्षकी आयुका आधा भाग 'परार्ध' कहलाता है, जिसमें पूर्व परार्ध (प्रथम पचास वर्ष) तो बीत चुका है और दूसरा परार्ध इस समय चल रहा है॥ ३४॥

पूर्वस्यादौ परार्द्धस्य ब्राह्मो नाम महानभूत्।
कल्पो यत्राभवद्ब्रह्मा शब्दब्रह्मेति यं विदुः॥ ३५॥

पूर्व परार्धके प्रारम्भमें ब्राह्म नामक महान कल्प हुआ था। उसी कल्पमें ब्रह्मा आविर्भूत हुए थे। पण्डितगण उन ब्रह्माको 'शब्दब्रह्म' के रूपमें जानते हैं॥ ३५॥

तस्यैवान्ते च कल्पोऽभूद्यं पाद्ममभिचक्षते।
यद्धरेर्नाभिसरस आसील्लोकसरोरुहम्॥ ३६॥

इस ब्राह्म कल्पके अन्तमें जो कल्प हुआ था, उसे 'पाद्मकल्प' कहा जाता है। इसी कल्पमें गर्भोदकशायी श्रीहरिके नाभि-सरोवरसे सर्वभुवन युक्त कमल उत्पन्न हुआ था॥ ३६॥

अयन्तु कथितः कल्पो द्वितीयस्यापि भारत।
वाराह इति विख्यातो यत्रासीच्छूकरो हरिः॥ ३७॥

हे भारत (विदुर)! इस समय दूसरे परार्द्धका प्रारम्भिक कल्प चल रहा है। यह आदि कल्प ही 'वाराह कल्प' के रूपमें विख्यात है। इस कल्पमें भगवान् विष्णु 'वराह' मूर्त्तिमें प्रकटित हुए थे॥ ३७॥

कालोऽयं द्विपरार्द्धाख्यो निमेष उपचर्यते।
अव्याकृतस्यानन्तस्य ह्यनादेर्जगदात्मनः॥ ३८॥

इस प्रकार ब्रह्माकी आयुरूप दो परार्द्धकी अवधि—विकार-रहित, अनन्त, अनादि अर्थात् खण्डकालके अतीत सम्पूर्ण जगत्के कारण—परमेश्वरका एक निमेषमात्र है॥ ३८॥

कालोऽयं परमाण्वादिर्द्विपरार्द्धान्त ईश्वरः।
नैवेशितुं प्रभुर्भूम्न ईश्वरो धाममानिनाम्॥ ३९॥

हे विदुर! परमाणुसे द्विपरार्द्धकी अवधि तकका विस्तृत काल सामर्थ्यसे युक्त होनेपर भी परिपूर्णस्वरूप परमेश्वरको नियन्त्रित करनेमें समर्थ नहीं हो सकता। यह केवल देह-गृह आदिके अभिमानी (मैं और मेरा बुद्धियुक्त) अथवा सत्यलोक आदिके अधिकारीके रूपमें अभिमानी जीवोंपर ही अपना आधिपत्य करनेमें समर्थ है॥ ३९॥

विकारैः सहितो युक्तैर्विशेषादिभिरावृतः।
अण्डकोषो बहिरयं पञ्चाशत्कोटिविस्तृतः॥ ४०॥

प्रकृति, महत्, अहङ्कार और शब्दादि पञ्चतन्मात्ररूप आठ प्रकृतियों सहित ग्यारह इन्द्रियों एवं पञ्चमहाभूत रूप सोलह प्रकारके विकारों द्वारा बने हुए इस ब्रह्माण्डका भीतरी भाग पचास करोड़ योजन तक फैला हुआ है और बाहरी भाग पृथ्वी आदि सात आवरणोंसे घिरा हुआ है॥ ४०॥

दशोत्तराधिकैर्यत्र प्रविष्टः परमाणुवत्।
लक्ष्यतेऽन्तर्गताश्चान्ये कोटिशो ह्यण्डराशयः॥ ४१॥

तदाहुरक्षरं ब्रह्म सर्वकारणकारणम्।
विष्णोर्धाम परं साक्षात् पुरुषस्य महात्मनः॥ ४२॥

इन सातों आवरणोंका परिमाण भी ब्रह्माण्डके परिमाणकी अपेक्षा उत्तरोत्तर दस–दस गुना अधिक है। केवल यही एक ब्रह्माण्ड नहीं, अपितु इस प्रकारके कोटि–कोटि अन्यान्य ब्रह्माण्ड भी जिनमें प्रविष्ट होकर परमाणुके समान दिखायी पड़ते हैं, पण्डितगण महाविष्णुके स्वतःसिद्ध परम अंशीरूप उस तत्त्वको ही 'अक्षर' अर्थात् नित्याविर्भाव–स्वरूप ब्रह्म अथवा परिपूर्ण भगवत्तत्त्वके रूपमें वर्णन करते हैं, क्योंकि वे सर्वकारण कारणोदकशायी पुरुषावतारके भी कारण स्वरूप हैं॥ ४१–४२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां तृतीयस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय–संवादे कालस्वरूपकथनं नामैकादशोऽध्यायः॥

द्वादशोऽध्यायः

ब्रह्मा द्वारा की गयी विविध प्रकारकी सृष्टियोंका वर्णन

श्रीमैत्रेय उवाच—

इति ते वर्णितः क्षत्तः कालाख्यः परमात्मनः।
महिमा वेदगर्भोऽथ यथास्राक्षीन्निबोध मे॥ १॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! इस प्रकार अब तक मैंने आपके समक्ष परमात्माके काल नामक स्वरूपके प्रभावका वर्णन किया है। अब वेदगर्भ श्रीब्रह्माने जिस प्रकारसे सृष्टि की, उसके विषयमें सुनिये॥ १॥

ससर्जाग्रेऽन्धतामिस्रमथ तामिस्रमादिकृत्।
महामोहञ्च मोहञ्च तमश्चाज्ञानवृत्तयः॥ २॥

आदिकर्त्ता ब्रह्माने अपनी सृष्टिमें सर्वप्रथम जीवोंके स्वरूपको अप्रकाशित करनेवाला—तम, देहादिमें अहम् बुद्धिका आरोपरूप—मोह, भोग्य विषयोंमें ममताका आरोप—महामोह, भोगमें बाधा प्राप्त होनेपर अन्तःकरणके धर्म-स्वरूप क्रोधका सञ्चार—तामिस्र, भोग्य वस्तुके नाश होनेपर अपनी मृत्यु होनेके अभिनिवेशकी बुद्धि—अन्धतामिस्र—इन सबकी एवं अन्यान्य अज्ञानकी वृत्तियोंकी सृष्टि की॥ २॥

दृष्ट्वा पापीयसीं सृष्टिं नात्मानं बह्वमन्यत।
भगवद्ध्यानपूतेन मनसान्यांस्ततोऽसृजत्॥ ३॥

किन्तु अपनी इस सृष्टिमें पापकी प्रचुरताको देखकर श्रीब्रह्मा अपनी ही क्रियाको अनुचित जानकर प्रसन्नताको प्राप्त नहीं कर सके। इसके बाद ब्रह्माने भगवान्के ध्यानके द्वारा अपने अन्तःकरणको निर्मल करके अन्यान्य सृष्टि की॥ ३॥

सनकञ्च सनन्दञ्च सनातनमथात्मभूः।
सनत्कुमारञ्च मुनीन् निष्क्रियानूर्ध्वरेतसः॥ ४॥

तत्पश्चात् आत्मभू श्रीब्रह्माने सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार—ये चार निवृत्तिपरायण, काम्यकर्मरहित तथा ऊर्ध्वरेता होनेके कारण जितेन्द्रिय मुनि उत्पन्न किये॥ ४॥

तान् बभाषे स्वभूः पुत्रान् प्रजाः सृजत पुत्रकाः।
तन्नैच्छन्मोक्षधर्माणो वासुदेवपरायणाः॥ ५॥

श्रीब्रह्माने अपने इन पुत्रोंसे कहा—हे पुत्रो! तुमलोग प्रजाकी सृष्टि करो। किन्तु वे सनकादि ऋषिगण तो जन्मसे ही मोक्षधर्ममें निष्ठ और भगवान् वासुदेवके ध्यानमें निमग्न थे, अतः उन्होंने प्रजा-सृष्टिकी अभिलाषा ही नहीं की॥ ५॥

सोऽवध्यातः सुतैरेवं प्रत्याख्यातानुशासनैः।
क्रोधं दुर्विषहं जातं नियन्तुमुपचक्रमे॥ ६॥

जब श्रीब्रह्माने देखा कि उनके पुत्र उनकी आज्ञाका उल्लंघन कर रहे हैं, तो वे अपनेको अपमानित अनुभव करने लगे। इससे उनमें असहनीय क्रोध उत्पन्न हो गया, किन्तु ब्रह्माजी उस क्रोधको मनमें रोकनेकी चेष्टा करने लगे॥ ६॥

धिया निगृह्यमाणोऽपि भ्रुवोर्मध्यात् प्रजापतेः।
सद्योऽजायत तन्मन्युः कुमारो नीललोहितः॥ ७॥

बुद्धिके द्वारा बहुत रोके जानेपर भी वह क्रोध तत्काल प्रजापति ब्रह्माकी दोनों भौंहोके बीचके स्थलमेंसे निकलकर एक नील-लोहित (नीले और लाल रङ्गके मिश्रित वर्णवाले) बालकके रूपमें उत्पन्न हुआ॥ ७॥

स वै रुरोद देवानां पूर्वजो भगवान् भवः।
नामानि कुरु मे धातः स्थानानि च जगद्गुरो॥ ८॥

वे नील-लोहित देवता ही देवताओंके पूर्वज थे और बड़े शक्तिशाली थे। वे ब्रह्माके समक्ष रोते हुए कहने लगे—हे विधाता! हे जगद्गुरो! मेरा नाम और मेरे रहनेके स्थानका निर्देश कीजिये॥ ८॥

इति तस्य वचः पाद्मो भगवान् परिपालयन्।
अभ्यधाद्भद्रया वाचा मा रोदीस्तत् करोमि ते॥ ९॥

उस कुमारकी यह बात सुनकर पद्मयोनि ब्रह्मा भी मधुर वाणीमें उसे सान्त्वना देते हुए कहने लगे—वत्स! रोओ मत! तुम्हारी इस वाञ्छाको मैं अभी पूर्ण कर देता हूँ॥ ९॥

यदरोदीः सुरश्रेष्ठ सोद्वेग इव बालकः।
अतस्त्वामभिधास्यन्ति नाम्ना रुद्र इति प्रजाः॥ १०॥

हे सुरश्रेष्ठ! तुम जन्म लेते ही बालकके समान उत्कण्ठित होकर रोदन करने लगे, इस कारण प्रजा तुम्हें 'रुद्र' नामसे पुकारेगी॥ १०॥

हृदिन्द्रियाण्यसुर्व्योम वायुरग्निर्जलं मही।
सूर्यश्चन्द्रस्तपश्चैव स्थानान्यग्रे कृतानि मे॥ ११॥

तुम्हारे रहनेके लिए मैंने हृदय, इन्द्रिय, प्राण, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र एवं तपस्या—ये समस्त स्थान पहलेसे ही रच दिये हैं॥ ११॥

मन्युर्मनुर्महिनसो महाञ्छिव ऋतध्वजः।
उग्ररेता भवः कालो वामदेवो धृतव्रतः॥ १२॥

हे रुद्र! तुम्हारे मन्यु, मनु, महिनस, महान्, शिव, ऋतध्वज, उग्ररेता, भव, काल, वामदेव, धृतव्रत—ये ग्यारह नाम भी होंगे॥ १२॥

धीर्धृती रसलोमा च नियुत् सर्पिरिलाम्बिका।
इरावती स्वधा दीक्षा रुद्राण्यो रुद्र ते स्त्रियः॥ १३॥

धी, घृति, रसला, उमा, नियुत्, सर्पि, इला, अम्बिका, इरावती, स्वधा, दीक्षा—ये सब रुद्राणियाँ तुम्हारी पत्नियाँ होंगी॥ १३॥

गृहाणैतानि नामानि स्थानानि च सयोषणः।
एभिः सृज प्रजा बह्वीः प्रजानामसि यत् पतिः॥ १४॥

तुम इन समस्त नामों और स्थानोंको स्वीकार करो। तुम प्रजापति हो, अतएव स्त्रियोंके साथ नाम आदिसे युक्त होकर प्रजाकी सृष्टि करो॥ १४॥

इत्यादिष्टः स्वगुरुणा भगवान् नीललोहितः।
सत्त्वाकृतिस्वभावेन ससर्जात्मसमाः प्रजाः॥ १५॥

भगवान् नीललोहित अपने गुरु श्रीब्रह्मासे ऐसी आज्ञा प्राप्तकर अपने ही समान बल, आकार और स्वभावके अनुसार प्रजा उत्पन्न करने लगे॥ १५॥

रुद्राणां रुद्रसृष्टानां समन्ताद् ग्रसतां जगत्।
निशाम्यासंख्यशो यूथान् प्रजापतिरशङ्कत॥ १६॥

उन रुद्रसे जितने भी रुद्र उत्पन्न हुए, उन सबने असंख्य दल बनाकर संसारको ग्रास करनेकी चेष्टा की, जिसे देखकर ब्रह्माजीको बड़ी शङ्का हुई॥ १६॥

अलं प्रजाभिः सृष्टाभिरीदृशीभिः सुरोत्तम।
मया सह दहन्तीभिर्दिशश्चक्षुर्भिरुल्बणैः॥ १७॥

तब श्रीब्रह्माने रुद्रसे कहा—हे सुरश्रेष्ठ! यह प्रजा अपनी तीव्र और भयङ्कर दृष्टि द्वारा मुझे और समस्त दिशाओंको दग्ध करनेके लिए तत्पर हो रही है, अतः जगत् उत्पातकारी ऐसी प्रजाओंको उत्पन्न करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है॥ १७॥

तप आतिष्ठ भद्रं ते सर्वभूतसुखावहम्।
तपसैव यथा पूर्वं स्रष्टा विश्वमिदं भवान्॥ १८॥

हे रुद्र! तुम्हारा मङ्गल हो! तुम समस्त जीवोंका कल्याण करनेके लिए तपस्या करो। तपस्याके प्रभावसे तुम पूर्व-पूर्व कल्पोंके समान इस विश्वकी सृष्टि कर सकते हो॥ १८॥

तपसैव परं ज्योतिर्भगवन्तमधोक्षजम्।
सर्वभूतगुहावासमञ्जसा विन्दते पुमान्॥ १९॥

तपस्याके प्रभावसे ही व्यक्ति समस्त जीवोंकी हृदय-कन्दरामें विराजमान परम ज्योतिःस्वरूप अतीन्द्रिय भगवान् विष्णुको शीघ्र प्राप्त कर सकते हैं॥ १९॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

एवमात्मभुवादिष्टः परिक्रम्य गिरां पतिम्।
बाढमित्यमुमामन्त्र्य विवेश तपसे वनम्॥ २०॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—इस प्रकार नीललोहित रुद्रने आत्मभू ब्रह्माजीसे आदेश प्राप्त करनेपर 'जो आज्ञा' कहकर उनके आदेशको शिरोधार्य किया और उनकी परिक्रमा करके तपस्याके लिए वनमें चले गये॥ २०॥

अथाभिध्यायतः सर्गं दश पुत्राः प्रजज्ञिरे।
भगवच्छक्तियुक्तस्य लोकसन्तानहेतवः॥ २१॥

इसके बाद श्रीब्रह्मा सृष्टिके विषयमें विशेष रूपसे ध्यानपरायण हो गये और भगवान्‌की शक्तिको प्राप्त करके उन्होंने लोक-विस्तारके लिए दस पुत्र उत्पन्न किये॥ २१॥

मरीचिरत्र्यङ्गिरसो पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः।
भृगुर्वशिष्ठो दक्षश्च दशमस्तत्र नारदः॥ २२॥

ये पुत्र यथाक्रमसे मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु, वशिष्ठ, दक्ष एवं दसवें पुत्र नारद थे॥ २२॥

उत्सङ्गान्नारदो जज्ञे दक्षोऽङ्गुष्ठात् स्वयम्भुवः।
प्राणाद्वशिष्ठः सञ्जातो भृगुस्त्वचि करात् क्रतुः॥ २३॥

पुलहो नाभितो जज्ञे पुलस्त्यः कर्णयोर्ऋषिः।
अङ्गिरा मुखतोऽक्ष्णोऽत्रिर्मरीचिर्मनसोऽभवत्॥ २४॥

ब्रह्माजीकी गोदसे नारद, अंगुठेसे दक्ष, प्राणसे वशिष्ठ, त्वचासे भृगु, हाथसे क्रतु, नाभिसे पुलह, कानोंसे पुलस्त्य, मुखसे अङ्गिरा, दानों नेत्रोंसे अत्रि और उनके मनसे मरीचि उत्पन्न हुए॥ २३-२४॥

धर्मः स्तनाद्दक्षिणतो यत्र नारायणः स्वयम्।
अधर्मः पृष्ठतो यस्मान्मृत्युर्लोकभयङ्करः॥ २५॥

धर्म ब्रह्माजीके दक्षिण वक्षःस्थल (स्तन) से प्रकाशित हुआ, जहाँ भगवान् श्रीनारायण स्वयं विराजित हैं तथा अधर्म उनकी पीठसे

प्रकाशित हुआ। इस अधर्मसे ही प्राणियोंकी भयावह मृत्यु संघटित होती है॥ २५॥

हृदि कामो भ्रुवोः क्रोधो लोभश्चाधरदच्छदात्।
आस्याद्वाक् सिन्धवो मेढ्रान्निर्ऋतिः पायोरघाश्रयः॥ २६॥

श्रीब्रह्माके हृदयसे काम, भौंहोंसे क्रोध, अधर (नीचेके होठ) से लोभ, मुखसे वाक्-रूपिणी सरस्वती, लिङ्गसे समुद्र और मलद्वारसे पापका निवासस्थान (राक्षसोंका अधिपति) निर्ऋति उत्पन्न हुए॥ २६॥

छायायाः कर्दमो जज्ञे देवहूत्याः पतिः प्रभुः।
मनसो देहतश्चेदं जज्ञे विश्वकृतो जगत्॥ २७॥

ब्रह्माजीकी कान्तिसे देवहूतिके पति प्रभावशाली कर्दम ऋषिने जन्म-ग्रहण किया। इस प्रकार यह परिदृश्यमान जगत् उन विश्वस्रष्टाके मन और देहसे उत्पन्न हुआ है॥ २७॥

वाचं दुहितरं तन्वीं स्वयम्भूर्हरतीं मनः।
अकामां चकमे क्षत्तः सकाम इति नः श्रुतम्॥ २८॥

हे विदुर! स्वयम्भू ब्रह्माकी 'वाक्' नामकी मनोहारिणी और सुन्दरी कन्या थी। हमने सुना है कि एक बार ब्रह्माने काममें उन्मत्त होकर अपनी ही कन्याकी अभिलाषा की थी, जब कि वह कन्या कामसे रहित थी॥ २८॥

तमधर्मे कृतमतिं विलोक्य पितरं सुताः।
मरीचिमुख्या मुनयो विश्रम्भात् प्रत्यबोधयन्॥ २९॥

तब ब्रह्माजीके मरीचि प्रमुख मुनिपुत्रोंने अपने पिताकी इस प्रकारसे अधर्ममें मति होती देखकर विनयपूर्ण वचनोंसे उन्हें समझाया॥ २९॥

नैतत् पूर्वैः कृतं त्वद्ये न करिष्यन्ति चापरे।
यत्त्वं दुहितरं गच्छेरनिगृह्याङ्गजं प्रभुः॥ ३०॥

पिताजी! आपके पूर्व-पूर्व कल्पोंमें किसी भी ब्रह्मा अथवा अन्य किसीने इस प्रकारका कार्य नहीं किया है और न ही भविष्यमें भी

कोई करेगा। आप समर्थ होकर भी कामका दमन न करके कन्या-गमन जैसे दुस्तर पापकार्यमें प्रवृत्त हुए हैं॥ ३०॥

तेजीयसामपि ह्येतन्न सुश्लोक्यं जगद्गुरो।
यद्वृत्तमनुतिष्ठन् वै लोकः क्षेमाय कल्पते॥ ३१॥

हे जगद्गुरो! इस प्रकारका निन्दित कार्य आप जैसे तेजस्वी व्यक्तिके लिए सत्कीर्त्ति प्रदायक नहीं है, क्योंकि आपके आचरणका अनुसरण करके ही जगत्‌के लोगोंका पारमार्थिक कल्याण होता है॥ ३१॥

तस्मै नमो भगवते य इदं स्वेन रोचिषा।
आत्मस्थं व्यञ्जयामास स धर्मं पातुमर्हति॥ ३२॥

(मरीचि आदिके द्वारा प्रबोधित किये जानेपर भी जब ब्रह्माका विवेक जाग्रत नहीं हुआ, तब श्रीभगवान्‌की कृपाके अतिरिक्त अन्य किसी प्रकारसे कभी भी काम उपशमित नहीं हो सकता—इस सिद्धान्तका स्मरण करके मरीचि आदि मुनि श्रीभगवान्‌के ही शरणागत हो गये और कहने लगे—)जिन्होंने अपने स्वरूपमें स्थित इस परिदृश्यमान जगत्‌को अपने तेजके प्रभावसे प्रकाशित किया है, उन भगवान्‌को नमस्कार है। इस समय वे ही धर्मकी रक्षा कर सकते हैं॥ ३२॥

स इत्थं गृणतः पुत्रान् पुरो दृष्ट्वा प्रजापतीन्।
प्रजापतिपतिस्तन्वं तत्याज व्रीडितस्तदा।
तां दिशो जगृहुर्घोरां नीहारं यद्विदुस्तमः॥ ३३॥

अपने पुत्र मरीचि आदि प्रजापतियोंको अपने ही सम्मुख इस प्रकारसे प्रबोधित वचनोंको कहते हुए देखकर प्रजापतियोंके स्वामी ब्रह्माने अत्यन्त लज्जित होकर उसी समय अपने उस शरीरका परित्याग कर दिया। तब उस शरीरको समस्त दिशाओंने ले लिया। पण्डितजन उसीको अन्धकारमय कुहरेके रूपमें जानते हैं॥ ३३॥

कदाचिद्ध्यायतः स्रष्टुर्वेदा आसंश्चतुर्मुखात्।
कथं स्रक्ष्याम्यहं लोकान् समवेतान् यथा पुरा॥ ३४॥

किसी एक समय जब ब्रह्मा 'पूर्व कल्पोंमें ये सभी लोक जिस प्रकारसे सुव्यवस्थित थे, अब भी इन लोकोंकी वैसी ही रचना किस प्रकारसे की जाये'—इस प्रकारसे विचार कर ही रहे थे कि उनके चारों मुखोंसे चार वेद आविर्भूत हुए॥ ३४॥

चातुर्होत्रं कर्मतन्त्रमुपवेदनयैः सह।
धर्मस्य पादाश्चत्वारस्तथैवाश्रमवृत्तयः॥ ३५॥

होता, उद्गाता, अध्वर्यु और ब्रह्मा—इन चारों ऋत्विजोंके (चातुर्होत्रादि) कर्म, आयुर्वेदादि उपवेद, नीतिशास्त्रादिके साथ यज्ञोंका विस्तार, धर्मके चार चरण तथा ब्रह्मचर्यादि चारों आश्रम और उनकी वृत्तियाँ भी ब्रह्माजीके मुखसे उत्पन्न हुईं॥ ३५॥

श्रीविदुर उवाच—

स वै विश्वसृजामीशो वेदादीन् मुखतोऽसृजत्।
यद्यद्येनासृजद्देवस्तन्मे ब्रूहि तपोधन॥ ३६॥

श्रीविदुरने कहा—हे तपोधन! विश्वस्रष्टाओंके ईश्वर ब्रह्माजीने अपने चारों मुखोंसे वेदादिको रचा था, किन्तु उन्होंने कौन-सा वेद किस मुखसे प्रकाशित किया था—इसे आप हमें कृपा करके बतलाइये॥ ३६॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

ऋग्यजुःसामाथर्वाख्यान् वेदान् पूर्वादिभिर्मुखैः।
शस्त्रमिज्यां स्तुति-स्तोमं प्रायश्चित्तं व्यधात् क्रमात्॥ ३७॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—ब्रह्माने अपने पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर इन चार मुखोंसे क्रमशः ऋक्, यजुः, साम एवं अथर्व—इन चारों वेदोंको प्रकाशित किया। उन्होंने यथाक्रमसे होताके कर्मरूपमें शस्त्र (अर्थात् जिनका गान नहीं किया जाता, ऐसे मन्त्र-स्तोत्र), अध्वर्युके कर्मरूपमें इज्या (यज्ञ), उद्गाताके कर्मरूपमें स्तुतिस्तोम (अर्थात् सङ्गीत स्तोत्र एवं स्तोमके लिए रचित ऋक् समुदाय) एवं ब्रह्माके कर्मरूपमें (अर्थात् कर्म करते हुए किसी अङ्गकी हानि हो जानेपर) प्रायश्चित इत्यादिका विधान किया॥ ३७॥

आयुर्वेदं धनुर्वेदं गान्धर्वं वेदमात्मनः।
स्थापत्यञ्चासृजद्वेदं क्रमात् पूर्वादिभिर्मुखैः॥ ३८॥

इसी प्रकार ब्रह्माजीने अपने पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर मुखोंसे ही यथाक्रमसे आयुर्वेद (चिकित्सा-शास्त्र), धनुर्वेद (शस्त्र-विद्या शास्त्र), गान्धर्व-वेद (सङ्गीत-शास्त्र) और स्थापत्यवेद (शिल्प-विद्या अथवा विश्वकर्मा-शास्त्र) रूप उपवेदोंकी भी रचना की॥ ३८॥

इतिहास-पुराणानि पञ्चमं वेदमीश्वरः।
सर्वेभ्य एव वक्त्रेभ्यः ससृजे सर्वदर्शनः॥ ३९॥

फिर सर्वदर्शी ब्रह्माने पञ्चम वेद—इतिहास और पुराणोंकी भी अपने चारों मुखोंसे सृष्टि की॥ ३९॥

षोडश्युक्थौ पूर्ववक्त्रात् पुरीष्यग्निष्टुतावथ।
आप्तोर्यामातिरात्रौ च वाजपेयं सगोसवम्॥ ४०॥

इसी क्रमसे षोड़शी और उक्थ (यज्ञाङ्ग कर्मविशेष) ब्रह्माके पूर्वमुखसे, पुरीषि (अग्निचयन) और अग्निष्टोम दक्षिण मुखसे, आप्तोर्याम और अतिरात्र पश्चिम मुखसे तथा गोसव और वाजपेयरूप यज्ञ-कर्म उनके उत्तरमुखसे उत्पन्न हुए॥ ४०॥

विद्या दानं तपः सत्यं धर्मस्येति पदानि च।
आश्रमांश्च यथासंख्यमसृजत् सह वृत्तिभिः॥ ४१॥

उन्होंने विद्या (शौच), दान (दया अथवा प्राणियोंको अभय प्रदान), तपस्या और सत्य—धर्मके इन चार चरणों और वृत्तियों सहित चारों आश्रमोंकी भी इसी प्रकार यथाक्रमसे सृष्टि की॥ ४१॥

सावित्रं प्राजापत्यञ्च ब्राह्मञ्चाथ बृहत्तथा।
वार्ता सञ्चयशालीनशिलोञ्छ इति वै गृहे॥ ४२॥

सावित्र (गायत्री-अध्ययनकारीका उपनयन संस्कारसे आरम्भ करके तीन रात तक ब्रह्मचर्य व्रत), प्राजापत्य (व्रतोंका आचरण करनेवाले व्यक्तिका एक वर्ष तक ब्रह्मचर्य व्रत), ब्राह्म (वेदाध्ययनकी समाप्ति तक ब्रह्मचर्य व्रत), बृहद् (आमरण नैष्ठिक ब्रह्मचर्य व्रत)—इन चार

ब्रह्मचारी वृत्तियोंकी तथा वार्त्ता (कृषि आदि शास्त्र विहित वृत्ति), सञ्चय (याजन आदि वृत्ति), शालीन (अयाचित वृत्ति), शिलोञ्छ (खेत कट जानेपर भूमिपर गिरे हुए अन्नके कणोंको खाकर जीविका निर्वाह करना)—इन चार गृहस्थाश्रमके कर्त्तव्यानुष्ठानोंको भी ब्रह्माजीने रचा॥ ४२॥

वैखानसा वालिखिल्यौडुम्बराः फेनपा वने।
न्यासे कुटीचकः पूर्वं बह्वोदो हंसनिष्क्रियौ॥ ४३॥

वैखानस (जो कन्द-मूलादि द्वारा जीविका निर्वाह करते हैं), वालखिल्य (जो नया अन्न मिलनेपर पूर्व सञ्चित अन्नका त्याग कर देते हैं), औडुम्बर (प्रातःकाल उठकर जिस दिशामें सर्वप्रथम देखते हैं, उस दिशासे ही लाये हुए फल आदिको खाकर जीवन धारण करनेवाले), फेनप (वृक्षोंसे अपने-आप गिरे हुए फल आदि खाकर जीवन यापन करनेवाले)—इस प्रकार नामभेदसे और वृत्तिभेदसे ये चार प्रकारके वानप्रस्थ आश्रम; एवं कुटीचक (अपने आश्रमके कर्मको प्रधान माननेवाले), बहूदक (कर्मको गौण और ज्ञानको प्रधान माननेवाले), हंस (ज्ञानाभ्यासमें निष्ठ) तथा निष्क्रिय (प्राप्त-तत्त्व अर्थात् परमहंस)—इन चार प्रकारकी संन्यास वृत्तियोंको भी ब्रह्माजीने रचा है॥ ४३॥

आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिस्तथैव च।
एवं व्याहृतयश्चासन् प्रणवो ह्यस्य दह्रतः॥ ४४॥

इसी क्रमसे आन्वीक्षिकी (तर्क या मोक्ष शास्त्र), त्रयी (वेद या धर्म शास्त्र), वार्त्ता (कामशास्त्र) एवं दण्डनीति (अर्थशास्त्र) तथा भूः, भुवः, स्वः—ये व्यस्त (अर्थात् पृथक् रूपमें तीन) एवं भूर्भुवःस्वः समस्त (एकत्र रूपमें तीनों)—इन चार शास्त्र तथा व्याहृतियाँ भी उसी प्रकार ब्रह्माके पूर्व आदि मुखोंसे उत्पन्न हुईं तथा प्रणव उनके हृदयाकाशसे उत्पन्न हुआ॥ ४४॥

तस्योष्णिगासील्लोमभ्यो गायत्री च त्वचो विभोः।
त्रिष्टुम्मांसात् स्नुतोऽनुष्टुब्जगत्यस्थ्नः प्रजापतेः।
मज्जायाः पङ्क्तिरुत्पन्ना बृहती प्राणतोऽभवत्॥ ४५॥

उन विभु ब्रह्माके रोमोंसे उष्णिक्, त्वचासे गायत्री, माँससे त्रिष्टुप्, नाड़ी (स्नायु) से अनुष्टुप्, अस्थियोंसे जगती, मज्जासे पंक्ति और प्राणोंसे बृहती छन्द उत्पन्न हुए॥ ४५॥

स्पर्शस्तस्याभवज्जीवः स्वरो देह उदाहृतः।
उष्माणमिन्द्रियाण्याहुरन्तस्था बलमात्मनः।
स्वराः सप्त विहारेण भवन्ति स्म प्रजापतेः॥ ४६॥

उन प्रजापतिके जीवत्व (आत्मा) से 'क'कारादिसे 'म'कारादि तक पच्चीस स्पर्शवर्ण, देहसे 'अ'कार आदि चौदह स्वरवर्ण, बलसे य, र, ल और व—चार अन्तःस्थ वर्ण तथा इन्द्रियोंसे श, ष, स और ह—चार उष्मवर्ण उत्पन्न हुए—ऐसा तत्त्वज्ञगण वर्णन करते हैं। प्रजापतिकी क्रीड़ावृत्तिसे षड़ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद—ये सात स्वर उत्पन्न हुए॥ ४६॥

शब्दब्रह्मात्मनस्तस्य व्यक्ताव्यक्तात्मनः परः।
ब्रह्मावभाति विततो नानाशक्त्युपबृंहितः॥ ४७॥

वे ब्रह्मा शब्दब्रह्म अर्थात् वेदमय तनुविशिष्ट हैं। उनका व्यक्त स्वरूप 'वैखरी' नामक वाक्यरूप भाषा और अव्यक्त स्वरूप 'प्रणव' है। उस अव्यक्त-स्वरूपसे परब्रह्मस्वरूप आविर्भूत हुए एवं व्यक्त-स्वरूपसे बहुत प्रकारकी शक्तियोंसे युक्त इन्द्रादि देवता बाहर निकलते हैं॥ ४७॥

ततोऽपरामुपादाय स सर्गाय मनो दधे॥ ४८॥

तत्पश्चात् ब्रह्माने पहले जिस शरीरका परित्याग किया था, वह अन्धकारमय (कुहरा) हो गया। इसलिए उन्होंने अन्य शुद्ध अनिषिद्ध अर्थात् शास्त्र विहित कामासक्त शब्दब्रह्ममय नित्यस्वरूपको स्वीकारकर सृष्टिका विस्तार करनेके लिए मनोनिवेश किया॥ ४८॥

ऋषीणां भूरिवीर्याणामपि सर्गमविस्तृतम्।
ज्ञात्वा तद्धृदये भूयश्चिन्तयामास कौरव॥ ४९॥

हे कौरव! तब ब्रह्माजीने देखा कि महापराक्रमशाली ऋषियोंसे भी सृष्टिका विस्तार नहीं हो रहा है, अतः वे सृष्टिके लिए पुनः चिन्ता करने लगे॥ ४९॥

अहो अद्भुतमेतन्मे व्यापृतस्यापि नित्यदा।
न ह्येधन्ते प्रजा नूनं दैवमत्र विघातकम्॥ ५०॥

अहो! कैसा आश्चर्य है! मैं सर्वदा सृष्टि कार्यमें लगा रहता हूँ, फिर भी मेरी प्रजाकी वृद्धि नहीं हो रही है। निश्चय ही इस विषयमें दैव प्रतिकूल है॥ ५०॥

एवं युक्तकृतस्तस्य दैवञ्चावेक्षतस्तदा।
कस्य रूपमभूद्द्वेधा यत् कायमभिचक्षते॥ ५१॥

इस प्रकार यथोचित कार्य करनेके लिए चेष्टा रत होनेपर भी जब ब्रह्माजी दैवके प्रति दृष्टि रखकर चिन्ता कर रहे थे कि उसी समय अकस्मात् उनकी यह मूर्त्ति दो भागोंमें विभक्त हो गयी। इन विभक्त रूपको ही लोग ब्रह्माकी 'काय' कहते हैं॥ ५१॥

ताभ्यां रूपविभागाभ्यां मिथुनं समपद्यत॥ ५२॥

उस कायसे स्त्री और पुरुषका एक जोड़ा उत्पन्न हुआ॥ ५२॥

यस्तु तत्र पुमान् सोऽभून्मनुः स्वायम्भुवः स्वराट्।
स्त्री यासीच्छतरूपाख्या महिष्यस्य महात्मनः॥ ५३॥

उस जोड़ेमें जो पुरुष थे, वे सार्वभौम स्वायम्भुव 'मनु' हुए तथा जो स्त्री थी, वह उन सार्वभौमकी महारानी 'शतरूपा' नामसे परिचित हुई॥ ५३॥

तदा मिथुनधर्मेण प्रजा ह्येधाम्बभूविरे॥ ५४॥

उसी समयसे मिथुनधर्म (स्त्री-पुरुष संयोग) के द्वारा प्रजाओंकी वृद्धि होने लगी॥ ५४॥

स चापि शतरूपायां पञ्चापत्यान्यजीजनत्।
प्रियव्रतोत्तानपादौ तिस्रः कन्याश्च भारत।
आकूतिर्देवहूतिश्च प्रसूतिरिति सत्तम॥ ५५॥

हे भरतवंशके भूषण! हे साधु शिरोमणि विदुर! स्वायम्भुव मनुने शतरूपासे पाँच सन्तानें उत्पन्न कीं। इनमें प्रियव्रत और उत्तानपाद दो पुत्र थे एवं आकूति, देवहूति और प्रसूति—ये तीन कन्याएँ थीं॥ ५५॥

आकूतिं रुचये प्रादात् कर्दमाय तु मध्यमाम्।
दक्षायादात् प्रसूतिञ्च यत आपूरितं जगत्॥ ५६॥

मनुने ज्येष्ठ कन्या आकूतिका रुचि नामक ऋषिसे, मध्यम कन्या देवहूतिका कर्दम नामक ऋषिसे और कनिष्ठ कन्या प्रसूतिका दक्ष ऋषिसे विवाह कर दिया। इन तीनों कन्याओंकी संतानोंसे समस्त जगत् भर गया॥ ५६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां तृतीयस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे सृष्टिवर्णनं नाम द्वादशोऽध्यायः॥

त्रयोदशोऽध्यायः

श्रीवराहदेव द्वारा जलमग्न पृथ्वीका उद्धार

श्रीशुक उवाच—

निशम्य वाचं वदतो मुनेः पुण्यतमां नृप।
भूयः पप्रच्छ कौरव्यो वासुदेवकथादृतः॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे राजन्! मैत्रेय मुनि द्वारा कथित इन सब अत्यन्त पवित्र कथाओंको सुनकर कुरुश्रेष्ठ विदुरजीने भगवान् वासुदेवकी कथाओंके प्रति आदर अभिव्यक्त करते हुए पुनः उनसे पूछा॥ १॥

श्रीविदुर उवाच—

स वै स्वायम्भुवः सम्राट् प्रियः पुत्रः स्वयम्भुवः।
प्रतिलभ्य प्रियां पत्नीं किं चकार ततो मुने॥ २॥

श्रीविदुरने कहा—हे मुने! ब्रह्माजीके प्रिय पुत्र सम्राट् स्वायम्भुव मनुने अपनी प्रियतमा पत्नीको प्राप्त करनेके बाद क्या किया?॥ २॥

चरितं तस्य राजर्षेरादिराजस्य सत्तम।
ब्रूहि मे श्रद्दधानाय विष्वक्सेनाश्रयो ह्यसौ॥ ३॥

हे साधुश्रेष्ठ! आदिराज राजर्षि स्वायम्भुव मनु वास्तवमें ही श्रीहरिके शरणागत थे। मुझमें उनके चरित्रको श्रवण करनेकी श्रद्धा है, अतः मेरे समक्ष उसका वर्णन कीजिये॥ ३॥

श्रुतस्य पुंसां सुचिरश्रमस्य
नन्वञ्जसा सूरिभिरीडितोऽर्थः।
तत्तद्गुणानुश्रवणं मुकुन्द-
पादारविन्दं हृदयेषु येषाम्॥ ४॥

हे मुने! जिनके हृदयमें भगवान मुकुन्दके चरणारविन्द विराजित हैं, उन भक्तोंके गुणानुवादको पुनः-पुनः श्रवणपूर्वक अनुकीर्त्तन करना

ही मनुष्योंके द्वारा बहुत समय तक किये गये वेद-अध्ययनरूप श्रमका मुख्य फल है—यही विद्वानोंका श्रेष्ठ मत है॥ ४॥

श्रीशुक उवाच—

इति ब्रुवाणं विदुरं विनीतं
सहस्रशीर्ष्णश्चरणोपधानम् ।
प्रहृष्टरोमा भगवत्कथायां
प्रणीयमानो मुनिरभ्यचष्ट॥ ५॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—भगवान् श्रीकृष्णने प्रसन्न होकर अपने चरणोंको जिन विदुरकी गोदमें रख दिया था। उन विदुरजीने विनीत होकर जब इस प्रकारसे कहा, तब भगवान्‌के गुणानुवर्णन करनेमें प्रेरित हुए मैत्रेय मुनि पुलकित होकर कहने लगे॥ ५॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

यदा स्वभार्यया सार्द्धं जातः स्वायम्भुवो मनुः।
प्राञ्जलिः प्रणतश्चेदं वेदगर्भमभाषत॥ ६॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! जब स्वायम्भुव मनु अपनी पत्नी शतरूपाके साथ उत्पन्न हुए, तब उन्होंने हाथ जोड़कर प्रणाम करते हुए ब्रह्माजीसे निवेदन किया—॥ ६॥

त्वमेकः सर्वभूतानां जन्मकृद्वृत्तिदः पिता।
अथापि नः प्रजानां ते शुश्रूषा केन वा भवेत्॥ ७॥

हे ब्रह्मन्! आप समस्त प्राणियोंके जन्म-दाता और प्रतिपालक पिता हैं। यद्यपि आपको किसी दूसरेकी अपेक्षा नहीं है, फिर भी आपकी सन्तान हम जिस प्रकारसे आपकी सेवा कर सकें, वह हमें बतलाइये॥ ७॥

तद्विधेहि नमस्तुभ्यं कर्मस्वीड्यात्मशक्तिषु।
यत् कृत्वेह यशो विष्वगमुत्र च भवेद्गतिः॥ ८॥

हे परमपूज्य! हम आपको नमस्कार करते हैं। हमारे सामर्थ्यके योग्य किस कार्यके द्वारा आपकी सेवा हो सकती है? जिस कार्यके

द्वारा इस लोकमें हमें यश प्राप्त हो तथा परलोकमें सद्गति प्राप्त हो सके, हमारे उस कर्त्तव्यको आप हमें बतलाइये॥ ८॥

श्रीब्रह्मोवाच—

प्रीतस्तुभ्यमहं तात स्वस्ति स्ताद्वां क्षितीश्वर।
यन्निर्व्यलीकेन हृदा शाधि मेत्यात्मनार्पितम्॥ ९॥

श्रीब्रह्माने कहा—हे तात! हे क्षितीश्वर (पृथ्वीपते)! तुमने निष्कपट भावसे 'मुझे शिक्षा दीजिये' कहकर जो आत्मसमर्पण किया है, इससे मैं तुम्हारे प्रति बहुत प्रसन्न हुआ हूँ। तुम दोनोंका कल्याण हो॥ ९॥

एतावत्यात्मजैर्वीर कार्या ह्यपचितिर्गुरौ।
शक्त्याप्रमत्तैर्गृह्येत सादरं गतमत्सरैः॥ १०॥

हे वीर! मत्सरता रहित और संयत चित्त पुत्र यथाशक्ति बड़े ही आग्रहके साथ पिताकी आज्ञाका पालन करें—यही पिताके प्रति पुत्रका सेवा कार्य है॥ १०॥

स त्वमस्यामपत्यानि सदृशान्यात्मनो गुणैः।
उत्पाद्य शास धर्मेण गां यज्ञैः पुरुषं यज॥ ११॥

तुम अपनी पत्नीसे अपने ही समान गुणशाली सन्तानोंको उत्पन्न करके धर्मके अनुसार पृथ्वीका पालन करो और यज्ञोंके द्वारा भगवान् यज्ञपुरुष श्रीहरिकी आराधना करो॥ ११॥

परं शुश्रूषणं मह्यं स्यात् प्रजारक्षणन्नृप।
भगवांस्ते प्रजाभर्तुर्हृषीकेशो नु तुष्यति॥ १२॥

हे राजन्! प्रजाके पालन द्वारा ही मेरी सेवा होगी। तुम्हें प्रजाका पालन करते देखकर भगवान् हृषीकेश भी तुम्हारे प्रति अत्यन्त प्रसन्न होंगे॥ १२॥

येषां न तुष्टो भगवान् यज्ञलिङ्गो जनार्दनः।
तेषां श्रमो ह्यपार्थाय यदात्मा नादृतः स्वयम्॥ १३॥

वत्स! यज्ञमूर्त्ति भगवान् जनार्दन जिनके प्रति प्रसन्न नहीं होते, उनका श्रम व्यर्थ ही होता है, क्योंकि भगवान् श्रीहरिके अनादर द्वारा

वे लोग स्वाभाविक रूपमें अपनी आत्माका स्वयं ही अनादर करते हैं॥ १३॥

श्रीमनुरुवाच—

आदेशेऽहं भगवतो वर्तेयामीवसूदन।
स्थानन्त्विहानुजानीहि प्रजानां मम च प्रभो॥ १४॥

श्रीमनुने कहा—हे भगवन्! हे पापनाशन पिताजी! मैं आपके आदेशका पालन करूँगा। हे प्रभो! आप मेरे और मेरी भावी प्रजाके रहनेके लिए स्थानका निर्देश कीजिये अथवा 'इस स्थानपर रहो'—यह आज्ञा प्रदान कीजिये॥ १४॥

यदोकः सर्वभूतानां मही मग्ना महाम्भसि।
अस्या उद्धरणे यत्नो देव देव्या विधीयताम्॥ १५॥

हे देव! समस्त प्राणियोंका वासस्थान पृथ्वी इस समय प्रलयके जलमें डूबी हुई है। अतः आप कृपापूर्वक उसके उद्धारके लिए यत्न कीजिये॥ १५॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

परमेष्ठी त्वपां मध्ये तथा सन्नामवेक्ष्य गाम्।
कथमेनां समुन्नेष्य इति दध्यौ धिया चिरम्॥ १६॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! जलमें डूबी हुई पृथ्वीको देखकर ब्रह्माजी बहुत समय तक सोचते रहे कि 'मैं किस प्रकारसे इसका उद्धार करूँ?॥'१६॥

पीतं मया जलं पूर्वं पृथिवी च निवेशिता।
तथापि किमिदं साद्य प्लाव्यते पुनरम्बुभिः॥ १७॥

मैंने पहलेसे ही समस्त जलको समाप्त (सुखाकर) पृथ्वीको संस्थापित किया था, तथापि इस समय यह पृथ्वी पुनः जलराशिके द्वारा किस कारणसे प्लावित हो रही है, यह मुझे समझ नहीं आ रहा है॥ १७॥

प्रजा देवासुरपितृमनुष्य पशुपक्षिणः।
सरीसृपान्नगान्नागान् भूतान्युच्चावचानि च॥ १८॥

सृजतो मे क्षितिर्वार्भिः प्लाव्यमाना रसां गता।
अथात्र किमनुष्ठेयमस्माभिः सर्गयोजितैः।
यस्याहं हृदयादासं स ईशो विदधातु मे॥ १९॥

जिस समय मैं प्रजा, देवता, असुर, पितर, मनुष्य, पशु, पक्षी, सरीसृप, पर्वत, महासर्प एवं छोटे-बड़े प्राणियोंकी सृष्टि कर रहा था, उस समय पृथ्वी जलमें डूबकर रसातलमें चली गयी। इस समय तो मैं भगवान्के आदेशसे सृष्टिमें नियुक्त हूँ, अतः अब मुझे पृथ्वीके उद्धारके लिए क्या करना चाहिये? मैं जिन भगवान्के सङ्कल्पमात्रसे ही उनके नाभिपथसे उत्पन्न हुआ हूँ, वे परमेश्वर विष्णु ही इस समय मेरे कर्त्तव्यको पूरा करें॥ १८-१९॥

इत्यभिध्यायतो नासाविवरात् सहसानघ।
वराहतोको निरगादङ्गुष्ठपरिमाणकः॥ २०॥

हे निष्पाप विदुर! जिस समय ब्रह्मा इस प्रकार विचार कर रहे थे, उसी समय उनके नासाछिद्रसे सहसा अंगुष्ठके बराबर आकारका एक सूक्ष्म अर्थात् लघुकाय वराह (शूकर) निकला॥ २०॥

तस्याभिपश्यतः खस्थः क्षणेन किल भारत।
गजमात्रः प्रववृधे तदद्भुतमभून्महत्॥ २१॥

हे भारत! आकाशमें स्थित वह वराह ब्रह्माजीके देखते-ही-देखते क्षणभरमें ही आश्चर्यजनक रूपमें हाथीके आकारका हो गया॥ २१॥

मरीचिप्रमुखैर्विप्रैः कुमारैर्मनुना सह।
दृष्ट्वा तच्छौकरं रूपं तर्कयामास चित्रधा॥ २२॥

इस विशाल शूकर रूपको देखकर ब्रह्माजी मरीचि जैसे प्रमुख विप्रों, सनकादि ऋषियों और स्वायम्भुव मनुके साथ नाना प्रकारसे तर्क-वितर्क करने लगे॥ २२॥

किमेतच्छूकरव्याजं सत्त्वं दिव्यमवस्थितम्।
अहो बताश्चर्यमिदं नासाया मे विनिःसृतम्॥ २३॥

ब्रह्माजी विचार करने लगे—क्या यह शुद्धसत्त्वमय परव्योमका कोई देवता है, जो छद्मवेशमें शूकरके रूपमें आविर्भूत हुआ है? अहो! कैसा आश्चर्य है कि मेरे नासाछिद्रसे ही यह अपरूप मूर्त्ति प्रकट हुई है?॥ २३॥

दृष्टोऽङ्गुष्ठशिरोमात्रः क्षणाद्गण्डशिलासमः।
अपि स्विद्भगवानेष यज्ञो मे खेदयन्मनः॥ २४॥

पहले तो यह वराह अँगूठेके समान दिखायी दे रहा था, किन्तु क्षणमात्रमें ही विशाल शिलाके समान हो गया। क्या कहीं यज्ञपुरुष श्रीभगवान् तो अपने स्वरूपको छिपाकर हम लोगोंके मनको मोहित नहीं कर रहे हैं?॥ २४॥

इति मीमांसतस्तस्य ब्रह्मणः सह सूनुभिः।
भगवान् यज्ञपुरुषो जगर्जागेन्द्रसन्निभः॥ २५॥

जब ब्रह्माजी अपने पुत्रोंके साथ इस प्रकार विचार-विमर्श कर रहे थे, उसी समय यज्ञपुरुष भगवान् विष्णु पर्वतराजके समान होकर गर्जना करने लगे॥ २५॥

ब्रह्माणं हर्षयामास हरिस्तांश्च द्विजोत्तमान्।
स्वगर्जितेन ककुभः प्रतिस्वनयता विभुः॥ २६॥

सर्वव्यापी श्रीहरि अपनी प्रचण्ड गर्जनाके द्वारा समस्त दिशाओंको प्रतिध्वनित करते हुए ब्रह्मा एवं श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको उत्साहित और आनन्दित करने लगे॥ २६॥

निशम्य ते घर्घरितं स्वखेद-
क्षयिष्णु मायामयशूकरस्य।
जनस्तपःसत्यनिवासिनस्ते
त्रिभिः पवित्रैर्मुनयोऽगृणन् स्म॥ २७॥

जब ब्रह्मा और उनके पुत्रोंने तथा महर्लोक, जनलोक, तपलोक और सत्यलोकमें रहनेवाले मुनियोंने वराहरूपी भगवान्‌की गर्जन-ध्वनिको सुना, तो उन सबके दुःख विनष्ट हो गये और वे पवित्र वेदत्रयीमें उक्त मन्त्रोंके द्वारा श्रीवराहदेवकी स्तुति करने लगे॥ २७॥

तेषां सतां वेदवितानमूर्ति-
र्ब्रह्मावधार्यात्मगुणानुवादम्।
विनद्य भूयो विबुधोदयाय
गजेन्द्रलीलो जलमाविवेश॥ २८॥

जब वेदमन्त्रों द्वारा स्तुत वराहमूर्त्ति भगवान् श्रीविष्णुने उन मुनियोंके द्वारा उच्चारित वेदवाक्योंको सुनकर यह निश्चयकर लिया कि यह मेरा ही गुणानुवाद है, तब उन्होंने एक बार फिर गर्जना की और गजेन्द्रके समान लीला करते हुए देवताओंके मङ्गलके लिए जलमें प्रविष्ट हो गये॥ २८॥

उत्क्षिप्तवालः खचरः कठोरः
सटा विधुन्वन् खररोमशत्वक्।
खुराहताभ्रः सितदंष्ट्र ईक्षा-
ज्योतिर्बभासे भगवान् महीध्रः॥ २९॥

पृथ्वीके उद्धारके लिए जलमें प्रवेश करनेसे पहले वराहरूपी भगवान्‌ने अपनी पूँछको उठाया और बड़े वेगसे आकाशमें उछले तथा अपने कन्धेपर स्थित कड़े बालोंको फटकारकर खुरोंके द्वारा मेघोंको छिन्न-भिन्न करने लगे। उनकी त्वचापर तीक्ष्ण और कड़े बाल थे, उनकी दाढ़ें सफेद वर्णकी थीं और वे अपनी दर्शनरूप महाज्योतिसे युक्त होकर शोभा पा रहे थे॥ २९॥

घ्राणेन पृथ्व्याः पदवीं विजिघ्रन्
क्रोडापदेशः स्वयमध्वराङ्गः।
करालदंष्ट्रोऽप्यकरालदृग्भ्या-
मुद्वीक्ष्य विप्रान् गृणतोऽविशत् कम्॥ ३०॥

वे भगवान् स्वयं यज्ञेश्वर पुरुष होकर भी वराहरूपके छलसे पशुओंके समान नाकसे सूँघते हुए पृथ्वी जिस स्थानमें निमज्जित थी, उस स्थानको खोजने लगे। यद्यपि भयङ्कर दाढ़ों आदिके द्वारा वे बड़े क्रूर और विकराल प्रतीत हो रहे थे, तथापि प्रशान्त एवं सौम्य दृष्टिसे ऊपरकी ओर अवस्थित अपनी स्तुति करनेवाले मरीचि आदि विप्रोंको देखते हुए वे जलके अन्दर प्रविष्ट हो गये॥ ३०॥

य वज्रकूटाङ्गनिपातवेग-
विशीर्णकुक्षिः स्तनयन्नुदन्वान्।
उत्सृष्टदीर्घोर्मिभुजैरिवार्त-
श्चुक्रोश यज्ञेश्वर पाहि मेति॥ ३१॥

जैसे ही भगवान् वराहका वज्रमय पर्वतके समान कठोर शरीर समुद्रमें गिरा, उसके वेगसे समुद्रका पेट विदीर्ण हो गया। उस समय ऐसा प्रतीत हो रहा था कि मानो समुद्र अपने प्राणोंके नाशके भयसे उत्ताल तरङ्गरूप अपनी लम्बी भुजाओंको फैलाकर दुखसे व्याकुल व्यक्तिकी भाँति उच्चकण्ठसे पुकार रहा हो—'हे यज्ञेश्वर! मेरी रक्षा करो!'॥ ३१॥

खुरैः क्षुरप्रैर्दरयंस्तदाप
उत्पारपारं त्रिपरू रसायाम्।
ददर्श गां तत्र सुषुप्सुरग्रे
यां जीवधानीं स्वयमभ्यधत्त॥ ३२॥

तब उन यज्ञमूर्त्ति भगवान् वराहदेवने अपने अर्द्धचन्द्रकी आकृतिवाले तथा बाणोंके समान तीक्ष्ण खुरोंके द्वारा पारापारसे रहित समुद्रको उसकी सतह तक विदीर्ण कर दिया। तत्पश्चात् उन्होंने रसातलमें समस्त जीवोंकी आधारभूता पृथ्वीदेवीको उस रूपमें देखा, जिस रूपमें प्रलयके समय शयन करनेके इच्छुक भगवान्ने उसे अपने उदरमें धारण कर लिया था॥ ३२॥

स्वदंष्ट्रयोद्धृत्य महीं निमग्नां
स उत्थितः संरुरुचे रसायाः।

तत्रापि दैत्यं गदयापतन्तं
सुनाभसन्दीपिततीव्रमन्युः ॥ ३३ ॥
जघान रुन्धानमसह्यविक्रमं
सलीलयेभं मृगराडिवाम्भसि।
तद्रक्तपङ्काङ्कितगण्डतुण्डो
यथा गजेन्द्रो जगतीं विभिन्दन्॥ ३४ ॥

जिस समय भगवान् श्रीवराहदेव रसातलमें स्थित पृथ्वीको अपने दाँतोंसे उठाकर रसातलसे उपर उठे, उस समय वे अत्यन्त शोभित हो रहे थे। पृथ्वीको जलसे बाहर निकालनेके समय ही महापराक्रमशाली हिरण्याक्ष दैत्य जलके भीतर ही गदा लेकर प्रतिरोध करनेके लिए भगवान्के मार्गमें आकर उपस्थित हुआ। इससे चक्रपाणि (सुदर्शनधारी) वराहरूपी भगवान् श्रीविष्णु अत्यन्त क्रोधित हो उठे और उन्होंने अपने चक्रसे हिरण्याक्ष दैत्यका खेल ही खेलमें इस प्रकार वध कर डाला, जिस प्रकार पशुराज सिंह अनायास ही हाथीका वध कर डालता है। दैत्यके रक्त-पंकसे सन जानेके कारण भगवान्का कपोल एवं मुखमण्डल इस प्रकार लाल हो गये, जिस प्रकार त्रिकुट पर्वतके प्रान्तदेश (मिट्टीके टीले) का विदारण करते समय गजराजके तुण्ड (सूण्ड) एवं गण्ड (कनपटी) गैरिक धातुके द्वारा लालिमाको धारण करते हैं॥ ३३-३४॥

तमालनीलं सितदन्तकोट्या
क्ष्मामुत्क्षिपन्तं गजलीलयाङ्ग।
प्रज्ञाय बद्धाञ्जलयोऽनुवाकै-
र्विरिञ्चिमुख्या उपतस्थुरीशम्॥ ३५ ॥

हे अङ्ग! जिस प्रकार गजराज अपने दाँतोंपर कमल-पुष्प धारण कर लेता है, उसी प्रकार भगवान् श्रीवराहदेवने भी हाथीके समान क्रीड़ा करते हुए अपने सफेद दाँतोंके अग्रभागमें पृथ्वीको उठा लिया और जलसे बाहर निकल आये। यह देखकर ब्रह्मा, मरीचि आदि ऋषिगण भलीभाँति समझ गये कि ये तमालके समान श्यामवर्णवाले

भगवान् विष्णु ही हैं। अतः वे सब हाथ जोड़कर वैदिक-सूक्तके समान वचनों द्वारा भगवान् श्रीवराहदेवकी स्तुति करने लगे॥ ३५॥

श्रीऋषय ऊचुः—

जितं जितं तेऽजित यज्ञभावन
त्रयीं तनुं स्वां परिधुन्वते नमः।
यद्रोमगर्तेषु निलिल्युरब्धय-
स्तस्मै नमः कारणशूकराय ते॥ ३६॥

ऋषियोंने कहा—हे अजित! आप जययुक्त हुए हैं। आपकी जय हो, जय हो। आप अपने वेदमय श्रीविग्रहसे सर्वत्र विचरण कर रहे हैं, आपको नमस्कार है। हे समस्त यज्ञोंके पालक! आपके रोमकूपोंमें समस्त सागर विलीनसे रहते हैं। हे समस्त जगत्के कारण! पृथ्वीके उद्धारके लिए आपने शूकररूप धारण किया है, आपको बार-बार नमस्कार है॥ ३६॥

रूपं तवैतन्ननु दुष्कृतात्मनां
दुर्दर्शनं देव यदध्वरात्मकम्।
छन्दांसि यस्य त्वचि बर्हि रोम-
स्वाज्यं दृशि त्वङ्घ्रिषु चातुर्होत्रम्॥ ३७॥

हे देव! आपकी यज्ञात्मक श्रीमूर्त्तिके दर्शन दुराचारियोंके लिए दुष्कर हैं। आपकी चर्ममें गायत्री आदि छन्द, रोमावलीमें कुश, नेत्रोंमें घृत एवं चारों चरणकमलोंमें होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्माके चार प्रकारके कर्म विराजमान हैं॥ ३७॥

स्रुक् तुण्ड आसीत् स्रुव ईश नासयो-
रिडोदरे चमसाः कर्णरन्ध्रे।
प्राशित्रमास्ये ग्रसने ग्रहास्तु ते
यच्चर्वणं ते भगवन्नग्निहोत्रम्॥ ३८॥

हे परमेश्वर! आपकी थूथनी (मुखके अग्रभाग) में स्रुक् ('जुहू' नामक यज्ञपात्र), आपके दोनों नासिका छिद्रोंमें स्रुवा नामक यज्ञपात्र, उदरमें इडा अर्थात् यज्ञीय हविभक्षण पात्र, कर्णरन्ध्रोंमें चमस नामक

सोमपात्र तथा आपके मुखमें प्राशित्र नामक ब्रह्मभागपात्र प्रकाशित हो रहा है तथा मुखके अन्तर्वर्ती कण्ठ-छिद्रमें ग्रह नामक सोमपात्र है। हे भगवन्! आपका चर्वण (चबाना) ही हमारा अग्निहोत्र है॥ ३८॥

दीक्षानुजन्मोपसदः शिरोधरं
त्वं प्रायणीयोदयनीयदंष्ट्रः।
जिह्वा प्रवर्ग्यस्तव शीर्षकं क्रतोः
सत्यावसथ्यं चितयोऽसवो हि ते॥ ३९॥

आपका पुनः-पुनः प्रकाश अर्थात् अवतार लेना ही दीक्षा अर्थात् दीक्षणीय यज्ञ है, आपका ग्रीवादेश उपसद अर्थात् तीन यज्ञ विशेष हैं, आपकी दोनों दाढ़ें प्रायणीया अर्थात् दीक्षाके बादके यज्ञ एवं उदयनीया अर्थात् समाप्तिके यज्ञ हैं। जिह्वा प्रवर्ग्य अर्थात् प्रत्येक उपसदके पूर्व किया जानेवाला महावीर नामक यज्ञ-विशेष है। सत्य अर्थात् होम रहित अग्नि और आवसथ्य अर्थात् औपासनाग्नि—ये दोनों आपका सिर हैं तथा चिति अर्थात् यज्ञके लिए इष्टका चयन आपके पञ्चप्राण हैं॥ ३९॥

सोमस्तु रेतः सवनान्यवस्थितिः
संस्थाविभेदास्तव देव धातवः।
सत्राणि सर्वाणि शरीरसन्धय-
स्त्वं सर्वयज्ञः क्रतुरिष्टिबन्धनः॥ ४०॥

हे देव! आपका वीर्य सोमयज्ञ है, आपका आसन अथवा आपकी बाल्यादि अवस्थाएँ ही प्रातःकालीन सवनादि कर्म हैं। अग्निष्टोम, अत्याग्निष्टोम, उक्थ, षोड़शी, वाजपेय, अतिरात्र और आप्तोर्याम—ये यज्ञोंके सात भेद आपकी त्वचा, माँस, स्नायु, अस्थि, मज्जा, मेद और रुधिर रूप सप्त धातु हैं। 'द्वादशाह' आदि समग्र यज्ञ ही आपके शरीरकी सन्धियाँ हैं। आप सर्वयज्ञमय हैं। यज्ञके अङ्गस्वरूप आपकी जो भक्ति है, वही आपका बन्धन है। इसी भक्तिके द्वारा ही आप अपने भक्तोंसे बँध जाते हैं॥ ४०॥

नमो नमस्तेऽखिलमन्त्रदेवता-
द्रव्याय सर्वक्रतवे क्रियात्मने।

वैराग्यभक्त्यात्मजयानुभावित-
ज्ञानाय विद्यागुरवे नमो नमः॥ ४१॥

समस्त मन्त्र, देवता, द्रव्य, सर्वयज्ञ और यज्ञादि क्रियारूपी आपको पुनः-पुनः नमस्कार है। वैराग्य अर्थात् कर्मफलकी इच्छासे रहित जो भक्ति है, उसके द्वारा चित्तकी स्थिरता और ईश्वर विषयक ज्ञान प्राप्त होता है, वही ज्ञान आपका स्वरूप है। अतएव सबको ज्ञान प्रदान करनेवाले गुरुस्वरूप आपको बार-बार नमस्कार है॥ ४१॥

दंष्ट्राग्रकोट्या भगवंस्त्वया धृता
विराजते भूधर भूः सभूधरा।
यथा वनान्निःसरतो दता धृता
मतङ्गजेन्द्रस्य सपत्रपद्मिनी॥ ४२॥

हे पृथ्वीधर! हे भगवन्! आपकी दाढ़ोंके अग्रभागपर धारण की हुई पर्वत आदिके साथ अलंकृत यह पृथ्वी उसी प्रकार सुशोभित हो रही है, जिस प्रकार जलसे बाहर निकले हुए मत्त गजराजके दाँतोंपर पत्रयुक्त कमलिनी सुशोभित होती है॥ ४२॥

त्रयीमयं रूपमिदञ्च शौकरं
भूमण्डलेनाथ दता धृतेन ते।
चकास्ति शृङ्गोढघनेन भूयसा
कुलाचलेन्द्रस्य यथैव विभ्रमः॥ ४३॥

हे भगवन्! जिस प्रकार महापर्वतके शिखरोंपर मेघ छा जानेसे वे अत्यधिक शोभाको प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार दाँतोंपर भूमण्डलको धारणकर आपका यह वेदमय शूकररूप अत्यधिक सुशोभित हो रहा है॥ ४३॥

संस्थापयैनां जगतां सतस्थुषां
लोकाय पत्नीमसि मातरं पिता।
विधेम चास्यै नमसा सह त्वया
यस्यां स्वतेजोऽग्निमिवारणावधाः॥ ४४॥

हे भगवन्! स्थावर-जङ्गम (चराचर) सभी जीवोंके सुखपूर्वक वासके लिए आप अपनी पत्नी जगज्जननी इन पृथ्वीदेवीको जलपर संस्थापित कीजिये। आप जगत्‌के पिता हैं और ये धरणी माता हैं, अतः हम आप दोनोंको नमस्कार करते हैं। आपने इस धरणीमें अपनी शक्तिको इस प्रकार निहित कर रखा है, जिस प्रकार याज्ञिक लोग काष्ठमें अग्नि स्थापित करते हैं॥ ४४॥

कः श्रद्दधीतान्यतमस्तव प्रभो
रसां गताया भुव उद्विबर्हणम्।
न विस्मयोऽसौ त्वयि विश्वविस्मये
यो माययेदं ससृजेऽतिविस्मयम्॥ ४५॥

हे प्रभो! आपके अतिरिक्त क्या कोई रसातलमें गयी हुई पृथ्वीके उद्धारके लिए साहस भी कर सकता है? परन्तु यह किञ्चित् भी विस्मयका विषय नहीं है, क्योंकि आप समस्त आश्चर्योंके आधारस्वरूप हैं। आपने ही मायाके प्रति ईक्षणके द्वारा अत्यन्त आश्चर्यजनक इस विश्वकी सृष्टि की है॥ ४५॥

विधुन्वता वेदमयं निजं वपु-
र्जनस्तपःसत्यनिवासिनो वयम्।
सटाशिखोद्धूतशिवाम्बुबिन्दुभि-
र्विमृज्यमाना भृशमीश पाविताः॥ ४६॥

हे परमेश्वर! आप अपने वेदमय शूकर विग्रहको हिलाकर अपनी गरदनके बालोंके अग्रभागसे झरते हुए पवित्र जलकणोंके द्वारा जन, तप तथा सत्यलोकके निवासी हम मुनिजनोंको अभिषिक्त करके परम पवित्र कर रहे हैं॥ ४६॥

स वै बत भ्रष्टमतिस्तवैषते
यः कर्मणां पारमपारकर्मणः।
यद्योगमायागुणयोगमोहितं
विश्वं समस्तं भगवन् विधेहि शम्॥ ४७॥

आपकी लीला दुर्गम और अपार है। अहो! जो व्यक्ति आपकी लीलाका पार पानेकी स्पृहा करता है, वह अत्यन्त मूढ़ है। हे भगवन्! आपकी मायाके गुणोंके संयोगरूपी अविद्या द्वारा मोहित इस समस्त जगत्का आप कल्याण करें॥ ४७॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

इत्युपस्थीयमानोऽसौ मुनिभिर्ब्रह्मवादिभिः।
सलिले स्वखुराक्रान्त उपाधत्तावितावनिम्॥ ४८॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! ब्रह्मवादी मुनियोंके द्वारा इस प्रकारसे स्तुति करनेपर जगत्की रक्षा करनेवाले भगवान् श्रीवराहदेवने अपने खुरोंसे जलको आक्रान्त (स्तम्भित) कर दिया और उसके ऊपर पृथ्वीको स्थापित कर दिया॥ ४८॥

स इत्थं भगवानुर्वीं विष्वक्सेनः प्रजापतिः।
रसाया लीलयोन्नीतामप्सुन्यस्य ययौ हरिः॥ ४९॥

इस प्रकार प्रजाओंके रक्षक विष्वक्सेन प्रजापति भगवान् श्रीहरि रसातलसे लीलापूर्वक उद्धार की गयी पृथ्वीको जलके ऊपर स्थापित करके अन्तर्हित हो गये॥ ४९॥

य एवमेतां हरिमेधसो हरेः
कथां सुभद्रां कथनीयमायिनः।
शृण्वीत भक्त्या श्रवयेत वोशतीं
जनार्दनोऽस्याशु हृदि प्रसीदति॥ ५०॥

भक्तोंके संसारका नाश करनेवाली अर्थात् अहंता-ममताका छेदन करनेवाली भगवान्की कथा ही कीर्त्तनका विषय है। जो व्यक्ति स्वरूपशक्तिसे युक्त भगवान्की सुमङ्गलमयी कमनीय कथाओंको भक्तिपूर्वक सुनते अथवा सुनाते हैं, भगवान् जनार्दन उनपर प्रसन्न होकर अतिशीघ्र ही उनके हृदयमें आविर्भूत हो जाते हैं॥ ५०॥

तस्मिन् प्रसन्ने सकलाशिषां प्रभौ
किं दुर्लभं ताभिरलं लवात्मभिः।

अनन्यदृष्ट्या भजतां गुहाशयः
स्वयं विधत्ते स्वगतिं परः पराम्॥ ५१॥

समस्त पुरुषार्थोंको प्रदान करनेवाले भगवान्‌के प्रसन्न होनेपर और क्या दुष्प्राप्य रहता है? उस समय अन्यान्य समस्त प्रकारके कल्याण तुच्छ और अनावश्यक प्रतीत होते हैं। जो लोग ऐकान्तिक भक्तिके द्वारा श्रीभगवान्‌का भजन करते हैं, सर्वान्तर्यामी परमपुरुष भगवान् उन भक्तोंके हृदयके शुद्धभावको जानकर स्वयं ही उन्हें अपने परमपदकी प्राप्ति करा देते हैं॥ ५१॥

को नाम लोके पुरुषार्थसारवित्
पुराकथानां भगवत्कथासुधाम्।
आपीय कर्णाञ्जलिभिर्भवापहा-
महो विरज्येत विना नरेतरम्॥ ५२॥

अहो! इस जगत्‌में एकमात्र पशुके अतिरिक्त पुरुषार्थके सार (भगवत्-प्रेम) को जाननेवाला ऐसा कौन व्यक्ति होगा जो प्राचीन वृतान्तोंमेंसे जन्म-मृत्युरूप संसारका विनाश करनेवाले भगवान्‌के कथामृतका कर्णाञ्जलिके द्वारा पान करनेसे विरत हो जाये?॥ ५२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां तृतीयस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे पृथिव्युद्धरणं नाम त्रयोदशोऽध्यायः॥

चतुर्दशोऽध्यायः

सन्ध्याकालमें दितिका गर्भधारण

श्रीशुक उवाच—

निशम्य कौशारविणोपवर्णितां
हरेः कथां कारणशूकरात्मनः।
पुनः स पप्रच्छ तमुद्यताञ्जलि-
र्न चातितृप्तो विदुरो धृतव्रतः॥ १॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! मैत्रेय ऋषिके द्वारा कथित वराहरूपी भगवान्‌की कथाको सुनकर भी भक्तिव्रतधारी विदुरजी पूर्ण रूपसे तृप्त नहीं हुए, अतः उन्होंने हाथ जोड़कर पुनः मैत्रेय ऋषिसे पूछा॥ १॥

श्रीविदुर उवाच—

तेनैव तु मुनिश्रेष्ठ हरिणा यज्ञमूर्तिना।
आदिदैत्यो हिरण्याक्षो हत इत्यनुशुश्रुम॥ २॥

श्रीविदुरने कहा—हे मुनिश्रेष्ठ! हमने आपके मुखसे यह सुना कि पृथ्वीका उद्धार करनेवाले यज्ञमूर्त्ति श्रीहरिने आदि-दैत्य हिण्याक्षका वध कर डाला था॥ २॥

तस्य चोद्धरतः क्षौर्णीं स्वदंष्ट्राग्रेण लीलया।
दैत्यराजस्य च ब्रह्मन् कस्माद्धेतोरभून्मृधः॥ ३॥

हे ब्रह्मन्! पृथ्वीका उद्धार करनेके समय जब भगवान् लीलापूर्वक अपने दाँतोंके अग्रभागमें पृथ्वीदेवीको रखकर उसे रसातलसे निकाल रहे थे, उस समय श्रीवराहदेवका दैत्यराज हिरण्याक्षके साथ किस कारणसे युद्ध हुआ था?॥ ३॥

श्रद्दधानाय भक्ताय ब्रूहि तज्जन्मविस्तरम्।
ऋषे न तृप्यति मनः परं कौतूहलं हि मे॥ ४॥

हे मुने! भगवान् श्रीहरिकी चरित-कथाओंको सुनकर मेरा मन तृप्त नहीं हो रहा है, अपितु उन्हें सुननेके लिए मेरे मनमें बड़ा कौतूहल हो रहा है। मैं श्रद्धायुक्त और विष्णु सेवाका प्रयासी हूँ, अतः मुझे उस दैत्यके जन्मकी कथा भी विस्तारपूर्वक सुनाइये॥ ४॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

साधु वीर त्वया पृष्टमवतारकथां हरेः।
यत् त्वं पृच्छसि मर्त्यानां मृत्युपाशविशातनीम्॥ ५॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे वीर! तुमने अति उत्तम प्रश्न किया है, क्योंकि इस प्रश्नका सम्बन्ध मरणशीलजनोंके मृत्यु-भयका नाश करनेवाली भगवान्‌की अवतार-कथासे है॥ ५॥

ययोत्तानपदः पुत्रो मुनिना गीतयार्भकः।
मृत्योः कृत्वैव मूर्ध्न्यङ्घ्रिमारुरोह हरेः पदम्॥ ६॥

श्रीनारदमुनिके द्वारा सुनायी गयी ऐसी हरिकथाओंके प्रभावसे ही राजर्षि उत्तानपादके पुत्र बालक ध्रुवने बाल्यकालमें ही मृत्युके सिरपर पैर रखकर भगवान्‌के परमपद विष्णुलोकमें गमन किया था॥ ६॥

अथात्रापीतिहासोऽयं श्रुतो मे वर्णितः पुरा।
ब्रह्मणा देवदेवेन देवानामनुपृच्छताम्॥ ७॥

पूर्वकालमें भी एक बार देवताओंने देवाधिपति ब्रह्माजीसे श्रीभगवान् और हिरण्याक्षके युद्धका वृत्तान्त पूछा था। तब श्रीब्रह्माने उनके समक्ष जिस इतिहासका वर्णन किया था, उसे मैंने भी सुना था॥ ७॥

दितिर्दाक्षायणी क्षत्तर्मारीचं कश्यपं पतिम्।
अपत्यकामा चकमे सन्ध्यायां हृच्छयार्दिता॥ ८॥

इष्ट्वाग्निजिह्वं पयसा पुरुषं यजुषां पतिम्।
निम्लोचत्यर्क आसीनमग्न्यागारे समाहितम्॥ ९॥

हे विदुर! दक्षकी कन्या दिति सन्तान-प्राप्तिकी इच्छासे कामवासनासे पीड़ित होकर सन्ध्याके समयमें ही अपने पति मरीचिके पुत्र कश्यपसे रमणकी अभिलाषा करने लगी। जिस समय सूर्य अस्त हो रहा था,

उस समय कश्यप मुनि अग्निहोत्रशालामें यज्ञाहुतिके द्वारा यज्ञपति अग्निजिह्व भगवान् श्रीविष्णुकी पूजा समाप्त करके समाधिस्थ थे॥ ८-९॥

श्रीदितिरुवाच—

एष मां त्वत्कृते विद्वन् काम आत्तशरासनः।
दुनोति दीनां विक्रम्य रम्भामिव मतङ्गजः॥ १०॥

दितिने उनकी समाधिको भङ्ग करनेके लिए उच्च स्वरसे कहा—हे विद्वन्! जिस प्रकार मदमत्त हाथी अपना पराक्रम दिखलाते हुए केलेके वृक्षोंको नष्ट कर डालता है, उसी प्रकार कामदेव अपने बाणके द्वारा मुझ अबलाको पीड़ितकर मुझे आपके सङ्गके लिए व्याकुल कर रहा है॥ १०॥

तद्भवान् दह्यमानायां सपत्नीनां समृद्धिभिः।
प्रजावतीनां भद्रं ते मय्यायुङ्क्तामनुग्रहम्॥ ११॥

मैं पुत्र रहित होनेके कारण दुःखी हूँ तथा अपनी पुत्रवती सौतोंकी सुख-समृद्धिको देखकर ईर्ष्यासे जल रही हूँ। अतः आप पुत्रकी कामनावाली मुझपर अनुग्रह कीजिये। आपका मङ्गल हो॥ ११॥

भर्तर्याप्तोरुमानानां लोकानाविशते यशः।
पतिर्भवद्विधो यासां प्रजया ननु जायते॥ १२॥

जिनका पति आपके समान गुणवान हो और वही गुणवान पति ही जिसके गर्भसे गुणवान पुत्रके रूपमें उत्पन्न हो, वे सब पत्नियाँ पतिके द्वारा बहुत सम्मानित होती हैं। ऐसी ही नारियोंका यश जगत्में व्याप्त हो जाता है॥ १२॥

पुरा पिता नो भगवान् दक्षो दुहितृवत्सलः।
कं वृणीत वरं वत्सा इत्यपृच्छत नः पृथक्॥ १३॥

हमारे पिता प्रजापति दक्षका हम पुत्रियोंपर बड़ा ही स्नेह था। एकबार उन्होंने हम सब बहनोंको पृथक्-पृथक् बुलाकर पूछा था—हे पुत्रियो! तुमलोग किसे पतिके रूपमें वरण करना चाहती हो?॥ १३॥

स विदित्वात्मजानां नो भावं सन्तानभावनः।
त्रयोदशाददात्तासां यास्ते शीलमनुव्रताः॥ १४॥

हमारे पिता अपनी सन्तानोंका बड़ा ध्यान रखते थे। उन्होंने हम सब कन्याओंकी अभिलाषाको जानकर हम तेरह बहनोंका ही आपके साथ विवाह कर दिया है। हम सब सम्पूर्ण रूपसे आपके प्रति श्रद्धा रखनेवाली हैं॥ १४॥

अथ मे कुरु कल्याणं कामं कमललोचन।
आर्तोपसर्पणं भूमन्नमोघं हि महीयसि॥ १५॥

हे कमललोचन! हे मङ्गलमूर्त्ते! मेरी अभिलाषा पूर्ण कीजिये। हे महत्तम! महापुरुषोंके समक्ष दुःखीजनोंका निवेदन विफल नहीं होता॥ १५॥

इति तां वीर मारीचः कृपणां बहुभाषिणीम्।
प्रत्याहानुनयन् वाचा प्रवृद्धानङ्गकश्मलाम्॥ १६॥

हे विदुर! दिति कामदेवके वेगसे अत्यन्त व्याकुल और पीड़ित हो रही थी। उसने बड़े ही दीनभावसे बहुत-सी बातें बनाते हुए जब मरीचि-तनय कश्यप मुनिसे इस प्रकारकी अभिलाषा प्रकट की, तब कश्यपने अनुनयपूर्ण वाक्योंसे उसे समझाते हुए कहा॥ १६॥

एष तेऽहं विधास्यामि प्रियं भीरु यदिच्छसि।
तस्याः कामं न कः कुर्यात्सिद्धिस्त्रैवर्गिकी यतः॥ १७॥

हे भीरु! तुम जिसकी अभिलाषा कर रही हो, मैं तुम्हारे उस प्रियकार्यको अवश्य ही पूर्ण करूँगा। जिस पत्नीसे धर्म, अर्थ एवं काम—इस त्रिवर्गकी सिद्धि होती हो, उसकी कामनाको कौन पूर्ण नहीं करेगा?॥ १७॥

सर्वाश्रमानुपादाय स्वाश्रमेण कलत्रवान्।
व्यसनार्णवमत्येति जलयानैरिवार्णवम्॥ १८॥

जिस प्रकार नौकाके द्वारा मनुष्य महासमुद्रको पार कर लेता है, उसी प्रकार गृहस्थ पुरुष अपनी स्त्रीके साथ आश्रमोचित-धर्मके पालन

द्वारा दूसरे समस्त आश्रमोंके प्रति अन्न आदि दानरूप उपकार करके दुःख–सागरको पार करनेमें समर्थ हो जाता है॥ १८॥

यामाहुरात्मनो ह्यर्द्धं श्रेयस्कामस्य मानिनि।
यस्यां स्वधुरमध्यस्य पुमांश्चरति विज्वरः॥ १९॥

हे मानिनि! यज्ञादि कर्मोंमें स्त्री–पुरुषके समान अधिकारके कारण स्त्रीको कल्याणकामी पतिका 'अर्द्धांग' कहा जाता है। पुरुष अपने दृष्ट और अदृष्ट कर्मोंका भार उस अर्द्धांगपर सौंपकर निश्चिन्त होकर विचरण कर सकता है॥ १९॥

यामाश्रित्येन्द्रियारातीन् दुर्जयानितराश्रमैः।
वयं जयेम हेलाभिर्दस्यून् दुर्गपतिर्यथा॥ २०॥

अधिक क्या कहा जाये! जिस प्रकार किसी दुर्गका स्वामी (सेनापति) अनायास ही लूटपाट मचानेवाले दस्युओंको जीत लेता है, उसी प्रकार हम भी विवाहिता पत्नीका आश्रय करके उन शत्रुके समान इन्द्रियोंको जीत सकते हैं, जो अन्यान्य आश्रमवासियोंके लिए दुर्जेय हैं॥ २०॥

न वयं प्रभवस्तां त्वामनुकर्तुं गृहेश्वरि।
अप्यायुषा वा कार्त्स्न्येन ये चान्ये गुणगृध्नवः॥ २१॥

हे गृहेश्वरि! हम अपनी समस्त आयुके द्वारा अथवा जन्मान्तरमें भी तुम्हारे उपकारोंका बदला चुकाकर तुम्हारे समान नहीं हो सकते, यहाँ तक कि पत्नीके गुणोंको ग्रहण करनेवाले व्यक्तियोंके लिए भी यह सम्भव नहीं है॥ २१॥

अथापि काममेतं ते प्रजात्यै करवाण्यलम्।
यथा मां नातिरोचन्ति मुहूर्तं प्रतिपालय॥ २२॥

यद्यपि तुम्हारा प्रत्युपकार करके तुम्हारे समान होना सम्भव नहीं है, तथापि मैं पुत्रोत्पत्तिके लिए तुम्हारी इच्छाको पूर्ण करूँगा, किन्तु लोग मेरी निन्दा न करें, इसलिए तुम क्षणकालके लिए ठहर जाओ॥ २२॥

एषा घोरतमा वेला घोराणां घोरदर्शना।
चरन्ति यस्यां भूतानि भूतेशानुचराणि ह॥ २३॥

यह सन्ध्याकाल अति घोरतम समय है, क्योंकि इस समयके अधिपति भयङ्कर भूत-प्रेतादि है। इस समय भूतपति रुद्रके अनुचर भूत-प्रेत-पिशाच इधर-उधर विचरण कर रहे हैं॥ २३॥

एतस्यां साध्वि सन्ध्यायां भगवान् भूतभावनः।
परितो भूतपर्षद्भिर्वृषेणाटति भूतराट्॥ २४॥

हे पतिव्रते! इस सन्ध्याकालमें भूतोंके पालक भूतपति भगवान् रुद्र भूत-प्रेत आदि अनुचरोंके द्वारा परिवेष्टित होकर बैलपर चढ़कर भ्रमण किया करते हैं॥ २४॥

श्मशानचक्रानिलधूलिधूम्र-
विकीर्णविद्योतजटाकलापः ।
भस्मावगुण्ठामलरुक्मदेहो
देवस्त्रिभिः पश्यति देवरस्ते॥ २५॥

जिनके जटा-जूट श्मशान भूमिसे उठे हुए चक्राकार बवण्डरकी धूलिसे धूसरित होकर धूम्रवर्णकी द्युतिसे देदीप्यमान हैं, जिनकी निर्मल स्वर्ण कान्तिसे युक्त गौरवर्णकी देह भस्मसे आच्छादित है, वे तुम्हारे देवर महादेव—चन्द्र, सूर्य और अग्निरूप अपने तीन नयनोंसे सबकुछ देख रहे हैं॥ २५॥

न यस्य लोके स्वजनः परो वा
नात्यादृतो नोत कश्चिद्विगर्ह्यः।
वयं व्रतैर्यच्चरणापविद्धा-
माशास्महेऽजां बत भुक्तभोगाम्॥ २६॥

इस लोकमें न तो कोई उनका अपना है और न ही कोई पराया है, अथवा न तो कोई उनके लिए निन्दनीय है और न ही कोई आदरणीय। उन्होंने चरणों द्वारा जिस वस्तुको प्रसादी-निर्माल्यकी भाँति दूरमें फेंक दिया है, हमलोग नाना प्रकारके व्रतोंका पालनकर

उनकी उस भोगावशिष्ट मायामयी विभूतिकी ही महाप्रसादके रूपमें आकांक्षा करते हैं॥ २६॥

यस्यानवद्याचरितं मनीषिणो
गृणन्त्यविद्यापटलं बिभित्सवः।
निरस्तसाम्यातिशयोऽपि यत् स्वयं
पिशाचचर्यामचरद्गतिः सताम्॥ २७॥

जो मनीषिगण अविद्याका विनाश करना चाहते हैं, वे विषयोंकी आसक्तिसे शून्य उनके आचरणको बड़े आदरके साथ ग्रहण करते हैं। साधुओंकी गतिस्वरूप भगवान् शिवसे बढ़कर तो क्या, उनके समान भी कोई नहीं है, तथापि वे स्वयं पिशाचके समान आचरण करते हैं॥ २७॥

हसन्ति यस्याचरितं हि दुर्भगाः
स्वात्मन् रतस्याविदुषः समीहितम्।
यैर्वस्त्रमाल्याभरणानुलेपनैः
श्वभोजनं स्वात्मतयोपलालितम्॥ २८॥

जो अविवेकी पुरुष कुत्तोंके द्वारा भक्ष्य इस शरीरमें ही आत्मबुद्धि करके वस्त्र, माल्य, आभरण और चन्दनके अनुलेपन आदिके द्वारा इसका लालन-पालन करते हैं, वे भाग्यहीन आत्माराम अर्थात् श्रीकृष्णमें अनुरक्त उन महादेवके लोकशिक्षारूप अभिप्रायको न समझकर उनके आचरणका उपहास करते हैं॥ २८॥

ब्रह्मादयो यत्कृतसेतुपाला
यत्कारणं विश्वमिदञ्च माया।
आज्ञाकरी यस्य पिशाचचर्या
अहो विभूम्नश्चरितं विडम्बनम्॥ २९॥

हम तो क्या, ब्रह्मा आदि देवता भी जिनके द्वारा निर्दिष्ट अपनी-अपनी धर्म-मर्यादाका पालन करते हैं, जो विश्वके कारण हैं तथा यह माया भी जिनकी आज्ञाके अधीन है, अहो! उनका भी

पिशाचके समान आचरण!—उन परमेश्वरका यह अद्भुत चरित्र तर्कके अगोचर है॥ २९॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

सैवं संविदिते भर्त्रा मन्मथोन्मथितेन्द्रिया।
जग्राह वासो ब्रह्मर्षेर्वृषलीव गतत्रपा॥ ३०॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—अपने पतिके द्वारा इस प्रकार समझाये जानेपर भी कामपीड़ासे उन्मत्त दितिने वेश्याके समान निर्लज्ज होकर ब्रह्मर्षि कश्यपके वस्त्रोंको पकड़ लिया॥ ३०॥

स विदित्वाथ भार्यायास्तं निर्बन्धं विकर्मणि।
नत्वा दिष्टाय रहसि तयाथोपविवेश ह॥ ३१॥

तब मुनिवर कश्यपने देखा कि उनकी पत्नीकी उस निषिद्ध कर्ममें ही दृढ़ मति है, अतएव उन्होंने दैवरूप ईश्वरको प्रणाम किया और पत्नीके साथ निर्जनमें समागम किया॥ ३१॥

अथोपस्पृश्य सलिलं प्राणानायम्य वाग्यतः।
ध्यायन् जजाप विरजं ब्रह्म ज्योतिः सनातनम्॥ ३२॥

इसके पश्चात् कश्यप मुनि जलमें स्नान और प्राणायाम आदि समापनपूर्वक वाणीका संयम करके 'भर्ग' शब्दवाच्य ज्योतिर्मय सनातन ब्रह्मका ध्यान करते हुए गायत्रीका जप करने लगे॥ ३२॥

दितिस्तु व्रीडिता तेन कर्मावद्येन भारत।
उपसङ्गम्य विप्रर्षिमधोमुख्यभ्यभाषत॥ ३३॥

हे भारत! दिति भी अपने निन्दनीय कर्मके कारण अत्यन्त लज्जित होकर विप्रर्षि कश्यपके निकट गयी और मुख नीचा करके कहने लगी॥ ३३॥

श्रीदितिरुवाच—

न मे गर्भमिमं ब्रह्मन् भूतानामृषभोऽवधीत्।
रुद्रः पतिर्हि भूतानां यस्याकरवमंहसम्॥ ३४॥

दितिने कहा—हे ब्रह्मन्! भूतपति रुद्रके प्रति मैंने अपराध किया है, इसलिए कहीं वे भूतश्रेष्ठ मेरे गर्भको नष्ट न कर दें॥ ३४॥

नमो रुद्राय महते देवायोग्राय मीढुषे।
शिवाय न्यस्तदण्डाय धृतदण्डाय मन्यवे॥ ३५॥

रुत् अर्थात् दुःखोंको विनष्ट करनेके कारण जो रुद्र हैं, जिनका कोई लंघन नहीं कर सकता, जो सकाम व्यक्तियोंके कर्मोंके फल वितरण करनेवाले और निष्काम व्यक्तियोंके लिए 'शिव'—परममङ्गल-स्वरूप हैं। वस्तुतः शासनरूपी दण्ड त्याग करके भी जो दुष्टोंके प्रति दण्डधर तथा संहारकालमें क्रोधस्वरूप हैं, वे महादेव मेरे अपराधको क्षमा करें। उन महादेवको नमस्कार है॥ ३५॥

स नः प्रसीदतां भामो भगवानुर्वनुग्रहः।
व्याधस्याप्यनुकम्प्यानां स्त्रीणां देवः सतीपतिः॥ ३६॥

भगवान् रुद्रदेव मेरे बहनोई हैं अर्थात् मेरी बहन सतीके पति हैं, अतः स्त्रियोंके स्वभावको अच्छी तरहसे जानते हैं। निर्दय व्याध भी दयाकी पात्र स्त्रियोंके प्रति कृपा करते हैं, अतएव वे रुद्रदेव मेरे प्रति प्रसन्न हों॥ ३६॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

स्वसर्गस्याशिषं लोक्यामाशासानां प्रवेपतीम्।
निवृत्तसन्ध्यानियमो भार्यामाह प्रजापतिः॥ ३७॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—प्रजापति कश्यपने जब देखा कि सन्ध्याकालीन नियमको भङ्ग करनेके कारण दितिका शरीर भयसे काँप रहा है तथा वह अपनी सन्तानके लिए इसलोक और परलोकमें मङ्गलकी कामना कर रही है, तब वे दितिसे कहने लगे॥ ३७॥

श्रीकश्यप उवाच—

अप्रायत्यादात्मनस्ते दोषान्मौहूर्तिकादुत।
मन्निदेशातिचारेण देवानाञ्चातिहेलनात्॥ ३८॥

भविष्यतस्तवाभद्रावभद्रे जाठराधमौ।
लोकान् सपालांस्त्रींश्चण्डि मुहुराक्रन्दयिष्यतः॥ ३९॥

श्रीकश्यप मुनिने कहा—हे अभद्रे! तुम्हारा चित्त अपवित्र था और वह सन्ध्याका समय भी दोषपूर्ण था। इस प्रकार तुमने मेरी आज्ञाका उल्लंघन किया है और रुद्र आदि देवताओंकी भी अवज्ञा की है, इसलिए तुम्हारे गर्भसे धर्म एवं मर्यादाको भङ्ग करनेवाले अमङ्गलस्वरूप दो कुलाङ्गार पुत्र उत्पन्न होंगे। हे कोपने (चण्डि)! वे भगवान्‌के विद्वेषी होंगे और दिक्पालोंके साथ त्रिभुवन-वासियोंको बार-बार पीड़ित करेंगे॥ ३८-३९॥

प्राणिनां हन्यमानानां दीनानामकृतागसाम्।
स्त्रीणां निगृह्यमाणानां कोपितेषु महात्मसु॥ ४०॥
तदा विश्वेश्वरः क्रुद्धो भगवाँल्लोकभावनः।
हनिष्यत्यवतीर्यासौ यथाद्रीन् शतपर्वधृक्॥ ४१॥

जब उनके द्वारा निरपराध और दीन प्राणी मारे जाने लगेंगे, स्त्रियोंपर अत्याचार होने लगेगा और इसके फलस्वरूप महात्मागण क्रोधित होना आरम्भ करेंगे, तब सम्पूर्ण लोकोंकी रक्षा करनेवाले भगवान् विश्वेश्वर श्रीविष्णु कुपित होकर वराह और नृसिंह अवतार धारण करेंगे और इन्द्र जिस प्रकार पर्वतोंको विदीर्ण कर डालता है, उसी प्रकार वे तुम्हारे दोनों पुत्रोंका वध कर डालेंगे॥ ४०-४१॥

श्रीदितिरुवाच—

वधं भगवता साक्षात् सुनाभोदारबाहुना।
आशासे पुत्रयोर्मह्यं मा क्रुद्धाद्ब्राह्मणात् प्रभो॥ ४२॥

दितिने कहा—हे स्वामिन्! मेरी यही प्रार्थना है कि सुदर्शनचक्रधारी स्वयं भगवान्‌के हाथों ही मेरे दोनों पुत्रोंका विनाश हो, किन्तु ब्राह्मणोंके क्रोधरूप शापसे वे विनष्ट न हों॥ ४२॥

न ब्रह्मदण्डदग्धस्य न भूतभयदस्य च।
नारकाश्चानुगृह्णन्ति यां यां योनिमसौ गतः॥ ४३॥

जो व्यक्ति ब्राह्मणोंके शापसे मारे जाते हैं और जो प्राणियोंको भय देनेवाले होते हैं, नारकीजन भी उनपर कृपा नहीं करते। वे जिन-

जिन योनियोंको प्राप्त होते हैं, उन समस्त योनियोंमें स्थित प्राणी भी उनके प्रति अनुग्रह नहीं करते॥ ४३॥

श्रीकश्यप उवाच—

कृतशोकानुतापेन सद्यः प्रत्यवमर्शनात्।
भगवत्युरुमानाच्च भवे मय्यपि चादरात्॥ ४४॥

पुत्रस्यैव च पुत्राणां भवितैकः सतां मतः।
गास्यन्ति यद्यशः शुद्धं भगवद्यशसा समम्॥ ४५॥

श्रीकश्यप मुनिने कहा—अपने किये हुए अपराधके कारण तुम्हें शोक और पश्चाताप हुआ है तथा शीघ्र ही उचित-अनुचितका ज्ञान भी हो गया है। तुममें भगवान् श्रीहरि और उनके भक्त रुद्रके प्रति भक्ति तथा मेरे प्रति आदर है। अतः इन पाँच कारणोंसे तुम्हारे पुत्रके पुत्रोंमेंसे एक ऐसा होगा, जिसका साधुपुरुष भी सम्मान करेंगे। उसके पवित्र यशका गान भी भगवान्के समान ही होगा॥ ४४-४५॥

योगैर्हेमेव दुर्वर्णं भावयिष्यन्ति साधवः।
निर्वैरादिभिरात्मानं यच्छीलमनुवर्तितुम्॥ ४६॥

जिस प्रकार खोटे सोनेको अग्निमें बार-बार तपाकर शुद्ध किया जाता है, उसी प्रकार साधु भी तुम्हारे इस पौत्रके जैसा स्वभाव प्राप्त करनेके लिए वैर-भावसे रहित होनेके उपायोंके द्वारा अपने-अपने चित्तको शुद्ध करेंगे॥ ४६॥

यत्प्रसादादिदं विश्वं प्रसीदति यदात्मकम्।
स स्वदृग्भगवान् यस्य तोष्यतेऽनन्यया दृशा॥ ४७॥

जिन भगवान्के अनुग्रहसे उनका स्वरूपभूत यह विश्व आनन्दित होता है, आत्मसाक्षी वे भगवान् भी तुम्हारे उस पौत्र प्रह्लादकी अनन्याभक्तिसे सन्तुष्ट हो जायेंगे॥ ४७॥

स वै महाभागवतो महात्मा
महानुभावो महतां महिष्ठः।

प्रवृद्धभक्त्या ह्यनुभाविताशये
निवेश्य वैकुण्ठमिमं विहास्यति॥ ४८॥

तुम्हारा पौत्र महाभागवत प्रह्लाद महात्मा, महानुभव और महत्-जनोंमें भी अत्यन्त महान होगा। वह तीव्रभक्तिसे अपने चित्तको शुद्धकर उसे भगवान् श्रीहरिमें स्थापित करके देहाभिमानका परित्याग कर देगा॥ ४८॥

अलम्पटः शीलधरो गुणाकरो
हृष्टः परर्द्ध्या व्यथितो दुःखितेषु।
अभूतशत्रुर्जगतः शोकहर्ता
नैदाघिकं तापमिवोडुराजः॥ ४९॥

तुम्हारा पौत्र प्रह्लाद विषयोंमें अनासक्त, सत्स्वभावयुक्त, धैर्यादि गुणोंका समुद्र, दूसरोंकी समृद्धिमें सुखी एवं दूसरोंके दुःखमें दुःखी तथा अजातशत्रु होगा। जिस प्रकार चन्द्रमा ग्रीष्मकालीन तापको हर लेता है, उसी प्रकार प्रह्लाद भी जगत्के शोकका हरण कर लेगा॥ ४९॥

अन्तर्बहिश्चामलमब्जनेत्रं
स्वपूरुषेच्छानुगृहीतरूपम्।
पौत्रस्तव श्रीललनाललामं
द्रष्टा स्फुरत्कुण्डलमण्डिताननम्॥ ५०॥

तुम्हारा वह पौत्र उन श्रीभगवान्को सर्वदा अन्दर एवं बाहरमें दर्शन करेगा जो समस्त हेयगुणोंसे रहित, कमलनयन, भक्तोंकी इच्छाके अनुसार अप्राकृत मङ्गलमय विग्रह धारण करनेवाले, लक्ष्मीरूपा ललनाके भूषण-स्वरूप तथा झिलमिलाते कुण्डलों द्वारा सुशोभित मुखमण्डलसे युक्त हैं॥ ५०॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

श्रुत्वा भागवतं पौत्रममोदत दितिर्भृशम्।
पुत्रयोश्च वधं कृष्णाद्विदित्वासीन्महामनाः॥ ५१॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—दितिने जब यह सुना कि उसका एक पौत्र महाभागवत होगा, तब वह अत्यधिक आनन्दित हो उठी तथा श्रीविष्णुके द्वारा ही उसके दोनों पुत्रोंका विनाश होगा, यह जानकर उसका चित्त उत्साहसे प्रफुल्लित हो गया॥ ५१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां तृतीयस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे दितिगर्भाधानं नाम चतुर्दशोऽध्यायः॥

पञ्चदशोऽध्यायः

वैकुण्ठका वर्णन तथा वहाँके द्वारपाल जय और विजयको सनकादिका शाप

श्रीमैत्रेय उवाच—

प्राजापत्यं हि तत्तेजः परतेजोहनं दितिः।
दधार वर्षाणि शतं शङ्कमाना सुरार्दनात्॥ १॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—विदुर! प्रजापति कश्यपका शक्तिशाली वीर्य निश्चय ही देवताओंको पीड़ा देनेवाला होगा, इसलिए देवता लोग उसे नष्ट कर सकते हैं—इस भयसे दितिका मन शङ्कित हो उठा और वह उस गर्भको सौ वर्षों तक धारण किये रही॥ १॥

लोके तेनाहतालोके लोकपाला हतौजसः।
न्यवेदयन् विश्वसृजे ध्वान्तव्यतिकरं दिशाम्॥ २॥

दितिके गर्भके तेजसे जगतमें चन्द्र, सूर्य आदिका प्रकाश अवरुद्ध हो गया तथा इन्द्र आदि लोकपाल प्रभावहीन होकर समस्त दिशाओंमें छाये हुए उस अन्धकारके विषयमें विश्वविधाता ब्रह्माजीसे पूछने लगे॥ २॥

श्रीदेवा ऊचुः—

तम एतद्विभो वेत्थ संविग्ना यद्वयं भृशम्।
न ह्यव्यक्तं भगवतः कालेनास्पृष्टवर्त्मनः॥ ३॥

देवताओंने कहा—हे प्रभो! आप सर्वज्ञ हैं। अतः हम जिससे अत्यन्त भयभीत हो रहे हैं, उस अन्धकारका कारण आप निश्चय ही जानते हैं, क्योंकि काल आपकी ज्ञान-शक्तिमें बाधा देनेमें असमर्थ है॥ ३॥

देवदेव जगद्धातर्लोकनाथशिखामणे।
परेषामपरेषां त्वं भूतानामसि भाववित्॥ ४॥

हे देवाधिदेव! हे जगत्का उद्धार करनेवाले! हे इन्द्रादि लोकपालोंके चूड़ामणि! आप श्रेष्ठ और निकृष्ट समस्त प्राणियोंके अभिप्रायको जाननेवाले हैं, अतः किस अभिप्रायसे दितिका गर्भ वृद्धिको प्राप्त हो रहा है, इससे भी आप अवगत हैं॥ ४॥

नमो विज्ञानवीर्याय माययेदमुपेयुषे।
गृहीतगुणभेदाय नमस्ते व्यक्तयोनये॥ ५॥

हे भगवन्! विज्ञान अर्थात् चित्-शक्ति ही आपका बल है। आपने किसी अचिन्त्यशक्तिके द्वारा ही इस ब्रह्माके शरीरको प्राप्त किया है एवं सृष्टि आदिके लिए रजोगुणको ग्रहण किया है। आप ही दृश्यमान जगत्के एकमात्र कारण हैं अथवा प्रत्यक्ष आदि किसी भी प्रमाणके द्वारा आपकी उत्पत्तिके विषयमें नहीं जाना जाता। आपको पुनः-पुनः नमस्कार है॥ ५॥

ये त्वनन्येन भावेन भावयन्त्यात्मभावनम्।
आत्मनि प्रोतभुवनं परं सदसदात्मकम्॥ ६॥
तेषां सुपक्कयोगानां जितश्वासेन्द्रियात्मनाम्।
लब्धयुष्मत्प्रसादानां न कुतश्चित् पराभवः॥ ७॥

आप जीवोंके सृष्टिकर्त्ता हैं तथा आपने अपनेमें समस्त जगत् ग्रथित कर रखा है अर्थात् आप चेतन-अचेतन प्रपञ्चके कारण हैं। आप कार्य-कारण स्वरूप होकर भी वस्तुतः इन दोनोंसे अतीत हैं। जो लोग निष्काम भक्तियोगके द्वारा आपका ध्यान करते हैं, वे सब परिपक्व भक्तियोगी आनुषङ्गिक रूपसे प्राणादि वायु, इन्द्रिय और मनको जीत लेते हैं तथा आपकी कृपाको प्राप्तकर कृतार्थ हो जाते हैं। आपकी कृपाको प्राप्त करनेवाले व्यक्तिकी कहीं भी पराजय नहीं होती॥ ६-७॥

यस्य वाचा प्रजाः सर्वा गावस्तन्त्र्येव यन्त्रिताः।
हरन्ति बलिमायत्तास्तस्मै मुख्याय ते नमः॥ ८॥

जिस प्रकार बैल रस्सीके द्वारा बँधे रहते हैं, उसी प्रकार समस्त प्रजा आपकी वेदवाणीसे नियन्त्रित होकर अपने-अपने अधिकारके

अनुसार कर्मोंका अनुष्ठान करती हुई आपको पूजा-उपहार समर्पित करती है। इस प्रकारसे सबके मुख्य नियामक या प्राण-स्वरूप आपको नमस्कार है॥ ८॥

स त्वं विधत्स्व शं भूमन् तमसा लुप्तकर्मणाम्।
अदभ्रदयया दृष्ट्या आपन्नानर्हसीक्षितुम्॥ ९॥

हे सर्वव्यापी प्रभो! इस समय सर्वव्यापी अन्धकारवशतः दिन-रातका विभाग स्पष्ट नहीं होनेके कारण जिनके यज्ञ आदि कर्म लुप्त हो गये हैं, उन समस्त लोगोंका आप कल्याण कीजिये। आप अपनी कृपामयी दृष्टिसे विपत्तिमें पड़े हुए हमलोगोंका अनुग्रहपूर्वक अवलोकन कीजिये॥ ९॥

एष देव दितेर्गर्भ ओजः काश्यपमर्पितम्।
दिशस्तिमिरयन् सर्वा एधतेऽग्निरिवैधसि॥ १०॥

हे देव! कश्यप मुनिके द्वारा स्थापित किये गये वीर्यसे उत्पन्न दितिका यह गर्भ समस्त दिशाओंको अन्धकारसे आच्छादित करता हुआ क्रमशः उसी प्रकार बढ़ रहा है, जिस प्रकार सूखी लकड़ियोंमें अग्नि बढ़ती रहती है॥ १०॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

स प्रहस्य महाबाहो भगवाञ्छब्दगोचरः।
प्रत्याचष्टात्मभूर्देवान् प्रीणन् रुचिरया गिरा॥ ११॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे महाबाहो विदुर! विधाता ब्रह्माने देवताओंकी प्रार्थनाको सुना और फिर इस गर्भको दितिकी कुचेष्टा द्वारा उत्पन्न जानकर मुसकराते हुए बड़ी प्रीतिके साथ सुमधुर वचनोंसे देवताओंसे कहने लगे॥ ११॥

श्रीब्रह्मोवाच—

मानसा मे सुता युष्मत्पूर्वजाः सनकादयः।
चेरुर्विहायसा लोकाँल्लोकेषु विगतस्पृहाः॥ १२॥

श्रीब्रह्माने कहा—इस विपत्तिका कारणरूप प्राचीन कालकी एक अद्भुत कथा सुनो। तुम्हारे पूर्वज भ्राता और मेरे मानसपुत्र सनकादि

ऋषि संसारसे विरक्त होकर आकाशमार्गसे विविध लोकोंमें विचरण किया करते थे॥ १२॥

त एकदा भगवतो वैकुण्ठस्यामलात्मनः।
ययुर्वैकुण्ठनिलयं सर्वलोकनमस्कृतम्॥ १३॥

एकबार वे चारों कुमार विचरण करते हुए समस्त लोकोंके शिरोमणि स्वरूप उन भगवान् श्रीनारायणके वैकुण्ठ नामक धाममें पहुँच गये, जिन भगवान्‌की सेवा करनेसे जीवोंका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है॥ १३॥

वसन्ति यत्र पुरुषाः सर्वे वैकुण्ठमूर्तयः।
येऽनिमित्तनिमित्तेन धर्मेणाराधयन् हरिम्॥ १४॥

जो भी पुरुष उस वैकुण्ठधाममें वास करते हैं, उन सभीका रूप श्रीहरिके समान ही हैं। उन सबने भगवान्‌के चरणकमलोंकी प्राप्तिके लिए पूर्वकालमें निष्काम धर्मके द्वारा श्रीहरिकी आराधना की थी, जिसके प्रभावसे अब वे श्रीहरिकी सेवा करते हुए वहाँ विराजमान हैं॥ १४॥

यत्र चाद्यः पुमानास्ते भगवाञ्छब्दगोचरः।
सत्त्वं विष्टभ्य विरजं स्वानां नो मृडयन् वृषः॥ १५॥

उस धाममें एकमात्र वेदान्तके द्वारा ही जानने योग्य धर्ममूर्त्ति आदिपुरुष भगवान् विष्णु शुद्धसत्त्वमयी श्रीमूर्त्तिको धारणकर अपने भक्तोंको आनन्द प्रदान करते हुए विराजमान रहते हैं॥ १५॥

यत्र नैःश्रेयसं नाम वनं कामदुघैर्द्रुमैः।
सर्वर्तुश्रीभिर्विभ्राजत् कैवल्यमिव मूर्तिमत्॥ १६॥

उस धाममें मूर्त्तिमान शुद्धभक्तिसुखस्वरूप 'निःश्रेयस' नामक एक वन है। वह वन छहों ऋतुओंके पुष्पादिसे युक्त तथा सभीको अभीष्ट फल प्रदान करनेवाले वृक्षोंसे सुशोभित रहता है॥ १६॥

वैमानिकाः सललनाश्चरितानि शश्वद्-
गायन्ति यत्र शमलक्षपणानि भर्तुः।

अन्तर्जलेऽनुविकसन्मधुमाधवीनां
गन्धेन खण्डितधियोऽप्यनिलं क्षिपन्तः॥ १७॥

वैकुण्ठधामवासी अपनी स्त्रियोंके साथ विमानमें विचरणकर सभी जीवोंकी समस्त प्रकारकी मलिनताओंको नष्ट करनेवाली प्रभुकी पवित्र लीलाओंका गुणगान करते रहते हैं। वे निरन्तर भगवान्‌के गुणानुकीर्त्तन करनेमें इतने निमग्न रहते हैं कि जब सरोवरोंके तटपर खिली हुई मकरन्दयुक्त माधवी लता अथवा मकरन्द विस्तारकारी वसन्तकालके पुष्पोंकी सुमधुर गन्ध उनके चित्तको अपनी ओर आकर्षित करती है, उस समय वे इस गन्धको वहन करनेवाली वायुकी ही उपेक्षा कर देते हैं॥ १७॥

पारावतान्यभृत-सारसचक्रवाक-
दात्यूहहंसशुक-तित्तिरिबर्हिणां यः।
कोलाहलो विरमतेऽचिरमात्रमुच्चै-
र्भृङ्गाधिपे हरिकथामिव गायमाने॥ १८॥

जिस समय भगवान्‌की वनमालाका अधिकारी कोई भ्रमरराज भगवान्‌के पार्षदोंके द्वारा कीर्त्तित हरिकथाकी भाँति ऊँचे स्वरसे गुञ्जार करते हुए मानो हरिकथाका गान करता है, उस समय वहाँ उपस्थित कपोत, कोकिल, सारस, चकवे, पपीहे, हंस, तोते, तीतर, मोर आदि पक्षीकुल अपना कोलाहल शीघ्र ही बन्द कर देते हैं—मानो वे उस श्रीहरिके कथाके श्रवणानन्दमें बेसुध हो गये हों॥ १८॥

मन्दारकुन्दकुरबोत्पलचम्पकार्ण-
पुन्नागनागबकुलाम्बुजपारिजाताः।
गन्धेऽर्चिते तुलसिकाभरणेन तस्या
यस्मिंस्तपः सुमनसो बहु मानयन्ति॥ १९॥

तुलसी ही श्रीनारायणका आभूषण-स्वरूप हैं। वैकुण्ठधाममें तुलसीरूप भूषणसे विभूषित श्रीनारायण तुलसीकी सुगन्धका बहुत अधिक आदर करते हैं—यह देखकर मन्दार, पारिजात, कुन्द, कुरवक और रात्रिमें विकसित होनेवाले कमल (उत्पल), चम्पक, अर्ण, पुन्नाग,

नागकेसर, बकुल (मौलसिरी); तथा दिनमें विकसित होनेवाले पद्म आदि पुष्प स्वयं अति सुगन्धसे युक्त होनेपर भी तुलसीकी तपस्याको बहुत अधिक मानते हैं॥ १९॥

तत् सङ्कुलं हरिपदानतिमात्रदृष्टै-
वैदूर्यमारकतहेममयैर्विमानैः ।
येषां बृहत्कटितटाः स्मितशोभिमुख्यः।
कृष्णात्मनां न रज आदधुरुत्स्मयाद्यैः॥ २०॥

वह वैकुण्ठधाम भगवान् श्रीहरिके युगल चरणकमलोंमें प्रणति अर्थात् शरणागतिमूलक भजनसे युक्त भक्तों द्वारा प्राप्त होता है, किन्तु ज्ञान-कर्मके द्वारा नहीं। वह धाम वैदुर्य एवं मरकत मणियोंसे जड़ित स्वर्णमय विमानोंसे परिपूर्ण रहता है। जिन भक्तोंकी आत्मा श्रीकृष्णमें अर्पित है अर्थात् जो भजनानन्दमें निमग्न रहनेके कारण सांसारिक कामनाओंसे रहित हैं, उनके चित्तमें बड़े नितम्बोंवाली तथा मुस्कानसे युक्त मुखमण्डलवाली ललनाएँ परिहास आदिके द्वारा किञ्चित्मात्र भी काम विकार उत्पन्न नहीं कर पाती। ऐसे भक्तोंके द्वारा ही वैकुण्ठ व्याप्त है॥ २०॥

श्रीरूपिणी क्वणयती चरणारविन्दं
लीलाम्बुजेन हरिसद्मनि मुक्तदोषा।
संलक्ष्यते स्फटिककुड्य उपेतहेम्नि
सम्मार्जतीव यदनुग्रहणेऽन्ययत्नः॥ २१॥

जिन परम सौन्दर्यशालिनी लक्ष्मीदेवीके अनुग्रहको प्राप्त करनेके लिए ब्रह्मादि देवता भी यत्न करते रहते हैं, वे मनोहर मूर्त्तिधारिणी साक्षात् लक्ष्मीदेवी अपनी चञ्चलताको त्याग करके उस वैकुण्ठधाममें वास करती हैं। बीच-बीचमें जिस समय वे अपने चरणकमलोंके नूपुरोंकी झंकार करती हुई हाथमें धारण किये हुए लीलाकमलको घुमाती हैं, उस समय श्रीहरिके स्वर्ण-शोभित स्फटिकमय भवनकी स्वच्छ भित्तिमें प्रतिबिम्बित होकर वे ऐसी प्रतीत होती हैं, मानो हाथमें झाड़ू लिए मार्जन-सेवामें नियुक्त हों॥ २१॥

वापीषु विद्रुमतटास्वमलामृताप्सु
प्रेष्यान्विता निजवने तुलसीभिरीशम्।
अभ्यर्चती स्वलकमुन्नसमीक्ष्य वक्त्र-
मुच्छेषितं भगवतेत्यमताङ्ग यच्छ्रीः॥ २२॥

हे देवताओ! उस वैकुण्ठधाममें जब श्रीलक्ष्मीदेवी अपनी दासियोंके साथ निर्मल अमृतके समान जलसे परिपूर्ण सरोवरके पद्मरागमणिसे जड़ित घाटपर स्थित अपने 'लक्ष्मी वन' में तुलसी-दलोंके द्वारा भगवान् श्रीनारायणका भलीभाँति पूजन करती हैं, उस समय अपनी अलकावलियोंसे युक्त और उन्नत नासिकासे सुशोभित मुखकमलको सरोवरके स्वच्छ जलमें प्रतिबिम्बत देखकर 'यह श्रीभगवान्‌के द्वारा चुम्बित है'—इस भावनासे स्वयंको अत्यन्त सौभाग्यशालिनी मानती हैं॥ २२॥

यन्न व्रजन्त्यघभिदो रचनानुवादा-
च्छृण्वन्ति येऽन्यविषयाः कुकथा मतिघ्नीः।
यास्तु श्रुता हतभगैर्नृभिरात्तसारा-
स्तांस्तान् क्षिपन्त्यशरणेषु तमःसु हन्त॥ २३॥

जो लोग पापोंका हरण करनेवाले भगवान्‌की सृष्टि आदि लीला-कथाओंको सम्पूर्ण रूपसे छोड़कर बुद्धिको नष्ट करनेवाली धर्म-अर्थ-कामादि रूप निन्दित कथाओंको सुनते हैं, वे कभी भी उस वैकुण्ठधाममें नहीं पहुँच सकते हैं। हाय! भगवान्‌से इतर ये सब असत् कथाएँ अभागे लोगोंके द्वारा ही सुनने योग्य हैं, क्योंकि वैसी कथाएँ श्रोताओंके सम्पूर्ण पुण्योंका हरण करके उन्हें आश्रयहीन घोर नरकोंमें डाल देती हैं॥ २३॥

येऽभ्यर्थितामपि च नो नृगतिं प्रपन्ना
ज्ञानञ्च तत्त्वविषयं सहधर्मं यत्र।
नाराधनं भगवतो वितरन्त्यमुष्य
सम्मोहिता विततया बत मायया ते॥ २४॥

अहो! जो मनुष्य-जन्म हम ब्रह्मादि देवताओंके लिए भी प्रार्थनीय वस्तु है तथा जो भगवत्-धर्मके साथ-साथ भगवत्-तत्त्वज्ञानकी

प्राप्तिके लिए भी उपयोगी है, वैसे महिमाशाली मनुष्य-जन्मको प्राप्त करके भी जो समस्त प्रकारके धर्म और ज्ञानके मूल भगवान् श्रीहरिका भजन नहीं करते, वे उन भगवान्‌की सर्वत्र फैली हुई मायासे ही विमोहित हैं॥ २४॥

यच्च व्रजन्त्यनिमिषामृषभानुवृत्त्या
दूरेयमा ह्युपरि नः स्पृहणीयशीलाः।
भर्तुर्मिथः सुयशसः कथनानुराग-
वैक्लव्यबाष्पकलया पुलकीकृताङ्गा॥ २५॥

श्रीहरि समस्त देवताओंमें श्रेष्ठ हैं। जो मनुष्य उनकी लीला-कथाओंके श्रवण, कीर्त्तनादिरूप सेवाके प्रभावसे यमके भयसे निवृत्त हुए हैं, जो कारुण्यादि गुणोंसे युक्त हैं तथा श्रीहरिके सुमङ्गलमय नाम-रूप-गुण-लीलाके परस्पर वर्णनमें अनुरागके कारण जिनके नेत्रोंसे अश्रु प्रवाहित होने लगते हैं तथा समस्त अङ्ग पुलकित हो जाते हैं, ऐसे भक्तजन ही हमारे (सत्यलोकोंसे भी) ऊपर स्थित श्रेष्ठ वैकुण्ठधाममें गमन करते हैं॥ २५॥

तद्विश्वगुर्वधिकृतं भुवनैकवन्द्यं
दिव्यं विचित्रविबुधाग्र्यविमानशोचिः।
आपुः परां मुदमपूर्वमुपेत्य योग-
मायाबलेन मुनयस्तदथो विकुण्ठम्॥ २६॥

उस समय सनकादि मुनि योगमायाके प्रभावसे शोक-मोहादि कुण्ठा-धर्मसे रहित परमदिव्य एवं अद्भुत वैकुण्ठधाममें पहुँचकर परमानन्दित हुए। वह वैकुण्ठधाम विश्वगुरु स्वयं श्रीहरिका निवास स्थान होनेके कारण समस्त भुवनोंके द्वारा एकमात्र वन्दनीय और अलौकिक है तथा देवताओंके नाना प्रकारके विमानोंसे सुशोभित रहता है॥ २६॥

तस्मिन्नतीत्य मुनयः षडसज्जमानाः।
कक्षाः समानवयसावथ सप्तमायाम्।

देवावचक्षत गृहीतगदौ परार्द्ध्य-
केयूरकुण्डलकिरीटविटङ्कवेषौ ॥ २७॥

सनकादि मुनि वैकुण्ठधाममें पहुँचकर छह द्वारोंको पार कर गये। भगवान्‌के दर्शनके लिए उनकी ऐसी उत्कण्ठा थी कि वैकुण्ठकी अन्य अद्भुत दर्शनीय-वस्तुओंकी ओर देखे बिना ही वे क्रमशः सातवें द्वारपर उपस्थित हुए। वहाँ उन्होंने एक ही समान-आयुवाले गदाधारी एवं श्रेष्ठ केयूर, कुण्डल, किरीटादिके द्वारा सुन्दर रूपसे सुसज्जित दो द्वारपालोंको देखा॥ २७॥

मत्तद्विरेफवनमालिकया निवीतौ
विन्यस्तयासितचतुष्टयबाहुमध्ये ।
वक्त्रं भ्रुवा कुटिलया स्फुटनिर्गमाभ्यां
रक्तेक्षणेन च मनाग्रभसं दधानौ॥ २८॥

वे दोनों द्वारपाल मतवाले भ्रमरोंसे घिरी हुई वनमालासे अलंकृत हो रहे थे। यह माला उन्होंने चार श्यामल भुजाओंके बीचमें धारण कर रखी थी। मुनियोंने देखा कि उनकी भौहें बाँकी हैं, फड़कते हुए नासारन्ध्र और लाल-लाल नेत्रोंके कारण उनका मुख-मण्डल कुछ कुपित-सा प्रतीत हो रहा था॥ २८॥

द्वार्येतयोर्निविविशुर्मिषतोरपृष्ट्वा
पूर्वा यथा पुरटवज्रकपाटिकायाः।
सर्वत्र तेऽविषमया मुनयः स्वदृष्ट्या
ये सञ्चरन्त्यविहता विगताभिशङ्काः॥ २९॥

वे सनकादि मुनि अपने-परायेके भेदभावसे रहित होकर अपनी बुद्धि द्वारा निःसङ्कोच भावसे सर्वत्र विचरण करते थे। वे कुमार जिस प्रकार पहले उज्ज्वल स्वर्णसे अलंकृत वज्रमय किवाड़ोंसे युक्त छह द्वारोंको लांघकर आये थे, उसी प्रकार दोनों द्वारपालोंसे पूछे बिना ही सातवें द्वारमें प्रवेशकर गये॥ २९॥

तान् वीक्ष्य वातवसनांश्चतुरः कुमारान्
वृद्धान् दशार्द्धवयसो विदितात्मतत्त्वान्।

वेत्रेण चास्खलयतामतदर्हणांस्तौ
तेजो विहस्य भगवत्प्रतिकूलशीलौ॥ ३०॥

वे चारों कुमार ब्रह्माकी सृष्टिमें सबसे बड़े होनेपर भी पाँच वर्षके बालकसे जान पड़ते थे। ब्रह्मण्यदेव श्रीभगवान्‌के शील-स्वभावसे विपरीत चरित्रवाले जय-विजय नामक वैकुण्ठके दोनों द्वारपाल उन आत्म-तत्त्वज्ञ चतुःसनको बिलकुल नग्न और निःसङ्कोच रूपसे भीतर जाते देखकर उनके तेजस्वी प्रभावकी अवहेलना कर उनका अनादर कर बैठे। यद्यपि वे मुनि कदापि निवारणके योग्य नहीं थे, तथापि उन दोनों द्वारपालोंने उन कुमारोंको अपने वेत्र दण्डों (बेंत) और वचनों द्वारा रोक दिया॥ ३०॥

ताभ्यां मिषत्स्वनिमिषेषु निषिध्यमानाः।
स्वर्हत्तमा ह्यपि हरेः प्रतिहारपाभ्याम्।
ऊचुः सुहृत्तमदिदृक्षितभङ्ग ईषत्-
कामानुजेन सहसा त उपप्लुताक्षाः॥ ३१॥

वैकुण्ठवासी देवताओंके समक्ष ही दोनों द्वारपालोंने पूज्यतम मुनियोंको पुरीमें प्रवेश करनेसे रोक दिया, जिससे मुनियोंकी अपने प्रियतम श्रीहरिके दर्शनकी इच्छामें बाधा उपस्थित हो गयी। यह देखकर सनकादि सहसा ही क्रोधसे लाल नेत्रोंसे दोनों द्वारपालोंसे कहने लगे॥ ३१॥

श्रीमुनय ऊचुः—

को वा इहैत्य भगवत्परिचर्ययोच्चै-
स्तद्धर्मिणां निवसतां विषमः स्वभावः।
तस्मिन् प्रशान्त पुरुषे गतविग्रहे वां
को वात्मवत् कुहकयोः परिशङ्कनीयः॥ ३२॥

मुनियोंने कहा—अरे द्वारपालो! पूर्व-पूर्व जन्मोंमें भगवान्‌की महती सेवाके प्रभावसे वैकुण्ठधामको प्राप्त करके सभी भगवद्धर्म-परायण और समदर्शी पुरुष यहाँ वास करते हैं। यद्यपि तुम दोनों भी उन्हींमेंसे हो, तथापि तुम्हारा इस प्रकारका विपरीत स्वभाव क्यों है? भगवान्

श्रीहरि प्रशान्त पुरुष हैं और उनका कोई भी शत्रु नहीं है। तुम स्वयं कपटी हो, इसलिए दूसरे साधुओंको भी अपने ही समान कपटी मानते हो। इस वैकुण्ठराज्यमें भगवद्भक्तोंके अतिरिक्त दूसरा कोई भी आ नहीं सकता है, तब फिर ऐसी शङ्का करनेका अवसर कहाँ है?॥ ३२॥

न ह्यन्तरं भगवतीह समस्तकुक्षा-
वात्मानमात्मनि नभो नभसीव धीराः।
पश्यन्ति यत्र युवयोः सुरलिङ्गिनोः किं
व्युत्पादितं ह्युदरभेदि भयं यतोऽस्य॥ ३३॥

जिनके उदरमें सम्पूर्ण विश्व विराजित है अर्थात् शङ्का करने योग्य जो कुछ भी है, वह उनकी कुक्षीमें ही है, अतएव भय कुछ नहीं है; जिन अद्वयज्ञानतत्त्व भगवान्में विद्वान भक्त किसी प्रकारका भेद नहीं देखते (अर्थात् भगवान्से स्वतन्त्र किसी भी वस्तुकी सत्ताका अनुभव नहीं करते हैं), अपितु महाकाशके अन्तर्गत क्षुद्र घटाकाशकी भाँति परमात्मामें अणुचैतन्य जीवात्मस्वरूप अन्तर्भुक्त है (अर्थात् परमात्मा तथा जीवात्मामें गुणगत कोई भेद नहीं है, केवल परिमाणगत भेद है। जीव भगवान्का विभिन्नांश है। दोनों ही समजातीय चेतनधर्मविशिष्ट हैं तथा दोनोंमें सेव्य-सेवक भाव नित्य वर्त्तमान है)—इस रूपमें दर्शन करते हैं। उन श्रीभगवान्के समान देववेश धारण करनेवाले तुम दोनोंमें अन्यान्य राजाओंके समान हत्या करनेका भय किस विशेष कारणसे उत्पन्न हुआ है॥ ३३॥

तद्वाममुष्य परमस्य विकुण्ठभर्तुः
कर्तुं प्रकृष्टमिह धीमहि मन्दधीभ्याम्।
लोकानितो व्रजतमन्तरभावदृष्ट्या
पापीयसस्त्रय इमे रिपवोऽस्य यत्र॥ ३४॥

अरे! परमेश्वर वैकुण्ठनाथके मन्दमति सेवको! जिससे तुम्हारा सब प्रकारसे मङ्गल हो, हम उसी प्रकारसे तुम्हारे इस अपराधका उपयुक्त प्रायश्चित्त विचार कर रहे हैं। भेद-दर्शनरूप अपने इस

अपराधके कारण तुम दोनों इस वैकुण्ठलोकसे च्युत होकर ऐसी योनियोंमें भ्रमण करते रहो, जहाँ ऐसे अपराधियोंके लिए उपयुक्त काम, क्रोध और लोभ—ये तीनों शत्रु विद्यमान हैं॥ ३४॥

तेषामितीरितमुभाववधार्य घोरं
तं ब्रह्मदण्डमनिवारणमस्त्रपूगैः।
सद्यो हरेरनुचरावुरु बिभ्यतस्तत्-
पादग्रहावपततामतिकातरेण ॥ ३५ ॥

मुनियोंके ऐसे वाक्योंको भयानक एवं शस्त्रोंके द्वारा भी अच्छेद्य ब्रह्मशाप जानकर श्रीविष्णुके वे दोनों अनुचर अत्यन्त कातरभावसे उन मुनियोंके चरणोंको पकड़कर उसी समय भूमिपर गिर पड़े। वे जानते थे कि उनके प्रभु श्रीनारायण भी ऐसे ब्राह्मणोंसे बहुत अधिक भयभीत रहते हैं॥ ३५॥

भूयादघोनि भगवद्भिरकारि दण्डो
यो नौ हरेत सुरहेलनमप्यशेषम्।
मा वोऽनुतापकलया भगवत्स्मृतिघ्नो
मोहो भवेदिह तु नौ व्रजतोरधोऽधः॥ ३६ ॥

द्वारपालोंने अत्यन्त कातर होकर कहा—हे मुनियो! महापापियोंके लिए जैसा दण्ड विधान करना उचित है, आपने हमारे प्रति वैसे ही उचित दण्डका विधान किया है—यह आपके लिए उचित ही है। हमने भगवान्‌का अभिप्राय न समझकर उनकी आज्ञाका उल्लंघन किया है। इस प्रकारके दण्डसे भगवान्‌की अवज्ञारूप हमारा अपराध सम्पूर्ण रूपसे विनष्ट हो जायेगा। किन्तु हमारी एकमात्र प्रार्थना यह है कि हमारी इस दुर्दशाका विचार करके यदि आपमें करुणावश अनुतापका लेशमात्र भी हो, तो हमपर ऐसा अनुग्रह कीजिये कि हम चाहे जिस किसी भी अधम योनिमें क्यों न जायें, हमलोग उन-उन योनियोंमें भगवत्-स्मृतिको नष्ट करनेवाले मोहसे ग्रस्त न हों॥ ३६॥

एवं तदैव भगवानरविन्दनाभः
स्वानां विबुध्य सदतिक्रममार्यहृद्यः।

तस्मिन् ययौ परमहंसमहामुनीना-
मन्वेषणीयचरणौ चलयन् सहश्रीः॥ ३७॥

इस प्रकारसे जब साधुजनोंके हृदयधन भगवान् पद्मनाभ श्रीनारायणको अपने दोनों द्वारपालोंके द्वारा किये गये महत्-अतिक्रम अर्थात् साधुओंके अनादररूप अपराधका पता चला, तब वे उसी क्षण परमहंस महामुनियोंके द्वारा ढूँढ़े जानेवाले अपने युगल चरणकमलोंसे चलकर लक्ष्मीदेवीके साथ उसी स्थानपर आ पहुँचे॥ ३७॥

तन्त्वागतं प्रतिहृतौपयिकं स्वपुम्भि-
स्तेऽचक्षताक्षविषयं स्वसमाधिभाग्यम्।
हंसश्रियोर्व्यजनयोः शिववायुलोल-
शुभ्रातपत्र-शशिकेशरशीकराम्बुम् ॥ ३८॥

भगवान् श्रीनारायणके द्वारा इस प्रकार चलकर आनेपर मुनियोंने अपनी-अपनी समाधिके फलस्वरूप जब अधोक्षज श्रीवैकुण्ठनाथको इन्द्रियोंके गोचर होते देखा, तब वे निर्निमेष नेत्रोंसे उन्हें निहारने लगे। भगवान्के पार्षदगण उनके साथ-साथ गमनोचित छत्र-पादुकादि लेकर चल रहे थे। भगवान्के दोनों ओर राजहंसके पंखोंके समान श्वेतवर्णके दो चामर ढुलाये जा रहे थे और सिरपर चन्द्रमाके समान श्वेतछत्र सुशोभित था। उस छत्रके चारों ओर लटकी हुई मोतियोंकी झालरें चामरकी अनुकूल वायु-सञ्चारसे इस प्रकार सञ्चारित हो रही थीं, मानो चन्द्रमाकी किरणोंसे अमृतकी बूँदें झरकर भगवान् श्रीनारायणके श्रीअङ्गको स्पर्श कर रही हों॥ ३८॥

कृत्स्नप्रसादसुमुखं स्पृहणीयधाम
स्नेहावलोककलया हृदि संस्पृशन्तम्।
श्यामे पृथावुरसि शोभितया श्रिया स्व-
श्चूडामणिं सुभगयन्तमिवात्मधिष्ण्यम्॥ ३९॥

भगवान् श्रीनारायणके सौम्य मुखारविन्दकी सुप्रसन्न दृष्टिसे ऐसा प्रतीत हो रहा था, मानो वे द्वारपाल और मुनियों—दोनोंपर ही निरन्तर अपनी कृपारूपी सुधाका वर्षण कर रहे हैं। वे समस्त वाञ्छनीय

गुणोंके आलय-स्वरूप हैं। उनका सप्रेम कटाक्ष सभीके हृदयको स्पर्शकर आनन्दित कर रहा था। श्रीलक्ष्मीदेवी उनके विस्तृत वक्षःस्थलपर स्वर्ण-रेखाके रूपमें विराजित थीं। श्रीनारायण सत्यलोकके चूड़ामणि-स्वरूप अपने स्थान वैकुण्ठकी शोभाको बढ़ा रहे थे॥ ३९॥

पीतांशुके पृथुनितम्बिनि विस्फुरन्त्या
काञ्च्यालिभिर्विरुतया वनमालया च।
वल्गुप्रकोष्ठवलयं विनतासुतांसे
विन्यस्तहस्तमितरेण धुनानमब्जम्॥ ४०॥

मुनियोंने देखा कि भगवान् श्रीनारायणके विशाल नितम्बोंपर विराजित पीतवस्त्रके ऊपर झिलमिलाती हुई करघनी एवं उनके वक्षःस्थलपर वनमाला सुशोभित हो रही थी। उस वनमालाके ऊपर भ्रमर गुञ्जार कर रहे थे और मणिबन्धपर कंगन सुशोभित हो रहे थे। भगवान् अपना वामहस्त गरुड़जीके कन्धेपर रखे हुए थे और दक्षिण हाथसे लीलाकमल घुमा रहे थे॥ ४०॥

विद्युत्क्षिपन्मकरकुण्डलमण्डनार्ह-
गण्डस्थलोन्नसमुखं मणिमत्किरीटम्।
दोर्दण्डषण्डविवरे हरता परार्द्ध्य-
हारेण कन्धरगतेन च कौस्तुभेन॥ ४१॥

मुनियोंने देखा कि श्रीनारायणके कपोल विद्युतकी शोभाको भी तिरस्कृत करनेवाले मकराकृत कुण्डलोंकी शोभाको बढ़ा रहे थे। उनका सुन्दर मुखमण्डल उभरी हुई नासिका और सिर जगमगाती मणिमय किरीटसे सुशोभित था। उनकी चारों भुजाओंके बीचमें स्थित वक्षःस्थल महामूल्यवान मनोहर हारसे और कण्ठदेश कौस्तुभमणिसे सुशोभित हो रहा था॥ ४१॥

अत्रोपसृष्टमिति चोत्स्मितमिन्दिरायाः
स्वानां धिया विरचितं बहुसौष्ठवाढ्यम्।
मह्यं भवस्य भवताञ्च भजन्तमङ्गं
नेमुर्निरक्ष्य न वितृप्तदृशो मुदा कैः॥ ४२॥

ऐसे अद्भुत सौन्दर्यसे परिपूर्ण श्रीनारायणकी श्रीमूर्त्तिका दर्शन करके भक्तोंके मनमें तर्क-वितर्क होने लगा—'मैं ही समस्त सौन्दर्यकी निधिःस्वरूप हूँ'—श्रीलक्ष्मीदेवीका यह सौन्दर्याभिमान था, वह अभिमान इस भगवत्-सौन्दर्यके सम्मुख खर्व (कम) हो गया। हे देवताओ! इन भगवान्‌ने मेरी (ब्रह्माकी), महादेवकी और तुम सब की भजनीय परमसुन्दर श्रीमूर्त्तिको प्रकट किया है। भगवान् श्रीहरिकी उस अद्भुत छविको देख-देखकर मुनियोंके नेत्र तृप्त नहीं हो रहे थे। उन्होंने बड़े आनन्दपूर्वक सिर झुकाकर उन्हें प्रणाम किया॥ ४२॥

तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्द-
किञ्जल्कमिश्रतुलसीमकरन्दवायुः ।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां
संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः॥ ४३॥

जैसे ही सनकादि मुनियोंने कमललोचन श्रीनारायणके चरणारविन्दोंमें सिर झुकाया, भगवान्‌के श्रीचरणकमलोंकी केसरके समान अङ्गुलियोंके साथ संलग्न हुई तुलसीपत्रकी गन्धसे सुवासित वायुने मुनियोंकी नासिकारन्ध्रोंके माध्यमसे उनके हृदयमें प्रवेश किया, जिससे ब्रह्मानन्दमें निमग्न रहनेवाले उन मुनियोंके चित्तमें अत्यधिक आनन्दका अनुभव होनेके कारण उनका रोम-रोम खिल उठा॥ ४३॥

ते वा अमुष्य वदनासितपद्मकोश-
मुद्वीक्ष्य सुन्दरतराधरकुन्दहासम्।
लब्धाशिषः पुनरवेक्ष्य तदीयमङ्घ्रि-
द्वन्द्वं नखारुणमणिश्रयणं निदध्युः॥ ४४॥

जब उन्होंने ऊपरकी ओर दृष्टिपात किया तो नीलकमलके कोशके समान श्रीनारायणके अति शोभाशाली मुखमण्डलपर अरुणवर्णके मनोहर अधर एवं प्रस्फुटित कुन्द-कुसुमके समान उनकी आकर्षक मन्द-मुसकान देखकर वे अत्यधिक आनन्दसे सराबोर हो उठे। मुनियोंने पुनः श्रीनारायणके अरुणवर्णयुक्त मणिसदृश नखसमूहसे सुशोभित श्रीचरणयुगलका दर्शन किया, किन्तु एकसाथ ही उनके सम्पूर्ण श्रीअङ्गोंकी शोभाके दर्शनमें असमर्थ होनेपर वे मुनिलोग

श्रीचरणकमलोंसे लेकर मस्तक तक भगवान्‌के सम्पूर्ण श्रीअङ्गोंका ध्यान करने लगे॥ ४४॥

पुंसां गतिं मृगयतामिह योगमार्गै-
र्ध्यानास्पदं बहुमतं नयनाभिरामम्।
पौंस्नं वपुर्दर्शयानमनन्यसिद्धै-
रौत्पत्तिकैः समगृणन् युतमष्टभोगैः॥ ४५॥

जब मुनिगण ध्यानमें मग्न हो गये, तब भगवान्‌ने उन्हें योगमार्गके द्वारा ढूँढ़े जानेवाले, ध्यानके विषय तथा अत्यन्त आदरणीय अर्थात् तत्त्वदर्शियों द्वारा सम्मत अपने नयनाभिराम रूपका दर्शन कराया। मुनिगण भी असाधारण एवं नित्यसिद्ध अणिमादि अष्ट ऐश्वर्योंसे युक्त उन भगवान्‌की सुन्दर रूपसे स्तुति करने लगे॥ ४५॥

श्रीकुमारा ऊचुः—
योऽन्तर्हितो हृदिगतोऽपि दुरात्मनां त्वं
नाद्यैव नो नयनमूलमनन्त राद्धः।
यर्ह्येव कर्णविवरेण गुहां गतो नः
पित्रानुवर्णितरहा भवदुद्भवेन॥ ४६॥

सनत्कुमारादि मुनियोंने कहा—हे अनन्त! आप समस्त जीवोंके हृदयमें विराजमान रहनेपर भी दुष्ट चित्तवाले व्यक्तियोंकी दृष्टिसे ओझल ही रहते हैं। किन्तु आज आप हमारे निकट अप्रकाशित नहीं रह सके, क्योंकि हम आपकी कृपासे ही इस समय आपको अपने नेत्रोंके सम्मुख देख रहे हैं। आपसे उत्पन्न हमारे पिता ब्रह्माने जिस समय हमें आपके रहस्यके विषयमें बतलाया था, उसी समय आप कानोंके मार्ग द्वारा हमारी बुद्धिमें प्रविष्ट हो गये थे। आज तो हमें आपके दर्शनका महासौभाग्य प्राप्त हुआ है॥ ४६॥

तं त्वां विदाम भगवन् परमात्मतत्त्वं
सत्त्वेन सम्प्रति रतिं रचयन्तमेषाम्।
यत्तेऽनुतापविदितैर्दृढभक्तियोगै-
रुद्ग्रन्थयो हृदि विदुर्मुनयो विरागाः॥ ४७॥

हे भगवन्! निरभिमानी होनेके कारण असत् विषयोंसे अनासक्त मुनिगण एकमात्र आपकी कृपाके द्वारा ही जिनके स्वरूपसे अवगत होते हैं तथा श्रवणादि लक्षण संयुक्त सुदृढ़ भक्तियोगसे हृदयमें जिस परमात्म-तत्त्वकी उपलब्धि करते हैं, हम समझ गये कि आप ही वे परमतत्त्व हैं। हे प्रभो! आप विशुद्धसत्त्वमय श्रीमूर्त्ति हैं तथा इसीके द्वारा आप प्रतिक्षण भक्तोंके लिए नवनवायमान आनन्दका सृजन करते हैं॥ ४७॥

नात्यन्तिकं विगणयन्त्यपि ते प्रसादं
किमवन्यदर्पितभयं भ्रुव उन्नयैस्ते।
येऽङ्ग त्वदङ्घ्रिशरणा भवतः कथायाः
कीर्तन्यतीर्थयशसः कुशला रसज्ञाः॥ ४८॥

हे भगवन्! आपका सुयश परम मनोहर है, इसलिए एकमात्र वही कीर्त्तनीय एवं परम पवित्र तीर्थस्वरूप है। जो भक्तगण आपके श्रीचरणोंमें शरणागत और आपकी कथाओंके कुशल रसिक हैं, यदि उन्हें आप मोक्षपद देना भी चाहे, तो भी वे उसे ग्रहण नहीं करते, तब फिर आपके कुटिल-कटाक्षसे भययुक्त इन्द्रादि पदोंकी बात ही क्या कही जाये? ॥ ४८॥

कामं भवः स्ववृजिनैर्निरयेषु नस्ता-
च्चेतोऽलिवद् यदि नु ते पदयो रमेत।
वाचश्च नस्तुलसिवद्यदि तेऽङ्घ्रिशोभाः
पूर्येत ते गुणगणैर्यदि कर्णरन्ध्रः॥ ४९॥

हे भगवन्! हमने आपके दो भक्तोंके प्रति अपराध किया है, जिसके फलस्वरूप हमें नरक ही मिलेगा। किन्तु हे नाथ! जिस प्रकार मधुकर काँटोंसे विद्ध होकर भी सुगन्धित पुष्पोंके मधुपानमें रत रहता है, उसी प्रकार यदि हमारा चित्तरूपी भृङ्ग भी आपके श्रीचरणकमलोंके माधुर्यकी रसास्वादन-सेवामें नित्यकाल आसक्त रहे; जिस प्रकार तुलसी अपने गुणोंकी कोई अपेक्षा न करके आपके श्रीचरणोंके सम्बन्धसे ही सुशोभित रहती है, हमारी वाणी भी यदि उसी प्रकार

आपके श्रीचरणोंके गुणानुवर्णनमें नियुक्त रहकर शोभा पाये; हमारे कर्णरन्ध्र सदा-सर्वदा आपके अप्राकृत गुणोंके श्रवणका सौभाग्य प्राप्त करते रहें अर्थात् यदि हम नित्यकाल आपके गुणोंका निरन्तर स्मरण, कीर्त्तन और श्रवणका सौभाग्य प्राप्त कर सकें, तब फिर आपके भक्तोंको अभिशाप देनेके फलस्वरूप हमारा जन्म नरकादि योनियोंमें होनेपर भी हमें कोई चिन्ता नहीं है॥ ४९॥

प्रादुश्चकर्थ यदिदं पुरुहूतरूपं
तेनेश निर्वृतिमवापुरलं दृशो नः।
तस्मा इदं भगवते नम इद्विधेम
योऽनात्मनां दुरुदयो भगवान् प्रतीतः॥ ५०॥

हे विपुलकीर्त्ति प्रभो! आपने जिस श्रीमूर्त्तिको हमारे सम्मुख प्रकट किया है, उस अप्राकृत रूपके दर्शनसे हमारे नेत्रोंको बड़ा ही सुख प्राप्त हुआ है। हे परमेश्वर! आप विषयोंमें आसक्त अजितेन्द्रिय व्यक्तियोंके लिए अप्रकाशित रहते हैं, तथापि आप कृपापूर्वक हमारे नयनोंके सामने प्रकट हुए हैं। अतः साक्षात् भगवत्-स्वरूप आपको हम प्रणाम करते हैं॥ ५०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां तृतीयस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे श्रीवैकुण्ठवर्णनं नाम पञ्चदशोऽध्यायः॥

षोडशोऽध्यायः

श्रीहरि द्वारा सनकादि मुनियोंके शापका अनुमोदन

श्रीब्रह्मोवाच—

इति तद्गृणतां तेषां मुनीनां योगधर्मिणाम्।
प्रतिनन्द्य जगादेदं विकुण्ठनिलयो विभुः॥ १॥

श्रीब्रह्माने कहा—हे देवताओ! वैकुण्ठनाथ श्रीनारायण योगधर्ममें रत उन स्तवकारी मुनियोंकी स्तुतिको सुनकर आनन्द प्रकाश करते हुए इस प्रकार कहने लगे॥ १॥

श्रीभगवानुवाच—

एतौ द्वौ पार्षदौ मह्यं जयो विजय एव च।
कदर्थीकृत्य मां यद्वो बह्वक्रान्तामतिक्रमम्॥ २॥

यस्त्वेतयोर्धृतो दण्डो भवद्भिर्मामनुव्रतैः।
स एवानुमतोऽस्माभिर्मुनयो देवहेलनात्॥ ३॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—जय और विजय नामक ये दोनों पुरुष मेरे ही पार्षद हैं, किन्तु इन्होंने मेरी अवज्ञा करते हुए आपलोगोंका बहुत अनादर किया है। हे मुनियो! आपलोग भी मेरे परम अनुगत निजजन हैं, अतएव आपके अनादर द्वारा मेरी ही अवज्ञा करनेके कारण आपने इन्हें जो दण्ड दिया है, उसका मैं भी अनुमोदन करता हूँ॥ २-३॥

तद्वः प्रसादयाम्यद्य ब्रह्म दैवं परं हि मे।
तद्धीत्यात्मकृतं मन्ये यत् स्वपुम्भिरसत्कृताः॥ ४॥

ब्राह्मण मेरे परम आराध्य देवता हैं, इसलिए मैं आपसे अनुनय-विनयपूर्वक कह रहा हूँ कि यद्यपि इस विषयमें वस्तुतः मेरा कोई अपराध नहीं है, तथापि मेरे अनुचरोंने अनादरकर आपके

चरणोंमें जो अपराध किया है, उसे मैं अपने द्वारा ही किया हुआ अपराध मानता हूँ और इसलिए आपलोगोंसे प्रसन्नताकी भिक्षा माँगता हूँ॥ ४॥

यन्नामानि च गृह्णाति लोको भृत्ये कृतागसि।
सोऽसाधुवादस्तत्कीर्तिं हन्ति त्वचमिवामयः॥ ५॥

यदि सेवक कोई अपराध करता है, तो संसारमें उसके स्वामीका ही नाम लिया जाता है अर्थात् जिस प्रकार श्वेत-कुष्ठरोग त्वचाके सौन्दर्यको नष्ट कर देता है, उसी प्रकार सेवकोंके असाधु आचरणसे स्वामीकी ही कीर्त्तिका लोप होता है॥ ५॥

यस्यामृतामलयशःश्रवणावगाहः
सद्यः पुनाति जगदाश्वपचाद्विकुण्ठः।
सोऽहं भवद्भ्य उपलब्धसुतीर्थकीर्ति-
श्छिन्द्यां स्वबाहुमपि वः प्रतिकूलवृत्तिम्॥ ६॥

मेरे जिस अमृतस्वरूप निर्मल सुयशको मनोयोगपूर्वक श्रवण करनेसे चण्डाल तक समस्त जगत् शीघ्र ही पवित्र हो जाता है, मैं वही वैकुण्ठ (अर्थात् कुण्ठा या मायिक धर्मसे रहित) हूँ। आपलोग ही मेरी इस सुशोभन कीर्त्तिके विस्तारके मूल कारण हैं। जो व्यक्ति आपके विरुद्ध आचरण करेगा, वह मेरी भुजा स्थानीय लोकेश्वर ही क्यों न हो, मैं उसे तुरन्त काट डालूँगा॥ ६॥

यत्सेवया चरणपद्मपवित्ररेणुं
सद्यःक्षताखिलमलं प्रतिलब्धशीलम्।
न श्रीर्विरक्तमपि मां विजहाति यस्याः
प्रेक्षालवार्थमितरे नियमान् वहन्ति॥ ७॥

आपलोगोंकी सेवाके द्वारा ही मेरे चरणकमलोंमें स्थित रज पवित्र होकर सम्पूर्ण जगत्के कामादि मलका तत्काल विनाश कर डालती है। आप लोगोंकी सेवाके प्रभावसे ही मुझे ऐसा स्वभाव प्राप्त हुआ है कि ब्रह्मादि देवता भी जिन लक्ष्मीकी लेशमात्र कृपा-कटाक्ष प्राप्त करनेके लिए तप, व्रतादि बहुत-से नियमोंका पालन करते हैं, वे

लक्ष्मी मेरे उदासीन होनेपर भी मुझे एक क्षणके लिए भी नहीं छोड़ती हैं (अर्थात् जो ब्राह्मणोंके प्रति प्रतिकूल आचरण करता है, मैं उनका विनाश कर देता हूँ)॥ ७॥

नाहं तथाद्मि यजमानहविर्विताने
श्च्योतद्घृतप्लुतमदन् हुतभुङ्मुखेन।
यद्ब्राह्मणस्य मुखतश्चरतोऽनुघासं
तुष्टस्य मय्यवहितैर्निजकर्मपाकैः॥ ८॥

हे द्विजो! अपने समस्त कर्मफल मुझमें समर्पित करके सदा सन्तुष्ट रहनेवाले ज्ञानयुक्त निष्काम ब्राह्मण जब प्रत्येक ग्रासमें घीसे पके हुए खीरादि स्वादिष्ट पकवानोंका रसास्वादनपूर्वक भोजन करते हैं, तब उनके मुखसे भोजन करते हुए मुझे जैसी तृप्ति होती है, यज्ञमें मेरे अग्निरूप मुखमें यजमानकी दी हुई आहुतियों अर्थात् चारु और पिष्टकादि भोजनको ग्रहण करनेपर भी मुझे वैसी तृप्ति नहीं मिलती॥ ८॥

येषां बिभर्म्यहमखण्डविकुण्ठयोग-
मायाविभूतिरमलाङ्घ्रिरजः किरीटैः।
विप्रान् नु को न विषहेत यदर्हणाम्भः
सद्यः पुनाति सहचन्द्रललामलोकान्॥ ९॥

मेरा पवित्र पादोदक गङ्गाजल चन्द्रमौलि महादेवके साथ सभी लोकपालोंको तुरन्त ही पावन करता है। योगमायाका अखण्ड और असीम ऐश्वर्य मेरे अधीन है अर्थात् मैं उनका ईश्वर हूँ। इस प्रकार पवित्र एवं परमेश्वर होकर भी मैं जिनके चरणकमलोंमें स्थित निर्मल चरणरजको अपने सिरपर स्थित मुकुटपर धारण करता हूँ, वे ब्राह्मण यदि कोई अपकार भी करें, तो उसे कौन सहन नहीं करेगा?॥ ९॥

ये मे तनूर्द्विजवरान् दुहतीर्मदीया
भूतान्यलब्धशरणानि च भेदबुद्ध्या।
द्रक्ष्यन्त्यघक्षतदृशो ह्यहिमन्यवस्तान्
गृध्रा रुषा मम कुषन्त्यधिदण्डनेतुः॥ १०॥

आचारवान ब्राह्मण, दुग्धवती गौएँ और अनाथ (रक्षक हीन) प्राणी—ये तीनों मेरे ही शरीर स्थानीय हैं। जो इनमें भेद-बुद्धि रखते हैं (अर्थात् इनमें मेरा अधिष्ठान नहीं है, इस प्रकार विचार करके इन्हें मुझसे पृथक् देखते हैं), उनकी विवेक-दृष्टि पापोंसे विनष्ट हो चुकी है। मेरे अधीन रहनेवाले दण्ड देनेके अधिकारी यमके गृध्र जैसे दूत सर्पके समान क्रोधसे भरकर अपनी चोंचोंसे उनकी आँखों और शरीरके माँसको निकाल लेते हैं॥ १०॥

ये ब्राह्मणान् मयि धिया क्षिपतोऽर्चयन्त-
स्तुष्यद्धृदः स्मितसुधोक्षितपद्मवक्त्राः।
वाण्यानुरागकलयात्मजवद्गृणन्तः
सम्बोधयन्त्यहमिवाहमुपाकृतस्तैः ॥ ११ ॥

यदि ब्राह्मण कटु वाक्य भी कहे, तब भी जो मुझमें बुद्धिको स्थिर रखकर अर्थात् वासुदेवसे सम्बन्धित जानकर प्रसन्न चित्तसे उनका अर्चन करते हैं, तथा जिस प्रकार पुत्रवत् स्नेहके द्वारा मैं भृगु या आपको सन्तुष्ट करता हूँ, उसी प्रकार जो प्रसन्न चित्त और मन्द-मुसकानसे युक्त प्रेमपूर्ण वचनोंके द्वारा उन ब्राह्मणोंका स्तव करते हैं, मैं उनके वशीभूत हो जाता हूँ॥ ११॥

तन्मे स्वभर्तुरवसायमलक्षमाणौ
युष्मद्व्यतिक्रमगतिं प्रतिपद्य सद्यः।
भूयो ममान्तिकमितां तदनुग्रहो मे
यत् कल्प्यतामचिरतो भृतयोर्विवासः॥ १२॥

अतएव मेरे इन दोनों सेवकोंने मेरे अभिप्रायको न समझकर ही आपके प्रति अपराध किया है। ये दोनों तुरन्त ही अपराधके दण्डको भोगकर पुनः मेरे समीप आ जायें। इन दोनों सेवकोंका स्थान भ्रष्ट होकर अन्यत्र वास शीघ्र ही समाप्त हो जाये—यही मेरे प्रति आपका यथेष्ट अनुग्रह होगा॥ १२॥

श्रीब्रह्मोवाच—

अथ तस्योशतीं देवीमृषिकुल्यां सरस्वतीम्।
नास्वाद्य मन्युदष्टानां तेषामात्माप्यतृप्यत॥ १३॥

श्रीब्रह्माने कहा—देवताओ! यद्यपि सनकादि ऋषियोंका चित्त सर्पके समान महाक्रोधरूप विषसे अभिभूत था, तथापि भगवान्‌के ऐसे कमनीय, सुमधुर और योग्य वचनोंको सुनकर उनका चित्त तृप्त नहीं हो रहा था (अर्थात् भगवान्‌की ऐसी मधुर वाणीको श्रवण करनेकी उनकी इच्छा और भी बढ़ गयी)॥ १३॥

सतीं व्यादाय शृण्वन्तो लघ्वीं गुर्वर्थगह्वराम्।
विगाह्यागाधगम्भीरां न विदुस्तच्चिकीर्षितम्॥ १४॥

श्रीभगवान्‌ने अल्प अक्षरोंमें ही अर्थसे परिपूर्ण, गम्भीर, दुर्विज्ञेय और अपार-मर्मसे युक्त सुमधुरवाणीसे जो कुछ कहा, सनकादि ऋषियोंने कानोंको पसारकर मनोनिवेशपूर्वक उसे सुनकर विचार किया—क्या भगवान् हमारी प्रशंसा कर रहे हैं अथवा हमने जिस दण्डका विधान किया है, उसे ही हल्का कर रहे हैं? इस विषयमें भगवान्‌के गूढ़ अभिप्रायको वे समझ ही न सके॥ १४॥

ते योगमाययारब्ध-पारमेष्ठ्यमहोदयम्।
प्राचुः प्राञ्जलयो विप्राः प्रहृष्टाः क्षुभितत्वचः॥ १५॥

तत्पश्चात् ‘श्रीभगवान् उनका अभिनन्दन ही कर रहे हैं’,—ऐसा स्थिरकर वे ब्राह्मण आनन्दित हो गये और उनका रोम-रोम खिल उठा। फिर योगमायाके द्वारा अपने ब्रह्मभावसे परम उत्कृष्ट प्रभावको प्रकट करनेवाले भगवान्‌से वे हाथ जोड़कर कहने लगे॥ १५॥

श्रीऋषय ऊचुः—

न वयं भगवन् विद्मस्तव देव चिकीर्षितम्।
कृतो मेऽनुग्रहश्चेति यदध्यक्षः प्रभाषसे॥ १६॥

ऋषियोंने कहा—हे स्वप्रकाश भगवन्! आपने सर्वेश्वर होकर भी ‘मेरे प्रति आपलोगोंने बड़ा अनुग्रह किया है’—यह जो कहा है, इसका यथार्थ अभिप्राय हमारी समझमें नहीं आ रहा है॥ १६॥

ब्रह्मण्यस्य परं दैवं ब्राह्मणाः किल ते प्रभो।
विप्राणां देवदेवानां भगवानात्मदैवतम्॥ १७॥

हे प्रभो! आप ब्राह्मणोंके हितकारी हैं, इसलिए आप 'ब्राह्मण मेरे परम देवता हैं'—लोकशिक्षाके लिए ही ऐसा कहते हैं, किन्तु वस्तुतः आप देवपूज्य ब्राह्मणोंके भी मूलदेवता और आराध्यदेव हैं॥ १७॥

त्वत्तः सनातनो धर्मो रक्ष्यते तनुभिस्तव।
धर्मस्य परमो गुह्यो निर्विकारो भवान् मतः॥ १८॥

हे भगवन्! सनातनधर्म आपसे ही उत्पन्न हुआ है, इसलिए आपके अवतारोंके द्वारा वह समय-समयपर संरक्षित होता रहता है। निर्विकार आप ही उस धर्मके परम गुह्य फल-स्वरूप हैं—यही शास्त्रवेत्ताओंका स्थिर सिद्धान्त है। (अतएव आपका ऐसा आचरण लोक शिक्षाके लिए है)॥ १८॥

तरन्ति ह्यञ्जसा मृत्युं निवृत्ता यदनुग्रहात्।
योगिनः स भवान् किंस्विदनुगृह्येत यत्परैः॥ १९॥

आपकी कृपासे लोग वैराग्ययुक्त योगी होकर अनायास ही मृत्युरूप संसार सागरसे तर जाते हैं। ऐसे होकर भी आप दूसरोंसे अनुग्रहकी प्रार्थना करते हैं—इसका तात्पर्य क्या है?॥ १९॥

यं वै विभूतिरुपयात्यनुवेलमन्यै-
रर्थार्थिभिः स्वशिरसा धृतपादरेणुः।
धन्यार्पिताङ्घ्रितुलसीनवदामधाम्नो
लोकं मधुव्रतपतेरिव कामयाना॥ २०॥

भक्तोंके अतिरिक्त ऐश्वर्य अभिलाषी अन्यान्य सकाम पुरुष जिनकी पदरेणुको अपने-अपने सिरपर धारण करते हैं, वे लक्ष्मीदेवी निरन्तर आपकी सेवामें लगी रहती हैं तथा ऐसा जान पड़ता है कि सुकृतिवान भक्तों द्वारा आपके चरणोंमें अर्पित नवीन तुलसी-दलपर गुञ्जार करनेवाले भौरोंके समान वे भी आपके चरणकमलोंको ही अपना निवासस्थान बनाना चाहतीं हैं॥ २०॥

यस्तां विविक्तचरितैरनुवर्तमानां
नात्याद्रियत् परमभागवतप्रसङ्गः।

स त्वं द्विजानुपथपुण्यरजः पुनीतः
श्रीवत्सलक्ष्म किमगा भगभाजनस्त्वम्॥ २१॥

आप परम-भागवतजनोंमें एकान्तिक रूपसे इतने आसक्त हैं कि आपकी विशुद्ध सेवामें निरन्तर रत रहनेवाली लक्ष्मीदेवीका भी आप अधिक आदर नहीं करते। अतः ऐसे सर्व-सौभाग्यनिधि, स्वयं षड़ैश्वर्यपूर्ण और परम शुद्ध आपको क्या पथ-पथपर संलग्न ब्राह्मणोंकी पद-धूलि और श्रीवत्स चिह्न पवित्र कर सकते हैं? किसलिए आप इन दोनोंको भूषणरूपमें अङ्गीकार करते हैं? हम तो ऐसा समझते हैं कि आप लोकशिक्षाके लिए ही ऐसा करते हैं॥ २१॥

धर्मस्य ते भगवतस्त्रियुग त्रिभिः स्वैः
पद्भिश्चराचरमिदं द्विजदेवतार्थम्।
नूनं भृतं तदभिघाति रजस्तमश्च
सत्त्वेन नो वरदया तनुवा निरस्य॥ २२॥

हे भगवन्! आप 'त्रियुग' हैं अर्थात् आप तीनों युगोंमें ही साक्षात् रूपसे आविर्भूत होते हैं[(१)] (अथवा त्रियुगल अर्थात् षड़विध ऐश्वर्य अथवा भग आपमें वर्त्तमान हैं)। साक्षात् धर्मस्वरूप आपके असाधारण तपस्या, शौच और दयारूप तीन चरण अपने विनाशक रज एवं तमोगुणका नाश करते हैं तथा हमारे प्रति वरदायिनी विशुद्धसत्वस्वरूप श्रीमूर्त्ति धारणकर आप देवताओं और ब्राह्मणोंके प्रयोजनके लिए उक्त तीनों पादों द्वारा इस चराचर जगत्का पालन करते हैं॥ २२॥

न त्वं द्विजोत्तमकुलं यदि हात्मगोपं
गोप्ता वृषस्त्वर्हणेन ससूनृतेन।
तर्ह्येव नङ्क्ष्यति शिवस्तव देव पन्था
लोकोऽग्रहीष्यदृषभस्य हि तत् प्रमाणम्॥ २३॥

हे देव! आप सर्वश्रेष्ठ होकर भी यदि सुमधुर वचनों और पूजनादि द्वारा अपने रक्षणीय ब्राह्मणोंकी रक्षा नहीं करेंगे, तो आपके द्वारा स्थिर किया हुआ मङ्गलमय वेदमार्ग सम्पूर्ण रूपसे ही विनष्ट

[(१)] चतुर्थ कलियुगमें भगवान् प्रच्छन्न रूपसे श्रीमन् चैतन्य महाप्रभुके रूपमें प्रकट होते हैं।

हो जायेगा, क्योंकि सभी लोग श्रेष्ठ व्यक्तियोंके आचरणको ही प्रमाण रूपमें ग्रहण करते हैं॥ २३॥

तत्तेऽनभीष्टमिव सत्त्वनिधेर्विधित्सोः
क्षेमं जनाय निजशक्तिभिरुद्धृतारेः।
नैतावता त्र्यधिपतेर्बत विश्वभर्तु-
स्तेजः क्षतं त्ववनतस्य स ते विनोदः॥ २४॥

वेदमार्गका समूल विनाश करना आपका अभिप्राय नहीं है, क्योंकि आप विशुद्धसत्त्वकी निधिस्वरूप हैं तथा लोगोंके कल्याणकी कामनासे आप अपने शक्तिस्वरूप राजा आदि अवतारोंके द्वारा धर्म-विरोधियोंको समूल उखाड़ फेंकते हैं। त्रिभुवनके अधीश्वर एवं विश्वके पालनकर्त्ता होकर भी धर्मकी रक्षाके लिए आप जो ब्राह्मणोंके सम्मुख अवनत होनेका अभिनय करते हैं, उससे आपका प्रभाव क्षीण नहीं होता, बल्कि यह तो आपकी एक लीला अर्थात् कौतुक-विशेष प्रतीत होता है॥ २४॥

यं वानयोर्दममधीश भवान् विधत्ते
वृत्तिं नु वा तदनुमन्महि निर्व्यलीकम्।
अस्मासु वा य उचितो ध्रियतां स दण्डो
येऽनागसौ वयमयुङ्क्ष्महि किल्बिषेण॥ २५॥

हे जगदीश्वर! आप अपने इन दोनों सेवकों (द्वारपालों) के लिए यदि कोई दूसरा दण्ड देना चाहते हैं अथवा पुरस्कार रूपमें इनकी वृत्तिको बढ़ानेकी इच्छा करते हैं, तो हम निष्कपट रूपसे उसका अनुमोदन करेंगे। तथा हमने जो इन निरपराध सेवकोंको अभिशाप दिया है, उसके लिए हमारे प्रति भी उपयुक्त दण्डका विधान करें, हम उसे भी सहर्ष स्वीकार करेंगे॥ २५॥

श्रीभगवानुवाच—

एतौ सुरेतरगतिं प्रतिपद्य सद्यः
संरम्भसम्भृत-समाध्यनुबद्धयोगौ ।
भूयः सकाशमुपयास्यत आशु यो वः
शापो मयैव निमितस्तदवेत विप्राः॥ २६॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—हे मुनियो! ये दोनों शीघ्र ही असुरयोनिको प्राप्त होंगे तथा क्रोधावेशसे वर्द्धित एकाग्रताके कारण इनका योग सुदृढ़ होगा जिससे ये शीघ्र ही पुनः मेरे समीप आ जायेंगे। आपने इन्हें जो अभिशाप दिया है, वास्तवमें वह मेरी ही प्रेरणासे हुआ है॥ २६॥

श्रीब्रह्मोवाच—

अथ ते मुनयो दृष्ट्वा नयानानन्दभाजनम्।
वैकुण्ठं तदधिष्ठानं विकुण्ठञ्च स्वयम्प्रभम्॥ २७॥
भगवन्तं परिक्रम्य प्रणिपत्यानुमान्य च।
प्रजिग्मुः प्रमुदिताः शंसन्तो वैष्णवीं श्रियम्॥ २८॥

श्रीब्रह्माने कहा—इसके बाद उन मुनीश्वरोंने नेत्रोंको आनन्द प्रदान करनेवाले एवं स्व-प्रकाश भगवान् वैकुण्ठनाथ और उनके द्वारा अधिष्ठित वैकुण्ठधामका दर्शन करके प्रसन्नचित्तसे प्रभुकी परिक्रमाकी और उन्हें प्रणाम किया। फिर वे भगवान् श्रीविष्णुसे अनुमति लेकर उनके ऐश्वर्यका परस्पर वर्णन करते हुए प्रसन्नतापूर्वक वहाँसे अपने-अपने स्थानोंकी ओर चले गये॥ २७-२८॥

भगवाननुगावाह यातं मा भैष्टमस्तु शम्।
ब्रह्मतेजः समर्थोऽपि हन्तुं नेच्छे मतन्तु मे॥ २९॥

तत्पश्चात् भगवान्‌ने जय और विजय नामक अपने उन दोनों अनुचरोंसे कहा—अब तुम इस स्थानसे चले जाओ तथा मनमें किसी प्रकारका भय मत करो। तुम्हारा कल्याण हो। यद्यपि मैं ब्रह्मशापका खण्डन करनेमें समर्थ हूँ, तथापि वैसा करनेकी मेरी इच्छा नहीं है, क्योंकि यही मेरा अभिमत है॥ २९॥

एतत्पुरैव निर्दिष्टं रमया क्रुद्धया यदा।
पुरापवारिता द्वारि विशन्ती मय्युपारते॥ ३०॥

पूर्व समयमें जब मैं योगनिद्रामें शयन कर रहा था, उस समय मेरे घरसे बाहर गयी हुई श्रीलक्ष्मीदेवीने जब पुनः घरमें प्रवेश करनेकी

इच्छा की थी, तब भी तुमने उन्हें द्वारपर रोक दिया था। उस समय क्रुद्ध होकर श्रीलक्ष्मीदेवीने तुम्हारे लिए अभी इन ब्राह्मण ऋषियों द्वारा दिये गये शापकी व्यवस्था पहलेसे ही निर्दिष्ट कर रखी थी॥ ३०॥

मयि संरम्भयोगेन निस्तीर्य ब्रह्महेलनम्।
प्रत्येष्यतं निकाशं मे कालेनाल्पीयसा पुनः॥ ३१॥

अब दैत्ययोनिमें मेरे प्रति निरन्तर क्रोध-वृत्तिरूप योग रहनेसे तुममें जो एकाग्रता होगी, उससे अल्पकालमें ही तुम ब्राह्मणके अनादरसे उदित पापसे मुक्त हो जाओगे और पुनः मेरे पास लौट आओगे॥ ३१॥

द्वाःस्थावादिश्य भगवान् विमानश्रेणिभूषणम्।
सर्वातिशयया लक्ष्म्या जुष्टं स्वं धिष्ण्यमाविशत्॥ ३२॥

दोनों द्वारपालोंको इस प्रकारका आदेश देकर भगवान्‌ने विमान-श्रेणियोंसे विभूषित एवं सर्वोत्तम शोभासे सम्पन्न अपने धाममें प्रवेश किया॥ ३२॥

तौ तु गीर्वाणवृषभौ दुस्तराद्धरिलोकतः।
हतश्रियौ ब्रह्मशापादभूतां विगतस्मयौ॥ ३३॥

वे दोनों देवश्रेष्ठ दुस्तर ब्रह्मशापके कारण वैकुण्ठलोकसे अधःपतित होनेके कारण श्रीहीन हो गये और उनका समस्त गर्व नष्ट हो गया॥ ३३॥

तदा विकुण्ठधिषणात्तयोर्निपतमानयोः।
हाहाकारो महानासीद्विमानाग्र्येषु पुत्रकाः॥ ३४॥

हे देवताओ! जैसे ही वे दोनों वैकुण्ठलोकसे गिरने लगे, उस समय श्रेष्ठ-विमानोंमें बैठे हुए देवताओंमें महान् हा-हाकार मच गया॥ ३४॥

तावेव ह्यधुना प्राप्तौ पार्षदप्रवरौ हरेः।
दितेर्जठरनिर्विष्टं काश्यपं तेज उल्बणम्॥ ३५॥

भगवान्‌के उन दोनों पार्षदोंने इस समय दितिके गर्भमें स्थित कश्यप मुनिके उग्र तेज (वीर्य) में प्रवेश किया है॥ ३५॥

तयोरसुरयोरद्य तेजसा यमयोर्हि वः।
आक्षिप्तं तेज एतर्हि भगवांस्तद्विधित्सति॥ ३६॥

उन दोनों असुरोंके तेजसे ही इस समय तुमलोगोंका तेज फीका हो रहा है। मुझमें इसे रोकनेकी शक्ति नहीं है, क्योंकि भगवान्‌की इच्छासे ही यह सब हुआ है॥ ३६॥

विश्वस्य यः स्थितिलयोद्भवहेतुराद्यो
योगेश्वरैरपि दुरत्यययोगमायः।
क्षेमं विधास्यति स नो भगवांस्त्र्यधीश-
स्तत्रास्मदीयविमृशेन कियानिहार्थः॥ ३७॥

जो आदिपुरुष इस विश्वकी सृष्टि, स्थिति एवं प्रलयके मूल कारण हैं, जिनकी योगमाया शक्तिको बड़े-बड़े योगेश्वर भी पार नहीं पा सकते, वे सत्त्वादि त्रिगुणोंके अधीश्वर भगवान् श्रीहरि ही सत्त्वगुणके उत्कर्ष कालमें स्वयं ही हमारा मङ्गल-विधान करेंगे। अतः इस विषयमें चिन्ता करनेसे कोई लाभ नहीं है॥ ३७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां तृतीयस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे जयविजयभ्रंशो नाम षोडशोऽध्यायः॥

सप्तदशोऽध्यायः

हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्षका जन्म तथा हिरण्याक्षकी दिग्विजय

श्रीमैत्रेय उवाच—

निशम्यात्मभुवा गीतं कारणं शङ्कयोज्झिताः।
ततः सर्वे न्यवर्तन्त त्रिदिवाय दिवौकसः॥ १॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! तदनन्तर ब्रह्माजीके मुखसे उस उपद्रवकी उत्पत्तिका कारण अर्थात् दितिके गर्भतेजका कारण जानकर समस्त देवताओंकी शङ्का दूर हो गयी और वे निर्भय होकर स्वर्गलोकको लौट गये॥ १॥

दितिस्तु भर्तुरादेशादपत्यपरिशङ्किनी।
पूर्णे वर्षशते साध्वी पुत्रौ प्रसुषुवे यमौ॥ २॥

इधर साध्वी दितिको भी अपने पतिके कथनानुसार अपनी दोनों सन्तानोंके द्वारा देवताओंके प्रति किये जानेवाले उपद्रवादिके विषयमें आशङ्का बनी रहती थी, अतः उसने एक सौ वर्षका गर्भकाल पूर्ण हो जानेपर दो यमज (जुड़वा) पुत्रोंको जन्म दिया॥ २॥

उत्पाता बहवस्तत्र निपेतुर्जायमानयोः।
दिवि भुव्यन्तरिक्षे च लोकस्योरुभयावहाः॥ ३॥

इन दोनों सन्तानोंके जन्म लेते ही स्वर्गलोक, पृथ्वीलोक और अन्तरीक्षमें बहुत-से उपद्रव होने लगे, जिनके कारण लोग अत्यन्त भयभीत हो गये॥ ३॥

सहाचला भुवश्चेलुर्दिशः सर्वाः प्रजज्वलुः।
सोल्काश्चाशनयः पेतुः केतवश्चार्तिहेतवः॥ ४॥

उस समय पर्वतों आदिके साथ समस्त पृथ्वी काँपने लगीं, दिशाएँ प्रज्ज्वलित हो उठीं, उल्कापातके साथ-साथ वज्रपात होने लगा और आकाशमें लोगोंके लिए अनिष्ट-सूचक धूमकेतु (पुच्छल-तारे) दिखायी देने लगे॥ ४॥

ववौ वायुः सुदुःस्पर्शः फुत्कारानीरयन्मुहुः।
उन्मूलयन्नगपतीन् वात्यानीको रजोध्वजः॥ ५॥

बार-बार साँय-साँय करती हुई विकट और असहनीय आँधी बड़े-बड़े वृक्षोंको उखाड़ती हुई प्रवाहित होने लगी। उस समय प्रबल आँधीके झौंके उसकी सेना तथा उड़ती धूल उसकी ध्वजाके समान जान पड़ती थी॥ ५॥

उद्धसत्तडिदम्भोदघटया नष्टभागणे।
व्योम्नि प्रविष्टतमसा न स्म व्यादृश्यते पदम्॥ ६॥

उस समय आकाशमें विद्युत्‌रूप अट्टहाससे युक्त घनघोर मेघमालाओंने सूर्यादि ग्रह-नक्षत्रोंके प्रकाशको ढक दिया जिससे नभमण्डलमें सर्वत्र अन्धकार छा गया और कहीं कुछ भी दिखायी नहीं दे रहा था॥ ६॥

चुक्रोश विमना वार्द्धिरुदूर्मिः क्षुभितोदरः।
सोदपानाश्च सरितश्चुक्षुभुः शुष्कपङ्कजाः॥ ७॥

समुद्र मानो दुःखी होकर गर्जन (विलाप) करने लगा, उसमें ऊँची-उँची विकराल तरङ्गें उठने लगीं, जिससे उसके भीतर रहनेवाले मकर आदि जलजन्तु क्षुब्ध हो उठे। सरोवरों, कूपों तथा सभी नदियोंमें भी ऐसी खलबली मच गयी कि उनमें खिलनेवाले समस्त कमल सूख गये॥ ७॥

मुहुः परिधयोऽभूवन् सराह्वोः शशिसूर्ययोः।
निर्घाता रथनिर्ह्रादा विवरेभ्यः प्रजज्ञिरे॥ ८॥

राहुसे ग्रस्त चन्द्रमा और सूर्यके अमङ्गलसूचक परिधि-मण्डल बार-बार दिखायी देने लगे, बिना बादलोंके ही पुनः-पुनः मेघगर्जन होने लगा तथा पर्वतोंकी गुफाओंसे रथ-चक्रकी घरघराहट जैसा भयावह शब्द निकलने लगा॥ ८॥

अन्तर्ग्रामेषु मुखतो वमन्त्यो वह्निमुल्बणम्।
शृगालोलूकटङ्कारैः प्रणेदुरशिवं शिवाः॥ ९॥

गाँवोंमें गीदड़ एवं उल्लुओंकी भयानक ध्वनिके साथ सियारिनें अपने मुखसे दहकती आग उगलती हुई अमङ्गलसूचक चित्कार करने लगीं॥ ९॥

सङ्गीतवद्रोदनवदुन्नमय्य शिरोधराम्।
व्यमुञ्चन् विविधा वाचो ग्रामसिंहास्ततस्ततः॥ १०॥

जहाँ-तहाँ कुत्ते गर्दन ऊपर उठाकर कभी गाने और कभी रोनेके समान भाँति-भाँतिके शब्द करने लगे॥ १०॥

खराश्च कर्कशैः क्षत्तः खुरैर्घ्नन्तो धरातलम्।
खार्काररभसा मत्ताः पर्यधावन् वरूथशः॥ ११॥

हे विदुर! गधे झुण्ड बनाकर अपने तीक्ष्ण खुरोंसे पृथ्वीको खोदने लगे और उन्मत्त होकर रेंकते हुए चारों दिशाओंमें इधर-उधर दौड़ने लगे॥ ११॥

रुदन्तो रासभात्त्रस्ता नीडादुदपतन् खगाः।
घोषेऽरण्ये च पशवः शकृन्मूत्रमकुर्वत॥ १२॥

गधोंके रेंकनेसे भयभीत होकर पक्षी खेद सूचक रोदन करते हुए अपने-अपने घोंसलोंसे उड़ने लगे। अपने खिरकोंमें बँधे हुए तथा वनमें चरते हुए गाय-बैल आदि सभी पशु डरकर बार-बार मलमूत्र त्यागने लगे॥ १२॥

गावोऽत्रसन्नसृग्दोहास्तोयदाः पूयवर्षिणः।
व्यरुदन् देवलिङ्गानि द्रुमाः पेतुर्विनानिलम्॥ १३॥

गायें इतनी डर गयीं कि उनके थनोंसे रक्तयुक्त दुग्ध निकलने लगा तथा बादलोंसे पीब बरसने लगा। सभी देव-प्रतिमाओंकी आँखोंसे आँसू बहने लगे और आँधीके बिना ही वृक्ष उखड़-उखड़ कर भूमिपर गिरने लगे॥ १३॥

ग्रहान् पुण्यतमानन्ये भगणांश्चापि दीपिताः।
अतिचेरुर्वक्रगत्या युयुधुश्च परस्परम्॥ १४॥

शनि और मङ्गलादि क्रूर ग्रह भी अत्यन्त उद्दीप्त होकर बृहस्पति और शुक्रादि शुभ ग्रहोंको लाँघकर चलने लगे तथा वक्रगतिसे पीछे चलकर परस्पर युद्ध करने लगे॥ १४॥

दृष्ट्वान्यांश्च महोत्पातान्नतत्तत्त्वविदः प्रजाः।
ब्रह्मपुत्रानृते भीता मेनिरे विश्वसंप्लवम्॥ १५॥

इनके अतिरिक्त और भी अनेक भयङ्कर उत्पातोंको देखकर ब्रह्मापुत्र सनकादिके अतिरिक्त अन्य समस्त प्रजा शापके कारण दैत्योंकी उत्पत्तिके विषयमें न जाननेके कारण भयभीत होकर यही समझने लगी कि अब विश्वमें प्रलय होनेवाली है॥ १५॥

तावादिदैत्यौ सहसा व्यज्यमानात्मपौरुषौ।
ववृधातेऽश्मसारेण कायेनाद्रिपती इव॥ १६॥

इधर उन दोनों आदि दैत्योंका पूर्वसिद्ध पराक्रम सहसा प्रकाशित होने लगा और उनका शरीर दिन-प्रतिदिन दो बृहत् पर्वतोंके समान विशाल तथा पत्थरके समान कठोर होने लगा॥ १६॥

दिविस्पृशौ हेमकिरीटकोटिभि-
र्निरुद्धकाष्ठौ स्फुरदङ्गदाभुजौ।
गां कम्पयन्तौ चरणैः पदे पदे
कट्या सुकाञ्च्यार्कमतीत्य तस्थतुः॥ १७॥

उन दैत्योंके स्वर्णमय मुकुटोंका अग्रभाग मानो स्वर्गको स्पर्श करने लगा और उनके विशाल शरीरने दिशाओंको ढक लिया। उनकी भुजाएँ स्वर्णनिर्मित बाजूबन्द आदिसे सुशोभित हो रही थीं तथा उनके द्वारा पृथ्वीपर एक-एक कदम रखनेपर भूकम्प होने लगता था। जब वे खड़े होते थे, तब उनके कटिदेश (कमर) पर स्थित सुशोभित करधनी अपनी चमचमाहटसे सूर्यको भी मात करती थी और कटिदेशकी ऊँचाई सूर्यको भी पार कर देती थी॥ १७॥

प्रजापतिर्नाम तयोरकार्षीत्
यः प्राक् स्वदेहाद्यमयोरजायत।
तं वै हिरण्यकशिपुं विदुः प्रजा
यं तं हिरण्याक्षमसूत साग्रतः॥ १८॥

प्रजापति कश्यपने उन दोनों जुड़वा पुत्रोंका नामकरण किया। इनमें जो कश्यप मुनिके वीर्य द्वारा दितिके गर्भमें पहले स्थापित हुआ था, उस ज्येष्ठ पुत्रका नाम हिरण्यकशिपु रखा और जो दितिके गर्भसे पहले निकला उस कनिष्ठ पुत्रका नाम हिरण्याक्ष रखा॥ १८॥

चक्रे हिरण्यकशिपुर्दोर्भ्यां ब्रह्मवरेण च।
वशे सपालान् लोकांस्त्रीनकुतोमृत्युरुद्धतः॥ १९॥

हिरण्यकशिपुने ब्रह्माजीके वरसे मृत्यरहित होकर तथा अपनी भुजाओंके बलसे गर्वित होकर दिक्पालोंके साथ तीनों लोकोंको अपने वशमें कर लिया था॥ १९॥

हिरण्याक्षोऽनुजस्तस्य प्रियः प्रीतिकृदन्वहम्।
गदापाणिर्दिवं यातो युयुत्सुर्मृगयन् रणम्॥ २०॥

उस हिरण्यकशिपुका अत्यन्त प्रिय तथा सदा प्रियकार्य करनेवाला छोटा भाई हिरण्याक्ष एक दिन हाथमें गदा लेकर युद्धका अवसर खोजता हुआ स्वर्गलोकमें जा पहुँचा॥ २०॥

तं वीक्ष्य दुःसहजवं रणत्काञ्चननूपुरम्।
वैजयन्त्या स्रजा जुष्टमंसन्यस्तमहागदम्॥ २१॥

मनोवीर्यवरोत्सिक्तमसृण्यमकुतोभयम्।
भीता निलिल्यिरे देवास्तार्क्ष्यत्रस्ता इवाहयः॥ २२॥

हिरण्याक्षका वेग दुःसहनीय था, उसके दोनों पैरोंसे सोनेके नूपुरोंकी झनकार हो रही थी, गलेमें वैजयन्ती अर्थात् पुष्प-पल्लवादिसे निर्मित माला सुशोभित थी, कन्धेपर विशाल गदा रखी हुई थी, शारीरिक बल, मनोबल और ब्रह्माजीके वरदानसे वह क्रमशः गर्वित, निरङ्कुश और निर्भय हो गया था। उसे देखकर देवता इस प्रकार

डरकर छिप गये, जिस प्रकार गरुड़को देखकर सर्प डरकर छिप जाते हैं॥ २१-२२॥

स वै तिरोहितान् दृष्ट्वा महसा स्वेन दैत्यराट्।
सेन्द्रान् देवगणान् क्षीबानपश्यन् व्यनदद्भृशम्॥ २३॥

दैत्यराज हिरण्याक्षने जब देखा कि देवराज इन्द्रके साथ अपनी शक्तिका गर्व करनेवाले बड़े-बड़े देवता भी उसके तेजसे डरकर छिप गये हैं, तो अपने समक्ष किसीको न देखकर वह अत्यधिक मतवाला हो गया और भीषण गर्जना करने लगा॥ २३॥

ततो निवृत्तः क्रीडिष्यन् गम्भीरं भीमनिःस्वनम्।
विजगाहे महासत्त्वो वार्द्धिं मत्त इव द्विपः॥ २४॥

इसके बाद वह महाबली हिरण्याक्ष स्वर्गसे लौट आया और जल-क्रीड़ा करनेकी अभिलाषासे उसने मतवाले हाथीके समान अत्यन्त गहरे और भयङ्कर गर्जन करनेवाले समुद्रमें प्रवेश किया॥ २४॥

तस्मिन् प्रविष्टे वरुणस्य सैनिका
यादोगणाः सन्नधियः ससाध्वसाः।
अहन्यमाना अपि तस्य वर्चसा
प्रधर्षिता दूरतरं प्रदुद्रुवुः॥ २५॥

जैसे ही उस हिरण्याक्षने समुद्रमें प्रवेश किया, वरुणकी सेना-स्वरूप जलजन्तु भयके कारण घबरा गये। वे उसके तेजसे इस प्रकार डर गये कि उसके द्वारा प्रताड़ित न किये जानेपर भी वे सब बहुत दूर भाग गये॥ २५॥

स वर्षपूगानुदधौ महाबल-
श्चरन्महोर्मीन् श्वसनेरितान्मुहुः।
मौर्व्याभिजघ्ने गदया विभावरी-
मासेदिवांस्तात पुरीं प्रचेतसः॥ २६॥

हे विदुर! वह महाबली दैत्य बहुत वर्षों तक समुद्रमें विचरण करता रहा, किन्तु अपने सामने किसी प्रतिपक्षी योद्धाको न पाकर वह बार-बार अपनी निःश्वास वायुके वेगसे उठी हुई समुद्रकी प्रचण्ड

तरङ्गोंपर ही काली लौहमयी गदासे बारबार आघात करने लगा। हे विदुर! इसके बाद वह विचरण करते हुए वरुणदेवकी विभावरी नामक पुरीमें पहुँचा॥ २६॥

तत्रोपलभ्यासुरलोकपालकं
यादोगणानामृषभं प्रचेतसम्।
स्मयन् प्रलब्धुं प्रणिपत्य नीचव-
ज्जगाद मे देह्यधिराज संयुगम्॥ २७॥

वहाँ पाताललोकके पालक (स्वामी) तथा जलचरोंके अधिपति वरुणदेवको देखकर बड़े गर्वसे उनका उपहास करनेके लिए ही मानो उसने उन्हें प्रणाम किया और नीचके समान मुसकराते हुए व्यंग्य करते हुए कहने लगा—हे महाराज! मुझे युद्धकी भिक्षादान दीजिये॥ २७॥

त्वं लोकपालोऽधिपतिर्बृहच्छ्रवा
वीर्यापहो दुर्मदवीरमानिनाम्।
विजित्य लोके किल दैत्यदानवान्
यद्राजसूयेन पुरायजत् प्रभो॥ २८॥

हे प्रभो! आप लोकपालोंके अधीश्वर, महायशस्वी और अपनी वीरताका अभिमान करनेवाले दुर्मद व्यक्तियोंके दर्पको चूर्ण-विचूर्ण करनेवाले हैं। आपने पहले भी इस लोकमें दैत्य-दानवोंको पराजित करके राजसूय यज्ञका अनुष्ठान किया था, अब मेरे साथ युद्ध करके अपनी पूर्वकीर्त्तिका संरक्षण कीजिये॥ २८॥

स एवमुत्सिक्तमदेन विद्विषा
दृढं प्रलब्धो भगवानपाम्पतिः।
रोषं समुत्थं शमयन् स्वया धिया
न्यवोचदङ्गोपशमं गता वयम्॥ २९॥

मदमत्त शत्रुके द्वारा इस प्रकार उपहास किये जानेपर जलके अधिपति वरुणदेवको बहुत क्रोध आया, किन्तु उन्होंने अपने बुद्धि-बलसे क्रोधका सम्वरण कर लिया और कहा—हे दैत्यराज! हमें अब युद्धादिमें कोई रुचि नहीं रह गयी है॥ २९॥

पश्यामि नान्यं पुरुषात् पुरातनाद्-
यः संयुगे त्वां रणमार्गकोविदम्।
आराधयिष्यत्यसुरर्षभेहि तं
मनस्विनो यं गृणते भवादृशाः॥ ३०॥

हे दैत्यराज! एक पुराणपुरुष विष्णुके अतिरिक्त हमें ऐसा और कोई व्यक्ति दिखायी नहीं देता है, जो युद्ध-विद्यामें निपुण तुम्हारे साथ युद्ध करके तुम्हें सन्तुष्ट करनेमें समर्थ हो। अतएव तुम्हारे समान वीर जिनकी स्तुति किया करते हैं, तुम उन विष्णुके ही पास जाओ, क्योंकि वे ही तुम्हारी कामनाको पूर्ण कर सकते हैं॥ ३०॥

तं वीरमारादभिपद्य विस्मयः
शयिष्यसे वीरशये श्वभिर्वृतः।
यस्त्वद्विधानामसतां प्रशान्तये
रूपाणि धत्ते सदनुग्रहेच्छया॥ ३१॥

वे महावीर हैं, अतः जैसे-ही तुम उनके पास पहुँचोगे, तुम्हारा गर्व शीघ्र ही नष्ट हो जायेगा और तुम युद्ध क्षेत्रमें कुत्तों आदिसे घिरकर वीर-शय्यापर शयन करोगे। श्रीविष्णु साधुओंके प्रति अनुग्रह करनेके लिए और तुम्हारे समान दुष्टोंके विनाशके लिए नृसिंह, वराह आदि रूप धारण किया करते हैं॥ ३१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां तृतीयस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे हिरण्याक्ष-दिग्विजये आदिदैत्योत्पत्तिर्नाम सप्तदशोऽध्यायः॥

अष्टादशोऽध्यायः

हिरण्याक्षके साथ भगवान् वराहदेवका युद्ध

श्रीमैत्रेय उवाच—

तदेवमाकर्ण्य जलेशभाषितं
महामनास्तद्विगणय्य दुर्मदः।
हरेर्विदित्वा गतिमङ्ग नारदा-
द्रसातलं निर्विविशे त्वरान्वितः॥ १॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! जलाधिपति वरुणसे प्रतियोद्धाके विषयमें सुनकर भी महाबलके मदसे उन्मत्त उस दैत्यने वरुणदेवके इस तिरस्कार कथन 'तू उनके हाथसे मारा जायेगा' पर कोई ध्यान नहीं दिया। परन्तु दैववशतः समागत श्रीनारदसे श्रीहरिके स्थानका पता लगाकर वह शीघ्र ही रसातलमें पहुँच गया॥ १॥

ददर्श तत्राभिजितं धराधरं
प्रोन्नीयमानावनिमग्रदंष्ट्रया।
मुष्णन्तमक्ष्णा स्वरुचोऽरुणश्रिया
जहास चाहो वनगोचरो मृगः॥ २॥

वहाँ रसातलमें उसने सर्वजयी, धराधारी वराहरूपी श्रीहरिको अपनी दाढ़ोंकी नोंकपर धरतीको ऊपरकी ओर ले जाते देखा। उस समय श्रीवराहदेव मानो अपने लाल-लाल और चमकीले नेत्रोंसे उस दैत्यका तेज हर रहे थे। हिरण्याक्ष दैत्य श्रीभगवान्‌को इस रूपमें देखकर खिलखिलाकर हँस पड़ा और बोला—"अरे! यह तो एक जलचर वराह है॥"२॥

आहैनमेह्यज्ञ महीं विमुञ्च नो
रसौकसां विश्वसृजेयमर्पिता।

न स्वस्ति यास्यस्यनया ममेक्षतः
सुराधमासादितशूकराकृते ॥ ३ ॥

इसके बाद उस दैत्यने वराहरूपी श्रीभगवान्‌से कहा—रे मूर्ख! जरा इधर तो आ। इस पृथ्वीको छोड़ दे, क्योंकि इस धराको तो ब्रह्माने हम पातालवासियोंको दे रखा है। हे वराहरूपधारी देवताधम! मेरे देखते-देखते क्या तू पृथ्वीको लेकर यहाँसे कुशलतापूर्वक जा सकेगा? ॥ ३ ॥

त्वं नः सपत्नैरभवाय किं भृतो
यो मायया हन्त्यसुरान् परोक्षजित्।
त्वां योगमायाबलमल्पपौरुषं
संस्थाप्य मूढ प्रमृजे सुहृच्छुचः ॥ ४ ॥

अरे सुराधम! क्या मेरे परम शत्रु देवताओंने तुझे मेरे नाशके लिए पाला-पोसा है। तू तो चोरके समान लुक-छिपकर रहता है और मायाके द्वारा असुरोंका विनाश करता रहता है। अरे मूर्ख! योगमाया ही तो तेरा बल है, किन्तु वास्तवमें तुझमें कोई बल नहीं है। तेरे जैसे दुर्बलका विनाश करके आज मैं अपने सुहृदोंका दुःख दूर करूँगा ॥ [१] ४ ॥

त्वयि संस्थिते गदया शीर्णशीर्ष-
ण्यस्मद्भुजच्युतया ये च तुभ्यम्।
बलिं हरन्त्यृषयो ये च देवाः
स्वयं सर्वे न भविष्यन्त्यमूलाः ॥ ५ ॥

जब मेरे हाथसे यह गदा छूटेगी, तो इसके आघातसे तेरा सिर चूर्ण-विचूर्ण हो जायेगा और तू मारा जायेगा। उस समय तेरे जो

---

[१] (पक्षान्तरमें—)हमारे वैरीपक्ष देवताओंने हमें मोक्ष प्राप्त करानेके लिए क्या आपका आश्रय लिया है? आप तो अप्रत्यक्ष रूपमें रहकर भी कृपापूर्वक असुरों तकको सद्गति प्रदान करते हैं तथा महामूढ़जनों तकको भी अपनी भक्ति प्रदानकर तुष्ट करते हैं। योगमाया ही आपकी अचिन्त्यशक्ति है, कारणार्णवशायी महत्स्रष्टा पुरुषका विश्वसृष्टि आदि पौरुष भी आपके अनुरूप नहीं है। भक्तियोगसे आपको हृदयमन्दिरमें संस्थापन करके मैं अपने सुहृद्गुणोंका संसार-दुःख दूर करूँगा।

भक्त, ऋषि एवं देवता आदि तुझे पूजोपहार अर्पण करते हैं, वे स्वयं ही निर्मूल होकर नष्ट हो जायेंगे॥ ५॥

स तुद्यमानोऽरिदुरुक्ततोमरै-
र्दंष्ट्राग्रगां गामुपलक्ष्य भीताम्।
तोदं मृषन्निरगादम्बुमध्याद्-
ग्राहाहतः सकरेणुर्यथेभः॥ ६॥

शत्रुके इस प्रकारके कटु वचनरूप अस्त्रोंसे परम व्यथित होनेपर भी भगवान् वराहदेव अपने दाढ़ोंकी नोकपर स्थित पृथ्वीको भयविह्वल होते देखकर दैत्यके दुर्वचनरूप बाणोंकी चोटोंको सहन कर गये। मकर आदि जलजन्तुओंके द्वारा आहत गजराज जिस प्रकार हथिनीके साथ जलसे निकल आता है, उसी प्रकार भगवान् धरतीको लेकर जलसे बाहर निकल आये॥ ६॥

तं निःसरन्तं सलिलादनुद्रुतो
हिरण्यकेशो द्विरदं यथा झषः।
करालदंष्ट्रोऽशनिनिःस्वनोऽब्रवी-
द्गतह्रियां किं त्वसतां विगर्हितम्॥ ७॥

हिरण्याक्षके तिरस्कारकी उपेक्षा करते हुए भगवान् श्रीवराहदेव जिस समय जलसे बाहर निकले, उस समय ग्राह जिस प्रकार हाथीका पीछा करता है, उसी प्रकार वह भयङ्कर दाढ़ों और पीले केशोंवाला हिरण्याक्ष उनका पीछा करते हुए वज्रके समान गर्जन करते हुए कहने लगा—"अरे निर्लज्ज! भाग रहा है! सच है, असत् पुरुष (कापुरुष) के लिए कुछ भी निन्दनीय नहीं है॥"७॥

स गामुदस्तात् सलिलस्य गोचरे
विन्यस्य तस्यामदधात् स्वसत्त्वम्।
अभिष्टुतो विश्वसृजा प्रसूनै-
रापूर्यमाणो विबुधैः पश्यतोऽरेः॥ ८॥

भगवान्ने दैत्यके वचनोंकी चिन्ता न कर पृथ्वीको ले जाकर जलकी सतहपर अपनी दृष्टिके समक्ष स्थापित कर दिया और उसमें

अपनी आधार शक्ति निहित कर दी। उस समय ब्रह्माजी उनकी स्तुति करने लगे और देवता उनपर फूलोंकी वर्षा करने लगे॥ ८॥

परानुषक्तं तपनीयोपकल्पं
महागदं काञ्चनचित्रदंशम्।
मर्माण्यभीक्ष्णं प्रतुदन्तं दुरुक्तैः
प्रचण्डमन्युः प्रहसंस्तं बभाषे॥ ९॥

स्वर्णमय आभूषणों एवं विचित्र काञ्चनमय कवचसे विभूषित दैत्य हिरण्याक्ष बहुत भारी गदा लिये भगवान्‌के पीछे-पीछे आ रहा था और अपने कटु वचनोंसे वराहदेवको निरन्तर मर्मान्तक पीड़ा प्रदान कर रहा था। अब भगवान् बहुत क्रोधित हो उठे और उसका उपहास करते हुए कहने लगे॥ ९॥

श्रीभगवानुवाच—

सत्यं वयं भो वनगोचरा मृगा
युष्मद्विधान् मृगये ग्रामसिंहान्।
न मृत्युपाशैः प्रतिमुक्तस्य वीरा
विकत्थनं तव गृह्णन्त्यभद्र॥ १०॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—हे अभद्र! हम तो सचमुच जलचर शूकर हैं तथा तेरे जैसे ग्राम-सिंहों (कुत्तों) को ढूँढ़ते रहते हैं। अरे! तू तो मृत्यु-पाशमें बँधा हुआ है। मेरे जैसे वीर पुरुष कभी भी तेरे जैसे अभागे जीवोंकी आत्मश्लाघा (स्वयं ही अपनी महिमा गान करने) पर ध्यान नहीं देते॥ १०॥

एते वयं न्यासहरा रसौकसां
गतह्रियो गदया द्रावितास्ते।
तिष्ठामहेऽथापि कथञ्चिदाजौ
स्थेयं क्व यामो बलिनोत्पाद्य वैरम्॥ ११॥

रसातलवासियोंकी धरोहरको चुरानेके कारण निस्सन्देह मैं बहुत निर्लज्ज हो गया हूँ तथा यद्यपि तुम्हारी गदा द्वारा मुझे कष्ट हो रहा है, तथापि असमर्थ होकर भी मैं किसी प्रकारसे इसी स्थानपर रहूँगा।

अर्थात् मुझे युद्ध-क्षेत्रमें ही रहना होगा, क्योंकि तेरे जैसे बलवानके साथ विरोध करके अन्यत्र कहीं जानेका स्थान ही कहाँ है?॥ ११॥

त्वं पद्रथानां किल यूथपाधिपो
घटस्व नोऽस्वस्तय आश्वनूहः।
संस्थाप्य चास्मान् प्रमृजाश्रु स्वकानां
यः स्वां प्रतिज्ञां नातिपिपर्त्यसभ्यः॥ १२॥

तू पैदल वीरोंके यूथपतियोंका प्रधान और भयहीन है। अतः अरे! अब विलम्ब न कर तथा बिना किसी दुविधाके शीघ्र ही हमें पराभूत करनेका प्रयत्न कर। हमें मारकर तू अपने आत्मीयजनोंके आँसू पोंछ। जो अपनी प्रतिज्ञाकी मर्यादा (रक्षा) नहीं कर सकता, वह तो नितान्त असभ्य अर्थात् सभ्य-समाजमें बैठने योग्य नहीं है॥ १२॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

सोऽधिक्षिप्तो भगवता प्रलब्धश्च रुषा भृशम्।
आजहारोल्बणं क्रोधं क्रीड्यमानोऽहिराडिव॥ १३॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—भगवान् श्रीहरिने जब इस प्रकारसे उस दैत्यका तिरस्कार और उपहास किया, तब क्रीड़ा करनेके समय छेड़नेसे महासर्प जिस प्रकार क्रोधित हो जाता है, उसी प्रकार वह दैत्य भी अपने तिरस्कारके कारण क्रोधसे तिलमिला उठा॥ १३॥

सृजन्नमर्षितः श्वासान्मन्युप्रचलितेन्द्रियः।
आसाद्य तरसा दैत्यो गदया न्यहनद्धरिम्॥ १४॥

क्रोधावेशसे उसकी इन्द्रियाँ क्षुब्ध हो उठीं तथा अत्यधिक क्रोधके कारण लम्बे-लम्बे निःश्वास छोड़ते हुए उसने बड़े वेगसे कूदकर भगवान्पर गदासे प्रहार किया॥ १४॥

भगवांस्तु गदावेगं विसृष्टं रिपुणोरसि।
अवञ्चयत्तिरश्चीनो योगारूढ इवान्तकम्॥ १५॥

परन्तु, योगी पुरुष जिस प्रकार योगारूढ़ होकर मृत्युसे अपनेको बचा लेता है, उसी प्रकार भगवान्ने भी अपने वक्षःस्थलपर चलायी

गयी उस गदाके प्रहारको थोड़ा-सा वक्र होकर निष्फल कर दिया॥ १५॥

पुनर्गदां स्वामादाय भ्रामयन्तमभीक्ष्णशः।
अभ्यधावद्धरिः क्रुद्धः संरम्भाद्दष्टदच्छदम्॥ १६॥

हिरण्याक्ष पुनः अपनी गदाको उठाकर उसे बार-बार घुमाने लगा और क्रोधके कारण दाँतोंसे अपने होठोंको काटने लगा। तब भगवान् श्रीहरि अत्यन्त कुपित होकर उस दैत्यकी ओर झपटे॥ १६॥

ततश्च गदयारातिं दक्षिणस्यां भ्रुवि प्रभुः।
आजघ्ने स तु तां सौम्य गदया कोविदोऽहनत्॥ १७॥

इसके बाद भगवान्ने अपनी गदासे शत्रुकी दायीं भौंहपर प्रहार किया। किन्तु, हे सौम्य विदुर! गदायुद्धमें निपुण उस दैत्यने उस प्रहारको बीचमें ही अपनी गदापर रोक लिया, जिससे वह आहत न हो सका॥ १७॥

एवं गदाभ्यां गुर्वीभ्यां हर्यक्षो हरिरेव च।
जिगीषया सुसंरब्धावन्योन्यमभिजघ्नतुः॥ १८॥

इस प्रकार हिरण्याक्ष और भगवान् वराहदेव दोनों ही जय-प्राप्तिकी इच्छासे युद्ध करते हुए एक-दूसरेपर अपनी-अपनी भारी गदाओंसे प्रहार करने लगे॥ १८॥

तयोः स्पृधोस्तिग्मगदाहताङ्गयोः
क्षतास्रवघ्राणविवृद्धमन्व्योः।
विचित्रमार्गांश्चरतोर्जिगीषया
व्यभादिलायामिव शुष्मिणोर्मृधः॥ १९॥

इस प्रकार दोनोंमें ही परस्पर स्पर्धा होने लगी। तीक्ष्ण गदाओंके प्रहारसे दोनोंके ही अङ्ग क्षत-विक्षत हो गये और उन क्षत स्थानोंसे बहते हुए रक्तकी गन्ध पाकर दोनों ही अत्यधिक क्रोधित हो उठे। परस्पर विजयकी अभिलाषासे दोनों ही गदायुद्धके तरह-तरहके पैंतरे बदलने लगे। जिस प्रकार एक गायके लिए दो मतवाले साँढ़ोंके बीच

महायुद्धका दृश्य उपस्थित होता है, उन दोनोंका संग्राम भी इसी प्रकार शोभा पा रहा था॥ १९॥

दैत्यस्य यज्ञावयवस्य मायया
गृहीतवाराहतनोर्महात्मनः ।
कौरव्य मह्यां द्विषतोर्हिमर्दनं
दिदृक्षुरागादृषिभिर्वृतः स्वराट्॥ २०॥

हे विदुर! जब यज्ञमूर्त्ति श्रीविष्णु अपनी स्वरूपशक्तिके प्रभावसे वराहरूप धारण करके हिरण्याक्षके साथ पृथ्वीके लिए इस प्रकार युद्धमें प्रवृत्त हुए, तब महापुरुष श्रीहरि और दैत्यके बीच होनेवाले इस संग्रामको देखनेके लिए मरीचि आदि ऋषियोंसे परिवेष्टित होकर श्रीब्रह्मा युद्धस्थलमें उपस्थित हुए॥ २०॥

आसन्नशौण्डीरमपेतसाध्वसं
कृतप्रतीकारमहार्यविक्रमम् ।
विलक्ष्य दैत्यं भगवान् सहस्रणी-
र्जगाद नारायणमादिशूकरम्॥ २१॥

हजारों ऋषियोंके नेता श्रीब्रह्माने देखा कि दैत्य अत्यधिक शौर्य-मदसे उन्मत्त हो रहा है। उसमें लेशमात्र भी भय नहीं हैं, बल्कि वह तो भगवान्‌के द्वारा किये गये प्रहारोंको भी व्यर्थ कर रहा है, भगवान् द्वारा उस दैत्यके ऐसे विक्रमका कोई प्रतिकार नहीं होता देखकर ब्रह्माजीने आदि-वराहदेव श्रीविष्णुसे कहा—॥ २१॥

श्रीब्रह्मोवाच—

एष ते देवदेवानामङ्घ्रिमूलमुपेयुषाम्
विप्राणां सौरभेयीणां भूतानामप्यनागसाम्।
आगस्कृद्भयकृद्दुष्कृदस्मद्राद्धवरोऽसुरः
अन्वेषन्नप्रतिरथो लोकानटति कण्टकः॥ २२॥

श्रीब्रह्माने कहा—हे देव! यह असुर मुझसे वरदान प्राप्त करके इतना प्रबल हो गया है कि अब इसकी जोड़का कोई प्रतिद्वन्दी ही नहीं रहा। यह आपके चरणाश्रित देवताओं, ब्राह्मणों, गायों और अन्य

निरपराध प्राणियोंपर वृथा ही अत्याचार कर रहा है। यदि कोई इसे रोकता है, तो यह उसे डर दिखाता है और उसे भयभीत देखकर उसके अर्थ, प्राण आदि सभीका अपहरण कर लेता है। यह कण्टकके समान उत्पीड़नकारी दैत्य अपने समान प्रतिद्वन्द्वीको ढूँढ़ता हुआ समस्त लोकोंमें भ्रमण कर रहा है॥ २२॥

मैनं मायाविनं दृप्तं निरङ्कुशमसत्तमम्।
आक्रीड बालवद्देव यथाशीविषमुत्थितम्॥ २३॥

हे देव! यह दुष्ट बड़ा ही मायावी, अहङ्कारी और निरङ्कुश है। जिस प्रकार बालक क्षुब्ध सर्पकी पूँछको खींच-खींचकर उसके साथ खेलता है, वैसे ही आप इसके साथ और खिलवाड़ न करें॥ २३॥

न यावदेष वर्द्धेत स्वां वेलां प्राप्य दारुणः।
स्वां देव मायामास्थाय तावज्जह्यघमच्युत॥ २४॥

हे देव! हे अच्युत! जिस समय तक आसुरी बेला न आ जाये और यह निर्दयी दैत्य अपनी मायाके द्वारा और अधिक प्रबल न हो जाये, उससे पहले ही आप अपनी अचिन्त्यशक्ति प्रकट करके मूर्त्तिमान पापरूपी इस दैत्यका विनाश कर डालिये॥ २४॥

एषा घोरतमा सन्ध्या लोकच्छद्म(म्ब)ट्करी प्रभो।
उपसर्पति सर्वात्मन् सुराणां जयमावह॥ २५॥

हे प्रभो! इस समय लोकोंका संहार करनेवाली सन्ध्याकी घोर बेला उपस्थित होने ही वाली है। अतः हे सर्वात्मन्! इससे पहले ही इस असुरको मारकर आप देवताओंको विजय दिलवाइये॥ २५॥

अधुनैषोऽभिजिन्नाम योगो मौहूर्तिको ह्यगात्।
शिवाय नस्त्वत्सुहृदामाशु निस्तर दुस्तरम्॥ २६॥

हे देव! इस समय 'अभिजित्' नामक मङ्गलमय योग है। इस शुभ योगका स्थितिकाल मुहूर्त्तमात्र ही है और वह भी लगभग बीतनेवाला है। हम आपके सुहृद हैं, अतः हमारे कल्याणके लिए आप क्षणभर भी विलम्ब न करके इस दुर्जय दैत्यका वध कर डालिये॥ २६॥

दिष्ट्या त्वां विहितं मृत्युमयमासादितः स्वयम्।
विक्रम्यैनं मृधे हत्वा लोकानाधेहि शर्मणि॥ २७॥

हे भगवन्! आपने इसपर शापरूपी अनुग्रह करते समय स्वयंको ही इसकी मृत्युस्वरूपमें स्थिर किया है, अर्थात् इसकी मृत्यु आपके ही हाथसे निश्चित है। अब भाग्यक्रमसे यह दैत्य स्वयं ही आपके समीप आ गया है, अतः पराक्रम दिखाते हुए युद्धमें इसका संहारकर त्रिभुवनमें सुख स्थापित कीजिये॥ २७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां तृतीयस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे हिरण्याक्ष-युद्धे अष्टादशोऽध्यायः॥

एकोनविंशोऽध्यायः

हिरण्याक्ष दैत्यका वध

श्रीमैत्रेय उवाच—

अवधार्य विरिञ्चस्य निर्व्यलीकामृतं वचः।
प्रहस्य प्रेमगर्भेण तदपाङ्गेन सोऽग्रहीत्॥ १॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—श्रीब्रह्माके निष्कपट और अमृतमय वचनोंको सुनकर भगवान् श्रीवराहदेव उनपर किञ्चित् मुसकराये और स्नेहपूर्ण कटाक्षके द्वारा उनकी प्रार्थनाको स्वीकार कर लिया॥ १॥

ततः सपत्नं मुखतश्चरन्तमकुतोभयम्।
जघानोत्पत्य गदया हनावसुरमक्षजः॥ २॥

इसके बाद श्रीब्रह्माकी नाकसे आविर्भूत आदि वराहदेव अपने शत्रु हिरण्याक्षको अपने ही सामने निर्भीक रूपसे विचरण करते देख छलाङ्ग लगाकर उसपर कूद पड़े और उन्होंने अपनी गदासे उसकी ठोडीपर प्रहार किया॥ २॥

सा हता तेन गदया विहता भगवत्करात्।
विघूर्णितापतद्रेजे तदद्भुतमिवाभवत्॥ ३॥

किन्तु महाबली हिरण्याक्षने भी जब अपनी गदासे वराहदेवकी गदाके ऊपर प्रत्याघात किया, तब भगवान्‌की वह गदा उनके हाथसे छूट गयी और चक्कर काटती हुई नीचे भूमिपर गिरकर भी अत्यधिक सुशोभित होने लगी। अथवा इस घात-प्रतिघातसे हिरण्याक्षका पराक्रम और उत्साह बढ़कर अपूर्व रूपसे शोभित होने लगा। उस समय वह घटना बड़ी अद्भुत-सी प्रतीत हुई॥ ३॥

स तदा लब्धतीर्थोऽपि न बबाधे निरायुधम्।
मानयन् स मृधे धर्मं विष्वक्सेनं प्रकोपयन्॥ ४॥

भगवान्के निरस्त्र होनेपर उस दैत्यराजके लिए वराहदेवपर आक्रमण करनेका उपयुक्त अवसर था, किन्तु युद्धधर्मका सम्मान करते हुए हिरण्याक्षने उनपर गदासे प्रहार नहीं किया। अवश्य ही इस आचरणसे भगवान् श्रीनारायणका क्रोध बढ़ाना ही हिरण्याक्षका एकमात्र उद्देश्य था॥ ४॥

गदायामपविद्धायां हाहाकारे विनिर्गते।
मानयामास तद्धर्मं सुनाभञ्चास्मरद्विभुः॥ ५॥

इधर श्रीभगवान्के हाथसे गदाको छूटते देखकर देवताओं और ऋषियोंके मुखसे हा-हाकार ध्वनि निकलने लगी। उस समय भगवान् श्रीवराहदेवने उस दैत्य द्वारा इस युद्ध-नीतिके धर्मको पालन करनेकी प्रशंसा की और अपने सुदर्शनचक्रका स्मरण किया॥ ५॥

तं व्यग्रचक्रं दितिजाधमेन
स्वपार्षदमुख्येन विसज्जमानम्।
चित्रा वाचोऽतद्विदां खेचराणां
तत्रा स्मासन् स्वस्ति तेऽमुं जहीति॥ ६॥

श्रीभगवान्के द्वारा अपने चक्रका स्मरणमात्र करनेपर ही वह चक्र बड़े वेगके साथ उनके सम्मुख उपस्थित होकर उनके हाथमें घूमने लगा। देवताओंने उन सम्भ्रमयुक्त अर्थात् सेवाके लिए व्याकुल चक्रको धारण किये हुए भगवान्को बाहरमें दितिके अधम-पुत्ररूपमें न्याय आचरणकारी और अन्तरमें अपने प्रधान पार्षदके रूपमें अवस्थित हिरण्याक्षके साथ युद्धमें सम्मिलित होते देखा। उक्त आकाशचारी देवता भगवान्के अचिन्त्य प्रभावको नहीं जानते थे, अतः वे रणभूमिमें पुनः-पुनः इस प्रकार विचित्र वाक्य कहने लगे—हे देव! आपका मङ्गल हो! इस असुरके साथ और अधिक खिलवाड़ न कीजिये, इसे तुरन्त ही मार दीजिये॥ ६॥

स तं निशाम्यात्तरथाङ्गमग्रतो
व्यवस्थितं पद्मपलाशलोचनम्।

विलोक्य चामर्षपरिप्लुतेन्द्रियो
रुषा स्वदन्तच्छदमादशच्छ्वसन्॥ ७॥

जब दैत्यने देखा कि कमलकी पंखुड़ियोंके समान नेत्रवाले श्रीभगवान् चक्र धारण किए हुए उसके सामने खड़े हैं, तब वह भीषण क्रोधसे भर गया और उसकी इन्द्रियाँ व्याकुल होने लगीं। वह दीर्घ निःश्वास छोड़ता हुआ दाँतोंके अग्रभागसे अपने होठोंको चबाने लगा॥ ७॥

करालदंष्ट्रश्चक्षुर्भ्यां सञ्चक्षाणो दहन्निव।
अभिद्रुत्य स्वगदया हतोऽसीत्याहनद्धरिम्॥ ८॥

विकराल दाढ़ोंवाला वह दैत्य अपने लाल-लाल नेत्रोंके सञ्चालनसे मानो चारों दिशाओंको दग्ध करने लगा। अब वह भगवान्‌को तीव्र दृष्टिसे घूरते हुए उनकी ओर दौड़ पड़ा और 'ले, अब तू मरा'—यह कहकर ललकारते हुए उसने अपनी गदासे श्रीहरिपर प्रहार किया॥ ८॥

पदा सव्येन तां साधो भगवान् यज्ञशूकरः।
लीलया मिषतः शत्रोः प्राहरद्वातरंहसम्॥ ९॥

हे सौम्य विदुर! वराह शरीरधारी यज्ञर्मूत्त भगवान् श्रीहरिने शत्रुकी आँखोंके सामने ही उसकी वायुके समान वेगवती गदाको खेल-ही-खेलमें अपने बाएँ चरणसे रोककर नीचे गिरा दिया॥ ९॥

आह चायुधमाधत्स्व घटस्व त्वं जिगीषसि।
इत्युक्तः स तया भूयस्ताडयन् व्यनदद्भृशम्॥ १०॥

इसके बाद श्रीभगवान्‌ने कहा—हे दैत्य! यदि तू मुझे जीतना चाहता है, तो पुनः अस्त्र धारण करके आक्रमण करनेकी चेष्टा कर। श्रीभगवान्‌के द्वारा इस प्रकार ललकारनेपर उसने गदा उठाकर पुनः प्रहार किया और भयङ्कर रूपसे गरजने लगा॥ १०॥

तां स आपततीं वीक्ष्य भगवान् समवस्थितः।
जग्राह लीलया प्राप्तां गरुत्मानिव पन्नगीम्॥ ११॥

भगवान् श्रीवराहदेवने उसकी गदाको भीषण वेगसे आते हुए देखा। जिस प्रकार गरुड़ समीपमें आयी हुई साँपिनको पकड़ लेता है, उसी प्रकार भगवान्‌ने उस गदाको अनायास ही लीलापूर्वक पकड़ लिया॥ ११॥

स्वपौरुषे प्रतिहते हतमानो महासुरः।
नैच्छद्गदां दीयमानां हरिणा विगतप्रभः॥ १२॥

महादैत्य हिरण्याक्षने जब अपने उद्यमको इस प्रकार व्यर्थ हुआ देखा, तो उसका गर्व चूर-चूर हो गया और उसका तेज नष्ट हो गया। भगवान् द्वारा उसकी गदाको लौटानेपर भी दैत्यने उस गदाको लेना स्वीकार नहीं किया॥ १२॥

जग्राह त्रिशिखं शूलं ज्वलज्ज्वलनलोलुपम्।
यज्ञाय धृतरूपाय विप्रायाभिचरन् यथा॥ १३॥

जिस प्रकार अभिचार अर्थात् मारणादि उपायोंका प्रयोग करनेवाला व्यक्ति वेदज्ञ ब्राह्मणको मार डालनेके लिए अभिचार-यज्ञ करके भी निष्फल ही होता है, उसी प्रकार वराहरूपधारी भगवान् विष्णुपर प्रहार करनेके लिए उस दैत्यने प्रज्वलित अग्निके समान लपलपाता हुआ एक त्रिशूल लिया और उसे वृथा ही उनपर निक्षेप किया॥ १३॥

तदोजसा दैत्यमहाभटार्पितं
चकासदन्तःख उदीर्णदीधिति।
चक्रेण चिच्छेद निशातनेमिना
हरिर्यथा ताक्ष्र्यपतत्रमुज्झितम्॥ १४॥

महावीर हिरण्याक्षके द्वारा प्रबल वेगसे छोड़ा हुआ वह त्रिशूल उत्कट दीप्तिके साथ आकाशमें चमकने लगा। तब भगवान् श्रीहरिने अपने तीक्ष्ण धारवाले चक्रसे उस त्रिशूलको उसी प्रकार खण्डित-विखण्डित कर दिया, जिस प्रकार देवराज इन्द्रने गरुड़के द्वारा परित्याग किये हुए पंखका छेदन किया था॥ १४॥

वृक्णे स्वशूले बहुधारिणा हरेः
प्रत्येत्य विस्तीर्णमुरो विभूतिमत्।

प्रवृद्धरोषः स कठोरमुष्टिना
नदन् प्रहत्यान्तरधीयतासुरः॥ १५॥

जब दैत्यराज हिरण्याक्षने देखा कि श्रीहरिके तीक्ष्ण धारवाले चक्रसे उसका शूल बहुत–से भागोंमें छिन्न–विच्छिन्न हो गया है, तब वह अत्यन्त क्रोधसे भरकर गर्जन करने लगा और भगवान्‌के सम्मुख आकर श्रीवत्स चिह्नसे सुशोभित[१] उनके विशाल वक्षःस्थलपर कसकर घूँसा मारकर अन्तर्धान हो गया॥ १५॥

तेनेत्थमाहतः क्षत्तर्भगवानादिशूकरः।
नाकम्पत मनाक् क्वापि स्रजा हत इव द्विपः॥ १६॥

हे विदुर! भगवान् आदिवराह दैत्यराज हिरण्याक्षके द्वारा इस प्रकार घूँसा मारे जानेपर भी उसी प्रकार किञ्चित् मात्र विचलित नहीं हुए, जिस प्रकार पुष्पमालाके प्रहारसे हाथीपर कोई असर नहीं होता॥ १६॥

अथोरुधासृजन्मायां योगमायेश्वरे हरौ।
यां विलोक्य प्रजास्त्रस्ता मेनिरेऽस्योपसंयमम्॥ १७॥

इसके बाद वह महामायावी दैत्य योगमायाधीश श्रीहरिके प्रति नाना प्रकारकी ऐन्द्रजालिक मायाओंका विस्तार करने लगा। यह देखकर समस्त प्रजाने भयभीत होकर यह निश्चय कर लिया कि अब इस संसारमें प्रलय होनेवाली है॥ १७॥

प्रववुर्वायवश्चण्डास्तमः पांशवमैरयन्।
दिग्भ्यो निपेतुर्ग्रावाणः क्षेपणैः प्रहिता इव॥ १८॥

सहसा प्रबल आँधी चलने लगी, जिससे धूलि द्वारा समस्त दिशाएँ अन्धकारसे भर गयीं। तब 'क्षेपण' नामक किसी यन्त्र विशेष (गुलेल) से मानो सञ्चालित होकर चारों ही दिशाओंमें पत्थरोंकी वर्षा होने लगी॥ १८॥

---

[१] विभूतिशाली लक्ष्मीका आश्रय स्थान।

द्यौर्नष्टभगणाभ्रौघैः सविद्युत्स्तनयित्नुभिः।
वर्षद्भिः पूयकेशासृग्विण्मूत्रास्थीनि चासकृत्॥ १९॥

आकाशमें बिजलीकी चमचमाहट और गर्जनके साथ बादल छा गये एवं बार-बार रक्त, पीब, केश, हड्डी, विष्ठा एवं मूत्रादिकी वर्षा करने लगे। ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो सूर्य, चन्द्र आदि नक्षत्र एक ही बारमें विनष्ट (विलुप्त) हो गये हों॥ १९॥

गिरयः प्रत्यदृश्यन्त नानायुधमुचोऽनघ।
दिग्वाससो यातुधान्यः शूलिन्यो मुक्तमूर्द्धजाः॥ २०॥

हे निष्पाप विदुर! उस समय ऐसा दिखायी दे रहा था कि मानो समस्त पर्वत अनेक प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा कर रहे हों। तत्पश्चात् कितनी ही नग्न, खुले केशोंवाली, शूलधारिणी राक्षसियाँ भी आकर उपस्थित हो गयीं॥ २०॥

बहुभिर्यक्षरक्षोभिः पत्यश्वरथकुञ्जरैः।
आततायिभिरुत्सृष्टा हिंस्रा वाचोऽतिवैशसाः॥ २१॥

देखते-ही-देखते बहुत-से आततायी गन्धर्व और राक्षस पैदल, घोड़े, रथ और हाथियोंपर सवार होकर प्रकाशित हुए और तब 'मारो-मारो, काटो-काटो' ऐसा अत्यन्त क्रूर और हिंसामय कोलाहल सुनायी पड़ने लगा॥ २१॥

प्रदुष्कृतानां मायानामासुरीणां विनाशयन्।
सुदर्शनास्त्रं भगवान् प्रायुङ्क्त दयितं त्रिपात्॥ २२॥

तब तप, सत्य और दयारूप त्रिपादसे युक्त यज्ञमूर्त्त भगवान्‌ने उस असुर द्वारा प्रकटित मायाका विनाश करनेके लिए अपने अति प्रिय सुदर्शनचक्रका प्रयोग किया॥ २२॥

तदा दितेः समभवत् सहसा हृदि वेपथुः।
स्मरन्त्या भर्तुरादेशं स्तनाच्चासृक् प्रसुस्रुवे॥ २३॥

इसी समय दितिको अपने पति कश्यप मुनि द्वारा कथित इस बातका स्मरण हो आया कि 'भगवान् श्रीहरि तुम्हारे दोनों पुत्रोंका

विनाश करेंगे', इससे सहसा ही उसका हृदय काँपने लगा और स्तनोंसे रक्त बहने लगा॥ २३॥

व्युदस्तासु स्वमायासु भूयश्चाव्रज्य केशवम्।
रुषोपगूहमानोऽमुं ददृशेऽवस्थितं बहिः॥ २४॥

भगवान् श्रीकेशवके सुदर्शनचक्रसे दैत्यकी समस्त मायाके विनष्ट होनेपर वह दैत्य पुनः वराहदेवकी ओर झपटा। अत्यन्त क्रोधसे भरकर उसने भगवान्‌को दोनों भुजाओंमें भरकर पीसनेकी चेष्टा की, किन्तु उस दैत्यने देखा कि भगवान् वराहदेव उसकी दोनों भुजाओंके बाहर ही खड़े हैं॥ २४॥

तं मुष्टिभिर्विनिघ्नन्तं वज्रसारैरधोक्षजः।
करेण कर्णमूलेऽहन् यथा त्वाष्ट्रं मरुत्पतिः॥ २५॥

इसके बाद भी वह दैत्य वज्रके समान कठोर मुट्ठीसे भगवान्‌पर प्रहार करता रहा। तब भगवान् आदिवराहने अपने हाथों (आगेके चरणों) द्वारा उसकी कनपटीपर उसी प्रकारसे तमाचा मारा जिस प्रकार इन्द्रने वृत्रासुरपर प्रहार किया था॥ २५॥

स आहतो विश्वसृजा ह्यवज्ञया
परिभ्रमद्गात्र उदस्तलोचनः।
विशीर्णबाह्वङ्घ्रिशिरोरुहोऽपतद्
यथा नगेन्द्रो लुलितो नभस्वता॥ २६॥

यद्यपि विश्वविजयी भगवान् श्रीवराहदेवने दैत्यको बड़ी उपेक्षापूर्वक ही तमाचा मारा था, किन्तु उसकी चोटसे ही उसका सारा शरीर घूमने लगा, दोनों नेत्र बाहर निकल आये, हाथ-पैर परस्त पड़ गये, केश बिखर गये और वह इस प्रकार पृथ्वीपर गिर पड़ा, जिस प्रकार प्रचण्ड वायुके वेगसे विशाल वृक्ष जड़से उखड़कर पृथ्वीपर गिर पड़ता है॥ २६॥

क्षितौ शयानं तमकुण्ठवर्चसं
करालदंष्ट्रं परिदष्टदच्छदम्।

अजादयो वीक्ष्य शशंसुरागता
अहो इमां को नु लभेत संस्थितिम्॥ २७॥

हिरण्याक्षका तेज अब भी मलिन नहीं हुआ था। उस भयङ्कर दाढ़ोंवाले दैत्यको दाँतोंसे होठ चबाते हुए पृथ्वीपर पड़ा देखकर, वहाँ युद्ध देखनेके लिए समागत ब्रह्मा आदि देवता उसकी प्रशंसा करते हुए कहने लगे—अहो! ऐसी मृत्यु किसके भाग्यमें हो सकती है?॥ २७॥

यं योगितो योगसमाधिना रहो
ध्यायन्ति लिङ्गादसतो मुमुक्षया।
तस्यैव दैत्य ऋषभः पदाहतो
मुखं प्रपश्यंस्तनुमुत्ससर्ज ह॥ २८॥

अहो! इसका कैसा सौभाग्य है, योगीजन जड़-प्रकृतिसे उत्पन्न लिङ्गदेहसे मुक्ति पानेके लिए निर्जनमें योग समाधिके द्वारा जिनके चरणोंका ध्यान करते रहते हैं, दैत्यश्रेष्ठ हिरण्याक्षने आज उन्हीं भगवान्‌के चरणोंसे आहत होकर उनके ही मुख-कमलका दर्शन करते हुए शरीरका त्याग किया है॥ २८॥

एतौ तौ पार्षदावस्य शापाद् यातावसद्गतिम्।
पुनः कतिपयैः स्थानं प्रपत्स्येते ह जन्मभिः॥ २९॥

ये हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु भगवान्‌के ही पार्षद हैं। यद्यपि ब्राह्मणोंके शापके कारण इन्हें आसुरी योनि मिली है, किन्तु कुछ (तीन) जन्मोंके पश्चात् ये पुनः जड़-विलाससे शून्य अपने स्थानमें चले जायेंगे॥ २९॥

श्रीदेवा ऊचुः—

नमो नमस्तेऽखिलयज्ञतन्तवे
स्थितौ गृहीतामलसत्त्वमूर्तये।
दिष्ट्या हतोऽयं जगतामरुन्तुद-
स्त्वत्पादभक्त्या वयमीश निर्वृताः॥ ३०॥

उस समय देवता कहने लगे—हे भगवन्! आप ही समस्त यज्ञोंके विस्तारके कारण हैं तथा लोक-स्थितिके लिए आप शुद्धसत्त्वसे परिपूर्ण मङ्गलमयी मूर्त्ति प्रकट करते हैं। आपको पुनः-पुनः नमस्कार है। आज हमारा परम सौभाग्य है कि आपने संसारको कष्ट देनेवाले इस दुष्ट दैत्यको मार डाला है। हे ईश! आपके चरणोंकी भक्तिके प्रभावसे अब हमें शान्ति प्राप्त हो गयी है॥ ३०॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

एवं हिरण्याक्षमसह्यविक्रमं
स सादयित्वा हरिरादिशूकरः।
जगाम लोकं स्वमखण्डितोत्सवं
समीडितः पुष्करविष्टरादिभिः॥ ३१॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! इस प्रकारसे महापराक्रमी दैत्यराज हिरण्याक्षका विनाश करके आदिवराह भगवान् श्रीहरि अपने उस धाममें चले गये, जहाँ अनन्त उत्सव चलते रहते हैं। उस समय ब्रह्मादि प्रमुख देवता उनकी स्तुति कर रहे थे॥ ३१॥

मया यथानूक्तमवादि ते हरेः
कृतावतारस्य सुमित्र चेष्टितम्।
यथा हिरण्याक्ष उदारविक्रमो
महामृधे क्रीडनवन्निराकृतः॥ ३२॥

हे मित्र विदुर! भगवान् श्रीहरि अवतार लेकर जैसी लीलाओंका प्रदर्शन करते हैं और महासंग्राममें महापराक्रमी हिरण्याक्ष भगवान्के हाथोंसे साधारण खिलौनेके समान जिस प्रकार मारा गया, वह मैंने गुरुमुखसे जैसे सुना था, वैसा ही तुम्हारे समक्ष वर्णन किया है॥ ३२॥

श्रीसूत उवाच—

इति कौशारवाख्यातामाश्रुत्य भगवत्कथाम्।
क्षत्तानन्दं परं लेभे महाभागवतो द्विज॥ ३३॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—हे शौनकजी! परम भागवत विदुरजी मैत्रेयमुनिके द्वारा वर्णित भगवान्‌की यह समस्त कथा सुनकर बड़े आनन्दित हुए॥ ३३॥

अन्येषां पुण्यश्लोकानामुद्दामयशसां सताम्।
उपश्रुत्य भवेन्मोदः श्रीवत्साङ्कस्य किं पुनः॥ ३४॥

हे शौनक! महान् और पवित्र कीर्त्तिशाली युधिष्ठिरादि साधुओंकी कथाओंको सुनकर ही जब आनन्द प्राप्त होता है, तब फिर श्रीवत्सधारी स्वयं भगवान्‌की कथाओंके श्रवणकी तो बात ही क्या है?॥ ३४॥

यो गजेन्द्रं झषग्रस्तं ध्यायन्तं चरणाम्बुजम्।
क्रोशन्तीनां करेणूनां कृच्छ्रतोऽमोचयद्द्रुतम्॥ ३५॥
तं सुखाराध्यमृजुभिरनन्यशरणैर्नृभिः।
कृतज्ञः को न सेवेत दुराराध्यमसाधुभिः॥ ३६॥

हे द्विज! जिन्होंने अपने चरणकमलोंका नित्य-निरन्तर ध्यान करनेवाले ग्राहसे ग्रस्त गजेन्द्रका उसकी पत्नियोंके कातर आर्त्तनादसे कृपापरवश होकर शीघ्र ही उद्धार कर दिया था, जो अनन्यशरण सरलचित्त मनुष्यमात्रके द्वारा ही सुखपूर्वक आराधित होते हैं तथा केवल असाधुओं द्वारा ही दुराराध्य हैं अर्थात् अतिकष्टपूर्ण साधनसे भी प्राप्त नहीं होते, उन भगवान्‌के उपकारोंको जाननेवाला ऐसा कौन-सा कृतज्ञ व्यक्ति होगा, जो उनकी सेवा नहीं करेगा?॥ ३५-३६॥

यो वै हिरण्याक्षवधं महाद्भुतं
विक्रीडितं कारणशूकरात्मनः।
शृणोति गायत्यनुमोदतेऽञ्जसा
विमुच्यते ब्रह्मवधादपि द्विजाः॥ ३७॥

हे द्विज! जो लोग पृथ्वीका उद्धार करनेके लिए वराहरूपधारी श्रीभगवान्‌की ऐसी अत्यद्भुत हिरण्याक्ष-वध लीलाका श्रवण, कीर्त्तन अथवा अनुमोदन करते हैं, वे ब्रह्महत्यासे उत्पन्न महापापसे भी मुक्त हो जाते हैं॥ ३७॥

एतन्महापुण्यमलं पवित्रं
धन्यं यशस्यं पदमायुराशिषाम्।
प्राणेन्द्रियाणां युधि शौर्यवर्द्धनं
नारायणोऽन्ते गतिरङ्ग शृण्वताम्॥ ३८॥

हे शौनक ॠषि! जो व्यक्ति भगवान्‌के इस स्वर्गादि-फल प्रदायक, चित्तको पूर्ण रूपमें शुद्ध करनेवाले, परम पवित्र, धन और यशकी प्राप्ति करानेवाले, आयु एवं कामनाओंकी पूर्त्ति करनेवाले तथा युद्धमें प्राणेन्द्रियोंके शौर्यको बढ़ानेवाले लीला-वृत्तान्तका श्रवण करते हैं, अन्तिम कालमें उन्हें भगवान् श्रीनारायणका आश्रय प्राप्त होता है॥ ३८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां तृतीयस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे हिरण्याक्षवधो नाम एकोनविंशोऽध्यायः॥

विंशोऽध्यायः

श्रीब्रह्मा द्वारा रचित विभिन्न प्रकारकी सृष्टियोंका संक्षेपमें वर्णन

श्रीशौनक उवाच—

मर्हीं प्रतिष्ठामध्यस्य सौते स्वायम्भुवो मनुः।
कान्यन्वतिष्ठद्द्वाराणि मार्गायावरजन्मनाम्॥ १॥

श्रीशौनक ऋषिने कहा—हे सूत गोस्वामी! स्वायम्भुव मनुने पृथ्वीको आधार रूपमें प्राप्त करके प्रलयकालमें ईश्वरमें प्रविष्ट हुए समस्त प्राणियोंको उत्पन्न करनेके लिए किन-किन उपायोंका सहारा लिया?॥ १॥

क्षत्ता महाभागवतः कृष्णस्यैकान्तिकः सुहृत्।
यस्तत्याजाग्रजं कृष्णे सापत्यमघवानिति॥ २॥

द्वैपायनादनवरो महित्वे तस्य देहजः।
सर्वात्मनाश्रितः कृष्णं तत्परांश्चाप्यनुव्रतः॥ ३॥

किमन्वपृच्छन्मैत्रेयं विरजास्तीर्थसेवया।
उपगम्य कुशावर्त आसीनं तत्त्ववित्तमम्॥ ४॥

जो श्रीकृष्णके अनन्य भक्त और परम बन्धु थे, जिन्होंने अपने बड़े भाई धृतराष्ट्रको श्रीकृष्णका अनादर करनेके कारण अपराधी समझकर उनके दुर्योधनादि पुत्रोंके साथ परित्याग कर दिया था, जो महर्षि श्रीवेदव्यासके पुत्र थे और महिमामें वेदव्याससे कुछ कम नहीं थे, जो तन, मन और वचनसे श्रीकृष्णके आश्रित होकर उनके अनुगत भक्तोंके अनुगामी थे, उन परमभागवत विदुरजीने तीर्थसेवाके द्वारा बाह्य रूपसे और अन्तःकरणमें पवित्रता प्राप्त कर ली थी। गङ्गाके द्वार कुशावर्त्त क्षेत्र हरिद्वारमें पहुँचकर उन्होंने कृष्णतत्त्ववेत्ता मैत्रेय ऋषिसे और कौन-कौनसे विषयोंमें प्रश्न किये?॥ २-४॥

तयोः संवदतोर्नूनं प्रवृत्ता ह्यमलाः कथाः।
आपो गाङ्ग्य इवाघघ्नीर्हरेः पादाम्बुजाश्रयाः॥ ५॥

उन दोनोंके परस्पर वार्त्तालापमें निश्चय ही श्रीकृष्णके चरणकमलोंसे सम्बन्ध रखनेवाली पवित्र कथाएँ हुई होंगी। इन हरिकथाओंके प्रभावसे श्रीकृष्णके चरणोंसे निकले गङ्गाजलके समान जीवोंके पाप-ताप विनष्ट हो जाते हैं॥ ५॥

ता नः कीर्तय भद्रन्ते कीर्तन्योदारकर्मणः।
रसज्ञः को नु तृप्येत हरिलीलामृतं पिबन्॥ ६॥

हे सूत गोस्वामी! आपका मङ्गल हो। आप हमें कीर्त्तन करने योग्य उदार-लीलामय श्रीहरिकी इन सब पवित्र कथाओंको सुनाइये। श्रीहरिका लीलामृत पान करके क्या कोई रसज्ञ व्यक्ति परितृप्त हो सकता है, अर्थात् क्या वह पुनः-पुनः सुननेका आग्रह किये बिना रह सकता है?॥ ६॥

एवमुग्रश्रवाः पृष्ट ऋषिभिर्नैमिषायणैः।
भगवत्यर्पिताध्यात्मस्तानाह श्रूयतामिति॥ ७॥

नैमिषारण्यावासी ऋषियोंकी इस प्रकारसे हरिकथा सुननेकी इच्छा होनेपर रोमहर्षणके पुत्र उग्रश्रवा श्रीसूत गोस्वामीने श्रीभगवान्में मन समर्पित करके शौनकादि ऋषियोंको सम्बोधित करते हुए कहा—जब आपलोगोंकी ऐसी अभिलाषा है, तो आपलोग कृपापूर्वक सुनिये॥ ७॥

श्रीसूत उवाच—

हरेर्धृतक्रोडतनोः स्वमायया
निशम्य गोरुद्धरणं रसातलात्।
लीलां हिरण्याक्षमवज्ञया हतं
सञ्जातहर्षो मुनिमाह भारतः॥ ८॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—हे ऋषियो! अपनी योगमायाके प्रभावसे वराह मूर्त्तिधारी श्रीभगवान्ने रसातलसे पृथ्वी-उद्धार-लीला सम्पन्न की और खेल-ही-खेलमें हिरण्याक्षका विनाश कर डाला। यह सुनकर

विदुरजीका रोम-रोम खिल उठा और वे मुनिवर मैत्रेयसे कहने लगे— ॥ ८ ॥

श्रीविदुर उवाच—

प्रजापतिपतिः सृष्ट्वा प्रजासर्गे प्रजापतीन्।
किमारभत मे ब्रह्मन् प्रब्रूह्यव्यक्तमार्गवित्॥ ९ ॥

श्रीविदुरने कहा—हे ब्रह्मन्! मरीचि आदि प्रजापतियोंके पति श्रीब्रह्मा जब प्रजाओंकी सृष्टि करनेमें प्रवृत्त हुए, तब प्रजापतियोंकी सृष्टि करनेके बाद उन्होंने कौन-सा कार्य आरम्भ किया? आप तो परोक्ष विषयोंको भी जाननेवाले हैं, कृपया मुझे ये सब विषय यथायथ रूपमें सुनाइये॥ ९ ॥

ये मरीच्यादयो विप्रा यस्तु स्वायम्भुवो मनुः।
ते वै ब्रह्मण आदेशात् कथमेतदभावयन्॥ १० ॥

मरीचि आदि विप्रों और स्वायम्भुव मनुने श्रीब्रह्माके आदेशसे किस प्रकार इस चराचर जगत्की सृष्टि (वृद्धि) की?॥ १० ॥

सद्वितीयाः किमसृजन् स्वतन्त्रा उत कर्मसु।
अहो स्वित् संहताः सर्व इदं स्म समकल्पयन्॥ ११ ॥

क्या उन्होंने स्त्रीके सहयोगसे इस जगत्की सृष्टि की अथवा अपने-अपने कार्योंमें स्वतन्त्र भावसे रहकर सृष्टि की अथवा सबने मिलकर ही इस जगत्का निर्माण किया था?॥ ११ ॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

दैवेन दुर्वितर्क्येण परेणानिमिषेण च।
जातक्षोभाद्भगवतो महानासीद् गुणत्रयात्॥ १२ ॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! जिनकी गति जानना कठिन है, उन दैव अर्थात् जीवोंके प्रारब्ध, प्रकृतिके अधिष्ठाता महापुरुष और काल—इन तीन कारणोंके द्वारा भगवान्की सन्निधिमें जब तीनों गुणोंकी साम्यावस्थामें स्थित प्रकृतिमें क्षोभ उत्पन्न हुआ, तब उससे महत्-तत्त्व उत्पन्न हुआ॥ १२ ॥

रजःप्रधानान्महतस्त्रिलिङ्गो दैवचोदितात्।
जातः ससर्ज भूतादिर्वियदादीनि पञ्चशः॥ १३॥

ईश्वरकी प्रेरणासे महत्-तत्त्वमें रजोगुणकी वृद्धि होनेसे अहङ्कार उत्पन्न हुआ। यद्यपि महत्-तत्त्व स्वतः ही सत्त्वगुण प्रधान है, तथापि अहङ्कारके उत्पत्तिकालमें कार्यानुरूप रजोगुण प्रधान हुआ करता है। वह अहङ्कार सत्त्व, रज और तम—गुणत्रय स्वरूप है। यह अहङ्कार पुनः पाँच-पाँच करके आकाशादि भूतोंकी सृष्टि करता है, अर्थात् उनसे पञ्च-तन्मात्रा, पञ्च-महाभूत, पञ्च-ज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्च-कर्मेन्द्रियाँ और उन-उन इन्द्रियोंके पाँच-पाँच अधिष्ठातृ देवता उत्पन्न हुए हैं॥ १३॥

तानि चैकैकशः स्रष्टुमसमर्थानि भौतिकम्।
संहत्य दैवयोगेन हैममण्डमवासृजन्॥ १४॥

ये पञ्च-तन्मात्रा एवं पञ्च-महाभूतादि अलग-अलग होकर स्वतन्त्र रूपसे किसी भी वस्तुकी सृष्टि करनेमें असमर्थ थे। अतः ईश्वरकी शक्तिसे परस्पर संगठित होकर इन्होंने एक भौतिक स्वर्णमयी अण्डकी रचना की॥ १४॥

सोऽशयिष्टाब्धिसलिले अण्डकोषो निरात्मकः।
साग्रं वै वर्षसाहस्रमन्ववात्सीत् तमीश्वरः॥ १५॥

यह अण्डकोष चेतनशून्य होकर हजार वर्षोंसे अधिक समय तक कारणार्णवके जलमें पड़ा रहा। इसके बाद महत्-तत्त्वके स्रष्टा ईश्वरने उस अण्डकोषमें गर्भोदकशायीके रूपमें प्रवेश किया॥ १५॥

तस्य नाभेरभूत् पद्मं सहस्रार्कोरुदीधिति।
सर्वजीवनिकायौको यत्र स्वयमभूत् स्वराट्॥ १६॥

उन गर्भोदकशायी पुरुषके अण्डकोषमें अधिष्ठित होनेपर उनकी नाभिसे हजारों सूर्योंके समान देदीप्यमान तथा समस्त जीवोंके अधिष्ठान-स्वरूप एक कमल उत्पन्न हुआ, जिसमें स्वयं ब्रह्माका भी आविर्भाव हुआ॥ १६॥

सोऽनुविष्टो भगवता यः शेते सलिलाशये।
लोकसंस्थां यथापूर्वं निर्ममे संस्थया स्वया॥ १७॥

हे विदुर! ब्रह्माण्डके कारणार्णव जलमें शयन करनेवाले गर्भोदकशायी विष्णुके द्वारा प्रेरित होकर ब्रह्माजीने नाम-रूपादिके क्रमसे पूर्व-पूर्व कल्पोंकी भाँति समस्त लोकोंकी रचना की॥ १७॥

ससर्जच्छाययाविद्यां पञ्चपर्वाणमग्रतः।
तामिस्रमन्धतामिस्रं तमो मोहो महातमः॥ १८॥

सबसे पहले प्रजापति ब्रह्माने प्रकाश स्वरूप ज्ञानकी प्रतियोगिनी अपनी छायासे तामिस्र, अन्धतामिस्र, तम, मोह और महामोह—इन पाँच अविद्याओंकी सृष्टि की॥ १८॥

विससर्जात्मनः कायं नाभिनन्दंस्तमोमयम्।
जगृहुर्यक्षरक्षांसि रात्रिं क्षुत्तृट्समुद्भवाम्॥ १९॥

किन्तु इस छायामयी सृष्टिके तमोमयी अर्थात् अविद्यामयी होनेके कारण ब्रह्माजीको अपना छायारूपी शरीर अच्छा नहीं लगा, अतः उन्होंने इस तमोमय-शरीरका परित्याग कर दिया। यही शरीर भूख-प्यासके उद्भव स्थानरूप रात्रिमें परिणत हो गया। इसी रात्रिसे यक्ष और राक्षस उत्पन्न हुए और उन्होंने बड़े आदरसे इस रात्रिको ग्रहण कर लिया॥ १९॥

क्षुत्तृड्भ्यामुपसृष्टास्ते तं जग्धुमभिदुद्रुवुः।
मा रक्षतैनं जक्षध्वमित्यूचुः क्षुत्तृडर्दिता॥ २०॥

तब ये समस्त यक्ष-राक्षसादि भूख और प्याससे व्याकुल होकर उन ब्रह्माजीको ही खानेके लिए दौड़ पड़े और परस्पर कहने लगे—अरे! इस (ब्रह्मा) को पिता जानकर इसपर दयावशतः इसकी रक्षा मत करो, इसे खा जाओ॥ २०॥

देवस्तानाह संविग्नो मा मां जक्षत रक्षत।
अहो मे यक्षरक्षांसि प्रजा यूयं बभूविथ॥ २१॥

ब्रह्माजी उनके इन वचनोंसे अत्यधिक डर गये और उन यक्ष-राक्षसादिसे कहने लगे—मुझे मत खाओ, मेरी रक्षा करो। अरे, यक्ष-राक्षसो! तुम सब मेरी सन्तान हो, मुझे मारना तुम्हारे लिए उचित नहीं है। (अतः जिन्होंने 'भक्षण करो' यह कहा, वे 'यक्ष' और जिन्होंने 'रक्षा मत करो' यह कहा, वे 'राक्षस' के नामसे प्रसिद्ध हुए)॥ २१॥

देवताः प्रभया या या दीव्यन् प्रमुखतोऽसृजत्।
तेऽहार्षुर्देवयन्तो वै विसृष्टां तां प्रभामहः॥ २२॥

इसके बाद ब्रह्माजीने अपनी सात्त्विकी प्रभाके द्वारा दीप्तिमान होकर प्रधान-प्रधान देवताओंकी सृष्टि की। उन सभी देवताओंने क्रीड़ा करते हुए ब्रह्माजीके द्वारा त्यागे हुए दिवसरूप प्रकाशमय शरीरको स्वीकार कर लिया॥ २२॥

देवोऽदेवान् जघनतः सृजति स्मातिलोलुपान्।
त एनं लोलुपतया मैथुनायाभिपेदिरे॥ २३॥

तदनन्तर ब्रह्माजीके मनमें काममय राजस भाव उदित हुआ, जिसके कारण उनकी जाँघसे कामासक्त दैत्योंकी सृष्टि हुई। वे अत्यधिक स्त्री-लम्पट दैत्य मैथुनके लिए उत्सुक होकर ब्रह्माजीकी ओर ही दौड़ पड़े॥ २३॥

ततो हसन् स भगवानसुरैर्निरपत्रपैः।
अन्वीयमानस्तरसा क्रुद्धो भीतः परापतत्॥ २४॥

तब ब्रह्माजी उन असुरोंकी इस प्रकारकी कुप्रवृत्तिको देखकर पहले तो हँस पड़े, बादमें जब वे असुर निर्लज्ज होकर वेगपूर्वक ब्रह्माजीके पीछे-पीछे दौड़ने लगे, तब ब्रह्माजीको अत्यधिक क्रोध आ गया और वे भयभीत होकर भागने लगे॥ २४॥

स उपव्रज्य वरदं प्रपन्नार्तिहरं हरिम्।
अनुग्रहाय भक्तानामनुरूपात्मदर्शनम्॥ २५॥

जो भक्तोंके प्रति कृपा करनेके लिए उन भक्तोंकी ही इच्छाके अनुरूप अपनारूप प्रकाशित करते हैं, जो शरणागतजनोंके दुःखोंका हरण करनेवाले हैं, ब्रह्माजी उन्हीं अभीष्टफल प्रदायक भगवान् श्रीहरिके समीप गये और उनसे इस प्रकार निवेदन करने लगे॥ २५॥

पाहि मां परमात्मंस्ते प्रेषणेनासृजं प्रजाः।
ता इमा जभितुं पापा उपक्रामन्ति मां प्रभो॥ २६॥

हे परमात्मन्! हे प्रभो! आपकी प्रेरणासे ही मैंने प्रजाकी सृष्टि की है, परन्तु यह पापिष्ठ प्रजा मुझे भी मैथुनके द्वारा भोगनेके लिए उद्यत हो रही है। कृपया मेरी रक्षा कीजिये॥ २६॥

त्वमेकः किल लोकानां क्लिष्टानां क्लेशनाशनः।
त्वमेव क्लेशदस्तेषामनासन्नपदां तव॥ २७॥

हे प्रभो! एकमात्र आप ही दुःखी जीवोंके क्लेशोंका हरण करनेवाले हैं और जो व्यक्ति आपके चरणारविन्दोंका आश्रय ग्रहण नहीं करते, आप केवल उन्हें ही कष्ट दिया करते हैं॥ २७॥

सोऽवधार्यास्य कार्पण्यं विविक्ताध्यात्मदर्शनः।
विमुञ्चात्मतनुं घोरामित्युक्तो विमुमोच ह॥ २८॥

श्रीहरि दूसरोंके हृदयके भावोंको भली-भाँति जानते हैं, इसलिए ब्रह्माजीकी आतुरता और दैन्यको देखकर उन्होंने कहा—'हे ब्रह्मा! तुम अपने इस कामकलुषित शरीरको त्याग दो।' ब्रह्माने भी भगवान् श्रीहरिके इन वचनोंको सुनकर अपने उस कामकलुषित देहका परित्याग कर दिया॥ २८॥

तां क्वणच्चरणाम्भोजां मदविह्वललोचनाम्।
काञ्चीकलापविलसद्दुकूलच्छन्नरोधसम् ॥ २९॥

अन्योन्यश्लेषयोत्तुङ्ग-निरन्तरपयोधराम् ।
सुनासां सुद्विजां स्निग्धहासलीलावलोकनाम्॥ ३०॥

गूहन्तीं व्रीडयात्मानं नीलालकवरूथिनीम्।
उपलभ्यासुरा धर्म सर्वे संमुमुहुः स्त्रियम्॥ ३१॥

ब्रह्माजीने जैसे ही उस शरीरका परित्याग किया, वैसे ही वह शरीर सन्ध्याके रूपमें परिणत हो गया। यह सन्ध्या कामके उत्पन्न होनेका काल है। स्त्रीलम्पट असुर इस सन्ध्याको स्त्रीरूपमें कल्पना करके मुग्ध हो गये और परस्पर कहने लगे—देखो, इस सुन्दरीके चरणकमल नूपुरोंकी ध्वनिसे झंकृत हो रहे हैं, इसके दोनों नेत्र मदसे मतवाले हो रहे हैं और इसके कटितटपर स्थित महीन वस्त्र करधनीकी लड़ियोंसे विलसित हो रहा है। इसके दोनों पयोधर परस्पर उपमर्दनके कारण अति उन्नत एवं सटे होकर सुशोभित हो रहे हैं। इसकी नासिका एवं दन्तावली अति सुन्दर है, मुसकान अत्यधिक मधुर एवं सुस्निग्ध है और अवलोकन बड़ा ही हाव-भावपूर्ण है। देखो! यह कैसे लज्जावशतः अपने वस्त्राञ्चलमें स्वयं ही सिमटी जा रही है? इसके घुँघराले केश कितने मनोहर नीलवर्णके हैं। इस प्रकार सभी असुर ब्रह्माजीके द्वारा परित्यक्त शरीरमें 'कामिनी' की कल्पना करके पूर्ण रूपसे मोहित हो गये॥ २९-३१॥

अहो रूपमहो धैर्यमहो अस्या नवं वयः।
मध्ये कामयमानानामकामेव विसर्पति॥ ३२॥

काममुग्ध असुर कहने लगे—अहो! इसका कैसा विस्मयकारी रूप है! कैसा आश्चर्यमय धैर्य है! कितनी मनोहर नवीन (युवा) अवस्था है! हम सभी इसे प्राप्त करनेकी अभिलाषा कर रहे हैं, किन्तु यह हम सबके बीच काम भावसे रहितकी भाँति विचरण कर रही है?॥ ३२॥

वितर्कयन्तो बहुधा तां सन्ध्यां प्रमदाकृतिम्।
अभिसम्भाव्य विश्रम्भात् पर्यपृच्छन् कुमेधसः॥ ३३॥

वे कुबुद्धियुक्त असुर उस प्रमदा आकृतिवाली सन्ध्याको स्त्रीरूप मानकर बहुत प्रकारके तर्क-वितर्क करने लगे—क्या यह रमणी हमारे प्रति अनुराग रखती है अथवा किसी दूसरेके प्रति? यह देवी है अथवा मानुषी? यह क्या पतिकी कामना कर रही है या ब्रह्मचारिणी है? तत्पश्चात् प्रेमवश उसका यथायोग्य सत्कार करते हुए उससे प्रश्न पूछने लगे॥ ३३॥

कासि कस्यासि रम्भोरु को वार्थस्तेऽत्र भामिनि।
रूपद्रविणपण्येन दुर्भगान् नो विबाधसे॥ ३४॥

हे रम्भोरु (सुन्दरी)! तुम कौन हो? किसकी पुत्री हो? हे भामिनि! तुम्हारा इस स्थानपर आनेका क्या प्रयोजन है? तुम अपने इस अमूल्य सौन्दर्यरूप विक्रेय वस्तुके द्वारा हम दुर्भागोंको क्यों पीड़ा दे रही हो?॥ ३४॥

या वा काचित् त्वमबले दिष्ट्या सन्दर्शनं तव।
उत्सुनोषीक्षमाणानां कन्दुकक्रीडया मनः॥ ३५॥

अथवा तुम्हारे जाति-कुलादिको जाननेकी हमें आवश्यकता ही क्या है? हे अबले! तुम जो कोई भी हो, हमें बड़े भाग्यवशतः ही तुम्हारा दर्शन प्राप्त हुआ है। तुम्हारा गेंदके साथ खेलना हम देखनेवालोंके मनको मथ रहा है॥ ३५॥

नैकत्र ते जयति शालिनि पादपद्मं
घ्नन्त्या मुहुः करतलेन पतत्पतङ्गम्।
मध्यं विषीदति बृहत्स्तनभारभीतं
श्रान्तेव दृष्टिरमला सुशिखासमूहः॥ ३६॥

हे प्रशंसनीये! तुम हथेलीसे इस उछलती गेंदको बार-बार थपकी मारते हुए खेल रही हो, इसके कारण तुम्हारे चरणकमल एक स्थानपर स्थिर नहीं रह पा रहे हैं। तुम्हारा यह क्षीण कटिप्रदेश तुम्हारे स्तनोंके भारसे झुका होनेसे थका हुआ-सा प्रतीत हो रहा है। तुम्हारी निर्मल दृष्टि भी मन्द पड़ती दिख रही है। अहो! तुम्हारा यह केशपाश कैसी शोभाका विस्तार कर रहा है!॥ ३६॥

इति सायन्तनीं सन्ध्यामसुराः प्रमदायतीम्।
प्रलोभयन्तीं जगृहुर्मत्वा मूढधियः स्त्रियम्॥ ३७॥

इस प्रकार काम द्वारा भ्रान्त चित्त असुरगण प्रमदाके समान आचरण करनेवाली सन्ध्याको स्त्री मानकर उसके मोहमें मुग्ध हो गये और उन्होंने उसीको 'रमणी' समझकर उसे ग्रहण कर लिया॥ ३७॥

प्रहस्य भावगम्भीरं जिघ्रन्त्यात्मानमात्मना।
कान्त्या ससर्ज भगवान् गन्धर्वाप्सरसां गणान्॥ ३८॥

इसके बाद ब्रह्माजीने अपने सौन्दर्यकी गम्भीरताको व्यक्त करनेवाली हँसीसे हँसकर अपनी शोभनीय कान्तिके द्वारा गन्धर्वों और अप्सराओंको उत्पन्न किया॥ ३८॥

विससर्ज तनुं तां वै ज्योत्स्नां कान्तिमतीं प्रियाम्।
त एव चाददुः प्रीत्या विश्वावसुपुरोगमाः॥ ३९॥

तदनन्तर ब्रह्माजीने अपने चन्द्रिका (ज्योत्स्ना) रूप प्रिय शरीरका परित्याग कर दिया। विश्वावसु प्रमुख गन्धर्वोंने उस कान्तिमय शरीरको बड़े आदरके साथ ग्रहण कर लिया॥ ३९॥

सृष्ट्वा भूतपिशाचांश्च भगवानात्मतन्द्रिणा।
दिग्वाससो मुक्तकेशान् वीक्ष्य चामीलयद्दृशौ॥ ४०॥

ब्रह्माजीने अपने आलस्यसे भूत और पिशाचोंकी सृष्टि की। उन सभीको दिगम्बर (नग्न) और उनके बाल बिखेरे हुए देखकर ब्रह्माजीने अपनी दोनों आँखें मूँद लीं॥ ४०॥

जगृहुस्तद्विसृष्टां तां जृम्भणाख्यां तनुं प्रभोः।
निद्रामिन्द्रियविक्लेदो यया भूतेषु दृश्यते
येनोच्छिष्टान् धर्षयन्ति तमुन्मादं प्रचक्षते॥ ४१॥

कुछ क्षणोंके बाद ब्रह्माजीने अपने 'आलस्य' (जम्भाई) नामक शरीरका त्याग कर दिया, जिसे भूत और पिशाचोंने ग्रहण कर लिया। हे विदुर! जिस तनुके द्वारा इन्द्रियोंमें शिथिलता आ जाती है, उसका नाम 'निद्रा' है। यदि कोई मनुष्य जुठे मुँहसे सो जाता है, तो उसपर भूत-पिशाच आक्रमण कर देते हैं, उस शरीरको 'उन्माद' कहते हैं॥ ४१॥

ऊर्जस्वन्तं मन्यमान आत्मानं भगवानजः।
साध्यान् गणान् पितृगणान् परोक्षेणासृजत् प्रभुः॥ ४२॥

तत्पश्चात् कृपा और दण्ड देनेमें समर्थ, अजन्मा और ऐश्वर्ययुक्त ब्रह्माजीने स्वयंको बलिष्ठ (तेजोमय) मानकर अपने अदृश्य रूपके द्वारा पितरों एवं देवताओंको उत्पन्न किया॥ ४२॥

त आत्मसर्गं तत्कायं पितरः प्रतिपेदिरे।
साध्येभ्यश्च पितृभ्यश्च कवयो यद्वितन्वते॥ ४३॥

हे विदुर! ब्रह्माजीके इस अदृश्य शरीरसे साध्यगण (एक प्रकारके देवता) और पितर उत्पन्न हुए तथा उन्होंने अपने उत्पत्ति स्थान इस अदृश्य शरीरको ग्रहण कर लिया। उस शरीरको लक्ष्य करके ही कर्म-मार्गीय पण्डितगण साध्योंके उद्देश्यसे हव्य और पितरोंके उद्देश्यसे कव्यादि (पिण्ड) प्रदान करते हैं॥ ४३॥

सिद्धान् विद्याधरांश्चैव तिरोधानेन सोऽसृजत्।
तेभ्योऽददात् तमात्मानमन्तर्द्धानाख्यमद्भुतम्॥ ४४॥

ब्रह्माजीने दृश्य रहनेपर भी अन्तर्धान होनेकी अपनी शक्तिसे सिद्ध और विद्याधरोंकी सृष्टि करके अपना अत्यन्त आश्चर्यमय 'अन्तर्धान' नामक देह उन्हें प्रदान किया॥ ४४॥

स किन्नरान् किम्पुरुषान् प्रत्यात्म्येनासृजत् प्रभुः।
मानयन्नात्मनात्मानमात्माभासं विलोकयन्॥ ४५॥

इसके बाद ब्रह्माजीने अपना प्रतिबिम्ब देखकर स्वयं ही स्वयंको सुन्दर जानकर मन-ही-मन कल्पनापूर्वक अपने प्रतिबिम्बके द्वारा नराकृति किन्नर और किम्पुरुषोंकी सृष्टि की॥ ४५॥

ते तु तज्जगृहु रूपं त्यक्तं यत् परमेष्ठिना।
मिथुनीभूय गायन्तस्तमेवोषसि कर्मभिः॥ ४६॥

किन्नरों एवं किम्पुरुषोंने ब्रह्माजीके द्वारा परित्यक्त प्रतिबिम्बरूप शरीरको ग्रहण किया और उषाकालमें ये पति-पत्नी दोनों मिलकर ब्रह्माजीके पराक्रम गुण-कर्मादिका गान किया करते हैं॥ ४६॥

देहेन वै भोगवता शयानो बहुचिन्तया।
सर्गेऽनुपचिते क्रोधादुत्ससर्ज ह तद्वपुः॥ ४७॥

इस प्रकारसे सृष्टिकी वृद्धि न होती देखकर ब्रह्माजी बड़े चिन्तित होकर हाथ-पैर फैलाकर अपने स्थूलशरीरसे लेट गये तथा फिर क्रोधवश उन्होंने उस भोगमय शरीरको भी छोड़ दिया॥ ४७॥

येऽहीयन्तामुतः केशा अहयस्तेऽङ्ग जज्ञिरे।
सर्पाः प्रसर्पतः क्रूरा नागा भोगोरुकन्धराः॥ ४८॥

ब्रह्माजीके परित्यक्त शरीरसे जो केश झड़े, वे अहि बन गये। हाथ-पैर सिकोड़कर (सरककर) चलनेके कारण उनका नाम सर्प है तथा अत्यधिक वेगवान होनेके कारण उन्हें 'नाग' कहा जाता है। ब्रह्माके भोगमय शरीरसे उत्पन्न होनेके कारण 'भोग' अर्थात् फण आदिके द्वारा उनके कन्धे फैले रहते हैं। क्रोधयोगसे उत्पन्न होनेके कारण ये सभी अत्यन्त क्रूरस्वभाववाले होते हैं॥ ४८॥

स आत्मानं मन्यमानः कृतकृत्यमिवात्मभूः।
तदा मनून् ससर्जान्ते मनसा लोकभावनान्॥ ४९॥

जब ब्रह्माजीने अपने-आपको कृत्कृत्य-सा जाना, तब अन्तमें उन्होंने मनके द्वारा मनुओंकी सृष्टि की। ये समस्त मनु ही लोकोंकी उत्पत्तिका कारण अर्थात् प्रजाकी वृद्धि करनेवाले हैं॥ ४९॥

तेभ्यः सोऽत्यसृजत् स्वीयं पुरं पुरुषमात्मवान्।
तान् दृष्ट्वा ये पुरासृष्टाः प्रशशंसुः प्रजापतिम्॥ ५०॥

इसके बाद आत्मतत्त्वज्ञ ब्रह्माजीने मनुओंको अपना पुरुषाकार देह प्रदान किया। जो देवता, गन्धर्वादि पहले उत्पन्न हुए थे, वे भी मनुओंको देखकर प्रजापति ब्रह्माजीकी प्रशंसा करने लगे॥ ५०॥

अहो एतज्जगत्स्रष्टः सुकृतं बत ते कृतम्।
प्रतिष्ठिताः क्रिया यस्मिन् साकमन्नमदाम हे॥ ५१॥

हे जगत्स्रष्टा! आहा! हमारे लिए यह अत्यन्त आनन्दकी बात है। आपने मनुओंकी सृष्टि करके अति उत्तम कार्य किया है, क्योंकि आपके इस कार्यसे अग्निहोत्रादि कार्य प्रतिष्ठित रहेंगे। अब हम सब एकत्रित होकर अपने हविके भागादिको ग्रहण करनेमें समर्थ हों॥ ५१॥

तपसा विद्यया युक्तो योगेन सुसमाधिना।
ऋषीनृषिर्हृषीकेशः ससर्जाभिमताः प्रजाः॥ ५२॥

इसके बाद ब्रह्माजीने तपस्या, उपासना, आसनादि अष्टाङ्गयोग, वैराग्य और ऐश्वर्ययुक्त समाधि द्वारा इन्द्रियोंको वशीभूत करके ऋषिरूप अन्य प्रकारके अभिमतसे अपनी प्रिय प्रजा अर्थात् ऋषियोंका सृजन किया॥ ५२॥

तेभ्यश्चैकैकशः स्वस्य देहस्यांशमदादजः।
यत्तत् समाधियोगर्द्धि-तपोविद्याविरक्तिमत्॥ ५३॥

फिर आदि-ऋषि ब्रह्माजीने उनमेंसे एक-एकको अपनी देहका एक-एक अंश—जिसमें समाधि, योग-समृद्धि अर्थात् अणिमादि ऐश्वर्य, तपस्या, विद्या और वैराग्य वर्त्तमान थे, प्रदान किया॥ ५३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां तृतीयस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे
जगत्सृष्टिर्नाम विंशोऽध्यायः॥

एकविंशोऽध्यायः

कर्दम ऋषिकी तपस्या और मनुके साथ उनका वार्त्तालाप

श्रीविदुर उवाच—

स्वायम्भुवस्य च मनोर्वंशः परमसम्मतः।
कथ्यतां भगवन् यत्र मैथुनेनैधिरे प्रजाः॥ १॥

श्रीविदुरने कहा—हे भगवन् मैत्रेय! स्वायम्भुव मनुका वंश साधुओंके द्वारा अत्यधिक आदरणीय था। उस वंशमें मैथुन-धर्मके द्वारा जिस प्रकारसे प्रजाकी वृद्धि हुई, कृपया उसका वर्णन कीजिये॥ १॥

प्रियव्रतोत्तानपादौ सुतौ स्वायम्भुवस्य वै।
यथा धर्मं जुगुपतुः सप्तद्वीपवतीं महीम्॥ २॥

स्वायम्भुव मनुके दो पुत्र प्रियव्रत और उत्तानपादने किस प्रकारसे इस सप्तद्वीपवती पृथ्वीका धर्मपूर्वक पालन किया?॥ २॥

तस्य वै दुहिता ब्रह्मन् देवहूतीति विश्रुता।
पत्नी प्रजापतेरुक्ता कर्दमस्य त्वयानघ॥ ३॥

हे ब्रह्मन्! हमने आपके मुखसे यह भी सुना है कि स्वायम्भुव मनुकी देवहूति नामसे प्रसिद्ध एक कन्या थी। हे निष्पाप! प्रजापति कर्दमसे उस देवहूतिका विवाह हुआ था—यह भी आपने बतलाया है॥ ३॥

तस्यां स वै महायोगी युक्तायां योगलक्षणैः।
ससर्ज कतिधा वीर्यं तन्मे शुश्रूषवे वद॥ ४॥

कर्दम ऋषि महायोगी थे एवं उनकी पत्नी देवहूति भी यम-नियमादि योग लक्षणोंसे युक्त थी। हे प्रभो! उन्होंने अपनी पत्नीसे कितनी सन्तानें उत्पन्न कीं? यह सुननेकी मेरी प्रबल इच्छा हो रही है, कृपापूर्वक आप यह सब मुझे सुनाइये॥ ४॥

रुचिर्यो भगवान् ब्रह्मन् दक्षो वा ब्रह्मणः सुतः।
यथा ससर्ज भूतानि लब्ध्वा भार्याञ्च मानवीम्॥ ५॥

हे ब्रह्मन्! महर्षि रुचिने मनु-कन्या आकूतिको और ब्रह्माजीके पुत्र दक्षने मनु-कन्या प्रसूतिको पत्नीके रूपमें प्राप्त करके जिस प्रकारसे सन्तानें उत्पन्न कीं, उन सब प्रसङ्गोंका भी वर्णन कीजिये॥ ५॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

प्रजाः सृजेति भगवान् कर्दमो ब्रह्मणोदितः।
सरस्वत्यां तपस्तेपे सहस्राणां समा दश॥ ६॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे वत्स विदुर! जब ब्रह्माजीने प्रजापति कर्दमको 'आप प्रजाकी सृष्टि करें' इस प्रकारकी आज्ञा दी, तब कर्दम ऋषिने सरस्वतीके तटपर जाकर दस हजार वर्षों तक तपस्या की॥ ६॥

ततः समाधियुक्तेन क्रियायोगेन कर्दमः।
सम्प्रपेदे हरिं भक्त्या प्रपन्नवरदाशुषम्॥ ७॥

तपस्यामें एकाग्रचित्त होकर कर्दम ऋषि पूजोपचार द्वारा शरणागत-जनोंको शीघ्र ही वर देनेवाले भगवान् श्रीहरिकी आराधना करने लगे॥ ७॥

तावत् प्रसन्नो भगवान् पुष्कराक्षः कृते युगे।
दर्शयामास तं क्षत्तः शाब्दं ब्रह्म दधद्वपुः॥ ८॥

हे विदुर! कर्दम ऋषि द्वारा सत्ययुगमें इस प्रकारसे तपस्या करनेपर कमलनयन भगवान् श्रीहरि उनसे प्रसन्न हो गये और एकमात्र शब्द (वेद) से जाननेयोग्य सच्चिदानन्दमय मूर्त्ति धारण करके उन्हें दर्शन दिया॥ ८॥

स तं विरजमर्काभं सितपद्मोत्पलस्रजम्।
स्निग्धनीलालकव्रातवक्त्राब्जं विरजाम्बरम्॥ ९॥

किरीटिनं कुण्डलिनं शङ्खचक्रगदाधरम्।
श्वेतोत्पलक्रीडनकं मनःस्पर्शस्मितेक्षणम्॥ १०॥

विन्यस्तचरणाम्भोजमंसदेशे गरुत्मतः।
दृष्ट्वा खेऽवस्थितं वक्षःश्रियं कौस्तुभकन्धरम्॥ ११॥
जातहर्षोऽपतन्मूर्ध्ना क्षितौ लब्धमनोरथः।
गीर्भिश्चाभ्यगृणात् प्रीति-स्वभावात्मा कृताञ्जलिः॥ १२॥

तपस्याकालमें कर्दम ऋषिने ऊपरकी ओर दृष्टिपात करके देखा कि भगवान् श्रीविष्णुका दिव्य श्रीविग्रह सूर्यकी भाँति आकाशमें प्रकाशित हो रहा था, उनके गलेमें श्वेत कमल एवं कुमुदके पुष्पोंकी माला सुशोभित हो रही थी, उनका मुखकमल स्निग्ध-नीलवर्णसे युक्त अलकावलीसे सुशोभित था, कटितटपर निर्मल पीताम्बर सुशोभित था, सिरपर देदीप्यमान स्वर्णका मुकुट और कानोंमें कुण्डल झिलमिला रहे थे। उनके तीन हाथोंमें शङ्ख, चक्र, गदा विद्यमान थे और चतुर्थ हाथमें क्रीड़ाहेतु श्वेत कमल सुशोभित था। उनकी मृदु-मुसकान युक्त दृष्टि सबके हृदयोंको ही आनन्दित कर रही थी। वे अपने वाहन गरुड़के कन्धोंपर दोनों चरणोंको रखे हुए थे, उनके वक्षःस्थलमें 'श्रीवत्सचिह्न' (लक्ष्मी) एवं कण्ठमें कौस्तुभमणि सुशोभित हो रही थी। श्रीभगवान्‌की ऐसी मनोहर मूर्त्तिका दर्शनकर कर्दम ऋषिका रोम-रोम आनन्दसे खिल उठा। भगवान्‌के दर्शनसे अपनी सभी मनोकामनाओंको सिद्ध हुआ जानकर उन्होंने आनन्दपूर्ण हृदयसे भूमिपर लेटकर मस्तकसे दण्डवत्-प्रणाम किया और स्वाभाविक रूपसे प्रेममें विभोर होकर हाथ जोड़कर मधुर वाणीसे उनकी स्तुति करने लगे॥ ९-१२॥

श्रीऋषिरुवाच—

जुष्टं बताद्याखिलसत्त्वराशेः
सांसिद्ध्यमक्ष्णोस्तव दर्शनान्नः।
यद्दर्शनं जन्मभिरीड्य सद्भि-
राशासते योगिनो रूढयोगाः॥ १३॥

श्रीकर्दम ऋषि आनन्दमग्न होकर कहने लगे—हे परमेश्वर! उत्तरोत्तर श्रेष्ठ बहुत-से जन्मोंमें योगसिद्ध ऋषिगण जिन भगवान्‌के दर्शनोंकी प्रार्थना करते हैं, उन सम्पूर्ण सत्त्वगुणोंके निधि स्वरूप आपका दर्शन करके आज मेरे दोनों नेत्र सार्थक हो गये हैं॥ १३॥

ये मायया ते हतमेधसस्त्वत्-
पादारविन्दं भवसिन्धुपोतम्।
उपासते कामलवाय तेषां
रासीश कामान् निरयेऽपि ये स्युः॥ १४॥

हे भगवन्! आपके चरणकमल संसारसमुद्रको पार करनेके लिए एकमात्र नौका-स्वरूप हैं। अहो! जिनकी बुद्धि आपकी बहिरङ्गा मायाके द्वारा नष्ट हो गयी है, वे ही नरक तुल्य शूकरादि योनियोंमें भी प्राप्त होनेवाले तुच्छ काम-सुखके लिए आपके चरणोंका आश्रय लेते हैं, किन्तु हाय! आप भी उन मनुष्योंको वे सब तुच्छ विषय-भोग ही प्रदान कर देते हैं॥ १४॥

तथापि चाहं परिवोढुकामः
समानशीलां गृहमेधधेनुम्।
उपेयिवान् मूलमशेषमूलं
दुराशयः कामदुघाङ्घ्रिपस्य॥ १५॥

हे प्रभो! यद्यपि मैंने सकाम भक्तोंकी इस प्रकार निन्दा की है, तथापि मैं भी वैसी अत्यन्त निन्दनीय काम-कलुषित अभिलाषाके कारण स्वयं अपने अनुरूप स्वभाववाली, गृहस्थाश्रमके लिए कामधेनुके समान धर्म-अर्थ-काम प्रदान करनेवाली उपयुक्त पत्नीको प्राप्त करना चाहता हूँ। इसी उद्देश्यसे मैं समस्त मनोरथोंको पूर्ण करनेवाले तथा कल्पवृक्ष स्वरूप आपके चरणकमलोंकी शरणमें आया हूँ॥ १५॥

प्रजापतेस्ते वचसाधीश तन्त्र्या
लोकः किलायं कामहतोऽनुबद्धः।
अहञ्च लोकानुगतो वहामि
बलिञ्च शुक्लानिमिषाय तुभ्यम्॥ १६॥

हे सर्वेश्वर! आप सम्पूर्ण लोकपालकोंके अधिपति हैं। आपकी वेद-वाणीरूप रस्सी द्वारा कामसे पीड़ित लोग पशुओंके समान बँधे हुए हैं। हे धर्ममूर्त्ते! मैं भी इन सब लोगोंका ही अनुगमन कर रहा हूँ। अतएव कालस्वरूप आपके लिए आज्ञा-पालनरूप पूजोपहार समर्पितकर

पत्नी प्राप्तिकी इच्छा कर रहा हूँ (हे प्रभो! मैं केवल कामाभिलाषी व्यक्तियोंके अनुवर्ती होकर पुत्रादिकी वासनासे पत्नीको प्राप्त करना चाहता हूँ, ऐसा नहीं है, किन्तु देव, ऋषि और पितृ—इन तीनोंका ऋण चुकानेके लिए ही मेरी ऐसी प्रार्थना है)॥ १६॥

लोकांश्च लोकानुगतान् पशूंश्च
हित्वा श्रितास्ते चरणातपत्रम्।
परस्परं त्वद्गुणवादसीधु-
पीयूषनिर्यापितदेहधर्माः ॥ १७॥

हे भगवन्! आप कालस्वरूप हैं, इसलिए हम आपसे भयभीत होकर कर्म करते रहते हैं। किन्तु आपके भक्तोंको ऐसा कोई भय नहीं है, क्योंकि आपके भक्तजन सम्पूर्ण रूपसे विषयासक्त लोगों और उनके मार्गका अनुसरण करनेवाले मेरे जैसे कर्मजड़ पशुओंकी उपेक्षा करके आपकी सुशीतल चरण-छायाका आश्रय लेते हैं। आपकी गुण-कथारूप मादक-सुधाका परस्पर पान करनेसे उनके देहधर्मकी भूख-प्यासादि क्रियाएँ शान्त हो जाती हैं॥ १७॥

न तेऽजराक्षभ्रमिरायुरेषां
त्रयोदशारं त्रिशतं षष्टिपर्व।
षण्नेम्यनन्तच्छदि यत् त्रिणाभि
करालस्रोतो जगदाच्छिद्य धावत्॥ १८॥

हे प्रभो! आपका त्रि-नाभिरूप कालचक्र बड़ा ही प्रबल और अद्भुत है। वह अजर ब्रह्मस्वरूप-धुरीके ऊपर निरन्तर घूमता रहता है। अधिकमास सहित तेरह महीने इसके तेरह अरे हैं। तीन सौ साठ दिन-रात इसके जोड़ हैं। छह ऋतुएँ इसकी छह नेमि (हाल) हैं। अनन्त क्षण पलादि इसकी पत्राकार धाराएँ हैं। तीन चातुर्मास्य इसके आधारभूत नाभि हैं। हे भगवान्! यह तीव्र वेगशाली संवत्सररूप कालचक्र समस्त जगत्‌की आयुका छेदन करता हुआ घूमता रहता है, परन्तु यह आपके भक्तोंकी आयुका हरण नहीं कर सकता॥ १८॥

एकः स्वयं सन् जगतः सिसृक्षया-
द्वितीययात्मन्नधियोगमायया ।
सृजस्यदः पासि पुनर्ग्रसिष्यसे
यथोर्णनाभिर्भगवन् स्वशक्तिभिः ॥ १९ ॥

हे भगवन्! आप स्वयं एक होकर भी जगत्की सृष्टिकी इच्छासे अपनी योगमायाको स्वीकारकर उसकी छायारूप महामायाके प्रति ईक्षण अर्थात् दृष्टिपातके प्रभावसे अभिव्यक्त सत्त्वादि तीन शक्तियोंको बहिरङ्ग रूपसे स्वीकार करते हैं। जिस प्रकार मकड़ी स्वयंसे ही जालेको बाहर निकालती है, उसकी रक्षा करती है और स्वयंमें ही जालेको लय भी कर लेती है, उसी प्रकार आप भी उक्त तीनों शक्तियोंके द्वारा इस विश्वकी सृष्टि, स्थिति एवं संहार करते हैं॥ १९॥

नैतद्बताधीश पदं तवेप्सितं
यन्मायया नस्तनुषे भूतसूक्ष्मम्।
अनुग्रहायास्त्वपि यर्हि मायया
लसत्तुलस्या भगवान् विलक्षितः॥ २०॥

हे परमेश्वर! हमारे समान अपने सकाम उपासकोंके लिए आप जो शब्दादि जड़-भोग्य विषय-सुखका विस्तार करते हैं, वह यद्यपि आपको पसन्द नहीं है, तथापि आप हम सकाम उपासकोंके प्रति अनुग्रहपूर्वक ही ऐसा कीजिये, जिससे कि हम देव-ऋषि-पितृऋणसे मुक्त हो जायें। इसका कारण है कि हमने आपके तुलसीमालासे सुशोभित श्रीविग्रहका दर्शन किया है, जो जीवोंको भुक्ति एवं मुक्ति दोनों ही प्रदान करता है॥ २०॥

तं त्वानुभूत्योपरतक्रियार्थं
स्वमाययावर्तितलोकतन्त्रम् ।
नमाम्यभीक्ष्णं नमनीयपाद-
सरोजमल्पीयसि कामवर्षम्॥ २१॥

हे भगवन्! भगवत्-विषयक ज्ञान होनेपर जीवोंकी कर्मफल भोगकी वासना समाप्त हो जाती है। आप स्वरूपसे निष्क्रिय होनेपर

भी अपनी मायाशक्तिकी प्रेरणासे देव-तिर्यग् आदि लोकोंके लिए सुखदुःख कर्मफलरूप उपकरण सर्वदा सम्पादित करते हैं। आप क्षुद्र चित्तवाले सकाम पुरुषोंके द्वारा अभिलषित वस्तुओंको भी प्रदान करते हैं, इसलिए क्या सकाम, क्या निष्काम—सभी आपके चरणकमलोंमें शरणागत होते हैं। मैं आपको पुनः-पुनः नमस्कार करता हूँ॥ २१॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

इत्यव्यलीकं प्रणुतोऽब्जनाभ-
स्तमाबभाषे वचसामृतेन।
सुपर्णपक्षोपरि रोचमानः
प्रेमस्मितोद्वीक्षणविभ्रमद्भ्रूः ॥ २२॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! कर्दम ऋषिने जब गरुड़के कन्धेपर विराजमान भगवान् श्रीपद्मनाभकी इस प्रकार निष्कपट भावसे स्तुति की, तब प्रेमपूर्वक मन्द-मन्द मुसकराते हुए और तिरछी चितवनके द्वारा चञ्चल भ्रू-भङ्गिमासे युक्त भगवान् अमृतमय मधुर वचनोंसे कर्दम ऋषिसे इस प्रकार कहने लगे॥ २२॥

श्रीभगवानुवाच—

विदित्वा तव चैत्यं मे पुरैव समयोजि तत्।
यदर्थमात्मनियमैस्त्वयैवाहं समर्चितः॥ २३॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—हे मुनिवर! तुमने जिस अभिप्रायसे इतने दिन तक तपस्यादिके द्वारा मेरी भलीभाँति आराधना की है, मैं तुम्हारे हृदयके उस भावसे पूर्णतया अवगत हूँ, अतः मैंने पहलेसे ही उसकी व्यवस्था कर रखी है॥ २३॥

न वै जातु मृषैव स्यात् प्रजाध्यक्ष मदर्हणम्।
भवद्विधेष्वतितरां मयि संगृभितात्मनाम्॥ २४॥

हे प्रजापते! जो अपने चित्तको नित्य निरन्तर मुझमें समाहित करके मेरा अर्चन करते हैं, उनकी वह आराधना कभी निष्फल नहीं होती। विशेष रूपसे तुम जैसे महात्मा मेरे नितान्त अनुग्रहके पात्र होते हैं॥ २४॥

प्रजापतिसुतः सम्राण्मनुर्विख्यातमङ्गलः।
ब्रह्मावर्तं योऽधिवसन् शास्ति सप्तार्णवां महीम्॥ २५॥

इस समय प्रजापति ब्रह्माके पुत्र सम्राट् स्वायम्भुव मनु अपने सदाचारादि मङ्गल गुणोंसे विख्यात हैं। वे ब्रह्मावर्त्त प्रदेशमें रहते हुए सात-सागरोंसे युक्त इस पृथ्वीपर शासन कर रहे हैं॥ २५॥

स चेह विप्र राजर्षिर्महिष्या शतरूपया।
आयास्यति दिदृक्षुस्त्वां परश्वो धर्मकोविदः॥ २६॥

हे विप्रवर! वे धर्मज्ञ राजर्षि स्वायम्भुव मनु महारानी शतरूपाके साथ तुम्हारे दर्शनोंके लिए परसों इसी स्थानपर आयेंगे॥ २६॥

आत्मजामसितापाङ्गीं वयःशीलगुणान्विताम्।
मृगयन्तीं पतिं दास्यत्यनुरूपाय ते प्रभो॥ २७॥

हे मुनिश्रेष्ठ! उन राजर्षि मनुकी एक उपयुक्त आयु, शील-स्वभाव और गुणोंसे सम्पन्न मृगलोचना कन्या है। वे उसी कन्याके लिए योग्य पतिको ढूँढ़ रहे हैं। हे प्रजापते! तुम सर्वथा उसके योग्य हो, अतएव राजर्षि तुम्हें ही अपनी वह कन्या प्रदान करेंगे॥ २७॥

समाहितं ते हृदयं यत्रेमान् परिवत्सरान्।
सा त्वां ब्रह्मन् नृपवधूः काममाशु भजिष्यति॥ २८॥

बहुत वर्षोंसे तुम्हारा चित्त जैसी पत्नीके लिए आसक्त हो रहा था, हे ब्रह्मन्! वैसी राजकन्या अतिशीघ्र ही तुम्हें पतिरूपमें ग्रहणकर तुम्हारी यथेष्ट सेवा करेगी॥ २८॥

या त आत्मभृतं वीर्यं नवधा प्रसविष्यति।
वीर्ये त्वदीये ऋषय आधास्यन्त्यञ्जसात्मनः॥ २९॥

वह तुम्हारे वीर्यको अपने गर्भमें धारणकर उससे नौ कन्याएँ उत्पन्न करेगी। पुनः तुम्हारी उन कन्याओंमें मरीचि आदि ऋषि लोकरीतिके अनुसार अपने वीर्यका आधानकर पुत्र उत्पन्न करेंगे॥ २९॥

त्वञ्च सम्यगनुष्ठाय निदेशं म उशत्तमः।
मयि तीर्थीकृताशेष-क्रियार्थो मां प्रपत्स्यसे॥ ३०॥

हे वत्स! तुम मेरी आज्ञाका अच्छी तरह पालन करते हुए मुझमें ही सम्पूर्ण कर्मफल समर्पण करो। ऐसा करनेसे तुम शुद्धसत्त्व होकर अन्तमें मुझे ही प्राप्त करोगे॥ ३०॥

कृत्वा दयाञ्च जीवेषु दत्वा चाभयमात्मवान्।
मय्यात्मानं सह जगद् द्रक्ष्यस्यात्मनि चापि माम्॥ ३१॥

वत्स! तुम गृहस्थाश्रममें प्रवेश करके पहले अन्न-वस्त्र दान आदिके द्वारा जीवोंपर दया करना और तत्पश्चात् संन्यास आश्रम ग्रहणकर करके प्राणिमात्रको अभय प्रदान करना। ऐसा करनेसे तुम अपने सहित अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंको कारणार्णवशायी पुरुष मुझमें और अन्तर्यामीरूपमें स्थित मुझे अपनेमें स्थित देख सकोगे॥ ३१॥

सहाहं स्वांशकलया त्वद्वीर्येण महामुने।
तव क्षेत्रे देवहूत्यां प्रणेष्ये तत्त्वसंहिताम्॥ ३२॥

हे महामुने! इसके बाद मैं भी अपने अंश-कलासे तुम्हारे वीर्य द्वारा तुम्हारी पत्नी देवहूतिके गर्भसे जन्म लेकर 'तत्त्व-संहिता' (सांख्य-शास्त्र) का प्रणयन करूँगा॥ ३२॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

एवं तमनुभाष्याथ भगवान् प्रत्यगक्षजः।
जगाम बिन्दुसरसः सरस्वत्या परिश्रितात्॥ ३३॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—विदुर! भगवान् श्रीहरि ऋषिप्रवर कर्दम ऋषिके नेत्रोंके सम्मुख प्रकट होकर तथा उन्हें इस प्रकार उपदेश प्रदान करके सरस्वती नदीसे घिरे हुए बिन्दुसरोवर तीर्थपर स्थित कर्दम ऋषिके आश्रमसे अन्तर्धान हो गये॥ ३३॥

निरीक्षतस्तस्य ययावशेष-
सिद्धेश्वराभिष्टु तसिद्धमार्गः।
आकर्णयन् पत्ररथेन्द्रपक्षै-
रुच्चारितं स्तोममुदीर्णसाम॥ ३४॥

कर्दम ऋषिने देखा कि समस्त योगीश्वर जिनकी वन्दना करते हैं तथा सिद्धगण भी जिनके वैकुण्ठ मार्गको ढूँढ़ते रहते हैं, वे भगवान्

कर्दम ऋषिके सामने ही उनके द्वारा उच्चारित इन समस्त सामवेदकी ऋचाओंको, जिनकी अभिव्यक्ति उनके वाहन गरुड़जीके पङ्खोंसे हो रही थी, सुनते-सुनते चले गये॥ ३४॥

अथ सम्प्रस्थिते शुक्ले कर्दमो भगवानृषिः।
आस्ते स्म बिन्दुसरसि तं कालं प्रतिपालयन्॥ ३५॥

तदनन्तर शुद्ध-सत्त्वमूर्त्ति भगवान् श्रीहरिके प्रस्थान करनेपर कर्दम ऋषि राजर्षि मनुके आगमनकालकी प्रतीक्षा करते हुए बिन्दुसरोवरके तटपर ही ठहर गये॥ ३५॥

मनुः स्यन्दनमास्थाय शातकौम्भपरिच्छदम्।
आरोप्य स्वां दुहितरं सभार्यः पर्यटन् महीम्॥ ३६॥

तस्मिन् सुधन्वन्नहनि भगवान् यत् समादिशत्।
उपायादाश्रमपदं मुनेः शान्तव्रतस्य तत्॥ ३७॥

हे विदुर! इसी बीचमें स्वायम्भुव मनु अपनी पत्नी महारानी शतरूपाके साथ स्वर्णमण्डित रथपर सवार होकर तथा अपनी कन्याको भी उसी रथमें बिठाकर पृथ्वीपर भ्रमण करते हुए उसी दिन ही शान्तव्रत कर्दम ऋषिके प्रसिद्ध आश्रममें आ पहुँचे, जिस दिनके लिए भगवान्ने उनका आगमन निर्दिष्ट किया था॥ ३६-३७॥

यस्मिन् भगवतो नेत्रान्न्यपतन् हर्षबिन्दवः।
कृपया सम्परीतस्य प्रपन्नेऽर्पितया भृशम्॥ ३८॥

यह वही आश्रम है, जहाँ शरणागत कर्दम ऋषिके प्रति अत्यन्त करुणा और स्नेहके वशीभूत होकर भगवान्के नेत्रोंसे आनन्दके आँसुओंकी बूँदे गिरी थीं॥ ३८॥

तद्वै बिन्दुसरो नाम सरस्वत्या परिप्लुतम्।
पुण्यं शिवामृतजलं महर्षिगणसेवितम्॥ ३९॥

पुण्यद्रुमलताजालैः कूजत्पुण्यमृगद्विजैः।
सर्वर्तुफलपुष्पाढ्यं वनराजिश्रियान्वितम्॥ ४०॥

मत्तद्विजगणैर्घुष्टं मत्तभ्रमरविभ्रमम्।
मत्तबर्हिनटाटोपमाह्वयन्मत्तकोकिलम् ॥ ४१ ॥
कदम्बचम्पकाशोक-करञ्जबकुलासनैः ।
कुन्दमन्दारकुटजैश्चूतपोतैरलङ्कृतम् ॥ ४२ ॥
कारण्डवैः प्लवैर्हंसैः कुररैर्जलकुक्कुटैः।
सारसैश्चक्रवाकैश्च चकोरैर्वल्गुकूजितम् ॥ ४३ ॥
तथैव हरिणैः क्रोडैः श्वाविद्गवयकुञ्जरैः।
गोपुच्छैर्हरिभिर्मर्कैर्नकुलैर्नाभिभिर्वृतम् ॥ ४४ ॥
प्रविश्य तत्तीर्थवरमादिराजः सहानुगः।
ददर्श मुनिमासीनं तस्मिन् हुतहुताशनम् ॥ ४५ ॥
विद्योतमानं वपुषा तपस्युग्रयुजा चिरम्।
नातिक्षामं भगवतः स्निग्धापाङ्गावलोकनात्।
तद्व्याहृतामृतकला-पीयूषश्रवणेन च ॥ ४६ ॥
प्रांशुं पद्मपलाशाक्षं जटिलं चीरवाससम्।
उपसंसृत्य मलिनं यथार्हणमसंस्कृतम् ॥ ४७ ॥

सरस्वतीके जलसे परिपूर्ण यह वही बिन्दुसरोवर है। यह तीर्थ परम पवित्र है, इसका जल कल्याणकारी तथा अमृतके समान मीठा है। महर्षिगण सदा इसकी सेवा किया करते हैं। उस समय यह स्थान बहुत-से पवित्र वृक्ष-लताओंसे सुशोभित और हिंसादिसे रहित नाना प्रकारके पशु और पक्षियोंके कूजनसे परिव्याप्त था। यह सभी ऋतुओंके फल और पुष्पादिसे सम्पन्न तथा सुन्दर वन-श्रेणीसे सुशोभित था। यह स्थान मदोन्मत्त पक्षियोंके कूजनसे प्रतिध्वनित एवं मधुपानमें मत्त मधुकरोंकी झंकारसे आनन्दक्रीड़ासे युक्त था। यहाँ मदमत्त मयूर नटके समान नृत्य करते थे और मतवाली कोयलें कुहू-कुहू करके एक-दूसरेको बुलाती रहती थीं। इसी आश्रममें कदम्ब, चम्पक, अशोक, करञ्ज, बकुल, आसन, कुन्द, मन्दार, कुटज और तरुण आम्रवृक्ष सुशोभित हो रहे थे। यहाँ कारण्डव (जलकाग), बतख, हंस, कुरर, जलकुक्कुट, सारस, चक्रवाक, चकोर आदि पक्षियोंका मनोहर कूजन ध्वनित हो रहा था। इसी स्थानपर हिरण,

वराह, शल्लक (स्याही), नीलगाय, हाथी, लङ्गूर वानर, नेवला, कस्तुरी मृग आदि पशु विचरण कर रहे थे। आदिराज मनुने अपने अनुचरों तथा कन्याके साथ इस सर्वतीर्थ श्रेष्ठ परम मनोहर आश्रममें प्रवेश करके देखा कि एक मुनिवर (कर्दम) ब्रह्मचारीके लिए योग्य अग्निहोत्रसे निवृत्त होकर बैठे हुए हैं। बहुत समय तक उग्र तपस्यामें रत रहनेके कारण उस अत्यधिक कठोर योगका प्रभाव उनके शरीरमें प्रकाशित हो रहा था। श्रीभगवान्‌की सुस्निग्ध अपाङ्गदृष्टि एवं अमृतमय चन्द्रकलास्वरूप सुमधुर कथामृतका पान करनेसे वे अत्यन्त पतले नहीं दिख रहे थे। उनका शरीर लम्बा एवं नेत्र कमल-दलके समान विशाल एवं मनोरम थे। सिरपर जटाएँ और कटि-देशपर चीर-वस्त्र विराजित था। महाराज मनु जब उनके समीप गये, तो वे असंस्कृत (बिना सानपर चढ़ी हुई) महामूल्य मणिके समान किञ्चित् मलिन दिखायी दे रहे थे॥ ३९-४७॥

अथोटजमुपायान्तं नृदेवं प्रणतं पुरः।
सपर्यया प्रत्यगृह्णात् प्रतिनन्द्यानुरूपया॥ ४८॥

तत्पश्चात् आदिराज मनुने कर्दम ऋषिकी कुटीमें आकर उनके चरणोंमें प्रणाम किया। मुनिने भी आशीर्वचनसे उनका अभिनन्दन करते हुए यथायोग्य आतिथ्यकी रीतिसे उनका पूजन-सत्कार किया॥ ४८॥

गृहीतार्हणमासीनं संयतं प्रीणयन् मुनिः।
स्मरन् भगवदादेशमित्याह श्लक्ष्णया गिरा॥ ४९॥

महाराज मनु उनकी पूजा ग्रहण करके स्थिर चित्तसे आसनपर विराजमान हो गये। तब मुनिवर कर्दम श्रीभगवान्‌के आदेशका स्मरणकर सुमधुर वचनोंसे उन्हें प्रसन्न करते हुए कहने लगे—॥ ४९॥

नूनं चङ्क्रमणं देव सतां संरक्षणाय ते।
वधाय चासतां स त्वं हरेः शक्तिर्हि पालिनी॥ ५०॥

हे राजर्षे! आपका विचरण निश्चित रूपसे साधु-सज्जनोंकी रक्षा और असुरोंके विनाशके लिए ही होता है, क्योंकि आप श्रीभगवान्‌की जगत्-पालिका-शक्ति स्वरूप हैं॥ ५०॥

योऽर्केन्द्वग्नीन्द्रवायूनां यमधर्मप्रचेतसाम्।
रूपाणि स्थान आधत्से तस्मै शुक्लाय ते नमः॥ ५१॥

हे देव! आप विभिन्न कार्योंके प्रवर्त्तनके लिए सूर्य, चन्द्र, अग्नि, इन्द्र, वायु, यम, धर्म और वरुण आदि रूप धारण करते हैं। आप ही वे सर्वदेवमय, शुक्लवर्ण अर्थात् शुद्धसत्त्वस्वरूप विष्णुरूप हैं, मैं आपको नमस्कार करता हूँ॥ ५१॥

न यदा रथमास्थाय जैत्रं मणिगणार्पितम्।
विस्फूर्जच्चण्डकोदण्डो रथेन त्रासयन्नघान्॥ ५२॥

स्वसैन्यचरणक्षुण्णं वेपयन् मण्डलं भुवः।
विकर्षन् महतीं सेनां पर्यटस्यंशुमानिव॥ ५३॥

तदैव सेवतः सर्वे वर्णाश्रमनिबन्धनाः।
भगवद्रचिता राजन् भिद्येरन् बत दस्युभिः॥ ५४॥

हे राजन्! यदि आप मणियोंसे जड़े हुए जयदायक रथपर सवार होकर अपने प्रचण्ड शब्दायमान धनुषकी टङ्कार और रथकी घर-घराहटसे धर्म विरोधी पापियोंको भयभीत नहीं करते, अपने सुविशाल सैन्यदलके साथ उसके पाद-प्रहारोंसे रौंदे गये भूमण्डलको कँपकँपाते हुए सूर्यके समान इस पृथ्वीपर भ्रमण न करते, अहो! तब तो हे महाराज! भगवान्के द्वारा सृष्ट वर्णाश्रमधर्मके संस्थापक समस्त पथ ही दुराचारी असुरोंके द्वारा विनष्ट हो जाते॥ ५२-५४॥

अधर्मश्च समेधेत लोलुपैर्व्यङ्कुशैर्नृभिः।
शयाने त्वयि लोकोऽयं दस्युग्रस्तो विनङ्क्ष्यति॥ ५५॥

हे राजन्! यदि आप इस संसारके प्रति निश्चिन्त हो जायें, तो कृष्णसे बहिर्मुख विषयलोलुप स्वतन्त्र-स्वेच्छामय मनुष्योंके द्वारा किया जानेवाला अधर्म वर्द्धित होता रहेगा। इसके फलस्वरूप यह लोक दुराचारियों (दस्युओं) के द्वारा पीड़ित होकर नष्ट हो जायेगा॥ ५५॥

अथापि पृच्छे त्वां वीर यदर्थं त्वमिहागतः।
तद्वयं निर्व्यलीकेन प्रतिपद्यामहे हृदा॥ ५६॥

यद्यपि आप बिना किसी कारणके ही भ्रमण नहीं करते हैं, तथापि मैं आपसे पूछता हूँ—हे वीर! कृपया मुझे बतलाइये कि आप किस उद्देश्यसे मेरे आश्रममें पधारे हैं? मैं निष्कपट हृदयसे आपके अभिप्रायको पूर्ण करूँगा॥ ५६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां तृतीयस्कन्धे श्रीविदुर-मैत्रेय संवादे श्रीमनु-कर्दम-संवादो नाम एकविंशोऽध्यायः॥

द्वाविंशोऽध्यायः

देवहूतिके साथ प्रजापति कर्दमका विवाह

श्रीमैत्रेय उवाच—

एवमाविष्कृताशेष-गुणकर्मोदयो मुनिम्।
सव्रीड इव तं सम्राडुपारतमुवाच ह॥ १॥

श्रीमैत्रेयऋषिने कहा—हे विदुर! महर्षि कर्दमने इस प्रकार मनुके समस्त गुणों एवं कर्मोंके उत्कर्षकी बहुत प्रशंसा की। तब सम्राट् मनु आत्म-प्रशंसाको सुनकर लज्जित-से हो गये और निवृत्ति-धर्म परायण कर्दम ऋषिसे कहने लगे॥ १॥

श्रीमनुरुवाच—

ब्रह्मासृजत् स्वमुखतो युष्मानात्मपरीप्सया।
छन्दोमयस्तपोविद्यायोगयुक्तानलम्पटान् ॥ २॥

श्रीमनुने कहा—हे ब्रह्मन्! वेदमय ब्रह्माने वैदिक ज्ञानके विस्तारकी अभिलाषासे भगवान्‌की आराधना, ध्यान और योगसे सम्पन्न तथा निष्कपट अर्थात् विषयोंसे अनासक्त आप-जैसे ब्राह्मणोंकी अपने विराट् देहके मुखसे सृष्टि की है॥ २॥

तत्त्राणायासृजच्चास्मान् दोःसहस्रात् सहस्रपात्।
हृदयं तस्य हि ब्रह्म क्षत्रमङ्गं प्रचक्षते॥ ३॥

और उन्हीं सहस्र चरणोंवाले विराट् पुरुषने ब्राह्मणोंकी रक्षाके लिए अपनी सहस्र भुजाओंसे हम क्षत्रियोंकी सृष्टि की है। इसीलिए ब्राह्मणको ब्रह्माका (उन विराट् पुरुषका)[१] हृदय एवं क्षत्रियको उनकी भुजा कहा जाता है॥ ३॥

अतो ह्यन्योन्यमात्मानं ब्रह्म क्षत्रञ्च रक्षतः।
रक्षति स्माव्ययो देवः स यः सदसदात्मकः॥ ४॥

---

[१] यहाँ परमेश्वरके साथ ब्रह्माके ऐक्यरूपमें ऐसा कहा गया है।

अतएव ब्राह्मण और क्षत्रिय एक ही शरीरसे सम्बन्धित रहनेके कारण एक-दूसरेकी रक्षा करते हैं। ब्राह्मण तपोबलके प्रभावसे क्षत्रियका पालन करते हैं और क्षत्रिय देहबलके द्वारा ब्राह्मणोंकी रक्षा करते हैं। यद्यपि यह रक्षा परस्पर हमारे द्वारा की हुई प्रतीत होती है, तथापि जो सर्वात्मक अर्थात् कार्य-कारणरूप होकर भी निर्विकार हैं, वे परमेश्वर ही वास्तवमें सबकी रक्षा करते हैं॥ ४॥

तव सन्दर्शनादेवच्छिन्ना मे सर्वसंशयाः।
यत् स्वयं भगवान् प्रीत्या धर्ममाह रिरक्षिषोः॥ ५॥

हे देव! आपके दर्शनमात्रसे ही मेरे समस्त संशय दूर हो गये हैं। मैं क्षत्रियोंके लिए उचित रक्षा-कार्य करनेका इच्छुक हूँ, इसीलिए षड़ैश्वर्यशाली आपने मेरी प्रशंसा करके बड़े प्रेमके साथ राजाओंके (मेरे) धर्मका निरूपण किया है॥ ५॥

दिष्ट्या मे भगवान् दृष्टो दुर्दर्शो योऽकृतात्मनाम्।
दिष्ट्या पादरजः स्पृष्टं शीर्ष्णा मे भवतः शिवम्॥ ६॥

मुझे बड़े सौभाग्यसे आपका दर्शन प्राप्त हुआ है। दुराचारी अजितेन्द्रिय व्यक्तियोंको आपका दर्शन प्राप्त नहीं हो सकता। अपने सौभाग्यके कारण ही मैं आपकी मङ्गलमयी चरणधूलिको अपने सिरपर धारण कर सका हूँ॥ ६॥

दिष्ट्या त्वयानुशिष्टोऽहं कृतश्चानुग्रहो महान्।
अपावृतैः कर्णरन्ध्रैर्जुष्टा दिष्ट्योशतीर्गिरः॥ ७॥

मेरे सौभाग्यके कारण ही आपने मुझे राजधर्मकी शिक्षा देकर मुझपर महान् कृपा की है और मैंने भी अपनी बहुत सुकृतियोंके फलसे आपकी पवित्र और कमनीय वाणीको कान खोलकर सुना है॥ ७॥

स भवान् दुहितृस्नेहपरिक्लिष्टात्मनो मम।
श्रोतुमर्हसि दीनस्य श्रावितं कृपया मुने॥ ८॥

हे मुने! आपने मुझपर विशेष कृपा की है। अपनी कन्याके प्रति स्नेहवशतः मेरा हृदय बड़ा ही चिन्तित हो रहा है। आप कृपा करके मुझ दीन-जनका एक निवेदन सुनिये॥ ८॥

प्रियव्रतोत्तानपदोः स्वसेयं दुहिता मम।
अन्विच्छति पतिं युक्तं वयःशीलगुणादिभिः॥ ९॥

हे मुनिवर! मेरी एक कन्या है, जो प्रियव्रत और उत्तानपादकी बहन है। यह आयु, स्वभाव एवं गुण आदिमें अपने अनुरूप पतिकी खोज कर रही है॥ ९॥

यदा तु भवतः शील-श्रुतरूपवयोगुणान्।
अशृणोन्नारदादेषा त्वय्यासीत् कृतनिश्चया॥ १०॥

जबसे इसने श्रीनारद ऋषिके मुखसे आपके चरित्र, पाण्डित्य, रूप, आयु और गुणोंको सुना है, तभीसे इसने आपको ही पतिके रूपमें वरण करनेका दृढ़ निश्चय कर लिया है॥ १०॥

तत् प्रतीच्छ द्विजाग्र्येमां श्रद्धयोपाहृतां मया।
सर्वात्मनानुरूपां ते गृहमेधिषु कर्मसु॥ ११॥

अतएव हे द्विजश्रेष्ठ! मेरे द्वारा अर्पित श्रद्धाके उपहार-स्वरूप इस कन्याको आप अपनी पत्नीके रूपमें स्वीकार कीजिये। मेरी यह कन्या सब प्रकारसे आपके योग्य है, यह आपके गृहास्थाश्रमोचित समस्त कार्योंमें परम सहायक होगी॥ ११॥

उद्यतस्य हि कामस्य प्रतिवादो न शस्यते।
अपि निर्मुक्तसङ्गस्य कामरक्तस्य किं पुनः॥ १२॥

विरक्त अर्थात् विषय-संपर्कसे सम्पूर्णता निर्मुक्त पुरुषको भी स्वयं उपस्थित भोगोंकी अवहेलना नहीं करनी चाहिये, फिर जो कामासक्त हैं, उनके सम्बन्धमें तो कहना ही क्या है?॥ १२॥

य उद्यतमनादृत्य कीनाशमभियाचते।
क्षीयते तद्यशः स्फीतं मानश्चावज्ञया हतः॥ १३॥

जो व्यक्ति स्वयं प्राप्त काम्यवस्तु (भोग) का अनादर कर देता है, बादमें वह उसी वस्तुके लिए कृपण व्यक्तियोंके निकट हाथ पसारता है। इस प्रकार वह यशस्वी होनेपर भी क्रमशः अपने यशको क्षीण कर बैठता है और दूसरोंके द्वारा तिरस्कार होनेपर उसका मान भी नष्ट हो जाता है॥ १३॥

अहं त्वाश्रृणवं विद्वन्नुद्वाहार्थं समुद्यतम्।
अतस्त्वमुपकुर्वाणः प्रत्तां प्रतिगृहाण मे॥ १४॥

हे विद्वन्! मैंने सुना है कि आप विवाहके लिए उद्यत हैं, इसीलिए मैं आपसे इस कन्याका पाणिग्रहण करनेका आग्रह कर रहा हूँ। आपका ब्रह्मचर्यव्रत नैष्ठिक नहीं हैं; अतः जब आपने ब्रह्मचर्यव्रतको समाप्त करना ही है, तब मेरे द्वारा अर्पित की हुई कन्याको ही पत्नी रूपमें स्वीकार करें॥ १४॥

श्रीऋषिरुवाच—

बाढमुद्वोढुकामोऽहमप्रत्ता च तवात्मजा।
आवयोरनुरूपोऽसावाद्यो वैवाहिको विधिः॥ १५॥

श्रीकर्दम ऋषिने कहा—यह उत्तम प्रस्ताव है, मैंने आपकी कन्याको स्वीकार किया। मैं भी विवाह करनेका इच्छुक हूँ और आपकी इस कन्याके द्वारा भी मुझे पति रूपमें वरण करनेका निश्चय किया गया है, इसलिए यह किसीको भी वचनके द्वारा दान नहीं दी गयी है। अतः प्रथम वैवाहिक विधि अर्थात् ब्राह्म विधिसे[१] ही हमारा विवाह होना उचित होगा॥ १५॥

कामः स भूयान्नरदेव तेऽस्याः
पुत्र्याः समाम्नायविधौ प्रतीतः।
क एव ते तनयां नाद्रियेत
स्वयैव कान्त्या क्षिपतीमिव श्रियम्॥ १६॥

हे राजन्! आपकी इस कन्याका विवाह-संस्कार वेदोक्त विधिसे ही भलीभाँति अनुष्ठित हो। आपकी इस कन्याके साथ सम्बन्ध होनेसे वेदोक्त 'गृह्णामि ते'[२] मन्त्रोमें बताया हुआ काम अर्थात् सन्तान-उत्पत्ति रूप मनोरथ सफल होगा। आपकी पुत्रीकी अङ्ग-कान्तिसे तो

---

[१] मनुस्मृतिके अनुसार आठ प्रकारके विवाहोंमें सर्वप्रथम एवं सर्वश्रेष्ठ—जिसमें पिता अपनी कन्याको योग्यवरको दान करता है।

[२] वेदोंमें प्रसिद्ध मन्त्र है—'गृह्णामि ते' अर्थात् सौभाग्यके लिए मैं पति रूपमें तुम्हारी कन्याका पाणिग्रहण करता हूँ। तुम वीर-प्रसविनी होओ।

आभूषणोंकी शोभा भी तिरस्कृत हो रही है, अतः कौन पुरुष इसका आदर नहीं करेगा? ॥ १६ ॥

यां हर्म्यपृष्ठे क्वणदङ्घ्रिशोभां
विक्रीडतीं कन्दुकविह्वलाक्षीम्।
विश्वावसुर्न्यपतत् स्वाद्विमानाद्-
विलोक्य सम्मोहविमूढचेताः॥ १७॥

एक बार आपकी यह कन्या महलकी छतपर चढ़कर गेंदके साथ खेल रही थी। उस समय गेंदके इधर-उधर जानेसे इसकी दृष्टि भी चञ्चल हो रही थी। इस प्रकार क्रीड़ा करते हुए इसके दोनों पैरोंके नूपुरोंसे रुनझुन शब्दोंके द्वारा इसके पैर अत्यन्त सुशोभित हो रहे थे। विश्वावसु नामक गन्धर्व इसका ऐसी दशामें दर्शन करनेमात्रसे सम्मोहवशतः विमूढ़ चित्त होकर अपने विमानसे भूमिपर गिर पड़ा था॥ १७॥

तां प्रार्थयन्तीं ललनाललाम-
मसेवित श्रीचरणैरदृष्टाम्।
वत्सां मनोरुच्चपदः स्वसारं
को नानुमन्येत बुधोऽभियाताम्॥ १८॥

यह रमणियोंमें भूषण-स्वरूप है। जिन्होंने कभी भी श्रीलक्ष्मीके चरणोंकी सेवा नहीं की, उनके भाग्यमें इसका दर्शन नहीं है। उसपर भी यह आदिराज स्वायम्भुव मनुकी दुलारी कन्या और उत्तानपादकी प्यारी बहिन है तथा स्वयं ही यहाँ आकर पतिके लिए प्रार्थना कर रही है। फिर कौन बुद्धिमान व्यक्ति होगा, जो इसकी प्रार्थनाको स्वीकार नहीं करेगा? ॥ १८॥

अतो भजिष्ये समयेन साध्वीं
यावत्तेजो बिभृयादात्मनो मे।
अतो धर्मान् पारमहंस्यमुख्यान्
शुक्लप्रोक्तान् बहु मन्येऽविहिंस्रान्॥ १९॥

अतः जब तक यह मेरे और अपने स्वयंके तेजको धारण नहीं करती अर्थात् गर्भवती नहीं होती, तब तक मैं आपकी इस साध्वी कन्याके साथ गार्हस्थ्य धर्मका निर्वाह करूँगा। इसके पश्चात् भगवान् श्रीविष्णु द्वारा कथित परमहंस अर्थात् संन्यास प्रधान अहिंसा धर्मको ग्रहण करूँगा॥ १९॥

यतोऽभवद्विश्वमिदं विचित्रं
संस्थास्यते यत्र च वाव तिष्ठते।
प्रजापतीनां पतिरेष मह्यं
परं प्रमाणं भगवाननन्तः॥ २०॥

हे राजन्! यह विचित्र विश्व जिनसे उत्पन्न हुआ है, जिनमें अवस्थित है एवं अन्तमें जिनमें लीन हो जायेगा, प्रजापतियोंके पति वे भगवान् अनन्तदेव श्रीविष्णु ही मेरी एकमात्र परम-शरण हैं॥ २०॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

स उग्रधन्वन्नियदेवाबभाषे
आसीच्च तूष्णीमरविन्दनाभम्।
धियोपगृह्णन् स्मितशोभितेन
मुखेन चेतो लुलुभे देवहूत्याः॥ २१॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे श्रेष्ठ धनुर्धर विदुर! इतना कहकर कर्दम ऋषि मौन हो गये और फिर बुद्धिको पूर्णतया समाहित करके वे पद्मनाभ श्रीविष्णुका स्मरण करने लगे। इससे उनका मुखकमल मुस्कानसे खिल उठा। यह देखकर देवहूतिका चित्त उनके प्रति आकर्षित हो गया॥ २१॥

सोऽनु ज्ञात्वा व्यवसितं महिष्या दुहितुः स्फुटम्।
तस्मै गुणगणाढ्याय ददौ तुल्यां प्रहर्षितः॥ २२॥

तदनन्तर मनुने अपनी महारानी शतरूपा और कन्याकी स्पष्ट अनुमति जानकर आनन्दित हृदयसे सर्वगुण विभूषित उन मुनिवरके साथ उनके ही अनुरूप अपनी गुणवती कन्याका विवाह कर दिया॥ २२॥

शतरूपा महाराज्ञी पारिबर्हान् महाधनान्।
दम्पत्योः पर्यदात् प्रीत्या भूषावासः परिच्छदान्॥ २३॥

महारानी शतरूपाने भी अपनी पुत्री एवं जामाताको विवाह कालमें दान देने योग्य बहुमूल्य वस्त्र, आभूषण एवं विविध गृहोपकरण प्रीति सहित प्रदान किये॥ २३॥

प्रत्तां दुहितरं सम्राट् सदृक्षाय गतव्यथः।
उपगुह्य च बाहुभ्यामौत्कण्ठ्योन्मथिताशयः॥ २४॥

उपयुक्त वरके साथ कन्याका विवाह करके मनु निश्चिन्त हो गये, किन्तु कन्याके प्रति अत्यधिक स्नेहके कारण उनके मनमें अन्य प्रकारकी उत्कण्ठा होने लगी, जिससे उनका चित्त विह्वल हो गया। तब उन्होंने अत्यन्त स्नेहवशतः अपनी दोनों भुजाएँ फैलाकर कन्याको हृदयसे लगा लिया और उसे अपने आँसुओंसे अभिषिक्त कर दिया॥ २४॥

अशक्नुवंस्तद्विरहं मुञ्चन् बाष्पकलां मुहुः।
आसिञ्चदम्ब वत्सेति नेत्रोदैर्दुहितुः शिखाः॥ २५॥

कन्याके विरह-दुःखको सहन करनेमें असमर्थ होकर मनु कातर रूपमें बेटी! बेटी! सम्बोधन करते हुए पुनः-पुनः रोने लगे जिससे उनकी पुत्रीके केश भीग गये॥ २५॥

आमन्त्र्य तं मुनिवरमनुज्ञातः सहानुगः।
प्रतस्थे रथमारुह्य सभार्यः स्वपुरं नृपः॥ २६॥

तदनन्तर मनुने मुनिवर कर्दमसे आज्ञा लेकर और उनकी अनुमति प्राप्तकर उनसे विदा ली और पत्नीके साथ रथपर चढ़कर अनुचरोंके साथ अपनी राजधानीकी ओर प्रस्थान किया॥ २६॥

उभयोर्ऋषिकुल्यायाः सरस्वत्याः सुरोधसोः।
ऋषीणामुपशान्तानां पश्यन्नाश्रमसम्पदः॥ २७॥

ऋषियोंका हित साधन करनेवाली सरस्वती नदीके शोभनीय दोनों तटोंपर प्रशान्त मुनियोंके आश्रम विराजित थे। महाराज मनु उन

आश्रमोंकी शोभा-सम्पद्का दर्शन करते हुए अपनी पुरीकी ओर अग्रसर होने लगे॥ २७॥

तमायान्तमभिप्रेत्य ब्रह्मावर्तात् प्रजाः पतिम्।
गीतसंस्तुतिवादित्रैः प्रत्युदीयुः प्रहर्षिताः॥ २८॥

महाराज मनुके अपनी पुरीके समीप आगमनका समाचार जानकर उनकी प्रजा अपने राजाके दर्शनकी अभिलाषासे आनन्दित चित्तसे विविध गीत, वाद्य और स्तुति करती हुई महाराजकी आगवानी करनेके लिए ब्रह्मावर्त्तकी राजधानीसे बाहर निकल आयी॥ २८॥

बर्हिष्मती नाम पुरी सर्वसम्पत्समन्विता।
न्यपतन् यत्र रोमाणि यज्ञस्याङ्गं विधुन्वतः॥ २९॥

हे विदुर! समस्त प्रकारकी सम्पदाओंसे युक्त बर्हिष्मती नामक पुरी ही ब्रह्मावर्त्त देशकी राजधानी है। इसी स्थानपर पृथ्वीको रसातलसे ले आनेके पश्चात् यज्ञमूर्त्ति भगवान् श्रीवराहदेवके अङ्ग कम्पित होनेके कारण उनके शरीरसे रोम झड़कर गिर गये थे॥ २९॥

कुशाः काशास्त एवासन् शश्वद्धरितवर्चसः।
ऋषयो यैः पराभाव्य यज्ञघ्नान् यज्ञमीजिरे॥ ३०॥

इस स्थानपर गिरे वे रोम ही निरन्तर हरे-भरे रहनेवाले कुश और कास रूपमें परिणत होकर सर्वदा विराजमान रहते हैं। इनके द्वारा ही ऋषियोंने यज्ञमें विघ्न डालनेवाले राक्षसोंका तिरस्कार करके यज्ञानुष्ठानके द्वारा श्रीविष्णुकी आराधना की है॥ ३०॥

कुशकाशमयं बर्हिरास्तीर्य भगवान् मनुः।
अयजद् यज्ञपुरुषं लब्धा स्थानं यतो भुवम्॥ ३१॥

राजर्षि मनुने भी भगवान् श्रीवराह देवसे भूमण्डलरूप स्थान प्राप्तकर इसी स्थानमें कुश और काससे बनी हुई चटाई (आसन) को बिछाकर यज्ञपुरुष श्रीहरिकी अर्चना की थी॥ ३१॥

बर्हिष्मतीं नाम विभुर्यां निविश्य समावसत्।
तस्यां प्रविष्टो भवनं तापत्रयविनाशनम्॥ ३२॥

महाराज मनु अपनी 'बर्हिष्मती' नामक पुरीमें आये और उन्होंने त्रिताप-विनाशक अपने भवनमें प्रवेश किया॥ ३२॥

सभार्यः सप्रजः कामान् बुभुजेऽन्याविरोधतः।
संगीयमानसत्कीर्तिः सस्त्रीभिः सुरगायकैः।
प्रत्यूषेष्वनुबद्धेन हृदा शृण्वन् हरेः कथाः॥ ३३॥

प्रतिदिन प्रातःकाल होनेपर गन्धर्व अपनी पत्नियोंके साथ उनकी सत्कीर्त्तिका गान करते थे। मनु अपने पुत्र, पत्नी और सेवकोंके साथ उस कीर्त्तित यशको भगवान्में आसक्त-चित्त होनेके कारण वैष्णवी प्रतिष्ठा मानकर श्रवण करते थे, तथा धर्मादिका विरोध न करके युक्त-वैराग्यके साथ विषयोंका भोग करते थे॥ ३३॥

निष्णातं योगमायासु मुनिं स्वायम्भुवं मनुम्।
यदाभ्रंशयितुं भोगा न शेकुर्भगवत्परम्॥ ३४॥

इस प्रकार महाराज मनु भगवान्के आश्रित और मननशील होनेके कारण ऐहिक भोग रचनामें भी कुशल थे, किन्तु वे भोग किञ्चित् मात्र भी उन्हें विचलित नहीं कर पाते थे॥ ३४॥

अयातयामास्तस्यासन् यामाः स्वान्तरयापनाः।
शृण्वतो ध्यायतो विष्णोः कुर्वतो ब्रुवतः कथाः॥ ३५॥

महाराज मनु नित्य-निरन्तर हरिकथा-श्रवण, हरिके विषयमें ध्यान-चिन्तन, हरिके लीला-वृत्तान्तकी रचना और हरिकीर्त्तनमें ही समय बिताया करते थे। अतएव उनका समय कभी भी व्यर्थ नष्ट नहीं होता था। इस प्रकार कालके अवयव (अंश) क्षण-मुहूर्त्त आदिमें भी सार रहित न रहकर उन्होंने मन्वन्तरका समय पूर्ण किया था॥ ३५॥

स एवं स्वान्तरं निन्ये युगानामेकसप्ततिम्।
वासुदेवप्रसङ्गेन परिभूतगतित्रयः॥ ३६॥

इस प्रकारसे महाराज मनुने अपने मन्वन्तरके इकहत्तर चतुर्युग व्यतीत किये। श्रीवासुदेवकी कथा-प्रसङ्गमें निमग्न रहकर उन्होंने

जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओं एवं सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंको पराभूत कर दिया था॥ ३६॥

शारीरा मानसा दिव्या वैयासे ये च मानुषाः।
भौतिकाश्च कथं क्लेशा बाधेरन् हरिसंश्रयम्॥ ३७॥

हे व्यासनन्दन विदुर! शारीरिक, मानसिक, दैविक, मानुषिक और भौतिक क्लेश श्रीहरिके चरणाश्रित व्यक्तियोंको किस प्रकार पीड़ा देनेमें समर्थ हो सकते हैं?॥ ३७॥

यः पृष्टो मुनिभिः प्राह धर्मान् नानाविधान् शुभान्।
नृणां वर्णाश्रमाणाञ्च सर्वभूतहितः सदा॥ ३८॥

महाराज मनु सर्वदा समस्त प्राणियोंके हितकारी थे। मुनियोंके द्वारा धर्मके विषयमें जिज्ञासा किये जानेपर उन्होंने मनुष्योंके साधारण धर्म, वर्ण और आश्रम धर्म आदि नाना प्रकारके मङ्गलकारी धर्मोंका उपदेश दिया था॥ ३८॥

एतत्त आदिराजस्य मनोश्चरितमद्भुतम्।
वर्णितं वर्णनीयस्य तदपत्योदयं शृणु॥ ३९॥

आदिराज मनुका यह अद्भुत चरित्र कीर्त्तनके योग्य है, इसीलिए इसे मैंने तुम्हें सुनाया है। अब उनकी पुत्री देवहूतिके प्रभावके विषयमें सुनो॥ ३९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां तृतीयस्कन्धे श्रीविदुर-मैत्रेय संवादे देवहूति-प्रदानं नाम द्वाविंशोऽध्यायः॥

त्रयोविंशोऽध्यायः

कर्दम और देवहूतिका विहार

श्रीमैत्रेय उवाच—

पितृभ्यां प्रस्थिते साध्वी पतिमिङ्गितकोविदा।
नित्यं पर्यचरत् प्रीत्या भवानीव भवं प्रभुम्॥ १॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—वत्स विदुर! माता-पिताके चले जानेके बाद पतिके मनोरथको जाननेमें कुशल साध्वी देवहूति प्रतिदिन अत्यधिक प्रीतिके साथ पतिकी इस प्रकार सेवा करने लगी, जिस प्रकार पार्वती श्रीशिवकी सेवा करती हैं॥ १॥

विश्रम्भेणात्मशौचेन गौरवेण दमेन च।
शुश्रूषया सौहृदेन वाचा मधुरया च भोः॥ २॥

विसृज्य कामं दम्भञ्च द्वेषं लोभमघं मदम्।
अप्रमत्तोद्यता नित्यं तेजीयांसमतोषयत्॥ ३॥

देवहूति काम-वासना, कपटता, द्वेष, लोभ, अहङ्कार और निषिद्धाचरण आदिका त्याग करके अत्यन्त सावधानी और लगनके साथ सेवामें तत्पर रहकर विश्वास, पवित्रता, गौरव, इन्द्रिय-संयम, प्रेम और मधुर सम्भाषणादिके द्वारा सर्वदा अपने तेजस्वी पतिको शुश्रूषासे सन्तुष्ट करने लगी॥ २-३॥

स वै देवर्षिवर्यस्तां मानवीं समनुव्रताम्।
दैवाद्गरीयसः पत्युराशासानां महाशिषः॥ ४॥

कालेन भूयसा क्षामां कर्शितां व्रतचर्यया।
प्रेमगद्गदया वाचा पीडितः कृपयाब्रवीत्॥ ५॥

पतिको दैवसे भी श्रेष्ठ माननेवाली देवहूति उनसे बड़ी-बड़ी आशाएँ रखे हुए थी। पतिकी सेवाके लिए दीर्घकाल तक व्रताचरण

आदिका नियम पालन करनेके कारण देवहूतिका शरीर क्षीण हो गया। महर्षि कर्दम सहधर्मिणीकी यह दशा देखकर दयावश दुःखित हो गये और प्रेमसे गद्‌गद वाणीसे अपनी प्रेयसीसे इस प्रकार कहने लगे॥ ४-५ ॥

श्रीकर्दम उवाच—

तुष्टोऽहमद्य तव मानवि मानदायाः
शुश्रूषया परमया परया च भक्त्या।
यो देहिनामयमतीव सुहृत् स देहो
नावेक्षितः समुचितः क्षपितुं मदर्थे॥ ६ ॥

श्रीकर्दम ऋषिने कहा—हे मनुपुत्रि! तुमने मुझे बड़ा आदर दिया है। मैं तुम्हारी इस प्रकारकी उत्तम सेवा और मेरे प्रति सम्पूर्ण अनुरागमयी भक्तिसे बहुत प्रसन्न हुआ हूँ। देहधारियोंको अपना देह-मात्र ही अत्यन्त प्रिय होता है, परन्तु तुमने मेरी सेवाके लिए अपनी इस देहको भी क्षीण करनेमें कोई चिन्ता नहीं की॥ ६ ॥

ये मे स्वधर्मनिरतस्य तपःसमाधि-
विद्यात्मयोगविजिता भगवत्प्रसादाः।
तानेव ते मदनुसेवनयावरुद्धान्
दृष्टिं प्रपश्य वितराम्यभयानशोकान्॥ ७ ॥

हे प्रिये! मैंने अपने धर्मका पालन करते हुए तपस्या, समाधि और उपासनाके द्वारा चित्तको स्थिर कर लिया है और इन सबके द्वारा ही भगवान्‌के प्रसाद-स्वरूप भय एवं शोकसे रहित दिव्यभोगोंको प्राप्त किया है। एकमात्र मेरी सेवा करनेसे तुम्हारा भी इन समस्त भोगोंपर अधिकार हो गया है। मैं तुम्हें दिव्य दृष्टि प्रदान करता हूँ, जिससे तुम इन सबको देख सकोगी॥ ७ ॥

अन्ये पुनर्भगवतो भ्रुव उद्विजृम्भ-
विभ्रंशितार्थरचनाः किमुरुक्रमस्य।
सिद्धासि भुङ्क्ष्व विभवान् निजधर्मदोहान्
दिव्यान् नरैर्दुरधिगान् नृपविक्रियाभिः॥ ८ ॥

अन्यान्य जितने भी मनोरथ हैं, वे सब तो नितान्त तुच्छ और हेय हैं, क्योंकि वे सब तो भगवान् उरुक्रमके भ्रू-भङ्गी विलासमात्रसे ही नष्ट हो जाते हैं, अतएव वे तुम्हारे उपयुक्त नहीं हैं। हे प्रिये! तुमने सिद्ध अवस्थाको प्राप्त किया है, अपने पातिव्रत्य धर्मके फलस्वरूप उपलब्ध इन दिव्य भोगोंका उपभोग करो। ये समस्त भोग मनुष्योंके लिए दुर्लभ है, परन्तु हमारे लिए सुलभ हैं। अधिक क्या, 'मैं राजा या रानी हूँ', 'मुझे सब कुछ सुलभ है', इस प्रकारके अभिमानके द्वारा भी राजाओं या रानियोंको इन दिव्य भोगोंकी प्राप्ति नहीं हो सकती है॥८॥

एवं ब्रुवाणमबलाखिलयोगमाया-
विद्याविचक्षणमवेक्ष्य गताधिरासीत्।
संप्रश्रयप्रणयविह्वलया गिरेषद्-
व्रीडावलोकविलसद्धसिताननाह ॥९॥

महर्षि कर्दम निखिल प्रकारकी योग-विभूतियों और उपासनाओंमें सुनिपुण थे। पतिके इस प्रकार कहनेसे ही देवहूतिकी समस्त चिन्ता दूर हो गयी। उस समय वह किञ्चित् लज्जायुक्त चितवन और मधुर-मुसकानसे सुशोभित मुखसे प्रेम एवं विनयसे उदित गद्‌गद स्वरसे कहने लगी॥९॥

श्रीदेवहूतिरुवाच—

राद्धं बत द्विजवृषैतदमोघयोग-
मायाधिपे त्वयि विभो तदवैमि भर्तः।
यस्तेऽभ्यधायि समयः सकृदङ्गसङ्गो
भूयाद्गरीयसि गुणः प्रसवः सतीनाम्॥१०॥

देतहूतिने कहा—हे द्विजश्रेष्ठ! हे स्वामिन्! मैं जानती हूँ कि आप अमोघ अर्थात् कभी निष्फल न होनेवाली योगमाया शक्तिके अधिपति हैं। आपने जो कुछ भी कहा, वह सब आपके द्वारा सम्भव है, इसमें सन्देह नहीं है। किन्तु प्रभो! मेरे विवाहके समय आपने जो प्रतिज्ञा की थी—गर्भादान होने मात्र तक मैं तुम्हारे साथ गृहस्थ-सुखका उपभोग करूँगा, अब उसे पूर्ण कीजिये अर्थात् गर्भ होने तक आपके

साथ एकबार भी अङ्ग-सङ्ग हो जाये। श्रेष्ठ पतिको प्राप्त करके साध्वी (पतिव्रता) स्त्रियाँ यदि सन्तान प्राप्त करती हैं, तो यही उनका परम लाभ है॥ १०॥

तत्रेतिकृत्यमुपशिक्ष यथोपदेशं
येनैष मे करशितोऽतिरिरंसयात्मा।
सिध्येत ते कृतमनोभवधर्षिताया
दीनस्तदीश भवनं सदृशं विचक्ष्व॥ ११॥

पुत्रोत्पत्ति हेतु हम दोनोंके समागमके लिए शास्त्रकी व्यवस्थाके अनुसार जो कर्त्तव्य हो, उसका आप विधान कीजिये। बलवती रमण-स्पृहाके कारण कृश और दुर्बल हुआ मेरा शरीर आपके साथ रति-क्रीड़ामें समर्थ हो सके, इसके उपयोगी उबटन, गन्ध, भोजन-पानादिकी व्यवस्था कीजिये। हे ईश! रति-क्रीड़ाके लिए उपयुक्त एक भवनका निर्माण कीजिये॥ ११॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

प्रियायाः प्रियमन्विच्छन् कर्दमो योगमास्थितः।
विमानं कामगं क्षत्तस्तर्ह्येवाविरचीकरत्॥ १२॥

सर्वकामदुघं दिव्यं सर्वरत्नसमन्वितम्।
सर्वर्द्ध्युपचयोदर्कं मणिस्तम्भैरुपस्कृतम्॥ १३॥

दिव्योपस्करणोपेतं सर्वकालसुखावहम्।
पट्टिकाभिः पताकाभिर्विचित्राभिरलङ्कृतम्॥ १४॥

स्रग्भिर्विचित्रमाल्याभिर्मञ्जुशिञ्जत्षडङ्घ्रिभिः।
दुकूलक्षौमकौशेयैर्नानावस्त्रैर्विराजितम्॥ १५॥

उपर्युपरिविन्यस्त-निलयेषु पृथक् पृथक्।
क्लिप्तैः कशिपुभिः कान्तं पर्यङ्कव्यजनासनैः॥ १६॥

तत्र तत्र विनिक्षिप्तं नानाशिल्पोपशोभितम्।
महामरकतस्थल्या जुष्टं विद्रुमवेदिभिः॥ १७॥

द्वार्षु विद्रुमदेहल्या भातं बज्रकवाटवत्।
शिखरेष्विन्द्रनीलेषु हेमकुम्भैरधिश्रितम्॥ १८॥

चक्षुष्मत्पद्मरागाग्र्यैर्वज्रभित्तिषु निर्मितैः।
जुष्टं विचित्रवैतानैः सहारैर्हेमतोरणैः॥ १९॥

हंसपारावतव्रातैस्तत्र तत्र निकूजितम्।
कृत्रिमान् मन्यमानैः स्वानधिरुह्याधिरुह्य च॥ २०॥

विहारस्थानविश्रामसंवेश-प्राङ्गणाजिरैः।
यथोपजोषं रचितैर्विस्मापनमिवात्मनः॥ २१॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! महर्षि कर्दम अपनी प्रियाकी इच्छा पूर्ण करनेके लिए उसी समय योगासनमें बैठ गये। उनके योगबलसे उसी मुहूर्त्तमें ही इच्छानुसार चलनेवाला एक दिव्यविमान उनके सम्मुख उपस्थित हो गया। वह दिव्य विमान समस्त अभिलषित भोगोंको प्रदान करनेवाला, अति सुन्दर, विविध रत्नोंसे विभूषित, उत्तरोत्तर वर्द्धित समस्त सम्पत्तियोंसे युक्त एवं मणिमय स्तम्भोंसे शोभित था। वह विमान स्वर्गीय उपकरणोंसे युक्त, समस्त ऋतुओंमें आनन्द और सुखदायक तथा छोटी-छोटी रङ्ग-बिरङ्गी रेशमी झण्डियों एवं चित्र-विचित्र पताकाओंसे विभूषित था। विमानके बीचमें बहुत प्रकारकी विचित्र मालाएँ और माला-निर्माणके योग्य पुष्पोंका ढेर था। इन पुष्पोंके सौरभसे आकर्षित होकर भ्रमर इधर-उधर उड़ते हुए मनोहर गुञ्जार कर रहे थे। विमानका भीतरी भाग नाना प्रकारके सूती, रेशमी आदि वस्त्रोंसे अलंकृत था। उस विमानमें एकके ऊपर एक बने हुए पृथक्-पृथक् कमरोंमें स्थान-स्थानपर शय्या, पलङ्ग, पङ्खे और आसनादि सुसज्जित थे, जिससे उन कक्षोंका दृश्य अति मनोरम हो रहा था। वह स्थान-स्थानपर विविध प्रकारके शिल्प-कार्यों द्वारा विभूषित था। पन्नेसे निर्मित फर्श एवं मूँगेसे बनी हुई वेदियाँ विराजित रहनेसे उसकी शोभा और भी मनोहर हो रही थी। उस विमानकी देहली विद्रुम-मणिसे जड़ित स्तम्भोंसे शोभित थी तथा वह हीरोंसे जड़े हुए किवाड़ोंसे युक्त था। उसके इन्द्रनीलमणिमय भवनके शिखरोंपर स्वर्ण-कलश स्थापित थे। उसकी हीरकमय दीवारोंपर सर्वोत्तम पद्म-राग मणियाँ जड़ित होनेके कारण ऐसा प्रतीत होता था, मानो विमानमें आँखें लगी हों। उसमें विचित्र चँदोवे तथा लड़ियोंसे भूषित

बहुमूल्य स्वर्ण-तोरण शोभित हो रहे थे। उस विमानमें जहाँ-तहाँ स्थित कृत्रिम हंस एवं कबूतरोंको स्वजातीय जानकर उनके ऊपर बार-बार उड़ते-बैठते हंस-कबूतरादि पक्षी अपनी-अपनी बोलीमें कलरव कर रहे थे। वहाँ विहारस्थली, शयनगृह, उपभोग-स्थान, आँगन और दीवारोंका बाह्य भाग जिस प्रकारसे भी सुखदायक हो सकते थे, उसी प्रकारसे स्थापित थे। वह विमान स्वयं सृजनकारी महर्षि कर्दमको भी आश्चर्यचकित-सा कर रहा था॥ १२-२१॥

ईदृग्गृहं तत् पश्यन्तीं नातिप्रीतेन चेतसा।
सर्वभूताशयाभिज्ञः प्रावोचत् कर्दमः स्वयम्॥ २२॥

ऐसे अनुपम भवनको देखकर भी देवहूतिका मन अपनी मलिन देह और परिचारिकाओंके अभावके कारण प्रसन्न नहीं हो सका। यह देखकर सभीके मनोभावको जाननेवाले कर्दम ऋषि स्वयं ही उससे कहने लगे॥ २२॥

निमज्ज्यास्मिन् ह्रदे भीरु विमानमिदमारुह।
इदं शुक्लकृतं तीर्थमाशिषां यापकं नृणाम्॥ २३॥

हे भयशीले! तुम इस बिन्दुसरोवरमें स्नान करो और इस विमानपर सवार हो जाओ। यह सरोवर महातीर्थ है और भगवान् विष्णुके आनन्दसे उनके नेत्रोंसे गिरे आँसूके बिन्दुसे बना है, अतः यह मनुष्योंको सर्वाभीष्ट प्रदान करता है॥ २३॥

सा तद्भर्तुः समादाय वचः कुवलयेक्षणा।
सरजं बिभ्रती वासो वेणीभूतान् स्वमूर्द्धजान्॥ २४॥

अङ्गञ्च मलपङ्केन सञ्छन्नं शबलस्तनम्।
आविवेश सरस्वत्याः सरः शिवजलाशयम्॥ २५॥

देवहूतिके वस्त्र मैले हो गये थे, बालोंकी जटाएँ बन गयी थीं, उसके शरीरपर मैल जम गया था और उसके दोनों स्तन भी विवर्ण और कान्तिहीन हो गये थे। पतिके इन वचनोंका आदर करते हुए कमलाक्षी देवहूतिने उसी अवस्थामें परम-पावन सरस्वती नदीके तटपर स्थित पवित्र जलसे भरे हुए उस सरोवरमें प्रवेश किया॥ २४-२५॥

सान्तःसरसि वेश्मस्थाः शतानि दश कन्यकाः।
सर्वाः किशोरवयसो ददर्शोत्पलगन्धयः॥ २६॥

जलमें डुबकी लगाते ही उसे एक विस्मयकारी दृश्य दिखलायी पड़ा। उसने देखा कि सरोवरके जलके भीतर एक भवनमें एक हजार कन्याएँ हैं, उन सबकी किशोरावस्था है और उन सबके शरीरसे कमल जैसी सुगन्ध निकल रही है॥ २६॥

तां दृष्ट्वा सहसोत्थाय प्रोचुः प्राञ्जलयः स्त्रियः।
वयं कर्मकरीस्तुभ्यं शाधि नः करवाम किम्॥ २७॥

वे सभी कन्याएँ देवहूतिको देखते ही आदर सहित उठ खड़ी हुईं और दोनों हाथ जोड़कर कहने लगीं—देवि! हम आपकी आज्ञाका पालन करनेवाली परिचारिकाएँ हैं, अतः आप हमें आज्ञा दीजिये कि हम आपकी क्या सेवा करें?॥ २७॥

स्नानेन तां महार्हेण स्नापयित्वा मनस्विनीम्।
दुकूले निर्मले नूत्ने ददुरस्यै च मानदाः॥ २८॥
भूषणानि परार्ध्यानि वरीयांसि द्युमन्ति च।
अन्नं सर्वगुणोपेतं पानञ्चैवामृतासवम्॥ २९॥

हे विदुर! यह कहकर उन रमणियोंने अपनी परम आदरणीय मनस्विनी देवहूतिको स्नानयोग्य तेल आदिसे मालिश करके स्नान कराया तथा स्नानके बाद उन्हें पहननेके लिए नवीन निर्मल वस्त्र और उत्तरीय प्रदान किये। इसके बाद उन्होंने नाना प्रकारके प्रिय लगनेवाले, बहुमूल्य, दिव्य-कान्तियुक्त अलङ्कारोंसे उनका शृङ्गार किया तथा चर्व्य (चबानेवाला), चूष्य (चूसनेवाला), लेह्य (चाटनेवाले), पेय (पीनेवाले) आदि विविध प्रकारके स्वादिष्ट भोजन तथा पीनेके लिए अमृतके समान स्वादिष्ट आसव प्रदान किये॥ २८-२९॥

अथादर्शे स्वमात्मानं स्रग्विणं विरजाम्बरम्।
विरजं कृतस्वस्त्ययनं कन्याभिर्बहुमानितम्॥ ३०॥
स्नातं कृतशिरःस्नानं सर्वाभरणभूषितम्।
निष्कग्रीवं वलयिनं कूजत्काञ्चननूपुरम्॥ ३१॥

श्रोण्योरध्यस्तया काञ्च्या काञ्चन्या बहुरत्नया।
हारेण च महार्हेण रुचकेन च भूषितम्॥ ३२॥

सुदता सुभ्रुवा श्लक्ष्णस्निग्धापङ्गेन चक्षुषा।
पद्मकोशस्पृधा नीलैरलकैश्च लसन्मुखम्॥ ३३॥

तब देवहूति दर्पणमें अपना प्रतिबिम्ब देखने लगी। उसने देखा कि उसके कण्ठमें भाँति-भाँतिके सुगन्धित फूलोंसे बनी सुन्दर माला है, वह श्वेत वसन धारण किये हुए है, उसका शरीर निर्मल और कान्तिमान हो गया है। इस प्रकार उन सुन्दरियोंने उसका मङ्गल-अनुष्ठानसूचक शृङ्गार किया है और वे उसका बहुत ही सम्मान कर रही हैं। उसने यह भी अनुभव किया कि उबटनादिके द्वारा उसका शरीर साफ-सुथरा और सुन्दर हो गया है। उसके अङ्ग-प्रत्यङ्गको अलङ्कारोंसे विभूषित किया गया है। गलेमें पदकयुक्त हार, हाथोंमें कंगन और पैरोंमें रुन-झुन करते हुए स्वर्ण-नूपुर विराजित हैं। कमरमें बहुत-से रत्नोंसे जड़ित काञ्चनमयी करधनी है, कण्ठमें महामूल्यवान हार एवं सम्पूर्ण देह कुम्कुमादि अनेक प्रकारके मङ्गल-द्रव्योंसे सुसज्जित है। उसने यह भी देखा कि मनोहर भ्रू-युगल सुन्दर दन्त-पंक्ति, कमलकी कलीको पराभूत करनेवाले सुन्दर स्निग्ध, स्नेहमयी चितवनसे युक्त नेत्र और नीलवर्णयुक्त अलकावलि उसके मुखमण्डलकी शोभाको बढ़ा रहे हैं॥ ३०-३३॥

यदा सस्मार ऋषभमृषीणां दयितं पतिम्।
तत्र चास्ते सह स्त्रीभिर्यत्रास्ते स प्रजापतिः॥ ३४॥

विदुर! देवहूतिने दर्पणमें अपने इस प्रकारके मनोहारिणी रूपको देखकर जैसे ही अपने प्रियतम ऋषि श्रेष्ठ पतिका स्मरण किया वैसे ही उसने उन परिचारक कन्याओंसे घिरी स्वयंको उसी स्थानपर उपस्थितं देखा जहाँपर प्रजापति कर्दम विराजमान थे॥ ३४॥

भर्तुः पुरस्तादात्मानं स्त्रीसहस्रवृतं तदा।
निशाम्य तद्योगगतिं संशयं प्रत्यपद्यत॥ ३५॥

अपने पतिके सम्मुख स्वयंको सहस्र सुन्दरियोंसे घिरी हुई देखकर और अपने पतिके योग-प्रभावको देखकर उसका चित्त विस्मयसे भर गया॥ ३५॥

स तां कृतमलस्नानां विभ्राजन्तीमपूर्ववत्।
आत्मनो बिभ्रतीं रूपं संवीत-रुचिरस्तनीम्॥ ३६॥

विद्याधरीसहस्रेण सेव्यमानां सुवाससम्।
जातभावो विमानं तदारोहयदमित्रहन्॥ ३७॥

हे जितकाम विदुर! मुनिवरने देखा कि स्नान आदिके द्वारा निर्मल होकर देवहूतिकी अत्यन्त शोभा हो रही है। विवाहके पूर्व उसका जैसा सौन्दर्य था, पुनः वही अपूर्व सौन्दर्य प्रस्फुटित हो गया है। सुन्दर वस्त्रोंसे आवृत होकर उसके मनोहर स्तनयुगल सुशोभित हो रहे हैं। उसने अत्युत्तम वस्त्र पहन रखे हैं और हजारों विद्याधरियाँ उसकी सेवामें नियुक्त हैं। देवहूतिको इस अवस्थामें देखकर मुनिवरने कामसे आविष्ट होकर उसे विमानपर चढ़ा लिया॥ ३६-३७॥

तस्मिन्नलुप्तमहिमा प्रिययानुरक्तो
विद्याधरीभिरुपचीर्णवपुर्विमाने ।
बभ्राज उत्कचकुमुद्गणवानपीव्य-
स्ताराभिरावृत इवोडुपतिर्नभस्थः॥ ३८॥

उस समय मुनिवर कर्दम अपनी प्रिया देवहूतिके प्रणयमें आसक्त थे, तथापि उनकी महिमा (स्वतन्त्रता) किसी भी अंशमें कम नहीं हुई। उस सुन्दर विमानमें कर्दम मुनि अपनी प्रिया देवहूति सहित विद्याधरियोंसे सेवित होकर इस प्रकार अत्यधिक सुशोभित हो रहे थे, मानो आकाशमें तारोंसे परिवेष्टित रात्रि कुमुदिनियोंको प्रकाश करनेवाला नक्षत्रपति चन्द्रमा हों॥ ३८॥

तेनाष्टलोकप-विहारकुलाचलेन्द्र-
द्रोणीष्वनङ्गसखमारुतसौभगासु ।
सिद्धैर्नुतो द्युधुनिपातशिवस्वनासु
रेमे चिरं धनदवल्ललनावरूथी॥ ३९॥

तदुपरान्त उस विमानमें ललनाओंसे परिवृत्त होकर कर्दम मुनि आठों लोकपालोंकी विहार-स्थली सुमेरु पर्वतकी समस्त घाटियोंमें, कामभावको वर्द्धन करनेवाली सुशीतल और मृदु-मन्द सुगन्धित वायुसे सुशोभित स्थानोंपर तथा स्वर्गनदी मन्दाकिनीके स्वर्गलोकसे गिरनेकी मङ्गलमयी ध्वनिसे निरन्तर गूँजते स्थानोंपर उसी प्रकार रमण द्वारा प्रसन्नताका अनुभव करते रहे, जिस प्रकार धनपति कुबेर सिद्धजनोंकी स्तुतिसे प्रसन्न होते हैं॥ ३९॥

वैश्रम्भके सुरसने नन्दने पुष्पभद्रके।
मानसे चैत्ररथ्ये च स रेमे रामया रतः॥ ४०॥

महर्षि कर्दमने उस विमानपर चढ़कर अपनी प्रिया देवहूतिके साथ वैश्रम्भक, सुरसन, नन्दन, पुष्पभद्र और चैत्ररथ आदि स्वर्गके उद्यानों और मानस-सरोवरमें प्रीतिपूर्वक क्रीड़ा-विहार किया॥ ४०॥

भ्राजिष्णुना विमानेन कामगेन महीयसा।
वैमानिकानत्यशेत चरल्ँलोकान् यथानिलः॥ ४१॥

उस अत्यन्त दीप्तिशाली और इच्छानुसार गतिसे युक्त श्रेष्ठ विमानमें बैठकर वायुके समान समस्त लोकोंमें विचरण करते हुए कर्दम मुनि विमान विहारी सिद्धजनोंके लोकोंसे भी आगे बढ़ गये॥ ४१॥

किं दुरापादनं तेषां पुंसामुद्दामचेतसाम्।
यैराश्रितस्तीर्थपदश्चरणो व्यसनात्ययः॥ ४२॥

हे विदुर! महायोगी कर्दमका इस प्रकारका प्रभाव कुछ भी विस्मयकारी नहीं है, क्योंकि जो धीरचित्त पुरुष संसारके भयनाशक तीर्थपद श्रीहरिके चरणकमलोंमें शरणागत होते हैं, उनके लिए कुछ भी दुष्प्राप्य नहीं होता॥ ४२॥

प्रेक्षयित्वा भुवो गोलं पत्न्यै यावान् स्वसंस्थया।
बह्वाश्चर्यं महायोगी स्वाश्रमाय न्यवर्तत॥ ४३॥

यह भू-मण्डल द्वीप और वर्षादिकी रचनाके कारण बहुत प्रकारकी आश्चर्यजनक वस्तुओंसे पूर्ण है। महायोगी कर्दम अपनी

प्रियतमा देवहूतिको यह सब दिखलाकर अपने आश्रममें लौट आये॥ ४३॥

विभज्य नवधात्मानं मानवीं सुरतोत्सुकाम्।
रामां निरमयन् रेमे वर्षपूगान्मुहूर्तवत्॥ ४४॥

अनन्तर ऋषिराजने देखा कि मनुकन्या देवहूति रमणके लिए अत्यन्त उत्सुक हो पड़ी है। उस समय वे अपनेको नौ भागोंमें विभक्त करके मनुकुमारीके साथ रमण करने लगे। इस प्रकार देवहूतिको आनन्दित करते हुए बहुत वर्ष बीत गये, परन्तु इतना दीर्घ काल भी उन्हें एक मुहूर्त्तके समान प्रतीत हुआ॥ ४४॥

तस्मिन् विमान उत्कृष्टां शय्यां रतिकरीं श्रिता।
न चाबुध्यत तं कालं पत्यापीव्येन सङ्गता॥ ४५॥

इधर उस विमानमें अति उत्कृष्ट रतिसुखप्रद शय्यापर परम रूपवान पतिके साथ रमणमें विभोर रहनेके कारण देवहूतिको भी सुदीर्घकाल दीर्घ रूपमें जान नहीं पड़ा॥ ४५॥

एवं योगानुभावेन दम्पत्यो रममाणयोः।
शतं व्यतीयुः शरदः कामलालसयोर्मनाक्॥ ४६॥

इस प्रकार योग-शक्तिके प्रभावसे परस्पर रमण करते हुए दम्पत्तिकी काम-मुग्धताके कारण सैकड़ों वर्षों तक का काल भी मानो क्षणकालके समान बीत गया॥ ४६॥

तस्यामाधत्त रेतस्तां भावयन्नात्मनात्मवित्।
नोधा विधाय रूपं स्वं सर्वसङ्कल्पविद्विभुः॥ ४७॥

आत्मज्ञानी कर्दम ऋषि समस्त सङ्कल्पोंको जानते थे, अतएव वे जान गये कि देवहूति बहुत-सी कन्या-सन्तानोंको उत्पन्न करना चाहती है और वे स्वयं ही उसकी इच्छाको पूर्ण करनेमें समर्थ हैं। अतः उन्होंने अत्यन्त प्रीतिके साथ एकाग्रचित्तसे देवहूतिको अपनी अर्धाङ्गिनी अर्थात् पत्नीके रूपमें भावना करके स्वयंको नौ भागोंमें विभक्तकर उसके गर्भमें अपने वीर्यको स्थापित किया॥ ४७॥

अतः सा सुषुवे सद्यो देवहूतिः स्त्रियः प्रजाः।
सर्वास्ताश्चारुसर्वाङ्ग्यो लोहितोत्पलगन्धयः॥ ४८॥

इसके बाद देवहूतिने शीघ्र ही एक साथ नौ कन्याओंको उत्पन्न किया। ये सभी कन्याएँ सर्वाङ्ग सुन्दरी थीं और उन सभीके अङ्गोंसे ही लाल कमलकी सुगन्ध निकल रही थी॥ ४८॥

पतिं सा प्रव्रजिष्यन्तं तदालक्ष्योशती बहिः।
स्मयमाना विक्लवेन हृदयेन विदूयता॥ ४९॥
लिखन्त्यधोमुखी भूमिं पदा नखमणिश्रिया।
उवाच ललितां वाचं निरुध्याश्रुकलाः शनैः॥ ५०॥

उस समय देवहूतिने अपने पतिको पूर्व प्रतिज्ञाके अनुसार गृहत्याग करनेमें तत्पर देखा तो वह बाहरसे मन्द-मन्द मुसकराती रही, किन्तु उसका हृदय अत्यधिक व्याकुल हो गया। पति-विरहकी वेदनासे उसका हृदय शोक-सन्तप्त हो गया। वह अपना मुख नीचा कर अपने नखमणिकी शोभासे युक्त चरणोंके द्वारा भूमिको कुरेदने लगी और अपने आँसुओंकी धाराको बड़े कष्टसे संवरण करनेका प्रयास करती हुई सुमधुर वाणीसे कहने लगी॥ ४९-५०॥

श्रीदेवहूतिरुवाच—

सर्वं तद्भगवान् मह्यमुपोवाह प्रतिश्रुतम्।
अथापि मे प्रपन्नाया अभयं दातुमर्हसि॥ ५१॥

श्रीदेवहूतिने कहा—हे स्वामिन्! विवाहके समय आपने जिस-जिस विषयमें प्रतिज्ञा की थी, वे सभी पूर्ण हो चुकी हैं। तथापि हे प्रभो! मैं आपके शरणागत हूँ, कृपा करके मुझे अभयदान कीजिये॥ ५१॥

ब्रह्मन् दुहितृभिस्तुभ्यं विमृग्याः पतयः समाः।
कश्चित्स्यान्मे विशोकाय त्वयि प्रव्रजिते वनम्॥ ५२॥

हे ब्रह्मन्! आप तो तपस्याके लिए वनमें जा रहे हैं तथा आपकी कन्याएँ भी स्वयं ही अपने योग्य पतियोंको ढूँढ़ लेंगी, किन्तु हे देव! मेरे शोकको दूर करनेके लिए कोई एक पुत्र तो होना ही चाहिये॥ ५२॥

एतावतालं कालेन व्यतिक्रान्तेन मे प्रभो।
इन्द्रियार्थप्रसङ्गेन परित्यक्तपरात्मनः॥ ५३॥

प्रभो! अब तक मेरा समय इन्द्रिय-सुखको भोगनेमें व्यर्थ ही बीत गया। हाय! मैं परमात्माके चिन्तनको सम्पूर्ण रूपसे परित्याग कर बैठी॥ ५३॥

इन्द्रियार्थेषु सज्जन्त्या प्रसङ्गस्त्वयि मे कृतः।
अजानन्त्या परं भावं तथाप्यस्त्वभयाय मे॥ ५४॥

मैंने इन्द्रियोंके सुखमें आसक्त होकर ही आपसे प्रेम किया था। आप इतने ब्रह्मविद् और परम विरागी हैं, इसे मैं जान ही नहीं पायी। हे देव! तथापि आपके प्रति मेरी जो आसक्ति है, वह मुझे संसारसे अभय-दान करे अर्थात् मुक्ति प्रदान करे॥ ५४॥

सङ्गो यः संसृतेर्हेतुरसत्सु विहितोऽधिया।
स एव साधुषु कृतो निःसङ्गत्वाय कल्पते॥ ५५॥

हे देव! अज्ञानताके कारण असत्पुरुषोंके साथ जो सङ्ग संसार-बन्धनका कारण होता है, वही सङ्ग सत्पुरुषोंके साथ किये जानेपर मुक्तिका कारण-स्वरूप होता है॥ ५५॥

नेह यत् कर्म धर्माय न विरागाय कल्पते।
न तीर्थपदसेवायै जीवन्नपि मृतो हि सः॥ ५६॥

इस संसारमें जिस पुरुषके कार्य धर्म-अर्थ-कामरूप धर्मकी ओर उन्मुख होकर नहीं किये जाते, जिसका धर्म निष्काम होकर कृष्णेतर विषयोंसे वैराग्य उत्पन्न नहीं करता और जिसका वैराग्य तीर्थपद श्रीहरिकी सेवामें पर्यवसित नहीं होता, वह व्यक्ति जीवित होनेपर भी मृत ही है॥ ५६॥

साहं भगवतो नूनं वञ्चिता मायया दृढम्।
यत् त्वां विमुक्तिदं प्राप्य न मुमुक्षेय बन्धनात्॥ ५७॥

इस प्रकार जीवन्मृता (जीवित होनेपर भी मृतके समान) मैं भी भगवान्‌की मायासे मुग्ध होकर निश्चय ही बुरी तरहसे ठगी गयी हूँ,

क्योंकि मुक्ति-प्रदाता आपको पतिके रूपमें प्राप्त करके भी मैंने संसार-बन्धनकी दशासे मुक्ति पानेकी कोई भी चेष्टा नहीं की—यह मेरा बड़ा ही दुर्भाग्य है॥५७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां तृतीयस्कन्धे श्रीविदुर-मैत्रेय संवादे देवहूत्यनुतापो नाम त्रयोविंशोऽध्यायः॥

चतुर्विंशोऽध्यायः

भगवान् श्रीकपिलदेवका जन्म, महर्षि कर्दम द्वारा अपनी नौ कन्याओंको नौ प्रजापतियोंको प्रदान करना तथा कर्दम ऋषिका गृहस्थाश्रम त्याग

श्रीमैत्रेय उवाच—

निर्वेदवादिनीमेवं मनोर्दुहितरं मुनिः।
दयालुः शालिनीमाह शुक्लाभिव्याहृतं स्मरन्॥ १॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! उत्तम गुणोंसे सुशोभित अति प्रशंसनीय मनुतनया देवहूतिके इस प्रकार वैराग्यसूचक वचनोंको सुनकर महर्षि कर्दमका चित्त करुणासे द्रवित हो गया। उन्हें श्रीभगवान्के द्वारा कहे गये वचनोंका समरण हो आया और वे देवहूतिसे कहने लगे॥ १॥

श्रीऋषिरुवाच—

मा खिदो राजपुत्रीत्थमात्मानं प्रत्यनिन्दिते।
भगवांस्तेऽक्षरो गर्भमदूरात् सम्प्रपत्स्यते॥ २॥

श्रीकर्दम ऋषिने कहा—हे निर्दोष राजकुमारी! तुम अपनेको भाग्यहीन मानकर इस प्रकार खेद मत करो। पूर्णब्रह्म श्रीभगवान् नारायण शीघ्र ही तुम्हारे गर्भमें प्रवेश करेंगे॥ २॥

धृतव्रतासि भद्रं ते दमेन नियमेन च।
तपोद्रविणदानैश्च श्रद्धया चेश्वरं भज॥ ३॥

हे प्रिये! तुमने अनेक प्रकारके व्रतोंका पालन किया है। अब इन्द्रिय-संयम, स्वधर्माचरण, तपस्याका अनुष्ठान और धनादिका दान करते हुए श्रद्धाके साथ श्रीभगवान्की आराधना करो॥ ३॥

स त्वयाराधितः शुक्लो वितन्वन् मामकं यशः।
छेत्ता ते हृदयग्रन्थिमौदर्यो ब्रह्मभावनः॥ ४॥

तुम्हारी आराधनासे सन्तुष्ट होकर ब्रह्मज्ञानके उपदेशक विशुद्धसत्त्व स्वरूप भगवान् श्रीहरि मेरा यश बढ़ाते हुए तुम्हारे पुत्रके रूपमें जन्म-ग्रहण करेंगे। वे तुम्हें भगवत्-तत्त्वका उपदेश देकर अहङ्कार लक्षणयुक्त तुम्हारी हृदय-ग्रन्थिका छेदन कर डालेंगे॥ ४॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

देवहूत्यपि सन्देशं गौरवेण प्रजापतेः।
सम्यक् श्रद्धाय पुरुषं कूटस्थमभजद्गुरुम्॥ ५॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—देवहूतिने भी प्रजापति कर्दमके इन सब उपदेश-वचनोंको अत्यन्त श्रद्धाके साथ सुना और उनमें सम्पूर्ण रूपसे विश्वास रखते हुए निर्विकार जगद्गुरु भगवान् श्रीपुरुषोत्तमकी आराधना करने लगी॥ ५॥

तस्यां बहुतिथे काले भगवान् मधुसूदनः।
कार्दमं वीर्यमापन्नो जज्ञेऽग्निरिव दारुणि॥ ६॥

देवहूतिके द्वारा इस प्रकार आराधना करते हुए बहुत समय बीत जानेपर अन्तर्यामी भगवान् श्रीमधुसूदन कर्दम ऋषिके वीर्यका आश्रय लेकर अर्थात् उनके भक्तिभावसे वशीभूत होकर देवहूतिके पुत्र-रूपमें इस प्रकार प्रकाशित हो गये, जिस प्रकार काष्ठके भीतर रहनेवाली अग्नि बाहर प्रकाशित हो जाती है॥ ६॥

अवादयंस्तदा व्योम्नि वादित्राणि घनाघनाः।
गायन्ति तं स्म गन्धर्वा नृत्यन्त्यप्सरसो मुदा॥ ७॥

उस समय गगन-मण्डलमें मेघ जल वर्षण करते हुए गरज-गरजकर विविध प्रकारके बाजे बजाने लगे, गन्धर्व गान करने लगे और अप्सराएँ आनन्दसे नृत्य करने लगीं॥ ७॥

पेतुः सुमनसो दिव्याः खेचरैरपवर्जिताः।
प्रसेदुश्च दिशः सर्वा अम्भांसि च मनांसि च॥ ८॥

अन्तरीक्षमें रहनेवाले देवता दिव्यपुष्पोंकी वर्षा करने लगे। सभी दिशाओंमें हर्ष व्याप्त हो गया, जलाशयोंका जल स्वच्छ हो गया और सभी प्राणियोंके चित्तमें प्रसन्नता छा गयी॥ ८॥

तत् कर्दमाश्रमपदं सरस्वत्या परिश्रितम्।
स्वयम्भूः साकमृषिभिर्मरीच्यादिभिरभ्ययात्॥ ९॥

उसी समय श्रीब्रह्माने मरीचि आदि ऋषियोंको साथ लेकर सरस्वती नदीसे घिरे हुए कर्दम ऋषिके आश्रमकी ओर प्रस्थान किया॥ ९॥

भगवन्तं परं ब्रह्म सत्त्वेनांशेन शत्रुहन्।
तत्त्वसंख्यानविज्ञप्त्यै जातं विद्वानजः स्वराट्॥ १०॥
सभाजयन् विशुद्धेन चेतसा तच्चिकीर्षितम्।
प्रहृष्यमाणैरसुभिः कर्दमञ्चेदमभ्यधात्॥ ११॥

हे जितेन्द्रिय विदुर! स्वतःसिद्ध ज्ञानके प्रभावसे ब्रह्माजीने जान लिया कि सांख्य-ज्ञानका विशेष रूपसे उपदेश देनेके लिए परब्रह्म स्वयं-भगवान्ने अपने शुद्धसत्त्वमय अंश रूपसे जन्म-ग्रहण किया है। तब ब्रह्माजी निर्मल अन्तःकरणसे श्रीभगवान्के कार्योंकी समादरपूर्वक प्रशंसा करने लगे और प्रसन्न चित्तसे कर्दम और देवहूतिसे कहने लगे॥ १०-११॥

श्रीब्रह्मोवाच—

त्वया मेऽपचितिस्तात कल्पिता निर्व्यलीकतः।
यन्मे संजगृहे वाक्यं भवान् मानद मानयन्॥ १२॥

श्रीब्रह्माने कहा—हे तात कर्दम! तुम दूसरोंका सम्मान करनेवाले हो। तुमने निष्कपट भावसे मेरे आदेशका भलीभाँति पालन करके मेरी यथायोग्य सेवा ही की है॥ १२॥

एतावत्येव शुश्रूषा कार्या पितरि पुत्रकैः।
बाढमित्यनुमन्येत गौरवेण गुरोर्वचः॥ १३॥

गुरुजनोंके आदेशको 'जो आज्ञा' कहकर आदरके साथ प्रतिपालन करना ही 'गुरुसेवा' है। पुत्र द्वारा पिताकी ऐसी सेवा करना ही कर्त्तव्य है॥ १३॥

इमा दुहितरः सत्यस्तव वत्स सुमध्यमाः।
सर्गमेतं प्रभावैः स्वैर्बृंहयिष्यन्ति नैकधा॥ १४॥

हे वत्स कर्दम! तुम्हारी ये सब सुशोभना (तन्वङ्गी) साधु स्वभाववाली कन्याएँ अपने-अपने अंशसे प्रभावशाली वंशका विस्तार करके मेरी सृष्टिको बहुत प्रकारसे बढ़ायेंगी॥ १४॥

अतस्त्वमृषिमुख्येभ्यो यथाशीलं यथारुचि।
आत्मजाः परिदेह्यद्य विस्तृणीहि यशो भुवि॥ १५॥

अतएव, मेरे साथ मरीचि आदि जो समस्त महर्षि आये हैं, इनमें जिनका जैसा स्वभाव और रुचि है, उसका विचार करके अपनी इच्छाके अनुसार आज ही अपनी इन कन्याओंको उचित पात्रको समर्पण कर दो। इससे सम्पूर्ण भू-मण्डलमें तुम्हारा यश फैलेगा॥ १५॥

वेदाहमाद्यं पुरुषमवतीर्णं स्वमायया।
भूतानां शेवधिं देहं बिभ्राणं कपिलं मुने॥ १६॥

हे मुने! मैं जानता हूँ कि तुम्हारे ये पुत्र साक्षात् ईश्वर हैं, ये ही आदिपुरुष भगवान् विष्णु हैं। ये साक्षात् ईश्वर ही अपनी योगमाया शक्तिके द्वारा समस्त प्राणियोंके सभी अभीष्टोंको प्रदान करनेवाली देह धारणकर कपिल रूपमें अवतीर्ण हुए हैं॥ १६॥

ज्ञानविज्ञानयोगेन कर्मणामुद्धरन् जटाः।
हिरण्यकेशः पद्माक्षः पद्ममुद्रापदाम्बुजः॥ १७॥
एष मानवि ते गर्भं प्रविष्टः कैटभार्दनः।
अविद्यासंशयग्रन्थिं छित्त्वा गां विचरिष्यति॥ १८॥

इसके बाद श्रीब्रह्मा देवहूतिको सम्बोधित करते हुए कहने लगे—वत्से! तुम्हारे इस पुत्रके सुनहरे केश, कमलके समान विशाल नेत्र और चरणोंमें कमल-मुद्रा अङ्कित है। ये शास्त्रसे उदित परोक्ष तत्त्वज्ञान और अपरोक्ष साक्षात् दर्शन रूप विज्ञानके द्वारा तुम्हारी कर्ममूल वासनाओंको जड़से उखाड़ फेंकेंगे। और हे मनुपुत्रि! तुम्हारे गर्भमें जिन्होंने प्रवेश किया है, वे कैटभनाशन साक्षात् श्रीभगवान् तुम्हारे स्वरूपसे अज्ञानरूप अविद्या और मिथ्याज्ञान आदिरूप संशयसे युक्त हृदय-ग्रन्थीका छेदन करते हुए पृथ्वीपर यथेच्छापूर्वक विचरण करेंगे॥ १७-१८॥

अयं सिद्धगणाधीशः सांख्याचार्यैः सुसम्मतः।
लोके कपिल इत्याख्यां गन्ता ते कीर्तिवर्द्धनः॥ १९॥

तुम्हारे ये पुत्र सिद्धगणोंके अधीश्वर हैं। ये सांख्याचार्योंके द्वारा पूजनीय होकर संसारमें कपिल नामसे विख्यात होंगे और तुम्हारे यशका विस्तार करेंगे॥ १९॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

तावाश्वास्य जगत्स्रष्टा कुमारैः सह नारदः।
हंसो हंसेन यानेन त्रिधामपरमं ययौ॥ २०॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—विदुर! कर्दम मुनि और देवहूतिको इस प्रकार आश्वासन प्रदान करनेके बाद जगत्-स्रष्टा श्रीब्रह्मा मरीचि आदि ऋषियोंको विवाहके लिए वहीं छोड़कर देवर्षि नारद और चारों कुमारोंके साथ (अर्थात् पाँच नैष्ठिक ब्रह्मचारियोंके साथ) हंस-यानपर सवार होकर तृतीय स्वर्ग धामकी परमसीमा स्वरूप सत्यलोकको चल दिये॥ २०॥

गते शतधृतौ क्षत्तः कर्दमस्तेन चोदितः।
यथोचितं स्वदुहितृः प्रादाद्विश्वसृजां ततः॥ २१॥

हे विदुर! श्रीब्रह्माके जानेके बाद महर्षि कर्दमने उनके ही निर्देशानुसार उन समस्त विश्व-स्रष्टा प्रजापतियोंके साथ अपनी पुत्रियोंका विधिपूर्वक विवाह कर दिया॥ २१॥

मरीचये कलां प्रादादनसूयामथात्रये।
श्रद्धामङ्गिरसेऽयच्छत् पुलस्त्याय हविर्भुवम्॥ २२॥

उन्होंने मरीचिको अपनी पुत्री कला, अत्रिको अनसूया, अङ्गिराको श्रद्धा और पुलस्त्यको हविर्भू नामक कन्याएँ समर्पित कीं॥ २२॥

पुलहाय गतिं युक्तां क्रतवे च क्रियां सतीम्।
ख्यातिञ्च भृगवेऽयच्छद्वशिष्ठायाप्यरुन्धतीम्॥ २३॥

पुलहको उनके योग्य गति नामक कन्या, क्रतुको पतिव्रता क्रिया, भृगुको ख्याति एवं वशिष्ठको अरुन्धती नामक कन्याएँ प्रदान कीं॥ २३॥

अथर्वणेऽददाच्छान्तिं यया यज्ञो वितन्यते।
विप्रर्षभान् कृतोद्वाहान् सदारान् समलालयत्॥ २४॥

तत्पश्चात् जिसके द्वारा यज्ञ समृद्ध किया जाता है, उस शान्तिकी अधिष्ठातृ देवी शान्ति नामक कन्याको उन्होंने अथर्व ऋषिको दिया। इस प्रकार विवाह-कार्य सम्पन्न करके महर्षि कर्दमने उन श्रेष्ठ ब्रह्मर्षियोंका उनकी पत्नियोंके सहित आदरपूर्वक बहुत सत्कार किया॥ २४॥

ततस्त ऋषयः क्षत्तः कृतदारा निमन्त्र्य तम्।
प्रातिष्ठन् नन्दिमापन्नाः स्वं स्वमाश्रममण्डलम्॥ २५॥

हे विदुर! विवाह सम्पन्न हो जानेपर सभी ऋषि कर्दम ऋषिकी आज्ञा लेकर आनन्दित होकर अपने-अपने आश्रमोंमें लौट गये॥ २५॥

स चावतीर्णं त्रियुगमाज्ञाय विबुधर्षभम्।
विविक्त उपसङ्गम्य प्रणम्य समभाषत॥ २६॥

तदनन्तर महर्षि कर्दम सर्वदेवश्रेष्ठ भगवान् विष्णुको अपने ही गृहमें पुत्रके रूपमें अवतीर्ण हुआ जानकर एकान्तमें उनके समीप गये और उन्हें प्रणाम करके इस प्रकार कहने लगे॥ २६॥

श्रीकर्दम उवाच—

अहो पापच्यमानानां निरये स्वैरमङ्गलैः।
कालेन भूयसा नूनं प्रसीदन्तीह देवताः॥ २७॥

श्रीकर्दम ऋषिने कहा—अहो! इस नरकतुल्य दुःखमय संसारमें अपने-अपने पापकर्मोंकी अग्निमें दग्ध जीवोंके प्रति देवतागण बहुत काल तक योग-ध्यानादि साधन करनेके बाद निश्चय ही प्रसन्न होते हैं॥ २७॥

बहुजन्मविपक्वेन सम्यग्योगसमाधिना।
द्रष्टुं यतन्ते यतयः शून्यागारेषु यत्पदम्॥ २८॥
स एव भगवानद्य हेलनं न गणय्य नः।
गृहेषु जातो ग्राम्याणां यः स्वानां पक्षपोषणः॥ २९॥

यतिगण निर्जन स्थानमें बहुत जन्मोंके साधनके बाद भक्तियोगका आश्रय लेकर चित्तको समाहितकर जिनके चरणकमलोंके दर्शनका प्रयत्न करते हैं, आज वे भगवान् ही हमारे अवज्ञारूप अपराधको न गिनकर हम अविवेकी और अतिनीच विषयलोलुपोंके घरमें अवतीर्ण हुए हैं। हे भगवन्! अपने भक्तोंकी रक्षा करनेवाले आपके लिए यह उचित ही है॥ २८-२९॥

स्वीयं वाक्यमृतं कर्तुमवतीर्णोऽसि मे गृहे।
चिकीर्षुर्भगवान् ज्ञानं भक्तानां मानवर्द्धनः॥ ३०॥

हे भगवन्! आपने 'तुम्हारे पुत्र रूपमें जन्म-ग्रहण करूँगा'—अपने इस वचनको सत्य करने और ज्ञानके साधन सांख्यशास्त्रका उपदेश करनेके लिए ही हमारे घरमें अवतार लिया है। आप अपने भक्तोंका मान बढ़ानेवाले हैं॥ ३०॥

तान्येव तेऽभिरूपाणि रूपाणि भगवंस्तव।
यानि यानि च रोचन्ते स्वजनानामरूपिणः॥ ३१॥

हे भगवन्! यद्यपि आप प्राकृत रूपसे रहित हैं, तथापि आपके जो अलौकिक चतुर्भुज आदि रूप हैं एवं आपके जो-जो मनुष्याकार आदि रूप आपके भक्तोंके लिए प्रीतिप्रद हैं, वे समस्त रूप ही अप्राकृत सच्चिदानन्दमय स्वरूप हैं॥ ३१॥

त्वां सूरिभिस्तत्त्वबुभुत्सयाद्धा
सदाभिवादार्हणपादपीठम् ।
ऐश्वर्यवैराग्ययशोऽवबोध-
वीर्यश्रियां पूर्त्तमहं प्रपद्ये॥ ३२॥

हे देव! विद्वान लोग सहज रूपमें आत्मतत्त्वके ज्ञानकी अभिलाषासे सर्वदा आपकी ही आराधना करते हैं। आपका पादपीठ ही भक्तोंके अभिवादन, अर्चन एवं सेवाका विषय है। ऐश्वर्य, वैराग्य, यश, ज्ञान, वीर्य एवं श्री—इन छह प्रकारके ऐश्वर्योंसे परिपूर्ण आपकी मैं शरण लेता हूँ॥ ३२॥

परं प्रधानं पुरुषं महान्तं
कालं कविं त्रिवृतं लोकपालम्।
आत्मानुभूत्यानुगतप्रपञ्चं
स्वच्छन्दशक्तिं कपिलं प्रपद्ये॥ ३३॥

हे प्रभो! आप स्वतन्त्र शक्तिमान परमेश्वर हैं। प्रधान या प्रकृति एवं उसका अधिष्ठाता पुरुष जीव आपका ही बहिरङ्ग या तटाङ्ग हैं। आप ही महत्-तत्त्वस्वरूप, महाकालरूपमें सबके क्षोभक, सूत्रतत्त्व-स्वरूप सर्वज्ञ कवि (अर्थात् प्रधानादिके आविर्भाव और तिरोभावके साक्षी स्वरूप हैं), अहङ्कारस्वरूप एवं चतुर्दशभुवन तथा उसके पालकके रूपमें इन्द्र आदि लोकपाल हैं। आप अपनी चित्-शक्तिके बलसे बाहरमें स्थित होकर भी इस प्रपञ्चमें अनुप्रविष्ट होकर अवस्थान कर रहे हैं। इस समय कपिलके रूपमें प्रकट हुए आपकी मैं शरण ग्रहण करता हूँ॥ ३३॥

आ स्माभिपृच्छेऽद्य पतिं प्रजानां
त्वयावतीर्णर्ण उताप्तकामः।
परिव्रजत्पदवीमास्थितोऽहं
चरिष्ये त्वां हृदि युञ्जन् विशोकः॥ ३४॥

हे प्रभो! आपके द्वारा मेरे पुत्र रूपमें अवतीर्ण होनेके कारण मैं देव, ऋषि और पितर—इन तीनों ऋणोंसे मुक्ति प्राप्त करके पूर्णमनोरथ हो गया हूँ। तथापि अब आपके निकट केवल यही प्रार्थना करता हूँ कि मैं संन्यास ग्रहणकर हृदयमें आपका स्मरण करते हुए शोकरहित होकर विचरण करूँ। आप समस्त प्रजाओंके स्वामी हैं, इसलिए इस विषयमें आपकी आज्ञा चाहता हूँ॥ ३४॥

श्रीभगवानुवाच—

मया प्रोक्तं हि लोकस्य प्रमाणं सत्यलौकिके।
अथाजनि मया तुभ्यं यदवोचमृतं मुने॥ ३५॥

श्रीभगवान्ने कहा—हे मुने! वैदिक और लौकिक सभी कर्मोंमें मेरे कथन ही संसारके लिए प्रमाण-स्वरूप हैं। इसलिए मैंने जो कहा था

'तुम्हारे पुत्ररूपमें जन्म-ग्रहण करूँगा'—उसीको सत्य प्रमाणित करनेके लिए ही मैंने तुम्हारे पुत्ररूपमें जन्म-ग्रहण किया है॥ ३५॥

एतन्मे जन्म लोकेऽस्मिन् मुमुक्षूणां दुराशयात्।
प्रसंख्यानाय तत्त्वानां सम्मतायात्मदर्शने॥ ३६॥

एष आत्मपथोऽव्यक्तो नष्टः कालेन भूयसा।
तं प्रवर्तयितुं देहमिमं विद्धि मया भृतम्॥ ३७॥

हे मुने! इस लोकमें जो मुनिगण दुष्ट-वासनाओंसे युक्त लिङ्गदेहसे मुक्ति प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें आत्मदर्शन सम्मत तत्त्व अर्थात् आत्म-अनात्मक विवेकके सम्बन्धमें उपदेश देनेके लिए ही मैंने यह जन्म-ग्रहण किया है। आत्मज्ञानका यह सूक्ष्म मार्ग पहलेसे ही सिद्ध होनेपर भी कालके प्रभावसे विनष्ट हो गया है। मैंने उसका पुनः प्रवर्त्तन करनेके उद्देश्यसे ही इस देहको धारण किया है—ऐसा जानो॥ ३६-३७॥

गच्छ कामं मयापृष्टो मयि सन्न्यस्तकर्मणा।
जित्वा सुदुर्जयं मृत्युममृतत्वाय मां भज॥ ३८॥

हे मुने! आप जब मुझसे अनुमतिकी प्रार्थना कर ही रहे हैं, तो मैं आपको आज्ञा देता हूँ—आप इच्छानुसार विचरण कर सकते हैं। किन्तु, यदि मुझमें समस्त कर्मोंको अर्पित करते हुए सुदुर्जय मृत्युको जीतकर अमृतत्व अर्थात् मृत्यु-रहित नित्य भगवत्-धाम प्राप्तिकी कामना है, तब मेरा ही भजन करना॥ ३८॥

मामात्मानं स्वयंज्योतिः सर्वभूतगुहाशयम्।
आत्मन्येवात्मनान्वीक्षन् विशोकोऽभयमृच्छसि॥ ३९॥

इस प्रकारसे जब तुम समस्त प्राणियोंके अन्तःकरणमें रहनेवाले स्व-प्रकाश परमात्मास्वरूप मेरा अपनी विशुद्ध बुद्धिके द्वारा अपने आत्मामें दर्शन करोगे, तब तुम्हें मेरा शोक और भय रहित मोक्षपद—भगवद्धाम प्राप्त हो जायेगा॥ ३९॥

मात्रे चाध्यात्मिकीं विद्यां शमनीं सर्वकर्मणाम्।
वितरिष्ये यया चासौ भयञ्चातितरिष्यति॥ ४०॥

मैं माता देवहूतिको भी समस्त कर्मोंके बन्धनसे छुड़ानेवाली आत्मतत्त्व-प्रकाशक विद्या प्रदान करूँगा। इससे उन्हें संसार-भयसे छुटकारा मिलेगा और वे परमानन्दमें स्थित हो जायेंगी॥ ४०॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

एवं समुदितस्तेन कपिलेन प्रजापतिः।
दक्षिणीकृत्य तं प्रीतो वनमेव जगाम ह॥ ४१॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—भगवान् कपिलदेवके द्वारा ऐसे समुचित वचनोंके कहे जाने पर प्रजापति कर्दमने उनकी परिक्रमा की और आनन्दित चित्तसे वनमें चले गये॥ ४१॥

व्रतं स आस्थितो मौनमात्मैकशरणो मुनिः।
निःसङ्गो व्यचरत् क्षौणीमनग्निरनिकेतनः॥ ४२॥

मुनिवर कर्दम परमात्माके शरणापन्न होकर मुनियोंके अहिंसादि लक्षणयुक्त संन्यासधर्मका आश्रय लेकर जनसङ्गसे रहित, अग्नि (अर्थात् आहारादिकी चेष्टासे शून्य) और आश्रम (अर्थात् निर्दिष्ट वासस्थानसे रहित) का त्यागकर पृथ्वीपर पर्यटन करने लगे॥ ४२॥

मनो ब्रह्मणि युञ्जानो यत्तत् सदसतः परम्।
गुणावभासे विगुण एकभक्त्यानुभाविते॥ ४३॥

निरहङ्कृतिर्निर्ममश्च निर्द्वन्द्वः समदृक् स्वदृक्।
प्रत्यक्प्रशान्तधीर्धीरः प्रशान्तोर्मिरिवोदधिः॥ ४४॥

वासुदेवे भगवति सर्वज्ञे प्रत्यगात्मनि।
परेण भक्तिभावेन लब्धात्मा मुक्तबन्धनः॥ ४५॥

आत्मानं सर्वभूतेषु भगवन्तमवस्थितम्।
अपश्यत् सर्वभूतानि भगवत्यपि चात्मनि॥ ४६॥

तत्पश्चात् कर्दम ऋषिने सत्-असत् अर्थात् मङ्गल और अमङ्गलसे अतीत प्राकृतगुणोंसे रहित होनेपर भी सौन्दर्य आदि माधुर्य और ऐश्वर्यरूप चिन्मय गुणोंके प्रकाशक परब्रह्ममें अपना चित्त निविष्ट कर दिया तथा एकान्तिक भक्तिके प्रभावसे अतिशीघ्र ही उन परब्रह्मका

साक्षात्कार कर लिया। देह आदिके अहङ्कार एवं ममतासे रहित होनेके कारण वे सुख-दुःख और शीत-उष्णादि द्वन्द्वोंसे व्याकुल नहीं होते थे एवं भेद-बुद्धिसे रहित अर्थात् समदर्शी होकर सर्वत्र आत्म-दर्शन करते थे। अन्तर्मुखी वृत्तिके द्वारा स्थिरचित्त होकर वे तरङ्गरहित समुद्रके समान ही प्रशान्तभावसे अवस्थान करने लगे। अनन्तर समस्त प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त होकर पराभक्तिके द्वारा उनका चित्त सर्वज्ञ और समस्त जीवोंके आत्मा भगवान् वासुदेवमें आसक्त हो गया। उन्होंने देखा कि श्रीहरि समस्त प्राणियोंमें परमात्मारूपमें अवस्थित हैं और समस्त प्राणी श्रीहरिमें अवस्थित हैं। इस प्रकार वे महाभागवतकी अवस्थाको प्राप्त हो गये॥ ४३–४६॥

इच्छाद्वेषविहीनेन सर्वत्र समचेतसा।
भगवद्भक्तियोगेन प्राप्ता भागवती गतिः॥ ४७॥

तदनन्तर वे राग-द्वेषसे रहित और सर्वत्र सम-बुद्धि होकर भगवत्-भक्तियोगके प्रभावसे 'भागवती गति' अर्थात् भगवान्के पार्षदत्वको प्राप्त हो गये॥ ४७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां तृतीयस्कन्धे श्रीविदुर-मैत्रेयसंवादे
श्रीकर्दमप्रव्रज्या नाम चतुर्विंशोऽध्यायः॥

पञ्चविंशोऽध्यायः

देवहूतिके प्रश्न और भगवान् कपिलदेवके द्वारा भक्तियोगका माहात्म्य-वर्णन

श्रीशौनक उवाच—

कपिलस्तत्त्वसंख्याता भगवानात्ममायया।
जातः स्वयमजः साक्षादात्मप्रज्ञप्तये नृणाम्॥ १॥

श्रीशौनक ऋषिने कहा—हे सूत गोस्वामी! सांख्य-शास्त्रके प्रवर्त्तक भगवान् कपिलदेव स्वयं जन्म-रहित होकर भी मनुष्योंको आत्मतत्त्वका उपदेश देनेके लिए अपनी योगमायाके प्रभावसे आविर्भूत हुए थे॥ १॥

न ह्यस्य वर्ष्मणः पुंसां वरिम्नः सर्वयोगिनाम्।
विश्रुतौ श्रुतदेवस्य भूरि तृप्यन्ति मेऽसवः॥ २॥

भगवान् कपिलदेव क्षीरोदकशायी आदि पुरुषोंमें उत्तम एवं दत्तात्रेय आदि योगियोंमें श्रेष्ठ थे। उनके यशका गान बहुत बार सुननेपर भी मेरी श्रवणादि इन्द्रियाँ तृप्त नहीं हो रही, बल्कि मेरी श्रवणकी इच्छा क्रमशः बढ़ती ही जा रही है॥ २॥

यद्यद्विधत्ते भगवान् स्वच्छन्दात्मात्ममायया।
तानि मे श्रद्दधानस्य कीर्तन्यान्यनुकीर्तय॥ ३॥

सर्वथा स्वतन्त्र भगवान् अपने भक्तोंकी इच्छानुसार देह धारण करके अपनी स्वरूपशक्तिके द्वारा जो-जो लीलाएँ करते हैं, वे सभी कीर्त्तन करने योग्य हैं। आप कृपा करके हम श्रद्धालुओंको उन सभी लीला-कथाओंको सुनाइये॥ ३॥

श्रीसूत उवाच—

द्वैपायनसखस्त्वेवं मैत्रेयो भगवांस्तथा।
प्राहेदं विदुरं प्रीत आन्वीक्षिक्यां प्रचोदितः॥ ४॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—ब्रह्मन्! आपने मुझसे जिस प्रकारसे आत्मज्ञान-सम्बन्धित जिज्ञासा की है, महात्मा विदुरने भी एक दिन श्रीव्यासदेवके सखा भगवान् मैत्रेय ऋषिसे इसी प्रकारके प्रश्न ही पूछे थे। इससे प्रसन्न होकर उन्होंने विदुरजीको जो कुछ बतलाया था, उसीको मैं आपलोगोंके समक्ष वर्णन कर रहा हूँ, आप लोग सुनिये॥ ४॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

पितरि प्रस्थितेऽरण्यं मातुः प्रियचिकीर्षया।
तस्मिन् बिन्दुसरेऽवात्सीद्भगवान् कपिलः किल॥ ५॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! पिताके संन्यासाश्रमके लिए वनमें चले जानेपर माताको प्रसन्न करनेकी इच्छासे भगवान् कपिलदेव उसी बिन्दुसरोवरके तटपर रहने लगे॥ ५॥

तमासीनमकर्माणं तत्त्वमार्गाग्रदर्शनम्।
स्वसुतं देवहूत्याह धातुः संस्मरती वचः॥ ६॥

भगवान् कपिलदेव तत्त्व-मार्गके सिद्धान्तके प्रदर्शक थे, इसीलिए वे नैष्कर्म्य अवस्थामें अर्थात् कर्म-मार्गसे निवृत्त होकर बैठे रहते थे। एक समय देवहूतिको ब्रह्माजीका यह कथन—'हे मनुपुत्रि! कैटभमर्दन श्रीभगवान् तुम्हारे गर्भमें प्रविष्ट हुए हैं।' स्मरण हो आया। तब वे अपने पुत्रको सम्बोधित करके कहने लगीं॥ ६॥

श्रीदेवहूतिरुवाच—

निर्विण्णा नितरां भूमन्नसदिन्द्रियतर्षणात्।
येन सम्भाव्यमानेन प्रपन्नान्धं तमः प्रभो॥ ७॥

श्रीदेवहूतिने कहा—हे भूमन्! असत् इन्द्रियोंकी विषय-अभिलाषाओंसे मैं अत्यन्त थक चुकी हूँ। हे प्रभो! इन लालसाओंको पूर्ण करते-करते मैं क्रमशः घोर-अज्ञानरूपी अन्धकारसे आवृत संसारकूपमें गिरती ही जा रही हूँ॥ ७॥

तस्य त्वं तमसोऽन्धस्य दुष्पारस्याद्य पारगम्।
सच्चक्षुर्जन्मनामन्ते लब्धं मे त्वदनुग्रहात्॥ ८॥

किन्तु हे भगवन्! बहुत जन्मोंके बाद आज मैंने आपके ही अनुग्रहसे इस दुष्पार अन्धतम अज्ञानसे पार ले जानेवाले सत् नेत्ररूप आपको प्राप्त किया है॥ ८॥

य आद्यो भगवान् पुंसामीश्वरो वै भवान् किल।
लोकस्य तमसान्धस्य चक्षुः सूर्य इवोदितः॥ ९॥

अथवा आप ही एकमात्र आदिदेव भगवान् और समस्त पुरुषोंके अधीश्वर हैं। आप केवल मेरे ही चक्षु-स्वरूप हैं, ऐसा नहीं हैं, अपितु इस समय आप अज्ञानरूपी अन्धकारमें पड़े हुए समस्त जीवोंके नेत्रोंके प्रकाशक सूर्यरूपमें उदित हुए हैं॥ ९॥

अथ मे देव सम्मोहमपाक्रष्टुं त्वमर्हसि।
योऽवग्रहोऽहं-ममेतीत्येतस्मिन् योजितस्त्वया॥ १०॥

हे देव! इस देह-गृह आदिमें 'मैं और मेरा' बुद्धिरूप जो असत्-आग्रह अर्थात् द्वितीय अभिनिवेश उत्पन्न हुआ है, वह आपकी बहिरङ्गा मायाशक्तिका ही कार्य है। अतएव एकमात्र आप ही मेरे इस महामोहरूप अज्ञानको दूर करनेमें समर्थ हैं॥ १०॥

तं त्वा गताहं शरणं शरण्यं
स्वभृत्यसंसारतरोः कुठारम्।
जिज्ञासयाहं प्रकृतेः पुरुषस्य
नमामि सद्धर्मविदां वरिष्ठम्॥ ११॥

हे देव! आप ही एकमात्र शरण्य हैं। अपने अनुगत भक्तोंके संसाररूप वृक्षका छेदन करनेके लिए आप कुठारके समान हैं। मैं आपके शरणागत होती हूँ। आप भक्तिपथको जानेवालोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं। मुझे प्रकृति एवं पुरुषके विषयमें जाननेकी इच्छा है। मैं आपको प्रणाम करती हूँ॥ ११॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

इति स्वमातुर्निरवद्यमीप्सितं
निशम्य पुंसामपवर्गवर्द्धनम्।

धियाभिनन्द्यात्मवतां सतां गति-
र्बभाष ईषत् स्मितशोभिताननः॥ १२॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! माताके ये अभिलषित वचन निर्दोष एवं साधारण लोगोंके अपवर्ग नामक भक्तियोगको बढ़ानेवाले थे। इन्हें सुनकर आत्मतत्त्ववेत्ता साधुओंके एकमात्र आश्रय भगवान् कपिलदेवने हृदयसे माता देवहूतिका अभिनन्दन किया और मन्द-मुसकानसे सुशोभित मुखारविन्दसे मधुरवाणीमें मातासे कहने लगे॥ १२॥

श्रीभगवानुवाच—

योग आध्यात्मिकः पुंसां मतो निःश्रेयसाय मे।
अत्यन्तोपरतिर्यत्र दुःखस्य च सुखस्य च॥ १३॥

श्रीभगवान्ने कहा—हे माता! मेरा यह निश्चय है कि परमात्मनिष्ठ योग अर्थात् भक्तियोग ही लोगोंके लिए परममङ्गल प्राप्तिका उपाय-स्वरूप है। इसके आश्रयसे ही मनुष्योंके सुख एवं दुःखोंकी सम्पूर्ण रूपमें निवृत्ति होती है॥ १३॥

तमिमं ते प्रवक्ष्यामि यमवोचं पुरानघे।
ऋषीणां श्रोतुकामानां योगं सर्वाङ्गनैपुणम्॥ १४॥

हे निष्पाप साध्वि! पूर्वकालमें नारद आदि ऋषि भी शम-दमादि अङ्गोंसे युक्त परमात्म-योगके विषयमें सुननेके लिए उत्सुक हुए थे। उस समय मैंने उन ऋषियोंको जिस योगके विषयमें बतलाया था, आज वही मैं आपको भी बतला रहा हूँ॥ १४॥

चेतः खल्वस्य बन्धाय मुक्तये चात्मनो मतम्।
गुणेषु सक्तं बन्धाय रतं वा पुंसि मुक्तये॥ १५॥

हे माता! मन ही जीवात्माके बन्धन एवं मोक्षका कारण है। जब यह मन विषयोंमें आसक्त होता है, तब जीवोंके लिए बन्धन उपस्थित होता है और जब यह मन परमपुरुष श्रीभगवान्में नियुक्त होता है, तब उसकी मुक्ति हो जाती है॥ १५॥

अहं-ममाभिमानोत्थैः कामलोभादिभिर्मलैः।
वीतं यदा मनः शुद्धमदुःखमसुखं समम्॥ १६॥

तदा पुरुष आत्मानं केवलं प्रकृतेः परम्।
निरन्तरं स्वयंज्योतिरणिमानमखण्डितम्॥ १७॥
ज्ञानवैराग्ययुक्तेन भक्तियुक्तेन चात्मना।
परिपश्यत्युदासीनं प्रकृतिञ्च हतौजसम्॥ १८॥

जिस समय चित्त देह आदिमें 'मैं और मेरा' अभिमानसे उदित होनेवाले काम-लोभ आदि विकारोंसे रहित होकर निर्मल हो जाता है, तथा सुख और दुःख—इन दोनों अवस्थाओंमें समभाव धारण करता है, उसी समय जीवात्मा अविद्या अर्थात् प्रकृतिसे परे अवस्थित, स्थूल एवं सूक्ष्म दोनों देहोंकी बाधाओंसे रहित, अत्यन्त सूक्ष्म, स्वयं-प्रकाश, विषय-वासनाओंके आवरणसे रहित और अनासक्त अपने शुद्धस्वरूपको भक्तिके अनुकूल ज्ञानवैराग्ययुक्त चित्तके द्वारा देखता है और तभी वह अविद्याकी शक्तिको भी क्षीण होते देख पाता है॥ १६-१८॥

न युज्यमानया भक्त्या भगवत्यखिलात्मनि।
सदृशोऽस्ति शिवः पन्था योगिनां ब्रह्मसिद्धये॥ १९॥

हे माता! योगियोंकी ब्रह्मभूत अवस्था अर्थात् ब्रह्मके समान पाप रहित होना आदि आठ गुणोंसे युक्त शुद्धस्वरूपके उद्बोधनके लिए समस्त जीवोंके आत्मास्वरूप श्रीभगवान्‌के प्रति भक्तियोगके आश्रयके अतिरिक्त दूसरा कोई मङ्गलमय पथ नहीं है॥ १९॥

प्रसङ्गमजरं पाशमात्मनः कवयो विदुः।
स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारमपावृतम्॥ २०॥

विद्वानलोग आसक्तिको ही जीवात्माके लिए दृढ़-बन्धनस्वरूप मानते हैं, परन्तु जब यही आसक्ति साधुओंके प्रति हो जाती है, तब यह मोक्ष प्राप्तिका द्वारस्वरूप होती है। (उक्त मोक्ष सालोक्य, सारूप्य आदि पाँचों प्रकारकी मुक्तियोंका द्वारस्वरूप है एवं सम्पूर्ण रूपसे आवरण रहित ऐकान्तिक भक्तोंकी भी सेवाका यह आनुसङ्गिक फलमात्र है)॥ २०॥

तितिक्षवः कारुणिकाः सुहृदः सर्वदेहिनाम्।
अजातशत्रवः शान्ताः साधवः साधुभूषणाः॥ २१॥
मय्यनन्येन भावेन भक्तिं कुर्वन्ति ये दृढाम्।
मत्कृते त्यक्तकर्माणस्त्यक्तस्वजनबान्धवाः॥ २२॥
मदाश्रयाः कथा मृष्टाः शृण्वन्ति कथयन्ति च।
तपन्ति विविधास्तापा नैतान् मद्गतचेतसः॥ २३॥
त एते साधवः साध्वि सर्वसङ्गविवर्जिताः।
सङ्गस्तेष्वथ ते प्रार्थ्यः सङ्गदोषहरा हि ते॥ २४॥

(उन साधुओंका तटस्थ-लक्षण बतला रहा हूँ, सुनो—)वे हरिकीर्त्तनमें वृक्षके समान सहनशील, जीवोंके दुःखोंमें दयासे द्रवीभूत चित्तवाले और प्राणियोंके अहैतुक नित्य हितकारी होते हैं। वे समस्त जीवोंको परोक्ष और अपरोक्ष भावसे भगवान्का ही सेवक समझते हैं, अतएव किसीको भी शत्रु नहीं मानते। वे निष्काम होनेके कारण शान्त, शास्त्रके अनुवर्ती और सरल-स्वभावके होते हैं। सुशीलता ही उनका भूषण होता है। (अब इन साधुओंके स्वरूप-लक्षण सुनो—)वे मुझे ही एकमात्र भजनीय वस्तु जानकर मुझमें एकनिष्ठ भक्ति करते हैं। मेरे सेवासुखके लिए समस्त कर्मों एवं धर्मों अर्थात् स्वजन बन्धु-बान्धव आदि सबका परित्याग कर देते हैं। वे मुझमें अनुरक्त रहकर परस्पर मेरी पवित्र कथाओंका श्रवण और कीर्त्तन करते हैं। मुझमें अर्पित चित्तवाले ऐसे साधुओंको आध्यात्मिक आदि त्रिताप कष्ट नहीं पहुँचा पाते। हे साध्वि! उक्त गुणोंसे युक्त इन महापुरुषोंकी धर्म, अर्थ, काम और मोक्षस्वरूप पुरुषार्थोंमें तनिक भी आसक्ति नहीं होती। ये महात्मा ही असत्सङ्गसे उत्पन्न दोषोंको हरण करनेमें समर्थ होते हैं, अतः ऐसे साधुओंके सङ्गके लिए ही आपको प्रार्थना करनी चाहिये॥ २१-२४॥

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो
भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि
श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति॥ २५॥

साधुओंके प्रकृष्ट (उत्कृष्ट) सङ्ग अर्थात् प्रतिकूलतासे रहित सङ्गमें मेरे माहात्म्यको प्रकाश करनेवाली तथा शुद्ध हृदय और कर्णको प्रिय लगनेवाली जो कथाएँ होती हैं, उनका प्रीतिपूर्वक सेवन (श्रवण) करते-करते शीघ्र ही अविद्या-निवृत्तिके पथस्वरूप मुझमें यथाक्रमसे पहले श्रद्धा, बादमें रति और अन्तमें प्रेमभक्ति उदित होती है॥ २५॥

भक्त्या पुमान् जातविराग ऐन्द्रियाद्-
दृष्टश्रुतान्मद्रचनानुचिन्तया ।
चित्तस्य यत्तो ग्रहणे योगयुक्तो
यतिष्यते ऋजुभिर्योगमार्गैः॥ २६॥

तदुपरान्त मेरे द्वारा रचित सृष्टि आदि लीलाओंके चिन्तनसे जीवोंमें जिस भक्तिका उदय होता है, उसके प्रभावसे वे दृष्ट और श्रुत अर्थात् लौकिक एवं पारलौकिक इन्द्रिय-सुखोंसे विरक्त हो जाते हैं। उसके बाद भक्तियोगमें स्थित होकर उस सुगम भक्तियोगके साधनाङ्गका आश्रय लेकर अपने मनको वशमें करनेका प्रयत्न करते हैं॥ २६॥

असेवयायं प्रकृतेर्गुणानां
ज्ञानेन वैराग्यविजृम्भितेन।
योगेन मय्यर्पितया च भक्त्या
मां प्रत्यगात्मानमिहावरुन्धे॥ २७॥

इस प्रकारसे जीव प्रकृतिके गुणोंके सङ्गसे उत्पन्न विषयोंकी सेवा न करके विषयोंके प्रति वैराग्ययुक्त ज्ञान, अष्टाङ्गयोग एवं मेरे प्रति सुदृढ़ अनन्य-भक्तिसे इसी देहमें ही 'तत्' पदार्थ वाच्य मुझे प्राप्त कर लेते हैं॥ २७॥

श्रीदेवहूतिरुवाच—

काचित् त्वय्युचिता भक्तिः कीदृशी मम गोचरा।
यया पदं ते निर्वाणमञ्जसान्वाश्नवा अहम्॥ २८॥

श्रीदेवहूतिने कहा—भगवन्! आपकी भक्ति किस प्रकारसे करनी चाहिये? मैं स्त्री जाति हूँ, मेरे लिए किस प्रकारकी भक्ति उचित है,

जिसके द्वारा मैं अनायास ही आपके मोक्षपद अर्थात् आपके आनन्द-स्वरूप चरणकमलोंकी नित्य सेवाको सम्पूर्ण रूपसे प्राप्त कर सकूँ?॥ २८॥

यो योगो भगवद्‌बाणो निर्वाणात्मंस्त्वयोदितः।
कीदृशः कति चाङ्गानि यतस्तत्त्वावबोधनम्॥ २९॥

हे पूर्ण आनन्द-स्वरूप श्रीभगवान्! जो योग भगवान्‌को लक्ष्य करके साधित होता है, जिस योगके विषयमें आपने इससे पहले भी वर्णन किया है और जिससे तत्त्वोंका ज्ञान होता है, वह योग कैसा है और उसके कितने अङ्ग हैं?॥ २९॥

तदेतन्मे विजानीहि यथाहं मन्दधीर्हरे।
सुखं बुध्येय दुर्बोधं योषा भवदनुग्रहात्॥ ३०॥

हे हरे! मैं स्त्री होनेके कारण अल्प बुद्धिवाली हूँ, अतः आप कृपापूर्वक इनसब दुर्बोध तत्त्वोंको इस प्रकारसे मुझे समझाइये जिससे कि मैं अनायास ही उन्हें हृदयङ्गम कर सकूँ॥ ३०॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

विदित्वार्थं कपिलो मातुरित्थं
जातस्नेहो यत्र तन्वाभिजातः।
तत्त्वाम्नायं यत् प्रवदन्ति सांख्यं
प्रोवाच वै भक्तिवितानयोगम्॥ ३१॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—भगवान् कपिलदेव देवहूतिके देहका आश्रय करके आविर्भूत हुए थे, इसलिए माताके ऐसे अभिप्राय और परिप्रश्नोंको जानकर उनके प्रति स्नेहसे अभिभूत हो उठे। तब उन्होंने प्रकृति आदि तत्त्वोंका क्रमानुसार निरूपण करनेवाले शास्त्र, जिसे पण्डित लोग 'सांख्ययोग' कहते हैं, का उपदेश दिया तथा भक्तिका विस्तार करनेवाले योगका भी उपदेश दिया॥ ३१॥

श्रीभगवानुवाच—

देवानां गुणलिङ्गानामानुश्रविककर्मणाम्।
सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या।

अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी॥ ३२॥
जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा॥ ३३॥

श्रीभगवान्ने कहा—हे माता! निर्विकार-चित्तयुक्त पुरुषकी विषयग्रहणमें निपुण इन्द्रियों और इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ देवताओंके द्वारा श्रीगुरु उपदिष्ट वेद-विहित कर्मानुष्ठानवशतः शुद्धसत्त्वमूर्त्ति भगवान् श्रीहरिमें जो स्वाभाविकी या अहैतुकी निष्काम वृत्ति है, उसे ही भागवती भक्ति कहते हैं। जिनका चित्त श्रीभगवान्में लग गया है, उन शुद्धसत्त्वमें अधिष्ठित पुरुषके लिए वह भक्ति मुक्तिसे भी श्रेष्ठ है। जठराग्नि जिस प्रकार खाये हुए अन्नको अपने प्रयत्नके बिना अनजानेमें ही पचा देती है, उसी प्रकार वह भक्ति भी वासनामय लिङ्गशरीरको अनायास ही भस्म कर डालती है, अर्थात् मुक्ति भक्तिका आनुषङ्गिक (गौण) फलमात्र है॥ ३२-३३॥

नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचि-
न्मत्पादसेवाभिरता मदीहाः।
येऽन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य
सभाजयन्ते मम पौरुषाणि॥ ३४॥

(अनन्तर श्रीकपिलदेव मुक्तिसे भक्तिकी श्रेष्ठता प्रदर्शन करते हुए कह रहे हैं—हे माता!) जो लोग समस्त इन्द्रियोंके द्वारा प्रीति सहित मेरी चरण-सेवामें रत हैं, जो मेरी ही प्रसन्नताके लिए समस्त चेष्टाएँ करते हैं, जो परस्पर सम्मिलित होकर मेरे ही माहात्म्यका वर्णन करनेमें आनन्द अनुभव करते हैं, ऐसे भागवतजन कभी भी मेरे साथ एकात्मरूप सायुज्य मुक्तिकी स्पृहा नहीं करते॥ ३४॥

पश्यन्ति ते मे रुचिराण्यम्ब सन्तः
प्रसन्नवक्त्रारुणलोचनानि ।
रूपाणि दिव्यानि वरप्रदानि
साकं वाचं स्पृहणीयां वदन्ति॥ ३५॥

हे माता! वे भागवतजन मनोहर मुखारविन्द और अरुण-नयनसे युक्त मेरे सुन्दर और वरदायक दिव्य रूपोंके दर्शन प्राप्त करते हैं तथा

उन स्वरूपोंके साथ भुक्ति और मुक्तिकी स्पृहासे रहित नानाविध सेवा-अभिलाषाओंसे युक्त प्रेमपूर्वक वाक्यों द्वारा वार्त्तालाप करते हैं, जिसके लिए बड़े-बड़े योगी-तपस्वी भी लालायित रहते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि मुक्तिकी अपेक्षा भक्तिमें परमेश्वरका अनुभवरूपी सुख नित्य वर्त्तमान है॥ ३५॥

तैर्दर्शनीयावयवैरुदार-
विलासहासेक्षितवामसूक्तैः ।
हृतात्मनो हृतप्राणांश्च भक्ति-
रनिच्छतो मे गतिमण्वीं प्रयुङ्क्ते॥ ३६॥

मेरे उस परम मनोहर अप्राकृत मुख-नेत्र आदि अङ्गोंसे युक्त सच्चिदानन्दमय श्रीमूर्त्तियाँ भक्तोंके अभीष्टको पूर्ण करनेवाले लीलाविलास, उदार-हास्य, मनोहर-चितवन और मधुर सम्भाषण आदिसे युक्त अपनी रूप-माधुरीके द्वारा भक्तोंके मन एवं प्राणोंको आकर्षित कर लेती हैं। ऐसे भक्तोंमें आत्मानन्द प्राप्तिरूप मुक्तिकी कोई स्पृहा न रहनेपर भी मेरे प्रति भक्ति ही उन्हें उस मुक्तिको अनायास ही प्राप्त करा देती है॥ ३६॥

अथो विभूतिं मम मायया चिता-
मैश्वर्यमष्टाङ्गमनुप्रवृत्तम् ।
श्रियं भागवतीं वास्पृहयन्ति भद्रां
परस्य मे तेऽश्नुवते तु लोके॥ ३७॥

अविद्या या अज्ञानके दूर होनेपर वे मुक्त पुरुष यद्यपि मेरी मायाके द्वारा रचित ऊपरी लोकोंकी भोगसम्पत्ति, यहाँ तक कि भक्तिके साथ-साथ प्राप्त होनेवाले आठ प्रकारके ऐश्वर्य अथवा मेरे वैकुण्ठमें जो सब ऐश्वर्य आदि हैं, उन सबकी लेशमात्र भी इच्छा नहीं करते, तथापि वे मेरे वैकुण्ठलोकमें जाकर मेरी भागवती सम्पत्तिका भोग करते हैं॥ ३७॥

न कर्हिचिन्मत्पराः शान्तरूपे
नङ्क्ष्यन्ति नो मेऽनिमिषो लेढि हेतिः।

येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च
सखा गुरुः सुहृदो दैवमिष्टम्॥ ३८॥

हे शान्तरूपे माता! स्वर्ग आदि लोकोंमें भोक्ता और भोग्य वस्तुओंका कभी-न-कभी विनाश हो ही जाता है, किन्तु मेरे वैकुण्ठलोकमें मेरे परायण भक्तोंके लिए कभी भी उस प्रकारसे भोग्यवस्तु नष्ट होनेकी कोई भी आशङ्का नहीं है। मेरा अनिमिष कालचक्र भी उन्हें ग्रास नहीं कर सकता। मैं ही उनके लिए आत्माके समान प्रिय, पुत्रके समान स्नेहपात्र, सखाके समान विश्वासपात्र, गुरु तुल्य उपदेष्टा, सुहृदके समान हितकारी और इष्टदेवके समान पूज्य हूँ, अर्थात् जो इस प्रकारसे भलीभाँति मेरा ही भजन करते हैं, मेरा कालचक्र उन्हें कभी भी ग्रास नहीं कर सकता॥ ३८॥

इमं लोकं तथैवामुमात्मानमुभयायिनम्।
आत्मानमनु ये चेह ये रायः पशवो गृहाः॥ ३९॥

विसृज्य सर्वानन्यांश्च मामेवं विश्वतोमुखम्।
भजन्त्यनन्यया भक्त्या तान् मृत्योरतिपारये॥ ४०॥

हे माता! जो इस लोकमें, परलोकमें और इन दोनों लोकोंमें साथ जानेवाले वासनामय लिङ्गदेह और उससे सम्बन्ध रखनेवाले पुत्र, स्त्री, धन, ऐश्वर्य, पशु, गृह और अन्यान्य सभी कुछ परित्याग करके एकान्तिकी भक्ति सहित विविध रसोंके विषयस्वरूप मेरा भजन करते हैं, मैं उनका संसारसे परित्राण कर देता हूँ॥ ३९-४०॥

नान्यत्र मद्भगवतः प्रधानपुरुषेश्वरात्।
आत्मनः सर्वभूतानां भयं तीव्रं निवर्तते॥ ४१॥

हे माता! मैं ही साक्षात् भगवान् हूँ, मैं ही प्रकृति एवं पुरुषावतार आदिका नियन्ता हूँ तथा मैं ही समस्त प्राणियोंका आत्मा हूँ। मेरे अतिरिक्त और किसीका आश्रय लेनेसे जीवोंको इस भीषण मृत्यु-रूप संसारभयसे छुटकारा नहीं मिल सकता॥ ४१॥

मद्भयाद्वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति मद्भयात्।
वर्षतीन्द्रो दहत्यग्निर्मृत्युश्चरति मद्भयात्॥ ४२॥

मेरे भयसे ही वायु चलती है, मेरे भयसे ही सूर्य तपता है, मेरे ही भयसे इन्द्र जल वर्षण करता है, मेरे ही भयसे अग्नि दहन करती है और मेरे ही भयसे मृत्यु अपने कार्यमें प्रवृत्त होती है॥ ४२॥

ज्ञानवैराग्ययुक्तेन भक्तियोगेन योगिनः।
क्षेमाय पादमूलं मे प्रविशन्त्यकुतोभयम्॥ ४३॥

माता! भक्तिके अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकारसे मोक्ष प्राप्त नहीं होता, क्योंकि योगीजन भी ज्ञान-वैराग्यसे युक्त भक्तियोगका आश्रय लेकर योग-क्षेमकी प्राप्तिके लिए मेरे ही अभय चरणकमलोंका आश्रय ग्रहण करते हैं॥ ४३॥

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां निःश्रेयसोदयः।
तीव्रेण भक्तियोगेन मनो मय्यर्पितं स्थिरम्॥ ४४॥

(उपसंहारमें सारकथा यही है कि) यदि मनुष्यका चित्त सुदृढ़ एवं अनन्य भक्तियोगके द्वारा मुझमें अर्पित होकर स्थिर हो जाये, तब वही इस संसारमें मनुष्यके लिए सबसे महान कल्याणकी प्राप्ति है—ऐसा जानना होगा॥ ४४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां तृतीयस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे श्रीकापिलेये श्रीभक्तियोगो नाम पञ्चविंशोऽध्यायः॥

षड्विंशोऽध्यायः

महत्-तत्त्व आदि भिन्न-भिन्न तत्त्वोंकी उत्पत्तिका वर्णन

श्रीभगवानुवाच—

अथ ते संप्रवक्ष्यामि तत्त्वानां लक्षणं पृथक्।
यद्विदित्वा विमुच्येत पुरुषः प्राकृतैर्गुणैः॥ १॥

भगवान् श्रीकपिलदेवने कहा—हे माता! अब मैं आपको प्रकृति-पुरुष आदि तत्त्वोंका पृथक्-पृथक् लक्षण बतला रहा हूँ, इन्हें जानकर जीव प्रकृतिके गुणोंसे मुक्त हो जाता है॥ १॥

ज्ञानं निःश्रेयसार्थाय पुरुषस्यात्मदर्शनम्।
यदाहुर्वर्णये तत्ते हृदयग्रन्थिभेदनम्॥ २॥

आत्म-दर्शनरूप जो ज्ञान मनुष्योंके अहङ्कारको दूर करनेवाला है तथा जिसे पण्डितजन निःश्रेयसार्थ अर्थात् आत्यन्तिक दुःख-निवृत्तिका कारण कहते हैं, मैं उस ज्ञानका भी आपके सम्मुख वर्णन करूँगा॥ २॥

अनादिरात्मा पुरुषो निर्गुणः प्रकृतेः परः।
प्रत्यग्धामा स्वयंज्योतिर्विश्वं येन समन्वितम्॥ ३॥

अनादि (नित्य) परमात्मा ही पुरुष हैं तथा वे प्रकृतिसे पृथक् हैं। असङ्ग होनेके कारण वे प्राकृत गुणोंसे रहित, इन्द्रियोंसे अतीत कारणार्णव-धामपति—स्वप्रकाश वस्तु हैं। यह जगत् उन्हींके ईक्षणसे प्रकाशित हुआ है॥ ३॥

स एष प्रकृतिं सूक्ष्मां दैवीं गुणमयीं विभुः।
यदृच्छयैवोपगतामभ्यपद्यत लीलया॥ ४॥

उन्हीं कारणार्णवशायी प्रथम पुरुषावतारकी शक्तिरूपिणी अव्यक्ता, त्रिगुणमयी प्रकृतिके लीलावशतः उनके समीप उपस्थित होनेपर उन्होंने

स्वेच्छासे उसे बहिरङ्गारूपमें ग्रहण कर लिया अर्थात् दूरसे ही उसमें ईक्षण (जीवशक्तिरूप वीर्याधान) करके इस जगत्‌की सृष्टि की॥ ४॥

गुणैर्विचित्राः सृजतीं सरूपाः प्रकृतिं प्रजाः।
विलोक्य मुमुहे सद्यः स इह ज्ञानगूह्या॥ ५॥

इसके बाद वह प्रकृति अपने सत्त्वादि तीन गुणोंके द्वारा उन्हीं गुणोंके अनुरूप विचित्र (देव, मनुष्य एवं पशु-पक्षी आदिरूप) प्रजाकी सृष्टि करने लगी। प्रकृतिको ऐसा करते देखकर उस प्रकृतिमें लीन जीवात्मा, प्रकृतिके संसर्गके समय ही ज्ञानको आवृत करनेवाली प्रकृतिकी ही अविद्या नामक वृत्तिसे युक्त होकर मोहित हो गया और अपने शुद्ध-स्वरूपको भूल गया॥ ५॥

एवं पराभिध्यानेन कर्तृत्वं प्रकृतेः पुमान्।
कर्मसु क्रियमाणेषु गुणैरात्मनि मन्यते॥ ६॥

इस प्रकार प्रकृतिमें अध्यास (भ्रम) वशतः यह पुरुष (जीव) प्रकृतिके गुणोंसे उत्पन्न कार्योंमें स्वयंके कर्त्ता होनेका अभिमान करता है॥ ६॥

तदस्य संसृतिर्बन्धः पारतन्त्र्यञ्च तत्कृतम्।
भवत्यकर्तुरीशस्य साक्षिणो निर्वृतात्मनः॥ ७॥

वस्तुतः जीव केवल साक्षीमात्र है। वह किसी भी कर्मका कर्त्ता नहीं है। वह ईश-शब्दवाच्य ईश्वरकी पराशक्तिका रूप और स्वयं सुखस्वरूप है, किन्तु उसके इस प्रकारके कर्त्ता होनेके अभिमानसे ही उसका जन्ममृत्यु-प्रवाहरूप संसार-बन्धन होता है एवं उस बन्धनसे ही वह भोग्य-विषयोंके पराधीन हो जाता है॥ ७॥

कार्यकारणकर्तृत्वे कारणं प्रकृतिं विदुः।
भोक्तृत्वे सुखदुःखानां पुरुषं प्रकृतेः परम्॥ ८॥

हे माता! शरीर, इन्द्रियों तथा उनके अधिष्ठातृ देवताओंके कार्य-कारण-कर्त्तृत्व आदि भाव-प्राप्तिके विषयमें पण्डितजन प्रकृतिको ही कारण बतलाते हैं, (क्योंकि कूटस्थ आत्मामें परमात्माका प्राधान्य

विद्यमान है, इसलिए वह आत्मा निरुपाधिक—स्वतः ही निर्विकार है। प्रकृतिके परिणाम-स्वरूप ही देह आदिमें अहङ्कारके उत्पन्न होनेके कारण प्रकृतिके ही प्राधान्य-वशतः उसीको ही इस कर्त्तत्व आदिके कारणके रूपमें कहा गया है।) किन्तु सुख-दुःख आदिके कर्मफलको भोगनेमें प्रकृतिसे भिन्न पुरुष (जीव) को ही कारण कहा जाता है। (अर्थात् यद्यपि कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों एक ही अहङ्कारके अन्तर्गत हैं, तथापि देहादिके जड़के कार्य होनेके कारण उस कर्त्तृत्वमें प्रकृतिकी प्रधानता विद्यमान है तथा सुख-दुःख आदि भोगक्रिया चैतन्यके बिना सम्भवपर नहीं है, इसलिए भोक्तृत्वमें प्रकृतिसे सम्बन्धयुक्त चैतन्यकी ही प्रधानता है।)॥ ८॥

श्रीदेवहूतिरुवाच—

प्रकृतेः पुरुषस्यापि लक्षणं पुरुषोत्तम।
ब्रूहि कारणयोरस्य सदसच्च यदात्मकम्॥ ९॥

माता देवहूतिने श्रीकपिलदेवसे कहा—हे पुरुषोत्तम! (मैं जीवके संसार एवं संसारके कारण प्रकृतिके विषयमें अवगत हो गयी हूँ, अब मैं जगत्‌के कारण ईश्वर और उनकी प्रकृतिके विषयमें जानना चाहती हूँ।) इस जगत्‌के स्थूल एवं सूक्ष्म कार्य जिनसे सम्पादित होते हैं, उन प्रकृति एवं पुरुषके लक्षण क्या है, उसके विषयमें मुझे बतलाइये॥ ९॥

श्रीभगवानुवाच—

यत्तत् त्रिगुणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम्।
प्रधानं प्रकृतिं प्राहुरविशेषं विशेषवत्॥ १०॥

भगवान् श्रीकपिलदेवने कहा—जो सत्त्वादि तीनों गुणोंकी साम्यावस्था है एवं प्रलयमें भी कारणमात्र रूपमें वर्त्तमान रहनेके कारण जो नित्य है, उसीको पण्डितगण अनभिव्यक्त अर्थात् विशेष रूपमें 'अव्यक्त', महत् आदि विशेषके आश्रय रूपमें 'प्रधान' और कार्य-कारणरूप महत् आदिके अनुगत स्वरूपमें 'प्रकृति'—इन तीन नामोंसे पुकारते हैं॥ १०॥

पञ्चभिः पञ्चभिर्ब्रह्म चतुर्भिर्दशभिस्तथा।
एतच्चतुर्विंशतिकं गणं प्राधानिकं विदुः॥ ११॥

उक्त प्रधानके कार्यस्वरूप पाँच महाभूत, पाँच तन्मात्राएँ, चार अन्तःकरण और दस इन्द्रियाँ—कुल मिलाकर इन चौबीस तत्त्वोंको पण्डितगण उपासनाके लिए प्रधानकार्याधीश ब्रह्मके रूपमें मानते हैं॥ ११ ॥

महाभूतानि पञ्चैव भूरापोऽग्निर्मरुन्नभः।
तन्मात्राणि च तावन्ति गन्धादीनि मतानि मे॥ १२ ॥

भूमि, जल, अग्नि, वायु और आकाश—ये पाँच महाभूत हैं। गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द—ये पाँच तन्मात्राएँ हैं। ये सभी मेरे अभिमतके अनुसार ही विभक्त हुईं हैं॥ १२ ॥

इन्द्रियाणि दश श्रोत्रं त्वग्दृग्रसन–नासिकाः।
वाक्करौ चरणौ मेढ्रं पायुर्दशम उच्यते॥ १३ ॥

चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा, त्वचा एवं वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ—ये दस इन्द्रियाँ कहलाती हैं॥ १३ ॥

मनो बुद्धिरहङ्कारश्चित्तमित्यन्तरात्मकम्।
चतुर्धा लक्ष्यते भेदो वृत्त्या लक्षणरूपया॥ १४ ॥

एक अन्तःकरण ही पुनः संशय, निश्चय, अभिमान एवं स्मरणरूप भिन्न लक्षणों या वृत्तियोंके अनुसार ‘मन’, ‘बुद्धि’, ‘अहङ्कार’ एवं ‘चित्त’—इन चार प्रकारके भेदोंके रूपमें लक्षित होता है॥ १४ ॥

एतावानेव संख्यातो ब्रह्मणः सगुणस्य च।
सन्निवेशो मया प्रोक्तो यः कालः पञ्चविंशकः॥ १५ ॥

हे माता! मैंने ब्रह्मकी जिस बहिरङ्गाशक्तिके परिणाम महत् आदि प्रपञ्चके विषयमें बतलाया है, वही चौबीस तत्त्व ही पण्डितोंके द्वारा चौबीस-संख्याके रूपमें गिने गये है। इसके अतिरिक्त पच्चीसवाँ तत्त्व जो ‘काल’ (अथवा कालस्वरूप पुरुष) है, वह प्रकृतिकी अवस्था विशेष है॥ १५ ॥

प्रभावं पौरुषं प्राहुः कालमेके यतो भयम्।
अहङ्कारविमूढस्य कर्तुः प्रकृतिमीयुषः॥ १६ ॥

कोई-कोई ईश्वरके विक्रमको ही 'काल' कहते हैं। उस कालके प्रभावसे ही प्रकृतिसे प्राप्त देहादिमें 'मैं' और 'मेरा' का अभिमान अहङ्कार-विमूढ़ जीवोंमें भय उत्पन्न कर देता है॥ १६॥

प्रकृतेर्गुणसाम्यस्य निर्विशेषस्य मानवि।
चेष्टा यतः स भगवान् काल इत्युपलक्षितः॥ १७॥

हे मनुपुत्रि देवहूते! पुनः किसी-किसीके मतानुसार जिनसे सत्त्वादि तीनों गुणोंकी साम्यावस्थारूप निर्विशेष प्रकृतिमें क्षोभ उत्पन्न होता है, वे पुरुषावतार ही 'काल' नामसे जाने जाते हैं॥ १७॥

अन्तः पुरुषरूपेण कालरूपेण यो बहिः।
समन्वेत्येष सत्त्वानां भगवानात्ममायया॥ १८॥

जो अपनी योगमाया शक्तिके प्रभावसे समस्त जीवोंके हृदयमें अन्तर्यामी पुरुषके रूपमें और बाहरमें कालके रूपमें भलीभाँति वर्त्तमान हैं, वे ही पच्चीस तत्त्वोंके अधीश्वर पुरुषावतार भगवान् हैं॥ १८॥

दैवात् क्षुभितधर्मिण्यां स्वस्यां योनौ परः पुमान्।
आधत्त वीर्यं सासूत महत्तत्त्वं हिरण्मयम्॥ १९॥

जीवोंके अदृष्टवशतः जिसके सत्त्वादि गुण क्षोभित हुए हैं, उस प्रकृतिकी योनि अर्थात् अभिव्यक्ति-स्थानमें जब परमपुरुष भगवान् चित्-रूप जीवशक्तिका आधान करते हैं, उसीसे ही वह प्रकृति तेजोमय महत्-तत्त्वको प्रसव करती है॥ १९॥

विश्वमात्मगतं व्यञ्जन् कूटस्थो जगदङ्कुरः।
स्वतेजसापिबत् तीव्रमात्मप्रस्वापनं तमः॥ २०॥

उक्त महत्-तत्त्व अत्यन्त तेजोमय है तथा वह लय, विक्षेप आदिसे शून्य जगत्का अङ्कुर-स्वरूप है। वह महत्-तत्त्व ही अपनेमें सूक्ष्मरूपमें अवस्थित अहङ्कार आदि प्रपञ्चको प्रकटित करता है तथा जो घोर तम प्रलयकालमें महत्-तत्त्वको प्रकृतिमें विलीन कर देता है, उसी तमको तेजोमय महत्-तत्त्व अपने प्रभावसे लोप कर देता है॥ २०॥

यत्तत् सत्त्वगुणं स्वच्छं शान्तं भगवतः पदम्।
यदाहुर्वासुदेवाख्यं चित्तं तन्महदात्मकम्॥ २१॥

हे माता! जो चित्त सत्त्वगुणमय, स्वच्छ, रागादिसे रहित और भगवत् उपलब्धिका स्थान है, पण्डितजन उसीको ही 'वासुदेव' के नामसे पुकारते हैं। यह चित्त ही महत्-तत्त्वका स्वरूप है॥ २१॥

स्वच्छत्वमविकारित्वं शान्तत्वमिति चेतसः।
वृत्तिभिर्लक्षणं प्रोक्तं यथापां प्रकृतिः परा॥ २२॥

जिस प्रकार पृथ्वी आदिके संसर्गसे पूर्व अपनी स्वाभाविक अवस्थामें जल मधुर, स्वच्छ एवं शीतल होता है, उसी प्रकार स्वच्छत्व अर्थात् भगवत्-स्वरूपको ग्रहण करनेकी शक्ति, अविकारित्व अर्थात् लय-विक्षेपसे रहित होना एवं शान्तत्व अर्थात् रागादिसे शून्य होना—ये सब वृत्तियाँ चित्तके स्वाभाविक लक्षण हैं॥ २२॥

महत्तत्त्वाद्विकुर्वाणाद्भगवद्वीर्यसम्भवात्।
क्रियाशक्तिरहङ्कारस्त्रिविधः समपद्यत॥ २३॥

वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्च यतो भवः।
मनसश्चेन्द्रियाणाञ्च भूतानां महतामपि॥ २४॥

सहस्रशिरसं साक्षाद् यमनन्तं प्रचक्षते।
सङ्कर्षणाख्यं पुरुषं भूतेन्द्रियमनोमयम्॥ २५॥

भगवान्‌का वीर्य अर्थात् चित्-शक्तिसे उत्पन्न पूर्वोक्त महत्-तत्त्व जब विकारको प्राप्त होता है, तब उससे क्रियाशक्तिसे युक्त अहङ्कार-तत्त्व उत्पन्न होता है। यह अहङ्कार-तत्त्व वैकारिक अर्थात् सात्त्विक, तैजस अर्थात् राजसिक और तामस भेदसे तीन प्रकारका है। इस त्रिविध अहङ्कारसे मन, इन्द्रियों और पञ्चभूतोंकी उत्पत्ति होती है। 'सङ्कर्षण' नामक जिन पुरुषके हजार मस्तक हैं और तत्त्वविद् लोग जिन्हें 'अनन्तदेव' कहते हैं, वे पुरुष ही पञ्चभूत, इन्द्रियों एवं मनके कारण हैं॥ २३-२५॥

कर्तृत्वं करणत्वञ्च कार्यत्वञ्चेति लक्षणम्।
शान्तघोरविमूढत्वमिति वा स्यादहङ्कृतेः॥ २६॥

देवतारूपमें अहङ्कारका कर्तृत्व, इन्द्रियरूपमें कारणत्व और भूतरूपमें कार्यत्व हैं तथा शान्तत्व, घोरत्व एवं विमूढ़त्व रूपी लक्षण कारणरूप सत्त्वादि गुणोंके अनुसार इस अहङ्कारमें दिखायी देते हैं॥ २६॥

वैकारिकाद्विकुर्वाणान्मनस्तत्त्वमजायत ।
यत्सङ्कल्पविकल्पाभ्यां वर्तते कामसम्भवः॥ २७॥

पूर्वोक्त त्रिविध अहङ्कारोंमेंसे वैकारिक अहङ्कारके विकृत होनेपर उससे 'मन' रूपी तत्त्व उत्पन्न हुआ। मनकी ही सङ्कल्प और विकल्प नामक वृत्तियोंसे कामनाओंकी उत्पत्ति होती है॥ २७॥

यद्विदुर्ह्यनिरुद्धाख्यं हृषीकाणामधीश्वरम्।
शारदेन्दीवरश्यामं संराध्यं योगिभिः शनैः॥ २८॥

तत्त्वविद्‌गणोंके अनुसार मन ही इन्द्रियोंका अधीश्वर है और 'अनिरुद्ध' के नामसे विख्यात है। अनिरुद्धदेव शारदीय नीलकमलके समान श्यामल वर्णके हैं। योगीगण धीरे-धीरे मनको वशीभूत करनेमें समर्थ होते हैं॥ २८॥

तैजसात्तु विकुर्वाणाद्बुद्धितत्त्वमभूत् सति।
द्रव्यस्फुरणविज्ञानमिन्द्रियाणामनुग्रहः ॥ २९॥

हे साध्वि! तैजस अहङ्कारके विकृत होनेपर उससे बुद्धि नामक तत्त्वकी उत्पत्ति होती है। द्रव्योंका स्फुरणरूप विज्ञान अर्थात् पदार्थोंका विशेष ज्ञान कराना ही बुद्धि-तत्त्वका स्वरूप है। बुद्धि-तत्त्व इन्द्रियोंका प्रकाशक है॥ २९॥

संशयोऽथ विपर्यासो निश्चयः स्मृतिरेव च।
स्वाप इत्युच्यते बुद्धेर्लक्षणं वृत्तितः पृथक्॥ ३०॥

संशय, मिथ्याज्ञान, निश्चयज्ञान, स्मरण और निद्रा—ये सब पृथक्-पृथक् वृत्तिके भेदसे बुद्धि-तत्त्वके कुछेक लक्षण कहे गये हैं॥ ३०॥

तैजसानीन्द्रियाण्येव क्रियाज्ञानविभागशः।
प्राणस्य हि क्रियाशक्तिर्बुद्धेर्विज्ञानशक्तिता॥ ३१॥

क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्तिके भेदसे इन्द्रियाँ दो प्रकारकी हैं—कर्मेन्द्रिय एवं ज्ञानेन्द्रिय। ये दोनों प्रकारकी इन्द्रियाँ ही तैजस अहङ्कारसे उत्पन्न हुई हैं तथा इनमें 'क्रिया' प्राणकी शक्ति है और 'विज्ञान' बुद्धि की॥ ३१॥

तामसाच्च विकुर्वाणाद्भगवद्वीर्यचोदितात्।
शब्दमात्रमभूत्तस्मान्नभः श्रोत्रन्तु शब्दगम्॥ ३२॥

तामस अहङ्कार कालस्वरूप भगवान्‌के प्रभावसे चालित होकर जब विकृत हुआ, तब उससे शब्द-तन्मात्र उत्पन्न हुआ। उस शब्द-तन्मात्रसे ही आकाशकी उत्पत्ति हुई है। इस शब्दको ग्रहण करनेवाली श्रोत्रेन्द्रिय है॥ ३२॥

अर्थाश्रयत्वं शब्दस्य द्रष्टुर्लिङ्गत्वमेव च।
तन्मात्रत्वञ्च नभसो लक्षणं कवयो विदुः॥ ३३॥

आकाशका जो तन्मात्र अर्थात् सूक्ष्मत्व है, पण्डितजन उसीको ही शब्दका लक्षण कहते हैं। शब्द—अर्थका वाचक और वक्ताका ज्ञापक है॥ ३३॥

भूतानां छिद्रदातृत्वं बहिरन्तरमेव च।
प्राणेन्द्रियात्मधिष्ण्यत्वं नभसो वृत्तिलक्षणम्॥ ३४॥

प्राणियोंको अवकाश (छिद्र) प्रदान करना, सबके बाहर-भीतर वर्त्तमान रहना तथा प्राण, इन्द्रिय और मनका आश्रय होना—ये सब आकाशकी वृत्तियाँ ही उसके लक्षण हैं॥ ३४॥

नभसः शब्दतन्मात्रात् कालगत्या विकुर्वतः।
स्पर्शोऽभवत्ततो वायुस्त्वक् स्पर्शस्य च संग्रहः॥ ३५॥

शब्द तन्मात्ररूप आकाश जब कालकी गतिसे विकारको प्राप्त हुआ, तब उससे स्पर्श-तन्मात्रा उत्पन्न हुई। स्पर्श-तन्मात्रसे पुनः वायुरूप महाभूतकी उत्पत्ति हुई। त्वचासे ही स्पर्शका अनुभव होता है॥ ३५॥

मृदुत्वं कठिनत्वञ्च शैत्यमुष्णत्वमेव च।
एतत् स्पर्शस्य स्पर्शत्वं तन्मात्रत्वं नभस्वतः॥ ३६॥

कोमलता, कठोरता, शीतलता और उष्णता—ये स्पर्शके स्वरूप लक्षण हैं। इस स्पर्शत्वको ही वायु-तन्मात्र कहते हैं॥ ३६॥

चालनं व्यूहनं प्राप्तिर्नेतृत्वं द्रव्यशब्दयोः।
सर्वेन्द्रियाणामात्मत्वं वायोः कर्माभिलक्षणम्॥ ३७॥

वृक्षकी शाखाओंका सञ्चालन, तृणादिका सम्मेलन और संयोजन, गन्धयुक्त द्रव्योंको घ्राणेन्द्रियोंके समीप ले जाना, ठण्डी-गर्म वस्तुओंका त्वचाके साथ एवं शब्दका श्रोतेन्द्रियके साथ संयोग कराना वायुका कार्य है। इसके अतिरिक्त वायु समस्त इन्द्रियोंका सञ्चालन भी करती है॥ ३७॥

वायोश्च स्पर्शतन्मात्राद्रूपं दैवेरितादभूत्।
समुत्थितं ततस्तेजश्चक्षू रूपोपलम्भनम्॥ ३८॥

तदनन्तर दैवकी प्रेरणासे पूर्वोक्त स्पर्श-तन्मात्ररूप वायु जब विकृत हुआ, तब उससे रूप-तन्मात्रकी उत्पत्ति हुई। उससे तेजरूप महाभूत उत्पन्न हुआ। चक्षु-इन्द्रिय ही रूपको ग्रहण करता है॥ ३८॥

द्रव्याकृतित्वं गुणता व्यक्तिसंस्थात्वमेव च।
तेजस्त्वं तेजसः साध्वि रूपमात्रस्य वृत्तयः॥ ३९॥

हे साध्वि! द्रव्यको आकृति प्रदान करना, द्रव्योंकी गुणोंके रूपमें प्रतीति, द्रव्यका जैसा (स्थूल, सूक्ष्म, सरल और वक्र) परिमाण होता है, उसी परिमाणमें ही उसकी प्रतीति (ज्ञान) और तैजस-तत्त्वका असाधारणत्व अर्थात् सूक्ष्मत्व—ये सब रूप-तन्मात्रके लक्षण हैं॥ ३९॥

द्योतनं पचनं पानमदनं हिममर्दनम्।
तेजसो वृत्तयस्त्वेताः शोषणं क्षुत्तृडेव च॥ ४०॥

वस्तुओंको प्रकाशित करना, चावल आदि पकाना, भूख-प्यास उत्पन्न करना और उसकी निवृत्तिके लिए भोजन एवं जलपान करना, सुखाना एवं शीतको दूर करना—ये सब तेजकी वृत्तियाँ हैं॥ ४०॥

रूपमात्राद्विकुर्वाणात् तेजसो दैवचोदितात्।
रसमात्रमभूत्तस्मादम्भो जिह्वा रसग्रहः॥ ४१॥

रूप-तन्मात्रमय तेजके दैवके द्वारा प्रेरित होकर विकारको प्राप्त होनेपर उससे रस-तन्मात्रकी उत्पत्ति हुई। रस-तन्मात्रसे पुनः जलरूप महाभूतकी उत्पत्ति हुई। रसनेन्द्रिय अथवा जिह्वा इस रसको ग्रहण करती है॥ ४१॥

कषायो मधुरस्तिक्तः कट्वम्ल इति नैकधा।
भौतिकानां विकारेण रस एको विभिद्यते॥ ४२॥

यह रस एकमात्र मधुर होनेपर भी अपने सम्पर्कमें आनेवाले भौतिक पदार्थोंके गुण-भेदसे कसैला, मीठा, तीखा, कड़वा, खट्टा और नमकीन आदि बहुत प्रकारसे विभक्त होता है॥ ४२॥

क्लेदनं पिण्डनं तृप्तिः प्राणनाप्यायनोदनम्।
तापापनोदो भूयस्त्वमम्भसो वृत्तयस्त्विमाः॥ ४३॥

गीला करना, मिट्टी आदिको पिण्डाकार बना देना, तृप्त करना, जीवन-रक्षा, प्यासके कारण उत्पन्न दुर्बलताको दूर करना, पदार्थोंको मृदु करना, ताप-निवारण एवं बार-बार निकाले जानेपर भी कूपादिमें पुनः-पुनः प्रकट हो जाना—ये सब जलकी वृत्तियाँ हैं॥ ४३॥

रसमात्राद्विकुर्वाणादम्भसो दैवचोदितात्।
गन्धमात्रमभूत्तस्मात् पृथ्वी घ्राणस्तु गन्धगः॥ ४४॥

रस-तन्मात्ररूप जल कालसे प्रेरित होकर जब विकृत हुआ, तब उससे गन्ध-तन्मात्र उत्पन्न हुआ। इस गन्ध-तन्मात्रसे भूमिरूप महाभूत उत्पन्न हुआ। घ्राणेन्द्रिय (नासिका) ही गन्ध-तन्मात्रको ग्रहण करती है॥ ४४॥

करम्भपूतिसौरभ्य-शान्तोग्राम्लादिभिः पृथक्।
द्रव्यावयववैषम्याद्गन्ध एको विभिद्यते॥ ४५॥

गन्ध एक होकर भी सम्पर्कमें आनेवाले द्रव्योंके भेदके कारण मिश्र-गन्ध, दुर्गन्ध, कर्पूर आदिकी सुगन्ध, कमल आदिकी शान्त गन्ध, लहसुन एवं हींग आदिकी तीव्र गन्ध और इमली आदिकी खट्टीगन्ध—इस प्रकारसे पृथक्-पृथक् भागोंमें विभक्त हो जाती है॥ ४५॥

भावनं ब्रह्मणः स्थानं धारणं सद्विशेषणम्।
सर्वसत्त्वगुणोद्भेदः पृथिवीवृत्तिलक्षणम्॥ ४६॥

परमेश्वरकी प्रतिमाके निर्माणका कारण होना, जल आदिकी अपेक्षा किये बिना ही स्थिति, जलादिका आधार होना, आकाशादिका अवच्छेदक (मलिन, धूल इत्यादि युक्त) होना और परिणाम विशेषसे समस्त प्राणियोंके (स्त्रीत्व, पुरुषत्व आदि) गुणोंको प्रकट करना—ये सब पृथ्वीकी वृत्तियाँ हैं॥ ४६॥

नभोगुणविशेषोऽर्थो यस्य तच्छ्रोत्रमुच्यते।
वायोर्गुणविशेषोऽर्थो यस्य तत् स्पर्शनं विदुः॥ ४७॥

आकाशका विशेष गुण 'शब्द' जिसका विषय है, वही 'श्रोत्र' (कर्ण) के नामसे कथित है। इसी प्रकार वायुका विशेष गुण 'स्पर्श' जिसका विषय है, तत्त्वविद्गण उसे 'त्वचा' कहते हैं॥ ४७॥

तेजोगुणविशेषोऽर्थो यस्य तच्चक्षुरुच्यते।
अम्भोगुणविशेषोऽर्थो यस्य तद्रसनं विदुः।
भूमेर्गुणविशेषोऽर्थो यस्य घ्राण स उच्यते॥ ४८॥

तेजका विशेष गुण 'रूप' जिसका विषय है, उसे चक्षु, जलका विशेष गुण 'रस' जिसका विषय है, उसे 'रसना' (जिह्वा) तथा पृथ्वीका विशेष गुण 'गन्ध' जिसका विषय है, उसे 'घ्राणेन्द्रिय' (नासिका) कहते हैं॥ ४८॥

परस्य दृश्यते धर्मो ह्यपरस्मिन् समन्वयात्।
अतो विशेषो भावानां भूमावेवोपलभ्यते॥ ४९॥

परस्पर सम्बन्धवशतः कारणके विशेष गुण कार्यमें भी देखे जाते हैं। इसीलिए पृथ्वीमें आकाशादि चारों भूतोंके शब्द, स्पर्श, रूप, रस—ये चारों गुण देखे जाते हैं॥ ४९॥

एतान्यसंहत्य यदा महदादीनि सप्त वै।
कालकर्मगुणोपेतो जगदादिरुपाविशत्॥ ५०॥

महत्-तत्त्व, अहङ्कार एवं पञ्चभूत—ये सात तत्त्व जब पृथक् रूपमें अवस्थित थे, तब जगत्के आदिकारण ईश्वर काल, कर्म एवं गुणोंसे युक्त होकर उनके भीतर प्रविष्ट हो गये॥ ५०॥

ततस्तेनानुविद्धेभ्यो युक्तेभ्योऽण्डमचेतनम्।
उत्थितं पुरुषो यस्मादुदतिष्ठदसौ विराट्॥ ५१॥

तदनन्तर भगवान्के प्रवेशके कारण ये समस्त पदार्थ क्षोभित होकर आपसमें मिल गये। तब उनमेंसे एक अचेतन अण्ड उत्पन्न हुआ तथा उस अण्डसे ही विराट् पुरुष प्रादुर्भूत हुए॥ ५१॥

एतदण्डं विशेषाख्यं क्रमवृद्धैर्दशोत्तरैः।
तोयादिभिः परिवृतं प्रधानेनावृतैर्बहिः।
यत्र लोकवितानोऽयं रूपं भगवतो हरेः॥ ५२॥

इस अण्डका नाम 'विशेष' है, उसका बाहरी भाग प्रकृतिके द्वारा आवृत है। उसका भीतरी भाग पृथ्वीसे क्रमशः दस-दस गुणा अधिक जल आदि भूतोंके आवरणोंसे घिरा हुआ है तथा यह अण्ड ही भगवान् श्रीहरिका मायिक स्वरूप है। इसी अण्डमें ही चौदह भुवनोंका विस्तार हुआ है॥ ५२॥

हिरण्मयादण्डकोषादुत्थाय सलिलेशयात्।
तमाविश्य महादेवो बहुधा निर्बिभेद खम्॥ ५३॥

उन विराट् पुरुषने कारणमय जलमें स्थित उस तेजोमय अण्डसे उठकर उदासीनताका परित्याग किया तथा पुनः अण्डमें ही अधिष्ठान कर उसमें बहुत प्रकारके छिद्र-भेद प्रकाशित किये॥ ५३॥

निरभिद्यतास्य प्रथमं मुखं वाणी ततोऽभवत्।
वाण्या वह्निरथो नासे प्राणोतो घ्राण एतयोः॥ ५४॥

सबसे पहले उस अण्डमें मुख उत्पन्न हुआ। उसके बाद वाक्-इन्द्रिय उत्पन्न हुई। तदनन्दर वाक्के साथ उसके अधिष्ठाता अग्नि देवताने उसमें प्रवेश किया। फिर नाकके दो छिद्र उत्पन्न हुए और उन छिद्रोंसे प्राणवायुसे युक्त घ्राणेन्द्रियकी उत्पत्ति हुई॥ ५४॥

घ्राणाद्वायुरभिद्येतामक्षिणी चक्षुरेतयोः।
तस्मात् सूर्यो न्यभिद्येतां,
कर्णौ श्रोत्रं ततो दिशः॥ ५५॥

घ्राणके पश्चात् उसका अधिष्ठाता वायु प्राणोंके साथ संयुक्त होकर प्रकाशित हुआ। उसके बाद दो चक्षुगोलक प्रकटित हुए। तत्पश्चात् चक्षु इन्द्रिय और उसके अधिष्ठाता सूर्य उसमें प्रविष्ट हुए। इसके बाद दो कर्णगोलक और श्रवणेन्द्रिय उत्पन्न हुए। फिर उसमें दिशाओंने देवताके रूपसे प्रवेश किया॥ ५५॥

निर्बिभेद विराजस्त्वग्रोमश्मश्र्वादयस्ततः।
तत औषधयश्चासन् शिश्नं निर्बिभिदे ततः॥ ५६॥

इसके बाद उस विराट् पुरुषकी त्वचा उत्पन्न हुई। उसके बाद रोम, मूँछ-दाढ़ी, सिरके बाल आदि इन्द्रियरूपमें और औषधियाँ देवतारूपमें प्रकाशित हुईं। बादमें उनकी उपस्थेन्द्रिय (लिङ्ग) उत्पन्न हुई॥ ५६॥

रेतस्तस्मादाप आसन् निरभिद्यत वै गुदम्।
गुदादपानोऽपानाच्च मृत्युर्लोकभयङ्करः॥ ५७॥

इस इन्द्रियसे वीर्य उत्पन्न हुआ और उसके बाद लिङ्गके अभिमानी जलदेवता प्रकट हुए। तदनन्तर पायु (गुदा-अधिष्ठान) निकला और पायुसे अपान वायु और अपान इन्द्रियके अभिमानी लोगोंको भयभीत करनेवाले मृत्यु देवता प्रकट हुए॥ ५७॥

हस्तौ च निरभिद्येतां बलं ताभ्यां ततः स्वराट्।
पादौ च निरभिद्येतां गतिस्ताभ्यां ततो हरिः॥ ५८॥

इसके बाद दोनों हाथ प्रकट हुए। इन दोनों हाथोंसे बलशक्ति प्रकाशित हुई। इसके बाद हस्तेन्द्रियके अभिमानी देवता इन्द्र आविर्भूत हुए। इसके बाद दोनों चरण बाहर निकले और उन दोनों चरणोंसे गति-शक्ति उत्पन्न हुई। फिर उसके अभिमानी देवताके रूपमें विष्णु आविर्भूत हुए॥ ५८॥

नाड्योऽस्य निरभिद्यन्त ताभ्यो लोहितमाभृतम्।
नद्यस्ततः समभवन्नुदरं निरभिद्यत॥ ५९॥

तदनन्तर विराट् पुरुषकी नाड़ियाँ उत्पन्न हुईं और समस्त नाड़ियोंसे रक्त सञ्चालक इन्द्रियाँ उत्पन्न हुईं। उस रक्तसे नदियाँ देवतारूपमें प्रकाशित हुईं और क्रमशः उनका उदर प्रकट हुआ॥ ५९॥

क्षुत्पिपासे ततः स्यातां समुद्रस्त्वेतयोरभूत्।
अथास्य हृदयं भिन्नं हृदयान्मन उत्थितम्॥ ६०॥

इसके बाद उनमें भूख और प्यासकी अभिव्यक्ति हुई और उन दोनोंसे उदरका अभिमानी देवता समुद्र उत्पन्न हुआ। फिर विराट् पुरुषका हृदय प्रकटित हुआ और उससे मन उत्पन्न हुआ॥ ६०॥

मनसश्चन्द्रमा जातो बुद्धिर्बुद्धेर्गिरां पतिः।
अहङ्कारस्ततो रुद्रश्चित्तं चैत्यस्ततोऽभवत्॥ ६१॥

मनसे उसका अभिमानी देवता चन्द्रमा तथा हृदयसे बुद्धि, अहङ्कार और चित्त उत्पन्न हुए। बुद्धिसे उसके अभिमानी देवता वाक्पति ब्रह्मा प्रकट हुए, तदनन्तर अहङ्कारसे उसके अभिमानी देवता रुद्र उत्पन्न हुए एवं चित्तसे चित्तके क्षेत्रज्ञ पुरुष वासुदेव आविर्भूत हुए॥ ६१॥

एते ह्यभ्युत्थिता देवा नैवास्योत्थापनेऽशकन्।
पुनराविविशुः खानि तमुत्थापयितुं क्रमात्॥ ६२॥

ये सब देवता उत्पन्न होकर भी विराट् पुरुषको उठानेमें समर्थ नहीं हुए, तब उन्होंने उन्हें उठानेके लिए पुनः अपने-अपने उत्पत्ति-स्थानोंमें यथाक्रमसे प्रवेश किया॥ ६२॥

वह्निर्वाचा मुखं भेजे नोदतिष्ठत्तदा विराट्।
घ्राणेन नासिके वायुर्नोदतिष्ठत्तदा विराट्॥ ६३॥

अग्निने वाक्-इन्द्रियके साथ मुखमें प्रवेश किया, किन्तु उससे भी विराट् पुरुष नहीं उठे। इसके बाद वायुने घ्राणेन्द्रियके साथ नासारन्ध्रोंमें प्रवेश किया, किन्तु उससे भी विराट् पुरुष नहीं उठे॥ ६३॥

अक्षिणी चक्षुषादित्यो नोदतिष्ठत्तदा विराट्।
श्रोत्रेण कर्णौ च दिशो नोदतिष्ठत्तदा विराट्॥ ६४॥

इसके बाद सूर्यने दर्शनेन्द्रियके साथ दोनों चक्षु-रन्ध्रोंमें प्रवेश किया, किन्तु उससे भी विराट् पुरुष नहीं उठे। अनन्तर दिशाओंने श्रवणेन्द्रियके साथ कानोंमें प्रवेश किया, उससे भी विराट् पुरुष नहीं उठे॥ ६४॥

त्वचं रोमभिरोषध्यो नोदतिष्ठत्तदा विराट्।
रेतसा शिश्नमापस्तु नोदतिष्ठत्तदा विराट्॥ ६५॥

औषधियोंने लोमोंके साथ त्वगेन्द्रियमें प्रवेश किया, किन्तु उससे भी विराट् पुरुष नहीं उठे। तत्पश्चात् जलने शुक्रके साथ लिङ्गमें प्रवेश किया, परन्तु उससे भी विराट् पुरुष नहीं उठे॥ ६५॥

गुदं मृत्युरपानेन नोदतिष्ठत्तदा विराट्।
हस्ताविन्द्रो बलेनैव नोदतिष्ठत्तदा विराट्॥ ६६॥

मृत्युने अपान वायुके साथ गुदा-देशमें प्रवेश किया, किन्तु उससे भी विराट् पुरुष नहीं उठे। इन्द्रने बलशक्तिकी इन्द्रियके साथ दोनों हाथोंमें प्रवेश किया, फिर भी विराट् पुरुष नहीं उठे॥ ६६॥

विष्णुर्गत्यैव चरणौ नोदतिष्ठत्तदा विराट्।
नाडीर्नद्यो लोहितेन नोदतिष्ठत्तदा विराट्॥ ६७॥

विष्णुने गति-शक्तिके साथ दोनों चरणोंमें प्रवेश किया, किन्तु उससे भी विराट् पुरुष नहीं उठे। नदियाँ रक्तके साथ नाड़ियोंमें प्रविष्ट हुईं, किन्तु उससे भी विराट् पुरुष नहीं उठे॥ ६७॥

क्षुत्तृड्भ्यामुदरं सिन्धुर्नोदतिष्ठत्तदा विराट्।
हृदयं मनसा चन्द्रो नोदतिष्ठत्तदा विराट्॥ ६८॥

इसके बाद समुद्रने भूख और प्यासके साथ उदरमें प्रवेश किया, किन्तु उससे भी विराट् पुरुष नहीं उठे। बादमें चन्द्र मनके साथ हृदयमें प्रविष्ट हुआ, किन्तु तब भी विराट् पुरुष नहीं उठे॥ ६८॥

बुद्ध्या ब्रह्मापि हृदयं नोदतिष्ठत्तदा विराट्।
रुद्रोऽभिमत्या हृदयं नोदतिष्ठत्तदा विराट्॥ ६९॥

इसके बाद ब्रह्माने बुद्धिके साथ हृदयमें प्रवेश किया, किन्तु उससे भी विराट् पुरुषका उत्थान नहीं हुआ। तब रुद्र अभिमानके साथ पुनः हृदयमें ही प्रविष्ट हुए, किन्तु विराट् पुरुष तब भी नहीं उठे॥ ६९॥

चित्तेन हृदयं चैत्यः क्षेत्रज्ञः प्राविशद्यदा।
विराट् तदैव पुरुषः सलिलादुदतिष्ठत॥ ७०॥

अन्तमें जैसे ही चित्तके अधिष्ठातृ देवता अन्तर्यामी पुरुषने चित्तके साथ हृदयमें प्रवेश किया, उसी समय विराट् पुरुष जलसे उठकर खड़े हो गये॥ ७०॥

यथा प्रसुप्तं पुरुषं प्राणेन्द्रियमनोधियः।
प्रभवन्ति विना येन नोत्थापयितुमोजसा॥ ७१॥

जिस प्रकार प्राण, इन्द्रिय, मन और बुद्धि भी जीवात्माके बिना अपने बलसे सोये हुए मनुष्य आदिकी देहको जगा नहीं सकते, उसी प्रकार अग्नि आदि देवता भी क्षेत्रज्ञ वासुदेवके प्रवेशके बिना विराट् देहको क्रियाशील करनेमें समर्थ नहीं हो सके॥ ७१॥

तमस्मिन् प्रत्यगात्मानं धिया योगप्रवृत्तया।
भक्त्या विरक्त्या ज्ञानेन विविच्यात्मनि चिन्तयेत्॥ ७२॥

अतएव सर्वप्रथम परमेश्वरकी भक्ति, फिर उस भक्तिसे उत्पन्न इतर विषयोंके प्रति विरक्ति और ज्ञान, उससे चित्तका एकाग्र होना और उस एकाग्रतासे जो ज्ञान प्राप्त होता है, उसके द्वारा ही शुद्धान्तःकरणमें भगवत्-स्वरूपका विचारपूर्वक चिन्तन करना चाहिये॥ ७२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां तृतीयस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे श्रीकापिलेये तत्त्वसमाम्नायो नाम षड्विंशोऽध्यायः॥

सप्तविंशोऽध्यायः

भक्ति-मिश्र ज्ञानका साधन और पुरुष-प्रकृतिके विवेकसे मोक्षकी प्राप्तिका वर्णन

श्रीभगवानुवाच—

प्रकृतिस्थोऽपि पुरुषो नाज्यते प्राकृतैर्गुणैः।
अविकारादकर्तृत्वान्निर्गुणत्वाज्जलार्कवत्॥ १॥

भगवान् श्रीकपिलदेवने कहा—हे माता! जलमें प्रतिबिम्बित सूर्यकी किरणें जिस प्रकार जलकी शीतलता और वायुके वेगसे होनेवाले कम्पनसे लिप्त नहीं होतीं, उसी प्रकार शुद्ध-जीवात्मा मनुष्य, देव और पशु-पक्षी आदि देहोंमें स्थित रहनेपर भी स्वभावसे निर्विकार, अकर्त्ता और निर्गुण होनेके कारण सुख-दुःखादि प्राकृत गुणोंसे लिप्त नहीं होता है॥ १॥

स एव यर्हि प्रकृतेर्गुणेष्वभिविसज्जते।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥ २॥

किन्तु वही जीव जब सुख-दुःखादिरूप प्रकृतिके गुणोंमें विशेषरूपसे आसक्त हो जाता है, तभी वह अहङ्कारसे विमूढ़ होकर 'मैं कर्त्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ', इस प्रकारका अभिमान करता है॥ २॥

तेन संसारपदवीमवशोऽभ्येत्यनिर्वृतः।
प्रासङ्गिकैः कर्मदोषैः सदसन्मिश्रयोनिषु॥ ३॥

इसी कर्त्तृत्व अभिमानके कारण जीव विवश होकर प्रकृतिके संसर्गसे उत्पन्न देहोंके द्वारा किये गये पुण्य-पापरूप कर्म-दोषोंसे देवता, मनुष्य और पशु-पक्षी आदि उच्च-नीच बहुत-सी योनियोंमें भ्रमण करता है। इस प्रकार वह कर्मके कारण उत्पन्न सुख-दुःखके उपभोगसे निवृत्त न हो पानेके कारण संसार-चक्रमें ही घूमता रहता है॥ ३॥

अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते।
ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा॥ ४॥

जिस प्रकार स्वप्नावस्थामें असत्य वस्तुएँ भी सत्य प्रतीत होती है, उसी प्रकार विषयोंका चिन्तन करते-करते जीव उसमें इतना आसक्त हो जाता है कि उस अविद्याग्रस्त जीवको अवास्तव वस्तुओंमें वास्तव वस्तुका भ्रम हो जाता है। इसलिए वैसे जीवोंकी संसारसे निवृत्ति नहीं हो पाती॥ ४॥

अतएव शनैश्चित्तं प्रसक्तमसतां पथि।
भक्तियोगेन तीव्रेण विरक्त्या च नयेद्वशम्॥ ५॥

अतएव चित्तके विषयोंकी ओर धावित होनेपर उसे सुदृढ़ भक्तियोग और वैराग्यके द्वारा क्रमशः वशीभूत करना ही उचित है॥ ५॥

यमादिभिर्योगपथैरभ्यसन् श्रद्धयान्वितः।
मयि भावेन सत्येन मत्कथाश्रवणेन च॥ ६॥

सर्वभूतसमत्वेन निर्वैरेणाप्रसङ्गतः।
ब्रह्मचर्येण मौनेन स्वधर्मेण महीयसा॥ ७॥

यदृच्छयोपस्थितेन सन्तुष्टो मितभुङ्मुनिः।
विविक्तशरणः शान्तो मैत्रः करुण आत्मवान्॥ ८॥

सानुबन्धे च देहेऽस्मिन्नकुर्वन्नसदाग्रहम्।
ज्ञानेन दृष्टतत्त्वेन प्रकृतेः पुरुषस्य च॥ ९॥

निवृत्तबुद्ध्यवस्थानो दूरीभूतान्यदर्शनः।
उपलभ्यात्मनात्मानं चक्षुषेवार्कमात्मदृक्॥ १०॥

मुक्तलिङ्गं सदाभासमसति प्रतिपद्यते।
सतो बन्धुमसच्चक्षुः सर्वानुस्यूतमद्वयम्॥ ११॥

भक्तियोग-प्रधान योगमार्गके द्वारा चित्तको पुनः-पुनः एकाग्र करके श्रद्धायुक्त होकर मुझसे निष्कपट प्रेम करनेसे, मेरी कथाओंको सुननेसे, समस्त प्राणियोंके प्रति समदृष्टि रखनेसे, किसीके प्रति वैरभाव न रखनेसे, असत्-सङ्गका परित्याग करनेसे, ब्रह्मचर्यका पालन करनेसे,

वृथा प्रजल्पका परित्याग करनेसे, अव्यक्त मनोवेगको धारण करनेसे, अपने-अपने वर्णाश्रमोचित्त धर्मोंको ईश्वरके प्रति अर्पित कर देनेसे, प्रारब्ध-वश प्राप्त द्रव्योंसे सन्तोष कर लेनेसे, परिमित आहार करनेसे, एकान्तमें वास करनेसे, शान्त-स्वभावसे, सबका हित करनेसे, दयावान होनेसे, धैर्य धारण करनेसे, देहमें अथवा देह सम्बन्धित स्त्री-पुत्रादिमें 'मैं और मेरा' के मिथ्या अभिनिवेशसे रहित होनेसे तथा प्रकृति-पुरुषके यथार्थ तत्त्वज्ञानकी उपलब्धिके द्वारा मुझे प्राप्त किया जा सकता है। ज्ञानवान शुद्ध-चित्कण जीवात्मा भक्तियोगसे पूर्णचैतन्यकी निधि मुझ परमात्माकी उपलब्धि करता है। उस समय उसमें मनका सङ्कल्प-विकल्पादि धर्म तथा भगवान्के अतिरिक्त बाह्य दर्शन नहीं रहता। अतएव जिस प्रकार सूर्यकी किरणोंकी सहायतासे विमल नेत्रोंके द्वारा गगनमें स्थित सूर्यका प्रत्यक्ष दर्शन होता है, उसी प्रकार जाग्रत, स्वप्न आदि बाह्य दर्शनसे रहित शुद्ध-जीवात्मा भक्तिके द्वारा पूर्ण चैतन्यस्वरूप परमात्माका दर्शन करता है। इसके फलस्वरूप वह देह-नामादि उपाधियोंके स्पर्शसे शून्य, अहङ्कारादि मिथ्या वस्तुओंमें सत्-रूपसे भासमान जगत्के कारणरूप प्रधानके अधिष्ठान, महत्-तत्त्वादि कार्योंके प्रकाशक एवं कार्य और कारणादि समस्त वस्तुओंमें व्याप्त परिपूर्ण स्वरूप अद्वयतत्त्व मुझको प्राप्त कर लेता है॥ ६-११॥

यथा जलस्थ आभासः स्थलस्थेनावदृश्यते।
स्वाभासेन यथा सूर्यो जलस्थेन दिवि स्थितः॥ १२॥

एवं त्रिवृदहङ्कारो भूतेन्द्रियमनोमयैः।
स्वाभासैर्लक्षितोऽनेन सदाभासेन सत्यदृक्॥ १३॥

जलमें प्रतिफलित सूर्यका प्रतिबिम्ब जब घरकी भीतरी दीवारपर प्रतिफलित होता है, तो उस घरके कोनेमें बैठा हुआ व्यक्ति जिस प्रकार दीवारपर भासित उस सूर्यके प्रतिबिम्बको लक्ष्य करता हुआ पहले जलमें स्थित सूर्यके प्रतिबिम्बको देखता है और फिर जलमें स्थित प्रतिबिम्बके योगसे जिस प्रकार गगनमें स्थित सूर्यको प्रत्यक्ष देखता है, उसी प्रकार देह, इन्द्रिय एवं मन—इन तीन व्यवधान रहित आत्म-प्रतिबिम्बोंके द्वारा त्रिगुणात्मक अहङ्कारयुक्त जीव-प्रतिबिम्ब

लक्षित होता है और फिर उस जीवात्माके भक्तियुक्त प्रकाशके द्वारा सत्य, ज्ञान एवं आनन्दरूप परमात्मा परिदृष्ट होते हैं॥ १२-१३॥

भूतसूक्ष्मेन्द्रियमनो-बुद्ध्यादिष्विह निद्रया।
लीनेष्वसति यस्तत्र विनिद्रो निरहंक्रियः॥ १४॥

मन्यमानस्तदात्मानमनष्टो नष्टवन्मृषा।
नष्टेऽहङ्करणे द्रष्टा नष्टवित्त इवातुरः॥ १५॥

एवं प्रत्यवमृश्यासावात्मानं प्रतिपद्यते।
साहङ्कारस्य द्रव्यस्य योऽवस्थानमनुग्रहः॥ १६॥

पञ्चभूत, पञ्च तन्मात्राएँ, इन्द्रिय, मन एवं बुद्धि आदिके निद्रावशतः असत् प्रकृतिमें लीन होनेपर उस समय जो जाग्रत और अहङ्कारशून्य होकर अवस्थित रहता है, वह द्रष्टा जीव विनष्ट नहीं होता। किन्तु, उपाधिभूत अहङ्कारके नष्ट होनेपर द्रष्टा जीव भी स्वयंको अकारण ही उसी प्रकार नष्ट मान लेता है, जिस प्रकार धनके नष्ट होनेपर धनवान व्यक्ति अत्यन्त व्याकुल होकर स्वयंको ही नष्ट माननेका अभिमान कर बैठता है। इस प्रकार विशेष रूपसे विचार करके पूर्वोक्त भावयुक्त विवेकी पुरुष कार्य और कारणके प्रकाशक और आश्रय उस परमात्माको प्राप्त होता है॥ १४-१६॥

श्रीदेवहूतिरुवाच—

पुरुषं प्रकृतिर्ब्रह्मन् न विमुञ्चति कर्हिचित्।
अन्योन्यापाश्रयत्वाच्च नित्यत्वाच्चानयोः प्रभो॥ १७॥

माता देवहूतिने कहा—हे प्रभो! हे ब्रह्मन्! प्रकृति कभी भी पुरुषका त्याग नहीं करती, क्योंकि वे एक-दूसरेपर आश्रित हैं और उन दोनोंका परस्पर आश्रय नित्य है॥ १७॥

यथा गन्धस्य भूमेश्च न भावो व्यतिरेकतः।
अपां रसस्य च यथा तथा बुद्धेः परस्य च॥ १८॥

जिस प्रकार पृथ्वी और गन्धमेंसे एकके न रहनेसे दूसरेकी सत्ता नहीं रह सकती तथा जिस प्रकार जल एवं रसका परस्पर सम्बन्ध

नित्य रहता है, उसी प्रकार प्रकृति एवं पुरुषमें एकके अभावमें दूसरेकी सत्ता सम्भव नहीं है॥ १८॥

अकर्तुः कर्मबन्धोऽयं पुरुषस्य यदाश्रयः।
गुणेषु सत्सु प्रकृतेः कैवल्यं तेष्वतः कथम्॥ १९॥

जीव अकर्त्ता होनेपर भी प्रकृतिके जिन गुणोंमें आसक्त होकर स्वयंको कर्त्तारूपमें अभिमान कर कर्मबन्धनको प्राप्त होता है, प्रकृतिके उन गुणोंके विद्यमान रहनेपर जीवकी मुक्ति किस प्रकार सम्भव हो सकती है?॥ १९॥

क्वचित्तत्त्वावमर्शेन निवृत्तं भयमुल्बणम्।
अनिवृत्तनिमित्तत्वात् पुनः प्रत्यवतिष्ठते॥ २०॥

यह सत्य है कि कभी-कभी तत्त्व विचारके द्वारा किसी-किसी पुरुषका अति उग्र संसार-बन्धनका भय दूर हो जाता है, किन्तु उसके कारणके नष्ट नहीं होनेसे वही भय पुनः उत्पन्न हो जाता है॥ २०॥

श्रीभगवानुवाच—

अनिमित्तनिमित्तेन स्वधर्मेणामलात्मना।
तीव्रया मयि भक्त्या च श्रुतसंभृतया चिरम्॥ २१॥

ज्ञानेन दृष्टतत्त्वेन वैराग्येण बलीयसा।
तपोयुक्तेन योगेन तीव्रेणात्मसमाधिना॥ २२॥

प्रकृतिः पुरुषस्येह दह्यमाना त्वहर्निशम्।
तिरोभवित्री शनकैरग्नेर्योनिरिवारणिः॥ २३॥

भगवान् श्रीकपिलदेवने कहा—हे माता! निर्मल मनके द्वारा कर्मफलकी कामनासे रहित होकर निष्काम रूपसे स्वधर्मका पालन करनेसे, मेरी कथाओंके श्रवणसे परिवर्द्धित मेरे प्रति सुदृढ़ भक्तियोगसे, तत्त्व प्रदर्शक ज्ञानसे, कठोर वैराग्यसे, तपस्यायुक्त योग एवं चित्तकी दृढ़ एकाग्रतासे पुरुषकी प्रकृति (अर्थात् उसका अविद्या जनित लिङ्गशरीर) दिन-रात दग्ध होता रहता है। अतएव जिस प्रकार अग्नि अपने उत्पत्ति-स्थान लकड़ीसे उत्पन्न होकर लकड़ीको ही दग्ध कर

डालती है, उसी प्रकारसे ही पुरुषकी प्रकृति अर्थात् लिङ्गशरीर क्रमशः विलुप्त हो जाता है॥ २१-२३॥

भुक्तभोगा परित्यक्ता दृष्टदोषा च नित्यशः।
नेश्वरस्याशुभं धत्ते स्वे महिम्नि स्थितस्य च॥ २४॥

तब पुरुष प्रकृति अर्थात् लिङ्गदेह द्वारा (स्वर्ग, नरकादि बहुत प्रकारसे) भोग करना समाप्त हो गया है—ऐसा जानकर निरन्तर उस प्रकृति (लिङ्गदेह) के विविध दोषोंको देखता हुआ उसका परित्याग कर देता है। उस समय वह परित्यक्त प्रकृति नित्यानन्दको प्राप्त पुरुषके लिए पुनः अशुभ (संसार-भय) उत्पन्न नहीं कर सकती॥ २४॥

यथा ह्यप्रतिबुद्धस्य प्रस्वापो बह्वनर्थभृत्।
स एव प्रतिबुद्धस्य न विमोहाय कल्पते॥ २५॥

जिस समय पुरुष (जीव) सोया रहता है, केवल उसी समय ही स्वप्नमें देखे गये अनर्थ उसे महान् भय दिखलाते हैं। किन्तु जब वही निद्रित पुरुष जाग जाता है, तब पूर्वोक्त अनर्थ यद्यपि संस्कारवशतः उसके स्मृतिपथपर आते भी हैं, तथापि वे उसे विमोहित नहीं कर पाते॥ २५॥

एवं विदिततत्त्वस्य प्रकृतिर्मयि मानसम्।
युञ्जतो नापकुरुत आत्मारामस्य कर्हिचित्॥ २६॥

उसी प्रकार जो व्यक्ति भगवान्, जीव और मायाके परस्पर सम्बन्ध-तत्त्वको जानकर तथा मुझमें अपने चित्तको लगाकर आत्माराम हो जाता है, प्रकृति कभी भी उसका अपकार करनेमें समर्थ नहीं हो पाती॥ २६॥

यदैवमध्यात्मरतः कालेन बहुजन्मना।
सर्वत्र जातवैराग्य आ-ब्रह्मभुवनान्मुनिः॥ २७॥

मद्भक्तः प्रतिबुद्धार्थो मत्प्रसादेन भूयसा।
निःश्रेयसं स्वसंस्थानं कैवल्याख्यं मदाश्रयम्॥ २८॥

प्राप्नोतीहाञ्जसा धीरः स्वदृशाच्छिन्नसंशयः।
यद्गत्वा न निवर्तेत योगी लिङ्गाविनिर्गमे॥ २९॥

इस प्रकार पुरुष बहुत-से जन्मोंमें बहुत-सी योनियोंमें भ्रमण करता हुआ जिस समय भगवत्-आश्रित होकर ब्रह्मलोक तक समस्त प्रकारके भोगोंसे वैराग्य प्राप्त कर लेता है, तब वह मननशील भक्त मेरे प्रति प्रीतिके साथ मेरे भक्तियोगसे युक्त होकर मेरी यथेष्ट कृपाके प्रभावसे आत्मतत्त्वको जान पाता है, और फिर उसी जन्ममें ही अतिशीघ्र मेरे ही आश्रयभूत देहादिसे भिन्न स्वरूप, अत्यधिक आनन्दमय, नित्यानन्द नामक ब्रह्म-स्वरूपको प्राप्त कर लेता है। इस स्थितिमें आत्म-ज्ञान होनेके कारण उसके समस्त संशय छिन्न हो जाते हैं और लिङ्गशरीरके नाश होनेपर वह उस मङ्गलमय स्थानको जाता है, जहाँसे कभी जीवका पुनरागमन नहीं होता॥ २७-२९॥

यदा न योगोपचितासु चेतो
मायासु सिद्धस्य विषज्जतेऽङ्ग।
अनन्यहेतुष्वथ मे गतिः स्या-
दात्यन्तिकी यत्र न मृत्युहासः॥ ३०॥

हे माता! ऐसी अवस्थाको प्राप्त करनेवाले पुरुषका चित्त योग-साधनसे समृद्ध अणिमादि योग-सिद्धियोंमें आसक्त नहीं होता, अपितु एकमात्र मुझमें ही सम्पूर्ण रूपसे लग जाता है, अतः उस समय वह पुरुष मुझसे सम्बन्धित आत्यन्तिकी गति अर्थात् मुक्तिको प्राप्त होता है। इस गतिके प्राप्त होनेपर पुरुष फिर मृत्युका हास्यास्पद पात्र नहीं बनता अर्थात् वह जन्म-मृत्युरूप आवागमनसे मुक्त हो जाता है॥ ३०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां तृतीयस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे श्रीकापिलेये प्रकृति-विवेको नाम सप्तविंशोऽध्यायः॥

अष्टाविंशोऽध्यायः

भक्ति-मिश्रित अष्टाङ्गयोगका वर्णन

श्रीभगवानुवाच—

योगस्य लक्षणं वक्ष्ये सबीजस्य नृपात्मजे।
मनो येनैव विधिना प्रसन्नं याति सत्पथम्॥ १॥

भगवान् श्रीकपिलदेवने कहा—हे मनुराजपुत्रि! अब मैं सबीज अर्थात् भगवत्-स्वरूपका सहारा लेकर किये जानेवाले योगके लक्षणोंका वर्णन करूँगा, आप श्रवण कीजिये। इस योगविधिके द्वारा मन प्रसन्न होकर सत्पथ (भगवत्-पथ) की ओर लगता है॥ १॥

स्वधर्माचरणं शक्त्या विधर्माच्च निवर्तनम्।
दैवाल्लब्धेन सन्तोष आत्मविच्चरणार्चनम्॥ २॥

ग्राम्यधर्मनिवृत्तिश्च मोक्षधर्मरतिस्तथा।
मितमेध्यादनं शश्वद्विविक्तक्षेमसेवनम्॥ ३॥

अहिंसा सत्यमस्तेयं यावदर्थपरिग्रहः।
ब्रह्मचर्यं तपः शौचं स्वाध्यायः पुरुषार्चनम्॥ ४॥

मौनं सदासनजयः स्थैर्यं प्राणजयः शनैः।
प्रत्याहारश्चेन्द्रियाणां विषयान्मनसा हृदि॥ ५॥

स्वधिष्ण्यानामेकदेशे मनसा प्राणधारणम्।
वैकुण्ठलीलाभिध्यानं समाधानं तथात्मनः॥ ६॥

एतैरन्यैश्च पथिभिर्मनो दुष्टमसत्पथम्।
बुद्ध्या युञ्जीत शनकैर्जितप्राणो ह्यतन्द्रितः॥ ७॥

यथाशक्ति स्वधर्मका आचरण, शास्त्र-विरुद्ध विधर्मोंका त्याग, प्रारब्धके अनुसार प्राप्त द्रव्योंसे सन्तोष, भगवत्-तत्त्वविद् भक्तोंकी चरणसेवा, धर्म-अर्थ-काम इस त्रैवर्गिक ग्राम्य अर्थात् विषयधर्मसे निवृत्ति, संसार-बन्धनको छुड़ानेवाले मोक्ष धर्ममें रति, परिमित एवं

पवित्र (भगवदर्पित) द्रव्योंका भक्षण, निरन्तर निर्जन और उपद्रव रहित स्थानपर रहकर हरिभजन, अहिंसा, सत्य, चोरी न करना, आवश्यकतानुसार वस्तुओंका संग्रह, ब्रह्मचर्य, तपस्या, बाह्य एवं आन्तरिक शुद्धि, वेदोंका अध्ययन, भगवान्‌का अर्चन, भगवत्-कथाके अतिरिक्त वृथा-प्रजल्पका परित्याग, आसनको जीतकर स्थिरभावसे बैठना, मनको इन्द्रियोंके विषयोंसे हटाकर हृदयमें स्थापन, मनके साथ प्राणोंको मूलाधारादि स्वाधिष्ठानके किसी एक देशमें केन्द्रीकरण, अधोक्षज श्रीहरिकी लीलाओंका श्रवण, कीर्त्तन एवं स्मरण, मनके सङ्कल्प एवं विकल्पोंको दूर करके आत्माभिन्न स्वरूपमें परिणत कर देना, श्वासको जीतना एवं आलस्य रहित होकर पूर्वोक्त इन सभी उपायों एवं इनके अतिरिक्त शास्त्रोंमें बतलाये गये अन्यान्य उपायोंके द्वारा कुमार्गगामी, चञ्चल मनको बुद्धिके द्वारा धीरे-धीरे एकाग्रतापूर्वक परमात्माके ध्यानमें लगाएँ॥ २-७॥

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य विजितासन आसनम्।
तस्मिन् स्वस्तिकमासीन ऋजुकायः समभ्यसेत्॥ ८॥

इसके बाद आसनको जीतकर पवित्र स्थानपर कुश और मृगचर्म आदिसे युक्त आसनको बिछाकर शरीरको सरल-सीधा रखते हुए सुखपूर्वक बैठकर प्राणोंके संयमका अभ्यास करे॥ ८॥

प्राणस्य शोधयेन्मार्गं पूरकुम्भकरेचकैः।
प्रतिकूलेन वा चित्तं यथा स्थिरमचञ्चलम्॥ ९॥

पूरक, कुम्भक और रेचक एवं प्रतिलोमके क्रमसे रेचक, कुम्भक और पूरक द्वारा प्राणवायुकी गमनागमनके पथका इस प्रकारसे शोधन करे, जिससे चित्त स्थिर होकर पुनः चञ्चल न हो॥ ९॥

मनोऽचिरात् स्याद्विरजं जितश्वासस्य योगिनः।
वाय्वग्निभ्यां यथा लौहं ध्मातं त्यजति वै मलम्॥ १०॥

जिस प्रकार वायु और अग्निसे तपाया हुआ सोना अपनी मलिनताका परित्याग कर देता है, उसी प्रकार प्राणवायुको जीतनेवाले योगीका चित्त शीघ्र ही निर्मल हो जाता है॥ १०॥

प्राणायामैर्दहेद्दोषान् धारणाभिश्च किल्बिषान्।
प्रत्याहारेण संसर्गान् ध्यानेनानीश्वरान् गुणान्॥ ११॥

साधकको प्राणायामके द्वारा वात और पित्त आदिके दोषोंको, धारणादिके द्वारा पापोंको, प्रत्याहारके द्वारा विषय-संसर्गसे उत्पन्न दोषोंको एवं ध्यानके द्वारा रागादि दोषोंको दग्ध करना चाहिये॥ ११॥

यदा मनः सूविरजं योगेन सुसमाहितम्।
काष्ठां भगवतो ध्यायेत् स्वनासाग्रावलोकनः॥ १२॥

इस प्रकार जब योगाभ्यासके द्वारा मन भलीभाँति निर्मल और एकाग्र हो जाये, तब अपनी नासिकाके अग्रभागकी ओर देखते हुए भगवान् श्रीहरिकी श्रीमूर्त्तिका इस प्रकारसे ध्यान करे॥ १२॥

प्रसन्नवदनाम्भेजं पद्मगर्भारुणेक्षणम्।
नीलोत्पलदलश्यामं शङ्खचक्रगदाधरम्॥ १३॥

लसत्पङ्कजकिञ्जल्क-पीतकौशेयवाससम् ।
श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत्कौस्तुभामुक्तकन्धरम्॥ १४॥

मत्तद्विरेफकलया परीतं वनमालया।
परार्द्ध्यहारवलय-किरीटाङ्गदनूपुरम् ॥ १५॥

काञ्चीगुणोल्लसच्छ्रोणिं हृदयाम्भोजविष्टरम्।
दर्शनीयतमं शान्तं मनोनयनवर्द्धनम्॥ १६॥

अपीव्यदर्शनं शश्वत् सर्वलोकनमस्कृतम्।
सन्तं वयसि कैशोरे भृत्यानुग्रहकातरम्॥ १७॥

कीर्तन्य-तीर्थयशसं पुण्यश्लोकयशस्करम्।
ध्यायेदेवं समग्राङ्गं यावन्न च्यवते मनः॥ १८॥

श्रीहरिका मुखारविन्द आनन्दसे सुप्रसन्न है, नयन कमलके कोशके समान अरुण वर्णके हैं, अङ्ग नीले रङ्गके कमलके समान श्यामवर्णका है, उनके हाथोंमें शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म सुशोभित हैं, कटि-देशमें कमलके केसरके समान पीतवर्णका रेशमी वस्त्र शोभा पा रहा है, वक्षःस्थलपर श्रीवत्सका चिह्न विराजमान है, कण्ठमें दीप्तिशाली कौस्तुभमणि विराजित है। उनके गलेमें स्थित वनमाला उनके

चरणोंतक लटकी हुई है और जिसकी सुगन्धसे मत्त मधुकर चारों दिशाओंमें मधुर गुञ्जार कर रहे हैं। बहुमूल्य हार, वलय, किरीट, अङ्गद एवं नूपुरोंके द्वारा उनके अङ्ग-प्रत्यङ्ग अनुपम शोभा धारण कर रहे हैं। उनकी कमरमें मेखला अद्भुत शोभाका विस्तार करती हुई झुम रही है, वे अपने भक्तोंके हृदयरूपी कमलासनपर विराजमान हैं, उनके समान सुन्दर और दर्शनीय वस्तु दूसरी कोई नहीं है। वे प्रशान्त-विग्रह हैं, दर्शकोंके चित्त एवं नेत्रोंके आनन्दको बढ़ानेवाले हैं, उनकी अतीव सुन्दर झाँकी है, वे समस्त लोकोंके आराध्य हैं, नव-किशोर हैं, निजजनोंके प्रति कृपा-वितरणके लिए सदा लालायित रहते हैं, उनका यश पवित्र और एकमात्र कीर्त्तनीय है तथा वे ही बलि आदि प्रमुख यशस्वी जनोंके यशकी वृद्धि करनेवाले हैं। इस प्रकार सर्वाङ्ग-सुन्दर भगवान्‌के दर्शनसे जब तक चित्त हट न जाये, तब तक ध्यान करे॥ १३-१८॥

स्थितं व्रजन्तमासीनं शयानं वा गुहाशयम्।
प्रेक्षणीयेहितं ध्यायेच्छुद्धभावेन चेतसा॥ १९॥

हे माते! यह भगवत्-मूर्त्ति प्रत्येक जीवके हृदयमें अन्तर्यामी रूपसे अवस्थित है तथा उनकी लीलाएँ अपूर्व-दर्शनीय हैं। शुद्धभावयुक्त चित्तमें किसी विशेष स्थानपर अवस्थित अथवा गमनशील या शयन करती हुई अवस्थामें विराजित इस मूर्त्तिका ध्यान करें॥ १९॥

तस्मिँल्लब्धपदं चित्तं सर्वावयवसंस्थितम्।
विलक्ष्यैकत्र संयुञ्ज्यादङ्गे भगवतो मुनिः॥ २०॥

जब यह अनुभव हो जाये कि भगवत्-मूर्त्तिके सर्वाङ्गमें चित्त भलीभाँति स्थिर हो गया है, तब भक्तियोगीको अपने चित्तको श्रीभगवान्‌के एक-एक अङ्गमें लगाना चाहिये॥ २०॥

सञ्चिन्तयेद्भगवतश्चरणारविन्दं
वज्राङ्कुशध्वजसरोरुह-लाञ्छनाढ्यम्।
उत्तुङ्गरक्तविलसन्नखचक्रवाल-
ज्योत्स्नाभिराहत-महद्धृदयान्धकारम्॥ २१॥

सर्वप्रथम ध्वज, वज्र, अङ्कुश एवं पद्मके मङ्गलमय चिह्नोंसे युक्त श्रीहरिके चरणकमलोंका भलीभाँति ध्यान करे। जो व्यक्ति इस प्रकारसे भावना करता है, श्रीहरिके उभरे हुए लाल-लाल शोभामय नखरूप चन्द्रमण्डलकी किरणोंकी छटासे उसके हृदयका भीषण अन्धकार दूर हो जाता है॥ २१॥

यच्छौचनिःसृत-सरित्प्रवरोदकेन
तीर्थेन मूर्ध्न्यधिकृतेन शिवः शिवोऽभूत्।
ध्यातुर्मनःशमलशैलनिसृष्टवज्रं
ध्यायेच्चिरं भगवतश्चरणारविन्दम्॥ २२॥

जिन चरणकमलोंके धौत जलसे उत्पन्न नदियोंमें श्रेष्ठ—भगवती गङ्गाके पवित्र जलको सिरपर धारण करके शिव भी शिवस्वरूप अर्थात् मङ्गलमय हुए हैं, जो व्यक्ति उन चरणारविन्दोंका ध्यान करता है, (पाप-रूप) पर्वतोंपर वज्र-निक्षेपके समान उसके मनका समस्त कल्मष ध्वंस हो जाता है। अतएव भगवान्‌के उन चरणारविन्दोंका सर्वदा ध्यान करे॥ २२॥

जानुद्वयं जलजलोचनया जनन्या
लक्ष्म्याखिलस्य सुरवन्दितया विधातुः।
ऊर्वोर्निधाय करपल्लवरोचिषा यत्
संलालितं हृदि विभोरभवस्य कुर्यात्॥ २३॥

ऊरू सुपर्णभुजयोरधिशोभमाना-
वोजोनिधी अतसिकाकुसुमावभासौ।
व्यालम्बिपीतवरवाससि वर्तमान-
काञ्चीकलापपरिरम्भि नितम्बबिम्बम्॥ २४॥

सम्पूर्ण जगत्‌के सृष्टिकर्त्ता ब्रह्माजीकी माता तथा देवताओं द्वारा वन्दनीय कमललोचना लक्ष्मीदेवी श्रीनारायणकी श्रेष्ठ पिण्डलियोंको अपनी जंघाओंपर संस्थापित करके अरुण एवं पीत वर्णकी कान्तिसे सुशोभित अपने सुन्दर कर-पल्लवों द्वारा उनकी सेवा करती हैं। श्रीहरिके चरण-चिन्तनके बाद भक्तियोगी उनकी पिण्डलियोंका ध्यान करे। इसी प्रकार भक्तियोगी गरुड़के स्कन्धके ऊपर शोभायमान, बलके

निधिस्वरूप, अतसी (अलसी) के पुष्पके समान नीली कान्तिसे युक्त प्रकाशमान भगवान्‌की जंघाओंका ध्यान करे। तदनन्तर एड़ियों तक लटके हुए पीताम्बरसे वेष्टित एवं लड़ियों और सुवर्णमयी मेखलासे बँधे हुए उनके नितम्ब-देशकी भावना करे॥ २३-२४॥

नाभिह्रदं भुवनकोशगुहोदरस्थं
यत्रात्मयोनिधिषणाखिललोकपद्मम् ।
व्यूढं हरिन्मणिवृषस्तनयोरमुष्य
ध्यायेद्द्वयं विशदहारमयूखगौरम्॥ २५॥

इसके बाद भगवान्‌के उदरमें भुवनोंका अधिष्ठानस्वरूप जो उनका नाभिह्रद है तथा जिससे आत्मयोनि ब्रह्माजीका आधारभूत अखिललोकात्मक पद्म प्रादुर्भूत हुआ, उस नाभिह्रदका चिन्तन करे। इसके बाद उत्कृष्ट मरकत मणि द्वारा अलंकृत निर्मल एवं उज्ज्वल हारोंकी किरणोंसे शुभ्र-वर्णके जान पड़ते उनके स्तनोंकी भावना करे॥ २५॥

वक्षोऽधिवासमृषभस्य महाविभूतेः
पुंसां मनोनयननिर्वृतिमादधानम्।
कण्ठञ्च कौस्तुभमणेरधिभूषणार्थं
कुर्यान्मनस्यखिललोकनमस्कृतस्य ॥ २६॥

तदुपरान्त भगवान्‌के वक्षःस्थलका चिन्तन करे जो ध्यानकारीके चित्त और नेत्रोंके आनन्दको बढ़ानेवाले तथा ब्रह्मादि अखिल लोकोंके द्वारा नमस्कृत महालक्ष्मीका आवासस्थल हैं। फिर भगवान्‌के उस कण्ठदेशका हृदयमें ध्यान करे, जहाँ आभूषणके रूपमें धारण की हुई कौस्तुभमणि विराजित होकर अधिक शोभा पाती है॥ २६॥

बाहूंश्च मन्दरगिरेः परिवर्तनेन
निर्णिक्तबाहुवलयानधिलोकपालान् ।
सञ्चिन्तयेद्दशशतारमसह्यतेजः
शङ्खञ्च तत्करसरोरुहराजहंसम्॥ २७॥

इसके बाद समस्त लोकपालकोंकी आश्रयस्वरूप श्रीभगवान्‌की चारों भुजाओंका भलीभाँति ध्यान करे। समुद्रमन्थनके समय मन्दर नामक

पर्वतकी रगड़के कारण इन चारों भुजाओंके वलय एवं अङ्गद आदि अतिशय उज्ज्वल हो गये हैं। उसी प्रकार जिसका तेज दुःसह है, उस सहस्र धारसे युक्त वेगवान सुदर्शनचक्रका और भगवान्‌के करकमलमें स्थित राजहंसके समान श्वेतवर्णके शङ्खकी भावना करे॥ २७॥

कौमोदकीं भगवतो दयितां स्मरेत
दिग्धामरातिभटशोणितकर्दमेन ।
मालां मधुव्रतवरूथगिरोपघुष्टां
चैत्यस्य तत्त्वममलं मणिमस्य कण्ठे॥ २८॥

तत्पश्चात् शत्रुओंके रुधिरसे सनी हुई भगवान्‌की प्रिय कौमुदकी गदाका, मधुकरोंके स्तुतिरूपी गुञ्जारसे गुञ्जायमान वनमालाका तथा भगवान्‌के कण्ठमें स्थित जीवतत्त्व-स्वरूप निर्मल कौस्तुभमणिका भी ध्यान करे॥ २८॥

भृत्यानुकम्पितधियेह गृहीतमूर्तेः
सञ्चिन्तयेद्भगवतो वदनारविन्दम्।
यद्विस्फुरन्मकरकुण्डलवल्गितेन
विद्योतितामल-कपोलमुदारनासम् ॥ २९॥

श्रीभगवान् जीवोंपर अनुकम्पा करनेकी इच्छासे अपने नित्य-स्वरूप श्रीविग्रहको प्रपञ्चमें प्रकट करते हैं। भक्तियोगी उन्हीं भक्तवाञ्छा-कल्पतरु श्रीहरिके मुख-कमलकी भलीभाँति भावना करे। अहा! श्रीहरिका मुखकमल उन्नत नासिका तथा अत्यन्त दीप्तिमान मकराकृति कुण्डलोंके सञ्चालनसे अति उज्ज्वल हुए सुकोमल गण्डस्थलसे युक्त होकर कैसी अपूर्व शोभा पा रहा है॥ २९॥

यच्छ्रीनिकेतमलिभिः परिसेव्यमाणं
भूत्या स्वया कुटिलकुन्तलवृन्दजुष्टम्।
मीनद्वयाश्रयमधिक्षिपदब्जनेत्रं
ध्यायेन्मनोमयमतन्द्रित उल्लसद्भ्रु॥ ३०॥

समस्त सौन्दर्यका मूल, काली घुँघराली अलकावलियोंसे मण्डित, पद्मपलाशलोचन और क्रीड़ाशील भौओंसे सुशोभित अपनी विभूतिके

द्वारा प्रकाशित, भ्रमरोंसे परिसेवित, मीननिन्दित नेत्रयुगलसे सुशोभित श्रीभगवान्‌के मनोहर श्रीमुखकमलका आलस्य त्याग करके एकाग्रताके साथ ध्यान करे॥ ३०॥

तस्यावलोकमधिकं कृपयातिघोर-
तापत्रयोपशमनाय निसृष्टमक्ष्णोः।
स्निग्धस्मितानुगुणितं विपुलप्रसादं
ध्यायेच्चिरं विततभावनया गुहायाम्॥ ३१॥

श्रीभगवान् अपनी आन्तरिक कृपावशतः सुस्निग्ध मुसकानके साथ जो स्नेह दृष्टि निक्षेप करते हैं, वह घोरतर तीनों तापोंका नाश करनेमें समर्थ है। अतः भक्तियोगी अपनी हृदय-गुफामें विपुल प्रसन्नतासे परिपूर्ण उनके ऐसे चक्षुओंकी चितवनका एकाग्रचित्त होकर सतत ध्यान करे॥ ३१॥

हासं हरेरवनताखिललोकतीव्र-
शोकाश्रुसागर-विशोषणमत्युदारम् ।
सम्मोहनाय रचितं निजमाययास्य
भ्रूमण्डलं मुनिकृते मकरध्वजस्य॥ ३२॥

तदनन्तर श्रीहरिके अतीव मनोरम उस हास्यका चिन्तन करे, जो समस्त शरणागत भक्तोंके तीव्र विप्रलम्भात्मक शोकसे उत्पन्न अश्रु-सागरको सुखानेमें समर्थ है और जो अत्यन्त आनन्दप्रद है। मुनियोंके उपकारके लिए तथा कामदेवके दर्पको खर्व करनेके लिए भगवान्‌ने अपनी निजमायासे जिस भ्रू-युगलकी रचना की थी, भक्तियोगी उसकी भी भावना करे॥ ३२॥

ध्यानायनं प्रहसितं बहुलाधरौष्ठ-
भासारुणायिततनुद्विजकुन्दपङ्क्ति ।
ध्यायेत् स्वदेहकुहरेऽवसितस्य विष्णो-
र्भक्त्यार्द्रयार्पितमना न पृथग्दिदृक्षेत्॥ ३३॥

इसके बाद श्रीहरिके उच्च हास्यका ध्यान करे। उनका यह उच्च हास्य अतिशय मनोरम और बिना प्रयत्नके ही ध्यानका विषय है।

हँसते समय भगवान्‌के अरुणवर्णके अधरोष्ठकी लालिमामयी कान्ति द्वारा कुन्द-पुष्पकी कलीके समान उनकी शुभ्र एवं सूक्ष्म दन्तराजि दीप्तिशाली होकर शोभा पाती है। जब भक्तियोगी इस प्रकारकी भावनाके द्वारा भगवान्‌को हृदयमें प्रत्यक्ष देखे, उस समय प्रेमरससे आप्लावित भक्ति बलसे चित्तको उनमें अर्पितकर भगवत्-स्वरूप-विग्रहके अतिरिक्त अन्य किसीको देखनेकी इच्छा न करे॥ ३३॥

एवं हरौ भगवति प्रतिलब्धभावो
भक्त्या द्रवद्‌धृदय उत्पुलकः प्रमोदात्।
औत्कण्ठ्यबाष्पकलया मुहुरर्द्यमान-
स्तच्चापि चित्तबडिशं शनकैर्वियुङ्क्ते॥ ३४॥

इस प्रकार ध्यानाभ्यासके द्वारा जब भगवान् श्रीहरिमें साधकका भाव उदय होता है, तब उसका चित्त भक्तिरससे द्रवीभूत हो उठता है, अतिशय आनन्दके कारण उसके अङ्गोंमें रोमाञ्च होने लगता है और उत्सुकतासे उदित आनन्दाश्रुओंसे वह बार-बार आनन्द-सागरमें निमज्जित होता रहता है। उस समय उसकी योगमिश्राभक्ति शुद्धभक्तिमें पर्यवसित होनेके कारण उसका चित्तरूपी बड़िश (मछली पकड़नेका काँटा) शुद्धभक्तिके प्रभावसे योगके साधन स्वरूप ध्यान आदि क्रियाओंका परित्यागकर वैसे ध्येय वस्तुके योग या कैवल्यसे क्रमशः मुक्त हो जाता है॥ ३४॥

मुक्ताश्रयं यर्हि निर्विषयं विरक्तं
निर्वाणमृच्छति मनः सहसा यथार्चिः।
आत्मानमत्र पुरुषोऽव्यवधानमेक-
मन्वीक्षते प्रतिनिवृत्तगुणप्रवाहः॥ ३५॥

जिस समय चित्त शब्द आदि विषयोंसे रहित होकर नित्यमुक्त भगवत्-विषयोंका ही आश्रय लेता है और अन्यान्य जड़-विषयोंसे विरक्त हो जाता है, तब जैसे तेल आदिके समाप्त हो जानेपर दीपशिखा स्वयं ही बुझ जाती है, वैसे ही चित्त भी इन्द्रियोंके विषयोंके ग्रहणरूप प्रवाहसे मुक्त होकर अपने चिन्मय स्वरूपके अनुभवके कारण स्थूल और सूक्ष्म शरीरका समस्त अभिमान त्याग देता है तथा वह

व्यक्ति व्यवधान-रहित होकर अखण्ड अद्वय-परमात्माको प्रत्यक्ष देखता है॥ ३५॥

सोऽप्येतया चरमया मनसो निवृत्त्या
तस्मिन् महिम्न्यवसितः सुखदुःखबाह्ये।
हेतुत्वमप्यसति कर्तरि दुःखयोर्यत्
स्वात्मन् विधत्त उपलब्धपरात्मकाष्ठः॥ ३६॥

उस समय वह योगी पुरुष पूर्वोक्त अविद्यारहित चितमें चरम निवृत्तिरूप वृत्तिके द्वारा सुख-दुःखातीत ब्रह्म-स्वरूपकी महिमामें निष्ठा प्राप्त करता है। इससे पूर्व आत्माका जो सुख-दुःखके भोक्तृत्वका अभिमान था, अब वह योगी उसे अविद्याकृत अहङ्कारके रूपमें दर्शन करता है, क्योंकि अब वह आत्मतत्त्वसे परिचित हो चुका होता है॥ ३६॥

देहञ्च तं न चरमः स्थितमुत्थितं वा
सिद्धो विपश्यति यतोऽध्यगमत् स्वरूपम्।
दैवादपेतमुत दैववशादुपेतं
वासो यथा परिहृतं मदिरामदान्धः॥ ३७॥

इस चरमस्थितिको प्राप्त जीवन्मुक्त सिद्ध-पुरुषोंका देह—आसनपर आसीन रहे, अथवा वहाँसे उठ खड़ा हो, अथवा उठकर भी उसी स्थानपर ही रहे, अथवा वहाँसे अन्यत्र चला जाये, अथवा दैवक्रमसे दूसरे स्थानमें ही वास करे—इसमें उसकी कोई क्षति नहीं होती। जिस प्रकार मदिरापानसे मतवाला अचेत व्यक्ति कमरमें बँधे हुए वस्त्रको भी जान नहीं पाता कि वह कमरपर है या वहाँसे हट गया है, उसी प्रकार जीवन्मुक्त पुरुषका भी देहसे सम्बधित कोई अनुसन्धान नहीं रहता, क्योंकि वह अपने स्वरूपकी उपलब्धि कर लेता है॥ ३७॥

देहोऽपि दैववशगः खलु कर्म यावत्
स्वारम्भकं प्रतिसमीक्षत एव सासुः।
तं सप्रपञ्चमधिरूढसमाधियोगः
स्वाप्नं पुनर्न भजते प्रतिबुद्धवस्तुः॥ ३८॥

यद्यपि पूर्व जन्मके संस्कारोंके कारण उसका शरीर प्रारब्ध कर्मोंकी समाप्ति तक इन्द्रियोंके साथ वर्त्तमान रहकर अपनी दैहिक क्रियाओंको करता रहता है, तथापि वह योगसिद्ध पुरुष उस शरीरको स्वप्नमें देखे गये शरीर आदिके समान मानता है और उस देहमें एवं देह–सम्बन्धित पुत्र–स्त्री आदिमें 'मैं' और 'मेरा' का भाव नहीं रखता। इसका कारण है कि वह समाधिकी अवस्था तक योगारूढ़ होनेके कारण स्वरूपतत्त्वको जान चुका होता है॥ ३८॥

यथा पुत्राच्च वित्ताच्च पृथङ्मर्त्यः प्रतीयते।
अप्यात्मत्वेनाभिमताद्देहादेः पुरुषस्तथा॥ ३९॥

मर्त्यजीव (साधारण मनुष्य) अतिशय स्नेहके कारण धन एवं पुत्र आदिको आत्मस्वरूप मान लेता है, जब कि वस्तुतः वे उससे सर्वथा भिन्न हैं। इसी प्रकार यह देह आत्मस्वरूप माने जानेपर भी इसका द्रष्टा पुरुष (जीव) इस देहसे पृथक् है—यह जानना चाहिये॥ ३९॥

यथोल्मुकाद्विस्फुलिङ्गाद्धूमाद्वापि स्वसम्भवात्।
अप्यात्मत्वेनाभिमताद् यथाग्निः पृथगुल्मुकात्॥ ४०॥
भूतेन्द्रियान्तःकरणात् प्रधानाज्जीवसंज्ञितात्।
आत्मा तथा पृथग्द्रष्टा भगवान् ब्रह्मसंज्ञितः॥ ४१॥

अग्निके साथ आपाततः एक प्रतीत होनेपर भी जिस प्रकार जलती हुई लकड़ी, अग्निसे उत्पन्न धुआँ और चिनगारियाँ—तीनों ही अग्निसे पृथक् हैं, उसी प्रकार अग्नि स्थानीय द्रष्टा परमात्मा भी जलती हुई लकड़ी स्थानीय 'प्रधान' से, धुआँ स्थानीय 'पञ्चभूत, इन्द्रियों और अन्तकरण' (स्थूल और सूक्ष्म देह) से तथा चिनगारी स्थानीय 'जीव' से नित्य पृथक् हैं। वे परमात्मा ही 'भगवान्' और ब्रह्म नामसे जाने जाते हैं॥ ४०–४१॥

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षेतानन्यभावेन भूतेष्विव तदात्मताम्॥ ४२॥

जिस प्रकार जगत्में लोग भूतसमूहके कार्योंको महाभूतके अन्तर्गत देखते हैं, उसी प्रकार भक्तियोगी भी समस्त प्राणियोंमें परमात्माको

और परमात्माको समस्त प्राणियोंमें अनन्यभावसे दर्शन करता रहता है॥ ४२॥

स्वयोनिषु यथा ज्योतिरेकं नाना प्रतीयते।
योनीनां गुणवैषम्यात्तथात्मा प्रकृतौ स्थितः॥ ४३॥

जिस प्रकार अग्नि एक होकर भी अपने उत्पत्ति-स्थान काष्ठ आदिके नाना प्रकारके आकारोंके कारण नाना प्रकारकी प्रतीत होती है, उसी प्रकार आत्मा भी देहगत होकर देहके गुणोंकी विषमताके कारण नाना प्रकारका प्रतीत होता है॥ ४३॥

तस्मादिमां स्वां प्रकृतिं दैवीं सदसदात्मिकाम्।
दुर्विभाव्यां पराभाव्य स्वरूपेणावतिष्ठते॥ ४४॥

अतएव भक्तियोगके द्वारा जीवके बन्धनकी कारण स्वरूप विष्णुकी बहिरङ्गाशक्तिरूपा, कार्य-कारणात्मिका, दुस्तरा प्रकृति अर्थात् विष्णुमायाको विष्णुकी कृपासे ही जीतकर अपने वास्तविक स्वरूपमें स्थित हुआ जा सकता है॥ ४४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां तृतीयस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे श्रीकापिलेये साधनानुष्ठानं नामाष्टाविंशोऽध्यायः॥

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

सगुण और निर्गुणके भेदसे भक्तियोग और कालकी महिमा

श्रीदेवहूतिरुवाच—

लक्षणं महदादीनां प्रकृतेः पुरुषस्य च।
स्वरूपं लक्ष्यतेऽमीषां येन तत् पारमार्थिकम्॥ १॥

यथा सांख्येषु कथितं यन्मूलं तत् प्रचक्षते।
भक्तियोगस्य मे मार्गं ब्रूहि विस्तरतः प्रभो॥ २॥

माता देवहूतिने कहा—हे भगवन्! महत् आदि तत्त्व एवं प्रकृति और पुरुषके लक्षणोंका सांख्य-शास्त्रमें जिस प्रकारसे निरूपण किया गया हैं, वह आपने बतलाया। इन लक्षणोंके द्वारा ही महत् आदिके परस्पर विभक्त भावोंको जाना जा सकता है। किन्तु हे प्रभो! इन सबके उल्लेख करनेका मूल प्रयोजन भक्तियोग है। अतएव अब उस विभिन्न प्रकारके भक्तियोगके विषयमें मुझे विस्तारपूर्वक बतलाइये॥ १-२॥

विरागो येन पुरुषो भगवन् सर्वतो भवेत्।
आचक्ष्व जीवलोकस्य विविधा मम संसृतीः॥ ३॥

हे भगवन्! जीवलोककी विचित्र संसार-गतिका भी वर्णन कीजिये, जिसे सुनकर जीव संसारसे सब प्रकारसे विरक्त हो सके॥ ३॥

कालस्येश्वररूपस्य परेषाञ्च परस्य ते।
स्वरूपं बत कुर्वन्ति यद्धेतोः कुशलं जनाः॥ ४॥

आप कालस्वरूप, महाप्रभावशाली और समस्त कारणोंके कारण हैं। अहो! आपके भयसे सभी लोग पुण्यकर्मोंका अनुष्ठान करते हैं। आप अपने इस काल-स्वरूपका भी वर्णन कीजिये॥ ४॥

लोकस्य मिथ्याभिमतेरचक्षुष-
श्चिरं प्रसुप्तस्य तमस्यनाश्रये।

श्रान्तस्य कर्मस्वनुविद्धया धिया
त्वमाविरासीः किल योगभास्करः॥ ५॥

जो यथार्थ-ज्ञानसे अवगत नहीं हैं, मिथ्यास्वरूप देहादिमें अहङ्कार रखते हैं और कर्मासक्त बुद्धिके कारण अत्यधिक थके हुए हैं, दुस्तर संसारके अन्धकारमें चिरकालसे सोये हुए ऐसे लोगोंको जागरित करनेके लिए ही आप योग-प्रकाशक सूर्यके रूपमें आविर्भूत हुए हैं॥ ५॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

इति मातुर्वचः श्लक्ष्णं प्रतिनन्द्य महामुनिः।
अबभाषे कुरुश्रेष्ठ प्रीतस्तां करुणार्दितः॥ ६॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे कुरुकुलशिरोमणि विदुर! महामुनि कपिलदेवने माताके ऐसे सुन्दर वचनोंको सुनकर बड़े प्रसन्न चित्तसे उनका अभिनन्दन किया। इसके बाद करुणासे भरकर अपनी मातासे इस प्रकार कहने लगे॥ ६॥

श्रीभगवानुवाच—

भक्तियोगो बहुविधो मार्गैर्भाविनि भाव्यते।
स्वभावगुणमार्गेण पुंसां भावो विभिद्यते॥ ७॥

श्रीभगवान् कपिलदेवने कहा—विभिन्न अभिप्रायोंसे युक्त व्यक्तियोंके भेदसे भक्तियोग बहुत प्रकारसे प्रकाशित होता है। मनुष्योंके स्वभावभूत सत्त्व, रज एवं तम नामक वृत्तियोंके भेदके अनुसार अभिप्राय भेदवशतः भक्तिका भी भेद देखा जाता है॥ ७॥

अभिसन्धाय यो हिंसां दम्भं मात्सर्यमेव वा।
संरम्भी भिन्नदृग्भावं मयि कुर्यात् स तामसः॥ ८॥

क्रोधी और भेददर्शी[१] व्यक्ति हिंसा, दम्भ और मात्सर्यके उद्देश्यसे मेरी भक्ति करनेके कारण 'तामस भक्त' कहलाता है॥ ८॥

---

[१] प्रस्तुत श्लोकमें 'भिन्नदृक्' अर्थात् भेददर्शीसे तात्पर्य है ऐसा दयाहीन व्यक्ति जो दूसरेके सुख और दुःखको अपने सुख-दुःखके समान नहीं देखता। (श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती)

विषयानभिसन्धाय यश ऐश्वर्यमेव वा।
अर्चादावर्चयेद् यो मां पृथग्भावः स राजसः॥ ९॥

जो व्यक्ति विषय, यश और ऐश्वर्यकी प्राप्तिके उद्देश्यसे भेददर्शी[१] होकर मेरी पूजा करता है, वह व्यक्ति 'राजस भक्त' है॥ ९॥

कर्मनिर्हारमुद्दिश्य परस्मिन् वा तदर्पणम्।
यजेद् यष्टव्यमिति वा पृथग्भावः स सात्त्विकः॥ १०॥

और जो व्यक्ति पापोंका क्षय करनेके लिए मुझ परमेश्वरमें कर्मोंका फल अर्पण करने अर्थात् भगवान्‌की प्रीतिके उद्देश्यसे अथवा 'भगवत्-अर्चन मेरा कर्त्तव्य है'—इस बुद्धिसे भेददर्शी[२] होकर मेरी पूजा करता है, वह 'सात्त्विक भक्त' है॥ १०॥

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥ ११॥

लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे॥ १२॥

हे माता! इस प्रकारसे यह त्रिविध भक्ति ही सगुण है और इसके अतिरिक्त निर्गुण शुद्धभक्ति भी है। जिस प्रकारसे गङ्गाजल स्वाभाविक रूपसे सागरकी ओर प्रवाहित होता है, उसी प्रकार मेरे गुणोंके श्रवण-मात्रसे समस्त प्राणियोंके हृदयोंमें निवास करनेवाले मुझ सर्वान्तर्यामीके प्रति आत्माकी जो तैलधारावत् अविच्छिन्ना स्वाभाविकी गति उदित होती है, वही निर्गुण भक्तियोगका लक्षण है। पुरुषोत्तम स्वरूप मेरे प्रति की गयी वह भक्ति अहैतुकी अर्थात् भगवत्-सेवाके अतिरिक्त अन्यान्य सब कामनाओंसे रहित और अव्यवहिता अर्थात् ज्ञान और कर्म आदि व्यवधानसे रहित होती है॥ ११-१२॥

सालोक्य-सार्ष्टि-सामीप्य-सारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥ १३॥

---

[१] प्रस्तुत श्लोकमें 'पृथग्भावः' अर्थात् भेददर्शीका अर्थ है—भगवान्‌के अतिरिक्त अन्यान्य विषयोंकी स्पृहा रखनेवाला। (श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती)

[२] प्रस्तुत श्लोकमें 'पृथग्भावः' अर्थात् भेददर्शीका तात्पर्य है—भक्तिसे भिन्न मोक्षकी कामना करनेवाला व्यक्ति। (श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती)

मेरे ऐसे निष्काम भक्त मेरी अप्राकृत नित्यसेवाके अतिरिक्त सालोक्य (भगवान्‌के साथ एक ही लोकमें वास), सार्ष्टि (भगवान्‌के समान ऐश्वर्य), सारूप्य (भगवान्‌के समान रूप), सामीप्य (भगवान्‌के समीप वास) तथा एकत्व (सायुज्य अर्थात् भगवान्‌के साथ मिलकर एक हो जानेवाली) मुक्ति प्रदान किये जानेपर भी ग्रहण नहीं करते, क्योंकि वे मेरी नित्यसेवाके अतिरिक्त अन्य किसी वस्तुके लिए प्रार्थना ही नहीं करते॥ १३॥

स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः।
येनातिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावायोपपद्यते॥ १४॥

इसीको ही आत्यान्तिक अर्थात् उत्तम या परम भक्तियोग कहा जाता है। इस भक्तियोगके द्वारा जीव त्रिगुणमयी मायाको लाँघकर मेरे विमल प्रेमको प्राप्त करता है॥ १४॥

निषेवितानिमित्तेन स्वधर्मेण महीयसा।
क्रियायोगेन शस्तेन नातिहिंस्रेण नित्यशः॥ १५॥

मद्धिष्ण्यदर्शनस्पर्श-पूजास्तुत्यभिवन्दनैः।
भूतेषु मद्भावनया सत्त्वेनासङ्गमेन च॥ १६॥

महतां बहुमानेन दीनानामनुकम्पया।
मैत्र्या चैवात्मतुल्येषु यमेन नियमेन च॥ १७॥

आध्यात्मिकानुश्रवणान्नामसङ्कीर्तनाच्च मे।
आर्जवेनार्यसङ्गेन निरहंक्रियया तथा॥ १८॥

मद्धर्मणो गुणैरेतैः परिसंशुद्ध आशयः।
पुरुषस्याञ्जसाभ्येति श्रुतमात्रगुणं हि माम्॥ १९॥

हे माता! ऐसी निर्गुण भक्तिसे युक्त भक्तोंके साधन बतला रहा हूँ, श्रवण कीजिये। भगवत्सेवाके अतिरिक्त अन्यान्य कामनाओंसे रहित होना, भक्तिके अनुकूल नित्य-नैमित्तिक धर्मोंका सम्यक् रूपसे अनुष्ठान करना, नित्य श्रद्धायुक्त चित्तसे निष्काम और हिंसा आदिसे रहित होकर पञ्चरात्र आदि शास्त्रोंमें कथित पूजा आदि क्रियाओंका निर्वाह करना, मेरी प्रतिमाका दर्शन, स्पर्शन एवं पूजन करना,

स्तव-वन्दना करना, समस्त प्राणियोंमें मेरी भावना करना, धैर्य-वैराग्यका आश्रय लेना, महत्‌-पुरुषोंका सम्मान करना, दीनोंके प्रति कृपा प्रकाशित करना, अपने समान व्यक्तियोंके साथ मित्रता करना, बाह्य एवं अन्तरेन्द्रियोंको वशमें करना, साधु-गुरुसे आत्मतत्त्वका श्रवण करना, मेरे नामोंका सङ्कीर्त्तन करना, मनकी सरलता, साधु-सङ्ग, अहङ्कारका त्याग—इन सबके द्वारा जो मनुष्य भगवत्‌-धर्मोंका अनुष्ठान करता है, उसका चित्त विशेष रूपसे निर्मल हो जाता है और वह निर्मल चित्त मेरे गुणोंके श्रवणमात्रसे अनायास ही निश्चित रूपसे मुझे प्राप्त करता है अर्थात्‌ मेरे निर्गुण भक्तियोगको प्राप्त कर लेता है॥ १५-१९॥

यथा वातरथो घ्राणमावृङ्क्ते गन्ध आशयात्‌।
एवं योगरतं चेत आत्मानमविकारि यत्‌॥ २०॥

जिस प्रकार गन्ध वायुका आश्रय लेकर अपने उत्पत्ति-स्थान पुष्पादिसे घ्राणेन्द्रिय तक पहुँच जाता है, उसी प्रकार भक्तियोगनिष्ठ शान्तचित्त व्यक्ति परमात्म-स्वरूप भगवान्‌को प्राप्त कर लेता है॥ २०॥

अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थितः सदा।
तमवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्चाविडम्बनम्‌॥ २१॥

(प्राकृत भक्तोंकी केवल प्रतिमादिके प्रति होनेवाली निष्ठाकी निन्दा करते हुए कह रहे हैं—)हे माता! मैं अन्तर्यामी रूपसे समस्त जीवोंके हृदयमें अवस्थित हूँ। जो मेरे अधिष्ठान स्वरूप प्राणियोंमें कार्ष्ण (कृष्णके सेवककी) बुद्धि नहीं रखते, वे वस्तुतः मेरा ही अपमान करते हैं। वे प्राकृत बुद्धिसे मेरी प्रतिमा आदिकी जो पूजा करते हैं, उसके द्वारा श्रीअर्चा-विग्रहकी अवज्ञा ही होती है॥ २१॥

यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम्‌।
हित्वार्चां भजते मोढ्याद्भस्मन्येव जुहोति सः॥ २२॥

जो समस्त प्राणियोंमें स्थित परमात्म-स्वरूप मेरी उपेक्षा करके मूढ़तावश केवल लौकिक रीतिके अनुसार प्राकृतबुद्धिसे अर्चा-विग्रहकी

पूजा करता है, वह व्यक्ति तो भस्ममें ही आहुति प्रदान करता है॥ २२॥

द्विषतः परकाये मां मानिनो भिन्नदर्शिनः।
भूतेषु बद्धवैरस्य न मनः शान्तिमृच्छति॥ २३॥

जो व्यक्ति दूसरे शरीरोंमें अन्तर्यामी रूपसे अवस्थित मेरी उपेक्षा करते हैं, वैसे अभिमानी, भेददर्शी, दूसरे जीवोंके प्रति शत्रुता करनेका सङ्कल्प लेनेवाले व्यक्तियोंका चित्त कभी भी शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता॥ २३॥

अहमुच्चावचैर्द्रव्यैः क्रिययोत्पन्नयानघे।
नैव तुष्येऽर्चितोऽर्चायां भूतग्रामावमानिनः॥ २४॥

हे निष्पाप माता! दूसरे प्राणियोंकी निन्दा करनेवाला व्यक्ति यदि बहुत-सी उत्कृष्ट (उत्तम) और निकृष्ट (साधारण) सामग्रियोंसे की जानेवाली पूजा आदि क्रिया द्वारा मेरी प्रतिमाका अर्चन करता है, तो भी मैं उससे प्रसन्न नहीं होता॥ २४॥

अर्चादावर्चयेत्तावदीश्वरं मां स्वकर्मकृत्।
यावन्न वेद स्वहृदि सर्वभूतेष्ववस्थितम्॥ २५॥

(भगवत्-भक्तोंमें श्रद्धारहित तथा श्रीअर्चाविग्रहमें प्राकृत बुद्धिसे युक्त व्यक्तिकी प्रतिमा-पूजाके दोषके विषयमें कहा जा रहा है—)जब तक अपने और समस्त प्राणियोंके हृदयमें अवस्थित मेरे भगवत्-स्वरूपकी उपलब्धि न हो जाये अर्थात् उत्तमाधिकार प्राप्त न हो जाये, तब तक श्रीअर्चाविग्रहमें मेरी पूजा करनी चाहिये॥ २५॥

आत्मनश्च परस्यापि यः करोत्यन्तरोदरम्।
तस्य भिन्नदृशो मृत्युर्विदधे भयमुल्बणम्॥ २६॥

जो व्यक्ति अपनेमें और दूसरेमें अणुमात्र भी अन्तर देखता है, उस भेदभाव करनेवाले मूढ़के लिए मृत्युस्वरूप मैं अति उत्कट भय उपस्थित करता हूँ॥ २६॥

अथ मां सर्वभूतेषु भूतात्मानं कृतालयम्।
अर्हयेद्दानमानाभ्यां मैत्र्याभिन्नेन चक्षुषा॥ २७॥

अतएव मुझे समस्त प्राणियोंमें अवस्थित और सर्वान्तर्यामी जानकर मेरे परमात्म-स्वरूपकी पूजा करनी चाहिये, समस्त प्राणियोमें समदृष्टि सम्पन्न होना चाहिये, सबके साथ मित्रता करनी चाहिये और सबका ही दान, मान आदिके द्वारा यथायोग्य सम्मान करना चाहिये॥ २७॥

जीवाः श्रेष्ठा ह्यजीवानां ततः प्राणभृतः शुभे।
ततः सचित्ताः प्रवरास्ततश्चेन्द्रियवृत्तयः॥ २८॥

हे मङ्गलमयि जननि! अचेतन शुष्क तृण आदि पदार्थोंसे सचेतन सजीव तृण आदि पदार्थ श्रेष्ठ हैं, उनकी अपेक्षा प्राणवृत्तिशाली जीवन्त पाषाण[१] आदि श्रेष्ठ हैं, उनकी अपेक्षा ज्ञानविशिष्ट पर्वत[२] आदि श्रेष्ठ हैं तथा उनकी अपेक्षा उद्गम और अवकाश आदि ज्ञानयुक्त वृक्ष[३] श्रेष्ठ हैं॥ २८॥

तत्रापि स्पर्शवेदिभ्यः प्रवरा रसवेदिनः।
तेभ्यो गन्धविदः श्रेष्ठास्ततः शब्दविदो वराः॥ २९॥

स्पर्शका अनुभव करनेवाले (वृक्षादि) पदार्थोंसे रस ग्रहण करनेवाले (मत्स्यादि) प्राणी श्रेष्ठ हैं, उनसे भी गन्धका अनुभव करनेवाले (भ्रमर आदि) प्राणी श्रेष्ठ हैं और गन्ध ग्रहण करनेवालोंसे शब्दज्ञानविद् (सर्पादि) प्राणी श्रेष्ठ हैं॥ २९॥

---

[१] भूमिमें स्थित जलको खींचना और बाहर निकालना—इस प्रकारके चिह्नोंके द्वारा ही यह स्पष्ट होता है कि पाषाण आदिमें भी प्राण है। (श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर)

[२] सुना जाता है कि पूर्वकालमें सभी पर्वत उड़ते थे, बादमें इन्द्रने उनके पङ्ख काट दिये, अतएव भीतरसे वे ज्ञान-विशिष्ट ही हैं। (श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर)

[३] "वृक्ष देख सकते हैं, वृक्ष श्वास लेते हैं"—इत्यादि उक्तियोंसे जाना जाता है कि वृक्ष उद्गम और अवकाश आदिसे ज्ञानयुक्त इन्द्रियोंवाले हैं। (श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर)

रूपभेदविदस्तत्र ततश्चोभयतोदतः।
तेषां बहुपदाः श्रेष्ठाश्चतुष्पादस्ततो द्विपात्॥ ३०॥

सर्प आदिकी अपेक्षा रूपका अनुभव करनेवाले (कौए आदि) प्राणी श्रेष्ठ हैं और उनसे भी ऊपर-नीचेके दो पंक्ति दाँतवाले जीव श्रेष्ठ हैं। उनकी अपेक्षा बहुत-से पैरोंवाले जीव श्रेष्ठ हैं, उनकी अपेक्षा चार पैरवाले जन्तु और उनकी भी अपेक्षा दो पैरवाले मनुष्य श्रेष्ठ हैं॥ ३०॥

ततो वर्णाश्च चत्वारस्तेषां ब्राह्मण उत्तमः।
ब्राह्मणेष्वपि वेदज्ञो ह्यर्थज्ञोऽभ्यधिकस्ततः॥ ३१॥

दो पैरवाले मनुष्योंमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र—ये चार वर्ण श्रेष्ठ हैं। इनमें भी ब्राह्मण सर्वप्रधान हैं, ब्राह्मणोंमें वेदज्ञ ब्रह्मण श्रेष्ठ हैं और वेदज्ञ ब्राह्मणोंकी अपेक्षा वेदोंका तात्पर्य जाननेवाले ब्राह्मण अधिक श्रेष्ठ हैं॥ ३१॥

अर्थज्ञात् संशयच्छेत्ता ततः श्रेयान् स्वधर्मकृत्।
मुक्तसङ्गस्ततो भूयानदोग्धा धर्ममात्मनः॥ ३२॥

वेदोंका तात्पर्य जाननेवाले ब्राह्मणोंकी अपेक्षा मीमांसक ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं। इन मीमांसक ब्राह्मणोंकी अपेक्षा वर्णाश्रमोचित स्वधर्ममें रत ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं। स्वधर्मोंका निर्वाह करनेवाले ब्राह्मणोंकी अपेक्षा विषयोंमें आसक्तिरहित ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं, क्योंकि निष्काम होनेके कारण ऐसे ब्राह्मणोंमें अनुष्ठित धर्मोंके फलसिद्धिकी लालसा नहीं होती॥ ३२॥

तस्मान्मय्यर्पिताशेष-क्रियार्थात्मा निरन्तरः।
मय्यर्पितात्मनः पुंसो मयि संन्यस्तकर्मणः।
न पश्यामि परं भूतमकर्तुः समदर्शनात्॥ ३३॥

जो व्यक्ति अपनी अखिल चेष्टाओंके फल एवं देहको मुझमें अर्पण कर देते हैं, अतएव सदैव मेरे ही शरणागत हैं, तथा 'मैं ही एकमात्र समस्त क्रियाफलोंका भोक्ता हूँ', यह जानकर वे मुझमें समस्त कर्म अर्पण कर देते हैं—ऐसे कर्त्तृत्व-अभिमानशून्य, समदर्शी पुरुषोंकी

अपेक्षा अन्य कोई जीव मुझे अधिक श्रेष्ठ दिखलायी नहीं देता॥ ३३॥

मनसैतानि भूतानि प्रणमेद्बहुमानयन्।
ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति॥ ३४॥

श्रीविष्णु अन्तर्यामी ईश्वर रूपसे सभी जीवोंमें अवस्थित हैं, यह निश्चय करके हृदयसे सभी प्राणियोंका सम्मान करते हुए उन्हें प्रणाम करना चाहिये॥ ३४॥

भक्तियोगश्च योगश्च मया मानव्युदीरितः।
ययोरेकतरेणैव पुरुषः पुरुषं व्रजेत्॥ ३५॥

हे मनुपुत्रि! मैंने आपको भक्तियोग और अष्टाङ्गयोग—इन दोनों ही योगोंके विषयमें बतलाया है। इन दोनोंमेंसे मनुष्य जिस किसी भी साधनके द्वारा परमेश्वरको प्राप्त कर सकता है॥ ३५॥

एतद्भगवतो रूपं ब्रह्मणः परमात्मनः।
परं प्रधानपुरुषं दैवं कर्मविचेष्टितम्॥ ३६॥
रूपभेदास्पदं दिव्यं काल इत्यभिधीयते।
भूतानां महदादीनां यतो भिन्नदृशां भयम्॥ ३७॥

प्रकृति और उसका प्रवर्त्तक पुरुष तथा कर्मचेष्टा ही 'दैव' के नामसे जाने जाते हैं। वस्तुके विभिन्न रूपोंका कारण ही अद्भुत प्रभाव सम्पन्न 'काल' कहलाता है। इसी कालसे ही महत्-तत्त्वादि-अभिमानी देवताओं एवं भेददर्शी मनुष्योंको सदा जन्म-मरणादिरूप भय लगा रहता है॥ ३६-३७॥

योऽन्तःप्रविश्य भूतानि भूतैरत्यखिलाश्रयः।
स विष्ण्वाख्योऽधियज्ञोऽसौ कालः कलयतां प्रभुः॥ ३८॥

'काल' सबका आश्रय है। सबके अन्तःकरणमें प्रविष्ट होकर यह भूतोंके द्वारा ही भूतोंका संहार कर रहा है। यह सभी यज्ञोंका फल प्रदान करनेवाला है तथा जो दूसरोंको वशीभूत करते हैं, उनके भी प्रभु विष्णुका ही यह एक नाम विशेष है॥ ३८॥

न चास्य कश्चिद्दयितो न द्वेष्यो न च बान्धवः।
आविशत्यप्रमत्तोऽसौ प्रमत्तं जनमन्तकृत्॥ ३९॥

इस कालका न कोई प्रिय है और न ही कोई अप्रिय है तथा न ही इसका कोई बन्धु-बान्धव है। यह स्वयं सदा अप्रमत्त संहारक होकर प्रमत्त जनोंका संहार कर रहा है॥ ३९॥

यद्भयाद्वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति यद्भयात्।
यद्भयाद्वर्षते देवो भगणो भाति यद्भयात्॥ ४०॥

इसीके भयसे वायु चलती है, इसीके भयसे सूर्य ताप प्रदान करता है, इन्द्र वर्षण करता है और तारे भी इसीके भयसे प्रकाशित होते हैं॥ ४०॥

यद्वनस्पतयो भीता लताश्चौषधिभिः सह।
स्वे स्वे कालेऽभिगृह्णन्ति पुष्पाणि च फलानि च॥ ४१॥

इसीसे भयभीत होकर समस्त वनस्पतियों एवं औषधियोंके सहित लताएँ स्वयं ही समय-समयपर फल एवं पुष्प धारण करती हैं॥ ४१॥

स्रवन्ति सरितो भीता नोत्सर्पत्युदधिर्यतः।
अग्निरिन्धे सगिरिभिर्भूर्न मज्जति यद्भयात्॥ ४२॥

इसीके भयसे नदियाँ प्रवाहित होती हैं, इसीके भयसे समुद्र अपनी मर्यादा (तट) को लाँघकर पृथ्वीको प्लावित नहीं करता, इसीके भयसे अग्नि प्रज्ज्वलित होती है और इसीके भयसे पृथ्वी पर्वतोंके साथ जलमें नहीं डूबती॥ ४२॥

अदो ददाति श्वसतां पदं यन्नियमान्नभः।
लोकं स्वदेहं तनुते महान् सप्तभिरावृतम्॥ ४३॥

इस कालके भयसे ही यह परिदृश्यमान आकाश जीवित प्राणियोंकी श्वास-क्रियाके लिए अवकाश प्रदान करता है और इसीके भयसे महत्-तत्त्व पृथ्वी आदि सात आवरणोंसे आवृत होकर अहङ्कारात्मक अपनी देहका लोकोंके रूपमें विस्तार करता है॥ ४३॥

गुणाभिमानिनो देवाः सर्गादिष्वस्य यद्भयात्।
वर्तन्तेऽनुयुगं येषां वश एतच्चराचरम्॥ ४४॥

यह चराचर विश्व जिन ब्रह्मादि देवताओंके वशीभूत होकर वर्त्तमान है, वे गुण-नियन्ता ब्रह्मादि देवता भी कालसे भयभीत होकर इस विश्वकी सृष्टि आदि कार्योंमें पुनः-पुनः प्रवृत्त होते हैं॥ ४४॥

सोऽनन्तोऽन्तकरः कालोऽनादिरादिकृदव्ययः।
जनं जनेन जनयन् मारयन् मृत्युनान्तकम्॥ ४५॥

यह काल ही पिताके द्वारा पुत्रादिको उत्पन्न कराता है तथा मृत्युके द्वारा सबका विनाश करता है। अतएव यह काल ही सबका अन्त करनेवाला है, किन्तु काल स्वयं अनादि, अनन्त और अव्यय है॥ ४५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां तृतीयस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे श्रीकापिलेये श्रीभक्तियोगो नाम एकोनत्रिंशोऽध्यायः॥

त्रिंशोऽध्यायः

देह और स्त्री पुत्रादिमें आसक्त जीवोंकी तामसी गतिका वर्णन

श्रीभगवानुवाच—

तस्यैतस्य जनो नूनं नायं वेदोरुविक्रमम्।
काल्यमानोऽपि बलिनो वायोरिव घनावलिः॥ १॥

भगवान् श्रीकपिलदेवने कहा—हे माता! मैंने जो यह कालके विषयमें बतलाया है, मनुष्य इसीके प्रभावसे चालित होकर विभिन्न अवस्थाओं और योनियोंमें भ्रमण करता है। जिस प्रकार मेघ वायुके द्वारा विचालित होकर भी वायुके प्रबल पराक्रमको नहीं जान पाते, उसी प्रकार मनुष्य भी इस बलवान कालके असीम विक्रमको नहीं जान पाते॥ १॥

यं यमर्थमुपादत्ते दुःखेन सुखहेतवे।
तं तं धुनोति भगवान् पुमाञ्छोचति यत्कृते॥ २॥

मनुष्य अपने सुखोंके लिए अतिशय कष्ट उठाकर जिन-जिन प्रयोजनीय वस्तुओंका उपार्जन करता है, यह शक्तिमान काल उन सभी वस्तुओंको विनष्ट कर देता है और इसके फलस्वरूप मनुष्य दुःखी होता रहता है॥ २॥

यदध्रुवस्य देहस्य सानुबन्धस्य दुर्मतिः।
ध्रुवाणि मन्यते मोहाद् गृहक्षेत्रवसूनि च॥ ३॥

दुर्बुद्धिपरायण जीव मोहके कारण स्त्री आदिसे युक्त अनित्य शरीर, घर, खेत एवं धन आदिको नित्य मान लेता है, यही कारण है कि इन सब वस्तुओंके नष्ट होनेपर वह शोकमें डूब जाता है॥ ३॥

जन्तुर्वै भव एतस्मिन् यां यां योनिमनुव्रजेत्।
तस्यां तस्यां स लभते निर्वृतिं न विरज्यते॥ ४॥

जीव इस संसारमें जिन-जिन योनियोंमें परिभ्रमण करते हैं, उन-उन योनियोमें ही आनन्द प्राप्तकर सन्तुष्ट रहते हैं, इसलिए किसी भी प्रकारसे विरक्त नहीं हो पाते॥ ४॥

नरकस्थोऽपि देहं वै न पुमांस्त्यक्तुमिच्छति।
नारक्यां निर्वृतौ सत्यां देवमायाविमोहितः॥ ५॥

दैवीमायासे विमोहित व्यक्ति नारकीय योनियोंको प्राप्त करके भी नारकीय आहार विष्ठा आदिसे सन्तुष्ट रहता है और नारकीय शरीरको परित्याग करनेकी इच्छा भी नहीं करता॥ ५॥

आत्मजायासुतागार-पशुद्रविणबन्धुषु ।
निरूढमूलहृदय आत्मानं बहु मन्यते॥ ६॥

इस प्रकार वह मूढ़ देह, स्त्री, पुत्र, गृह, पशु, धन और बन्धु आदिमें आसक्त होकर नाना प्रकारके मनोरथोंके बन्धनमें बँधकर अपनेको बड़ा भाग्यशाली मानता है॥ ६॥

संदह्यमानसर्वाङ्ग एषामुद्वहनाधिना।
करोत्यविरतं मूढो दुरितानि दुराशयः॥ ७॥

इन्हीं कुटुम्बियोंके पालन-पोषणकी चिन्तासे वह दुराशय मूढ़ व्यक्ति सिरसे पैर तक निरन्तर दग्ध होता रहता है और उनके ही कारण वह तरह-तरहके पाप-कार्योंमें प्रवृत्त होता है॥ ७॥

आक्षिप्तात्मेन्द्रियः स्त्रीणामसतीनाञ्च मायया।
रहोरचितयालापैः शिशूनां कलभाषिणाम्॥ ८॥

गृहेषु कूटधर्मेषु दुःखतन्त्रेष्वतन्द्रितः।
कुर्वन् दुःखप्रतीकारं सुखवन्मन्यते गृही॥ ९॥

ऐसा गृहस्थ व्यक्ति बहुत प्रकारके कपटपूर्ण धर्मसे युक्त सुख-दुःख प्रधान गृहमें आलस्य त्यागकर मीठी-मीठी बोली बोलनेवाले शिशुओंकी तोतली बोलीमें और कुलटा स्त्रियोंके साथ एकान्तमें सम्भोग आदि

रूप मायामें अपने मन और इन्द्रियोंके साथ अभिभूत हो जाता है। दुःखोंके प्रतिकारके लिए ही निरन्तर यत्न करते-करते उस प्रतिकारको ही सुख मानने लगता है॥ ८-९॥

अर्थैरापादितैर्गुर्व्या हिंसयेतस्ततश्च तान्।
पुष्णाति येषां पोषेण शेषभुग्यात्यधः स्वयम्॥ १०॥

जिनके पालन-पोषणसे अधोगति होती है, घोर हिंसावृत्तिके द्वारा नाना स्थानोंसे अर्थका उपार्जन कर वह उन परिवारीजनोंका पोषण करता है तथा उनके भोजन करनेके बाद जो कुछ बच जाता है, उसीको खाकर स्वयं जीवन धारण करता है॥ १०॥

वार्तायां लुब्धमानायामारब्धायां पुनः पुनः।
लोभाभिभूतो निःसत्त्वः परार्थे कुरुते स्पृहाम्॥ ११॥

बार-बार प्रयास करनेपर भी जब उसकी जीविका नहीं चल पाती है, तब वह अन्य जीविकाकी प्राप्तिके लिए बार-बार चेष्टा करता है, परन्तु उसकी चेष्टा व्यर्थ होनेपर वह लोभसे अभिभूत होकर चोरी आदिके द्वारा दूसरोंका धन हरण करनेकी चेष्टा करता है॥ ११॥

कुटुम्बभरणेऽकल्यो मन्दभाग्यो वृथोद्यमः।
श्रिया विहीनः कृपणो ध्यायन् श्वसिति मूढधीः॥ १२॥

वह मन्द-बुद्धिवाला दुर्भागा व्यक्ति बार-बार यत्न करके भी जब कुटुम्बके भरण-पोषणमें असमर्थ हो जाता है, तब धनहीन, दुःखी एवं किंकर्त्तव्यविमूढ़[१] होकर लम्बी-लम्बी साँसें छोड़ने लगता है॥ १२॥

एवं स्वभरणाकल्यं तत्कलत्रादयस्तदा।
नाद्रियन्ते यथा पूर्वं कीनाशा इव गोजरम्॥ १३॥

इस प्रकार जब वह स्त्री-पुत्र आदिके भरण-पोषणमें असमर्थ हो जाता है, तब उस गृहव्रतीके पुत्र-स्त्री आदि उस व्यक्तिका अब उसी प्रकारसे पहले जैसा आदर नहीं करते, जिस प्रकार निर्दयी किसान बूढ़े बैलके अकर्मण्य होनेपर उसकी उपेक्षा कर देता है॥ १३॥

---

[१] अपने कर्त्तव्यका निश्चय करनेमें असमर्थ।

तत्राप्यजातनिर्वेदो म्रियमाणः स्वयम्भृतैः।
जरयोपात्तवैरूप्यो मरणाभिमुखो गृहे॥ १४॥

आस्तेऽवमत्योपन्यस्तं गृहपाल इवाहरन्।
आमयाव्यप्रदीप्ताग्निरल्पाहारोऽल्पचेष्टितः ॥ १५॥

किन्तु, फिर भी उस मूढ़ व्यक्तिका संसारके प्रति वैराग्य नहीं होता। वृद्धावस्थाके कारण विकृत आकृति और मरणोन्मुख होकर वह गृहव्रत व्यक्ति उसी घरमें ही वास करता है। पहले जिन स्त्री-पुत्रादिका उसने स्वयं प्रतिपालन किया था, अब वे ही उसे अपमानितकर खानेके लिए जो कुछ भी थोड़ा-बहुत भोजन देते हैं, वह घरमें पाले हुए कुत्तेके समान उसीको ही खाता है। रोगोंसे ग्रस्त हो जानेके कारण उसकी जठराग्निमें वैसा बल नहीं रहता। उसका आहार भी बहुत कम हो जाता है और कोई भी कार्य करनेमें असमर्थ होनेके कारण वह घरमें ही पड़ा रहता है॥ १४-१५॥

वायुनोत्क्रमतोत्तारः कफसंरुद्धनाडिना।
कासश्वासकृतायासः कण्ठो घुरघुरायते॥ १६॥

उसके देहमें स्थित वायुकी ऊर्ध्वगतिके कारण उसकी श्वास-प्रश्वासरूप वायुके गमनागमन मार्गरूप नाड़ियाँ कफ द्वारा अवरुद्ध हो जाती हैं तथा पुतलियाँ बाहर आ जाती हैं। खाँसते और साँस लेते समय उसे अत्यन्त कष्ट होता है और उसके कण्ठसे 'घुर-घुर' शब्द होने लगता है॥ १६॥

शयानः परिशोचद्भिः परिवीतः स्वबन्धुभिः।
वाच्यमानोऽपि न ब्रूते कालपाशवशं गतः॥ १७॥

क्रमशः जब वह गृहव्रत व्यक्ति मृत्यु-शय्यापर पड़ा रहता है, उस समय आत्मीय बन्धु-बान्धव उसे चारों ओरसे घेरकर शोक करना आरम्भ कर देते हैं और बार-बार उससे अनेक बातें पूछा करते हैं। किन्तु वह कालपाशके वशीभूत होकर उन बन्धुओंको किसी भी बातका उत्तर देनेमें समर्थ नहीं हो पाता॥ १७॥

एवं कुटुम्बभरणे व्यापृतात्माजितेन्द्रियः।
म्रियते रुदतां स्वानामुरुवेदनयास्तधीः॥ १८॥

जिसका चित्त निरन्तर कुटुम्बके भरण-पोषणमें लगा रहता है, वह अजितेन्द्रिय गृहस्थ व्यक्ति ऐसी अवस्थामें भी रोते हुए आत्मीय स्वजनोंके अतिशय दुःखको देखकर अधीर हो जाता है और अन्तमें नष्टबुद्धि होकर प्राणोंका त्याग कर देता है॥ १८॥

यमदूतौ तदा प्राप्तौ भीमौ सरभसेक्षणौ।
स दृष्ट्वा त्रस्तहृदयः शकृन्मूत्रं विमुञ्चति॥ १९॥

उसकी मृत्युके समय क्रोधपूर्ण नेत्रोंवाले भयङ्कर दो यमदूत आते हैं। उन्हें देखते ही उसका हृदय काँप जाता है और अत्यन्त भयभीत होकर वह बार-बार मलमूत्रका त्याग करने लगता है॥ १९॥

यातना-देह आवृत्य पाशैर्बध्वा गले बलात्।
नयतो दीर्घमध्वानं दण्ड्यं राजभटा यथा॥ २०॥

इसके बाद वे दोनों यमदूत उस मृत गृहव्रत व्यक्तिको स्थूल-देहसे यातना-देहमें डालकर बलपूर्वक उसके गलेको पाशसे बाँध देते हैं। राजपुरुष जिस प्रकार दण्डनीय व्यक्तिको पाशमें बाँधकर ले जाते हैं, यमराजके सेवक भी उसी प्रकार उसे लेकर यमलोकके दीर्घ-पथपर प्रस्थान करते हैं॥ २०॥

तयोर्निर्भिन्नहृदयस्तर्जनैर्जातवेपथुः।
पथि श्वभिर्भक्ष्यमाण आर्तोऽघं स्वमनुस्मरन्॥ २१॥

क्षुत्तृट्परीतोऽर्कदवानलानिलैः
सन्तप्यमानः पथि तप्तवालुके।
कृच्छ्रेण पृष्ठे कषया च ताडित-
श्चलत्यशक्तोऽपि निराश्रमोदके॥ २२॥

यमदूतोंके तिरस्कारपूर्ण वचनोंसे उस व्यक्तिका हृदय विदीर्ण होने लगता है और सारा शरीर काँपने लगता है। रास्तेमें कुत्ते उसे काटते रहते हैं और इस प्रकार यातनाओंसे अत्यन्त पीड़ित होकर वह अपने

पापोंका स्मरण करते हुए चलता रहता है। यमदूत उसे जिस पथसे लेकर जाते हैं, वह तपती बालुसे परिपूर्ण होता है तथा उसमें कोई विश्राम-स्थल अथवा पानी पीनेकी कोई व्यवस्था नहीं होती। उसे भूख प्यास आदि पीड़ित करते रहते हैं, सूर्य एवं दावानलसे सन्तप्त होनेके कारण चलनेमें नितान्त असमर्थ होनेपर भी यमदूत उसकी पीठपर कोड़ोंसे प्रहार करते हैं और उसे अत्यधिक कष्टको झेलते हुए भी चलनेके लिए बाध्य होना पड़ता है॥ २१-२२॥

तत्र तत्र पतन् श्रान्तो मूर्च्छितः पुनरुत्थितः।
पथा पापीयसा नीतस्तमसा यमसादनम्॥ २३॥

पथपर चलते समय थकानके कारण उस व्यक्तिके पैर इधर-उधर पड़ते हैं और वह बार-बार मूर्च्छित होकर गिर पड़ता है। पुनः वह चेतनताको प्राप्त करके उठता है और यमदूत उसे पापपूर्ण अन्धकारमय पथसे यमालयमें ले जाते हैं॥ २३॥

योजनानां सहस्राणि नवतिं नव चाध्वनः।
त्रिभिर्मुहूर्तैर्द्वाभ्यां वा नीतः प्राप्नोति यातनाः॥ २४॥

आदीपनं स्वगात्राणां वेष्टयित्वोल्मुकादिभिः।
आत्ममांसादनं क्वापि स्वकृत्तं परतोऽपि वा॥ २५॥

जीवतश्चान्त्राभ्युद्धारं श्वगृध्रैर्यमसादने।
सर्पवृश्चिकदंशाद्यैर्दशद्भिश्चात्मवैशसम् ॥ २६॥

कृन्तनञ्चावयवशो गजादिभ्यो भिदापनम्।
पातनं गिरिशृङ्गेभ्यो रोधनञ्चाम्बुगर्तयोः॥ २७॥

जिस पथसे यमालय जाना होता है, उसका परिमाण निन्यानवे सहस्र योजन है। यमदूत किसी-किसी व्यक्तिको तीन अथवा दो मुहूर्त्तमें ही दीर्घ-पथसे पार करा देते हैं। वह पापी जिस समय यम-सदनमें उपस्थित होता है, उस समय वह देखता है कि कहीं जलते हुए अङ्गारोंपर शरीरको रखकर पापियोंकी देहको जलाया जा रहा है। कहीं किसी एक पापीकी देहको कोई दूसरा पापी तथा कहीं कोई पापी अपने माँसको स्वयं ही काट-काटकर उस माँसको खा

रहा है। कहीं यमालयके कुत्ते, गीध आदि किसी पापीकी जीवित अवस्थामें ही उसकी आँतों एवं नाड़ियोंको खींचकर बाहर निकाल रहे हैं। कोई पापी साँप, बिच्छु अथवा डाँस[१] आदि जन्तुओंके डसे जानेसे अतिशय वेदनाका अनुभव कर रहा है। किसी-किसी पापीके अङ्ग-प्रत्यङ्गको खण्ड-खण्ड करके काटा जा रहा है, किसी-किसी पापीको पर्वतके शिखरसे फेंका जा रहा है और किसी पापीको गड्ढे या जलमें डालकर रखा गया है। अन्तमें इस सब दृश्योंको देखनेवाले उस नवागन्तुक पापीको भी इन सब नारकीय यातनाओंको ही भोगना पड़ता है॥ २४-२७॥

यास्तामिस्रान्धतामिस्र-रौरवाद्याश्च यातनाः।
भुङ्क्ते नरो वा नारी वा मिथः सङ्गेन निर्मिताः॥ २८॥

तामिस्र, अन्धतामिस्र, रौरव आदि जितनी भी प्रकारकी नरककी यातनाएँ हैं, वे पारस्परिक आसक्तिरूप पाप-संसर्गवशतः ही निर्मित हुई हैं। मृत गृहव्रत व्यक्ति—पुरुष हो या नारी, उन्हें उन सब यातनाओंको भोगनेके लिए बाध्य होना ही पड़ता है॥ २८॥

अत्रैव नरकः स्वर्ग इति मातः प्रचक्ष्यते।
या यातना वै नारक्यस्ता इहाप्युपलक्षिताः॥ २९॥

हे माता! तत्त्वविद् कहते हैं कि यहींपर नरक है और यहींपर ही स्वर्ग है। नरकमें जो सब यातनाएँ भोग करनी पड़ती हैं, वह इस जगत्में भी राजदण्डादिके रूपमें देखी जाती हैं॥ २९॥

एवं कुटुम्बं बिभ्राण उदरम्भर एव वा।
विसृज्येहोभयं प्रेत्य भुङ्क्ते तत्फलमीदृशम्॥ ३०॥

इस प्रकारसे व्यक्ति अनेक कष्टोंका भोगता हुआ कुटुम्बके पोषणमें रत रहे अथवा अपने उदर भरणमें ही व्यस्त रहे, मृत्युके बाद उसे अपनी देह और कुटुम्ब दोनोंका ही यहींपर परित्याग करके पूर्वोक्त प्रकारसे यमलोकमें उन समस्त कर्मफलोंको भोगना ही पड़ता है॥ ३०॥

---

[१] एक तरहका बड़ा मच्छर।

एकः प्रपद्यते ध्वान्तं हित्वेह स्वं कलेवरम्।
कुशलेतरपाथेयो भूतद्रोहेण यद्भृतम्॥ ३१॥

प्राणीहिंसाके द्वारा परिपुष्ट स्थूलदेह एवं सञ्चित धन—इन दोनोंका इसी जगत्में परित्याग करके पापरूप पाथेयको साथ लेकर वह गृहव्रत व्यक्ति अन्धकारपूर्ण घोर नरकको भोगता है॥ ३१॥

दैवेनासादितं तस्य शमलं निरये पुमान्।
भुङ्क्ते कुटुम्बपोषस्य हृतवित्त इवातुरः॥ ३२॥

ऐसे गृहव्रत मनुष्यके द्वारा कुटुम्ब-पोषणके लिए किये गये पापकर्म परकालमें दैवके द्वारा उसे कुफल प्रदान करते हैं, जिसे उसे नरकमें भोगना ही पड़ता है। उस समय वह ऐसा व्याकुल हो जाता है मानो उसका सर्वस्व लुट गया हो॥ ३२॥

केवलेन ह्यधर्मेण कुटुम्बभरणोत्सुकः।
याति जीवोऽन्धतामिस्रं चरमं तमसः पदम्॥ ३३॥

जो मनुष्य केवल अधर्मके द्वारा अर्जित धनसे कुटुम्बके भरण-पोषणमें उत्सुक रहता है, वह व्यक्ति नरकोंमें भी चरम कष्टके स्थान अन्धतामिस्र नामक नरकमें जाता है॥ ३३॥

अधस्तान्नरलोकस्य यावतीर्यातनास्तु ताः।
क्रमशः समनुक्रम्य पुनरत्राव्रजेच्छुचिः॥ ३४॥

इस प्रकार नरकभोगके बाद कुत्ते, सुअर आदि योनियोंमें जितनी प्रकारकी यातनाएँ हैं, क्रमशः उन सब यातनाओंका भोग करनेके बाद जब उस व्यक्तिके पाप क्षीण हो जाते हैं, तब वह पवित्र होकर पुनः इस नरलोकमें मनुष्य-देहको प्राप्त करता है॥ ३४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां तृतीयस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे श्रीकापिलेये कर्मविपाको नाम त्रिंशोऽध्यायः॥

एकत्रिंशोऽध्यायः

पाप–पुण्य द्वारा मनुष्य–योनिकी प्राप्तिरूप राजसी गति तथा उसमें गर्भसे लेकर पौगण्ड तक जीवकी यातनाका वर्णन

श्रीभगवानुवाच—

कर्मणा दैवनेत्रेण जन्तुर्देहोपपत्तये।
स्त्रियाः प्रविष्ट उदरं पुंसो रेतःकणाश्रयः॥ १॥

भगवान् श्रीकपिलदेवने कहा—हे माता! जीव भगवान्‌की प्रेरणासे अपने पूर्व कर्मफलके अनुसार देहकी प्राप्तिके लिए पुरुषके वीर्यकणोंका आश्रय लेकर स्त्रीके गर्भमें प्रवेश करता है॥ १॥

कललन्त्वेकरात्रेण पञ्चरात्रेण बुद्‌बुदम्।
दशाहेन तु कर्कन्धुः पेश्यण्डं वा ततः परम्॥ २॥

यह वीर्यकण गर्भमें पतित होकर एक ही रातमें रजके साथ मिल जाता है। पाँच रातोंमें बुद्‌बुदके आकारमें परिणत हो जाता है, दस दिनोंमें बेरके फलके समान कठोर हो जाता है और उसके बाद माँसरूपी पिण्डाकारको धारण करता है तथा पक्षी आदि योनियोंमें अण्डेके समान आकारको प्राप्त होता है॥ २॥

मासेन तु शिरो द्वाभ्यां बाह्वङ्घ्र्याद्यङ्गविग्रहः।
नखलोमास्थिचर्माणि लिङ्गच्छिद्रोद्भवस्त्रिभिः॥ ३॥

इस प्रकार पहले महीनेमें उसका सिर निकल आता है, दूसरे महीनेमें उसके हाथ–पैर आदि अङ्गोंका विभाग हो जाता है और तीसरे महीनेमें उसके नख, रोम, हड्डियाँ, चर्म, लिङ्ग एवं इन्द्रियोंके सब छिद्र प्रकट हो जाते हैं॥ ३॥

चतुर्भिर्धातवः सप्त पञ्चभिः क्षुत्तृडुद्भवः।
षड्भिर्जरायुणा वीतः कुक्षौ भ्राम्यति दक्षिणे॥ ४॥

चौथे महीनेमें सातों धातु (त्वक्, माँस, रुधिर, मेद, मज्जा, अस्थि एवं शुक्र) उत्पन्न हो जाते हैं। पाँचवे महीनेमें भूख-प्यास लगने लगती है। छठे महीनेमें वह जीव जरायु (झिल्ली) से लिपटा हुआ माताकी कोखमें दायीं ओर घूमने लगता है॥ ४॥

मातुर्जग्धान्नपानाद्यैरेधद्धातुरसम्मते।
शेते विण्मूत्रयोर्गर्ते स जन्तुर्जन्तुसम्भवे॥ ५॥

वह जीव माताके द्वारा खाये हुए अन्न-जल आदिके द्वारा पुष्ट होता रहता है तथा उसकी इच्छा न रहनेपर भी उसे प्राणियोंके उत्पत्ति स्थान मलमूत्रके गड्ढेमें शयन करते हुए पड़े रहना पड़ता है॥ ५॥

कृमिभिः क्षतसर्वाङ्गः सौकुमार्यात् प्रतिक्षणम्।
मूर्च्छामाप्नोत्युरुक्लेशस्तत्रत्यैः क्षुधितैर्मुहुः॥ ६॥

उसी गर्भमें स्थित भूखसे व्याकुल कीड़े उसके सुकोमल देहको पाकर उसके समस्त अङ्गोंको सब समय काटते रहते हैं, जिससे उसे जगह-जगह घाव हो जाते हैं तथा वह अतिशय कष्ट पाकर बार-बार मूर्च्छित हो जाता है॥ ६॥

कटुतीक्ष्णोष्णलवण-क्षाराम्लादिभिरुल्बणैः।
मातृभुक्तैरुपस्पृष्टः सर्वाङ्गोत्थितवेदनः॥ ७॥

उल्बेन संवृतस्तस्मिन्नन्त्रैश्च बहिरावृतः।
आस्ते कृत्वा शिरः कुक्षौ भुग्नपृष्ठशिरोधरः।
अकल्पः स्वाङ्गचेष्टायां शकुन्त इव पञ्जरे॥ ८॥

गर्भको धारण करनेवाली माता जब अत्यधिक दुःसहनीय कड़वा, तीखा, गर्म, लवण, रुक्ष एवं अम्ल आदि रसोंका भक्षण करती है, उन सबके साथ गर्भस्थ जीवकी देहका स्पर्श होनेपर उसके समस्त अङ्गोंमें बड़ी पीड़ा होती है। वह जीव भीतरमें झिल्लीसे लिपटा और बाहरसे नाड़ियोंके द्वारा विशेष रूपसे आबद्ध होकर पीठ तथा गर्दनको मोड़कर माताकी कोखमें नीचेकी ओर अपने सिरको रखकर उसी अवस्थामें पड़ा रहता है। अतः पिञ्जरेमें रखे हुए पक्षीके समान अपने

अङ्गोंको हिलाने-डुलानेमें असमर्थ होकर वह उसी गर्भमें ही वास करता है॥ ७-८॥

तत्र लब्धस्मृतिर्दैवात् कर्म जन्मशतोद्भवम्।
स्मरन् दीर्घमनुच्छ्वासं शर्म किं नाम विन्दते॥ ९॥

गर्भमें ही जीवको दैववश अपने पूर्व-पूर्व जन्मोंमें किये कर्मोंकी स्मृति उदित होती है। उस समय वह सैकड़ो जन्मोंके पाप-कर्मोंका स्मरण करके लम्बी-लम्बी साँसें छोड़ता रहता है, अतएव ऐसी अवस्थामें उसे किस प्रकारसे सुख-शान्ति मिल सकती है?॥ ९॥

आरभ्य सप्तमान्मासाल्लब्धबोधोऽपि वेपितः।
नैकत्रास्ते सूतिवातैर्विष्ठाभूरिव सोदरः॥ १०॥

इस प्रकार जब जीवका गर्भवास सातवें महीनेमें पदार्पण करता है, तब उसमें ज्ञानका उदय होता है, किन्तु प्रसव वायुके द्वारा परिचालित होकर उसी उदरमें उत्पन्न विष्ठाके कीड़ोंके समान वह एक स्थानपर स्थिर होकर नहीं रह पाता॥ १०॥

नाथमान ऋषिर्भीतः सप्तवध्रिः कृताञ्जलिः।
स्तुवीत तं विक्लवया वाचा येनोदरेऽर्पितः॥ ११॥

तब देहात्मदर्शी (देहको ही आत्मा समझनेवाला) जीव पुनः गर्भवासकी यातनासे भयभीत होकर सप्त धातुओं द्वारा बद्ध अवस्थामें ही हाथ जोड़कर बड़े व्याकुल मनसे उन परमेश्वरकी स्तुति करना आरम्भ कर देता है, जिन्होंने उसे माताके गर्भमें डाला है॥ ११॥

जीव उवाच—

तस्योपसन्नमवितुं जगदिच्छयात्त-
नानातनोर्भुवि चलच्चरणारविन्दम्।
सोऽहं व्रजामि शरणं ह्यकुतोभयं मे
येनेदृशी गतिरदर्श्यसतोऽनुरूपा॥ १२॥

जीव कहता है—जो इस परिदृश्यमान नश्वर जगत्के पालन करनेकी इच्छासे नाना प्रकारके रूप प्रकट करते हैं, जिन भगवान्ने

मेरे जैसे असत् व्यक्तिके अनुरूप ऐसी गति प्रदान की है, मैं उनके भूतलपर विचरण करनेवाले अभय चरणकमलोंकी शरण ग्रहण करता हूँ॥ १२॥

यस्त्वत्र बद्ध इव कर्मभिरावृतात्मा
भूतेन्द्रियाशयमयीमवलम्ब्य मायाम्।
आस्ते विशुद्धमविकारमखण्डबोध-
मातप्यमानहृदयेऽवसितं नमामि॥ १३॥

मैं माताके पेटमें देहके रूपमें परिणत मायाका आश्रय लेकर अपने पाप-पुण्य कर्मोंसे आवृत-स्वरूप होकर बद्धके समान पड़ा हुआ हूँ तथा भगवान् अन्तर्यामीके रूपमें मेरे साथ इस स्थानपर भी वास कर रहे हैं। मुझमें और भगवान्में विशेष भेद है। भगवान् स्थूल और लिङ्ग देहरूपी उपाधिसे रहित हैं अर्थात् उनमें देह और देहीका कोई भेद नहीं है तथा वे अखण्ड ज्ञानस्वरूप हैं। मेरे सन्तप्त हृदयमें उनका यही रूप प्रतिभात हो रहा है। वे ही मेरे शरण्य हैं, मैं उन्हें नमस्कार करता हूँ॥ १३॥

यः पञ्चभूतरचिते रहितः शरीरे-
च्छन्नोऽयथेन्द्रियगुणार्थचिदात्मकोऽहम् ।
तेनाविकुण्ठमहिमानमृषिं तमेनं
वन्दे परं प्रकृतिपूरुषयोः पुमांसम्॥ १४॥

'मैं' पञ्चभूतोंसे निर्मित इस देहसे आच्छादित होकर वास कर रहा हूँ—ऐसा कहनेसे 'मेरा' बोध हो रहा है, किन्तु वस्तुतः वैसा नहीं है, क्योंकि मेरा नित्यस्वरूप पाञ्चभौतिक देहसे पृथक् है, अतः इन्द्रिय, गुण, विषय और चिदाभासात्मक (मन) होना मेरे लिए असम्भव है। किन्तु भगवान्की महिमा इस शरीरके योगसे कम नहीं होती अर्थात् प्रत्येक जीवके हृदयमें अन्तर्यामीके रूपमें रहनेपर भी उनके अप्राकृत स्वरूपमें कोई विकार नहीं होता अथवा उनका मायाके साथ कोई स्पर्श नहीं होता। अथवा मायिक जीवके समान उनमें देह और देहीका कभी भी भेद नहीं होता, क्योंकि वे वैकुण्ठ वस्तु हैं। वे प्रकृति एवं पुरुषके नियन्ता और सर्वज्ञ हैं। मैं उन आदि पुरुषकी वन्दना करता हूँ॥ १४॥

यन्माययोरुगुणकर्मनिबन्धनेऽस्मिन्
सांसारिके पथि चरंस्तदतिश्रमेण।
नष्टस्मृतिः पुनरयं प्रवृणीत लोकं
युक्त्या कया महदनुग्रहमन्तरेण॥ १५॥

जिनकी मायासे जीव अपनी पूर्व स्मृतिको भूलकर अनेक प्रकारके सत्त्वादि गुणों और कर्मोंके बन्धनसे युक्त इस संसार-मार्गमें प्राप्त होनेवाले तरह-तरहके कष्टोंको भोगता हुआ भटकता रहता है, अतः उन परमेश्वरकी कृपाके बिना अन्य किसी भी प्रकारसे जीव पुनः अपने स्वरूपको प्राप्त नहीं कर सकता है॥ १५॥

ज्ञानं यदेतददधात् कतमः स देव-
स्त्रैकालिकं स्थिरचरेष्वनुवर्तितांशम्।
तं जीवकर्मपदवीमनुवर्तमाना-
स्तापत्रयोपशमनाय वयं भजेम॥ १६॥

परमेश्वरके अतिरिक्त मुझे भूत, भविष्य और वर्त्तमान रूपी त्रैकालिक ज्ञान देनेमें और कौन समर्थ हो सकता है? उन परमेश्वरका अंश अन्तर्यामी परमात्माके रूपमें चराचर समस्त पदार्थोंमें विद्यमान है। अतएव कर्मफलस्वरूप बद्धजीवकी पदवीको प्राप्त होकर हम त्रिविध तापोंकी ज्वालाको दूर करनेके लिए उन परमेश्वरका भजन करते हैं॥ १६॥

देह्यन्यदेहविवरे जठराग्निनासृग्-
विण्मूत्रकूपपतितो भृशतप्तदेहः।
इच्छन्नितो विवसितुं गणयन् स्वमासान्
निर्वास्यते कृपणधीर्भगवन् कदा नु॥ १७॥

हे भगवन्! मैं रक्त, मल एवं मूत्रसे परिपूर्ण कूपस्वरूप माताके गर्भमें पड़ा हुआ हूँ और उनके जठरानलसे मेरी देह सन्तप्त हो रही है। यहाँसे निकलनेके लिए मैं अपने निर्धारित महीनोंको गिन रहा हूँ तथा सोचता रहता हूँ कि भगवान् कब मुझे इस स्थानसे बाहर निकालेंगे॥ १७॥

येनेदृशीं गतिमसौ दशमास्य ईश
संग्राहितः पुरुदयेन भवादृशेन।
स्वेनैव तुष्यतु कृतेन स दीननाथः
को नाम तत्प्रति विनाञ्जलिमस्य कुर्यात्॥ १८॥

हे ईश! आपके समान असीम कृपामय प्रभुने जो मात्र दस मासकी अवस्थावाले जीवको ऐसा सुदुर्लभ ज्ञान और पूर्वजन्मादिकी स्मृति दी हैं, हे दीननाथ! आप स्वयं ही अपने ऐसे उपकारसे सन्तुष्ट हों, क्योंकि मात्र हाथ जोड़नेके अतिरिक्त भगवान्‌के द्वारा किये गये उपकारका यथोचित प्रत्युपकार करनेमें कौन समर्थ हो सकता है॥ १८॥

पश्यत्ययं धिषणया ननु सप्तवध्रिः
शारीरके दमशरीर्यपरः स्वदेहे।
यत्सृष्टया स तमहं पुरुषं पुराणम्
पश्ये बहिर्हृदि च चैत्यमिव प्रतीतम्॥ १९॥

हे भगवन्! सप्त धातुरूप बन्धनमें बद्ध पशु आदि दूसरे जन्तु केवल अपनी देहमें शरीरसे उत्पन्न सुख-दुःखका अनुभव करते हैं। किन्तु मैं जिनके द्वारा दिये गये विवेक-ज्ञानके बलसे शम-दमादिसे युक्त हुआ हूँ, उन भोक्तास्वरूप अनादि एवं सभी कारणोंके कारण अपरोक्ष रूपमें प्रतीयमान पुरुषोत्तमका अन्दर और बाहरमें दर्शन कर रहा हूँ॥ १९॥

सोऽहं वसन्नपि विभो बहुदुःखवासं
गर्भान्न निर्जिगमिषे बहिरन्धकूपे।
यत्रोपयातमुपसर्पति देवमाया
मिथ्यामतिर्यदनु संसृतिचक्रमेतत्॥ २०॥

हे प्रभो! मैं बहुत प्रकारके दुःखोंके आलय इस गर्भमें वास करनेपर भी इस स्थानसे बाहर निकलनेकी इच्छा नहीं करता हूँ, क्योंकि बाहर तो इससे भी अधिक घोर अन्धकारमय संसार-कूप विद्यमान है। जो भी व्यक्ति वहाँपर जाते हैं, आपकी माया उन्हें ढक

लेती है। मायाके द्वारा आच्छन्न होकर जीव देह आदिमें 'मैं' बुद्धि करके स्त्री-पुत्रादिके सम्बन्धके कारण इस संसार-चक्रमें परिभ्रमण करता रहता है॥ २०॥

तस्मादहं विगतविक्लव उद्धरिष्ये
आत्मानमाशु तमसः सुहृदात्मनैव।
भूयो यथा व्यसनमेतदनेकरन्ध्रं
मा मे भविष्यदुपसादितविष्णुपादः॥ २१॥

हे भगवन्! अतः मैं इसी स्थानपर अर्थात् गर्भमें ही रहते हुए व्याकुलतासे रहित होकर आप भगवान् श्रीविष्णुके चरणयुगलोंको हृदयमें धारण करके सारथी रूपिणी बुद्धिकी सहायतासे इस संसारसे अतिशीघ्र अपना उद्धार कर लूँगा, जिससे मुझे पुनः नाना प्रकारके गर्भवासरूप दुःखोंको और भोगना न पड़े॥ २१॥

श्रीभगवानुवाच—

एवं कृतमतिर्गर्भे दशमास्य स्तुवन्नृषिः।
सद्यः क्षिपत्यवाचीनं प्रसूत्यै सूतिमारुतः॥ २२॥

भगवान् श्रीकपिलदेवने कहा—हे माता! इस प्रकार दस महीनेका गर्भस्थ जीव जब ऐसे विवेकसे सम्पन्न होकर भगवान्की स्तुति करता है, तब प्रसवकी कारणस्वरूप वायु उसी क्षण उस अधोमुख शिशुको भूमिष्ठ अर्थात् गर्भसे बाहर आनेके लिए धकेल देती है॥ २२॥

तेनावसृष्टः सहसा कृत्वावाक्शिर आतुरः।
विनिष्क्रामति कृच्छ्रेण निरुच्छ्वासो हतस्मृतिः॥ २३॥

उसी प्रसवकालीन वायुके द्वारा धकेले जानेपर वह जीव अत्यन्त व्याकुल होकर नीचे सिर करके बड़े कष्टसे बाहर निकलता है। उस समय उसके श्वासकी गति अवरुद्ध हो जाती है और उसकी स्मरण शक्ति विलुप्त हो जाती है॥ २३॥

पतितो भुव्यसृङ्मिश्रो विष्ठाभूरिव चेष्टते।
रोरूयति गते ज्ञाने विपरीतां गतिं गतः॥ २४॥

अनन्तर वह जीव माताके गर्भसे रक्तसे सने कलेवरसे भूमिपर गिरकर (गर्भसे बाहर निकलकर) विष्ठाके कीड़ेके समान अपने अङ्गोंका हिलाता-डुलाता है। उस समय विपरीत दशा अर्थात् देहाभिमानरूप अविद्यासे आवृत होनेसे उसका गर्भवासका समस्त ज्ञान नष्ट हो जाता है, जिससे वह पुनः-पुनः उच्च स्वरसे रोने लगता है॥ २४॥

परच्छन्दमविदुषा पुष्यमाणो जनेन सः।
अनभिप्रेतमापन्नः प्रत्याख्यातुमनीश्वरः॥ २५॥

इसके बाद जो लोग उसके अभिप्रायको नहीं समझ पाते, ऐसे अज्ञ व्यक्तियोंके द्वारा उस नव-प्रसूत-शिशुका पालन-पोषण होता है। अतः वह पालन करनेवाले व्यक्ति बालकके रोनेके कारणको जाननेमें असमर्थ होकर उसके रोनेपर उसे उसके द्वारा न चाही गयी वस्तु प्रदान कर देते हैं। (अर्थात् जब वह भूखसे रोता है, तब उसकी भावनाको न समझकर वे उसे पेट दर्द आदिकी औषधि देते हैं तथा जब वह पेट दर्द आदिके कारण रोता है, तो उसे दूध पिलाते हैं।) इस प्रकार शिशुको जो प्रतिकूलता प्राप्त होती है, वह उसका निषेध करनेमें भी समर्थ नहीं हो पाता॥ २५॥

शायितोऽशुचिपर्यङ्के जन्तुः स्वेदजदूषिते।
नेशः कण्डूयनेऽङ्गानामासनोत्थानचेष्टने॥ २६॥

शिशुके पालक उस शिशुको मल-मूत्रादिसे अपवित्र शय्यापर सुलाकर रखते हैं। उस शय्यामें पसीनेसे उत्पन्न खटमल आदि चिपके रहते हैं तथा वे उस शिशुके शरीरको काटते रहते हैं। उस समय वह शिशु अपने शरीरको खुजलाने, शय्यादिसे उठने अथवा करवट बदलनेकी चेष्टा भी नहीं कर पाता है॥ २६॥

तुदन्त्यामत्वचं दंशा मशका मत्कुणादयः।
रुदन्तं विगतज्ञानं कृमयः कृमिकं यथा॥ २७॥

बड़े-बड़े कीड़े जिस प्रकार छोटे-छोटे कीड़ोंको डँसते है, उसी प्रकार डाँस, मच्छर और खटमल आदि शिशुके कोमल-शरीरको पाकर उसे डँसते रहते हैं। उस समय शिशुका गर्भमें उदित ज्ञान नष्ट

हो चुका होता है और वह प्रतिकारका कोई उपाय करनेमें असमर्थ होनेके कारण केवल पीड़ा अनुभव करते हुए रोता रहता है॥ २७॥

इत्येवं शैशवं भुक्त्वा दुःखं पौगण्डमेव च।
अलब्धाभीप्सितोऽज्ञानादिद्धमन्युः शुचार्पितः॥ २८॥

सह देहेन मानेन वर्द्धमानेन मन्युना।
करोति विग्रहं कामी कामिष्वन्ताय चात्मनः॥ २९॥

इस प्रकार जन्मसे लेकर पाँचवें वर्ष तक पूर्वोक्त क्लेशोंका भोग करनेके बाद पौगण्ड अवस्थामें जीव अध्ययन आदिके दुःखका अनुभव करता है। तत्पश्चात् जब वह यौवन अवस्थामें पहुँचता है, तब अभिलषित वस्तुओंको प्राप्त न कर पानेके कारण अज्ञानतावश क्रोधसे जलने लगता है और शोकसे अभिभूत हो जाता है। शरीरकी वृद्धिके साथ-साथ उसका देहात्माभिमान भी बढ़ता जाता है। कामकी पूर्ति न होनेपर जिस क्रोधकी उत्पत्ति होती है, तब वह कामी जीव उस क्रोधसे अभिभूत होकर अपने ही विनाशके लिए दूसरे कामीजनोंके साथ वैर ठान लेता है॥ २८-२९॥

भूतैः पञ्चभिरारब्धे देहे देह्यबुधोऽसकृत्।
अहं-ममेत्यसद्ग्राहः करोति कुमतिर्मतिम्॥ ३०॥

मूढ़ और मन्दबुद्धि वह जीव पञ्चभूतोंसे निर्मित इस देहमें पुनः-पुनः 'मैं' और 'मेरा' की बुद्धि कर लेता है अर्थात् वह अनित्य वस्तुको ही ग्रहण करता है, किन्तु सत्य अर्थात् नित्य वस्तुको नहीं॥ ३०॥

तदर्थं कुरुते कर्म यद्बद्धो याति संसृतिम्।
योऽनुयाति ददत् क्लेशमविद्याकर्मबन्धनः॥ ३१॥

जो देह अविद्या और कर्मोंके द्वारा जीवके बन्धनका कारण बनकर जीवको क्लेश प्रदान करती हुई जन्म-जन्म तक जीवका पीछा करती है, मूढ़ देही पुनः उसी देहके लिए ही नाना प्रकारके कर्मोंका अनुष्ठान करता हुआ कर्मोंके द्वारा ही बद्ध होकर पुनः-पुनः संसार-चक्रमें भ्रमण करता रहता है॥ ३१॥

यद्यसद्भिः पथि पुनः शिश्नोदरकृतोद्यमैः।
आस्थितो रमते जन्तुस्तमो विशति पूर्ववत्॥ ३२॥

सत्पथपर रहते हुए भी जीव यदि उदर और उपस्थ वृत्तिको चरितार्थ करनेमें ही व्यस्त होकर असाधु व्यक्तियोंका सङ्ग करता है तथा उन्हींके द्वारा दिखलाये गये मार्गपर ही चलता है, तो इसके फलस्वरूप वह पहलेकी भाँति नरकमें प्रवेश करता है॥ ३२॥

सत्यं शौचं दया मौनं बुद्धिर्ह्रीः श्रीर्यशः क्षमा।
शमो दमो भगश्चेति यत्सङ्गाद्याति संक्षयम्॥ ३३॥
तेष्वशान्तेषु मूढेषु खण्डितात्मस्वसाधुषु।
सङ्गं न कुर्याच्छोच्येषु योषित्क्रीडामृगेषु च॥ ३४॥

सत्य, शौच (बाहरी एवं भीतरी पवित्रता), दया, मौन (वाणीका संयम), परम-पुरुषार्थ विषयिनी मति, लज्जा, धन-धान्य लक्षणयुक्त सम्पत्ति अथवा हरिसेवामयी शोभा, कीर्त्ति, क्षमा, बाह्य इन्द्रियों और अन्तर मनका निग्रह, चित्तका प्रशान्त भाव, उन्नति आदि सद्‌गुण असत् जनोंके संसर्गसे पूर्ण रूपसे क्षय हो जाते हैं। अतः अपने परम कल्याणकी कामना करनेवाले व्यक्तियोंको अशान्त, देहमें आत्म-बुद्धिसे युक्त, क्रीड़ामृगके[१] समान कामिनियोंके वशीभूत, मूढ़ और अत्यन्त शोचनीय असाधु व्यक्तियोंका सङ्ग कभी भी नहीं करना चाहिये॥ ३३-३४॥

न तथास्य भवेन्मोहो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः।
योषित्सङ्गाद्यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसङ्गतः॥ ३५॥

स्त्री और स्त्री-सङ्गी व्यक्तिके संसर्गसे जीवोंको जैसा मोह और बन्धन होता है, वैसा और किसी वस्तुके संसर्गसे नहीं होता॥ ३५॥

प्रजापतिः स्वां दुहितरं दृष्ट्वा तद्रूपधर्षितः।
रोहिद्भूतां सोऽन्वधावदृष्यरूपी हतत्रपः॥ ३६॥

देखिये, स्वयं प्रजापति ब्रह्मा भी अपनी दुहिता (कन्या) को देखकर उसके रूप-लावण्यसे मोहित हो गये थे। यहाँ तक कि जब

---

[१] खेलने, मन बहलानेके लिए पाला हुआ हिरण।

उस कन्याने उनके भयसे मृगीका रूप धारण कर लिया, तब भी वे अपनी उस कन्याके पीछे-पीछे मृगरूप धारण करके निर्लज्जके समान दौड़ पड़े थे॥ ३६॥

तत्सृष्टसृष्टसृष्टेषु को न्वखण्डितधीः पुमान्।
ऋषिं नारायणमृते योषिन्मय्येह मायया॥ ३७॥

अतः कामिनीके रूप मात्रको देखकर जब ब्रह्माजीमें भी मोह उपस्थित हो जाता है, तब उनके ही द्वारा सृष्ट मरीचि आदि ऋषियों और उन मरीचि आदिके द्वारा सृष्ट कश्यप आदि तथा कश्यप आदिके द्वारा सृष्ट देव-मनुष्यादि किस प्रकार स्त्री और स्त्री-सङ्गीके संसर्गसे अविचलित हुए बिना रह सकते हैं? एकमात्र नारायण ऋषिके अतिरिक्त क्या ऐसा कोई पुरुष है, जो स्त्री-रूपिणी मायासे विमुग्ध न होकर अविचल रह सके?॥ ३७॥

बलं मे पश्य मायायाः स्त्रीमय्या जयिनो दिशाम्।
या करोति पदाक्रान्तान् भ्रूविजृम्भेण केवलम्॥ ३८॥

हे माता! मेरी स्त्री-रूपिणी-मायाके प्रभावको तो देखो! यह स्त्री-रूपिणी माया एकमात्र अपनी भ्रू-भङ्गिमासे ही दिग्विजयी वीरों तक को भी अपने पैरोंमें झुकवा लेती है॥ ३८॥

सङ्गं न कुर्यात् प्रमदासु जातु
योगस्य पारं परमारुरुक्षुः।
मत्सेवया प्रतिलब्धात्मलाभो
वदन्ति या निरयद्वारमस्य॥ ३९॥

जो योगके परम-फलको प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें कभी भी स्त्रियोंका सङ्ग नहीं करना चाहिये, क्योंकि योगीगणोंके अनुसार स्त्रियाँ आत्म-अनात्मका विवेक रखनेवाले मुमुक्षओंके लिए नरकका द्वार-स्वरूप हैं॥ ३९॥

योपयाति शनैर्माया योषिद्देवविनिर्मिता।
तामिक्षेतात्मनो मृत्युं तृणैः कूपमिवावृतम्॥ ४०॥

दैव-द्वारा निर्मित स्त्री-रूपिणी माया सेवा-शुश्रूषाके छलसे धीरे-धीरे पुरुषके समीप जाती है, किन्तु बुद्धिमान पुरुष तिनकोंसे ढके हुए कुएँके समान उसे अपनी मृत्युके रूपमें ही देखते हैं॥ ४०॥

यां मन्यते पतिं मोहान्मन्मायामृषभायतीम्।
स्त्रीत्वं स्त्रीसङ्गतः प्राप्तो वित्तापत्यगृहप्रदम्॥ ४१॥

स्त्री-सङ्गके कारण अन्तकालमें जीव स्त्रीके ध्यानके द्वारा स्त्री-जन्म प्राप्त करता है और तब वह पुरुषके समान आचरण करनेवाली मेरी स्त्रीरूपी मायाको मोहवशतः धन, पुत्र एवं गृह आदिको प्रदान करनेवाला पति मान बैठता है॥ ४१॥

तामात्मनो विजानीयात् पत्यपत्यगृहात्मकम्।
दैवोपसादितं मृत्युं मृगयोर्गायनं यथा॥ ४२॥

जिस प्रकार व्याधका कर्णप्रिय गान मृगके लिए उसकी मृत्युका कारण बनता है, उसी प्रकार पति, पुत्र और गृह स्वरूप मायाके आपाततः अनुकूल प्रतीत होनेपर भी स्त्री-देहधारी जीव यदि बुद्धिमान हो, तब वह उन सबको निश्चित ही दैव-प्रेरित मृत्युके रूपमें ही जाने॥ ४२॥

देहेन जीवभूतेन लोकाल्लोकमनुव्रजन्।
भुञ्जान एव कर्माणि करोत्यविरतं पुमान्॥ ४३॥

जीव अपने उपाधि-स्वरूप लिङ्गशरीरके साथ एक लोकसे दूसरे लोकमें भटकता हुआ निरन्तर कर्मफलोंका भोग करता है, किन्तु फिर भी वह दूसरी देहोंकी प्राप्तिके कारणस्वरूप उन कर्मोंमें ही लगा रहता है॥ ४३॥

जीवो ह्यस्यानुगो देहो भूतेन्द्रिय-मनोमयः।
तन्निरोधोऽस्य मरणमाविर्भावस्तु सम्भवः॥ ४४॥

जीवका उपाधि-स्वरूप लिङ्गदेह आत्माका अनुगामी है तथा स्थूल भूतादिके विकाररूप स्थूलदेह उसका भोगाधिष्ठान है। इन दोनोंका परस्पर संगठित होकर कार्य न करना ही जीवकी 'मृत्यु' है और दोनोंका एकत्रित होकर प्रकट होना ही 'जन्म' कहलाता है॥ ४४॥

द्रव्योपलब्धिस्थानस्य द्रव्येक्षायोग्यता यदा।
तत्पञ्चत्वमहम्मानादुत्पत्तिर्द्रव्यदर्शनम् ॥
यथाक्ष्णोर्द्रव्यावयवदर्शनायोग्यता यदा।
तदैव चक्षुषो द्रष्टुर्द्रष्टृत्वायोग्यतानयोः ॥ ४५ ॥

तस्मान्न कार्यः सन्त्रासो न कार्पण्यं न सम्भ्रमः।
बुध्वा जीवगतिं धीरो मुक्तसङ्गश्चरेदिह ॥ ४६ ॥

जिस प्रकार चक्षुके दोनों गोलक पीलिया रोगादिके कारण वस्तुओंके रूप-दर्शनमें असमर्थ हो जाते हैं, तब द्रष्टा जीव भी उन वस्तुओंको देखनेमें असमर्थ हो जाता है (इसका कारण है कि स्थूलदेहकी असमर्थतासे लिङ्गदेहकी भी असमर्थता उपस्थित होती है)। ठीक उसी प्रकार जब वस्तुओंकी उपलब्धिका स्थानस्वरूप स्थूलशरीर वस्तुओंकी उपलब्धि करनेमें असमर्थ हो जाता है, तब उसीको 'मरण' अवस्था कहा जाता है तथा जब स्थूलशरीरमें अहंबुद्धिसे वस्तुओंकी उपलब्धि होती है, तो इसीको 'जन्म' कहा जाता है।

अतः जब स्वरूपतः जीवका जन्म-मरण ही नहीं है, तब मृत्युके लिए भय, शोक या फिर जीवन रक्षाके लिए प्रयत्न करना कर्त्तव्य नहीं है। बुद्धिमान व्यक्ति जीवके ऐसे परिणामकी विवेचना करके असत्सङ्गसे रहित होकर इस संसारमें विचरण करे॥ ४५-४६ ॥

सम्यग्दर्शनया बुद्ध्या योगवैराग्ययुक्तया।
मायाविरचिते लोके चरेन्न्यस्य कलेवरम्॥ ४७॥

मुक्तसङ्ग पुरुष भलीभाँति विचार करनेवाली तथा योग-वैराग्यसे युक्त बुद्धिके बलपर माया द्वारा विरचित इस संसार एवं देहके प्रति आसक्ति त्याग करके विचरण करे॥ ४७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां तृतीयस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे श्रीकापिलेये जीवगतिर्नामैकत्रिंशोऽध्यायः॥

द्वात्रिंशोऽध्यायः

सकाम कर्मियोंकी पुनरावृत्ति, निष्काम कर्मियोंकी अनावृत्ति तथा अभक्तोंकी निन्दा

श्रीभगवानुवाच—

अथ यो गृहमेधीयान् धर्मानेवावसन् गृहे।
काममर्थञ्च धर्मान् स्वान् दोग्धि भूयः पिपर्ति तान्॥ १॥

स चापि भगवद्धर्मात् काममूढः पराङ्मुखः।
यजते क्रतुभिर्देवान् पितृंश्च श्रद्धयान्वितः॥ २॥

भगवान् श्रीकपिलदेवने कहा—हे माता! जो गृहव्रत व्यक्ति घरमें ही रहकर गृहमेधीय धर्मोंका पालन करते हुए उनसे धर्म, अर्थ और काम—इस त्रिवर्गका दोहन करके बार-बार उनकी पूर्तिकी कामनासे उन्हींका ही अनुष्ठान करता रहता है, वह व्यक्ति भगवान्के आराधनारूपी आत्मधर्मसे विमुख हो जाता है। कामनाओं द्वारा विमूढ़ वह व्यक्ति कर्मोंके प्रति ही परम श्रद्धा रखकर विविध यज्ञोंके द्वारा प्राकृत देवताओं एवं पितरोंकी अर्चना करता है॥ १-२॥

तच्छ्रद्धयाक्रान्तमतिः पितृदेवव्रतः पुमान्।
गत्वा चान्द्रमसं लोकं सोमपाः पुनरेष्यति॥ ३॥

देवताओं और पितरोंके प्रति श्रद्धा होनेके कारण गृहव्रत व्यक्तिकी बुद्धि उन्हींमें लगी रहती है, जिससे वह पितरों और देवताओंके उद्देश्यसे व्रत धारण किया करता है। इसके फलस्वरूप वह कभी-कभी चन्द्रलोक पहुँचकर सोमरसका पान करता है, किन्तु कुछ समय बाद पुनः उस स्थानसे उसका अधःपतन हो जाता है॥ ३॥

यदा चाहीन्द्रशय्यायां शेतेऽनन्तासनो हरिः।
तदा लोका लयं यान्ति त एते गृहमेधिनाम्॥ ४॥

जब भगवान् श्रीहरि अनन्त-शय्यापर शयन करते हैं, उस समय गृहमेधियोंको प्राप्त होनेवाले इन समस्त लोकोंका लय हो जाता हैं। अतः उन-उन स्थानोंको प्राप्त करनेवाले प्राणियोंका भी पतन हो जाता है॥ ४॥

ये स्वधर्मं न दुह्यन्ति धीराः कामार्थहेतवे।
निःसङ्गा न्यस्तकर्माणः प्रशान्ताः शुद्धचेतसः॥ ५॥
निवृत्तिधर्मनिरता निर्ममा निरहङ्कृताः।
स्वधर्माप्तेन सत्त्वेन परिशुद्धेन चेतसा॥ ६॥
सूर्यद्वारेण ते यान्ति पुरुषं विश्वतोमुखम्।
परावरेशं प्रकृतिमस्योत्पत्त्यन्तभावनम्॥ ७॥

जो बुद्धिमान व्यक्ति काम और अर्थकी प्राप्तिके लिए अपने-अपने वर्ण और आश्रमके अनुसार उचित धर्मका पालन न कर आत्म-धर्मलब्ध सत्त्वगुण तथा परिशुद्ध चित्तके द्वारा ईश्वरमें कर्म समर्पितकर अनासक्त, प्रशान्त, निवृत्ति-धर्म-परायण, बाह्यविषयोंमें ममताशून्य तथा निरहङ्कार होकर अवस्थान करते हैं, वे सूर्यरश्मिद्वार (अर्चिमार्ग) के माध्यमसे सर्वव्यापी परमेश्वर तथा प्रकृतिके उपादान एवं निमित्त कारण-स्वरूप पुरुषावतारको प्राप्त होते हैं॥ ५-७॥

द्विपरार्द्धावसाने यः प्रलयो ब्रह्मणस्तु ते।
तावदध्यासते लोकं परस्य परचिन्तकाः॥ ८॥

जो परमेश्वरबुद्धिसे हिरण्यगर्भ विराट् पुरुषका ध्यान करते हैं, वे द्विपरार्द्ध काल अर्थात् ब्रह्माजीके प्रलय होने तक सत्यलोकमें ही वास करते हैं॥ ८॥

क्ष्माम्भोऽनलानिलवियन्मनइन्द्रियार्थ-
भूतादिभिः परिवृतं प्रतिसञ्जिहीर्षुः।
अव्याकृतं विशति यर्हि गुणत्रयात्मा
कालं पराख्यमनुभूय परः स्वयम्भूः॥ ९॥

जिस समय ब्रह्माजी पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, इन्द्रिय एवं शब्दादि तन्मात्रा तथा अहङ्कारादि द्वारा व्याप्त ब्रह्माण्डका

द्विपरार्ध कालतक भोग करनेके उपरान्त उसका संहार करनेकी अभिलाषा करते हैं, उस समय वे त्रिगुणात्मक स्वयम्भू ब्रह्मा प्रकृतिके अन्तर्यामी परमेश्वरमें प्रवेश करते हैं॥ ९॥

एवं परेत्य भगवन्तमनुप्रविष्टा
ये योगिनो जितमरुन्मनसो विरागाः।
तेनैव साकममृतं पुरुषं पुराणं
ब्रह्म प्रधानमुपयान्त्यगताभिमानाः॥ १०॥

जिन्होंने श्वास एवं प्राणोंको जीत लिया है, वे विरक्त योगी पुरुष इस प्रकार दूरमें जाकर अर्थात् ब्रह्मलोकमें देहका परित्याग करके हिरण्यगर्भमें अनुप्रविष्ट होते हैं। वे 'ब्रह्माके उपासक' के अभिमानसे युक्त होकर ब्रह्माजीके साथ ही परमानन्द-स्वरूप, पुराण-पुरुष, उत्कृष्ट ब्रह्मस्वरूपको प्राप्त होते हैं। ऐसे अभिमानके कारण ही उनका परमेश्वरमें आत्यन्तिक लय नहीं होता, किन्तु प्राकृतिक लय होता है, अतएव जगत्की सृष्टिके समय उनकी भी सृष्टि होती है॥ १०॥

अथ तं सर्वभूतानां हृत्पद्मेषु कृतालयम्।
श्रुतानुभावं शरणं व्रज भावेन भाविनि॥ ११॥

(भगवान्के उपासक क्रममुक्तिको प्राप्त नहीं करके साक्षात् रूपसे भगवान्को ही प्राप्त करते हैं।) अतएव हे भक्तिमती! आप साक्षात् भगवत्-स्वरूपका ही भजन कीजिये। भगवान् समस्त प्राणियोंके हृदयरूप कमलमें अपना आवास-स्थान विरचितकर वहाँ नित्य अवस्थित रहते हैं। आप वेदोंके द्वारा जाने जा सकनेवाले उन्हीं भगवान्की प्रेम-लक्षण युक्त भक्तियोगसे शरण ग्रहण कीजिये॥ ११॥

आद्यः स्थिरचराणां यो वेदगर्भः सहर्षिभिः।
योगेश्वरैः कुमाराद्यैः सिद्धैर्योगप्रवर्तकैः॥ १२॥

भेददृष्ट्याभिमानेन निःसङ्गेनापि कर्मणा।
कर्तृत्वात् सगुणं ब्रह्म पुरुषं पुरुषर्षभम्॥ १३॥

स संसृत्य पुनः काले कालेनेश्वरमूर्तिना।
जाते गुणव्यतिकरे यथापूर्वं प्रजायते॥ १४॥

जो वेदगर्भ ब्रह्माजी स्थावर-जङ्गमके आदिस्रष्टा हैं, वे ब्रह्मा तक भी मरीचि आदि ऋषियों, योगेश्वरों, योग-सिद्धों तथा सनत्कुमारादि ऋषियोंके साथ निष्काम कर्मोंके द्वारा गुणाधिष्ठाता प्रथम अवतार-पुरुषको प्राप्त करके भी भगवान्‌में मायासे युक्त ब्रह्मत्वकी बुद्धि एवं भगवान्‌के नित्यस्वरूप श्रीविग्रहको मायिक वस्तुओंका ही एक भेद मान लेते हैं। इस कारणसे अर्थात् अप्राकृत रूपमें प्राकृत अभिमान करनेके कारण ईश्वरकी मूर्त्तिरूस्वरूप कालके प्रभावसे सृष्टिके प्रारम्भमें प्रकृतिके तीनों गुणोंमें क्षोभ होनेपर वे पूर्व-पूर्व कल्पोंकी भाँति पुनः जन्म-ग्रहण करते हैं॥ १२-१४॥

ऐश्वर्यं पारमेष्ठ्यञ्च तेऽपि कर्मविनिर्मितम्।
निषेव्य पुनरायान्ति गुणव्यतिकरे सति॥ १५॥

हे माता! इस प्रकार पूर्वोक्त ऋषिगण भी अपने-अपने कर्मोंके फलानुसार ऐश्वर्य, ब्रह्मलोकमें वास आदि यथोचित भोगोंका भोग करके गुणोंके क्षोभका समय उपस्थित होनेपर अपने-अपने अधिकारके अनुसार पुनः लौट आते हैं॥ १५॥

ये त्विहासक्तमनसः कर्मसु श्रद्धयान्विताः।
कुर्वन्त्यप्रतिषिद्धानि नित्यान्यपि च कृत्स्नशः॥ १६॥

रजसा कुण्ठमनसः कामात्मानोऽजितेन्द्रियाः।
पितृन् यजन्त्यनुदिनं गृहेष्वभिरताशयाः॥ १७॥

त्रैवर्गिकास्ते पुरुषा विमुखा हरिमेधसः।
कथायां कथनीयोरुविक्रमस्य मधुद्विषः॥ १८॥

जो संसारमें आसक्त चित्त होकर अत्यन्त श्रद्धाके साथ बहुत प्रकारके प्राकृत काम्य और वेदोक्त नित्य-कर्मोंका अनुष्ठान करते हैं, जिनका मन रजोगुणकी अधिकताके कारण विक्षिप्त-सा रहता है, जो नाना प्रकारकी कामनाएँ ही करते रहते हैं तथा जो इन्द्रियोंमें आसक्त और गृहमेधीके कार्योंमें निरत होकर नित्य-निरन्तर पितरोंकी आराधना करते हैं—ऐसे लोग संसार-बन्धनका नाश करनेवाले मधुसूदन भगवान् श्रीहरिके एकमात्र कीर्त्तन योग्य महत्-विक्रम सम्पन्न गुण-कीर्त्तनसे

विमुख होकर केवल धर्म-अर्थ-कामरूप त्रिवर्गके साधनमें ही व्यस्त रहते हैं॥ १६-१८॥

नूनं दैवेन विहता ये चाच्युतकथासुधाम्।
हित्वा शृण्वन्त्यसद्गाथाः पुरीषमिव विड्भुजः॥ १९॥

हाय! ऐसे लोग तो बड़े ही भाग्यहीन और दैव द्वारा प्रताड़ित हैं। जिस प्रकार विष्ठाभोजी शूकर दूध एवं खाँडका परित्याग करके विष्ठाको ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार ये भी श्रीकृष्णके हरिकथारूपी अमृतका परित्याग करके असत्-विषय-वार्त्ताओंका ही श्रवण करते हैं॥ १९॥

दक्षिणेन पथार्यम्णः पितृलोकं व्रजन्ति ते।
प्रजामनु प्रजायन्ते श्मशानान्तक्रियाकृतः॥ २०॥

गर्भाधानसे लेकर श्मशान (अन्त्येष्टि) तक समस्त क्रियाओंको यथाविधि करनेवाले ऐसे गृहव्रत व्यक्ति सूर्यके दक्षिणायन पथ द्वारा पितृलोकमें जाते हैं और फिर वहाँसे भ्रष्ट होकर अपने-अपने पुत्र-पौत्रादिके वंशमें जन्म-ग्रहण करते हैं॥ २०॥

ततस्ते क्षीणसुकृताः पुनर्लोकमिमं प्रति।
पतन्ति विवशा देवैः सद्यो विभ्रंशितोदयाः॥ २१॥

(किसलिए वे पुत्र-पौत्र आदिके वंशमें जन्म-ग्रहण करते हैं? इसीके लिए कह रहे हैं—)उनकी नश्वर कर्ममयी सुकृतियोंके क्षीण हो जानेपर वे दैववशतः उन लोकोंके भोगोंसे वञ्चित हो जाते हैं तथा विवश होकर पुनः इसी मर्त्त्यलोकमें पतित होते हैं॥ २१॥

तस्मात् त्वं सर्वभावेन भजस्व परमेष्ठिनम्।
तद्गुणाश्रयया भक्त्या भजनीयपदाम्बुजम्॥ २२॥

अतएव हे मातः! आप भगवान्के गुणोंका आश्रय करनेवाले 'भक्तियोग' के द्वारा अतिशय प्रीतिके साथ परमेश्वरकी आराधना कीजिये। भगवान्के श्रीचरणकमल ही समस्त जीवोंके लिए एकमात्र भजनीय वस्तु हैं॥ २२॥

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं यद्ब्रह्मदर्शनम्॥ २३॥

भगवान् श्रीकृष्णमें प्रेमभक्तिको उदित करानेवाले (साधन) भक्तियोगके अनुष्ठित होनेपर शीघ्र ही कृष्णेतर विषयोंसे वैराग्य एवं निर्मल ज्ञान उदित होता है। जीवको ज्ञान और वैराग्यके लिए स्वतन्त्र रूपमें चेष्टा करनेकी आवश्यकता नहीं रहती तथा उस निर्मल ज्ञानसे ही ब्रह्म-साक्षात्कार होता है॥ २३॥

यदास्य चित्तमर्थेषु समेष्विन्द्रियवृत्तिभिः।
न विगृह्णाति वैषम्यं प्रियमप्रियमित्युत॥ २४॥

स तदैवात्मनात्मानं निःसङ्गं समदर्शनम्।
हेयोपादेयरहितमारूढं पदमीक्षते॥ २५॥

जब उस भक्तका चित्त श्रीभगवान्के गुणोंमें ही अनुरक्त होकर निश्चल हो जाता है तथा इन्द्रिय-वृत्तिके द्वारा वह किसी वस्तुको प्रिय और किसीको अप्रिय जाननेरूपी विषमताको धारण नहीं करता, तभी वह भक्त विशुद्ध बुद्धिके द्वारा स्वप्रकाश, सङ्ग-रहित, जड़ीय हेय और उपादेय—दोनों भावोंसे वर्जित और सर्वत्र समदर्शी हो जाता है तथा 'मैं परमानन्द स्वरूप हूँ'—इस प्रकारका निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त करके आत्माका दर्शन करता है॥ २४-२५॥

ज्ञानमात्रं परं ब्रह्म परमात्मेश्वरः पुमान्।
दृश्यादिभिः पृथग्भावैर्भगवानेक ईयते॥ २६॥

अद्वयज्ञानस्वरूप चित्-विग्रह भगवान्को दृश्य, द्रष्टा तथा करणके भेदसे ब्रह्म, परमात्मा, पुरुष और परमेश्वर इत्यादि बहुत-से नामोंसे पुकारा जाता है अर्थात् ज्ञानयोगके द्वारा वे असम्यक् प्रतीति ब्रह्म रूपमें, अष्टाङ्गयोगके द्वारा आंशिक प्रतीति परमात्मा रूपमें तथा शुद्धभक्तिके द्वारा सम्यक्प्रतीति स्वयं-भगवान्के रूपमें दृष्ट होते हैं॥ २६॥

एतावानेव योगेन समग्रेणेह योगिनः।
युज्यतेऽभिमतो ह्यर्थो यदसङ्गस्तु कृत्स्नशः॥ २७॥

भक्ति ही सर्वत्र जीवोंके चरम प्रयोजनका मूल-स्वरूप है, किन्तु सभी प्रकारके योगों अर्थात् कर्म, ज्ञान और अष्टाङ्गादि योगके द्वारा प्रपञ्च-सङ्गसे उदासीनता मात्र ही प्राप्त होती है॥ २७॥

ज्ञानमेकं पराचीनैरिन्द्रियैर्ब्रह्म निर्गुणम्।
अवभात्यर्थरूपेण भ्रान्त्या शब्दादिधर्मणा॥ २८॥

अद्वयज्ञानस्वरूप निर्गुण परब्रह्म ही बहिर्मुख इन्द्रियोंके द्वारा जीवके द्वितीय अभिनिवेशके कारण इन्द्रियग्राह्य शब्द, स्पर्शादिके रूपमें प्रतीत होते हैं॥ २८॥

यथा महानहंरूपस्त्रिवृत् पञ्चविधः स्वराट्।
एकादशविधस्तस्य वपुरण्डं जगद् यतः॥ २९॥

जिस प्रकार एकमात्र महत्-तत्त्व ही त्रिगुणात्मक—वैकारिक, राजस और तामस अहङ्कारके रूपमें, फिर पञ्चभूतोंके रूपमें, फिर एकादश इन्द्रियोंके रूपमें, फिर समष्टि-व्यष्टि-विराट रूपमें, फिर जीवोंके स्थूल-सूक्ष्म शरीरके रूपमें, फिर ब्रह्माण्डके रूपमें और फिर मायिक जगत्के रूपमें प्रकाशित होता है, उसी प्रकार एक अद्वय ब्रह्मकी चित्-शक्तिके परिणामसे चित्-जगत्, तटस्थाशक्तिके परिणामसे जैव-जगत् और बहिरङ्गाशक्तिके परिणामसे मायिक जगत् प्रकाशित हुए हैं—वस्तुतः सभी ब्रह्मात्मक हैं॥ २९॥

एतद्वै श्रद्धया भक्त्या योगाभ्यासेन नित्यशः।
समाहितात्मा निःसङ्गो विरक्तः परिपश्यति॥ ३०॥

हे माता! जो श्रद्धा, भक्ति एवं योगानुष्ठानके द्वारा सर्वदा स्थिर-चित्त, असत्-सङ्गसे रहित और संसारकी आसक्तिसे शून्य हो गये हैं, केवल वही इस जगत्को ब्रह्मात्मक रूपमें दर्शन कर सकते हैं॥ ३०॥

इत्येतत् कथितं गुर्वि ज्ञानं तद्ब्रह्मदर्शनम्।
येनावबुध्यते तत्त्वं प्रकृतेः पुरुषस्य च॥ ३१॥

हे पूज्ये! मैंने आपको ब्रह्म-दर्शनके द्वारस्वरूप जिस ज्ञान-साधनके विषयमें बतलाया है, उस ज्ञानके द्वारा प्रकृति एवं पुरुष (जीव) का यथार्थ तत्त्व जाना जा सकता है॥ ३१॥

ज्ञानयोगश्च मन्निष्ठो नैर्गुण्यो भक्तिलक्षणः।
द्वयोरप्येक एकार्थो भगवच्छब्दलक्षणः॥ ३२॥

निर्गुण अर्थात् कैवल्य आदिकी वाञ्छासे रहित शुद्ध ज्ञानयोग एवं मुझमें निष्ठायुक्त भक्तियोग—दोनोंका एक ही प्रयोजन है अर्थात् ये दोनों ही 'भगवत्' शब्द द्वारा ज्ञापक वस्तुको प्राप्त करानेमें समर्थ हैं॥ ३२॥

यथेन्द्रियैः पृथग्द्वारैरर्थो बहुगुणाश्रयः।
एको नानेयते तद्वद्भगवान् शास्त्रवर्त्मभिः॥ ३३॥

जिस प्रकार रूप-रस आदि बहुत-से गुणोंके आश्रय स्वरूप दूध आदि द्रव्य एक होनेपर भी भिन्न-भिन्न योग्यतासे युक्त इन्द्रियों द्वारा नाना रूपमें प्रतीत होते हैं (जैसे दूध नेत्रों द्वारा सफेद, स्पर्शेन्द्रिय द्वारा शीतल एवं जिह्वाके द्वारा मधुर अनुभूत होता है), उसी प्रकार एक अद्वयवस्तु भगवान् ही शास्त्रोंके विभिन्न मार्गोंके द्वारा विभिन्न रूपोंमें प्रतीत होते हैं॥ ३३॥

क्रियया क्रतुभिर्दानैस्तपःस्वाध्यायमर्शनैः।
आत्मेन्द्रियजयेनापि संन्यासेन च कर्मणाम्॥ ३४॥
योगेन विविधाङ्गेन भक्तियोगेन चैव हि।
धर्मेणोभयचिह्नेन यः प्रवृत्तिनिवृत्तिमान्॥ ३५॥
आत्मतत्त्वावबोधेन वैराग्येण दृढेन च।
ईयते भगवानेभिः सगुणो निर्गुणः स्वदृक्॥ ३६॥

कूप खनन आदि पवित्र कर्म, यज्ञ और दानादि गृहस्थके धर्म हैं; तपस्यादि वानप्रस्थके धर्म हैं; वेदादि शास्त्रोंका अध्ययन और मीमांसा अथवा शास्त्र-विचार आदि ब्रह्मचारीके धर्म हैं तथा मन एवं इन्द्रियोंका जय करना आदि संन्यासीके धर्म हैं। कर्मोंका त्याग, विविध

अङ्गोंसे सम्पन्न राजयोग, भगवद्भक्तियोग, प्रेम एवं ब्रह्मानुभव, भगवान्‌के अतिरिक्त अन्यान्य विषयोंसे एकनिष्ठ वैराग्य—इन प्रवृत्तिपरक और निवृत्ति लक्षणात्मक भगवत्-धर्मोंके द्वारा भगवान् सगुण, निर्गुण तथा स्व-स्वरूपमें अनुभूत होते हैं (अर्थात् यज्ञ और दान आदि प्रवृत्ति मार्ग द्वारा सगुण-स्वर्ग आदिके रूपमें, संन्यास आदि निवृत्ति मार्ग द्वारा निर्गुण ब्रह्म-परमात्मा आदिके रूपमें तथा भगवत्-भक्तियोगके द्वारा भगवान् स्वप्रकाश, स्वराट्, नित्य स्व-स्वरूपमें दृष्ट होते हैं। अतएव भक्तियोग ही सर्वश्रेष्ठ और नित्य परिपूर्ण वस्तु प्रदान करनेमें समर्थ है)॥ ३४-३६॥

प्रावोचं भक्तियोगस्य स्वरूपं ते चतुर्विधम्।
कालस्य चाव्यक्तगतेर्योऽन्तर्धावति जन्तुषु॥ ३७॥

हे माता! मैंने आपको त्रिगुण और निर्गुणके भेदसे चार प्रकारके भक्तियोगके लक्षण तथा प्राणियोंकी उत्पत्ति एवं प्रलय आदिके कारणस्वरूप अव्यक्तगति कालके भी लक्षण बतलाये हैं॥ ३७॥

जीवस्य संसृतीर्बह्वीरविद्याकर्मनिर्मिताः।
यास्वङ्ग प्रविशन्नात्मा न वेद गतिमात्मनः॥ ३८॥

हे माता! जिस अविद्याके कारण किये गये कर्मों द्वारा निर्मित बहुत प्रकारके संसाररूपी बन्धनोंमें प्रविष्ट होनेपर जीव आत्मगति अर्थात् अपने वास्तविक स्वरूपको प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं हो पाते, उस संसार-गतिके विषयका भी मैंने वर्णन किया है॥ ३८॥

नैतत् खलायोपदिशेन्नाविनीताय कर्हिचित्।
न स्तब्धाय न भिन्नाय नैव धर्मध्वजाय च॥ ३९॥
न लोलुपायोपदिशेन्न गृहारूढचेतसे।
नाभक्ताय च मे जातु न मद्भक्तद्विषामपि॥ ४०॥

हे माता! मैंने जो आपको आत्मतत्त्व विषयक इस ज्ञानका उपदेश दिया है, उसे दूसरोंको उद्वेग देनेवाले, अविनीत, अत्यधिक अभिमानी, दुराचारी, धर्मध्वजी, विषय भोगोंको अधिकाधिक मात्रामें प्राप्त करनेके

लिए अत्यन्त लोभी, पुत्र, पत्नी और धनमें अत्यन्त आसक्त, अभक्त और मेरे भक्तोंके द्वेषी व्यक्तियोंको कभी भी नहीं बतलाना चाहिये॥ ३९–४०॥

श्रद्दधानाय भक्ताय विनीतायानसूयवे।
भूतेषु कृतमैत्राय शुश्रूषाभिरताय च॥ ४१॥
बहिर्जातविरागाय शान्तचित्ताय दीयते।
निर्मत्सराय शुचये यस्याहं प्रेयसां प्रियः॥ ४२॥

परन्तु जो व्यक्ति श्रद्धावान्, भक्त, विनीत, शिष्टाचाररूपी मर्यादासे युक्त, ईर्ष्या–द्वेषसे रहित, समस्त प्राणियोंके प्रति दयासे युक्त, (गुरु) सेवामें रत, बाह्य विषयोंमें आसक्तिशून्य, शान्तचित्त, निर्मत्सर, बाहरी एवं भीतरी रूपमें पवित्र तथा मुझे समस्त प्रियवस्तुओंसे भी अधिक प्रियतर मानते हैं, ऐसे योग्य अधिकारी व्यक्तियोंको ही इसका उपदेश करना चाहिये॥ ४१–४२॥

य इदं शृणुयादम्ब श्रद्धया पुरुषः सकृत्।
यो वाभिधत्ते मच्चित्तः स ह्येति पदवीञ्च मे॥ ४३॥

हे माता! जो व्यक्ति श्रद्धाके साथ एकबार भी इसका श्रवण करते हैं अथवा जो मुझमें एकनिष्ठचित्त होकर इसका कीर्त्तन करते हैं, वे निश्चय ही मेरी पदवी अर्थात् मेरे धामको प्राप्त होते हैं॥ ४३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां तृतीयस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय–संवादे श्रीकापिलेये कर्मविपाको नाम द्वात्रिंशोऽध्यायः॥

त्रयोस्त्रिंशोऽध्यायः

भगवान् श्रीकपिलदेवके द्वारा उपदिष्ट मार्गका अनुसरण करनेसे माता देवहूतिको भगवान्‌की प्राप्ति

श्रीमैत्रेय उवाच—

एवं निशम्य कपिलस्य वचो जनित्री
सा कर्दमस्य दयिता किल देवहूतिः।
विस्रस्तमोहपटला तमभिप्रणम्य
तुष्टाव तत्त्वविषयाङ्कितसिद्धिभूमिम्॥ १ ॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! भगवान् कपिलदेवके इन सब वचनोंको सुनकर उनकी माता कर्दम ऋषिकी पत्नी देवहूतिका मोहरूपी आवरण दूर हो गया। उन्होंने सांख्य-ज्ञानके प्रवर्त्तक श्रीकपिलदेवको प्रणाम किया और उनकी स्तुति करते हुए कहने लगीं॥ १ ॥

श्रीदेवहूतिरुवाच—

अथाप्यजोऽन्तःसलिले शयानं
भूतेन्द्रियार्थात्ममयं वपुस्ते।
गुणप्रवाहं सदशेषबीजं
दध्यौ स्वयं यज्जठराब्जजातः॥ २ ॥

माता देवहूतिने कहा—हे देव! आपका यह व्यक्त (गर्भोदकशायी रूप) देह पञ्चभूत, इन्द्रिय, शब्द, आत्मा और मन—इन सबके द्वारा परिव्याप्त है, यह अनन्त कार्य-कारणोंका बीज-स्वरूप है एवं इसमें समस्त प्रकारके गुणोंका प्रवाह वर्त्तमान है। ब्रह्माजीने आपके नाभि-कमलसे उत्पन्न होकर कारणजलमें शयनकारी आपके इस तनुका ही चिन्तन किया था, किन्तु वे इसका दर्शन नहीं कर पाये थे॥ २ ॥

स एव विश्वस्य भवान् विधत्ते
गुणप्रवाहेण विभक्तवीर्यः।

सर्गाद्यनीहोऽवितथाभिसन्धि–
रात्मेश्वरोऽतर्क्यसहस्रशक्तिः ॥ ३ ॥

आप स्वयं निष्क्रिय होकर भी गुण–प्रवाह रूपमें अपनी शक्तिका विभाग करके इस विश्वकी सृष्टि, स्थिति और विनाश–साधनरूप तीन प्रकारके कार्योंका सम्पादन करते हैं। आप ही जीवोंके ईश्वर (भोक्ता) हैं एवं आपकी अनन्त शक्ति तर्कसे परे है॥ ३॥

स त्वं भृतो मे जठरेण नाथ
कथं नु यस्योदर एतदासीत्।
विश्वं युगान्ते वटपत्र एकः
शेते स्म मायाशिशुरङ्घ्रिपानः॥ ४॥

हे प्रभो! प्रलय कालमें यह परिदृश्यमान विश्व आपके उदरमें अवस्थित था। अहो! मैंने आपको किस प्रकार गर्भमें धारण किया था! आपने प्रलय–कालमें भी अपनी स्वरूपशक्तिके प्रभावसे शिशुरूप धारण करके अपने पैरका अँगूठा चूसते हुए अकेले ही वटवृक्षके पत्तेपर 'शयन' किया था॥ ४॥

त्वं देहतन्त्रः प्रशमाय पाप्मनां
निदेशभाजाञ्च विभो विभूतये।
यथावतारास्तव शूकरादय–
स्तथायमप्यात्मपथोपलब्धये ॥ ५॥

हे विभो! आपने पापात्माओंके दमन और अपने आज्ञाकारी भक्तोंकी समृद्धि और शुद्ध ज्ञानमार्गके प्रदर्शनके लिए वराह आदि अन्यान्य अवतारोंके समान कृपापूर्वक इस चिदानन्द तनुको स्वीकार किया है॥ ५॥

यन्नामधेयश्रवणानुकीर्तनाद्
यत्प्रह्वणाद् यत्स्मरणादपि क्वचित्।
श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते
कुतः पुनस्ते भगवन्नु दर्शनात्॥ ६॥

हे भगवन्! कुक्कुरभोजी अन्त्यज कुलमें उत्पन्न चण्डाल व्यक्ति भी यदि आपके नामोंका श्रवण करनेके बाद उन नामोंका कीर्त्तन, आपको प्रणाम तथा आपका स्मरण करता है, तो वह भी उसी समय सोमयज्ञका अधिकारी हो जाता है और जो आपका दर्शन प्राप्त करते हैं, उनका तो फिर कहना ही क्या?॥ ६॥

अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान्
यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या
ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते॥ ७॥

(अथवा सोमयज्ञके अधिकारी ब्राह्मणसे भी जिस किसी कुलमें उत्पन्न श्रीनाम उच्चारणकारी व्यक्ति अधिक श्रेष्ठ है।) अहो! नाम-ग्रहणकारी व्यक्तियोंकी श्रेष्ठताके विषयमें और क्या कहूँ? जिनकी जिह्वाके अग्रभागमें एक बार भी आपका नाम उच्चारित होता है, वह इस नामोच्चारणके कारण ही चण्डालके घरमें उत्पन्न होनेपर भी पूज्यतम है। उनकी व्यवहारिक ब्राह्मणता तो पूर्वसिद्ध है, क्योंकि वे पूर्व-पूर्व जन्मोंमें ही व्यवहारिक ब्राह्मणोंके समस्त अधिकारोचित कृत्य अर्थात् समस्त प्रकारकी तपस्या, सब प्रकारके यज्ञ, सभी तीर्थोंमें स्नान, सभी वेदोंका अध्ययन और सदाचार समापन करके इस वर्तमान जन्ममें नाम ग्रहण कर रहे हैं॥ ७॥

तं त्वामहं ब्रह्म परं पुमांसं
प्रत्यक्स्रोतस्यात्मनि संविभाव्यम्।
स्वतेजसा ध्वस्तगुणप्रवाहं
वन्दे विष्णुं कपिलं वेदगर्भम्॥ ८॥

आप परब्रह्म परमपुरुष हैं। एक मात्र विषयोंसे हटाये हुए चित्तमें ही आपका सम्यक् ध्यान सम्भव है। आप अपने प्रभावके द्वारा ही गुण-प्रवाहको क्षोभरहित कर देते हैं। प्रलयकालमें आपके ही उदरमें वेद अवस्थित थे। अतएव कपिल रूपमें अवतीर्ण उन श्रीविष्णुके आवेशावतार आपकी मैं वन्दना करती हूँ॥ ८॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

ईडितो भगवानेवं कपिलाख्यः परः पुमान्।
वाचाविक्लवयेत्याह मातरं मातृवत्सलः॥ ९॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! माता देवहूतिने जब इस प्रकारसे श्रीकपिलदेवकी स्तुति की, तब मातृवत्सल परमपुरुष भगवान् कपिल गम्भीर वाणीसे माताको इस प्रकार कहने लगे॥ ९॥

श्रीभगवानुवाच—

मार्गेणानेन मातस्ते सुसेव्येनोदितेन मे।
आस्थितेन परां काष्ठामचिरादवरोत्स्यसि॥ १०॥

भगवान् श्रीकपिलदेवने कहा—हे माता! मैंने आपको जो सब उपदेश प्रदान किये हैं, वह आपके लिए सुगम हैं। इनका अनुष्ठान करनेसे आप शीघ्र ही जीवन्मुक्ति (प्रेमसिद्धि) प्राप्त कर सकेंगी॥ १०॥

श्रद्धत्स्वैतन्मतं मह्यं जुष्टं यद्ब्रह्मवादिभिः।
येन मामभयं याया मृत्युमृच्छन्त्यतद्विदः॥ ११॥

ब्रह्मवेत्ता महापुरुषगण इसी मतका अनुगमन करते हैं, अतः आप भी इस मतमें अपनी श्रद्धा स्थापित कीजिये। इसके द्वारा आप अभयस्वरूप मुझे प्राप्त कर सकेंगी। जो मेरे इस भक्तियोगके विषयसे अनभिज्ञ हैं, वे ही मृत्युके कवलमें पतित होते हैं॥ ११॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

इति प्रदर्श्य भगवानुशतीमात्मनो गतिम्।
स्वमात्रा ब्रह्मवादिन्या कपिलोऽनुमतो ययौ॥ १२॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—इस प्रकार भगवान् श्रीकपिलदेवने श्रेष्ठ आत्मगतिका मार्ग दिखलाकर ब्रह्मवादिनी (आत्मतत्त्वज्ञा) अपनी माताकी अनुमति लेकर वहाँसे प्रस्थान किया॥ १२॥

सा चापि तनयोक्तेन योगादेशेन योगयुक्।
तस्मिन्नाश्रम आपीडे सरस्वत्याः समाहिता॥ १३॥

माता देवहूतिने भी पुत्रके द्वारा उपदेश दिये गये भक्तियोगका

अनुष्ठान करते हुए सरस्वती नदीके पुष्प-मुकुट तुल्य उस आश्रममें समाधिका साधन करना आरम्भ कर दिया॥ १३॥

अभीक्ष्णावगाहकपिशान् जटिलान् कुटिलालकान्।
आत्मानञ्चोग्रतपसा बिभ्रती चीरिणं कृशम्॥ १४॥

तीनों सन्ध्याओंमें स्नान करनेके कारण उनके घुँघराले केशकलाप पीले-पीले वर्णकी जटाओंमें परिणत हो गये। चीर-वस्त्र धारण करके उन्होंने कठोर तपस्यामें निमग्न होकर अपने शरीरको अत्यन्त दुर्बल बना दिया॥ १४॥

प्रजापतेः कर्दमस्य तपोयोगविजृम्भितम्।
स्वगार्हस्थ्यमनौपम्यं प्रार्थ्यं वैमानिकैरपि॥ १५॥

पयःफेननिभाः शय्या दान्ता रुक्मपरिच्छदाः।
आसनानि च हैमानि सुस्पर्शास्तरणानि च॥ १६॥

स्वच्छस्फटिककुड्येषु महामारकतेषु च।
रत्नप्रदीपा आभान्ति ललना रत्नसेयुताः॥ १७॥

गृहोद्यानं कुसुमितै रम्यं बह्वमरद्रुमैः।
कूजद्विहङ्गमिथुनं गायन्मत्तमधुव्रतम्॥ १८॥

यत्र प्रविष्टमात्मानं विबुधानुचरा जगुः।
वाप्यामुत्पलगन्धिन्यां कर्दमेनोपलालितम्॥ १९॥

हित्वा तदीप्सिततममप्याखण्डलयोषिताम्।
किञ्चिच्चकार वदनं पुत्रविश्लेषणातुरा॥ २०॥

प्रजापति कर्दमका गृहस्थाश्रम तपस्या एवं योगके द्वारा अतिशय उज्ज्वल हो उठा था, अतः अब उनका गृहस्थधर्म देवताओंके लिए भी प्रार्थनीय हो गया था। वह गृहस्थाश्रम दुग्ध-फेनके समान शय्या, अतिशय स्पर्श-सुख प्रदान करनेवाले पलङ्क, स्वर्णमय आसन, स्वर्ण परिच्छदसे विभूषित तथा हाथी दाँतके बने पलङ्कोंसे सुशोभित था। महामूल्यवान मरकत मणि और स्वच्छ स्फटिक द्वारा विनिर्मित भित्तियाँ रत्नमय दीपोंकी पंक्तियोंकी किरणोंसे जगमगा रही थीं, उस घरकी ललनाएँ भी रत्नालङ्कारोंसे शोभित थीं, घरके निकटवर्त्ती

उपवन नानाविध पुष्पित पारिजातादि देवतरुओंके द्वारा परम रमणीय शोभाको धारण कर रहा था। पक्षियोंके जोड़े इन तरुओंकी शाखाओंपर बैठकर कूजन करते तथा भ्रमर मधुपानमें मत्त होकर गुञ्जन करते रहते थे। महर्षि कर्दमकी सुरक्षिता देवहूति जब इस उपवनमें कमलोंसे सुगन्धित सरोवरमें अवगाहन करती थीं, तब देवताओंके अनुचर उनका यशोगान करते थे। अधिक क्या? कर्दम ऋषिके गृहस्थ आश्रमका ऐश्वर्य इन्द्रकी ललनाओं तकके लिए भी परम आकांक्षित वस्तु था, परन्तु पुत्रके वियोगजनित विरहसे कातर होकर देवहूतिने उस गृहस्थाश्रम तकका भी परित्याग कर दिया॥ १५-२०॥

वनं प्रव्रजिते पत्यावपत्यविरहातुरा।
ज्ञाततत्त्वाप्यभून्नष्टे वत्से गौरिव वत्सला॥ २१॥

देवहूति तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेपर भी पतिके संन्यासके लिए गमन और पुत्रके वियोगसे उत्पन्न दुःखमें ऐसी व्याकुल हो गयीं, जैसे बछड़ेके बिछुड़ जानेसे उसे प्यार करनेवाली गायकी दशा हो जाती है॥ २१॥

तमेव ध्यायती देवमपत्यं कपिलं हरिम्।
बभूवाचिरतो वत्स निःस्पृहा तादृशे गृहे॥ २२॥

वत्स विदुर! देवहूति इन पुत्ररूपी कपिल-नामक श्रीहरिका चिन्तन करते हुए अति अल्पकालमें ही सुख-ऐश्वर्योंसे परिपूर्ण गृहके प्रति आसक्ति-रहित हो गयी॥ २२॥

ध्यायती भगवद्रूपं यदाह ध्यानगोचरम्।
सुतः प्रसन्नवदनं समस्तव्यस्तचिन्तया॥ २३॥

भक्तिप्रवाहयोगेन वैराग्येण बलीयसा।
युक्तानुष्ठानजातेन ज्ञानेन ब्रह्महेतुना॥ २४॥

विशुद्धेन तदात्मानमात्मना विश्वतोमुखम्।
स्वानुभूत्या तिरोभूतमायागुणविशेषणम्॥ २५॥

ब्रह्मण्यवस्थितमतिर्भगवत्यात्मसंश्रये ॥ २६॥

पुत्र श्रीकपिलदेवने माता देवहूतिको ध्यान करने योग्य प्रसन्न मुखकमलयुक्त स्वरूप जिस सच्चिदानन्द भगवत्-रूपका उपदेश दिया था, देवहूतिने विशुद्धचित्तमें उसी भगवत्-रूपके अङ्गोंका एक ही समय एक साथ और पृथक्-पृथक् भावसे ध्यान करना आरम्भ कर दिया। वे भक्ति प्रवाहरूप योग, प्रबल वैराग्य, परिमित आहार-विहारादिके अनुष्ठान एवं ब्रह्मानुभवके कारण शुद्धभक्तिसे हुए ज्ञानके सहयोगसे विशुद्धात्मा हो गयीं। जो सर्वव्यापी हैं, जिनमें स्वरूप प्रकाशके कारण सत्त्वादि गुण और उनके शोक-मोहादिरूप विशेष धर्म सर्वदा दूरसे निवारित रहते हैं, उन परमात्मास्वरूप भगवान्का ध्यान करते हुए देवहूतिने समस्त जीवोंके एकमात्र आश्रय-स्वरूप भगवान् परब्रह्ममें अपना चित्त स्थिर कर दिया॥ २३-२६॥

निवृत्तजीवापत्तित्वात् क्षीणक्लेशाप्तनिर्वृतिः
नित्यारूढसमाधित्वात् परावृत्तगुणभ्रमा।
न सस्मार तदात्मानं स्वप्ने दृष्टमिवोत्थितः॥ २७॥

उस समय देवहूतिका बद्धजीवभाव (अर्थात् जीवोंकी विपत्ति-स्वरूप अविद्या-भाव अथवा लिङ्गशरीरमें अध्यास) निवृत्त होनेसे उनके समस्त क्लेश दूर हो गये और उन्होंने परम शान्तिको प्राप्त किया। क्रमशः निरन्तर समाधिस्थ रहनेके कारण प्रकृतिके गुणोंसे उत्पन्न उनके भ्रम भी दूर हो गये। जिस प्रकार सोकर उठे हुए पुरुषको अपने स्वप्नमें देखे हुए शरीरकी सुध-बुध भी नहीं रहती, उसी प्रकार वे भी अपने स्थूल एवं लिङ्ग देहके विषयमें विस्मृत हो गयीं॥ २७॥

तद्देहः परतःपोषोऽप्यकृशश्चाध्यसम्भवात्।
बभौ मलैरवच्छन्नः सधूम इव पावकः॥ २८॥

कर्दम ऋषिके योग-प्रभावसे उत्पन्न विद्याधरियाँ माता देवहूतिका पोषण करती रहती थीं। देवहूतिमें मानसिक पीड़ाका कोई कारण न था, अतः उनका देह दुर्बल नहीं हुआ। किन्तु मैलसे आच्छादित रहनेपर भी वह धुएँसे युक्त अग्निके समान दीप्त हो उठा॥ २८॥

स्वाङ्गं तपोयोगमयं मुक्तकेशं गताम्बरम्।
दैवगुप्तं न बुबुधे वासुदेवप्रविष्टधीः॥ २९॥

उनकी बुद्धि प्रतिपल भगवान् श्रीवासुदेवमें निमग्न रहने लगी। तपस्या और योगमें निरत रहनेके कारण उनके सिरके केश मुक्त हो जाते और कभी उनके अङ्ग वस्त्रहीन हो जाते, किन्तु वे इन बातोंका अनुभव नहीं कर पाती थीं। वस्तुतः श्रीभगवान् ही उनकी रक्षा कर रहे थे॥ २९॥

एवं सा कपिलोक्तेन मार्गेणाचिरतः परम्।
आत्मानं ब्रह्म निर्वाणं भगवन्तं तमाप ह॥ ३०॥

हे विदुर! इस प्रकार देवहूतिने भगवान् कपिलदेव द्वारा कहे गये मार्गका आचरण करके शीघ्र ही परमब्रह्म, परमात्मा, और नित्यमुक्त महावैकुण्ठनाथ भगवान्को प्राप्त कर लिया॥ ३०॥

तद्वीरासीत् पुण्यतमं क्षेत्रं त्रैलोक्यविश्रुतम्।
नाम्ना सिद्धपदं यत्र सा संसिद्धिमुपेयुषी॥ ३१॥

हे विदुर! उन्होंने जिस स्थानपर सिद्धि प्राप्त की थी, वह स्थान तीनों लोकोंमें ही पुण्यतम क्षेत्र 'सिद्ध-पद' के नामसे विख्यात है॥ ३१॥

तस्यास्तद्योगविधुत-मार्त्यं मर्त्यमभूत् सरित्।
स्रोतसां प्रवरा सौम्य सिद्धिदा सिद्धसेविता॥ ३२॥

हे सौम्य विदुर! योगके प्रभावसे उनके समस्त दैहिक धातुमल दूर हो गये थे तथा उनका वह शरीर एक श्रेष्ठ सिद्धिदायिनी ('कपिला' नामक) नदीके रूपमें परिणत हो गया है। सिद्धगण नित्य उस नदीकी सेवा किया करते हैं॥ ३२॥

कपिलोऽपि महायोगी भगवान् पितुराश्रमात्।
मातरं समनुज्ञाप्य प्रागुदीचीं दिशं ययौ॥ ३३॥

हे विदुर! महायोगी भगवान् श्रीकपिल भी माता देवहूतिकी अनुमति प्राप्त करके पिताके आश्रमसे उत्तरकी ओर मुख करके चले गये थे॥ ३३॥

सिद्धचारणगन्धर्वैर्मुनिभिश्चाप्सरोगणैः ।
स्तूयमानः समुद्रेण दत्तार्हणनिकेतनः ॥ ३४ ॥
आस्ते योगं समास्थाय साङ्ख्याचार्यैरभिष्टुतः ।
त्रयाणामपि लोकानामुपशान्त्यै समाहितः ॥ ३५ ॥

सिद्ध, चारण, गन्धर्व, मुनि एवं अप्सराओंने श्रीकपिलदेवकी स्तुति की थी तथा समुद्रने भी उन्हें अर्घ्य और निकेतन प्रदान किया था। तीनों लोकोंकी शान्तिके लिए वे आज भी योग अवलम्बनपूर्वक समाधिमें रहते हैं। सांख्याचार्यगण आज भी उनकी स्तुति किया करते हैं ॥ ३४–३५ ॥

एतन्निगदितं तात यत् पृष्टोऽहं तवानघ।
कपिलस्य च संवादो देवहूतेश्च पावनः ॥ ३६ ॥

हे निष्पाप विदुर! तुमने मुझसे जो कुछ पूछा था, मैंने वह समस्त ही बतला दिया है। मैंने तुम्हें भगवान् श्रीकपिलदेव और माता देवहूतिका यह परम-पवित्र संवाद भी सुना दिया है ॥ ३६ ॥

य इदमनुश्रृणोति योऽभिधत्ते
कपिलमुनेर्मतमात्मयोगगुह्यम् ।
भगवति कृतधीः सुपर्णकेता–
वुपलभते भगवत्पदारविन्दम् ॥ ३७ ॥

हे विदुर! जो व्यक्ति श्रद्धाके साथ मुनिवर कपिलके अभिमत इस गुह्य आत्म-योगके तत्त्वको सुनता है या पाठ करता है, उसकी बुद्धि गरुड़ध्वज श्रीकृष्णमें निमग्न हो जाती है और वे अन्तमें श्रीभगवान्के चरणकमलोंकी सेवाको प्राप्त करता है ॥ ३७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां तृतीयस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे श्रीकपिलोपाख्यानं नाम त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥

॥ तृतीयः स्कन्धः समाप्तः ॥



चतुर्थः स्कन्धः

चतुर्थ स्कन्धकी कथाका सार

तृतीय स्कन्धमें जिनका वर्णन किया गया है, वे कपिलदेव स्वायम्भुव मनुके दौहित्र (नाती) थे। मनुकी तीन कन्याएँ और दो पुत्र थे। तीनों कन्याओंमेंसे—आकूतिसे प्रजापति रुचि, देवहूतिसे कर्दम ऋषि तथा प्रसूतिसे प्रजापति दक्षने विवाह किया था। दक्ष प्रजापतिने सोलह कन्याओंको उत्पन्न किया, उनमेंसे सबसे छोटी कन्या सतीसे श्रीशिवने विवाह किया था।

पुरातन काल (स्वायम्भुव मन्वन्तर) में विश्वकी सृष्टि करनेवाले मरीचि आदि प्रजापतियोंके यज्ञमें जब शिवने प्रत्युत्थान[१] आदि द्वारा दक्षके लिए किसी भी प्रकारसे सम्मान प्रदर्शित नहीं किया, तब दक्षने अक्षज (इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानके) विचारसे शिवको अपनी अपेक्षा हीन समझकर बहुत-से देवताओं और ऋषियोंके समक्ष उनकी निन्दा की तथा उन्हें अभिशाप दिया कि देवताओंमें अधम शिव देवताओंके लिए होनेवाले यज्ञोंमें इन्द्र और उपेन्द्र आदि देवताओंके साथ यज्ञभाग प्राप्त नहीं कर सकेगा। शिवजीकी निन्दा सुनकर उनके अनुचर नन्दी बहुत क्रोधित हुए तथा उन्होंने भी दक्षको अभिशाप दिया कि शिवजीकी निन्दा करनेवाले तुम्हारे जैसोंकी मति वेदोंके अर्थवादमें पड़कर विनष्ट हो जायेगी जिसके फलस्वरूप तुम सब देहमें आसक्त होकर बकरेकी भाँति स्त्रीसङ्ग करोगे तथा सर्वभुक् अर्थात् अच्छा-बुरा सबकुछ खानेवाले बनकर परमार्थसे विच्युत होकर संसाररूपी यन्त्रणाका भोग करोगे। नन्दीश्वरके अभिशापके बदलेमें दुस्तर ब्रह्मदण्डरूप शाप देते हुए भृगुने कहा कि शिव-दीक्षामें दीक्षित[२] व्यक्ति पाषण्ड-धर्मका आश्रय करनेवाले होंगे।

बहुत समयके बाद दक्षने शिव और उनके गणोंका तिरस्कार करते हुए 'बृहस्पति-सव' नामक यज्ञ आरम्भ किया। तीनों लोकोंके

---

[१] किसी बड़ेके आनेपर उसके प्रति सम्मान प्रकट करनेके लिए अपने आसनसे उठ जाना।

[२] श्रीशिवजीके अनुचरोंका अनुसरण करनेवाले।

सभी अधिवासियोंको उक्त यज्ञमें योगदान करते देखकर सतीमें भी पितृयज्ञ देखनेकी प्रबल उत्कण्ठा उत्पन्न हुई। जब सतीने शिवजीके निकट पितृयज्ञमें चलनेके लिए प्रार्थना की, तब शिवजीने दक्ष द्वारा मरीचि आदि प्रजापतियोंके यज्ञमें किये गये उनके व्यवहारका स्मरण कराके सतीको जानेके लिए निषेध किया। श्रीशिवने सतीसे कहा कि जो विद्या, तपस्या, धन, देह, आयु और कुल आदि साधुमें विद्यमान रहनेसे गुणके रूपमें शोभायमान होते हैं, वही गुण असाधु व्यक्तिमें रहनेपर उनमें अभिमान उत्पन्न करते हैं। जो भगवान् वासुदेवके दास हैं तथा वासुदेवमें प्रणत होकर जीव मात्रके प्रति ही सम्मान प्रदर्शित करते हैं, उन्हें वैष्णवोंके अतिरिक्त अन्य किसी बहिर्मुख जीवको स्वतन्त्र रूपसे अभिवादन आदि करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

श्रीशिवके इन वचनोंको सुनकर भी इन वचनोंका उल्लंघन करके सती अपने पिताके घरमें गयी। उनकी माता और बहनोंके अतिरिक्त किसीने भी दक्षके भयसे उनसे कोई बातचीत नहीं की। जब सतीने देखा कि यज्ञमें रुद्रका भाग नहीं है, तब उसने कहा "दुर्जन व्यक्ति यदि वैष्णवकी निन्दा करें तो सामर्थ्य रहनेपर उसकी जिह्वाका छेदन करके अपनी देहका त्याग करना ही कर्त्तव्य है और असमर्थ व्यक्तिके लिए कानोंको ढककर उस स्थानका त्याग करना ही कर्त्तव्य है।" सतीने वैष्णव-विद्वेषी पिताके द्वारा उत्पन्न देहको धारण करनेमें घृणा अनुभव करके योगबलसे अपनी देहको त्याग दिया।

श्रीनारद आदिके मुखसे सतीके देह त्यागके विषयमें सुनकर शिवजीने क्रोधित होकर सिरसे एक जटाको उखाड़कर उसे भूमिपर दे मारा, जिससे वीरभद्र उत्पन्न हुए। वीरभद्रने शिवजीके आदेशानुसार दक्षके यज्ञमें जाकर यज्ञको विध्वंस करके दक्षका विनाश कर दिया।

दक्षके विनाशके विषयमें सुनकर ब्रह्माजी अन्यान्य देवताओं सहित शिवजीके समीप गये तथा अनेक स्तव आदिके द्वारा शिवजीको प्रसन्न करके उन्होंने दक्षके पुनर्जीवनके लिए प्रार्थना की। शिवजीकी कृपासे दक्ष बकरेके मुण्डको लगाकर जीवित हुए तथा उन्होंने फिरसे यज्ञ आरम्भ करके रुद्र और श्रीहरिको यज्ञका भाग प्रदान किया। सतीने

हिमालयके घरमें जन्म-ग्रहण करके फिरसे शिवजीको पतिरूपमें प्राप्त किया।

स्वायम्भुव मनुके पुत्र उत्तानपादकी सुनीति और सुरुचि नामक दो पत्नियाँ थीं। सुरुचि पतिको अत्यन्त प्रिय थी। सुनीतिके पुत्र ध्रुवने सौतेली माता सुरुचिके वचनोंसे दुःखी होकर सब प्रकारके दुःखोंको दूर करनेवाले भगवान् श्रीहरिकी आराधनाके उद्देश्यसे वनकी ओर गमन किया। मार्गमें बालक ध्रुवने श्रीनारदकी कृपा प्राप्तकी तथा उन्हींके निर्देशानुसार कठोर तपस्या द्वारा श्रीहरिको सन्तुष्ट किया। तब भगवान्ने प्रसन्न होकर बालक ध्रुवको वर माँगनेके लिए कहा। ध्रुवने इसके उत्तरमें कहा कि श्रीविष्णुसे नरक-प्राप्य विषयोंके लिए प्रार्थना करना मूढ़ता है। भक्तोंके साथ हरि-कथामृतका श्रवण और कीर्त्तन ही जीवके लिए एकमात्र वाञ्छनीय है, क्योंकि उससे जिस आनन्दकी प्राप्ति होती है, ब्रह्मानन्दमें भी उस प्रकारके सुखकी अनुभूति नहीं होती, फिर देवता पद तो अति तुच्छ है। ध्रुवको अपूर्व धाम, सुदीर्घ जीवन और अप्रतिद्वन्द्वी साम्राज्यका भलीभाँति भोग करनेका वर देकर श्रीहरि अन्तर्द्धान हो गये। भगवान्के आदेशानुसार ध्रुव राजपुरीमें लौट आये। तब ध्रुवकी तरुण अवस्था देखकर राजा उत्तानपादने कुछ समय पश्चात् ध्रुवको राज्य भार सौंपकर स्वयं वानप्रस्थको स्वीकार किया।

ध्रुवके द्वारा राज्यको प्राप्त करनेके बाद उनकी सौतेली माता सुरुचिके पुत्र (अर्थात् सौतेले भाई) उत्तम एक दिन शिकारके लिए गये तथा वहाँ यक्षके हाथों मारे गये। जब ध्रुवको उक्त घटनाकी सूचना मिली, तब ध्रुव यक्षपुरीमें जाकर यक्षोंका विनाश करनेमें प्रवृत्त हुए। उस समय स्वायम्भुव मनुने वहाँ जाकर महाराज ध्रुवसे कहा कि देहात्माभिमानी जीव ही परस्पर हिंसा करते हैं, भगवद्भक्त तो सभी जीवोंके प्रति समदर्शी होते हैं। भाई आदिका सम्बन्ध तो पञ्चभौतिक देहका सम्बन्धमात्र है। भगवान्की काल शक्तिके प्रभावसे ही देहका विनाश होता है तथा अपने-अपने कर्मोंके अनुसार ही जीवोंको विभिन्न गतियोंकी प्राप्ति होती है। भगवान् ही सभीके मूल कारण हैं, उन्हें ढूँढ़नेसे 'मैं' और 'मेरा' रूपी बुद्धि दूर हो जाती है।

स्वायम्भुव मनुके उपदेशसे ध्रुव महाराज हिंसाके कार्यसे निवृत्त हुए और तब यक्षपति कुबेरने महाराज ध्रुवको वरदान माँगनेके लिए कहा। महाराज ध्रुवने अचला (नैरन्तर्यमयी) भगवत्-स्मृतिके अतिरिक्त और कुछ भी वर नहीं माँगा। वहाँसे अपने राज्यमें लौटकर ध्रुव महाराजने विविध यज्ञोंके अनुष्ठान द्वारा श्रीहरिकी आराधना करके अन्तमें भगवान् श्रीविष्णुके परमपदको प्राप्त किया।

ध्रुवके वंशज अङ्गराजसे वेन उत्पन्न हुए। वेनके निष्ठुर व्यवहारसे अङ्गराजने राज्यका परित्याग कर दिया। वेन राज्यभार ग्रहण करके महाभागवतोंके साथ दुर्व्यवहार करने लगा। मुनियोंने वेनको सदुपदेश प्रदान करते हुए कहा कि सर्वलोक आराध्य श्रीहरिके सेवकोंकी अवज्ञा करना अनुचित है। उन सेवकोंकी कृपाके बलसे श्रीहरिको प्राप्त करनेपर जीवोंके लिए और कुछ भी अप्राप्य नहीं रहता। मुनियोंके वचनोंको सुनकर वेन क्रोधित होकर कहने लगा कि वही एकमात्र सभीका पूज्य है, उसकी अवहेलना करके श्रीहरिकी आराधना करना कुलटा स्त्रीके व्यभिचारकी भाँति है। मुनियोंने भगवान् विष्णुकी निन्दा श्रवण करके हुँकार शब्दके द्वारा वेनका विनाश कर दिया। वेनकी माताने मन्त्रके बलसे वेनकी मृत देहकी रक्षा की। राजाके अभावसे राज्यमें अनेक उपद्रव होने लगे। मुनियोंने मृत वेनकी भुजाओंका मन्थन किया, जिससे भगवान् विष्णुके अंश पृथु अपनी पत्नी सहित आविर्भूत हुए। ब्रह्माजीके साथ देवताओंने आकर पृथुको अस्त्र-शस्त्रादि अनेक उपहार प्रदान करके उन्हें राज्यपदपर अभिषिक्त किया। वन्दिगणोंने जब महाराज पृथुका स्तव करना आरम्भ किया, तब उन्होंने वन्दिगणोंको यह शिक्षा दी कि पुण्यकीर्त्ति श्रीविष्णुकी लीला-कथाओंके रहते मेरे जैसे अव्यक्त कीर्त्ति[१] राजाओंके स्तव द्वारा वाक्यका वृथा व्यय करना अनुचित है। महाराज पृथुने एक सौ यज्ञ करनेका व्रत लिया। अन्तिम यज्ञके समय इन्द्र द्वारा यज्ञीय अश्वका अपहरण करनेपर महाराज पृथु यज्ञ-आहुति द्वारा इन्द्रको नष्ट करनेमें प्रवृत्त हुए, किन्तु तब ब्रह्माजीने आकर उन्हें ऐसा करनेसे रोका। यज्ञेश्वर विष्णुने यज्ञस्थलीमें उपस्थित होकर पृथुको तत्त्वोपदेश

[१] अप्रकाशित पराक्रमवाले/अप्रसिद्ध।

प्रदान करके उन्हें सर्वत्र समबुद्धि होकर प्रजापालन करनेका आदेश दिया। महाराज पृथुने भगवान् विष्णुके आदेशसे इन्द्रके प्रति वैरभावको त्याग दिया। जब भगवान् विष्णुने महाराज पृथुको वर ग्रहण करनेके लिए कहा, तब पृथु महाराजने सर्वप्रथम साधुके मुखसे हरि-कीर्त्तनके श्रवणके फलकी महिमाका गान किया और तदुपरान्त भगवत्-गुणानुवाद-श्रवण करनेके लिए अनन्त कानोंके लिए प्रार्थना की। भगवान् विष्णु उनके वचनोंसे सन्तुष्ट होकर अन्तर्धान हो गये।

महाराज पृथुके राज्याभिषेकके बाद जब पृथ्वी अन्न-रहित हो गयी, तब प्रजा भूखसे कातर होकर महाराज पृथुके शरणागत हुई। 'पृथ्वी द्वारा औषधियोंको ग्रास कर लिया गया है'—ऐसा अनुमान करके महाराज पृथुने पृथ्वीको लक्ष्य करके बाण चढ़ाया। तब पृथ्वीके भयभीत होकर महाराज पृथुके शरणागत होनेपर महाराज पृथुने पृथ्वीके वचनानुसार वत्स एवं पात्र आदिके भेदसे पृथ्वीसे औषधियोंका दोहन किया।

महाराज पृथुने और भी एक यज्ञका अनुष्ठान करके प्रजाको परम पुरुष भगवान् विष्णुका भजन और वैष्णवोंको सम्मान प्रदान करनेका उपदेश दिया।

भगवान्‌के आदेशसे सनत्कुमारके महाराज पृथुकी सभामें उपस्थित होनेपर महाराज पृथुने उनसे जीवोंके श्रेयः (कल्याण) प्राप्तिके उपायकी जिज्ञासा की। सनत्कुमारने कहा कि विषयसङ्गका त्याग करके भगवान् मुकुन्दके चरित्रका आस्वादन, आत्मेन्द्रिय-प्रीतिमूलक कपट भजनका त्याग, हरिगुणगान तथा सहिष्णुता आदि द्वारा परब्रह्ममें नैष्ठिकी भक्ति उत्पन्न होनेपर देह आदिमें 'अहंता' और 'ममता' नष्ट होती है; वही जीवोंके लिए चरम मङ्गलका विषय है। केवल विषयोंकी चिन्ता स्मृति-विभ्रम उत्पन्न करके आत्म-विनाशका कारण बनती है।

महाराज पृथुने सनत्कुमारके उपदेशानुसार तपोवनमें जाकर भक्तिमार्ग विहित अनुष्ठान द्वारा कर्मके मूलको नष्ट किया। इससे श्रीहरिके प्रति उनकी ऐकान्तिकी भक्तिका उदय हुआ तथा संसार बन्धन नष्ट हो

गया। अन्तमें महाराज पृथु द्वारा योगबलसे देह त्याग करनेपर उनकी पत्नीने भी उनका अनुगमन किया।

पृथु पुत्र विजिताश्वके हविर्द्धान नामक पुत्रके पुत्र बर्हिषत्‌ने यज्ञानुष्ठानपूर्वक प्राचीनाग्र नामक कुश द्वारा पृथ्वी तलको आच्छादन किया था, इसलिए वे प्राचीनबर्हिके नामसे विख्यात हुए। प्रचेतागण इन्हीं प्राचीनबर्हिके ही पुत्र थे। प्रचेताओंने शिवजीके उपदेशसे 'रुद्रगीत' नामक स्तव द्वारा दस हजार वर्षों तक भगवान् विष्णुकी आराधना की थी। वैष्णव प्रवर रुद्रने प्रचेताओंसे कहा था कि विष्णुभक्त ही उन्हें अत्यधिक प्रिय हैं। स्वधर्मनिष्ठ व्यक्ति सौ जन्मोंमें ब्रह्मत्व और उसके बाद रुद्रका साक्षात्कार प्राप्त करता है, किन्तु वैष्णवगण शीघ्र ही भगवान् विष्णुके परमपदको प्राप्त करनेमें समर्थ होते हैं। स्वर्ग तो दूरकी बात है, वैष्णवगण तो मुक्तिको भी तुच्छ समझते हैं।

जिस समय प्रचेतागण तपस्या कर रहे थे, उस समय देवर्षि नारदने प्राचीनबर्हिके निकट जाकर उन्हें उपदेश दिया कि कर्मके द्वारा कभी भी परम मङ्गलकी प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि यज्ञ आदि कर्मोंमें मारे गये पशु अगले जन्ममें मारनेवालेसे बदला लेते हैं। इस प्रसङ्गमें देवर्षि नारदने एक उपाख्यानका वर्णन किया जिसमें पुरञ्जन नामक एक राजा भोग बुद्धि द्वारा विषयोंमें आसक्त होकर विविध चेष्टाओं द्वारा अनन्त प्रकारके भोगोंसे भी तृप्त नहीं हो पाया। उसने यज्ञ द्वारा जिन सब पशुओंको मारा था, वे पुरञ्जनकी मृत्युके बाद यमलोकमें अपनी हत्याका बदला लेने लगे। अन्तमें पूर्वजन्ममें सदैव स्त्रीकी चिन्ता करनेके फलस्वरूप उसने स्त्रीके रूपमें जन्म-ग्रहण किया तथा कृष्णभक्त महाभागवत राजा मलयध्वजसे उसका विवाह हुआ। इस जन्ममें सौभाग्यसे कृष्णभक्तके सङ्गको प्राप्त करके वैराग्यसे युक्त भक्तियोगका आश्रय लेकर उन्होंने परमार्थ प्राप्त किया। यह पुरञ्जन और कोई नहीं, अपितु जीवोंकी स्वतन्त्रताके अपव्यवहारके फलस्वरूप श्रीकृष्ण विस्मृति और भोग बुद्धिके कारण विषयोंमें आसक्तिके फलस्वरूप जैसी दुर्गति होती है, उसीका ही एक रूपक[१] स्वरूप

[१] 'रूपक'—उपमान और उपमेयका साधर्म्यवशतः जो तदात्म्य है, उसे 'रूपक' अलङ्कार कहते हैं।

आदर्श दृष्टान्तमात्र है। देवर्षि नारदने प्राचीनबर्हिसे और भी कहा कि केवल कर्मके द्वारा त्रिताप-यन्त्रणाके प्रतिकारकी चेष्टा सिरके भारको सिरसे उतारकर कन्धेपर रखकर थकावट कम करनेकी भाँति है। कर्म द्वारा उच्च-नीच अनेक योनियोंमें भ्रमण करना पड़ता है। स्वप्नमें देखा गया दुःख जिस प्रकार जागृत अवस्थाके बिना दूर नहीं होता, उसी प्रकार वासुदेवके प्रति की गयी भक्तिके बिना अन्य किसी भी उपायसे जीवोंका मङ्गल नहीं होता। साधुके मुखसे निकली हरिकथाके श्रवण द्वारा ही जीव तीनों प्रकारके तापोंसे मुक्त होकर परम प्रयोजन भगवत्-प्रेमको प्राप्त करनेमें समर्थ होता है। तथाकथित गुरु आत्मतत्त्वको नहीं जानते, सद्गुरु ही जीवोंके संशयोंका छेदन करते हैं। मन ही संसार प्राप्तिका कारण है। राजा प्राचीनबर्हिने देवर्षि नारदके उपदेशसे भक्तियोगका आश्रय करके सारूप्य मुक्ति प्राप्त की थी।

प्रचेताओंने विष्णुकी आराधना करके उन्हें सन्तुष्ट किया। भगवान् विष्णुने प्रचेताओंके समक्ष प्रकट होकर वर माँगनेके लिए कहा। प्रचेताओंने वैष्णवसङ्ग प्राप्तिरूपी वरकी प्रार्थना की, क्योंकि क्षणमात्रके साधुसङ्गसे असीम कल्याणकी प्राप्ति होती है। उन्होंने श्रीविष्णुके आदेशसे प्रम्लोचा नामक अप्सराकी मारिषा नामक कन्याका पाणिग्रहण करके 'दक्ष' नामक पुत्रको उत्पन्न किया। इसी दक्षने श्रीशिवजीके शापसे गर्भ यन्त्रणाको प्राप्त किया था।

प्रचेताओंने दक्षके हाथमें राज्य समर्पण करके भक्तियोगके आश्रयसे मुक्तिको प्राप्त किया था।



श्रीमद्भागवतम्

चतुर्थः स्कन्धः

प्रथमोऽध्यायः

स्वायम्भुव मनुकी कन्याओंके पृथक्-पृथक् वंशका वर्णन और उनमें यज्ञादि मूर्त्ति द्वारा भगवान् श्रीहरिका आविर्भाव

श्रीमैत्रेय उवाच—

मनोस्तु शतरूपायां तिस्रः कन्याश्च जज्ञिरे।
आकूतिर्देवहूतिश्च प्रसूतिरिति विश्रुताः॥ १॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! शतरूपाके गर्भसे स्वायम्भुव मनुकी जिन तीन कन्याओंका जन्म हुआ था—वे आकूति, देवहूति एवं प्रसूतिके नामसे प्रसिद्ध थीं। इसके अतिरिक्त उन स्वायम्भुव मनुके प्रियव्रत और उत्तानपाद नामक दो पुत्र भी उत्पन्न हुए॥ १॥

आकूतिं रुचये प्रादादपि भ्रातृमतीं नृपः।
पुत्रिकाधर्ममाश्रित्य शतरूपानुमोदितः॥ २॥

स्वायम्भुव मनुने अपनी पत्नी महारानी शतरूपाकी सम्मतिसे तीन कन्याओंमेंसे सबसे बड़ी 'आकूति' का विवाह 'पुत्रिका धर्म'(१) के अनुसार प्रजापति रुचिके साथ किया॥ २॥

प्रजापतिः स भगवान् रुचिस्तस्यामजीजनत्।
मिथुनं ब्रह्मवर्चस्वी परमेण समाधिना॥ ३॥

---

(१) पुत्रिका धर्मके अनुसार किये जानेवाले विवाहमें यह शर्त होती है कि कन्याका जो पहला पुत्र होगा, उसे कन्याके पिता ले लेंगे। इस विषयमें अधिक जानाकारीके लिए 'मनुः संहिता' द्रष्टव्य है।

ब्रह्मतेजसे सम्पन्न और ऐश्वर्यवान उन प्रजापति रुचिने अत्यन्त संयमित-चित्त द्वारा अपनी पत्नी आकूतिके गर्भसे एक पुत्र और एक कन्याको उत्पन्न किया॥ ३॥

यस्तयोः पुरुषः साक्षाद्विष्णुर्यज्ञस्वरूपधृक्।
या स्त्री सा दक्षिणा भूतेरंशभूतानपायिनी॥ ४॥

उन दोनोंमेंसे 'यज्ञ' नामक पुत्र तो यज्ञरूपधारी साक्षात् श्रीविष्णु थे और कन्या 'दक्षिणा' के नामसे विख्यात भगवान्‌से कभी भी अलग न रहनेवाली श्रीलक्ष्मीकी अंश थी॥ ४॥

आनिन्ये स्वगृहं पुत्र्याः पुत्रं विततरोचिषम्।
स्वायम्भुवो मुदा युक्तो रुचिर्जग्राह दक्षिणाम्॥ ५॥

स्वायम्भुव मनु बड़े आनन्दके साथ अपनी पुत्री आकूतिके परम तेजस्वी पुत्र यज्ञको अपने भवनमें ले आये। प्रजापति रुचिने अपनी पुत्री 'दक्षिणा' को ग्रहण किया अर्थात् वे अपनी पुत्रीको पुत्रके समान मानकर उसका पालन-पोषण करने लगे॥ ५॥

तां कामयानां भगवानुवाह यजुषां पतिः।
तुष्टायां तोषमापन्नोऽजनयद्द्वादशात्मजान्॥ ६॥

कुछ समयके बाद विवाहयोग्य होनेपर जब दक्षिणाने अपने सहोदर (भाई) यज्ञके साथ विवाह करनेकी अभिलाषा की, तब भगवान् यज्ञ अथवा यज्ञमूर्त्ति विष्णुने परम सन्तुष्ट होकर उसका पाणिग्रहण किया जिससे दक्षिणा अत्यधिक आनन्दित हुई। तत्पश्चात् यज्ञने दक्षिणाके गर्भसे बारह पुत्र उत्पन्न किये॥ ६॥

तोषः प्रतोषः सन्तोषो भद्रः शान्तिरिडस्पतिः।
इध्मः कविर्विभुः स्वाह्नः सुदेवो रोचनो द्विषट्॥ ७॥

इन बारह पुत्रोंके नाम तोष, प्रतोष, सन्तोष, भद्र, शान्ति, इडस्पति, इध्म, कवि, विभु, स्वाह्न, सुदेव एवं रोचन हुए॥ ७॥

तुषिता नाम ते देवा आसन् स्वायम्भुवान्तरे।
मरीचिमिश्रा ऋषयो यज्ञः सुरगणेश्वरः॥ ८॥

प्रियव्रतोत्तानपादौ मनुपुत्रौ महौजसौ।
तत्पुत्रपौत्रनप्तॄणामनुवृत्तं तदन्तरम्॥ ९॥

प्रजापति रुचिके ये बारह नाती ही स्वायम्भुव मन्वन्तरमें 'तुषित' नामक देवता हुए। उस मन्वन्तरमें मरीचि आदि जन सप्तर्षि थे, भगवान् यज्ञ ही देवताओंके अधीश्वर इन्द्र थे और महान् प्रभावशाली प्रियव्रत एवं उत्तानपाद मनुपुत्र थे। वह मन्वन्तर उन्हीं दोनोंके पुत्रों और नातियोंके वंशसे भर गया तथा उन्हींके द्वारा ही परिपालित हुआ॥ ८-९॥

देवहूतिमदात् तात कर्दमायात्मजां मनुः।
तत्सम्बन्धि श्रुतप्रायं भवता गदतो मम॥ १०॥

हे वत्स (विदुर)! स्वायम्भुव मनुने अपनी दूसरी कन्या देवहूतिको महर्षि कर्दमके हाथमें समर्पित किया था। मैं पहले आपको उनके विषयमें ही विस्तारपूर्वक बतला रहा था, अतएव आपने उनके विषयमें प्रायः सबकुछ सुन लिया है॥ १०॥

दक्षाय ब्रह्मपुत्राय प्रसूतिं भगवान् मनुः।
प्रायच्छद्यत्कृतः सर्गस्त्रिलोक्यां विततो महान्॥ ११॥

महा-ऐश्वर्यशाली स्वायम्भुव मनुने अपनी सबसे छोटी कन्या प्रसूतिको ब्रह्माजीके पुत्र दक्षको प्रदान किया। उन्हींके विशाल-वंश द्वारा ही तीनों लोक परिव्याप्त हुए॥ ११॥

याः कर्दमसुताः प्रोक्ता नव ब्रह्मर्षिपत्नयः।
तासां प्रसूतिप्रसवं प्रोच्यमानं निबोध मे॥ १२॥

मैंने आपको पहले महर्षि कर्दमकी जिन नौ कन्याओंके विषयमें बतलाया था, वे नौ कन्याएँ नौ ब्रह्मर्षियोंकी पत्नियाँ बनी थीं। अब मैं पुत्र-पौत्रादिके क्रमसे उनके वंश-विस्तारका वर्णन कर रहा हूँ, श्रवण कीजिये॥ १२॥

पत्नी मरीचेस्तु कला सुषुवे कर्दमात्मजा।
कश्यपं पूर्णिमानञ्च ययोरापूरितं जगत्॥ १३॥

मरीचि ऋषिकी पत्नी तथा कर्दमकी पुत्री 'कला' ने कश्यप एवं पूर्णिमा नामक दो पुत्रोंको जन्म दिया। इन दोनोंके वंश द्वारा ही जगत् परिपूर्ण हुआ है॥ १३॥

पूर्णिमासूत विरजं विश्वगञ्च परन्तप।
देवकुल्यां हरेः पादशौचाद्याभूत् सरिद्दिवः॥ १४॥

हे परन्तप विदुर! उनमेंसे पूर्णिमाके विरज एवं विश्वग नामक दो पुत्र हुए। इसके अतिरिक्त देवकुल्या नामकी उनकी एक कन्या भी थी। यह कन्या ही दूसरे जन्ममें श्रीहरिके पाद-प्रक्षालनसे उत्पन्न पुण्यके प्रभावसे इस जगत्में स्वर्गनदी—नदियोंमें श्रेष्ठ गङ्गाके रूपमें प्रकट हुई थी॥ १४॥

अत्रेः पत्न्यनसूया त्रीन् जज्ञे सुयशसः सुतान्।
दत्तं दुर्वाससं सोममात्मेशब्रह्मसम्भवान्॥ १५॥

महर्षि अत्रिकी सहधर्मिणी अनसूयाने दत्तात्रेय, दुर्वासा और सोम (चन्द्रमा) नामक तीन महायशस्वी पुत्रोंको जन्म दिया। ये तीनों पुत्र क्रमसे श्रीविष्णु, रुद्र एवं ब्रह्माके अंशसे आविर्भूत हुए थे॥ १५॥

श्रीविदुर उवाच—

अत्रेर्गृहे सुरश्रेष्ठाः स्थित्युत्पत्त्यन्तहेतवः।
किञ्चिच्चिकीर्षवो जाता एतदाख्याहि मे गुरो॥ १६॥

श्रीविदुरने कहा—हे गुरुदेव! ये तीनों श्रेष्ठ देव तो सृष्टि, स्थिति एवं विनाशके कारण-स्वरूप हैं। ये किस अभिप्रायसे अत्रिके घरमें अवत्तीर्ण हुए, कृपा करके मुझे इसके विषयमें बतलाइये॥ १६॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

ब्रह्मणा चोदितः सृष्टावत्रिर्ब्रह्मविदां वरः।
सह पत्न्या ययावृक्षं कुलाद्रिं तपसि स्थितः॥ १७॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! ब्रह्माजीने जब ब्रह्मविदोंमें श्रेष्ठ महर्षि अत्रिको प्रजाकी सृष्टिके लिए आदेश दिया, तब वे तपस्याके लिए दृढ़सङ्कल्प होकर अपनी सहधर्मिणी अनसूयाके साथ ऋक्ष नामक कुलपर्वतकी ओर चल दिये॥ १७॥

तस्मिन् प्रसूनस्तबक-पलाशाशोककानने।
वार्भिः स्रवद्भिरुद्घुष्टे निर्विन्ध्यायाः समन्ततः॥ १८॥

प्राणायामेन संयम्य मनो वर्षशतं मुनिः।
अतिष्ठदेकपादेन निर्द्वन्द्वोऽनिलभोजनः॥ १९॥

शरणं तं प्रपद्येऽहं य एव जगदीश्वरः।
प्रजामात्मसमां मह्यं प्रयच्छत्विति चिन्तयन्॥ २०॥

उस पर्वतपर एक वन था, जो पलाश एवं अशोक वृक्षोंसे सुशोभित था। उसके सभी वृक्ष फूलोंके गुच्छोंसे लदे हुए थे। वहाँ निर्विन्ध्या नामकी नदी प्रवाहित हो रही थी, जिसकी जल-तरङ्गोंकी कलकल ध्वनि उस स्थानपर गूँज रही थी। महर्षि अत्रिने प्राणायाम द्वारा चित्तको संयमित करके केवल वायुको आहारके रूपमें ग्रहण करते हुए सर्दी-गर्मी आदि बिना किसी द्वन्द्वके एक सौ वर्षों तक एक पैरपर खड़े होकर इसी पर्वतपर तपस्या की। उस समय वे मन-ही-मन इस प्रकार चिन्तन करते थे कि 'जो इस जगत्के अधीश्वर हैं, मैं उन श्रीहरिकी शरणमें हूँ, वे मुझे अपने ही समान सन्तान प्रदान करें॥'१८-२०॥

तप्यमानं त्रिभुवनं प्राणायामैधसाग्निना।
निर्गतेन मुनेर्मूर्ध्नः समीक्ष्य प्रभवस्त्रयः॥ २१॥

अप्सरोमुनिगन्धर्व-सिद्धविद्याधरोरगैः।
वितायमानयशसस्तदाश्रमपदं ययुः॥ २२॥

प्राणायामरूपी ईन्धनसे दीप्तिवान महर्षि अत्रिके सिरसे एक अग्नि-शिखा उत्पन्न हुई। इस योगाग्निसे तीनों भुवनोंको तप्त होते देखकर अप्सराएँ, मुनि, गन्धर्व, सिद्ध, विद्याधर एवं नागगणों सहित सर्वत्र यशस्वी ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश—ये तीनों प्रभु अत्रिके आश्रममें पधारे॥ २१-२२॥

तत्प्रादुर्भावसंयोग-विद्योतितमना मुनिः।
उत्तिष्ठन्नेकपादेन ददृशे विबुधर्षभान्॥ २३॥

सम्पूर्ण लोकोंके वन्दनीय तीनों देवोंके एक साथ आविर्भूत होनेसे अत्रि मुनिका चित्त प्रसन्नतासे खिल उठा। वे एक ही पैरपर खड़ी हुई अवस्थामें ही तीनों श्रेष्ठ देवोंके दर्शन करने लगे॥ २३॥

प्रणम्य दण्डवद्भूमावुपतस्थेऽर्हणाञ्जलिः।
वृषहंससुपर्णस्थान् स्वैः स्वैश्चिह्नैश्च चिह्नितान्
कृपावलोकेन हसद्वदनेनोपलम्भितान्॥ २४॥

महर्षि अत्रिने देखा कि महेश, ब्रह्मा और विष्णु तीनों क्रमशः वृष, हंस और गरुड़की पीठपर आरूढ़ होकर त्रिशूल, कमण्डलु और चक्र आदि अपने-अपने चिह्नोंको धारण किये हुए हैं। उनके नेत्रोंसे करुणा बरस रही है और उनके मुखपर मन्द हास्य प्रस्फुटित हो रहा है। अत्रि मुनिने भूमिपर दण्डके समान लेटकर उन तीनोंको दण्डवत् प्रणाम किया एवं पुष्पों द्वारा उनकी पूजा की॥ २४॥

तच्छोचिषा प्रतिहते निमील्य मुनिरक्षिणी।
चेतस्तत्प्रवणं युञ्जन्नस्तावीत् संहताञ्जलिः।
श्लक्ष्णया सूक्तया वाचा सर्वलोकगरीयसः॥ २५॥

महर्षि अत्रिके दोनों नेत्र उन तीनों देवोंके तेजकी किरणोंसे बन्द होने लगे, इसलिए वे मुँदे नेंत्रोंसे ही चित्तको उनमें समाहित करके हाथ जोड़कर गम्भीर अर्थवाले मधुर वचनोंसे उन सर्वाराध्य देवोंकी स्तुति करने लगे॥ २५॥

श्रीअत्रिरुवाच—

विश्वोद्भवस्थितिलयेषु विभज्यमानै-
र्मायागुणैरनुयुगं विगृहीतदेहाः।
ते ब्रह्मविष्णुगिरिशाः प्रणतोऽस्म्यहं व-
स्तेभ्यः क एव भवतां म इहोपहूतः॥ २६॥

श्रीअत्रि मुनिने कहा—हे सुरश्रेष्ठगण! प्रत्येक कल्पमें पृथक्-पृथक् रूपमें मायाके सत्त्वादि गुणोंका विभाग करके इस विश्वकी सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय साधित होता है। आप ही इस विश्वकी सृष्टि, स्थिति एवं प्रलयके प्रसिद्ध अधीश्वर ब्रह्मा, विष्णु एवं रुद्रके रूपमें

प्रकट होते हैं। मैं आप तीनोंके चरणोंमें प्रणत होता हूँ। परन्तु मैंने तो आपमेंसे एक अर्थात् सम्पूर्ण जगत्के अधीश्वरका ही आह्वान किया था, अतः आप तीनोंमेंसे वे जगदीश्वर कौन हैं? इसे आप ही कृपा करके बतलाइये॥ २६॥

एको मयेह भगवन् विविधप्रधानै-
श्चित्तीकृतः प्रजननाय कथं नु यूयम्।
अत्रागतास्तनुभृतां मनसोऽपि दूरा
ब्रूत प्रसीदत महानिह विस्मयो मे॥ २७॥

आपमेंसे जो षडैश्वर्यशाली भगवान् हैं और जो समस्त देवताओंमें प्रधान हैं, मैंने पुत्रकी उत्पत्तिके लिए चित्तमें उन्हींकी ही भावना करके बहुत प्रकारके पूजा-उपचारोंसे उनकी आराधना की थी। किन्तु आप देहधारी व्यक्तिके मनके अगोचर होकर भी किसलिए एक साथ एक ही समयमें उपस्थित हुए हैं? आप प्रसन्न होकर इस विषयको कृपापूर्वक व्यक्त कीजिये। मुझे इस विषयमें बड़ा विस्मय हो रहा है॥ २७॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

इति तस्य वचः श्रुत्वा त्रयस्ते विबुधर्षभाः।
प्रत्याहुः श्लक्ष्णया वाचा प्रहस्य तमृषिं प्रभो॥ २८॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वररूपी वे तीनों श्रेष्ठ देव महर्षि अत्रिके इन वचनोंको सुनकर मन्द-मन्द मुस्कराते हुए मधुर वचनोंसे उन ऋषिवरको इस प्रकार उत्तर देने लगे॥ २८॥

श्रीदेवदेवा ऊचुः—

यथा कृतस्ते सङ्कल्पो भाव्यं तेनैव नान्यथा।
सत्सङ्कल्पस्य ते ब्रह्मन् यद्वै ध्यायति ते वयम्॥ २९॥

श्रीब्रह्मा, विष्णु एवं महेशने कहा—हे ब्रह्मन्! आपने जो सङ्कल्प किया है, वह अति उत्तम है, इसलिए वह निश्चय ही सिद्ध होगा। आप जिस एकमात्र जगदीश्वर नामक तत्त्वका ध्यान कर रहे हैं, हम तीनों ही वही तत्त्व हैं, क्योंकि अद्वयज्ञान-तत्त्व भगवान्से हमारा

स्वतन्त्र अधिष्ठान नहीं है। हम स्वतन्त्र भगवान् श्रीहरिके ही अंश और आश्रित-तत्त्व हैं॥ २९॥

अथास्मदंशभूतास्ते आत्मजा लोकविश्रुताः।
भवितारोऽङ्ग भद्रं ते विस्रप्स्यन्ति च ते यशः॥ ३०॥

हे ऋषे! आपका मङ्गल हो। हम तीनोंके ही अंशसे आपके तीनों लोकोंमें सुविख्यात तीन पुत्र होंगे। वे आपके यशका भी चारों दिशाओंमें विस्तार करेंगे॥ ३०॥

एवं कामवरं दत्त्वा प्रतिजग्मुः सुरेश्वराः।
सभाजितास्तयोः सम्यग्दम्पत्योर्मिषतोस्ततः॥ ३१॥

तत्पश्चात् तीनों देव महर्षि अत्रिको उनका अभिलषित वर प्रदान करके एवं महर्षि अत्रि तथा उनकी पत्नीकी पूजा स्वीकार करके उनके समक्ष ही अन्तर्हित हो गये॥ ३१॥

सोमोऽभूद्ब्रह्मणोऽंशेन दत्तो विष्णोस्तु योगवित्।
दुर्वासाः शङ्करस्यांशो निबोधाङ्गिरसः प्रजाः॥ ३२॥

अत्रिके तीनों पुत्रोंमेंसे ब्रह्माके अंशसे सोम नामक पुत्र, विष्णुके अंशसे योगविद् दत्तात्रेय एवं रुद्रके अंशसे दुर्वासा उत्पन्न हुए। अब मैं अङ्गिरा ऋषि (ब्रह्माके तीसरे पुत्र) की सन्तानोंके विषयमें बतला रहा हूँ, ध्यानपूर्वक श्रवण कीजिये॥ ३२॥

श्रद्धा त्वङ्गिरसः पत्नी चतस्रोऽसूत कन्यकाः।
सिनीवाली कुहू राका चतुर्थ्यनुमतिस्तथा॥ ३३॥

अङ्गिरा ऋषिकी पत्नी श्रद्धाने सिनीवाली, कुहु, राका एवं अनुमति नामक चार कन्याओंको जन्म दिया॥ ३३॥

तत्पुत्रावपरावास्तां ख्यातौ स्वारोचिषेऽन्तरे।
उतथ्यो भगवान् साक्षाद्ब्रह्मिष्ठश्च बृहस्पतिः॥ ३४॥

इनके अतिरिक्त स्वारोचिष मन्वन्तरमें उनके दो पुत्र भी उत्पन्न हुए थे। इन दोनोंमेंसे एक साक्षात् भगवत्-अवतार उतथ्यके नामसे एवं दूसरे ब्रह्मज्ञ बृहस्पतिके नामसे प्रसिद्ध हुए थे॥ ३४॥

पुलस्त्योऽजनयत् पत्न्यामगस्त्यञ्च हविर्भुवि।
सोऽन्यजन्मनि दह्राग्निर्विश्रवाश्च महातपाः॥ ३५॥

महर्षि पुलस्त्यकी हविर्भू नामक पत्नीसे अगस्त्य नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ था। ये अगस्त्य ही दूसरे जन्ममें जठराग्निके रूपमें उत्पन्न हुए थे। अगस्त्यके अतिरिक्त पुलस्त्य ऋषिके विश्रवा नामक और भी एक महातपस्वी पुत्र उत्पन्न हुए थे॥ ३५॥

तस्य यक्षपतिर्देवः कुबेरस्त्विलविलासुतः।
रावणः कुम्भकर्णश्च तथान्यस्यां विभीषणः॥ ३६॥

विश्रवाकी इलविला और केशिनी नामकी दो पत्नियाँ थी। इलविलाके गर्भसे यक्षराज कुबेर और केशिनीके गर्भसे रावण, कुम्भकर्ण एवं विभीषण उत्पन्न हुए थे॥ ३६॥

पुलहस्य गतिर्भार्या त्रीनसूत सती सुतान्।
कर्मश्रेष्ठं वरीयांसं सहिष्णुञ्च महामते॥ ३७॥

हे महामते विदुर! पुलहकी गति नामकी पतिव्रता पत्नीने कर्मश्रेष्ठ, वरीयान् एवं सहिष्णु नामक तीन पुत्रोंको जन्म दिया था॥ ३७॥

क्रतोरपि क्रिया भार्या वालिखिल्यानसूयत।
ऋषीन् षष्टिसहस्राणि ज्वलतो ब्रह्मतेजसा॥ ३८॥

महर्षि क्रतुकी पत्नी क्रियाने भी ब्रह्मतेजसे प्रकाशमान साठ हजार वालिखिल्य (प्रसिद्ध वानप्रस्थ) ऋषियोंको जन्म दिया था॥ ३८॥

ऊर्जायां जज्ञिरे पुत्रा वसिष्ठस्य परन्तप।
चित्रकेतुप्रधानास्ते सप्त सप्तर्षयोऽमलाः॥ ३९॥

हे परन्तप (शत्रु-तापन) विदुर! वशिष्ठकी पत्नी ऊर्जाके गर्भसे चित्रकेतु आदि प्रमुख सात पुत्र उत्पन्न हुए। वे ही विशुद्ध-चरित्रवाले सप्तर्षिके नामसे प्रसिद्ध हुए थे॥ ३९॥

चित्रकेतुः सुरोचिश्च विरजा मित्र एव च।
उल्बणो वसुभृद्यानो द्युमान् शक्त्यादयोऽपरे॥ ४०॥

इन सातों महर्षियोंके नाम चित्रकेतु, सुरोचि, विरजा, मित्र, उल्बण, वसुभृद्यान और द्युमान् थे। इनके अतिरिक्त महर्षि वशिष्ठकी दूसरी पत्नीके गर्भसे शक्त्रि आदि और भी कुछेक सन्तानें उत्पन्न हुई थीं॥ ४०॥

चित्तिस्त्वथर्वणः पत्नी लेभे पुत्रं धृतव्रतम्।
दध्यञ्चमश्वशिरसं भृगोर्वंशं निबोध मे॥ ४१॥

अथर्वा ऋषिकी सहधर्मिणी चित्तिने तपोनिष्ठ दधीचि नामक एक जितेन्द्रिय पुत्रको प्राप्त किया। अश्व जैसा सिर होनेके कारण वे अश्वशिराके नामसे भी प्रसिद्ध थे। हे विदुर! अब भृगुके वंशके विषयमें बतला रहा हूँ, श्रवण करो॥ ४१॥

भृगुः ख्यात्यां महाभागः पत्न्यां पुत्रानजीजनत्।
धातारञ्च विधातारं श्रियञ्च भगवत्पराम्॥ ४२॥

महाभाग भृगुने अपनी सहधर्मिणी ख्यातिके गर्भसे धाता एवं विधाता नामक दो पुत्र तथा श्री नामक एक भगवत्परायण कन्या उत्पन्न की थी॥ ४२॥

आयतिं नियतिञ्चैव सुते मेरुस्तयोरदात्।
ताभ्यां तयोरभवतां मृकण्डः प्राण एव च॥ ४३॥

मेरु ऋषिने आयति एवं नियति नामक अपनी दोनों पुत्रियोंका विवाह धाता एवं विधातासे किया था। धाता और विधातासे इन दोनों कन्याओंके गर्भसे क्रमशः मृकण्ड एवं प्राण नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए थे॥ ४३॥

मार्कण्डेयो मृकण्डस्य प्राणाद्वेदशिरा मुनिः।
कविश्च भार्गवो यस्य भगवानुशना सुतः
सर्वे ते मुनयः क्षत्तर्लोकान् सर्गैरभावयन्॥ ४४॥

उनमेंसे मृकण्ड ऋषिका मार्कण्डेय एवं प्राणका मुनिवर वेदशिरा नामक पुत्र उत्पन्न हुआ था। उक्त भृगुका कवि नामक और भी एक पुत्र था। परम ऐश्वर्यशाली उशना (शुक्राचार्य) नामक ऋषि इन्हीं कविके ही पुत्र थे॥ ४४॥

एष कर्दमदौहित्रसन्तानः कथितस्तव।
शृण्वतः श्रद्दधानस्य सद्यः पापहरः परः॥ ४५॥

हे विदुर! इन सब ऋषियोंने ही सन्तानोंकी सृष्टि द्वारा सम्पूर्ण लोकोंका विस्तार किया था। प्रजापति कर्दमके इस अति उत्तम नातियोंके वंशका वर्णन श्रद्धापूर्वक श्रवण करनेसे शीघ्र ही पापोंसे निवृत्ति होती है। आप श्रद्धायुक्त हैं, इसलिए उक्त वंशके विषयमें मैंने आपके समक्ष कीर्त्तन किया है॥ ४५॥

प्रसूतिं मानवीं दक्ष उपयेमे ह्यजात्मजः।
तस्यां ससर्ज दुहितृः षोडशामललोचनाः॥ ४६॥

श्रीब्रह्माके पुत्र दक्षने स्वायम्भुव मनुकी पुत्री प्रसूतिका पाणिग्रहण करके उसके गर्भसे सुन्दर नेत्रोंवाली सोलह कन्याओंको उत्पन्न किया॥ ४६॥

त्रयोदशादाद्धर्माय तथैकामग्नये विभुः।
पितृभ्य एकां युक्तेभ्यो भवायैकां भवच्छिदे॥ ४७॥

दक्ष प्रजापतिने इन सोलह कन्याओंमेंसे तेरह धर्मको, एक अग्निको, एक पितरोंको और अन्तिम एक संसार-बन्धन-मोचक शिवजीको प्रदान की॥ ४७॥

श्रद्धा मैत्री दया शान्तिस्तुष्टिः पुष्टिः क्रियोन्नतिः।
बुद्धिर्मेधा तितिक्षा ह्रीर्मूर्तिर्धर्मस्य पत्नयः॥ ४८॥

श्रद्धा, मैत्री, दया, शान्ति, तुष्टि, पुष्टि, क्रिया, उन्नति, बुद्धि, मेधा, तितिक्षा, लज्जा एवं मूर्ति—ये तेरह धर्मकी पत्नियाँ हुईं॥ ४८॥

श्रद्धासूत ऋतं मैत्री प्रसादमभयं दया।
शान्तिः सुखं मुदं तुष्टिः स्मयं पुष्टिरसूयत॥ ४९॥

इनमेंसे श्रद्धाने सत्यको, मैत्रीने प्रसादको, दयाने अभयको, शान्तिने सुखको, तुष्टिने हर्षको एवं पुष्टिने गर्वको जन्म दिया॥ ४९॥

योगं क्रियोन्नतिर्दर्पमर्थं बुद्धिरसूयत।
मेधा स्मृतिं तितिक्षा तु क्षेमं ह्रीः प्रश्रयं सुतम्॥ ५०॥

क्रियाने योगको, उन्नतिने दर्पको, बुद्धिने अर्थको, मेधाने स्मृतिको, तितिक्षाने मङ्गलको और लज्जाने विनयको जन्म दिया॥ ५०॥

मूर्तिः सर्वगुणोत्पत्तिर्नरनारायणावृषी।
ययोर्जन्मन्यदो विश्वमभ्यनन्दत् सुनिर्वृतम्॥ ५१॥

समस्त कल्याणकारी गुणोंकी जननी धर्मकी पत्नी मूर्तिदेवीने नर-नारायण नामक दो ऋषियोंको जन्म दिया। इन्हीं नर-नारायणके प्रकट-कालमें यह परिदृश्यमान विश्व उद्वेग रहित होकर आनन्दसे भर गया था॥ ५१॥

मनांसि ककुभो वाताः प्रसेदुः सरितोऽद्रयः।
दिव्यवाद्यन्त तुर्याणि पेतुः कुसुमवृष्टयः॥ ५२॥

नर-नारायण ऋषियोंके जन्मके समय मनुष्योंके हृदय, समस्त दिशाएँ, वायु, नदियाँ एवं पर्वत-शृंखलाएँ सभी प्रसन्न हो उठे थे। स्वर्गपुरीसे तुरी आदि वाद्य-यन्त्रोंकी ध्वनि सुनायी दे रही थी तथा आकाशसे भूतलपर पुष्पोंकी वर्षा हो रही थी॥ ५२॥

मुनयस्तुष्टुवुस्तुष्टा जगुर्गन्धर्वकिन्नराः।
नृत्यन्ति स्म स्त्रियो देव्य आसीत् परममङ्गलम्॥ ५३॥

मुनिगण परम आनन्दित होकर स्तुति करने लगे थे। गन्धर्व एवं किन्नर आनन्दपूर्वक गीत गा रहे थे। अप्सराएँ नृत्य कर रही थीं। इस प्रकार चारों दिशाओंमें परम मङ्गल विराजित था॥ ५३॥

देवा ब्रह्मादयः सर्वे उपतस्थुरभिष्टवैः॥ ५४॥

अधिक क्या? ब्रह्मादि सभी देवताओंने भी अनेक प्रकारके स्तोत्रोंके द्वारा उन नर-नारायण ऋषियोंकी पूजा की थी॥ ५४॥

श्रीदेवा ऊचुः—

यो मायया विरचितं निजयात्मनीदं
खे रूपभेदमिव तत्प्रतिचक्षणाय।
एतेन धर्मसदने ऋषिमूर्तिनाद्य
प्रादुश्चकार पुरुषाय नमः परस्मै॥ ५५॥

देवता नर-नारायण ऋषियोंका स्तव करते हुए कहने लगे—जो अपनी मायाके द्वारा आकाशमें विरचित गन्धर्व-नगरकी भाँति इस विराट्-रूप (विश्व) की अपने ही अधिष्ठानमें अर्थात् अपनेमें ही रचना कर लेते हैं, उन्होंने ही अब अपने स्वरूपके प्रकाशके लिए धर्मके घरमें नर-नारायण ऋषियोंके रूपमें स्वयंको प्रकटित किया है। हम उन परमपुरुष भगवान्को प्रणाम करते हैं॥ ५५॥

सोऽयं स्थितिव्यतिकरोपशमाय सृष्टान्
सत्त्वेन नः सुरगणाननुमेयतत्त्वः।
दृश्याददभ्रकरुणेन विलोकनेन
यच्छ्रीनिकेतममलं क्षिपतारविन्दम्॥ ५६॥

श्रौतपन्थासे ही जिनका स्वरूप जाना जा सकता है, किन्तु जिन अधोक्षज वस्तुका तत्त्व हमारी इन्द्रियोंका विषय नहीं हो सकता, उन्हीं षडैश्वर्यशाली भगवान्ने ही इस जगत्की मर्यादाको बनाये रखनेके लिए सत्त्वगुणके द्वारा हम देवताओंकी सृष्टि की है। उनके युगल कमल-नेत्र श्रीलक्ष्मीके निवास-स्थानमें स्थित निर्मल कमलोंकी शोभाको भी तिरस्कृत करनेवाले हैं। वे प्रभु अपने उन्हीं अत्यधिक करुणासे युक्त नेत्रोंसे कृपापूर्वक हमारा अवलोकन करें॥ ५६॥

एवं सुरगणैस्तात भगवन्तावभिष्टुतौ।
लब्धावलोकैर्ययतुरर्चितौ गन्धमादनम्॥ ५७॥

हे वत्स विदुर! देवताओंके द्वारा इस प्रकार स्तव करनेपर नर-नारायण ऋषि देवताओंके प्रति कृपापूर्वक अवलोकन एवं उनकी पूजा स्वीकारकर गन्धमादन पर्वतकी ओर चले गये॥ ५७॥

ताविमौ वै भगवतो हरेरंशाविहागतौ।
भारव्ययाय च भुवः कृष्णौ यदुकुरूद्वहौ॥ ५८॥

सबके अंशी भगवान् श्रीकृष्णके अंश नारायण और नर ऋषि पृथ्वीके भार-हरण एवं भगवान्की इच्छाको पूर्ण करनेके लिए द्वापरके अन्तमें प्रकटित यदुकुलके पालक श्रीकृष्ण और कुरुकुलके श्रेष्ठ अर्जुनमें प्रविष्ट हुए थे॥ ५८॥

स्वाहाभिमानिनश्चाग्नेरात्मजांस्त्रीनजीजनत्।
पावकं पवमानञ्च शुचिश्च हुतभोजनम्॥ ५९॥

अग्नि नामक देवताकी पत्नीका नाम स्वाहा था। उसी स्वाहाने अग्निके ही अभिमानी पावक, पवमान एवं शुचि नामक तीन हुतभोजी (यज्ञ-हविका भक्षण करनेवाले) पुत्रोंको उत्पन्न किया था॥ ५९॥

तेभ्योऽग्नयः समभवंश्चत्वारिंशच्च पञ्च च।
त एवैकोनपञ्चाशत् साकं पितृपितामहैः॥ ६०॥

इन तीनोंसे और भी पैंतालीस अग्नि उत्पन्न हुए। ये ही अपने तीन पिता और एक पितामहको साथ लेकर उनचास अग्नि कहलाये॥ ६०॥

वैतानिके कर्मणि यन्नामभिर्ब्रह्मवादिभिः।
आग्नेय इष्टयो यज्ञे निरूप्यन्तेऽग्नयस्तु ते॥ ६१॥

वेदज्ञ ब्राह्मण वेदोक्त यज्ञादि कार्यमें जिनका नाम उल्लेख करके अग्नि-सम्बन्धीय आहुति प्रदान करते हैं, ये वही उनचास अग्नि हैं॥ ६१॥

अग्निष्वात्ता बर्हिषदः सौम्याः पितर आज्यपाः।
साग्नयोऽनग्नयस्तेषां पत्नी दाक्षायणी स्वधा॥ ६२॥

अग्निष्वात्ता, बर्हिषद, सोमप, आज्यप—ये पितर हैं। इनमें कोई-कोई साग्निक और कोई-कोई निरग्निक हैं। दक्षकन्या स्वधा इन दोनों ही प्रकारके पितरोंकी पत्नी है॥ ६२॥

तेभ्यो दधार कन्ये द्वे वयुनां धारिणीं स्वधा।
उभे ते ब्रह्मवादिन्यौ ज्ञानविज्ञानपारगे॥ ६३॥

पितरोंसे स्वधाकी वयुना एवं धारिणी नामकी दो कन्याएँ उत्पन्न हुईं। दोनों ही पुत्रियाँ ब्रह्मवादिनी और ज्ञान-विज्ञानके विवेकमें पारदर्शिनी थीं॥ ६३॥

भवस्य पत्नी तु सती भवं देवमनुव्रता।
आत्मनः सदृशं पुत्रं न लेभे गुणशीलतः॥ ६४॥

पितर्यप्रतिरूपे स्वे भवायानागसे रुषा।
अप्रौढैवात्मनात्मानमजहाद्योगसंयुता ॥ ६५ ॥

शिवजीकी पत्नी सती अपने पति देवादिदेव शिवजीकी सेवामें ही लगी रहती थीं। किन्तु वे अपने गुण एवं शीलके अनुरूप किसी पुत्रको प्राप्त न कर सकीं, क्योंकि सतीके पिता दक्षने बिना किसी दोषके ही शिवजीके प्रतिकूल आचरण किया था। सतीने वैष्णव-विद्वेषी अपने पिताके प्रति क्रोधित होकर यौवनावस्थामें ही योगका आश्रय लेकर अपने शरीरका त्याग कर दिया था॥ ६४–६५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां चतुर्थस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे दाक्षायणं नाम प्रथमोऽध्यायः॥

द्वितीयोऽध्यायः

दक्ष प्रजापतिके द्वारा शिवजीकी निन्दा एवं शाप प्रदान

श्रीविदुर उवाच—

भवे शीलवतां श्रेष्ठे दक्षो दुहितृवत्सलः।
विद्वेषमकरोत् कस्मादनादृत्यात्मजां सतीम्॥ १॥

श्रीविदुरने कहा—हे मैत्रेय! कन्याओंके प्रति स्नेहवान प्रजापति दक्षने किसलिए अपनी सती नामकी कन्याका अनादर किया और सत्-चरित्र पुरुषोंमें सर्वश्रेष्ठ महादेवजीके प्रति क्यों विद्वेष-भाव प्रदर्शित किया?॥ १॥

कस्तं चराचरगुरुं निर्वैरं शान्तविग्रहम्।
आत्मारामं कथं द्वेष्टि जगतो दैवतं महत्॥ २॥

महादेवजी चराचर जगत्के गुरु हैं। वे शत्रुतासे रहित, प्रशान्त मूर्त्ति, भगवान् वासुदेवके प्रति रतिविशिष्ट एवं जगत्के परम देवता हैं। ऐसे महादेवजीके प्रति प्रजापति दक्षने क्यों द्वेष किया?॥ २॥

एतदाख्याहि मे ब्रह्मन् जामातुः श्वशुरस्य च।
विद्वेषस्तु यतः प्राणांस्तत्याज दुस्त्यजान् सती॥ ३॥

हे ब्रह्मन्! जामाता एवं श्वसुरके इस कलहका कारण बतलाइये और यह भी बतलाइये कि किस कारणसे सती देवीने दुस्त्यज्य प्राणोंका परित्याग किया॥ ३॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

पुरा विश्वसृजां सत्रे समेताः परमर्षयः।
तथामरगणाः सर्वे सानुगा मुनयोऽग्नयः॥ ४॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! पूर्वकाल अर्थात् स्वायम्भुव मन्वन्तरमें विश्वकी सृष्टि करनेवाले मरीचि आदि प्रजापतियोंके यज्ञमें

प्रधान-प्रधान ऋषि, देवता, मुनि और अग्निगण अपने-अपने अनुयायियोंके साथ एकत्रित हुए थे॥ ४॥

तत्र प्रविष्टमृषयो दृष्ट्वार्कमिव रोचिषा।
भ्राजमानं वितिमिरं कुर्वन्तं तन्महत्सदः॥ ५॥

उदतिष्ठन् सदस्यास्ते स्वधिष्ण्येभ्यः सहाग्नयः।
ऋते विरिञ्चाच्छर्वाच्च तद्भासाक्षिप्तचेतसः॥ ६॥

सूर्यके समान तेजसे देदीप्यमान हो रहे प्रजापति दक्षने भी उस विशाल सभामण्डपमें प्रवेश किया था। उनकी अङ्गप्रभासे सभास्थल उज्ज्वल हो उठा था तथा वहाँका समस्त अन्धकार दूर हो गया था। अग्नि सहित सभासद ऋषियोंने जब उन्हें सभामें प्रवेश करते हुए देखा, तो उन्होंने अपने-अपने आसनोंसे उठकर उनकी अभ्यर्थना की। परन्तु केवल ब्रह्मा एवं शिवजी ही उनके प्रति किसी प्रकारका सम्मान व्यक्त न करते हुए अपने-अपने आसनपर ही बैठे रहे॥ ५-६॥

सदसस्पतिभिर्दक्षो भगवान् साधु सत्कृतः।
अजं लोकगुरुं नत्वा निषसाद तदाज्ञया॥ ७॥

तेजस्वी दक्षने सभासदोंका सत्कार भलीभाँति स्वीकार किया तथा लोकगुरु ब्रह्माजीको प्रणामकर उनकी आज्ञासे वे अपने आसनपर बैठ गये॥ ७॥

प्राङ्निषण्णं मृडं दृष्ट्वा नामृष्यत् तदनादृतः।
उवाच वामं चक्षुर्भ्यामभिवीक्ष्य दहन्निव॥ ८॥

प्रजापति दक्षके आसनपर बैठनेसे पहले ही शिवजी अपने आसनपर बैठे थे। यह देखकर दक्ष शिव द्वारा की गयी अपनी ऐसी अवमानना सहन नहीं कर पाये। अतएव वे क्रोधसे आगबबूला हो उठे और वक्र-दृष्टिसे महादेवजीको इस प्रकारसे देखने लगे, मानो उन्हें दग्ध ही कर डालेंगे। फिर वे रोषपूर्ण वचनोंसे इस प्रकार कहने लगे॥ ८॥

श्रूयतां ब्रह्मर्षयो मे सहदेवाः सहाग्नयः।
साधूनां ब्रुवतो वृत्तं नाज्ञानान्न च मत्सरात्॥ ९॥

हे ब्रह्मर्षियो! हे देवताओ! हे अग्नियो! मैं अज्ञान अथवा मात्सर्यके वशीभूत होकर कोई बात नहीं कहूँगा, केवल साधुओंके आचरणकी बात बतलानेके लिए ही जो कुछ कहूँगा आप उसे कृपापूर्वक श्रवण कीजिये॥ ९॥

अयन्तु लोकपालानां यशोघ्नो निरपत्रपः।
सद्भिराचरितः पन्था येन स्तब्धेन दूषितः॥ १०॥

इस निर्लज्ज महादेवने यथोचित कर्त्तव्यसे विमुख होकर साधुओंके द्वारा आचरित पथको दूषित किया है। अतएव आज इसके द्वारा किये गये आचरणसे समस्त लोकपालोंकी पवित्र कीर्त्ति ही विनष्ट हो गयी है॥ १०॥

एष मे शिष्यतां प्राप्तो यन्मे दुहितुरग्रहीत्।
पाणिं विप्राग्निमुखतः सावित्र्या इव साधुवत्॥ ११॥

सत्पुरुषोंके समान इसने ब्राह्मणों एवं अग्निके समक्ष मेरी सावित्री-सरीखी पुत्रीका पाणिग्रहण किया है, इसलिए इस शिवने एक प्रकारसे मेरे पुत्रके समान होनेके कारण मेरे शासनके अधीन होना स्वीकार किया है॥ ११॥

गृहीत्वा मृगशावाक्ष्याः पाणिं मर्कटलोचनः।
प्रत्युत्थानाभिवादार्हे वाचाप्यकृत नोचितम्॥ १२॥

बन्दरके समान नेत्रोंवाले इस शिवने बालमृगनयना मेरी कन्याका पाणिग्रहण करके प्रत्युत्थान आदि द्वारा सर्वथा पूजनीय मुझे वचनोंके द्वारा भी उचित सम्मान प्रदर्शित नहीं किया॥ १२॥

लुप्तक्रियायाशुचये मानिने भिन्नसेतवे।
अनिच्छन्नप्यदां बालां शूद्रायेवोशतीं गिरम्॥ १३॥

जिस प्रकार पराधीन ब्राह्मण इच्छा न होनेपर भी शूद्रोंको वेद पढ़ा देता है, उसी प्रकार मैंने इच्छा न रहनेपर भी ब्रह्माजीके

आदेशसे इस सदाचार-विहीन, अपवित्र, अभिमानी तथा धर्मकी मर्यादाका उल्लंघन करनेवालेको अपनी सुकुमारी कन्या प्रदान की थी॥ १३॥

प्रेतावासेषु यो घोरैः प्रेतैर्भूतगणैर्वृतः।
अटत्युन्मत्तवन्नग्नो व्युप्तकेशो हसन् रुदन्॥ १४॥

यह शिव भयङ्कर आकृतिवाले भूत-प्रेतोंसे घिरकर पागलोंकी भाँति नङ्ग-धड़ङ्ग होकर श्मशानोंमें भटकता रहता है। इसके केश इधर-उधर बिखरे रहते हैं तथा कभी यह रोता है तो कभी हँसता है॥ १४॥

चिताभस्मकृतस्नानः प्रेतस्रङ्न्रस्थिभूषणः।
शिवापदेशो ह्यशिवो मत्तो मत्तजनप्रियः।
पतिः प्रमथनाथानां तमोमात्रात्मकात्मनाम्॥ १५॥

चिताओंकी अपवित्र भस्मसे तो यह स्नान करता है, इसके गलेमें प्रेतोंके पहनने योग्य नरमुण्डोंकी माला झूलती रहती है तथा शवोंकी हड्डियोंको ही यह आभूषणोंकी तरह पहनता है। यह तो केवल नाममात्रका ही शिव है—परन्तु वास्तवमें तो यह अशिव अर्थात् अमङ्गलस्वरूप ही है, क्योंकि स्वयं उन्मत्त रहनेके कारण यह उन्मत्त व्यक्तियोंको ही प्रिय लगता है॥ १५॥

तस्मा उन्मादनाथाय नष्टशौचाय दुर्हृदे।
दत्ता बत मया साध्वी चोदिते परमेष्ठिना॥ १६॥

यह तामसिक प्रकृतिवाले प्रमथोंके पतियोंका भी स्वामी है तथा ‘उन्माद’ नामक भूतोंका सरदार है। अहो! मैंने ब्रह्माजीके आदेशपर विश्वास करके ऐसे अपवित्र, दुष्टस्वभाववाले व्यक्तिको अपनी पुत्री ‘सती’ को प्रदान किया था॥ १६॥

श्रीमैत्रेय उवाच—
विनिन्द्यैवं स गिरिशमप्रतीपमवस्थितम्।
दक्षोऽथाप उपस्पृश्य क्रुद्धः शप्तुं प्रचक्रमे॥ १७॥

श्रीमैत्रेयने कहा—निर्विकार भावसे सभास्थलमें बैठे हुए श्रीशिवकी केवल इस प्रकार निन्दा करके ही दक्ष शान्त नहीं हुआ, बल्कि क्रोधसे अन्धा होकर जल-स्पर्श करके उन्हें अभिशाप देनेके लिए उद्यत हो उठा॥ १७॥

अयन्तु देवयजन इन्द्रोपेन्द्रादिभिर्भवः।
सह भागं न लभतां देवैर्देवगणाधमः॥ १८॥

दक्षने कहा—देवताओंमें अधम यह शिव देवताओंके लिए होनेवाले यज्ञोंमें इन्द्र और उपेन्द्र आदि देवताओंके साथ यज्ञभाग प्राप्त नहीं कर सकेगा॥ १८॥

निषिध्यमानः स सदस्यमुख्यै-
र्दक्षो गिरित्राय विसृज्य शापम्।
तस्माद्विनिष्क्रम्य विवृद्धमन्यु-
र्जगाम कौरव्य निजं निकेतनम्॥ १९॥

हे कुरुनन्दन विदुर! सभामण्डपमें उपस्थित प्रधान-प्रधान सभासदोंके द्वारा बार-बार मना करनेपर भी दक्षका क्रोध बढ़ता ही जा रहा था। अतः क्रोधसे भरे हुए उसने गिरीश शिवजीको पूर्वोक्त शाप दे ही डाला और सभास्थलसे बाहर निकलकर अपने भवनमें चला गया॥ १९॥

विज्ञाय शापं गिरिशानुगाग्रणी-
र्नन्दीश्वरो रोषकषायदूषितः।
दक्षाय शापं विससर्ज दारुणं
ये चान्वमोदंस्तदवाच्यतां द्विजाः॥ २०॥

दूसरी ओर, इस अभिशापकी बातको सुनकर शिवजीके अनुचरोंमें सर्वप्रधान नन्दीश्वरके नेत्र क्रोधसे अरुणवर्णके हो गये। उन्होंने क्रोधित होकर दक्षको तथा सभामें उपस्थित उन सभी ब्राह्मणोंको जिन्होंने शिवजीके प्रति कहे गये निन्दासूचक वचनोंका अनुमोदन किया था, अति भयङ्कर शाप दे दिया॥ २०॥

य एतन्मर्त्यमुद्दिश्य भगवत्यप्रतिद्रुहि।
द्रुह्यत्यज्ञः पृथग्दृष्टिस्तत्त्वतो विमुखो भवेत्॥ २१॥

श्रीनन्दीश्वरने कहा—इस भेददर्शी और मूर्ख दक्ष प्रजापतिने सृष्टिकार्यमें निपुण अपने नश्वर माँसके पिण्डको ही बहुमानन करके द्रोहियोंसे भी द्रोह न करनेवाले, भगवान्‌से अभिन्न तनु शिवजीके प्रति द्रोहाचरण किया है, अतः यह तत्त्वज्ञानसे रहित होकर परमार्थसे वञ्चित हो जाये॥ २१॥

गृहेषु कूटधर्मेषु सक्तो ग्राम्यसुखेच्छया।
कर्मतन्त्रं वितनुताद्वेदवादविपन्नधीः॥ २२॥

ऐसे व्यक्तिकी बुद्धि वेदोंमें कहे गये वचनोंके अर्थवादसे मोहित होकर नष्ट हो जाये, जिससे यह स्त्री-सङ्गादि सांसारिक सुखोंकी इच्छासे गृहमेधी व्यक्तियों द्वारा किये जानेवाले प्रवञ्चना आदि विविध प्रकारके कपटधर्मोंमें आसक्त होकर वैसे कर्मोंके जालका ही विस्तार करता रहे॥ २२॥

बुद्ध्या पराभिध्यायिन्या विस्मृतात्मगतिः पशुः।
स्त्रीकामः सोऽस्त्वतितरां दक्षो बस्तमुखोऽचिरात्॥ २३॥

इस दक्षकी बुद्धि देहादिमें आत्मभावका चिन्तन करती रहे, जिससे यह आत्मतत्त्वको भूलकर साक्षात् पशुके समान बन जाये एवं स्त्रीके प्रति अत्यन्त कामुक होकर शीघ्र ही इसका मुख सब समय स्त्रीकी कामना करनेवाले बकरेके समान हो जाये॥ २३॥

विद्याबुद्धिरविद्यायां कर्ममय्यामसावजः।
संसरन्त्विह ये चामुमनु शर्वावमानिनम्॥ २४॥

इस दक्षने कर्ममयी अविद्याको ही तत्त्व-विद्या समझा है। अतः यह वास्तवमें बकरा ही है और जिन सब ब्राह्मणोंने इस शिवद्वेषी दक्षके शापका अनुमोदन किया है, वे भी इस संसारमें पुनः-पुनः जन्म-मरणके चक्रमें पड़े रहें॥ २४॥

गिरः श्रुतायाः पुष्पिण्या मधुगन्धेन भूरिणा।
मथ्ना चोन्मथितात्मानः संमुह्यन्तु हरद्विषः॥ २५॥

जिनकी मति वेदोक्त अर्थवादरूप पुष्पित, आपात रमणीय, मनको क्षुब्ध करनेवाले बहुत प्रकारके कर्मफलोंकी मधुरगन्धसे युक्त लुभावने वचनोंके द्वारा विमुग्ध हो चुकी है, वे सभी शिव-विद्वेषी कर्मकाण्डमें आसक्त होकर सम्पूर्ण रूपसे मोहग्रस्त हो जायें॥ २५॥

सर्वभक्षा द्विजा वृत्त्यै धृतविद्यातपोव्रताः।
वित्तदेहेन्द्रियारामा याचका विचरन्त्विह॥ २६॥

ये सब ब्राह्मण भक्ष्य-अभक्ष्यके विचारसे शून्य होकर सर्वभक्षी हो जायें। ये अपने पेट, पुत्र, परिवार आदिका पालन-पोषण करनेके लिए ही विद्या, तप एवं व्रत आदिको धारण करें और धन, देह एवं इन्द्रियोंके सुखके ही दास बनकर याचकके वेशमें इस संसारमें भटकते रहें॥ २६॥

तस्यैवं वदतः शापं श्रुत्वा द्विजकुलाय वै।
भृगुः प्रत्यसृजच्छापं ब्रह्मदण्डं दुरत्ययम्॥ २७॥

ब्राह्मणोंके प्रति नन्दीश्वरके इस प्रकारके अभिशापको सुनकर भृगुजीने भी उन्हें इस अभिशापके बदले दुस्तर ब्रह्मदण्डरूप शाप दे डाला॥ २७॥

भवव्रतधरा ये च ये च तान् समनुव्रताः।
पाषण्डिनस्ते भवन्तु सच्छास्त्रपरिपन्थिनः॥ २८॥

(भृगुजीने कहा—)जो शिवका व्रत पालन करेंगे अथवा जो शिवभक्तोंके अनुयायी होंगे, वे सत्शास्त्रोंके प्रतिकूल आचरण करेंगे और पाषण्डी होंगे॥ २८॥

नष्टशौचा मूढधियो जटा भस्मास्थिधारिणः।
विशन्तु शिवदीक्षायां यत्र दैवं सुरासवम्॥ २९॥

जो लोग शौच आदिसे रहित हैं, मन्दबुद्धि हैं, वे ही जटा, भस्म और हड्डियोंको धारणकर शिवजीकी दीक्षामें दीक्षित होंगे। शिव दीक्षामें

दीक्षित व्यक्ति गौड़ी, पेष्ठी, माधवी आदि सुरा और ताल आदिसे बनाये गये मद्यको ही देवताओंके समान पूज्य मानेंगे॥ २९॥

ब्रह्म च ब्राह्मणांश्चैव यद्यूयं परिनिन्दथ।
सेतुं विधरणं पुंसामतः पाषण्डमाश्रिताः॥ ३०॥

अरे शिवानुचरो! तुमलोगोंने वर्णाश्रमधर्मका पालन करनेवालोंकी मर्यादारूपी सेतुके धारक-स्वरूप वेदों एवं वेदमार्गके अनुयायी ब्राह्मणोंकी निन्दा की है, इसलिए तुम पाषण्ड-धर्मके आश्रित बनोगे॥ ३०॥

एष एव हि लोकानां शिवः पन्थाः सनातनः।
यं पूर्वे चानुसन्तस्थुर्यत्प्रमाणं जनार्दनः॥ ३१॥

वेदोंके लक्षणोंसे युक्त पथ ही मनुष्योंके लिए मङ्गलकारी और सनातन पथ है। प्राचीन कालमें भी ऋषियोंने इसी वेदमार्गका ही आश्रय लिया था। श्रीजनार्दन ही वेदोंके मूल अर्थात् एकमात्र प्रतिपाद्य विषय हैं॥ ३१॥

तद्ब्रह्म परमं शुद्धं सतां वर्त्म सनातनम्।
विगर्ह्य यात पाषण्डं दैवं वो यत्र भूतराट॥ ३२॥

तुमलोगोंने उसी परम विशुद्ध साधुओंके द्वारा अवलम्बनीय मार्ग-स्वरूप वेदोंकी निन्दा की है। अतः जिस स्थानपर तामस भूतगणाधिपति रह रहा है, तुम भी उसी स्थानपर जाकर उसी पाषण्डी देवताको प्राप्त करो॥ ३२॥

श्रीमैत्रेय उवाच—
तस्यैवं वदतः शापं भृगोः स भगवान् भवः।
निश्चक्राम ततः किञ्चिद्विमना इव सानुगः॥ ३३॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—भगवान्से अभिन्न महादेवजी महर्षि भृगुके इस प्रकारके अभिशापको सुनकर कुछ व्याकुलसे हो गये और अपने अनुगतोंके साथ उस स्थानसे चले गये॥ ३३॥

तेऽपि विश्वसृजः सत्रं सहस्रं परिवत्सरान्।
संविधाय महेष्वास यत्रेज्य ऋषभो हरिः॥ ३४॥

आप्लुत्यावभृथं यत्र गङ्गा यमुनयान्विता।
विरजेनात्मना सर्वे स्वं स्वं धाम ययुस्ततः॥ ३५॥

हे धनुर्धारी विदुर! विश्वकी सृष्टि करनेवाले मरीचि आदि वे सभी प्रजापति सर्वश्रेष्ठ आराध्य यज्ञेश्वर श्रीहरिके उद्देश्यसे किये गये एक हजार वर्ष तक चलने वाले उस यज्ञको सम्पन्न करके यज्ञके अन्तमें गङ्गा और यमुनाके सङ्गमपर किये जानेवाले स्नानके उपरान्त निर्मल अन्तःकरणसे अपने-अपने स्थानोंको चले गये॥ ३४-३५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां चतुर्थस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे दक्षशापो नाम द्वितीयोऽध्यायः॥

तृतीयोऽध्यायः

पिता दक्षके यज्ञोत्सवमें जानेके लिए सतीकी प्रार्थना और श्रीशिव द्वारा नीतिपूर्ण वाक्योंसे उन्हें रोकनेकी चेष्टा

श्रीमैत्रेय उवाच—

सदा विद्विषतोरेवं कालो वै ध्रियमाणयोः।
जामातुः श्वशुरस्यापि सुमहानतिचक्रमे॥ १॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—इस प्रकार सदैव परस्पर विद्वेष भावसे रहते हुए ससुर एवं जामाताका बहुत समय बीत गया॥ १॥

यदाभिषिक्तो दक्षस्तु ब्रह्मणा परमेष्ठिना।
प्रजापतीनां सर्वेषामाधिपत्ये स्मयोऽभवत्॥ २॥

तदुपरान्त जब परमदेवता ब्रह्माजीने दक्षको समस्त प्रजापतियोंके अधिपतिके रूपमें अभिषिक्त किया, तब दक्षके हृदयमें गर्व उत्पन्न हुआ॥ २॥

इष्ट्वा स वाजपेयेन ब्रह्मिष्ठानभिभूय च।
बृहस्पतिसवं नाम समारेभे क्रतूत्तमम्॥ ३॥

इसी गर्वके वशीभूत होकर दक्षने शिवजी और उनके अनुचरोंको यज्ञका भाग न देकर उनका तिरस्कार करते हुए पहले तो 'वाजपेय-यज्ञ' का अनुष्ठान किया और उसके पश्चात् 'बृहस्पति-सव' नामक एक सर्वोत्तम महायज्ञ करना आरम्भ किया॥ ३॥

तस्मिन् ब्रह्मर्षयः सर्वे देवर्षिपितृदेवताः।
आसन् कृतस्वस्त्ययनास्तत्पत्न्यश्च सभर्तृकाः॥ ४॥

इस यज्ञमें सभी ब्रह्मर्षि, देवर्षि, पितर, देवता एवं उनकी पत्नियाँ भी अपने-अपने पतियोंके साथ यथायोग्य सम्मानित हुईं थीं॥ ४॥

तदुपश्रुत्य नभसि खेचराणां प्रजल्पताम्।
सती दाक्षायणी देवी पितृयज्ञमहोत्सवम्॥ ५॥

व्रजन्तीः सर्वतो दिग्भ्य उपदेववरस्त्रियः।
विमानयानाः सप्रेष्ठा निष्ककण्ठीः सुवाससः॥ ६॥

दृष्ट्वा स्वनिलयाभ्यासे लोलाक्षीर्मृष्टकुण्डलाः।
पतिं भूतपतिं देवमौत्सुक्यादभ्यभाषत॥ ७॥

आकाशचारी देवता इस महायज्ञके विषयमें वार्त्तालाप करते हुए आकाशमें विचरण करने लगे। दक्षपुत्री सतीने उनके मुखसे पिताके यज्ञरूपी महोत्सवका वृत्तान्त सुना तथा देखा कि उनके भवनके समीपमें ही चारों दिशाओंसे गलेमें पदक[१] धारण किये हुए, सुन्दर वस्त्रोंसे सुसज्जित और अत्यधिक उज्ज्वल कुण्डलोंसे अलंकृत चञ्चल नेत्रोंवाली गन्धर्वोंकी स्त्रियाँ अपने-अपने पति-पुत्र आदि परिजनोंके साथ वार्त्तालाप करती हुईं विमानोंपर सवार होकर यज्ञ-स्थलीकी ओर जा रही हैं। यह दृश्य देखकर देवी सतीके हृदयमें भी पिताके यज्ञको देखनेके लिए अत्यन्त उत्सुकता जाग उठी। वे अपने पति देवादिदेव भूतपति शिवजीसे कहने लगीं॥ ५-७॥

श्रीसत्युवाच—

प्रजापतेस्ते श्वशुरस्य साम्प्रतं
निर्यापितो यज्ञमहोत्सवः किल।
वयञ्च तत्राभिसराम वाम ते
यद्यर्थितामी विबुधा व्रजन्ति हि॥ ८॥

श्रीसतीदेवीने कहा—हे नाथ! आपके ससुर प्रजापति दक्षके यहाँ यज्ञरूपी महोत्सव आरम्भ हुआ है। यह देखिये! देवता तक भी उस यज्ञको देखनेके लिए जा रहे हैं। यदि आपकी इच्छा हो तो हम भी वहाँ चलें॥ ८॥

तस्मिन् भगिन्यो मम भर्तृभिः स्वकै-
र्ध्रुवं गमिष्यन्ति सुहृद्दिदृक्षवः।

---

[१] पूजनके लिए बनायी हुई किसी देवताके चरणकी प्रतिमूर्त्ति।

अहञ्च तस्मिन् भवताभिकामये
सहोपनीतं परिबर्हमर्हितुम्॥ ९॥

मेरी बहनें भी अपने-अपने पतियोंके साथ निश्चय ही अपने आत्मीयजनोंसे मिलनेकी अभिलाषासे उस यज्ञ-स्थलीपर आयेंगी। मेरी बहुत इच्छा हो रही है कि जिस प्रकार वे यज्ञ-उत्सवमें माता-पिता द्वारा दिये गये अलङ्कारादि उपहारोंको ग्रहण करेंगी, मैं भी आपके साथ उन उपहारोंको ग्रहण करूँ॥ ९॥

तत्र स्वसृर्मे ननु भर्तृसम्मिता
मातृष्वसृः क्लिन्नधियञ्च मातरम्।
द्रक्ष्ये चिरोत्कण्ठमना महर्षिभि-
रुन्नीयमानञ्च मृडाध्वरध्वजम्॥ १०॥

हे शम्भो! बहुत दिनोंसे मेरा मन आत्मीय-स्वजनोंको देखनेके लिए उत्कण्ठित हो रहा है। अतएव मैं उस यज्ञ-महोत्सवमें जाकर वहाँ अपने-अपने पतियोंके साथ आयी बहनों, मौसियों और स्नेहसे द्रवीभूत हृदयवाली माता एवं ऋषियों द्वारा लहरायी गयी यज्ञीय ध्वजाको देख पाऊँगी॥ १०॥

त्वय्येतदाश्चर्यमजात्ममायया
विनिर्मितं भाति गुणत्रयात्मकम्।
तथाप्यहं योषिदतत्त्वविच्च ते
दीना दिदृक्षे भव मे भवक्षितिम्॥ ११॥

हे अज! आप आत्माराम हैं, अतः परमात्मा श्रीभगवान्की मायाके द्वारा निर्मित यह त्रिगुणात्मक और आश्चर्यमय जगत् आपको अद्भुत प्रतीत नहीं हो रहा। किन्तु हे शिव! मैं स्त्री हूँ। मेरा स्वभाव उत्कण्ठाओंसे भरा रहता है और विशेषतः मैं तत्त्वज्ञानसे रहित हूँ, इसीलिए इतनी अधीर होकर मैं अपनी जन्मभूमिका दर्शन करनेकी अभिलाषा कर रही हूँ॥ ११॥

पश्य प्रयान्तीरभवान्ययोषितो-
ऽप्यलङ्कृताः कान्तसखा वरूथशः।

यासां व्रजद्भिः शितिकण्ठ मण्डितं
नभो विमानैः कलहंसपाण्डुभिः॥ १२॥

हे नीलकण्ठ! आप अभव अर्थात् जन्म आदिसे रहित हैं, इसलिए सुहृदोंका विरह-दुःख आपने कभी अनुभव नहीं किया है। एकबार अपनी दृष्टिको ऊपर उठाकर तो देखिये! जिन स्त्रियोंके साथ प्रजापति दक्षका कोई सम्बन्ध ही नहीं है, वे भी अपने-अपने पतियोंके साथ सज-धजकर झुण्ड-की-झुण्ड मेरे पिताके यज्ञमें जा रही हैं। जरा देखिये! इन स्त्रियोंके राजहंसके समान श्वेत विमानोंसे आकाश-मण्डल कैसी अपूर्व शोभासे शोभायमान हो रहा है॥ १२॥

कथं सुतायाः पितृगेहकौतुकं
निशम्य देहः सुरवर्य नेङ्गते।
अनाहुता अप्यभियन्ति सौहृदं
भर्तुर्गुरोर्देहकृतश्च केतनम्॥ १३॥

हे देवश्रेष्ठ! पिताके घरमें उत्सवका वृत्तान्त सुनकर पुत्रीका शरीर उसे देखनेके लिए क्यों नहीं छटपटायेगा? बन्धु, पति, ससुर एवं पिताके यहाँ तो बिना बुलाये भी जाया जा सकता है॥ १३॥

तन्मे प्रसीदेदममर्त्त्य वाञ्छितं
कर्तुं भवान् कारुणिको बतार्हति।
त्वयात्मनोऽर्द्धेऽहमदभ्रचक्षुषा
निरूपिता मानुगृहाण याचितः॥ १४॥

अतएव हे ईश्वर! आप दयालु हैं अतः आप मेरे प्रति प्रसन्न हों और कृपापूर्वक मेरी इस इच्छाको पूर्ण कीजिये। आपने परम ज्ञानी होकर भी मुझे अपनी अर्द्धाङ्गिनीके रूपमें स्वीकार किया है, अतः मुझपर अनुग्रह प्रकाशित कीजिये। मैं आपसे कृपाकी याचना कर रही हूँ॥ १४॥

श्रीऋषिरुवाच—

एवं गिरित्रः प्रिययाभिभाषितः
प्रत्यभ्यधत्त प्रहसन् सुहृत्प्रियः।

संस्मारितो मर्मभिदः कुवागिषून्
यानाह को विश्वसृजां समक्षतः॥ १५॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! सुहृद-वत्सल भगवान् गिरीश अपनी प्रियाके इन वचनोंको सुनकर मुस्कराने लगे एवं प्रजापति दक्षने विश्वकी सृष्टि करनेवाले मरीचि आदि प्रजापतियोंके सम्मुख उनके प्रति जिन मर्मभेदी दुर्वचनरूपी बाणोंका प्रयोग किया था, उनका स्मरण करके कहने लगे॥ १५॥

श्रीभगवानुवाच—

त्वयोदितं शोभनमेव शोभने
अनाहुता अप्यभियन्ति बन्धुषु।
ते यद्यनुत्पादितदोषदृष्टयो
बलीयसानात्म्यमदेन मन्युना॥ १६॥

योगेश्वर महादेवने कहा—हे शोभने! तुम्हारा यह कथन कि 'बिना बुलाये भी बन्धु-बान्धवोंके घर जाया जा सकता है' अति उपयुक्त है, परन्तु तुम्हारे ये वचन तभी शोभा पा सकते हैं, जब तुम्हारे बन्धु देहाभिमानसे उत्पन्न गर्व और क्रोधके कारण किसीमें दोष न देखते हों॥ १६॥

विद्यातपोवित्तवपुर्वयःकुलैः
सतां गुणैः षड्भिरसत्तमेतरैः।
स्मृतौ हतायां भृतमानदुर्दृशः
स्तब्धा न पश्यन्ति हि धाम भूयसाम्॥ १७॥

विद्या, तपस्या, धन, सुन्दर शरीर, यौवन एवं उच्चकुल—ये छः साधुओंके ही गुण हैं। किन्तु यही छहों गुण असत्पुरुषोंमें विपरीत फल ही प्रदान करते हैं अर्थात् उनके लिए ये गुण ही अवगुण बन जाते हैं, क्योंकि इनसे उनका अभिमान बढ़ जाता है और विवेक नष्ट हो जाता है। अभिमानसे मत्त होनेपर असत् पुरुष महत्-जनोंके प्रभावको नहीं देख पाते हैं॥ १७॥

नैतादृशानां स्वजनव्यपेक्षया
गृहान् प्रतीयादनवस्थितात्मनाम्।
येऽभ्यागतान् वक्रधियाभिचक्षते
आरोपितभ्रूभिरमर्षणाक्षिभिः ॥ १८ ॥

ऐसे असंयतचित्त व्यक्तियोंको स्वजन समझकर उनके घर नहीं जाना चाहिये। वे अपनी कुटिल बुद्धिके कारण घरपर आये हुए व्यक्तियोंको भौंहे चढ़ाकर क्रोधभरी दृष्टिसे देखा करते हैं॥ १८॥

तथारिभिर्न व्यथते शिलीमुखैः
शेतेऽर्दिताङ्गो हृदयेन दूयता।
स्वानां यथा वक्रधियां दुरुक्तिभि-
र्दिवानिशं तप्यति मर्मताडितः॥ १९ ॥

कुटिलबुद्धियुक्त आत्मीयजनोंके कटु वचनोंसे बिंधनेपर हृदय जैसा व्यथित होता है, शत्रुओंके बाणोंसे शरीरके बिंधनेपर भी वैसी पीड़ा नहीं होती। इसका कारण है कि बाणोंसे आहत होकर भी व्यक्ति जैसे-तैसे नींदका सुख प्राप्त कर सकता है, किन्तु वचनरूपी बाणसे विद्ध हो जानेपर व्यक्ति मानसिक पीड़ासे दिन-रात बेचैन रहता है॥ १९॥

व्यक्तं त्वमुत्कृष्टगतेः प्रजापतेः
प्रियात्मजानामसि सुभ्रु मे मता।
तथापि मानं न पितुः प्रपत्स्यसे
मदाश्रयात् कः परितप्यते यतः॥ २० ॥

हे सुन्दरि! यद्यपि तुम्हारे पिता प्रजापति दक्ष अत्यन्त उत्कृष्ट मर्यादाशाली हैं और फिर उनकी पुत्रियोंमेंसे तुम ही उनकी सबसे अधिक लाड़ली हो—इसे मैं भी जानता हूँ, तथापि तुम मेरी आश्रिता होनेके कारण अपने पितासे सम्मान प्राप्त नहीं कर पाओगी, क्योंकि वे तुम्हारे साथ मेरे सम्बन्धकी गन्ध रहनेसे ही दुःखी हो रहे हैं॥ २०॥

पापच्यमानेन हृदातुरेन्द्रियः
समृद्धिभिः पूरुषबुद्धिसाक्षिणाम्।

अकल्प एषामधिरोढुमञ्जसा
परं पदं द्वेष्टि यथासुरा हरिम्॥ २१॥

निरहङ्कारी पुरुषोंकी पुण्यकीर्त्ति आदिको देखकर जिनका हृदय ईर्ष्यारूपी अग्निसे जलता रहता है और इन्द्रियाँ विवश हो जाती हैं, वे असुर जिस प्रकार श्रेष्ठ ऐश्वर्यको प्राप्त करनेमें असमर्थ होकर केवल श्रीहरिसे द्वेष ही करते हैं, उसी प्रकार तुम्हारे पिता दक्ष भी सदैव मुझसे द्वेष ही करते रहते हैं॥ २१॥

प्रत्युद्गमप्रश्रयणाभिवादनं
विधीयते साधु मिथः सुमध्यमे।
प्राज्ञैः परस्मै पुरुषाय चेतसा
गुहाशयायैव न देहमानिने॥ २२॥

हे सुन्दरि! अज्ञानी जन लोक-व्यवहारमें परस्पर अभ्युत्थान, प्रणाम एवं अभिवादन आदि करते हैं। किन्तु विद्वान व्यक्ति इन्हीं व्यवहारोंका अन्य प्रकारसे श्रेष्ठ रूपमें आचरण करते हैं। वे विद्वज्जन बहिर्मुख देहाभिमानियोंको अपनी कायिक चेष्टाओंसे अभिवादन आदि न करके मनके द्वारा ही उनके हृदयमें विराजित अन्तर्यामी परमपुरुष वासुदेवके प्रति प्रणाम आदि किया करते हैं॥ २२॥

सत्त्वं विशुद्धं वसुदेवशब्दितं
यदीयते तत्र पुमानपावृतः।
सत्त्वे च तस्मिन् भगवान् वासुदेवो
ह्यधोक्षजो मे नमसा विधीयते॥ २३॥

गुणातीत अप्राकृत विशुद्ध अन्तःकरणका नाम ही 'वसुदेव' है, आवरणशून्य[१] पुरुष उस विशुद्धसत्त्वमें ही प्रकाशित होते हैं, इसलिए उनका नाम 'वासुदेव' है। वे षडैश्वर्यशाली भगवान् और इन्द्रिय ज्ञानसे अतीत पुरुष हैं। वे विशुद्ध सेवोन्मुख अप्राकृत अन्तःकरणमें नित्य प्रकाशित होते हैं। मैं उन्हीं भगवान्को ही विशेष रूपसे प्रणाम करता हूँ॥ २३॥

---

[१] स्वरूपशक्तिकी वृत्तिसे युक्त तथा स्वप्रकाश-शक्ति लक्षण युक्त पुरुष—श्रीभगवान्।

तत्ते निरीक्ष्यो न पितापि देहकृद्-
दक्षो मम द्विट् तदनुव्रताश्च ये।
यो विश्वसृग्यज्ञगतं वरोरु मा-
मनागसं दुर्वचसाऽकरोत्तिरः॥ २४॥

हे वराङ्गने! यद्यपि दक्ष तुम्हारी देहके जन्मदाता पिता हैं, तथापि तुम्हारे लिए न तो उनसे मिलना उचित है और न ही दक्षके समर्थकोंका मुख देखना योग्य है। जगत्‌की सृष्टि करनेवाले मरीचि आदि प्रजापतियोंके यज्ञमें तुम्हारे पिताने मेरा कोई अपराध न होनेपर भी मेरे प्रति दुर्वचनोंका प्रयोग करके मेरा तिरस्कार किया था॥ २४॥

यदि व्रजिष्यस्यतिहाय मद्वचो
भद्रं भवत्या न ततो भविष्यति।
सम्भावितस्य स्वजनात् पराभवो
यदा स सद्यो मरणाय कल्पते॥ २५॥

यदि तुम मेरी बात न मानकर वहाँ जाओगी, तो तुम्हारा मङ्गल नहीं होगा, क्योंकि सुप्रतिष्ठित मनुष्यका जब अपने ही स्वजनोंके द्वारा अपमान होता है, तो वह अपमान तत्काल ही उसकी मृत्युका कारण बन जाता है॥ २५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां चतुर्थस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे श्रीउमारुद्र-संवादो नाम तृतीयोऽध्यायः॥

चतुर्थोऽध्यायः

पतिकी आज्ञाका उल्लंघनकर पिताके यज्ञमें आयी हुई सतीका पिताके द्वारा अपमान तथा क्रोधसे यज्ञस्थलीमें सतीका देह-त्याग

श्रीमैत्रेय उवाच—

एतावदुक्त्वा विरराम शङ्करः
पत्न्यङ्गनाशं ह्युभयत्र चिन्तयन्।
सुहृद्दिदृक्षुः परिशङ्किता भवा-
न्निष्क्रामती निर्विशती द्विधास सा॥ १॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! महादेव यह कहकर शान्त हो गये, किन्तु मन-ही-मन सोचने लगे कि सतीको दक्षके यहाँ 'जानेकी अनुमति दूँ या न दूँ, दोनों अवस्थओंमें ही सतीका प्राण-त्याग अवश्यम्भावी है।' दूसरी ओर, बन्धुजनोंको देखनेकी लालसासे देवी सती एक क्षण घरसे बाहर निकलतीं और दूसरे ही क्षण शिवजीके भयसे अन्दर चली जातीं। कुछ निश्चय न कर पानेके कारण वे असमंजसमें थीं॥ १॥

सुहृद्दिदृक्षा-प्रतिघातदुर्मनाः
स्नेहाद्रुदत्यश्रुकलातिविह्वला ।
भवं भवान्यप्रतिपूरुषं रुषा
प्रधक्ष्यतीवैक्षत जातवेपथुः॥ २॥

बन्धुजनोंसे मिलनेकी प्रबल इच्छामें बाधा पड़नेपर सती बड़ी अनमनी-सी होकर पिता आदि बन्धुओंके प्रति अत्यधिक स्नेहके कारण निरन्तर अश्रुधारा वर्षण करते हुए अत्यन्त विह्वल हो गयीं। क्रोधके कारण उनके अङ्ग थर-थर काँपने लगे। अतुलनीय पुरुष श्रीरुद्रको वे इस प्रकार देखने लगीं, मानो रोषाग्निसे उन्हें भस्म कर डालेंगी॥ २॥

ततो विनिश्वस्य सती विहाय तं
शोकेन रोषेण च दूयता हृदा।
पित्रोरगात् स्त्रैण्यविमूढधीर्गृहान्
प्रेम्णात्मनो योऽर्द्धमदात् सतां प्रियः॥ ३॥

सतीका हृदय शोक एवं क्रोधसे अत्यन्त बेचैन हो रहा था। दीर्घ निःश्वास छोड़ती हुई वे पिताके घरकी ओर चल पडीं। साधुजनोंके प्रिय जिन शङ्करने प्रीतिवशतः सतीको अपनी अर्द्धाङ्गिनीके रूपमें स्वीकार किया था, स्त्री-स्वभाववश विमूढ़ होकर आज सती अपने उन्हीं स्वामीको छोड़कर पिताके घर जाते हुए तनिक भी कुण्ठित नहीं हुई॥ ३॥

तामन्वगच्छन् द्रुतविक्रमां सती-
मेकां त्रिनेत्रानुचराः सहस्रशः।
सपार्षदयक्षा मणिमन्मदादयः
पुरोवृषेन्द्रास्तरसा गतव्यथाः॥ ४॥

सतीको अकेली और पैदल ही तीव्र गतिसे जाते देखकर त्रिलोचन भगवान् शङ्करके मणिमान और मद आदि हजारों यक्ष-पार्षद और अनुचरवृन्द वृषभराजको आगे करके सतीके पीछे-पीछे दौड़ने लगे॥ ४॥

तां सारिकाकन्दुकदर्पणाम्बुजैः
श्वेतातपत्रव्यजनस्रगादिभिः ।
गीतायनैर्दुन्दुभिशङ्खवेणुभि-
र्वृषेन्द्रमारोप्य विटङ्किता ययुः॥ ५॥

तत्पश्चात् सतीके समीप पहुँचनेपर उन्होंने देवी सतीको बैलपर चढ़ा दिया तथा उन्हें सारिका, गेंद, दर्पण, कमल आदि खिलौने प्रदान किये। तत्पश्चात् उन्हें श्वेत छत्र, व्यजन (पङ्खा) तथा माला आदि राजोचित विभूतियों और सङ्गीत-साधन रूप दुन्दुभि, शङ्ख एवं बाँसुरी आदि अनेक प्रकारके वाद्य-यन्त्रोंसे सुसज्जित एवं सुशोभित करके वे अनुचर उनके साथ-साथ चलने लगे॥ ५॥

आब्रह्मघोषोर्जितयज्ञवैशसं
विप्रर्षिजुष्टं विबुधैश्च सर्वशः।
मृद्दार्वयःकाञ्चनदर्भचर्मभि-
र्निसृष्टभाण्डं यजनं समाविशत्॥ ६॥

तदनन्तर जब सतीने सेवकोंके साथ पिताकी यज्ञ-स्थलीमें प्रवेश किया, तो उसने देखा कि वहाँ चारों दिशाओंमें वेद-ध्वनि हो रही है। वेदोच्चारणपूर्वक पशुवध होनेके कारण यज्ञ-स्थली यज्ञीय पशुओंके वधके कोलाहलसे युक्त थी। सब ओर ब्रह्मर्षि एवं देवता विराजमान थे तथा वहाँ मिट्टी, काष्ठ, लौह, काञ्चन, दर्भ एवं चर्म आदिसे निर्मित पात्र सुसज्जित थे॥ ६॥

तामागतां तत्र न कश्चनाद्रियद्-
विमानितां यज्ञकृतो भयाज्जनः।
ऋते स्वसॄर्वै जननीञ्च सादराः
प्रेमाश्रुकण्ठ्यः परिषस्वजुर्मुदा॥ ७॥

पिता दक्षके द्वारा सतीकी अवहेलना होती देखकर दक्षके भयसे किसीने भी सतीका आदर नहीं किया। केवलमात्र उनकी माता एवं बहनें अवश्य उन्हें देखकर गद्गद हो गयीं, प्रेमवश उनकी आँखोंसे अश्रुधाराएँ बहने लगीं और उनका कण्ठ अवरुद्ध हो गया। उन्होंने बड़े आनन्दके साथ सतीको गले लगाया॥ ७॥

सौदर्यसम्प्रश्नसमर्थवार्तया
मात्रा च मातृष्वसृभिश्च सादरम्।
दत्तां सपर्यां वरमासनञ्च सा
नादत्त पित्राप्रतिनन्दिता सती॥ ८॥

किन्तु पिताके द्वारा अपना अनादर होते देखकर सतीने अपनी बहनोंके कुशलता-सम्बन्धी पूछे गये प्रश्नोंकी ओर कोई ध्यान ही नहीं दिया। माता एवं मौसियोंने स्नेहके साथ उन्हें जो अलङ्कार और सुन्दर आसनादि उपहार प्रदान किये, सतीने उन्हें भी स्वीकार नहीं किया॥ ८॥

अरुद्रभागं तमवेक्ष्य चाध्वरं
पित्रा च देवे कृतहेलनं विभौ।
अनादृता यज्ञसदस्यधीश्वरी
चुकोप लोकानिव धक्ष्यती रुषा॥ ९॥

महेश्वरकी सहधर्मिणी सतीने देखा कि एक तो यज्ञसभामें उनका अनादर हुआ है और दूसरा विभूतिशाली महादेवको यज्ञमें निमन्त्रित न करके पिताने रुद्रका भी विशेष अपमान किया है। यहाँ तक कि यज्ञमें रुद्रका कोई भाग भी नहीं था। अतः यज्ञके इस प्रकारके दृश्यको देखकर सती अत्यन्त क्रोधित हो उठी, मानो कि वे समस्त लोकोंको ही अपने क्रोध द्वारा भस्म कर देंगी॥ ९॥

जगर्ह सामर्षविपन्नया गिरा
शिवद्विषं धूमपथश्रमस्मयम्।
स्वतेजसा भूतगणान् समुत्थितान्
निगृह्य देवी जगतोऽभिश्रृण्वतः॥ १०॥

दक्षको कर्ममार्गके अभ्याससे बहुत अहङ्कार हो गया था, इसी कारण वह शिवजीसे विद्वेष करने लगा था। सतीके साथ आये हुए भूत-समुदायका भी विक्रम कुछ कम न था। वे दक्षका विनाश करनेके लिए उद्यत हो उठे। किन्तु सतीदेवीने उन्हें मना किया एवं सब लोगोंको सुनाकर पिताके व्यवहारकी निन्दा करते हुए क्रोधसे लड़खड़ाती वाणीमें कहने लगीं॥ १०॥

श्रीदेव्युवाच—

न यस्य लोकेऽस्त्यतिशायनः प्रिय-
स्तथाप्रियो देहभृतां प्रियात्मनः।
तस्मिन् समस्तात्मनि मुक्तवैरके
ऋते भवन्तं कतमः प्रतीपयेत्॥ ११॥

श्रीसतीदेवीने कहा—हे पिता! जो इस संसारमें समस्त देहधारी जीवोंको अतिशय प्रिय हैं, जिनके लिए न कोई प्रिय है और न ही कोई अप्रिय, अतएव जिनका किसीके साथ भी विरोध नहीं हो सकता, इस जगत्में जिनकी अपेक्षा और कोई श्रेष्ठ नहीं है और जो

समस्त जगत्‌के कारण हैं, अतः आपके अतिरिक्त फिर ऐसा कौन है, जो ऐसे श्रीशिवका विरोध करेगा? ॥ ११ ॥

दोषान् परेषां हि गुणेषु साधवो
गृह्णन्ति केचिन्न भवादृशा द्विज।
गुणांश्च फल्गून् बहुलीकरिष्णवो
महत्तमास्तेष्वविदद्भवानघम् ॥ १२ ॥

हे द्विजवर! कोई-कोई साधु व्यक्ति दूसरोंके दोषोंको भी गुणोंके रूपमें ग्रहण करते हैं, किन्तु आपके समान ईर्ष्यायुक्त व्यक्ति दूसरोंके गुणोंमें भी दोष ही देखते हैं। जो वास्तवमें किसीके गुण और दोषोंका विचार करते हैं, वे मध्यम हैं, परन्तु जो किसीके थोड़े-से गुणको भी महत् बतलाकर उनकी प्रशंसा किया करते हैं, वे तो अति उत्तम हैं। और फिर आपने ऐसे सर्वोत्तम श्रीमहादेवके प्रति भी दोषारोपण किया है॥ १२ ॥

नाश्चर्यमेतद्यदसत्सु सर्वदा
महद्विनिन्दा कुणपात्मवादिषु।
सेर्ष्यं महापूरुषपादपांशुभि-
र्निरस्ततेजःसु तदेव शोभनम्॥ १३ ॥

अथवा इस शवरूप जड़-देहको ही 'आत्मा' समझनेवाले असत्पुरुष यदि ईर्ष्यावशतः निरन्तर महाजनोंकी निन्दा भी करें, तो इसमें आश्चर्यकी क्या बात है? यद्यपि महापुरुष तो अपनी निन्दा सहन कर लेते हैं तथापि उनकी पदरेणु[१] महत् व्यक्तिकी निन्दा सहन नहीं कर पाती। वे निन्दुक व्यक्तियोंके तेजको नष्ट कर देती है। अतएव उन दुष्ट पुरुषोंको महत्-पुरुषोंके प्रति विद्वेष जैसा जघन्य कार्य ही शोभा देता है, क्योंकि उसके द्वारा ही उन्हें समुचित फलकी प्राप्ति होती है॥ १३ ॥

यद्द्व्यक्षरं नाम गिरेरितं नृणां
सकृत् प्रसङ्गादघमाशु हन्ति तत्।

---

[१] अर्थात् महत् व्यक्तिके चरणकमलोंका ही सम्पूर्ण रूपसे आश्रय लेनेवाले आश्रित भक्त।

पवित्रकीर्तिं तमलङ्घ्यशासनं
भवानहो द्वेष्टि शिवं शिवेतरः॥ १४॥

अहो! जो प्रसिद्ध दो अक्षरवाले 'शिव' नामका केवल एक बार भी प्रसङ्गवश अपनी जिह्वासे उच्चारण कर लेता है, उस मनुष्यके समस्त अशुभ शीघ्र ही विनष्ट हो जाते हैं। आप स्वयं अमङ्गलस्वरूप हैं अतएव ऐसे पवित्रकीर्त्ति मङ्गलस्वरूप शिवसे द्वेष रखते हैं जिनकी आज्ञाका कोई उल्लंघन नहीं कर सकता॥ १४॥

यत्पादपद्मं महतां मनोऽलिभि-
र्निषेवितं ब्रह्मरसासवार्थिभिः।
लोकस्य यद्वर्षति चाशिषोऽर्थिन-
स्तस्मै भवान् द्रुह्यति विश्वबन्धवे॥ १५॥

ब्रह्मानन्द-मकरन्दके लोभी महत्-जनोंका मनरूपी मधुकर जिनके चरणकमलोंका निरन्तर सेवन करता रहता है और जिनके चरणकमल सकाम पुरुषोंकी अभिलषित वस्तुओंका वर्षण करते हैं, आप ऐसे विश्वबन्धु शिवके प्रति द्रोहाचरण कर रहे हैं?॥ १५॥

किंवा शिवाख्यमशिवं न विदुस्त्वदन्ये
ब्रह्मादयस्तमवकीर्य जटाः श्मशाने।
तन्माल्यभस्मनृकपाल्यवसत् पिशाचै-
र्ये मूर्द्धभिर्दधति तच्चरणावसृष्टम्॥ १६॥

अथवा हे पिता! जो जटाओंको बिखेरे रहते हैं, श्मशानमें पड़े हुए नरमुण्डोंकी माला, चिताकी भस्म एवं मृत मनुष्यके कपालोंको आभूषणोंके रूपमें धारणकर पिशाचोंके साथ श्मशानमें वास करते हैं, ऐसे शिव नामक मङ्गलस्वरूप देवको आपके अतिरिक्त ब्रह्मा आदि कोई भी देवता अशिव अर्थात् अमङ्गलस्वरूप नहीं मानते, बल्कि वे स्वयं उन्हीं श्रीशिवके चरण-विगलित जल आदि निर्माल्यको अपने-अपने सिरपर धारण करते हैं॥ १६॥

कर्णौ पिधाय निरियाद्यदकल्प ईशे
धर्मावितर्यशृणिभिर्नृभिरस्यमाने ।

छिन्द्यात् प्रसह्य रुषतीमसतां प्रभुश्चे-
ज्जिह्वामसूनपि ततो विसृजेत् स धर्मः॥ १७॥

स्वेच्छाचारी व्यक्ति द्वारा धर्मकी रक्षा करनेवाले प्रभुकी निन्दा आरम्भ किये जाने प्रभुदासमें यदि उस निन्दुकको मारने या फिर स्वयं मरनेका सामर्थ्य न हो, तो उसके लिए दोनों कानोंको ढककर उस स्थानसे चले जाना कर्त्तव्य है। और यदि उस प्रभुभक्तमें सामर्थ्य रहे, तो उस निन्दुककी अमङ्गलसूचक शब्द बोलनेवाली जिह्वाको बलपूर्वक काटनेके बाद निन्दा श्रवणरूपी पापका प्रायश्चित करनेके लिए अपने प्राणोंका भी त्याग करना धर्म है॥ १७॥

अतस्तवोत्पन्नमिदं कलेवरं
न धारयिष्ये शितिकण्ठगर्हिणः।
जग्धस्य मोहाद्धि विशुद्धिमन्धसो
जुगुप्सितस्योद्धरणं प्रचक्षते॥ १८॥

अतएव श्रीशिव-विद्वेषी आपसे उत्पन्न अपनी इस देहको मैं अब और धारण नहीं करूँगी। यदि अज्ञानवशतः कोई किसी निन्दित वस्तुका भक्षण कर भी ले, तो वमन द्वारा उसे बाहर निकाल देनेसे ही उसकी शुद्धि होती है—यही विद्वानोंका कथन है॥ १८॥

न वेदवादाननुवर्तते मतिः
स्व एव लोके रमतो महामुनेः।
यथा गतिर्देवमनुष्ययोः पृथक्
स्व एव धर्मे न परं क्षिपेत् स्थितः॥ १९॥

जो महामुनि निरन्तर आत्मानन्दमें ही विभोर रहते हैं और विषयोंसे पूर्ण रूपसे विरक्त हो गये हैं, उनकी बुद्धि कभी भी वेदोक्त विधि-निषेधके अनुवर्ती नहीं होती। जिस प्रकार देवता और मनुष्यकी गति परस्पर पृथक् होती हैं, उसी प्रकार प्रवृत्त और निवृत्त धर्मोंका पालन करनेवालोंके प्रयोजन भी पृथक् होते हैं। अतः प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति लक्षणात्मक धर्ममें स्थित व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति अथवा उसके धर्मकी निन्दा न करें॥ १९॥

कर्म प्रवृत्तञ्च निवृत्तमप्यृतं
वेदे विविच्योभयलिङ्गमाश्रितम्।
विरोधि तद्यौगपदैककर्तरि
द्वयं तथा ब्रह्मणि कर्म नर्च्छति॥ २०॥

प्रवृत्त अर्थात् अग्निहोत्र आदि एवं निवृत्त अर्थात् शम-दमादि—दोनों प्रकारके कर्म ही सत्य हैं, क्योंकि वेदोंमें विशेष विवेचनाके द्वारा ही दोनों प्रकारके कर्मोंकी व्यवस्था दी गयी है। पुनः इन दोनों प्रकारके कर्मोंका कोई भी एकसाथ आचरण नहीं कर सकता। भोग और त्याग दोनों ही प्राकृत हैं, इसीलिए वैष्णवराज शिवके द्वारा भगवत्-सेवाके अतिरिक्त किसी भी प्रकारका प्राकृत कर्म किये जानेकी सम्भावना नहीं है॥ २०॥

मा वः पदव्यः पितरस्मदास्थिता
या यज्ञशालासु न धूमवर्त्मभिः।
तदन्नतृप्तैरसुभृद्भिरीडिता
अव्यक्तलिङ्गा अवधूतसेविताः॥ २१॥

हे पिता! हमारी आश्रित अणिमा आदि समृद्धियाँ आपमें नहीं हैं। आप लोगोंका ऐश्वर्य तो केवल यज्ञशाला तक ही आबद्ध रहता है और अग्निपुरुष ही उस ऐश्वर्यका भोग करते हैं। आप लोग तो यज्ञान्न भोजन करके ही तृप्तिका अनुभव करते हैं और इन अणिमा आदि सिद्धियोंकी प्रशंसा नहीं करते, क्योंकि आप लोगोंमें उन्हें प्राप्त करनेका अधिकार ही नहीं है। किन्तु अलक्ष्य-प्रभावसे युक्त यह सब अणिमा आदि सिद्धियाँ तो चतुःसन, नारद आदि अवधूतोंके द्वारा निरन्तर सेवित हैं॥ २१॥

नैतेन देहेन हरे कृतागसो
देहोद्भवेनालमलं कुजन्मना।
व्रीडा ममाभूत् कुजनप्रसङ्गत-
स्तज्जन्म धिग् यो महतामवद्यकृत्॥ २२॥

अधिक क्या कहूँ, आप शिवविद्वेषी हैं, अतः आपकी देहसे उत्पन्न अपनी इस घृणित देहको रखनेकी मुझे कोई आवश्यकता नहीं है।

आप दुर्जन हैं, अतः आपके साथ सम्बन्ध रहनेके कारण मैं बहुत लज्जित हूँ। महत्-जनोंका अप्रिय करनेवाले व्यक्तिसे प्राप्त हुए जन्मको ही धिक्कार है॥ २२॥

गोत्रं त्वदीयं भगवान् वृषध्वजो
दाक्षायणीत्याह यदा सुदुर्मनाः।
व्यपेतनर्मस्मितमाशु तद्ध्यहं
व्युत्स्रक्ष्य एतत् कुणपं त्वदङ्गजम्॥ २३॥

ऐश्वर्यशाली वृषध्वज शिव जिस समय हास-परिहासके छलसे मुझे 'दक्षनन्दिनी' कहकर सम्बोधित करते हैं, उस समय आपके साथ मुझे अपने सम्बन्धका स्मरण हो आनेपर मेरा हृदय अत्यधिक दुःखी हो जाता है। हास-परिहासका समय होनेपर भी मैं उस समय हँस नहीं पाती, अतः आपके अङ्गसे उत्पन्न शवके समान इस घृणित देहका मैं निश्चय ही परित्याग करूँगी॥ २३॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

इत्यध्वरे दक्षमनूद्य शत्रुहन्
क्षितावुदीचीं निषसाद शान्तवाक्।
स्पृष्ट्वा जलं पीतदुकूलसंवृता
निमील्य दृग्योगपथं समाविशत्॥ २४॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे शत्रुदमन विदुर! उस यज्ञमण्डपमें दक्षको इस प्रकार कहकर सती मौन होकर उत्तर दिशाकी ओर मुख करके भूमिपर बैठ गयीं। इसके बाद सतीने पीताम्बरसे अपनी देहको अच्छी तरहसे ढक लिया और आचमन करके दोनों नेत्रोंको बन्दकर योगपथका आश्रय लिया॥ २४॥

कृत्वा समानावनिलौ जितासना
सोदानमुत्थाप्य च नाभिचक्रतः।
शनैर्हृदि स्थाप्य धियोरसि स्थितं
कण्ठाद्भ्रुवोर्मध्यमनिन्दितानयत् ॥ २५॥

विशुद्ध स्वभाववाली सतीने सर्वप्रथम आसनको जीता। इसके बाद प्राण एवं अपान वायुको निरोधकर नाभिचक्रमें एकरूप किया। बादमें उदानवायुको धीरे-धीरे उठाते हुए उसे बुद्धिके साथ हृदयमें स्थापित कर लिया। अन्तमें कण्ठ-मार्ग द्वारा उस प्राणादि वायुको दोनों भौहोंके बीचमें स्थापित किया॥ २५॥

एवं स्वदेहं महतां महीयसा
मुहुः समारोपितमङ्कमादरात्।
जिहासती दक्षरुषा मनस्विनी
दधार गात्रेष्वनिलाग्निधारणाम्॥ २६॥

महत् व्यक्तियोंके भी पूज्यतम श्रीरुद्र जिस देहको आदरपूर्वक पुनः-पुनः अपनी गोदमें बिठाया करते थे, आज मनस्विनी रुद्राणीने दक्षके प्रति रोष करते हुए उसी देहको परित्याग करनेकी इच्छासे पूर्वोक्त प्रकारसे समस्त अङ्गोंमें अग्नि एवं वायुको अवरुद्ध कर लिया॥ २६॥

ततः स्वभर्तुश्चरणाम्बुजासवं
जगद्गुरोश्चिन्तयती न चापरम्।
ददर्श देहो हतकल्मषः सती
सद्यः प्रजज्वाल समाधिजाग्निना॥ २७॥

इसके बाद अनर्थनिर्मुक्ता सतीदेवी अपने स्वामी जगद्गुरु शम्भुके चरणकमलोंके मकरन्दरूप माधुर्यका चिन्तन करने लगी, जिसके फलस्वरूप उन्हें श्रीकृष्ण और उनके परिकरोंके अतिरिक्त और कुछ भी दिखायी नहीं देने लगा। उस समय उनका शरीर समाधिसे उत्पन्न योगाग्निके द्वारा शीघ्र ही प्रदीप्त हो उठा॥ २७॥

तत् पश्यतां खे भूवि चाद्भुतं महद्-
हाहेति वादः सुमहानजायत।
हन्त प्रिया दैवतमस्य देवी
जहावसून् केन सती प्रकोपिता॥ २८॥

आकाश एवं पृथ्वीपर स्थित जो सब इस अति आश्चर्यमयी घटनाको देख रहे थे, उनके मुखसे उच्चस्वरसे हाय-हाय शब्द निकलने लगा। यह हाहाकार भयङ्कर कोलाहलके रूपमें सर्वत्र व्याप्त हो गया। सब यही कह रहे थे—हाय! प्रजापति दक्षके दुर्व्यवहार द्वारा उत्तेजित तथा वैष्णव-विद्वेषीके प्रति कुपित देवादिदेव भगवान् शङ्करकी प्रिया सतीदेवीने अपने प्राणोंका परित्याग कर दिया॥ २८॥

अहो अनात्म्यं महदस्य पश्यत
प्रजापतेर्यस्य चराचरं प्रजाः।
जहावसून् यद्विमतात्मजा सती
मनस्विनी मानमभीक्ष्णमर्हति॥ २९॥

अहो! जरा दक्षकी दुर्जनताको तो देखो! सम्पूर्ण चराचर जगत् इस प्रजापतिकी प्रजा अर्थात् स्नेहभाजन है, परन्तु उसके ही अङ्गोंसे उत्पन्न और सर्वथा सम्मानके योग्य मनस्विनी रुद्राणीने उसीके अपमानके कारण अपने प्राण त्याग दिये॥ २९॥

सोऽयं दुर्मर्षहृदयो ब्रह्मध्रुक् च
लोके च कीर्तिमसतीमवाप्स्यति।
यदङ्गजां स्वां पुरुषद्विडुद्यतां
न प्रत्यषेधन्मृतयेऽपराधतः॥ ३०॥

यह दक्ष बड़ा ही निष्ठुर हृदयवाला एवं ब्रह्मद्रोही है। अरे, इस लोकमें तो इसका अपयश हुआ ही है, परलोकमें भी इसे दण्ड प्राप्त होगा। इस वैष्णव-द्वेषी दक्षने अपनी कन्याका ऐसा अपमान किया कि वह देहत्याग करनेके लिए उद्यत हो गयी, फिर भी यह उसे देखता ही रहा, किसी प्रकारसे उसे रोका तक नहीं॥ ३०॥

वदत्येवं जने सत्या दृष्ट्वासुत्यागमद्भुतम्।
दक्षं तत्पार्षदा हन्तुमुदतिष्ठन्नुदायुधाः॥ ३१॥

लोग सतीकी ऐसी अद्भुत प्राण-विसर्जन लीलाको देखकर इस प्रकार कह ही रहे थे कि इसी बीच सतीके अनुचर अस्त्र-शस्त्र लेकर दक्षका विनाश करनेके लिए तत्पर हो गये॥ ३१॥

तेषामापततां वेगं निशाम्य भगवान् भृगुः।
यज्ञघ्नघ्नेन यजुषा दक्षिणाग्नौ जुहाव ह॥ ३२॥

शिव पार्षदोंको आक्रमणके लिए प्रबल वेगसे आते देखकर ऐश्वर्यशाली महर्षि भृगु यज्ञमें विघ्न डालनेवालोंका नाश करनेमें समर्थ यजुर्वेदोक्त मन्त्रोंका उच्चारण करते हुए दक्षिणाग्निमें आहुति प्रदान करने लगे॥ ३२॥

अध्वर्युणा हूयमाने देवा उत्पेतुरोजसा।
ऋभवो नाम तपसा सोमं प्राप्ताः सहस्रशः॥ ३३॥

यज्ञ पुरोहित भृगुके द्वारा आहुति प्रदान करनेपर सहस्र-सहस्र 'ऋभु' नामक देवता यज्ञकुण्डसे अत्यधिक वेगके साथ उठे। इन्हीं देवताओंने तपस्याके प्रभावसे सोमत्व (चन्द्रके बल) को प्राप्त किया था॥ ३३॥

तैरलातायुधैः सर्वे प्रमथाः सहगुह्यकाः।
हन्यमाना दिशो भेजुरुशद्भिर्ब्रह्मतेजसा॥ ३४॥

ब्रह्मतेजसे देदीप्यमान उन देवताओंने जलती हुई लकड़ियोंको ही अस्त्रोंके रूपमें धारणकर प्रमथों एवं गुह्यकोंपर प्रहार करना आरम्भ कर दिया। इस आक्रमणके कारण प्रमथ एवं गुहक चारों ओर भागने लगे॥ ३४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां चतुर्थस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे श्रीसतीदेहोत्सर्गो नाम चतुर्थोऽध्यायः॥

पञ्चमोऽध्यायः

वीरभद्रके द्वारा दक्षयज्ञ-विध्वंस और दक्षका वध

श्रीमैत्रेय उवाच—

भवो भवान्या निधनं प्रजापते-
रसत्कृताया अवगम्य नारदात्।
स्वपार्षदसैन्यञ्च तदध्वरर्भुभि-
र्विद्रावितं क्रोधमपारमादधे॥ १॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! श्रीरुद्रने जब देवर्षि श्रीनारदसे सुना कि भवानीने प्रजापति दक्षसे अपमानित होकर प्राणोंका परित्याग कर दिया है और ऋभु नामक देवताओंने उनके पार्षदोंको मार-पीटकर यज्ञभूमिसे भगा दिया है, तो वे अत्यन्त क्रोधित हो गये॥ १॥

क्रुद्धः सुदष्टोष्ठपुटः स धूर्जटि-
र्जटां तडिद्वह्निसटोग्ररोचिषम्।
उत्कृत्य रुद्रः सहसोत्थितो हसन्
गम्भीरनादो विससर्ज तां भुवि॥ २॥

महादेव अत्यन्त क्रोधवशतः अपने होठोंको काटने लगे। क्रोधित धूर्जटिने[१] बिजली एवं आगकी लपटके समान दीप्त अपनी एक जटाको सिरसे उखाड़ा और खड़े होकर गम्भीर अट्टहास करते हुए उस जटाको भूमिपर पटक दिया॥ २॥

ततोऽतिकायस्तनुवा स्पृशन् दिवं
सहस्रबाहुर्घनरुक् त्रिसूर्यदृक्।
करालदंष्ट्रो ज्वलदग्निमूर्द्धजः
कपालमाली विविधोद्यतायुधः॥ ३॥

---

[१] त्रिलोकीके चिन्तारूपी भारको वहन करनेवाले।

उसी क्षण उस जटासे वीरभद्र नामक एक विशालकाय पुरुष उत्पन्न हुए। उन्होंने नरमुण्डोंकी माला पहन रखी थी, उनका सिर आकाशको स्पर्श कर रहा था, उनके तीन नेत्र सूर्यके समान दीप्तिमान एवं केश आगकी लपटोंके समान प्रज्वलित हो रहे थे, उन्होंने अपनी हजार भुजाओंमें तरह-तरहके अस्त्र-शस्त्र उठा रखे थे॥ ३॥

तं किं करोमीति गृणन्तमाह
बद्धाञ्जलिं भगवान् भूतनाथः।
दक्षं सयज्ञं जहि मद्भटानां
त्वमग्रणी रुद्र भटांशको मे॥ ४॥

वीरभद्रने दोनों हाथ जोड़कर कहा—"प्रभो! आज्ञा कीजिये, क्या करना होगा?" ऐश्वर्यशाली भगवान् भूतनाथ रुद्रने वीरभद्रके ये वचन सुनकर उन्हें सम्बोधित करते हुए कहा—"हे भयङ्कर! हे युद्धकुशल! तुम मेरे अंशसे उत्पन्न हुए हो। तुम मेरे पार्षदोंके अधिनायक बनकर दक्षका उसके यज्ञ सहित विनाश करो॥"४॥

आज्ञप्त एवं कुपितेन मन्युना
स देवदेवं परिचक्रमे विभुम्।
मेने तदात्मानमसङ्गरंहसा
महीयसां तात सहः सहिष्णुम्॥ ५॥

हे वत्स विदुर! क्रोधाविष्ट श्रीरुद्रकी ऐसी आज्ञा पाकर वीरभद्रने उनकी परिक्रमा की। उस समय वीरभद्रमें अप्रतिहत(१) वेगका प्रादुर्भाव हुआ, जिससे वे अपनेको बड़े-से-बड़े वीरका भी वेग सहन करनेमें समर्थ अनुभव करने लगे॥ ५॥

अन्वीयमानः स तु रुद्रपार्षदै-
र्भृशं नदद्भिर्व्यनदत् सुभैरवम्।
उद्यम्य शूलं जगदन्तकान्तकं
सम्प्राद्रवद्घोषणभूषणाङ्घ्रिः ॥ ६॥

---

(१) जिसे रोकनेमें कोई समर्थ न हो।

तदनन्तर वीरभद्र भी भयानक शब्द करनेवाले रुद्रके अनुचरोंके साथ मिलित होकर भीषण गर्जना करने लगे। उन्होंने जगत्‌के संहारक मृत्युके भी मृत्युस्वरूप त्रिशूलको उठा लिया और दक्षकी यज्ञस्थलीकी ओर प्रबल वेगसे दौड़े। उस समय वीरभद्रके चरणोंमें संलग्न नूपुरादि आभूषण बजने लगे॥ ६॥

अथर्त्विजो यजमानः सदस्याः
ककुभ्युदीच्यां प्रसमीक्ष्य रेणुम्।
तमः किमेतत् कुत एतद्रजोऽभू-
दिति द्विजा द्विजपत्न्यश्च दध्युः॥ ७॥

तदनन्तर यज्ञशालामें बैठे हुए ऋत्विज, यज्ञमें दीक्षित् यजमान दक्ष, सदस्य, द्विज एवं द्विजपत्नियोंने जब देखा कि उत्तरदिशासे धूल उड़ती चली आ रही है, तब वे सोचने लगे—अरे! अचानक यह अन्धकार क्यों छा रहा है? इतनी धूल कहाँसे उड़ती हुई आ रही है?॥ ७॥

वाता न वान्ति न हि सन्ति दस्यवः
प्राचीनबर्हिर्जीवति होग्रदण्डः।
गावो न काल्यन्त इदं कुतो रजो
लोकोऽधुना किं प्रलयाय कल्पते॥ ८॥

इस समय न तो प्रचण्ड आँधी ही चल रही है और न ही दस्यु, तस्कर आदि दुरात्माओंकी सम्भावना है, क्योंकि इन चोर-डाकुओंको भीषण दण्ड देनेवाले राजा प्राचीनबर्हि अभी जीवित हैं। अथवा अभी तो गौओंके आगमनका समय भी नहीं हुआ कि कोई गो-पालक उन्हें खदेड़कर ला रहा हो, अतः फिर यह धूल कहाँसे उठ रही है? क्या संसारमें अभी ही प्रलयकाल उपस्थित हो गया है?॥ ८॥

प्रसूतिमिश्राः स्त्रिय उद्विग्नचित्ता
ऊचुर्विपाको वृजिनस्यैव तस्य।
यत् पश्यन्तीनां दुहितृणां प्रजेशः
सुतां सतीमवदध्यावनागाम्॥ ९॥

ऐसी अवस्था देखकर प्रसूति आदि दक्षपत्नियोंका हृदय अत्यन्त व्याकुल हो गया। वे परस्पर कहने लगीं—प्रजापति दक्षने अपनी अन्यान्य पुत्रियोंके समक्ष ही अपनी कन्या निरापराधी सतीकी जो अवज्ञा की है, लगता है यह उनके उसी पापका कुफल ही उपस्थित हुआ है॥ ९॥

यस्त्वन्तकाले व्युप्तजटाकलापः
स्वशूलसूच्यर्पितदिग्गजेन्द्रः ।
वितत्य नृत्यत्युदितास्त्रदोर्ध्वजा-
नुच्चाट्टहासस्तनयित्नुभिन्नदिक् ॥ १०॥

प्रलयकालमें अपनी जटाओंको बिखेरकर और विविध अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित अपनी भुजाओंरूपी ध्वजाओंको फैलाकर आनन्दके साथ ताण्डव नृत्य करनेवाले जिन रुद्रके त्रिशूलके अग्रभागसे दिग्गज बिंध जाते हैं एवं जिनके मेघगर्जनके समान अट्टहाससे सम्पूर्ण दिक्मण्डल विदीर्ण हो जाता है॥ १०॥

अमर्षयित्वा तमसह्यतेजसं
मन्युप्लुतं दुर्निरीक्ष्यं भ्रुकुट्या।
करालदंष्ट्राभिरुदस्तभागणं
स्यात् स्वस्ति किं कोपयतो विधातुः॥ ११॥

जिनका तेज बड़ा असहनीय होता है, जो स्वभावतः ही क्रोधसे परिपूर्ण रहते हैं, भ्रुकुटि टेढ़ी होनेपर जिनके नेत्र अति भयङ्कर हो उठते हैं, जिनकी विकराल दाढ़ोंसे छिन्न-भिन्न होकर नक्षत्रगण कक्षसे च्युत हो पड़ते हैं—ऐसी उग्रमूर्त्ति रुद्रको क्रोधित करके स्वयं ब्रह्मा भी क्या छुटकारा पा सकते हैं?॥ ११॥

बह्वेवमुद्विग्नदृशोच्यमाने
जनेन दक्षस्य मुहुर्महात्मनः।
उत्पेतुरुत्पाततमाः सहस्रशो
भयावहा दिवि भूमौ च पर्यक्॥ १२॥

यज्ञसभामें उपस्थित सभी व्यक्ति भयभीत होकर बार-बार एक-दूसरेको देखते हुए तरह-तरहकी बातें करने लगे। इसी बीच आकाश एवं पृथ्वीमें चारों ओरसे हजारों भयङ्कर उत्पात होने लगे, जिससे अत्यधिक धीर दक्ष भी भयभीत हो गया॥ १२॥

तावत् स रुद्रानुचरैर्महामखो
नानायुधैर्वामनकैरुदायुधैः ।
पिङ्गैः पिशङ्गैर्मकरोदराननैः
पर्याद्रवद्भिर्विदुरान्वरुध्यत ॥ १३ ॥

हे विदुर! इधर रुद्रके अनुचर क्षणमात्र भी विलम्ब किये बिना नाना प्रकारके अस्त्रोंको उठाये हुए प्रबल वेगसे चले आये और उन्होंने उस विशाल यज्ञभूमिको घेर लिया। उनमेंसे कोई बौने, कोई कपिल अर्थात् भूरे अथवा बादामी रङ्गके और कोई पीले रङ्गके थे। किसीका पेट मगरके समान था, तो किसीका मुख मगरके जैसा था॥ १३॥

केचिद्बभञ्जुः प्राग्वंशं पत्नीशालां तथापरे।
सद आग्नीध्रशालाञ्च तद्विहारं महानसम्॥ १४॥

इन रुद्रानुचरोंमेंसे किसी-किसीने यज्ञशालाके पूर्व और पश्चिमके स्तम्भोंके बीचमें आड़ी रखी हुए बल्लियोंको तोड़ डाला, किसीने पश्चिमकी ओर स्थित पत्नीशालाको तोड़ दिया, किसीने यज्ञशालाके सामनेका सभा-मण्डप एवं उसके सम्मुख स्थित घी रखनेके स्थानको तोड़ डाला, किसीने ऋत्विकोंके घरोंको, किसीने यजमानोंके घरोंको और किसीने पाकशालाओंको तोड़ डाला॥ १४॥

रुरुजुर्यज्ञपात्राणि तथैकेऽग्नीननाशयन्।
कुण्डेष्वमूत्रयन् केचिद्बिभिदुर्वेदिमेखलाः॥ १५॥

अन्य कुछ रुद्रके अनुचरोंने यज्ञके पात्रोंको तोड़कर फैंक दिया, तो किसीने अग्नियोंको बुझा दिया। किसी-किसीने यज्ञकुण्डोंमें मूत्र विसर्जन कर दिया, किसी-किसीने यज्ञीय वेदी और मेखलाको ही तोड़ डाला॥ १५॥

अबाधन्त मुनीनन्ये एके पत्नीरतर्जयन्।
अपरे जगृहुर्देवान् प्रत्यासन्नान् पलायितान्॥ १६॥

अन्य कुछ रुद्रके अनुचर दुवर्चनोंके द्वारा मुनियोंको मारने-पीटने लगे, कुछ मुनिपत्नियोंके प्रति तर्जन-गर्जन करने लगे। अन्य कुछ अपने समीप उपस्थित और भागते हुए देवताओंको भी पकड़ने लगे॥ १६॥

भृगुं बबन्ध मणिमान् वीरभद्रः प्रजापतिम्।
चण्डेशः पूषणं देवं भगं नन्दीश्वरोऽग्रहीत्॥ १७॥

मणिमान् नामक रुद्रानुचरने भृगुको और वीरभद्रने प्रजापति दक्षको बाँध लिया, चण्डेश्वरने सूर्यदेवको तथा नन्दीश्वरने भगदेवको पकड़ लिया॥ १७॥

सर्व एवर्त्विजो दृष्ट्वा सदस्याः सदिवौकसः।
तैरर्द्यमानाः सुभृशं ग्रावभिर्नैकधाऽद्रवन्॥ १८॥

ऋत्विकों, सदस्यों एवं देवताओंने जब भगवान् रुद्रके अनुचरोंके द्वारा किये जानेवाले इस प्रकारके भयङ्कर उपद्रवको देखा, तो उन्होंने वहाँसे चारों ओर भागना आरम्भ कर दिया। यह देखकर रुद्रके अनुचर उनके ऊपर पत्थर फेंकने लगे, जिससे उन्हें अत्यधिक आघात पहुँचा॥ १८॥

जुह्वतः स्रुवहस्तस्य श्मश्रूणि भगवान् भवः।
भृगोर्लुलुञ्चे सदसि योऽहसत् श्मश्रु दर्शयन्॥ १९॥

जिस समय भृगु होमपात्र—स्रुवाको हाथमें लेकर अग्निमें आहुति प्रदान कर रहे थे, उस समय महापराक्रमशाली वीरभद्रने उनकी दाढ़ी-मूँछ उखाड़ फैंकी, क्योंकि इसी भृगुने पूर्वोक्त प्रजापतियोंके सभास्थलमें मूँछ दिखा-दिखाकर महादेवजीका उपहास किया था॥ १९॥

भगस्य नेत्रे भगवान् पातितस्य रुषा भुवि।
उज्जहार सदस्थोऽक्ष्णा यः शपन्तमसूसुचत्॥ २०॥

तत्पश्चात् वीरभद्रने क्रोधाविष्ट होकर भगदेवको भूमिपर पटक दिया और उनकी दोनों आँखें उखाड़ ली, क्योंकि जिस समय सभामण्डपमें दक्ष शिवजीकी निन्दा कर रहे थे, उस समय भगदेवने आँखोंको सङ्कुचित करके सङ्केतोंके द्वारा दक्षको उत्साहित किया था॥ २०॥

पूष्णो ह्यपातयद्दन्तान् कलिङ्गस्य यथा बलः।
शप्यमाने गरिमणि योऽहसद्दर्शयन् दतः॥ २१॥

श्रीबलदेव प्रभुने जिस प्रकार कलिङ्गराजा दन्तवक्रके दाँतोंको उखाड़ डाला था, उसी प्रकार वीरभद्रने भी पूषादेवके दाँतोंको उखाड़ डाला, क्योंकि दक्ष जिस समय गुरुतर (सर्वश्रेष्ठ) श्रीरुद्रकी निन्दा कर रहे थे, उस समय यही पूषादेव दाँत दिखा-दिखाकर हँसा था॥ २१॥

आक्रम्योरसि दक्षस्य शितधारेण हेतिना।
छिन्दन्नपि तदुद्धर्तुं नाशक्नोत् त्र्यम्बकस्तदा॥ २२॥

इसके पश्चात् रुद्रांश वीरभद्र दक्षके वक्षःस्थलपर चढ़कर तीक्ष्ण धारवाली तलवारसे उसका सिर काटनेके लिए उद्यत हुए, परन्तु वे दक्षके धड़से उसके सिरको विच्छिन्न नहीं कर पाये॥ २२॥

शस्त्रैरस्त्रान्वितैरेनमनिर्भिन्नत्वचं हरः।
विस्मयं परमापन्नो दध्यौ पशुपतिश्चिरम्॥ २३॥

जब अनेक प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंके प्रहारसे दक्षकी त्वचा तक भी विच्छिन्न नहीं हुई, तब वीरभद्र अतिशय विस्मित होकर बहुत देर तक विचार करने लगे॥ २३॥

दृष्ट्वा संज्ञपनं योगं पशूनां स पतिर्मखे।
यजमानपशोः कस्य कायात् तेनाहरच्छिरः॥ २४॥

अन्तमें पशुपति वीरभद्रने यज्ञमण्डपमें संज्ञपन-योग अर्थात् यज्ञ-पशुओंको मारनेके लिए व्यवहृत होनेवाले 'कण्ठनिपीडन' नामक अस्त्रको देखकर उसी साधनसे पशु तुल्य यजमान प्रजापति दक्षके धड़से उसके सिरको विछिन्न कर दिया॥ २४॥

साधुवादस्तदा तेषां कर्म तत्तस्य पश्यताम्।
भूतप्रेतपिशाचानामन्येषां तद्विपर्ययः॥ २५॥

तब वीरभद्रके इस कार्यको देखकर भूत-प्रेत एवं पिशाचादि 'साधु'-'साधु' कहकर उनकी सराहना करने लगे। किन्तु दक्षके पक्षके द्विजोंके मुखसे इसके ठीक विपरीत असाधुवाद निकलने लगा॥ २५॥

जुहावैतच्छिरस्तस्मिन् दक्षिणाग्नावमर्षितः।
तद्देवयजनं दग्ध्वा प्रातिष्ठद् गुह्यकालयम्॥ २६॥

क्रोधाभिभूत वीरभद्रने दक्षके उस कटे हुए सिरको दक्षिणाग्निमें आहुतिके रूपमें डाल दिया और इसके बाद वे दक्षकी यज्ञशालामें आग लगाकर कैलाश पर्वतकी ओर लौट आये॥ २६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां चतुर्थस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे दक्षयज्ञ-विध्वंसनं नाम पञ्चमोऽध्यायः॥

षष्ठोऽध्यायः

ब्रह्मादि देवताओंका कैलाश जाकर श्रीमहादेवजीको मनाना

श्रीमैत्रेय उवाच—

अथ देवगणाः सर्वे रुद्रानीकैः पराजिताः।
शूलपट्टिशनिस्त्रिंश-गदापरिघमुद्गरैः ॥ १ ॥

सञ्छिन्नभिन्नसर्वाङ्गाः सर्त्विक्सभ्या भयाकुलाः।
स्वयम्भुवे नमस्कृत्य कार्त्स्न्येनैतन्न्यवेदयन्॥ २ ॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! इसके बाद रुद्रकी सेनाने देवताओंको पराजित करके उनके सर्वाङ्गोंको त्रिशूल, पट्टिश नामक शस्त्र, खड्ग, गदा, परिघ (लोहेकी छड़ी) और मुद्गर (हथौड़ा) इत्यादिके द्वारा छिन्न-भिन्न कर दिया। इससे देवता बड़े भयभीत हो गये। वे ऋत्विजों एवं सदस्योंके साथ ब्रह्माजीके पास पहुँचे और उन्हें प्रणाम करके यज्ञका सारा वृत्तान्त कह-सुनाया॥ १-२ ॥

उपलभ्य पुरैवैतद्भगवानब्जसम्भवः।
नारायणश्च विश्वात्मा न कस्याध्वरमीयतुः॥ ३ ॥

ऐश्वर्यशाली पद्मयोनि ब्रह्मा एवं विश्वात्मा श्रीनारायण पहलेसे ही जानते थे कि ऐसा होगा, इसीलिए वे प्रजापति दक्षके यज्ञमें नहीं गये थे॥ ३ ॥

तदाकर्ण्य विभुः प्राह तेजीयसि कृतागसि।
क्षेमाय तत्र सा भूयान्न प्रायेण बुभूषताम्॥ ४॥

ब्रह्माजीने देवताओंके द्वारा बतलाये गये वृत्तान्तको सुनकर कहा—जो व्यक्ति अति तेजस्वी पुरुषके प्रति अपराध करके भी जीनेकी इच्छा करते हैं, उनके ऐसे अपराधमय जीवन-धारणकी इच्छा प्रायः ही मङ्गलजनक नहीं हो पाती॥ ४॥

अथापि यूयं कृतकिल्बिषा भवं
ये बर्हिषो भागभाजं परादुः।
प्रसादयध्वं परिशुद्धचेतसा
क्षिप्रप्रसादं प्रगृहीताङ्घ्रिपद्मम्॥ ५॥

तुमलोगोंने यज्ञमें श्रीरुद्रके प्रति घोर अपराध किया है। वे यज्ञके अंशके भागीदार थे, किन्तु तुमलोगोंने उन्हें उनका प्राप्य अंश प्रदान न करके उन्हें दूरसे परित्याग कर दिया था। अतएव अब विशुद्ध अन्तःकरणसे उनके चरणकमलोंको पकड़कर उन आशुतोषको प्रसन्न करनेका प्रयत्न करो॥ ५॥

आशासाना जीवितमध्वरस्य
लोकः सपालः कुपिते न यस्मिन्।
तमाशु देवं प्रियया विहीनं
क्षमापयध्वं हृदि विद्धं दुरुक्तैः॥ ६॥

उन महादेवके क्रोधित होनेसे लोकपालोंके साथ समस्त लोक ही विनष्ट हो जाते हैं। दक्षके दुर्वचनोंसे उनका हृदय तो पहलेसे ही बिंधा हुआ था, उसपर प्रियतमा सतीके वियोगसे वे अत्यन्त रुष्ट हो गये हैं। अतएव तुमलोग यज्ञके पुनः आरम्भ करने हेतु प्रार्थी होकर शीघ्र ही उन रुद्रदेवके समीप जाकर उनसे क्षमा-प्रार्थना करो॥ ६॥

नाहं न यज्ञो न च यूयमन्ये
ये देहभाजो मुनयश्च तत्त्वम्।
विदुः प्रमाणं बलवीर्ययोर्वा
यस्यात्मतन्त्रस्य क उपायं विधित्सेत्॥ ७॥

मैं ब्रह्मा, यज्ञस्वरूप देवराज इन्द्र, तुमलोग ऋषि-मुनि एवं सभी देहधारी जीव—हममेंसे कोई भी उन देवदेव महादेवके यथार्थ स्वरूपको और उनके बल-विक्रमकी सीमाको नहीं जानता है। मैं उन स्वतन्त्र पुरुषकी प्रसन्नताके लिए और क्या उपाय बतलानेकी इच्छा करूँ? अर्थात् श्रीशिवके चरणोंमें क्षमा-प्रार्थनाके अतिरिक्त मैं इस विषयमें दूसरा कोई उपाय नहीं देख पा रहा हूँ॥ ७॥

स इत्थमादिश्य सुरानजस्तु तैः
समन्वितः पितृभिः सप्रजेशैः।
ययौ स्वधिष्ण्यान्निलयं पुरद्विषः
कैलासमद्रिप्रवरं प्रियं प्रभोः॥ ८॥

कमलयोनि ब्रह्मा देवताओंको इस प्रकार आदेश देकर प्रजापतियों और देवताओंके साथ अपने धामसे त्रिपुरारि भगवान् शङ्करके प्रियतम निवासस्थान पर्वतराज कैलाशकी ओर चल पड़े॥ ८॥

जन्मौषधितपोमन्त्रयोगसिद्धैर्नरेतरैः।
जुष्टं किन्नरगन्धर्वैरप्सरोभिर्वृतं सदा॥ ९॥

नानामणिमयैः शृङ्गैर्नानाधातुविचित्रितैः।
नानाद्रुमलतागुल्मैर्नानामृगगणावृतैः॥ १०॥

नानामलप्रस्रवणैर्नानाकन्दरसानुभिः।
रमणं विहरन्तीनां रमणैः सिद्धयोषिताम्॥ ११॥

मयूरकेकाभिरुतं मदान्धालिविमूर्च्छितम्।
प्लाविते रक्तकण्ठानां कूजितैश्च पतत्रिणाम्॥ १२॥

आह्वयन्तमिवोद्धस्तैर्द्विजान् कामदुघैर्द्रुमैः।
व्रजन्तमिव मातङ्गैर्गृणन्तमिव निर्झरैः॥ १३॥

मन्दारैः पारिजातैश्च सरलैश्चोपशोभितम्।
तमालैः शालतालैश्च कोविदारासनार्जुनैः॥ १४॥

चूतैः कदम्बनीपैश्च नागपुन्नागचम्पकैः।
पाटलाशोकबकुलैः कुन्दैः कुरबकैरपि॥ १५॥

स्वर्णार्णशतपत्रैश्च वीररेणुकजातिभिः।
कुब्जकैर्मल्लिकाभिश्च माधवीभिश्च मण्डितम्॥ १६॥

पनसोडुम्बराश्वत्थ-प्लक्षन्यग्रोधहिङ्गुभिः।
भूर्जैरोषधिभिः पूगै राजपूगैश्च जम्बुभिः॥ १७॥

खर्जूराम्रातकाम्राद्यैः प्रियालमधुकेङ्गुदैः।
द्रुमजातिभिरन्यैश्च राजितं वेणुकीचकैः॥ १८॥

कुमुदोत्पलकह्लार-शतपत्रसमृद्धिभिः ।
नलिनीषु कलं कूजत्खगवृन्दोपशोभितम् ॥ १९ ॥

मृगैः शाखामृगैः क्रोडैर्मृगेन्द्रैर्ऋक्षशल्लकैः ।
गवयैः शरभैर्व्याघ्रै रुरुभिर्महिषादिभिः ।
कर्णान्त्रैकपदाश्वास्यैर्निर्जुष्टं वृकनाभिभिः ॥ २० ॥

कदलीषण्डसंरुद्धनलिनीपुलिनश्रियम् ॥ २१ ॥

पर्यस्तं नन्दया सत्याः स्नानपुण्यतरोदया ।
विलोक्य भूतेशगिरिं विबुधा विस्मयं ययुः ॥ २२ ॥

उस कैलाश पर्वतपर जन्म, औषधि, तपस्या, मन्त्र एवं योग—इन पाँचों द्वारा सिद्धिको प्राप्त करनेवाले सिद्धगण निवास करते हैं। यह स्थान देवताओं द्वारा नित्य सेवित है तथा यक्ष, किन्नर, गन्धर्व एवं अप्सराओंसे घिरा रहता है। इस पर्वतके शिखर अद्भुत मणियोंसे मण्डित हैं, जो विचित्र धातु-रागसे सुसज्जित होनेके कारण रङ्ग-बिरङ्गे प्रतीत होते हैं। ये मणिमय शिखर विचित्र चित्रोंसे चित्रित हैं तथा विविध द्रुमलताओं एवं गुल्म आदिसे आच्छादित हैं। यहाँ बहुत प्रकारके जङ्गली पशु विचरण किया करते हैं। इस पर्वतपर सैकड़ों निर्मल जलके झरने एवं असंख्य कन्दराएँ और सानु[१] प्रदेश कान्ताओंके साथ विहारमें आसक्त सिद्धों और उनकी कामिनियोंके अनुरागको वर्धित कर रहे हैं। मयूरोंके के-का-रवसे, कोयलोंके कुहु-कुहुके प्लुत स्वरसे एवं विविध पक्षियोंके कूजनसे वहाँका आकाशमण्डल निनादित रहता है। मधुपानसे मदान्ध मधुकरोंका गुञ्जार चारों दिशाओंमें मुखरित होता रहता है। मनोरथोंको पूर्ण करनेवाली कल्पवृक्षकी शाखाएँ वायुके वेगसे सञ्चालित होकर हिलती-डुलती रहती हैं, जिन्हें देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो पर्वतराज कैलाश अपने शाखा-प्राशाखारूपी उन्नत हाथोंको फैलाकर पक्षियोंका आह्वान कर रहे हैं। हाथियोंके इधर-उधर विचरण करनेके कारण कैलाश मन्थर गतिसे चलता हुआ-सा और झरनोंकी कल-कल ध्वनिसे अपने सुन्दर कण्ठसे कीर्त्तन करता-सा प्रतीत होता

[१] पर्वतके ऊपर स्थित समतल भूमि।

है। कैलाश पर्वत मन्दार, पारिजात, सरल, तमाल, शाल, ताल (ताड़), कोविदार (कचनार), आसन, अर्जुन, आम्र, कदम्ब, नीप, नाग, पुन्नाग, चम्पक, गुलाब, अशोक, बकुल, कुन्द, कुरबक, सुनहरे शतदल कमल, करवीर, इलायची, मालती, कुब्जक, मल्लिका (मोगरा) और माधवी आदि वृक्षों और लताओं द्वारा सुमण्डित है। यहाँ पनस (कटहल), डुम्बुर (गूलर), अश्वत्थ, प्लक्ष (पाकर), न्यग्रोध (वट), हिङ्गुल (गूगल), भूर्ज (भोजवृक्ष), विविध औषधियाँ, पूग (सुपारी), राजपूग, जामुन, खजूर, आम्रातक (आमड़ा), आम्र, पियाल, महुआ, इङ्गुद (लिसौड़ा), वेणु, कीचक (पोले और ठोस बाँसके झुरमुट) एवं अन्यान्य वृक्ष अपनी अद्भुत छटा बिखेरते रहते हैं। वहाँके सरोवरोंमें कुमुद, उत्पल, कल्हार, पद्म आदि अनेक जातिके विकसित कमल पुष्पोंके मकरन्द एवं सौरभकी समृद्धिका अवलोकन करके विविध जलचर पक्षी मुग्ध हो जाते हैं और मधुर कूजन करते हैं। इस श्रेष्ठ पर्वतपर मृग, शाखामृग (वानर), वराह, सिंह, हाथी, भालु, शल्यक (साही), नीलगाय, शरभ, बाघ, रुरु (कृष्णमृग), भैंसे, कर्ण, ऊर्ण, एकपद अश्वमुख, वृक (भेड़िये) एवं कस्तूरी मृग आदि अनेक प्रकारके पशु वास करते हैं। सरोवरके तटोंपर केलोंकी पंक्ति अपूर्व सौन्दर्यका विस्तार करती है। इस पर्वतराज कैलाशके चारों ओर सुरधुनी (नन्दा नामकी नदी) बहती है, जिसका पुण्यजल सतीके स्नानके कारण और भी अधिक पवित्र एवं सुगन्धित हो गया है। भूतपति गिरीशके आवास-धाम कैलाश पर्वतके इस सौन्दर्यको देखकर देवता भी अत्यधिक आश्चर्यचकित हो गये॥ ९-२२॥

ददृशुस्तत्र ते रम्यामलकां नाम वै पुरीम्।
वनं सौगन्धिकञ्चापि यत्र तन्नाम पङ्कजम्॥ २३॥

देवताओंने उस कैलाश पर्वतपर मनोहारिणी अलका नामक पुरी एवं सौगन्धिक नामक वनको देखा। सर्वत्र सुगन्ध फैलानेवाले सौगन्धिक कमल इसी सौगन्धिक वनमें उत्पन्न होते हैं॥ २३॥

नन्दा चालकनन्दा च सरितौ बाह्यतः पुरः।
तीर्थपादपदाम्भोज-रजसातीव पावने॥ २४॥

इस पुरीके बाहरी भागमें नन्दा एवं अलकानन्दा नामकी दो नदियाँ प्रवाहित हो रही हैं। ये दोनों नदियाँ तीर्थपाद श्रीहरिके चरणकमलोंकी रेणुका स्पर्श करके पुण्यसलिला हो गयी हैं॥ २४॥

ययोः सुरस्त्रियः क्षत्तरवरुह्य स्वधिष्ण्यतः।
क्रीडन्ति पुंसः सिञ्चन्त्यो विगाह्य रतिकर्शताः॥ २५॥

हे विदुर! रति-विलाससे थकी हुई देवाङ्गनाएँ अपने-अपने निवास-स्थानसे आकर इन दोनों नदियोंके जलमें अवगाहन करती हैं और अनुरागसे भरकर अपने प्रियतमोंके अङ्गोंपर जल उछालती हुई जलक्रीड़ा करती हैं॥ २५॥

ययोस्तत्स्नानविभ्रष्ट-नवकुङ्कुमपिञ्जरम्।
वितृषोऽपि पिबन्त्यम्भः पाययन्तो गजा गजीः॥ २६॥

जब ये दिव्याङ्गनाएँ स्नान करती हैं, उस समय उनके शरीरोंसे धुले हुए नव-कुङ्कुमसे इन दोनों नदियोंका जल पीला हो जाता है। प्यास न रहनेपर भी हाथी हथिनियोंको यह कुङ्कुम-मिश्रित जल पिलाते हैं और स्वयं भी पान करते हैं॥ २६॥

तारहेममहारत्न-विमानशतसङ्कुलाम्।
जुष्टां पुण्यजनस्त्रीभिर्यथा खं सतडिद्घनम्॥ २७॥

हित्वा यक्षेश्वरपुरीं वनं सौगन्धिकञ्च तत्।
द्रुमैः कामदुघैर्हृद्यं चित्रमाल्यफलच्छदैः॥ २८॥

रक्तकण्ठखगानीक-स्वरमण्डितषट्पदम्।
कलहंसकुलप्रेष्ठ-खरदण्डजलाशयम्॥ २९॥

वनकुञ्जरसंघृष्ट-हरिचन्दनवायुना।
अधि पुण्यजनस्त्रीणां मुहुरुन्मथयन्मनः॥ ३०॥

वैदूर्यकृतसोपाना वाप्य उत्पलमालिनीः।
प्राप्तं किम्पुरुषैर्दृष्ट्वा त आराद्ददृशुर्वटम्॥ ३१॥

इसी कैलाश पर्वतपर यक्षेश्वर कुबेरकी चाँदी एवं स्वर्णसे बनी हुई अलका नामक पुरी थी। इस पुरीमें बहुमूल्य महारत्नोंसे जड़े हुए शत-शत विमान यहाँ-वहाँ छा रहे थे। विद्युत्की प्रभासे प्रकाशित बादलोंसे युक्त आकाश मण्डलकी भाँति यह पुरी यक्षरमणियोंके द्वारा सेवित हो रही थी। यक्षेश्वर कुबेरकी राजधानी अलकापुरीको पार करके देवता सौगन्धिक वनमें उपस्थित हुए। सौगन्धिक वन भी विचित्र सौन्दर्यसे परिपूर्ण था। वहाँ सभी मनोकामनाओंको पूर्ण करनेवाले कल्पवृक्ष विद्यमान थे, जिनमें विचित्र पुष्प, फल एवं पत्ते शोभायमान हो रहे थे। कोकिल आदि पक्षियोंके मधुर कलरवके साथ भ्रमरोंका गुञ्जन मिलकर सुननेमें बड़ा ही मीठा लग रहा था। सरोवरोंमें राजहंसोंके परमप्रिय कमल शोभाका विस्तार कर रहे थे। जङ्गली हाथी हरिचन्दन वृक्षोंसे शरीरको रगड़ रहे थे, इन घिसे हुए वृक्षोंका स्पर्श करते हुए वायु सुवासित होकर प्रवाहित हो रही थी। इस सुगन्धित वायुके स्पर्शसे पुण्यशीला यक्षकामिनियोंका चित्त और भी अधिक उन्मथित हो रहा था। उस वनमें स्थित बावड़ियोंमें विकसित कमलोंकी श्रेणी शोभा पा रही थीं तथा उनकी सीढ़ियाँ वैदूर्यमणिसे निर्मित थीं। उस वनमें किन्नरगण विहार कर रहे थे। अलकापुरीको पार करके सौगन्धिक वनकी ऐसी शोभाको देखते हुए देवगण कुछ आगे बढ़े कि उन्हें एक वट वृक्ष दिखलायी पड़ा॥ २७-३१॥

स योजनशतोत्सेधः पादोनविटपायतः।
पर्यक्कृताचलच्छायो निर्नीडस्तापवर्जतः॥ ३२॥

यह वट-वृक्ष सौ योजन ऊँचा था। उसकी शाखा-प्रशाखा पचहत्तर योजन तक फैली हुई थी। उस वृक्षकी अविचल छाया चारों ओर व्याप्त हो रही थी। उस वृक्षपर किसी पक्षीका कोई घोंसला नहीं था एवं उस वृक्षके नीचे तापका लेशमात्र भी नहीं था॥ ३२॥

तस्मिन् महायोगमये मुमुक्षुशरणे सुराः।
ददृशुः शिवमासीनं त्यक्तामर्षमिवान्तकम्॥ ३३॥

देवताओंने उस वट-वृक्षके मूलमें मुमुक्षुओंके आश्रयस्वरूप अणिमादि सिद्धि प्रदान करनेवाले भगवान् महादेवको विराजित देखा। (अपने

द्वारा किये गये अपराधोंका स्मरण हो आनेसे देवताओंको) वे क्रोध आदिका त्याग करके बैठे हुए साक्षात् यम प्रतीत हो रहे थे॥ ३३॥

सनन्दनाद्यैर्महासिद्धैः शान्तैः संशान्तविग्रहम्।
उपास्यमानं सख्या च भर्त्रा गुह्यकरक्षसाम्॥ ३४॥

विद्यातपोयोगपथमास्थितं तमधीश्वरम्।
चरन्तं विश्वसुहृदं वात्सल्याल्लोकमङ्गलम्॥ ३५॥

लिङ्गञ्च तापसाभीष्टं भस्मदण्डजटाजिनम्।
अङ्गेन सन्ध्याभ्ररुचा चन्द्रलेखाञ्च बिभ्रतम्॥ ३६॥

उपविष्टं दर्भमय्यां बृष्यां ब्रह्म सनातनम्।
नारदाय प्रवोचन्तं पृच्छते शृण्वतां सताम्॥ ३७॥

कृत्वोरौ दक्षिणे सव्यं पादपद्मञ्च जानुनि।
बाहुं प्रकोष्ठेऽक्षमालामासीनं तर्कमुद्रया॥ ३८॥

तं ब्रह्मनिर्वाणसमाधिमाश्रितं
व्युपाश्रितं गिरिशं योगकक्षाम्।
सलोकपाला मुनयो मनूना-
माद्यं मनुं प्राञ्जलयः प्रणेमुः॥ ३९॥

शान्त प्रकृतिवाले महासिद्ध सनन्दनादि मुनि तथा यक्ष और राक्षस आदिके पालक एवं सखा कुबेर प्रशान्त विग्रहवाले श्रीगिरीशका स्तव कर रहे थे। भगवान् शम्भु सम्पूर्ण जगत्के बान्धव हैं। वात्सल्यवश वे सबका कल्याण करनेवाले हैं, अतः समस्त लोकोंके हितके लिए ही उपासना, चित्तकी एकाग्रता और समाधि आदि साधनोंके द्वारा तपस्यादिका अनुष्ठान करते हैं। वे अपने सन्ध्याकालीन मेघके समान रक्तिम वर्णकी आभावाले श्रीअङ्गोंपर तपस्वियोंके अभीष्ट चिह्न भस्म, दण्ड, जटा, मृगचर्म आदि एवं ललाटपर चन्द्रलेखा धारण किये हुए थे। भगवान् शम्भु कुश द्वारा निर्मित वृष्यासन (घासके आसन) पर बैठे हुए थे। सनन्दनादि अन्यान्य श्रोताओंके समक्ष देवर्षि नारद परिप्रश्न कर रहे थे और श्रीशिव नित्य सत्य वेदतत्त्वका उपदेश दे रहे थे। उन्होंने अपना बायाँ चरणकमल दायीं जंघापर और बायाँ

हाथ बायें घुटनेपर रखा हुआ था। दायीं भुजाकी कलाईपर रुद्राक्षकी माला धारण किये हुए वे तर्क मुद्रा बनाकर बैठे थे। वे योगपट्ट (लकड़ीकी बनी हुई टेकनी) का आश्रय लिए हुए थे और उनका चित्त ब्रह्मानन्द अर्थात् अधोक्षजके आश्रयमें तन्मय था। हे विदुर! महादेव मननशील मुनियोंमें अग्रगण्य हैं। लोकपालों सहित समस्त मुनियोंने उन वैष्णवप्रवर शम्भुको हाथ जोड़कर प्रणाम किया॥ ३४-३९ ॥

स तूपलभ्यागतमात्मयोनि
सुरासुरेशैरभिवन्दिताङ्घ्रिः ।
उत्थाय चक्रे शिरसाभिवन्दन-
मर्हत्तमः कस्य यथैव विष्णुः॥ ४० ॥

श्रीवामन मूर्त्तिधारी भगवान् श्रीविष्णुने स्वयं पूज्यजनोंके संपूज्य होकर भी जिस प्रकार प्रजापति कश्यपको प्रणाम किया था, उसी प्रकार आज श्रेष्ठ-श्रेष्ठ देवताओं और असुरों द्वारा जिनके चरण वन्दित होते हैं, उन श्रीमन् महादेवने भी पद्मयोनि ब्रह्माको उपस्थित देखकर अपने आसनसे उठकर सिर झुकाकर उन्हें प्रणाम किया॥ ४० ॥

तथापरे सिद्धगणा महर्षिभि-
र्ये वै समन्तादनु नीललोहितम्।
नमस्कृतः प्राह शशाङ्कशेखरं
कृतप्रणामं प्रहसन्निवात्मभूः॥ ४१ ॥

वहाँपर जो अन्यान्य सिद्धपुरुष महर्षियोंके साथ मिलकर श्रीमन्शङ्कर भगवान्के चारों ओर बैठे हुए थे, उन्होंने भी नीललोहित शिवजीका अनुसरण करते हुए ब्रह्माजीको प्रणाम किया। सबके द्वारा प्रणाम कर लिये जानेपर आत्मयोनि ब्रह्मा चन्द्रमौलि शिवजीको प्रणामकी मुद्रामें खड़े देखकर किञ्चित् मुस्कराते हुए कहने लगे॥ ४१ ॥

श्रीब्रह्मोवाच—

जाने त्वामीशं विश्वस्य जगतो योनिबीजयोः।
शक्तेः शिवस्य च परं यत्तद्ब्रह्म निरन्तरम्॥ ४२ ॥

श्रीब्रह्माने शिव-मतावलम्बियोंके मतका अनुसरण करते हुए कहा—आप सदाशिवके रूपमें प्राकृत-अप्राकृत सम्पूर्ण जगत्‌के ईश्वर हैं। आप प्राकृत प्रपञ्चकी योनिरूपी प्रकृति और बीजरूप पुरुष शिवके अंशी हैं। निर्गुण और निर्विकार ब्रह्म भी आप ही हैं। अतः यद्यपि आपने दैन्यवशतः मुझे प्रणाम आदि किया है, तथापि मैं आपके ऐश्वर्यसे अवगत हूँ॥ ४२॥

त्वमेव भगवन्नेतच्छिवशक्त्योः स्वरूपयोः।
विश्वं सृजसि पास्यत्सि क्रीडन्नूर्णपटो यथा॥ ४३॥

हे प्रभो! आप ही सदाशिवके रूपमें स्वाशंभूत पुरुष एवं प्रकृतिके अन्तरमें अवस्थित रहकर मकड़ीके समान इस विश्वकी सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय किया करते हैं॥ ४३॥

त्वमेव धर्मार्थदुघाभिपत्तये
दक्षेण सूत्रेण ससर्जथाध्वरम्।
त्वयैव लोकेऽवसिताश्च सेतवो
यान् ब्राह्मणाः श्रद्दधते धृतव्रताः॥ ४४॥

हे देव! आपने ही तो धर्म-अर्थकी प्राप्ति करानेवाले ऋक, यजुः और सामरूपी वेदत्रयीकी रक्षाके लिए दक्षको निमित्त बनाकर यज्ञोंकी सृष्टि की है। हे प्रभो! ब्राह्मणगण व्रतधारी होकर जिस वर्ण और आश्रम धर्मका श्रद्धापूर्वक अनुष्ठान करते हैं, उसकी मर्यादाका निर्णय भी जगत्‌में आपने ही किया है॥ ४४॥

त्वं कर्मणां मङ्गलमङ्गलानां
कर्तुः स्वलोकं तनुषे स्वः परं वा।
अमङ्गलानाञ्च तमिस्रमुल्बणं
विपर्ययः केन तदेव कस्यचित्॥ ४५॥

हे शिव! आप शुभ कर्म करनेवालोंके लिए स्वर्ग, निजलोक अथवा मोक्ष भी प्रदान करते हैं। दूसरी ओर आप ही अशुभ कर्म करनेवालोंके लिए भीषण नरकका विधान करते हैं। हे प्रभो! फिर भी किसी-किसीके लिए उन-उन कर्मोंमें उक्त नियमोंका अर्थात् उन

कर्मोंका उल्टा फल प्राप्त होते देखा जाता है, इसका कारण क्या है? ॥ ४५ ॥

न वै सतां त्वच्चरणार्पितात्मनां
भूतेषु सर्वेष्वभिपश्यतां तव।
भूतानि चात्मन्यपृथग्दिदृक्षतां
प्रायेण रोषोऽभिभवेद्यथा पशुम्॥ ४६॥

हे प्रभो! जिन्होंने आपके चरणकमलोंमें अपने चित्तको लगा दिया है, जो स्थावर-जङ्गम सभी प्राणियोंमें आपका ही व्यापक रूपमें दर्शन करते हैं और जो भेद-दर्शन-रहित दृष्टिके कारण समस्त प्राणियोंको ही आत्म-तुल्य मानते हैं, वे पशुवत् दक्षके समान कभी भी आपके क्रोधसे अभिभूत नहीं होते॥ ४६॥

पृथग्धियः कर्मदृशो दुराशयाः
परोदयेनार्पितहृद्रुजोऽनिशम् ।
परान् दुरुक्तैर्वितुदन्त्यरुन्तुदा-
स्तान् मा वधीद्दैववधान् भवद्विधः॥ ४७॥

जो भेददर्शी हैं, जिनकी दृष्टि जड़ीय कर्मोंमें ही आसक्त रहती है, जिनकी चिन्ता-भावना अच्छी नहीं है, दूसरोंकी सम्पदा देखकर जिनके हृदयमें निरन्तर वेदना बनी रहती है और जो दुर्वचनोंसे दूसरोंके हृदयको बिद्ध करके उन्हें दुःख देते हैं, ऐसे लोगोंके लिए ही दैव द्वारा अपराधके दण्डका विधान होता है। ऐसा जाननेके कारण आपके जैसे निरूपम साधुपुरुष उनका वध करना उचित नहीं समझते॥ ४७॥

यस्मिन् यदा पुष्करनाभमायया
दुरन्तया स्पृष्टधियः पृथग्दृशः।
कुर्वन्ति तत्र ह्यनुकम्पया कृपां
न साधवो दैवबलात् कृते क्रमम्॥ ४८॥

हे प्रभो! यद्यपि किसी स्थानपर किसी समयमें कोई व्यक्ति श्रीविष्णुकी मायासे मोहित होकर भेदबुद्धि होनेसे कोई अपराध कर

बैठता है, तो भी साधुपुरुष अपराधी व्यक्तिके उस कार्यको प्रारब्धके द्वारा हुआ जानकर उसके प्रति कृपा ही करते हैं, कभी भी उसके नाशके लिए अपने पराक्रमको प्रकट नहीं करते॥ ४८॥

भवांस्तु पुंसः परमस्य मायया
दुरन्तयाऽस्पृष्टमतिः समस्तदृक्।
तया हतात्मस्वनुकर्मचेतः-
स्वनुग्रहं कर्तुमिहार्हसि प्रभो॥ ४९॥

हे प्रभो! आप परमपुरुष श्रीभगवान्‌की अचिन्त्य-प्रभावशालिनी मायासे विमोहित नहीं होते, क्योंकि आप सर्वज्ञ हैं। अतएव भगवान्‌की माया द्वारा मोहित होकर जिनका चित्त केवल जड़ कर्मोंमें ही आसक्त है, हे देव, वैसे व्यक्तिके प्रति कृपा करना आपके जैसे महत् व्यक्तिका नितान्त कर्त्तव्य हो गया है॥ ४९॥

कुर्वध्वरस्योद्धरणं हतस्य भो-
त्वयाऽसमाप्तस्य मनो प्रजापतेः।
न यत्र भागं तव भागिनो ददुः
कुयाजिनो येन मखो निनीयते॥ ५०॥

हे शिव! आप ही सम्पूर्ण यज्ञोंके फलोंको प्रदान करनेवाले हैं एवं आपको यज्ञ-भाग प्राप्त करनेका पूर्ण अधिकार है। दक्ष-यज्ञके बुद्धिहीन याज्ञिकोंने आपको यज्ञभाग प्रदान नहीं किया, इसलिए आपने प्रजापति दक्षके यज्ञको विनष्ट किया है। वह यज्ञ अभी तक भी समाप्त नहीं हुआ अतः अब कृपया आप उस यज्ञका पुनरुद्धार कीजिये॥ ५०॥

जीवताद्यजमानोऽयं प्रपद्येताक्षिणी भगः।
भृगोः श्मश्रूणि रोहन्तु पूष्णो दन्ताश्च पूर्ववत्॥ ५१॥

हे देव! अब आपकी कृपा प्राप्त करके यजमान दक्ष फिर जीवित हो उठे, भगदेवको उसके चक्षु पुनः प्राप्त हो जायें, भृगुदेवकी दाढ़ी-मूँछ और पूषादेवकी दन्तपंक्ति पुनः पूर्ववत् हो जाये॥ ५१॥

देवानां भग्नगात्राणामृत्विजाञ्चायुधाश्मभिः।
भवतानुगृहीतानामाशु मन्योऽस्त्वनातुरम्॥ ५२॥

हे देव! अस्त्र-शस्त्र एवं पत्थरोंके प्रहारसे जिन देवताओं एवं यज्ञ-पुरोहितोंके अङ्ग-प्रत्यङ्ग टूट गये हैं, वे सभी आपके अनुग्रहसे आरोग्य प्राप्त करें॥ ५२॥

एष ते रुद्र भागोऽस्तु यदुच्छिष्टोऽध्वरस्य वै।
यज्ञस्ते रुद्र भागेन कल्पतामद्य यज्ञहन्॥ ५३॥

हे रुद्र! आजसे यज्ञ सम्पूर्ण होनेपर जो कुछ भी अवशिष्ट रहेगा, वही आपका भाग होगा। हे यज्ञध्वंसकारी रुद्र! अब आप अपना भाग ग्रहणकर यज्ञ पूर्ण करें॥ ५३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां चतुर्थस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे श्रीरुद्रसान्त्वनं नाम षष्ठोऽध्यायः॥

सप्तमोऽध्यायः

यज्ञस्थलीमें श्रीविष्णुका आविर्भाव और उनकी कृपासे दक्षके यज्ञका सम्पूर्ण होना

श्रीमैत्रेय उवाच—

इत्यजेनानुनीतेन भवेन परितुष्यता।
अभ्यधायि महाबाहो प्रहस्य श्रूयतामिति॥ १॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे महाबाहो विदुर! ब्रह्माजीके इस प्रकारके अनुनयपूर्ण वचनोंसे सन्तुष्ट होकर श्रीमन्महादेवने मुस्कराते हुए उन सभीकी ओर देखते हुए कहा—आप सभी सुनिये॥ १॥

श्रीमहादेव उवाच—

नाघं प्रजेश बालानां वर्णये नानुचिन्तये।
देवमायाभिभूतानां दण्डस्तत्र धृतो मया॥ २॥

श्रीमहादेवने कहा—हे प्रजापते! मैं भगवान्‌की मायासे मोहित और बालकके समान नासमझ दक्षादिके अपराधकी बात अपने मुखमें भी नहीं लाता, अधिक क्या, मनमें विचार भी नहीं करता। केवल मर्यादाकी रक्षाके लिए ही मुझे दक्षके यज्ञमें दण्डका विधान करना पड़ा॥ २॥

प्रजापतेर्दग्धशीर्ष्णो भवत्वजमुखं शिरः।
मित्रस्य चक्षुषेक्षेत भागं स्वं बर्हिषो भगः॥ ३॥

प्रजापति दक्षका सिर दग्ध हो गया है, अतः अब बकरेका सिर ही उनका सिर हो और भगदेव मित्रदेवके चक्षुओंके द्वारा ही अपने यज्ञभागका दर्शन करें॥ ३॥

पूषा तु यजमानस्य दद्भिर्जक्षतु पिष्टभुक्।
देवाः प्रकृतसर्वाङ्गा ये म उच्छेषणं ददुः॥ ४॥

पूषा भी केवल पिसे हुए पदार्थ खानेवाला होकर यजमानके दाँतोंसे ही भक्षण करें। जिन समस्त देवताओंने मुझे यज्ञका अवशिष्ट प्रदान किया है, उनके भग्न अङ्ग-प्रत्यङ्ग भी सम्पूर्ण रूपसे स्वस्थ हो जायें॥ ४॥

बाहुभ्यामश्विनोः पूष्णो हस्ताभ्यां कृतबाहवः।
भवन्त्वध्वर्यवश्चान्ये बस्तश्मश्रुर्भृगुर्भवेत्॥ ५॥

जिन सब ऋत्विकोंके अङ्ग सम्पूर्ण रूपसे विनष्ट हो गये हैं, अश्विनीकुमारोंकी भुजाओंसे वे भुजावान और सूर्यके हाथोंसे ही वे हस्तवान हों। बकरेकी दाढ़ी-मूँछ ही भृगुजीकी दाढ़ी-मूँछें हों॥ ५॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

तदा सर्वाणि भूतानि श्रुत्वा मीढुष्टमोदितम्।
परितुष्टात्मभिस्तात साधु साध्वित्यथाब्रुवन्॥ ६॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे वत्स विदुर! चन्द्रशेखर शिवजीके इन वचनोंको सुनकर समस्त प्राणी प्रसन्नचित्त होकर साधु-साधु कहने लगे॥ ६॥

ततो मीढ्वांसमामन्त्र्य सुनासीराः सहर्षिभिः।
भूयस्तद्देवयजनं समीढ्वद्वेधसो ययुः॥ ७॥

तत्पश्चात् देवताओंने चन्द्रमौलि महादेवसे यज्ञशालामें आकर यज्ञ सम्पन्न करनेकी प्रार्थना की तथा शिव एवं ब्रह्माको साथ लेकर वे ऋषियोंके साथ पुनः उसी यज्ञस्थलपर चले आये॥ ७॥

विधाय कार्त्स्न्येन च तद्यदाह भगवान् भवः।
सन्दधुः कस्य कायेन सवनीयपशोः शिरः॥ ८॥

ऐश्वर्यशाली शिवजीने देवताओंसे जो-जो कहा था, उन्होंने उसीके अनुसार सभी कुछ सम्यक् रूपसे सम्पन्न किया और दक्षकी देहपर बकरेका सिर जोड़ दिया॥ ८॥

सन्धीयमाने शिरसि दक्षो रुद्राभिवीक्षितः।
सद्यः सुप्त इवोत्तस्थौ ददृशे चाग्रतो मृडम्॥ ९॥

श्रीरुद्रने जैसे ही दक्षकी देहपर बकरेका सिर जोड़कर उसकी ओर कृपादृष्टिसे अवलोकन किया, उसी समय प्रजापति दक्ष तत्क्षण ही सोकर जागनेके समान ही उठे और अपने सम्मुख महादेव भूतनाथको देखने लगे॥ ९॥

तदा वृषध्वजद्वेषकलिलात्मा प्रजापतिः।
शिवावलोकादभवच्छरद्ध्रद इवामलः॥ १०॥

पहले वृषभवाहनके प्रति द्वेष करनेसे दक्षकी आत्मा कलुषित हो गयी थी, किन्तु इस समय महादेवके कृपावलोकनसे दक्षका अन्तःकरण तत्क्षणात् ही शरत्कालीन सरोवरके समान निर्मल हो गया॥ १०॥

भव-स्तवाय कृतधीर्नाशक्नोदनुरागतः।
औत्कण्ठ्यबाष्पकलया संपरेतां सुतां स्मरन्॥ ११॥

जब दक्ष शिवजीकी स्तुति करने ही वाले थे कि उन्हें स्नेहके कारण अपनी परलोकगता पुत्रीका स्मरण हो आया, जिससे वे अतिशय उत्कण्ठित हो उठे। उस उत्कण्ठाके कारण हुए अश्रुवर्षणसे उनका कण्ठ अवरुद्ध हो गया और उनके मुखसे एक शब्द भी न निकल सका अर्थात् वे स्तव करनेमें समर्थ न हो सके॥ ११॥

कृच्छ्रात् संस्तभ्य च मनः प्रेमविह्वलितः सुधीः।
शशंस निर्व्यलीकेन भावेनेशं प्रजापतिः॥ १२॥

पुत्री-स्नेहसे दक्षका चित्त विवश हो गया। शुद्ध बुद्धि प्राप्त होनेके कारण दक्ष अति कष्टसे किसी प्रकार चित्तके आवेगको रोककर निष्कपट भावसे महादेवजीसे क्षमा-याचना करने लगे॥ १२॥

श्रीदक्ष उवाच—

भूयाननुग्रह अहो भवता कृतो मे
दण्डस्त्वया मयि भृतो यदपि प्रलब्धः।
न ब्रह्मबन्धुषु च वां भगवन्नवज्ञा
तुभ्यं हरेश्च कुत एव धृतव्रतेषु॥ १३॥

श्रीदक्षने कहा—हे भगवन्! यद्यपि मैंने आपका तिरस्कार किया था, तथापि आपने मुझ अपराधीके प्रति उपेक्षा न कर उस अपराधके

उपयुक्त दण्डका विधान करके मेरे प्रति यथेष्ट कृपा प्रकाशित की है। अथवा आपकी ऐसी कृपा समुचित ही है, क्योंकि जब ब्राह्मणाभास अर्थात् आचरणहीन एवं नाममात्रके ब्राह्मणोंकी भी श्रीहरि एवं आप उपेक्षा नहीं करते, तब फिर जो मेरे समान यज्ञ-यागादि व्रतमें दीक्षित हैं, उनकी आप किस प्रकार उपेक्षा कर सकते हैं?॥ १३॥

विद्यातपोव्रतधरान् मुखतः स्म विप्रान्
ब्रह्मात्मतत्त्वमवितुं प्रथमं त्वमस्राक्।
तद्ब्राह्मणान् परम सर्वविपत्सु पासि
पालः पशूनिव प्रभो प्रगृहीतदण्डः॥ १४॥

हे उत्कृष्ट ऐश्वर्यशाली पुरुष! आपने ही वेद एवं आत्मतत्त्वको प्रवर्त्तित करनेके लिए अपने मुखसे विद्या, तपस्या एवं व्रतधारी ब्राह्मणोंकी रचना की है। अतएव पशुपालक जिस प्रकार पशुओंकी रक्षा करता है, उसी प्रकार आप भी ब्राह्मणोंकी सब प्रकारकी विपत्तियोंसे रक्षा करते हैं॥ १४॥

योऽसौ मयाविदिततत्त्वदृशा सभायां
क्षिप्तो दुरुक्तिविशिखैर्विगणय्य तन्माम्।
अर्वाक् पतन्तमर्हत्तमनिन्दयापाद्-
दृष्ट्यार्द्रया स भगवान् स्वकृतेन तुष्येत्॥ १५॥

मैं आपके तत्त्वको नहीं जानता था, इसीलिए मैंने भरी सभामें आपके प्रति दुर्वचन-रूपी बाणोंका व्यवहार किया था। आप पूजनीय महानुभावोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं। ऐसे महिमायुक्त आपकी इस प्रकारसे निन्दा करके मैं नरकादि नीचेके लोकोंमें गिरने ही वाला था कि आपने मेरे अपराधोंको ग्रहण न कर अपनी कृपापूर्ण दृष्टिसे मेरी रक्षा कर ली। आप परम महान् हैं। आपको प्रसन्न करनेके लिए मुझमें कोई गुण नहीं है, आप निजगुणोंके द्वारा ही मुझपर प्रसन्न हों॥ १५॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

क्षमाप्यैवं स मीढ्वांसं ब्रह्मणा चानुमन्त्रितः।
कर्म सन्तानयामास सोपाध्यायर्त्विगादिभिः॥ १६॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—दक्षने इस प्रकार महादेव आशुतोष शङ्करसे अपना अपराध क्षमा कराकर ब्रह्माजीकी आज्ञासे उपाध्याय और ऋत्विजों आदिके साथ पुनः यज्ञ-कार्य आरम्भ कर दिया॥ १६॥

वैष्णवं यज्ञसन्तत्यै त्रिकपालं द्विजोत्तमाः।
पुरोडाशं निरवपन् वीरसंसर्गशुद्धये॥ १७॥

ब्राह्मणोंने यज्ञ सम्पन्न करनेके उद्देश्यसे तथा रुद्रके पार्षद प्रमथों (भूत-पिशाचों) के संसर्गसे उत्पन्न दोषोंकी शुद्धिके लिए तीन कपालके आकारके पात्रोंमें विष्णु भगवान्के लिए तैयार किये हुए पके अन्न और पुरोडाश नामक हवि द्वारा हवन किया॥ १७॥

अध्वर्युणात्तहविषा यजमानो विशाम्पते।
धिया विशुद्धया दध्यौ तथा प्रादुरभूद्धरिः॥ १८॥

हे विदुर! हविको हाथोंमें लेकर खड़े हुए यजुर्वेदज्ञ पुरोहित अध्वर्युके साथ यजमान दक्ष विशुद्धचित्तसे जैसे ही ध्यानस्थ हुए, उसी समय नारायण श्रीहरि प्रकट हो गये॥ १८॥

तदा स्वप्रभया तेषां द्योतयन्त्या दिशो दश।
मुष्णंस्तेज उपानीतस्तार्क्ष्येण स्तोत्रवाजिना॥ १९॥

तब श्रीहरि अपने शरीरकी प्रभाके द्वारा दसों दिशाओंको प्रकाशित करते हुए एवं ब्रह्मा आदि देवताओंके प्रभावको खण्डित करते हुए 'बृहत्' एवं 'रथन्तर' नामक दो पँखोंसे युक्त गरुड़जीकी पीठपर आरोहणपूर्वक वहाँपर उपस्थित हुए॥ १९॥

श्यामो हिरण्यरसनोऽर्ककिरीटजुष्टो
नीलालकभ्रमरमण्डितकुण्डलास्यः ।
शङ्खाब्जचक्रशरचापगदासिचर्म-
व्यग्रैर्हिरण्मयभुजैरिव कर्णिकारः॥ २०॥

श्यामवर्णयुक्त श्रीहरिकी कमरमें स्वर्णकी करधनी दोदुल्यमान हो रही थी तथा उनके सिरपर सूर्यके समान देदीप्यमान मुकुट सुशोभित हो रहा था। श्रीहरिके कान्तिमय कुण्डलोंसे युक्त मुखकमलपर

कृष्णवर्णकी अलकावलियाँ भ्रमरोंके समान विहार कर रही थीं। उनकी भुजाएँ स्वर्णके आभूषणोंकी आभासे स्वर्णवर्णकी कान्तिको धारण कर रही थीं, जिनमें शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म, शर, धनु, असि एवं ढाल धारण किये हुए वे अपने अनुचरोंकी रक्षाके लिए व्यग्र दिखायी दे रहे थे। वे इन अस्त्रोंको धारणकर इस प्रकार शोभायमान हो रहे थे, जैसे पुष्पोंसे युक्त कनेरका वृक्ष होता है॥ २०॥

वक्षस्यधिश्रितवधूर्वनमाल्युदार-
हासावलोककलया रमयंश्च विश्वम्।
पार्श्वभ्रमद्व्यजनचामरराजहंसः
श्वेतातपत्रशशिनोपरि रज्यमानः॥ २१॥

उनके वक्षःस्थलपर प्रियतमा लक्ष्मीदेवी सुशोभित थीं और कण्ठमें वनके फूलोंसे बनी माला विराजित थी। वे अपने मुक्त माधुर्य वर्षी हास्य और लीलामय कटाक्षकी चातुरीसे समस्त जगत्को आमोदित कर रहे थे। पार्षदगण एक ओरसे राजहंसके समान सफेद पङ्खा एवं दूसरी ओरसे चँवर ढुला रहे थे तथा उनके सिरके ऊपर पूर्ण चन्द्रमाके समान रमणीय श्वेतछत्र अतिशय शोभाका विस्तार कर रहा था॥ २१॥

तमुपागतमालक्ष्य सर्वे सुरगणादयः।
प्रणेमुः सहसोत्थाय ब्रह्मेन्द्रत्र्यक्षनायकाः॥ २२॥

भगवान् श्रीहरिको वहाँ उपस्थित हुआ देखकर ब्रह्मा, इन्द्र एवं त्रिलोचन महादेव आदि प्रमुख देवताओंने सम्भ्रमपूर्वक उठकर उन्हें प्रणाम किया॥ २२॥

तत्तेजसा हतरुचः सन्नजिह्वाः ससाध्वसाः।
मूर्ध्ना कृताञ्जलिपुटा उपतस्थुरधोक्षजम्॥ २३॥

श्रीहरिके तेजके समक्ष सबका प्रभाव फीका पड़ गया। भगवान्के महिमा-गाम्भीर्यसे सबका चित्त भयसे विह्वल हो गया और वाणी गद्गद हो गयी। वे हाथ जोड़कर और सिर झुकाकर अधोक्षज श्रीहरिकी स्तुति करने लगे॥ २३॥

अप्यर्वाग्वृत्तयो यस्य महि त्वात्मभुवादयः।
यथामति गृणन्ति स्म कृतानुग्रहविग्रहम्॥ २४॥

जिन श्रीहरिकी महिमाके सामने ब्रह्मादि प्रमुख देवताओंकी बुद्धि वृत्ति तुच्छ प्रतिपन्न हुई, जो भक्तोंपर अनुग्रह करनेके लिए कृपापूर्वक अपने श्रीविग्रहको प्रकट करते हैं, देवतालोग अपनी-अपनी शक्ति और सामर्थ्यके अनुसार ऐसे श्रीहरिकी स्तुति करने लगे॥ २४॥

दक्षो गृहीतार्हणसादनोत्तमं
यज्ञेश्वरं विश्वसृजां परं गुरुम्।
सुनन्दनन्दाद्यनुगैर्वृतं मुदा
गृणन् प्रपेदे प्रयतः कृताञ्जलिः॥ २५॥

सर्वप्रथम प्रजापति दक्षने चित्तको संयत करके विनीत भावसे हाथ जोड़े और एक उत्तम पात्रमें पूजाके द्रव्योंको लेकर विश्वकी सृष्टि करनेवाले मरीचि आदि प्रजापतियोंके परमगुरु तथा सुनन्द-नन्दादि पार्षदोंसे घिरे हुए भगवान् श्रीहरिकी आनन्दित होकर स्तुति करते हुए उनके शरणापन्न हो गये॥ २५॥

श्रीदक्ष उवाच—

शुद्धं स्वधाम्न्युपरताखिलबुद्ध्यवस्थं
चिन्मात्रमेकमभयं प्रतिषिध्य मायाम्।
तिष्ठंस्तयैव पुरुषत्वमुपेत्य तस्या-
मास्ते भवानपरिशुद्ध इवात्मतन्त्रः॥ २६॥

श्रीदक्षने कहा—हे भगवन्! आप अपनी स्वरूपशक्तिके वैभवस्वरूप परम धाम वैकुण्ठमें रहते हैं। आप ब्रह्मा-रुद्रादिके समान कभी भी प्रकृतिके संसर्गमें आविष्ट नहीं होते। अतएव आप परम शुद्ध, चिद्घनस्वरूप अद्वय-ज्ञानतत्त्व हैं। आपमें द्वितीय वस्तुरूप मायाका अवस्थान नहीं है, इसलिए आप अभयस्वरूप और मायाधीश होनेके कारण मायाको अभिभूत करनेमें समर्थ हैं। आप परम स्वतन्त्र भगवत्-रूपमें रहते हुए भी महत्-तत्त्वके स्रष्टा कारणार्णवशायी पुरुषका रूप धारण करके प्रकृतिके प्रति ईक्षणादि मायासे सम्बन्धित

कार्यमें नियुक्त रहते हैं। यही कारण है कि प्राकृत लोग आपको अपनी अक्षज दृष्टिके कारण अशुद्धके समान देखते हैं, किन्तु वस्तुतः आप विशुद्ध मायाधीशके रूपमें ही अवस्थान करते हैं॥ २६॥

श्रीऋत्विज ऊचुः—

तत्त्वं न ते वयमनञ्जन रुद्रशापात्
कर्मण्यवग्रहधियो भगवन् विदामः।
धर्मोपलक्षणमिदं त्रिवृदध्वराख्यं
ज्ञातं यदर्थमधिदैवमदो व्यवस्थाः॥ २७॥

ऋत्विजोंने कहा—हे निरञ्जन! रुद्रके प्रधान अनुचर नन्दीश्वरके अभिशापसे हमारी बुद्धि कर्मोंमें ही आसक्त हो गयी है। हम नितान्त मूर्ख हैं, इसलिए आपके तत्त्वको नहीं जानते हैं। हम आपके वेदत्रयीके प्रतिपाद्य एवं धर्मके उपलक्षण-स्वरूप 'यज्ञ' नामक स्वरूपसे ही अवगत हैं। हम तो यही समझते हैं कि आपने यज्ञ-सिद्धिके उद्देश्यसे ही विभिन्न देवताओंके लिए उनके अधिकारोचित 'इस कर्मके यही देवता हैं'—इस प्रकारसे यज्ञभाग आदिकी व्यवस्था की है॥ २७॥

श्रीसदस्या ऊचुः—

उत्पत्त्यध्वन्यशरण उरुक्लेशदुर्गेऽन्तकोग्र-
व्यालान्विष्टे विषयमृगतृष्यात्मगेहोरुभारः।
द्वन्द्वश्वभ्रे खलमृगभये शोकदावेऽज्ञसार्थः
पादौकस्ते शरणद कदा याति कामोपसृष्टः॥ २८॥

सदस्योंने कहा—हे आश्रयप्रद! संसार-मार्ग अनेक प्रकारके दुःसहनीय क्लेशोंके कारण अतिशय दुर्गम है, यमरूपी भयानक कालसर्प निरन्तर इसके प्रति लक्ष्य साधकर बैठा हुआ है, यह स्थान सुख-दुःखादि गड्ढोंसे परिपूर्ण है, खल (दुर्जन) रूपी जङ्गली व्याघ्रादिका भय इस स्थानपर निरन्तर बना रहता है, यहाँपर शोकरूप दावाग्नि सदा ही धधकती रहती है, विषयरूपी मृगतृष्णा जीवोंको सर्वदा ही लुभाती रहती है तथा इसमें विश्रामका कोई स्थल नहीं है। अज्ञ व्यक्ति ऐसे जन्म-मरणादि लक्षणोंसे युक्त संसार-मार्गमें ही देह एवं गृहके भारी बोझको उठाये जीते रहते हैं और कामवश पीड़ित रहते हैं। हे प्रभो!

अतः फिर ऐसा कौन-सा दिन होगा, जब उन्हें आपके चरणरूप आश्रयस्थलकी प्राप्ति होगी? ॥ २८ ॥

श्रीरुद्र उवाच—

तव वरद वराङ्घ्रावाशिषेहाखिलार्थे
ह्यपि मुनिभिरसक्तैरादरेणार्हणीये।
यदि रचितधियं माविद्यलोकोऽपविद्धं
जपति न गणये तत् त्वत्परानुग्रहेण॥ २९ ॥

श्रीरुद्रने कहा—हे वरदायक प्रभो! आपके श्रीचरण समस्त अभिलषित फल प्रदान करनेमें समर्थ हैं, इसलिए निष्काम मुनि भी बड़े आदरके साथ आपके उत्तम चरणोंकी सेवा करते हैं। मेरा चित्त आपके उन सर्वाभीष्टप्रद चरणोंमें ही सदा-सर्वदा संलग्न रहता है, इसीलिए मूर्ख (दक्षादि) मुझे सदाचारभ्रष्ट कहकर जल्पना करते हैं। परन्तु आपकी परम अनुकम्पासे मैं इन व्यर्थकी बातोंपर ध्यान ही नहीं देता हूँ॥ २९ ॥

श्रीभृगुरुवाच—

यन्मायया गहनयापहृतात्मबोधा
ब्रह्मादयस्तनुभृतस्तमसि स्वपन्तः।
नात्मन् श्रितं तव विदन्त्यधुनापि तत्त्वं
सोऽयं प्रसीदतु भवान् प्रणतात्मबन्धुः॥ ३० ॥

श्रीभृगुने कहा—जिनकी दुस्तर माया द्वारा तत्त्वज्ञानके आच्छादित हो जानेसे ब्रह्मादि देह-धारी भी अज्ञानरूपी अन्धकारमें शयन कर रहे हैं, जिनका तत्त्व उन ब्रह्मादिकी आत्मामें सुप्तभावसे अवस्थित रहनेपर भी वे सब अभी तक भी उस तत्त्वकी उपलब्धि करनेमें समर्थ नहीं हो रहे, वही शरणागतोंके पालक आप प्रसन्न हों॥ ३० ॥

श्रीब्रह्मोवाच—

नैतत् स्वरूपं भवतोऽसौ पदार्थ-
भेदग्रहैः पुरुषो यावदीक्षेत्।
ज्ञानस्य चार्थस्य गुणस्य चाश्रयो
मायामयाद्व्यतिरिक्तो मतस्त्वम्॥ ३१ ॥

श्रीब्रह्माने कहा—प्रभो! जीव जड़-विषयोंको ग्रहण करनेवाली जड़-इन्द्रियोंके द्वारा जो कुछ भी देखता है, वह आपका स्वरूप नहीं है। असत् वस्तुमात्र ही मायामय है, आप उससे भिन्न हैं—यही साधुओंका अभिमत है। आप ज्ञान, पदार्थ तथा इन्द्रियोंके आश्रय हैं॥ ३१॥

श्रीइन्द्र उवाच—

इदमप्यच्युत विश्वभावनं
वपुरानन्दकरं मनोदृशाम्।
सुरविद्विट्क्षपणैरुदायुधै-
र्भुजदण्डैरुपपन्नमष्टभिः ॥ ३२॥

श्रीइन्द्रने कहा—हे अच्युत! आप धर्म-संस्थापक एवं अधर्म-विनाशक हैं। आपकी देहका प्राकट्य विश्वके कल्याणके लिए ही हुआ है, इसलिए यह भक्तोंके मन एवं नेत्रोंके लिए आनन्ददायक है। आप भक्तविद्वेषी दैत्योंके विनाशके लिए अपने हाथोंमें सदा ही नाना प्रकारके अस्त्र धारण किए रहते हैं, इसलिए आपकी आठों भुजाएँ आठ दीर्घ दण्ड़ोंके समान आपके शरीरसे संयुक्त हैं॥ ३२॥

श्रीपत्न्य ऊचुः—

यज्ञोऽयं तव यजनाय केन सृष्टो
विध्वस्तः पशुपतिनाद्य दक्षकोपात्।
तं नस्त्वं शवशयनाभशान्तमेधं
यज्ञात्मन् नलिनरुचा दृशा पुनीहि॥ ३३॥

ऋत्विकोंकी पत्नियोंने कहा—हे यज्ञेश्वर! आपके पूजनके लिए ही ब्रह्माजीने पहले इस यज्ञका प्रवर्त्तन किया था। किन्तु दक्षके प्रति कुपित होनेके कारण श्रीमहादेवने इस यज्ञका विध्वंस कर दिया था। इस समय यहाँपर होनेवाला पशुहिंसारूप उत्सव समाप्त हो गया है, अतएव आप हमारे यज्ञको पद्मपलाश लोचनोंकी-सी कान्तिवाले अपने नेत्रोंकी कृपादृष्टिसे पवित्र कीजिये॥ ३३॥

श्रीऋषय ऊचुः—

अनन्वितं तव भगवन् विचेष्टितं
यदात्मनाचरसि हि कर्म नाज्यसे।
विभूतये यत उपसेदुरीश्वरीं
न मन्यते स्वयमनुवर्ततीं भवान्॥ ३४॥

ऋषियोंने कहा—हे भगवन्! आपकी लीला बड़ी ही अनोखी है, क्योंकि आप स्वयं कार्य करके भी कार्यके साथ लिप्त नहीं होते। अन्यान्य जीव विभूतिकी कामनासे जिन लक्ष्मीदेवीकी सेवा करते हैं, वे लक्ष्मी स्वयं आपकी सेवाके लिए लालायित रहती हैं, किन्तु फिर भी आप उसे ग्रहण नहीं करते॥ ३४॥

श्रीसिद्धा ऊचुः—

अयं तत्कथामृष्टपीयूषनद्यां
मनोवारणः क्लेशदावाग्निदग्धः।
तृषार्त्तोऽवगाढो न सस्मार दावं
न निष्क्रामति ब्रह्मसम्पन्नवन्नः॥ ३५॥

सिद्धगणोंने कहा—हे भगवन्! हमारा मनरूपी हाथी क्लेशरूप दावानलसे दग्ध होनेके कारण तृष्णाओंसे कातर रहता है। किन्तु जिस समय हमारा मन आपकी कथारूप विशुद्ध अमृतमयी सरितामें अवगाहन करता है, उस समय वह दावाग्नि तुल्य संसार-क्लेशको भूल जाता है और भगवत्-सेवा सम्पत्तिसे सम्पन्न व्यक्तिकी भाँति आपकी सेवाका परित्याग करके दूसरे विषयोंमें आविष्ट नहीं होता॥ ३५॥

श्रीयजमान्युवाच—

स्वागतं ते प्रसीदेश तुभ्यं नमः
श्रीनिवास श्रिया कान्तया त्राहि नः।
त्वामृतेऽधीश नाङ्गैर्मखः शोभते
शीर्षहीनः कबन्धो यथा पूरुषः॥ ३६॥

यजमान दक्षकी पत्नी प्रसूतिने कहा—हे ईश! आपका स्वागत है, आप मुझपर प्रसन्न हों। मैं आपको प्रणाम करती हूँ। हे श्रीनिवास! आप अपनी पत्नी लक्ष्मीदेवीके साथ हमारी रक्षा कीजिये। हे अधीश (सर्वोपरि)! सिरसे रहित कबन्ध (धड़मात्रसे युक्त) पुरुष जिस प्रकार केवल हाथ-पैर आदि अङ्गोंसे शोभित नहीं होता, उसी प्रकार अन्य अङ्ग-उपाङ्गोंसे पूर्ण होनेपर भी यह यज्ञ आपके बिना शोभायमान नहीं हो रहा॥ ३६॥

श्रीलोकपाला ऊचुः—

दृष्टः किं नो दृग्भिरसद्ग्रहैस्त्वं
प्रत्यग्द्रष्टा दृश्यते येन विश्वम्।
माया ह्येषा भवदीया हि भूमन्
यत् त्वं षष्ठः पञ्चभिर्भासि भूतैः॥ ३७॥

लोकपालोंने कहा—हे भगवन्! आप सबके साक्षी हैं, अतः आप सदैव सम्पूर्ण जगत्को देख रहे हैं। हम अपनी विषयोंसे अभिभूत प्राकृत इन्द्रियोंके द्वारा किस प्रकारसे आपको देख पायेंगे? आप पञ्चभूतोंसे परे षष्ठ स्वरूप (अर्थात् चिन्मय स्वरूप) वाले होकर भी हमारे सामने जिस पाञ्चभौतिक शरीरके समान प्रकाशित हो रहे हैं, यह भी आपकी मायाका ही प्रभाव है॥ ३७॥

श्रीयोगेश्वरा ऊचुः—

प्रेयान् न तेऽन्योऽस्त्यमुतस्त्वयि प्रभो
विश्वात्मनीक्षेन्न पृथग् य आत्मनः।
अथापि भक्त्येश तयोपधावता-
मनन्यवृत्त्यानुगृहाण वत्सल॥ ३८॥

योगेश्वरोंने कहा—हे प्रभो! आप समस्त जीवोंके आश्रयस्वरूप हैं तथा सभी जीव आपके नित्यदास हैं। जो उन जीवोंको आपका शक्तिस्वरूप जानकर उन्हें आपसे अभिन्न अर्थात् उनका आपसे भेदाभेद सम्बन्ध दर्शन करता है, उससे अधिक आपका और कोई प्रिय नहीं है। फिर भी, हे ईश! हे भक्तवत्सल! हम तो उस अचिन्त्य-भेदाभेद तत्त्वके अप्राकृत सूक्ष्मत्वकी धारणा न कर पानेके

कारण भेदवादी अर्थात् प्रभु और दासके भेदको ही प्रबल जानकर आपमें अनन्य भक्ति करते हैं, हमारे जैसे निम्न अधिकारियोंके प्रति आप अनुग्रह प्रकाश करें॥ ३८॥

जगदुद्भवस्थितिलयेषु दैवतो
बहुभिद्यमानगुणयात्ममायया ।
रचितात्मभेदमतये स्वसंस्थया
विनिवर्तितभ्रमगुणात्मने नमः॥ ३९॥

हे भगवन्! जगत्‌की सृष्टि, स्थिति एवं प्रलयके लिए अदृष्ट अर्थात् प्रारब्धवशतः आपकी बहिरङ्गा-मायाके समस्त गुण बहुत प्रकारसे विभाजित हुआ करते हैं। आप सृष्टि आदि कार्योंके लिए उस मायाके द्वारा ही जीवोंमें अपने भगवत्-स्वरूपके प्रति भेदबुद्धि उत्पन्न कराते हैं अर्थात् जीव आपकी मायाके प्रभावसे जड़भेदवादी होकर अचिन्त्य-भेदाभेदके रहस्यको धारण करनेमें समर्थ नहीं हो पाता। अतएव हम आपके शरणागत होते हैं, क्योंकि जीव शुद्ध-स्वरूपमें अवस्थित होकर एकमात्र आपकी कृपासे ही द्वितीयाभिनिवेशसे उत्पन्न भेदभ्रमसे निवृत्ति प्राप्त करता है। अतएव ऐसे महिमान्वित आपको हम केवल प्रणाम ही कर सकते हैं॥ ३९॥

श्रीब्रह्मोवाच—

नमस्ते श्रितसत्त्वाय धर्मादीनाञ्च सूतये।
निर्गुणाय च यत्काष्ठां नाहं वेदापरेऽपि च॥ ४०॥

श्रीब्रह्माने कहा—हे भगवन्! आपने विशुद्ध सत्त्वगुणको स्वीकार किया है, आप धर्मादिको उत्पन्न करनेवाले हैं, आप निर्गुणस्वरूप हैं, अतएव मैं आपको प्रणाम करता हूँ। आप भगवान् हैं, इसलिए आपके अचिन्त्य तत्त्वको मैं नहीं जानता हूँ, रुद्रादि देवता भी उस तत्त्वको नहीं जानते हैं॥ ४०॥

श्रीअग्निरुवाच—

यत्तेजसाहं सुसमिद्धतेजा
हव्यं वहे स्वध्वर आज्यसिक्तम्।

तं यज्ञियं पञ्चविधञ्च पञ्चभिः
स्विष्टं यजुर्भिः प्रणतोऽस्मि यज्ञम्॥ ४१॥

श्रीअग्निने कहा—जिनके तेजसे ही सम्यक् रूपसे प्रज्वलित होकर मैं यज्ञोंमें घृतसे अभिषिक्त हव्य-सामग्रीको वहन किया करता हूँ, जो अग्निहोत्र, दर्श, पौर्णमास, चातुर्मास्य एवं पशुसोम—इन पाँच प्रकारके यज्ञोंके स्वरूप हैं एवं जो इन पाँच प्रकारके यज्ञमन्त्रों द्वारा पूजित होते हैं, मैं उन्हीं यज्ञेश्वर श्रीहरिको प्रणाम करता हूँ॥ ४१॥

श्रीदेवा ऊचुः—

पुरा कल्पापाये स्वकृतमुदरीकृत्य विकृतं
त्वमेवाद्यस्तस्मिन् सलिल उरगेन्द्राधिशयने।
पुमान् शेषे सिद्धैर्हृदि विमृशिताध्यात्मपदविः
स एवाद्याक्ष्णोर्यः पथि चरसि भृत्यानवसि नः॥ ४२॥

देवताओंने कहा—जो आदिपुरुष पूर्वकालमें कल्पके अन्त होनेके समय अपनेसे भिन्न आकारमें परिणत निखिल कार्यरूप प्रपञ्चको अपने उदरमें लीन करके कारर्णाणव जलमें अनन्त शय्यापर शयन करते हैं, सनकादि सिद्धगण ज्ञानमार्गसे जिनका हृदयमें विशेष रूपसे स्मरण करते हैं—वही आदिपुरुष आज हमारे नयनपथके पथिक होकर विचरण कर रहे हैं और हमें सेवक जानकर हमारी रक्षा कर रहे हैं॥ ४२॥

श्रीगन्धर्वाप्सरस ऊचुः—

अंशांशास्ते देव मरीच्यादय एते
ब्रह्मेन्द्राद्या देवगणा रुद्रपुरोगाः।
क्रीडाभाण्डं विश्वमिदं यस्य विभूम-
स्तस्मै नित्यं नाथ नमस्ते करवाम॥ ४३॥

गन्धर्वों एवं अप्सराओंने कहा—हे देव! मरीचि आदि प्रजापति एवं श्रीब्रह्मा, इन्द्र और रुद्रादि प्रमुख देवता आपके अंशके भी अंश हैं। यह विश्व आपकी क्रीड़ाका उपकरण है। हे नाथ! हम आपको नमस्कार करते हैं॥ ४३॥

श्रीविद्याधरा ऊचुः—

तन्माययार्थमभिपद्य कलेवरेऽस्मिन्
कृत्वा ममाहमिति दुर्मतिरुत्पथैः स्वैः।
क्षिप्तोऽप्यसद्विषयलालस आत्ममोहं
युष्मत्कथामृतनिषेवक उद्व्युदस्येत्॥ ४४॥

विद्याधरोंने कहा—हे भगवन्! यद्यपि दुर्मति मनुष्य पुरुषार्थ-प्राप्तिके उपाय-स्वरूप इस मानव देहको प्राप्त करके भी कुमार्गपर चलनेवाले अपने पुत्रादि आत्मीजनोंसे तिरस्कृत होकर दुःख प्राप्त करते रहते हैं, किन्तु तथापि वे आपकी मायासे मोहित होकर इस देहमें 'मैं' और 'मेरा' का अभिमानकर अनित्य विषयोंकी ही लालसा करते रहते हैं। परन्तु जो व्यक्ति आपके कथामृतके पिपासु हैं, वे ऐसे देहात्माभिमानरूप मोहका दूरसे ही त्यागकर सकते हैं॥ ४४॥

श्रीब्राह्मणा ऊचुः—

त्वं क्रतुस्त्वं हविस्त्वं हुताशः स्वयं
त्वं हि मन्त्रः समिद्दर्भपात्राणि च।
त्वं सदस्यर्त्विजो दम्पती देवता
अग्निहोत्रं स्वधा सोम आज्यं पशुः॥ ४५॥

ब्राह्मणोंने कहा—हे प्रभो! आप स्वयं यज्ञ-स्वरूप हैं, आप ही हवि हैं, आप ही अग्नि हैं, आप ही मन्त्र हैं, आप ही समिधा हैं, आप ही यज्ञ-पात्र हैं, आप ही सदस्य हैं, आप ही ऋत्विक हैं, आप ही सपत्नीक यजमान हैं, आप ही देवता हैं, आप ही अग्निहोत्र हैं, आप ही स्वधा हैं, आप ही सोमरस हैं, आप ही हवनीय घृत और आप ही यज्ञीय पशु हैं॥ ४५॥

त्वं पुरा गां रसाया महाशूकरो
दंष्ट्रया पद्मिनीं वारणेन्द्रो यथा।
स्तूयमानो नदल्लीलया योगिभि-
र्व्युज्जहर्थ त्रयीगात्र यज्ञक्रतुः॥ ४६॥

हे वेदमूर्त्ते! आप ही यूपयुक्त यज्ञ हैं अथवा यज्ञ-सङ्कल्प स्वरूप हैं। गजेन्द्र जिस प्रकार खेल-ही-खेलमें कमलिनीको उठा लेता है, आपने भी उसी प्रकार पूर्वकालमें लीलापूर्वक महाशूकररूप धारणकर गर्जन करते हुए अपनी दाढ़ोंके अग्रभागसे रसातलमें निमग्न वसुन्धराका उद्धार किया था। उस समय योगीगण आपकी वन्दना कर रहे थे॥ ४६॥

स प्रसीद त्वमस्माकमाकाङ्क्षतां
दर्शनं ते परिभ्रष्टसत्कर्मणाम्।
कीर्त्त्यमाने नृभिर्नाम्नि यज्ञेश ते
यज्ञविघ्नाः क्षयं यान्ति तस्मै नमः॥ ४७॥

हे यज्ञेश! इस समय वही आप हमारे प्रति प्रसन्न हों। हमारा यज्ञरूप सत्कार्य भ्रष्ट हो गया था, इसीलिए हम आपके दर्शनोंकी अभिलाषा कर रहे थे। मनुष्य जिस समय आपका नाम-सङ्कीर्त्तन करता है, उस समय उसके यज्ञसे सम्बन्धित सभी विघ्न विनष्ट हो जाते हैं। ऐसे प्रभावशाली आपको हम नमस्कार करते हैं॥ ४७॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

इति दक्षः कविर्यज्ञं भद्र रुद्राभिमर्शितम्।
कीर्त्त्यमाने हृषीकेशे संनिन्ये यज्ञभावने॥ ४८॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! इस प्रकार सबलोग यज्ञेश्वर भगवान् हृषीकेशके गुणोंका गान करते रहे। परम बुद्धिमान दक्षने भी रुद्रके पार्षद वीरभद्रके द्वारा विनष्ट यज्ञको पुनः आरम्भ कर दिया॥ ४८॥

भगवान् स्वेन भागेन सर्वात्मा सर्वभागभुक्।
दक्षं बभाष आभाष्य प्रीयमाण इवानघ॥ ४९॥

हे निष्पाप विदुर! भगवान् विष्णु समस्त देवताओंकी आत्मा होनेके कारण समस्त यज्ञांशोंके भागी होनेपर भी अपने भाग द्वारा अत्यधिक सन्तुष्ट होकर दक्षको सम्बोधित करते हुए कहने लगे॥ ४९॥

श्रीभगवानुवाच—

अहं ब्रह्मा च शर्वश्च जगतः कारणं परम्।
आत्मेश्वर उपद्रष्टा स्वयंदृगविशेषणः॥५०॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—हे दक्ष! मैं जगत्‌का परम कारण, आत्मा, ईश्वर एवं साक्षी स्वरूप हूँ। मैं स्वयं-प्रकाश, जड़-उपाधि-शून्य एवं अप्राकृत वस्तु हूँ। मैं ही गुणावतार ब्रह्मा और शिवके रूपमें प्रकाशित होता हूँ॥५०॥

आत्ममायां समाविश्य सोऽहं गुणमयीं द्विज।
सृजन् रक्षन् हरन् विश्वं दध्रे संज्ञां क्रियोचिताम्॥५१॥

हे विप्र! एकमात्र मैं ही त्रिगुणात्मक मायाका आश्रय करके भी गुणातीत रहनेवाला हूँ। मैं ही सत्त्वगुण-स्वरूप मायाधीश विष्णुके रूपमें जगत्‌की रक्षा करता हूँ। मैं ही ब्रह्मा एवं रुद्रके रूपमें जगत्‌की सृष्टि एवं संहार करता हूँ। इस प्रकार मैं ही इन त्रिविध कार्योंके उपयुक्त स्रष्टा, पालक एवं संहारक अथवा ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश नाम धारण करता हूँ॥५१॥

तस्मिन् ब्रह्मण्यद्वितीये केवले परमात्मनि।
ब्रह्मरुद्रौ च भूतानि भेदेनाज्ञोऽनुपश्यति॥५२॥

मैं अद्वयज्ञान-परतत्त्व स्वरूप हूँ अर्थात् मुझसे अलग किसीका भी स्वतन्त्र अधिष्ठान या भगवत्ता नहीं है। मैं ही एकमात्र स्वतन्त्र भगवान् हूँ। ब्रह्मा, रुद्रादि सभी मेरे अधीनतत्त्वके रूपमें मुझमें ही अवस्थित हैं। अज्ञानी व्यक्ति ही मेरे गुणावतार ब्रह्मा, रुद्र और सम्पूर्ण जीवोंको मुझसे स्वतन्त्र मानते हैं॥५२॥

यथा पुमान् न स्वाङ्गेषु शिरःपाण्यादिषु क्वचित्।
पारक्यबुद्धिं कुरुते एवं भूतेषु मत्परः॥५३॥

जिस प्रकार कोई भी व्यक्ति अपने सिर और हाथ आदि अङ्गोंको कभी भी स्वयंसे भिन्न नहीं समझता, उसी प्रकार मुझमें अनुरक्त व्यक्ति भी ब्रह्मा, रुद्रादि देवताओं एवं प्राणीमात्रको मुझसे स्वतन्त्र रूपमें नहीं मानते, अर्थात् वे इसे भलीभाँति जानते हैं कि अद्वयज्ञान-स्वरूप

मुझसे भेदाभेद-सम्बन्ध युक्त होकर ही समस्त देवता एवं जीव अवस्थान कर रहे हैं॥ ५३॥

त्रयाणामेकभावानां यो न पश्यति वै भिदाम्।
सर्वभूतात्मनां ब्रह्मन् स शान्तिमधिगच्छति॥ ५४॥

हे ब्रह्मन्! हम ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश तीनों ही अचिन्त्य-भेदाभेद सम्बन्धसे युक्त हैं। समस्त प्राणियोंके आत्म-स्वरूप हममें जो भेद-बुद्धि नहीं रखते अर्थात् भेदाभेद-तत्त्वके रूपमें हमें परस्पर अभिन्न मानकर हमारा दर्शन करते हैं—वे ही शान्ति प्राप्त करते हैं॥ ५४॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

एवं भगवतादिष्टः प्रजापतिपतिर्हरिम्।
अर्चित्वा क्रतुना स्वेन देवानुभयतोऽयजत्॥ ५५॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! भगवान् श्रीविष्णुके द्वारा इस प्रकार आज्ञा प्रदान किये जानेपर प्रजापतियोंके प्रधान दक्षने 'त्रिकपाल' नामक यज्ञ द्वारा भगवान् श्रीहरिका पूजन किया और बादमें 'अङ्ग' एवं 'प्रधान'—इन दोनों प्रकारके यज्ञोंके द्वारा अन्य देवताओंकी पूजा की॥ ५५॥

रुद्रञ्च स्वेन भागेन ह्युपाधावत् समाहितः।
कर्मणोदवसानेन सोमपानितरानपि।
उदवस्य सहर्त्विग्भिः सस्नाववभृथं ततः॥ ५६॥

इसके बाद एकाग्रचित्तसे यज्ञके अवशिष्टरूप रुद्रके भाग द्वारा रुद्रदेवकी पूजा की और यज्ञसमापक कर्मसे सोमपायी एवं अन्यान्य देवताओंके पूजनमें प्रवृत्त हुए। अन्तमें यज्ञका समापनकर दक्षने ऋत्विकोंके साथ यज्ञके समाप्त होनेपर किया जानेवाला स्नान किया॥ ५६॥

तस्मा अप्यनुभावेन स्वेनैवावाप्तराधसे।
धर्म एव मतिं दत्वा त्रिदशास्ते दिवं ययुः॥ ५७॥

यद्यपि भगवान्‌की आराधनाके प्रभावसे ही प्रजापति दक्षके समस्त अभीष्ट सिद्ध हुए थे, तथापि सभी देवताओंने उन्हें 'धर्ममें सदा तुम्हारी मति रहे'—यह वर प्रदान किया तथा स्वर्गलोकको चले गये॥ ५७॥

एवं दाक्षायणी हित्वा सती पूर्वकलेवरम्।
जज्ञे हिमवतः क्षेत्रे मेनायामिति शुश्रुम॥ ५८॥

हे विदुर! मैंने सुना है कि दक्षकी पुत्री सतीने पूर्वोक्त प्रकारसे अपनी देहका परित्याग करके बादमें हिमालयकी पत्नी मेनकाके गर्भसे जन्म-ग्रहण किया था॥ ५८॥

तमेव दयितं भूय आवृङ्क्ते पतिमम्बिका।
अनन्यभावैकगतिं शक्तिः सुप्तेव पूरुषम्॥ ५९॥

जिस प्रकार प्रलय-कालमें लीन हुई प्रकृति पुनः सृष्टिके आरम्भमें कारणार्णवशायी पुरुषका ही आश्रय लेती है, उसी प्रकार अनन्य परायणा सतीने उस जन्ममें भी पुनः अपने एकमात्र आश्रय और प्रियतम वैष्णवप्रवर भगवान् शङ्करका ही भजन किया अर्थात् पुनः देवी सतीने पत्नी बनकर उनकी सेवा की॥ ५९॥

एतद्भगवतः शम्भोः कर्म दक्षाध्वरद्रुहः।
श्रुतं भागवताच्छिष्यादुद्धवान्मे बृहस्पतेः॥ ६०॥

हे विदुर! दक्षयज्ञका विनाश करनेवाले ऐश्वर्यशाली रुद्रके इस चरित्रको मैंने बृहस्पतिके परमभागवत शिष्य श्रीउद्धवके मुखसे सुना था॥ ६०॥

इदं पवित्रं परमीशचेष्टितं
यशस्यमायुष्यमघौघमर्षणम्।
यो नित्यदाकर्ण्य नरोऽनुकीर्त्तयेद्-
धुनोत्यघं कौरव भक्तिभावतः॥ ६१॥

हे विदुर! वैष्णवराज शम्भुकी यह चरित-कथा परम पवित्र, यश प्रदान करनेवाली, आयुको बढ़ानेवाली तथा अनर्थोंका ध्वंस करनेवाली

है। जो व्यक्ति भगवान् विष्णु एवं वैष्णवराज शिवके इस चरित्रका नित्यकाल श्रवणपूर्वक अनुकीर्त्तन करता है, उसके हृदयमें भक्ति प्रकट हो जाती है और वह अपने तथा दूसरोंके संसाररूपी क्लेशका विनाश करनेमें समर्थ हो जाता है॥ ६१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां चतुर्थस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे
दक्षयज्ञसन्धानं नाम सप्तमोऽध्यायः॥

अष्टमोऽध्यायः

विमाताके दुर्वचनोंसे पाँच वर्षीय बालक ध्रुवका वन-गमन और कठोर तपस्या

श्रीमैत्रेय उवाच—

सनकाद्या नारदश्च ऋभुर्हंसोऽरुणिर्यतिः।
नैते गृहान् ब्रह्मसुता ह्यावसन्नूर्ध्वरतसः॥ १॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! चतुःसन, नारद, ऋभु, हंस, अरुणि और यति—श्रीब्रह्माके ये सभी पुत्र नैष्ठिक ब्रह्मचारी थे, इन्होंने गृहस्थाश्रमको स्वीकार नहीं किया था॥ १॥

मृषाधर्मस्य भार्यासीद्दम्भं मायाञ्च शत्रुहन्।
असूत मिथुनं तत्तु निर्ऋतिर्जगृहेऽप्रजाः॥ २॥

हे शत्रुविनाशक विदुर! श्रीब्रह्माके पुत्र 'अधर्म' की 'मृषा' अथवा 'मिथ्या' नामकी एक पत्नी थी। उस मिथ्याने 'दम्भ' नामक पुत्र एवं 'माया' नामकी कन्याको जन्म दिया। अधर्मके अंश होनेके कारण भाई और बहन होनेपर भी 'दम्भ' एवं 'माया'—दोनोंमें स्त्री-पुरुष सम्बन्ध हो गया। नैऋत कोणका अधिपति निर्ऋति (राक्षस) सन्तानरहित था, इसलिए उसने इन दोनोंको अपनी सन्तानके रूपमें ग्रहण कर लिया॥ २॥

तयोः समभवल्लोभो निकृतिश्च महामते।
ताभ्यां क्रोधश्च हिंसा च यद्दुरुक्तिः स्वसा कलिः॥ ३॥

हे महामते विदुर! उन 'दम्भ' एवं 'माया' से 'लोभ' नामक एक पुत्र एवं 'शठता' नामकी एक कन्याने जन्म-ग्रहण किया। उनमें भी परस्पर दाम्पत्य भाव होनेके कारण उनके मिलनसे 'क्रोध' एवं 'हिंसा' उत्पन्न हुए। 'कलि' (कलह) उस 'क्रोध' एवं 'हिंसा' का ही पुत्र है एवं 'दुरुक्ति' (गाली) उस कलि (कलह) की बहन है॥ ३॥

दुरुक्तौ कलिराधत्त भियं मृत्युञ्च सत्तम।
तयोश्च मिथुनं जज्ञे यातना निरयस्तथा॥ ४॥

हे साधुश्रेष्ठ विदुर! इस दुरुक्तिके गर्भसे कलिने 'भीति' नामकी कन्या एवं 'मृत्यु' नामक एक पुत्र उत्पन्न किया। इस 'भीति' एवं 'मृत्यु' से 'यातना' नामकी कन्या एवं 'नरक' नामक पुत्र उत्पन्न हुआ॥ ४॥

संग्रहेण मयाख्यातः प्रतिसर्गस्तवानघ।
त्रिःश्रुत्वैतत् पुमान् पुण्यं विधुनोत्यात्मनो मलम्॥ ५॥

हे निर्दोष विदुर! मैंने इस प्रकारसे आपके निकट संक्षेपमें प्रलयके कारणरूप इस अधर्मके वंशका वर्णन किया। जो प्राणी इस अधर्म-वंशके आख्यानका तीन बार श्रवण करता है, उसके मनकी मलिनता दूर हो जाती है॥ ५॥

अथातः कीर्त्तये वंशं पुण्यकीर्तेः कुरूद्वह।
स्वायम्भुवस्यापि मनोर्हरेरंशांशजन्मनः॥ ६॥

हे कुरुकुल श्रेष्ठ विदुर! अब मैं पुण्यकीर्त्ति भगवान् श्रीहरिके अंश (ब्रह्माजी) के अंश स्वायम्भुव मनुके वंशका वर्णन करूँगा॥ ६॥

प्रियव्रतोत्तानपादौ शतरूपापतेः सुतौ।
वासुदेवस्य कलया रक्षायां जगतः स्थितौ॥ ७॥

हे विदुर! महारानी शतरूपाके पति स्वायम्भुव मनुके प्रियव्रत एवं उत्तानपाद नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए। ये दोनों भगवान् श्रीवासुदेवके अंशसे अवतीर्ण होकर पृथ्वीके पालनमें नियुक्त थे॥ ७॥

जाये उत्तानपादस्य सुनीतिः सुरुचिस्तयोः।
सुरुचिः प्रेयसी पत्युर्नेतरा यत्सुतो ध्रुवः॥ ८॥

उत्तानपादकी सुनीति एवं सुरुचि नामकी दो पत्नियाँ थीं। उनमें सुरुचि ही पतिको अधिक प्रिय थी, किन्तु दूसरी पत्नी सुनीति, जिसके पुत्रका नाम ध्रुव था, अपने स्वामीकी वैसी प्रिय नहीं बन पायी॥ ८॥

एकदा सुरुचेः पुत्रमङ्कमारोप्य लालयन्।
उत्तमं नारुरुक्षन्तं ध्रुवं राजाभ्यनन्दत॥ ९॥

एकबार राजा उत्तानपाद सुरुचिके पुत्र उत्तमको गोदमें बैठाकर बड़ा दुलार कर रहे थे। उसी समय सुनीतिके पुत्र ध्रुवने भी पिताकी गोदमें बैठनेकी इच्छा प्रकाशित की, किन्तु राजा सुरुचिके भयसे उसका समादर नहीं कर सके॥ ९॥

तथा चिकीर्षमाणं तं सपत्न्यास्तनयं ध्रुवम्।
सुरुचिः शृण्वतो राज्ञः सेर्ष्यमाहातिगर्विता॥ १०॥

तब अत्यन्त घमण्डसे भरी सुरुचि सौतके पुत्र ध्रुवको राजाकी गोदमें चढ़नेका इच्छुक देखकर ईर्ष्यालु हो उठी और राजाके सम्मुख ही ध्रुवसे कहने लगी॥ १०॥

न वत्स नृपतेर्धिष्ण्यं भवानारोढुमर्हति।
न गृहीतो मया यत् त्वं कुक्षावपि नृपात्मजः॥ ११॥

वत्स ध्रुव! तुम राजाके पुत्र हो, यह सत्य है, परन्तु क्योंकि तुमने मेरे गर्भसे जन्म-ग्रहण नहीं किया, अतः तुम किसी भी प्रकारसे राजाकी गोदमें (राजसिंहासनपर) बैठनेके योग्य नहीं हो सकते॥ ११॥

बालोऽसि बत नात्मानमन्यस्त्रीगर्भसम्भृतम्।
नूनं वेद भवान् यस्य दुर्लभेऽर्थे मनोरथः॥ १२॥

हाय! तुम बालक होनेके कारण अभी नासमझ हो। तुम दूसरी स्त्रीके गर्भमें पुष्ट हुए थे, इसे तुम अवश्य ही नहीं जानते हो। यदि जानते होते, तो तुममें इस प्रकारके दुष्प्राप्य विषयकी अभिलाषा ही उत्पन्न न होती॥ १२॥

तपसाराध्य पुरुषं तस्यैवानुग्रहेण मे।
गर्भे त्वं साधयात्मानं यदीच्छसि नृपासनम्॥ १३॥

हे वत्स! यदि तुम राजसिंहासनको प्राप्त करनेकी इच्छा करते हो, तो तपस्या द्वारा श्रीभगवान्‌की आराधना करके उनके अनुग्रहसे मेरे गर्भसे जन्म-ग्रहण करो॥ १३॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

मातुः सपत्न्याः सुदुरुक्तिविद्धः
श्वसन् रुषा दण्डहतो यथाहिः।

हित्वा मिषन्तं पितरं सन्नवाचं
जगाम मातुः स रुदन् सकाशम्॥ १४॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! सौतेली माता सुरुचिने अति दुरुक्तिपूर्ण कठोर वचनोंसे ध्रुवके हृदयको बहुत अधिक आघात पहुँचाया। पिता उत्तानपाद सुरुचिको ऐसा व्यवहार करते हुए देखकर भी चुप बैठे रहे, उनके मुखसे एक शब्द भी नहीं निकला। बालक ध्रुव यह सब देखकर डण्डेसे चोट खाये सर्पके समान क्रोधसे दीर्घ निःश्वास लेते हुए रोते-रोते अपनी माता सुनीतिके पास चले आये॥ १४॥

तं निश्वसन्तं स्फुरिताधरोष्ठं
सुनीतिरुत्सङ्गमुदूह्य बालम्।
निशम्य तत् पौरमुखान्नितान्तं
सा विव्यथे यद्गदितं सपत्न्या॥ १५॥

बालक ध्रुवके होंठ फड़क रहे थे, वे दीर्घनिःश्वास लेते हुए सिसक-सिसककर रो रहे थे। यह देखकर माता सुनीतिने पुत्र ध्रुवको गोदमें उठा लिया। अन्तःपुरके अन्य लोगोंसे जब उन्हें यह पता चला कि सौत सुरुचिकी कही हुई बातें ही बालकके रोनेका कारण हैं, तब वे अत्यन्त व्यथित हो गयीं॥ १५॥

सोत्सृज्य धैर्यं विललाप शोक-
दावाग्निना दावलतेव बाला।
वाक्यं सपत्न्याः स्मरती सरोज-
श्रिया दृशा बाष्पकलामुवाह॥ १६॥

ध्रुवकी माता सुनीति अब अधिक धैर्य धारण न कर सकीं। वे दावाग्निके बीच स्थित लताके समान शोकाग्निसे सन्तप्त होकर रोने लगीं। अपनी सौतके वाक्य जितने-जितने उन्हें याद आते जाते थे, उतने ही उनके कमल-सदृश सुन्दर नेत्रोंसे अश्रुधाराएँ प्रवाहित होने लगती थीं॥ १६॥

दीर्घं श्वसन्ती वृजिनस्य पार-
मपश्यती बालकमाह बाला।
मामङ्गलं तात परेषु मंस्था
भुङ्क्ते जनो यत् परदुःखदस्तत्॥ १७॥

अपने दुःखोंका कहीं अन्त होता नहीं देखकर वे दीर्घ निःश्वास छोड़ते हुए बालक ध्रुवसे बोलीं—वत्स! तुम्हारी विमाताने तुम्हारा अपकार किया है, ऐसा सोचकर तुम उन्हें दोष मत देना। अपने द्वारा की गयी पुरानी सुकृतियों और दुष्कृतियोंके फलस्वरूप ही जीव सुख और दुःख अनुभव करता है। जो दूसरोंको दुःख देता है, उसे अगले जन्ममें उस दुःखका भोग करना पड़ता है॥ १७॥

सत्यं सुरुच्याभिहितं भवान् मे
यद्दुर्भगाया उदरे गृहीतः।
स्तन्येन वृद्धश्च विलज्जते यां
भार्येति वा वोढुमिडस्पतिर्माम्॥ १८॥

वत्स! तुमने मुझ मन्दभागिनीके उदरसे जन्म-ग्रहण किया है और मेरे ही दूधसे तुम पले हो—यह सुरुचिने सत्य ही कहा है। हाय! राजा मुझे 'पत्नी' का तो कहना ही क्या, 'दासी' कहकर भी स्वीकार करनेमें लज्जा करते हैं॥ १८॥

आतिष्ठ तत्तात विमत्सरस्त्व-
मुक्तं समात्रापि यदव्यलीकम्।
आराधयाधोक्षजपादपद्मं
यदीच्छसेऽध्यासनमुत्तमो यथा॥ १९॥

अतः वत्स ध्रुव! यदि तुम अपने भाई सुरुचिके पुत्र उत्तमके समान राजसिंहासन प्राप्त करना चाहते हो, तो फिर तुम मात्सर्यको त्यागकर तुम्हारी विमाता होनेपर भी सुरुचिने तुम्हें 'अतीन्द्रिय भगवान् श्रीहरिके चरणकमलोंकी आराधना करो', जो कपट-रहित सत्य वचन कहे हैं, उन वचनोंका पालन करो॥ १९॥

यस्याङ्घ्रिपद्मं परिचर्य विश्व-
विभावनायात्तगुणाभिपत्तेः ।
अजोऽध्यतिष्ठत् खलु पारमेष्ठ्यं
पदं जितात्मश्वसनाभिवन्द्यम्॥ २०॥

उन्हीं अधोक्षज भगवान् श्रीहरिने इस विश्वके पालनके लिए सत्त्वगुण प्रधान विग्रहको स्वीकार किया है। मन एवं प्राणोंको जीतनेवाले योगियोंके द्वारा वन्दनीय उन्हीं भगवान्के श्रीचरणकमलोंकी सेवा करके ब्रह्माजीने भी सर्वोत्कृष्ट पदको प्राप्त किया है॥ २०॥

तथा मनुर्वो भगवान् पितामहो
यमेकमत्या पुरुदक्षिणैर्मखैः।
इष्ट्वाभिपेदे दुरवापमन्यतो
भौमं सुखं दिव्यमथापवर्ग्यम्॥ २१॥

श्रीब्रह्माजीने जिस प्रकार भगवान्की आराधना करके पारमेष्ठ्य पदको प्राप्त किया था, तुम्हारे पितामह ऐश्वर्यशाली स्वायम्भुव मनुने भी उसी प्रकार एकाग्र बुद्धिसे बहुत-सी दक्षिणाओंवाले यज्ञोंका अनुष्ठान करते हुए श्रीहरिकी आराधना की थी और दूसरोंके लिए दुर्लभ लौकिक, पारलौकिक एवं मोक्षके सुखको प्राप्त किया था॥ २१॥

तमेव वत्साश्रय भृत्यवत्सलं
मुमुक्षुभिर्मृग्यपदाब्जपद्धतिम् ।
अनन्यभावे निजधर्मभाविते
मनस्यवस्थाप्य भजस्व पूरुषम्॥ २२॥

अतएव वत्स ध्रुव! जन्म-मृत्युके चक्रसे छुटकारा पानेकी इच्छावाले मुक्तिकामी व्यक्ति भी जिनके चरणकमलरूप मार्गको ढूँढ़ते हैं, तुम दूसरी सभी वस्तुओंके प्रति आसक्ति छोड़कर अपने भक्तिधर्मसे शोधित चित्तमें उन भक्तवत्सल भगवान् श्रीहरिको स्थापितकर उन्हींकी आराधना करो॥ २२॥

नान्यं ततः पद्मपलाशलोचनाद्-
दुःखच्छिदं ते मृगयामि कञ्चन।
यो मृग्यते हस्तगृहीतपद्मया
श्रियेतरैरङ्ग विमृग्यमाणया॥ २३॥

वत्स! कमलदल-लोचन श्रीहरिके अतिरिक्त मुझे दूसरा कोई भी व्यक्ति तुम्हारे दुःखको दूर करनेमें समर्थ दिखायी नहीं देता। इसका कारण है कि ब्रह्मादि देवता भी मनको एकाग्र करके जिन महालक्ष्मीका ध्यान किया करते हैं, वे महालक्ष्मी भी दीपककी भाँति हाथमें कमल लिये स्वयं उन्हीं श्रीहरिको ढूँढ़ती रहती हैं॥ २३॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

एवं संजल्पितं मातुराकर्ण्यार्थागमं वचः।
संनियम्यात्मनात्मानं निश्चक्राम पितुः पुरात्॥ २४॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! माता सुनीतिने इस प्रकार विलाप करते हुए जब स्वाभीष्ट वस्तुकी प्राप्ति करानेवाले वचन कहे, तो उन्हें सुनकर बालक ध्रुवने बुद्धिके द्वारा मनमें धैर्य धारण किया और पिताके घरसे बाहर निकल गये॥ २४॥

नारदस्तदुपाकर्ण्य ज्ञात्वा चास्य चिकीर्षितम्।
स्पृष्ट्वा मूर्द्धन्यघघ्नेन पाणिना प्राह विस्मितः॥ २५॥

दूसरी ओर, देवर्षि नारद पुरवासियोंसे ध्रुवके घरसे निकलने एवं उनके मनोऽभीष्ट (भगवत्-आराधनाके विषय) को जानकर बहुत विस्मित हुए तथा वे ध्रुवके निकट पहुँचकर उसके सिरपर अपना पापनाशक करकमल फेरते हुए मन-ही-मन कहने लगे॥ २५॥

अहो तेजः क्षत्रियाणां मानभङ्गममृष्यताम्।
बालोऽप्ययं हृदा धत्ते यत् समातुरसद्वचः॥ २६॥

अहो! अपमानको सहन करनेमें असहिष्णु क्षत्रियोंका यह कैसा अद्भुत प्रभाव है? ध्रुव छोटा-सा बालक है, फिर भी सौतेली माताके तिरस्कार पूर्ण वचनोंको इसने अभी तक भी हृदयमें धारण कर रखा है॥ २६॥

श्रीनारद उवाच—

नाधुनाप्यवमानं ते सम्मानञ्चापि पुत्रक।
लक्षयामः कुमारस्य सक्तस्य क्रीडनादिषु॥ २७॥

श्रीनारदने कहा—वत्स ध्रुव! तुम तो इस समय मात्र पाँच वर्षके बालक हो, खेल-कूदमें ही तुम्हारा मन लगा रहता है। इस आयुमें तुम्हारा सम्मान या अपमान होना—कुछ भी मेरी समझमें नहीं आता॥ २७॥

विकल्पे विद्यमानेऽपि न ह्यसन्तोषहेतवः।
पुंसो मोहमृते भिन्ना यल्लोके निजकर्मभिः॥ २८॥

अगर तुममें मान-अपमानका विवेक हुआ भी हो, तो भी मोहके अतिरिक्त और कुछ भी मनुष्यके असन्तोषका कारण नहीं होता, क्योंकि इस जगत्‌में जीव अपने द्वारा किये गये कर्मोंके अनुसार ही सुख-दुःख एवं मान-अपमानादि प्राप्त करता है॥ २८॥

परितुष्येत्ततस्तात तावन्मात्रेण पूरुषः।
दैवोपसादितं यावद्वीक्ष्येश्वरगतिं बुधः॥ २९॥

अतएव वत्स ध्रुव! ईश्वरकी इच्छाके अतिरिक्त और कोई भी उद्यम फल प्रदायक नहीं हो सकता—यह विचार करके अपने प्रारब्धके अनुसार जो कुछ प्राप्त होता है, बुद्धिमान व्यक्तिके लिए उसीमें सन्तुष्ट रहना उचित है॥ २९॥

अथ मात्रोपदिष्टेन योगेनावरुरुण्त्ससि।
यत्प्रसादं स वै पुंसां दुराराध्यो मतो मम॥ ३०॥

इसके अतिरिक्त माताके उपदेशको मानकर तुम जिस उपायका आश्रय करके जिन भगवान्‌की कृपाको प्राप्त करनेकी अभिलाषा कर रहे हो, मनुष्यमात्रके लिए उन भगवान्‌की कृपाको प्राप्त करना बड़ा कठिन है—ऐसा मेरा मानना है॥ ३०॥

मुनयः पदवीं यस्य निःसङ्गेनोरुजन्मभिः।
न विदुर्मृगयन्तोऽपि तीव्रयोगसमाधिना॥ ३१॥

इसका कारण है कि मुनिजन सब प्रकारसे असत्-सङ्गसे रहित होकर तीव्र योगयुक्त समाधि द्वारा बहुत जन्मों तक अन्वेषण (खोज) करनेपर भी उन भगवान्‌की पदवीको जाननेमें समर्थ नहीं हो पाते॥ ३१॥

अतो निवर्ततामेष निर्बन्धस्तव निष्फलः।
यतिष्यति भवान् काले श्रेयसां समुपस्थिते॥ ३२॥

अतः तुम अपनी इस व्यर्थकी हठको छोड़ दो। मङ्गल-साधनके उपयुक्त समयके उपस्थित होनेपर अर्थात् जब तुम्हारी वृद्धावस्था आयेगी, तब तुम इसके लिए प्रयत्न करना॥ ३२॥

यस्य यद्दैवविहितं स तेन सुखदुःखयोः।
आत्मानं तोषयन् देही तमसः पारमृच्छति॥ ३३॥

दैवकी प्रेरणासे अपने प्रारब्ध-वश सुख एवं दुःख जो भी प्राप्त हो, उसी अवस्थामें ही रहकर श्रीहरिमें मनोनिवेशपूर्वक आत्माको सन्तुष्ट करनेसे मोहरूप संसार-सागरसे उत्तीर्ण अर्थात् मुक्त हुआ जा सकता है॥ ३३॥

गुणाधिकान्मुदं लिप्सेदनुक्रोशं गुणाधमात्।
मैत्रीं समानादन्विच्छेन्न तापैरभिभूयते॥ ३४॥

जो व्यक्ति अपनी अपेक्षा अधिक गुणवान व्यक्तिको देखकर उससे ईर्ष्या न कर प्रीति करता है अर्थात् आनन्दित होता है एवं जो अपनी अपेक्षा गुणहीन व्यक्तिको देखकर उसकी अवज्ञा न कर उसपर कृपा करता है, तथा अपने ही समान गुणोंवाले व्यक्तिसे स्पर्धा न कर मित्रता करता है, वह किसी भी प्रकारके दुःखसे प्रभावित नहीं होता॥ ३४॥

श्रीध्रुव उवाच—

सोऽयं शमो भगवता सुखदुःखहतात्मनाम्।
दर्शितः कृपया पुंसां दुर्दर्शोऽस्मद्विधैस्तु यः॥ ३५॥

बालक ध्रुवने कहा—भगवन्! सुख-दुःखमें जिनका विवेक नष्ट हो जाता है, ऐसे लोगोंपर कृपा करके आपने आत्म-सन्तोषके

लक्षण-स्वरूप जिस शान्तिमार्गको दिखलाया है, उस मार्गपर चलना मेरे जैसे दुष्ट व्यक्तिके लिए नितान्त दुर्लभ है॥ ३५॥

तथापि मेऽविनीतस्य क्षात्रं घोरमुपेयुषः।
सुरुच्या दुर्वचोबाणैर्न भिन्ने श्रयते हृदि॥ ३६॥

इसके अतिरिक्त मुझे असहनीय लक्षणयुक्त क्षत्रिय स्वभाव प्राप्त हुआ है, इसलिए मुझमें स्वभावतः ही विनयका अभाव है और उसपर भी विमाता सुरुचिके कटुवाक्यरूपी बाणोंसे मेरा हृदय विद्ध हो गया है। इस आहतयुक्त हृदयमें आपका उपदेश ठहरता नहीं है॥ ३६॥

पदं त्रिभुवनोत्कृष्टं जिगीषोः साधुवर्त्म मे।
ब्रूह्यस्मत्पितृभिर्ब्रह्मन्नन्यैरप्यनधिष्ठितम् ॥ ३७॥

हे ब्रह्मन्! मैंने उस पदको प्राप्त करनेकी अभिलाषा की है, जो तीनों लोकोंमें सर्वोत्कृष्ट है तथा जिसपर मेरे पिता-पितामह और अन्य कोई भी आरूढ़ होनेमें समर्थ नहीं हो पाये हैं। आप मुझे उसीको प्राप्त करनेका ही सहज पथ बतलाइये॥ ३७॥

नूनं भवान् भगवतो योऽङ्गजः परमेष्ठिनः।
विनुदन्नटते वीणां हिताय जगतोऽर्कवत्॥ ३८॥

आप ऐश्वर्यशाली ब्रह्माजीके अङ्गसे उत्पन्न पुत्र हैं। आप निश्चित रूपसे जगत्के मङ्गल-विधानके लिए वीणा बजाते हुए सूर्यकी भाँति तीनों लोकोंमें भ्रमण किया करते हैं॥ ३८॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

इत्युदाहृतमाकर्ण्य भगवान् नारदस्तदा।
प्रीतः प्रत्याह तं बालं सद्वाक्यमनुकम्पया॥ ३९॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—बालक ध्रुवकी इन बातोंको सुनकर भक्तराज नारद अति प्रसन्न हो गये और बालकपर अनुग्रह करते हुए उसे इस प्रकार सदुपदेश देने लगे॥ ३९॥

श्रीनारद उवाच—

जनन्याभिहितः पन्थाः स वै निःश्रेयसस्य ते।
भगवान् वासुदेवस्त्वं भज तं प्रवणात्मना॥ ४०॥

श्रीनारदने कहा—हे ध्रुव! तुम्हारी माता सुनीति देवीने भगवान् वासुदेवके आराधनारूपी जिस भक्तियोगका तुम्हें उपेदश दिया है, वही तुम्हारे चरम कल्याणका एकमात्र सहज पथ है। अतएव तुम एकाग्रचित्तसे उन वासुदेवका ही भजन करो॥ ४०॥

धर्मार्थकाममोक्षाख्यं य इच्छेच्छ्रेय आत्मनः।
एकं ह्येव हरेस्तत्र कारणं पादसेवनम्॥ ४१॥

जो धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्षरूपी मङ्गलकी अभिलाषा करते हैं, उन्हें एकमात्र भगवान् श्रीविष्णुके चरणकमलोंका ही सेवन करना चाहिये। इसके अतिरिक्त परम कल्याणका अन्य कोई भी पथ नहीं है॥ ४१॥

तत्तात गच्छ भद्रं ते यमुनायास्तटं शुचि।
पुण्यं मधुवनं यत्र सान्निध्यं नित्यदा हरेः॥ ४२॥

अतएव हे वत्स! तुम्हारा मङ्गल हो। तुम श्रीयमुनाके तटपर स्थित परम पावन मधुवनमें जाओ, क्योंकि श्रीहरि उस मधुवनमें नित्य निवास करते हैं॥ ४२॥

स्नात्वानुसवनं तस्मिन् कालिन्द्याः सलिले शिवे।
कृत्वोचितानि निवसन्नात्मनः कल्पितासनः॥ ४३॥
प्राणायामेन त्रिवृता प्राणोन्द्रियमनोमलम्।
शनैर्व्युदस्याभिध्यायेन्मनसा गुरुणा गुरुम्॥ ४४॥

हे वत्स! तुम उस मधुवनमें जाकर सर्वप्रथम कालिन्दीके मङ्गलमय जलमें तीनों सन्ध्याओंके समय स्नान करके अपने नित्य-कर्मको समाप्त करना। इसके पश्चात् आसनकी रचना करके उसपर स्थिर भावसे बैठना। बैठनेके बाद रेचक, पूरक एवं कुम्भकसे युक्त प्राणायाम द्वारा प्राण, इन्द्रिय एवं मनके चाञ्चल्यादि दोषोंको दूर कर स्थिरचित्तसे क्रमपूर्वक जगद्गुरु श्रीवासुदेवका ध्यान करना॥ ४३-४४॥

प्रसादाभिमुखं शश्वत् प्रसन्नवदनेक्षणम्।
सुनसं सुभ्रुवं चारु-कपोलं सुरसुन्दरम्॥ ४५॥

तरुणं रमणीयाङ्गमरुणोष्ठेक्षणाधरम्।
प्रणताश्रयणं नृम्णं शरण्यं करुणार्णवम्॥ ४६॥

श्रीवत्साङ्कं घनश्यामं पुरुषं वनमालिनम्।
शङ्खचक्रगदापद्मैरभिव्यक्तं चतुर्भुजम्॥ ४७॥

किरीटिनं कुण्डलिनं केयूरवलयान्वितम्।
कौस्तुभाभरणग्रीवं पीतकौशेयवाससम्॥ ४८॥

काञ्चीकलापपर्यस्तं लसत्काञ्चननूपुरम्।
दर्शनीयतमं शान्तं मनोनयनवर्द्धनम्॥ ४९॥

पद्भ्यां नखमणिश्रेण्या विलसद्भ्यां समर्चताम्।
हृत्पद्मकर्णिकाधिष्ण्यमाक्रम्यात्मन्यवस्थितम्॥ ५०॥

स्मयमानमभिध्यायेत् सानुरागावलोकनम्।
नियतेनैकभूतेन मनसा वरदर्षभम्॥ ५१॥

श्रीहरि भक्तोंको वरदान देनेके लिए सदैव आतुर रहते हैं। उनके मुख एवं नेत्र सदा-सर्वदा प्रसन्न रहते हैं। वे सुन्दर नासिका, मनोहारिणी भौंहों एवं विलक्षण कपोलोंसे सुशोभित हैं। वे समस्त देवताओंमें परम सुन्दर पुरुष हैं। वे नित्य तरुण अवस्थामें अवस्थित रहनेवाले हैं। उनके अङ्ग कमनीय एवं होठ तथा नेत्र अरुण वर्णके हैं। वे प्रणतजनोंके परम आश्रय और सभी पुरुषार्थोंके आकरस्वरूप हैं। वे ही एकमात्र शरण्य तथा दयाके सागर हैं। उनके वक्षःस्थलपर श्रीवत्सका चिह्न है और सजल नवीन मेघके समान उनका श्यामलवर्ण है। उनके गलेमें वनपुष्पोंसे बनी माला शोभा पाती है। शङ्ख, चक्र, गदा एवं पद्म द्वारा उनका चतुर्भुज रूप अत्यधिक स्पष्ट भावसे अभिव्यक्त होता है। उनके सिरपर मुकुट, कानोंमें कुण्डल एवं भुजाओंमें केयूर और वलय एवं कण्ठ कौस्तुभ रत्नसे बने आभूषणों द्वारा सुशोभित हैं। वे पीले रङ्गके रेशमी वस्त्र पहनते हैं। उनकी कमर करधनीसे परिवेष्टित रहती है एवं उनके चरणोंमें उज्ज्वल स्वर्ण नूपुर जगमगाते हैं। सम्पूर्ण लोकोंमें दर्शनीय जो कुछ भी सुन्दर द्रव्य हैं, उनमें श्रीहरि ही सर्वश्रेष्ठ हैं। उनका स्वरूप भक्तोंके शुद्ध मन और

सेवोन्मुख नेत्रोंके लिए आनन्दका वर्द्धन करनेवाला है। वे नखरूपी मणियोंसे सुशोभित चरणकमलों द्वारा अपने भक्तोंके हृदयरूपी कमलके मध्य-भाग स्थित कर्णिकामें अधिकार करके उनकी आत्मामें विराजित रहते हैं। वे वहींसे मृदु मन्द-मुस्कान तथा अनुरागसे रञ्जित कटाक्ष द्वारा भक्तोंके ऊपर कृपा करते हैं। हे वत्स! उन वर देनेवालोंमें श्रेष्ठ श्रीहरिका पूर्वोक्त धारणा द्वारा भलीभाँति संयत एवं एकाग्र चित्तमें विशेष रूपसे ध्यान करना॥ ४५-५१ ॥

एवं भगवतो रूपं सुभद्रं ध्यायतो मनः।
निर्वृत्या परया तूर्णं सम्पन्नं न निवर्तते॥ ५२॥

इस प्रकार भगवान्‌के मङ्गलप्रद रूपका ध्यान करते-करते शीघ्र ही तुम्हारा मन परम शान्त हो जायेगा और वह नित्य-ध्येय वस्तुके ध्यानसे कभी भी नहीं हटेगा॥ ५२॥

जपश्च परमो गुह्यः श्रूयतां मे नृपात्मज।
यं सप्तरात्रं प्रपठन् पुमान् पश्यति खेचरान्॥ ५३॥

हे राजकुमार! जिस मन्त्रका सात रात्रियों तक प्रकृष्ट रूपसे जप करनेपर व्यक्ति आकाशमें विचरण करनेवाले भगवत्-पार्षदोंका दर्शन प्राप्त कर सकता है, मैं तुम्हें वही परमगुह्य मन्त्र प्रदान कर रहा हूँ—तुम उसे सुनो॥ ५३॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।
मन्त्रेणानेन देवस्य कुर्याद् द्रव्यमयीं बुधः।
सपर्यां विविधैर्द्रव्यैर्देशकालविभागवित्॥ ५४॥

'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय'—यही वह मन्त्र है। किस देश और किस कालमें कौन-सी वस्तु उपयोगी है—इसका विचार करनेमें निपुण पण्डित व्यक्तिको इस मन्त्रके द्वारा विभिन्न प्रकारकी सामग्रियोंसे भगवान् वासुदेवकी द्रव्यमयी पूजा करनी चाहिये॥ ५४॥

सलिलैः शुचिभिर्माल्यैर्वन्यैर्मूलफलादिभिः।
शस्ताङ्कुरांशुकैश्चार्चेत् तुलस्या प्रियया प्रभुम्॥ ५५॥

पवित्र जल, पुष्पमाला, वनमें प्राप्त होनेवाले फलमूल आदि, उत्तम दुर्वादि अङ्कुर, वनमें ही प्राप्त होनेवाले वल्कल वस्त्र और उन भगवत्-प्रिय तुलसी आदि पूजाके उपकरणोंके द्वारा भगवान् वासुदेवका अर्चन करना चाहिये॥ ५५॥

लब्ध्वा द्रव्यमयीमर्चां क्षित्यम्ब्वादिषु वार्चयेत्।
आभृतात्मा मुनिः शान्तो यतवाङ्मितवन्यभुक्॥ ५६॥

शिला आदिसे निर्मित श्रीविग्रह प्राप्त होनेपर संयतचित्त, शान्त, मननशील, संयतवाक् तथा सात्त्विक पदार्थोंका परिमित आहार करते हुए उनकी पूजा करना। श्रीविग्रहके अभावमें मिट्टी अथवा जल आदिमें भगवान् श्रीनारायणकी अर्चना करना॥ ५६॥

स्वेच्छावतारचरितैरचिन्त्यनिजमायया ।
करिष्यत्युत्तमःश्लोकस्तद्ध्यायेद्धृदयङ्गमम् ॥ ५७॥

पवित्रकीर्त्ति श्रीभगवान् अचिन्त्य-स्वरूपशक्तिका आश्रय लेकर स्वतन्त्र इच्छावश जो-जो अवतार और लीलाएँ प्रपञ्चमें प्रकट किया करते हैं, तुम उत्तमश्लोक भगवान्‌के उन-उन अवतारों एवं हृदयको मनोहर लगनेवाली उनकी लीलाओंका ध्यान करना॥ ५७॥

परिचर्या भगवतो यावत्यः पूर्वसेविताः।
ता मन्त्रहृदयेनैव प्रयुञ्ज्यान्मन्त्रमूर्तये॥ ५८॥

श्रीभगवान्‌के जितने प्रकारके सेवाके उपचारोंका विधान पूर्व-पूर्व भक्तों द्वारा निर्दिष्ट किया गया है, पूर्वोक्त द्वादशाक्षर मन्त्र द्वारा उन सभी परिचर्याओंको उन मन्त्रमूर्त्ति श्रीभगवान्‌के प्रति अर्पण करना॥ ५८॥

एवं कायेन मनसा वचसा च मनोगतम्।
परिचर्यमाणो भगवान् भक्तिमत्परिचर्यया॥ ५९॥

पुंसाममायिनां सम्यग्भजतां भाववर्द्धनः।
श्रेयो दिशत्यभिमतं यद्धर्मादिषु देहिनाम्॥ ६०॥

पूर्वोक्त प्रणालीके अनुसार काय, मन एवं वाणी द्वारा भगवान्‌की भक्तिपूर्वक परिचर्या करनेसे भगवान् दम्भरहित आराधकको धर्म, अर्थ,

काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थोंमेंसे आराधककी इच्छाके अनुसार फल प्रदान करते हैं। किन्तु जो सम्पूर्ण रूपसे अर्थात् शुद्ध भागवत गुरुका पदाश्रय लेकर भगवत्-अर्चना करते हैं, भगवान् उन्हें मुक्तिसे भी श्रेष्ठ वस्तु प्रेमभक्ति प्रदान करते हैं। इसका कारण है कि भगवान् देहधारी भक्तोंकी भाव-भक्तिको बढ़ानेवाले हैं॥ ५९-६०॥

विरक्तश्चेन्द्रियरतौ भक्तियोगेन भूयसा।
तं निरन्तरभावेन भजेताद्धा विमुक्तये॥ ६१॥

जो आराधक धर्म, अर्थ, कामरूप इन्द्रिय-तर्पण और यहाँ तक कि मोक्षसे भी विरक्त हैं, उन्हें ज्ञान-कर्मादि बाधाओंसे रहित विपुल भक्तियोगके द्वारा ऐकान्तिक भावसे साक्षात् प्रेमभक्ति-प्राप्तिके लिए श्रीहरिका भजन करना चाहिये॥ ६१॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

इत्युक्तस्तं परिक्रम्य प्रणम्य च नृपार्भकः।
ययौ मधुवनं पुण्यं हरेश्चरणचर्चितम्॥ ६२॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! देवर्षि नारदसे इस प्रकार सदुपदेश प्राप्त करनेपर राजकुमार ध्रुवने उन्हें प्रणाम किया और उनकी प्रदक्षिणा की। इसके बाद वे श्रीहरिके चरणचिह्नोंसे अङ्कित परम पवित्र मधुवनकी ओर चले गये॥ ६२॥

तपोवनं गते तस्मिन् प्रविष्टोऽन्तःपुरं मुनिः।
अर्हितार्हणको राज्ञा सुखासीन उवाच तम्॥ ६३॥

बालक ध्रुवके उस मधुवन नामक तपोवनमें चले जानेपर देवर्षि नारदने भी अन्तःपुरमें प्रवेश किया और महाराज उत्तानपादके महलमें पहुँचे। राजा उत्तानपादने उनकी अर्घ्यादिसे पूजा की। पूजा स्वीकार करके वे सुखपूर्वक आसनपर विराजित हुए और राजा उत्तानपादसे कहने लगे॥ ६३॥

श्रीनारद उवाच—

राजन् किं ध्यायसे दीर्घं मुखेन परिशुष्यता।
किंवा न रिष्यते कामो धर्मो वार्थेन संयुतः॥ ६४॥

श्रीनारद मुनिने कहा—हे राजन्! आपका मुख इतना मुरझा क्यों रहा है? इतने समयसे आप क्या चिन्ता कर रहे हैं? आपके धर्म, अर्थ अथवा काममेंसे कुछ नष्ट हो गया है क्या?॥ ६४॥

श्रीराजोवाच—

सुतो मे बालको ब्रह्मन् स्त्रैणेनाकरुणात्मना।
निर्वासितः पञ्चवर्षः सह मात्रा महान् कविः॥ ६५॥

राजाने कहा—हे ब्रह्मन्! मैंने स्त्रीके वशीभूत होकर निष्ठुर हृदयसे अपने पाँच वर्षके सुबुद्धिमान बालक और उसकी माताकी उपेक्षा कर दी॥ ६५॥

अप्यनाथं वने ब्रह्मन् मास्मादन्त्यर्भकं वृकाः।
श्रान्तं शयानं क्षुधितं परिम्लानमुखाम्बुजम्॥ ६६॥

हे ब्रह्मन्! उस अनाथ, सुशील, भूख-प्याससे कुम्हलाये हुए मुखवाले बालकको व्याघ्र आदि हिंसक जन्तुओंने क्या इतने दिनोंमें खा नहीं लिया होगा?॥ ६६॥

अहो मे बत दौरात्म्यं स्त्रीजितस्योपधारय।
योऽङ्कं प्रेम्णारुरुक्षन्तं नाभ्यनन्दमसत्तमः॥ ६७॥

अहो! मैंने स्त्रीके वशीभूत होकर कैसा दौरात्म्य प्रकाश किया है! मेरे असत्-आचरणको तो देखिये, बालकने प्रेमवश मेरी गोदमें बैठनेकी इच्छा की थी, किन्तु मैं ऐसा नराधम हूँ कि मैंने उसका एकबार भी आदर तक नहीं किया॥ ६७॥

श्रीनारद उवाच—

मा मा शुचः स्वतनयं देवगुप्तं विशाम्पते।
तत्प्रभावमविज्ञाय प्रावृङ्क्ते यद्यशो जगत्॥ ६८॥

श्रीनारद ऋषिने कहा—हे प्रजानाथ! आप अपने पुत्रके प्रभावको नहीं जानते हैं। देवता आपके पुत्रकी रक्षा कर रहे हैं। आपके पुत्रका यश जगत्में चारों ओर फैल जायेगा। अतः आप उसके लिए वृथा ही शोक मत कीजिये॥ ६८॥

सुदुष्करं कर्म कृत्वा लोकपालैरपि प्रभुः।
ऐष्यत्यचिरतो राजन् यशो विपुलयंस्तव॥ ६९॥

हे महाराज! जो कार्य बड़े-बड़े लोकपालोंके लिए भी दुष्कर हैं, उस भगवत्-आराधनारूप कर्मका अनुष्ठान करके ध्रुव आपके यशका विस्तार करके शीघ्र ही लौट आयेगा॥ ६९॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

इति देवर्षिणा प्रोक्तं विश्रुत्य जगतीपतिः।
राजलक्ष्मीमनादृत्य पुत्रमेवान्वचिन्तयत्॥ ७०॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! देवर्षि नारदकी इन सब बातोंको सुनकर राजा उत्तानपाद राज्यलक्ष्मी तक का भी अनादर करके निरन्तर पुत्रकी चिन्तामें ही डूबे रहने लगे॥ ७०॥

तत्राभिषिक्तः प्रयतस्तामुपोष्य विभावरीम्।
समाहितः पर्यचरदृष्यादेशेन पूरुषम्॥ ७१॥

इधर ध्रुवने मधुवन पहुँचकर कालिन्दीमें स्नान किया। तदुपरान्त पवित्र एवं संयत भावसे एकाग्रचित्त होकर उसी रातसे ही उपवास करने लगे और देवर्षि नारदके उपदेशानुसार एकाग्रचित्तसे पुरुषोत्तम श्रीहरिकी आराधनामें लग गये॥ ७१॥

त्रिरात्रान्ते त्रिरात्रान्ते कपित्थबदराशनः।
आत्मवृत्त्यनुसारेण मासं निन्येऽर्चयन् हरिम्॥ ७२॥

प्रत्येक तीन रात्रियोंके अन्तरसे बालक ध्रुवने केवल कैथ और बेर खाकर किसी प्रकारसे शरीर-यात्राका निर्वाह करते हुए श्रीहरिकी अर्चनामें एक मास व्यतीत किया॥ ७२॥

द्वितीयञ्च तथा मासं षष्ठे षष्ठेऽर्भको दिने।
तृणपर्णादिभिः शीर्णैः कृतान्नोऽभ्यर्चयन् विभुम्॥ ७३॥

दूसरे मासके आरम्भ होनेपर बालक ध्रुव प्रत्येक छठे दिन वृक्षसे स्वयं गिरे हुए सूखे तृण-पत्रादिका आहार करके भगवान्‌की सेवा करने लगे। इस प्रकार उन्होंने दूसरा मास व्यतीत गया॥ ७३॥

तृतीयञ्चानयन्मासं नवमे नवमेऽहनि।
अब्भक्ष उत्तमःश्लोकमुपाधावत् समाधिना॥ ७४॥

इसके बाद तीसरे मासमें वे प्रत्येक नौ दिनोंके अन्तरमें जल-मात्र पान करके एकाग्रचित्तसे उत्तमश्लोक श्रीभगवान्‌की आराधनामें तत्पर हुए॥ ७४॥

चतुर्थमपि वै मासं द्वादशे द्वादशेऽहनि।
वायुभक्षो जितश्वासो ध्यायन् देवमधारयत्॥ ७५॥

चौथा मास उपस्थित होनेपर उन्होंने प्रत्येक बारह दिनोंके अन्तरमें मात्र वायुका ही भक्षण किया। इस प्रकार श्वासपर जय प्राप्त करते हुए वे ध्यान द्वारा श्रीनारायणकी आराधना करने लगे॥ ७५॥

पञ्चमे मास्यनुप्राप्ते जितश्वासो नृपात्मजः।
ध्यायन् ब्रह्म पदैकेन तस्थौ स्थाणुरिवाचलः॥ ७६॥

पाँचवे मासमें उन्होंने प्राणवायुको जीत लिया और वे राजकुमार ध्रुव एक पैरपर स्तम्भके समान निश्चल भावसे खड़े होकर परब्रह्मका ध्यान करने लगे॥ ७६॥

सर्वतो मन आकृष्य हृदि भूतेन्द्रियाशयम्।
ध्यायन् भगवतो रूपं नाद्राक्षीत् किञ्चनापरम्॥ ७७॥

इस समय वे शब्दादि तन्मात्राओंके तथा चक्षु आदि इन्द्रियोंके विश्रामस्थान मनको विषयोंसे हृदयमें खींचकर केवल भगवत्-रूपका ध्यान करनेमें तत्पर हुए। ध्रुवने भगवान्‌के रूपके अतिरिक्त किसी दूसरे बाह्य विषयकी ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया॥ ७७॥

आधारं महदादीनां प्रधानपुरुषेश्वरम्।
ब्रह्म धारयमाणस्य त्रयो लोकाश्चकम्पिरे॥ ७८॥

जब इस प्रकार ध्रुव प्रकृति एवं पुरुषके ईश्वर अर्थात् 'महत्' आदि सम्पूर्ण तत्त्वोंके आधार परब्रह्मका ध्यान करने लगे, तब उनका तेज सहन करनेमें असमर्थ होनेके कारण तीनों भुवन काँप उठे॥ ७८॥

यदैकपादेन स पार्थिवात्मज-
स्तस्थौ तदङ्गुष्ठनिपीडिता मही।
ननाम तत्रार्द्धमिभेन्द्रधिष्ठिता
तरीव सव्येतरतः पदे पदे॥ ७९॥

राजपुत्र ध्रुव जिस समय एक पैरपर खड़े थे, उस समय उनके अंगुष्ठके भारसे दबकर धरती अर्द्धांशमें एक ओर झुक गयी। ऐसा प्रतीत होने लगा, जैसे गजराज एक छोटी नावपर चढ़कर अपने भारको कभी दायें पैर और कभी बायें पैरपर स्थानान्तिरित कर रहा है तथा उस समय नाव बार-बार डगमगा रही है॥ ७९॥

तस्मिन्नभिध्यायति विश्वमात्मनो
द्वारं निरुध्यासुमनन्यया धिया।
लोका निरुच्छ्‌वासनिपीडिता भृशं
सलोकपालाः शरणं ययुर्हरिम्॥ ८०॥

जिस समय ध्रुव प्राण और प्राणों अर्थात् देहके सभी द्वारोंको रोककर विश्वात्मा भगवान् श्रीविष्णुका अनन्य बुद्धिसे ध्यान करने लगे, उस समय लोकपालोंके साथ सम्पूर्ण लोकोंकी साँस अवरुद्ध हो गयी। इससे वे सब अत्यधिक पीड़ित होकर श्रीहरिके शरणापन्न हुए॥ ८०॥

श्रीदेवा ऊचुः—

नैवं विदामो भगवन् प्राणरोधं
चराचरस्याखिलसत्त्वधाम्नः।
विधेहि तन्नो वृजिनाद्विमोक्षं
प्राप्ता वयं त्वां शरणं शरण्यम्॥ ८१॥

देवताओंने कहा—हे भगवन्! स्थावर और जङ्गम—सभी प्राणियोंका श्वास-प्रश्वास एक साथ अवरुद्ध हो गया है। हमने पहले तो ऐसा कभी भी अनुभव नहीं किया था। आप शरणागतपालक हैं और हम आपके शरणापन्न हैं। आप हमें प्राण-निरोधसे उत्पन्न कष्टसे मुक्त कीजिये॥ ८१॥

श्रीभगवानुवाच—

मा भैष्ट बालं तपसो दुरत्यया-
न्निवर्तयिष्ये प्रतियात स्वधाम।
यतो हि वः प्राणनिरोध आसी-
दौत्तानपादिर्मयि सङ्गतात्मा॥ ८२॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—हे देवताओ! मैं विश्वात्मा हूँ। जिस बालकके कारण तुम्हारा प्राण-निरोध हुआ है, उसे मैं इसी समय इस दुष्कर तपस्यासे निवृत्त करता हूँ। उत्तानपादका पुत्र ध्रुव ध्यान-योगके द्वारा एकान्त भावसे मुझमें ही अपने चित्तको लगाकर अवस्थान कर रहा है, अतएव तुम लोगोंके लिए उससे भयभीत होनेका कोई कारण नहीं है। तुमलोग निश्चिन्त होकर अपने-अपने लोकोंको लौट जाओ॥ ८२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां चतुर्थस्कन्धे श्रीध्रुवचरिते अष्टमोऽध्यायः॥

नवमोऽध्यायः

ध्रुवके द्वारा भगवान्‌की स्तुति और उनका वर प्राप्तकर घर लौटना

श्रीमैत्रेय उवाच—

त एवमुत्सन्नभया उरुक्रमे
कृतावनामाः प्रययुस्त्रिपिष्टपम्।
सहस्रशीर्षापि ततो गरुत्मता
मधोर्वनं भृत्यदिदृक्षया गतः॥ १॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! श्रीहरिके वचनोंसे इन्द्र आदि लोकपाल निर्भय हो गये। श्रीहरिको प्रणामकर वे लोग स्वर्ग-धाम चले गये। इसके बाद गर्भोदकशायीसे अभिन्न सहस्रशीर्षा श्रीनारायण अपने सेवक ध्रुवको देखनेकी इच्छासे गरुड़की पीठपर चढ़कर मधुवनमें उपस्थित हुए॥ १॥

स वै धिया योगविपाकतीव्रया
हृत्पद्मकोषे स्फुरितं तडित्प्रभम्।
तिरोहितं सहसैवोपलक्ष्य
बहिःस्थितं तदवस्थं ददर्श॥ २॥

इधर ध्रुव ध्यान योगकी परिपक्वताके कारण तीव्र अर्थात् सुदृढ़ बुद्धियोगसे अपने हृदयरूपी कमलमें श्रीहरिके विद्युत जैसे देदीप्यमान प्रभासे युक्त जिस रूप-विलासका दर्शन कर रहे थे, वह सहसा ही विलीन हो गया। इससे व्याकुल होकर बालक ध्रुवने जैसे ही आँखें खोलीं, उन्होंने उसी क्षण भगवान्‌के उसी रूपको बाहर अपने सम्मुख प्रकटित देखा॥ २॥

तद्दर्शनेनागतसाध्वसः क्षिता-
ववन्दताङ्गं विनमय्य दण्डवत्।

दृग्भ्यां प्रपश्यन् प्रपिबन्निवार्भक-
श्चुम्बन्निवास्येन भुजैरिवाश्लिषन्॥ ३॥

भगवान्‌का दर्शन पाकर बालक ध्रुव आनन्दसे उत्पन्न सम्भ्रमसे युक्त हो गये। उन्होंने पृथ्वीपर दण्डके समान लेटकर श्रीहरिको प्रणाम किया। इसके बाद बालक ध्रुव भगवान्‌की रूप-माधुरीको इस प्रकार प्रेममयी दृष्टिसे निहारने लगे, मानो अपने नेत्रोंसे उनके मुखकमलका सम्पूर्ण माधुर्य पान कर जायेंगे, अपने मुखसे उनके श्रीचरणकमलोंका चुम्बन कर लेंगे और अपनी भुजाओंके द्वारा उनका आलिङ्गन कर लेंगे॥ ३॥

स तं विवक्षन्तमतद्विदं हरि-
र्ज्ञात्वास्य सर्वस्य च हृद्यवस्थितः।
कृताञ्जलिं ब्रह्ममयेन कम्बुना
पस्पर्श बालं कृपया कपोले॥ ४॥

श्रीहरि समस्त प्राणियोंके हृदयमें विराजमान रहनेवाले अन्तर्यामी पुरुष हैं, अतः ध्रुवके हृदयमें भी वे विद्यमान थे। बालक ध्रुव हाथ जोड़कर उनके सामने खड़े थे और उनकी स्तुति करना चाहते थे, किन्तु किस प्रकार की जाये, वे इसे जानते नहीं थे। सर्वान्तर्यामी श्रीहरि ध्रुवकी अभिलाषा समझ गये, इसलिए उन दयामय श्रीहरिने कृपापरवश होकर 'वेदात्मक शंख' को ध्रुवके कपोलपर स्पर्श करा दिया॥ ४॥

स वै तदैव प्रतिपादितां गिरं
दैवीं परिज्ञातपरात्मनिर्णयः।
तं भक्तिभावोऽभ्यगृणादसत्वरं
परिश्रुतोरुश्रवसं ध्रुवक्षितिः॥ ५॥

भगवान्‌के शङ्खके स्पर्शमात्रसे ही बालक ध्रुवकी भगवत्-विषयिनी वाक्-शक्ति उत्पन्न हो गयी और उनके हृदयमें परमात्मा एवं जीवात्मा विषयक सम्बन्ध-ज्ञानकी स्फूर्ति हो गयी। भविष्यमें अविचल पदकी प्राप्तिके लिए ध्रुव भक्तिजनित प्रेमसे ओत-प्रोत होकर धैर्यपूर्वक विश्वविख्यात विपुल-कीर्त्ति श्रीभगवान्‌की स्तुति करने लगे॥ ५॥

श्रीध्रुव उवाच—

योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां
सञ्जीवयत्यखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना।
अन्यांश्च हस्तचरणश्रवणत्वगादीन्
प्राणान् नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम्॥ ६॥

बालक ध्रुवने कहा—जो पुरुष चक्षु आदि सम्पूर्ण ज्ञान एवं क्रियाशक्ति धारण करते हैं, जिन्होंने मेरे अन्तःकरणमें प्रविष्ट होकर मेरी सुप्त वाणीको सञ्जीवित किया है तथा जिन्होंने मेरे हाथ-पैर-नाक-कान-त्वचा आदि अन्यान्य इन्द्रियोंको चेतनता प्रदान की है, आप वही सर्वान्तर्यामी पुरुष हैं। मैं आपको प्रणाम करता हूँ॥ ६॥

एकस्त्वमेव भगवन्निदमात्मशक्त्या
मायाख्ययोरुगुणया महदाद्यशेषम्।
सृष्ट्वानुविश्य पुरुषस्तदसद्गुणेषु
नानेव दारुषु विभावसुवद्विभासि॥ ७॥

हे भगवन्! एकमात्र आप ही अपनी विचित्र गुणमयी मायाशक्तिके द्वारा इस 'महत्' आदि सम्पूर्ण विश्वकी सृष्टि करके इसमें अन्तर्यामी रूपसे प्रवेश करते हैं। जिस प्रकार एक ही अग्नि बहुत प्रकारकी लकड़ियोंके आश्रयसे विविध रूपोंमें प्रतीत होती है, उसी प्रकार आप भी उन्मुख एवं विमुख जीवोंकी विभिन्न इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ देवताओंके रूपोंमें विभिन्न प्रकारसे प्रकाशित होते हैं॥ ७॥

त्वद्दत्तया वयुनयेदमचष्ट विश्वं
सुप्तप्रबुद्ध इव नाथ भवत्प्रपन्नः।
तस्यापवर्ग्यशरणं तव पादमूलं
विस्मर्यते कृतविदा कथमार्त्तबन्धो॥ ८॥

हे आर्त्तबन्धो! सृष्टिके आरम्भमें ब्रह्माजीके आपके प्रति शरणागत होनेपर आपने उन्हें जो ज्ञान प्रदान किया था, उसी ज्ञानके द्वारा उन्होंने शयन अवस्थासे उठे हुए पुरुषके समान इस विश्वको देखा

था। हे नाथ! आपके चरणकमल मुक्तजनोंके भी आश्रय हैं, अतः जो आपके द्वारा सब प्रकारसे उपकृत हैं, वे कृतज्ञ मुक्तपुरुष आपके श्रीचरणकमलोंको कैसे भूल सकते हैं?॥ ८॥

नूनं विमुष्टमतयस्तव मायया ते
ये त्वां भवाप्ययविमोक्षणमन्यहेतोः।
अर्चन्ति कल्पकतरुं कुणपोपभोग्य-
मिच्छन्ति यत् स्पर्शजं नरकेऽपि नृणाम्॥ ९॥

आप जीवोंको जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त करके उन्हें अपनी नित्य सेवा प्रदान करते हैं। हे प्रभो! आप वाञ्छाकल्पतरु हैं। जो आपकी नित्यसेवा-प्राप्तिके अतिरिक्त अन्य किसी कामनाके उद्देश्यसे आपकी आराधना करते हैं, उनकी बुद्धि निश्चय ही मायाके द्वारा ठगी गयी है, क्योंकि वे शवतुल्य शारीरिक भोगोंके उपभोगके लिए ही लालायित रहते हैं। इन्द्रिय एवं विषय-संसर्गजनित सुखभोग तो प्राणियोंको नरकमें भी प्राप्त हो जाते हैं॥ ९॥

या निर्वृतिस्तनुभृतां तव पादपद्म-
ध्यानाद्भवज्जनकथाश्रवणेन वा स्यात्।
सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ माभूत्
किंवन्तकासि-लुलितात् पततां विमानात्॥ १०॥

हे नाथ! आपके श्रीचरणकमलोंका ध्यान करनेसे एवं आपके निजजनों सहित आपकी अथवा आपके भक्तोंकी चरित्र-कथाएँ सुननेसे जो आनन्द प्राप्त होता है, वह ब्रह्मानन्दमें भी अनुभूत नहीं हो सकता, तो फिर जिन्हें कालरूपी तलवार काट डालती है, उन स्वर्गीय विमानोंसे मर्त्यलोकमें गिरनेवाले देवताओंको वह सुख मिल ही कैसे सकता है?॥ १०॥

भक्तिं मुहुः प्रवहतां त्वयि मे प्रसङ्गो
भूयादनन्त महताममलाशयानाम्।
येनाञ्जसोल्बणमुरुव्यसनं भवाब्धिं
नेष्ये भवद्गुणकथामृतपानमत्तः॥ ११॥

हे अनन्त! मुझपर इतना अनुग्रह कीजिये कि जो शुद्धात्मा पुरुष निरन्तर आपकी भक्ति करते हैं, मुझे उन साधु-महात्माओंका वास्तविक सङ्ग प्राप्त हो। ऐसे महत्-सङ्गके प्रभावसे मैं आपके गुण-कथामृतका पान करके उन्मत्त होकर अतिशय दुःखोंसे परिपूर्ण इस भीषण संसार-समुद्रको अनायास ही पार कर सकूँगा॥ ११॥

ते न स्मरन्त्यतितरां प्रियमीश मर्त्यं
ये चान्वदः सुतसुहृद्गृहवित्तदाराः।
ये त्वब्जनाभ भवदीयपदारविन्द-
सौगन्ध्यलुब्धहृदयेषु कृतप्रसङ्गाः॥ १२॥

हे ईश! हे पद्मनाभ! जो आपके चरणकमलोंकी सुगन्धके लोभी महात्माओंका यथार्थमें सङ्ग प्राप्त करते हैं, वे अत्यन्त प्रिय इस देहको एवं इससे सम्बन्धित पुत्र, सुहृत्, गृह, धन एवं स्त्री आदिकी किञ्चित्मात्र भी चिन्ता नहीं करते॥ १२॥

तिर्यङ्नग-द्विज-सरीसृप-देव-दैत्य-
मर्त्यादिभिः परिचितं सदसद्विशेषम्।
रूपं स्थविष्ठमज ते महदाद्यनेकं
नातः परं परम वेद्मि न यत्र वादः॥ १३॥

हे अजन्मा! हे परमेश्वर! आपका यह विराट् स्वरूप पशु, पक्षी, वृक्ष-पर्वत, सरीसृप, देवता, दैत्य एवं मनुष्य आदिसे परिपूर्ण है। इसमें स्थूल एवं सूक्ष्मादि तथा सत् एवं असत् पदार्थ परस्पर पृथक् रूपसे प्रकाशमान हैं। इस स्वरूपके महदादि अनेक कारण भी वर्त्तमान हैं। मैं आपके इसी स्थूल विश्वरूपको जानता हूँ। किन्तु, इससे परे जो आपका ईश्वर स्वरूप और शब्दादि क्रिया शून्य ब्रह्मस्वरूप है—मैं उससे अवगत नहीं हूँ॥ १३॥

कल्पान्त एतदखिलं जठरेण गृह्णन्
शेते पुमान् स्वदृगनन्तसखस्तदङ्के।
यन्नाभिसिन्धुरुहकाञ्चनलोकपद्म-
गर्भे द्युमान् भगवते प्रणतोऽस्मि तस्मै॥ १४॥

प्रलयकालमें जिस पुरुषने अपने हृदयमें सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको लीन करके योगनिद्राका आश्रय लेकर शेषशय्यापर शयन किया था एवं उस समय जिनके नाभिसमुद्रसे उत्पन्न स्वर्णमय लोकपद्मकी कर्णिकामें परम तेजस्वी ब्रह्माजीने जन्म-ग्रहण किया था, मैं उन्हीं भगवान् वासुदेवको प्रणाम करता हूँ॥ १४॥

त्वं नित्यमुक्तपरिशुद्धविबुद्ध आत्मा
कूटस्थ आदिपुरुषो भगवांस्त्र्यधीशः।
यद्बुद्ध्यवस्थितिमखण्डितया स्वदृष्ट्या
द्रष्टा स्थितावधिमखो व्यतिरिक्त आस्से॥ १५॥

हे देव! आप नित्यमुक्त हैं, जीव आपके अनुग्रहसे ही इस संसारके जड़ीय बन्धनोंसे मुक्त होकर अपने स्वरूपमें अवस्थित हो सकता है। आप परम शुद्धसत्त्वमय हैं, जीव मलिन है। आप सर्वज्ञ हैं, जीव अल्पज्ञ है। आप मायाधीश हैं, जीव मायाके वश होने योग्य है। आप निर्विकार हैं, जीव मायाके संस्पर्शसे अपने स्वरूपको भूल जानेवाला है। आप जन्मरहित आदिपुरुष हैं, जीव जन्मयुक्त है। आप पूर्ण ऐश्वर्यशाली हैं, स्वरूपमें अवस्थित होनेपर भी जीव आपकी तुलनामें स्वल्प ऐश्वर्यशाली ही रहता है। आप त्रिगुणोंके अधीश्वर स्वतन्त्र पुरुष हैं, जीव गुणोंके द्वारा अभिभूत होने योग्य है। आप अपनी अखण्डित चिन्मय दृष्टि द्वारा बुद्धिकी समस्त अवस्थाओंका दर्शन करते हैं। आप विश्वके पालनके लिए यज्ञाधिष्ठाता श्रीविष्णुरूपमें विराजमान हैं। अतः आप जीवसे सम्पूर्ण रूपमें विलक्षण हैं॥ १५॥

यस्मिन् विरुद्धगतयो ह्यनिशं पतन्ति
विद्यादयो विविधशक्तय आनुपूर्वात्।
तद्ब्रह्म विश्वभवमेकमनन्तमाद्य-
मानन्दमात्रमविकारमहं प्रपद्ये॥ १६॥

जिनसे परस्पर विरुद्ध स्वभाववाली विद्या एवं अविद्यादि विविध शक्तियाँ धाराप्रवाह रूपमें निरन्तर उत्पन्न हो रही हैं, मैं उन्हीं विश्वके कारणभूत, अखण्ड, अनन्त, अनादि, आनन्दमात्र, अविकारी, परब्रह्म श्रीभगवान्के चरणोंकी शरण ग्रहण करता हूँ॥ १६॥

सत्याशिषो हि भगवंस्तव पादपद्म-
माशीस्तथानुभजतः पुरुषार्थमूर्तेः।
अप्येवमर्य भगवान् परिपाति दीनान्
वाश्रेव वत्सकमनुग्रहकातरोऽस्मान्॥ १७॥

हे भगवन्! जो आपको ही एकमात्र पुरुषार्थ जानकर परमानन्द-स्वरूप आपका भजन करते हैं, उनके लिए राज्य आदिकी अपेक्षा आपके चरणकमल ही परमार्थ-फलस्वरूप होते हैं। (मैंने तो अज्ञ होनेके कारण राज्य आदिके लोभसे आपका भजन किया था, तथापि आप सकाम भजन करनेवाले मुझे निष्काम भक्तों द्वारा प्राप्य आपके चरणकमलोंका किञ्चित् माधुर्य-प्रदान करके प्रतिपालन कीजिये।) इसका कारण है कि आप अनुग्रह करनेके लिए कातर रहते हैं। अतः यह सोचकर कि 'यद्यपि बालक होनेके कारण यह मेरी शुद्धभक्तिके विषयमें नहीं जानता है, तथापि मैं इसे भक्तिके फल—माधुर्यका ही आस्वादन कराऊँगा।' नवजात बछड़ेको जन्म देनेवाली गाय जैसे अज्ञ बछड़े द्वारा अपनी सेवा न किये जानेपर भी उसे दूध पान कराती है तथा व्याघ्र आदिसे उसकी रक्षा करती है, उसी प्रकार आप भी मुझे अपने श्रीचरणकमलोंकी भक्तिके माधुर्यका आस्वादन करवाइये तथा सकाम भक्तिरूपी विघ्नसे मेरी रक्षा कीजिये॥ १७॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

अथाभिष्टुत एवं वै सत्सङ्कल्पेन धीमता।
भृत्यानुरक्तो भगवान् प्रतिनन्द्येदमब्रवीत्॥ १८॥

श्रीमैत्रेयी ऋषिने कहा—हे विदुर! दृढ़-सङ्कल्पवान परम बुद्धिमान ध्रुवने जब इस प्रकार स्तुति की, तब भक्तवत्सल श्रीभगवान् ध्रुवकी प्रार्थनाका अनुमोदन करते हुए कहने लगे॥ १८॥

श्रीभगवानुवाच—

वेदाहं ते व्यवसितं हृदि राजन्यबालक।
तत् प्रयच्छामि भद्रं ते दुरापमपि सुव्रत॥ १९॥
नान्यैरधिष्ठितं भद्र यद्भ्राजिष्णु ध्रुवक्षिति।

यत्र ग्रहर्क्षताराणां ज्योतिषां चक्रमाहितम्।
मेध्यां गोचक्रवत् स्थास्नु परस्तात् कल्पवासिनाम्॥ २०॥
धर्मोऽग्निः कश्यपः शुक्रो मुनयो ये वनौकसः।
चरन्ति दक्षिणीकृत्य भ्रमन्तो यत् सतारकाः॥ २१॥

हे राजकुमार! हे सुव्रत! तुम्हारा मङ्गल हो। मैं तुम्हारे मनोऽभीष्टको जान गया हूँ। मैं तुम्हें जो समुज्ज्वल पद प्रदान कर रहा हूँ, वह पद महाप्रलयमें भी नष्ट नहीं होगा। हे भद्र! इस अविनाशी लोकपर आज तक अन्य कोई भी अधिकार करनेमें समर्थ नहीं हो सका है। इसके चारों ओर ग्रह, नक्षत्र और तारागणसे समन्वित शिशुमा नामक ज्योतिश्चक्र सर्वदा संलग्न रहकर उसी प्रकार चक्कर काटा करते हैं, जिस प्रकार मेधीके[१] चारों ओर दँवरीके बैल घूमते हैं। महाकल्प तक अर्थात् कल्पके अन्त तक वास करनेवालोंके नष्ट होनेपर भी वह लोक नष्ट नहीं होता। धर्म, अग्नि, कश्यप, इन्द्र, वानप्रस्थी मुनिवृन्द एवं सप्तर्षिगण तारोंके साथ निरन्तर उस स्थानकी प्रदक्षिणा करते हुए भ्रमण करते रहते हैं। हे ध्रुव! मैं तुम्हें उसी दुष्प्राप्य स्थानको प्रदान करता हूँ॥ १९-२१॥

प्रस्थिते तु वनं पित्रा दत्त्वा गां धर्मसंश्रयः।
षट्त्रिंशद्वर्षसाहस्रं रक्षिताऽव्याहतेन्द्रियः॥ २२॥

हे वत्स! तुम्हारे पिता तुम्हें पृथ्वीका शासन-भार देकर वनमें चले जायेंगे। तुम धर्मका भलीभाँति आश्रय लेकर स्थिर चित्तसे छत्तीस हजार वर्षों तक उस राज्यकी रक्षा करोगे॥ २२॥

त्वद्भ्रातर्युत्तमे नष्टे मृगयायान्तु तन्मनाः।
अन्वेषन्ती वनं माता दावाग्निं सा प्रवेक्ष्यति॥ २३॥

(तुम्हारे और तुम्हारी माताके प्रति अपराध करनेवाली सुरुचिकी जो अवस्था होगी, उसे श्रवण करो।) इसके बाद किसी समय तुम्हारा (सौतेला) भाई उत्तम शिकार खेलता हुआ मारा जायेगा और उसकी

---

[१] कटी हुई फसल धान, गेहूँ आदिकी मड़वाईके लिए जिस खम्भेमें बैलोंको बाँधा जाता है।

माता सुरुचि पुत्रप्रेममें विह्वल होकर उसे वनमें खोजती हुई दावानलमें प्रवेश कर जायेगी॥ २३॥

इष्ट्वा मां यज्ञहृदयं यज्ञैः पुष्कलदक्षिणैः।
भुक्त्वा चेहाशिषः सत्या अन्ते मां संस्मरिष्यसि॥ २४॥

यज्ञ ही मेरी प्रियमूर्त्ति-स्वरूप है। अतएव तुम बड़ी-बड़ी दक्षिणाओंसे युक्त यज्ञोंके द्वारा मेरी आराधना करके इस लोकमें उत्तम भोगोंकी प्राप्ति करोगे और अन्त समयमें मुझे अपनी स्मृतिपथमें धारण करनेमें समर्थ हो सकोगे॥ २४॥

ततो गन्तासि मत्स्थानं सर्वलोकनमस्कृतम्।
उपरिष्टादृषिभ्यस्त्वं यतो नावर्त्तते यतिः॥ २५॥

इसके बाद तुम समस्त लोकोंके द्वारा वन्दनीय एवं सप्त-ऋषियोंके स्थानके ऊपर स्थित मेरे निज धाम (ध्रुवलोक) में जा पाओगे। यतिगण उस धाममें पहुँचकर पुनः वहाँसे च्युत नहीं होते॥ २५॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

इत्यर्चितः स भगवानतिदिश्यात्मनः पदम्।
बालस्य पश्यतो धाम स्वमगाद्गरुडध्वजः॥ २६॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! इस प्रकार बालक ध्रुवके द्वारा पूर्वोक्त प्रकारसे पूजित होकर भगवान् गरुड़ध्वजने उसे अपना परमपद प्रदान किया और उसके देखते-देखते ही वेअपने लोकको चले गये॥ २६॥

सोऽपि सङ्कल्पजं विष्णोः पादसेवोपसादितम्।
प्राप्य सङ्कल्पनिर्वाणं नातिप्रीतोऽभ्यगात् पुरम्॥ २७॥

बालक ध्रुवने श्रीहरिके जिन चरणकमलोंकी सेवा प्राप्त की, उसके प्राप्त होनेपर जीवोंके समस्त बहिर्मुख सङ्कल्पोंकी समाप्ति हो जाती है। इस प्रकार यद्यपि ध्रुवने अपना मनोऽभीष्ट प्राप्त कर लिया, तथापि उनका चित्त प्रसन्न नहीं हुआ। वे अप्रसन्न चित्तसे ही पिताके भवनकी ओर लौट आये॥ २७॥

श्रीविदुर उवाच—

सुदुर्लभं यत् परमं पदं हरे-
र्मायाविनस्तच्चरणार्चनार्जितम् ।
लब्ध्वाप्यसिद्धार्थमिवैकजन्मना
कथं स्वमात्मानममन्यतार्थवित्॥ २८॥

श्रीविदुरने जिज्ञासा की—हे महर्षि मैत्रेय! परमपद श्रीहरिका धाम सकाम व्यक्तियोंके लिए सुदुर्लभ है, किन्तु पुरुषार्थ-तत्त्ववित् ध्रुव उस परमपदको एक ही जन्ममें ही प्राप्त करनेपर भी स्वयंको किसलिए अपरिपूर्ण मनोरथवाला मान रहे थे?॥ २८॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

मातुः सपत्न्या वाग्बाणैर्हृदि विद्धस्तु तान् स्मरन्।
नैच्छन्मुक्तिपतेर्मुक्तिं पश्चात्तापमुपेयिवान्॥ २९॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—सौतेली माताके वाक्-बाणोंसे ध्रुवका हृदय विद्ध हो गया था, इसलिए उन्होंने उस समय शुद्धभक्तिकी इच्छा नहीं की थी। उन्होंने तत्क्षणात् मधुवनमें आकर 'मेरे पिता-पितामह आदिके लिए भी दुर्लभ सर्वश्रेष्ठ उच्च पदकी प्राप्तिके लिए मैं श्रीभगवान्की सेवा करूँगा'—इस प्रकार सङ्कल्प करके तपस्या की थी। किन्तु भगवान्के साक्षात् दर्शनके समय जब भगवान्ने उन्हें कहा कि 'मैं तुम्हारे चित्तकी अभिलाषाको जानता हूँ'। तब उन्हें अपने पूर्व सङ्कल्पका स्मरण हो आया, वे मन-ही-मन सोचने लगे 'मेरी सकाम कामनारूप व्यभिचारको मेरे प्रभु जानते हैं'—यह विवेचना करके वे लज्जित होकर अनुताप करके कहने लगे—'हाय! हाय! दुर्बुद्धियुक्त मैंने किसलिए इस प्रकारका सङ्कल्प किया, मैंने अभी भजनपरायण भक्तोंके सङ्गके लिए जो प्रार्थना की है, प्रभुने उसे मेरी कपटता ही समझा है, इसलिए उन्होंने इस प्रार्थनाके अनुरूप स्पष्ट रूपसे कुछ न कहकर मुझे मेरे पूर्व सङ्कल्पके अनुसार ही वर प्रदान किया है। पुनः 'तुम्हारे भाई उत्तमके मारे जानेपर'—ऐसा कहकर उन्होंने मुझे मेरे मात्सर्यका भी स्मरण कराया था।' इस प्रकार उस समय लज्जा, अनुताप, दैन्य और निर्वेदके उदित होनेके कारण वे मुक्तिपति भगवान्

श्रीहरिसे अपने स्वरूपमें अवस्थितिकी प्रार्थना नहीं कर सके, इसीलिए उन्हें बादमें पश्चाताप हो रहा था॥ २९॥

श्रीध्रुव उवाच—

समाधिना नैकभवेन यत्पदं
विदुः सनन्दादय ऊर्ध्वरेतसः।
मासैरहं षड्भिरमुष्य पादयो-
श्छायामुपेत्यापगतः पृथङ्मतिः॥ ३०॥

बालक ध्रुवने मन-ही-मन दुःखी होते हुए विचार किया—अहो! बड़े दुःखकी बात है? नैष्ठिक ब्रह्मचारी सनन्दनादि मुनि भी बहुत जन्मों तक अभ्यस्त सुदृढ़ समाधि द्वारा जिस पदके विषयमें जान पाते हैं, मैं मात्र छह महीनोंमें ही उन भगवान्‌के चरणकमलोंकी छाया प्राप्त करके भी द्वितीयाभिनिवेशके कारण उस पदसे विच्युत होकर पुनः संसारमें ही निमग्न हो गया॥ ३०॥

अहो बत ममानात्म्यं मन्दभाग्यस्य पश्यतः।
भवच्छिदः पादमूलं गत्वा याचे यदन्तवत्॥ ३१॥

अहो! मैं बड़ा ही दुर्भागा हूँ। मेरी मूढ़ता तो देखो, मैंने संसारबन्धनका नाश करनेवाले श्रीहरिके चरणकमलोंमें उपस्थित होकर—वैष्णवी दीक्षा प्राप्त करके भी नश्वर पदार्थोंकी प्राप्तिके लिए ही सङ्कल्प किया था॥ ३१॥

मतिर्विदूषिता देवैः पतद्भिरसहिष्णुभिः।
यो नारदवचस्तथ्यं नाग्रहीषमसत्तमः॥ ३२॥

मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि मेरे दृढ़व्रतके कारण देवताओंको मेरी अपेक्षा निम्न लोककी प्राप्ति हो रही थी, (क्योंकि उन्हें तो एक-न-एक दिन स्वर्गभोगके पश्चात् नीचे गिरना ही था।) इसीलिए उन्होंने असहिष्णुतावशतः मेरी बुद्धिको विकृत कर दिया था। अन्यथा मुझ नीच व्यक्तिने देवर्षि नारदके हितकर वचनोंको अस्वीकार क्यों कर दिया?॥ ३२॥

दैवीं मायामुपाश्रित्य प्रसुप्त इव भिन्नदृक्।
तप्ये द्वितीयेऽप्यसति भ्रातृभ्रातृव्यहृद्रुजा॥ ३३॥

यद्यपि अद्वयज्ञान भगवान्‌के अतिरिक्त दूसरी किसी वस्तुकी सत्ता नहीं है, तथापि सोया हुआ व्यक्ति जिस प्रकार भेद-दृष्टिके कारण व्याघ्र आदि द्वितीय वस्तुके न रहनेपर भी व्यर्थ ही उसकी कल्पना करके भयवशतः दुःखका अनुभव करता है, उसी प्रकार मैंने भी दैवी-मायासे मोहित होकर दूसरी वस्तुकी कल्पनाकर अपने भ्राताको शत्रु मान लिया और उसी कारण मानसिक तापसे जल रहा हूँ॥ ३३॥

मयैतत् प्रार्थितं व्यर्थं चिकित्सेव गतायुषि।
प्रसाद्य जगदात्मानं तपसा दुष्प्रसादनम्।
भवच्छिदमयाचेऽहं भवं भाग्यविवर्जितः॥ ३४॥

जगत्‌के आत्मा-स्वरूप संसार-निवर्त्तक भगवान् श्रीहरिको तपस्याके द्वारा प्रसन्न करना भी बड़ा ही कठिन है, किन्तु मैंने तो उन श्रीहरिको प्रसन्न करके भी उनसे उस असत् संसारकी ही प्रार्थना की। ओह! जिस प्रकार गतायु[१] व्यक्तिकी चिकित्सा निष्फल होती है, उसी प्रकार मेरा प्रार्थित विषय भी निरर्थक हो गया॥ ३४॥

स्वाराज्यं यच्छतो मौढ्यान्मानो मे भिक्षितो बत।
ईश्वरात् क्षीणपुण्येन फलीकारानिवाधनः॥ ३५॥

हाय! हाय! जिस प्रकार कोई निर्धन व्यक्ति किसी चक्रवर्ती राजाको प्रसन्न करके उससे भूसीयुक्त चावलोंकी कनीकी याचना करता है, उसी प्रकार मैं भी इतना अधिक दुष्कृतिशाली हूँ कि मुझे सेवानन्द प्रदान करनेके लिए आग्रह करनेवाले श्रीहरिसे मैंने अपनी मूढ़ताके कारण अभिमान बढ़ानेवाला तुच्छ असत् राज्यादि ही माँगा॥ ३५॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

न वै मुकुन्दस्य पदारविन्दयो
रजोजुषस्तात भवादृशा जनाः।

---

[१] जिसकी आयु समाप्त हो चुकी हो।

वाञ्छन्ति तद्दास्यमृतेऽर्थमात्मनो
यदृच्छया लब्धमनःसमृद्धयः॥ ३६॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—वत्स विदुर! तुम्हारे जैसे भक्त जो श्रीमुकुन्दके चरणकमलके परागके रसका ही आस्वादन करनेवाले मधुकर हैं तथा जो प्रभुकी चरणरजका ही सदा-सर्वदा सेवन किया करते हैं, वे भगवान्से उनके नित्य-दास्यके अतिरिक्त अपने लिए कुछ भी नहीं माँगते। उन्हें अपने-आप जो वस्तु प्राप्त हो जाती है, उसीको वे श्रीहरिका प्रसाद मान लेते हैं और उसीमें उनका चित्त पूर्ण रूपसे सन्तुष्ट रहता है॥ ३६॥

आकर्ण्यात्मजमायान्तं सम्परेत्य यथागतम्।
राजा न श्रद्दधे भद्रमभद्रस्य कुतो मम॥ ३७॥

इधर जब राजा उत्तानपादने सुना कि उनका पुत्र ध्रुव घर लौट रहा है, तो उन्हें उसी प्रकार इस बातका विश्वास नहीं हुआ, जिस प्रकार मृत व्यक्तिके यमलोकसे आनेकी बातको सुनकर कोई विश्वास नहीं करता। वे सोच रहे थे कि 'मैं नितान्त अभद्र हूँ, मेरे मङ्गल होनेकी सम्भावना ही कहाँ है?'॥ ३७॥

श्रद्धाय वाक्यं देवर्षेर्हर्षवेगेन धर्षितः।
वार्ताहर्तुरतिप्रीतो हारं प्रादान्महाधनम्॥ ३८॥

फिर उन्हें देवर्षि नारदकी बात याद आ गयी। वे कहकर गये थे—'तुम्हारा पुत्र शीघ्र ही लौटेगा।' राजा उत्तानपाद देवर्षिके कथनपर विश्वासकर अत्यन्त प्रसन्नताके कारण पहले तो अपनेको धिक्कारते रहे, किन्तु बादमें अत्यन्त प्रसन्न होकर उन्होंने सन्देशवाहक दूतको एक महामूल्यवान हार पुरस्कारमें दिया॥ ३८॥

सदश्वं रथमारुह्य कार्त्तस्वरपरिष्कृतम्।
ब्राह्मणैः कुलवृद्धैश्च पर्यस्तोऽमात्यबन्धुभिः॥ ३९॥

शङ्खदुन्दुभिनादेन ब्रह्मघोषेण वेणुभिः।
निश्चक्राम पुरात् तूर्णमात्मजावेक्षणोत्सुकः॥ ४०॥

राजा उत्तानपाद पुत्रका मुख देखनेके लिए बड़े ही उत्सुक हो उठे। उन्होंने ब्राह्मण, कुलके बड़े-बूढ़े, मन्त्रियों और बन्धु-बान्धवोंको साथ लिया और एक स्वर्णभूषित उत्तम वेगवान सुन्दर घोड़ोंसे युक्त रथपर सवार होकर झटपट नगरसे बाहर निकल आये। उनके आगे-आगे उच्चस्वरसे वेद-ध्वनि हो रही थी और शङ्ख, दुन्दुभि एवं वेणु आदि वाद्य बज रहे थे॥ ३९-४०॥

सुनीतिः सुरुचिश्चास्य महिष्यौ रुक्मभूषिते।
आरुह्य शिबिकां सार्द्धमुत्तमेनाभिजग्मतुः॥ ४१॥

राजाकी दोनों रानियाँ सुनीति एवं सुरुचि स्वर्णाभूषणोंसे अलंकृत होकर एक पालकीपर चढ़ी एवं उत्तमको साथ लेकर ध्रुवको देखनेके लिए चल पड़ीं॥ ४१॥

तं दृष्ट्वोपवनाभ्यास आयान्तं तरसा रथात्।
अवरुह्य नृपस्तूर्णमासाद्य प्रेमविह्वलः॥ ४२॥
परिरेभेऽङ्गजं दोर्भ्यां दीर्घोत्कण्ठमनाः श्वसन्।
विष्वक्सेनाङ्घ्रिसंस्पर्श-हताशेषाघबन्धनम्॥ ४३॥

सर्वप्रथम राजा उत्तानपादने देखा कि ध्रुव उपवनके समीप आ गया है, यह देख स्नेहसे विह्वल होकर वे झट रथसे उतर पड़े। बहुत समयसे ध्रुवको देखनेकी तीव्र उत्कण्ठावशतः राजाने लम्बी-लम्बी साँसें छोड़ते हुए बड़े वेगसे अपनी दोनों भुजाओंके द्वारा पुत्रका आलिङ्गन कर लिया। उस समय बालक ध्रुवके हृदयमें किसी प्रकारका राग-द्वेष नहीं था। भगवान् श्रीनारायणके परम पुनीत चरणकमलोंके स्पर्शसे ध्रुवके समस्त बन्धन नष्ट हो चुके थे॥ ४२-४३॥

अथाजिघ्रन् मुहुर्मूर्ध्नि शान्तैर्नयनवारिभिः।
स्नापयामास तनयं जातोद्दाम-मनोरथः॥ ४४॥

पुत्र-प्राप्तिरूपी महान् मनोरथके पूर्ण होनेपर राजा उत्तानपाद अपने पुत्रके सिरको बार-बार सूँघने लगे। प्रेम एवं आनन्दके कारण प्रवाहित अश्रुओंकी शीतल धारासे उन्होंने ध्रुवको स्नान करा दिया॥ ४४॥

अभिवन्द्य पितुः पादावाशीर्भिश्चाभिमन्त्रितः।
ननाम मातरौ शीर्ष्णा सत्कृतः सज्जनाग्रणीः॥ ४५॥

सज्जनोंमें अग्रगण्य बालक ध्रुवने सर्वप्रथम पिताके चरणोंकी वन्दना की। उत्तानपादने उन्हें आशीर्वाद दिया और कुशल-क्षेम आदिके विषयमें पूछकर उनसे वार्त्तालाप किया। पितासे आशीर्वाद प्राप्त करनेके पश्चात् बालक ध्रुवने भूमिपर गिरकर दोनों माताओंको प्रणाम किया॥ ४५॥

सुरुचिस्तं समुत्थाप्य पादावनतमर्भकम्।
परिष्वज्याह जीवेति बाष्पगद्गदया गिरा॥ ४६॥

सुरुचिने अपने पैरोंमें झुके हुए बालकको प्रसन्नतापूर्वक उठाया और अपनी छातीसे लगा लिया। उसने आँसु बहाते हुए गद्गद स्वरसे अर्द्ध-स्फुरित वाणी द्वारा 'चिरञ्जीवी हो' कहकर ध्रुवको आशीर्वाद दिया॥ ४६॥

यस्य प्रसन्नो भगवान् गुणैर्मैत्र्यादिभिर्हरिः।
तस्मै नमन्ति भूतानि निम्नमाप इव स्वयम्॥ ४७॥

श्रीहरि जिन मनुष्योंके मैत्री आदि गुणोंसे प्रसन्न हो जाते हैं, समस्त जीव भी उनके सम्मुख नीचेकी ओर बहनेवाली जलधाराकी स्वाभाविक गतिके समान झुक जाते हैं॥ ४७॥

उत्तमश्च ध्रुवश्चेतावन्योन्यं प्रेमविह्वलौ।
अङ्गसङ्गादुत्पुलकावस्रौघं मुहुरूहतुः॥ ४८॥

इसके बाद उत्तम एवं ध्रुव दोनोंने ही प्रेमविह्वल होकर एक-दूसरेका आलिङ्गन किया। एक दूसरेके अङ्ग-स्पर्शसे दोनोंके ही शरीरोंमें रोमाञ्च हो आया। दोनोंकी ही आँखोंसे बार-बार आनन्दाश्रुओंकी धारा प्रवाहित होने लगी॥ ४८॥

सुनीतिरस्य जननी प्राणेभ्योऽपि प्रियं सुतम्।
उपगुह्य जहावाधिं तदङ्गस्पर्शनिर्वृता॥ ४९॥

बालक ध्रुवकी माता सुनीतिने अपने प्राणोंसे भी अधिक प्रिय पुत्रको गोदमें बिठा लिया एवं बालकके सुकोमल अङ्गोंके स्पर्शसे उन्हें परम आनन्दकी प्राप्ति हुई और उनके मनकी सारी व्यथा दूर हो गयी॥ ४९ ॥

पयः स्तनाभ्यां सुस्राव नेत्रजैः सलिलैः शिवैः।
तदाभिषिच्यमानाभ्यां वीर वीरसुवो मुहुः॥ ५० ॥

हे वीरवर विदुर! उस समय वीर बालकका प्रसव करनेवाली सुनीतिके दोनों स्तन नेत्रोंसे झरती हुए स्नेहमयी अश्रुधाराओंसे भीग गये और वात्सल्यके कारण उन स्तनोंसे अविरल दुग्धधारा प्रवाहित होने लगी॥ ५० ॥

तां शशंसुर्जना राज्ञीं दिष्ट्या ते पुत्र आर्तिहा।
प्रतिलब्धश्चिरं नष्टो रक्षिता मण्डलं भुवः॥ ५१ ॥

नगरवासी लोग राजमहिषी सुनीतिसे कहने लगे—महारानी! बहुत सुकृतियोंके फलसे बहुत दिनोंके बाद आज आपके तथा हम सभीके सन्तापोंको दूर करनेवाला पुत्र लौट आया है। आपका यह पुत्र ही इस भूमण्डलका पालन करेगा॥ ५१ ॥

अभ्यर्चितस्त्वया नूनं भगवान् प्रणतार्त्तिहा।
यदनुध्यायिनो धीरा मृत्युं जिग्युः सुदुर्जयम्॥ ५२ ॥

जिन भगवान् श्रीहरिका निरन्तर ध्यान करनेसे धीर पुरुष परम दुर्जय मृत्युको भी जीत लेते हैं, आपने निश्चय ही उन प्रणतजनोंके कष्टोंको दूर करनेवाले श्रीभगवान्‌की आराधना की होगी॥ ५२ ॥

लाल्यमानं जनैरेवं ध्रुवं सभ्रातरं नृपः।
आरोप्य करिणीं हृष्टः स्तूयमानोऽविशत् पुरम्॥ ५३ ॥

हे विदुर! पूर्वोक्त प्रकारसे सभीके द्वारा सम्मानित ध्रुवको भाई उत्तमके साथ हथिनीपर बिठाकर महाराज उत्तानपादने बड़े हर्षके साथ राजधानीमें प्रवेश किया। उस समय एकत्रित सभी लोग राजा उत्तानपादके भाग्यकी प्रशंसा करते हुए उनका अनुगमन करने लगे॥ ५३ ॥

तत्र तत्रोपसंक्लिप्तैर्लसन्मकरतोरणैः।
सवृन्तैः कदलीस्तम्भैः पूगपोतैश्च तद्विधैः॥ ५४॥

चूतपल्लववासःस्रङ्मुक्तादामविलम्बिभिः।
उपस्कृतं प्रतिद्वारमपां कुम्भैः सदीपकैः॥ ५५॥

दूसरी ओर, पुरके मध्यमें स्थित प्रत्येक महलके द्वारपर मकराकृति तोरण बनाये गये थे। उनमें फल-मञ्जरियोंके साथ केलेके स्तम्भ एवं सुपारीके नवीन वृक्ष सजाये गये थे। प्रत्येक द्वारपर जलसे पूर्ण कलश रखे थे, जिन्हें आम्र-पल्लव, वस्त्र, माला एवं मोतियोंकी लड़ियोंसे सुसज्जित किया गया था। कलशके सामने दीपोंकी पंक्ति सुशोभित हो रही थी॥ ५४-५५॥

प्राकारैर्गोपुरागारैः शातकुम्भपरिच्छदैः।
सर्वतोऽलङ्कृतं श्रीमद्विमानशिखरद्युभिः॥ ५६॥

मृष्टचत्वररथ्याट्टमार्गं चन्दनचर्चितम्।
लाजाक्षतैः पुष्पफलैस्तण्डुलैर्बलिभिर्युतम्॥ ५७॥

इस पुरीकी चारों दिशाओंमें परकोटे, गोपुर एवं पुरद्वार स्वर्णमय सामग्रियोंसे विभूषित होकर सुन्दर विमानोंके शिखरोंके समान सुशोभित हो रहे थे। आङ्गन, राजपथ, उच्च महलोंकी छतोंके ऊपर बने हुए भ्रमण-स्थानों एवं छोटे-छोटे मार्गोंपर चन्दनके जलका छिड़काव किया गया था तथा खील, अक्षत, पुष्प, फल, तण्डुल, मिष्ठान्न, वस्त्र एवं आभूषणादि माङ्गलिक पूजा-सामग्रियोंसे मार्गोंको सजाया गया था॥ ५६-५७॥

ध्रुवाय पथि दृष्टाय तत्र तत्र पुरस्त्रियः।
सिद्धार्थाक्षतदध्यम्बु-दूर्वापुष्पफलानि च
उपजह्रुः प्रयुञ्जाना वात्सल्यादाशिषः सतीः॥ ५८॥

शृण्वंस्तद्गुणगीतानि प्राविशद्भवनं पितुः॥ ५९॥

ध्रुव जिन-जिन पथोंसे महलकी ओर बढ़ रहे थे, वहाँ-वहाँ नगरकी शीलवती सुन्दरियाँ उन्हें देखनेके लिए आयी हुई थीं। बालक ध्रुवको देखकर वे वात्सल्यसे भर गयीं और उन्हें शुभाशीर्वाद देते हुए

उनके सिरपर श्वेत सरसों, जौ, दधि, जल, दुर्वा, पुष्प एवं फलोंकी बौछार करने लगीं। वे आनन्दसे गीत गा रही थीं। उनके मनोहर गीत सुनते हुए बालक ध्रुवने पिताके महलमें प्रवेश किया॥ ५८-५९॥

महामणिव्रातमये स तस्मिन् भवनोत्तमे।
लालितो नितरां पित्रा न्यवसद्दिवि देववत्॥ ६०॥

पयःफेननिभाः शय्या दान्ता रुक्मपरिच्छदाः।
आसनानि महार्हाणि यत्र रौक्मा उपस्कराः॥ ६१॥

यत्र स्फटिककुड्येषु महामारकतेषु च।
मणिप्रदीपा आभान्ति ललनारत्नसंयुताः॥ ६२॥

उद्यानानि च रम्याणि विचित्रैरमरद्रुमैः।
कूजद्विहङ्गमिथुनैर्गायन्मत्तमधुव्रतैः॥ ६३॥

वाप्यो वैदूर्यसोपानाः पद्मोत्पलकुमुद्वतीः।
हंसकारण्डवकुलैर्जुष्टाश्चक्राह्वसारसैः॥ ६४॥

वह अत्युत्तम राजभवन महामूल्यवान मणियोंकी लड़ियोंसे सुसज्जित था। उस भवनमें ध्रुव अपने पिता उत्तानपादके द्वारा किये गये लाड़-प्यारको प्राप्तकर उसी प्रकार आनन्द अनुभव कर रहे थे, जिस प्रकार स्वर्गमें देवता करते हैं। उस श्रेष्ठ भवनमें दुग्धके फेनके समान श्वेत रङ्गके हाथीके दाँतसे बनी, स्वर्णमय परिच्छदसे विशिष्ट अति कोमल शय्या, महामूल्यवान आसन और बहुत-से स्वर्णपात्र आदि विद्यमान थे। उसकी इन्द्रनीलमणियोंसे खचित स्फटिकमय दीवारोंमें प्रतिफलित रत्नोंकी बनी हुई स्त्रियोंकी मूर्त्तियोंपर रखे हुए मणिमय दीपक जगमगा रहे थे। उस भवनके चारों ओर मनोहर उद्यान थे, जिनमें दिव्य वृक्ष विराजित थे। इन देववृक्षोंके ऊपर नर एवं मादा पक्षियोंके जोड़े सुमधुर स्वरसे कूजन कर रहे थे एवं मधुपानसे उन्मत्त भ्रमर मनोहर गुञ्जार कर रहे थे। उस उद्यानमें अनेकों बावड़ियाँ थीं, जिनकी सीढ़ियाँ वैदुर्यमणियोंसे निर्मित थीं। उनके जलमें कमल, उत्पल एवं कुमुद विकसित हो रहे थे और हंस, कारण्डव, चकवा तथा सारसादि जलचर पक्षी विहार करते हुए इन जलाशयोंकी शोभा बढ़ा रहे थे॥ ६०-६४॥

उत्तानपादो राजर्षिः प्रभावं तनयस्य तम्।
श्रुत्वा दृष्ट्वाद्भुत-तमं प्रपेदे विस्मयं परम्॥ ६५॥

राजर्षि उत्तानपाद अपने पुत्रके मनु आदि द्वारा भी अप्राप्त पदकी प्राप्तिरूप अति अद्भुत प्रभावको श्रवणकर एवं उनके प्रति प्रजाके अनुरागको देखकर अत्यधिक विस्मित हुए॥ ६५॥

वीक्ष्योढवयसं पुत्रं प्रकृतीनाञ्च सम्मतम्।
अनुरक्तप्रजं राजा ध्रुवं चक्रे भुवः पतिम्॥ ६६॥

जब राजाने देखा कि बालक ध्रुव तरुण हो गये हैं, उन्हें राज्यका पालन करने योग्य अवस्था प्राप्त हो गयी है, सभी मन्त्रियोंकी सम्मति भी प्राप्त है एवं प्रजा भी ध्रुवके प्रति बड़ा अनुराग रखती है—तब महाराज उत्तानपादने उन्हें निखिल भूमण्डलके युवराज पदपर अभिषिक्त कर दिया॥ ६६॥

आत्मानञ्च प्रवयसमाकलय्य विशाम्पतिः।
वनं विरक्तः प्रातिष्ठद्विमृशन्नात्मनो गतिम्॥ ६७॥

इसके बाद वार्धक्य उपस्थित देखकर आत्मतत्त्वका चिन्तन करते हुए राजा उत्तानपाद विषयोंसे विरक्त होकर वनकी ओर चल दिये॥ ६७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां चतुर्थस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे
श्रीध्रुव-राज्याभिषेकं नाम नवमोऽध्यायः॥

दशमोऽध्यायः

यक्षके हाथ उत्तमका मारा जाना और ध्रुवका यक्षोंके साथ युद्ध

श्रीमैत्रेय उवाच—

प्रजापतेर्दुहितरं शिशुमारस्य वै ध्रुवः।
उपयेमे भ्रमिं नाम तत्सुतौ कल्पवत्सरौ॥ १॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! महाराज ध्रुवने प्रजापति शिशुमारकी पुत्री भ्रमिका पाणिग्रहण किया। उस भ्रमिसे ध्रुवके कल्प एवं वत्स नामक दो पुत्र हुए॥ १॥

इलायामपि भार्यायां वायोः पुत्र्यां महाबलः।
पुत्रमुत्कलनामानं योषिद्रत्नमजीजनत्॥ २॥

महाबलवान ध्रुवकी दूसरी पत्नी वायुकी पुत्री इला थी। पटरानी इलाके गर्भसे उत्कल नामक एक पुत्र एवं कामिनियोंमें रत्नस्वरूपा एक कन्या उत्पन्न हुई॥ २॥

उत्तमस्त्वकृतोद्वाहो मृगयायां बलीयसा।
हतः पुण्यजनेनाद्रौ तन्मातास्य गतिं गता॥ ३॥

उत्तमने अभी विवाह नहीं किया था। वह एक दिन शिकारके लिए हिमालय पर्वतपर गया और वहीं एक बलवान यक्षके हाथों मारा गया। उसे ढूढ़ँनेके लिए गयी हुई उसकी माता सुरुचिकी भी उसी पर्वतपर ही मृत्यु हो गयी॥ ३॥

ध्रुवो भ्रातृवधं श्रुत्वा कोपामर्षशुचार्पितः।
जैत्रं स्यन्दनमास्थाय गतः पुण्यजनालयम्॥ ४॥

महाराज ध्रुवने जब भाईकी मृत्युका समाचार सुना, तो वे क्रोध एवं असहिष्णुतासे उत्पन्न शोकसे अधीर हो गये और विजयके लिए रथपर सवार होकर यक्षोंके निवास-स्थानकी ओर चल पड़े॥ ४॥

गत्वोदीचीं दिशं राजा रुद्रानुचरसेविताम्।
ददर्श हिमवद्द्रोण्यां पुरीं गुह्यकसङ्कुलाम॥ ५॥

राजा ध्रुवने उत्तर दिशाकी ओर चलते-चलते रुद्रके अनुचरोंसे सेवित हिमालय पर्वतकी घाटीमें पहुँचकर दूरसे यक्षों द्वारा परिव्याप्त अलका नामकी नगरीको देखा॥ ५॥

दध्मौ शङ्खं बृहद्बाहुः खं दिशश्चानुनादयन्।
येनोद्विग्नदृशः क्षत्तरुपदेव्योऽत्रसन् भृशम्॥ ६॥

हे विदुर! बृहद्बाहु ध्रुवने उस अलकापुरीके समीप पहुँचकर अपना शङ्ख बजाया, जिसकी ध्वनिसे सम्पूर्ण दिशाएँ एवं आकाश गूँज उठे। उस शङ्खध्वनिसे यक्षोंकी पत्नियाँ अत्यन्त डर गयीं॥ ६॥

ततो निष्क्रम्य बलिन उपदेवमहाभटाः।
असहन्तस्तन्निनादमभिपेतुरुदायुधाः ॥ ७॥

महाबली कुबेरकी सेना इस शङ्खनादको सहन नहीं कर पायी। यक्षसेना तरह-तरहके अस्त्र-शस्त्र उठाकर पुरीसे बाहर निकलकर महाराज ध्रुवकी ओर दौड़ पड़ी॥ ७॥

स तानापततो वीरानुग्रधन्वा महारथः।
एकैकं युगपत् सर्वानहन् बाणैस्त्रिभिस्त्रिभिः॥ ८॥

महारथी ध्रुव प्रचण्ड धनुर्धर थे। जब उन्होंने यक्षोंकी सेनाको अपनी ओर अग्रसर होते देखा, तो उन्होंने उनमेंसे प्रत्येकको तीन-तीन बाणोंसे बींधकर उन सभीको एक ही समयमें आहत कर दिया॥ ८॥

ते वै ललाटलग्नैस्तैरिषुभिः सर्व एव हि।
मत्वा निरस्तमात्मानमाशंसन् कर्म तस्य तत्॥ ९॥

यक्ष-सैनिकोंने जब अपने-अपने मस्तकपर तीन-तीन बाण लगे देखे, तब अपनेको पराजित-सा मानकर वे महाराज ध्रुवके इस विस्मयकारी पराक्रमकी प्रशंसा करने लगे॥ ९॥

तेऽपि चामुममृष्यन्तः पादस्पर्शमिवोरगाः।
शरैरविध्यन् युगपद् द्विगुणं प्रचिकीर्षवः॥ १०॥

तत्पश्चात् सर्प जिस प्रकार किसीके पैरोंके स्पर्शको सहन नहीं कर पाते, उसी प्रकार वे भी ध्रुवके बाणोंके प्रहारोंको सहन नहीं कर पाये और बदलेमें उनमेंसे प्रत्येकने एक ही समय उनसे दुगुने अर्थात् छह-छह बाण छोड़े॥ १०॥

ततः परिघनिस्त्रिंशैः प्रासशूलपरश्वधैः।
शक्त्यृष्टिभिर्भुशुण्डीभिश्चित्रवाजैः शरैरपि॥ ११॥
अभ्यवर्षन् प्रकुपिताः सरथं सहसारथिम्।
इच्छन्तस्तत् प्रतीकर्तुमयुतानां त्रयोदश॥ १२॥

यक्ष-सैनिकोंकी संख्या तेरह अयुत (१,३०,०००) थी। वे बदला लेनेके लिए अत्यन्त क्रोधपूर्वक महारथी ध्रुव, उनके रथ एवं सारथीपर परिघ, खड्ग, प्रास, त्रिशूल, फरसा, शक्ति, ऋष्टि, भुशुण्डी और विचित्र-विचित्र पंखोंवाले बाणोंको निक्षेप करने लगे॥ ११-१२॥

औत्तानपादिः स तदा शस्त्रवर्षेण भूरिणा।
नो एवादृश्यताच्छन्न आसारेण यथा गिरिः॥ १३॥

पर्वत जिस प्रकार भारी वर्षाके कारण दीखना बन्द हो जाता है। उसी प्रकार उत्तानपादनन्दन ध्रुव भी असंख्य शस्त्रोंकी बौछारसे पूरी तरह ढक गये और लोगोंको दीखने बन्द हो गये॥ १३॥

हाहाकारस्तदैवासीत् सिद्धानां दिवि पश्यताम्।
हतोऽयं मानवः सूर्यो मग्नः पुण्यजनार्णवे॥ १४॥

उस समय जितने भी सिद्ध-पुरुष आकाशसे इस दृश्यको देख रहे थे, वे सहसा ही हाहाकार कर उठे और कहने लगे—अहो! मनुपौत्र ध्रुवरूप सूर्य यक्षसेनारूप सागरमें निमग्न हो गये॥ १४॥

नदत्सु यातुधानेषु जयकाशिष्वथो मृधे।
उदतिष्ठद्रथस्तस्य नीहारादिव भास्करः॥ १५॥

तदनन्तर रणभूमिमें यक्षलोग सिंहके समान गरजते हुए 'हम जीत गये' इस प्रकार विजयनाद करने लगे। इतनेमें ही कुहरेसे जिस प्रकार सूर्यदेव प्रकट होते हैं, उसी प्रकार रणस्थलीमें महाराज ध्रुवका रथ प्रकाशित हुआ॥ १५॥

धनुर्विस्फूर्जयन्नुग्रं द्विषतां खेदमुद्वहन्।
अस्त्रौघं व्यधमद्बाणैर्घनानीकमिवानिलः॥ १६॥

महाराज ध्रुवने अपने दिव्य एवं उग्र बाणोंकी टङ्कारसे शत्रुओंके हृदयमें त्रास उत्पन्न किया एवं आँधी जिस प्रकार मेघोंको छिन्न-भिन्न कर देती है, उसी प्रकार ध्रुवने अपने प्रचण्ड बाणोंके आघातसे शत्रुओंके समस्त अस्त्र-शस्त्रोंको चूर्ण-विचूर्ण कर डाला॥ १६॥

तस्य ते चापनिर्मुक्ता भित्त्वा वर्माणि रक्षसाम्।
कायानाविविशुस्तिग्मा गिरीनशनयो यथा॥ १७॥

उनके धनुषसे अत्यधिक तीखे बाण पर्वतोंको विदीर्ण करनेवाले व्रजके समान यक्ष-राक्षसोंके कवचोंको भेदकर उनके शरीरमें घुसने लगे॥ १७॥

भल्लैः संछिद्यमानानां शिरोभिश्चारुकुण्डलैः।
ऊरुभिर्हेमतालाभैर्दोर्भिर्वलयवल्गुभिः॥ १८॥
हारकेयूरमुकुटैरुष्णीषैश्च महाधनैः।
आस्तृतास्ता रणभुवो रेजुर्वीर मनोहराः॥ १९॥

हे जितेन्द्रिय विदुर! महाराज ध्रुवके अर्धचन्द्राकार बाणोंसे छिन्न-भिन्न यक्षोंके सुन्दर कुण्डलोंसे सुशोभित सिरों, सोनेके ताम्रवृक्षोंके समान जाँघों, वलयोंसे विभूषित मनोहर भुजाओं, महामूल्य हारों, केयूरों, मुकुटों एवं बहुमूल्य पगड़ियोंसे वह रणभूमि बड़ी शोभा पा रही थी॥ १८-१९॥

हतावशिष्टा इतरे रणाजिरा-
द्रक्षोगणाः क्षत्रियवर्यसायकैः।
प्रायो विवृक्णावयवा विदुद्रुवु-
र्मृगेन्द्रविद्रावितयूथपा इव॥ २०॥

जो यक्ष मारे जानेसे बच गये थे, उनके अङ्ग क्षत्रिय-श्रेष्ठ ध्रुवके बाणोंसे विकलाङ्ग हो गये थे। वे युद्धमें सिंहके द्वारा परास्त हुए गजराजके समान रणभूमिको छोड़कर भागने लगे॥ २०॥

अपश्यमानः स तदाततायिनं
महामृधे कञ्चन मानवोत्तमः।
पुरीं दिदृक्षन्नपि नाविशद्द्विषां
न मायिनां वेद चिकीर्षितं जनः॥ २१॥

मनु वंशमें श्रेष्ठ ध्रुवने देखा कि रणक्षेत्रमें अब एक भी यक्ष हाथमें शस्त्र लेकर उनके सामने नहीं है। किन्तु, तब उन्होंने सामने ही यक्षपुरीको विराजमान देखा। महाराज ध्रुवके मनमें उस नगरीको देखनेकी अभिलाषा होनेपर भी उन्होंने उसमें प्रवेश नहीं किया। वे विचार कर रहे थे कि यक्ष बड़े मायावी हैं, मानव उनके मनकी बातको नहीं समझ सकते॥ २१॥

इति ब्रुवंश्चित्ररथः स्वसारथिं
यत्तः परेषां प्रतियोगशङ्कितः।
शुश्राव शब्दं जलधेरिवेरितं
नभस्वतो दिक्षु रजोऽन्वदृश्यत॥ २२॥

महाराज ध्रुव अपने चित्र-विचित्र रथपर बैठे रहे और अपने सारथीके साथ 'मायावियोंके कार्य मनुष्योंके लिए बोधगम्य नहीं हैं'—इस प्रकारसे कथोपकथन करते हुए शत्रुओंके द्वारा पुनः आक्रमणकी आशङ्का करके सावधानीसे प्रतीक्षा करने लगे। इसी बीच उन्हें मेघगर्जनके समान एक भयङ्कर शब्द सुनायी पड़ा। दूसरे ही क्षण उन्होंने देखा कि प्रचण्ड वायुके वेगसे चारों दिशाओंमें धूल उठ रही है॥ २२॥

क्षणेनाच्छादितं व्योम घनानीकेन सर्वतः।
विस्फुरत्तडिता दिक्षु त्रासयत् स्तनयित्नुना॥ २३॥

क्षणभरमें ही आकाश मेघोंसे व्याप्त हो गया। आकाशमें भीषण गड़गड़ाहटके साथ बिजली चमकने लगी, जिससे प्राणियोंके हृदयोंमें भयका सञ्चार हो गया॥ २३॥

ववृषू रुधिरोघासृक्-पूयविण्मूत्रमेदसः।
निपेतुर्गगनादस्य कबन्धान्यग्रतोऽनघ॥ २४॥

हे निष्पाप विदुर! तभी मेघोंसे खून, कफ, पीब, मल, मूत्र एवं चर्बीकी वर्षा होने लगी और गगनमण्डलसे महाराज ध्रुवके समक्ष ही बहुत-से सिर-विहीन धड़ गिरने लगे॥ २४॥

ततः खेऽदृश्यत गिरिर्निपेतुः सर्वतो दिशम्।
गदापरिघनिस्त्रिंश-मुसलाः साश्मवर्षिणः॥ २५॥

तदनन्तर आकाशमें एक पर्वत दिखायी पड़ा। उससे चारों दिशाओंमें पत्थरोंकी वर्षा होने लगी और उसके साथ ही उस पर्वतसे गदा, परिघ, तलवार एवं मूसलादि भी गिरने लगे॥ २५॥

अहयोऽशनिनिश्वासा वमन्तोऽग्निं रुषाक्षिभिः।
अभ्यधावन् गजा मत्ताः सिंहव्याघ्राश्च यूथशः॥ २६॥

महाराज ध्रुवने देखा कि भयङ्कर सर्प क्रोधपूर्ण नेत्रोंसे आगकी चिनगारियाँ उगलते हुए एवं वज्रकी भाँति गर्जन युक्त फुँफकार करते हुए तथा मदोन्मत्त हाथी, सिंह, व्याघ्र आदि जन्तु झुण्ड-के-झुण्ड बनाकर उनकी ओर दौड़ते हुए आ रहे हैं॥ २६॥

समुद्र ऊर्मिभिर्भीमः प्लावयन् सर्वतो भुवम्।
आससाद महाह्लादः कल्पान्त इव भीषणः॥ २७॥

उन्होंने यह भी देखा कि विराट समुद्र मानो प्रलयकालीन महाभयङ्कर रूप धारणकर अपनी उत्ताल लहरोंसे सम्पूर्ण भुवनको डुबाता हुआ भीषण गर्जनाके साथ उनकी ओर बढ़ रहा था॥ २७॥

एवंविधान्यनेकानि त्रासनान्यमनस्विनाम्।
ससृजुस्तिग्मगतय आसुर्या माययासुराः॥ २८॥

हे विदुर! क्रूर-स्वभाववाले यक्षोंने अपनी आसुरी मायाके द्वारा वीरतारहित कायर व्यक्तियोंको भयभीत करनेवाले इस प्रकारके बहुत-से भयङ्कर कौतुक दिखलाये॥ २८॥

ध्रुवे प्रयुक्तामसुरैस्तां मायामतिदुस्तराम्।
निशम्य तस्य मुनयः शमाशंसन् समागताः॥ २९॥

इधर जब मुनियोंको पता चला कि असुरोंने महाराज ध्रुवपर अपनी दुस्तर माया फैलायी है, तो वे वहाँ चले आये और ध्रुवके मङ्गलके लिए प्रार्थना करने लगे॥ २९॥

श्रीमुनय ऊचुः—

औत्तनपाद भगवांस्तव शार्ङ्गधन्वा
देवः क्षिणोत्ववनतार्तिहरो विपक्षान्।
यन्नामधेयमभिधाय निशम्य वाद्धा
लोकोऽञ्जसा तरति दुस्तरमङ्ग मृत्युम्॥ ३०॥

मुनियोंने कहा—हे उत्तानपाद-नन्दन ध्रुव! जिनके नामके कीर्त्तन अथवा श्रवणमात्रसे ही जीव दुस्तर मृत्युके हाथोंसे अनायास ही बच जाता है, शरणागतोंके भयको नाश करनेवाले वे भगवान् चक्रपाणि श्रीहरि तुम्हारे शत्रुओंका संहार करें॥ ३०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां चतुर्थस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे श्रीध्रुवचरिते यक्षमायाधानं नाम दशमोऽध्यायः॥

एकादशोऽध्यायः

यक्षोंका विनाश देखकर स्वायम्भुव मनुका ध्रुवको युद्ध बन्द करनेके लिए समझाना

श्रीमैत्रेय उवाच—

निशम्य गदतामेवमृषीणां धनुषि ध्रुवः।
सन्दधेऽस्त्रमुपस्पृश्य यन्नारायणनिर्मितम्॥ १॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! ध्रुवने ऋषियोंके इन वचनोंको सुनकर आचमन किया और धनुषमें नारायणास्त्ररूपी बाणका सन्धान किया॥ १॥

सन्धीयमान एतस्मिन् माया गुह्यकनिर्मिताः।
क्षिप्रं विनेशुर्विदुर क्लेशा ज्ञानोदये यथा॥ २॥

हे विदुर! ज्ञानके उदय होनेसे जिस प्रकार अविद्यादि क्लेशोंकी निवृत्ति हो जाती है, उसी प्रकार महाराज ध्रुवके द्वारा धनुषपर उस नारायणास्त्रका सन्धान करनेमात्रसे ही यक्षोंके द्वारा व्याप्त माया उसी समय नष्ट हो गयी॥ २॥

तस्यार्षास्त्रं धनुषि प्रयुञ्जतः
सुवर्णपुङ्खाः कलहंसवाससः।
विनिःसृता आविविशुर्द्विषद्बलं
यथा वनं भीमरवाः शिखण्डिनः॥ ३॥

महाराज ध्रुवके उस अस्त्रसे सैकड़ों ऐसे बाण निकलने लगे, जिनका पिछला भाग तो सोनेका था और पङ्ख राजहंसके समान मनोहर थे। मयूर जिस प्रकार भयङ्कर के–का–रव करते हुए वनमें प्रवेश कर जाते हैं, वे बाण भी उसी प्रकार भयानक शब्द करते हुए शत्रुकी सेनामें प्रवेश करने लगे॥ ३॥

नैस्तिग्मधारैः प्रधने शिलीमुखै-
रितस्ततः पुण्यजना उपद्रुताः।
तमभ्यधावन् कुपिता उदायुधाः
सुपर्णमुन्नद्धफणा इवाहयः॥ ४॥

इन तीक्ष्ण धारवाले बाणोंसे शत्रु युद्धस्थलमें ही बेचैन हो गये। जिस प्रकार गरुड़के द्वारा छेड़े जानेपर बड़े-बड़े फनवाले सर्प फनोंको उठाकर गरुड़की ओर दौड़ते हैं, उसी प्रकार वे यक्ष भी क्रोधाविष्ट होकर अस्त्र-शस्त्र उठाये चारों ओरसे महाराज ध्रुवकी ओर दौड़ पड़े॥ ४॥

स तान् पृषत्कैरभिधावतो मृधे
निकृत्तबाहूरुशिरोधरोदरान्।
निनाय लोकं परमर्कमण्डलं
व्रजन्ति निर्भिद्य यमूर्ध्वरेतसः॥ ५॥

महाराज ध्रुवने इन यक्षोंको रणाङ्गनमें आते देखकर अपने बाणोंके द्वारा किसीकी भुजा, किसीकी जंघा, किसीकी गर्दन और किसीके उदर आदि अङ्ग-प्रत्यङ्गको काट दिया। इस प्रकार उन्होंने बहुत-से यक्षोंको ही उस परलोक (सत्यलोक) में भेज दिया, जहाँ ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी और संन्यासी सूर्यमण्डलका भेदन करके पहुँचते हैं॥ ५॥

तान् हन्यमानानभिवीक्ष्य गुह्यका-
ननागसश्चित्ररथेन भूरिशः।
औत्तानपादिं कृपया पितामहो
मनुर्जगादोपगतः सहर्षिभिः॥ ६॥

इधर जब स्वायम्भुव मनुने देखा कि उनके पौत्र ध्रुव असंख्य निरपराध यक्षोंका वध कर रहे हैं, तो वे कृपा परवश होकर बहुत-से महर्षियोंको अपने साथ लेकर उस युद्धभूमिपर आ पहुँचे और वहींपर ही उत्तानपाद-नन्दन ध्रुवको समझाने लगे॥ ६॥

श्रीमनुरुवाच—

अलं वत्सातिरोषेण तमोद्वारेण पाप्मना।
येन पुण्यजनानेतानवधीस्त्वमनागसः॥ ७॥

श्रीस्वायम्भुव मनुने कहा—हे वत्स! तुमने जिस क्रोधके वशीभूत होकर इन सब निरपराध यक्षोंका विनाश किया है, यह बड़ा ही पापजनक कार्य है। यह क्रोध नरकका द्वार-स्वरूप है, तुम इस क्रोधका परित्याग कर दो॥ ७॥

नास्मत्कुलोचितं तात कर्मैतत् सद्विगर्हितम्।
वधो यदुपदेवानामारब्धस्तेऽकृतैनसाम्॥ ८॥

हे वत्स! तुम जो इन निरपराध यक्षोंका संहार करनेमें रत हो, यह हमारे कुलके लिए बड़ा ही अनुचित कार्य है। साधु पुरुष इसकी निन्दा करते हैं॥ ८॥

नन्वेकस्यापराधेन तत्सङ्गाद्बहवो हताः।
भ्रातुर्वधाभितप्तेन त्वयाङ्ग भ्रातृवत्सल॥ ९॥

हे भाईके प्रति स्नेह रखनेवाले ध्रुव! सुनो! तुम्हारे भाईका तो एक यक्षने ही वध किया था, किन्तु तुमने भाईके वधसे उत्पन्न क्रोधसे सन्तप्त होकर एक यक्षके अपराधके बदले कितने ही यक्षोंका विनाश कर डाला है॥ ९॥

नायं मार्गो हि साधूनां हृषीकेशानुवर्तिनाम्।
यदात्मानं पराग्गृह्य पशुवद्भूतवैशसम्॥ १०॥

हे ध्रुव! इस जड़देहको 'आत्मा' मानकर प्राणियोंकी हिंसा करना पशुओंका स्वभाव है, किन्तु इस प्रकारकी हिंसावृत्ति इन्द्रियोंके अधिपति हृषीकेशकी सेवा करनेवाले भगवद्भक्तोंका मार्ग नहीं है॥ १०॥

सर्वभूतात्मभावेन भूतावासं हरिं भवान्।
आराध्याप दुराराध्यं विष्णोस्तत् परमं पदम्॥ ११॥

श्रीहरि दुराराध्य हैं, परन्तु तुमने तो बाल्यकालमें ही समस्त प्राणियोंमें उन प्रभुका अधिष्ठान जानकर सर्वात्मभावसे[१] सभी जीवोंके अन्तर्यामी श्रीहरिकी आराधना करके परमोत्कृष्ट पदको प्राप्त किया है॥ ११॥

---

(१) सभी प्राणियोंको अपने जैसा मानकर।

स त्वं हरेरनुध्यातस्तत्पुंसामपि सम्मतः।
कथन्त्ववद्यं कृतवाननुशिक्षन् सतां व्रतम्॥ १२॥

तुम निरन्तर श्रीहरिका ध्यान करते रहते हो और प्रभु-भक्त तुम्हारी प्रशंसा किया करते हैं। तुमने साधुओंके आचरणकी शिक्षा भी प्राप्त की है, फिर तुमने किसलिए ऐसा निन्दनीय कार्य किया?॥ १२॥

तितिक्षया करुणया मैत्र्या चाखिलजन्तुषु।
समत्वेन च सर्वात्मा भगवान् सम्प्रसीदति॥ १३॥

जो महत् व्यक्तियोंके द्वारा तिरस्कार करनेपर भी उसे सहन कर लेता है, जो छोटोंके प्रति कृपा, बराबरवालोंके साथ मित्रता एवं समस्त प्राणियोंमें समभाव रखता हैं, सर्वान्तर्यामी श्रीभगवान् उस व्यक्तिके प्रति सदा प्रसन्न रहते हैं॥ १३॥

सम्प्रसन्ने भगवति पुरुषः प्राकृतैर्गुणैः।
विमुक्तो जीवनिर्मुक्तो ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥ १४॥

भगवान्के सुप्रसन्न होनेपर व्यक्ति प्राकृत गुणोंसे मुक्त हो जाता है। अतएव गुणोंके कार्य-स्वरूप लिङ्गशरीरसे मुक्त होकर सुखात्मक ब्रह्मपदको प्राप्त करते हैं॥ १४॥

भूतैः पञ्चभिरारब्धैर्योषित् पुरुष एव हि।
तयोर्व्यवायात् सम्भूतिर्योषित् पुरुषयोरिह॥ १५॥

देहादिके रूपमें परिणत हुए पञ्चभूतोंसे स्त्री-पुरुषका आविर्भाव होता है और फिर उन स्त्री एवं पुरुषोंके पारस्परिक मिलनसे इस संसारमें अन्यान्य स्त्री-पुरुष उत्पन्न होते हैं॥ १५॥

एवं प्रवर्तते सर्गः स्थितिः संयम एव च।
गुणव्यतिकराद्राजन् मायया परमात्मनः॥ १६॥

हे वत्स! इस प्रकार भगवान्की मायाके द्वारा ही सत्त्व आदि गुणोंमें विषमता होनेके कारण सृष्टि, स्थिति एवं संहार कार्य प्रवर्त्तित होते रहते हैं॥ १६॥

निमित्तमात्रं तत्रासीन्निर्गुणः पुरुषर्षभः।
व्यक्ताव्यक्तमिदं विश्वं यत्र भ्रमति लोहवत्॥ १७॥

ईश्वर गुणाधीश तत्त्व हैं। वे सृष्टि आदि कार्यमें जड़ा प्रकृतिके अधिष्ठाता निमित्त-कारण मात्र है। जिस प्रकार लोहा अचल होनेपर भी निमित्त-स्वरूप चुम्बकसे आकृष्ट होकर सचल हो जाता है, उसी प्रकार यह कार्यकारणरूप विश्व भी भगवान्के ईक्षणके प्रभावसे देव-मनुष्य आदिके रूपमें परिवर्त्तित होता है॥ १७॥

स खल्विदं भगवान् कालशक्त्या
गुणप्रवाहेण विभक्तवीर्यः।
करोत्यकर्तैव निहन्त्यहन्ता
चेष्टा विभूम्नः खलु दुर्विभाव्या॥ १८॥

काल-शक्तिके प्रभावसे सत्त्वादि गुणोंमें क्षोभ उपस्थित होनेपर लीलामय भगवान् अपनी शक्तिका विभाग करके 'अकर्त्ता' होकर भी जगत्की रचना आदि कर्म करते हैं, 'संहारकर्त्ता' न होकर भी विनाश करते हैं। उन सर्वशक्तिमान भगवान्की लीलाएँ निश्चय ही अचिन्त्य हैं॥ १८॥

सोऽनन्तोऽन्तकरः कालोऽनादिरादिकृदव्ययः।
जनं जनेन जनयन् मारयन् मृत्युनान्तकम्॥ १९॥

वे कालरूपी भगवान् स्वयं अनादि, अनन्त एवं अव्यय हैं। वे प्राणियोंके द्वारा ही प्राणियोंकी उत्पत्ति कर रहे हैं तथा मृत्युके द्वारा यमका भी संहार करके 'संहारकर्त्ता' नाम धारण कर रहे हैं॥ १९॥

न वै स्वपक्षोऽस्य विपक्ष एव वा
परस्य मृत्योर्विशतः समं प्रजाः।
तं धावमानमनुधावन्त्यनीशा
यथा रजांस्यनिलं भूतसङ्घाः॥ २०॥

मृत्युरूपी काल-स्वरूप भगवान्का स्वपक्ष अथवा विपक्ष कोई भी नहीं है। वे समभावसे समस्त प्राणियोंमे प्रवेश करते हैं और सर्वत्र

ही भ्रमण करते रहते हैं। जिस प्रकार धूलिकण वायुके पीछे-पीछे उड़ते रहते हैं, उसी प्रकार समस्त प्राणी अपने-अपने कर्मोंके अधीन होकर कालकी गतिके पीछे-पीछे चल रहे हैं॥ २०॥

आयुषोऽपचयं जन्तोस्तथैवोपचयं विभुः।
उभाभ्यां रहितः स्वस्थो दुःस्थस्य विदधात्यसौ॥ २१॥

सर्वशक्तिमान काल स्वयं ही अपने-आपमें अवस्थान कर रहे हैं, इसलिए उनका न काल है और न ही अकाल। वे कर्माधीन जीवोंमें किसीकी अकाल-मृत्युका विधान करते हैं और किसीकी काल-मृत्युसे रक्षा भी करते हैं॥ २१॥

केचित् कर्म वदन्त्येनं स्वभावमपरे नृप।
एके कालं परे दैवं पुंसः काममुतापरे॥ २२॥

हे राजन्! मीमांसक इस कालको 'कर्म', चार्वाक् 'स्वभाव', पौराणिकगण 'काल', ज्योतिषी 'दैव' और वात्स्यायन ऋषि आदि कामशास्त्री इसे 'काम अर्थात् वासना' कहते हैं॥ २२॥

अव्यक्तस्याप्रमेयस्य नानाशक्त्युदयस्य च।
न वै चिकीर्षितं तात को वेदाथ स्वसम्भवम्॥ २३॥

हे वत्स! ईश्वर अव्यक्त हैं, इसलिए वे किसी भी इन्द्रिय या प्रमाणके विषय नहीं हैं। महत् आदि नाना प्रकारकी शक्तियाँ उनसे ही उत्पन्न होती हैं। उनकी क्या इच्छा है, इसे कौन बता सकता है? अतएव स्वसम्भव अर्थात् स्वयम्भू भगवान्के विषयमें कोई कुछ भी नहीं कह सकता॥ २३॥

न चैते पुत्रक भ्रातुर्हन्तारो धनदानुगाः।
विसर्गादानयोस्तात पुंसो दैवं हि कारणम्॥ २४॥

हे वत्स ध्रुव! तुम यह सोच रहे हो कि कुबेरके ये अनुचर तुम्हारे भाई उत्तमका वध करनेवाले हैं, किन्तु वास्तविक रूपसे वे संहारकर्त्ता नहीं हैं। ईश्वर ही प्राणियोंके जन्म एवं मृत्युका कारण हैं॥ २४॥

स एव विश्वं सृजति स एवावति हन्ति च।
तथापि ह्यनहङ्कारो नाज्यते गुणकर्मभिः॥ २५॥

एकमात्र वे ईश्वर ही इस जगत्‌की सृष्टि करते हैं, जगत्‌की रक्षा करते हैं और इस जगत्‌का संहार करते हैं। तथापि वे अहङ्कारसे रहित हैं तथा वे किसी भी प्रकारके गुण एवं कर्मोंमें लिप्त नहीं होते॥ २५॥

एष भूतानि भूतात्मा भूतेशो भूतभावनः।
स्वशक्त्या मायया युक्तः सृजत्यत्ति च पाति च॥ २६॥

वे भगवान् सर्वनियन्ता, समस्त प्राणियोंके पालक और उनके कारण हैं। वे अपनी शक्तिके द्वारा इस स्थावर-जङ्गमात्मक विश्वकी सृष्टि, स्थिति एवं पालन करते हैं॥ २६॥

तमेव मृत्युममृतं तात दैवं
सर्वात्मनोपैहि जगत्परायणम्।
यस्मै बलिं विश्वसृजो हरन्ति
गावो यथोता नसि दामयन्त्रिताः॥ २७॥

हे वत्स! वे अभक्तोंके लिए मृत्युस्वरूप एवं भक्तोंके लिए अमृत अर्थात् जीवनस्वरूप हैं। वे ही सम्पूर्ण विश्वके परमेश्वर एवं जगत्-वासियोंके सर्वश्रेष्ठ आश्रय हैं। तुम सर्वान्तःकरणसे उन्हीं भगवान्‌का ही आश्रय ग्रहण करो। नाकमें नकेल पड़े हुए बैल जिस प्रकार अपने प्रभुकी आज्ञासे कार्य करनेके लिए बाध्य होते हैं, उसी प्रकार ब्रह्मादि प्रजापतिगण भी परमेश्वरके लिए पूजाके उपहारोंका आहरण किया करते हैं॥ २७॥

यः पञ्चवर्षो जननीं त्वं विहाय
मातुः सपत्न्या वचसा भिन्नमर्मा।
वनं गतस्तपसा प्रत्यगक्ष-
माराध्य लेभे मूर्ध्नि पदं त्रिलोक्याः॥ २८॥

हे ध्रुव! तुम अपनी सौतेली माताके दुर्वचनोंसे मर्माहत होकर पाँच वर्षकी अवस्थामें ही अपनी माँकी गोद छोड़कर वनमें चले गये थे

और तपस्याके द्वारा योगियोंके ध्येय श्रीभगवान्‌की आराधना करके तुमने तीनों लोकोंके ऊपर स्थित स्थानको प्राप्त किया है॥ २८॥

तमेनमङ्गात्मनि मुक्तविग्रहे
व्यपाश्रितं निर्गुणमेकमक्षरम्।
आत्मानमन्विच्छ विमुक्तमात्मदृक्
यस्मिन्निदं भेदमसत् प्रतीयते॥ २९॥

हे वत्स ध्रुव! इस समय भी तुम आत्मदर्शी होकर अपने अन्तःकरणमें उस निर्गुण, अद्वयतत्त्व, अच्युत, नित्यमुक्त परमात्माको ढूँढ़ो। देखो, वे तुम्हारे वैरभावसे रहित, सरल अन्तःकरणमें वात्सल्यवश विशेष रूपसे निरन्तर विराजमान रहते हैं। उन परमात्माको ढूँढ़नेमें तत्पर होनेपर यह शत्रु-मित्रादि भेदज्ञान अत्यन्त अरुचिप्रद प्रतीत होता है॥ २९॥

त्वं प्रत्यगात्मनि तदा भगवत्यनन्त
आनन्दमात्र उपपन्नसमस्तशक्तौ।
भक्तिं विधाय परमां शनकैरविद्या-
ग्रन्थिं विभेत्स्यसि ममाहमिति प्ररूढम्॥ ३०॥

पाँच वर्षकी आयुमें ही तुम स्वरूपभूत, अनन्त, आनन्दमात्र एवं समस्त शक्तियोंके परिपूर्ण आधार भगवत्-स्वरूपमें अहैतुकी और बाधा-रहित पराभक्तिका अनुशीलन करके अति सहजमें ही 'मैं और मेरा' रूप सुदृढ़ अविद्या-ग्रन्थिका छेदन करनेमें समर्थ हुए थे॥ ३०॥

संयच्छ रोषं भद्रं ते प्रतीपं श्रेयसां परम्।
श्रुतेन भूयसा राजन्नगदेन यथामयम्॥ ३१॥

हे राजन्! कल्याणके मार्गमें क्रोध अत्यन्त प्रतिकूल है। अतएव जिस प्रकार औषधिके प्रयोगसे रोगी स्वस्थ हो जाता है, उसी प्रकार शास्त्रज्ञानके द्वारा तुम इस क्रोधको शान्त करो। इसीमें तुम्हारा मङ्गल है॥ ३१॥

येनोपसृष्टात् पुरुषाल्लोक उद्विजते भृशम्।
न बुधस्तद्वशं गच्छेदिच्छन्नभयमात्मनः॥ ३२॥

संसारमें क्रोधी व्यक्तिसे सभीको अत्यन्त उद्वेगकी प्राप्ति होती है। अतः अपना कल्याण चाहनेवाले पण्डित व्यक्तिको कभी भी क्रोधके वशीभूत नहीं होना चाहिये॥ ३२॥

हेलनं गिरिशभ्रातुर्धनदस्य त्वया कृतम्।
यज्जघ्निवान् पुण्यजनान् भ्रातृघ्नानित्यमर्षितः॥ ३३॥

हे वत्स ध्रुव! तुमने यक्षके अनुचरोंको अपने भाईका संहारकर्त्ता समझ लिया और क्रोधवशतः उन्हें मार डाला। ऐसा करके तो तुमने श्रीशङ्करके भ्राता कुबेरकी अवज्ञा की है॥ ३३॥

तं प्रसादय वत्साशु सन्नत्या प्रणयोक्तिभिः।
न यावन्महतां तेजः कुलं नोऽभिभविष्यति॥ ३४॥

हे वत्स! इससे पूर्व कि लोकपाल आदि महापुरुषोंके तेजसे हमारा वंश आक्रान्त हो, तुम शीघ्र ही धनपति कुबेरको प्रणाम एवं स्तुतिपूर्ण वचनोंके द्वारा प्रसन्न करो॥ ३४॥

एवं स्वायम्भुवः पौत्रमनुशास्य मनुर्ध्रुवम्।
तेनाभिवन्दितः साकमृषिभिः स्वपुरं ययौ॥ ३५॥

स्वायम्भुव मनु अपने पौत्र ध्रुवको इस प्रकार शिक्षा प्रदान करके तथा ध्रुवके द्वारा संस्तुत होकर ऋषियोंको साथ लेकर अपने स्थानपर चले गये॥ ३५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां चतुर्थस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे श्रीध्रुवचरिते श्रीमनुवाक्यं नामैकादशोऽध्यायः॥

द्वादशोऽध्यायः

महाराज ध्रुवके प्रति कुबेरका वरदान और ध्रुव द्वारा परमपदकी प्राप्ति

श्रीमैत्रेय उवाच—

ध्रुवं निवृत्तं प्रतिबुध्य वैशसा-
दपेतमन्युं भगवान् धनेश्वरः।
तत्रागतश्चारणयक्षकिन्नरैः
संस्तूयमानो न्यवदत् कृताञ्जलिम्॥ १॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! यह जानकर कि ध्रुव अपने पितामहके वचनोंको सुनकर क्रोधका त्यागकर हिंसाकर्मसे निवृत्त हो गये हैं, धनपति कुबेर उनके समीप उपस्थित हुए। चारण, यक्ष एवं किन्नर स्तुति करते हुए उनके पीछे-पीछे आ रहे थे। उन्हें देखते ही महाराज ध्रुव हाथ जोड़कर खड़े हो गये। ध्रुवको ऐसा करते देख यक्षराज कुबेर उनसे कहने लगे॥ १॥

श्रीधनद उवाच—

भो भोः क्षत्रियदायाद परितुष्टोऽस्मि तेऽनघ।
यत् त्वं पितामहादेशाद्वैरं दुस्त्यजमत्यजः॥ २॥

धनपति कुबेरने कहा—हे क्षत्रियनन्दन! हे निष्पाप ध्रुव! तुमने पितामह मनुके उपदेशसे सुदुस्त्यज्य शत्रुताका परित्याग कर दिया है। मैं तुमसे अतिशय प्रसन्न हूँ॥ २॥

न भवानवधीद्यक्षान् न यक्षा भ्रातरं तव।
काल एव हि भूतानां प्रभुरप्ययभावयोः॥ ३॥

वास्तवमें न तो तुमने यक्षोंका विनाश किया और न ही यक्षने तुम्हारे भाईका वध किया है। काल ही एकमात्र समस्त जीवोंकी उत्पत्ति एवं विनाशका कारण है॥ ३॥

अहं त्वमित्यपार्था धीरज्ञानात् पुरुषस्य हि।
स्वाप्नीवाभात्यतद्ध्यानाद्यया बन्धविपर्ययौ॥४॥

मनुष्योंकी अज्ञानताके कारण स्वप्नकालीन ज्ञानकी भाँति 'मैं', 'तुम' इत्यादि प्रकारकी मिथ्या बुद्धि होती है। इसी बुद्धिसे देहको ही आत्मा मान लेनेके कारण कर्म-बन्धन एवं दुःखादि उपस्थित होता है॥४॥

तद्गच्छ ध्रुव भद्रं ते भगवन्तमधोक्षजम्।
सर्वभूतात्मभावेन सर्वभूतात्मविग्रहम्॥५॥

भजस्व भजनीयाङ्घ्रिमभवाय भवच्छिदम्।
युक्तं विरहितं शक्त्या गुणमय्यात्ममायया॥६॥

अतः हे ध्रुव! इस स्थानसे प्रस्थान करो एवं समस्त प्राणियोंमें परमात्माका दर्शनकर इन्द्रियोंसे अतीत, समस्त प्राणियोंके अन्तर्यामी तथा संसार-पाशका छेदन करनेवाले श्रीभगवान्के चरणकमलोंको प्राप्त करनेके लिए उनका भजन करो। उनके चरणकमल ही जीवोंके लिए एकमात्र भजनीय वस्तु और संसार निवर्त्तक है। वे स्वरूपभूत अन्तरङ्गाशक्तिसे युक्त हैं, किन्तु उनमें त्रिगुणमयी बहिरङ्गा मायाका अधिष्ठान नहीं है, क्योंकि वे मायाधीश हैं। इस प्रकार श्रीभगवान्की आराधना करनेसे ही तुम्हारा मङ्गल होगा॥५-६॥

वृणीहि कामं नृप यन्मनोगतं
मत्तस्त्वमौत्तानपदेऽविशङ्कितः।
वरं वरार्होऽम्बुजनाभपादयो-
रनन्तरं त्वां वयमङ्ग शुश्रुम॥७॥

हे वत्स! सुना है कि तुम भगवान् पद्मनाभ श्रीहरिके चरणकमलोंके अति निकट उपस्थित हुए हो। अतएव तुम निसन्देह वर-प्राप्तिके योग्य पात्र हो। हे उत्तानपाद-नन्दन! हे राजन्! यदि मुझसे कोई वर माँगनेकी तुम्हारी इच्छा हो, तो तुम बिना किसी भयके माँग लो॥७॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

स राजराजेन वराय चोदितो
ध्रुवो महाभागवतो महामतिः।

हरौ स वव्रेऽचलितां स्मृतिं यया
तरत्ययत्नेन दुरत्ययं तमः॥ ८॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—यक्षराज कुबेरने जब वर माँगनेके लिए अनुरोध किया, तब महाभागवत महामति ध्रुवने यही वरदान माँगा कि भगवान् श्रीहरिके प्रति उनकी अखण्ड स्मृति बनी रहे, जिससे अनायास ही दुस्तर अविद्यारूप संसार-सागरसे पार हुआ जा सके॥ ८॥

तस्य प्रीतेन मनसा तां दत्त्वैलविलस्ततः।
पश्यतोऽन्तर्दधे सोऽपि स्वपुरं प्रत्यपद्यत॥ ९॥

इलविलाके पुत्र श्रीकुबेरने अत्यन्त प्रसन्न मनसे ध्रुवको अखण्ड भगवत्-स्मृतिका वर प्रदान किया और उनके देखते-ही-देखते वे अन्तर्धान हो गये। इसके उपरान्त श्रीध्रुव भी अपनी पुरीको लौट आये॥ ९॥

अथायजत यज्ञेशं क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः।
द्रव्यक्रियादेवतानां कर्म कर्मफलप्रदम्॥ १०॥

महाराज ध्रुवने अपने राज्यमें लौटकर प्रचुर दक्षिणासे युक्त यज्ञानुष्ठानोंके द्वारा यज्ञेश्वर श्रीहरिकी आराधना की। भगवान् ही पुरोडाश आदि द्रव्य, ऋत्विकोंकी क्रिया और इन्द्रादि देवताओंसे सम्बन्धित समस्त कर्मों द्वारा साध्य फलस्वरूप और कर्मफल प्रदाता हैं॥ १०॥

सर्वात्मन्यच्युतेऽसर्वे तीव्रौघां भक्तिमुद्वहन्।
ददर्शात्मनि भूतेषु तमेवावस्थितं विभुम्॥ ११॥

समस्त जीवोंके आत्मा-स्वरूप तथा समस्त जड़-उपाधियोंसे रहित श्रीअच्युतमें प्रबल प्रेममयी ऐकान्तिक भक्ति रखते हुए महाराज ध्रुव उन्हें अपने अन्तःकरणमें तथा समस्त प्राणियोंके हृदयमें देखने लगे॥ ११॥

तमेवं शीलसम्पन्नं ब्रह्मण्यं दीनवत्सलम्।
गोप्तारं धर्मसेतूनां मेनिरे पितरं प्रजाः॥ १२॥

महाराज ध्रुवको पूर्वोक्त भगवत्-भक्तिके लक्षणोंसे युक्त, सत्-ब्राह्मणोंके हितैषी, दीनवत्सल एवं वर्णाश्रमधर्मकी मर्यादाके रक्षकके रूपमें देखनेके कारण समस्त प्रजा उन्हें अपना पिता ही मानती थी॥ १२॥

षट्त्रिंशद्वर्षसाहस्रं शशास क्षितिमण्डलम्।
भोगैः पुण्यक्षयं कुर्वन्नभोगैरशुभक्षयम्॥ १३॥

इस प्रकार महाराज ध्रुवने विविध ऐश्वर्योंके भोगके द्वारा पुण्योंका क्षय तथा यज्ञादिके अनुष्ठानके द्वारा प्रारब्धके अशुभोंका क्षय करते हुए छत्तीस हजार वर्षों तक पृथ्वीपर शासन किया॥ १३॥

एवं बहुसवं कालं महात्माविचलेन्द्रियः।
त्रिवर्गौपयिकं नीत्वा पुत्रायादान्नृपासनम्॥ १४॥

मन्यमान इदं विश्वं मायारचितमात्मनि।
अविद्यारचितस्वप्न-गन्धर्वनगरोपमम् ॥ १५॥

इस प्रकार यज्ञानुष्ठानोंके द्वारा धर्म, अर्थ एवं कामके सम्पादनमें बहुत समय व्यतीत करनेके उपरान्त जितेन्द्रिय, शुद्ध चित्तवाले महात्मा ध्रुवने विचार किया कि 'यद्यपि यह देह तथा सम्पूर्ण विश्व भगवान्‌की बहिरङ्गाशक्तिसे उत्पन्न होनेके कारण सत्य है, तथापि जीवके लिए यह अविद्याके द्वारा रचित स्वप्नदृष्ट गन्धर्व-नगरके समान असत्य है',—अतः अन्तमें उन्होंने अपने पुत्र उत्कलको राजसिंहासन सौंप दिया॥ १४-१५॥

आत्मस्त्र्यपत्यसुहृदो बलमृद्धकोष-
मन्तःपुरं परिविहारभुवश्च रम्याः।
भूमण्डलं जलधिमेखलमाकलय्य
कालोपसृष्टमिति स प्रययौ विशालाम्॥ १६॥

महात्मा ध्रुवको अपनी देह, स्त्री, पुत्र, सुहृत्, मित्र, सैन्य-सामन्त, समृद्ध-कोषागार, अन्तःपुर, रमणीय विहार-भूमि, समुद्र-तक भूमण्डल राज्य इत्यादि सभी कालके ग्रासमें पड़े हुए एवं अनित्य लगने लगे। अतएव वे श्रीभगवान्‌की आराधना करनेके लिए बदरिकाश्रम चले गये॥ १६॥

तस्यां विशुद्धकरणः शिववार्विगाह्य
बद्धासनं जितमरुन्मनसाहृताक्षः।
स्थूले दधार भवत्प्रतिरूप एतद्-
ध्यायंस्तदव्यवहितो व्यसृजत् समाधौ॥ १७॥

उस बदरिकाश्रममें महाराज ध्रुवने पवित्र जलमें अवगाहन किया एवं इन्द्रियोंको परम शुद्ध करके स्वस्तिक आदि आसनकी रचना की। वायुको वशमें करके तथा मनके द्वारा समस्त इन्द्रियोंको बाह्य विषयोंसे हटाकर वे श्रीभगवान्‌के प्रतिनिधिभूत विराट्-स्वरूपकी धारणा करने लगे। इस प्रकार धारणा करते-करते वे उसीमें एकनिष्ठ होकर समाधिस्थ हो गये एवं उन्हें वह स्थूल रूप भी विस्मृत हो गया॥ १७॥

भक्तिं हरौ भगवति प्रवहन्नजस्र-
मानन्दबाष्पकलया मुहुरर्द्यमानः।
विक्लिद्यमानहृदयः पुलकाचिताङ्गो
नात्मानमस्मरदसाविति मुक्तलिङ्गः॥ १८॥

इस प्रकार महात्मा ध्रुवका भगवान् श्रीहरिमें निरन्तर भक्ति-प्रवाह बढ़ता गया। उनके नेत्रोंसे निरन्तर आनन्दाश्रु प्रवाहित होने लगे, जिससे वे अभिभूत हो गये। उनका हृदय द्रवीभूत हो गया और रोम-रोम खिल उठा। इस प्रकार उनका देहाभिमान दूर हो गया और उन्हें देहकी सुध-बुध ही न रही॥ १८॥

स ददर्श विमानाग्र्यं नभसोऽवतरद् ध्रुवः।
विभ्राजयद्दश दिशो राकापतिमिवोदितम्॥ १९॥

इतनेमें ही ध्रुवने देखा कि एक उत्कृष्ट विमान नवोदित चन्द्रमाके समान दसों दिशाओंको प्रकाशित करते हुए गगनमण्डलसे नीचे उतर रहा है॥ १९॥

तत्रानु देवप्रवरौ चतुर्भुजौ
श्यामौ किशोरावरुणाम्बुजेक्षणौ।
स्थिताववष्टभ्य गदां सुवाससौ
किरीटहाराङ्गदचारुकुण्डलौ॥ २०॥

महात्मा ध्रुवने देखा कि उस विमानमें दो श्रेष्ठ देवता गदाका सहारा लिये खड़े हैं। उनकी चार भुजाएँ हैं, सुन्दर श्याम वर्ण है, तरुण अवस्था है और अरुण-कमलके समान नेत्र हैं। वे सुन्दर वस्त्र, मनोज्ञ किरीट, हार, भुजबन्ध एवं चमचमाते कुण्डलोंसे अलंकृत हैं॥ २०॥

विज्ञाय तावुत्तमगायकिङ्करा-
वभ्युत्थितः साध्वसविस्मृतक्रमः।
ननाम नामानि गृणन् मधुद्विषः
पार्षत्प्रधानाविति संहताञ्जलिः॥ २१॥

महात्मा ध्रुव उन्हें उत्तमश्लोक श्रीभगवान्‌के किङ्कर एवं मधुसूदन श्रीहरिके प्रधान पार्षद जानकर घबरा गये और यथाविधि पूजा-विधान आदिके क्रमको भूल गये। वे आसनसे उठे और उन्होंने हाथ जोड़कर केवलमात्र श्रीहरिके नामों 'जय नारायण, जय गोपाल, जय गोविन्द' का उच्चारण करते हुए उन पार्षदोंको प्रणाम किया॥ २१॥

तं कृष्णपादाभिनिविष्टचेतसं
बद्धाञ्जलिं प्रश्रयनम्रकन्धरम्।
सुनन्दनन्दावुपसृत्य सस्मितं
प्रीत्योचतुः पुष्करनाभसम्मतौ॥ २२॥

महात्मा ध्रुवका हृदय भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें अभिनिविष्ट था। वे हाथ जोड़कर विनयसे मुख नीचा किये खड़े रहे। तब श्रीनारायणके प्रिय पार्षद सुनन्द एवं नन्द ध्रुवके समीप गये और उनसे बड़े प्रेमके साथ मुस्कराते हुए कहने लगे॥ २२॥

श्रीसुनन्दनन्दावूचतुः—

भो भो राजन् सुभद्रं ते वाचं नोऽवहितः शृणु।
यं पञ्चवर्षस्तपसा भवान् देवमतीतृपत्॥ २३॥

तस्याखिलजगद्धातुरावां देवस्य शार्ङ्गिणः।
पार्षदाविह सम्प्राप्तौ नेतुं त्वां भगवत्पदम्॥ २४॥

श्रीसुनन्द एवं नन्दने कहा—हे राजन्! आपका मङ्गल हो। आप एकाग्रचित्त होकर हमारे वचनोंको सुनिये। आपने पाँच वर्षकी

अवस्थामें ही तपस्या करके जिन निखिल जगत्-कर्त्ता सर्वेश्वर भगवान् श्रीहरिको प्रसन्न किया था, हम उन्हीं शार्ङ्ग-पाणि[1] भगवान् श्रीहरिके ही सेवक हैं। हम आपको उन श्रीभगवान्के चरणकमलोंमें ले जानेके लिए ही यहाँ आये हैं॥ २३-२४॥

सुदुर्जयं विष्णुपदं जितं त्वया
यत् सूरयोऽप्राप्य विचक्षते परम्।
आतिष्ठ तच्चन्द्रदिवाकरादयो
ग्रहर्क्षताराः परियन्ति दक्षिणम्॥ २५॥

आपने अपनी भक्तिसे परम दुर्लभ विष्णुपदको जीत लिया है। सप्तर्षिगण भी उस श्रेष्ठ पदको प्राप्त करनेमें असमर्थ होनेके कारण केवल उसकी ओर टकटकी लगाये रहते हैं। सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र एवं तारा-मण्डल उस स्थानकी निरन्तर परिक्रमा करते रहते हैं। चलिये, आप उस पदको सुशोभित कीजिये॥ २५॥

अनास्थितं ते पितृभिरन्यैरप्यङ्ग कर्हिचित्।
आतिष्ठ जगतां वन्द्यं तद्विष्णोः परमं पदम्॥ २६॥

हे ध्रुव! आपके पिता, पितामह अथवा कोई और तपस्वी कभी भी उस पदपर आसीन नहीं हुए हैं। आप जगत्के वन्दनीय उन विष्णुके परमपद (धाम) पर आरोहण कीजिये॥ २६॥

एतद्विमानप्रवरमुत्तमःश्लोकमौलिना ।
उपस्थापितमायुष्मन्नधिरोढुं त्वमर्हसि॥ २७॥

हे आयुष्मान्! महायशस्वी पुरुषोंके मुकुटमणि श्रीहरिने आपके लिए यह उत्कृष्ट विमान भेजा है, आप कृपा करके इसपर चढ़िये॥ २७॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

निशम्य वैकुण्ठनियोज्यमुख्ययो-
र्मधुच्युतं वाचमुरुक्रमप्रियः।

---

[1] शार्ङ्ग नामक धनुषको धारण करनेवाले।

कृताभिषेकः कृतनित्यमङ्गलो
मुनीन् प्रणम्याशिषमभ्यवादयत्॥ २८॥

श्रीमैत्रेयने कहा—हे विदुर! भगवान् वैकुण्ठनाथके दोनों भगवत्-पार्षदोंकी अमृत-वर्षिणी वाणीको सुनकर भगवान् उरुक्रमके प्रिय ध्रुवने स्नान किया और नित्य सन्ध्या-वन्दनादि माङ्गलिक कर्मोंसे निवृत्त होकर बदरिकाश्रममें रहनेवाले मुनियोंको प्रणामकर उनसे आशीर्वादकी भिक्षा माँगी॥ २८॥

परीत्याभ्यर्च्य धिष्ण्याग्र्यं पार्षदावभिवन्द्य च।
इयेष तदधिष्ठातुं बिभ्रद्रूपं हिरण्मयम्॥ २९॥

इसके बाद उन्होंने उस श्रेष्ठ विमानकी वन्दना और परिक्रमा करके सुनन्द एवं नन्द नामक दोनों पार्षदोंका अभिवादन किया तथा दिव्य तेजोमय रूप धारण करके उस विमानपर चढ़नेकी इच्छा प्रकाशित की॥ २९॥

तदोत्तानपदः पुत्रो ददर्शान्तकमागतम्।
मृत्योर्मूर्ध्नि पदं दत्त्वा आरुरोहाद्भुतं गृहम्॥ ३०॥

उत्तानपाद-नन्दन ध्रुव विमानपर चढ़ना ही चाहते थे कि उन्होंने मृत्युको अपने सम्मुख उपस्थित देखा। वे मृत्युके सिरपर पैर रखकर अर्थात् मृत्युको जयकर उस अद्भुत विमानपर सवार हो गये॥ ३०॥

तदा दुन्दुभयो नेदुर्मृदङ्गपणवादयः।
गन्धर्वमुख्याः प्रजगुः पेतुः कुसुमवृष्टयः॥ ३१॥

उस समय आकाशमें दुन्दुभि, मृदङ्ग, ढोल आदि बाजे बजने लगे। प्रधान-प्रधान गन्धर्वोंने गाना आरम्भ कर दिया और आकाशसे पुष्पोंकी वर्षा होने लगी॥ ३१॥

स च स्वर्लोकमारोक्ष्यन् सुनीतिं जननीं ध्रुवः।
अन्वस्मरदगं हित्वा दीनां यास्ये त्रिपिष्टपम्॥ ३२॥

जैसे ही ध्रुव विमानमें बैठकर विष्णुधामको जानेके लिए तैयार हुए, तभी उन्हें अपनी माता सुनीतिका स्मरण हो आया। वे सोचने

लगे कि 'दुःखिता माता सुनीतिको छोड़कर मैं दुर्लभ विष्णुलोकको अकेला कैसे जाऊँगा?'॥ ३२॥

इति व्यवसितं तस्य व्यवसाय सुरोत्तमौ।
दर्शयामासतुर्देवीं पुरो यानेन गच्छतीम्॥ ३३॥

ध्रुवको लेनेके लिए आये हुए दोनों पार्षद ध्रुवके हृदयकी बात जान गये। उन्होंने ध्रुवको दिखलाया कि उनके आगे जानेवाले विमानमें माता सुनीति देवी विराजमान हैं॥ ३३॥

तत्र तत्र प्रशंसद्भिः पथि वैमानिकैः सुरैः।
अवकीर्यमाणो ददृशे कुसुमैः क्रमशो ग्रहान्॥ ३४॥

विष्णुधामके पथपर उन्होंने सूर्य आदि सभी ग्रहोंको देखा। जहाँ-तहाँ विमानोंमें बैठे हुए देवता उनकी प्रशंसा करते हुए उनपर पुष्पोंकी वर्षा करके उन्हें विभूषित कर रहे थे॥ ३४॥

त्रिलोकीं देवयानेन सोऽतिव्रज्य मुनीनपि।
परस्ताद्यद्ध्रुवगतिर्विष्णोः पदमथाभ्यगात्॥ ३५॥

यद्भ्राजमानं स्वरुचैव सर्वतो
लोकास्त्रयो ह्यनु विभ्राजन्त एते।
यन्नाव्रजन् जन्तुषु येऽननुग्रहा
व्रजन्ति भद्राणि चरन्ति येऽनिशम्॥ ३६॥

इस प्रकार विमानके द्वारा तीनों लोकों एवं सप्तर्षि मण्डलको पार करके महाराज ध्रुव उनके भी ऊपर स्थित अपनी निश्चल गतिस्वरूप भगवान् श्रीविष्णुके नित्य धाममें पहुँच गये। यह दिव्यधाम अपने ही तेजसे सर्वदा प्रकाशमान है तथा उस धामके नीचे स्थित अन्यान्य लोकसमूह उसकी प्रभासे ही निरन्तर प्रकाशित होते हैं। जो समस्त प्राणियोंके प्रति निरन्तर हितका आचरण करते हैं, वे ही उस उत्तम पदको प्राप्त कर सकते हैं॥ ३५-३६॥

शान्ताः समदृशः शुद्धाः सर्वभूतानुरञ्जनाः।
यान्त्यञ्जसाच्युतपदमच्युतप्रियबान्धवाः ॥ ३७॥

जो शान्त, समदर्शी, शुद्ध, समस्त प्राणियोंको हरिसेवामें लगाकर उनकी आत्माको प्रसन्न करते हैं तथा भगवान् श्रीकृष्ण ही जिनके परम प्रिय बान्धव हैं, वे अनायास ही उस अच्युत-पदको प्राप्त करते हैं॥ ३७॥

इत्युत्तानपदः पुत्रो ध्रुवः कृष्णपरायणः।
अभूत् त्रयाणां लोकानां चूडामणिरिवामलः॥ ३८॥
गम्भीरवेगोऽनिमिषं ज्योतिषां चक्रमाहितम्।
यस्मिन् भ्रमति कौरव्य मेध्यामिव गवां गणः॥ ३९॥

हे विदुर! जिस प्रकार जुते हुए बैल खम्भेके चारों ओर घूमते हैं, उसी प्रकार महात्मा ध्रुवने जिस लोकको प्राप्त किया, उससे युक्त होकर ज्योतिश्चक्र उस अविनाशी लोकको घेरकर अविच्छिन्न वेगसे उसके चारों ओर घुमता है। इस प्रकार श्रीकृष्णमें अनुरक्त और निर्मल चित्त उत्तानपाद-नन्दन महात्मा ध्रुव तीनों लोकोंके चूड़ामणि-स्वरूप हो गये थे॥ ३८-३९॥

महिमानं विलोक्यास्य नारदो भगवानृषिः।
आतोद्यं विनुदन् श्लोकान् सत्रेऽगायत् प्रचेतसाम्॥ ४०॥

निर्मल चित्तवाले ध्रुवकी ऐसी महिमा देखकर ऐश्वर्यवान देवर्षि नारदने प्रजापतियोंकी यज्ञ-सभामें वीणा वादन करते हुए निम्नलिखित तीन श्लोक गाये थे॥ ४०॥

श्रीनारद उवाच—

नूनं सुनीतेः पतिदेवताया-
स्तपःप्रभावस्य सुतस्य तां गतिम्।
दृष्ट्वाभ्युपायानपि वेदवादिनो
नैवाधिगन्तुं प्रभवन्ति किं नृपाः॥ ४१॥

श्रीनारदने कहा—पति-परायणा सुनीतिके पुत्र ध्रुवने तपस्याके प्रभावसे जिस गतिको प्राप्त किया था, मैं निश्चित रूपसे कहता हूँ कि वेदवाद-परायण ब्रह्मर्षिगण भी कभी उस गतिको प्राप्त करनेमें

समर्थ नहीं हैं। तब फिर अन्यान्य पार्थिव राजाओंकी तो बात ही क्या कहूँ?॥ ४१॥

यः पञ्चवर्षो गुरुदारवाक्शरै-
र्भिन्नेन यातो हृदयेन दूयता।
वनं मदादेशकरोऽजितं प्रभुं
जिगाय तद्भक्तगुणैः पराजितम्॥ ४२॥

पाँच वर्षकी अवस्थामें ही सौतेली माताके वाक्य-बाणोंसे ध्रुवका हृदय विदीर्ण हो गया था और वह दुःखी अन्तःकरणसे वनमें चला गया था। तदुपरान्त मेरे आदेशके अनुसार उसने अजित श्रीहरिको अपनी भक्तिके द्वारा वशमें कर लिया था, क्योंकि भगवान् श्रीहरि अजित होनेपर भी अपने भक्तोंके गुणोंके द्वारा ही सर्वदा पराजित हो जाते हैं॥ ४२॥

यः क्षत्रबन्धुर्भुवि तस्याधिरूढ-
मन्वारुरुक्षेदपि वर्षपूगैः।
षट्पञ्चवर्षो यदहोभिरल्पैः
प्रसाद्य वैकुण्ठमवाप तत्पदम्॥ ४३॥

ध्रुवने पाँच अथवा छह वर्षकी आयुमें ही वैकुण्ठनाथ श्रीभगवान्की आराधना करके कुछ दिनोंमें ही जिस उत्तम पदको प्राप्त किया था, इस पृथ्वीका अन्य कोई क्षत्रिय बहुत वर्षों तक चेष्टा करके भी क्या उनके द्वारा अधिकृत इस पदपर आरोहण करनेकी दुराशा कर सकता है?॥ ४३॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

एतत् तेऽभिहितं सर्वं यत् पृष्टोऽहमिह त्वया।
ध्रुवस्योद्दामयशसश्चरितं सम्मतं सताम्॥ ४४॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! तुमने मुझसे जिन साधु-सम्मत विपुल-कीर्त्ति ध्रुवके चरित्रके विषयमें पूछा था, उसे मैंने सम्पूर्ण रूपसे तुम्हें सुना दिया है॥ ४४॥

धन्यं यशस्यमायुष्यं पुण्यं स्वस्त्ययनं महत्।
स्वर्ग्यं ध्रौव्यं सौमनस्यं प्रशस्यमघमर्षणम्॥ ४५॥

श्रुत्वैतच्छ्रद्धयाभीक्ष्णमच्युतप्रियचेष्टितम् ।
भक्तिर्भवेद्भगवति यया स्यात् क्लेशसंक्षयः॥ ४६॥

ध्रुवका चरित्र अति धन्य, यश एवं आयुको बढ़ानेवाला, परम मङ्गलस्वरूप, महत्, स्वर्ग और ध्रुवलोकको प्राप्त करानेवाला, मनको शुद्ध करनेवाला, अत्यन्त प्रशंसनीय एवं पाप-विनाशक है। भगवान् अच्युतके प्रियपात्र भक्त ध्रुवका यह चरित्र श्रद्धाके साथ पुनः-पुनः श्रवण करनेसे भगवान्‌के प्रति भक्ति उत्पन्न होती है और भगवत्-भक्तिके प्राप्त होनेसे अविद्यादि क्लेश सम्पूर्ण रूपसे विनष्ट हो जाते हैं॥ ४५-४६॥

महत्त्वमिच्छतस्तीर्थं श्रोतुः शीलादयो गुणाः।
यत्र तेजस्तदिच्छूनां मानो यत्र मनस्विनाम्॥ ४७॥

यदि कोई सर्वोत्कृष्ट पदको प्राप्त करनेकी इच्छा रखता है, तो वह ध्रुव-चरित्रका श्रवण करे। इसे श्रवण करनेसे श्रोताको शीलादि गुणोंकी, तेज-प्रार्थीको तेजकी एवं मनस्वी व्यक्तियोंको अति उन्नत हृदयकी प्राप्ति होती है॥ ४७॥

प्रयतः कीर्तयेत् प्रातः समवाये द्विजन्मनाम्।
सायञ्च पुण्यश्लोकस्य ध्रुवस्य चरितं महत्॥ ४८॥

पवित्रकीर्त्ति ध्रुवके इस महत्-चरित्रका ब्राह्मणादि द्विजातियोंकी सभामें प्रातः और सायंकालमें एकाग्रचित्तसे कीर्त्तन करना चाहिये॥ ४८॥

पौर्णमास्यां सिनीवाल्यां द्वादश्यां श्रवणेऽथवा।
दिनक्षये व्यतीपाते संक्रमेऽर्कदिनेऽपि वा॥ ४९॥

पूर्णिमा, अमावस्या, द्वादशी, श्रवणा नक्षत्र, तीन तिथियोंका स्पर्श होनेपर, व्यतीपात[१], संक्रान्ति अथवा रविवारको इस ध्रुव-चरितका कीर्त्तन करना उचित है॥ ४९॥

---

[१] विष्कम्भ आदि सत्ताईस योगोंमेंसे एक योग।

श्रावयेत् श्रद्दधानानां तीर्थपादप्रियाश्रयः।
नेच्छंस्तत्रात्मनात्मानं सन्तुष्ट इति सिध्यति॥ ५०॥

हे विदुर! तीर्थपाद श्रीहरिके प्रिय भक्तोंका पदाश्रयकर जो हरिकथाको श्रवण करनेमें श्रद्धावान हो, उन्हें ध्रुवका चरित्र श्रवण कराना। निष्काम होकर ध्रुव-चरित्रका कीर्त्तन अथवा श्रवण करनेसे मन अपने आप ही प्रसन्न होता है, अतः अनायास ही सिद्धिकी प्राप्ति होती है॥ ५०॥

ज्ञानमज्ञाततत्त्वाय यो दद्यात् सत्पथेऽमृतम्।
कृपालोर्दीननाथस्य देवास्तस्यानुगृह्णते॥ ५१॥

जब कोई व्यक्ति भगवत्-तत्त्वके विषयमें अनभिज्ञ व्यक्तियोंको भगवान्‌के सत्-मार्ग विषयक ज्ञानामृतको प्रदान करता है, तो देवता भी दीनोंका उद्धार करनेवाले उस कृपाशील व्यक्तिके मार्गमें कोई विघ्न उत्पन्न नहीं कर पाते॥ ५१॥

इदं मया तेऽभिहितं कुरूद्वह
ध्रुवस्य विख्यातविशुद्धकर्मणः।
हित्वार्भकक्रीडनकानि मातु-
र्गृहञ्च विष्णुं शरणं जगाम॥ ५२॥

हे कुरुवंशावतंस विदुर! मैंने तुम्हें प्रसिद्ध विशुद्धकर्मा ध्रुवका पवित्र चरित्र सुना दिया है। ये ध्रुव बाल्यकालमें ही बालोचित खिलौने आदि एवं माताके गृहका परित्याग करके भगवान् विष्णुके शरणापन्न हुए थे॥ ५२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां चतुर्थस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे
श्रीध्रुवचरितं नाम द्वादशोऽध्यायः॥

त्रयोदशोऽध्यायः

ध्रुवके वंशमें वेनका जन्म और उसके निष्ठुर आचरणसे उसके पिता राजा अङ्गका वन गमन

श्रीसूत उवाच—

निशम्य कौषारविणोपवर्णितं
ध्रुवस्य वैकुण्ठपदाधिरोहणम्।
प्ररुढभावो भगवत्यधोक्षजे
प्रष्टुं पुनस्तं विदुरः प्रचक्रमे॥ १॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—हे शौनक! श्रीमैत्रेय ऋषिके मुखसे श्रीध्रुवके विष्णु-धाम प्राप्तिके विषयमें सुनकर इन्द्रियातीत भगवान् श्रीनारायणके प्रति विदुरकी भक्ति और भी सुदृढ़ हो गयी। उन्होंने पुनः श्रीमैत्रेय ऋषिसे प्रश्न करना आरम्भ कर दिया॥ १॥

श्रीविदुर उवाच—

के ते प्रचेतसो नाम कस्यापत्यानि सुव्रत।
कस्यान्ववाये प्रख्याताः कुत्र वा सत्रमासत॥ २॥

श्रीविदुरने पूछा—हे सुव्रत! (देवर्षि नारद जिन प्रचेताओंके यज्ञ-स्थलमें ध्रुवके माहात्म्यका गान कर रहे थे) वे प्रचेतागण कौन थे? उन्होंने किस वंशमें जन्म-ग्रहण किया था? वे किसके पुत्र थे? उन्होंने किस स्थानपर यज्ञका अनुष्ठान किया था?॥ २॥

मन्ये महाभागवतं नारदं देवदर्शनम्।
येन प्रोक्तः क्रियायोगः परिचर्याविधिर्हरेः॥ ३॥

भगवत्-दर्शनसे कृतार्थ देवर्षि नारदको मैं एक महाभागवत और भगवत्-तत्त्वज्ञ महापुरुषके रूपमें जानता हूँ। उन्होंने श्रीभगवान्की पूजा-पद्धतिरूप क्रियायोगका उपदेश पञ्चरात्रादि शास्त्रोंमें दिया है॥ ३॥

स्वधर्मशीलैः पुरुषैर्भगवान् यज्ञपूरुषः।
इज्यमानो भगवता नारदेनेडितः किल॥ ४॥

उस यज्ञमें वर्णाश्रमधर्ममें निष्ठ प्रचेतागण यज्ञपुरुष श्रीभगवान् नारायणकी पूजा-आराधना कर रहे थे। उस समय भक्तिमान श्रीनारदने उन भगवान्की स्तुति की थी॥ ४॥

यास्ता देवर्षिणा तत्र वर्णिता भगवत्कथाः।
मह्यं शुश्रूषवे ब्रह्मन् कार्त्स्न्येनाचष्टुमर्हसि॥ ५॥

हे ब्रह्मन्! प्रचेताओंके उस यज्ञस्थलमें देवर्षि नारदने भगवान्की जिन-जिन लीला-कथाओंका वर्णन किया था, आप मुझे उन सब कथाओंको विस्तारपूर्वक सुनाइये। उन कथाओंको सुननेके लिए मुझे बड़ी उत्सुकता हो रही है॥ ५॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

ध्रुवस्य चोत्कलः पुत्रः पितरि प्रस्थिते वनम्।
सार्वभौमश्रियं नैच्छदधिराजासनं पितुः॥ ६॥

स जन्मनोपशान्तात्मा निःसङ्गः समदर्शनः।
ददर्श लोके विततमात्मानं लोकमात्मनि॥ ७॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! (ध्रुवके वंशमें ही प्रचेताओंने जन्म-ग्रहण किया था, अतएव उनकी वंशावलीका वर्णन करनेसे ही प्रचेताओंकी बात भी आ जायेगी, इसी अभिप्रायसे मैं महाराज ध्रुवके वंशका वर्णन कर रहा हूँ, तुम उसे श्रवण करो।) पिताके वनमें चले जानेके लिए उद्यत होनेपर ध्रुव-तनय उत्कलने ज्येष्ठ होनेके कारण अपने पिता द्वारा पालित समस्त भू-सम्पत और राजसिंहासनके अधिकारी होनेपर भी उसे ग्रहण करनेकी कोई इच्छा नहीं की, क्योंकि उत्कल जन्मसे ही ज्ञानी, प्रशान्त-चित्त, आसक्ति-रहित और समदर्शी थे। वे समस्त प्राणियोंमें परमात्माके एवं परमात्मामें समस्त प्राणियोंके दर्शन करते थे॥ ६-७॥

आत्मानं ब्रह्म निर्वाणं प्रत्यस्तमितविग्रहम्।
अवबोधरसैकात्म्यमानन्दमनुसन्ततम् ॥ ८॥

अव्यवच्छिन्नयोगाग्नि-दग्धकर्ममलाशयः ।
स्वरूपमवरुन्धानो नात्मनोऽन्यत् तदैक्षत॥ ९॥

निरन्तर अभ्यास किये जानेवाले योगानलमें उनके अन्तःकरणका कर्मवासनारूपी मल भस्म हो जानेके कारण वे शान्त, निरुपाधिक, ज्ञानैक रस, आनन्दमय, सर्वत्र व्याप्त जीवात्माको (भगवान्‌का अंश होनेके कारण) परमकारणरूप ब्रह्मसे अभिन्न मानने लगे थे। जब उन्हें आत्म-उपलब्धि हो गयी, तब उन्हें अद्वयज्ञानपरतत्त्व ब्रह्मके अतिरिक्त किसी दूसरी वस्तुकी स्वतन्त्र सत्ता ही दिखायी नहीं दी॥ ८-९॥

जडान्धबधिरोन्मत्त-मूकाकृतिरतन्मतिः ।
लक्षितः पथि बालानां प्रशान्तार्चिरिवानलः॥ १०॥

जब वे मार्गपर चलते थे, तब अज्ञानी बालक उन्हें जड़ (मूर्ख), अन्धा, बहरा, उन्मत्त और गूँगा समझते थे। परन्तु वास्तवमें उनकी बुद्धि जड़ व्यक्तिके समान नहीं थी। वे बिना लपटकी आगके समान रहते थे॥ १०॥

मत्वा तं जडमुन्मत्तं कुलवृद्धाः समन्त्रिणः।
वत्सरं भूपतिं चक्रुर्यवीयांसं भ्रमेः सुतम्॥ ११॥

मन्त्रियों एवं कुलके बड़े-बूढ़ोंने उत्कलको अकर्मण्य एवं पागल समझकर उनके छोटे भाई भ्रमिपुत्र वत्सरको राजाके पदपर अभिषिक्त कर दिया॥ ११॥

सुवीथीर्वत्सरस्येष्टा भार्यासूत षडात्मजान्।
पुष्पार्णं तिग्मकेतुञ्च इषमूर्जं वसुं जयम्॥ १२॥

सुवीथी वत्सरकी प्रियतमा पत्नी थी। उसके गर्भसे पुष्पार्ण, तिग्मकेतु, इष, ऊर्ज, वसु एवं जय नामके छह पुत्र उत्पन्न हुए॥ १२॥

पुष्पार्णस्य प्रभा भार्या दोषा च द्वे बभूवतुः।
प्रातर्मध्यन्दिनं सायमिति ह्यासन् प्रभासुताः॥ १३॥

पुष्पार्णकी प्रभा एवं दोषा नामकी दो पत्नियाँ थीं। उनमेंसे प्रभाके प्रातः, मध्याह्न और सायाह्न नामक तीन पुत्र हुए॥ १३॥

प्रदोषो निशिथो व्युष्ट इति दोषासुतास्त्रयः।
व्युष्टः सुतं पुष्करिण्यां सर्वतेजसमादधे॥ १४॥

दोषाके प्रदोष, निशीथ और व्युष्ट नामके तीन पुत्र हुए। व्युष्टने पुष्करिणी नामकी अपनी पत्नीके गर्भसे सर्वतेजा नामक एक पुत्र उत्पन्न किया॥ १४॥

स चक्षुः सुतमाकूत्यां पत्न्यां मनुमवाप ह।
मनोरसूत महिषी विरजान् नड्वला सुतान्॥ १५॥
पुरुं कृत्स्नमृतं द्युम्नं सत्यवन्तं धृतं व्रतम्।
अग्निष्टोममतीरात्रं प्रद्युम्नं शिबिमुल्मुकम्॥ १६॥

वही सर्वतेजा बादमें चक्षु नामसे जाना गया और उसने आकूति नामकी पत्नीके गर्भसे चाक्षुष मनु नामक एक पुत्र उत्पन्न किया। चक्षुष मनुकी महिषी नड्वलासे पुरु, कृत्स्न, ऋत्, द्युमान्, सत्यवान्, धृत, व्रत, अग्निष्टोम, अतिरात्र, प्रद्युम्न, शिबि और उल्मुक नामक बारह शुद्ध चित्तवाले पुत्र उत्पन्न हुए॥ १५-१६॥

उल्मुकोऽजनयत् पुत्रान् पुष्करिण्यां षडुत्तमान्।
अङ्गं सुमनसं स्वातिं क्रतुमङ्गिरसं गयम्॥ १७॥

उनमेंसे उल्मुकने अपनी पत्नी पुष्करिणीके गर्भसे अङ्ग, सुषमा, स्वाति, क्रतु, अङ्गिरा और गय नामक छह पुत्र उत्पन्न किये जो दया, दक्षिणा आदि गुणोंसे सम्पन्न थे॥ १७॥

सुनीथाङ्गस्य या पत्नी सुषुवे वेनमुल्बणम्।
यद्दौःशील्यात् स राजर्षिर्निर्विण्णो निरगात् पुरात्॥ १८॥

अङ्गकी पत्नी सुनीथाने वेन नामक एक भयङ्कर पुत्रको जन्म दिया। उस वेनकी दुष्टताके कारण धर्मात्मा अङ्ग विरक्त होकर नगर छोड़कर चले गये॥ १८॥

यमङ्ग शेपुः कुपिता वाग्वज्रा मुनयः किल।
गतासोस्तस्य भूयस्ते ममन्थुर्दक्षिणं करम्॥ १९॥

हे विदुर! अति प्रभावशाली मुनियोंके वचन वज्रके समान अमोघ होते हैं। उन्होंने क्रोधित होकर वेनको अभिशाप दे डाला, जिससे

उसके प्राण चले गये। इन ऋषियोंने मृत वेनकी दाहिनी भुजाका मन्थन किया था॥ १९॥

अराजके तदा लोके दस्युभिः पीडिताः प्रजाः।
जातो नारायणांशेन पृथुराद्यः क्षितीश्वरः॥ २०॥

कोई भी रक्षक न होनेके कारण पृथ्वीपर अराजकता व्याप्त हो गयी। लुटेरे प्रजाओंका उत्पीड़न करने लगे। ऋषियों द्वारा उनकी रक्षाके लिए वेनकी भुजाका मन्थन किये जानेपर श्रीभगवान् नारायणके अंशसे आदिराज[१] पृथु उत्पन्न हुए॥ २०॥

श्रीविदुर उवाच—

तस्य शीलनिधेः साधोर्ब्रह्मण्यस्य महात्मनः।
राज्ञः कथमभूद्दुष्टा प्रजा यद्विमना ययौ॥ २१॥

श्रीविदुरने कहा—समस्त सद्‌गुणोंके भण्डार, साधु और ब्राह्मणोंके भक्त महात्मा अङ्गराजकी इस प्रकारकी कुलाङ्गार सन्तान होनेका क्या कारण था, जिसके फलस्वरूप राजा अङ्ग विरक्त होकर नगर त्यागकर वन जानेके लिए बाध्य हुए॥ २१॥

किं वांहो वेन उद्दिश्य ब्रह्मदण्डमयूयुजन्।
दण्डव्रतधरे राज्ञि मुनयो धर्मकोविदाः॥ २२॥

और, शासन करनेका व्रत धारण करनेवाले अर्थात् दण्डधारी राजा वेनसे ऐसा क्या अपराध हुआ था, जिसके कारण धर्मको भलीभाँति जाननेवाले ऋषियोंने उन्हें ब्रह्मशाप दे डाला?॥ २२॥

नावध्येयः प्रजापालः प्रजाभिरघवानपि।
यदसौ लोकपालानां बिभर्त्योजः स्वतेजसा॥ २३॥

प्रजाका पालन करनेवाला राजा पापी होनेपर भी प्रजाके द्वारा तिरस्कृत नहीं किया जा सकता, क्योंकि राजा अपने तेजके प्रभावसे इन्द्रादि लोकपालोंके सामर्थ्यको धारण किया करता है॥ २३॥

---

[१] राजा पृथुको आदिराज कहनेका कारण यह है कि उन्होंने ही सर्वप्रथम पृथ्वीको नगर एवं ग्राम आदिमें विभक्त किया था।

एतदाख्याहि मे ब्रह्मन् सुनीथात्मजचेष्टितम्।
श्रद्दधानाय भक्ताय त्वं परावरवित्तमः॥ २४॥

हे ब्रह्मन्! आप भूत-भविष्यको जाननेवालोंमें अति श्रेष्ठ हैं। इस सुनीथाके पुत्र वेनके आचरण और उसके प्रति मुनियोंके कोपके कारणका वर्णन कीजिये। मैं श्रद्धा एवं भक्तिके साथ इसे सुनना चाहता हूँ॥ २४॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

अङ्गोऽश्वमेधं राजर्षिराजहार महाक्रतुम्।
नाजग्मुर्देवतास्तस्मिन्नाहूता ब्रह्मवादिभिः॥ २५॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! जब राजर्षि अङ्गने अश्वमेध महायज्ञका अनुष्ठान किया था, तब मन्त्रज्ञ ब्राह्मणों द्वारा आवाहन किये जानेपर भी देवता अपना भाग लेनेके लिए उस यज्ञमें नहीं आये॥ २५॥

त ऊचुर्विस्मितास्तत्र यजमानमथर्त्विजः।
हवींषि हूयमानानि न ते गृह्णन्ति देवताः॥ २६॥

हे वत्स! इससे विस्मित होकर ऋत्विजोंने यजमान अङ्गराजसे कहा—राजन्! हम जिस घृतादि हवनीय द्रव्योंकी आहुतियोंके द्वारा हवन कर रहे हैं, देवता उसे ग्रहण नहीं कर रहे हैं॥ २६॥

राजन् हवींष्यदुष्टानि श्रद्धयासादितानि ते।
छन्दांस्ययातयामानि योजितानि धृतव्रतैः॥ २७॥

हे राजन्! आपने समस्त हव्य-सामग्री बड़ी श्रद्धाके साथ संग्रहीत की है, यह निर्दोष है तथा याजकोचित सभी नियमोंका दृढ़तापूर्वक पालन करनेवाले हम जिन वेदमन्त्रोंका प्रयोगकर रहे हैं, वे भी बलहीन नहीं हैं॥ २७॥

न विदामेह देवानां हेलनं वयमण्वपि।
यन्न गृह्णन्ति भागान् स्वान् ये देवाः कर्मसाक्षिणः॥ २८॥

इस यज्ञमें देवताओंकी तिलमात्र भी अवहेलना हुई हो—हमें ऐसा भी नहीं लगता, फिर भी वे अपने-अपने यज्ञ-भागको ग्रहण क्यों नहीं कर रहे हैं?॥ २८॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

अङ्गो द्विजवचः श्रुत्वा यजमानः सुदुर्मनाः।
तं प्रष्टुं व्यसृजद्वाचं सदस्यांस्तदनुज्ञया॥ २९॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—ऋत्विक ब्राह्मणोंके इस प्रकारके वचन सुनकर यजमान अङ्ग बहुत दुःखी हो गये। तब उन्होंने सदस्योंसे देवताओंके न आने तथा अपने दोषका कारण जाननेके लिए यज्ञ-पुरोहितोंसे अनुमति ली और अपना मौन भङ्ग करते हुए पूछा॥ २९॥

नागच्छन्त्याहुता देवा न गृह्णन्ति ग्रहानिह।
सदसस्पतयो ब्रूत किमवद्यं मया कृतम्॥ ३०॥

(महाराज अङ्गने पूछा—)हे सदस्यो! देवताओंको इस यज्ञमें आह्वान किया गया है, फिर भी वे आ नहीं रहे हैं और न ही वे सोमपात्र ग्रहण कर रहे हैं। इसका कारण क्या है? मुझसे कौन-सा निन्दित कर्म हो गया है? आप ही बतलाइये॥ ३०॥

श्रीसदसस्पतय ऊचुः—

नरदेवेह भवतो नाघं तावन्मनाक् स्थितम्।
अस्त्येकं प्राक्तनमघं यदिहेदृक् त्वमप्रजः॥ ३१॥

सदस्योंने कहा—हे नरपते! इस जन्ममें तो आपने कोई भी पाप नहीं किया है, किन्तु पूर्वजन्ममें किया हुआ आपका एक पाप अवश्य है, जिसके कारण इस जन्ममें धार्मिक होकर भी आप पुत्रहीन हैं॥ ३१॥

तथा साधय भद्रं ते आत्मानं सुप्रजं नृप।
इष्टस्ते पुत्रकामस्य पुत्रं दास्यति यज्ञभुक्॥ ३२॥

अतएव हे राजन्! आप सुपुत्र प्राप्त करनेका कोई उपाय कीजिये। इसीसे आपका कल्याण होगा। आप पुत्रकी कामनासे यज्ञ-भोक्ता भगवान्की अर्चना करें, वे आपको पुत्र प्रदान करेंगे॥ ३२॥

तथा स्वभागधेयानि ग्रहीष्यन्ति दिवौकसः।
यद्यज्ञपुरुषः साक्षादपत्याय हरिर्वृतः॥ ३३॥

आप जब सन्तान-प्राप्तिके लिए यज्ञपुरुष श्रीहरिका वरणकर उनका आवाहन करेंगे, तब उनके साथ सभी देवता आकर अपना-अपना भाग ग्रहण करेंगे॥ ३३॥

तांस्तान् कामान् हरिर्दद्याद् यान् यान् कामयते जनः।
आराधितो यथैवैष तथा पुंसां फलोदयः॥ ३४॥

उपासक जिस-जिस वस्तुकी कामना करते हैं, भगवान् श्रीहरि उन्हें वही वस्तु प्रदान कर देते हैं। वस्तुतः जो व्यक्ति जिस भावसे भगवान्‌की आराधना करता है, उसके फलका उदय भी उस भावके अनुरूप ही होता है॥ ३४॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

इति व्यवसिता विप्रास्तस्य राज्ञः प्रजातये।
पुरोडाशं निरवपन् शिपिविष्टाय विष्णवे॥ ३५॥

ब्राह्मणोंने सभासदोंकी बात सुनकर उनकी बातोंपर विश्वासकर राजा अङ्गको पुत्रकी प्राप्ति करानेके लिए पशुमें यज्ञरूपसे प्रविष्ट होकर अवस्थित श्रीभगवान् विष्णुके उद्देश्यसे पुरोडाश नामक हविसे आहुति प्रदान की॥ ३५॥

तस्मात् पुरुष उत्तस्थौ हेममाल्यमलाम्बरः।
हिरण्मयेन पात्रेण सिद्धमादाय पायसम्॥ ३६॥

अग्निमें आहुति डालते ही उस यज्ञाग्निमेंसे स्वर्ण-हारसे विभूषित एवं उज्ज्वल वस्त्र पहने हुए एक पुरुष प्रकट हुए। वे एक स्वर्ण-पात्रमें सुपक्व खीर लिये हुए थे॥ ३६॥

स विप्रानुमतो राजा गृहीत्वाञ्जलिनौदनम्।
अवघ्राय मुदा युक्तः प्रादात् पत्न्या उदारधीः॥ ३७॥

उदारबुद्धि राजाने ब्राह्मणोंकी अनुमतिसे अपनी अञ्जलिमें वह खीर ग्रहण की और बड़े प्रसन्नचित्त होकर स्वयं सूँघकर उसे पत्नी सुनीथाको दे दिया॥ ३७॥

सा तत् पुंसवनं राज्ञी प्राश्य वै पत्युरादधे।
गर्भं काल उपावृत्ते कुमारं सुषुवेऽप्रजाः॥ ३८॥

पुत्रहीना रानी सुनीथाने उस पुत्र-प्रदायक खीरको आनन्दपूर्वक खाया तथा अपने पतिसे गर्भ धारण किया। यथासमय उसने एक पुत्रको जन्म दिया॥ ३८॥

स बाल एव पुरुषो मातामहमनुव्रतः।
अधर्मांशोद्भवं मृत्युं तेनाभवदधार्मिकः॥ ३९॥

वह राजपुत्र वेन बाल्यकालसे ही अधर्मके अंशसे उत्पन्न हुए अपने नाना 'मृत्यु' का ही अनुगामी था, इसलिए वह भी अधार्मिक ही हुआ॥ ३९॥

स शरासनमुद्यम्य मृगयुर्वनगोचरः।
हन्त्यसाधुर्मृगान् दीनान् वेनोऽसावित्यरौज्जनः॥ ४०॥

वह दुष्ट बालक वेन शिकारके लोभसे वनमें जाता था और अपने धनुष-बाणसे दुर्भागे हिरणोंको मार डालता था। पुरवासी उसे दूरसे देखते ही 'वेन आ रहा है, वेन आ रहा है' कहकर भयसे चिल्ला उठते थे॥ ४०॥

आक्रीडे क्रीडतो बालान् वयस्यानतिदारुणः।
प्रसह्य निरनुक्रोशः पशुमारममारयत्॥ ४१॥

वह इतना निष्ठुर और निर्दयी था कि क्रीड़ाभूमिमें समान आयुवाले बालकोंके साथ क्रीड़ा करते हुए उन्हें पशुओंके समान मार डालता था॥ ४१॥

तं विचक्ष्य खलं पुत्रं शासनैर्विविधैर्नृपः।
यदा न शासितुं कल्पो भृशमासीत् सुदुर्मनाः॥ ४२॥

पुत्र वेनको प्राणियोंका उत्पीड़न करनेमें निरत देखकर राजा अङ्गने डाँट-डपट और मार-पीट आदि अनेक उपायोंसे उसे सुधारना चाहा, किन्तु जब वे उसे सुमार्गपर लानेमें सम्पूर्ण रूपसे असमर्थ हो गये, तब उनका हृदय अत्यन्त दुःखित हो गया॥ ४२॥

प्रायेणाभ्यर्चितो देवो येऽप्रजा गृहमेधिनः।
कदपत्यभृतं दुःखं ये न विन्दन्ति दुर्भरम्॥ ४३॥

(वे विचार करने लगे) पुत्रहीन गृहमेधि[१] प्रायः पुत्रकी कामनाके वशीभूत होकर भक्तोंके दुःखोंको दूर करनेवाले श्रीहरिकी अर्चना करते हैं, किन्तु हाय! कुपुत्रसे कैसा असहनीय दुःख प्राप्त होता है! यदि वे इस बातको जानते, तो कभी भी पुत्रकी कामना नहीं करते॥ ४३॥

यतः पापीयसी कीर्तिरधर्मश्च महान् नृणाम्।
यतो विरोधः सर्वेषां यत आधिरनन्तकः॥ ४४॥

कुसन्तानसे मनुष्योंका सम्पूर्ण यश नष्ट हो जाता है, महान् अधर्मका भागीदार होना पड़ता है, सभी प्राणियोंके साथ विरोध हो जाता है और कभी न छूटनेवाली चिन्ता लग जाती है॥ ४४॥

कस्तं प्रजापदेशं वै मोहबन्धनमात्मनः।
पण्डितो बहु मन्येत यदर्थाः क्लेशदा गृहाः॥ ४५॥

जिस पुत्रके कारण घर कष्टदायक हो पड़ता है, ऐसा नाम-मात्रका पुत्र ही कुपुत्र है। वह केवल मोह-बन्धनका ही कारण होता है। अतः कौन विवेकवान व्यक्ति ऐसे पुत्रकी लालसा करेगा?॥ ४५॥

कदपत्यं वरं मन्ये सदपत्याच्छुचां पदात्।
निर्विद्येत गृहान्मर्त्यो यत्क्लेशनिवहा गृहाः॥ ४६॥

सुपुत्रकी अपेक्षा कुपुत्र ही अधिक शुभदायक है। इसका कारण है कि कुपुत्रसे घर नरकके समान अनुभव होने लगता है और इसके फलस्वरूप मनुष्यको गृहस्थ धर्मके प्रति विरक्ति हो जाती है॥ ४६॥

एवं स निर्विण्णमना नृपो गृहा-
न्निशीथ उत्थाय महोदयोदयात्।
अलब्धनिद्रोऽनुपलक्षितो नृभि-
र्हित्वा गतो वेनसुवं प्रसुप्ताम्॥ ४७॥

---

[१] इन्द्रिय-तपर्णमें रत भगवत्-सेवा-विमुख गृहस्थ।

इस प्रकार सोचते-सोचते राजा अङ्गको वैराग्य हो गया। रातमें उन्हें नींद नहीं आयी। वे आधी रातको शय्यासे उठ बैठे और सबका मोह छोड़कर समृद्धिशाली राजमहलसे निकलकर वनको चल दिये। वेनकी माता सुनीथा नींदमें बेसुध पड़ी थी, तथा दूसरे लोगोंको भी इस बातका पता नहीं चला॥ ४७॥

विज्ञाय निर्विद्य गतं पतिं प्रजाः
पुरोहितामात्यसुहृद्गणादयः ।
विचिक्युरुर्व्यामतिशोककातरा
यथा निगूढं पुरुषं कुयोगिनः॥ ४८॥

तदनन्तर, महाराजने विरक्त होकर गृहका त्याग कर दिया है—यह जानकर समस्त प्रजा, पुरोहित, मन्त्री एवं सभी सुहृद् शोकके कारण अत्यन्त विह्वल होकर राजा अङ्गको, जो कि अभी वेश बदलकर उसी नगरीमें ही रह रहा था, अपनी पुरीके अतिरिक्त पृथ्वीपर सर्वत्र उसी प्रकार ढूँढ़ने लगे जैसे कुयोगी अर्थात् योगके रहस्यको न जाननेवाले अपने हृदयमें छिपे हुए भगवान्‌को बाहरमें ढूँढ़ते हैं॥ ४८॥

अलक्षयन्तः पदवीं प्रजापते-
र्हतोद्यमाः प्रत्युपसृत्य ते पुरीम्।
ऋषीन् समेतानभिवन्द्य साश्रवो
न्यवेदयन् पौरव भर्तृविप्लवम्॥ ४९॥

हे विदुर! जब राजा अङ्ग किसी भी स्थानपर नहीं मिले, तब सभी प्रजा-पुरोहितादि विफल मनोरथ होकर राजधानी लौट आये। वहाँ आकर उन्होंने एकत्रित हुए ऋषियोंको यथावत् प्रणाम किया तथा अश्रुपूर्ण नेत्रोंसे राजाके न मिलनेका वृत्तान्त कह सुनाया॥ ४९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां चतुर्थस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे श्रीअङ्गप्रव्रज्या नाम त्रयोदशोऽध्यायः॥

चतुर्दशोऽध्यायः

राजा वेनकी कथा

श्रीमैत्रेय उवाच—

भृग्वादयस्ते मुनयो लोकानां क्षेमदर्शिनः।
गोप्तर्यसति वै नृणां पश्यन्तः पशुसाम्यताम्॥ १॥

वीरमातरमाहूय सुनीथां ब्रह्मवादिनः।
प्रकृत्यसम्मतं वेनमभ्यषिञ्चन् पतिं भुवः॥ २॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! लोगोंके कल्याणकी चिन्तामें रत भृगु आदि ब्रह्मवादी मुनियोंने प्रजाको अपने रक्षकके अभावमें पशुके समान भोगोन्मुख होते देखकर वेनकी माता सुनीथाको बुलवाया और उसकी अनुमति लेकर प्रजाकी सम्मति न रहनेपर भी वेनको राजपदपर नियुक्त कर दिया॥ १-२॥

श्रुत्वा नृपासनगतं वेनमत्युग्रशासनम्।
निलिल्युर्दस्यवः सद्यः सर्पत्रस्ता इवाखवः॥ ३॥

अति कठोर स्वभाववाले वेनको राज्य-सिंहासन प्राप्त हो गया है, यह सुनकर दस्यु (चोर-डाकू) सर्पसे डरे हुए चूहोंके समान इधर-उधर छिप गये॥ ३॥

स आरूढनृपस्थान उन्नद्धोऽष्टविभूतिभिः।
अवमेने महाभागान् स्तब्धः सम्भावितः स्वतः॥ ४॥

वेन राज्य-सिंहासनपर आरूढ़ होकर अष्ट लोकपालोंके ऐश्वर्यसे क्रमशः समृद्धि प्राप्त करने लगा और स्वयंको वीर-श्रेष्ठ जानकर अभिमानवशतः महाभागवतोंका तिरस्कार करने लगा॥ ४॥

एवं मदान्ध उत्सिक्तो निरङ्कुश इव द्विपः।
पर्यटन् रथमास्थाय कम्पयन्निव रोदसी॥ ५॥

न यष्टव्यं न दातव्यं न होतव्यं द्विजाः क्वचित्।
इति न्यवारयद्धर्मं भेरीघोषेण सर्वतः॥ ६॥

इस प्रकार राजाका सिंहासन प्राप्त करके वेन ऐश्वर्यसे मदान्ध होकर लौकिक और वैदिक आचरण शून्य हो गया। वह अङ्कुश और प्रहारसे रहित हाथीके समान स्वर्गलोक एवं भूलोकको कँपाता हुआ रथपर चढ़कर इधर-उधर पर्यटन करने लगा। उसने धर्मानुष्ठान करनेमें सभी प्रकारसे बाधा प्रदान की और ढिंढोरा पिटवाकर सर्वत्र यह घोषणा करवा दी कि कोई भी ब्राह्मण किसी प्रकारका यज्ञ, दान अथवा होमादि क्रिया न करे॥ ५-६॥

वेनस्यावेक्ष्य मुनयो दुर्वृत्तस्य विचेष्टितम्।
विमृश्य लोकव्यसनं कृपयोचुः स्म सत्रिणः॥ ७॥

हे विदुर! दुराचारी वेनके द्वारा सदाचारपर लगाये गये प्रतिबन्धको देखकर मुनिगण समझ गये कि धर्म-कर्मादिके नाश होनेसे जगत्पर महान-सङ्कट उपस्थित हुआ है। इसलिए कृपा परवश होकर वे सब एकत्रित होकर परस्पर इस प्रकार कहने लगे॥ ७॥

अहो उभयतः प्राप्तं लोकस्य व्यसनं महत्।
दारुण्युभयतो दीप्त इव तस्करपालयोः॥ ८॥

अहो! कैसा आश्चर्य है! जैसे लकड़ीके मूल और अग्रभागके जलनेपर उस लकड़ीके बीचमें रहनेवाले चींटी आदि जन्तुओंके लिए दोनों ही दिशाओंमें सङ्कट उपस्थित होता है, उसी प्रकार इन धर्मनिष्ठ लोगोंको नगरमें रहनेपर राजाका और नगरसे बाहर जानेपर दस्यु-तस्करादि का भय सता रहा है॥ ८॥

अराजकभयादेष कृतो राजाऽतदर्हणः।
ततोऽप्यासीद्भयन्त्वद्य कथं स्यात् स्वस्ति देहिनाम्॥ ९॥

अराजकताके भयसे राजसिंहासनके नितान्त अयोग्य होनेपर भी हमने वेनको राजाके पदपर आसीन कर दिया था, किन्तु उससे तो प्रजाको अधिक भय ही हो रहा है। इस अवस्थामें प्रजाके मङ्गलके लिए उपाय क्या है?॥ ९॥

अहेरिव पयःपोषः पोषकस्याप्यनर्थभृत्।
वेनः प्रकृत्यैव खलः सुनीथागर्भसम्भवः।
निरूपितः प्रजापालः स जिघांसति वै प्रजाः॥ १०॥

जिस प्रकार दुग्ध द्वारा पालित कालसर्प पालकके लिए भी अनर्थ उत्पन्न करता है, उसी प्रकार यह वेन हमारे लिए भी अनिष्ट उत्पन्न कर रहा है। सुनीथाकी कोखसे उत्पन्न यह वेन स्वभावसे ही दुष्ट है। हमने इसे प्रजा-पालकके पदपर बिठाया था, परन्तु यह तो स्वयं ही प्रजाघातक बन गया है॥ १०॥

तथापि सान्त्वयेमामुं नास्मांस्तत्पातकं स्पृशेत्।
तद्विद्वद्भिरसद्वृत्तो वेनोऽस्माभिः कृतो नृपः॥ ११॥

यद्यपि हम जानते थे कि वेन दुराचारी है, तो भी हमने इसे राजा बनाया। किन्तु अब हम इसे सत्-युक्तियोंके द्वारा समझानेका प्रयास करेंगे, जिससे कि इसके पाप हमें स्पर्श न कर सकें॥ ११॥

सान्त्वितो यदि नो वाचं न ग्रहीष्यत्यधर्मकृत्।
लोकधिक्कारसन्दग्धं दहिष्यामः स्वतेजसा॥ १२॥

एक तो यह अधार्मिक वेन प्रजाओंके धिक्कारसे जर्जरित है, उसपर भी यदि यह हमारे समझानेसे नहीं सम्भलता है, तो हम इसे अपनी क्रोधाग्निसे भस्म कर डालेंगे॥ १२॥

एवमध्यवसायैनं मुनयो गूढमन्यवः।
उपव्रज्याब्रुवन् वेनं सान्त्वयित्वाथ सामभिः॥ १३॥

मुनिगण इस प्रकार निश्चय करके अपने-अपने क्रोधको छिपाते हुए वेनके समीप गये और उसे प्रिय वचनोंसे समझाते हुए कहने लगे॥ १३॥

श्रीमुनय ऊचुः—

नृपवर्य निबोधैतद्यत्ते विज्ञापयाम भोः।
आयुःश्रीबलकीर्तीनां तव तात विवर्द्धनम्॥ १४॥

श्रीमुनियोंने कहा—हे नृपश्रेष्ठ! हे वत्स! हम तुमसे जो भी कह रहे हैं, इससे तुम्हारी आयु, ऐश्वर्य, बल और कीर्त्ति आदि बढ़ेंगे। तुम इन सब बातोंपर सावधानीपूर्वक ध्यान दो॥ १४॥

धर्म आचरितः पुंसां वाङ्मनःकायबुद्धिभिः।
लोकान् विशोकान् वितरत्यप्यानन्त्यमसङ्गिनाम्॥ १५॥

काय-मन-वचन एवं बुद्धि द्वारा अनुष्ठित धर्म सकाम मनुष्योंको स्वर्ग आदि लोक तथा निष्काम व्यक्तियोंको मोक्ष तक भी प्रदान किया करता है॥ १५॥

स ते मा विनशेद्वीर प्रजानां क्षेमलक्षणः।
यस्मिन् विनष्टे नृपतिरैश्वर्यादवारोहति॥ १६॥

अतः हे वीर! तुम प्रजाओंके कल्याणजनक धर्मका विनाश मत करो, क्योंकि धर्मके विनष्ट होनेपर राजाको ऐश्वर्यसे भ्रष्ट होना पड़ता है॥ १६॥

राजन्नसाध्वमात्येभ्यश्चौरादिभ्यः प्रजा नृपः।
रक्षन् यथा बलिं गृह्णन्निह प्रेत्य च मोदते॥ १७॥

हे राजन्! जो राजा असत् मन्त्रियों एवं चोर-लुटेरोंसे प्रजाकी रक्षा करता है और शास्त्रोंके निर्देशानुसार कर ग्रहण करता है, वह इस लोक एवं परलोक—दोनोंमें ही सुख प्राप्त करता है॥ १७॥

यस्य राष्ट्रे पुरे चैव भगवान् यज्ञपूरुषः।
इज्यते स्वेन धर्मेण जनैर्वर्णाश्रमात्मकैः॥ १८॥
तस्य राज्ञो महाराज भगवान् भूतभावनः।
परितुष्यति विश्वात्मा तिष्ठतो निजशासने॥ १९॥

हे महाराज! जिस राजाके राज्य और नगरमें वर्णाश्रम-धर्मका पालनकर प्रजा अपने-अपने अधिकारोचित धर्मके अनुसार भगवान् यज्ञपुरुषकी आराधना करती है, प्रजापालनरूप भगवत्-अभिलषित कार्यमें अवस्थित उस राजाके प्रति भूतभावन विश्वात्मा श्रीभगवान् अत्यधिक सन्तुष्ट होते हैं॥ १८-१९॥

तस्मिंस्तुष्टे किमप्राप्यं जगतामीश्वरेश्वरे।
लोकाः सपाला ह्येतस्मै हरन्ति बलिमादृताः॥ २०॥

ब्रह्मादि जगदीश्वरोंके भी ईश्वर उन भगवान्‌के प्रसन्न होनेपर उस राजाके लिए और क्या अप्राप्य रह सकता है? क्योंकि तब लोकपालों सहित सभी प्राणी आदरपूर्वक उसे पूजोपहार समर्पण करते हैं॥ २०॥

तं सर्वलोकामरयज्ञसंग्रहं
त्रयीमयं द्रव्यमयं तपोमयम्।
यज्ञैर्विचित्रैर्यजतो भवाय ते
राजन् स्वदेशाननुरोद्धुमर्हसि॥ २१॥

हे राजन्! श्रीहरि स्वर्गादि लोक, लोकपाल, देवताओं एवं यज्ञोंके नियामक हैं। वे यज्ञके बोधक वेदत्रयीरूप, यज्ञीय द्रव्यरूप एवं तपोरूप हैं। तुम्हारी ये स्वदेशवासी प्रजा तुम्हारे ही मङ्गलके लिए स्वाध्याय द्रव्यादिमय यज्ञके द्वारा उन भगवान्‌का यजन करती है, अतः तुम्हें भी अपने आचरण द्वारा प्रजाको प्रेरणा प्रदान करनी चाहिये॥ २१॥

यज्ञेन युष्मद्विषये द्विजातिभि-
र्वितायमानेन सुराः कला हरेः।
स्विष्टाः सुतुष्टाः प्रदिशन्ति वाञ्छितं
तद्धेलनं नार्हसि वीर चेष्टितुम्॥ २२॥

हे वीर! ब्राह्मण यदि तुम्हारे राज्यमें यज्ञका अनुष्ठान करेंगे, तब सम्यक् रूपसे पूजित होनेपर श्रीहरिके अंशसे उत्पन्न देवता प्रसन्न होकर अभिलषित वर प्रदान करेंगे। अतः उन देवताओंकी अवज्ञा करना तुम्हारे लिए उचित नहीं है॥ २२॥

श्रीवेन उवाच—

बालिशा बत यूयं वा अधर्मे धर्ममानिनः।
ये वृत्तिदं पतिं हित्वा जारं पतिमुपासते॥ २३॥

वेनने कहा—हे मुनियो! मेरी सेवाका परित्याग करके विष्णुके भजनरूप अधर्ममें ही तुमलोगोंने धर्मबुद्धि कर रखी है। अतएव निश्चय ही तुम कुछ नहीं जानते हो, क्योंकि तुम लोग अन्नदाता

वास्तविक-पतिका त्याग करके व्यभिचारिणी स्त्रीके समान जार-पतिकी उपासना करते हो?॥ २३॥

अवजानन्त्यमी मूढा नृपरूपिणमीश्वरम्।
नानुविन्दन्ति ते भद्रमिह लोके परत्र च॥ २४॥

अपनी मूर्खता तो देखो! तुमलोग राजारूपी मुझ ईश्वरकी अवज्ञा कर रहे हो। अतः तुम्हारा न तो इस लोकमें मङ्गल होगा और न ही परलोकमें॥ २४॥

को यज्ञपुरुषो नाम यत्र वो भक्तिरीदृशी।
भर्तृस्नेहविदूराणां यथा जारे कुयोषिताम्॥ २५॥

कुलटा स्त्रियाँ ही विवाहित पतिकी सेवाका परित्याग करके पर-पुरुषमें आसक्त होती हैं, तुम्हारी भक्ति भी उसी प्रकारकी देख रहा हूँ। जिसमें तुम्हारी इतनी भक्ति है, वह यज्ञपुरुष है कौन? उसका नाम क्या है?॥ २५॥

विष्णुर्विरिञ्चो गिरिश इन्द्रो वायुर्यमो रविः।
पर्जन्यो धनदः सोमः क्षितिरग्निरपाम्पतिः॥ २६॥

एते चान्ये च विबुधाः प्रभवो वरशापयोः।
देहे भवन्ति नृपतेः सर्वदेवमयो नृपः॥ २७॥

ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर, इन्द्र, चन्द्र, वायु, अग्नि, वरुण, पर्जन्य (मेघ), कुबेर, यम, सूर्य, पृथ्वी आदि एवं अन्य समस्त देवता जो वरदान एवं शाप प्रदान करनेमें समर्थ हैं, वे सब राजाकी देहमें विराजमान रहते हैं। इसलिए राजा ही सर्वदेवमय होता है॥ २६-२७॥

तस्मान्मां कर्मभिर्विप्रा यजध्वं गतमत्सराः।
बलिञ्च मह्यं हरत मत्तोऽन्यः कोऽग्रभुक् पुमान्॥ २८॥

अतः हे विप्रो! तुम सब मेरे प्रति मत्सरताका परित्याग करके मेरी इच्छानुसार कार्योंसे मेरे ही उद्देश्यसे यज्ञ करो। मेरे लिए ही पूजोपहार (कर आदि) समर्पित करो। अतः मेरे अतिरिक्त और कौन व्यक्ति अग्रभुक् अथवा आराध्य हो सकता है?॥ २८॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

इत्थं विपर्ययमतिः पापीयानुत्पथं गतः।
अनुनीयमानस्तद्याच्ञां न चक्रे भ्रष्टमङ्गलः॥ २९॥

श्रीमैत्रय ऋषिने कहा—भ्रान्तमति होनेके कारण वेन पापिष्ठ एवं कुमार्गगामी हो गया था तथा उसके पुण्य नष्ट हो चुके थे। मुनियोंने उससे बार-बार विनयपूर्वक अनुरोध किया, परन्तु उसने उनकी एक बात न सुनी॥ २९॥

इति तेऽसत्कृतास्तेन द्विजाः पण्डितमानिना।
भग्नायां भव्ययाच्ञायां तस्मै विदुर चुक्रुधुः॥ ३०॥

हे विदुर! इस प्रकार कल्याणकारिणी उपदेशोंके व्यर्थ होनेपर एवं अपनेको पण्डित माननेवाले वेनके द्वारा अपमानित होकर ब्राह्मण लोग उसपर अत्यधिक क्रोधित हो गये और कहने लगे॥ ३०॥

हन्यतां हन्यतामेष पापः प्रकृतिदारुणः।
जीवन् जगदसावाशु कुरुते भस्मसाद्ध्रुवम्॥ ३१॥

इस पापीका स्वभाव बड़ा ही निष्ठुर है, इसे अभी मार डालो। यह पापात्मा यदि जीवित रहा, तो निश्चित रूपसे अपनी दुराचाररूप अग्निसे समस्त जगत्को भस्म कर डालेगा॥ ३१॥

नायमर्हत्यसद्वृत्तो नरदेववरासनम्।
योऽधियज्ञपतिं विष्णुं विनिन्दत्यनपत्रपः॥ ३२॥

इस दुराचारीमें राजसिंहासनपर बैठनेकी कोई योग्यता नहीं है। यह इतना निर्लज्ज है कि सर्वयज्ञेश्वर भगवान् श्रीहरिकी निन्दा करता है॥ ३२॥

को वैनं परिचक्षीत वेनमेकमृतेऽशुभम्।
प्राप्त ईदृशमैश्वर्यं यदनुग्रहभाजनः॥ ३३॥

जिन भगवान् श्रीविष्णुके अनुग्रहसे यह अत्यधिक उत्कृष्ट ऐश्वर्यका स्वामी हुआ है, उन भगवान्की निन्दा इस मूर्त्तिमान पापी वेनके अतिरिक्त और कौन कर सकता है?॥ ३३॥

इत्थं व्यवसिता हन्तुमृषयो रूढमन्यवः।
निजघ्नुर्हूङ्कृतैर्वेणं हतमच्युतनिन्दया॥ ३४॥

इस प्रकार मुनियोंने वेनका वध करनेका निश्चय करके क्रोध प्रकट किया एवं अच्युत भगवान् श्रीहरिकी निन्दाके कारण पहलेसे ही मरे हुए वेनको अपनी हुङ्कार-ध्वनिसे मार डाला॥ ३४॥

ऋषिभिः स्वाश्रमपदं गते पुत्रकलेवरम्।
सुनीथा पालयामास विद्यायोगेन शोचती॥ ३५॥

इस प्रकार वेनका वध करके ऋषि अपने-अपने आश्रमोंमें चले गये। शोकसे विह्वल वेनकी माता सुनीथा पुत्रकी मृत देहकी विद्यायोग अर्थात् मन्त्र द्वारा रक्षा करने लगी॥ ३५॥

एकदा मुनयस्ते तु सरस्वत्सलिलाप्लुताः।
हुत्वाग्नीन् सत्कथाश्चक्रुरुपविष्टाः सरित्तटे॥ ३६॥

एक दिन वे सब मुनि सरस्वतीके पवित्र जलमें स्नानकर होम-कार्यसे निवृत्त होकर उस नदीके तटपर बैठकर भगवत्-कथाओंकी चर्चा कर रहे थे॥ ३६॥

वीक्ष्योत्थितान् तदोत्पातानाहुर्लोकभयङ्करान्।
अप्यभद्रमनाथाया दस्युभ्यो न भवेद्भुवः॥ ३७॥

किन्तु, उसी समय लोगोंको आतङ्कित करनेवाले बहुत-से भयङ्कर उपद्रवोंको समुपस्थित देखकर मुनिगण परस्पर कहने लगे—पृथ्वी राजाके बिना सुरक्षित नहीं है, कहीं चोर-डाकुओंसे इसका कुछ अमङ्गल तो नहीं हो रहा है?॥ ३७॥

एवं मृशन्त ऋषयो धावतां सर्वतो दिशम्।
पांशुः समुत्थितो भूरिश्चौराणामभिलुम्पताम्॥ ३८॥

वे ऋषि इस प्रकार परस्पर विचार कर ही रहे थे कि चारों दिशाओंसे अर्थलोभी चोर और डाकू आक्रमण करनेके लिए दौड़ पड़े, जिससे बड़ी भारी धूल उड़ने लगी॥ ३८॥

तदुपद्रवमाज्ञाय लोकस्य वसु लुम्पताम्।
भर्तर्युपरते तस्मिन्नन्योन्यञ्च जिघांसताम्॥ ३९॥
चौरप्रायं जनपदं हीनसत्त्वमराजकम्।
लोकान् नावारयन् शक्ता अपि तद्दोषदर्शिनः॥ ४०॥

यह दृश्य देखते ही मुनिगण समझ गये कि राजा वेनकी मृत्युके बाद दस्यु लोग प्रजाओंका धन चुरानेमें तत्पर हैं तथा एक-दूसरेके प्राणोंका संहार करनेमें प्रवृत्त दुर्जनगण साधुओंके प्रति उपद्रव मचा रहे हैं। उन्होंने यह भी देखा कि जनपद अराजक, चोर प्राय और धैर्यहीन हो गयी है। यद्यपि क्षत्रियगण ऐसी उपद्रवकारी जनताको वेनकी भाँति नाश करनेमें समर्थ हैं तथा उन्हें नाश न करनेके दोषोंको भी जानते हैं, तथापि ऐसी जनपदको उनके कुकर्मोंसे रोक नहीं रहे हैं॥ ३९-४०॥

ब्राह्मणः समदृक् शान्तो दीनानां समुपेक्षकः।
स्रवते ब्रह्म तस्यापि भिन्नभाण्डात् पयो यथा॥ ४१॥

फिर उन्होंने विचार किया कि ब्राह्मण समदर्शी एवं शान्त होनेपर भी यदि दुर्बलोंके प्रति अत्याचार देखकर उसके निवारणकी उपेक्षा कर देते हैं, तो फूटे हुए घड़ेसे दुग्ध-क्षरणके समान उनका भी तप नष्ट हो जाता है॥ ४१॥

नाङ्गस्य वंशो राजर्षेरेष संस्थातुमर्हति।
अमोघवीर्या हि नृपा वंशेऽस्मिन् केशवाश्रयाः॥ ४२॥

(ऋषि कहने लगे—)राजर्षि अङ्गके इस वंशका पूरी तरहसे नाश होना उचित नहीं है, क्योंकि इस वंशमें भगवान् श्रीकेशवमें अनुरक्त अनेक अमोघवीर्य राजा उत्पन्न हुए हैं॥ ४२॥

विनिश्चित्यैवमृषयो विपन्नस्य महीपतेः।
ममन्थुरूरुं तरसा तत्रासीद्बाहुको नरः॥ ४३॥
काककृष्णोऽतिह्रस्वाङ्गो ह्रस्वबाहुर्महाहनुः।
ह्रस्वपान्निम्ननासाग्रो रक्ताक्षस्ताम्रमूर्द्धजः॥ ४४॥

ऋषियोंने इस प्रकार निश्चय करके सुनीथाके द्वारा रक्षित मृत राजा वेनकी जाँघका बड़े वेगके साथ मन्थन किया, जिससे उसमेंसे एक बौने पुरुषकी उत्पत्ति हुई। उसका वर्ण कौएके समान काला था, उसके सभी अङ्ग और विशेष रूपसे दोनों भुजाएँ अत्यन्त छोटी थीं, उसके दोनों जबड़े बहुत बड़े थे, टाँगे बहुत छोटी थीं, नाकका अग्रभाग चपटा था, दोनों आँखें लाल रङ्गकी थीं तथा केश ताम्र वर्णके थे॥ ४३-४४॥

तन्तु तेऽवनतं दीनं किं करोमीति वादिनम्।
निषीदेत्यब्रुवंस्तात स निषादस्ततोऽभवत्॥ ४५॥

उस बौने पुरुषने सिर झुकाकर दीनता और विनम्र भावसे पूछा कि 'मैं क्या करूँ'? तब ऋषियोंने कहा—'निषीद' अर्थात् 'बैठ जाओ'। ऋषियोंके इस 'निषीद' वचनसे वह 'निषाद' नामसे प्रसिद्ध हो गया॥ ४५॥

तस्य वंश्यास्तु नैषादा गिरिकाननगोचराः।
येनाहरज्जायमानो वेणकल्मषमुल्बणम्॥ ४६॥

निषादने जन्म लेते ही राजा वेनके भयङ्कर पापोंको अपने ऊपर ले लिया, इसलिए वह 'निषद' अर्थात् नीच जातिका हुआ। उसके वंशधर नैषाद भी हिंसा, लूटपाट आदि पाप-कर्मोंमें लगे रहते हैं तथा वन एवं पर्वतोंमें ही निवास करते हैं॥ ४६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां चतुर्थस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे श्रीपृथुचरिते निषादोत्पत्तिर्नाम चतुर्दशोऽध्यायः॥

पञ्चदशोऽध्यायः

महाराज पृथुका आविर्भाव और राज्याभिषेक

श्रीमैत्रेय उवाच—

अथ तस्य पुनर्विप्रैरपुत्रस्य महीपतेः।
बाहुभ्यां मथ्यमानाभ्यां मिथुनं समपद्यत॥ १॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! इसके बाद मुनियोंने पुनः पुत्रहीन पृथ्वीपति वेनकी दोनों भुजाओंका मन्थन किया, जिससे एक पुरुष और एक स्त्री उत्पन्न हुए॥ १॥

तद्दृष्ट्वा मिथुनं जातमृषयो ब्रह्मवादिनः।
ऊचुः परमसन्तुष्टा विदित्वा भगवत्कलाम्॥ २॥

वे ब्रह्मवादी ऋषि उस स्त्री और पुरुषको उत्पन्न हुआ देखकर उन्हें श्रीभगवान्‌का अंश जानकर परम सन्तुष्ट हुए और कहने लगे॥ २॥

श्रीऋषय ऊचुः—

एष विष्णोर्भगवतः कला भुवनपावनी।
इयञ्च लक्ष्म्याः सम्भूतिः पुरुषस्यानपायिनी॥ ३॥

ऋषियोंने कहा—यह पुरुष भगवान् श्रीविष्णुका भुवन-पालन अंश है और यह स्त्री भी श्रीभगवान्‌की सनातनी लक्ष्मीके अंशसे उत्पन्न हुई है॥ ३॥

अत्र यः प्रथमो राज्ञां पुमान् प्रथयिता यशः।
पृथुर्नाम महाराजो भविष्यति पृथुश्रवाः॥ ४॥

इनमें जो पुरुष है, वह राजाओंमें सर्वप्रथम आदि-राजा होकर सुयशका विस्तार करेगा तथा महायशस्वी 'पृथु' नामसे प्रसिद्ध होकर महाराज चक्रवर्त्ती बनेगा॥ ४॥

इयञ्च देवी सुदती गुणभूषणभूषणम्।
अर्चिर्नाम वरारोहा पृथुमेवावरुन्धती॥ ५॥

और, यह देदीप्यमान सुन्दर दाँतोंवाली, गुण एवं आभूषणोंकी भी अलङ्कार-स्वरूपा श्रेष्ठ-सुन्दरी 'अर्चि' के नामसे विख्यात होकर महाराज पृथुको अपने पतिके रूपमें अङ्गीकार करके उनकी सेवा करेगी॥ ५॥

एष साक्षाद्धरेरंशो जातो लोकरिरक्षया।
इयञ्च तत्परा हि श्रीरनुजज्ञेऽनपायिनी॥ ६॥

यह पुरुष साक्षात् श्रीहरिका अंश है और केवल लोकरक्षणके लिए ही इन्होंने जन्म-ग्रहण किया है। यह स्त्री भी श्रीभगवान्‌की एकान्तिक भक्तिसे युक्त तथा उनके वियोगको सहन करनेमें असमर्थ लक्ष्मी-स्वरूपा है, इसलिए यह अपने पतिके साथ ही इस लोकमें आविर्भूत हुई है॥ ६॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

प्रशंसन्ति स्म तं विप्रा गन्धर्वप्रवरा जगुः।
मुमुचुः सुमनोधाराः सिद्धा नृत्यन्ति स्वःस्त्रियः॥ ७॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—इसके बाद विप्रगण उस पुरुषकी स्तुति करने लगे, श्रेष्ठ गन्धर्व यशोगान करने लगे, सिद्धगण पुष्पवृष्टि करने लगे और अप्सराओंने नृत्य करना आरम्भ कर दिया॥ ७॥

शङ्खतूर्यमृदङ्गाद्या नेदुर्दुन्दुभयो दिवि।
तत्र सर्व उपाजग्मुर्देवर्षिपितृणां गणाः॥ ८॥

स्वर्गमें देवता शङ्ख, तूर्य (तुरही) मृदङ्ग एवं दुन्दुभि आदि वाद्य बजाने लगे। तत्पश्चात् देवर्षि एवं पितर आदि सभी उस स्थानपर आ गये॥ ८॥

ब्रह्मा जगद्गुरुर्देवैः सहासृत्य सुरेश्वरैः।
वैण्यस्य दक्षिणे हस्ते दृष्ट्वा चिह्नं गदाभृतः॥ ९॥

पादयोररविन्दञ्च तं वै मेने हरेः कलाम्।
यस्याप्रतिहतं चक्रमंशः स परमेष्ठिनः॥ १०॥

जगद्गुरु ब्रह्माजीने देवताओं एवं देवेश्वरोंके साथ उस स्थानपर आकर देखा कि वेननन्दनके दायें हस्तमें विष्णुकी चक्ररेखा और दोनों चरणोंमें कमलके चिह्न विद्यमान हैं। अतः उन्होंने यह निश्चय कर लिया कि ये श्रीहरिके ही अंश हैं, क्योंकि जिनके हाथकी चक्ररेखा यदि अन्य रेखाओंके द्वारा कटी हुई न हो, तो वे परमेश्वरके ही अंश होते हैं॥ ९-१०॥

तस्याभिषेक आरब्धो ब्राह्मणैर्ब्रह्मवादिभिः।
आभिषेचनिकान्यस्मै आजह्रुः सर्वतो जनाः॥ ११॥

तब ब्रह्मवादी ब्राह्मणोंने उन पुरुषका अभिषेक करना आरम्भ कर दिया। उस समय सभी लोग चारों दिशाओंसे महाराज पृथुके अभिषेकके लिए सामग्रियाँ लाकर ब्राह्मणोंको समर्पित करने लगे॥ ११॥

सरित्समुद्रा गिरयो नागा गावः खगा मृगाः।
द्यौः क्षितिः सर्वभूतानि समाजह्रुरुपायनम्॥ १२॥

गिरि, नदी, समुद्र, नाग, गौ, पक्षी, मृग, स्वर्गलोक, भूलोक एवं समस्त जीव विविध प्रकारके उपहार लाकर भेंट करने लगे॥ १२॥

सोऽभिषिक्तो महाराजः सुवासाः साध्वलङ्कृतः।
पत्न्यार्चिषालङ्कृतया विरेजेऽग्निरिवापरः॥ १३॥

इस प्रकार ब्राह्मणोंके द्वारा पृथुका विधिवत् अभिषेक हुआ। उन्हें शोभनीय वस्त्रों और साधुजनों द्वारा निवेदित अलङ्कारोंसे सजाया गया। तदनन्तर विविध आभूषणोंसे अलंकृता महारानी अर्चिदेवीके साथ राजसिंहासनपर विराजमान होकर वे द्वितीय अग्निके समान प्रतीत होने लगे॥ १३॥

तस्मै जहार धनदो हैमं वीर वरासनम्।
वरुणः सलिलस्रावमातपत्रं शशिप्रभम्॥ १४॥

वायुश्च वालव्यजने धर्मः कीर्तिमयीं स्रजम्।
इन्द्रः किरीटमुत्कृष्टं दण्डं संयमनं यमः॥ १५॥
ब्रह्मा ब्रह्ममयं वर्म भारती हारमुत्तमम्।
हरिः सुदर्शनं चक्रं तत्पत्न्यव्याहतां श्रियम्॥ १६॥
दशचन्द्रमसिं रुद्रः शतचन्द्रं तथाम्बिका।
सोमोऽमृतमयानश्वांस्त्वष्टा रूपाश्रयं रथम्॥ १७॥
अग्निराजगवं चापं सूर्यो रश्मिमयानिषून्।
भूः पादुके योगमय्यौ द्यौः पुष्पावलिमन्वहम्॥ १८॥
नाट्यं सुगीतं वादित्रमन्तर्द्धानञ्च खेचराः।
ऋषयश्चाशिषः सत्याः समुद्रः शङ्खमात्मजम्॥ १९॥
सिन्धवः पर्वता नद्यो रथवीथीर्महात्मनः।
सूतोऽथ मागधो वन्दी तं स्तोतुमुपतस्थिरे॥ २०॥

हे वीर विदुर! महाराज पृथुको कुबेरने एक स्वर्णसिंहासन, वरुणने निरन्तर जलकी फुहारें रिसनेवाला तथा चन्द्रकान्तिसे उज्ज्वल एक छत्र, वायुने दो चँवर, धर्मने एक कीर्त्तिमयी (मलिन नहीं होनेवाली) माला, इन्द्रने उत्कृष्ट मुकुट, यमने शत्रु-वशीकारक दण्ड, ब्रह्माने वेदमय कवच, सरस्वतीने उत्तम हार, श्रीभगवान् विष्णुने सुदर्शनचक्र, विष्णुप्रिया लक्ष्मीने अक्षय सम्पत्, रुद्रदेवने दस चन्द्राकार चिह्नोंसे युक्त कोष (म्यान) के साथ तलवार, पार्वतीने शत चन्द्राकृतियोंसे अङ्कित एक ढाल, सोमने (मरण, भ्रान्ति और क्षोभ आदिसे रहित) अमृतमय अश्व, विश्वकर्माने एक अति सुन्दर रथ, अग्निने बकरे और गायके सींगोंसे निर्मित धनुष, सूर्यने रश्मियोंसे युक्त बाण, भूमिने चरण स्पर्शमात्रसे अभीष्ट स्थानपर पहुँचानेवाली योगमयी पादुकाएँ, आकाशने प्रतिदिन पुष्पाञ्जलि, विमानचारी गन्धर्व एवं विद्याधर आदिने नाट्य, गीत, वाद्य और नाट्यादि कौशल, ऋषियोंने अमोघ आशीर्वाद तथा समुद्रने अपने जलसे उत्पन्न शङ्ख उपहारमें प्रदान किये। समुद्र, पर्वत, नदी आदि सभीने श्रीविष्णु अवतार पृथुको बेरोक-टोक आने-जानेवाले रथमार्ग प्रदान किये। इस प्रकार समस्त प्रकारके उपहार निवेदित किये

जानेके बाद सूत, मागध एवं वन्दीगण उनकी स्तुति करनेके लिए वहाँ उपस्थित हुए॥ १४–२०॥

स्तावकांस्तानभिप्रेत्य पृथुर्वैन्यः प्रतापवान्।
मेघनिर्ह्रादया वाचा प्रहसन्निदमब्रवीत्॥ २१॥

महाप्रतापवान वेननन्दन पृथुने उन्हें स्तुतिके लिए उद्यत जानकर मुसकराते हुए मेघके समान गम्भीर वाणीसे कहा॥ २१॥

श्रीपृथुरुवाच—

भोः सूत हे मागध सौम्य वन्दिन्
लोकेऽधुनास्पष्टगुणस्य मे स्यात्।
किमाश्रयोऽमे स्तव एष योज्यतां
मा मय्यभूवन् वितथा गिरो वः॥ २२॥

श्रीपृथुने कहा—हे सौम्य सूत! हे मागध! हे वन्दिगण! मेरा पराक्रम तो इस पृथ्वीपर अभी प्रकाशित ही नहीं हुआ है, फिर आप किन गुणोंको आधार बनाकर मेरी स्तुति करना चाहते हैं? अतः इस स्तुतिके लिए मेरे अतिरिक्त किसी अन्य योग्य व्यक्तिका आश्रय लीजिये। आपकी वाणी मेरे लिए प्रयुक्त होकर मिथ्या प्रतिपन्न न हो—यही मेरी इच्छा है॥ २२॥

तस्मात् परोक्षेऽस्मदुपश्रुतान्यलं
करिष्यथ स्तोत्रमपीच्यवाचः।
सत्युत्तमश्लोकगुणानुवादे
जुगुप्सितं न स्तवयन्ति सभ्याः॥ २३॥

हे मधुरभाषी स्तावको! इस समय मेरे गुण व्यक्त नहीं हुए हैं। कालान्तरमें जब वे प्रकट हो जायेंगे, तब आप मेरी यश–महिमासे अपने प्रत्येक स्तोत्रको अलंकृत कर लेना। उत्तमश्लोक भगवान् श्रीहरिका गुणानुवाद ही कीर्त्तनीय है, अतः सभ्य लोग मेरे समान अप्रसिद्ध व्यक्तिको कभी भी स्तव–योग्य नहीं मानते॥ २३॥

महद्गुणानात्मनि कर्तुमीशः
कः स्तावकैः स्तावयतेऽसतोऽपि।

तेऽस्याभविष्यन्निति विप्रलब्धो
जनावहासं कुमतिर्न वेद॥ २४॥

अनेक लोगोंमें महान् व्यक्तियोंके गुणोंको अपनेमें समाहित करनेका सामर्थ्य होता है—यह सत्य है, किन्तु ऐसा कौन विवेकी व्यक्ति है, जो इन सब गुणोंके आविर्भूत होनेसे पहले ही केवल उनकी सम्भावनामात्रसे ही स्तावकोंके द्वारा अपनी स्तुति करवायेगा? अथवा 'शास्त्राभ्यास करनेपर तुम्हारे विद्यादि गुण प्रकट हो जायेंगे'—इस रूपमें किसीके द्वारा उपहासपरक स्तुति किये जानेपर यदि कोई इस स्तुतिको अपनी वञ्चना नहीं समझता, तो यह मान लेना चाहिये कि वह नितान्त मूर्ख एवं मन्दबुद्धि है॥ २४॥

प्रभवो ह्यात्मनः स्तोत्रं जुगुप्सन्त्यपि विश्रुताः।
ह्रीमन्तः परमोदाराः पौरुषं वा विगर्हितम्॥ २५॥

निष्कपट, उन्नत-हृदयवाले लज्जावान पुरुष जगत्में विश्रुतकीर्त्ति और प्रभावशाली होनेपर भी योग्य स्तावकके स्तुतिपरक वचनोंको निन्दित पौरुषकी चर्चाके समान मानते हैं। अर्थात् 'आप इतने समर्थ हैं कि आपको धर्मका उल्लघंन करनेपर भी कोई दोष नहीं लगता'—इस प्रकारकी स्तुति समर्थवान व्यक्तिके पक्षमें अनुचित या अतिस्तुति नहीं होनेपर भी समर्थवान व्यक्ति स्वयं इस प्रकारकी स्तुतिको सहन नहीं करता॥ २५॥

वयं त्वविदिता लोके सूताद्यापि वरीमभिः।
कर्मभिः कथमात्मानं गापयिष्याम बालवत्॥ २६॥

हे सूत! अभी तक मैंने किसी वरिष्ठ कार्यके द्वारा प्रसिद्धि प्राप्त नहीं की है, जिसकी प्रशंसा या गुणगान किया जाये। अतः मैं अज्ञ बालकके समान किस प्रकार आपसे आत्म-स्तुति करवाऊँ?॥ २६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां चतुर्थस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे श्रीपृथुचरितं नाम पञ्चदशोऽध्यायः॥

षोडशोऽध्यायः

मुनियोंके आदेशानुसार वन्दीजनोंके द्वारा महाराज पृथुकी स्तुति

श्रीमैत्रेय उवाच—

इति ब्रुवाणं नृपतिं गायका मुनिचोदिताः।
तुष्टुवुस्तुष्टमनसस्तद्वागमृतसेवया ॥ १ ॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—यद्यपि राजा पृथुके इस प्रकार कहनेपर सूत आदि गायक उनके वचनामृतके आस्वादनसे सन्तुष्ट हुए, तथापि उन्होंने पुनः मुनियोंकी प्रेरणासे महाराज पृथुकी स्तुति करनी प्रारम्भ कर दी॥ १॥

नालं वयं ते महिमानुवर्णने
यो देववर्योऽवततार मायया।
वेनाङ्गजातस्य च पौरुषाणि ते
वाचस्पतीनामपि बभ्रमुर्धियः॥ २॥

हे महाराज! आप भगवान् श्रीविष्णुके शक्त्यावेश अवतार हैं। हममें आपकी महिमाको वर्णन करनेका सामर्थ्य नहीं है, क्योंकि राजा वेनके अङ्गसे उत्पन्न होनेपर भी आपके पौरुषका वर्णन करनेमें ब्रह्मादि वाचस्पतियोंकी बुद्धि भी भ्रमित हो जाती है॥ २॥

अथाप्युदारश्रवसः पृथोर्हरेः
कलावतारस्य कथामृतादृताः।
यथोपदेशं मुनिभिः प्रचोदिताः
श्लाघ्यानि कर्माणि वयं वितन्महि॥ ३॥

(यद्यपि आपके गुणोंका कीर्त्तन करनेका हमारा सामर्थ्य नहीं है,) तथापि श्रीहरिके अंशावतार महायशस्वी आपके कथामृतके प्रति हमारा विशेष आदर उत्पन्न हुआ है। मुनियोंने ही हमें प्रेरणा प्रदान की है,

वे योगबलसे हमारे हृदयमें प्रविष्ट होकर जिस प्रकार की स्फूर्ति करायेंगे, हम उसी प्रकार ही आपकी प्रशंसनीय कीर्त्तिका गान करेंगे॥ ३॥

एष धर्मभृतां श्रेष्ठो लोकं धर्मेऽनुवर्तयन्।
गोप्ता च धर्मसेतुनां शास्ता तत्परिपन्थिनाम्॥ ४॥

(सूतादि गायकोंने कहना आरम्भ किया—)ये महाराज पृथु स्वधर्म-पालन करनेवालोंमें सर्वश्रेष्ठ और जनसमूहके धर्म-प्रवर्त्तक होंगे। ये वर्णाश्रमधर्मकी मर्यादाके संरक्षक और कुमार्ग-गामियोंको दण्ड प्रदान करनेवाले होंगे॥ ४॥

एष वै लोकपालानां बिभर्त्येकस्तनौ तनूः।
काले काले यथाभागं लोकयोरुभयोर्हितम्॥ ५॥

ये अकेले ही यथायोग्य भावसे दोनों लोकोंका अर्थात् यज्ञादि प्रवर्त्तनसे स्वर्गका और वर्षा आदिके द्वारा भूलोकका कल्याण करनेके लिए समय-समयपर अपने शरीरमें इन्द्रादि लोकपालोंकी मूर्त्ति धारण करेंगे॥ ५॥

वसु काल उपादत्ते काले चायं विमुञ्चति।
समः सर्वेषु भूतेषु प्रतपन् सूर्यवद्विभुः॥ ६॥

ये महाराज पृथु प्राणीमात्रके प्रति समदर्शी होकर एवं सूर्यकी भाँति अपना प्रताप प्रकाशित करके यथासमय धनका आदान-प्रदान करेंगे॥ ६॥

तितिक्षत्यक्रमं वैन्य उपर्याक्रामतामपि।
भूतानां करुणः शश्वदार्तानां क्षितिवृत्तिमान्॥ ७॥

वेननन्दन पृथुका स्वभाव सबकुछ सहन करनेवाली धरतीके समान होगा। आर्त्त व्यक्तियोंके प्रति ये सर्वदा करुणा करेंगे। यदि आर्त्त व्यक्ति इनके सिरपर पैर रखकर इनका अतिक्रमण भी करेंगे, तो ये उसे भी सहन कर लेंगे॥ ७॥

देवेऽवर्षत्यसौ देवो नरदेववपुर्हरिः।
कृच्छ्रप्राणाः प्रजा ह्येष रक्षिष्यत्यञ्जसेन्द्रवत्॥ ८॥

इन्द्रके द्वारा वर्षा न करनेपर जब प्रजाजनोंके प्राण घोर सङ्कटमें पड़ जायेंगे, तब भगवान् श्रीहरिके अंशसे उत्पन्न राजवेशधारी ये महाराज पृथु स्वयं ही इन्द्रके समान जल बरसाकर प्रजाकी अनायास ही रक्षा कर लेंगे॥ ८॥

आप्याययत्यसौ लोकं वदनामृतमूर्तिना।
सानुरागावलोकेन विशदस्मितचारुणा॥ ९॥

महाराज पृथु पूर्ण विकसित अमृतमय मुखचन्द्रकी विशुद्ध मनोहर मुसकान और प्रेमभरी चितवन द्वारा जनसमूहको आनन्दमें निमग्न कर देंगे॥ ९॥

अव्यक्तवर्त्मैष निगूढकार्यो
गम्भीरवेधा उपगुप्तवित्तः।
अनन्तमाहात्म्यगुणैकधामा
पृथुः प्रचेता इव संवृतात्मा॥ १०॥

महाराज पृथुके किसी स्थानमें प्रवेश करने और वहाँसे बाहर निकलनेका मार्ग दूसरा कोई भी नहीं जान पायेगा। इनके द्वारा किये जानेवाले कार्योंको फलकी प्राप्ति होनेसे पहले कोई भी नहीं जान पायेगा तथा ये उन कार्योंको भी इतने गम्भीर रूपसे सम्पन्न करेंगे कि वे किस अभिप्रायसे किये गये हैं, उसे भी कोई नहीं समझ सकेगा। इनका धन और ज्ञान आदि सदैव भलीभाँति सुरक्षित रहेगा। ये असीम गुणोंके धाम होंगे और इनका विष्णुके समान अनन्त माहात्म्य होगा। संयतमूर्त्ति ये पृथु महाराज अलक्षित-स्वभाववाले साक्षात् वरुण देवताके समान शोभायमान होंगे॥ १०॥

दुरासदो दुर्विषह आसन्नोऽपि विदूरवत्।
नैवाभिभवितुं शक्यो वेनारण्युत्थितोऽनलः॥ ११॥

वेनरूप अरणि (यज्ञ-काष्ठ) के मन्थनसे यह पृथुरूप जो अग्नि उत्पन्न हुई है, शत्रु इन्हें मनके द्वारा भी स्पर्श नहीं कर पायेंगे। इनका पराक्रम शत्रुओंके लिए अत्यन्त असहनीय होगा। इनके निकट उपस्थित होनेपर भी कोई दुष्ट-से-दुष्ट शत्रु भी इन्हें पराजित करनेमें समर्थ नहीं हो सकेगा॥ ११॥

अन्तर्बहिश्च भूतानां पश्यन् कर्माणि चारणैः।
उदासीन इवाध्यक्षो वायुरात्मेव देहिनाम्॥ १२॥

जिस प्रकार प्राणियोंके भीतर रहनेवाले अन्तर्यामी सब कुछ देखते हुए भी साक्षीके समान उदासीन रहते हैं, उसी प्रकार ये महात्मा भी गतिविधियों तथा गुप्तचरोंके द्वारा प्राणियोंके प्रकट एवं गुप्त—सभी प्रकारके कार्योंको जानकर भी अन्तर्यामीके समान उदासीन अर्थात् अनासक्त रहेंगे॥ १२॥

नादण्ड्यं दण्डयत्येष सुतमात्मद्विषामपि।
दण्डयत्यात्मजमपि दण्ड्यं धर्मपथे स्थितः॥ १३॥

महाराज पृथु धर्मराज यम की भाँति न्यायके पथपर स्थित होंगे। यदि शत्रुकी सन्तान दण्डके योग्य नहीं है, तो ये उसे दण्ड नहीं देंगे और इनका अपना पुत्र यदि दण्डनीय है, तो उसे दण्ड देंगे॥ १३॥

अस्याप्रतिहतं चक्रं पृथोरामानसाचलात्।
वर्तते भगवानर्को यावत् तपति गोगणैः॥ १४॥

ऐश्वर्यवान सूर्यदेव मानस-पर्वत तक जिस-जिस स्थानको अपनी किरणोंके द्वारा प्रकाशित करते हैं, उन सभी स्थानोंपर इनका आज्ञारूपी चक्र या सेना अथवा रथका चक्र निष्कण्टक गतिसे विचरण करेगा॥ १४॥

रञ्जयिष्यति यल्लोकमयमात्मविचेष्टितैः।
अथामुमाहू राजानं मनोरञ्जनकैः प्रजाः॥ १५॥

महाराज पृथु अपने मनोरञ्जक पराक्रमसे प्रजाको आनन्दित करेंगे, इसी कारण प्रजा इन्हें ही 'राजा' कहकर सम्बोधित करेगी॥ १५॥

दृढव्रतः सत्यसन्धो ब्रह्मण्यो वृद्धसेवकः।
शरण्यः सर्वभूतानां मानदो दीनवत्सलः॥ १६॥

ये अखण्डितव्रत, सत्यप्रतिज्ञ, ब्राह्मण-हितैषी, वृद्धोंकी सेवा करनेवाले, समस्त जीवोंके आश्रय होने योग्य, सबको सम्मान देनेवाले एवं दीनवत्सल होंगे॥ १६॥

मातृभक्तिः परस्त्रीषु पत्न्यामर्द्ध इवात्मनः।
प्रजासु पितृवत् स्निग्धः किङ्करो ब्रह्मवादिनाम्॥ १७॥

इनकी परस्त्रीमें माताके समान भक्ति, अपनी स्त्रीमें अर्द्धाङ्गिनीके समान प्रीति तथा प्रजाओंमें पिताके समान वत्सलता होगी। ये ब्रह्मविद् ब्राह्मणोंकी आज्ञाका पालन करनेवाले होंगे॥ १७॥

देहिनामात्मवत् प्रेष्ठः सुहृदां नन्दिवर्द्धनः।
मुक्तसङ्गप्रसङ्गोऽयं दण्डपाणिरसाधुषु॥ १८॥

प्राणीमात्र इनसे इतनी प्रीति करेंगे, जितनी वे अपने-आपसे करते हैं। ये सुहृदोंको बहुत आनन्दित करेंगे। इन्हें विषयोंमें अनासक्त साधुओंका प्रकृष्ट सङ्ग प्राप्त होगा; परन्तु जो दुष्ट होंगे, उनके लिए ये यमके समान होंगे॥ १८॥

अयन्तु साक्षाद्भगवांस्त्र्यधीशः
कूटस्थ आत्मा कलयावतीर्णः।
यस्मिन्नविद्या-रचितं निरर्थकं
पश्यन्ति नानात्वमपि प्रतीतम्॥ १९॥

ये चित्-शक्ति, जीव-शक्ति और माया-शक्तिके अधीश्वर, निर्विकार साक्षात् भगवान् विष्णुके अंशसे उत्पन्न हुए हैं। अद्वयतत्त्व भगवान्के बहुत रूपोंमें प्रतीत होनेपर भी उन सबमें भेदबुद्धि अविद्याके द्वारा ही कल्पित होनेके कारण निरर्थक है॥ १९॥

अयं भुवो मण्डलमोदयाद्रे-
र्गोप्तैकवीरो नरदेवनाथः।
आस्थाय जैत्रं रथमात्तचापः
पर्येष्यते दक्षिणतो यथार्कः॥ २०॥

भगवान्के अंश ये महाराज पृथु अद्वितीय पराक्रमशाली राजाधिराजके रूपमें उदयाचल तक समस्त पृथ्वीपर शासन करेंगे तथा इसी उद्देश्यसे ये जयप्रद रथपर सवार होकर धनुष-बाण हाथमें लेकर सूर्यके समान सर्वत्र परिभ्रमण करेंगे॥ २०॥

अस्मै नृपालाः किल तत्र तत्र
बलिं हरिष्यन्ति सलोकपालाः।
मंस्यन्त एषां स्त्रिय आदिराजं
चक्रायुधं तद्यश उद्धरन्त्यः॥ २१॥

महाराज पृथु इस प्रकार जिन-जिन स्थानोंपर विचरण करेंगे, उन-उन स्थानोंपर इन्द्र, वरुण आदि सभी लोकपाल एवं पृथ्वीपाल (राजा) उन्हें शुल्कके रूपमें भेंट प्रदान करेंगे और उन लोकपालोंकी महारानियाँ मण्डलाधिपति चक्रधर पृथुका यशोगान करते-करते इन्हें 'आदिराज' मानकर इनका बहुत सम्मान करेंगी॥ २१॥

अयं महीं गां दुदुहेऽधिराजः
प्रजापतिर्वृत्तिकरः प्रजानाम्।
यो लीलयाद्रीन् स्वशरासकोट्या
भिन्दन् समां गामकरोद्यथेन्द्रः॥ २२॥

जिस प्रकार देवराज इन्द्रने अपने धनुषके अग्रभागके द्वारा अनायास ही पर्वतोंको तोड़-फोड़ करके पृथ्वीको समतल कर दिया था, ये राजचक्रवर्ती पृथु भी उसी प्रकार अनायास ही पर्वतोंको तोड़-फोड़कर पृथ्वीको समतल कर देंगे और प्रजाओंकी जीविकाके निर्वाहके लिए गौ-स्वरूपा इस पृथ्वीका दोहन भी करेंगे॥ २२॥

विस्फूर्जयन्नाजगवं धनुः स्वयं
यदाचरत् क्ष्मामविषह्य आजौ।
तदा निलिल्युर्दिशि दिश्यसन्तो
लाङ्गूलमुद्यम्य यथा मृगेन्द्रः॥ २३॥

जिस प्रकार पशुओंका राजा सिंह अपनी पूँछ ऊँची करके वनमें विचरण करता है, उसी प्रकार ये भी जिस समय भैसों एवं गायोंके सींगोंसे बने धनुषकी टङ्कार करते हुए उस धनुषको ऊपर उठाकर रणभूमिमें विचरण करेंगे, तब दुष्ट इनके पराक्रमको सहन नहीं कर पायेंगे और इधर-उधर छिप जायेंगे॥ २३॥

एषोऽश्वमेधान् शतमाजहार
सरस्वती प्रादुरभावि यत्र।

अहारषीद्यस्य हयं पुरन्दरः
शतक्रतुश्चरमे वर्तमाने॥ २४॥

महाराज पृथु सरस्वती नदीके उद्‌गम स्थानपर सौ–अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान करेंगे। अन्तिम यज्ञके समाप्त होनेके समय ही इन्द्रदेव इनके यज्ञीय अश्वका अपहरण कर लेंगे॥ २४॥

एष स्वसद्मोपवने समेत्य
सनत्कुमारं भगवन्तमेकम्।
आराध्य भक्त्यालभतामलं तज्–
ज्ञानं यतो ब्रह्म परं विदन्ति॥ २५॥

इसके बाद महाराज पृथु अपने महलके उपवनमें अनुपम ज्ञान–वैराग्य आदिसे युक्त श्रीसनत् कुमारका सङ्ग प्राप्त करके भक्तिपूर्वक उनकी आराधना करेंगे तथा जिस ज्ञानसे परब्रह्मको जाना जाता है, उस विशुद्ध निर्मल ज्ञानको प्राप्त करेंगे॥ २५॥

तत्र तत्र गिरस्तास्ता इति विश्रुतविक्रमः।
श्रोष्यत्यात्माश्रिता गाथाः पृथुः पृथुपराक्रमः॥ २६॥

'ये आदिराज पृथु महान् पराक्रमशाली हैं, इनका विक्रम सर्वत्र विख्यात है'—महाराज पृथु अपने सम्बन्धमें इस प्रकारकी विभिन्न स्तुतियों और गुण–गाथाओंका सर्वत्र ही श्रवण करते रहेंगे॥ २६॥

दिशो विजित्याप्रतिरुद्धचक्रः
स्वतेजसोत्पाटितलोकशल्यः ।
सुरासुरेन्द्रैरुपगीयमान–
महानुभावो भविता पतिर्भुवः॥ २७॥

इन दिग्विजयीकी आज्ञाका कोई भी विरोध नहीं कर पायेगा। ये अपने तेजके प्रभावसे जीवोंके हृदयके सम्पूर्ण अभद्रोंको दूरकर सम्पूर्ण भूमण्डलके शासक होंगे। पृथ्वीपति ये महाराज पृथु सुर–असुर समस्त महानुभाव राजाओंके द्वारा बहुत सम्मानित होंगे॥ २७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां चतुर्थस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय–संवादे श्रीपृथुस्तवो नाम षोडशोऽध्यायः॥

सप्तदशोऽध्यायः

प्रजाको भूखसे व्याकुल देखकर महाराज पृथुका पृथ्वीपर क्रोधित होना और पृथ्वी द्वारा उनकी स्तुति

श्रीमैत्रेय उवाच—

एवं स भगवान् वैन्यः ख्यापितो गुणकर्मभिः।
छन्दयामास तान् कामैः प्रतिपूज्याभिनन्द्य च॥ १॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! वन्दीजनोंने श्रीभगवान्‌के अंशावतार वेनके पुत्र महाराज पृथुके गुण और कर्मोंका वर्णन करते हुए इस प्रकार स्तुति की। इसके बाद पृथुने भी उन गायकोंकी प्रशंसा करते हुए उनका अभिनन्दन किया और उनकी अभीष्ट वस्तुएँ प्रदानकर उन्हें सन्तुष्ट किया॥ १॥

ब्राह्मणप्रमुखान् वर्णान् भृत्यामात्यपुरोधसः।
पौरान् जानपदान् श्रेणीः प्रकृतीः समपूजयत्॥ २॥

इसके बाद उन्होंने ब्राह्मणदि चारों वर्णों, सेवकों, पुरोहितों, पुरवासियों, जनपदवासियों, भिन्न-भिन्न व्यवसायियों तथा अन्यान्य आज्ञानुवर्तियोंका भी यथायोग्य सत्कार किया॥ २॥

श्रीविदुर उवाच—

कस्माद्दधार गोरूपं धरित्री बहुरूपिणी।
यां दुदोह पृथुस्तत्र को वत्सो दोहनञ्च किम्॥ ३॥

श्रीविदुरने पूछा—ब्रह्मन्! महाराज पृथुने जिनका दोहन किया था, वह ब्रह्मरूपी पृथ्वी तो विविध रूप धारण कर सकती थी, फिर उसने गायका रूप ही क्यों धारण किया? महाराज पृथुके इस दोहन-कार्यमें बछड़ा कौन बना और दोहनका पात्र क्या था?॥ ३॥

प्रकृत्या विषमा देवी कृता तेन समा कथम्।
तस्य मेध्यं हयं देवः कस्य हेतोरपाहरत्॥ ४॥

पृथ्वी तो स्वाभाविक रूपसे ऊँची-नीची है, महाराज पृथुने उसे किस प्रकार समतल किया? देवराज इन्द्रने किस कारणसे महाराज पृथुके यज्ञीय अश्वका हरण किया था?॥ ४॥

सनत्कुमाराद्भगवतो ब्रह्मन् ब्रह्मविदुत्तमात्।
लब्ध्वा ज्ञानं सविज्ञानं राजर्षिः कां गतिं गतः॥ ५॥

हे ब्रह्मन्! राजर्षि पृथु वेदविदोंमें श्रेष्ठ महाभागवत सनत्कुमारसे अधोक्षज भगवत्-ज्ञान प्राप्त करके किस प्रकारकी गतिको प्राप्त हुए?॥ ५॥

यच्चान्यदपि कृष्णस्य भवेद्भगवतः प्रभोः।
श्रवः सुश्रवसः पुण्यं पूर्वदेहकथाश्रयम्॥ ६॥

भक्ताय चानुरक्ताय तव चाधोक्षजस्य च।
वक्तुमर्हसि योऽदुह्यद्वैन्यरूपेण गामिमाम्॥ ७॥

हे देव! मैंने आपसे जो सब विषय पूछे हैं और पवित्रकीर्त्ति भगवान् श्रीकृष्णके पृथु-अवतार-चरितसे सम्बन्धित अन्यान्य जो पुण्य-कीर्त्तियाँ हैं, वे सभी आप मुझसे कहिये। मैं आपका एवं अधोक्षज भगवान्‌का अनुरक्त भक्त हूँ, अतएव जिन भगवान् श्रीकृष्णने वेनके पुत्र महाराज पृथुके रूपमें पृथ्वीका दोहन किया था, कृपापूर्वक उनकी कथाका मेरे समक्ष कीर्त्तन कीजिये॥ ६-७॥

श्रीसूत उवाच—

चोदितो विदुरेणैवं वासुदेवकथां प्रति।
प्रशस्य तं प्रीतमना मैत्रेयः प्रत्यभाषत॥ ८॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—श्रीमैत्रेय ऋषि भगवान् श्रीवासुदेवकी कथाके प्रति विदुरजीके इतने अधिक आग्रहको देखकर बहुत सन्तुष्ट हुए। तब उन्होंने विदुरजीकी प्रशंसा की और भगवान् श्रीवासुदेवकी कथाका कीर्त्तन करने लगे॥ ८॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

यदाभिषिक्तः पृथुरङ्ग विप्रै-
रामन्त्रितो जनतायाश्च पालः।

प्रजा निरन्ने क्षितिपृष्ठ एत्य
क्षुत्क्षामदेहाः पतिमभ्यवोचन्॥ ९ ॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! ब्राह्मणोंके द्वारा राजपदपर अभिषिक्त होकर जब महाराज पृथु 'प्रजाके पालक' घोषित कर दिये गये, तब भूखसे अत्यधिक क्षीण कलेवरवाली प्रजा महाराज पृथुके समीप आकर कहने लगी॥ ९ ॥

वयं राजन् जाठरेणाभितप्ता
यथाग्निना कोटरस्थेन वृक्षाः।
त्वामद्य याताः शरणं शरण्यं
यः साधितो वृत्तिकरः पतिर्नः॥ १० ॥

हे राजन्! वृक्ष जिस प्रकार अपने कोटरमें सुलगती आगसे सन्तप्त होता है, हम भी उसी प्रकार जठराग्निकी ज्वालासे दग्ध हुए जा रहे है। मुनियोंने आपको हमारे जीविका प्रदानकारी स्वामीके रूपमें नियुक्त किया है। आप ही हमारे शरण्य हैं, अतः हम आपके ही शरणागत होते हैं॥ १० ॥

तन्नो भवानीहतु रातवेऽन्नं
क्षुधार्दितानां नरदेवदेव।
यावन्न नङ्क्ष्यामह उज्झितोर्जा
वार्तापतिस्त्वं किल लोकपालः॥ ११ ॥

महाराज! आप ही समस्त लोकोंके रक्षक और सभीको जीविका प्रदान करनेवालेके रूपमें कीर्त्तित हैं। हम भूखसे अत्यन्त आतुर हो रहे हैं। आप हमें शीघ्रातिशीघ्र अन्न दान करनेका प्रयत्न कीजिये, कहीं ऐसा न हो कि अन्न-प्राप्तिसे पहले ही हमारी मृत्यु हो जाये॥ ११ ॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

पृथुः प्रजानां करुणं निशम्य परिदेवितम्।
दीर्घं दध्यौ कुरुश्रेष्ठ निमित्तं सोऽन्वपद्यत॥ १२ ॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे कुरुश्रेष्ठ विदुर! प्रजाके इस प्रकारके करुण-विलापको सुनकर महाराज पृथु बहुत समय तक विचार करते रहे। अन्ततः वे अन्नके अभावके कारणसे अवगत हो गये॥ १२ ॥

इति व्यवसितो बुद्ध्या प्रगृहीतशरासनः।
सन्दधे विशिखं भूमेः क्रुद्धस्त्रिपुरहा यथा॥ १३॥

'पृथ्वीने स्वयं ही औषधि, अन्न एवं बीजादिको अपने भीतर छिपा लिया है, इसलिए जगत्में अन्नका अभाव हुआ है'—अपने बुद्धि-बलसे ऐसा निश्चय करके उन्होंने कुपित त्रिपुरारि भगवान् शङ्करके समान धनुष उठा लिया और पृथ्वीको लक्ष्य करके उसपर बाण चढ़ाया॥ १३॥

प्रवेपमाना धरणी निशाम्योदायुधञ्च तम्।
गौः सत्यपाद्रवद्भीता मृगीव मृगयुद्रुता॥ १४॥

पृथ्वीने जैसे ही राजाको धनुषपर बाणका सन्धान करते हुए देखा, तो वह भयसे काँपने लगी और गौ-रूप धारण करके इस प्रकार भागने लगी, जिस प्रकार शिकारी द्वारा ताड़ित होनेपर हरिणी डरकर भागती है॥ १४॥

तामन्वधावत् तद्वैन्यः कुपितोऽत्यरुणेक्षणः।
शरं धनुषि सन्धाय यत्र यत्र पलायते॥ १५॥

यह देखकर महाराज पृथुके नेत्र क्रोधसे लाल हो गये। जहाँ-जहाँ पृथ्वी भागी, वहाँ-वहाँ धनुषपर बाण चढ़ाये वे उसका पीछा करते रहे॥ १५॥

सा दिशो विदिशो देवी रोदसी चान्तरं तयोः।
धावन्ती तत्र तत्रैनं ददर्शानूद्यतायुधम्॥ १६॥

पृथ्वीदेवी दिशा, विदिशा, स्वर्ग, मर्त्य एवं अन्तरीक्ष आदि जिन-जिन स्थानोंपर भागती जा रही थी, वह उस-उस स्थानपर महाराज पृथुको धनुष-बाण लेकर उसके पीछे-पीछे दौड़े चले आते देखती थी॥ १६॥

लोके नाविन्दत त्राणं वैन्यान्मृत्योरिव प्रजाः।
त्रस्ता तदा निववृते हृदयेन विदूयता॥ १७॥

जिस प्रकार प्राणीके लिए मृत्युसे परित्राणका कोई उपाय नहीं होता, उसी प्रकार पृथ्वी भी वेनके पुत्र महाराज पृथुसे अपने

परित्राणका कोई उपाय न देखकर डर गयी एवं दुःखी होकर उसने भागना बन्द कर दिया॥ १७॥

उवाच च महाभागं धर्मज्ञापन्नवत्सल।
त्राहि मामपि भूतानां पालनेऽवस्थितो भवान्॥ १८॥

वह महाभाग पृथुसे कहने लगी—हे धर्मज्ञ! हे शरणागतवत्सल! आप तो सदैव प्रजाकी रक्षामें नियुक्त रहते हैं, इसलिए मेरी भी रक्षा कीजिये॥ १८॥

स त्वं जिघांससे कस्माद्दीनामकृतकिल्बिषाम्।
अहनिष्यत् कथं योषां धर्मज्ञ इति यो मतः॥ १९॥

आप मुझ दीन और निरपराध अबलाका किसलिए वध करना चाहते हैं? आपको सभी परम धार्मिकके रूपमें जानते हैं, फिर आप स्त्रीकी हत्या किस प्रकार कर सकते हैं?॥ १९॥

प्रहरन्ति न वै स्त्रीषु कृतागःस्वपि जन्तवः।
किमुत त्वद्विधा राजन् करुणा दीनवत्सलाः॥ २०॥

हे राजन्! जब स्त्रियाँ कोई अपराध करती हैं, तब अति साधारण व्यक्ति भी उनपर प्रहार नहीं करते, फिर आपके जैसे करुण-हृदय एवं दीनवत्सलका तो कहना ही क्या?॥ २०॥

मां विपाट्याजरां नावं यत्र विश्वं प्रतिष्ठितम्।
आत्मानञ्च प्रजाश्चेमाः कथमम्भसि धास्यसि॥ २१॥

राजन्! यह विश्व तो मुझपर ही प्रतिष्ठित है। मैं इसकी सुदृढ़ नौका-स्वरूपा हूँ। मुझे विदीर्ण करके आप किस प्रकारसे जलके ऊपर स्वयंको और इस प्रजाको धारण करायेंगे॥ २१॥

श्रीपृथुरुवाच—

वसुधे त्वां वधिष्यामि मच्छासनपराङ्मुखीम्।
भागं बर्हिषि या वृङ्क्ते न तनोति च नो वसु॥ २२॥

महाराज पृथुने कहा—हे वसुन्धरे! तुमने मेरी आज्ञाका उल्लंघन किया है। तुम यज्ञमें देवताके रूपमें अपना भाग तो ग्रहण करती हो,

किन्तु हमें अन्नादि कुछ भी प्रदान नहीं करती हो। अतः मैं तुम्हारा विनाश कर डालूँगा॥ २२॥

यवसं जग्ध्यनुदिनं नैव दोग्ध्यौधसं पयः।
तस्यामेवं हि दुष्टायां दण्डो नात्र न शस्यते॥ २३॥

जो गाय प्रतिदिन हरी-हरी घास खाती है, पर दूध नहीं देना चाहती, इस अपराधके कारण उस दुष्टाको दण्ड देना क्या युक्तिसङ्गत नहीं है?॥ २३॥

त्वं खल्वोषधिबीजानि प्राक्सृष्टानि स्वयम्भुवा।
न मुञ्चस्यात्मरुद्धानि मामवज्ञाय मन्दधीः॥ २४॥

ब्रह्माजीने सृष्टिके आरम्भमें लोगोंके उपकारके लिए जिन अन्न-बीजोंकी सृष्टि की थी, उन सबको ही तुमने अपनी देहमें छिपा रखा है। तुम बड़ी मन्दबुद्धि हो, इसीलिए मेरी अवज्ञा करके उन बीजोंको अपनी देहसे निकाल नहीं रही हो?॥ २४॥

अमूषां क्षुत्परीतानामार्तानां परिदेवितम्।
शमयिष्यामि मद्बाणैर्भिन्नायास्तव मेदसा॥ २५॥

अब मैं बाणोंसे तुम्हें छिन्न-भिन्न कर डालूँगा और तुम्हारी देहके माँससे इन सब भूखसे मर रही प्रजाओंके आर्त्तनादको शान्त करूँगा!॥ २५॥

पुमान् योषिदुत क्लीव आत्मसम्भावनोऽधमः।
भूतेषु निरनुक्रोशो नृपाणां तद्वधोऽवधः॥ २६॥

पुरुष हो, स्त्री हो अथवा क्लीव हो, जो पापिष्ठ स्वयंका ही बहुमानन करनेवाला हो और अन्य प्राणियोंके प्रति दया न रखता हो, उसका वध करना राजाके लिए तनिक भी दोषपूर्ण नहीं होता॥ २६॥

त्वां स्तब्धां दुर्मदां नीत्वा मायागां तिलशः शरैः।
आत्मयोगबलेनेमा धारयिष्याम्यहं प्रजाः॥ २७॥

तुमने माया द्वारा कपट गायका रूप धारण किया है और बड़ी मदोन्मत्ता हो रही हो। तुम्हारा स्वभाव बड़ा हठी और गर्वीला हो गया

है। मैं तुम्हें बाणोंसे तिल-तिल करके खण्ड-विखण्ड कर डालूँगा और अन्तमें अपने योग-बलसे स्वयं ही इस समस्त प्रजाको धारण करूँगा॥ २७॥

एवं मन्युमयीं मूर्तिं कृतान्तमिव बिभ्रतम्।
प्रणता प्राञ्जलिः प्राह मही सञ्जातवेपथुः॥ २८॥

इस प्रकार जब महाराज पृथुने साक्षात् कालसे भी भयङ्कर क्रोधमयी मूर्त्ति धारण करके ऐसे मर्मभेदी वचन कहे, तब पृथ्वी भयसे काँपने लगी और दण्डवत् प्रणाम करती हुई विनीत भावसे हाथ जोड़कर उनसे कहने लगी॥ २८॥

श्रीपृथिव्युवाच—

नमः परस्मै पुरुषाय मायया
विन्यस्तनानातनवे गुणात्मने।
नमः स्वरूपानुभवेन निर्द्धूत-
द्रव्यक्रियाकारकविभ्रमोर्मये ॥ २९॥

श्रीपृथ्वी देवीने कहा—जो अपनी अचिन्त्यशक्ति द्वारा नाना प्रकारके शरीर प्रकटित करके प्राकृत गुणमय जान पड़ते हैं, किन्तु वस्तुतः आत्मानुभवके कारण जो अधिभूत, अध्यात्म और अधिदैवादि अहङ्कारसे उत्पन्न राग-द्वेषादिसे सदैव निर्लिप्त रहते हैं, ऐसे साक्षात् परमपुरुष आपको मैं नमस्कार करती हूँ॥ २९॥

येनाहमात्मायतनं विनिर्मिता
धात्रा यतोऽयं गुणसर्गसंग्रहः।
स एव मां हन्तुमुदायुधः स्वरा-
डुपस्थितोऽन्यं शरणं कमाश्रये॥ ३०॥

जिन विधाताने मुझे प्राणियोंके आवास-स्थलके रूपमें सृष्ट किया है एवं जिन्होंने मुझपर जरायुज (मनुष्य, पशु आदि), अण्डज (पक्षी, सरी-सृप आदि), स्वेदज (कृमि आदि) तथा उद्भिज्ज (वृक्ष आदि) के भेदसे चार प्रकारके गुणमय देहधारियोंको धारण कराया है, वही आप स्वराट् पुरुष ही जब स्वयं अस्त्र लेकर मेरा हनन करनेके लिए उपस्थित हुए हैं, तब मैं और किसकी शरणमें जाऊँ?॥ ३०॥

य एतदादावसृजच्चराचरं
स्वमाययात्माश्रययावितर्क्यया ।
तयैव सोऽयं किल गोप्तुमुद्यतः
कथं नु मां धर्मपरो जिघांसति॥ ३१ ॥

जिन भगवान्‌ने सृष्टिके प्रारम्भमें जीव-विषयिनी अपनी अचिन्त्यशक्तिके द्वारा इस चराचर जैव-जगत्‌की सृष्टि की है और पुनः जो अपनी पालनी-शक्ति द्वारा पृथु रूपमें उसकी रक्षाके लिए तत्पर हुए हैं, वही धर्मपरायण पुरुष अब किसलिए मेरा विनाश चाहते हैं? ॥ ३१ ॥

नूनं बतेशस्य समीहितं जनै-
स्तन्मायया दुर्जययाकृतात्मभिः।
न लक्ष्यते यस्त्वकरोदकारयद्-
योऽनेक एकः परतश्च ईश्वरः॥ ३२ ॥

अथवा जिनका चित्त भगवान्‌की दुर्जय माया द्वारा विक्षिप्त हो चुका है, उनके लिए समर्थवान् पुरुषके आचरणको समझ पाना अत्यन्त कठिन है। ईश्वर स्वतन्त्र होकर भी ब्रह्माजीकी सृष्टि करते हैं तथा उनके द्वारा सृष्टि करवाते हैं। वे स्वयं एक होकर भी अपनी अचिन्त्यशक्ति द्वारा अनेक रूपोंमें प्रकट होते हैं॥ ३२ ॥

सर्गादि योऽस्यानुरुणद्धि शक्तिभि-
र्द्रव्यक्रियाकारकचेतनात्मभिः ।
तस्मै समुन्नद्धविरुद्धशक्तये
नमः परस्मै पुरुषाय वेधसे॥ ३३ ॥

जो भगवान् अपनी शक्तिस्वरूप पञ्च-महाभूत, इन्द्रिय, इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ देवता, बुद्धि और अहङ्कार इत्यादि द्वारा इस जगत्‌की सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय कराते हैं, जिनकी शक्तियाँ अति प्रबल और परस्पर विरुद्ध भावसे युक्त हैं—उन्हीं अचिन्त्यशक्तिशाली परमपुरुष विधाताको मैं प्रणाम करती हूँ॥ ३३ ॥

स वै भवानात्मविनिर्मितं जगद्-
भूतेन्द्रियान्तःकरणात्मकं विभो।

संस्थापयिष्यन्नज मां रसातला-
दभ्युज्जहाराम्भस आदिशूकरः॥ ३४॥

हे विभो! जिन्होंने अपनी मायाशक्तिके द्वारा इस विश्वकी सृष्टि की है, आप ही वे पुरुष हैं। हे अज! आपने ही स्वनिर्मित भूत, इन्द्रिय और अन्तःकरणात्मक इस जगत्की स्थितिके लिए आदिशूकर रूप धारण करके जलमय रसातलसे मेरा उद्धार किया था॥ ३४॥

अपामुपस्थे मयि नाव्यवस्थिताः
प्रजा भवानद्य रिरक्षिषुः किल।
स वीरमूर्तिः समभूद्धराधरो
यो मां पयस्युग्रशरो जिघांससि॥ ३५॥

मेरा उद्धार करनेवाले आप ही 'धराधर' वराहमूर्त्ति हैं। मैं जलके ऊपरी भागमें नौकाके समान स्थित हूँ और आपकी प्रजा इस नौका-रूप मुझपर अवस्थित है। किन्तु आज आप प्रजाजनोंकी रक्षाकी इच्छासे वीरमूर्त्ति पृथु-रूप प्रकाशित करके केवलमात्र दुग्धके लिए सर्वाधारभूता मुझे तीक्ष्ण बाणोंसे मारना चाहते हैं, यह बड़े आश्चर्यकी बात है॥ ३५॥

नूनं जनैरीहितमीश्वराणा-
मस्मद्विधैस्तद्गुणसर्गमायया।
न ज्ञायते मोहितचित्तवर्त्मभि-
स्तेभ्यो नमो वीरयशस्करेभ्यः॥ ३६॥

हे देव! त्रिगुणात्मक-सर्गकी रचना करनेवाली आपकी मायाके द्वारा हमारे जैसे साधारण जनोंका चित्त निश्चित रूपसे मोहित रहता है। हम तो आपके भक्तोंकी क्रियाओंके उद्देश्यको भी समझ नहीं पाते, फिर आप परमेश्वरके सम्बन्धमें तो कहना ही क्या है। अतएव परमेश्वरकी भाँति मैं जितेन्द्रिय व्यक्तियोंके यशका विस्तार करनेवाले उनके भक्तोंको भी प्रणाम करती हूँ॥ ३६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां चतुर्थस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे श्रीपृथुचरिते धरानिग्रहो नाम सप्तदशोऽध्यायः॥

अष्टादशोऽध्यायः

महाराज पृथु द्वारा पृथ्वी-दोहन

श्रीमैत्रेय उवाच—

इत्थं पृथुमभिष्टूय रुषा प्रस्फुरिताधरम्।
पुनराहावनिर्भीता संस्तभ्यात्मानमात्मना॥ १॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! उस समय क्रोधके कारण महाराज पृथुके होंठ काँप रहे थे। इधर भयभीत धरती देवीने पूर्वोक्त प्रकारसे उनकी स्तुति करनेके बाद बुद्धि-बलसे अपने चञ्चल-चित्तको संयम किया और पुनः कहने लगी॥ १॥

संनियच्छाभिभो मन्युं निबोध श्रावितञ्च मे।
सर्वतः सारमादत्ते यथा मधुकरो बुधः॥ २॥

हे देव! अब आप क्रोधका सम्वरण कीजिये और मुझे अभय प्रदान कीजिये। आप कृपापूर्वक मेरी प्रार्थनाको सुनिये। जिस प्रकार भ्रमर पुष्पोंसे अपना सारभाग मकरन्द ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार पण्डित व्यक्ति भी समस्त विषयोंसे सार ग्रहण कर लेते हैं॥ २॥

अस्मिँल्लोकेऽथवामुष्मिन् मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः।
दृष्टा योगाः प्रयुक्ताश्च पुंसां श्रेयःप्रसिद्धये॥ ३॥

तत्त्वदर्शी मुनियोंने इस लोक और परलोकमें मनुष्योंके पुरुषार्थकी सिद्धिके लिए ही शास्त्रोंसे बहुत-से उपाय निकाले हैं और उनका प्रयोग भी किया है॥ ३॥

तानातिष्ठति यः सम्यगुपायान् पूर्वदर्शितान्।
अवरः श्रद्धयोपेत उपेयान् विन्दतेऽञ्जसा॥ ४॥

इस समय भी जो व्यक्ति श्रद्धासे युक्त होकर प्राचीन मुनियों द्वारा प्रदर्शित उपायोंका भलीभाँति अनुष्ठान करता है, वह भी सहज रूपमें ही अभीष्ट फलकी प्राप्ति करनेमें समर्थ हो जाता है॥ ४॥

ताननादृत्य योऽविद्वानर्थानारभते स्वयम्।
तस्य व्यभिचरन्त्यर्था आरब्धाश्च पुनः पुनः॥५॥

यदि पण्डित व्यक्ति भी निरर्थक तर्कोंके आधारपर इन उपायोंका अनादर करके अपनी स्वतन्त्र इच्छासे कल्पित उपायोंका अनुष्ठान करते हैं, तो उनका कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होता है। वे जितनी बार भी कार्य आरम्भ करते हैं, उतनी ही बार निष्फल होते हैं॥५॥

पुरा सृष्टा ह्योषधयो ब्रह्मणा या विशाम्पते।
भुज्यमाना मया दृष्टा असद्भिरधृतव्रतैः॥६॥

हे महाराज! पहले ब्रह्माजीने लोगोंकी संसार-यात्राके निर्वाह एवं यज्ञादि-सम्पादनके लिए जिन सब धान्य आदि औषधियोंकी सृष्टि की थी, मैंने देखा कि शास्त्रोंके अनुसार आचरण न करनेवाले दुराचारी व्यक्ति ही उनका भोगकर रहे हैं॥६॥

अपालितानादृता च भवद्भिर्लोकपालकैः।
चौरीभूतेऽथ लोकेऽहं यज्ञार्थेऽग्रसमोषधीः॥७॥

हे लोकरक्षक! वेन आदि राजाओंने न तो चोरोंको दण्ड देकर मेरा पालन किया और न ही यज्ञ आदिके प्रवर्त्तन द्वारा मेरा आदर किया। इसके फलस्वरूप प्रायः सभी लोग चोर हो गये थे। अतएव जिससे यज्ञकी रक्षा हो सके, इसलिए ही मैंने सम्पूर्ण औषधियोंको अपने भीतर छिपा लिया॥७॥

नूनं ता वीरुधः क्षीणा मयि कालेन भूयसा।
तत्र दृष्टेन योगेन भवानादातुमर्हति॥८॥

ये सभी औषधियाँ दीर्घकालसे मेरे उदरमें रहनेके कारण सूक्ष्म रूपमें अवस्थान कर रही हैं। इस विषयमें मैं जो उपाय बतला रही हूँ, उसके द्वारा ही आप उन्हें ग्रहण करनेमें समर्थ होंगे, अतः उपायोंका प्रयोग करके इन समस्त वस्तुओंका उद्धार करना ही आपके लिए उचित है॥८॥

वत्सं कल्पय मे वीर येनाहं वत्सला तव।
धोक्ष्ये क्षीरमयान् कामाननुरूपञ्च दोहनम्॥९॥

दोग्धारञ्च महाबाहो भूतानां भूतभावन।
अन्नमीप्सितमूर्जस्वद्भगवान् वाञ्छते यदि॥ १०॥

हे वीर! हे महाबाहो! हे भूतभावन! आप यदि प्राणियोंके अभीष्ट एवं बलप्रदायक अन्नकी इच्छा करते हैं, तो आप मेरे अनुरूप वत्स (बछड़ा), दोहन-पात्र एवं दुहनेवालेकी व्यवस्था करें, जिससे मैं बछड़ेके प्रति वात्सल्ययुक्त होकर आपकी इच्छानुसार दूधके रूपमें अन्तर्लीन अन्न आदि समस्त वस्तुएँ प्रदान कर सकूँ॥ ९-१०॥

समाञ्च कुरु मां राजन् देववृष्टं यथा पयः।
अपर्तावपि भद्रं ते उपावर्तेत मे विभो॥ ११॥

हे विभो! मुझे इस प्रकारसे समतल करें, जिससे वर्षा ऋतुके बीत जानेपर भी मेरे ऊपर इन्द्रका बरसाया हुआ जल सर्वत्र बना रहे। हे राजन! इससे सर्वत्र कृषि आदि सम्पत्तिमें वृद्धि होगी॥ ११॥

इति प्रियहितं वाक्यं भुव आदाय भूपतिः।
वत्सं कृत्वा मनुं पाणावदुहत् सकलौषधीः॥ १२॥

महाराज पृथुने पृथ्वीके इस प्रकारके प्रिय और हितकारी वचनोंको सुनकर स्वायम्भुव मनुको बछ़डा बनाकर अपने हाथरूपी पात्रमें ही समस्त औषधियों अर्थात् जौ आदि धान्योंका दोहन कर लिया॥ १२॥

तथापरे च सर्वत्र सारमाददते बुधाः।
ततोऽन्ये च यथाकामं दुदुहुः पृथुभाविताम्॥ १३॥

पण्डित सर्वत्र ही असारका परित्याग करके सार वस्तुको ही ग्रहण करते हैं। राजा पृथुने पृथ्वीको वशीभूत कर लिया था, अतः दूसरे ऋषि आदि भी वशीभूत पृथ्वीका अपनी-अपनी इच्छानुसार दोहन करने लगे॥ १३॥

ऋषयो दुदुहुर्देवीमिन्द्रियेष्वथ सत्तमाः।
वत्सं बृहस्पतिं कृत्वा पयश्छन्दोमयं शुचि॥ १४॥

सज्जनश्रेष्ठ ऋषियोंने बृहस्पतिको बछ़डा बनाकर इन्द्रिय (वाणी, मन एवं श्रोत्र) रूप पात्रमें पृथ्वीसे पवित्र वेदरूप दुग्धका दोहन किया॥ १४॥

कृत्वा वत्सं सुरगणा इन्द्रं सोममदूदुहन्।
हिरण्मयेन पात्रेण वीर्यमोजो बलं पयः॥ १५॥

देवताओंने इन्द्रको बछ़डा बनाकर स्वर्णमय पात्रमें सोम (अमृत), वीर्य (मनःशक्ति), ओज (इन्द्रिय-शक्ति) एवं शारीरिक बलरूप दुग्धका दोहन किया॥ १५॥

दैतेया दानवा वत्सं प्रह्लादमसुरर्षभम्।
विधाय दुदुहुः क्षीरमयःपात्रे सुरासवम्॥ १६॥

दितिवंशीय दैत्यों एवं (दनु वंशीय) दानवोंने असुरकुल-श्रेष्ठ प्रह्लाद महाराजको बछ़डा बनाकर लोहेके पात्रमें मदिरा एवं आसव (ताल आदिके फलसे बनी ताड़ी) रूप दुग्धका दोहन किया॥ १६॥

गन्धर्वाप्सरसोऽधुक्षन् पात्रे पद्ममये पयः।
वत्सं विश्वावसुं कृत्वा गान्धं मधु ससौभगम्॥ १७॥

गन्धर्व एवं अप्सराओंने विश्वावसुको बछ़डा बनाकर कमलमय पात्रमें गन्धर्व सम्बन्धित गान, वाक्-माधुर्य और इनके साथ ही सौन्दर्य रूप दुग्धका दोहन किया॥ १७॥

वत्सेन पितरोऽर्यम्ना कव्यं क्षीरमधुक्षत।
आमपात्रे महाभाग श्रद्धया श्राद्धदेवताः॥ १८॥

हे महाभाग विदुर! श्राद्धके अधिष्ठातृ देवताओं एवं पितरोंने भी पितरोंमें मुख्य अर्यमाको वत्स बनाकर मिट्टीके कच्चे पात्रमें श्रद्धाके साथ कव्य अर्थात् पितरोंके उद्देश्यसे प्रदान किये जानेवाले अन्नरूप दुग्धका दोहन किया॥ १८॥

प्रकल्प्य वत्सं कपिलं सिद्धाः सङ्कल्पनामयीम्।
सिद्धिं नभसि विद्याञ्च ये च विद्याधरादयः॥ १९॥

अणिमादि अष्ट-सिद्धियों एवं विद्याधरोंने कपिलदेवको वत्स बनाकर आकाशरूप पात्रमें खेचरत्वादि (आकाशमें विचरण करनेकी शिक्षा देनेवाली) विद्याका दोहन किया॥ १९॥

अन्ये च मायिनो मायामन्तर्धानाद्भुतात्मनाम्।
मयं प्रकल्प्य वत्सत्वे दुदुहुर्धारणामयीम्॥ २०॥

अन्यान्य किम्पुरुषादि मायावियोंने 'मय' नामक दानवको वत्स बनाकर उसी आकाशरूप पात्रमें ही अन्तर्धानरूपी अद्भुत स्वभाववाली सङ्कल्पमयी मायाका दोहन किया॥ २०॥

यक्षरक्षांसि भूतानि पिशाचाः पिशिताशनाः।
भूतेशवत्सा दुदुहुः कपाले क्षतजासवम्॥ २१॥

यक्ष, राक्षस एवं पिशाच आदि मांसाहारी प्राणियोंने भूतनाथ रुद्रको वत्स बनाकर नर-कपालरूप पात्रमें रुधिरमय मद्यका दोहन किया॥ २१॥

तथाहयो दन्दशूकाः सर्पा नागाश्च तक्षकम्।
विधाय वत्सं दुदुहुर्बिलपात्रे विषं पयः॥ २२॥

इस प्रकारसे फनहीन सर्प, फनयुक्त सर्प, नाग, बिच्छु आदि विषैले जन्तुओंने तक्षकको वत्स बनाकर मुखरूप पात्रमें विषरूपी दुग्धका दोहन किया॥ २२॥

पशवो यवसं क्षीरं वत्सं कृत्वा च गोवृषम्।
अरण्यपात्रे चाधुक्षन् मृगेन्द्रेण च दंष्ट्रिणः॥ २३॥
क्रव्यादाः प्राणिनः क्रव्यं दुदुहुः स्वकलेवरे।
सुपर्णवत्सा विहगाश्चरञ्चाचरमेव च॥ २४॥

गौ, अश्वादि पशुओंने भगवान् रुद्रके वाहन बैलको वत्स बनाकर अरण्यरूप पात्रमें तृणमय दुग्धका दोहन किया और बड़ी-बड़ी तीक्ष्ण दाढ़ोंसे युक्त मांसाहारी व्याघ्रादि पशुओंने सिंहको वत्स बनाकर अपने शरीररूप पात्रमें मांसरूप दुग्धका दोहन किया। पक्षियोंने गरुड़जीको वत्स बनाकर अपने देहरूप पात्रमें कीट-पतङ्गरूप चर और फल आदिरूप अचर दुग्धका दोहन किया॥ २३-२४॥

वटवत्साश्च तरवः पृथग्रसमयं पयः।
गिरयो हिमवद्वत्सा नानाधातून् स्वसानुषु॥ २५॥

वृक्षोंने वटवृक्षको वत्स बनाकर भिन्न-भिन्न रसमय दुग्धका दोहन किया। पर्वतोंने हिमालयको वत्स बनाकर अपने-अपने शिखर रूप पात्रोंमें विविध धातुमय दुग्धको दुहा॥ २५॥

सर्वे स्वमुख्यवत्सेन स्वे स्वे पात्रे पृथक् पयः।
सर्वकामदुघां पृथ्वीं दुदुहुः पृथुभाविताम्॥ २६॥

समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाली पृथ्वी इस समय राजा पृथुके वशमें थी। अतः सभीने अपनी-अपनी जातिके प्रधान व्यक्तिको वत्स बनाकर अपने-अपने पात्रोंमें भिन्न-भिन्न वस्तुरूप दुग्धका दोहन किया॥ २६॥

एवं पृथ्वादयः पृथ्वीमन्नादाः स्वन्नमात्मनः।
दोहवत्सादिभेदेन क्षीरभेदं कुरूद्वह॥ २७॥

हे कुरुश्रेष्ठ विदुर! इस प्रकारसे पृथु आदि सभी अन्नभोजी जीवोंने भिन्न-भिन्न दोहन-पात्रों और वत्सोंके द्वारा अपने-अपने अभीष्ट खाद्यरूप दुग्धका दोहन किया॥ २७॥

ततो महीपतिः प्रीतः सर्वकामदुघां पृथुः।
दुहितृत्वे चकारेमां प्रेम्णा दुहितृवत्सलः॥ २८॥

इसके बाद राजा पृथु सभी कामनाओंरूपी दूधको देनेवाली पृथ्वीपर अत्यन्त प्रसन्न हो गये और उसके प्रति उनका बड़ा स्नेह उमड़ आया। तब उन्होंने पृथ्वीको अपनी पुत्रीके रूपमें ग्रहण कर लिया॥ २८॥

चूर्णयंश्च धनुष्कोट्या गिरिकूटानि राजराट्।
भूमण्डलमिदं वैन्यः प्रायश्चक्रे समं विभुः॥ २९॥

तदनन्तर महाप्रभावशाली राजाधिराज पृथुने अपने धनुषकी नोकसे पर्वतोंकी चोटियोंको चूर्ण-विचूर्ण कर इस पृथ्वीको प्रायः समतल कर दिया॥ २९॥

अथास्मिन् भगवान् वैन्यः प्रजानां वृत्तिदः पिता।
निवासान् कल्पयाञ्चक्रे तत्र तत्र यथार्हतः॥ ३०॥

ग्रामान् पुरः पत्तनानि दुर्गाणि विविधानि च।
घोषान् व्रजान् सशिविरानाकरान् खेटखर्वटान्॥ ३१॥

अनन्तर प्रजाके लिए अन्न-प्रदान आदिकी व्यवस्था करनेके कारण पिता-स्वरूप महाराज पृथुने इस भूमण्डलपर जो स्थान जिसके लिए उपयुक्त था, उस-उस स्थानपर उनके लिए यथा उपयुक्त वासस्थानोंका विभाग कर दिया। उन्होंने गाँव, नगर, बस्ती, विविध दुर्ग, घोषपल्ली, पशुओंके रहनेके स्थान, सैन्य-निवास, खानें, खेट (किसानोंके गाँव), खर्वट (पर्वतप्रान्त अर्थात् तलहटियोंमें स्थित ग्राम) आदि वास-स्थानोंका निर्माण करवा दिया॥ ३०-३१॥

प्राक् पृथोरिह नैवैषा पुरग्रामादिकल्पना।
यथासुखं वसन्ति स्म तत्र तत्राकुतोभयाः॥ ३२॥

महाराज पृथुसे पहले इस भूमण्डलपर पुर, ग्राम आदिके विभाजन नहीं थे। किन्तु अब प्रजाजन अपने-अपने स्थानपर निर्भय होकर परम सुखसे वास करने लगे॥ ३२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां चतुर्थस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे पृथ्वीदोहो नामाष्टादशोऽध्यायः॥

एकोनविंशोऽध्यायः

पृथु महाराजके अश्वमेध-यज्ञमें इन्द्र द्वारा अश्वका अपहरण, पृथु द्वारा इन्द्रका वध करनेकी चेष्टा एवं ब्रह्माके द्वारा उसका निवारण

श्रीमैत्रेय उवाच—

अथादीक्षत राजर्षिर्हयमेधशतेन सः।
ब्रह्मावर्ते मनोः क्षेत्रे यत्र प्राची सरस्वती॥ १॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! इसके बाद राजर्षि पृथु मनुके ब्रह्मावर्त्त क्षेत्रमें जहाँपर सरस्वती नदी पूर्व दिशाकी ओर प्रवाहित होती है, सौ अश्वमेध-यज्ञोंके अनुष्ठानके लिए दीक्षित हुए॥ १॥

तदभिप्रेत्य भगवान् कर्मातिशयमात्मनः।
शतक्रतुर्न ममृषे पृथोर्यज्ञमहोत्सवम्॥ २॥

यह देखकर इन्द्रने विचार किया कि इस प्रकार तो पृथुके कर्म मेरे कर्मोंकी अपेक्षा भी बढ़ जायेंगे, इसलिए ईर्ष्यावशतः वह महाराज पृथुके इस यज्ञ-महोत्सवको सहन नहीं कर पाया॥ २॥

यत्र यज्ञपतिः साक्षाद्भगवान् हरिरीश्वरः।
अन्वभूयत सर्वात्मा सर्वलोकगुरुः प्रभुः॥ ३॥

अन्वितो ब्रह्मशर्वाभ्यां लोकपालैः सहानुगैः।
उपगीयमानो गन्धर्वैर्मुनिभिश्चाप्सरोगणैः॥ ४॥

सिद्धा विद्याधरा दैत्या दानवा गुह्यकादयः।
सुनन्द-नन्दप्रमुखाः पार्षदप्रवरा हरेः॥ ५॥

कपिलो नारदो दत्तो योगेशाः सनकादयः।
तमन्वीयुर्भागवता ये च तत्सेवनोत्सुकाः॥ ६॥

यत्र धर्मदुघा भूमिः सर्वकामदुघा सती।
दोग्धि स्माभीप्सितानर्थान् यजमानस्य भारत॥ ७॥

ऊहुः सर्वरसान् नद्यः क्षीरदध्यन्नगोरसान्।
तरवो भूरिवर्ष्माणः प्रासूयन्त मधुच्युतः॥ ८॥

सिन्धवो रत्ननिकरान् गिरयोऽन्नं चतुर्विधम्।
उपायनमुपाजह्रुः सर्वेलोकाः सपालकाः॥ ९॥

इति चाधोक्षजेशस्य पृथोस्तत् परमोदयम्।
असूयन् भगवानिन्द्रः प्रतिघातमचीकरत्॥ १०॥

महाराज पृथुके यज्ञोत्सवमें सर्वात्मा, समस्त लोकोंके पूज्य—यज्ञेश्वर भगवान् श्रीहरि साक्षात् प्रकट हुए थे। ब्रह्माजी एवं शिवजी भी अपने अनुचरोंके साथ वहाँ उपस्थित हुए थे। गन्धर्व, मुनि, अप्सराएँ, लोकपाल एवं लोकपालोंके अनुचर भगवान्का यशोगान कर रहे थे। सिद्ध, विद्याधर, दैत्य, दानव, गुह्यक तथा सुनन्द एवं नन्द आदि योगेश्वर और श्रीहरिके अन्य-अन्य उत्तम पार्षद तथा भगवान्की सेवाके लिए उत्सुक रहनेवाले कपिल, नारद, दत्तात्रेय, सनकादि भागवत-जन भी श्रीहरिके पीछे-पीछे चले आये थे। हे भारत! उस यज्ञमें धर्म-प्रसविनी यज्ञभूमि 'सर्वकाम-प्रसूति' के रूपमें यजमान पृथुको समस्त अभिलषित वस्तुएँ प्रदान कर रही थी। समस्त नदियाँ ईख, अङ्गूर आदिके रसोंको वहन कर रही थीं। मधुस्रावी विशाल देहवाले वृक्ष दूध, दही, अन्न एवं घृत आदि तरह-तरहकी सामग्रियाँ प्रदान कर रहे थे। सिन्धु रत्नोंका ढेर, पर्वत चर्व्य, चूष्य, लेह्य एवं पेय—इन चार प्रकारकी खाद्य-सामग्रियों तथा लोकपालोंके साथ समस्त लोक उन्हें नाना प्रकारके उपहार प्रदान कर रहे थे। अधोक्षज भगवान् श्रीहरिके सेवक महाराज पृथुके ऐसे अत्यन्त वृद्धिशील यज्ञ-कार्यको सहन न कर पानेके कारण इन्द्र पृथुके यज्ञमें विघ्न डालने लगा॥ ३-१०॥

चरमेणाश्वमेधेन यजमाने यजुष्पतिम्।
वैन्ये यज्ञपशुं स्पर्द्धन्नपोवाह तिरोहितः॥ ११॥

जिस समय वेननन्दन पृथु अन्तिम अश्वमेध-यज्ञ द्वारा यज्ञपति विष्णुकी आराधना कर रहे थे, उस समय इन्द्रने मात्सर्यवशतः गुप्त-वेशमें आकर उनके यज्ञीय अश्वका अपहरण कर लिया॥ ११ ॥

तमत्रिर्भगवानैक्षत् त्वरमाणं विहायसा।
आमुक्तमिव पाषण्डं योऽधर्मे धर्मविभ्रमः॥ १२ ॥

कवचके रूपमें पाखण्ड-वेश धारणकर मनुष्योंके लिए अधर्ममें धर्मका भ्रम उत्पन्न करानेवाला इन्द्र जब अश्वको लिये आकाश-मार्गमें बड़ी तेजीसे दौड़ा चला जा रहा था, तब महर्षि अत्रिने उसे देख लिया॥ १२ ॥

अत्रिणा चोदितो हन्तुं पृथुपुत्रो महारथः।
अन्वधावत संक्रुद्धस्तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत्॥ १३ ॥

ऐसा देखकर अत्रि ऋषि महाराज पृथुके महारथी पुत्रको इन्द्रका संहार करनेके लिए प्रोत्साहित करने लगे। पृथु-तनय भी क्रोधमें भरकर इन्द्रके पीछे-पीछे दौड़ने लगे और उनसे रुकनेके लिए कहने लगे॥ १३ ॥

तं तादृशाकृतिं वीक्ष्य मेने धर्मं शरीरिणम्।
जटिलं भस्मनाच्छन्नं तस्मै बाणं न मुञ्चति॥ १४ ॥

इन्द्रके सिरपर जटाओं और उसके शरीरको भस्म आदिसे आच्छादित देखकर पृथु-तनयने उन्हें मूर्त्तिमान-धर्म समझा और इसलिए उनपर बाणोंसे प्रहार नहीं किया॥ १४ ॥

वधान्निवृत्तं तं भूयो हन्तवेऽत्रिरचोदयत्।
जहि यज्ञहनं तात महेन्द्रं विबुधाधमम्॥ १५ ॥

पृथु-तनय इन्द्रका वध किये बिना ही लौट आये हैं, यह देखकर महर्षि अत्रिने उन्हें पुनः प्रेरित करते हुए कहा—"हे वत्स! अपने पिताके यज्ञमें विघ्न डालनेवाले इस देवाधम इन्द्रका विनाश करो॥ "१५ ॥

एवं वैन्यसुतः प्रोक्तस्त्वरमाणं विहायसा।
अन्वद्रवदतिक्रुद्धो गृध्रराडिव रावणम्॥ १६ ॥

महर्षि अत्रिके ऐसे वचन सुनकर पृथु-तनय पुनः अतिशय क्रोधित हो उठे। पक्षीराज जटायु जिस प्रकार भागते हुए रावणका वध करनेके लिए उसके पीछे-पीछे वेगपूर्वक दौड़ पड़े थे, उसी प्रकार पृथु-तनय भी इन्द्रके पीछे-पीछे दौड़े॥ १६॥

सोऽश्वं रूपञ्च तद्धित्वा तस्मा अन्तर्हितः स्वराट्।
वीरः स्वपशुमादाय पितुर्यज्ञमुपेयिवान्॥ १७॥

उस समय स्वतः प्रकाशमान इन्द्रने उस पाखण्ड-वेशका परित्याग कर दिया और यज्ञ-पशुको वहीं रखकर वे अन्तर्हित हो गये। महावीर पृथुपुत्र अपने यज्ञीय अश्वको लेकर पिताके यज्ञस्थलपर लौट आये॥ १७॥

तत्तस्य चाद्भुतं कर्म विचक्ष्य परमर्षयः।
नामधेयं ददुस्तस्मै विजिताश्व इति प्रभो॥ १८॥

हे शक्तिशाली विदुर! महर्षियोंने पृथुपुत्रके इस प्रकारके अद्भुत पराक्रमको देखकर उसे 'विजिताश्व' नाम प्रदान किया॥ १८॥

उपसृज्य तमस्तीव्रं जहाराश्वं पुनर्हरिः।
चषालयूपतश्छन्नो हिरण्यरशनं विभुः॥ १९॥

पृथु पुत्रने अश्वका उद्धार करके उसे सोनेकी जंजीर द्वारा चषाल एवं यूप-काष्ठमें[1] बाँधकर रखा था। किन्तु पराक्रमी इन्द्रने घोर अन्धकारकी सृष्टि करनेके उपरान्त उसीमें ही प्रच्छन्न वेश धारण करके उस अश्वका पुनः अपहरण कर लिया॥ १९॥

अत्रिः सन्दर्शयामास त्वरमाणं विहायसा।
कपालखट्वाङ्गधरं वीरो नैनमधावत॥ २०॥

इस बार इन्द्र कपाल एवं खट्वाङ्ग (प्रायश्चित्त करनेवालेका भिक्षा माँगनेका पात्र) धारण करके आकाश-पथसे द्रुतगतिसे भाग रहा था।

---

[1] यज्ञ-मण्डपमें यज्ञपशुको बाँधनेके लिए जो खम्भा रहता है, उसे 'यूप' कहते हैं और यूपके आगे रखे हुए गोलाकार काष्ठको 'चषाल' कहते हैं।

महर्षि अत्रिने पुनः भागते हुए इन्द्रको विजिताश्वको दिखाया, पर इस बार महावीर पृथु-पुत्र उसके पीछे नहीं भागे॥ २०॥

अत्रिणा चोदितस्तस्मै सन्दधे विशिखं रुषा।
सोऽश्वं रूपञ्च तद्धित्वा तस्मा अन्तर्हितः स्वराट्॥ २१॥

अत्रि मुनिके बार-बार प्रेरित करनेपर पृथु-तनयने क्रोधपूर्वक इन्द्रकी ओर बाण साधा। उस समय अभिलषित रूप धारण करनेमें समर्थ इन्द्र पुनः यज्ञीय-अश्व और पाखण्ड-वेशका परित्याग करके वहीं अन्तर्हित हो गये॥ २१॥

वीरश्चाश्वमुपादाय पितुर्यज्ञमथाव्रजत्।
तदवद्यं हरे रूपं जगृहुर्ज्ञानदुर्बलाः॥ २२॥

तत्पश्चात् महावीर विजिताश्व पुनः उस अश्वको लेकर पिताके यज्ञस्थलपर लौट आये। हे विदुर! तबसे ज्ञानहीन मन्दबुद्धिवाले मनुष्य इन्द्रके इस निन्दित एवं परित्यक्त कपट वेषको ग्रहण करते हैं॥ २२॥

यानि रूपाणि जगृहे इन्द्रो हयजिहीर्षया।
तानि पापस्य षण्डानि लिङ्गं षण्डमिहोच्यते॥ २३॥

इन्द्रने अश्वका अपहरण करनेके लिए जिन सब कपट वेशोंको धारण किया था, वे सभी 'पापके षण्ड' नामसे जाने जाते हैं। शास्त्रोंमें 'षण्ड' शब्दसे 'चिह्न' उद्दिष्ट होता है, इसके अनुसार 'पाषण्ड' शब्दका अर्थ है 'पापका चिह्न'॥ २३॥

एवमिन्द्रे हरत्यश्वं वैन्ययज्ञजिघांसया।
तद्गृहीतविसृष्टेषु पाषण्डेषु मतिर्नृणाम्॥ २४॥
धर्म इत्युपधर्मेषु नग्नरक्तपटादिषु।
प्रायेण सज्जते भ्रान्त्या पेशलेषु च वाग्मिषु॥ २५॥

इस प्रकार वेन-नन्दन पृथुके यज्ञका विध्वंस करनेकी इच्छासे देवराज इन्द्रने यज्ञीय-पशुको चुराते समय बार-बार जिन-जिन पाषण्ड-रूपोंको ग्रहण एवं परित्याग किया, उन-उन रूपोंमें क्रमशः

मनुष्योंकी बुद्धि मोहित होती गयी। दिगम्बर जैन लोग, रक्तवस्त्रधारी बौद्ध जन एवं कापालिक आदि सभी पाषण्ड-रूप-उपधर्मका आश्रय लिये हुए हैं। ये नास्तिक मत आपात रमणीय प्रतीत होते हैं। ये नास्तिक बड़ी-बड़ी युक्तियोंसे अपने पक्षका समर्थन करते हैं, इसलिए मनुष्योंकी मति पाषण्ड-धर्मके प्रति आकृष्ट हो जाती है॥ २४-२५॥

तदभिज्ञाय भगवान् पृथुः पृथुपराक्रमः।
इन्द्राय कुपितो बाणमादत्तोद्यतकार्मुकः॥ २६॥

परम पराक्रमी, महाशक्तिधारी पृथु इन्द्रके इस अभिप्रायको समझकर क्रोधित हो उठे। उन्होंने अपना धनुष उठाकर उसपर इन्द्रके उद्देश्यसे बाण चढ़ाया॥ २६॥

तमृत्विजः शक्रवधाभिसन्धितं
विचक्ष्य दुष्प्रेक्ष्यमसह्यरंहसम्।
निवारयामासुरहो महामते
न युज्यतेऽत्रान्यवधः प्रचोदितात्॥ २७॥

ऋत्विजोंने देखा कि पृथु इन्द्रके वधके लिए उद्यत हो उठे हैं। उनके लाल-लाल नेत्रों और भीषण-आकृतिकी ओर देखना भी दुःसाध्य हो रहा है। उनका वेग सहन करनेमें किसीका भी सामर्थ्य नहीं है। तब वे महाराज पृथुको रोकते हुऐ कहने लगे—हे महामते! इस यज्ञस्थलमें शास्त्र-विहित यज्ञीय पशु-वधके अतिरिक्त अन्य किसीका भी वध करना आपके लिए उचित नहीं है॥ २७॥

वयं मरुत्वन्तमिहार्थनाशनं
ह्वयामहे त्वच्छ्रवसा हतत्विषम्।
अयातयामोपहवैरनन्तरं
प्रसह्य राजन् जुहवाम तेऽहितम्॥ २८॥

हे राजन्! जो इन्द्र ईर्ष्यावश आपका यज्ञ नष्ट करनेके लिए तत्पर हुआ है, आपकी सत्-कीर्त्तिके प्रभावसे उसका प्रभाव निस्तेज हो गया है। हम उस यज्ञ-विघ्नकारी इन्द्रको अमोघ आह्वान-मन्त्रोंके द्वारा इस यज्ञशालामें आह्वान करके पशुकी भाँति बलपूर्वक उसकी अग्निमें आहुति दे देते हैं॥ २८॥

इत्यामन्त्र्य क्रतुपतिं विदुरास्यर्त्विजो रुषा।
स्रुग्घस्तान् जुह्वतोऽभ्येत्य स्वयम्भूः प्रत्यषेधत॥ २९॥

हे विदुरजी! ऋत्विजोंने यजमान पृथुके साथ इस प्रकार परामर्श किया और होमपात्र (स्रुवा) को हाथोंमें धारण करके क्रोधपूर्वक इन्द्रका आह्वान करनेके लिए आहुति डालनेके लिए उद्यत हुए, किन्तु उसी क्षण स्वयम्भू ब्रह्मा स्वयं वहाँपर उपस्थित हुए और उन्हें रोकते हुए कहने लगे॥ २९॥

न वध्यो भवतामिन्द्रो यद्यज्ञो भगवत्तनुः।
यं जिघांसथ यज्ञेन यस्येष्टास्तनवः सुराः॥ ३०॥

श्रीब्रह्माने कहा—हे पुरोहितो! आप लोगोंने यज्ञकी रक्षाके लिए जिस इन्द्रको यज्ञमें आहुति देकर वध करनेकी इच्छा की है, उन इन्द्रका एक नाम 'यज्ञ' भी है। वे भगवान्‌के ही अवतार विशेष हैं। यज्ञमें जितने भी देवताओंकी तुम आराधना कर रहे हो, वे उनके ही तो अङ्ग हैं। अतः इन्द्रका वध करना आपके लिए उचित नहीं है॥ ३०॥

तदिदं पश्यत महद्धर्मव्यतिकरं द्विजाः।
इन्द्रेणानुष्ठितं राज्ञः कर्मैतद्विजिघांसता॥ ३१॥

हे द्विजो! देखो! महाराज पृथुके यज्ञका विनाश करनेकी इच्छासे इन्द्रने वेदवादी महाजनोंके धर्मको कितना अधिक निन्दित किया है॥ ३१॥

पृथुकीर्तेः पृथोर्भूयात् तर्ह्येकोनशतक्रतुः।
अलं ते क्रतुभिः स्विष्टैर्यद्भवान् मोक्षधर्मवित्॥ ३२॥

अतः विपुलकीर्त्ति पृथुके निन्यानवें यज्ञ ही रहें। श्रीब्रह्माने ऋत्विकोंको यह कहकर फिर महाराज पृथुको सम्बोधित करते हुए कहा—हे राजन्! आप मोक्ष-धर्मको जाननेवाले हैं, अतः आपके लिए मोक्ष-धर्मका याजन ही कर्त्तव्य है। आपको काम्य यज्ञादि करनेकी आवश्यकता ही क्या है?॥ ३२॥

नैवात्मने महेन्द्राय रोषमाहर्तुमर्हसि।
उभावपि हि भद्रं ते उत्तमःश्लोकविग्रहौ॥ ३३॥

हे राजन्! आपका मङ्गल हो। आप एवं इन्द्र दोनों ही उत्तमश्लोक श्रीहरिके शक्त्यावेशावतार हैं। अतः आप इन्द्रसे भिन्न नहीं हैं। स्वयंके प्रति स्वयं ही क्रोध करना आपके लिए उचित नहीं है॥ ३३॥

मास्मिन् महाराज कृथाः स्म चिन्तां
निशामयास्मद्वच आदृतात्मा।
यद्ध्यायतो दैवहतं नु कर्तुं
मनोऽतिरुष्टं विशते तमोऽन्धम्॥ ३४॥

हे महाराज! इस यज्ञमें हुए विघ्नकी आप चिन्ता न करें। आप श्रद्धावान होकर मेरी बातोंको ध्यानसे सुनिये। दैवके द्वारा किसी कार्यके विनष्ट होनेपर जो व्यक्ति उसी कार्यको पुनः सम्पन्न करनेके लिए चिन्ता करता हैं, उसका मन निश्चय ही अतिशय रुष्ट होकर मोहान्ध-राज्यमें प्रवेश करता है॥ ३४॥

क्रतुर्विरमतामेष देवेषु दुरवग्रहः।
धर्मव्यतिकरो यत्र पाषण्डैरिन्द्रनिर्मितैः॥ ३५॥

अब आप इस यज्ञके लिए प्रयत्न करना बन्द कीजिये। देवताओंमें इन्द्र दुष्ट आग्रह रखनेवाला है। आपके यज्ञमें इन्द्रने जो समस्त पाषण्ड वेश बनाये हैं, उनके द्वारा भी धर्मकी बहुत हानि होगी॥ ३५॥

एभिरिन्द्रोपसंसृष्टैः पाषण्डैर्हारिभिर्जनम्।
ह्रियमाणं विचक्ष्वैनं यस्ते यज्ञध्रुगश्वमुट्॥ ३६॥

जरा देखिये! आपके यज्ञमें विघ्न डालनेवाले इन्द्रने यज्ञीय-अश्वका अपहरण करके जिन पाषण्डोंकी सृष्टि की है, वे पाषण्ड-वेष मनुष्योंके चित्तको आकर्षित करके उन्हें अभिभूत कर रहे हैं॥ ३६॥

भवान् परित्रातुमिहावतीर्णो
धर्मं जनानां समयानुरूपम्।

वेनापचारादवलुप्तमद्य
तद्देहतो विष्णुकलासि वैन्य॥ ३७॥

वेनके दुराचारके कारण लोगोंका युगधर्म विलुप्त हो रहा था। उस समयोचित धर्मके उद्धारके लिए ही अब आप विष्णुकी कला (अंशके अंश) के रूपमें वेनकी देहसे उत्पन्न हुए हैं॥ ३७॥

स त्वं विमृश्यास्य भवं प्रजापते
सङ्कल्पनं विश्वसृजां पिपीपृहि।
ऐन्द्रीञ्च मायामुपधर्ममातरं
प्रचण्डपाषण्डपथं प्रभो जहि॥ ३८॥

हे प्रजापते! इस विश्वकी उत्पत्तिका विचार करके विश्वकी सृष्टि करनेवाले भृगु आदि जिन समस्त ऋषियोंने आपको प्रकाशित किया है, आप उनकी मनोवाञ्छाको पूर्ण कीजिये। प्रचण्ड-पाषण्ड-मतवादरूपी उपधर्मोंकी जननी एन्द्री (इन्द्रकी) मायाको नष्ट कर दीजिये॥ ३८॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

इत्थं स लोकगुरुणा समादिष्टो विशाम्पतिः।
तथाच कृत्वा वात्सल्यं मघोनापि च सन्दधे॥ ३९॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! राजा पृथुने लोकगुरु ब्रह्माजीके इस प्रकार समझानेपर यज्ञका आग्रह परित्याग कर दिया और वात्सल्य-भावको प्रकाशित करते हुए इन्द्रके साथ मित्रता भी कर ली॥ ३९॥

कृतावभृथस्नानाय पृथवे भूरिकर्मणे।
वरान् ददुस्ते वरदा ये तद्बर्हिषि तर्पिताः॥ ४०॥

तत्पश्चात् पृथुने यज्ञके अन्तमें किया जानेवाला स्नान किया। जो समस्त वरप्रद देवता भूरिकर्मा पृथुके यज्ञमें अर्चित हुए थे, वे परम सन्तुष्ट होकर उन्हें वर प्रदान करने लगे॥ ४०॥

विप्राः सत्याशिषस्तुष्टाः श्रद्धया लब्धदक्षिणाः।
आशिषो युयुजुः क्षत्तरादिराजाय सत्कृताः॥ ४१॥

हे विदुरजी! जिन सब ब्राह्मणोंके आशीर्वाद अमोघ होते हैं, आदिराज पृथुने उन्हें श्रद्धापूर्वक दक्षिणाएँ दीं और ब्राह्मणोंने भी सन्तुष्ट होकर उन्हें आशीर्वाद प्रदान किये॥ ४१॥

त्वयाहूता महाबाहो सर्व एव समागताः।
पूजिता दानमानाभ्यां पितृदेवर्षिमानवाः॥ ४२॥

ब्राह्मणोंने कहा—हे महाबाहो पृथु! आपने जिन पितरों, देवताओं, ऋषियों एवं मानवोंका आह्वान किया था, वे सभी यहाँ पधारे हैं और आपके यथोपयुक्त दान-मानादिसे सम्मानित हुए हैं॥ ४२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां चतुर्थस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे श्रीपृथुविजये श्रीब्रह्मवाक्यं नामैकोनविंशोऽध्यायः॥

विंशोऽध्यायः

महाराज पृथुकी यज्ञशालामें भगवान् विष्णुका आविर्भाव और वर प्रदान

श्रीमैत्रेय उवाच—

भगवानपि वैकुण्ठः साकं मघवता विभुः।
यज्ञैर्यज्ञपतिस्तुष्टो यज्ञभुक् तमभाषत॥ १॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! यज्ञेश्वर, यज्ञभोक्ता वैकुण्ठनाथ भगवान् श्रीविष्णु भी इन्द्रके साथ यज्ञशालामें उपस्थित हुए और महाराज पृथुकी पूजाको स्वीकारकर उनसे कहने लगे॥ १॥

श्रीभगवानुवाच—

एष तेऽकारषीद्भङ्गं हयमेधशतस्य ह।
क्षमापयत आत्मानममुष्य क्षन्तुमर्हसि॥ २॥

श्रीभगवान्ने कहा—हे महाराज पृथु! इन्द्रने तुम्हारे सौवें अश्वमेध यज्ञमें विघ्न डाला है, किन्तु इस समय यह तुमसे क्षमा प्रार्थना कर रहा है, अतः इसे क्षमा करना तुम्हारा कर्त्तव्य है॥ २॥

सुधियः साधवो लोके नरदेव नरोत्तमाः।
नाभिद्रुह्यन्ति भूतेभ्यो यर्हि नात्मा कलेवरम्॥ ३॥

हे नरदेव! यह देह आत्मा नहीं है। अतः मनुष्योंमें उत्तम सुबुद्धिसे सम्पन्न सत्पुरुष प्राणियोंके प्रति हिंसा नहीं करते॥ ३॥

पुरुषा यदि मुह्यन्ति त्वादृशा देवमायया।
श्रम एव परं जातो दीर्घया वृद्धसेवया॥ ४॥

तुम्हारे समान विवेकी पुरुष भी यदि मेरी दैवी मायासे विमोहित हो जाये, तब तो दीर्घकालतक ज्ञानी व्यक्तियोंकी सेवा करनेको केवल व्यर्थका परिश्रम ही कहा जायेगा॥ ४॥

अतः कायमिमं विद्वानविद्याकामकर्मभिः।
आरब्ध इति नैवास्मिन् प्रतिबुद्धोऽनुसज्जते॥ ५॥

देखो, जो व्यक्ति इस शरीरको अविद्या, काम एवं कर्मोंके द्वारा बना हुआ जान पाते हैं, ऐसे आत्मज्ञ व्यक्ति कभी भी इस देहमें आसक्त नहीं होते॥ ५॥

असंसक्तः शरीरेऽस्मिन्नमुनोत्पादिते गृहे।
अपत्ये द्रविणे वापि कः कुर्यान्ममतां बुधः॥ ६॥

और जो इस देहमें ही आसक्त नहीं होते, वैसे आत्मदर्शी व्यक्ति इस देहसे उत्पन्न सन्तान, घर और धन आदिमें भी किस प्रकार ममता रख सकते हैं?॥ ६॥

एकः शुद्धः स्वयंज्योतिर्निर्गुणोऽसौ गुणाश्रयः।
सर्वगोऽनावृतः साक्षी निरात्मात्मात्मनः परः॥ ७॥

(देहादिमें अनासक्तिका कारण आत्मज्ञान है, इसीका ही उपदेश देते हुए परमात्माके ज्ञानके सम्बन्धमें बतला रहे हैं) परमात्मा—जीवात्मा[१] और देहसे नौ प्रकारसे भिन्न है। (१) देह और जीवोंकी संख्या अनेक है, किन्तु परमात्मा एक अद्वयतत्त्व हैं। (२) जीव और देह—अशुद्ध अथवा मलिन हैं, किन्तु परमात्मा विशुद्ध हैं। (३) जीव-प्रकाशहीन तथा देह—जड़ है, किन्तु परमात्मा—स्वतः प्रकाश तथा चेतन वस्तु हैं। (४) जीव तथा देह—सगुण अर्थात् गुणयुक्त हैं, किन्तु परमात्मा—निर्गुण हैं अर्थात् प्राकृत राग-द्वेष आदि गुणोंसे रहित हैं। (५) जीव—गुणके अधीन है तथा देह—प्राकृत मायाके गुण द्वारा उत्पन्न है, किन्तु परमात्मा—अप्राकृत ज्ञान, आनन्द आदि कल्याणकारी गुणोंके आधार हैं। (६) देह—जड़ तथा जीव—जड़के अनुरूप है, अतएव परिच्छिन्न है, किन्तु परमात्मा सर्वव्यापी है। (७) जीव—देह द्वारा तथा देह—गृह आदि वस्तु द्वारा आवृत्त हैं, किन्तु परमात्मा सर्वत्र अनावृत्त (स्वतन्त्र) हैं। (८) परमात्मा—देह-इन्द्रिय आदिके द्रष्टा स्वरूप हैं, किन्तु जीव—उसके विपरीत धर्म विशिष्ट अर्थात् दृष्य है और देह अचेतन वस्तु है। (९) परमात्मा—बाहर और अन्दर आदिके

---

[१] यहाँ जीवात्माका जो विवेचन है, वह मायाबद्ध जीवके लिए है।

भेदसे रहित हैं, किन्तु जीव—परमात्मासे युक्त है तथा देह—जीव आदिसे युक्त है और दोनों ही परमात्माके अधीन हैं। अतएव जीवात्मा और देह परमात्मासे सम्पूर्ण रूपसे भिन्न है॥ ७॥

य एवं सन्तमात्मानमात्मस्थं वेद पूरुषः।
नाज्यते प्रकृतिस्थोऽपि तद्गुणैः स मयि स्थितः॥ ८॥

जो व्यक्ति देहमें स्थित आत्माको पूर्वोक्त प्रकारसे देहसे भिन्न जानते हैं, वे देहमें स्थित होकर भी देहके गुणोंमें आसक्त नहीं होते, वे मुझ (परमात्मा) में ही अवस्थित रहते हैं॥ ८॥

यः स्वधर्मेण मां नित्यं निराशीः श्रद्धयान्वितः।
भजते शनकैस्तस्य मनो राजन् प्रसीदति॥ ९॥

जो निष्काम होकर श्रद्धापूर्वक धर्मानुष्ठानोंके द्वारा नित्यप्रति मेरा भजन करते हैं, उनका चित्त धीरे-धीरे प्रसन्नता प्राप्त करता है॥ ९॥

परित्यक्तगुणः सम्यग्दर्शनो विशदाशयः।
शान्तिं मे समवस्थानं ब्रह्मकैवल्यमश्नुते॥ १०॥

चित्त प्रसन्न होनेपर वे प्रकृतिके तीनों गुणोंसे परिमुक्त होकर पूर्ण रूपसे तत्त्वदर्शी हो जाते हैं। मुझमें सम्पूर्ण रूपसे उदासीनता रूप स्थिति ही 'ब्रह्मकैवल्य' है। वे इसी ब्रह्मकैवल्यरूपी शान्तिको प्राप्त करते हैं॥ १०॥

उदासीनमिवाध्यक्षं द्रव्यज्ञानक्रियात्मनाम्।
कूटस्थमिममात्मानं यो वेदाप्नोति सोऽभवम्॥ ११॥

जो उदासीन रूपसे अवस्थित, साक्षीस्वरूप निर्विकार आत्माको देह, ज्ञान, कर्मेन्द्रिय और मनके अध्यक्षके रूपमें जान लेते हैं, वे मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं॥ ११॥

भिन्नस्य लिङ्गस्य गुणप्रवाहो
द्रव्यक्रियाकारकचेतनात्मनः ।
दृष्टासु सम्पत्सु विपत्सु सूरयो
न विक्रियन्ते मयि बद्धसौहृदाः॥ १२॥

देह, कर्म, इन्द्रिय, इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ देवता एवं चिदाभासरूप लिङ्गशरीरका ही गुणप्रवाहरूप आवागमन एवं संसार-भोग होता है। यह जानकर विवेकी मनुष्य मुझमें सम्बन्ध युक्त होकर निश्चल रहते हैं। अतएव सम्पद् उपस्थित हो अथवा विपद्, वे किसी भी स्थितिमें हर्ष-शोकादि विकारोंके वशीभूत नहीं होते॥ १२॥

समः समानोत्तम-मध्यमाधमः
सुखे च दुःखे च जितेन्द्रियाशयः।
मयोपक्लिप्ताखिललोकसंयुतो
विधत्स्व वीराखिललोकरक्षणम्॥ १३॥

हे वीर! तुम भी बुद्धिमान हो। अतएव प्राकृत सम्पद् और विपदमें समबुद्धि रखो। सत्त्वादि गुणोंके द्वारा उत्तम, मध्यम और अधममें समान बुद्धि रखो। सुख-दुःखके विषयोंमें इन्द्रियों और मनको वशीभूत करो तथा मैंने तुम्हें मन्त्री आदि जितने भी राजकीय पार्षद प्रदान किये हैं, उन सबके साथ मिलकर समस्त लोकोंकी रक्षा करो॥ १३॥

श्रेयः प्रजापालनमेव राज्ञो
यत् साम्पराये सुकृतात् षष्ठमंशम्।
हर्तान्यथा हृतपुण्यः प्रजाना-
मरक्षिता करहारोऽघमत्ति॥ १४॥

प्रजाका पालन ही राजाके लिए परम मङ्गलजनक कार्य है, क्योंकि परलोकमें राजा प्रजाओंके द्वारा उपार्जित पुण्योंके छठे भागका भोग करता है। जो राजा प्रजाओंसे कर तो ग्रहण करता है, पर उनकी रक्षाके विषयमें उदासीन रहता है, प्रजा उस राजाके पुण्योंका हरण कर लेती है और उस राजाको प्रजाके पापोंका फल भी भोगना पड़ता है॥ १४॥

एवं द्विजाग्र्यानुमतानुवृत्त-
धर्मप्रधानोऽन्यतमोऽवितास्याः ।
ह्रस्वेन कालेन गृहोपयातान्
द्रष्टासि सिद्धाननुरक्तलोकः॥ १५॥

अतः जो धर्म प्रधान-प्रधान महर्षियोंके द्वारा अनुमोदित है तथा श्रौत-परम्परासे चला आ रहा है, तुम उसी धर्मको श्रेष्ठ जानकर ग्रहण करो और अनासक्त भावसे इस पृथ्वीका पालन करो। इस प्रकारसे प्रजा तुम्हारे प्रति अनुरक्त होगी और तुम शीघ्र ही अपने घरमें सनकादि सिद्धजनोंको उपस्थित देख सकोगे॥ १५॥

वरञ्च मत् कञ्चन मानवेन्द्र
वृणीष्व तेऽहं गुणशीलयन्त्रितः।
नाहं मखैर्वै सुलभस्तपोभि-
र्योगेन वा यत् समचित्तवर्ती॥ १६॥

हे राजन्! मैं तुम्हारे शम आदि गुणों एवं निर्मत्सरता आदि स्वभावके द्वारा वशीभूत हो गया हूँ। अतः तुम मुझसे कोई एक अभीष्ट वर माँग लो। राजन्! मैं समचित्तवाले व्यक्तियोंके ही अनुभवका विषय हुआ करता हूँ। यज्ञ, तपस्या अथवा योगके द्वारा मैं कभी भी सहज रूपसे प्राप्त नहीं होता हूँ॥ १६॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

स इत्थं लोकगुरुणा विष्वक्सेनेन विश्वजित्।
अनुशासित आदेशं शिरसा जगृहे हरेः॥ १७॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! सर्वलोकगुरु भगवान् श्रीहरिने जब विश्व-विजयी पृथुको इस प्रकारसे उपदेश दिये, तब उन्होंने भगवान्‌की आज्ञाको सिर झुकाकर स्वीकार कर लिया॥ १७॥

स्पृशन्तं पादयोः प्रेम्णा व्रीडितं स्वेन कर्मणा।
शतक्रतुं परिष्वज्य विद्वेषं विससर्ज ह॥ १८॥

उस समय देवराज इन्द्र अपने किये हुए कार्योंके कारण लज्जित होकर महाराज पृथुके चरणोंमें गिर पड़े। राजा पृथुने प्रेमवश उनका आलिङ्गन करके उनके प्रति विद्वेष-भावका परित्याग कर दिया॥ १८॥

भगवानपि विश्वात्मा पृथुनोपहृतार्हणः।
समुज्जिहानया भक्त्या गृहीतचरणाम्बुजः॥ १९॥

प्रस्थानाभिमुखोऽप्येनमनुग्रहविलम्बितः ।
पश्यन् पद्मपलाशाक्षो न प्रतस्थे सुहृत् सताम्॥ २०॥

इसके बाद पृथु महाराजने विश्वात्मा भगवान् श्रीहरिकी पूजा करनेके लिए अनेक प्रकारकी सामग्री एकत्रित की और पल-पल परिवर्द्धित होनेवाले भक्ति-भावसे उनके चरणकमलोंकी वन्दना करने लगे। श्रीहरि सज्जनोंके सुहृत् हैं, इसलिए जानेके लिए तत्पर होनेपर भी भक्त पृथुके प्रति अनुग्रहके कारण वे शीघ्र प्रस्थान न कर सके। भगवान् अपने कमलनयनोंसे राजाकी ओर निहारते हुए स्थिर खड़े रहे॥ १९-२०॥

स आदिराजो रचिताञ्जलिर्हरिं
विलोकितुं नाशकदश्रुलोचनः।
न किञ्चनोवाच स बाष्पविक्लवो
हृदोपगुह्यामुमधादवस्थितः ॥ २१ ॥

तब आदिराज पृथुने श्रीहरिकी स्तुति करनेके लिए हाथ जोड़े, किन्तु नेत्रोंमें आनन्दके आँसू भर आनेके कारण वे भगवान्‌का दर्शन न कर सके और कण्ठ अवरुद्ध हो जानेके कारण उनके मुखसे एक भी शब्द न निकल सका। अतः उन्होंने श्रीहरिका हृदयसे ही आलिङ्गन कर लिया॥ २१ ॥

अथावमृज्याश्रुकला विलोकय-
न्नतृप्तदृग्गोचरमाह पूरुषम्।
पदा स्पृशन्तं क्षितिमंस उन्नते
विन्यस्तहस्ताग्रमुरङ्गविद्विषः ॥ २२ ॥

इसके बाद उन्होंने आँसुओंको पोंछकर देखा कि श्रीहरि भूमिपर चरणयुगलोंको स्थापित करके खड़े थे तथा उन्होंने अपना हस्तकमल गरुड़के ऊँचे कन्धेपर रखा हुआ था। महाराज पृथु अतृप्त नयनयुगलके विषयीभूत श्रीहरिको सम्बोधन करके इस प्रकार कहने लगे॥ २२॥

श्रीपृथुरुवाच—

वरान् विभो त्वद्वरदेश्वराद्बुधः
कथं वृणीते गुणविक्रियात्मनाम्।

ये नारकाणामपि सन्ति देहिनां
तानीश कैवल्यपते वृणे न च॥ २३॥

महाराज पृथुने कहा—हे मुक्तिदाता विभो! जिनमें वरदान आदि देनेका सामर्थ्य है, आप उन ब्रह्मादि देवताओंके भी ईश्वर हैं। कौन बुद्धिमान व्यक्ति आपसे देहाभिमानियोंके भोग्य विषयोंकी प्रार्थना करेगा? हे परमेश! ये सब भोग्य वस्तुएँ तो नरकवासी देहधारियोंको भी उपलब्ध हैं। अतः हे मुकुन्द! मैं इन समस्त घृणित तुच्छ भोग्य वस्तुओंके लिए कोई प्रार्थना नहीं करना चाहता॥ २३॥

न कामये नाथ तदप्यहं क्वचि-
न्न यत्र युष्मच्चरणाम्बुजासवः।
महत्तमान्तर्हृदयान्मुखच्युतो
विधत्स्व कर्णायुतमेष मे वरः॥ २४॥

हे नाथ! मुझे तो उस मोक्षपदकी भी कामना नहीं है, जिसमें महत्तम भागवतोंके अन्तर्हृदयसे उनके मुख-मार्गके द्वारा निकली हुई आपकी चरणकमलरूपी सुधाका यशोगान श्रवण करनेकी सम्भावना नहीं हो। मेरी प्रार्थना तो यह है कि आप मुझे अनन्त कान प्रदान कर दीजिये, जिनसे मैं आपकी गुण-कथाका श्रवण करता रहूँ। यही मेरा एकमात्र प्रार्थनीय वर है, इसके अतिरिक्त मैं और कुछ भी नहीं चाहता हूँ॥ २४॥

स उत्तमःश्लोकमहन्मुखच्युतो
भवत्पदाम्भोज-सुधाकणानिलः ।
स्मृतिं पुनर्विस्मृत-तत्त्ववर्त्मनां
कुयोगिनां नो वितरत्यलं वरैः॥ २५॥

हे उत्तमश्लोक प्रभो! आपके चरणकमलोंके मकरन्दरूपी अमृतकणोंसे युक्त होकर महापुरुषोंके मुखसे जो वायु निकलती है, वह तत्त्वको भूले हुए कुयोगियोंको भी पुनः तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति करा देती है। अतः हमें दूसरे वरोंसे प्रयोजन ही क्या है?॥ २५॥

यशः शिवं सुश्रव आर्यसङ्गमे
यदृच्छया चोपशृणोति ते सकृत्।
कथं गुणज्ञो विरमेद्विना पशुं
श्रीर्यत् प्रवव्रे गुणसंग्रहेच्छया॥ २६॥

हे मङ्गलकीर्त्ति प्रभो! जो व्यक्ति महाजनोंके सान्निध्यमें आपके मङ्गलप्रद सुयशका एक बार भी किसी प्रकारसे श्रवण करता है, यदि पशु न होकर वह थोड़ा-सा भी सारग्राही हो, तो वह उस कथा श्रवणको कैसे छोड़ सकता है? इसका कारण है कि लक्ष्मीदेवीने भी निखिल गुणोंको संग्रह करनेकी अभिलाषासे आपके सर्वपुरुषार्थप्रद सुयशका ही सम्पूर्ण रूपसे आश्रय लिया है॥ २६॥

अथाभजे त्वाखिलपूरुषोत्तमं
गुणालयं पद्मकरेव लालसः।
अप्यावयोरेकपतिस्पृधोः कलि-
र्न स्यात् कृतत्वच्चरणैकतानयोः॥ २७॥

आप पुरुषोत्तम एवं समस्त गुणोंके भण्डार हैं। मैं भी लक्ष्मीजीके समान समुत्सुक होकर आपकी सेवा करना चाहता हूँ। हे नाथ! लक्ष्मी और मैं—हम दोनों अपने एक ही प्रभु आपकी कामना करेंगे तथा दोनों ही आपके चरणकमलोंमें मनको एकान्तिक भावसे नियुक्त रखेंगे, इससे हम दोनोंमें परस्पर कोई विरोध उपस्थित नहीं होगा॥ २७॥

जगज्जनन्यां जगदीश वैशसं
स्यादेव यत्कर्मणि नः समीहितम्।
करोषि फल्ग्वप्युरु दीनवत्सलः
स्व एव धिष्ण्येऽभिरतस्य किं तया॥ २८॥

(किन्तु कुछ विचार करनेके उपरान्त पुनः कहने लगे—)हे जगदीश! जगत् जननी लक्ष्मीजीके साथ विरोध तो अवश्य ही होगा, क्योंकि मैं भी जगत्-जननीकी भाँति आपकी सेवा करनेका इच्छुक हूँ, तथापि मैं उस विरोधका सामना करनेसे पीछे नहीं हटूँगा। इसका कारण है कि आप दीनवत्सल हैं, अतः अपने भक्त द्वारा किये गये

तुच्छ कार्यको भी आप यथेष्ठ समझेंगे। जब आप अपने परमानन्द स्वरूपमें ही अवस्थान कर रहे हैं, तो फिर लक्ष्मीजीसे भी आपका क्या प्रयोजन है?॥ २८॥

भजन्त्यथ त्वामत एव साधवो
व्युदस्तमायागुणविभ्रमोदयम् ।
भवत्पदानुस्मरणादृते सतां
निमित्तमन्यद्भगवन् न विद्महे॥ २९॥

हे भगवन्! आपको दीनवत्सल जानकर ही साधु-महात्मा आपका भजन करते हैं। आपमें मायाके गुणोंके विलाससे उत्पन्न कार्यका सर्वथा अभाव है। हे भगवन्! मुझे तो आपके सर्वसुख-चूड़ामणि चरणकमलोंकी सेवाके अतिरिक्त महान् पुरुषोंके लिए दूसरा कोई प्रयोजन दिखायी नहीं देता॥ २९॥

मन्ये गिरं ते जगतां विमोहिनीं
वरं वृणीष्वेति भजन्तमात्थ यत्।
वाचा नु तन्त्र्या यदि ते जनोऽसितः
कथं पुनः कर्म करोति मोहितः॥ ३०॥

आपने जो 'वर माँगो' यह कहा है, वह तो जगत्को मोहमें डालनेवाली बात है। हे नाथ! मनुष्य यदि आपकी (वेदवाणीरूपी) रज्जुसे बँधे न होते, तो वे किस प्रकारसे पुनः-पुनः मायामुग्ध होकर सकाम कर्मोंमें प्रवृत्त होते रहते?॥ ३०॥

त्वन्माययाद्धा जन ईश खण्डितो
यदन्यदाशास्त ऋतात्मनोऽबुधः।
यथाचरेद्बालहितं पिता स्वयं
तथा त्वमेवार्हसि नः समीहितुम्॥ ३१॥

हे ईश! अज्ञ मनुष्य आपकी मायाके द्वारा निश्चय ही विमुग्ध हैं, क्योंकि वे अद्वयतत्त्व सत्यस्वरूप आपसे विमुख होकर अपने भोगके लिए पृथक् रूपसे स्त्री, पुत्रादिकी कामना करते हैं। किन्तु जिस प्रकार पिता अपने पुत्रकी इच्छाकी अपेक्षा किये बिना भी उसके कल्याणकी

चेष्टा करता है, उसी प्रकार आपके लिए भी स्वयं ही हमारे जैसे अज्ञ व्यक्तियोंके मङ्गलकी कामना करना ही उचित है॥ ३१॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

इत्यादिराजेन नुतः स विश्वदृक्
तमाह राजन् मयि भक्तिरस्तु ते।
दिष्ट्येदृशी धीर्मयि ते कृता यया
मायां मदीयां तरति स्म दुस्तराम्॥ ३२॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! आदिराज पृथुके द्वारा इस प्रकारसे स्तुति करनेपर विश्वस्रष्टा भगवान् श्रीविष्णुने कहा—हे राजन्! मेरे प्रति तुम्हारी भक्ति वृत्ति उदित हो। पूर्व-पूर्व सुकृतियोंके फलसे ही तुमने ऐसी सद्बुद्धि प्राप्त की है। पण्डितजनोंने इसी बुद्धियोगके द्वारा मेरी सुदुस्तर मायाका भी अतिक्रम किया है॥ ३२॥

तत् त्वं कुरु मयादिष्टमप्रमत्तः प्रजापते।
मदादेशकरो लोकः सर्वत्राप्नोति शोभनम्॥ ३३॥

अतएव हे प्रजापते! मैंने तुम्हें जो आदेश दिया है, तुम सावधान होकर उसका पालन करो। जो मेरी आज्ञाका पालन करता है, उस व्यक्तिका सर्वत्र मङ्गल ही होता है॥ ३३॥

इति वैन्यस्य राजर्षेः प्रतिनन्द्यार्थवद्वचः।
पूजितोऽनुगृहीत्वैनं गन्तुं चक्रेऽच्युतो मतिम्॥ ३४॥

हे विदुर! इस प्रकार भगवान् श्रीहरिने राजर्षि पृथुके सारगर्भित वचनोंका समादर किया। तत्पश्चात् राजा पृथुने भगवान्का पूजा-सत्कार किया और भगवान् श्रीहरि उनपर सब प्रकारसे कृपा करके वहाँसे चलनेको तैयार हो गये॥ ३४॥

देवर्षिपितृगन्धर्व-सिद्धचारणपन्नगाः ।
किन्नराप्सरसो मर्त्याः खगा भूतान्यनेकशः॥ ३५॥

यज्ञेश्वरधिया राज्ञा वाग्वित्ताञ्जलिभक्तितः।
सभाजिता ययुः सर्वे वैकुण्ठानुगतास्ततः॥ ३६॥

इसके बाद महाराज पृथुने देवर्षि, पितर, गन्धर्व, सिद्ध, चारण, पन्नग (नाग), किन्नर, अप्सरा, मनुष्य, पक्षी एवं अन्यान्य बहुत प्रकारके प्राणियों एवं विष्णुके पार्षदोंको यज्ञेश्वर विष्णुसे अभिन्न जानकर अर्थात् उनकी स्वतन्त्र पूजा न करके उन्हें सर्वेश्वर विष्णुका आश्रित-तत्त्व तथा विष्णुसे सम्बन्धित जानकर भक्तिपूर्वक वाणीसे, धनसे और हाथ जोड़कर उनकी यथोचित पूजा की। इस प्रकार पूजित होकर सभी अपने-अपने स्थानोंपर चले गये॥ ३५-३६ ॥

भगवानपि राजर्षेः सोपाध्यायस्य चाच्युतः।
हरन्निव मनोऽमुष्य स्वधाम प्रत्यपद्यत॥ ३७ ॥

उस समय ऐसा प्रतीत हुआ कि मानो राजर्षि पृथुके मनका हरणकर भगवान् श्रीहरि भी ऋत्विजोंके साथ अपने धामकी ओर प्रस्थान कर गये॥ ३७ ॥

अदृष्टाय नमस्कृत्य नृपः सन्दर्शितात्मने।
अव्यक्ताय च देवानां देवाय स्वपुरं ययौ॥ ३८ ॥

अव्यक्तस्वरूप देवादिदेव श्रीवासुदेव प्राकृत नेत्रोंसे दिखायी नहीं देते हैं, किन्तु उन्होंने राजा पृथुके सेवोन्मुख नेत्रोंके सम्मुख अपने स्वरूपको प्रकट किया था। इस प्रकार अपना स्वरूप दिखलाकर वे भगवान् वासुदेव वहाँसे अन्तर्धान हो गये। आदिराज पृथु भी भगवान् अच्युतको प्रणाम करके अपनी राजधानीको लौट गये॥ ३८ ॥

श्रीमन्मध्वाचार्यपाद, तदनुग श्रीमन् विजयध्वजतीर्थ एवं श्रीसम्प्रदायभुक्त श्रीमद् वीरराघवाचार्यपादने अपनी-अपनी टीकाओंमें निम्नलिखित दो श्लोकोंको इस अध्यायमें अतिरिक्त पाठके रूपमें स्थिर किया है—

ते साधु वर्णितं राजन्नाशास्से यदाशिषः।
स्वर्गापवर्गनरकान् समं पश्यति मत्परः॥ १ ॥

(श्रीभगवान्ने कहा—)हे राजन्! आपने उत्तम बात कही है। आपने ऐहिक पुरुषार्थकी प्राप्तिकी लेशमात्र भी कामना नहीं की,

बल्कि मुझमें आसक्त होकर मेरी सेवासे रहित स्वर्ग एवं मोक्षको भी नरकके समान माना है॥ १॥

प्रीतोऽहं ते महाराज रोषं दुस्त्यजमत्यजः।
मदादेशं श्रद्दधानास्तन्मह्यं परमार्हणम्॥ २॥

हे राजन्! मैं आपके प्रति सन्तुष्ट हुआ हूँ, क्योंकि आपने मेरी वाणीके प्रति श्रद्धावान होकर दुस्त्यज क्रोधका परित्याग कर दिया है तथा मुख्य रूपसे मेरे आदेशका पालन करके मेरी श्रेष्ठ पूजा की है॥ २॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां चतुर्थस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे श्रीपृथु-चरिते श्रीपृथुस्तवो नाम विंशोऽध्यायः॥

एकविंशोऽध्यायः

महाराज पृथुका अपनी प्रजाको उपदेश

श्रीमैत्रेय उवाच—

मौक्तिकैः कुसुमस्रग्भिर्दुकूलैः स्वर्णतोरणैः।
महासुरभिभिर्धूपैर्मण्डितं तत्र तत्र वै॥ १॥

चन्दनागुरुतोयार्द्र-रथ्या-चत्वरमार्गवत्।
पुष्पाक्षतफलैस्तोक्मैर्लाजैरर्चिभिरर्चितम्॥ २॥

सवृन्दैः कदलीस्तम्भैः पूगपोतैः परिष्कृतम्।
तरुपल्लवमालाभिः सर्वतः समलंकृतम्॥ ३॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—महाराज पृथुकी राजनगरी स्थान-स्थानपर असंख्य मोतियोंकी लड़ियों, पुष्पमालाओं, रङ्ग-बिरङ्गे रेशमी वस्त्रों एवं स्वर्ण-द्वारोंसे सुशोभित तथा सुगन्धित धूपके द्वारा सुवासित थी। उसकी गलियाँ, पथ और प्राङ्गणोंको चन्दन एवं अगुरुमिश्रित जलसे सिञ्चित किया गया था तथा उन्हें पुष्प, अक्षत (अरवा चावल), फल, यवाङ्कुर, खील, प्रदीप आदि माङ्गलिक सामग्रियोंसे सजाया गया था। यह नगरी यहाँ-वहाँ रखे फल-फूलोंके गुच्छोंसे युक्त केलेके खम्भों एवं सुपारीके पौधोंसे अति मनोहारी लग रही थी। सभी ओर आम आदि तरुओंके नव-पल्लवोंकी झालरें समलंकृत हो रही थीं॥ १-३॥

प्रजास्तं दीपबलिभिः संभृताशेषमङ्गलैः।
अभीयुर्मृष्टकन्याश्च मृष्टकुण्डलमण्डिताः॥ ४॥

जब महाराज पृथुने नगरमें प्रवेश किया, तब समस्त प्रजाजनों तथा समुज्ज्वल मणिकुण्डलोंसे सुशोभित सुन्दर कन्याओंने दीपमाला और दधि आदि बहुत प्रकारके माङ्गलिक द्रव्योंसे उनकी अगवानी की॥ ४॥

शङ्खदुन्दुभिघोषेण ब्रह्मघोषेण चर्त्विजाम्।
विवेश भवनं वीरः स्तूयमानो गतस्मयः॥ ५॥

उनकी अगवानी करनेके लिए शङ्ख-दुन्दुभि आदि बाजे बजने लगे, ऋत्विजगण वेदध्वनि करने लगे तथा वन्दीजन प्रशंसाके गीत गाने लगे। यह सब देख-सुनकर भी महाप्रतापी राजा पृथु बिना किसी अभिमानके राजभवनमें प्रविष्ट हुए॥ ५॥

पूजितः पूजयामास तत्र तत्र महायशाः।
पौरान् जानपदांस्तांस्तान् प्रीतः प्रियवरप्रदः॥ ६॥

पथमें पुरवासियों एवं जनपदवासियोंने विपुलकीर्त्ति महाराज पृथुका स्थान-स्थानपर स्वागत-सत्कार किया। महाराजने भी उनसे सन्तुष्ट होकर उन्हें अभीष्ट वर देकर प्रसन्न किया॥ ६॥

स एवमादीन्यनवद्यचेष्टितः
कर्माणि भूयांसि महान् महत्तमः।
कुर्वन् शशासावनिमण्डलं यशः
स्फीतं निधायारुरुहे परं पदम्॥ ७॥

इस प्रकार पवित्र कर्म करनेवाले और महान् जनोंमें भी महत्तम पृथु महाराजने यज्ञादि बहुत प्रकारके कर्म करते हुए भूमण्डलपर शासन किया और अन्तमें पृथ्वीपर विपुल यशको स्थापितकर विष्णुके परमपदको प्राप्त हुए॥ ७॥

श्रीसूत उवाच—

तदादिराजस्य यशो विजृम्भितं
गुणैरशेषैर्गुणवत्सभाजितम्।
क्षत्ता महाभागवतः सदस्पते
कौषारविं प्राह गृणन्तमर्चयन्॥ ८॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—हे मुनिवर शौनक! इस प्रकार श्रीमैत्रेयने आदिराज पृथुके असीम गुणोंसे सम्पन्न एवं गुणज्ञ व्यक्तियोंके द्वारा प्रशंसित यशका कीर्त्तन किया। यह सुनकर महाभागवत विदुर श्रीमैत्रेय ऋषिका अभिनन्दन करते हुए कहने लगे॥ ८॥

श्रीविदुर उवाच—

सोऽभिषिक्तः पृथुर्विप्रैर्लब्धाशेषसुरार्हणः।
बिभ्रत् स वैष्णवं तेजो बाह्वोर्याभ्यां दुदोह गाम्॥ ९॥

श्रीविदुरने कहा—हे ब्रह्मन्! जिनका ब्राह्मणोंने अभिषेक किया, जिन्होंने बहुत-से देवताओंसे उपहाररूप सम्मान प्राप्त किया, जिन्होंने दोनों भुजाओंसे पृथ्वीका दोहन किया और वैष्णव तेजको धारण किया, उन पृथु महाराजने और क्या-क्या कार्य किये थे?॥ ९॥

को न्वस्य कीर्तिं न शृणोत्यभिज्ञो
यद्विक्रमोच्छिष्टमशेषभूपाः।
लोकाः सपाला उपजीवन्ति काम-
मद्यापि तन्मे वद कर्म शुद्धम्॥ १०॥

जिनके पराक्रम आदिके उच्छिष्ट-स्वरूप अभीष्ट भोगोंको प्राप्त करके इन्द्रादि लोकपालोंके साथ समस्त लोक एवं भू-पाल आज भी जीवित हैं, उन राजर्षि पृथुकी कीर्तिको कौन विवेकी पुरुष सुनना नहीं चाहेगा? आप मुझे उनके और भी विशुद्ध चरित्र सुनाइये॥ १०॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

गङ्गायमुनयोर्नद्योरन्तरा क्षेत्रमावसन्।
आरब्धानेव बुभुजे भोगान् पुण्यजिहासया॥ ११॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—महाराज पृथु गङ्गा एवं यमुनाके मध्यवर्ती पवित्र प्रदेशमें वासकर स्वयं साधारण जीवोंके समान आचरण करने लगे। उस समय वे सुख-भोगके द्वारा पुण्योंका और दुःख-भोगके द्वारा पापोंका क्षय करनेकी इच्छासे प्रारब्ध कर्मोंसे प्राप्त भोग्य वस्तुओंका भोग करने लगे॥ ११॥

सर्वत्रास्खलितादेशः सप्तद्वीपैकदण्डधृक्।
अन्यत्र ब्राह्मणकुलादन्यत्राच्युतगोत्रतः॥ १२॥

पृथु महाराज सप्तद्वीपवती पृथ्वीके एकछत्र सम्राट थे। उनकी आज्ञा सर्वत्र ही पालनीय थी, परन्तु ऋषियों, ब्राह्मणों एवं अच्युत गोत्रीय वैष्णवोंके ऊपर उन्होंने किसी प्रकारका आधिपत्य नहीं रखा॥ १२॥

एकदासीन्महासत्रदीक्षा तत्र दिवौकसाम्।
समाजो ब्रह्मर्षीणाञ्च राजर्षीणाञ्च सत्तम॥ १३॥

हे साधुश्रेष्ठ! वे पहले एक और भी महायज्ञमें दीक्षित हुए थे। उस यज्ञमें देवताओं, ब्रह्मर्षियों एवं राजर्षियोंका बहुत बड़ा समाज एकत्रित हुआ था॥ १३॥

तस्मिन्नर्हत्सु सर्वेषु स्वर्चितेषु यथार्हतः।
उत्थितः सदसो मध्ये ताराणामुडूराडिव॥ १४॥
प्रांशुः पीनायतभुजो गौरः कञ्जारुणेक्षणः।
सुनसः सुमुखः सौम्यः पीनांसः सुद्विजस्मितः॥ १५॥
व्यूढवक्षा बृहच्छ्रोणिर्वलिवल्गुदलोदरः।
आवर्त्तनाभिरोजस्वी काञ्चनोरुरुदग्रपात्॥ १६॥
सूक्ष्मवक्रासितस्निग्ध-मूर्द्धजः कम्बुकन्धरः।
महाधने दुकूलाग्र्ये परिधायोपवीय च॥ १७॥
व्यञ्जिताशेषगात्रश्रीर्नियमे न्यस्तभूषणः।
कृष्णाजिनधरः श्रीमान् कुशपाणिः कृतोचितः॥ १८॥
शिशिरस्निग्धताराक्षः सदः समैक्षत समन्ततः।
ऊचिवानिदमुर्वीशः सदः संहर्षयन्निव॥ १९॥
चारु चित्रपदं श्लक्ष्णं मृष्टं गूढमविक्लवम्।
सर्वेषामुपकारार्थं तदा उनुवदन्निव॥ २०॥

उस यज्ञमें पधारे हुए सभी पूजनीयजनोंका महाराज पृथुने यथायोग्य स्वागत किया था। तदनन्तर सभाके बीचमें राजा पृथु इस प्रकार खड़े हो गये थे, जैसे तारोंके बीचमें चन्द्रमा सुशोभित होता है। उनका शरीर ऊँचा, दोनों भुजाएँ दीर्घ एवं विशाल, दोनों नेत्र कमलके समान अरुणवर्ण, नासिका अति सुन्दर और मुख प्रफुल्लित था। उनके दोनों कन्धे उन्नत थे। वे मन्द-मन्द मुसकरा रहे थे, जिससे उनकी सुचारु दन्तपंक्ति प्रकाशित हो रही थी। वे बड़े तेजस्वी दीख रहे थे। उनका वक्षःस्थल विस्तृत, कटिदेश स्थूल, उदर त्रिवली रेखाओंसे सुशोभित एवं पीपलके पत्तेके समान पिछला भाग सुडौल

और निम्न भाग संकुचित था, उनकी नाभि भँवरके समान गहरी, जंघाएँ सुवर्णके समान देदीप्यमान और चरणका अग्रभाग उन्नत था। उनके केश सूक्ष्म, घुँघराले, काले एवं चिकने थे, गला शङ्खके समान रेखाओंसे युक्त था। उन्होंने बहुमूल्य रेशमी परिधान तथा कन्धेपर उत्तरीय वस्त्र धारणकर रखा था। नियमानुसार मृगछाला और हाथोंमें कुश धारणकर वे यज्ञोचित समस्त कर्म कर रहे थे। पृथ्वीपति पृथुने अपने सन्ताप-हारक एवं स्निग्ध तारकाओंसे युक्त नेत्रोंसे चारों दिशाओंमें दृष्टिपात किया और सभाजनोंको हर्षित करते हुए अपना वक्तव्य आरम्भ किया। उनका वह वक्तव्य सुननेमें बहुत मधुर, मनोहर, विचित्र पदोंसे युक्त, प्रशस्त, शुद्ध एवं गम्भीर अर्थोंसे परिपूर्ण था। वे सबका उपकार करनेके लिए ही निःशङ्क चित्तसे अपने अनुभवका अनुवाद करते हुए कहने लगे॥ १४-२०॥

श्रीराजोवाच—

सभ्याः शृणुत भद्रं वः साधवो य इहागताः।
सत्सु जिज्ञासुभिर्धर्ममावेद्यं स्वमनीषितम्॥ २१॥

राजा पृथुने कहा—हे सभासदो! हे समागत साधुओ! आपका मङ्गल हो। आप सब महानुभाव जो यहाँ पधारे हैं, कृपया मेरे निवेदनको सुनें। धर्म-जिज्ञासुओंके निकट अपने-अपने मनकी अभिलाषाको व्यक्त करना उचित है, इसलिए मैं आप लोगोंके सम्मुख अपने द्वारा विचारित विषयको व्यक्त कर रहा हूँ॥ २१॥

अहं दण्डधरो राजा प्रजानामिह योजितः।
रक्षिता वृत्तिदः स्वेषु सेतुषु स्थापिता पृथक्॥ २२॥

परमेश्वरने मुझे इस जगत्में प्रजादिके शासन, धर्म-संरक्षण, जीविका-प्रबन्धन एवं पृथक्-पृथक् वर्णाश्रमादि-धर्मोंकी मर्यादाके स्थापन कार्यमें नियुक्त किया है॥ २२॥

तस्य मे तदनुष्ठानाद्यानाहुर्ब्रह्मवादिनः।
लोकाः स्युः कामसन्दोहा यस्य तुष्यति दिष्टदृक्॥ २३॥

सर्वधर्मसाक्षी भगवान्‌को प्रसन्नकर जिन पुण्यलोकोंकी प्राप्ति होती है, वेदवादियोंने उसका वर्णन किया है। मुझे भी प्रजा-रक्षणादि-स्वधर्मानुष्ठानका यथावत् पालन करनेसे उन सभी सर्वाऽभीष्टप्रद लोकोंकी प्राप्ति हो॥ २३॥

य उद्धरेत् करं राजा प्रजा धर्मेष्वशिक्षयन्।
प्रजानां शमलं भुङ्क्ते भगञ्च स्वं जहाति सः॥ २४॥

जो राजा प्रजाओंको अपने-अपने धर्म-मार्गकी शिक्षा प्रदान न करके उनसे मात्र कर ही ग्रहण करता रहता है, वह प्रजाओंके पापोंका भागी होता है और उसका समस्त ऐश्वर्य भी नष्ट हो जाता है॥ २४॥

तत् प्रजा भर्तृपिण्डार्थं स्वार्थमेवानसूयतः।
कुरुताधोक्षजधियस्तर्हि मेऽनुग्रहः कृतः॥ २५॥

अतएव हे प्रजावृन्द! आप लोग ईर्ष्या छोड़कर भगवान् श्रीअधोक्षजमें अपने मनको निविष्ट किजिये। मैं आपका भरण-पोषण करनेवाला हूँ। जिस प्रकार पितरोंके उद्देश्यसे पिण्डदान किया जाता है, उसी प्रकार आप भी यदि मेरा पारलौकिक मङ्गल चाहते हैं, तो स्वधर्ममें स्थित रहिये—इससे मुझपर आप सभीका यथेष्ट अनुग्रह होगा॥ २५॥

यूयं तदनुमोदध्वं पितृदेवर्षयोऽमलाः।
कर्तुः शास्तुरनुज्ञातुस्तुल्यं यत् प्रेत्य तत्फलम्॥ २६॥

हे पितृदेव एवं महर्षियो! आपलोग बुद्धिमान हैं, मेरी प्रार्थनाका अनुमोदन कीजिये। इसका कारण है कि किसी भी कर्मके कर्त्ता, उपदेष्टा और समर्थकको मृत्युके बाद परलोकमें उसका समान फल प्राप्त होता है॥ २६॥

अस्ति यज्ञपतिर्नाम केषाञ्चिदर्हसत्तमाः।
इहामुत्र च लक्ष्यन्ते ज्योत्स्नावत्यः क्वचिद्भुवः॥ २७॥

हे पूज्यतम सज्जनो! किन्हीं श्रेष्ठ महानुभावोंके मतमें यज्ञपति नामक एक परमेश्वर हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो इस कालमें तथा

परकालमें समुज्ज्वल भोगभूमि एवं भोगके साधन शरीर आदि क्यों दिखायी देते? ॥ २७ ॥

मनोरुत्तानपादस्य ध्रुवस्यापि महीपतेः।
प्रियव्रतस्य राजर्षेरङ्गस्यास्मत्पितुः पितुः ॥ २८ ॥

ईदृशानामथान्येषामजस्य च भवस्य च।
प्रह्लादस्य बलेश्चापि कृत्यमस्ति गदाभृता ॥ २९ ॥

दौहित्रादीनृते मृत्योः शोच्यान् धर्मविमोहितान्।
वर्गस्वर्गापवर्गाणां प्रायेणैकात्म्यहेतुना ॥ ३० ॥

मृत्युके नाती वेन आदि धर्मविमूढ़ और शोचनीय व्यक्तिके अतिरिक्त महाराज मनु, उत्तानपाद, ध्रुव, राजर्षि प्रियव्रत, मेरे पितामह अङ्गराज, ब्रह्मा, शिव, प्रह्लाद, बलि एवं इसी श्रेणीके अन्यान्य महात्माओंके मतमें भी भगवान् अवश्य ही हैं। इसका कारण है कि धर्म, अर्थ एवं कामरूपी त्रिवर्ग तथा स्वर्ग और मोक्ष—ये सब उनकी कृपाके अधीन हैं। अर्थात् समस्त प्रकारके फलोंकी प्राप्तिके मूलमें एक अद्वय भगवान् हैं, उनके अतिरिक्त कोई भी स्वतन्त्र नहीं है ॥ २८–३० ॥

यत्पादसेवाभिरुचिस्तपस्विना–
मशेषजन्मोपचितं मलं धियः।
सद्यः क्षिणोत्यन्वहमेधती सती
यथा पदाङ्गुष्ठविनिःसृता सरित् ॥ ३१ ॥

विनिर्द्धूताशेषमनोमलः पुमा–
नसङ्गविज्ञानविशेषवीर्यवान् ।
यदङ्घ्रिमूले कृतकेतनः पुन–
र्न संसृतिं क्लेशवहां प्रपद्यते ॥ ३२ ॥

तमेव यूयं भजतात्मवृत्तिभि–
र्मनोवचःकायगुणैः स्वकर्मभिः।
अमायिनः कामदुघाङ्घ्रिपङ्कजं
यथाधिकारावसितार्थसिद्धयः ॥ ३३ ॥

भगवान् श्रीविष्णुके चरणकमलोंकी सेवाकी अभिलाषा उन्हींके पदाङ्गुष्ठसे निकली गङ्गाके समान निरन्तर वर्द्धित होकर दिन-प्रतिदिन संसार-तापसे दग्ध जीवोंके जन्म-जन्मान्तरके सञ्चित बुद्धिमलको शीघ्र ही विनष्ट कर डालती है। जिनके मनका मैल उन भगवान्के चरणकमलोंका आश्रय लेनेके फलस्वरूप धुल गया है, वह व्यक्ति वैराग्य-सहित भक्तियोगके द्वारा विज्ञान अर्थात् भगवानका साक्षात्काररूप बल प्राप्त करके पुनः इस क्लेशमय संसारमें नहीं आता। इसलिए हे प्रजाजनो! आपलोग सिद्धि-लाभके लिए दृढ़निश्चय होकर अपने-अपने अधिकारके अनुसार निष्कपट रूपसे अपनी-अपनी जीविकाके उपयोगी वर्णाश्रमोचित अध्यापनादि स्वधर्म, शरीर, मन, वाणी, गुण और स्वकर्म आदि द्वारा सर्वाभीष्टप्रद उन श्रीभगवान्के चरणकमलोंकी सेवा करें॥ ३१-३३॥

असाविहानेकगुणोऽगुणोऽध्वरः
पृथग्विधद्रव्यगुणक्रियोक्तिभिः ।
सम्पद्यतेऽर्थाशयलिङ्गनामभि-
र्विशुद्धविज्ञानघनः स्वरूपतः॥ ३४॥

वे भगवान् स्वरूपतः शुद्धसत्त्वमय चिदानन्दस्वरूप हैं। वे प्राकृत गुणोंसे रहित होकर भी विविध द्रव्य, गुण, क्रिया, मन्त्र, अर्थ, सङ्कल्प, द्रव्य-शक्ति और नाम—इन सब विशेषणोंसे सम्पन्न होकर कर्ममार्गमें यज्ञरूपसे प्रकाशित होते हैं॥ ३४॥

प्रधानकालाशयधर्मसंग्रहे
शरीर एष प्रतिपद्य चेतनाम्।
क्रियाफलत्वेन विभुर्विभाव्यते
यथानलो दारुषु तद्गुणात्मकः॥ ३५॥

जिस प्रकार एक ही अग्नि भिन्न-भिन्न लकड़ियोंमें प्रवेश करके लकड़ीके दीर्घत्व एवं वक्रत्वादि आकारोंके अनुरूप ही भासती है, उसी प्रकार वे विभु भगवान् परमानन्दस्वरूप होते हुए भी अव्यक्त प्रकृति, उसे क्षोभित करनेवाला काल, वासना और अदृष्ट—इन

सबके साथ उत्पन्न शरीरोंमें स्थित होकर उन्हें कर्मार्पणरूप बुद्धिकी प्रेरणा देकर उनके कर्मफलोंके अनुसार स्वयं प्रकाशित होते हैं॥ ३५॥

अहो ममामी वितरन्त्यनुग्रहं
हरिं गुरुं यज्ञभुजामधीश्वरम्।
स्वधर्मयोगेन यजन्ति मामका
निरन्तरं क्षौणितले दृढव्रताः॥ ३६॥

अहो! इस भूमण्डलमें मेरे जो समस्त प्रजाजन दृढ़व्रत होकर यज्ञभोक्ता देवताओंके अधीश्वर जगद्गुरु श्रीहरिकी एकनिष्ठतासे आराधना कर रहें हैं, वही वास्तवमें मेरे ऊपर कृपाका वितरण कर रहे हैं॥ ३६॥

मा जातु तेजः प्रभवेन्महर्द्धिभि-
स्तितिक्षया तपसा विद्यया च।
देदीप्यमानेऽजितदेवतानां
कुले स्वयं राजकुलाद्द्विजानाम्॥ ३७॥

सहनशीलता, तपस्या और विद्या द्वारा स्वयं प्रकाशमान आत्मविद् ब्राह्मणों एवं अजित श्रीविष्णु ही जिनके एकमात्र परमदेवता हैं, ऐसे वैष्णवोंके वंशमें महाशक्ति और सम्पत्तिशाली राजकुलका तेज कदापि अपने प्रभावका विस्तार करनेका प्रयास न करे॥ ३७॥

ब्रह्मण्यदेवः पुरुषः पुरातनो
नित्यं हरिर्यच्चरणाभिवन्दनात्।
अवाप लक्ष्मीमनपायिनीं यशो
जगत्पवित्रञ्च महत्तमाग्रणीः॥ ३८॥

यत्सेवयाशेषगुहाशयः स्वराड्
विप्रप्रियस्तुष्यति काममीश्वरः।
तदैव तद्धर्मपरैर्विनीतैः
सर्वात्मना ब्रह्मकुलं निषेव्यताम्॥ ३९॥

ब्रह्मादि समस्त महत्तमोंके अग्रगण्य, ब्रह्मण्यदेव, पुराणपुरुष श्रीहरिने भी सर्वदा जिन ब्राह्मणोंकी चरणवन्दना करके अचला लक्ष्मी एवं

भुवनपावन यशको प्राप्त किया है, तथा जिस ब्राह्मणवंशकी सेवा करनेपर सर्वान्तर्यामी विप्रप्रिय स्वयंप्रकाश भगवान भी परितुष्ट होते हैं, आपलोग भगवद्धर्म-परायण होकर सर्वान्तःकरणसे विनीत भाव सहित उन आत्मविद् ब्राह्मणोंकी सेवा करें॥ ३८-३९॥

पुमाँल्लभेताननतिवेलमात्मनः
प्रसीदतोऽत्यन्तशमं स्वतः स्वयम्।
यन्नित्यसम्बन्धनिषेवया ततः
परं किमत्रास्ति मुखं हविर्भुजाम्॥ ४०॥

आत्मविद् ब्राह्मणोंको नित्य-सेव्य जानकर उनकी सेवा करनेसे चित्त स्वयं ही अतिशीघ्र परिशुद्ध हो जाता है तथा ज्ञान आदिके अभ्यासके बिना भी परम शान्तिरूप मुक्ति प्राप्त हो जाती है। इस लोकमें ब्राह्मणोंकी सेवाकी अपेक्षा हविष्यभोजी देवताओंका क्या और कोई श्रेष्ठ मुख है?॥ ४०॥

अश्नात्यनन्तः खलु तत्त्वकोविदैः
श्रद्धाहुतं यन्मुख इज्यनामभिः।
न वै तथा चेतनया बहिष्कृते
हुताशने पारमहंस्यपर्यगुः॥ ४१॥

भगवान् अनन्त, सर्वान्तर्यामी और चिद्घनविग्रह हैं। यज्ञविद् पण्डितोंके द्वारा इन्द्र आदिके नामोंका उच्चारण करके श्रद्धा सहित ब्राह्मणोंके मुखमें यजनीय द्रव्य समर्पित करनेपर वे (श्रीभगवान्) उसे जिस प्रकार तृप्ति सहित भोजन करते हैं, चेतनाशून्य अग्निमें होम किये हुए द्रव्योंका वैसे भोजन नहीं करते॥ ४१॥

यद्ब्रह्म नित्यं विरजं सनातनं
श्रद्धातपोमङ्गलमौनसंयमैः।
समाधिना बिभ्रति हार्थदृष्टये
यत्रेदमादर्श इवावभासते॥ ४२॥

तेषामहं पादसरोजरेणु-
मार्या वहेयाधिकिरीटमायुः।

यं नित्यदा बिभ्रत आशु पापं
नश्यत्यमुं सर्वगुणा भजन्ति॥ ४३॥

वेदोंके तात्पर्यको जाननेके लिए ब्राह्मण श्रद्धा (दृढ़ विश्वास), मङ्गल (प्रतिकूलको त्यागकर अनुकूलको ग्रहण), मौन (अध्ययन विरोधी वार्त्ताका परित्याग), इन्द्रिय संयम एवं समाधिके द्वारा नित्यकाल विचार करते रहते हैं। (आप सभी मेरी सहायता कीजिये, जिससे) मैं इस प्रकारके आत्मविद् ब्राह्मणोंकी पद-रेणुको जीवनभर अपने मुकुटके ऊपर धारण कर पाऊँ। जो परमार्थतत्त्वको जाननेवाले इन ब्राह्मणोंकी धूलिको नित्यकाल सिरपर धारण करते हैं, उनके पाप शीघ्र ही दूर हो जाते हैं और समस्त सद्‌गुण उनका आश्रय ग्रहण करते हैं॥ ४२-४३॥

गुणायनं शीलधनं कृतज्ञं
वृद्धाश्रयं संवृणतेऽनु सम्पदः।
प्रसीदतां ब्रह्मकुलं गवाञ्च
जनार्दनः सानुचरश्च मह्यम्॥ ४४॥

जिसने समस्त गुणोंके आधार, सच्चरित्र, कृतज्ञ एवं ज्ञानवृद्ध गुरुजनोंका आश्रय लिया है, उस व्यक्तिके पास धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्षादि समस्त सम्पत्तियाँ अपने-आप ही आकर उसकी भलीभाँति सेवा करती हैं। अतः ब्राह्मण, गोवंश और अपने भक्तोंके साथ श्रीभगवान् मुझपर प्रसन्न हों॥ ४४॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

इति ब्रुवाणं नृपतिं पितृदेवद्विजातयः।
तुष्टुवुर्हृष्टमनसः साधुवादेन साधवः॥ ४५॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! महाराज पृथुके इस प्रकार कहनेपर पितर, देवता, साधु और ब्राह्मण आदि सभी बहुत सन्तुष्ट होकर प्रसन्न चित्तसे महाराज पृथुको 'साधु', 'साधु' कहकर उनकी बड़ी प्रशंसा करने लगे॥ ४५॥

पुत्रेण जयते लोकानिति सत्यवती श्रुतिः।
ब्रह्मदण्डहतः पापो यद्वेनोऽत्यतरत् तमः॥ ४६॥

'पुत्रके द्वारा पिता पुण्यलोकोंको प्राप्त कर लेता है'—श्रुतिका यह वचन सत्य है, क्योंकि ब्रह्मदण्डसे दण्डित पापी वेनका भी ऐसे पुत्रके कारण नरकसे उद्धार हो गया॥ ४६॥

हिरण्यकशिपुश्चापि भगवन्निन्दया तमः।
विविक्षुरत्यगात् सूनोः प्रह्लादस्यानुभावतः॥ ४७॥

इसी प्रकार हिरण्यकशिपु भी भगवान्‌की निन्दा करनेके कारण नरक-गतिको प्राप्त करने ही वाला था कि पुत्र प्रह्लादके प्रभावसे वह भी नरकसे उत्तीर्ण होनेमें समर्थ हुआ था॥ ४७॥

वीरवर्य पितः पृथ्व्याः समाः सञ्जीव शाश्वतीः।
यस्येदृश्यच्युते भक्तिः सर्वलोकैकभर्त्तरि॥ ४८॥

(समागत साधुओंने कहा—)हे वीरश्रेष्ठ! हे पृथ्वीके रक्षक! समस्त लोकोंके एकमात्र भर्त्ता भगवान् श्रीअच्युतमें आपकी ऐसी भक्ति देखकर हमलोग बड़े सन्तुष्ट हुए हैं। आप चिरकालतक जीवित रहें॥ ४८॥

अहो वयं ह्यद्य पवित्रकीर्ते
त्वयैव नाथेन मुकुन्दनाथाः।
य उत्तमःश्लोकतमस्य विष्णो-
र्ब्रह्मण्यदेवस्य कथां व्यनक्ति॥ ४९॥

हे पवित्रकीर्त्तिवाले! उत्तमश्लोक ब्रह्मण्यदेव भगवान् श्रीविष्णुकी कीर्त्तिका प्रकाश करनेवाले आपके द्वारा ही आज हमने श्रीमुकुन्दको अपने स्वामीके रूपमें पहचाना है, अतः वास्तवमें आप ही हमारे स्वामी हैं॥ ४९॥

नात्यद्भुतमिदं नाथ तवाजीव्यानुशासनम्।
प्रजानुरागो महतां प्रकृतिः करुणात्मनाम्॥ ५०॥

हे स्वामिन्! अपने सेवकोंको इस प्रकारका उत्कृष्ट उपदेश प्रदान करना कोई अति आश्चर्यकी बात नहीं है, क्योंकि प्रजाजनोंका अनुरञ्जन करना ही पर-दुःख-दुखी करुणामय महत् व्यक्तियोंका स्वभाव होता है॥ ५०॥

अद्य नस्तमसः पारस्त्वयोपासादितः प्रभो।
भ्राम्यतां नष्टदृष्टीनां कर्मभिर्दैवसंज्ञितैः॥ ५१॥

हे प्रभो! हमलोग यथार्थ-ज्ञानसे रहित होकर प्रारब्ध कर्मोंके द्वारा नाना योनियोंमें भटक रहे थे। हमारा विवेक ही लुप्त हो गया था। आज आपने हमें इस अज्ञानरूपी अन्धकारसे उत्तीर्ण कर दिया है॥ ५१॥

नमो विशुद्धसत्त्वाय पुरुषाय महीयसे।
यो ब्रह्म क्षत्रमाविश्य बिभर्त्तीदं स्वतेजसा॥ ५२॥

जो ब्राह्मणोंके हृदयमें अधिष्ठित रहकर क्षत्रियोंका तथा क्षत्रियोंके हृदयमें अधिष्ठित रहकर ब्राह्मणोंका एवं ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनोंके हृदयमें एक साथ विराजित होकर इस सम्पूर्ण विश्वका पालन कर रहे हैं, हम उन विशुद्धसत्त्वरूप महान् पुरुषोत्तम श्रीहरिको प्रणाम करते हैं॥ ५२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां चतुर्थस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे श्रीपृथुचरिते श्रीपृथुवाक्यं नामैकविंशोऽध्याय॥

द्वाविंशोऽध्यायः

भगवान्‌के आदेशसे सनकादि महर्षियोंके द्वारा
महाराज पृथुको उपदेश

श्रीमैत्रेय उवाच—

जनेषु प्रगृणत्स्वेवं पृथुं पृथुलविक्रमम्।
तत्रोपजग्मुर्मुनयश्चत्वारः सूर्यवर्चसः॥ १॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—प्रजाजन प्रबल पराक्रमी पृथुकी इस प्रकार स्तुति कर ही रहे थे कि उसी समय वहाँ सूर्यके समान तेजोमय चार मुनीश्वर उपस्थित हुए॥ १॥

तांस्तु सिद्धेश्वरान् राजा व्योम्नोऽवतरतोऽर्चिषा।
लोकानपापान् कुर्वाणान् सानुगोऽचष्ट लक्षितान्॥ २॥

महाराज पृथु और उनके अनुचरोंने देखा कि चारों सिद्ध पुरुष अपनी दिव्य कान्तिसे लोकोंको पवित्र करते हुए अन्तरीक्षसे अवतीर्ण हो रहे हैं। उस समय उनके तेजसे ही पता चल गया था कि वे सनकादि ऋषि हैं॥ २॥

तद्दर्शनोद्गतान् प्राणान् प्रत्यादित्सुरिवोत्थितः।
ससदस्यानुगो वैन्य इन्द्रियेशो गुणानिव॥ ३॥

जिस प्रकार जीवका चित्त रूप, रस, गन्ध आदि विषयोंकी ओर स्वयं ही दौड़ता है, उसी प्रकार उन ऋषियोंके दर्शनमात्रसे ही राजा पृथुके प्राण मानो उनका साक्षात्कार करनेके लिए उनसे पहले ही दौड़ पड़े। तब वे मन्त्रियों एवं अनुगतजनोंके साथ एकाएक उठ खड़े हुए॥ ३॥

गौरवाद्यन्त्रितः सभ्यः प्रश्रयानतकन्धरः।
विधिवत् पूजयाञ्चक्रे गृहीताध्यर्हणासनान्॥ ४॥

महाराज पृथुने ऋषियोंके गौरवसे प्रभावित होकर विनयसे अपने सिरको झुकाकर उन्हें तत्क्षणात् अर्घ्य एवं आसन प्रदान करके यथाविधि उनका पूजन किया॥ ४॥

तत्पादशौचसलिलैर्मार्जितालकबन्धनः ।
तत्र शीलवतां वृत्तमाचरन्मानयन्निव॥ ५॥

तदनन्तर महाराज पृथुने उनके चरणोदकको अपने सिरपर धारण किया। इस प्रकार साधुओं जैसा आचरण करके उन्होंने दिखलाया कि सदाचार-परायण व्यक्तियोंको भी इस प्रकारका ही आचरण करना चाहिये॥ ५॥

हाटकासन आसीनान् स्वधिष्ण्येष्विव पावकान्।
श्रद्धासंयमसंयुक्तः प्रीतः प्राह भवाग्रजान्॥ ६॥

सनकादि चारों मुनीश्वर भगवान् शङ्करके भी अग्रज हैं। जब वे अपने-अपने स्वर्ण-सिंहासनपर विराजमान हुए, तब उनकी इस प्रकारसे शोभा हो रही थी, मानो अपने-अपने स्थानोंपर अग्नि-देवता आसीन हों। महाराज पृथुने बड़े संयम एवं श्रद्धाके साथ प्रीतिपूर्वक उन मुनियोंसे कहा॥ ६॥

श्रीपृथुरुवाच—

अहो आचरितं किं मे मङ्गलं मङ्गलायनाः।
यस्य वो दर्शनं ह्यासीद्दुर्दर्शानाञ्च योगिभिः॥ ७॥

श्रीपृथुने कहा—हे मङ्गलनिलय ऋषियो! मैंने ऐसा कौन-सा शुभकार्य किया था, जिसके फलस्वरूप मुझे योगियोंके लिए भी अति दुर्लभ आपके साक्षात् दर्शन प्राप्त हुए हैं॥ ७॥

किं तस्य दुर्लभतरमिह लोके परत्र च।
यस्य विप्राः प्रसीदन्ति शिवो विष्णुश्च सानुगः॥ ८॥

जिनपर ब्राह्मण प्रसन्न होते हैं, उनपर अपने अनुचरोंके साथ श्रीशिव और भगवान् श्रीविष्णु भी प्रसन्न होते हैं। उन लोगोंके लिए इहलोक एवं परलोकमें क्या कुछ दुष्प्राप्य है? अर्थात् कुछ भी नहीं॥ ८॥

नैव लक्षयते लोको लोकान् पर्यटतोऽपि यान्।
यथा सर्वदृशं सर्व आत्मानं येऽस्य हेतवः॥ ९॥

जिस प्रकार मनु आदि ऋषिगण इस विश्वके कारणभूत सर्वज्ञ परमात्माको नहीं जान पाते, उसी प्रकार जनसमूह सूर्यके समान सर्वत्र पर्यटन करनेवाले आपको नहीं जान पाते॥ ९॥

अधना अपि ते धन्याः साधवो गृहमेधिनः।
यद्गृहा ह्यर्हवर्याम्बु-तृणभूमीश्वरावराः॥ १०॥

जिनके घरोंमें आपके समान पूजनीय साधुओंके ग्रहण करने योग्य भक्षणीय द्रव्योंके अभावमें केवल जल, जलके अभावमें बैठने योग्य तृणसे बना आसन, आसनके भी अभावमें बैठने योग्य साफ-सुथरी भूमि, उसके भी अभावमें प्रीतिपूर्ण वाक्य बोलनेवाला गृहस्वामी तथा गृहस्वामीके भी अभावमें अश्रुपूर्ण प्रणिपात आदि करनेके लिए घरमें वास करनेवाले उसके पुत्र, पत्नी आदि विद्यमान होते हैं, वही घर तथा उस घरमें वास करनेवाले ही वास्तवमें गृहस्थ तथा निर्धन होनेपर भी प्रशंसाके पात्र हैं॥ १०॥

व्यालालयद्रुमा वै तेऽप्यरिक्ताखिलसम्पदः।
यद्गृहास्तीर्थपादीय-पादतीर्थविवर्जिताः ॥ ११॥

जिन घरोंमें तीर्थपाद महाभागवतोंके चरणामृतका छिड़काव नहीं हुआ हैं, वे घर सम्पूर्ण समृद्धियोंसे परिपूर्ण होनेपर भी सर्पोंसे भरे हुए वृक्षोंके समान मृत्युका भय प्रदान करनेवाले होते हैं॥ ११॥

स्वागतं वो द्विजश्रेष्ठा यद्व्रतानि मुमुक्षवः।
चरन्ति श्रद्धया धीरा बाला एव बृहन्ति वै॥ १२॥

हे द्विजश्रेष्ठगण! आपका स्वागत है। मुमुक्षुलोग जिन व्रतोंका आचरण करते हैं, आप तो उन समस्त ब्रह्मचर्यादि महाव्रतोंका बाल्यकालसे ही धैर्यपूर्वक बड़ी श्रद्धाके साथ आचरण कर रहे हैं॥ १२॥

कच्चिन्नः कुशलं नाथा इन्द्रियार्थार्थवेदिनाम्।
व्यसनावाप एतस्मिन् पतितानां स्वकर्मभिः॥ १३॥

हे स्वामियो! यह संसार नानाप्रकारके क्लेशोंकी आकर-भूमि है। हमलोग अपने कर्मोंके परिणामस्वरूप इस संसारमें आ पड़े हैं और इन्द्रिय-सम्बन्धी भोगोंको ही परम पुरुषार्थ मान रहे हैं। क्या हमारे मङ्गलकी कोई सम्भावना है?॥ १३॥

भवत्सु कुशलप्रश्न आत्मारामेषु नेष्यते।
कुशलाकुशला यत्र न सन्ति मतिवृत्तयः॥ १४॥

आप आत्माराम हैं, आपसे कुशलता-सम्बन्धी प्रश्न करना तो उचित नहीं है, क्योंकि आपमें 'यह शुभ है, यह अशुभ है'—ऐसी भेद-बुद्धि होती ही नहीं है॥ १४॥

तदहं कृतविश्रम्भः सुहृदो वस्तपस्विनाम्।
संपृच्छे भव एतस्मिन् क्षेमः केनाञ्जसा भवेत्॥ १५॥

मुझे यह दृढ़ विश्वास है कि आप ही संसाररूपी दावानलसे सन्तप्त व्यक्तियोंके सुहृद् हैं। अतएव मैं श्रद्धापूर्वक आपसे यह जानना चाहता हूँ कि इस संसारमें मनुष्योंका किस प्रकार अनायास ही कल्याण हो सकता है?॥ १५॥

व्यक्तमात्मवतामात्मा भगवानात्मभावनः।
स्वानामनुग्रहायेमां सिद्धरूपी चरत्यज॥ १६॥

यह निश्चित है कि प्राकृत-जन्मसे रहित और स्वयं प्रकाशित श्रीभगवान् आत्मज्ञ पुरुषोंकी आत्मामें अपने स्वरूपको प्रकाशित करते हैं तथा अपने भक्तोंपर कृपा करनेके लिए इस जगत्में आप जैसे सिद्ध पुरुषोंके रूपमें विचरण करते हैं॥ १६॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

पृथोस्तत् सूक्तमाकर्ण्य सारं सुष्ठु मितं मधु।
स्मयमान इव प्रीत्या कुमारः प्रत्युवाच ह॥ १७॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—पृथु महाराजके युक्तियुक्त, गम्भीर अर्थोंसे

पूर्ण, परिमित और प्रीतियुक्त मधुर वचनोंको सुनकर ब्रह्मर्षि श्रीसनत्कुमार मन्द-मुस्कानके साथ स्नेहसे परिपूर्ण होकर कहने लगे॥ १७॥

श्रीसनत्कुमार उवाच—

साधु पृष्टं महाराज सर्वभूतहितात्मना।
भवता विदुषा चापि साधूनां मतिरीदृशी॥ १८॥

श्रीसनत्कुमारने कहा—हे महाराज! आप विद्वान् हैं, समस्त प्राणियोंके कल्याणकी इच्छासे ही आपने ऐसे उत्तम प्रश्न पूछे हैं। आपके जैसे साधु पुरुषोंकी ऐसी मति होना ही उचित है॥ १८॥

सङ्गमः खलु साधूनामुभयेषाञ्च सम्मतः।
यत्सम्भाषणसंप्रश्नः सर्वेषां वितनोति शम्॥ १९॥

साधुओंका सङ्ग—श्रोता एवं वक्ता दोनोंके लिए ही अभिलषित होता है। उनके साथ होनेवाला सत्-आलाप एवं परिप्रश्न सभी जीवोंका ही कल्याण करता है॥ १९॥

अस्त्येव राजन् भवतो मधुद्विषः
पादारविन्दस्य गुणानुवादने।
रतिर्दुरापा विधुनोति नैष्ठिकी
कामं कषायं मलमन्तरात्मनः॥ २०॥

हे राजन्! मधुरिपु श्रीहरिके चरणकमलोंके गुणानुकीर्त्तनमें आपकी सुदुर्लभा और निश्चला मति है। इस प्रकारकी मतिसे ही अन्तरात्माका विषय-वासनारूप मल धुल जाता है॥ २०॥

शास्त्रेष्वियानेव सुनिश्चितो नृणां
क्षेमस्य सध्र्यग्विमृशेषु हेतुः।
असङ्ग आत्मव्यतिरिक्त आत्मनि
दृढा रतिर्ब्रह्मणि निर्गुणे च या॥ २१॥

आत्मासे पृथक् देहादि अनात्म वस्तुओंमें अनासक्ति और निर्गुण ब्रह्मस्वरूप आत्मामें सुदृढ़ रति होना ही शास्त्रोंका भलीभाँति विचार करके जीवोंके कल्याण-प्राप्तिके उपायके रूपमें निश्चित किया गया है॥ २१॥

सा श्रद्धया भगवद्धर्मचर्यया
जिज्ञासयाध्यात्मिकयोगनिष्ठया ।
योगेश्वरोपासनया च नित्यं
पुण्यश्रवःकथया पुण्यया च॥ २२॥

श्रद्धाके साथ भगवत्-धर्मका अनुशीलन, तत्त्वजिज्ञासा, भगवत्-सेवा-निष्ठा सहित श्रेष्ठ भक्तोंकी पूजा एवं पुण्यकीर्त्ति भगवान्की पावन कथाओंको सुननेसे यह रति उत्पन्न होती है॥ २२॥

अर्थेन्द्रियारामसगोष्ठ्यतृष्णया
तत्सम्मतानामपरिग्रहेण च।
विविक्तरुच्या परितोष आत्मनि
विना हरेर्गुणपीयूषपानात्॥ २३॥

धन और रूप आदिमें आसक्त तथा इन्द्रिय-भोगरूपी सुखोंमें रत असत् व्यक्तियोंके सङ्गके प्रति वितृष्णासे, उन्हें प्रिय लगनेवाले अर्थ-कामादिका परित्याग करनेसे तथा निर्जनवासमें रुचि होनेसे आत्माको सन्तोष प्राप्त होता है। किन्तु जिस स्थानपर साधुओंके मुखसे हरिकथामृत पान करनेकी सम्भावना नहीं है, ऐसे निर्जनवासकी कभी भी स्पृहा मत करना, क्योंकि इसके द्वारा आत्मेन्द्रिय तर्पण तो होता है, किन्तु श्रीकृष्णकी प्रसन्नता नहीं॥ २३॥

अहिंसया पारमहंस्यचर्यया
स्मृत्या मुकुन्दाचरिताग्र्यसीधुना।
यमैरकामैर्नियमैश्चाप्यनिन्दया
निरीहया द्वन्द्वतितिक्षया च॥ २४॥

हरेर्मुहुस्तत्परकर्णपूर-
गुणाभिधानेन विजृम्भमाणया।
भक्त्या ह्यसङ्गः सदसत्यनात्मनि
स्यान्निर्गुणे ब्रह्मणि चाञ्जसा रतिः॥ २५॥

अहिंसा, शुद्धसत्त्व-प्रधान वृत्ति, सद्गुरुके उपदेशानुसार सदाचार अनुष्ठानरूप स्मृति, भगवान् मुकुन्दके परम पवित्र चरित्रकी परस्पर

आलोचना, इन्द्रिय-दमन, भोगवासना-परित्याग, हरिव्रतादि नियम, किसीकी निन्दा न करना, भोग्य विषयोंकी प्राप्ति और उसके रक्षणमें चेष्टा शून्यता, शीतोष्णादि द्वन्द्व-सहिष्णुता एवं भगवत्-भक्तोंके कर्ण भूषणस्वरूप श्रीहरिके गुणोंका बार-बार कीर्त्तन करनेसे भक्ति वर्द्धित होती है और उसके द्वारा कार्य-कारणरूप अनात्मवस्तु जड़-प्रपञ्चसे वैराग्य और निर्गुण परब्रह्ममें सहज ही परम रतिका उदय होता है॥ २४-२५॥

यदा रतिर्ब्रह्मणि नैष्ठिकी पुमा-
नाचार्यवान् ज्ञानविरागरंहसा।
दहत्यवीर्यं हृदयं जीवकोशं
पञ्चात्मकं योनिमिवोत्थितोऽग्निः॥ २६॥

परब्रह्ममें नैष्ठिकी रतिके उत्पन्न होनेपर आचार्यकी सेवामें निमग्न व्यक्ति ज्ञान और वैराग्यके प्रभावसे उसी प्रकार अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश रूपी पञ्च क्लेशात्मक जीव स्वरूपके आवरणरूपी लिङ्गदेहको जला डालता है, जिस प्रकार प्रज्ज्वलित अग्नि अपने ही उत्पत्ति-स्थान काष्ठको जला डालती है॥ २६॥

दग्धाशयो मुक्तसमस्ततद्गुणो
नैवात्मनो बहिरन्तर्विचष्टे।
परात्मनोर्यद्व्यवधानं पुरस्तात्
स्वप्ने यथा पुरुषस्तद्विनाशे॥ २७॥

जिस प्रकार स्वप्नावस्थामें देखे गये पदार्थ जाग्रत अवस्थामें दिखायी नहीं देते, उसी प्रकार संसारावस्थामें जीवात्मा एवं परमात्माके बीचके 'व्यवधान' (बाधा) के विनष्ट होनेपर उपाधिरहित और कर्त्तृत्वादि समस्त प्रकारके अभिमानोंसे मुक्त व्यक्ति बाह्यविषयों (शब्द-स्पर्शादि) एवं अन्तर विषयों (शोक-मोहादि) का अनुभव नहीं करता॥ २७॥

आत्मानमिन्द्रियार्थञ्च परं यदुभयोरपि।
सत्याशय उपाधौ वै पुमान् पश्यति नान्यदा॥ २८॥

लिङ्गदेह ही जीवात्माकी 'उपाधि' है तथा उसे ही 'व्यवधान' कहा जाता है। सोपाधिक जीव अपने लिङ्गदेहमें भोगजनित सुख-दुःखादिका अनुभव करता है, किन्तु इस लिङ्गदेहके नहीं रहनेपर ऐसी अनुभूतियाँ नहीं होतीं अर्थात् व्यवधान रहित होनेपर जीवको अपने स्वरूपकी अनुभूति प्राप्त होती है॥ २८॥

निमित्ते सति सर्वत्र जलादावपि पूरुषः।
आत्मनश्च परस्यापि भिदां पश्यति नान्यदा॥ २९॥

इस जगत्में भी जल-दर्पणादि 'निमित्त' के रहनेसे बिम्ब एवं प्रतिबिम्बके बीच भेद सर्वत्र ही दिखलायी देता है, किन्तु जलादिके अभावमें वैसा नहीं होता; उसी प्रकार उपाधिरूप लिङ्गदेहके रहनेपर उसमें जीवात्मा एवं परमात्माके बीच जड़-वैषम्य दिखायी देता है, किन्तु उसके अभावमें वैसा नहीं होता॥ २९॥

इन्द्रियैर्विषयाकृष्टैराक्षिप्तं ध्यायतां मनः।
चेतनां हरते वुद्धेः स्तम्बस्तोयमिव ह्रदात्॥ ३०॥

विषयोंकी चिन्तामें रत व्यक्तियोंका चित्त विषयोंके आकर्षणके प्रभावसे विषयोंमें ही आसक्त होता है। जिस प्रकार जलाशयके तटपर स्थित कुशादिके पौधे अपनी जड़ोंके द्वारा अलक्षित भावसे जलाशयके जलको खींचते रहते हैं, उसी प्रकार इन्द्रियों द्वारा विक्षिप्त मन भी विषयोंके प्रति आकृष्ट होकर बुद्धिके विचार-सामर्थ्यको हर लेता है॥ ३०॥

भ्रश्यत्यनु स्मृतिश्चित्तं ज्ञानभ्रंशः स्मृतिक्षये।
तद्रोधं कवयः प्राहुरात्मापह्नवमात्मनः॥ ३१॥

विचार-सामर्थ्यरूप बुद्धिवृत्तिके अपहृत हो जानेपर स्मृति-शक्ति विलुप्त हो जाती है। स्मृतिके क्षय होनेपर ज्ञान नष्ट हो जाता है। सोपाधिक जीवोंके इस ज्ञान-नाशको ही पण्डितगण 'आत्मनाश' अर्थात् निरुपाधिक आत्माकी अस्फूर्ति कहते हैं॥ ३१॥

नातः परतरो लोके पुंसः स्वार्थव्यतिक्रमः।
यदध्यन्यस्य प्रेयस्त्वमात्मनः स्वव्यतिक्रमात्॥ ३२॥

जिस आत्माका आश्रय करके ही देहादि अन्यान्य वस्तुएँ प्रिय लगती हैं, उस आत्माके विनष्ट होनेपर जितनी बड़ी हानि होती है, उससे बढ़कर और क्या क्षति हो सकती है?॥ ३२॥

अर्थेन्द्रियार्थाभिध्यानं सर्वार्थापह्नवो नृणाम्।
भ्रंशितो ज्ञानविज्ञानाद्येनाविशति मुख्यताम्॥ ३३॥

धन एवं भोग्य-विषयादिका चिन्तन ही जीवोंके समस्त पुरुषार्थोंके नाशका मूल है, क्योंकि इन दोनोंके चिन्तनसे जीव परोक्ष और अपरोक्ष अनुभूतिसे भ्रष्ट होकर जड़ताको प्राप्त करता है॥ ३३॥

न कुर्यात् कर्हिचित् सङ्गं तमस्तीव्रं तितीरिषुः।
धर्मार्थकाममोक्षाणां यदत्यन्तविघातकम्॥ ३४॥

जो संसारजनक अज्ञानरूप अन्धकारको पार करना चाहते हैं, उन्हें कभी भी उन सब विषयोंमें आसक्ति नहीं रखनी चाहिये, जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके लिए अत्यन्त प्रतिबन्धक हैं॥ ३४॥

तत्रापि मोक्ष एवार्थ आत्यन्तिकतयेष्यते।
त्रैवर्ग्योऽर्थो यतो नित्यं कृतान्तभयसंयुतः॥ ३५॥

यद्यपि धर्म, अर्थ, काम एवं (भक्तिहीन) मोक्ष—यह चतुर्वर्ग 'पुरुषार्थ' रूपमें कहे जाते हैं, तथापि वास्तवमें भगवत्-सेवारूप मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है, इसलिए वही वाञ्छनीय है। धर्म-अर्थ-काम रूप तीनों पुरुषार्थोंमें सर्वदा कालका भय बना रहता है॥ ३५॥

परेऽवरे च ये भावा गुणव्यतिकरादनु।
न तेषां विद्यते क्षेममीशविध्वंसिताशिषाम्॥ ३६॥

जितने भी उत्कृष्ट और निकृष्ट भाव और वस्तुएँ हैं, सभी प्रकृतिके सत्त्वादि गुणोंके परिणामसे उत्पन्न हुई हैं। ईश-शक्तिरूप कालके प्रभावसे इनके धर्मादि पुरुषार्थ नष्ट हो जाते हैं, अतः इनसे मङ्गलकी सम्भावना भी नहीं रहती॥ ३६॥

तत् त्वं नरेन्द्र जगतामथ तस्थुषाञ्च
देहेन्द्रियासुधिषणात्मभिरावृतानाम्।

यः क्षेत्रवित्तपतया हृदि विष्वगाविः
प्रत्यक् चकास्ति भगवांस्तमवेहि सोऽस्मि॥ ३७॥

हे राजन! देह, इन्द्रिय, प्राण, बुद्धि एवं अहङ्कारसे आवृत स्थावर-जङ्गमादि सभी प्राणियोंके हृदयोंमें जो साक्षात् अन्तर्यामीके रूपसे सर्वत्र प्रकाश पाते हैं—उन्हीं एकमात्र भगवान्‌से ही अवगत होओ॥ ३७॥

यस्मिन्निदं सदसदात्मतया विभाति
माया विवेकविधुति स्रजि वाहिबुद्धिः।
तं नित्यमुक्तपरिशुद्धविशुद्धतत्त्वं
प्रत्यूढकर्मकलिलप्रकृतिं प्रपद्ये॥ ३८॥

जिन परमात्मामें यह मायामय जगत् मालामें सर्पबुद्धिकी भाँति कार्य-कारणरूपमें प्रतीत होकर जीवोंमें भ्रम या विवर्त्तबुद्धिको उत्पन्न करता है, किन्तु विवेकके उदित होनेपर वह भ्रम नहीं रहता, मैं उन नित्यमुक्त, सत्यस्वरूप, विशुद्धसत्त्व, अतएव प्राकृत कर्ममल-रहित भगवान्‌के शरणागत होता हूँ॥ ३८॥

यत्पादपङ्कजपलाशविलासभक्त्या
कर्माशयं ग्रथितमुद्ग्रथयन्ति सन्तः।
तद्वन्न रिक्तमतयो यतयोऽपि रुद्ध-
स्रोतोगणास्तमरणं भज वासुदेवम्॥ ३९॥

भक्तलोग भगवान्‌के चरणकमलोंकी पंखुड़ियों जैसी अङ्गुलियोंकी छिटकती हुई छटाका भक्तिपूर्वक स्मरण करते हुए जिस प्रकार कर्म-वासनाओंसे गठित हृदय-ग्रन्थिका अनायास ही छेदन कर डालते हैं, भक्तिसे रहित निर्विषयी योगी इन्द्रियोंको संयत करनेपर भी हृदय-ग्रन्थिका उस प्रकारसे छेदन करनेमें समर्थ नहीं हो पाते। अतः इन्द्रिय-निग्रहादिकी चेष्टाका परित्याग करके भगवान् वासुदेवका भजन करना चाहिये॥ ३९॥

कृच्छ्रो महानिह भवार्णवमप्लवेशां
षड्वर्गनक्रमसुखेन तितीरषन्ति।

तत् त्वं हरेर्भगवतो भजनीयमङ्घ्रिं
कृत्वोडुपं व्यसनमुत्तर दुस्तरार्णम्॥ ४०॥

यह संसार-समुद्र मन एवं इन्द्रियादि रूपी मगरमच्छोंसे भरा पड़ा है। जो इस भवसागरको पार करनेके लिए नौका सदृश भगवान्‌के आश्रयके बिना योगादि दुष्कर साधनोंके द्वारा इसे पार करनेकी इच्छा करते हैं, उन्हें अत्यन्त क्लेश उठाने पड़ते हैं। अतः हे राजन्! आप भी उन भजनीय भगवान्‌के चरणकमलोंको नौका बनाकर इन इन्द्रियादि विपत्तियोंसे भरे हुए सुदुस्तर भव-समुद्रको पार करें॥ ४०॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

स एवं ब्रह्मपुत्रेण कुमारेणात्ममेधसा।
दर्शितात्मगतिः सम्यक् प्रशस्योवाच तं नृपः॥ ४१॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—आत्म-तत्त्वदर्शी ब्रह्माजीके पुत्र सनत् कुमारके द्वारा उपदिष्ट आत्मतत्त्वके ज्ञानको प्राप्तकर महाराज पृथु उनकी स्तुति करते हुए कहने लगे॥ ४१॥

श्रीराजोवाच—

कृतो मेऽनुग्रहः पूर्वं हरिणार्त्तानुकम्पिना।
तमापादयितुं ब्रह्मन् भगवन् यूयमागताः॥ ४२॥

राजा पृथुने कहा—हे भगवन्! दीनदयाल श्रीहरिने पहले भी मुझपर कृपा की थी। उनके द्वारा उपदिष्ट भक्तिके भलीभाँति स्थापनके लिए ही आप सभीका यहाँ आगमन हुआ है॥ ४२॥

निष्पादितश्च कार्त्स्न्येन भगवद्भिर्घृणालुभिः।
साधूच्छिष्टं हि मे सर्वमात्मना सह किं ददे॥ ४३॥

आप सभी अत्यन्त कृपामय हैं। आप लोगोंने भगवत्-भक्ति-स्थापनरूप भगवानके अनुग्रहको भलीभाँति सम्पादित किया है। मैं आपको क्या दक्षिणा दूँ? मेरे पास यह देह एवं राज्यादि जो कुछ भी है, वह सभी कुछ आप जैसे साधुओंका दिया उच्छिष्टस्वरूप प्रसाद है। अतः इसका प्रतिदान करना भी उचित नहीं है॥ ४३॥

प्राणा दाराः सुता ब्रह्मन् गृहाश्च सपरिच्छदाः।
राज्यं बलं मही कोश इति सर्वं निवेदितम्॥ ४४॥

हे ब्रह्मन्! जिस प्रकार सेवक राजाकी सेवाके लिए ताम्बूल आदि प्रदान करते हैं, उसी प्रकार मैं भी प्राण, पुत्र, परिवार और समस्त प्रकारकी सामग्रियोंसे परिपूर्ण घर, राज्य, सेना और पृथ्वी आदि समस्त वस्तुएँ आपके श्रीचरणोंमें निवेदन करता हूँ। आप इन्हें स्वीकार कीजिये॥ ४४॥

सैनापत्यञ्च राज्यञ्च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यञ्च वेदशास्त्रविदर्हति॥ ४५॥

वास्तवमें तो सेनापतित्व, राज्य, दण्ड–विधान एवं समस्त लोकोंके शासनका अधिकार वेदशास्त्रविद् ब्राह्मणोंको ही है॥ ४५॥

स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति च।
तस्यैवानुग्रहेणान्नं भुञ्जते क्षत्रियादयः॥ ४६॥

अतएव ब्राह्मण अपने ही धनका भोग करते हैं, अपने ही वस्त्र पहनते हैं और अपना ही द्रव्य दूसरोंको प्रदान करते हैं। उनके ही अनुग्रहसे क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अन्नादि विषयोंका भोग करते हैं॥ ४६॥

यैरीदृशी भगवतो गतिरात्मवाद
एकान्ततो निगमिभिः प्रतिपादिता नः।
तुष्यन्त्वदभ्रकरुणाः स्वकृतेन नित्यं
को नाम तत्प्रतिकरोति विनोदपात्रम्॥ ४७॥

आप वेदविद् हैं और परमात्म–तत्त्वविचारमें ऐकान्तिक निष्ठासे युक्त हैं। आपने हमारे लिए यह अति अपूर्व वासुदेव–तत्त्व निर्णित किया है। आप परम कृपालु हैं। आप अपने सत् कार्य द्वारा ही सन्तुष्ट हों। हाथ जोड़कर निवेदन करनेके अतिरिक्त आपका प्रत्युपकार करनेमें कोई समर्थ नहीं हो सकता, अतएव मैं भी वही कर रहा हूँ॥ ४७॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

त आत्मयोगपतय आदिराजेन पूजिताः।
शीलं तदीयं शंसन्तः खेऽभवन् मिषतां नृणाम्॥ ४८॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुरजी! आत्मतत्त्वोपदेशक सनत् कुमारादि ऋषि आदिराज पृथु द्वारा पूजित होकर उनके शीलादि गुणोंकी प्रशंसा करते हुए सबके सामने आकाशमार्गसे सत्यलोकको चले गये॥ ४८॥

वैन्यस्तु धुर्यो महतां संस्थित्याध्यात्मशिक्षया।
आप्तकाममिवात्मानं मेन आत्मन्यवस्थितः॥ ४९॥

महात्माओंमें अग्रगण्य महाराज पृथु उनसे प्राप्त आत्मतत्त्वकी शिक्षाके प्रभावसे भगवत्-उपासनामें एकनिष्ठ हो गये और स्वयंको कृत-कृतार्थ मानने लगे॥ ४९॥

कर्माणि च यथाकालं यथादेशं यथाबलम्।
यथोचितं यथावित्तमकरोद्ब्रह्मसात्कृतम्॥ ५०॥

वे देश, काल और पात्रके अनुसार यथायोग्य सभी विषयोंको भगवत्-अर्पित करते हुए शुद्धभक्तोंके द्वारा अनुमोदित कर्मोंको करने लगे॥ ५०॥

फलं ब्रह्मणि संन्यस्य निर्विषङ्गः समाहितः।
कर्माध्यक्षञ्च मन्वान आत्मानं प्रकृतेः परम्॥ ५१॥
गृहेषु वर्तमानोऽपि स साम्राज्यश्रियान्वितः।
नासज्जतेन्द्रियार्थेषु निरहंमतिरर्कवत्॥ ५२॥

महाराज पृथुने भगवान्‌को कर्मोंका फल अर्पण करके कर्ममें आसक्तिका परित्याग कर दिया और एकाग्रचित्तसे प्रकृतिसे अतीत परतत्त्व भगवान्‌को कर्माध्यक्ष जानकर अपना कर्त्तृत्वादि अभिमान भी दूर किया। जिस प्रकार सूर्य सर्वत्र पर्यटन करते हुए भी पदार्थोंके गुण-दोषमें आसक्त नहीं होता, उसी प्रकार महाराज पृथु भी सार्वभौम साम्राज्य-लक्ष्मीसे सम्पन्न घरमें रहकर भी रूप-रस आदि विषयोंमें कभी आसक्त नहीं हुए॥ ५१-५२॥

एवमध्यात्मयोगेन कर्माण्यनुसमाचरन्।
पुत्रानुत्पादयामास पञ्चार्चिष्यात्मसम्मतान्।
विजिताश्वं धूमकेशं हर्यक्षं द्रविणं वृकम्॥ ५३॥

इस प्रकारसे महाराज पृथु कर्त्तव्य कर्मोंको उचित रीतिसे करते हुए भगवान्‌को अर्पण कर देते थे। आसक्ति रहित विषय-भोगरूप सिद्धि विशेषके द्वारा उन्होंने अपनी पत्नी अर्चिके गर्भसे अपने ही समान विजिताश्व, हर्यक्ष, द्रविण, धूमकेश एवं वृक नामक पाँच पुत्रोंको उत्पन्न किया॥ ५३॥

सर्वेषां लोकपालानां दधारैकः पृथुर्गुणान्।
गोपीथाय जगत्सृष्टेः काले स्वे स्वेऽच्युतात्मकः॥ ५४॥

भगवान् अच्युतके अवतार महाराज पृथुने सृष्टिकी रक्षाके लिए उपयुक्त समयपर अवतीर्ण होकर समस्त लोकपालोंके गुणोंको एकसाथमें धारण किया था॥ ५४॥

मनोवाग्वृत्तिभिः सौम्यैर्गुणैः संरञ्जयन् प्रजाः।
राजेत्यधान्नामधेयं सोमराज इवापरः॥ ५५॥

महाराज पृथुने हित-चिन्तनादिरूप मनोवृत्ति, प्रिय-भाषणादिरूप वाक्-वृत्ति और मनोहर गुणोंके द्वारा प्रजाका रञ्जन करके 'द्वितीय सोमराज' नाम धारण किया था॥ ५५॥

सूर्यवद्विसृजन् गृह्णन् प्रतपंश्च भुवो वसु।
दुर्धर्षस्तेजसेवाग्निर्महेन्द्र इव दुर्जयः॥ ५६॥

वे धरतीपर सूर्यके समान विराजमान रहे। जिस प्रकार सूर्य पृथ्वीसे जलको ग्रहण करता है तथा उसे पुनः यथासमय बरसा देता है, उसी प्रकार महाराज पृथु भी प्रजासे यथायोग्य कर ग्रहण करते थे और यथासमयपर उसका दान कर देते थे। महाराज पृथु अग्निके समान तेजस्वी और इन्द्रके समान बलशाली एवं अजय थे॥ ५६॥

तितिक्षया धरित्रीव द्यौरिवाभीष्टदो नृणाम्।
वर्षति स्म यथाकामं पर्जन्य इव तर्पयन्॥ ५७॥

आदिराज पृथु पृथ्वीके समान क्षमाशील और स्वर्गके समान समस्त मनुष्योंके मनोरथ पूर्ण करनेवाले थे। जिस प्रकार मेघ आवश्यकताके अनुसार जल–वर्षण करके सबको तृप्त करते हैं, उसी प्रकार वे भी अपने प्रजाजनोंके अभावोंको दूरकर उन्हें परम सन्तोष प्रदान किया करते थे॥ ५७॥

समुद्र इव दुर्बोधः सत्त्वेनाचलराडिव।
धर्मराडिव शिक्षायामाश्चर्ये हिमवानिव॥ ५८॥

वे समुद्रके समान गम्भीर थे, इसलिए उनके अभिप्रायको कोई समझ नहीं सकता था। वे पर्वतराज सुमेरुके समान अटल, दण्ड प्रदान करनेमें यमराज और विस्मयपूर्ण वस्तुओंके संग्रहमें हिमालयके समान थे॥ ५८॥

कुबेर इव कोशाढ्यो गुप्तार्थो वरुणो यथा।
मातरिश्वेव सर्वात्मा बलेन महसौजसा॥ ५९॥

महाराज पृथु कुबेरके समान धनवान, अज्ञात और सुरक्षित धनादि पदार्थोंके संरक्षण करनेमें वरुणके समान तथा शरीर, मन और इन्द्रियोंके बलमें वे सर्वत्र गतिशील वायुके समान थे॥ ५९॥

अविसह्यतया देवो भगवान् भूतराडिव।
कन्दर्प इव सौन्दर्ये मनस्वी मृगराडिव॥ ६०॥

पराक्रममें वे साक्षात् रुद्र, सौन्दर्यमें कामदेवके समान तथा निर्भीकतामें सिंहके समान थे॥ ६०॥

वात्सल्ये मनुवन्नृणां प्रभुत्वे भगवानजः।
बृहस्पतिर्ब्रह्मवादे आत्मवत्त्वे स्वयं हरिः॥ ६१॥

वे वात्सल्यमें मनुके समान, मनुष्योंके प्रभुत्वमें सर्वसमर्थ ब्रह्माजीके समान, ब्रह्मतत्त्वके विचारमें साक्षात् बृहस्पतिके समान और इन्द्रियोंको जय करनेमें साक्षात् श्रीहरिके समान थे॥ ६१॥

भक्त्या गोगुरुविप्रेषु विष्वक्सेनानुवर्त्तिषु।
ह्रिया प्रश्रयशीलाभ्यामात्मतुल्यः परोद्यमे॥ ६२॥

वे गौ, ब्राह्मण, गुरुजन एवं वैष्णवोंके प्रति भक्तिमान, लज्जाशील, विनयी और सुखी थे एवं परोपकारादि गुणोंमें आत्मतुल्य अर्थात् अपने समान वे केवल स्वयं ही थे॥ ६२॥

कीर्त्त्योर्ध्वगीतया पुम्भिस्त्रैलोक्ये तत्र तत्र ह।
प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेषु स्त्रीणां रामः सतामिव॥ ६३॥

जिस प्रकार भगवान् श्रीरामचन्द्रकी कीर्त्तिने साधुओंके कर्णरन्ध्रोंमें प्रवेश किया था, उसी प्रकार उन पृथु महाराजका यश भी तीनों भुवनोंके पुरुषोंके द्वारा उच्चस्वरसे कीर्त्तित होकर स्त्रियोंके कर्णरन्ध्रोंमें भी प्रवेश कर गया था॥ ६३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां चतुर्थस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे श्रीपृथुचरिते
श्रीकुमारोपदेशो नाम द्वाविंशोऽध्यायः॥

त्रयोविंशोऽध्यायः

पत्नीके साथ महाराज पृथुका वन-गमन और भक्तियोग-समाधिके द्वारा उनका वैकुण्ठ-गमन

श्रीमैत्रेय उवाच—

दृष्ट्वात्मानं प्रवयसमेकदा वैन्य आत्मवान्।
आत्मना वर्द्धिताशेष-स्वानुसर्गः प्रजापतिः॥ १॥

जगतस्तस्थुषश्चापि वृत्तिदो धर्मभृत् सताम्।
निष्पादितेश्वरादेशो यदर्थमिह जज्ञिवान्॥ २॥

आत्मजेष्वात्मजां न्यस्य विरहाद्रुदतीमिव।
प्रजासु विमनःस्वेकः सदारोऽगात्तपोवनम्॥ ३॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! आत्मवित् राजा वेननन्दन पृथु अन्नादि और पुर-ग्रामादि सृष्टिकी सम्पूर्ण प्रकारसे वृद्धि करनेके उपरान्त अपनी वृद्धावस्था देखकर सोचने लगे—'मैंने भूमण्डलपर स्थित स्थावर-जङ्गम सभीके लिए जीविका निर्द्धारण कर दी है, साधुजनोंके धर्म-रक्षणका कार्य भी पूर्ण कर दिया है तथा परमेश्वरकी प्रजापालनादि जिन सब आज्ञाओंका पालन करनेके लिए मैं इस भूमण्डलपर अवतीर्ण हुआ था, ईश्वरकी उन सभी आज्ञाओंका पालन भी हो चुका है।' इस प्रकार विचार करके महाराज पृथुने पुत्री-स्वरूपा पृथ्वीका भार अपने पुत्रोंको सौंप दिया और अपनी पत्नीके साथ तपोवनमें चले गये। उनके विरहमें पृथ्वी एवं प्रजा बिलख-बिलखकर रोने लगी थी॥ १-३॥

तत्राप्यदाभ्यनियमो वैखानससुसम्मते।
आरब्ध उग्रतपसि यथा स्वविजये पुरा॥ ४॥

अखण्ड व्रत धारण करनेवाले महाराज पृथुने पूर्वकालमें पृथ्वीको जय करनेके लिए जिस प्रकारका यत्न किया था, अब वनमें गमन

करनेपर भी वे उसी प्रकार वानप्रस्थ आश्रमियोंके नियमानुसार कठोर तपस्याके अनुष्ठानमें प्रवृत्त हुए॥ ४॥

कन्दमूलफलाहारः शुष्कपर्णाशनः क्वचित्।
अब्भक्षः कतिचित् पक्षान् वायुभक्षस्ततः परम्॥ ५॥

पृथुने कुछ दिन तो कन्दमूल एवं फल खाकर बिताये, कुछ समय तक वे सूखे पत्ते खाकर ही रहे और कितने ही पक्षों (पखवाड़ों) तक उन्होंने केवल जल ही पान किया। फिर अन्तमें वे वायुमात्रका भक्षण करके ही तपस्या करने लगे॥ ५॥

ग्रीष्मे पञ्चतपा वीरो वर्षास्वासारषाण्मुनिः।
आकण्ठमग्नः शिशिरे उदके स्थण्डिलेशयः॥ ६॥

तितिक्षुर्यतवाग्दान्त ऊर्ध्वरेता जितानिलः।
आरिराधयिषुः कृष्णमचरत्तप उत्तमम्॥ ७॥

ग्रीष्मकालमें चारों दिशाओंमें चार अग्निकुण्ड और ऊर्ध्वदिशामें सूर्य—इस प्रकार पञ्चाग्नि अर्थात् पाँचों प्रकारके तापोंको सहन करके वे पञ्चतपा बन गये। वर्षाकालमें अनावृत रहकर उन्होंने वर्षाकी धाराओंको शरीरपर सहन किया और शीत ऋतुमें आकण्ठ जलमग्न होकर रहे। वे प्रतिदिन भूमिपर ही सोते थे। उन्होंने सहिष्णु, संयतवाक्, जितेन्द्रिय, ऊर्ध्वरेता और जितश्वास होकर भगवान् श्रीकृष्णकी आराधना करनेके लिए अति उत्तम तपस्याका अनुष्ठान किया॥ ६-७॥

तेन क्रमानुसिद्धेन ध्वस्तकर्मामलाशयः।
प्राणायामैः सन्निरुद्धषड्वर्गश्छिन्नबन्धनः॥ ८॥

सनत्कुमारो भगवान् यदाहाध्यात्मिकं परम्।
योगं तेनैव पुरुषमभजत् पुरुषर्षभः॥ ९॥

इस प्रकार तपस्याके प्रभावसे क्रमशः उनके सम्पूर्ण कर्ममल विनष्ट हो गये और उनका हृदय निर्मल हो गया। उन्होंने प्राणायाम अर्थात् भक्तिमार्ग विहित भगवत्-मन्त्र आदिके जपके प्रभावसे षड्रिपुओंको

भलीभाँति जीत लिया और उनका संसार-बन्धन भी कट गया। इसके बाद पुरुषश्रेष्ठ पृथु, भगवान् सनत्कुमारके द्वारा उपदिष्ट परमोत्कृष्ट अध्यात्मयोगके अनुसार परमपुरुष श्रीहरिकी आराधना करने लगे॥ ८-९॥

भगवद्धर्मिणः साधोः श्रद्धया यततः सदा।
भक्तिर्भगवति ब्रह्मण्यनन्यविषयाभवत्॥ १०॥

इस प्रकारसे भगवत्-आराधनामें तत्पर सज्जनवर महाराज पृथु श्रद्धापूर्वक सदा-सर्वदा भगवत्-सेवाके लिए ही प्रयत्नशील रहने लगे। अतिशीघ्र ही उनमें परब्रह्म श्रीभगवान्की अव्यभिचारिणी भक्तिका उदय हुआ॥ १०॥

तस्यानया भगवतः परिकर्मशुद्ध-
सत्त्वात्मनस्तदनुसंस्मरणानुपूर्त्या।
ज्ञानं विरक्तिमदभून्निशितेन येन
चिच्छेद संशयपदं निजजीवकोशम्॥ ११॥

श्रीभगवान्की उपासनासे पृथुका हृदय निर्मल हो गया और वे प्रतिक्षण भगवत्-शरणागति द्वारा भक्तिरसके आस्वादनमें ओतप्रोत रहने लगे। इस तरह तीव्र भक्तियोगके प्रभावसे उनकी संशयमूल हृदय-ग्रन्थिका छेदन हो गया और उन्हें वैराग्ययुक्त भगवत्-ज्ञानकी प्राप्ति हुई॥ ११॥

छिन्नान्यधीरधिगतात्मगतिर्निरीह-
स्वत् तत्यजेऽच्छिनदिदं वयुनेन येन।
तावन्न योगगतिभिर्यतिरप्रमत्तो
यावद्गदाग्रजकथासु रतिं न कुर्यात्॥ १२॥

इस प्रकार देहात्मबुद्धिके दूर हो जानेपर उन्हें आत्मतत्त्वकी अनुभूति हुई। इससे उनकी अणिमादि योग सिद्धियोंकी प्राप्तिके विषयमें कोई स्पृहा नहीं रही। पहले उन्होंने जिस ज्ञानके द्वारा अपनी हृदय-ग्रन्थिका छेदन किया था, अब उसका भी परित्याग कर दिया;

इसका कारण है कि मुमुक्षु व्यक्ति जब तक गदाग्रज[१] श्रीहरिकी कथामें अनुराग प्राप्त नहीं कर लेते, तब तक वे केवल योगादि साधनोंके द्वारा दूसरे विषयोंसे अनासक्त नहीं हो सकते॥ १२॥

एवं स वीरप्रवरः संयोज्यात्मानमात्मनि।
ब्रह्मभूतो दृढं काले तत्याज स्वं कलेवरम्॥ १३॥

इस प्रकार वीरश्रेष्ठ महाराज पृथुने स्वरूपसिद्धि प्राप्त की तथा देहत्यागके समय भक्तियोगका आश्रय करके परमात्मा श्रीभगवान्में मनको दृढ़तापूर्वक स्थितकर अपने शरीरका त्याग कर दिया॥ १३॥

सम्पीड्य पायुं पार्ष्णिभ्यां वायुमुत्सारयन् शनैः।
नाभ्यां कोष्ठेष्ववस्थाप्य हृदुरःकण्ठशीर्षणि॥ १४॥
उत्सर्पयंस्तु तं मूर्ध्नि क्रमेणावेश्य निःस्पृहः।
वायुं वायौ क्षितौ कायं तेजस्तेजस्ययूयुजत्॥ १५॥

पहले उन्होंने दोनों पैरोंकी एड़ियोंके द्वारा गुदाद्वारको दबाकर मूलाधारसे प्राणवायुको धीरे-धीरे ऊपर उठाते हुए उसे नाभि देशमें स्थित मणिपूरकचक्रमें स्थापित किया, तत्पश्चात् वहाँसे हृदय-देशमें स्थित अनाहतचक्रमें, वहाँसे कण्ठके अधोभागमें स्थित विशुद्धचक्रमें, वहाँसे उसके आगेके भागमें और इसके बाद दोनों भौंहोंके बीच स्थित आज्ञाचक्रमें प्राणोंका स्थापन किया। अन्तमें वहाँसे उसे धीरे-धीरे ब्रह्मरन्ध्रमें ले जाकर संस्थापित कर दिया। अनन्तर सांसारिक भोगोंसे निःस्पृह पृथुने देहारम्भक पञ्चभूतोंका यथास्थान विभाग करके देहस्थ प्राणवायुको समष्टि वायुमें, पार्थिव देहगत कठिन भागको पृथ्वीमें और तेजको समष्टि अग्निमें लीन कर दिया॥ १४-१५॥

खान्याकाशे द्रवं तोये यथास्थानं विभागशः।
क्षितिमम्भसि तत् तेजस्यदो वायौ नभस्यमुम्॥ १६॥
इन्द्रियेषु मनस्तानि तन्मात्रेषु यथोद्भवम्।
भूतादिनामून्युत्क्षिप्य महत्यात्मनि सन्दधे॥ १७॥

---

[१] श्रीवसुदेव महाराज द्वारा श्रीदेवकीकी छोटी बहन देवरक्षिताके गर्भसे उत्पन्न गद नामक पुत्रके बड़े भाई होनेके कारण श्रीकृष्णका एक नाम गदाग्रज भी है।

इसके पश्चात् महाराज पृथुने इन्द्रियोंको आकाशमें और शरीरगत रक्तादि जलांशको समष्टि जलमें यथायोग्य विभागके अनुसार मिला दिया। इसके बाद उन्होंने महाभूतोंकी उत्पत्तिके क्रमानुसार पृथ्वीको जलमें, जलको तेजमें, तेजको वायुमें और वायुको आकाशमें लीन करके, मनको इन्द्रियोंमें और इन्द्रियोंको उनके उत्पत्तिस्थल तन्मात्राओंमें मिला दिया। अन्तमें तन्मात्राओंको अहङ्कारमें और अहङ्कारको महत्-तत्त्वमें लीन कर दिया॥ १६-१७॥

तं सर्वगुणविन्यासं जीवे मायामये न्यधात्।
तं चानुशयमात्मस्थमसावनुशयी पुमान्।
ज्ञानवैराग्यवीर्येण स्वरूपस्थोऽजहात् प्रभुः॥ १८॥

इसके पश्चात् समस्त गुणोंके आधार-स्वरूप उस महत्-तत्त्वको अव्यक्त प्रधानमें और प्रधानको जीवोपाधि लिङ्गशरीरमें न्यस्त कर दिया। महाराज पृथु पहले लिङ्गशरीराभिमानी जीव थे, किन्तु अब वह ज्ञान और वैराग्यके प्रभावसे भगवत्-पार्षद देहको प्राप्त करके उस लिङ्गशरीरको परित्याग करनेमें समर्थ हुए॥ १८॥

अर्चिर्नाम महाराज्ञी तत्पत्न्यनुगता वनम्।
सुकुमार्यतदर्हा च यत्पद्भ्यां स्पर्शनं भुवः॥ १९॥

महाराज पृथुकी पत्नी महारानी अर्चि बड़ी सुकुमारी थी। उन्होंने अपने पैरोंसे कभी भी भूमिका स्पर्श नहीं किया था, फिर भी पतिके वन जाते समय उन्होंने पैदल ही उनका अनुगमन किया था॥ १९॥

अतीव भर्तुर्व्रतधर्मनिष्ठया
शुश्रूषया चार्षदेहयात्रया।
नाविन्दतार्त्तिं परिकर्शितापि सा
प्रेयस्करस्पर्शनमाननिर्वृतिः॥ २०॥

अपने पतिके भूमि-शय्यादि कठोर व्रतधर्ममें उनकी भी बड़ी निष्ठा थी। वे भी पति-सेवा और ऋषियोंके समान कठोर देह-यात्राके निर्वाह करनेके कारण अत्यन्त दुबली-पतली हो गयी थीं। परन्तु प्रियतमके करस्पर्श और मधुर-सम्भाषणसे उत्पन्न आनन्दके कारण उन्हें किसी प्रकारका कष्ट अनुभव नहीं होता था॥ २०॥

देहं विपन्नाखिलचेतनादिकं
पत्युः पृथिव्या दयितस्य चात्मनः।
आलक्ष्य किञ्चिच्च विलप्य सा सती
चितामथारोपयदद्रिसानुनि ॥ २१ ॥

पतिपरायणा अर्चिने जब देखा कि पृथ्वीके स्वामी और उसके अति प्रियतम पतिके देहमें जीवनके चेतना आदि धर्म विलुप्त हो गये हैं, तब उन्होंने कुछ समय तक विलाप किया। उसके बाद पर्वतकी चोटियोंपर स्थित समतल भूमिमें एक चिता बनायी और उसके ऊपर पतिके शरीरको रख दिया॥ २१ ॥

विधाय कृत्यं ह्रदिनीजलाप्लुता
दत्त्वोदकं भर्तुरुदारकर्मणः।
नत्वा दिविस्थांस्त्रिदशांस्त्रिः परीत्य
विवेश वह्निं ध्यायती भर्तृपादम्॥ २२ ॥

अनन्तर तत्कालोचित अन्यान्य कृत्य समाप्त करके सरोवरके जलमें स्नान किया और उदार-कीर्त्ति पतिको जलाञ्जलि प्रदान की। इसके बाद अन्तरीक्षवासी देवताओंको प्रणाम करके चिताकी तीनबार परिक्रमा की तथा पतिके चरणयुगलोंका ध्यान करती हुईं चिताकी आगमें प्रवेश कर गयीं॥ २२ ॥

विलोक्यानुगतां साध्वीं पृथुं वीरवरं पतिम्।
तुष्टुवुर्वरदा देवैर्देवपत्न्यः सहस्रशः॥ २३ ॥

उस परम साध्वीको अपने वीरश्रेष्ठ पतिका अनुगमन करते देखकर वरदान देनेमें समर्थ सहस्र-सहस्र देवता एवं वरदायिनी देवपत्नियाँ परम आनन्दित हुईं॥ २३ ॥

कुर्वत्यः कुसुमासारं तस्मिन् मन्दरसानुनि।
नदत्स्वमरतूर्येषु गृणन्ति स्म परस्परम्॥ २४ ॥

स्वर्गमें देवताओंके बाजे बजने लगे। उस मन्दर-पर्वतकी चोटियोंपर अवस्थित देवाङ्गनाएँ पुष्पोंकी वर्षा करती हुईं परस्पर इस प्रकार कहने लगीं॥ २४ ॥

श्रीदेव्य ऊचुः

अहो हयं वधूर्धन्या या चैवं भूभुजां पतिम्।
सर्वात्मना पतिं भेजे यज्ञेशं श्रीर्वधूरिव॥ २५॥

देवताओंकी पत्नियोंने कहा—अहो! यह वधू अर्चि अति धन्य है। जिस प्रकार यज्ञेश्वर भगवान् श्रीविष्णुकी प्रियतमा लक्ष्मी अपने पतिकी सेवा करती हैं, उसी प्रकार इन्होंने राजाधिराज पृथुकी सर्वान्तकरणसे सेवा की है॥ २५॥

सैषा नूनं व्रजत्यूर्ध्वमनु वैन्यं पतिं सती।
पश्यतास्मानतीत्यार्चिर्दुर्विभाव्येन कर्मणा॥ २६॥

आहा! देखो, देखो! यह पतिव्रता अर्चि किस प्रकार असतियोंके लिए अचिन्तनीय अपने अचिन्त्य कर्मोंके प्रभावसे अपने पति वेनपुत्र पृथुका अनुगमन करते हुए हमें भी लांघकर वैकुण्ठकी ओर जा रही है॥ २६॥

तेषां दुरापं किम्वन्यन्मर्त्यानां भगवत्पदम्।
भुवि लोलायुषो ये वै नैष्कर्म्यं साधयन्त्युत॥ २७॥

(अथवा यह आश्चर्यका विषय नहीं है,) यद्यपि भूमण्डलमें मनुष्यका जीवन अतिशय चञ्चल है, तथापि जिस ज्ञानके द्वारा भगवान्‌के परमपदको प्राप्त किया जा सकता है, मनुष्य पृथ्वीपर उस ज्ञानका साधन करनेमें भी समर्थ होते हैं, फिर उनके लिए क्या देवादि-पद दुर्लभ हो सकता है?॥ २७॥

स वञ्चितो बतात्मध्रुक् कृच्छ्रेण महता भुवि।
लब्ध्वापवर्ग्यं मानुष्यं विषयेषु विषज्जते॥ २८॥

जन्म-जन्मान्तरमें बहुत कष्ट-साध्य कर्मोंके फलसे इस पृथ्वीपर मोक्षके द्वारस्वरूप मनुष्य जन्म प्राप्त करके भी जो व्यक्ति अनित्य विषयोंमें आसक्त हो जाता है, वह निश्चय ही आत्मघाती होनेके कारण वञ्चित होता है॥ २८॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

स्तुवतीष्वमरस्त्रीषु पतिलोकं गता वधूः।
यं वा आत्मविदां धुर्यो वैन्यः प्रापाच्युताश्रयः॥ २९॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! देवपत्नियाँ इस प्रकार स्तुति कर ही रही थीं कि इतनेमें आत्मविदोंमें श्रेष्ठ भगवत्-भक्त पृथु जिस परमधामको प्राप्त हुए थे, पृथुपत्नी अर्चिने भी पतिके उसी वैकुण्ठलोकको ही प्राप्त किया॥ २९॥

इत्थम्भूतानुभावोऽसौ पृथुः स भगवत्तमः।
कीर्तितं तस्य चरितमुद्दामचरितस्य ते॥ ३०॥

हे विदुर! महाभागवत पृथु बड़े अलौकिक प्रभावसे सम्पन्न थे तथा उनका चरित्र बड़ा उदार था। मैंने उनके चरित्रका तुम्हारे समक्ष वर्णन किया॥ ३०॥

य इदं सुमहत् पुण्यं श्रद्धयावहितः पठेत्।
श्रावयेच्छृणुयाद्वापि स पृथोः पदवीमियात्॥ ३१॥

जो एकाग्रचित्त होकर श्रद्धाके साथ महाराज पृथुके इस परम पवित्र चरित्रका स्वयं पाठ करता है, अथवा दूसरेको सुनाता है, अथवा स्वयं सुनता है, वह उनके समान ही भगवान्के परमधामको प्राप्त होता है॥ ३१॥

ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चस्वी राजन्यो जगतीपतिः।
वैश्यः पठन् विट्पतिः स्याच्छूद्रः सत्तमतामियात्॥ ३२॥

इस चरित्रका पाठ करनेसे ब्राह्मण ब्रह्मतेजमें, क्षत्रिय जगत्के आधिपत्यमें, वैश्य पशुओंके अथवा वैश्योंके प्रतिपालनमें और इसका श्रवण करनेसे शूद्र स्वजातिमें श्रेष्ठता प्राप्त कर लेते हैं॥ ३२॥

त्रिः कृत्व इदमाकर्ण्य नरो नार्यथवादृता।
अप्रजः सुप्रजतमो निर्धनो धनवत्तमः।
अस्पष्टकीर्तिः सुयशा मूर्खो भवति पण्डितः॥ ३३॥

यह आख्यान तीन बार श्रद्धाके साथ श्रवण करनेसे पुत्रहीन जन सत्पुत्र प्राप्त कर लेते हैं, निर्धन धनियोंमें श्रेष्ठ हो जाते हैं, यशहीन विपुल कीर्त्तिशाली हो जाते हैं और मूर्ख पण्डित हो जाते हैं॥ ३३॥

इदं स्वस्त्ययनं पुंसाममङ्गल्यनिवारणम्।
धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं कलिमलापहम्॥ ३४॥

यह आख्यान जीवोंका मङ्गलस्वरूप, अमङ्गलको दूर करनेवाला, धनकी प्राप्ति करानेवाला, यश एवं आयुका वर्द्धक तथा कलियुगके दोषोंका नाशक है॥ ३४॥

धर्मार्थकाममोक्षाणां सम्यक् सिद्धिमभीप्सुभिः।
श्रद्धयैतदनुश्राव्यं चतुर्णां कारणं परम्॥ ३५॥

जो व्यक्ति धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष—इस चतुर्वर्गकी सम्पूर्ण सिद्धिकी कामना करते हैं, वे उसके मूलकारण स्वरूप इस पृथु-चरित्रका श्रद्धाके साथ पुनः-पुनः श्रवण करें॥ ३५॥

विजयाभिमुखो राजा श्रुत्वैतदभियाति यान्।
बलिं तस्मै हरन्त्यग्रे राजानः पृथवे यथा॥ ३६॥

इस चरित्रको श्रवण करके जो राजा विजय-प्राप्तिके उद्देश्यसे जिन-जिन स्थानोंकी ओर जायेगा, उन-उन स्थानोंके अधिपतिगण उस राजाको उसी प्रकार उपहार भेंट करेंगे, जिस प्रकार पूर्वकालमें राजा लोग पृथु महाराजको दिया करते थे॥ ३६॥

मुक्तान्यसङ्गो भगवत्यमलां भक्तिमुद्वहन्।
वैन्यस्य चरितं पुण्यं शृणुयाच्छ्रावयेत् पठेत्॥ ३७॥

असत्सङ्ग अथवा अन्य सब प्रकारके फलकी कामनाको छोड़कर एवं भगवान्में विमल भक्तियुक्त होकर वेननन्दन पृथुके इस पुण्य चरित्रका श्रवण एवं कीर्त्तन करना चाहिये॥ ३७॥

वैचित्रवीर्याभिहितं महन्माहात्म्यसूचकम्।
अस्मिन् कृतमतिर्मर्त्यः पार्थवीं गतिमाप्नुयात्॥ ३८॥

हे विचित्रवीर्यके पुत्र विदुर! मैंने भगवद्भक्तोंके माहात्म्यको प्रकट करनेवाले इस पृथु-चरित्रका तुम्हारे सम्मुख कीर्त्तन किया। जो मानव इसमें अपनी बुद्धि स्थिर कर लेते हैं अर्थात् उनके जीवन-चरित्रको आदर्श बनाकर अपना जीवन व्यतीत करते हैं, वे महाराज पृथु जैसी गतिको प्राप्त होते हैं॥ ३८॥

अनुदिनमिदमादरेण श्रृण्वन्
पृथुचरितं प्रथयन् विमुक्तसङ्गः।
भगवति भवसिन्धुपोतपादे
स च निपुणां लभते रतिं मनुष्यः॥ ३९॥

हे विदुर! जो कामनाओंका परित्याग करके श्रद्धाके साथ नित्यप्रति इस पृथु-चरितका श्रवण अथवा कीर्त्तन करते हैं, वे संसार-सागरको पार करनेमें नौका-स्वरूप भगवान्के श्रीचरणकमलोंमें प्रगाढ़ अनुरागसे युक्त हो जाते हैं॥ ३९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां चतुर्थस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे श्रीपृथुचरितं नाम त्रयोविंशोऽध्यायः॥

चतुर्विंशोऽध्यायः

महाराज पृथुकी वंशपरम्पराका वर्णन और प्रचेताओंको श्रीरुद्रदेवका उपदेश

श्रीमैत्रेय उवाच—

विजिताश्वोऽधिराजासीत् पृथुपुत्रः पृथुश्रवाः।
यवीयोभ्योऽददात् काष्ठा भ्रातृभ्यो भ्रातृवत्सलः॥ १॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! महाराज पृथुके वैकुण्ठ चले जानेपर उनके पुत्र महायशस्वी विजिताश्व पृथ्वीके अधीश्वर हुए। वे अपने छोटे भाइयोंसे बड़ा प्रेम करते थे, अतः उन्होंने अपने चारों भाइयोंको एक-एक दिशाका राज्य प्रदान कर दिया॥ १॥

हर्यक्षायादिशत् प्राचीं धूम्रकेशाय दक्षिणाम्।
प्रतीचीं वृकसंज्ञाय तुर्यां द्रविणसे विभुः॥ २॥

उन्होंने हर्यक्षको पूर्व, धूम्रकेशको दक्षिण, वृकको पश्चिम और द्रविणको उत्तर दिशाका राज्यत्व प्रदान किया॥ २॥

अन्तर्धानगतिं शक्राल्लब्ध्वान्तर्धान-संज्ञितः।
अपत्यत्रयमाधत्त शिखण्डिन्यां सुसम्मतम्॥ ३॥

पृथुनन्दन विजिताश्व इन्द्रसे 'अन्तर्धान विद्या' प्राप्त करके 'अन्तर्धान' नामसे प्रसिद्ध हुए। उन्होंने अपनी शिखण्डिनी नामकी पत्नीके गर्भसे अपने ही समान तीन पुत्र उत्पन्न किये॥ ३॥

पावकः पवमानश्च शुचिरित्यग्नयः पुरा।
वसिष्ठशापादुत्पन्नाः पुनर्योगगतिं गताः॥ ४॥

उन तीन पुत्रोंके नाम पावक, पवमान एवं शुचि थे। ये तीनों ही पूर्व जन्ममें तीन अग्नि थे और उन्होंने वशिष्ठ ऋषिके शापसे विजिताश्वके पुत्रोंके रूपमें जन्म लिया था। बादमें योगबलसे वे पुनः अग्निरूप हो गये थे॥ ४॥

अन्तर्धानो नभस्वत्यां हविर्द्धानमविन्दत।
य इन्द्रमश्वहर्त्तारं विद्वानपि न जघ्निवान्॥ ५॥

अन्तर्धानकी और एक पत्नी थी, जिसका नाम 'नभस्वती' था। उस पत्नीके गर्भसे उनका 'हविर्धान' नामक एक पुत्र-रत्न उत्पन्न हुआ। इन्द्रने उनके पिताके यज्ञके अश्वका हरण कर लिया था—यह जानकर भी विजिताश्वने इन्द्रका वध नहीं किया था, इसलिए इन्द्रने प्रसन्न होकर उन्हें अन्तर्धान विद्या प्रदान की थी॥ ५॥

राज्ञां वृत्तिं करादान-दण्डशुल्कादिदारुणाम्।
मन्यमानो दीर्घसत्र-व्याजेन विससर्ज ह॥ ६॥

कर लेना, शुल्क लेना और दण्ड-विधान करना—यही राजवृत्ति है। किन्तु यह सब क्रियाएँ दूसरोंको अत्यधिक पीड़ा पहुँचानेवाली हैं—ऐसी विवेचना करके अन्तर्धानने दीर्घकालव्यापी एक यज्ञमें दीक्षित होनेके बहानेसे राजकार्यको छोड़ दिया॥ ६॥

तत्रापि हंसं पुरुषं परमात्मानमात्मदृक्।
यजंस्तल्लोकतामाप कुशलेन समाधिना॥ ७॥

आत्मदर्शी अन्तर्धानने उस यज्ञमें भक्तोंके क्लेशोंको दूर करनेवाले पुरुषोत्तम श्रीहरिकी आराधना करके पुण्यरूप समाधि योगसे भगवान् विष्णुके दिव्य लोकको प्राप्त किया॥ ७॥

हविर्द्धानाद्धविर्द्धानी विदुरासूत षट् सुतान्।
बर्हिषदं गयं शुक्लं कृष्णं सत्यं जितव्रतम्॥ ८॥

हे विदुर! हविर्धानकी पत्नी महारानी हविर्धानीने पतिके सहयोगसे बर्हिषत्, गय, शुक्ल, कृष्ण, सत्य एवं जितव्रत नामक छह पुत्र उत्पन्न किये॥ ८॥

बर्हिषत् सुमहाभागो हाविर्द्धानिः प्रजापतिः।
क्रियाकाण्डेषु निष्णातो योगेषु च कुरूद्वह॥ ९॥

यस्येदं देवयजनमनुयज्ञं वितन्वतः।
प्राचीनाग्रैः कुशैरासीदास्तृतं वसुधातलम्॥ १०॥

हे कुरुश्रेष्ठ विदुर! इन छहोंमें बर्हिषत् असाधारण भाग्यवान थे। वे यज्ञादि क्रियाकाण्ड एवं योगाभ्यासमें विशेष रूपसे दीक्षित थे। वे जिस स्थानपर एक यज्ञ करते थे, उसके अति निकट और एक दूसरा यज्ञ करते थे। इस प्रकार उन्होंने इतने यज्ञ किये कि सम्पूर्ण वसुन्धराको ही उन्होंने क्रमशः यज्ञवेदीमय बना दिया। इससे पूर्वकी ओर अग्रभाग करके फैलाये हुए उनके कुशोंसे धरती आच्छादित हो गयी थी, इसी कारण लोग उन्हें 'प्राचीनबर्हि' कहकर पुकारते थे॥ ९-१०॥

सामुद्रीं देवदेवोक्तामुपयेमे शतद्रुतिम्।
यां वीक्ष्य चारुसर्वाङ्गीं किशोरीं सुष्ठ्वलङ्कृताम्।
परिक्रमन्तीमुद्वाहे चकमेऽग्निः शुकीमिव॥ ११॥

हे विदुर! महात्मा प्राचीनबर्हिने ब्रह्माजीके आदेशसे समुद्रकन्या शतद्रुतिसे विवाह किया। सर्वाङ्गसुन्दरी नवयौवना शतद्रुति विवाहके अवसरपर जब आकर्षक आभूषणोंसे भूषित होकर विवाह-मण्डपमें अग्निके फेरे लगा रही थी, उस समय अग्नि उसकी वैसे ही अभिलाषा करने लगे, जैसे पहले उन्होंने सुन्दरी शुकीकी अभिलाषा की थी॥ ११॥

विबुधासुरगन्धर्वमुनिसिद्धनरोरगाः।
विजिताः सूर्यया दिक्षु क्वणयन्त्यैव नूपुरैः॥ १२॥

नवविवाहिता समुद्रकन्या शतद्रुतिने अपने नूपुरोंकी झंकारसे चारों दिशाओंमें स्थित सुर, असुर, गन्धर्व, मुनि, सिद्ध, मनुष्य एवं नाग आदि सभीको वशीभूत कर लिया था॥ १२॥

प्राचीनबर्हिषः पुत्राः शतद्रुत्यां दशाभवन्।
तुल्यनामव्रताः सर्वे धर्मस्नाताः प्रचेतसः॥ १३॥

शतद्रुतिके गर्भसे प्राचीनबर्हिके दस पुत्रोंने जन्म-ग्रहण किया। वे सभी धर्म-पारङ्गत, सदाचारी एवं अपने-अपने नामोंके समान आचारवान पुरुष थे। ये सभी 'प्रचेता' के रूपमें विख्यात हुए॥ १३॥

पित्रादिष्टाः प्रजासर्गे तपसेऽर्णवमाविशन्।
दशवर्षसहस्राणि तपसार्चंस्तपस्पतिम्॥ १४॥
यदुक्तं पथि दृष्टेन गिरिशेन प्रसीदता।
तद्ध्यायन्तो जपन्तश्च पूजयन्तश्च संयताः॥ १५॥

जब पिताने अपने पुत्र प्रचेताओंको प्रजा-सृष्टिका आदेश प्रदान किया, तब उस आदेशकी पूर्ति हेतु तप करनेके लिए उन्होंने समुद्रमें प्रवेश किया और वहाँ दस हजार वर्षों तक तपस्या-पति श्रीहरिकी आराधना की। जब वे घरसे तपस्याके लिए जा रहे थे, तभी मार्गमें उनकी शिवजीके साथ भेंट हुई। श्रीशम्भुने प्रसन्न होकर उन्हें जो सब उपदेश प्रदान किये थे, प्रचेताओंने जितेन्द्रिय होकर केवल उन्हीं उपदेशोंके अनुसार ही ध्यान, जप और पूजा की॥ १४-१५॥

श्रीविदुर उवाच—

प्रचेतसां गिरित्रेण यथासीत् पथि सङ्गमः।
यदुताह हरः प्रीतस्तन्नो ब्रह्मन् वदार्थवत्॥ १६॥

श्रीविदुरने कहा—हे ब्रह्मन्! मार्गमें प्रचेताओंका श्रीशिवजीके साथ जिस प्रकार साक्षात्कार हुआ और श्रीशम्भुने प्रसन्न होकर उन्हें जो उपदेश दिया, आप मेरे समीप उसका भी यथार्थ रूपमें कीर्त्तन कीजिये॥ १६॥

सङ्गमः खलु विप्रर्षे शिवेनेह शरीरिणाम्।
दुर्लभो मुनयो दध्युरसङ्गाद्यमभीप्सितम्॥ १७॥
आत्मारामोऽपि यस्त्वस्य लोककल्पस्य राधसे।
शक्त्या युक्तो विचरति घोरया भगवान् भवः॥ १८॥

हे विप्रर्षे! देहधारियोंके लिए श्रीमन्महादेवजीका साक्षात्कार होना निश्चय ही सुदुर्लभ है। औरोंकी तो बात ही क्या है, मुनिजन जन-सङ्ग आदिका परित्याग करके अपने अभीष्ट देवके रूपमें केवल उनका ही निरन्तर ध्यान करनेपर भी सहजमें उनका दर्शन प्राप्त नहीं कर पाते। परमात्मा श्रीहरिके सेवानन्दमें सर्वदा विभोर रहनेवाले ऐश्वर्यशाली महादेवजी लोकसृष्टिकी रक्षाके लिए ही प्रलयकी कारण-स्वरूपा घोर शक्तिके साथ युक्त होते हैं॥ १७-१८॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

प्रचेतसः पितुर्वाक्यं शिरसादाय साधवः।
दिशं प्रतीचीं प्रययुस्तपस्यादृतचेतसः॥ १९॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! साधुस्वभाववाले प्रचेतागण पिताकी आज्ञाको सिरपर धारणकर तपस्याके लिए परमोत्साहके साथ पश्चिम दिशाकी ओर चल दिये॥ १९॥

समुद्रमुप विस्तीर्णमपश्यन् सुमहत् सरः।
महन्मन इव स्वच्छं प्रसन्नसलिलाशयम्॥ २०॥

नीलरक्तोत्पलाम्भोज-कह्लारेन्दीवराकरम्।
हंससारसचक्राह्व-कारण्डवनिकूजितम्॥ २१॥

मत्तभ्रमरसौस्वर्य-हृष्टरोमलताङ्घ्रिपम्।
पद्मकोशरजो दिक्षु विक्षिपत्पवनोत्सवम्॥ २२॥

थोड़ी दूर चलनेपर उन्होंने एक बहुत बड़े सरोवरको देखा। यह सरोवर प्रायः समुद्रके समान विशाल और महत्-जनोंके निर्मल अन्तःकरणके समान स्वच्छ था। इस सरोवरका जल अतिशय निर्मल था और उसमें मत्स्यादि प्राणी हर्षपूर्वक क्रीड़ा कर रहे थे। उसमें बहुत-से नीलोत्पल, रक्तोत्पल, कमल, कह्लार और इन्दीवर पद्म प्रस्फुटित हो रहे थे। हंस, सारस, चक्रवाक, कारण्डव आदि जलचर पक्षी निरन्तर क्रीड़ामें उन्मत्त होकर उस स्थानको अपने कूजन द्वारा मुखरित कर रहे थे। उस सरोवरके तटपर स्थित विविध वृक्षोंकी पंक्तियाँ एवं वल्लरियाँ मधुमत्त मधुकरोंके मधुर-झंकारको सुनकर मानो रोमाञ्चित हो रही थीं। वहाँ सुगन्धित वायुके झोंके दिशा-विदिशामें पद्मकोष-पराग-पुञ्जको इधर-उधर बिखेरते हुए मानो आनन्दोत्सवको प्रवाहित कर रहे थे॥ २०-२२॥

तत्र गान्धर्वमाकर्ण्य दिव्यमार्गमनोहरम्।
विसिस्म्यू राजपुत्रास्ते मृदङ्गपणवाद्यनु॥ २३॥

हे विदुर! उस स्थानपर राजपुत्र प्रचेताओंने मृदङ्ग एवं पणव आदि वाद्योंकी ध्वनि सुनी तथा उसी क्षण ही राग-रागिनियोंके विभाजनके

साथ मनोहर दिव्य गीतोंकी ध्वनि उनके कर्णकुहरोंमें प्रविष्ट हुई, जिससे उन्हें बहुत आश्चर्य हुआ॥ २३॥

तर्ह्येव सरसस्तस्मान्निष्क्रामन्तं सहानुगम्।
उपगीयमानममरप्रवरं विबुधानुगैः॥ २४॥

तप्तहेमनिकायाभं शितिकण्ठं त्रिलोचनम्।
प्रसादसुमुखं वीक्ष्य प्रणेमुर्जातकौतुकाः॥ २५॥

इसी बीच उन्होंने देखा कि देवताओंमें श्रेष्ठ त्रिलोचन महादेव अपने अनुचरोंके साथ उस सरोवरसे बाहर आ रहे हैं। उनका शरीर तप्तकाञ्चनके समान देदीप्यमान है, कण्ठ नीलवर्ण है, उनके तीन विशाल नेत्र हैं, वे भक्तोंपर अनुग्रह करनेके लिए उन्मुख हो रहे हैं, तथा गन्धर्वादि देवता उनकी स्तुति करते हुए उनका अनुगमन कर रहे हैं। सहसा शिवजीको देखकर प्रचेताओंको बड़ा कूतुहल हो गया। उन्होंने देवादिदेव महादेवको प्रणाम किया॥ २४-२५॥

स तान् प्रपन्नार्त्तिहरो भगवान् धर्मवत्सलः।
धर्मज्ञान् शीलसम्पन्नान् प्रीतः प्रीतानुवाच ह॥ २६॥

आश्रितजनोंके सन्तापका हरण करनेवाले, धर्मवत्सल देवादिराज श्रीशम्भुने उन धर्मज्ञ, सच्चरित्र, हर्षित चित्तवाले प्रचेताओंसे बड़े प्रसन्न होकर जिज्ञासा की॥ २६॥

श्रीरुद्र उवाच—

यूयं वेदिषदः पुत्रा विदितं वश्चिकीर्षितम्।
अनुग्रहाय भद्रं व एवं मे दर्शनं कृतम्॥ २७॥

श्रीरुद्रने कहा—तुमलोग राजा बर्हिषत्‌के पुत्र हो। मैं तुम्हारे सङ्कल्पको भलीभाँति जानता हूँ। तुम्हारा मङ्गल हो। मैंने तुम लोगोंपर अनुग्रह करनेके लिए ही तुम्हें इस प्रकारसे दर्शन दिया है॥ २७॥

यः परं रहसः साक्षात् त्रिगुणाज्जीवसंज्ञितात्।
भगवन्तं वासुदेवं प्रपन्नः स प्रियो हि मे॥ २८॥

जो व्यक्ति त्रिगुणमयी प्रकृति और जीवसंज्ञक पुरुषके नियन्ता गुह्यसे भी गुह्यतर भगवान् श्रीवासुदेवके चरणोंमें अनन्य भावसे शरणागत हो जाता है, वही मुझे प्रिय है॥ २८॥

स्वधर्मनिष्ठः शतजन्मभिः पुमान्
विरिञ्चतामेति ततः परं हि माम्।
अव्याकृतं भागवतोऽथ वैष्णवं
पदं यथाहं विबुधाः कलात्यये॥ २९॥

मनुष्य अपने वर्णाश्रम-धर्मका भलीभाँति आचरण करके बहुत जन्मोंके बाद ब्रह्माके पदको प्राप्त करते हैं, उसके बाद और अधिक पुण्य होनेपर मुझे प्राप्त करते हैं। किन्तु जो व्यक्ति भगवान् श्रीविष्णुके भक्त हैं, वे देहके अन्त होनेपर प्रपञ्चातीत श्रीविष्णुके पदको प्राप्त करते हैं। ये सब आधिकारिक देवता और मैं, सभी श्रीविष्णुके सेवक हैं। अतः हम भी सूक्ष्मदेहके नष्ट होनेपर उस प्रपञ्चातीत वैष्णवपदको प्राप्त करेंगे॥ २९॥

अथ भागवता यूयं प्रियाः स्थ भगवान् यथा।
न मद्भागवतानाञ्च प्रेयानन्योऽस्ति कर्हिचित्॥ ३०॥

तुमलोग भगवान् विष्णुके भक्त हो, इसलिए भगवान् जिस प्रकार मेरे प्रिय हैं, उसी प्रकार तुमलोग भी मेरे प्रिय हो तथा भगवान्के भक्तोंको भी मुझसे अधिक अन्य कोई प्रिय नहीं होता॥ ३०॥

इदं विविक्तं जप्तव्यं पवित्रं मङ्गलं परम्।
निःश्रेयसकरञ्चापि श्रूयतां तद्वदामि वः॥ ३१॥

मैं तुम्हें एक पवित्र, परम मङ्गलमय और चरम श्रेयकी प्राप्तिके उपायस्वरूप 'जप' बतला रहा हूँ। इसे किस प्रकार शुद्धभावसे जप करना चाहिये, इसका श्रवण करो॥ ३१॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

इत्यनुक्रोशहृदयो भगवानाह ताञ्छिवः।
बद्धाञ्जलीन् राजपुत्रान् नारायणपरं वचः॥ ३२॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! ऐश्वर्यशाली श्रीशम्भुने इस प्रकार दयार्द्र होकर राजपुत्रोंको नारायण-विषयक स्तोत्र बतलाना आरम्भ किया। प्रचेतागण भी हाथ जोड़कर श्रीशिवके वचनोंको सुनने लगे॥ ३२॥

श्रीरुद्र उवाच—

जितं त आत्मविद्वर्य-स्वस्तये स्वस्तिरस्तु मे।
भवता राधसा राद्धं सर्वस्मा आत्मने नमः॥ ३३॥

श्रीरुद्र भगवान् विष्णुकी स्तुति करते हुए कहने लगे—हे भगवन्! आत्मविद् श्रेष्ठपुरुषोंके लिए स्वानन्द सुखद होनेके कारण ही सबकी अपेक्षा आपका उत्कर्ष सिद्ध है। अतएव मुझे भी स्वानन्द प्राप्त हो। आप तो नित्यकाल अपने आनन्दमें ही अवस्थित रहते हैं। आप सर्वात्मा, सर्वमय और सर्वस्वरूप हैं। आपको नमस्कार है॥ ३३॥

नमः पङ्कजनाभाय भूतसूक्ष्मेन्द्रियात्मने।
वासुदेवाय शान्ताय कूटस्थाय स्वरोचिषे॥ ३४॥

हे पङ्कजनाभ भगवन्! आपके नाभिदेशसे सर्वलोकात्मक कमल उत्पन्न हुआ है। आप भूत, तन्मात्र एवं इन्द्रियोंके नियन्ता हैं, चित्तके अधिष्ठाता हैं, शान्त, निर्विकार, स्वप्रकाश-स्वरूप हैं। आपको नमस्कार है॥ ३४॥

सङ्कर्षणाय सूक्ष्माय दुरन्तायान्तकाय च।
नमो विश्वप्रबोधाय प्रद्युम्नायान्तरात्मने॥ ३५॥

आप अव्यक्त और अनन्त हैं। आप अपनी मुखाग्नि द्वारा तीनों लोकोंको दहन करनेवाले हैं। आप अहङ्कारके अधिष्ठाता सङ्कर्षण हैं। आप विश्वके प्रकाशक तथा बुद्धिके अधिष्ठाता प्रद्युम्न हैं। आपको नमस्कार है॥ ३५॥

नमो नमोऽनिरुद्धाय हृषीकेशेन्द्रियात्मने।
नमः परमहंसाय पूर्णाय निभृतात्मने॥ ३६॥

आप इन्द्रियोंके अधीश्वर मनके अधिष्ठाता अनिरुद्ध हैं। आप सूर्यरूपमें अपने तेजसे विश्वको व्याप्त करनेवाले हैं। पूर्ण होनेके

कारण आपमें वृद्धि और ह्रास नहीं है। आपको पुनः-पुनः नमस्कार है॥ ३६॥

स्वर्गापवर्गद्वाराय नित्यं शुचिषदे नमः।
नमो हिरण्यवीर्याय चातुर्होत्राय तन्तवे॥ ३७॥

आप स्वर्ग एवं मुक्तिके द्वारस्वरूप हैं। आप नित्यकाल ही अन्तःकरणमें अवस्थान करते हैं। आप अग्नि-स्वरूप और चातुर्होत्र कर्मोंके साधनभूत हैं, क्योंकि आपने ही यज्ञादि समस्त कर्मोंका प्रवर्त्तन एवं विस्तार किया है। आपको नमस्कार है॥ ३७॥

नम ऊर्ज इषे त्रय्याः पतये यज्ञरेतसे।
तृप्तिदाय च जीवानां नमः सर्वरसात्मने॥ ३८॥

हे देव! आप देवता एवं पितरोंके अन्न-पोषक चन्द्रस्वरूप हैं। आप समस्त जीवोंको तृप्त करनेवाले जलस्वरूप हैं। आप तीनों वेदोंके अधिष्ठाता हैं। आपको नमस्कार है॥ ३८॥

सर्वसत्त्वात्मदेहाय विशेषाय स्थवीयसे।
नमस्त्रैलोक्यपालाय सहओजोबलाय च॥ ३९॥

आप पृथ्वीरूपी विराट् पुरुष हैं, इसलिए आप समस्त प्राणियोंके देहस्वरूप हैं। आप वायुके रूपमें तीनों लोकोंकी रक्षा करते हैं। आप ही देहबल, मनोबल और शारीरिक-बल हैं। आपको नमस्कार है॥ ३९॥

अर्थलिङ्गाय नभसे नमोऽन्तर्बहिरात्मने।
नमः पुण्याय लोकाय अमुष्मै भूरिवर्चसे॥ ४०॥

आप अपने शब्दरूपी गुणके द्वारा समस्त पदार्थोंका ज्ञान करानेवाले तथा आप ही 'भीतर' और 'बाहर'—इस प्रकारके व्यवहारके आश्रय स्वरूप आकाश भी है। आप ही पुण्यलोक स्वरूप अर्थात् सर्वोत्तम और प्रचुर ज्योतिःस्वरूप हैं। आपको नमस्कार है॥ ४०॥

प्रवृत्ताय निवृत्ताय पितृदेवाय कर्मणे।
नमोऽधर्मविपाकाय मृत्यवे दुःखदाय च॥ ४१॥

प्रवृत्तिपरक कर्मोंके द्वारा प्राप्त होनेवाले पितरलोक एवं निवृत्तिपरक कर्मोंसे प्राप्त होनेवाले देवलोक आप ही हैं। अधर्मकी फलस्वरूप दुःखदायक मृत्यु भी आप हैं। आपको नमस्कार है॥४१॥

नमस्त आशिषामीश मनवे कारणात्मने।
नमो धर्माय बृहते कृष्णायाकुण्ठमेधसे।
पुरुषाय पुराणाय सांख्ययोगेश्वराय च॥४२॥

हे ईश! आप सर्वज्ञ हैं। आप सम्पूर्ण कामनाओं और समस्त कर्मोंके फलदाता हैं। आपको नमस्कार है। आप पुराण पुरुष हैं, क्योंकि आप पद्मनाभ रूपमें अपने निःश्वास द्वारा प्रवर्त्तित वेदके द्वारा धर्म प्रवर्त्तन करते हैं। यह विस्तारशील धर्म भी आप ही हैं। आपको नमस्कार है। आप कपिल-दत्तात्रेय आदिके रूपमें अवतरित होकर भिन्न-भिन्न अधिकारके व्यक्तियोंके लिए सांख्य और योग आदि धर्मोंका प्रवर्त्तन करते हैं। पुनः, स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण स्वरूप द्वारा आप परब्रह्मके रूपमें कुण्ठाधर्म रहित अधोक्षज-ज्ञानका प्रवर्त्तन करते हैं। आपको नमस्कार है॥४२॥

शक्तित्रयसमेताय मीढुषेऽहंकृतात्मने।
चेत-आकूतिरूपाय नमो वाचो विभूतये॥४३॥

आप ही अहङ्कारात्मा हैं। आप ही कर्त्ता, कर्म और करण—इन तीनों शक्तियोंसे सम्पन्न रुद्र हैं। आपको नमस्कार है। आप ज्ञान एवं क्रिया रूप हैं, आपसे ही वेदरूप विविध वाक्योंकी सृष्टि होती है। आपको नमस्कार है॥४३॥

दर्शनं नो दिदृक्षूणां देहि भागवतार्चितम्।
रूपं प्रियतमं स्वानां सर्वेन्द्रियगुणाञ्जनम्॥४४॥

स्निग्धप्रावृड्घनश्यामं सर्वसौन्दर्यसंग्रहम्।
चार्वायतचतुर्बाहु-सुजातरुचिराननम् ॥४५॥

पद्मकोशपलाशाक्षं सुन्दरभ्रु सुनासिकम्।
सुद्विजं सुकपोलास्यं समकर्णविभूषणम्॥४६॥

प्रीतिप्रहसितापाङ्गमलकैरुपशोभितम् ।
लसत्पङ्कजकिञ्जल्क-दुकूलं मृष्टकुण्डलम् ॥ ४७ ॥

स्फुरत्किरीटवलय-हारनूपुरमेखलम् ।
शङ्खचक्रगदापद्म-मालामण्युत्तमर्द्धिमत् ॥ ४८ ॥

सिंहस्कन्धत्विषो बिभ्रत् सौभगग्रीवकौस्तुभम् ।
श्रियानपायिन्याक्षिप्त-निकषाश्मोरसोल्लसत् ॥ ४९ ॥

पूररेचकसंविग्न-वलिवल्गुदलोदरम् ।
प्रतिसंक्रामयद्विश्वं नाभ्यावर्त्तगभीरया ॥ ५० ॥

श्यामश्रोण्यधिरोचिष्णु-दुकूलस्वर्णमेखलम् ।
समचार्वङ्घ्रिजङ्घोरु-निम्नजानुसुदर्शनम् ॥ ५१ ॥

पदा शरत्पद्मपलाशरोचिषा
नखद्युभिर्नोऽन्तरघं विधुन्वता ।
प्रदर्शय स्वीयमपास्तसाध्वसं
पदं गुरो मार्गगुरुस्तमोजुषाम् ॥ ५२ ॥

हे भगवन्! आपका जो रूप भक्तोंके द्वारा नित्य-निरन्तर अर्चित और समादृत होता है, जो रूप आपके निजजनोंको बहुत प्रिय है तथा जो सभी इन्द्रियोंके विषयोंके विषयी-स्वरूप हैं, हम आपके उसी रूपके दर्शन करनेके अभिलाषी हुए हैं। आप हमें अपने दर्शन प्रदान कीजिये। हे प्रभो! आपका रूप वर्षाकालीन अत्यधिक स्निग्ध मेघोंके समान श्यामवर्णका है तथा निखिल सौन्दर्यका सार-संग्रह स्वरूप है। आपके इस रूपमें मनोहर एवं विशाल चार भुजाएँ शोभायमान हैं। सभी अवयवों (अङ्गों) के अनुरूप आपका सुन्दर मुखकमल सुशोभित हो रहा है, आपके नेत्र कमलदलके समान, सुन्दर भौंहें और सुघड़ नासिका है। आपकी दन्त-पंक्ति सुचारु और दोनों कपोल बड़े मनमोहक हैं, कर्णयुगल परस्पर इस प्रकार समान हैं कि वे आपके सुन्दर मुखमण्डलके भूषणस्वरूप लगते हैं। आपका केशबन्धन कुञ्चित एवं कृष्णवर्णका है, आपकी चितवनसे मानो प्रेमके कारण निर्मल मुस्कान झलकती रहती है तथा आपकी कमरमें कमल-कुसुमके

केसरके समान पीताम्बर झिलमिला रहा है। आपके कानोंमें देदीप्यमान कुण्डल लटके हुए हैं। आप चमचमाते किरीट, वलय, हार, नूपुर एवं मेखलासे अतिशय रूपमें सुशोभित हो रहे हैं। करकमलोंमें शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म तथा आपके गलेमें मणियोंसे युक्त मालाएँ एवं वनमाला विचित्र रूपसे विलसित हो रही हैं। आपके सुचारु गलदेशमें विराजमान कौस्तुभमणिकी मनोहर कान्तिकी झिलमिलाहट चारों ओर इस प्रकार बिखर रही है, जिस प्रकार सिंहके कन्धेपर चारों ओर केश बिखरे रहते हैं। आपके श्यामल वक्षःस्थलपर अङ्कित श्रीवत्सकी शोभाका क्या वर्णन किया जाये, उसके द्वारा कसौटी[१] भी मात खा जाती है। त्रिवलीसे युक्त अश्वत्थ-पत्रके समान आपका सुडौल उदर निःश्वास-प्रश्वासके कारण बड़ा ही मनोहर जान पड़ता है। आपके भँवरके समान चक्करदार नाभिप्रदेशको देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि इस नाभिदेशसे यह सारा जगत् निकल रहा है और इसीमें पुनः प्रवेश कर रहा है। आपके श्यामल नितम्बमें जो मनोहर पट्ट-पीताम्बर वेष्टित हैं, उस पर स्वर्णमेखलाके विराजमान रहनेसे उसकी और भी अधिक शोभा बढ़ रही है। आपके दोनों चरण, दोनों पिंडलियाँ, दोनों जाँघे और दोनों घुटने परस्पर समान एवं अतीव सुन्दर हैं। दोनों चरणोंके नख शारदीय कमलकी भाँति दीप्तिशाली हैं, उनकी द्युतिसे जीवोंके हृदयका अज्ञानान्धकार नष्ट हो रहा है। आपके श्रीचरण प्रदीप्त दीप-स्वरूप हैं, उनके द्वारा प्रपन्न पुरुषोंका संसारभय दूर हो जाता है। हे प्रभो! आप अज्ञानमें पड़े हुए जीवोंके वास्तविक मार्ग-प्रदर्शक श्रीगुरुदेव हैं, आप हमें अपने ऐसे रूपके दर्शन कराइये॥ ४४-५२॥

एतद्रूपमनुध्येयमात्मशुद्धिमभीप्सताम् ।
यद्भक्तियोगोऽभयदः स्वधर्ममनुतिष्ठताम्॥ ५३॥

जो आत्म-शुद्धिके लिए प्रयास करते हैं, वे इस रूपका ध्यानमात्र ही किया करते हैं, पर प्रत्यक्ष दर्शन करनेमें समर्थ नहीं हो पाते।

---

[१] एक काला पत्थर जिसपर सोना घिसकर परखा जाता है।

जो स्वधर्म-भक्तिका पालन करते हैं, उन भक्तोंके लिए यह रूप उनके भक्तियोगके प्रभावसे अभयप्रद होता है॥ ५३॥

भवान् भक्तिमता लभ्यो दुर्लभः सर्वदेहिनाम्।
स्वाराज्यस्याप्यभिमत एकान्तेनात्मविद्गतिः॥ ५४॥

स्वर्गके राजत्वको भोग करनेवाले ब्रह्मा आदि देवताओंके द्वारा स्पृहणीय होनेपर भी जो लोग स्वर्ग आदिसे विरक्त होकर एकान्तिक भक्तिके द्वारा आपकी आराधना करते हैं, आप उन आत्मविद् भक्तोंके अधोक्षज-ज्ञान द्वारा जाने जाते हैं। आप समस्त देहधारियोंके लिए दुर्लभ होनेपर भी अपने भक्तोंके लिए सुलभ हैं॥ ५४॥

तं दुराराध्यमाराध्य सतामपि दुरापया।
एकान्तभक्त्या को वाञ्छेत् पादमूलं विना बहिः॥ ५५॥

आप दुराराध्य हैं। आपके प्रति ऐकान्तिकी भक्ति सत्पुरुषोंके लिए भी दुर्लभ है, अतः ऐसा कौन व्यक्ति होगा जो इस अनन्य भक्तिके द्वारा आपको प्रसन्न करके आपके चरणकमलोंकी सेवाके अतिरिक्त अन्य किसी स्वर्गादि बाह्य वस्तुओंकी कामना करेगा?॥ ५५॥

यत्र निर्विष्टमरणं कृतान्तो नाभिमन्यते।
विश्वं विध्वंसयन् वीर्यशौर्यविस्फूर्जितभ्रुवा॥ ५६॥

काल अपने अदम्य शौर्य-वीर्य द्वारा फड़कती भौंहोंके सङ्केत मात्रसे समस्त संसारका विध्वंस कर डालता है—यह सत्य है, किन्तु जो व्यक्ति आपके चरणोंमें शरणागत होता है, काल उन्हें अपने अधीन माननेका साहस नहीं कर सकता अर्थात् काल भी उनका ध्वंस नहीं कर सकता॥ ५६॥

क्षणार्द्धेनापि तुलये न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥ ५७॥

यदि आधे क्षणके लिए भी भगवत्-प्रेमी भक्तोंका सङ्ग प्राप्त हो जाये, तो उसकी तुलनामें मैं मर्त्यलोकके राजत्व आदि सुखोंकी बात तो दूर रहे, स्वर्ग और मोक्षसुखको भी तुच्छ समझता हूँ॥ ५७॥

अथानघाङ्घ्रेस्तव कीर्तितीर्थयो-
रन्तर्बहिःस्नानविधूतपाप्मनाम् ।
भूतेष्वनुक्रोशसुसत्त्वशीलिनां
स्यात् सङ्गमोऽनुग्रह एष नस्तव॥ ५८॥

आपके श्रीचरणकमल समस्त पापोंका निवारण करनेवाले हैं। आन्तरिक रूपसे आपके यशरूपी तीर्थमें और बाह्य रूपसे गङ्गा आदि तीर्थोंमें स्नान करके जिनके मानसिक एवं शारीरिक सभी पाप धुल गये हैं और जिनके राग-द्वेषसे रहित अन्तःकरणमें सरलतादि सद्‌गुणोंका निवास है, आप ऐसी कृपा करें जिससे कि हमें नित्य-निरन्तर उन भक्तोंका ही सङ्ग प्राप्त होता रहे। ऐसा होनेसे ही हमारे प्रति आपका यथेष्ठ अनुग्रह प्रकाशित होगा॥ ५८॥

न यस्य चित्तं बहिरर्थविभ्रमं
तमोगुहायाञ्च विशुद्धमाविशत्।
यद्भक्तियोगानुगृहीतमञ्जसा
मुनिर्विचष्टे ननु तत्र ते गतिम्॥ ५९॥

जब व्यक्तिका चित्त साधुओंकी कृपासे भागवतगणोंके प्रति भक्ति-योगके कारण उज्ज्वल और निर्मल हो जाता है एवं जब वह न तो बाह्य विषयोंके द्वारा आकृष्ट होता है और न ही अज्ञानरूपी गुफामें प्रविष्ट होकर लीन होता है, तभी वह अनायास ही मननशील होकर आपके तत्त्वकी उपलब्धि कर सकता है॥ ५९॥

यत्रेदं व्यज्यते विश्वं विश्वस्मिन्नवभाति यत्।
तत्त्वं ब्रह्म परं ज्योतिराकाशमिव विस्तृतम्॥ ६०॥

चिद्-अचिदात्मक यह समस्त जगत् इस विश्वके आधार-स्वरूप भगवान्‌में अवस्थित है। वे ही परमात्म-स्वरूपमें समग्र जगत्‌में व्याप्त हैं। ब्रह्मतत्त्व परम ज्योतिर्मय और आकाशके समान व्यापक है॥ ६०॥

यो माययेदं पुरुरूपयासृजद्-
बिभर्त्ति भूयः क्षपयत्यविक्रियः।

यद्भेदबुद्धिः सदिवात्मदुःस्थया
तमात्मतन्त्रं भगवन् प्रतीमहि॥ ६१ ॥

हे भगवन्! आप तो विकार-रहित हैं, परन्तु आपकी माया बहुरूप-धारिणी है। इसी मायाके द्वारा आप विश्वकी सृष्टि, स्थिति एवं संहार करते हैं। यह माया आपमें तथा आपके भक्तोंमें अपनी क्षमताका प्रकाश नहीं कर पाती, किन्तु अन्य व्यक्तियोंमें भेदबुद्धि उत्पन्न कराती है। हे भगवन्! आप स्वतन्त्र पुरुष हैं, आप ऐसी कृपा करें, जिससे हम आपको जान सकें॥ ६१ ॥

क्रियाकलापैरिदमेव योगिनः
श्रद्धान्विताः साधु यजन्ति सिद्धये।
भूतेन्द्रियान्तःकरणोपलक्षितं
वेदे च तन्त्रे च त एव कोविदाः॥ ६२ ॥

आप पञ्चभूतों, इन्द्रियों एवं अन्तःकरणके नियन्ता हैं। जो भक्ति-योगी पुरुष सिद्धिके लिए श्रद्धान्वित होकर भक्तिके अङ्गोंके द्वारा आपके नित्य चिदानन्द स्वरूपकी सेवा करते हैं, वे ही वेदों एवं सात्त्वत तन्त्रोंके सुपण्डित हैं। किन्तु जो आपके इस नित्य-स्वरूपकी अवज्ञा करके केवल ज्ञान प्राप्तिमें प्रवृत्त होते हैं, वे विज्ञ नहीं कहे जाते॥ ६२ ॥

त्वमेक आद्यः पुरुषः सुप्तशक्ति-
स्तया रजःसत्त्वतमो विभिद्यते।
महानहं खं मरुदग्निवार्द्धराः
सुरर्षयो भूतगणा इदं यतः॥ ६३ ॥

हे प्रभो! आप ही एकमात्र आद्य पुरुष हैं। मायाशक्ति आपके ऊपर अपना प्रभाव डालनेमें समर्थ नहीं होती, किन्तु कालक्रमसे आपकी इस मायाशक्तिके प्रभावसे सत्त्व, रज एवं तम—ये तीनों गुण परस्पर भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। इसके बाद उनसे ही महत्-तत्त्व, अहङ्कार, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, देवता, ऋषि, भूतगण एवं अन्यान्य समस्त प्राणियोंके देह और यह जगत् क्रम-पूर्वक उत्पन्न होता है॥ ६३ ॥

सृष्टं स्वशक्त्येदमनुप्रविष्ट-
श्चतुर्विधं पुरमात्मांशकेन।
अथो विदुस्तं पुरुषं सन्तमन्त-
र्भुङ्क्ते हृषीकैर्मधु सारघं यः॥ ६४॥

इस प्रकार आप अपनी मायाशक्तिके द्वारा चार प्रकारके (जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज) शरीरोंकी सृष्टि करके अपने एक अंशसे अन्तर्यामी रूपमें उनमें ही प्रविष्ट हो जाते हैं और उन्हींमें अवस्थित रहते हैं। 'पुर' अर्थात् शरीरोंमें शयन करनेके कारण पण्डितगण आपको 'पुरुष' कहते हैं, किन्तु आप जीव नहीं हैं। जिस प्रकार मधुमक्खी अपने द्वारा संग्रहीत मधुका आस्वादन करती है, उसी प्रकार अविद्यासे आवृत होकर जो अंश (विभिन्नांश) क्षुद्र-क्षुद्र विषय-सुखोंका भोग करते है, उन्हें ही जीव कहा जाता है॥ ६४॥

स एष लोकानतिचण्डवेगो
विकर्षसि त्वं खलु कालयानः।
भूतानि भूतैरनुमेयतत्त्वो
घनावलीर्वायुरिवाविषह्यः ॥ ६५॥

हे प्रभो! जो इस विश्वकी सृष्टि करके उसमें अन्तर्यामी स्वरूपसे प्रविष्ट होते हैं, आप वही पुरुष हैं। आपका स्वरूप अलक्ष्य एवं वेग अति प्रचण्ड है। जिस प्रकार सुदुःसह वायु अपने प्रचण्ड झोंकोंसे मेघोंको चारों दिशाओंमें छिन्न-भिन्न कर देती है, उसी प्रकार आप भी प्राणियोंके द्वारा प्राणियोंका संहार करवाते हैं॥ ६५॥

प्रमत्तमुच्चैरितिकृत्यचिन्तया
प्रवृद्धलोभं विषयेषु लालसम्।
त्वमप्रमत्तः सहसाभिपद्यसे
क्षुल्लेलिहानोऽहिरिवाखुमन्तकः ॥ ६६॥

अत्यन्त विषयासक्तिके कारण मनुष्योंका लोभ क्रमशः बढ़ता ही रहता है। कौन-सा कार्य किस प्रकारसे करना है, यह सोच-सोच कर ही वह अतिशय प्रमत्त हो उठते हैं। जिस प्रकार भूखसे पीड़ित सर्प

लपलपाती जिह्वासे चूहेको पकड़ लेता है, उसी प्रकार आप भी सजग रहकर काल रूपसे ऐसे प्रमत्त जीवोंपर अकस्मात् आक्रमण करते हैं॥ ६६॥

कस्त्वत्पदाब्जं विजहाति पण्डितो
यस्तेऽवमानव्ययमानकेतनः ।
विशङ्कयास्मद्गुरुरर्चति स्म यद्-
विनोपपत्तिं मनवश्चतुर्दश॥ ६७॥

आपके प्रति अनादर प्रकट करनेके कारण मनुष्य विनष्ट हो जाता है, इस नाशके भयसे लोकगुरु ब्रह्मा भी आपके चरणारविन्दोंकी अर्चना करते हैं। स्वायम्भुव आदि चौदह मनु भी दृढ़ विश्वासके साथ आपकी अर्चना करते हैं। अतः कौन पण्डित व्यक्ति आपके चरण-कमलोंका परित्याग करेगा?॥ ६७॥

अथ त्वमसि नो ब्रह्मन् परमात्मन् विपश्चिताम्।
विश्वं रुद्रभयध्वस्तमकुतश्चिद्भया गतिः॥ ६८॥

हे ब्रह्मन्! यह विश्व रुद्रके भयसे विध्वस्त हो रहा है। इस समय आप ही हमारी गति हैं। अतः हमें किसी वस्तुसे भयकी आशङ्का नहीं है॥ ६८॥

इदं जपत भद्रं वो विशुद्धा नृपनन्दनाः।
स्वधर्ममनुतिष्ठन्तो भगवत्यर्पिताशयाः॥ ६९॥

हे नृपकुमारो! तुमलोग विशुद्धचित्तसे भगवान्में चित्त समर्पण करके भगवत्-भक्तिका अनुष्ठान करते हुए इस स्तोत्रका जप करते रहना। इसीसे तुम्हारा मङ्गल होगा॥ ६९॥

तमेवात्मानमात्मस्थं सर्वभूतेष्ववस्थितम्।
पूजयध्वं गृणन्तश्च ध्यायन्तश्चासकृद्धरिम्॥ ७०॥

जो अन्तर्यामी रूपसे समस्त प्राणियोंके अन्तःकरणमें अधिष्ठित रहते हैं, उन श्रीहरिका निरन्तर गुणगान एवं स्मरण करते हुए उनकी आराधना करना॥ ७०॥

योगादेशमुपासाद्य धारयन्तो मुनिव्रताः।
समाहितधियः सर्व एतदभ्यसतादृताः॥ ७१॥

तुमलोगोंने मुझसे यह 'योगादेश' नामक स्तोत्र सुन लिया है। तुम इसे मनमें धारण करना और मुनिव्रतका आचरण करते हुए संयमपूर्वक बड़े आदरके साथ इसका अभ्यास करना॥ ७१॥

इदमाह पुरास्माकं भगवान् विश्वसृक्पतिः।
भृग्वादीनामात्मजानां सिसृक्षुः संसिसृक्षताम्॥ ७२॥

प्राचीन कालमें ऐश्वर्यवान ब्रह्माजीने सृष्टिका विस्तार करनेकी कामनासे मुझे एवं सृष्टि कार्यमें उन्मुख भृगु आदि अपने पुत्रोंको यह 'योगादेश स्तोत्र' सुनाया था॥ ७२॥

ते वयं नोदिताः सर्वे प्रजासर्गे प्रजेश्वराः।
अनेन ध्वस्ततमसः सिसृक्ष्मो विविधाः प्रजाः॥ ७३॥

जब ब्रह्माजीने समस्त प्रजापतियों और मुझे प्रजा सृष्टिके विषयमें आज्ञा दी, तब इस स्तोत्रके प्रभावसे अज्ञानको नष्ट करके हमने विविध प्रकारकी प्रजाओंकी सृष्टि की थी॥ ७३॥

अथेदं नित्यदा युक्तो जपन्नवहितः पुमान्।
अचिराच्छ्रेय आप्नोति वासुदेवपरायणः॥ ७४॥

अतः जो व्यक्ति एकाग्रचित्त द्वारा विषयोंसे विरक्त होकर एकमात्र श्रीवासुदेवका ही आश्रय करके नित्यकाल इस स्तोत्रका जप करेगा, वह शीघ्र ही मङ्गल प्राप्त करनेमें समर्थ होगा॥ ७४॥

श्रेयसामिह सर्वेषां ज्ञानं निःश्रेयसं परम्।
सुखं तरति दुष्पारं ज्ञाननौर्व्यसनार्णवम्॥ ७५॥

इस लोकमें जितने भी प्रकारके कल्याणके साधन हैं, उनमें शुद्ध भगवत्-ज्ञान ही परम मङ्गल-विधायक है। इसका कारण है कि जो इस ज्ञानरूपी नौकाका आश्रय लेकर उसपर सवार हैं, वे दुस्तर विपत्तिपूर्ण संसार-सागरको अनायास ही पार कर लेते हैं॥ ७५॥

य इमं श्रद्धया युक्तो मद्गीतं भगवत्स्तवम्।
अधीयानो दुराराध्यं हरिमाराधयत्यसौ॥ ७६॥

यद्यपि भगवान्‌की आराधना करना बहुत कठिन है, तथापि जो पुरुष मेरे द्वारा बतलाये हुए इस भगवत्-स्तोत्रका श्रद्धापूर्वक पाठ करता है, वह श्रीहरिको अनायास ही प्रसन्न कर लेता है॥ ७६॥

विन्दते पुरुषोऽमुष्माद् यद्यदिच्छत्यसत्वरन्।
मद्गीतगीतात् सुप्रीताच्छ्रेयसामेकवल्लभात्॥ ७७॥

जो स्थिरचित्त होकर मेरे द्वारा गाये गये इस स्तोत्रका जप करके समस्त मङ्गलके एकमात्र आश्रय-स्वरूप श्रीभगवान्‌को सुप्रसन्नकर उनसे जो भी प्रार्थना करता है, उस प्रार्थित वस्तुको वह तत्काल ही प्राप्त कर लेता है॥ ७७॥

यः इदं कल्य उत्थाय प्राञ्जलिः श्रद्धयान्वितः।
शृणुयाच्छ्रावयेन्मर्त्यो मुच्यते कर्मबन्धनैः॥ ७८॥

जो मनुष्य उषाकालमें उठकर श्रद्धापूर्वक हाथ जोड़कर इस स्तोत्रको सुनता है या दूसरे व्यक्तिको सुनाता है, वह समस्त कर्म-बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है॥ ७८॥

गीतं मयेदं नरदेवनन्दनाः
परस्य पुंसः परमात्मनः स्तवम्।
जपन्त एकान्तधियस्तपो मह-
च्चरध्वमन्ते तत आप्स्यथेप्सितम्॥ ७९॥

हे राजकुमारो! मैंने पुरुषोत्तम परमात्मा श्रीहरिका यह स्तव तुम्हें सुनाया है। तुमलोग एकाग्रचित्तसे इसका जप करते हुए महती तपस्याका आचरण करो, इससे तुम्हें सम्पूर्ण अभीष्ट फलकी प्राप्ति होगी॥ ७९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां चतुर्थस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे श्रीरुद्रगीतं नाम चतुर्विंशोऽध्यायः॥

पञ्चविंशोऽध्यायः

प्रचेताओंके द्वारा श्रीहरिकी आराधना और पुरञ्जनोपाख्यानका प्रारम्भ

श्रीमैत्रेय उवाच—

इति सन्दिश्य भगवान् बार्हिषदैरभिपूजितः।
पश्यतां राजपुत्राणां तत्रैवान्तर्दधे हरः॥ १॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! इस प्रकार जब भगवान् श्रीरुद्रदेवने प्राचीनबर्हिके पुत्र प्रचेताओंको भगवत्-स्तोत्रका उपदेश दिया, तो उन्होंने भी भक्तिपूर्वक श्रीरुद्रकी पूजा की। तत्पश्चात् रुद्रदेव उसी समय प्रचेताओंके समक्ष ही उस स्थानसे अन्तर्हित हो गये॥ १॥

रुद्रगीतं भगवतः स्तोत्रं सर्वे प्रचेतसः।
जपन्तस्ते तपस्तेपुर्वर्षाणामयुतं जले॥ २॥

इसके बाद सभी प्रचेता जलमें खड़े हो गये और भगवान् रुद्र द्वारा बतलाये गये इस स्तोत्रका जप करते हुए दस हजार वर्ष तक तपस्या करते रहे॥ २॥

प्राचीनबर्हिषं क्षत्तः कर्मस्वासक्तमानसम्।
नारदोऽध्यात्मतत्त्वज्ञः कृपालुः प्रत्यबोधयत्॥ ३॥

हे विदुर! इधर राजा प्राचीनबर्हिका चित्त कर्मकाण्डमें बहुत ही आसक्त हो गया था। आत्म-तत्त्वविद् देवर्षि नारदको उनपर दया आयी और उन्होंने राजाको ज्ञानका उपदेश दिया॥ ३॥

श्रेयस्त्वं कतमद्राजन् कर्मणात्मन ईहसे।
दुःखहानिः सुखावाप्तिः श्रेयस्तन्नेह चेष्यते॥ ४॥

श्रीनारदने जिज्ञासा की—हे राजन्! आप इन काम्यकर्मोंके द्वारा कौन-से कल्याणकी कामना कर रहे हैं? दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति

एवं सुखकी प्राप्ति—ये दोनों ही कल्याण कहे जाते हैं, किन्तु कर्ममार्गसे तो ये दोनों उद्देश्य ही पूर्ण नहीं हो सकते॥ ४॥

श्रीराजोवाच—

न जानामि महाभाग परं कर्मापविद्धधीः।
ब्रूहि मे विमलं ज्ञानं येन मुच्येय कर्मभिः॥ ५॥

राजा प्राचीनबर्हिने कहा—हे महाभाग! मेरी बुद्धि कर्मोंमें उलझ गयी है। मुझे अपने परम कल्याणका उपाय ही समझमें नहीं आ रहा है। आप मुझे इस प्रकारका निर्मल ज्ञान दीजिये, जिससे मुझे कर्मोंसे छुटकारा मिल सके॥ ५॥

गृहेषु कूटधर्मेषु पुत्रदारधनार्थधीः।
न परं विन्दते मूढो भ्राम्यन् संसारवर्त्मसु॥ ६॥

हे देव! जो व्यक्ति गृहस्थाश्रममें रहते हुए पुत्र, स्त्री, धन आदिको ही परमार्थ रूपमें मान लेता है, वह मूर्ख काम्य कर्मोंमें ही लगा हुआ संसारमें भटकता रहता है। उसे कभी भी परमार्थ-तत्त्वकी प्राप्ति नहीं हो सकती॥ ६॥

श्रीनारद उवाच—

भो भोः प्रजापते राजन् पशून् पश्य त्वयाध्वरे।
संज्ञपितान् जीवसङ्घान् निर्घृणेन सहस्रशः॥ ७॥

श्रीनारद ऋषिने कहा—हे प्रजापालक राजन्! आपने निर्दयतापूर्वक अपने यज्ञमें जिन सहस्र-सहस्र पशुओंकी बलि दी है, उन समस्त जीवोंको प्रत्यक्ष देखो॥ ७॥

एते त्वां सम्प्रतीक्षन्ते स्मरन्तो वैशसं तव।
सम्परेतमयःकूटैश्छिन्दन्त्युत्थितमन्यवः॥ ८॥

हे राजन्! आपने इन्हें जिस प्रकारसे पीड़ित किया है, उसका स्मरण करके ये बदला लेनेके लिए क्रोधसे जल रहे हैं और आपकी मृत्युकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। जब तुम मरकर परलोकमें जाओगे, उस समय ये अपने लोहेके समान तीक्ष्ण सींगोंसे शीघ्र ही आपको छिन्न-भिन्न कर डालेंगे॥ ८॥

अत्र ते कथयिष्येऽमुमितिहासं पुरातनम्।
पुरञ्जनस्य चरितं निबोध गदतो मम॥ ९॥

इस विषयमें मैं आपको प्राचीन पुरञ्जन-उपाख्यान सुनाता हूँ, जो आपका इस सङ्कटसे उद्धार कर सकता है। अतः आप इस पुरञ्जन-चरित्रको सावधान होकर सुनें॥ ९॥

आसीत् पुरञ्जनो नाम राजा राजन् बृहच्छ्रवाः।
तस्याविज्ञातनामासीत् सखाऽविज्ञातचेष्टितः॥ १०॥

हे राजन्! पुरञ्जन नामक एक महायशस्वी राजा था। उसका एक सखा था, जिसके नाम या चरितको कोई भी नहीं जानता था॥ १०॥

सोऽन्वेषमाणः शरणं बभ्राम पृथिवीं प्रभुः।
नानुरूपं यदाविन्ददभूत् स विमना इव॥ ११॥

यह पुरञ्जन अपने स्थूलदेहकी भोग-योग्य वस्तुओंको ढूँढ़ता हुआ पृथ्वीपर सर्वत्र घूमा, किन्तु कहीं भी अपनी इच्छाके अनुरूप वस्तुको प्राप्त न कर पानेके कारण बहुत ही उदास हो गया॥ ११॥

न साधु मेने ताः सर्वा भूतले यावतीः पुरः।
कामान् कामयमानोऽसौ तस्य तस्योपपत्तये॥ १२॥

उसने विषय-भोगोंकी लालसासे भोगाश्रय-स्वरूप भूमण्डलके समस्त नगरोंका सन्धान किया, किन्तु उनमेंसे कोई भी नगर उसे उपयुक्त नहीं लगा, जहाँ वह अपनी कामनाकी सिद्धि कर सके॥ १२॥

स एकदा हिमवतो दक्षिणेष्वथ सानुषु।
ददर्श नवभिर्द्वार्भिः पुरं लक्षितलक्षणाम्॥ १३॥

एकबार उसने हिमाचलके दक्षिणमें स्थित कर्मभूमि भारतवर्षमें भ्रमण करते हुए नौ द्वारोंसे युक्त एवं समस्त लक्षणोंसे सम्पन्न एक 'पुर' को देखा॥ १३॥

प्राकारोपवनाट्टाल-परिखैरक्षतोरणैः।
स्वर्णरौप्यायसैः शृङ्गैः संकुलां सर्वतो गृहैः॥ १४॥

वह पुर सब ओरसे प्राचीर, उपवन, अट्टालिका, शत्रुओंसे रक्षा हेतु किलेके चारों ओर बनी खाई, झरोखों और राजद्वारोंसे सुशोभित था तथा सोने, चाँदी एवं लोहेके शिखरोंसे युक्त भवनोंसे परिपूर्ण था॥ १४॥

नीलस्फटिकवैदूर्य-मुक्तामरकतारुणैः ।
क्लिप्तहर्म्यस्थलीं दीप्तां श्रिया भोगवतीमिव॥ १५॥

उस महलका भीतरी भाग नीलम, स्फटिक, वैदूर्य, मोती, पन्ना एवं लालोंसे[१] बना हुआ था, इसलिए वह पुर सौन्दर्यमें नागोंकी राजधानी भोगवतीके समान ही झलमला रहा था॥ १५॥

सभाचत्वर-रथ्याभिराक्रीडायतनापणैः ।
चैत्यध्वजपताकाभिर्युक्तां विद्रुमवेदिभिः॥ १६॥

उसमें जहाँ-तहाँ समाज-स्थान, चौराहे, राजपथ, द्यूतादि क्रीड़ास्थान, बाजार, विश्राम-स्थान, ध्वज-दण्डसे युक्त पताकाएँ और मूँगेसे बनी वेदियाँ सुशोभित हो रही थीं॥ १६॥

पुर्यास्तु बाह्योपवने दिव्यद्रुमलताकुले।
नदद्विहङ्गालिकुल-कोलाहलजलाशये ॥ १७॥

हिमनिर्झरविप्रुष्मत्-कुसुमाकरवायुना ।
चलत्-प्रवालविटप-नलिनीतटसम्पदि ॥ १८॥

नानारण्यमृगव्रातैरनाबाधे मुनिव्रतैः।
आहूतं मन्यते पान्थो यत्र कोकिलकूजितैः॥ १९॥

यदृच्छयागतां तत्र ददर्श प्रमदोत्तमाम्।
भृत्यैर्दशभिरायान्तीमेकैकशतनायकैः ॥ २०॥

उस पुरीके बाहरी भागमें विविध प्रकारके वृक्षों एवं लताओंसे पूर्ण उद्यान था और उस उद्यानके बीचमें अनेक जलाशय थे। उन जलाशयोंमें जलचर पक्षी नाना प्रकारके कोलाहल कर रहे थे, जिससे ऐसा प्रतीत हो रहा था कि मानो जलाशय ही कोलाहल कर रहा

[१] ruby stone

हो। सरोवरोंके तटोंपर जो वृक्ष सुशोभित थे, उनकी शाखाएँ एवं पल्लव विविध कुसुमोंकी गन्ध वहन करनेवाले और शीतल ओसकणोंसे मिली वासन्ती वायुके झरोखोंसे हिल रहे थे और इस प्रकार वे तटवर्त्ती भूमिकी शोभा बढ़ा रहे थे। वहाँके जङ्गली जानवर भी मुनियोंके समान अहिंसा धर्मका पालन करनेवाले थे, इसलिए उस वनमें प्रवेश करनेमें किसीको भी डर नहीं लगता था। वहाँ कोयलें वृक्षोंमें इस प्रकारसे कूजन करती थीं कि मानो पथिकोंको वहाँ विश्राम करनेके लिए बुला रही हों। इसी बीच पुरञ्जनने देखा कि एक परम सुन्दरी घूमते–घूमते संयोगसे उसी अद्भुत उपवनमें प्रवेश कर गयी। इस सुन्दरीके साथ दस सेवक भी थे, जिनमेंसे प्रत्येक ही सौ–सौ नायिकाओंका पति था॥ १७–२०॥

पञ्चशीर्ष्णाहिना गुप्तां प्रतीहारेण सर्वतः।
अन्वेषमाणामृषभमप्रौडां कामरूपिणीम्॥ २१॥

सुनासां सुदतीं बालां सुकपोलां वराननाम्।
समविन्यस्तकर्णाभ्यां बिभ्रतीं कुण्डलश्रियम्॥ २२॥

पिशङ्गनीवीं सुश्रोणीं श्यामां कनकमेखलाम्।
पद्भ्यां क्वणद्भ्यां चलतीं नूपुरैर्देवतामिव॥ २३॥

स्तनौ व्यञ्जितकैशोरौ समवृत्तौ निरन्तरौ।
वस्त्रान्तेन निगूहन्तीं व्रीडया गजगामिनीम्॥ २४॥

तामाह ललितं वीरः सव्रीडस्मितशोभनाम्।
स्निग्धेनापाङ्गपुङ्खेन स्पृष्टः प्रेमोद्भ्रमद्भ्रुवा॥ २५॥

वह प्रमदा षोडशी अर्थात् सोलह वर्षकी किशोरी थी तथा नित्य विविध शृङ्गार करनेवाली थी। इस समय वह कामिनी अपने लिए स्वामी ढूँढ़ रही थी। पाँच फनोंवाला एक सर्प द्वारपालके रूपमें उस सुन्दरीकी चारों दिशाओंसे रक्षा कर रहा था। उस सुन्दरीके रूप–लावण्यकी बात क्या कही जाये! उसकी नासिका सुघड़, दन्त–पंक्ति अति शोभनीय, कपोल मनोहर एवं मुख अत्यन्त सुन्दर था। एक समान दिखायी देनेवाले दोनों कान कुण्डलकी शोभासे सुशोभित थे। उसका वर्ण साँवला था तथा वह पीले रङ्गकी साड़ी पहने हुए थी।

उसका कटि-प्रदेश मनोहर था, जिसपर उसने सोनेकी करधनी पहनी हुई थी। वह अपने दोनों चरणोंके द्वारा नूपुरोंकी झंकार करते हुए साक्षात् देवाङ्गनाके समान इधर-उधर घूम रही थी। उसके एक समान दिखायी देनेवाले, सुन्दर और सटे हुए दोनों स्तन उस षोडशीके नवयौवनका प्रतिपादन कर रहे थे। वह गजगामिनी सुन्दरी लज्जाके कारण स्तनोंको बारम्बार वस्त्राञ्चलसे ढक रही थी। उस षोडशीकी प्रेमभरी भौंहे धनुषके समान इधर-उधर मटक रही थीं और उसकी तिरछी चितवन अति स्निग्ध एवं बाणके समान थी। वीर पुरञ्जन उस कामिनीके कटाक्ष-बाणोंसे घायल-सा होकर तनिक लज्जा और मुस्कानसे सुललित एवं मधुर वाणीमें इस प्रकार पूछने लगा॥ २१-२५॥

का त्वं कञ्जपलाशाक्षि कस्यासीह कुतः सति।
इमामुपपुरीं भीरु किं चिकीर्षसि शंस मे॥ २६॥

हे पद्मपलाशलोचने! तुम कौन हो? किसकी पुत्री हो? हे साध्वी! तुम किस स्थानसे यहाँ आयी हो? हे भीरु! तुम पुरीमें स्थित इस उपवनकी भूमिपर क्या करना चाहती हो?॥ २६॥

क एतेऽनुपथा ये त एकादश महाभटाः।
एता वा ललनाः सुभ्रु कोऽयं तेऽहिः पुरःसरः॥ २७॥

हे सुभ्रु! तुम्हारे अनुवर्ती इन समस्त व्यक्तियोंमेंसे ये जो ग्यारहवाँ महा-शूरवीर एक व्यक्ति हैं, वह कौन है? ये सब ललनाएँ एवं तुम्हारे आगे-आगे चलनेवाला यह सर्प कौन है?॥ २७॥

त्वं ह्रीर्भवान्यस्यथ वाग्रमा पतिं
विचिन्वती किं मुनिवद्रहो वने।
त्वदङ्घ्रिकामाप्तसमस्तकामं
क्व पद्मकोशः पतितः कराग्रात्॥ २८॥

हे सुन्दरि! तुम क्या साक्षात् लज्जादेवी हो अथवा भवानी हो, या फिर लक्ष्मी या सरस्वतीमेंसे कोई एक हो, जो मुनियोंके समान संयत-चित्तसे इस निर्जन वनप्रदेशमें घूमती हुई अपने पतिदेवको ढूँढ़ रही हो? अहो, तुम्हारे चरणोंकी सेवा करके तो तुम्हारे पतिकी

सम्पूर्ण कामनाएँ चरितार्थ हो जायेंगी। यदि तुम लक्ष्मी हो, तो तुम्हारे हाथोंसे लीलाकमल कहाँ गिर गया?॥ २८॥

नासां वरोर्वन्यतमा भुविस्पृक्
पुरीमिमां वीरवरेण साकम्।
अर्हस्यलङ्कर्त्तुमदभ्रकर्मणा
लोकं परं श्रीरिव यज्ञपुंसा॥ २९॥

अथवा हे वरोरु! तुम लज्जा आदिमेंसे कोई भी नहीं हो, क्योंकि तुम्हारे चरण भूमिका स्पर्श कर रहे हैं। मैं एक श्रेष्ठ वीर पुरुष हूँ, मेरा पराक्रम भी महान् है। अतः लक्ष्मी जिस प्रकार नारायणके साथ मिलकर वैकुण्ठको अलंकृत करती हैं, उसी प्रकार तुम भी मेरे साथ मिलकर इस श्रेष्ठ नगरीको अलंकृत कर सकती हो॥ २९॥

यदेष तेऽपाङ्गविखण्डितेन्द्रियं
सव्रीडभाव-स्मितविभ्रमद्भ्रुवा ।
त्वयोपसृष्टो भगवान् मनोभवः
प्रबाधते मानुगृहाण शोभने॥ ३०॥

हे शोभने! एक तो तुम्हारी अपाङ्ग-दृष्टि मेरे चित्तको खण्ड-विखण्ड कर रही है और उसपर तुम्हारी लज्जायुक्त प्रेमभरी मुस्कानसे उल्लसित भौंहोंसे प्रेरित शक्तिमान मदन मुझे और भी अधिक पीड़ित कर रहा है। अतः हे सुन्दरि! तुम मुझपर अनुग्रह प्रकाशित करो॥ ३०॥

त्वदाननं सुभ्रु सुतारलोचनं
व्यालम्बि-नीलालकवृन्दसंवृतम् ।
उन्नीय मे दर्शय वल्गुवाचकं
यद्व्रीडया नाभिमुखं शुचिस्मिते॥ ३१॥

हे चारुहासिनि! तुम्हारा यह मुखारविन्द सुन्दर भौंहों और सुचारु नेत्रोंसे विभूषित तथा कपोलों तक लटकती हुई काली-काली घुँघराली अलकावलियोंसे घिरा हुआ है। तुम जिस मुखसे इतने मधुर और मनोहर वचन बोल रही हो, वह तो मेरी ओर उठता ही नहीं,

अपितु लज्जाके कारण झुका जा रहा है। जरा इसे ऊपर उठाकर एक बार मेरी ओर दृष्टिपात तो करो॥ ३१॥

श्रीनारद उवाच—

इत्थं पुरञ्जनं नारी याचमानमधीरवत्।
अभ्यनन्दत तं वीरं हसन्ती वीर मोहिता॥ ३२॥

श्रीनारदने कहा—हे राजन् प्राचीनबर्हि! वह वीर पुरञ्जन अधीर-सा होकर उस कामिनीसे इस प्रकारसे याचना करने लगा। वह कामिनी भी उसके प्रति मोहित हो गयी और मुसकराती हुई पुरञ्जनका अनुमोदन करने लगी। वह बड़े आदरके साथ सम्भाषण करते हुए कहने लगी॥ ३२॥

न विदाम वयं सम्यक् कर्त्तारं पुरुषर्षभ।
आत्मनश्च परस्यापि गोत्रं नाम च यत्कृतम्॥ ३३॥

हे पुरुषश्रेष्ठ! न तो मुझे अपने और अन्योंके उत्पन्न करनेवालेके विषयमें ठीक-ठीक ज्ञान है, और न मैं अपने या किसी दूसरेके नाम या गोत्रको ही जानती हूँ॥ ३३॥

इहाद्य सन्तमात्मानं विदाम न ततः परम्।
येनेयं निर्मिता वीर पुरी शरणमात्मनः॥ ३४॥

इस समय तो यह पुरी ही मेरा आवास-स्थल है। यह पुरी किसके द्वारा बनायी गयी है, उन महात्माको अथवा इसमें वास करनेवाले किसी को भी मैं नहीं जानती हूँ॥ ३४॥

एते सखायः सख्यो मे नरा नार्यश्च मानद।
सुप्तायां मयि जागर्ति नागोऽयं पालयन् पुरीम्॥ ३५॥

हे मानद! ये समस्त नर और नारियाँ मेरे सखा और सखियाँ हैं और यह सर्प मेरी पुरीकी रक्षा करता है। मेरे सोनेपर भी यह सर्प जागता रहता है और इस पुरीकी रक्षा करता है॥ ३५॥

दिष्ट्यागतोऽसि भद्रं ते ग्राम्यान् कामानभीप्ससे।
उद्वहिष्यामि तांस्तेऽहं स्वबन्धुभिररिन्दम॥ ३६॥

हे शत्रुदमन! मेरा भाग्य है कि तुम इस स्थानपर आये हो। मैं देख रही हूँ कि तुम्हें भी मेरे समान इन्द्रिय-सुखकी अभिलाषा है। मैं अपने सखा एवं सखियोंकी सहायतासे तुम्हारे लिए भोगकी सभी वस्तुएँ प्रस्तुत करूँगी, अतः तुम्हारा मङ्गल हो॥ ३६॥

इमां त्वमधितिष्ठस्व पुरीं नवमुखीं विभो।
मयोपनीतान् गृह्णानः कामभोगान् शतं समाः॥ ३७॥

हे विभो! मेरे द्वारा प्रदत्त समस्त भोग्य वस्तुओंका इच्छानुसार भोग करते हुए सौ वर्षों तक इसी नौ द्वारोंसे सम्पन्न पुरीमें निवास कीजिये॥ ३७॥

कं नु त्वदन्यं रमये ह्यरतिज्ञमकोविदम्।
असम्परायाभिमुखमश्वस्तनविदं पशुम्॥ ३८॥

मैं तुम्हें छोड़कर और किस व्यक्तिके साथ रमण करूँगी? दूसरे लोग न तो रतिसुखके आस्वादनको जानते हैं, न विहित सुखोंका उपभोग करते हैं, न परलोककी चिन्ता करते हैं और न 'कल क्या होगा' इस विषयमें एकबार भी विचार करते हैं। अतएव वे सब पशुतुल्य हैं॥ ३८॥

धर्मो ह्यत्रार्थकामौ च प्रजानन्दोऽमृतं यशः।
लोका विशोका विरजा यान् न केवलिनो विदुः॥ ३९॥

गृहस्थाश्रममें धर्म, अर्थ, काम, रति-सुखसे उत्पन्न पुत्र-पौत्र आदिके लालन-पालनरूप आनन्द, अथवा भक्षणीय यज्ञावशिष्ट सुयश और यागादिसे प्राप्त होनेवाले शोकरहित एवं शुद्ध जितने भी पुण्यलोक वर्त्तमान हैं, संसार-त्यागी यतिजन तो इन सबका नाममात्र भी नहीं जानते॥ ३९॥

पितृदेवर्षिमर्त्यानां भूतानामात्मनश्च ह।
क्षेमं वदन्ति शरणं भवेऽस्मिन् यद्गृहाश्रमः॥ ४०॥

पण्डितोंका कहना है कि इस संसारमें गृहस्थाश्रम ही पितर, देवता, ऋषि, मानव एवं कीट, पशु, पक्षी आदि समस्त प्राणियोंके लिए देह-निर्वाहक आश्रय-स्थल है॥ ४०॥

का नाम वीर विख्यातं वदान्यं प्रियदर्शनम्।
न वृणीत प्रियं प्राप्तं मादृशी त्वादृशं पतिम्॥ ४१॥

हे वीरशिरोमणे! तुम विश्व प्रसिद्ध, उदार-चित्त एवं देखनेमें भी बहुत सुन्दर पुरुष हो। अतः तुम्हारे जैसे प्रिय पतिके रूपमें स्वयं ही उपस्थित होनेवाले व्यक्तिके अतिरिक्त मेरी जैसी गुणवती कामिनी और किसे पतिके रूपमें वरण करेगी?॥ ४१॥

कस्या मनस्ते भुवि भोगिभोगयोः
स्त्रिया न सज्जेद्भुजयोर्महाभुज।
योऽनाथवर्गाधिमलं घृणोद्धत-
स्मितावलोकेन चरत्यपोहितुम्॥ ४२॥

हे महाबाहो! पृथ्वीपर ऐसी कौन-सी रमणी होगी, जिसका मन तुम्हारी सुकोमल, साँप जैसी गोलाकार भुजाओंका आलिङ्गन करना नहीं चाहेगा? तुम कोई साधारण व्यक्ति नहीं हो। तुम अपने कारुण्यामृतसे परिपूर्ण और मधुर-मुसकानसे युक्त अवलोकनके द्वारा अनाथ जीवोंकी मनःपीड़ाको सब प्रकारसे दूर करनेके लिए विचरण कर रहे हो॥ ४२॥

श्रीनारद उवाच—

इति तौ दम्पती तत्र समुद्य समयं मिथः।
तां प्रविश्य पुरीं राजन् मुमुदाते शतं समाः॥ ४३॥

श्रीनारद ऋषिने कहा—हे महाराज प्राचीनबर्हि! इस प्रकार उन स्त्री और पुरुष दोनोंने परस्पर सङ्केतोंसे एक-दूसरेका समर्थन किया और नौ द्वारयुक्त पुरीमें प्रवेश कर गये तथा वहाँ रहते हुए सौ वर्ष आमोद-प्रमोदमें व्यतीत करने लगे॥ ४३॥

उपगीयमानो ललितं तत्र तत्र च गायकैः।
क्रीडन् परिवृतः स्त्रीभिर्ह्रदिनीमाविशच्छुचौ॥ ४४॥

गायक उस नगरीमें यहाँ-वहाँ मनोहर सङ्गीतसे पुरञ्जनका यशोगान करने लगे। जब ग्रीष्मकाल आता था, तब पुरञ्जन कामिनियोंसे घिरकर सरोवरमें प्रवेशकर जल-क्रीड़ा करता था॥ ४४॥

सप्तोपरि कृता द्वारः पुरस्तस्यास्तु द्वे अधः।
पृथग्विषयगत्यर्थं तस्यां यः कश्चनेश्वरः॥ ४५॥
पञ्च द्वारस्तु पौरस्त्या दक्षिणैका तथोत्तरा।
पश्चिमे द्वे अमूषां ते नामानि नृप वर्णये॥ ४६॥

उस नगरका जो कोई राजा होगा, वह वहाँसे बाहर निकलकर भिन्न-भिन्न विषयोंको उपभोग कर सके, इसी अभिप्रायसे ही उस नगरीके ऊपरी भागम सात और नीचेके भागमें दो—अर्थात् कुल मिलाकर नौ द्वार बनाये गये थे। हे राजन्! ऊपरी भागमें स्थित सात द्वारोंमेंसे पाँच पूर्वमें, एक दक्षिणमें और एक उत्तर दिशामें था। इसके अतिरिक्त पश्चिम दिशामें और भी दो द्वार थे, उनके नाम पृथक्-पृथक् बतला रहा हूँ॥ ४५-४६॥

खद्योताविर्मुखी च प्राग्द्वारावेकत्र निर्मिते।
विभ्राजितं जनपदं याति ताभ्यां द्युमत्सखः॥ ४७॥

पूर्व दिशाकी ओर खद्योता और आविर्मुखी नामक दो द्वार एक ही स्थानपर बने थे। इन द्वारोंकी सहायतासे पुरञ्जन अपने मित्र द्युमान्के साथ विभ्राजित नामक जनपदमें जाया करता था॥ ४७॥

नलिनी नालिनी च प्राग्द्वारावेकत्र निर्मिते।
अवधूतसखस्ताभ्यां विषयं याति सौरभम्॥ ४८॥

इसी पूर्व दिशामें और भी दो द्वार एक स्थानपर बनाये गये थे। इसमेंसे एकका नाम नलिनी और दूसरीका नाम नालिनी था। पुरञ्जन 'अवधूत' नामक सखाकी सहायतासे इन दोनों द्वारोंसे 'सौरभ' नामक प्रदेशमें जाता था॥ ४८॥

मुख्या नाम पुरस्ताद्द्वास्तयापणबहूदनौ।
विषयौ याति पुरराड्रसज्ञविपणान्वितः॥ ४९॥

पूर्व दिशाकी ओर जो एक प्रधान द्वार था, पुरीका राजा पुरञ्जन इस द्वारसे रसज्ञ और विपणके साथ बहूदन और आपण नामक प्रदेशमें जाया करता था॥ ४९॥

पितृहूर्नृपपुर्या द्वार्दक्षिणेन पुरञ्जनः।
राष्ट्रं दक्षिणपञ्चालं याति श्रुतधरान्वितः॥ ५०॥

हे राजन्! उस पुरीके दक्षिण दिशामें जो द्वार था, उसका नाम 'पितृहू' था। पुरञ्जन इस द्वारसे श्रुतिधरके साथ दक्षिण पाञ्चाल राज्यमें जाया करता था ॥ ५०॥

देवहूर्नाम पुर्या द्वारुत्तरेण पुरञ्जनः।
राष्ट्रमुत्तरपञ्चालं याति श्रुतधरान्वितः॥ ५१॥

उस पुरीकी उत्तर दिशाके द्वारका नाम 'देवहू' था। पुरञ्जन इस द्वारसे श्रुतिधरके साथ उत्तर पाञ्चाल राज्यमें जाया करता था॥ ५१॥

आसुरी नाम पश्चाद्द्वास्तया याति पुरञ्जनः।
ग्रामकं नाम विषयं दुर्मदेन समन्वितः॥ ५२॥

उस पुरीकी पश्चिम दिशामें जो 'शिश्न' नामक द्वार था, उसका नाम आसुरी था। पुरञ्जन इस द्वारसे दुर्मदकी सहायतासे ग्रामक नामक प्रदेशमें जाया करता था॥ ५२॥

निर्ऋतिर्नाम पश्चाद्द्वास्तया याति पुरञ्जनः।
वैशसं नाम विषयं लुब्धकेन समन्वितः॥ ५३॥

पश्चिम दिशामें और भी एक द्वार था, जिसका नाम 'निर्ऋति' था। पुरञ्जन लुब्धकके साथ इस द्वारसे 'वैशस' नामक प्रदेशकी ओर जाता था॥ ५३॥

अन्धावमीषां पौराणां निर्वाक्पेशस्कृतावुभौ।
अक्षण्वतामधिपतिस्ताभ्यां याति करोति च॥ ५४॥

हे महाराज! उस नगरके निवासियोंमें दो निवासी—निर्वाक् और पेशस्कृत अन्धे थे। उस पुरीके नेत्रयुक्त वासियोंका अधीश्वर पुरञ्जन—इन दोनोंकी सहायतासे इधर-उधर जाता था और नाना प्रकारके कर्म करता रहता था॥ ५४॥

स यर्ह्यन्तःपुरगतो विषूचीनं समन्वितः।
मोहं प्रसादं हर्षं वा याति जायात्मजोद्भवम्॥ ५५॥

यह पुरञ्जन जब अपने प्रधान सेवक विषूचीनके साथ अन्तःपुरमें प्रविष्ट होता, तब उसे स्त्री और पुत्रके कारण उत्पन्न मोह, मानसिक शान्ति अथवा हर्षका अनुभव होता था॥ ५५॥

एवं कर्मसु संसक्तः कामात्मा वञ्चितोऽबुधः।
महिषी यद्यदीहेत तत्तदेवान्ववर्त्तत॥ ५६॥

इस प्रकार वह अपनी पत्नीके लिए विविध कर्मोंमें आसक्त होकर वञ्चित और काम-परवश होनेके कारण मोहित-सा होकर उस मूढ़ रमणीके द्वारा ठगा गया। पत्नी जैसा कहती, वह भी वैसा ही करने लगता॥ ५६॥

क्वचित् पिबन्त्यां पिबति मदिरां मदविह्वलः।
अश्नन्त्यां क्वचिदश्नाति जक्षत्यां सह जक्षिति॥ ५७॥

पत्नी मद्य-पान करती तो पुरञ्जन भी मदिरा पीता और मदसे उन्मत्त होकर सबकुछ भूल जाता। पत्नी जब अन्नादि भोजन अथवा मिष्ठान्न भक्षण करती, तो पुरञ्जन भी पत्नीके साथ भोजन करने लगता॥ ५७॥

क्वचिद्गायति गायन्त्यां रुदन्त्यां रोदिति क्वचित्।
क्वचिद्धसन्त्यां हसति जल्पन्त्यामनुजल्पति॥ ५८॥

पत्नीके गान करनेपर गाता, पत्नीके रोनेपर रोता, उसके हँसनेपर स्वयं भी हँसता और उसके बोलनेपर पुरञ्जन भी उसका अनुकरण करते हुए बोलने लगता॥ ५८॥

क्वचिद्धावति धावन्त्यां तिष्ठन्त्यामनुतिष्ठति।
अनुशेते शयानायामन्वास्ते क्वचिदासतीम्॥ ५९॥

जब कभी पत्नी दौड़ती तो वह भी दौड़ने लगता और उसके रुक जानेपर स्वयं भी ठहर जाता। जब वह सो जाती, तब वह स्वयं भी सो जाता और उसके बैठनेपर वह भी उठकर बैठ जाता॥ ५९॥

क्वचिच्छृणोति शृण्वन्त्यां पश्यन्त्यामनुपश्यति।
क्वचिज्जिघ्रति जिघ्रन्त्यां स्पृशन्त्यां स्पृशति क्वचित्॥ ६०॥

जब पत्नी सुनती तो स्वयं भी सुनता, उसके देखनेपर स्वयं भी देखता, सूँघनेपर सूँघता और स्पर्श करनेपर वह भी स्पर्श करता॥ ६०॥

क्वचिच्च शोचतीं जायामनुशोचति दीनवत्।
अनुहृष्यति हृष्यन्त्यां मुदितामनुमोदते॥ ६१॥

पत्नीके शोक करनेपर पुरञ्जन भी अनाथकी भाँति शोक करता, पत्नीके आनन्दित होनेपर पुरञ्जन भी उसे देखकर आनन्दित होता और उसके प्रसन्न होनेपर वह स्वयं भी प्रसन्न होता॥ ६१॥

विप्रलब्धो महिष्यैवं सर्वप्रकृतिवञ्चितः।
नेच्छन्ननुकरोत्यज्ञः क्लैब्यात् क्रीडामृगो यथा॥ ६२॥

इस प्रकार अपनी सुन्दरी पत्नीके द्वारा प्रताड़ित होकर राजा पुरञ्जन अपने अनासक्त-स्वरूपसे वञ्चित हो गया। तब वह मूर्ख इच्छा न रहनेपर भी घरमें पाले हुए बन्दरके समान उस रानीके कार्योंका अनुकरण करने लगता॥ ६२॥

श्रीमन्मध्वाचार्यपाद और उनके अनुगामी श्रीमद् विजयध्वजतीर्थने इस अध्यायमें निम्नलिखित श्लोकको अतिरिक्त पाठके रूपमें स्वीकार किया है—

तेषां परिवृढो राजन् सर्वेषाम् बलिमुद्वहन्।
सस्त्रीकानां सखा तस्या बहुरूपेऽग्रणीः स्त्रियः॥

हे राजन्! उस रमणीका बहुरूपधारी एक प्रधान सखा था। वह अपनी पत्नियोंके साथ मिलकर पूजोपहारादि अर्पण करता था।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां चतुर्थस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे पुरञ्जनोपाख्यानं नाम पञ्चविंशोऽध्यायः॥

षड्विंशोऽध्यायः

राजा पुरञ्जनका शिकार खेलने वनमें जाना और कुपित रानीको सान्त्वना प्रदान करना

श्रीनारद उवाच—

स एकदा महेष्वासो रथं पञ्चाश्वमाशुगम्।
द्वीषं द्विचक्रमेकाक्षं त्रिवेणुं पञ्चबन्धुरम्॥ १॥

एकरश्म्येकदमनमेकनीडं द्विकूबरम्।
पञ्चप्रहरणं सप्त-वरूथं पञ्चविक्रमम्॥ २॥

हैमोपस्करमारुह्य स्वर्णवर्माक्षयेषुधिः।
एकादश-चमूनाथः पञ्चप्रस्थमगाद्वनम्॥ ३॥

देवर्षि श्रीनारदने कहा—हे राजन्! एकबार पुरञ्जन हाथमें विशाल धनुष लेकर, स्वर्णमय कवच धारण करके और पीठपर अक्षय तरकश बाँधकर एक रथमें सवार होकर 'पञ्चप्रस्थ' नामक वनमें गया। इन्द्रियाधिपति 'मन' नामक सेनापति भी पुरञ्जनके साथ गया। उस रथमें पाँच घोड़ोंके संलग्न होनेके कारण वह अति शीघ्र चलनेवाला था। इस रथके दो दण्ड, दो चक्र, एक धुरी, तीन ध्वज-दण्ड, पाँच डोरियाँ, एक रस्सीकी लगाम, एक सारथि, एकमात्र रथीके बैठनेका स्थान और दो जुए बन्धन-स्थान थे। उसके पाँच आयुध (हथियार) और सात आवरण थे। वह पाँच प्रकारकी चालोंसे चलता था॥ १-३॥

चचारो मृगयां तत्र दृप्त आत्तेषुकार्मुकः।
विहाय जायामतदर्हां मृगव्यसनलालसः॥ ४॥

पुरञ्जन उस वनमें उपस्थित हुआ तथा त्यागनेके अयोग्य अपनी प्रियाका परित्याग करके शिकारके व्यसनकी लालसासे धनुष-बाण चढ़ाकर बड़े गर्वके साथ आखेट करने लगा॥ ४॥

आसुरीं वृत्तिमाश्रित्य घोरात्मा निरनुग्रहः।
न्यहनन्निशितैर्बाणैर्वनेषु वनगोचरान्॥ ५॥

निर्दयी पुरञ्जनने आसुरी वृत्तिका अवलम्बन करके भयङ्कर स्वरूप धारण किया और तीक्ष्ण बाणोंसे वनमें जितने भी निर्दोष जङ्गली जानवर थे, उन सबका संहार कर डाला॥ ५॥

तीर्थेषु प्रतिदृष्टेषु राजा मेध्यान् पशून् वने।
यावदर्थमलं लुब्धो हन्यादिति नियम्यते॥ ६॥

यदि कोई माँसके प्रति अत्यन्त आसक्त होकर पशु-हत्या करना चाहता है, तो वह शास्त्र-विहित नियमोंके अनुसार ही पशुओंका वध कर सकता है। पुनः वैसा पशु-हनन भी सब समय नहीं किया जा सकता, किन्तु केवल किसी-किसी श्राद्ध आदिमें उचित देश, काल और परिस्थितिमें ही सम्भव है। श्राद्ध आदिमें पशु-वधकी विधि होनेपर भी शास्त्रोपदिष्ट किसी-किसी विशेष श्राद्धके लिए ही वह विधि है, नित्य श्रद्धादिके लिए नहीं। लोभी राजाके लिए शिकारकी विधि होनेपर भी वह विहित देश-काल अर्थात् वनमें ही शिकारकर सकता है एवं जितनी आवश्यकता है उतना ही शिकार ग्रहण करना शास्त्रोंके द्वारा नियमके रूपमें बतलाया गया है॥ ६॥

य एवं कर्म नियतं विद्वान् कुर्वीत मानवः।
कर्मणा तेन राजेन्द्र ज्ञानेन न स लिप्यते॥ ७॥

हे राजेन्द्र! इस प्रकार जो मानव पूर्वोक्त शास्त्र-विधानको जानकर परलोकके उद्देश्यसे शास्त्र विहित कर्मोंका अनुष्ठान करता है, वह कर्मोंसे प्राप्त ज्ञानके कारण उन कर्मोंके फलानुसार संसारमें नहीं बँधता॥ ७॥

अन्यथा कर्म कुर्वाणो मानारूढो निबध्यते।
गुणप्रवाहपतितो नष्टप्रज्ञो व्रजत्यथः॥ ८॥

परन्तु जो व्यक्ति शास्त्रोंकी मर्यादाका उल्लंघन करके अभिमानके वशीभूत होकर मनमाना कर्म करता है, वह अपने द्वारा किये गये

कर्मोंके द्वारा विनष्ट हो जाता है। गुण-प्रवाहरूप चक्रमें पड़कर उसका विवेक नष्ट हो जाता है और वह नरकमें गमन करता है॥ ८॥

तत्र निर्भिन्नगात्राणां चित्रवाजैः शिलीमुखैः।
विप्लवोऽभूद्दुःखितानां दुःसहः करुणात्मनाम्॥ ९॥

अतएव राजा पुरञ्जन विचित्र पङ्खोंसे युक्त बाणोंसे अनेक प्राणियोंपर प्रहार करने लगा, जिससे उनके अङ्ग छिन्न-भिन्न होने लगे। आर्त्त होकर मृगादि बड़े कष्टके साथ अपने प्राण त्यागने लगे। परदुःखकातर साधुपुरुषोंके हृदयोंमें इस प्रकार जीव-संहार देखकर करुणाका सञ्चार हो आया। वे बड़े दुःखी हुए और इसे सहन नहीं कर सके॥ ९॥

शशान् वराहान् महिषान् गवयान् रुरु-शल्यकान्।
मेध्यानन्यांश्च विविधान् विनिघ्नन् श्रममध्यगात्॥ १०॥

इस प्रकार उस वनमें खरगोश, वराह, भैंस, नीलगाय, कृष्णमृग, साही[१] तथा दूसरे अनेक यज्ञके उपयुक्त पशुओंका संहार करके पुरञ्जन बहुत थक गया॥ १०॥

ततः क्षुत्तृट्परिश्रान्तो निवृत्तो गृहमेयिवान्।
कृतस्नानोचिताहारः संविवेश गतक्लमः॥ ११॥

तब वह अत्यन्त थकान एवं भूख-प्याससे कातर होकर शिकारसे निवृत्त होकर राजभवनमें चला आया। वहाँ उसने यथायोग्य रीतिसे स्नान किया और समुचित आहारादि समापनकर कुछ देरतक विश्राम करके अपनी थकानको दूर किया॥ ११॥

आत्मानमर्हयाञ्चक्रे धूपालेपस्रगादिभिः।
साध्वलङ्कृतसर्वाङ्गो महिष्यामादधे मनः॥ १२॥

तदनन्तर राजा पुरञ्जनने गन्ध, चन्दन एवं माला आदिके द्वारा सुसज्जित होकर समस्त अङ्गोंमें उत्तम-उत्तम अलङ्कार पहने। अब उसे अपनी प्रियतमाका स्मरण हुआ॥ १२॥

---

[१] बिल्लीसे कुछ बड़ा जानवर, जिसका सारा शरीर तेज लम्बे काँटेसे भरा रहता है तथा जो जमीनमें माँद बनाकर रहता है।

दृप्तो हृष्टः सुतृप्तश्च कन्दर्पाकृष्टमानसः।
न व्यचष्ट वरारोहां गृहिणीं गृहमेधिनीम्॥ १३॥

भोजनादिसे तृप्त, धूप-चन्दनके लेपनसे सन्तुष्ट और अलङ्कारोंसे विभूषित होकर राजा पुरञ्जन गर्वित हो गया। अतः मदमें उन्मत्त राजा पुरञ्जन कामसे पीड़ित होकर अपने गृहकर्मोंका निर्वाह करनेवाली सुन्दरी पत्नीको ढूँढ़ने लगा, परन्तु वह उसे कहीं दिखायी न दी॥ १३॥

अन्तःपुरस्त्रियोऽपृच्छद्विमना इव वेदिषत्।
अपि वः कुशलं रामाः सेश्वरीणां यथा पुरा॥ १४॥

न तथैतर्हि रोचन्ते गृहेषु गृहसम्पदः।
यदि न स्याद् गृहे माता पत्नी वा पतिदेवता।
व्यङ्गे रथ इव प्राज्ञः को नामासीत दीनवत्॥ १५॥

हे प्राचीनबर्हि! प्रियाके दिखायी न देनेपर राजा पुरञ्जन उद्विग्न हो गया। वह व्याकुल होकर अन्तःपुरकी सखियोंसे पूछने लगा—हे सुन्दरियो! अपनी स्वामिनीके साथ तुम सब पहलेकी तरह ही कुशलसे तो हो न? वनमें जानेसे पहले गृह-सम्पत्ति मुझे जिस प्रकारसे रुचिकर प्रतीत होती थी, अब वह उतनी रुचिकर नहीं जान पड़ती। घरमें यदि माता अथवा पतिपरायणा पत्नी न रहे, तो कौन बुद्धिमान व्यक्ति वहाँ रहकर दुःख भोगनेकी इच्छा करता है? पहिये और घोड़ों आदिसे रहित रथमें कौन-सा व्यक्ति सुस्थिर होकर बैठता है?॥ १४-१५॥

क्व वर्तते सा ललना मज्जन्तं व्यसनार्णवे।
या मामुद्धरते प्रज्ञां दीपयन्ती पदे पदे॥ १६॥

जिसने मेरी बुद्धिको समुज्जवल किया है, मेरे दुःखरूपी सागरमें निमग्न होनेपर जो मेरा प्रति पद-पदपर उद्धार करती है, बताओ मेरी वह प्रिया इस समय कहाँ है?॥ १६॥

रामा ऊचुः—

नरनाथ न जानीमस्त्वत्प्रिया यद्व्यवस्यति।
भूतले निरवस्तारे शयानां पश्य शत्रुहन्॥ १७॥

स्त्रियोंने कहा—हे नृपति! आज आपकी प्रेयसीने क्या ठाना है, हम कुछ नहीं जानतीं। हे शत्रुदमनकारिन्! यह देखो, आपकी प्रिया बिना बिछौनेके ही पृथ्वीपर पड़ी हुई है॥ १७॥

श्रीनारद उवाच—

पुरञ्चनः स्वमहिषीं निरीक्ष्यावधूतां भुवि।
तत्सङ्गोन्मथितज्ञानो वैक्लव्यं परमं ययौ॥ १८॥

श्रीनारदने कहा—जब राजा पुरञ्जनने देहकी सुध-बुधको भूलकर पृथ्वीपर अस्त-व्यस्त पड़ी हुई अपनी प्रियाको देखा, तो वह उससे मिलनेके लिए आत्महारा[१] और अत्यन्त व्याकुल हो गया॥ १८॥

सान्त्वयन् श्लक्ष्णया वाचा हृदयेन विदूयता।
प्रेयस्याः स्नेहसंरम्भ-लिङ्गमात्मनि नाध्यगात्॥ १९॥

वह सन्तप्त हृदयसे मधुर-मनोज्ञ वचनोंके द्वारा अपनी प्रेयसीको समझानेकी चेष्टा करने लगा, किन्तु उसे अपनी प्रियामें अपने प्रति कुटिल-दृष्टि आदिरूप प्रणय-कोपका कोई चिह्न दिखायी न पड़ा॥ १९॥

अनुनिन्येऽथ शनकैर्वीरोऽनुनयकोविदः।
पस्पर्श पादयुगलमाह चोत्सङ्गलालिताम्॥ २०॥

इसके बाद अनुनय-विनयके द्वारा मनानेमें अत्यन्त निपुण पुरञ्जन अपनी प्रियाको मनाने लगा। उसने अपनी प्रियासे बड़ी नम्रतापूर्वक विनती की। यहाँ तक कि पहले तो उसने पत्नीके चरणोंका स्पर्श भी किया और उसके बाद पत्नीको गोदमें लेकर आदर करते-करते कहने लगा॥ २०॥

पुरञ्जन उवाच—

नूनं त्वकृतपुण्यास्ते भृत्या येष्वीश्वराः शुभे।
कृतागःस्वात्मसात् कृत्वा शिक्षादण्डं न युञ्जते॥ २१॥

पुरञ्जनने कहा—हे कल्याणि! यदि स्वामी अपने अपराधी सेवकको 'यह मेरे अधीन है'—इस प्रकार अपना समझकर शिक्षा

---

[१] आत्मविस्मृत।

देनेके लिए उसे उचित दण्ड नहीं देता है, तो ऐसा सेवक निश्चय ही दुर्भागा कहलाता है॥ २१॥

परमोऽनुग्रहो दण्डो भृत्येषु प्रभुणार्पितः।
बालो न वेद तत् तन्वि बन्धुकृत्यममर्षणः॥ २२॥

हे कृशाङ्गि! सेवकोंको दण्ड देना ही स्वामीका उनपर परम अनुग्रह होता है। जो सेवक इसके लिए क्रोध करते हैं, वे निश्चय ही मूर्ख हैं, क्योंकि वे अपने हितकारी स्वामीके उपकारको समझ नहीं पाते॥ २२॥

सा त्वं मुखं सुदति सुभ्र्वनुरागभार-
व्रीडाविलम्बविलसद्धसितावलोकम्।
नीलालकालिभिरुपस्कृतमुन्नसं नः
स्वानां प्रदर्शय मनस्विनि वल्गुवाक्यम्॥ २३॥

हे सुदर्शने! हे शुभशालिनि! हे मनस्विनी! तुम हमारी अधीश्वरी हो! तुम हमें अपना समझकर अपना मुखकमल तो दिखलाओ। तुम्हारे इस मनोहर मुखपर अनुरागके कारण जो लज्जा उत्पन्न हुई है, उसके कारण मन्द-मन्द मुस्कराकर तुम जो कटाक्ष निक्षेप कर रही हो, उसके द्वारा तुम्हारा मुखकमल कितना शोभायमान हो रहा है। कृष्णवर्णके केशपाशरूप मधुकर तुम्हारे मुखकमलको घेरे हुए हैं। उन्नत सुघड़ नासिका और मनोज्ञ वचनके कारण तुम्हारा मुखारविन्द कैसा मनमोहक जान पड़ता है॥ २३॥

तस्मिन् दधे दममहं तव वीरपत्नि
योऽन्यत्र भूसुरकुलात् कृतकिल्बिषस्तम्।
पश्ये न वीतभयमुन्मुदितं त्रिलोक्या-
मन्यत्र वै मुररिपोरितरत्र दासात्॥ २४॥

हे सुन्दरि! मैं वीर हूँ और तुम मेरी भार्या होनेसे वीरपत्नी हो। अतएव यदि कोई तुमसे शत्रुता करे, तो मैं उसे दण्ड प्रदान करनेमें समर्थ हूँ। यदि किसीने तुम्हारे प्रति अपराध किया हो, तो मुझे बतलाओ। यदि वह ब्राह्मण अथवा मुररिपु श्रीकृष्णका दास अर्थात्

वैष्णव न हो, तो उसे मैं निश्चित ही दण्ड दूँगा। तुम्हारे प्रति अपराध करके प्रसन्नचित्त होकर कोई जीवित रह पाये, ऐसा निर्भीक व्यक्ति तो मैं तीनों लोकोंमें अथवा उसके बाहर कहीं भी नहीं देखता॥ २४॥

वक्त्रं न ते वितिलकं मलिनं विहर्षं
संरम्भभीममविमृष्टमपेतरागम् ।
पश्ये स्तनावपि शुचोपहतौ सुजातौ
बिम्बाधरं विगतकुङ्कुमपङ्करागम्॥ २५॥

हे सुन्दरि! इससे पहले तो मैंने कभी तुम्हारा तिलकहीन, उदास, मुरझाया हुआ, क्रोधके कारण भयावह एवं स्नेहरहित मुख नहीं देखा। मैं आज देख रहा हूँ कि शोकके कारण आँसुओंसे तुम्हारे कुच-युगल भीग रहे हैं, किन्तु पहले तो मैंने ऐसा कभी नहीं देखा। मैंने पहले कभी भी तुम्हारे बिम्बफल सदृश अधरोंको स्निग्ध केसरकी लाली अथवा ताम्बूलकी लालीसे रहित नहीं देखा॥ २५॥

तन्मे प्रसीद सुहृदः कृतकिल्बिषस्य
स्वैरं गतस्य मृगयां व्यसनातुरस्य।
का देवरं वशगतं कुसुमास्त्रवेग-
विस्रस्तपौंस्नमुशती न भजेत कृत्ये॥ २६॥

यद्यपि तुम्हारी अनुमति लिये बिना ही मैं व्यसनवश शिकार खेलनेके लिए वनमें चला गया, जिससे तुम्हारे प्रति अवश्य ही मेरा अपराध हुआ है, तथापि सुहृद् जानकर मेरा अपराध क्षमाकर मेरे प्रति प्रसन्न होओ। जो कान्त प्रियतमाको उसके द्वारा अभिलषित रति प्रदान करनेमें उन्मुख हो, जो कामदेवके विषम-बाणोंके प्रहारसे अधीर होकर सर्वदा कान्ताके अधीन हो, ऐसे अपने प्रिय कान्तको कमनीय कौन-सी कामिनी काम-भोग योग्य देश-कालको प्राप्त करके स्वीकार नहीं करेगी॥ २६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां चतुर्थस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे पुरञ्जनोपाख्याने षड्विंशोऽध्यायः॥

सप्तविंशोऽध्यायः

स्त्री, पुत्र आदिमें आसक्त पुरञ्जनकी आत्म-विस्मृति, पुरञ्जनपर चण्डवेगका आक्रमण और काल कन्याका चरित्र

श्रीनारद उवाच—

इत्थं पुरञ्जनं सध्र्यग्वशमानीय विभ्रमैः।
पुरञ्जनी महाराज रेमे रमयती पतिम्॥ १॥

श्रीनारदने कहा—हे महाराज! पुरञ्जनीने इस प्रकार हाव-भाव-विलासके द्वारा पुरञ्जनको भलीभाँति अपने वशमें कर लिया और उसे आनन्दित करती हुई उसके साथ विहार करने लगी॥ १॥

स राजा महिषीं राजन् सुस्नातां रुचिराम्बराम्।
कृतस्वस्त्ययनां तृप्तामभ्यनन्ददुपागताम्॥ २॥

हे राजन्! पुरञ्जनीने सुचारु रूपसे स्नान किया, मनोहर वस्त्र पहने और कुमकुम, सिन्दूर आदि द्वारा माङ्गलिक शृङ्गार किया। इसके बाद भोजन-पानादिसे तृप्त होकर पुरञ्जनके समीप आयी और पुरञ्जनने भी अपने समीप आयी उस मनोहर मुखवाली अपनी प्रिय राजमहिषीको भोगके लिए ग्रहण किया॥ २॥

तयोपगूढः परिरब्धकन्धरो
रहोऽनुमन्त्रैरपकृष्टचेतनः।
न कालरंहो बुबुधे दुरत्ययं
दिवा निशेति प्रमदापरिग्रहः॥ ३॥

प्रेयसीने पुरञ्जनका आलिङ्गन किया, पुरञ्जनने भी दोनों भुजाओंके द्वारा उस कामिनीको गले लगाया। इस प्रकार वह रमणी एकान्तमें पुरञ्जनके मनके अनुकूल गुह्य बातें करने लगी, जिससे पुरञ्जनका

विवेक नष्ट हो गया। अतः उस प्रमदाके साथ क्रीड़ामें उन्मत्त होनेके कारण उसे दिन-रातका ज्ञान ही न रहा। इधर क्षण-क्षण उसकी आयु क्षीण होती गयी, परन्तु पुरञ्जनको कालकी दुस्तर गतिका कुछ पता नहीं चला॥ ३॥

शयान उन्नद्धमदो महामना
महार्हतल्पे महिषीभूजोपधिः।
तामेव वीरो मनुते परं यत-
स्तमोऽभिभूतो न निजं परञ्च यत्॥ ४॥

पुरञ्जन भोगोंमें उत्तरोत्तर रूपसे बढ़नेवाले मदसे उन्मत्त हो गया तथा भोगके लिए अनेक प्रकारके सङ्कल्प-विकल्प करने लगा। वीर पुरञ्जन राजमहिषीकी भुजलताको तकिया बनाकर महामूल्यवान शय्यापर पड़ा हुआ रतिक्रीड़ामें मत्त रहता था। वह पत्नीके सङ्गको ही जीवनका परम पुरुषार्थ मानने लगा, परन्तु अपने स्वरूप एवं परमेश्वरके स्वरूप अर्थात् परमेश्वरके साथ अपने सम्बन्ध ज्ञानको परम पुरुषार्थके रूपमें विचार नहीं कर पाया॥ ४॥

तयैवं रममाणस्य कामकश्मलचेतसः।
क्षणार्द्धमिव राजेन्द्र व्यतिक्रान्तं नवं वयः॥ ५॥

हे राजेन्द्र! कामसे मोहित चित्तवाले पुरञ्जनका नवयौवन उस कामिनीके साथ कामक्रीड़ामें आधे क्षणके समान बीत गया और उसे इसका बोध भी न हुआ॥ ५॥

तस्यामजनयत् पुत्रान् पुरञ्जन्यां पुरञ्जनः।
शतान्येकादश विराडायुषोऽर्द्धमथात्यगात्॥ ६॥

सम्राट् पुरञ्जनने अपनी पत्नी पुरञ्जनीके गर्भसे ग्यारह सौ पुत्र उत्पन्न किये, इसीमें उसकी परमायु (सौ वर्ष) का आधा भाग व्यतीत हो गया॥ ६॥

दुहितृर्दशोत्तरशतं पितृमातृयशस्करीः।
शीलौदार्यगुणोपेताः पौरञ्जन्यः प्रजापते॥ ७॥

हे प्रजापते! उस पुरञ्जनने पुरञ्जनीके गर्भसे एक सौ दस कन्याएँ भी उत्पन्न कीं। वे सभी कन्याएँ पिता-माताके यशको बढ़ानेवाली, शील एवं औदार्यादि गुणोंसे विभूषित थीं। वे सभी पौरञ्जनी नामसे विख्यात हुईं॥ ७॥

स पञ्चालपतिः पुत्रान् पितृवंशविवर्द्धनान्।
दारैः संयोजयामास दुहितृः सदृशैर्वरैः॥ ८॥

पाञ्चालराज पुरञ्जनने अपने वंशके गौरव स्वरूप पुत्रोंका उपयुक्त पत्नियोंके साथ विवाह करा दिया और कन्याओंका भी उनके ही समान वरोंके साथ विवाह करा दिया॥ ८॥

पुत्राणाञ्चाभवन् पुत्रा एकैकस्य शतं शतम्।
यैर्वै पौरञ्जनो वंशः पञ्चालेषु समेधितः॥ ९॥

पुरञ्जनके सभी पुत्रोंमेंसे प्रत्येकके सौ-सौ पुत्र उत्पन्न हुए। इन सभी पुत्र एवं पौत्रादिसे पुरञ्जनका वंश बढ़ते हुए समस्त पाञ्चाल राज्यमें फैल गया॥ ९॥

तेषु तद्रिक्थहारेषु गृहकोषानुजीविषु।
निरूढेन ममत्वेन विषयेष्वन्वबध्यत॥ १०॥

पुरञ्जन इन पुत्र, गृह, भण्डार, सेवक आदिमें प्रगाढ़ ममता रखते हुए विषयोंमें अत्यन्त आसक्त हो गया॥ १०॥

ईजे च क्रतुभिर्घोरैर्दीक्षितः पशुमारकैः।
देवान् पितृन् भूतपतीन्नानाकामो यथा भवान्॥ ११॥

हे प्राचीनबर्हि! वह भी तुम्हारे समान ही बहुत प्रकारके भोगोंकी कामनासे यज्ञ-साधनमें दीक्षित होकर पशुहिंसा-प्रधान भयानक यज्ञोंके द्वारा देवता, पितर, भूतपति और भैरव आदिकी आराधना करने लगा॥ ११॥

युक्तेष्वेवं प्रमत्तस्य कुटुम्बासक्तचेतसः।
आससाद स वै कालो योऽप्रियः प्रिययोषिताम्॥ १२॥

वह कुटुम्ब-पालनमें आसक्त होकर आत्मकल्याण-साधक भगवान्‌की आराधना आदि कार्योंमें असावधान रहा। इतनेमें ही स्त्रीलम्पटोंको बड़ा ही अप्रिय लगनेवाला वृद्धावस्थाका समय उसके सम्मुख उपस्थित हुआ॥ १२॥

चण्डवेग इति ख्यातो गन्धर्वाधिपतिर्नृप।
गन्धर्वास्तस्य बलिनः षष्ट्युत्तरशतत्रयम्॥ १३॥
गन्धर्व्यस्तादृशीरस्य मैथुन्यश्च सितासिताः।
परिवृत्त्या विलुम्पन्ति सर्वकामविनिर्मिताम्॥ १४॥

हे महाराज! चण्डवेग नामक एक गन्धर्व राजा था। उसके अधीन तीन सौ साठ महाबलवान गन्धर्व रहते थे तथा उतनी ही कृष्ण एवं शुक्ल वर्णकी गन्धर्वियाँ भी थीं। ये सब गन्धर्व जोड़े-जोड़े होकर रहते थे और बारी-बारीसे परिभ्रमण करके भोग-विलासकी सामग्रियोंसे भरी एवं कामसे निर्मित पुरियोंको लूटते रहते थे॥ १३-१४॥

ते चण्डवेगानुचराः पुरञ्जनपुरं यदा।
हर्तुमारेभिरे तत्र प्रत्यषेधत् प्रजागरः॥ १५॥

गन्धर्वराज चण्डवेगके अनुचर इन सब गन्धर्वोंने जब पुरञ्जनकी पुरीको लूटना आरम्भ किया, तब वहाँपर स्थित पुरका रक्षक पाँच फनोंवाले नाग उन्हें रोकने लगा॥ १५॥

स सप्तभिः शतैरेको विंशत्या च शतं समाः।
पुरञ्जनपुराध्यक्षो गन्धर्वैर्युयुधे बली॥ १६॥

हे राजन्! पुरञ्जनके पुरकी रक्षा करनेवाला महाबली सर्प अकेले ही सौ वर्षों तक सात सौ बीस गन्धर्वों एवं गन्धर्वियोंसे युद्ध करता रहा॥ १६॥

क्षीयमाणे स्वसम्बन्ध एकस्मिन् बहुभिर्युधि।
चिन्तां परां जगामार्तः सराष्ट्रपुरबान्धवः॥ १७॥

बहुत-से वीरोंसे युक्त सेनाके साथ बहुत समय तक अकेले ही लड़ते-लड़ते पुर रक्षक सर्पकी शक्ति क्षीण हो गयी। यह देखकर

पुरञ्जन और उसके बन्धु-बान्धव, राष्ट्रवासी नागरिक सभी दुःखके कारण अतिशय चिन्तित हो गये॥ १७॥

स एव पुर्यां मधुभुक् पञ्चालेषु स्वपार्षदैः।
उपनीतं बलिं गृह्णन् स्त्रीजितो नाविदद्भयम्॥ १८॥

राजा पुरञ्जन इससे पूर्व अपनी पुरी और पाञ्चाल प्रदेशमें मधुभुक् (मधुर विषय-सुखोंके भोक्ता) के समान वास करता रहा। उसके अनुचर राज्यके विभिन्न स्थानोंसे उसके लिए भोग-सामग्री लाकर प्रस्तुत करते थे। स्त्रीके वशीभूत होकर वह इन सबका भोग करनेमें मग्न रहा, इसलिए बादमें आनेवाले अवश्यम्भावी भयका उसे कुछ पता ही न चला॥ १८॥

कालस्य दुहिता काचित् त्रिलोकीं वरमिच्छतीम्।
पर्यटन्तीं न बर्हिष्मन् प्रत्यनन्दत कश्चन॥ १९॥

हे प्राचीनबर्हि! कालकी एक बेटी (जरा) इन्हीं दिनों अपने योग्य पतिको ढूँढ़ती हुई तीनों लोकोंमें भ्रमण कर रही थी, किन्तु किसीने भी उसे अपनी पत्नीके रूपमें अङ्गीकार करनेकी अभिलाषा नहीं की॥ १९॥

दौर्भाग्येनात्मनो लोके विश्रुता दुर्भगेति सा।
या तुष्टा राजऋषये वृतादात् पूरवे वरम्॥ २०॥

अपने दुर्भाग्यके कारण यह कन्या जगत्में 'दुर्भगा' के नामसे प्रसिद्ध हुई। एकबार राजर्षि पुरुने अपने पिता ययातिको अपना यौवन प्रदान करनेके लिए इस दुर्भगाका वरण कर लिया था, जिससे सन्तुष्ट होकर इस रमणीने उन्हें राज्य-प्राप्तिका वर दिया था॥ २०॥

कदाचिदटमाना सा ब्रह्मलोकान्महीं गतम्।
वव्रे बृहद्व्रतं मान्तु जानती काममोहिता॥ २१॥

वह कालकन्या एक बार कामासक्त होकर वरको ढूँढ़ते हुए त्रिलोकीमें भ्रमण कर रही थी, उसी समय मैं ब्रह्मलोकसे भूतलपर आ रहा था। यद्यपि वह जानती थी कि मैं नैष्ठिक ब्रह्मचारी हूँ, तो भी वह मुझे अपना पति होनेके लिए प्रार्थना करने लगी॥ २१॥

मयि संरभ्य विपुलमदाच्छापं सुदुःसहम्।
स्थातुमर्हसि नैकत्र मद्याच्ञाविमुखो मुने॥ २२॥

किन्तु मैंने जब उसकी प्रार्थनाको स्वीकार नहीं किया, तो वह क्रोधित हो गयी और उसने मुझे दुःसह शाप प्रदान करते हुए कहा—हे मुने! आपने मेरी प्रार्थनाको स्वीकार नहीं किया है, अतः आप कभी भी एक स्थानपर स्थिर नहीं रह सकोगे॥ २२॥

ततो विहतसङ्कल्पा कन्यका यवनेश्वरम्।
मयोपदिष्टमासाद्य वव्रे नाम्ना भयं पतिम्॥ २३॥

तदुपरान्त सङ्कल्प पूर्ण न होनेके कारण वह कालकन्या मेरे उपदेशसे 'भय' नामक यवनेश्वर (मृत्युको ही ईश्वर माननेवाले यवन अर्थात् आधि-व्याधि) के पास गयी और उससे अपना पति बननेकी प्रार्थना करते हुए कहने लगी॥ २३॥

ऋषभं यवनानां त्वां वृणे वीरेप्सितं पतिम्।
सङ्कल्पस्त्वयि भूतानां कृतः किल न रिष्यति॥ २४॥

हे वीर! आप यवनोंमें श्रेष्ठ हैं। मैं आपको अभिलषित पतिके रूपमें वरण करती हूँ, क्योंकि आपपर विश्वास करके प्राणी जो सङ्कल्प करते हैं, वह कभी भी विफल नहीं होता॥ २४॥

द्वाविमावनुशोचन्ति बालावसदवग्रहौ।
यल्लोकशास्त्रोपनतं न राति न तदिच्छति॥ २५॥

लोक अथवा शास्त्रोंकी दृष्टिसे जो वस्तु देने अथवा ग्रहण करनेके लिए सम्मत है, किसीके प्रार्थना करनेपर जो उस वस्तुका दान नहीं करता अथवा किसीके दिये जानेपर जो उसे स्वीकार नहीं करता, वे दोनों ही दुराग्रही और अज्ञ हैं। सज्जन इन दोनोंकी मूर्खतापर शोक करते हैं॥ २५॥

अथो भजस्व मां भद्र भजन्तीं मे दयां कुरु।
एतावान् पौरुषो धर्मो यदार्ताननुकम्पते॥ २६॥

अतएव हे भद्र! इस समय मैं आपकी अभिलाषा कर रही हूँ, आप भी मुझे स्वीकार कीजिये, मेरे ऊपर दया कीजिये। आर्त जनोंके प्रति करुणा प्रकट करना ही पुरुषोंका धर्माचरण है॥ २६॥

कालकन्योदितवचो निशम्य यवनेश्वरः।
चिकीर्षुर्देवगुह्यं स सस्मितं तामभाषत॥ २७॥

कालकन्याकी बातोंको सुनकर यवनेश्वरने विधाताके किसी रहस्यमय कार्यको करनेके लिए किञ्चित् मुस्कराते हुए उसे सम्बोधित करते हुए कहा॥ २७॥

मया निरूपितस्तुभ्यं पतिरात्मसमाधिना।
नाभिनन्दति लोकोऽयं त्वामभद्रामसम्मताम्॥ २८॥

तुम्हारा जो पति होगा, उसे मैंने आत्म-समाधिमें देखकर पहले ही निश्चित कर रखा है। तुम अमङ्गलरूपा और सबका अनिष्ट करनेवाली हो। तुम किसीको भी अच्छी नहीं लगती हो, इसीलिए तुम्हें कोई भी स्वीकार नहीं करता॥ २८॥

त्वमव्यक्तगतिर्भुङ्क्ष्व लोकं कर्मविनिर्मितम्।
या हि मे पृतना युक्ता प्रजानाशं प्रणेष्यसि॥ २९॥

अतः तुम अलक्षित होकर कर्मसे निर्मित लोकका बलपूर्वक भोग करो। तुम आधि-व्याधिरूपी मेरी सेनाको लेकर जाओ। इनकी सहायतासे तुम निश्चय ही प्रजाका नाश करनेमें समर्थ हो सकोगी॥ २९॥

प्रज्वारोऽयं मम भ्राता त्वञ्च मे भगिनी भव।
चराम्युभाभ्यां लोकेऽस्मिन्नव्यक्तो भीमसैनिकः॥ ३०॥

यह प्रज्वार मेरा भाई है और तुम मेरी बहन बन जाओ। तुम दोनोंको सैनिक बनाकर मैं सेनाके साथ लोगोंमें भय उत्पन्न करते हुए अलक्षित रूपसे विचरण करूँगा॥ ३०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां चतुर्थस्कन्धे पुरञ्जनोपाख्याने सप्तविंशोऽध्यायः॥

अष्टाविंशोऽध्यायः

स्त्रीकी चिन्ता करनेसे पुरञ्जनको स्त्री-योनिकी प्राप्ति और अविज्ञातके उपदेशसे उसका मुक्त होना

श्रीनारद उवाच—

सैनिका भयनाम्नो ये बर्हिष्मन् दिष्टकारिणः।
प्रज्वारकालकन्याभ्यां विचेरुरवनीमिमाम्॥ १॥

देवर्षि श्रीनारदने कहा—हे प्राचीनबर्हि! इसके बाद मृत्यु नामक यवनराजकी आज्ञाका पालन करनेवाले योद्धागण लोक-विनाशके लिए प्रज्वार और कालकन्याके साथ इस पृथ्वीपर सर्वत्र विचरण करने लगे॥ १॥

त एकदा तु रभसा पुरञ्जनपुरीं नृप।
रुरुधुर्भौमभोगाढ्यां जरत्पन्नगपालिताम्॥ २॥

हे राजन्! एकबार इस समस्त सेनाने पार्थिव भोग-सामग्रियोंसे परिपूर्ण और बलहीन बूढ़े सर्पसे सुरक्षित पुरञ्जनकी पुरीको चारों ओरसे घेर लिया॥ २॥

कालकन्यापि बुभुजे पुरञ्जनपुरं बलात्।
ययाभिभूतः पुरुषः सद्यो निःसारतामियात्॥ ३॥

तब जिसके चङ्गुलमें फँसकर मनुष्य शीघ्र ही निर्जीव हो जाता है, उस कालकन्याने बलपूर्वक पुरञ्जनकी पुरीको अपने अधीन कर लिया॥ ३॥

तयोपभुज्यमानां वै यवनाः सर्वतो दिशम्।
द्वार्भिः प्रविश्य सुभृशं प्रार्दयन् सकलां पुरीम्॥ ४॥

उस समय कालकन्याको पुरञ्जनकी पुरीका भोग करते देखकर वे यवन भी उस पुरीमें चारों दिशाओंमें स्थित विभिन्न द्वारोंकी

सहायतासे पुरीमें सर्वत्र प्रविष्ट होकर पुरवासियोंको अत्यन्त पीड़ा प्रदान करने लगे॥ ४॥

तस्यां प्रपीड्यमानायामभिमानी पुरञ्जनः।
अवापोरुविधांस्तापान् कुटुम्बी ममताकुलः॥ ५॥

पुरञ्जन अभिमानी, स्वजनप्रणयी और ममता-ग्रस्त होनेके कारण आकुलित चित्तवाला था। पुरमें इस प्रकारके उत्पीड़नके आरम्भ होनेपर पुरञ्जनको अनेक प्रकारके क्लेश सताने लगे॥ ५॥

कन्योपगूढो नष्टश्रीः कृपणो विषयात्मकः।
नष्टप्रज्ञो हृतैश्वर्यो गन्धर्वैर्यवनैर्बलात्॥ ६॥

विशीर्णां स्वपुरीं वीक्ष्य प्रतिकूलाननादृतान।
पुत्रान् पौत्रानुगामात्यान् जायाञ्च गतसौहृदाम्॥ ७॥

आत्मानं कन्यया ग्रस्तं पञ्चालानरिदूषितान्।
दुरन्तचिन्तामापन्नो न लेभे तत्प्रतिक्रियाम्॥ ८॥

कालकन्याके आलिङ्गनसे पुरञ्जनकी सम्पूर्ण श्री (सुन्दरता) नष्ट हो गयी। विषयासक्त होनेके कारण वह दीन-हीन हो गया और उसकी विवेक-शक्ति नष्ट हो गयी। गन्धर्व और यवनोंने उसका समस्त ऐश्वर्य लूट लिया। पुरञ्जनने देखा कि उसकी पुरीकी समृद्धि नष्ट हो गयी है तथा उसके पुत्र, पौत्र, पूर्वानुगत सैन्यवर्ग एवं सेवक आदि उसके प्रतिकूल हो गये हैं और वे उसे सम्मान नहीं देते। पत्नीका भी अब उसके प्रति वैसा प्रेम नहीं रहा। कालकन्याने आकर उसके शरीरपर और शत्रुओंने पाञ्चाल राज्यपर अधिकार कर लिया है—यह सब देखकर पुरञ्जन अपार चिन्तामें डूब गया, किन्तु इन सब दुःखोंसे मुक्ति पानेका उसे कोई उपाय दिखायी नहीं दिया॥ ६-८॥

कामानभिलषन् दीनो यातयामांश्च कन्यया।
विगतात्मगतिस्नेहः पुत्रदारांश्च लालयन्॥ ९॥

गन्धर्वयवनाक्रान्तां कालकन्योपमर्दिताम्।
हातुं प्रचक्रमे राजा तां पुरीमनिकामतः॥ १०॥

पुरञ्जनने देखा कि कालकन्याने जिन समस्त भोग्य-विषयोंके सारभागका उपभोग करके सारहीन वस्तुओंका परित्याग किया है, उसे उन्हीं सारहीन वस्तुओंका ही भोग करना पड़ रहा है। आत्माकी लौकिक और पारलौकिक गति तथा बन्धु-बान्धवोंकी स्नेह-ममतासे वञ्चित होनेपर भी उसे स्त्री एवं पुत्र आदिका लालन-पालन करना पड़ रहा है। और भी, गन्धर्व एवं यवन-सेनाने उस पुरीपर आक्रमण कर रखा था तथा कालकन्या जराने उसको विध्वंस कर दिया था। ऐसी अवस्थामें भी उसकी अपने बन्धु-बान्धवोंसे बिछुड़नेकी इच्छा नहीं थी, पर दीन भावसे युक्त राजा पुरञ्जनको पुरीका त्याग करनेके लिए बाध्य होना पड़ा॥ ९-१०॥

भयनाम्नोऽग्रजो भ्राता प्रज्वारः प्रत्युपस्थितः।
ददाह तां पुरीं कृत्स्नां भ्रातुः प्रियचिकीर्षया॥ ११॥

इसी बीच यवनराज भयका बड़ा भाई प्रज्वार उस पुरीमें लौट आया और अपने भाईका प्रियकार्य करनेकी इच्छासे वह उस पुरीमें आग लगाने लगा॥ ११॥

तस्यां सन्दह्यमानायां सपौरः सपरिच्छदः।
कौटुम्बिकः कुटुम्बिन्या उपातप्यत सान्वयः॥ १२॥

जब वह पुरी जलने लगी, तब पुरञ्जन पुरके अधिवासी अपने परिजन, सेवक, कुटुम्ब, पत्नी एवं पुत्र-पौत्रादिके साथ अत्यन्त सन्तप्त रहने लगा॥ १२॥

यवनोपरुद्धायतनो ग्रस्तायां कालकन्यया।
पुर्यां प्रज्वारसंसृष्टः पुरपालोऽन्वतप्यत॥ १३॥

कालकन्याने पुरञ्जनकी पुरीपर अपना पूरा अधिकार जमा लिया है, यह देखकर यवन सैनिकोंने उस पुरीके द्वारोंको अवरुद्ध कर दिया और प्रज्वार उस पुरीको दग्ध करने लगा। ऐसा देखकर पुरीकी रक्षा करनेवाला बूढ़ा सर्प भी शोकसे कातर हो गया॥ १३॥

न शेके सोऽवितुं तत्र पुरुकृच्छ्रोरुवेपथुः।
गन्तुमैच्छत् ततो वृक्षकोटरादिव सानलात्॥ १४॥

पुरीमें बहुत प्रकारके क्लेशोंके उपस्थित होनेके कारण पुरीके रक्षक उस बूढ़े सर्पका शरीर काँपने लगा और वह पुरीमें रहकर भी पुरीकी रक्षा करनेमें असमर्थ हो गया। जिस प्रकार वृक्षमें आग लग जानेपर उसके कोटरमें स्थित साँप दूसरे स्थानपर चले जानेकी इच्छा करता है, उसी प्रकार उस पुरपालक सर्पने भी उस स्थानसे कहीं और जानेकी इच्छा की॥ १४॥

शिथिलावयवो यर्हि गन्धर्वैर्हृतपौरुषः।
यवनैररिभी राजन्नुपरुद्धो रुरोद ह॥ १५॥

हे राजन्! जब गन्धर्वोंने पुरञ्जनके पौरुषका अपहरण कर उसके अङ्ग-प्रत्यङ्गको शिथिल कर दिया तथा यवन शत्रुओंने उसके कण्ठको दबा दिया, तब पुरीका पालन करनेवाला वह सर्प 'घुरघुर' शब्द करने लगा॥ १५॥

दुहितृः पुत्रपौत्रांश्च यामिजामातृपार्षदान्।
स्वत्वावशिष्टं यत्किञ्चिद्गृहकोषपरिच्छदम्॥ १६॥
अहं ममेति स्वीकृत्य गृहेषु कुमतिर्गृही।
दध्यौ प्रमदया दीनो विप्रयोग उपस्थिते॥ १७॥

जब उस कुमति गृहव्रत पुरञ्जनका स्त्रीसे बिछुड़नेका समय उपस्थित हुआ तब वह अत्यन्त कातर हो उठा तथा देह-गृह आदिमें ही 'मैं' और 'मेरा' का भाव रखनेके कारण वह उनमें ही उलझकर अतिशय विवेक-रहित हो गया। कन्या, पुत्र, पौत्र, पुत्रवधु, जामाता, पार्षद-वर्ग, सेवक, गृह, भण्डार एवं गृहकी सामग्रियोंमें अभी भी उसकी कुछ ममता रह गयी थी, अतः वह उन सबके लिए इस प्रकार चिन्ता करने लगा॥ १६-१७॥

लोकान्तरं गतवति मय्यनाथा कुटुम्बिनी।
वर्तिष्यते कथन्त्वेषा बालकाननुशोचती॥ १८॥

हाय! जब मैं दूसरे लोकमें चला जाऊँगा, तब यह मेरी पत्नी अनाथ हो जायेगी। उस समय यह पुत्र-पौत्र आदिसे युक्त बड़े

कुटुम्बका पालन भार कैसे वहन करेगी तथा परिवारकी दुरावस्थाको देखकर शोकदग्ध होकर यह अपना निर्वाह कैसे करेगी? ॥ १८ ॥

न मय्यनाशिते भुङ्क्ते नास्नाते स्नाति मत्परा।
मयि रुष्टे सुसन्त्रस्ता भर्त्सिते यतवाग्भयात् ॥ १९ ॥

मेरे भोजन न करनेपर यह कामिनी भोजन नहीं करती थी, मेरे स्नान किये बिना यह स्नान नहीं करती थी, मेरे कुपित होनेपर यह रमणी अत्यन्त भयभीत रहा करती थी और यदि मैं कभी उसको डाँट-डपट देता, तो वह भयसे एक शब्द भी नहीं बोलती थी ॥ १९ ॥

प्रबोधयति माविज्ञं व्युषिते शोककर्शिता।
वर्त्मैतद्गृहमेधीयं वीरसूरपि नेष्यति ॥ २० ॥

जब मेरा विवेक गड़बड़ा जाता था, तो वह कामिनी मुझे सचेत किया करती थी। मैं यदि किसी दूसरे स्थानपर चला जाता था, तो वह विरह शोकसे कातर हो जाती थी। यद्यपि इसने वीरपुत्रोंको जन्म दिया है, तथापि मेरे वियोगसे कातर होकर क्या वह इन गृहस्थ धर्मोंका पालन करनेकी इच्छा करेगी? ॥ २० ॥

कथं नु दारका दीना दारिका वा परायणाः।
वर्तिष्यन्ते मयि गते भिन्ननाव इवोदधौ ॥ २१ ॥

जिस प्रकार समुद्रके बीचों-बीच नौकाके टूट जानेपर उसपर सवार यात्री निराश्रित होकर विपत्तिमें पड़ जाते हैं, उसी प्रकार मेरे परलोक चले जानेपर मेरे ही आश्रित रहनेवाले मेरे पुत्र-पुत्रियाँ किस प्रकार जीवन धारण करेंगे? वे तो रोते-रोते ही मर जायेंगे ॥ २१ ॥

एवं कृपणया बुद्ध्या शोचन्तमतदर्हणम्।
ग्रहीतुं कृतधीरेनं भयनामाभ्यपद्यत ॥ २२ ॥

पुरञ्जन स्वरूपतः चेतन था और ज्ञानकी दृष्टिसे उसका शोकादि करना उचित नहीं था, तथापि मोह-बुद्धिके कारण वह स्त्री-पुत्रादिके लिए शोकविह्वल हो रहा था। इतनेमें ही उसे पुरीसे निकालनेके लिए दृढ़ निश्चय करके 'भय' नामक यवनराज आ धमका ॥ २२ ॥

पशुवद्यवनैरेष नीयमानः स्वकं क्षयम्।
अन्वद्रवन्ननुपथाः शोचन्तो भृशमातुराः॥ २३॥

जब यवन उसे पशुके समान बाँधकर अपने स्थानपर लेकर जा रहे थे, उसी समय उसके अनुचर अतिशय व्याकुल होकर शोक करते हुए उसके पीछे-पीछे चलने लगे॥ २३॥

पुरीं विहायोपगत उपरुद्धो भुजङ्गमः।
यदा तमेवानु पुरी विशीर्णा प्रकृतिं गता॥ २४॥

यवनोंके द्वारा आक्रान्त होकर पुररक्षक सर्प भी पुरीको त्यागकर वहाँसे चल दिया, उसके बाहर निकलते ही वह पुरी छिन्न-भिन्न होकर पञ्चभूतमें विलीन हो गयी॥ २४॥

विकृष्यमाणः प्रसभं यवनेन बलीयसा।
नाविन्दत्तमसाविष्टः सखायं सुहृदं पुरः॥ २५॥

प्रबल-पराक्रमी यवनराजने जब पुरञ्जनको बलपूर्वक खींच लिया, तब भी अज्ञानवशतः राजा पुरञ्जन अपने पूर्व सखा और परम हितकारी अविज्ञातका स्मरण नहीं कर पाया॥ २५॥

तं यज्ञपशवोऽनेन संज्ञप्ता येऽदयालुना।
कुठारैश्चिच्छिदुः क्रुद्धाः स्मरन्तोऽमीवमस्य तत्॥ २६॥

राजा पुरञ्जनने निर्दयी होकर जिन यज्ञ-पशुओंका वध किया था, वे पशु उसके निष्ठुर आचरणका स्मरण करके क्रोधित हो गये और कुठार द्वारा उसे छिन्न-भिन्न करने लगे॥ २६॥

अनन्तपारे तमसि मग्नो नष्टस्मृतिः समाः।
शाश्वतीरनुभूयार्तिं प्रमदासङ्गदूषितः॥ २७॥

तामेव मनसा गृह्णन् बभूव प्रमदोत्तमा।
अनन्तरं विदर्भस्य राजसिंहस्य वेश्मनि॥ २८॥

स्त्रीसङ्गसे उदित दोषके कारण असीम अन्धकारसे आच्छन्न होकर उसकी पूर्वस्मृति नष्ट हो गयी। वह उस अवस्थामें बहुत वर्षों तक यातनाओंको भोगता रहा। कामिनीका स्मरण करते हुए ही उसने

देहका त्याग किया था, अतः अत्यधिक कष्ट भोगनेके बाद उसने विदर्भ राजाके घरमें सुन्दरी कन्या होकर जन्म लिया॥ २७-२८॥

उपयेमे वीर्यपणां वैदर्भीं मलयध्वजः।
युधि निर्जित्य राजन्यान् पाण्ड्यः परपुरञ्जयः॥ २९॥

विदर्भ-राजकन्या वैदर्भी जब विवाहके योग्य हुई, तब विदर्भ राजाने ऐसी शर्त रखी कि सर्वश्रेष्ठ पराक्रमी वीर ही राजकन्याके साथ विवाह कर सकेगा। पाण्ड्य देशमें उत्पन्न शत्रुओंके नगरको जीतनेवाले मलयध्वजने युद्धभूमिमें अन्यान्य राजाओंको पराजित करके वैदर्भीके साथ विवाह कर लिया॥ २९॥

तस्यां स जनयाञ्चक्रे आत्मजामसितेक्षणाम्।
यवीयसः सप्त सुतान् सप्त द्रविडभूभृतः॥ ३०॥

उस मलयध्वजने विदर्भनन्दिनीके गर्भसे एक श्यामलोचना कन्या और उस कन्याके कनिष्ठ भाईयोंके रूपमें सात पुत्र उत्पन्न किये। ये सातों पुत्र आगे चलकर द्राविड़-प्रदेशके सात राजा हुए॥ ३०॥

एकैकस्याभवत् तेषां राजन्नर्बुदमर्बुदम्।
भोक्ष्यते यद्वंशधरैर्मही मन्वन्तरं परम्॥ ३१॥

उनमेंसे प्रत्येक पुत्रके एक-एक अरब पुत्र उत्पन्न हुए। उनके वंशधर ही इस पृथ्वीका मन्वन्तरके अन्त तक और उसके बाद भी भोग करेंगे॥ ३१॥

अगस्त्यः प्राग्दुहितरमुपयेमे धृतव्रताम्।
यस्यां दृढच्युतो जात इध्मवाहात्मजो मुनिः॥ ३२॥

मलयध्वजकी कन्या नैष्ठिक व्रतपरायणा थी। उसका विवाह महर्षि अगस्त्यके साथ हुआ। इस कन्याके गर्भसे दृढ़च्युत नामक मुनिने जन्म लिया। दृढ़च्युतके पुत्र इध्मवाह हुए॥ ३२॥

विभज्य तनयेभ्यः क्ष्मां राजर्षिर्मलयध्वजः।
आरिराधयिषुः कृष्णं स जगाम कुलाचलम्॥ ३३॥

इसके बाद राजर्षि मलयध्वज श्रीकृष्णकी आराधनाकी कामनासे अपने पुत्रोंमें पृथ्वीका विभाग करके स्वयं कुलाचल (व्येङ्कट) पर्वतपर चले गये॥ ३३॥

हित्वा गृहान् सुतान् भोगान् वैदर्भी मदिरेक्षणा।
अन्वधावत पाण्ड्येशं ज्योत्स्नेव रजनीकरम्॥ ३४॥

चाँदनी जिस प्रकार चन्द्रका अनुसरण करती है, उसी प्रकार मत्त-नयना विदर्भ-नन्दिनीने भी गृह, पुत्र एवं भोग-सामग्रीको जलाञ्जलि देकर पाण्ड्यराजका अनुगमन किया॥ ३४॥

तत्र चन्द्रवसा नाम ताम्रपर्णी वटोदका।
तत्पुण्यसलिलैर्नित्यमुभयत्रात्मनो मृजन्॥ ३५॥
कन्दाष्टिभिर्मूलफलैः पुष्पपर्णैस्तृणोदकैः।
वर्तमानः शनैर्गात्रकर्शनं तप आस्थितः॥ ३६॥

उस कुलाचल पर्वतपर चन्द्रवसा, ताम्रपर्णी और वटोदका नामकी तीन नदियाँ प्रवाहित होती थी। मलयध्वज प्रतिदिन इन सब नदियोंके पुण्य जलमें बाह्य एवं आन्तरिक मलको स्नान एवं पानादिके द्वारा दूर करके कन्द, बीज, मूल, फल, पुष्प, पत्र, तृण एवं जलमात्र भोजन और पान करके कठोर तपस्या करने लगे। इससे धीरे-धीरे उनका शरीर सूख गया॥ ३५-३६॥

शीतोष्णवातवर्षाणि क्षुत्पिपासे प्रियाप्रिये।
सुखदुःखे इति द्वन्द्वान्यजयत् समदर्शनः॥ ३७॥

मलयध्वजने सर्वत्र समदृष्टि रखकर शीत-उष्ण, आँधी-वर्षा, भूख-प्यास, प्रिय-अप्रिय, सुख-दुःख आदि द्वन्द धर्मोंको जीत लिया॥ ३७॥

तपसा विद्यया पक्व-कषायो नियमैर्यमैः।
युयुजे ब्रह्मण्यात्मानं विजिताक्षानिलाशयः॥ ३८॥

तपस्या, उपासना, यम एवं नियमादिसे उनकी कामादि वासनाएँ दग्ध हो गयी। उस समय उन्होंने इन्द्रिय, प्राण एवं चित्तको जीतकर आत्माको परब्रह्ममें नियुक्त कर दिया॥ ३८॥

आस्ते स्थाणुरिवैकत्र दिव्यं वर्षशतं स्थिरः।
वासुदेवे भगवति नान्यद्वेदोद्वहन् रतिम्॥ ३९॥

इस प्रकार वे खम्भेके समान निश्चल होकर सौ दिव्य वर्षों तक एक ही स्थानपर बैठे रहे और भगवान् वासुदेवमें दृढ़ रति हो जानेके कारण उन्हें और कुछ भान ही न रहा॥ ३९॥

स व्यापकतयात्मानं व्यतिरिक्ततयात्मनि।
विद्वान् स्वप्न इवामर्श-साक्षिणं विरराम ह॥ ४०॥

स्वप्नमें 'मेरा सिर कट गया है', इस प्रकारकी प्रतीति होनेपर जैसे अपनेको देहसे पृथक् रूपमें जाना जाता है, उसी प्रकार वे मलयध्वज अपने शरीरमें वर्त्तमान देहके अतिरिक्त देह आदिके प्रकाशक द्रष्टा आत्माका अनुभवकर जड़ीय वस्तुओंके तत्त्वानुसन्धानसे विरत हो गये॥ ४०॥

साक्षाद्भगवतोक्तेन गुरुणा हरिणा नृप।
विशुद्धज्ञानदीपेन स्फुरता विश्वतोमुखम्॥ ४१॥

परे ब्रह्मणि चात्मानं परं ब्रह्म तथात्मनि।
ईक्षमाणो विहायेक्षामस्मादुपरराम ह॥ ४२॥

हे राजन्! स्वयं भगवान्ने ही गुरुके रूपमें मलयध्वजके हृदयमें विशुद्ध ज्ञानके आलोकको प्रकाशित किया था, इसलिए उनका वह ज्ञान सर्वत्र ही स्फुरित होता था। इसीके प्रभावसे वे आश्रयतत्त्व परब्रह्ममें आश्रिततत्त्व जीवात्माका एवं शुद्धजीवात्मामें परब्रह्मका अधिष्ठान अनुभव करके संसारसे मुक्त हो गये थे॥ ४१-४२॥

पतिं परमधर्मज्ञं वैदर्भी मलयध्वजम्।
प्रेम्णा पर्यचरद्धित्वा भोगान् सा पतिदेवता॥ ४३॥

पतिव्रता विदर्भनन्दिनी भी सम्पूर्ण भोगविलासोंका परित्याग करके भक्तियुक्त वैराग्यका अवलम्बनकर परम धर्मज्ञ स्वामी मलयध्वजकी भक्तिपूर्वक सेवा करती थी॥ ४३॥

चीरवासा व्रतक्षामा वेणीभूतशिरोरुहा।
बभावुपपतिं शान्ता शिखा शान्तमिवानलम्॥ ४४॥

वह फटे-पुराने वस्त्रोंको धारण किये रहती थी। निराहार व्रतानुष्ठानोंसे उसका शरीर क्षीण हो गया था तथा सिरके केशकलापोंको न सँवारनेके कारण उसके केश जटाओंके रूपमें परिवर्त्तित हो गये थे। वह अपने पतिके समीप धुँएसे रहित आगका अनुगमन करनेवाली शिखाके समान विशुद्धभावसे अवस्थान करने लगी॥ ४४॥

अजानती प्रियतमं यदोपरतमङ्गना।
सुस्थिरासनमासाद्य यथापूर्वमुपाचरत्॥ ४५॥

उस भामिनी विदर्भनन्दिनीको इस बातका पता ही नहीं चला कि उसके पतिने प्रपञ्च-लीलाका परित्याग कर दिया है। वे पूर्ववत् स्थिरतापूर्वक आसनपर विराजमान थे और वह भी पूर्ववत् उनकी सेवा कर रही थी॥ ४५॥

यदा नोपलभेताङ्घ्रावुष्माणं पत्युरर्चती।
आसीत् संविग्नहृदया यूथभ्रष्टा मृगी यथा॥ ४६॥

किन्तु पतिके चरणोंकी सेवा करते समय जब उसे उनके चरणोंमें उष्णताका अनुभव नहीं हुआ, तब वह झुण्डसे बिछुड़ी हुई हिरणीके समान अत्यधिक विकल हो गयी॥ ४६॥

आत्मानं शोचती दीनमबन्धुं विक्लवाश्रुभिः।
स्तनावासिच्य विपिने सुस्वरं प्ररुरोद सा॥ ४७॥

उस बीहड़ वनमें अपनी वैधव्य दशाके लिए शोक करते समय उसके अश्रुओंकी धारासे उसके स्तन भीग गये तथा वह उच्चस्वरसे विलाप करते हुए कहने लगी— ॥ ४७॥

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ राजर्षे इमामुदधिमेखलाम्।
दस्युभ्यः क्षत्रबन्धुभ्यो बिभ्यतीं पातुमर्हसि॥ ४८॥

हे राजर्षे! उठिये, उठिये, देखिये, सागरसे परिवेष्टित यह धरती दस्युओं और अधार्मिक क्षत्रियोंसे भयभीत हो रही है, इसकी रक्षा करना आपका कर्त्तव्य है॥ ४८॥

एवं विलपती बाला विपिनेऽनुगता पतिम्।
पतिता पादयोर्भर्तु रुदत्यश्रूण्यवर्तयत्॥ ४९॥

पतिकी अनुगामिनी वह पतिव्रता विदर्भनन्दिनी निर्जन वनके भीतर इस प्रकार विलाप करती हुई पतिके चरणोंमें गिर पड़ी और आँसू बहाने लगी॥ ४९॥

चितिं दारुमयीं चित्वा तस्यां पत्युः कलेवरम्।
आदीप्य चानुमरणे विलपन्ती मनो दधे॥ ५०॥

इसके बाद उसने लकड़ियोंकी चिता बनाकर उसमें पतिका कलेवर रखकर चिताको अग्नि लगायी और विलाप करते हुए पतिके साथ मरने अर्थात् सती होनेका सङ्कल्प कर लिया॥ ५०॥

तत्र पूर्वतरः कश्चित् सखा ब्राह्मण आत्मवान्।
सान्त्वयन् वल्गुना साम्ना तामाह रुदतीं प्रभो॥ ५१॥

हे प्रभो! उसी समय उस स्थानपर स्वस्वरूपसे युक्त उसका कोई पुराना सखा (अनादि ईश्वर परमात्मा) ब्राह्मणके वेशमें उपस्थित हुआ और उस रोती हुई विदर्भनन्दिनीको मनोहर एवं प्रिय वचनोंसे सान्त्वना देते हुए कहने लगा॥ ५१॥

श्रीब्राह्मण उवाच—
का त्वं कस्यासि को वायं शयानो यस्य शोचसि।
जानासि किं सखायं मां येनाग्रे विचचर्थ ह॥ ५२॥

श्रीब्राह्मणने कहा—तुम कौन हो? किसकी पुत्री हो? तुम जिस सोये हुए पुरुषके लिए शोक कर रही हो, वह कौन है? क्या तुम मुझे पहचान पा रही हो? मैं तुम्हारा मित्र हूँ, तुमने पहले मेरे साथ सख्य सुखका अनुभव किया था॥ ५२॥

अपि स्मरसि चात्मानमविज्ञातसखं सखे।
हित्वा मां पदमन्विच्छन् भौमभोगरतो गतः॥ ५३॥

हे सखे! यद्यपि तुम मुझे पहचान नहीं पा रही हो, तथापि क्या तुम्हें कभी इस प्रकारसे स्मरण होता है कि किसी समय तुम्हारा कोई

अविज्ञात नामक सखा था? तुम मेरा परित्याग करके अपने लिए भोगका स्थान ढूँढ़ते-ढूँढ़ते अपने पूर्व जन्ममें प्राकृत भोगोंमें ही आसक्त हो गये थे॥ ५३॥

हंसावहञ्च त्वञ्चार्य सखायौ मानसायनौ।
अभूतामन्तरा वौकः सहस्रपरिवत्सरान्॥ ५४॥

हे आर्ये! तुम और मैं—ये दो हंस मित्र मानस-सरोवरमें एकत्र वास करते थे। हमने बिना किसी घरके ही सहस्र वर्षों तक एकसाथ वास किया था॥ ५४॥

स त्वं विहाय मां बन्धो गतो ग्राम्यमतिर्महीम्।
विचरन् पदमद्राक्षीः कयाचिन्निर्मितं स्त्रिया॥ ५५॥

हे सखे! हंस होनेपर भी तुम प्राकृत विषयोंके भोगोंकी इच्छासे मुझे छोड़कर इस प्रपञ्चमें चले आये थे और यहाँ वासस्थान ढूँढ़ते-ढूँढ़ते तुमने किसी स्त्रीके द्वारा रची हुई एक पुरीको देखा था॥ ५५॥

पञ्चारामं नवद्वारमेकपालं त्रिकोष्ठकम्।
षट्कुलं पञ्चविपणं पञ्चप्रकृति स्त्रीधवम्॥ ५६॥

पञ्चेन्द्रियार्था आरामा द्वारः प्राणा नव प्रभो।
तेजोऽबन्नानि कोष्ठानि कुलमिन्द्रियसंग्रहः॥ ५७॥

विपणस्तु क्रियाशक्तिर्भूतप्रकृतिरव्यया।
शक्त्यधीशः पुमानत्र प्रविष्टो नावबुध्यते॥ ५८॥

उस पुरीमें पाँच उपवन, नौ द्वार, एक रक्षक, तीन परकोटे, छह कुल एवं पाँच बाजार थे। पाँच उपादान कारणोंसे यह पुरी बनी हुई थी और एक स्त्री (बुद्धि) उसकी अधीश्वरी थी। हे सखे! इन्द्रियोंके पाँच विषय (रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श) उसके पाँच उपवन थे, प्राणोंके नौ छिद्र (इन्द्रिय छिद्र) नौ द्वार थे, तेज, जल एवं अग्नि तीन परकोटे थे, मन एवं पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ—ये छह उसके कुल थे, पाँच क्रियाशक्तिरूप कर्मेन्द्रियाँ ही उसके बाजार थे, महाप्रलय तक

रहनेवाले पाँच महाभूत उसके पाँच उपादान कारण थे। जीव मायाकार्यभूता बुद्धिके वशीभूत होकर उस पुरीमें प्रवेश करके आत्म-स्वरूपको जान नहीं पाता॥ ५६-५८॥

तस्मिंस्त्वं रामया स्पृष्टो रममाणोऽश्रुतस्मृतिः।
तत्सङ्गादीदृशीं प्राप्तो दशां पापीयसीं प्रभो॥ ५९॥

हे सखे! तुम इस देहरूप पुरीमें विषय-बुद्धिरूपा स्त्रीके द्वारा मोहित होकर विषयोंमें ही आसक्त हो गये थे, इसी कारणसे तुम्हारी भगवत्-विस्मृति और ऐसी अत्यधिक दीनदशा हुई है॥ ५९॥

न त्वं विदर्भदुहिता नायं वीरः सुहृत् तव।
न पतिस्त्वं पुरञ्जन्या रुद्धो नवमुखे यया॥ ६०॥

देखो, तुम विदर्भराजकी कन्या नहीं हो और न ही यह मलयध्वज तुम्हारा पति है। जिस पुरञ्जनीके द्वारा तुम उस नवद्वारवाले पुरमें अवरुद्ध कर लिये गये थे, तुम उस पुरञ्जनीके पति भी नहीं हो॥ ६०॥

माया ह्येषा मया सृष्टा यत् पुमांसं स्त्रियं सतीम्।
मन्यसे नोभयं यद्वै हंसौ पश्याद्य नौ गतिम्॥ ६१॥

तुम जो स्वयंको कभी पुरुष, कभी सुन्दर स्त्री और कभी नपुंसक मानते हो, इसका कारण है—माया। वह माया मेरी ही शक्ति है। वस्तुतः मैं और तुम अर्थात् भगवान् और जीव दोनों ही शुद्ध अर्थात् चिन्मय हैं। हमारा जो वास्तविक स्वरूप है, मैं अब उसे वर्णन कर रहा हूँ, तुम उसे अनुभव करो॥ ६१॥

अहं भवान् न चान्यस्त्वं त्वमेवाहं विचक्ष्व भोः।
न नौ पश्यन्ति कवयश्छिद्रं जातु मनागपि॥ ६२॥

मैं परमात्मा हूँ और तुम जीव हो। मेरे चैतन्य स्वरूपसे तुम भिन्न नहीं हो। अतएव हे सखे! स्वरूपतः तुम मुझसे अभिन्न हो, इसका भलीभाँति विचार करके देखो। चेतनताकी दृष्टिसे समजातीय होनेके कारण तत्त्वविद्जन वस्तुतः हममें कोई भी भेद नहीं देखते॥ ६२॥

यथा पुरुष आत्मानमेकमादर्शचक्षुषोः।
द्विधाभूतमवेक्षेत तथैवान्तरमावयोः॥ ६३॥

जिस प्रकार व्यक्ति निर्मल दर्पणमें प्रतिफलित अपने देहको अपनेसे अभिन्न देखता है, किन्तु अन्यकी दृष्टिमें दो व्यक्तियोंकी प्रतीति होती है, उसी प्रकार औपाधिकधर्ममें लिप्त एवं अलिप्तके भेदसे हममें (जीव एवं भगवान्‌में) भेद है॥ ६३॥

एवं स मानसो हंसो हंसेन प्रतिबोधितः।
स्वस्थस्तद्‌व्यभिचारेण नष्टामाप पुनः स्मृतिम्॥ ६४॥

इस प्रकार जब मानससरोवरमें अवस्थित एक हंस (जीव) दूसरे हंस (परमात्मा) के द्वारा सावधान किया गया, तो उसने भगवत्-विमुखताके कारण भूले हुए आत्मज्ञानको पुनः प्राप्तकर लिया॥ ६४॥

बर्हिष्मन्नेतदध्यात्मं पारोक्ष्येण प्रदर्शितम्।
यत् परोक्षप्रियो देवो भगवान् विश्वभावनः॥ ६५॥

हे बर्हिष्मन् प्राचीनबर्हि! विश्वकर्त्ता भगवान् परोक्षप्रिय हैं। इसलिए मैंने इस पुरञ्जन-उपाख्यानके छलसे तुम्हें आत्मतत्त्वके ज्ञानका उपदेश दिया है, इसमें अन्य बुद्धि मत करना॥ ६५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां चतुर्थस्कन्धे पुरञ्जनोपाख्यानेऽष्टाविंशोऽध्यायः॥

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

पुरञ्जन-उपाख्यानका तात्पर्य

श्रीप्राचीनबर्हिरुवाच—

भगवंस्ते वचोऽस्माभिर्न सम्यगवगम्यते।
कवयस्तद्विजानन्ति न वयं कर्ममोहिताः॥ १॥

राजा प्राचीनबर्हिने कहा—हे प्रभो! मैं आपके वचनोंका तात्पर्य भलीभाँति नहीं समझा हूँ। विवेकी पण्डित ही इसे समझ सकते हैं, मुझ जैसा कर्मोंमें आसक्तचित्तवाला व्यक्ति नहीं॥ १॥

श्रीनारद उवाच—

पुरुषं पुरञ्जनं विद्याद् यद्व्यनक्त्यात्मनः पुरम्।
एक-द्वि-त्रि-चतुष्पादं वहुपादमपादकम्॥ २॥

देवर्षि श्रीनारदने कहा—हे राजन्! पुरञ्जनको 'पुरुष' अर्थात् 'जीव' के रूपमें जानो। पुरुष (जीव) अपने-अपने कर्मोंके अनुसार ही एक पैर, दो पैर, तीन पैर, चार पैर तथा बहुत पैरोंवाले अथवा बिना पैरोंवाले 'पुरम्' अर्थात् शरीरका निर्माण करता है, इसीलिए उसे 'पुरञ्जन' कहा जाता है॥ २॥

योऽविज्ञाताहृतस्तस्य पुरुषस्य सखेश्वरः।
यन्न विज्ञायते पुम्भिर्नामभिर्वा क्रियागुणैः॥ ३॥

जिसे मैंने 'अविज्ञात' कहा है, वही उस जीवका सखा ईश्वर है। जीव प्राकृत नाम, गुण एवं क्रियादिके द्वारा ईश्वरके स्वरूपको नहीं जान सकता, इसलिए उन ईश्वरका 'अविज्ञात' नामसे निर्देश किया गया है॥ ३॥

यदा जिघृक्षन् पुरुषः कार्त्स्न्येन प्रकृतेर्गुणान्।
नवद्वारं द्विहस्ताङ्घ्रिं तत्रामनुत साध्विति॥ ४॥

जब जीव प्रकृतिके गुणों अर्थात् प्राकृत विषयोंको सम्पूर्ण रूपसे उपभोग करनेकी इच्छा करता है, तब वह पूर्वोक्त अन्य-अन्य शरीरोंकी अपेक्षा नौ द्वार तथा दो हाथ और दो पैरोंसे युक्त मानव देहको ही उपयोगी मानता है॥ ४॥

बुद्धिन्तु प्रमदां विद्यान्ममाहमिति यत्कृतम्।
यामधिष्ठाय देहेऽस्मिन् पुमान् भुङ्क्तेऽक्षभिर्गुणान्॥ ५॥

मैंने जिसका 'प्रमदा' के रूपमें वर्णन किया है, उसे बुद्धि अथवा अविद्याके रूपमें जानो। उस अविद्यारूपा बुद्धिका आश्रय करके ही जीव इस देहमें 'मैं' एवं 'मेरा' का अभिमान कर लेता है और इन्द्रियोंके द्वारा रूप-रस आदि विषयोंका भोग करनेकी चेष्टा करता है॥ ५॥

सखाय इन्द्रियगणा ज्ञानं कर्म च यत्कृतम्।
सख्यस्तद्वृत्तयः प्राणः पञ्चवृत्तिर्यथोरगः॥ ६॥

इन्द्रियाँ ही पुरञ्जनके सखा हैं। उनके द्वारा ही समस्त ज्ञान और कर्म सम्पन्न होते हैं। इन्द्रियोंकी वृत्तियाँ पुरञ्जनकी सखियाँ हैं। मैंने नगरकी रक्षा करनेवाले (पाँच फनवाले) जिस सर्पके विषयमें बतलाया था, प्राण-अपान-व्यान-उदान और समानरूप पाँच वृत्तियों वाला प्राण ही वह सर्प है॥ ६॥

बृहद्बलं मनो विद्यादुभयेन्द्रियनायकम्।
पञ्चालाः पञ्च विषया यन्मध्ये नवखं पुरम्॥ ७॥

मैंने जिसे ग्यारह महाबलियोंका 'नायक' कहा था, उसे ज्ञान और कर्म—दोनों प्रकारकी इन्द्रियोंका अधीश्वर महाबली 'मन' जानो। रूप-रसादि पाँच विषय ही 'पञ्चालदेश' हैं, जिसके बीचमें वह नौ द्वारोंवाला पुर अर्थात् देह विराजित है॥ ७॥

अक्षिणी नासिके कर्णौ मुखं शिश्नगुदाविति।
द्वे द्वे द्वारौ बहिर्याति यस्तदिन्द्रियसंयुतः॥ ८॥

दो नेत्र, दो नासा, दो कान—ये दो-दो द्वार एकत्र निर्मित हैं। मुख, लिङ्ग और गुदा—ये तीन पृथक्-पृथक् द्वार हैं, कुल मिलाकर

नौ द्वार हैं। इन्द्रियोंके साथ जीव इन द्वारोंकी सहायतासे रूप-रसादि बाह्य विषयोंको ग्रहण करता है॥ ८॥

अक्षिणी नासिके आस्यमिति पञ्च पुरः कृताः।
दक्षिणा दक्षिणः कर्ण उत्तरा चोत्तरः स्मृतः।
पश्चिमे इत्यधोद्वारौ गुदं शिश्नमिहोच्यते॥ ९॥

दो चक्षु, दो नासा एवं मुख—ये पाँच द्वार पुरीके पूर्व भागमें बने हुए हैं। दाहिने कानको 'दक्षिण-द्वार' और बायें कानको 'उत्तर-द्वार' कहा जाता है। जो द्वार पश्चिम दिशामें स्थित कहे गये हैं, वे इस पुरीके निचले भागमें 'गुदा' और 'लिङ्ग' के नामसे परिचित हैं॥ ९॥

खद्योताविर्मुखी चात्र नेत्रे एकत्र निर्मिते।
रूपं विभ्राजितं ताभ्यां विचष्टे चक्षुषेश्वरः॥ १०॥

'खद्योता' एवं 'आविर्मुखी' के विषयमें जो बतलाया गया था, उन दोनों द्वारोंको उस शरीरमें एकत्र निर्मित दोनों चक्षुओंके रूपमें जानो। 'विभ्राजित' नामक जिस जनपदके विषयमें बतलाया गया था, उसे 'रूप' जानो। जिसको 'द्युमान्' नामक सखाके रूपमें कहा गया है, वही चक्षु इन्द्रिय है। द्युमान्का सखा पुरञ्जन, इन्द्रियोंका अधीश्वर जीव है। जीव दोनों चक्षुओंके द्वारा रूपका दर्शन करता है॥ १०॥

नलिनी नालिनी नासे गन्धः सौरभ उच्यते।
घ्राणोऽवधूतो मुख्यास्यं विपणो वाग्रसविद्रसः॥ ११॥

'नलिनी' एवं 'नालिनी' नामसे जिन दो द्वारोंकी बात बतलायी गयी है, उन्हें दो नासाछिद्रके रूपमें समझो। जिसे 'सौरभ देश' कहा गया है, वही 'गन्ध' नामसे कथित है। 'अवधूत' शब्दका तात्पर्य घ्राणेन्द्रियसे है। 'मुख्य' नामक जिस द्वारका उल्लेख किया गया है, उसका अर्थ है 'मुख'। 'विपण' शब्दसे वागिन्द्रिय और 'रसविद्' शब्दसे रसनेन्द्रियको समझना चाहिये॥ ११॥

आपणो व्यवहारोऽत्र चित्रमन्धो बहूदनम्।
पितृहूर्दक्षिणः कर्ण उत्तरो देवहूः स्मृतः॥ १२॥

इस पुरीमें 'आपण' शब्दका अर्थ भाषण और 'बहूदन' शब्दका अर्थ 'विचित्र अन्न' है। 'पितृहू' शब्दसे दायाँ कान और 'देवहू' शब्दसे बायाँ कान कहा गया है॥ १२॥

प्रवृत्तञ्च निवृत्तञ्च शास्त्रं पञ्चालसंज्ञितम्।
पितृयानं देवयानं श्रोत्राच्छ्रुतधराद्व्रजेत्॥ १३॥

'पञ्चाल' नामक जिस शास्त्रके विषयमें बतलाया गया, वे प्रवृति-निवृत्ति विषयक शास्त्र हैं। 'दक्षिण-पञ्चाल' शब्दसे प्रवृत्तिमूलक कर्म-काण्डीय शास्त्र एवं 'उत्तर-पञ्चाल' शब्दसे निवृत्तिमूलक ज्ञानकाण्डीय शास्त्र समझना। शब्दोंको ग्रहण करनेवाली श्रवणेन्द्रिय द्वारा पुरुष इन दोनों शास्त्रोंका श्रवण करके पितृलोकको प्राप्त करानेवाले पितृयान एवं देवलोकको प्राप्त करानेवाले देवयानसे गमन करता है। 'श्रुतधर' शब्दसे श्रोत्रेन्द्रियको जानना चाहिये॥ १३॥

आसुरी मेढ्रमर्वाग्द्वार्व्यवायो ग्रामिणां रतिः।
उपस्थो दुर्मदः प्रोक्तो निर्ऋतिर्गुद उच्यते॥ १४॥

मैंने पुरीके अधोभागमें जिस 'आसुरी' नामक द्वारका उल्लेख किया है, वह 'लिङ्ग' है। 'ग्रामक' अर्थात् ग्राम्य-व्यक्तियोंकी रतिको ही स्त्रीसङ्गसे उत्पन्न सुख समझो। 'दुर्मद' शब्दसे उपस्थेन्द्रिय एवं 'निर्ऋति' शब्दसे मलद्वारको कहा गया है॥ १४॥

वैशसं नरकं पायुर्लुब्धकोऽन्धौ तु मे शृणु।
हस्तपादौ पुमांस्ताभ्यां युक्तो याति करोति च॥ १५॥

'पुरञ्जन वैशस चला गया', पहले जो इस प्रकारसे कहा गया, उसके द्वारा 'वह नरक चला गया'—ऐसा समझना चाहिये। 'लुब्धक' शब्दका अर्थ गुदा समझना चाहिये। जिन दो अन्धे निवासियोंके विषयमें पहले बतलाया गया, उन्हें हाथ-पैरके रूपमें जानो। पुरुष इन दोनों इन्द्रियोंकी सहायतासे आवागमन और कर्म करता रहता है॥ १५॥

अन्तःपुरञ्च हृदयं विषूचिर्मन उच्यते।
तत्र मोहं प्रसादं वा हर्षं प्राप्नोति तद्गुणैः॥ १६॥

'अन्तःपुर' शब्दका अर्थ है—'हृदय' और 'विषूचि' (सर्वत्रगामी) शब्दका अभिप्राय 'मन' है। यह मन सत्त्वादि गुणों द्वारा मोह, प्रसन्नता अथवा हर्षादि विकारोंको प्राप्त होता है॥ १६॥

यथा यथा विक्रियते गुणाक्तो विकरोति वा।
तथा तथोपद्रष्टात्मा तद्वृत्तीरनुकार्यते॥ १७॥

पहले जिस राजमहिषी पुरञ्जनीके विषयमें बतलाया गया है, वह बुद्धि है। यह बुद्धि स्वप्न और जागृत अवस्थामें जिस-जिस प्रकारका विकार उत्पन्न करा देती है, बुद्धिके गुणोंमें आसक्त जीव द्रष्टामात्र होकर उस बुद्धिके ही दर्शन, स्पर्शन आदि वृत्तियोंका अनुकरण करता है॥ १७॥

देहो रथस्त्विन्द्रियाश्वः संवत्सर-रयोऽगतिः।
द्विकर्मचक्रस्त्रिगुण-ध्वजः पञ्चासुबन्धुरः॥ १८॥

मनोरश्मिर्बुद्धिसूतो हृन्नीडो द्वन्द्वकूबरः।
पञ्चेन्द्रियार्थप्रक्षेपः सप्तधातुवरूथकः॥ १९॥

आकूतिर्विक्रमो बाह्यो मृगतृष्णां प्रधावति।
एकादशेन्द्रियचमूः पञ्चसूना-विनोदकृत्।
संवत्सरश्चण्डवेगः कालो येनोपलक्षितः॥ २०॥

जिस रथके विषयमें पहले कहा गया है, वह देह ही है एवं इन्द्रियाँ ही उसके अश्व हैं। संवत्सरके समान इसकी गति अप्रतिहत है, किन्तु वास्तवमें इसकी गति नहीं है। पाप एवं पुण्य ही इसके दो चक्र हैं, तीन गुण इसकी ध्वजा हैं, पञ्चप्राण ही इसकी पाँच रस्सियाँ हैं, मन ही लगाम है, बुद्धि ही सारथी है, हृदय ही रथीके बैठनेका स्थान है और सुख-दुःखरूप द्वन्द्व अथवा शोक-मोह ही युग-बन्धन (जुए) का स्थान है। पञ्चेन्द्रियोंके शब्दादि विषयसमूह ही उसके द्वारा प्रक्षिप्त होते हैं। सात धातुएँ ही रथके सात आवरण हैं, पाँच कर्मेन्द्रियाँ ही उसका बाह्य-विक्रम हैं। ग्यारह इन्द्रियाँ ही उस पुरुषकी सेना हैं। उनमेंसे पाँच ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा वह उन-उन इन्द्रियोंके विषयोंका सेवन करता है। वह जीव इस रथमें चढ़कर मृगतृष्णारूप शिकारके लिए अर्थात् मिथ्याभूत विषयभोगोंके पीछे दौड़ता है॥ १८-२०॥

तस्याहानीह गन्धर्वा गन्धर्व्यो रात्रयः स्मृताः।
हरन्त्यायुः परिक्रान्त्या षष्ठ्युत्तरशतत्रयम्॥ २१॥

'चण्डवेग' नामक जिस कालके विषयमें बतलाया गया है, वही संवत्सर है। इस उपाख्यानमें संवत्सरके दिन ही 'गन्धर्व' एवं रात्रियाँ 'गन्धर्वियाँ' कही गयी हैं। ये तीन सौ साठ दिन एवं रात्रियाँ बारी-बारीसे चक्कर लगाते हुए देहधारी प्राणियोंकी आयुका हरण करते रहते हैं॥ २१॥

कालकन्या जरा साक्षाल्लोकस्तां नाभिनन्दति।
स्वसारं जगृहे मृत्युः क्षयाय यवनेश्वरः॥ २२॥

पहले जिस कालकन्याके विषयमें कहा गया था, वह 'जरा' अर्थात् वृद्धावस्था है। कोई भी प्राणी प्रसन्नतापूर्वक उस जराको स्वीकार नहीं करना चाहता। यवनेश्वर मृत्यु लोकसंहार करनेके लिए जराको अपनी बहनके रूपमें स्वीकार करता है॥ २२॥

आधयो व्याधयस्तस्य सैनिका यवनाश्चराः।
भूतोपसर्गाशुरयः प्रज्वारो द्विविधो ज्वरः॥ २३॥
एवं बहुविधैर्दुःखैर्दैवभूतात्मसम्भवैः।
क्लिश्यमानः शतं वर्षं देहे देही तमोवृतः॥ २४॥
प्राणेन्द्रियमनोधर्मानात्मन्यध्यस्य निर्गुणः।
शेते काम-लवान् ध्यायन् ममाहमिति कर्मकृत्॥ २५॥

उस यवनेश्वरके आज्ञाकारी अनुचरोंको ही 'यवनसेना' कहा गया है। आधि (मानसिक) एवं व्याधि (शारीरिक) पीड़ाओंको ही यवनराजकी सेनाके रूपमें जानो। प्राणियोंको पीड़ा पहुँचाकर शीघ्र ही मृत्युका कारण बननेवाला शीत और उष्ण—दो प्रकारका ज्वर ही प्रज्वार नामक उसका भाई है। इस प्रकार अज्ञानसे आवृत देहाभिमानी जीव बहुत प्रकारके आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक दुःखोंसे कष्ट पाता रहता है। जीव स्वरूपतः निर्गुण है, फिर भी भूख-प्यास आदि प्राणधर्म, अन्धत्वादि इन्द्रियधर्म, कामादि मनोधर्मको अपने जीवात्म-स्वरूपमें आरोपित करते हुए देहादिमें 'मैं' और 'मेरे' की बुद्धि करके क्षुद्र

विषय-सुखोंका चिन्तन करता है और उनके लिए तुच्छ कर्मोंमें प्रवृत्त होकर इस देहमें सौ वर्षों तक पड़ा रहता है॥ २३-२५॥

यदात्मानमविज्ञाय भगवन्तं परं गुरुम्।
पुरुषस्तु विषज्जेत गुणेषु प्रकृतेः स्वदृक्॥ २६॥
गुणाभिमानी स तदा कर्माणि कुरुतेऽवशः।
शुक्लं कृष्णं लोहितं वा यथाकर्माभिजायते॥ २७॥

जीव स्वरूपतः स्वयं प्रकाशित-स्वभाववाला होनेपर भी जब तक उन परम-गुरु सर्वज्ञान-प्रकाशक (परमात्म-स्वरूप) भगवान्‌की उपलब्धि नहीं कर पाता, तब तक वह प्रकृतिके गुणोंमें अत्यन्त आसक्त रहता है। वह प्राकृत गुणाभिमानके कारण देहादिके अधीन होकर कभी पुण्यजनक सात्त्विक कर्म कभी पापजनक तामसिक कर्म और कभी राजस कर्म करता है तथा वह जैसा कर्म करता है, उन-उन कर्मोंके अनुसार योनियोंको प्राप्त करता है॥ २६-२७॥

शुक्लात् प्रकाशभूयिष्ठाँल्लोकानाप्नोति कर्हिचित्।
दुःखोदर्कान् क्रियायासांस्तमःशोकोत्कटान् क्वचित्॥ २८॥

जो सात्त्विक अथवा पुण्यजनक कर्म करते हैं, वे ज्योतिर्मय स्वर्गादि लोकोको प्राप्त करते हैं। जो राजसिक कर्म करते हैं, वे उन मनुष्यादि लोकोंको प्राप्त करते हैं जहाँपर अन्तमें सभी कार्योंका परिणाम दुःख ही है तथा जहाँ कोई भी कार्य करनेके लिए बहुत कठोर परिश्रम करना पड़ता है। और जो तामसिक कर्म करते हैं, वे अत्यन्त शोक-मोह आदिसे परिपूर्ण तिर्यगादि तामसिक योनियोंमें जन्म लेते हैं॥ २८॥

क्वचित् पुमान् क्वचिच्च स्त्री क्वचिन्नोभयमन्धधीः।
देवो मनुष्यस्तिर्यग्वा यथाकर्मगुणं भवः॥ २९॥

इस प्रकार अज्ञानसे आवृत बुद्धिवाला जीव अपने-अपने कर्मों और गुणोंके अनुसार ही कभी पुरुष, कभी स्त्री, कभी नपुंसक, कभी देवता, कभी मनुष्य, कभी पशु, कभी पक्षी आदि होकर जन्म-ग्रहण करता है॥ २९॥

क्षुत्परीतो यथा दीनः सारमेयो गृहं गृहम्।
चरन् विन्दति यद्दिष्टं दण्डमोदनमेव वा॥ ३०॥
तथा कामाशयो जीव उच्चावचपथा भ्रमन्।
उपर्यधो वा मध्ये वा याति दिष्टं प्रियाप्रियम्॥ ३१॥

जिस प्रकार भूखसे व्याकुल बेचारा कुत्ता दर-दर भटकता हुआ अपने प्रारब्धके अनुसार कभी डण्डे द्वारा ताड़ित होता है और कभी एक मुट्ठी भात प्राप्त करता है, उसी प्रकार कामनाओंसे भरे चित्तवाला जीव भी उच्च एवं नीच विविध मार्गोंमें भटकता हुआ प्रारब्धवश देवादि ऊर्ध्वलोक, नरकादि अधोलोक अथवा मनुष्यादि मध्यलोकोंमें सुख-दुःख भोगता रहता है॥ ३०-३१॥

दुःखेष्वेकतरेणापि दैवभूतात्महेतुषु।
जीवस्य न व्यवच्छेदः स्याच्चेत् तत्तत्प्रतिक्रिया॥ ३२॥

यद्यपि उन दुःखोंसे छुटकारा पानेका उपाय शास्त्रोंमें बतलाया गया है, फिर भी आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक—इन तीन प्रकारके दुःखोंमेंसे किसी भी प्रकारके दुःखसे बद्ध जीवको छुटकारा नहीं मिलता है॥ ३२॥

यथा हि पुरुषो भारं शिरसा गुरुमुद्वहन्।
तं स्कन्धेन स आधत्ते तथा सर्वाः प्रतिक्रियाः॥ ३३॥

जब व्यक्ति सिरपर अत्यन्त भारी बोझ लेनेके कारण बहुत अधिक थक जाता है, तब वह सिरकी पीड़ाको हलका करनेके लिए उस भारको अपने कन्धेपर रख लेता है और उस थकानको दूर करनेकी चेष्टा करता है, किन्तु तथापि वह बोझ तो उसके ऊपर ही रहता है। इस प्रकारके दुःखोंसे छुटकारा पानेके जो भी उपाय हैं, उनसे दुःखोंकी आत्यन्तिकी निवृत्ति नहीं हो पाती॥ ३३॥

नैकान्ततः प्रतीकारः कर्मणां कर्म केवलम्।
द्वयं ह्यविद्योपसृतं स्वप्ने स्वप्न इवानघ॥ ३४॥

हे निष्पाप! कृष्ण-सम्बन्धज्ञानसे रहित कर्म मात्र ही दुःखोंसे सर्वथा छूटनेका आत्यन्तिक प्रतिकार या उपाय नहीं हैं। इसका कारण

है कि दुःख और उनसे छुटकारा दिलानेवाले कर्म—दोनों ही अविद्याजनित हैं। जिस प्रकार जागरणके अतिरिक्त और किसी उपायसे स्वप्नावस्थामें दृष्ट दुःखोंसे छुटकारा नहीं होता है, उसी प्रकार अविद्याग्रस्त दशामें मोहके कारण उत्पन्न होनेवाले दुःखोंसे सर्वथा छुटकारा पानेके लिए जो सब कर्म किये जाते हैं, उनमें विघ्न और पुनः दुराचारकी सम्भावनाके कारण उन कर्मोंसे सम्पूर्ण रूपसे दुःखोंकी निवृत्ति नहीं होती॥ ३४॥

अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते।
मनसा लिङ्गरूपेण स्वप्ने विचरतो यथा॥ ३५॥

जिस प्रकार स्वप्नमें विचरणशील जीवके लिए उपाधिस्वरूप मन द्वारा व्याघ्र, सर्प, चोर आदि वस्तुओंके वास्तवमें विद्यमान न रहनेपर भी व्याघ्रादि-दर्शनसे उत्पन्न दुःख केवल जागरणके द्वारा निद्रा-दोषके दूर होनेके अतिरिक्त अन्य किसी भी उपायसे दूर नहीं होता, उसी प्रकार अविद्याकी निवृत्तिके अतिरिक्त प्राकृत कर्मोंसे संसारकी निवृत्ति नहीं हो सकती॥ ३५॥

अथात्मनोऽर्थभूतस्य यतोऽनर्थपरम्परा।
संसृतिस्तद्व्यवच्छेदो भक्त्या परमया गुरौ॥ ३६॥
वासुदेवे भगवति भक्तियोगः समाहितः।
सध्रीचीनेन वैराग्यं ज्ञानञ्च जनयिष्यति॥ ३७॥

अतएव जिस अज्ञानके कारण पुरुषार्थ-स्वरूप जीवात्माकी जन्म-मरणादि दुःखोंसे परिपूर्ण संसार-गति होती है, एकमात्र परमगुरु भगवान् श्रीवासुदेवके प्रति परम भक्तिसे ही उस अज्ञानका भलीभाँति विनाश हो सकता है। भगवान् श्रीवासुदेवमें ही सम्यक् प्रकारसे की गयी भक्ति अर्थात् एकमात्र भगवत्-सुख तात्पर्यमयी अथवा कृष्णेन्द्रिय तृप्तिमूलक भक्तियोगके अनुष्ठित होनेपर ही यथार्थ रूपसे भगवत्-ज्ञान और कृष्णसम्बन्ध-रहित विषयोंसे वैराग्य उत्पन्न होता है॥ ३६-३७॥

सोऽचिरादेव राजर्षे स्यादच्युतकथाश्रयः।
शृण्वतः श्रद्दधानस्य नित्यदा स्यादधीयतः॥ ३८॥

हे राजर्षे! जो व्यक्ति श्रद्धासे युक्त होकर निरन्तर हरिकथा-श्रवण एवं भगवत्-लीलाओंका अध्ययन करता है, भगवान् श्रीअच्युतकी कथाओंका आश्रय करनेवाला वह भक्तियोग बहुत कम समयमें ही उसमें आविर्भूत हो जाता है॥ ३८॥

यत्र भागवता राजन् साधवो विशदाशयाः।
भगवद्गुणानुकथन-श्रवणव्यग्रचेतसः ॥ ३९॥

तस्मिन् महन्मुखरिता मधुभिच्चरित्र-
पीयूषशेषसरितः परितः स्रवन्ति।
ता ये पिबन्त्यवितृषो नृप गाढकर्णै-
स्तान् न स्पृशन्त्यशनतृड्भयशोकमोहाः॥ ४०॥

हे राजन्! जिस स्थानपर सदाचार-सम्पन्न, विशुद्धचित्त एवं भगवत्-गुणानुवादके श्रवण-कीर्त्तनके लिए व्याकुल-चित्तवाले भागवत-जन वास करते हैं, हे नृप! उस स्थानपर महापुरुषोंके मुखसे निःसृत भगवान् श्रीमधुरिपुके चरितामृतकी धारावाहिनी सरिताएँ चारों दिशाओंमें प्रवाहित होती हैं। जो अतृप्त एवं अभिनिविष्ट कर्णकुहरोंके द्वारा उस अमृतवहनकारी धाराओंकी सेवा करते हैं—उन्हें भूख, प्यास, भय, शोक और मोह आदि स्पर्श भी नहीं कर सकते॥ ३९-४०॥

एतैरुमद्रुतो नित्यं जीवलोकः स्वभावजैः।
न करोति हरेर्नूनं कथामृतनिधौ रतिम्॥ ४१॥

हाय! स्वाभाविक रूपसे प्राप्त होनेवाले भूख-प्यासादि विघ्नोंके द्वारा नित्य अभिभूत होकर जीव हरिकथामृतसिन्धुमें आसक्ति नहीं कर पाता॥ ४१॥

प्रजापतिपतिः साक्षाद्भगवान् गिरिशो मनुः।
दक्षादयः प्रजाध्यक्षा नैष्ठिकाः सनकादयः॥ ४२॥

मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः।
भृगुर्वसिष्ठ इत्येते मदन्ता ब्रह्मवादिनः॥ ४३॥

अद्यापि वाचस्पतयस्तपोविद्यासमाधिभिः।
पश्यन्तोऽपि न पश्यन्ति पश्यन्तं परमेश्वरम्॥ ४४॥

प्रजापतियोंके भी पति साक्षात् परम ऐश्वर्यशाली ब्रह्मा, महादेव, मनु और दक्ष आदि प्रजापति, ऊर्ध्वरेता सनकादि मुनि, मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु, वशिष्ठ तथा मेरे जैसे अन्यान्य ब्रह्मवादी एवं वाचस्पतिगण तपस्या, विद्या एवं समाधि आदि उपायोंके द्वारा सतत अनुसन्धान करनेपर भी आज तक सर्वसाक्षी परमेश्वरको जान नहीं सके॥ ४२-४४॥

शब्दब्रह्मणि दुष्पारे चरन्त उरुविस्तरे।
मन्त्रलिङ्गैर्व्यवच्छिन्नं भजन्तो न विदुः परम्॥ ४५॥

शब्द-ब्रह्म अर्थात् शब्दात्मक वेद भी दुर्बोध और अत्यधिक विस्तृत हैं, वह अर्थकी दृष्टिसे विशाल और शाब्दिक दृष्टिसे दुष्पार हैं। अतः उनमें विचरण करके भी तथा वेदोंके मन्त्रोंके अर्थानुसार वज्रहस्तादि-चिह्नोंको धारण करनेवाले इन्द्रादि देवताओंकी उपासना करनेपर भी हम परम पुरुष परमेश्वरको तत्त्वतः नहीं जान पाये॥ ४५॥

यदा यस्यानुगृह्णाति भगवानात्मभावितः।
स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिताम्॥ ४६॥

जिस समय परिपूर्ण ऐश्वर्यशाली भगवान् किसी भी जीवात्माको आत्म-समर्पण करते देखकर उसपर प्रसन्न होकर अथवा उसकी आत्मवृत्तिके द्वारा सेवित होकर उसपर कृपा करते हैं, उस समय वह भक्त लौकिक-व्यवहार और वैदिक कर्मकाण्डमें अत्यधिक आसक्तिका परित्याग कर देता है॥ ४६॥

तस्मात् कर्मसु बर्हिष्मन्नज्ञानादर्थकाशिषु।
मार्थदृष्टिं कृथाः श्रोत्रस्पर्शिष्वस्पृष्टवस्तुषु॥ ४७॥

इसलिए हे बर्हिष्मन्! अज्ञानताके कारण परमार्थके रूपमें प्रतीयमान केवल कानोंको ही प्रिय लगनेवाले एवं वस्तुतः वास्तव वस्तुके साथ सम्पर्कमात्रसे रहित कर्मोंको परमार्थ मत समझना॥ ४७॥

स्वं लोकं न विदुस्ते वै यत्र देवो जनार्दनः।
आहुर्धूम्रधियो वेदं सकर्मकमतद्विदः॥ ४८॥

जो मलिनमति हैं, वे ही वेदोंको कर्मपरक मानते हैं। वे निश्चय ही वेदोंके तात्पर्यसे अवगत नहीं हैं, क्योंकि जहाँ भगवान् जनार्दन नित्य विराजमान रहते हैं, वे उन वैकुण्ठादि लोकोंको स्व-स्वरूपके प्राप्य लोकोंके रूपमें जान नहीं पाते॥ ४८॥

आस्तीर्य दर्भैः प्रागग्रैः कात्स्न्र्येन क्षितिमण्डलम्।
स्तब्धो बृहद्वधान्मानी कर्म नावैषि यत् परम्।
तत् कर्म हरितोषं यत् सा विद्या तन्मतिर्यया॥ ४९॥

हे राजन्! पूर्वकी ओर अग्रभागवाले कुशाओंसे सम्पूर्ण पृथ्वीका आच्छादन और बहुत-से पशुओंका वध करके तुम स्वयंको 'महायागकारी' मानकर अभिमान कर रहे हो, इसीलिए तुम दाम्भिक होकर भगवत्-आराधनारूपी हरिसेवाके अनुकूल कर्मको ही एकमात्र परम कर्त्तव्यके रूपमें जान नहीं पा रहे हो। देखो, जिसके द्वारा श्रीहरि सन्तुष्ट होते हैं, वही जीवका एकमात्र कर्त्तव्य कर्म है और जिसके द्वारा श्रीहरिके प्रति मति होती है, वही विद्या है॥ ४९॥

हरिर्देहभृतामात्मा स्वयं प्रकृतिरीश्वरः।
तत्पादमूलं शरणं यतः क्षेमो नृणामिह॥ ५०॥

श्रीहरि समस्त देहधारी जीवोंके अन्तर्यामी परमात्मा हैं। वे ही सभीके एकमात्र मूल कारण और नियन्ता हैं। अतएव इस संसारमें उनके चरणतल ही मनुष्योंके लिए एकमात्र आश्रयकी वस्तु हैं। श्रीहरिके चरणाश्रयसे ही जीवोंका सब प्रकारसे मङ्गल होता है॥ ५०॥

स वै प्रियतमश्चात्मा यतो न भयमण्वपि।
इति वेद स वै विद्वान् यो विद्वान् स गुरुर्हरिः॥ ५१॥

भगवान्के भजनमें लेशमात्र भी भय नहीं है, क्योंकि भगवान् ही सभी जीवोंके प्रियतम आत्मा हैं—जो यह जानता है, वही विद्वान है। जो विद्वान है, वही गुरु है और जो गुरु है, वही श्रीहरिसे अभिन्न है॥ ५१॥

श्रीनारद उवाच—

प्रश्न एवं हि संछिन्नो भवतः पुरुषर्षभ।
अत्र मे वदतो गुह्यं निशामय सुनिश्चितम्॥ ५२॥

देवर्षि श्रीनारदने कहा—हे पुरुषश्रेष्ठ! आपने जो प्रश्न किया था, मैंने उसका उत्तर दे दिया। अब साधु-सम्मत एवं वेदगुह्य एक और बात बतला रहा हूँ, श्रवण करो॥ ५२॥

क्षुद्रंचरं सुमनसां शरणे मिथित्वा
रक्तं षडङ्घ्रिगणसामसु लुब्धकर्णम्।
अग्रे वृकानसुतृपोऽविगणय यान्तं
पृष्ठे मृगं मृगय लुब्धकबाणभिन्नम्॥ ५३॥

हे राजन्! एकबार पुष्पोद्यानमें हरिणीमें आसक्त होकर एक हिरण उसके साथ विहार करता हुआ आनन्दमग्न होकर घूम रहा था। वह अति सामान्य दुर्वा आदि छोटे-छोटे अङ्कुरोंको चर रहा था, उसके कान भ्रमरोंके मधुर गुञ्जारमें लुब्ध हो रहे थे, वह अचानक अपने सम्मुख दूसरोंको मारकर अपना पेट भरनेवाले व्याघ्रोंको देखकर भी उनके प्रति दृष्टिपात नहीं करके ही चला जा रहा था तथा पीछेसे शिकारीके द्वारा छोड़े गये बाणसे उसके बिद्ध होनेमें भी और अधिक विलम्ब नहीं था। जरा, क्षुद्र सुखान्वेषी मृतप्राय इस हिरणकी मरणासन्न दशापर विचार तो करो॥ ५३॥

सुमनःसमधर्मणां स्त्रीणां शरण आश्रमे पुष्पमधुगन्धवत् क्षुद्रतमं काम्यकर्मविपाकजं कामसुखलवं जैह्व्यौपस्थ्यादि विचिन्वन्तं मिथुनीभूय तदभिनिवेशितमनसं षड्घ्रिगणसामगीतवदतिमनोहरवनितादिजनालापेष्व-तितरामतिप्रलोभितकर्णमग्रे वृकयूथवदात्मन आयुर्हरतोऽहोरात्रान्तान् काललवविशेषानविगणय्य गृहेषु विहरन्तं पृष्ठत एव परोक्षमनुप्रवृत्तो लुब्धकः कृतान्तोऽन्तःशरेण यमिह पराविध्यति तमिममात्मानमहो राजन् भिन्नहृदयं द्रष्टुमर्हसीति यथा मृगयुहतं मृगमिति॥ ५४॥

हे राजन्! जो प्रारम्भिक अवस्थामें सुखद और परिणाममें दुःखद पुष्पोंके समान धर्मवाली स्त्रियोंके घरमें काम्य-कर्मोंसे उत्पन्न पुष्पोंके मधु और गन्धके समान अतिशय तुच्छ भोजन और कामसुखको ही क्रमशः जिह्वा एवं उपस्थादि इन्द्रियोंसे निरन्तर ढूँढ़ रहे हैं; जो सब समय स्त्रियोंसे ही मिलकर उनमें ही चित्तको लगाकर रखते हैं;

जिनके कान स्त्री-पुत्रादिरूप भ्रमरोंकी झङ्कारके समान मनोहर आलापोंमें ही मुग्ध हो रहे हैं; हिरणके सम्मुख स्थित व्याघ्रके समान काल जिनकी आयुका दिन-रात हरण कर रहा है तथा शिकारीके समान काल पीछेसे अर्थात् चुपकेसे बाण चलाकर जिनके हृदयको दूरसे बींधना चाहता है, तथापि जो इन सबको देखकर भी अनदेखा करके गृहस्थीके सुखोंमें ही रमे हुए हैं—उस मृगके समान मरणोन्मुख तुम आत्माके विषयमें कुछ तो विचार करो॥ ५४॥

स त्वं विचक्ष्य मृगचेष्टितमात्मनोऽन्त-
श्चित्तं नियच्छ हृदि कर्णधुनीञ्च चित्ते।
जह्यङ्गनाश्रममसत्तमयूथगाथं
प्रीणीहि हंसशरणं विरम क्रमेण॥ ५५॥

हे राजन्! तुम अपनी आत्माकी उपरोक्त मृग जैसी चेष्टाके विषयमें विचार करके आत्मामें मनको स्थापित करो और कानोंको अच्छे लगनेवाली कलनादिनी स्रोतस्विनी स्वरूप कर्मकाण्डकी फल-श्रुतियोंके प्रति आसक्तिको छोड़ो। जहाँपर कामुकजनोंकी असत् वार्त्ताएँ मुखरित होती रहती हैं, उस गृहस्थाश्रमका परित्याग करके शुद्धजीवोंके एकमात्र आश्रय श्रीहरिसे प्रीति स्थापित करो और क्रमशः संसार-प्रवृत्ति अर्थात् विषयोंसे विरत हो जाओ॥ ५५॥

श्रीराजोवाच—

श्रुतमन्वीक्षितं ब्रह्मन् भगवान् यदभाषत।
नैतज्जानन्त्युपाध्यायाः किं न ब्रूयुर्विदुर्यदि॥ ५६॥

राजा प्राचीनबर्हिने कहा—हे ब्रह्मन्! आपने जो कुछ बतलाया, मैंने उसे ध्यानसे सुना तथा आपके द्वारा कथित विषयपर विचार करके देखा कि मुझे कर्मोंका उपदेश देनेवाले गुरुजन निश्चय ही इस तत्त्वको नहीं जानते थे। यदि वे इस तत्त्वको जानते, तो मुझे इसका उपदेश क्यों नहीं करते?॥ ५६॥

संशयोऽत्र तु मे विप्र सञ्छिन्नस्तत्कृतो महान्।
ऋषयोऽपि हि मुह्यन्ति यत्र नेन्द्रियवृत्तयः॥ ५७॥

हे विप्र! मेरे कर्मोपदेशक गुरुओंके वचनोंके साथ आपके वचनोंका विरोध है। उन्होंने मेरे हृदयमें भक्ति, ज्ञान एवं वैराग्यके विषयमें असम्भावनारूप जो महान् संशय उत्पन्न कर दिया था, आपने उसका पूरी तरहसे छेदन कर डाला है। इस विषयमें जितेन्द्रिय ऋषियोंको भी मोह हो जाता है॥५७॥

कर्माण्यारभते येन पुमानिह विहाय तम्।
अमुत्रान्येन देहेन जुष्टानि स यदश्नुते॥५८॥

(कर्ममार्गमें मेरा एक संशय है, आप कृपापूर्वक उसका भी छेदन कीजिये।) जीव इस लोकमें जिस देहके द्वारा कर्म करते हैं, वे उसे इसी लोकमें परित्याग कर देते हैं और कर्मानुसार स्वर्ग या नरकमें अन्य देहके द्वारा कर्मफलका भोग करते हैं—ऐसा सुना जाता है। किन्तु यह किस प्रकार सम्भव है?॥५८॥

इति वेदविदां वादः श्रूयते तत्र तत्र ह।
कर्म यत् क्रियते प्रोक्तं परोक्षं न प्रकाशते॥५९॥

वेदविद्जनोंके कथनोंसे भी यह सुना जाता है कि वेदोक्त जो कर्म किये जाते हैं, वे दूसरे ही क्षण नष्ट हो जाते हैं। अतः मुझे इसमें भी संशय होता है कि फिर उनका परलोकमें फलभोग किस प्रकार सम्भव है?॥५९॥

श्रीनारद उवाच—
येनैवारभते कर्म तेनैवामुत्र तत् पुमान्।
भुङ्क्ते ह्यव्यवधानेन लिङ्गेन मनसा स्वयम्॥६०॥

देवर्षि श्रीनारदने (राजा प्राचीनबर्हिके प्रथम संशयका छेदन करते हुए) कहा—जीव स्थूल देह द्वारा जो समस्त कर्म करता है, वासनामय लिङ्गदेह ही उसका मूल कारण है। स्थूल देहके नष्ट होनेपर भी लिङ्गदेहका नाश नहीं होता। वह लिङ्गदेह ही स्वर्ग-नरकादिमें फल भोग करता है॥६०॥

शयानमिममुत्सृज्य श्वसन्तं पुरुषो यथा।
कर्मात्मन्याहितं भुङ्क्ते तादृशेनेतरेण वा॥६१॥

जिस प्रकार जीव जाग्रत शरीरका अभिमान छोड़कर स्वप्नावस्थामें मनःकल्पित देव, मनुष्य अथवा पशु देहमें विषय-भोग करता है, उसी प्रकार स्वर्गादि लोकोंमें भी जीव कर्मफलके अनुसार स्वप्नके समान देहको प्राप्त करता है॥ ६१॥

ममैते मनसा यद्यदसावहमिति ब्रुवन्।
गृह्णीयात् तत् पुमान् राद्धं कर्म चेन पुनर्भवः॥ ६२॥

(राजा प्राचीनबर्हिके दूसरे संशयका छेदन करते हुए देवर्षि नारदने कहा) 'मैं ब्राह्मण हूँ', 'मैं क्षत्रिय हूँ'—इस प्रकारके अभिमानसे देहाभिमानी जीव 'यह कर्म मेरा हित करनेवाला है'—इस प्रकार विचार करके जिन कर्मोंको करता है, वे समस्त कर्म विनाशी होनेपर भी कर्मफल प्रदाता ईश्वरके द्वारा जीवको यथायोग्य कर्मफलोंको प्राप्त कराते हैं। कर्माभिमान द्वारा जीवका पुनर्जन्म होता है॥ ६२॥

यथानुमीयते चित्तमुभयैरिन्द्रियेहितैः।
एवं प्राग्देहजं कर्म लक्ष्यते चित्तवृत्तिभिः॥ ६३॥

जिस प्रकार इन्द्रियोंके ज्ञान और कर्मरूप दो प्रकारकी चेष्टाओं द्वारा चित्तका अनुमान किया जाता है, उसी प्रकार चित्तवृत्ति द्वारा पूर्व-पूर्व शरीरोंसे किये गये कर्मोंका भी अनुमान होता है॥ ६३॥

नानुभूतं क्व चानेन देहेनादृष्टमश्रुतम्।
कदाचिदुपलभ्येत यद्रूपं यादृगात्मनि॥ ६४॥

इस वर्त्तमान स्थूलदेहके द्वारा जिस प्रकारकी वस्तुका पहले कभी भी अनुभव नहीं हुआ, जिसे कभी देखा अथवा सुना भी नहीं गया, वह भी कभी-कभी स्वप्न आदि अवस्थामें मनमें उदित होती है एवं वह जिस प्रकारकी होती है, वैसी ही मनमें अनुभव होती है॥ ६४॥

तेनास्य तादृशं राजन् लिङ्गिनो देहसम्भवम्।
श्रद्धत्स्वाननुभूतोऽर्थो न मनः स्प्रष्टुमर्हति॥ ६५॥

अतएव हे राजन्! वासनामय लिङ्गदेहका आश्रय करनेवाले जीवका उस प्रकारका अनुभव पूर्व जन्मके देह-सम्बन्धसे उत्पन्न

है—यह निश्चित रूपसे जानो। इसका कारण है कि जिसका पहले अनुभव नहीं होता, उसकी मनमें स्फूर्ति भी नहीं हो सकती॥ ६५॥

मन एव मनुष्यस्य पूर्वरूपाणि शंसति।
भविष्यतश्च भद्रं ते तथैव न भविष्यतः॥ ६६॥

हे राजन्! आपका मङ्गल हो! जीवकी उग्र और शान्तादि मनोवृत्तियों द्वारा ही—'यह पहले इस प्रकारका था, बादमें ऐसा होगा अथवा नहीं होगा'—उसके पूर्वजन्म एवं परजन्मके अशुभ और शुभ शरीरोंसे अवगत हुआ जा सकता है॥ ६६॥

अदृष्टमश्रुतञ्चात्र क्वचिन्मनसि दृश्यते।
यथा तथानुमन्तव्यं देशकालक्रियाश्रयम्॥ ६७॥

कभी-कभी स्वप्नमें देश, काल अथवा क्रिया-सम्बन्धी ऐसी बातें भी दिखायी देती हैं, जो पहले कभी देखी या सुनी नहीं गयी। जैसे पर्वतके ऊपर समुद्र, दिनमें तारे अथवा अपना कटा हुआ सिर दिखायी देना इत्यादि। इनके दीखनेमें निद्रादोष अर्थात् भ्रान्तिको ही कारण मानना चाहिये॥ ६७॥

सर्वे क्रमानुरोधेन मनसीन्द्रियगोचराः।
आयान्ति बहुशो यान्ति सर्वे समनसो जनाः॥ ६८॥

बहुत जन्मोंके संस्कारोंसे युक्त मन सभी जीवोंके साथ होता है। शब्दादि इन्द्रियोंके भोग्य-विषय पाप-पुण्यादि कर्मफलोंके अनुसार बहुत प्रकारके हैं। मनसे ही समस्त विषयोंका स्मरण एवं विस्मरण होता है॥ ६८॥

सत्त्वैकनिष्ठे मनसि भगवत्पार्श्ववर्त्तिनि।
तमश्चन्द्रमसीवेदमुपरज्यावभासते ॥ ६९॥

भगवान्‌के चिन्तनमें लगे हुए विशुद्ध सत्त्वात्मक चित्तमें यह परिदृश्यमान जगत् प्रकाशित होता है अर्थात् भगवान् जिस प्रकार समग्र विश्वका दर्शन करते हैं, उसी प्रकार भगवत्-इच्छासे उनके भक्त भी समग्र विश्वका दर्शन करते हैं। वैसी प्रतीति सार्वकालिक

नहीं होनेपर भी ग्रहणके समय चन्द्रके साथ राहुके मिलनकी भाँति कदाचित् ही होती है॥ ६९॥

नाहं ममेति भावोऽयं पुरुषे व्यवधीयते।
यावद्बुद्धिमनोऽक्षार्थ-गुणव्यूहो ह्यनादिमान्॥ ७०॥

जब तक बुद्धि, मन, इन्द्रिय, विषय (पाँच तन्मात्राएँ) और गुणोंका परिणाम स्वरूप लिङ्गदेह रहता है, तब तक जीवका स्थूलदेहसे 'मैं और मेरा' भावरूप सम्बन्ध दूर नहीं होता॥ ७०॥

सुप्तिमूर्च्छोपतापेषु प्राणायनविघाततः।
नेहतेऽहमिति ज्ञानं मृत्युप्रज्वारयोरपि॥ ७१॥

निद्रा, मूर्च्छा, अत्यधिक क्लेश और मृत्युके समय प्रबल ज्वरावस्थामें जीवका ज्ञान अतिशय संकुचित हो जाता है, इसलिए उस समय उसमें 'मैं यह शरीर हूँ' ऐसी स्पष्ट प्रतीति नहीं रहती॥ ७१॥

गर्भे बाल्येऽप्यपौष्कल्यादेकादशविधं तदा।
लिङ्गं न दृश्यते यूनः कुह्वां चन्द्रमसो यथा॥ ७२॥

ग्यारह इन्द्रियोंसे युक्त लिङ्गदेह युवावस्थामें स्पष्ट प्रतीत होता है, पर गर्भावस्था और बाल्यकालमें इन्द्रियोंका पूर्ण विकास न होनेके कारण उसकी उसी प्रकार प्रतीति नहीं होती, जिस प्रकार अमावस्याकी रात्रिमें चन्द्रमा रहते हुए भी दिखायी नहीं देता॥ ७२॥

अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्त्तते।
ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा॥ ७३॥

जिस प्रकार असत् सांसारिक विषयोंका चिन्तन करनेवाले व्यक्तियोंके लिए स्वप्नावस्थामें विषयादिका अभाव होनेपर भी विषय-ग्रहणरूप अनर्थ उपस्थित होता है, उसी प्रकार लिङ्गदेहके अभाव (अर्थात् उसकी संकोचावस्था) में भी जीवका जन्म-मरणरूप संसारसे छुटकारा नहीं होता॥ ७३॥

एवं पञ्चविधं लिङ्गं त्रिवृत् षोडशविस्तृतम्।
एष चेतनया युक्तो जीव इत्यभिधीयते॥ ७४॥

पाँच तन्मात्राएँ और ग्यारह इन्द्रियाँ—इन सोलह तत्त्वोंके रूपमें विकसित त्रिगुणात्मक लिङ्गदेह जब चेतनाशक्तिसे युक्त होता है, तब उसे 'जीव' कहते हैं॥ ७४॥

अनेन पुरुषो देहानुपादत्ते विमुञ्चति।
हर्षं शोकं भयं दुःखं सुखञ्चानेन विन्दति॥ ७५॥

इस लिङ्गदेहके द्वारा ही देही जीव भिन्न-भिन्न स्थूलदेहोंको ग्रहण एवं परित्याग करता है और इसीके द्वारा ही हर्ष, शोक, भय, दुःख एवं सुखादिका अनुभव करता है॥ ७५॥

यथा तृणजलौकेयं नापयात्यपयाति च।
न त्यजेन्म्रियमाणोऽपि प्राग्देहाभिमतिं जनः॥ ७६॥
यावदन्यं न विन्देत व्यवधानेन कर्मणाम्।
मन एव मनुष्येन्द्र भूतानां भवभावनम्॥ ७७॥

जिस प्रकार जोंक अन्य तिनकेका सहारा लेकर ही पहले धारण किये हुए तृणका परित्याग करती है, उसी प्रकार जीव मरणकाल उपस्थित होनेपर दूसरे जन्ममें प्राप्त होनेवाले देहके कारण स्वरूप कर्मोंका आश्रय करके जब तक दूसरी देहको प्राप्त नहीं करता, तब तक पूर्वदेहके अभिमानका परित्याग नहीं करता। हे नरनाथ! मन ही जीवोंके जन्म-मरणरूप संसारकी प्राप्तिका कारण है॥ ७६-७७॥

यदाक्षैश्चरितान् ध्यायन् कर्माण्याचिनुतेऽसकृत्।
सति कर्मण्यविद्यायां बन्धः कर्मण्यनात्मनः॥ ७८॥

विषय-वासनाओंसे ही कर्मोंकी उत्पत्ति होती है। कर्म किये जानेपर जीव चक्षु आदि इन्द्रियोंके द्वारा उन कर्मोंका फल भोगते हैं और उन सब विषयोंका मनके द्वारा चिन्तन करते हुए जीव पुनः-पुनः कर्म करते रहते हैं। इन कर्मोंसे ही जीवका बन्धन होता है॥ ७८॥

अतस्तदपवादार्थं भज सर्वात्मना हरिम्।
पश्यंस्तदात्मकं विश्वं स्थित्युत्पत्त्यप्यया यतः॥ ७९॥

श्रीभगवान्‌से ही इस जगत्‌की सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय होती है, इसलिए इस जगत्‌को भगवान्‌के अधीन रूपमें देखो और अविद्याको दूर करनेके लिए सर्वान्तकरणसे भगवान् श्रीहरिका भजन करो॥ ७९॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

भागवतमुख्यो भगवान् नारदो हंसयोर्गतिम्।
प्रदर्श्य नृपमामन्त्र्य सिद्धलोकं ततोऽगमत्॥ ८०॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! इस प्रकार महाभागवत भगवान् श्रीनारदने राजा प्राचीनबर्हिको जीव एवं ईश्वरके स्वरूपका उपदेश दिया। फिर वे उनसे विदायी लेकर सिद्धलोकको चले गये॥ ८०॥

प्राचीनबर्ही राजर्षिः प्रजासर्गाभिरक्षणे।
आदिश्य पुत्रानगमत् तपसे कपिलाश्रमम्॥ ८१॥

राजर्षि प्राचीनबर्हि भी मन्त्रियोंको 'मेरे पुत्रोंसे प्रजाकी रक्षाके लिए कह देना'—यह आदेश देकर तपस्याके लिए कपिल मुनिके आश्रममें चले गये॥ ८१॥

तत्रैकाग्रमना धीरो गोविन्दचरणाम्बुजम्।
विमुक्तसङ्गोऽनुभजन् भक्त्या तत्साम्यतामगात्॥ ८२॥

राजा प्राचीनबर्हिने कपिल मुनिके आश्रममें जितेन्द्रिय होकर समस्त प्रकारके दुःसङ्गका परित्याग करके एकाग्रचित्तसे भक्तिपूर्वक भगवान्‌के चरणकमलोंका अनुक्षण भजन करते हुए भगवत्-सारूप्यको प्राप्त किया॥ ८२॥

एतदध्यात्मपारोक्ष्यं गीतं देवर्षिणानघ।
यः श्रावयेद् यः शृणुयात् स लिङ्गेन विमुच्यते॥ ८३॥

हे विदुर! जो देवर्षि नारद द्वारा उपाख्यानके छलसे वर्णन किये गये आत्मतत्त्वका श्रवण करते हैं अथवा दूसरोंको श्रवण कराते हैं, वे दोनों ही संसारके मूल वासनामय लिङ्गदेहसे मुक्त हो जाते हैं॥ ८३॥

एतन्मुकुन्दयशसा भुवनं पुनानं
देवर्षिवर्यमुखनिःसृतमात्मशौचम् ।

यः कीर्त्यमानमधिगच्छति पारमेष्ठ्यं
नास्मिन् भवे भ्रमति मुक्तसमस्तबन्धः॥ ८४॥

देवर्षि नारदके मुखनिःसृत यह उपाख्यान भगवान् मुकुन्दके यशसे परिपूर्ण है, अतः यह तीनों भुवनोंको पवित्र करनेवाला, चित्तका संशोधन करनेवाला और परमात्म-पदको प्राप्त करानेवाला है। जो इसका कीर्त्तन करेंगे, वे समस्त बन्धनोंसे मुक्त हो जायेंगे और उन्हें पुनः इस संसार-चक्रमें भ्रमण नहीं करना पड़ेगा॥ ८४॥

अध्यात्मपारोक्ष्यमिदं मयाधिगतमद्भुतम्।
एवं स्त्रियाश्रयः पुंसश्छिन्नोऽमुत्र च संशयः॥ ८५॥

हे विदुर! अति चमत्कारपूर्ण उपाख्यानके छलसे वर्णित यह आत्मतत्त्वोपदेश मैंने गुरुकृपासे प्राप्त किया था। इसके द्वारा 'स्त्री' अर्थात् 'बुद्धि' से युक्त आत्माका अहङ्कार छिन्न-भिन्न हो जाता है एवं स्वर्गादि लोकोंमें किस प्रकारसे कर्मफलोंका भोग होता है, वह संशय भी दूर हो जाता है॥ ८५॥

पैंतालीसवें श्लोकके बाद 'पदरत्नावली' टीकामें श्रीमन्मध्वाचार्यानुग श्रीमद्विजयध्वजतीर्थने इन दो श्लोकोंको अतिरिक्त पाठके रूपमें उद्धृत किया है—

सर्वेषामेव जन्तूनां सततं देहपोषणे।
अस्ति प्रज्ञा समायत्ता को विशेषस्तदा नृणाम्॥ १॥

अपने देह-गृहके पालन-पोषणकी चेष्टा पशुओंमें भी सर्वदा ही देखी जाती है, इसलिए इस विषयमें हरिविमुख मनुष्योंके साथ उनका पार्थक्य ही कहाँ है?॥ १॥

लब्ध्वेहान्ते मनुष्यत्वं हित्वा देहाद्यसद्ग्रहम्।
आत्मसृत्या विहायेदं जीवात्मा स विशिष्यते॥ २॥

बहुत जन्मोंके बाद परमार्थसाधक मनुष्यजन्म प्राप्त करके जो इस स्थूल एवं लिङ्ग देहमें 'मैं और मेरा' रूप असत् आग्रहका त्याग कर देते हैं, वे आत्मज्ञानके प्रभावसे इस देहका परित्याग करके भी ब्रह्मसे पृथक् भाव अर्थात् आत्म-सत्तामें विद्यमान रहते हैं॥ २॥

श्रीमद्विजयध्वज (७९वे) श्लोकके बाद 'पदरत्नावली' टीकामें इन दो श्लोकोंको अतिरिक्त पाठके रूपमें उद्धृत करते हैं—

भक्तिः कृष्णे दया जीवेष्वकुण्ठज्ञानमात्मनि।
यदि स्यादात्मनो भुयादपवर्गस्तु संसृतेः॥ १॥

यदि जीवकी श्रीकृष्णमें भक्ति, जीवोंपर दया एवं आत्मतत्त्वज्ञान अर्थात् स्व-स्वरूपकी उपलब्धि हो जाती है, तो वह संसारसे मुक्त हो जाता है॥ १॥

अदृष्टं दृष्टवन्नङ्क्षेद्भूतं स्वप्नवदन्यथा।
भूतं भवद्भविष्यच्च सुप्तं सर्वरहोरहः॥ २॥

स्वर्गादि सुख भी लौकिक सुखोंके समान नश्वर हैं, अतः वे स्वप्नके समान अनित्य हैं। इस जगत्में जो कुछ उत्पन्न हुआ था, होगा, या फिर हुआ है—सभी कुछ स्वप्नके समान है, यही समस्त शास्त्रोंका गूढ़ रहस्य है॥ २॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां चतुर्थस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे श्रीप्राचीनबर्हिर्नारद-संवादो नामैकोनत्रिंशोऽध्यायः॥

त्रिंशोऽध्यायः

प्रचेताओंको भगवान्‌का वरदान, उनका घर लौटकर विवाह करना और राज्य-पालन

श्रीविदुर उवाच—

ये त्वयाभिहिता ब्रह्मन् सुताः प्राचीनबर्हिषः।
ते रुद्रगीतेन हरिं सिद्धिमापुः प्रतोष्य काम्॥ १॥

श्रीविदुरने कहा—हे ब्रह्मन्! आपने प्राचीनबर्हिके जिन पुत्रोंका पहले वर्णन किया था, उन्होंने 'रुद्रगीत' नामक स्तोत्रके द्वारा श्रीहरिको प्रसन्न करके किस प्रयोजनकी सिद्धि की?॥ १॥

किं बार्हस्पत्येह परत्र वाथ
कैवल्यनाथप्रियपार्श्ववर्तिनः ।
आसाद्य देवं गिरिशं यदृच्छया
प्रापुः परं नूनमथ प्रचेतसः॥ २॥

हे बृहस्पति-शिष्य मैत्रेय! उन प्रचेताओंने संयोगवश देवादिदेव श्रीरुद्रका सान्निध्य प्राप्त करके मुकुन्दप्रिय गिरीशकी कृपासे निश्चय ही परमपदको प्राप्त किया था। किन्तु इसके पहले उन्होंने इस लोक अथवा परलोकमें कौन-सा फल प्राप्त किया था—यह भी बतलाइये॥ २॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

प्रचेतसोऽन्तरुदधौ पितुरादेशकारिणः।
जपयज्ञेन तपसा पुरञ्जनमतोषयन्॥ ३॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! प्रचेताओंने पिताकी आज्ञानुसार प्रजा-सृष्टिकी कामनासे समुद्रके भीतर खड़े होकर रुद्रगीत जपरूप यज्ञ एवं तपस्याके द्वारा सम्पूर्ण विश्वके स्त्रष्टा परम पुरुष श्रीहरिको सन्तुष्ट किया था॥ ३॥

दशवर्षसहस्रान्ते पुरुषस्तु सनातनः।
तेषामाविरभूत् कृच्छ्रं शान्तेन शमयन् रुचा॥ ४॥

प्रचेताओंके द्वारा तपस्या करते हुए दस हजार वर्ष बीत जानेपर सनातन–पुरुष भगवान् श्रीविष्णु अपनी प्रशान्त कान्तिके द्वारा उनके तपसे उत्पन्न कष्टको शान्त करते हुए उनके सम्मुख आविर्भूत हुए थे॥ ४॥

सुपर्णस्कन्धमारूढो मेरुशृङ्गमिवाम्बुदः।
पीतवासा मणिग्रीवः कुर्वन् वितिमिरा दिशः॥ ५॥

काशिष्णुना कनकवर्णविभूषणेन
भ्राजत्कपोलवदनो विलसत्किरीटः।
अष्टायुधैरनुचरैर्मुनिभिः सुरेन्द्रै–
रासेवितो गरुडकिन्नरगीतकीर्तिः॥ ६॥

पीनायताष्टभुजमण्डलमध्यलक्ष्म्या
स्पर्धत्श्रिया परिवृतो वनमालयाद्यः।
बर्हिष्मतः पुरुषः आह सुतान् प्रपन्नान्
पर्जन्यनादरुतया सघृणावलोकः॥ ७॥

उस समय भगवान् गरुड़के स्कन्धपर आरोहण करके इस प्रकार शोभा पा रहे थे, मानो सुमेरु पर्वतके शिखरपर श्याम मेघ माला छायी हो। उन्होंने कमरमें पीताम्बर और कण्ठमें कौस्तुभमणि धारण की थी। उन स्वप्रकाश पुरुषकी दिव्य अङ्ग–प्रभा दसों दिशाओंके अन्धकारको दूर कर रही थी। उनके कर्ण समुज्ज्वल स्वर्णाभूषणोंसे विभूषित थे, जिनकी कान्तिसे उनके कमनीय कपोल एवं मनोहर मुखमण्डल दीप्त हो रहा था। उनके सिरपर मुकुट झिलमिला रहा था तथा आठों भुजाओंमें उन्होंने आठ प्रकारके अस्त्र धारण कर रखे थे। मुनि, देवता एवं उनके पार्षदगण उनकी सेवामें प्रस्तुत थे। गरुड़ स्वयं किन्नर स्वरूपमें पंखोंकी ध्वनिके द्वारा उनका यशोगान कर रहे थे। उनके गलेमें लटकती हुई वनमाला उनकी आजानुलम्बित[१] आठ

---

[१] घुटने तक लम्बी।

भुजाओंके बीचमें रहनेवाली लक्ष्मीजीकी सुन्दरताके साथ स्पर्धा कर रही थी। ऐसी वनमालासे विभूषित होकर आद्यपुरुष भगवान् श्रीहरिने शरणागत प्राचीनबर्हिके पुत्रोंका करुणामय दृष्टिसे अवलोकन करते हुए मेघोंके समान गम्भीर वाणीसे सम्बोधन करते हुए कहा॥ ५-७॥

श्रीभगवानुवाच—

वरं वृणीध्वं भद्रं वो यूयं मे नृपनन्दनाः।
सौदार्देनापृथग्धर्मास्तुष्टोऽहं सौहृदेन वः॥ ८॥

श्रीभगवान्ने कहा—हे राजपुत्रो! तुम लोगोंमें परस्पर इतना सौहार्द है कि तुम सभी एक ही धर्मका पालन कर रहे हो। मैं तुम्हारे इस सौहार्दको देखकर बड़ा सन्तुष्ट हुआ हूँ। तुम्हारा मङ्गल हो। तुमलोग मुझसे वर माँगो॥ ८॥

योऽनुस्मरति सन्ध्यायां युष्माननुदिनं नरः।
तस्य भ्रातृष्वात्मसाम्यं तथा भूतेषु सौहृदम्॥ ९॥

जो प्रतिदिन सन्ध्याकालमें तुम्हारा स्मरण करेगा, वह भाइयोंको तथा समस्त प्राणियोंको अपने समान समझेगा और उनसे प्रीति करने लगेगा॥ ९॥

ये तु मां रुद्रगीतेन सायं प्रातः समाहिताः।
स्तुवन्त्यहं कामवरान् दास्ये प्रज्ञाञ्च शोभनाम्॥ १०॥

जो एकाग्रचित्तसे सायं एवं प्रातःकाल 'रुद्रगीत' द्वारा मेरा स्तव करेंगे, मैं उनको उनका अभिलषित वर एवं उद्धारके लिए उपयोगी प्रज्ञा और बुद्धि प्रदान करूँगा॥ १०॥

यद्यूयं पितुरादेशमग्रहीष्ट मुदान्विताः।
अथो व उशती कीर्तिर्लोकाननु भविष्यति॥ ११॥

तुमने अति प्रसन्न हृदयसे पिताकी आज्ञाका पालन किया है, इसलिए तुम्हारी कमनीय कीर्त्ति सम्पूर्ण लोकमण्डलमें फैल जायेगी॥ ११॥

भविता विश्रुतः पुत्रोऽनवमो ब्रह्मणो गुणैः।
य एतामात्मवीर्येण त्रिलोकीं पूरयिष्यति॥ १२॥

तुम्हारा एक पुत्र होगा, जो गुणोंमें ब्रह्माजीसे किसी भी अंशमें कम नहीं होगा। अतः वह जगत्‌में विशेष रूपसे विख्यात होगा। उसकी सन्तानोंसे तीनों लोक परिपूर्ण हो जायेंगे॥ १२॥

कण्डोः प्रम्लोचया लब्धा कन्या कमललोचना।
तां चापविद्धां जगृहुर्भूरुहा नृपनन्दनाः॥ १३॥

हे राजपुत्रो! इन्द्रने प्रम्लोचा नामकी अप्सराको कण्डु ऋषिके तपको नाश करनेके लिए भेजा था। प्रम्लोचा कण्डु ऋषिके सहयोगसे एक कमलनयना पुत्रीको प्राप्त करके उसे वृक्षोंके बीच छोड़कर चली गयी थी। वृक्षोंने ही उस परित्यक्त कन्याको ग्रहण किया था॥ १३॥

क्षुत्क्षामाया मुखे राजा सोमः पीयूषवर्षिणीम्।
देशिनीं रोदमानाया निदधे स दयान्वितः॥ १४॥

जब इस बालिकाने भूखसे कातर होकर रोना आरम्भ किया था, उस समय वनस्पतियोंके अधिपति चन्द्रमाने दयावश उसके मुखमें अमृतवर्षिणी तर्जनी अङ्गुली डालकर उसका पालन-पोषण किया था॥ १४॥

प्रजाविसर्ग आदिष्टाः पित्रा मामनुवर्तता।
तत्र कन्यां वरारोहां तामुद्वहत मा चिरम्॥ १५॥

मेरी आज्ञाका पालन करनेवाले तुम्हारे पिता प्राचीनबर्हिसे तुम्हें प्रजा-सृष्टिका आदेश प्राप्त हुआ है। अतः इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिए तुम शीघ्र ही उस देवियों जैसी सुन्दरी कन्याके साथ विवाह कर लो॥ १५॥

अपृथग्धर्मशीलानां सर्वेषां वः सुमध्यमा।
अपृथग्धर्मशीलेयं भूयात् पत्न्यर्पिताशया॥ १६॥

तुम सभी भाइयोंका एक ही धर्म है और एक जैसा ही स्वभाव है। अतः धर्म और चरित्रमें तुम्हारे ही अनुरूप वह सुमध्यमा तुम सबकी पत्नी होगी तथा तुम सभीमें उसका समान अनुराग होगा॥ १६॥

दिव्यवर्षसहस्राणां सहस्रमहतौजसः।
भौमान् भोक्ष्यथ भोगान् वै दिव्यांश्चानुग्रहान्मम॥ १७॥

तुम लोग मेरे अनुग्रहसे दिव्य सहस्र वर्षों तक अबाधित प्रभावसे सम्पन्न होकर पार्थिव और दिव्य भोगोंका भोग कर पाओगे॥ १७॥

अथ मयनपायिन्या भक्त्या पक्वगुणाशयाः।
उपयास्यथ मद्धाम निर्विद्य निरयादतः॥ १८॥

इसके बाद जब मेरे प्रति अविचल भक्तिके प्रभावसे तुम्हारे चित्तके काम, क्रोध आदि मल दग्ध हो जायेंगे, तब तुम स्वर्ग एवं मर्त्य लोकके नरक-तुल्य भोगोंसे निवृत्त होकर मेरे नित्यधामको प्राप्त करोगे॥ १८॥

गृहेष्वाविशताञ्चापि पुंसां कुशलकर्मणाम्।
मद्वार्तायातयामानां न बन्धाय गृहा मताः॥ १९॥

नव्यवद्धृदये यज्ज्ञो ब्रह्मैतद्ब्रह्मवादिभिः।
न मुह्यन्ति न शोचन्ति न हृष्यन्ति यतो गताः॥ २०॥

जो कुशलकर्मा मुझे ही समस्त कर्मोंका एकमात्र फलभोक्ता जानकर मुझमें समस्त कर्मोंके फलको अर्पण कर देते हैं और जो मेरी कथाओंके श्रवण-कीर्त्तनमें ही अपना समस्त समय व्यतीत करते हैं, ऐसे व्यक्तियोंके गृहस्थाश्रममें रहनेपर भी गृह उनके लिए बन्धनका कारण नहीं बनता। इसका कारण है कि जो नित्यप्रति मेरी कथाओंका श्रवण करते हैं, सर्वज्ञ मैं उन सब व्यक्तियोंके हृदयमें पग-पगपर नव-नवायमान रूपमें आविर्भूत होता हूँ। मेरे इसी स्वरूपको ब्रह्मवादी 'ब्रह्म' के रूपमें उल्लेख करते हैं। मुझे प्राप्तकर लेनेपर व्यक्ति शोक, मोह अथवा हर्षके द्वारा अभिभूत नहीं होता॥ १९-२०॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

एवं ब्रुवाणं पुरुषार्थभाजनं
जनार्दनं प्राञ्जलयः प्रचेतसः।
तद्दर्शनध्वस्ततमोरजोमला
गिरा गृणन् गद्गदया सुहृत्तमम्॥ २१॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—जब समस्त पुरुषार्थोंके प्रदाता, सबके परम हितैषी भगवान् श्रीजनार्दनने इस प्रकार कहा, तब भगवत्-दर्शनके प्रभावसे रजोगुण एवं तमोगुणसे मुक्त होनेवाले प्रचेतागण हाथ जोड़कर गद्‌गद वचनोंसे उनकी स्तुति करते हुए कहने लगे॥ २१॥

श्रीप्रचेतस ऊचुः—

नमो नमः क्लेशविनाशनाय
निरूपितोदारगुणाह्वयाय ।
मनोवचोवेगपुरोजवाय
सर्वाक्षमार्गैरगताध्वने नमः॥ २२॥

श्रीप्रचेताओंने कहा—हे भगवन्! एकमात्र आप ही समस्त क्लेशोंको दूर करनेवाले हैं, वेद आपके उदार गुण एवं नामोंका मङ्गलसाधकके रूपमें निरूपण करते हैं। आपका वेग मन और वचनके वेगसे भी कहीं अधिक है। किसी भी जड़-इन्द्रियके द्वारा आपकी गतिको समझा नहीं जा सकता। अर्थात् आप मन और वचनके आगोचर हैं। हम आपको पुनः-पुनः नमस्कार करते हैं॥ २२॥

शुद्धाय शान्ताय नमः स्वनिष्ठया
मनस्यपार्थं विलसद्द्वयाय।
नमो जगत्स्थानलयोदयेषु
गृहीतमायागुणविग्रहाय ॥ २३॥

जिनमें एकान्त निष्ठा हो जानेपर विविध सुखोंका आकर होनेपर भी प्रपञ्च जगत् निरर्थक प्रतीत होता है, आप वही विशुद्ध-सत्त्व-स्वरूप परमानन्द विग्रह हैं। आपको नमस्कार है। आप जगत्‌की सृष्टि, स्थिति एवं प्रलयके लिए मायिक गुणोंको अङ्गीकार करके ब्रह्मा आदि मूर्त्तियोंमें प्रकाशित होते हैं, आपको पुनः-पुनः नमस्कार है॥ २३॥

नमो विशुद्धसत्त्वाय हरये हरिमेधसे।
वासुदेवाय कृष्णाय प्रभवे सर्वसात्वताम्॥ २४॥

आप विशुद्ध सत्त्व-स्वरूप हैं। हे हरि! आपको जान लेनेसे जीवोंका संसार-बन्धन दूर हो जाता है। आप समस्त भक्तों एवं

यादवोंके पालक भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण हैं, आपको नमस्कार है॥ २४॥

नमः कमलनाभाय नमः कमलमालिने।
नमः कमलपादाय नमस्ते कमलेक्षण॥ २५॥

आप पद्मनाभ हैं अर्थात् आपकी नाभिसे पद्मयोनि ब्रह्मा प्रकट हुए है, आपको नमस्कार है। आपके कण्ठमें कमलकी माला सुशोभित हो रही है, आपको नमस्कार है। आपके श्रीचरण कमलके समान कोमल और भक्त-भ्रमरोंके सेवनीय हैं, आपको नमस्कार है। आपके नयनयुगल कमल-पत्रके समान हैं, हे कमलनयन! आपको नमस्कार है॥ २५॥

नमः कमलकिञ्जल्क-पिशङ्गामलवाससे।
सर्वभूतनिवासाय नमोऽयुङ्क्ष्महि साक्षिणे॥ २६॥

आपने कटिदेशमें कमलकुसुमोंके केसरके समान स्वच्छ पीताम्बरको धारण कर रखा है। आप समस्त प्राणियोंके आधारस्वरूप और सर्वसाक्षी हैं। हम आपको नमस्कार करते हैं॥ २६॥

रूपं भगवता त्वेतदशेषक्लेशसंक्षयम्।
आविष्कृतं नः क्लिष्टानां किमन्यदनुकम्पितम्॥ २७॥

हे भगवन्! हम अविद्या, अस्मिता एवं राग-द्वेषादि क्लेशोंसे पीड़ित हैं। आपने हमारे सम्पूर्ण क्लेशोंका पूर्ण रूपसे विनाश करनेके लिए ही अपनी इस क्लेश नाशकारी श्रीमूर्त्तिको प्रकटित किया है। इससे अधिक हमारे प्रति आपकी और क्या कृपा होगी? अर्थात् यही हमारे प्रति आपकी परम अनुकम्पा है॥ २७॥

एतावत्त्वं हि विभुभिर्भाव्यं दीनेषु वत्सलैः।
यदनुस्मर्यते काले स्वबुद्ध्याभद्ररन्धन॥ २८॥

हे अमङ्गल-विनाशन प्रभो! दीन सेवकवत्सल प्रभुओंके लिए यह उचित ही है कि वे यथासमय अर्थात् अपनी प्रयोजनीय सेवाके समय सेवकोंको 'ये मेरे अनुगत हैं', कहकर स्मरण करते हैं॥ २८॥

येनोपशान्तिर्भूतानां क्षुल्लकानामपीहताम्।
अन्तर्हितोऽन्तर्हृदये कस्मान्नो वेद नाशिषः॥ २९॥

अतएव प्रभु यदि इस प्रकारसे अपने सेवकका स्मरण करते हैं, तो इसीसे ही उन समस्त प्राणियोंके सभी क्लेश दूर हो जाते हैं। आप अति तुच्छ क्षुद्र जीवोंके भी अन्तःकरणमें अन्तर्यामी रूपसे विराजमान रहकर उनके द्वारा प्रार्थित विषयोंको जानते हैं, तब हमारी कामनाओंको आप क्यों नहीं जान पायेंगे?॥ २९॥

असावेव वरोऽस्माकमीप्सितो जगतः पते।
प्रसन्नो भगवान् येषामपवर्गगुरुर्गतिः॥ ३०॥

हे जगत्पते! आप ही भक्तियोग-पथके प्रदर्शक एवं जीवोंके एकमात्र परम पुरुषार्थ हैं। आप हमसे प्रसन्न हैं, अतः हमारा एकमात्र अभीष्ट वर आपकी प्रसन्नताके अतिरिक्त दूसरा कुछ भी नहीं हो सकता॥ ३०॥

वरं वृणीमहेऽथापि नाथ त्वत् परतः परात्।
न ह्यन्तो यद्विभूतीनां सोऽनन्त इति गीयसे॥ ३१॥

तथापि हे नाथ! सभी कारणोंके भी कारण परात्पर-पुरुष आपसे हम एक वरकी प्रार्थना करते हैं। आपके द्वारा प्रदान की जानेवाली विभूतियोंका अन्त नहीं है, इसलिए वह वर आप अवश्य ही प्रदान करेंगे॥ ३१॥

पारिजातेऽञ्जसा लब्धे सारङ्गोऽन्यन्न सेवते।
त्वदङ्घ्रिमूलमासाद्य साक्षात् किं किं वृणीमहि॥ ३२॥

हे प्रभो! जिस प्रकार अनायास ही सब प्रकारकी अभिलषित वस्तुओंको प्रदान करनेमें समर्थ पारिजात वृक्षके प्राप्त होनेपर भी केवलमात्र मकरन्दको ग्रहण करनेवाला मधुकर (सुलभ होनेपर भी) उससे और कुछ नहीं चाहता, उसी प्रकार साक्षात् आपके चरणकमल प्राप्त करके हम भी आपके चरणकमलोंके मकरन्दके अतिरिक्त आपसे और क्या प्रार्थना करें?॥ ३२॥

यावत्ते मायया स्पृष्टा भ्रमाम इह कर्मभिः।
तावद्भवत्प्रसङ्गानां सङ्गः स्यान्नो भवे भवे॥ ३३॥

आपकी मायासे मोहित होकर अपने-अपने कर्मानुसार हम इस संसारमें जब तक भ्रमण करें, तब तक हमें जन्म-जन्ममें आपके गुणोंका कीर्त्तन करनेवाले भक्तोंका सङ्ग प्राप्त हो—हम आपसे इसी वरकी प्रार्थना करते हैं॥ ३३॥

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥ ३४॥

भगवत्-सङ्गी भक्तोंके अति अल्प समयके सङ्गसे भी जीवोंका जो असीम मङ्गल होता है, उसके साथ स्वर्ग तो क्या, मोक्षकी भी तुलना नहीं की जा सकती। फिर मनुष्योंके नश्वर राज्य-भोग आदि सुखोंकी तो बात ही क्या है?॥ ३४॥

यत्रेड्यन्ते कथा मृष्टास्तृष्णायाः प्रशमो यतः।
निर्वैरं यत्र भूतेषु नोद्वेगो यत्र कश्चन॥ ३५॥

यत्र नारायणः साक्षाद्भगवान् न्यासिनां गतिः।
प्रस्तूयते सत्कथासु मुक्तसङ्गैः पुनः पुनः॥ ३६॥

भगवत्-भक्तोंके समाजमें सदा-सर्वदा आपकी विशुद्ध कथाओंका गान होता रहता है, इन सब कथाओंके श्रवणसे भोग इच्छारूपी तृष्णा शान्त हो जाती है। इन कथाओंके श्रवणसे किसी भी प्राणीके साथ वैरभाव या उद्वेग नहीं रहता। उस स्थानपर सत् कथाके प्रसङ्गमें मुक्त-सङ्ग अर्थात् निरपेक्ष साधु साक्षात् भगवान् नारायणका बार-बार स्तव करते हैं। वे भगवान् नारायण ही समस्त प्रकारके फलोंका त्याग करनेवाले निष्काम भक्तोंकी एकमात्र गति हैं॥ ३५-३६॥

तेषां विचरतां पद्भ्यां तीर्थानां पावनेच्छया।
भीतस्य किं न रोचेत तावकानां समागमः॥ ३७॥

हे भगवन्! आपके निजजन तीर्थोंको पवित्र करनेके लिए पैदल ही भ्रमण करते हैं। अतः संसारसे भयभीत किस व्यक्तिके लिए उनका समागम रुचिकर नहीं होगा?॥ ३७॥

वयन्तु साक्षाद्भगवन् भवस्य
प्रियस्य सख्युः क्षणसङ्गमेन।
सुदुश्चिकित्सस्य भवस्य मृत्यो-
र्भिषक्तमं त्वाद्य गतिं गताः स्मः॥ ३८॥

हे भगवन्! हमने आपके प्रियतम शम्भुके क्षणभरके सङ्गके प्रभावसे सुदुश्चिकित्स्य (जिसकी चिकित्सा अति दुष्कर है, ऐसे) संसार और जन्म-मृत्युरूप रोगके सद् वैद्यस्वरूप आपको आज अपने परम आश्रयके रूपमें प्राप्त किया है॥ ३८॥

यन्नः स्वधीतं गुरवः प्रसादिता
विप्राश्च वृद्धाश्च सदानुवृत्त्या।
आर्या नताः सुहृदो भ्रातरश्च
सर्वाणि भूतान्यनसूययैव॥ ३९॥

यन्नः सुतप्तं तप एतदीश
निरन्धसां कालमदभ्रमप्सु।
सर्वं तदेतत् पुरुषस्य भूम्नो
वृणीमहे ते परितोषणाय॥ ४०॥

हे ईश! हमने समाहित चित्तसे वेदोंका जो भलीभाँति अध्ययन किया है; शुद्ध आनुगत्य द्वारा जो गुरु, विप्र और वृद्ध आर्योंको नमस्कार किया है; सुहृदों, भ्राताओं और प्राणियोंके प्रति जो हिंसा रहित व्यवहार किया है तथा आहार आदिका परित्याग करके जलमें खड़े होकर बहुत समय तक जो घोरतर तपस्या की है, उन सब सत् आचरणोंके द्वारा आपका सन्तोष हो—यही हमारा प्रार्थनीय वर है॥ ३९-४०॥

मनुः स्वयम्भूर्भगवान् भवश्च
येऽन्ये तपोज्ञानविशुद्धसत्त्वाः।
अदृष्टपारा अपि यन्महिम्नः
स्तुवन्त्यथो त्वात्मसमं गृणीमः॥ ४१॥

तपस्या तथा ज्ञान आदिके द्वारा विशुद्ध-चित्तवाले योगी एवं मनु, स्वयम्भू ब्रह्मा और शिव—इन्होंने भी आपकी महिमाका अन्त न पाकर अपने-अपने साध्यानुसार आपका स्तव किया है। अतः हम भी यथासाध्य आपकी स्तुति कर रहे हैं॥ ४१॥

नमः समाय शुद्धाय पुरुषाय पराय च।
वासुदेवाय सत्त्वाय तुभ्यं भगवते नमः॥ ४२॥

हे प्रभो! आपका कोई शत्रु अथवा प्रिय नहीं है। आप सर्वत्र समान हैं। अतएव आप निष्पाप, विशुद्ध सत्त्वमूर्त्ति परम पुरुष भगवान् वासुदेव हैं। आपको नमस्कार है॥ ४२॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

इति प्रचेतोभिरभिष्टुतो हरिः
प्रीतस्तथेत्याह शरण्यवत्सलः।
अनिच्छतां यानमतृप्तचक्षुषां
ययौ स्वधामानपवर्गवीर्यः॥ ४३॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! इस प्रकार प्रचेताओं द्वारा संपूजित होकर शरणागतपालक भगवान् श्रीहरिने सन्तोषपूर्वक कहा—'तुम लोगोंने जो प्रार्थना की है, वैसा ही हो।' इसके बाद अकुण्ठित प्रभाववाले भगवान् श्रीहरि अतृप्त नेत्रोंवाले प्रचेताओंकी इच्छा न रहनेपर भी स्वधाम चले गये॥ ४३॥

अथ निर्याय सलिलात् प्रचेतस उदन्वतः।
वीक्ष्याकुप्यन् द्रुमैश्छन्नां गां गां रोद्धुमिवोच्छ्रितैः॥ ४४॥

इसके बाद प्रचेतागण समुद्रके जलसे बाहर निकले और देखा कि वृक्ष बहुत ऊँचे-ऊँचे हो गये हैं और उन्होंने सम्पूर्ण पृथ्वीको ढक दिया है। तब ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो वे स्वर्गको भी आच्छादित करनेके लिए तत्पर हो रहे हैं। ऐसा देखकर (उनके मनमें आया कि यदि ऐसा ही होगा तो मनुष्य कहाँ रहेंगे और हम भगवान्के द्वारा आदिष्ट राज्य ही कहाँ करेंगे, अतः) वे अतिशय क्रोधाविष्ट हो गये॥ ४४॥

ततोऽग्निमारुतौ राजन्नमुञ्चन्मुखतो रुषा।
महीं निर्वीरुधं कर्तुं संवर्तक इवात्यये॥ ४५॥

हे राजन्! प्रलयके समय रुद्र जिस प्रकार अपने मुखसे अग्नि निकालते हैं, प्रचेतागण भी उसी प्रकार सम्पूर्ण पृथ्वीको तरु-लताओंसे रहित करनेके लिए क्रोधसे भरकर मुखसे अग्नि और अग्निके सखा वायुको छोड़ने लगे॥ ४५॥

भस्मसात् क्रियमाणांस्तान् द्रुमान् वीक्ष्य पितामहः।
आगतः शमयामास पुत्रान् बर्हिष्मतो नयैः॥ ४६॥

पृथ्वीके सम्पूर्ण वृक्षोंको भस्म होता हुआ देखकर पितामह ब्रह्मा वहाँ आये और उन्होंने प्रचेताओंको युक्तिपूर्वक समझाकर शान्त किया॥ ४६॥

तत्रावशिष्टा ये वृक्षा भीता दुहितरं तदा।
उज्जह्रुस्ते प्रचेतोभ्य उपदिष्टाः स्वयम्भुवा॥ ४७॥

इन वृक्षोंमेंसे जो बच गये थे, वे भयभीत होकर ब्रह्माजीके आदेशसे अपनी मारिषा नामकी कन्याको ले आये और उसे प्रचेताओंको समर्पित कर दिया॥ ४७॥

ते च ब्रह्मण आदेशान्मारिषामुपयेमिरे।
यस्यां महदवज्ञानादजन्यजनयोनिजः॥ ४८॥

ब्रह्माजीके आदेशसे प्रचेताओंने वृक्षोंके द्वारा दी गयी मारिषा नामकी उस कन्याके साथ विवाह किया। ब्रह्मा-पुत्र दक्षने शिवजीके प्रति अपराध करनेके कारण मारिषाके गर्भसे जन्म लिया अर्थात् गर्भकी यन्त्रणाको भोग किया॥ ४८॥

चाक्षुषे त्वन्तरे प्राप्ते प्राक्सर्गे कालविद्रुते।
यः ससर्ज प्रजा इष्टाः स दक्षो दैवचोदितः॥ ४९॥

स्वायम्भुव मन्वन्तरमें सतीके पिता दक्षने अपनी देहके कालवशतः विनष्ट होनेके बाद पुनः उपरोक्त दक्षके रूपमें जन्म-ग्रहण किया था तथा इन्हीं दक्षने ही अपने पूर्व ऐश्वर्यको प्राप्त करनेके उद्देश्यसे पाँच

मन्वन्तरों तक तपस्या करनेके उपरान्त छटें मन्वन्तर अर्थात् चाक्षुष मन्वन्तरमें पहले जैसा ऐश्वर्य प्राप्तकर भगवान्‌की प्रेरणासे अपनी इच्छानुसार बहुत-सी नवीन प्रजाओंकी सृष्टि की थी॥ ४९॥

यो जायमानः सर्वेषां तेजस्तेजस्विनां रुचा।
स्वयोपादत्त दाक्ष्याच्च कर्मणां दक्षमब्रुवन्॥ ५०॥

तं प्रजासर्गरक्षायामनादिरभिषिच्य च।
युयोज युयुजेऽन्यांश्च स वै सर्वप्रजापतीन्॥ ५१॥

प्रचेतापुत्र दक्षने उत्पन्न होकर अपने प्रभावसे समस्त तेजस्वियोंके तेजको ढक दिया था। ये समस्त कर्मोंमें अतिशय निपुण थे, इसलिए लोग इन्हें 'दक्ष' कहते थे। ब्रह्माजीने इन्हीं दक्षको अभिषिक्त करके प्रजाकी सृष्टि एवं रक्षण आदि कार्यके लिए नियुक्त किया था। बादमें दक्षने पुनः मरीचि आदि अन्यान्य प्रजापतियोंको प्रजा रक्षण आदि कार्यमें नियुक्त किया था॥ ५०-५१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां चतुर्थस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे श्रीप्रचेतसां चरिते त्रिंशोऽध्यायः॥

एकत्रिंशोऽध्यायः

प्रचेताओंको देवर्षि श्रीनारदका उपदेश और उनका परमपदको प्राप्त करना

श्रीमैत्रेय उवाच—

तत उत्पन्नविज्ञाना आश्वधोक्षजभाषितम्।
स्मरन्त आत्मजे भार्यां विसृज्य प्राव्रजन् गृहात्॥ १॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! इसके बाद दिव्य सहस्र वर्ष बीत जानेपर जब प्रचेताओंमें दिव्य ज्ञान उदित हुआ, उस समय उन्हें अधोक्षज भगवान्‌के वचनोंका स्मरण हो आया। वे अपनी पत्नी मारिषाको पुत्रोंके हाथोंमें सौंप करके शीघ्र ही घरसे निकल पड़े॥ १॥

दीक्षिता ब्रह्मसत्रेण सर्वभूतात्ममेधसा।
प्रतीच्यां दिशि वेलायां सिद्धोऽभूद्यत्र जाजलिः॥ २॥

वेदोंके तात्पर्यका विवेचन करनेपर जिस ज्ञानके द्वारा समस्त जीवोंमें परमात्माका दर्शन होता है, उस आत्म-ज्ञानका साधन करनेके लिए कृतसङ्कल्प होकर वे पूर्व दिशामें समुद्रके तटपर, जहाँ 'जाजलि' नामक ऋषिने सिद्धि प्राप्त की थी—उस स्थानकी ओर चल दिये॥ २॥

तान् निर्जितप्राणमनोवचोदृशो
जितासनान् शान्तसमानविग्रहान्।
परेऽमले ब्रह्मणि योजितात्मनः
सुरासुरेड्यो ददृशे स्म नारदः॥ ३॥

प्रचेतागण प्राण, मन, वाणी एवं बाह्य दृष्टिको नियन्त्रित करके आसनको जीतकर विषयोंसे विरक्त हो गये तथा ऋजुभावसे अर्थात् शरीरको निश्चेष्ट, स्थिर और सीधा रखकर सर्वोत्तम निर्मल ब्रह्ममें आत्माको नियुक्त करके बैठ गये। उसी समय सुरासुर द्वारा संपूजित देवर्षि नारदने उन्हें दर्शन दिया॥ ३॥

तमागतं त उत्थाय प्रणिपत्याभिवाद्य च।
पूजयित्वा यथादेशं सुखासीनमथाब्रुवन्॥ ४॥

श्रीनारदको आते देखकर प्रचेतागण तुरन्त खड़े हो गये और उन्होंने शास्त्रोंके विधानानुसार उनका आदर-सत्कार एवं पूजा की। जब नारदजी सुखपूर्वक आसनपर बैठ गये, तब प्रचेता उनसे कहने लगे॥ ४॥

श्रीप्रचेतस ऊचुः—

स्वागतं ते सुरर्षेऽद्य दिष्ट्या नो दर्शनं गतः।
तव चंक्रमणं ब्रह्मन्नभयाय यथा रवेः॥ ५॥

श्रीप्रचेताओंने कहा—हे देवर्षे! हे ब्रह्मन्! आपका स्वागत है। आज सौभाग्यसे हमें आपका दर्शन प्राप्त हुआ है। जिस प्रकार सूर्यदेवका भ्रमण लोगोंको चोर आदिके भयसे छुटकारा दिलानेके लिए होता है, उसी प्रकार आपका पर्यटन भी लोगोंको ज्ञानालोकके द्वारा अभय प्रदान करनेके लिए होता है॥ ५॥

यदादिष्टं भगवता शिवेनाधोक्षजेन च।
तद्‍गृहेषु प्रसक्तानां प्रायशः क्षपितं प्रभो॥ ६॥

हे प्रभो! ऐश्वर्यशाली (भगवद्भक्त) शिवजी एवं अधोक्षज श्रीहरिने हमें जो उपदेश दिया था, गृहस्थीमें अत्यन्त आसक्त होनेके कारण हम उसे प्रायः भूल गये हैं॥ ६॥

तन्नः प्रद्योतयाध्यात्म-ज्ञानं तत्त्वार्थदर्शनम्।
येनाञ्जसा तरिष्यामो दुस्तरं भवसागरम्॥ ७॥

अतः जिस तत्त्वज्ञानके प्रदीप-स्वरूप अध्यात्मज्ञानके द्वारा दुस्तर भवसागरको अनायास ही पार किया जा सकता है, आप हमारे हृदयमें उस ज्ञानको पुनः प्रकाशित करा दीजिये॥ ७॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

इति प्रचेतसां पृष्टो भगवान् नारदो मुनिः।
भगवत्युत्तमःश्लोक आविष्टात्माब्रवीन्नृपान्॥ ८॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! प्रचेताओंके द्वारा इस प्रकार कहनेपर सदा-सर्वदा भगवान् उत्तमश्लोक श्रीकृष्णमें ही आसक्त रहनेवाले भगवन्मय देवर्षि नारद राजपुत्रोंसे कहने लगे॥ ८॥

श्रीनारद उवाच—

तज्जन्म तानि कर्माणि तदायुस्तन्मनो वचः।
नृणां येन हि विश्वात्मा सेव्यते हरिरीश्वरः॥ ९॥

श्रीनारदने कहा—मनुष्योंके जिस जन्मके द्वारा विश्वात्मा भगवान् श्रीहरिकी सेवा होती है, वह जन्म ही 'जन्म' है; जिस कृत्यके द्वारा श्रीहरिका सेवानुकूल्य होता है, वह कृत्य ही एकमात्र 'कृत्य' है; जिस आयुके द्वारा श्रीहरिकी सेवा होती है, वही 'परमायु' है तथा जिस मन और वचनके द्वारा विश्वात्मा परमेश्वर श्रीहरि सेवित होते हैं, वही मन शुद्ध है एवं वही वचन यथार्थ वचन है॥ ९॥

किं जन्मभिस्त्रिभिर्वेह शौक्रसावित्रयाज्ञिकैः।
कर्मभिर्वा त्रयीप्रोक्तैः पुंसोऽपि विबुधायुषा॥ १०॥

मनुष्यके तीन प्रकारके जन्म हैं—विशुद्ध माता-पितासे 'शौक्र-जन्म', उपनयन द्वारा 'सावित्र-जन्म' तथा सर्वेश्वर श्रीविष्णुकी आराधनारूप यज्ञ-दीक्षाके द्वारा 'याज्ञिक या दैक्ष' जन्म। किन्तु श्रीहरिकी सेवाके अतिरिक्त इन तीनों जन्मोंसे क्या लाभ? तथा हरिसेवाके बिना वेदोक्त समस्त कर्म तथा देवताओंके समान लम्बी आयुका भी क्या लाभ है?॥ १०॥

श्रुतेन तपसा वा किं वचोभिश्चित्तवत्तिभिः।
बुद्ध्या वा किं निपुणया बलेनेन्द्रियराधसा॥ ११॥

श्रीहरिकी सेवाके बिना वेदान्तादिका श्रवण, तपस्या, शास्त्र-व्याख्यादि वाग्-विलास, अनेक शास्त्रोंके अर्थोंको धारण करनेका सामर्थ्य, प्रखर बुद्धि, बल एवं इन्द्रिय-पटुताके द्वारा भी क्या लाभ?॥ ११॥

किं वा योगेन सांख्येन न्यासस्वाध्याययोरपि।
किं वा श्रेयोभिरन्यैश्च न यत्रात्मप्रदो हरिः॥ १२॥

प्राणायाम आदि अष्टाङ्गयोगसे और देहादिसे भिन्न आत्मज्ञानसे भी क्या लाभ? यहाँ तक कि संन्यास, वेदाध्ययन, व्रत और वैराग्यादि अन्यान्य कल्याणजनक साधन—जिनसे श्रीहरिकी इन्द्रियोंकी सन्तुष्टि नहीं होती, (केवल जीवकी आत्मेन्द्रिय-तृप्तिमात्र होती है) उन सब साधनोंसे भी क्या लाभ?॥ १२॥

श्रेयसामपि सर्वेषामात्मा ह्यवधिरर्थतः।
सर्वेषामपि भूतानां हरिरात्मात्मदः प्रियः॥ १३॥

समस्त प्रकारके श्रेयः फलोंकी भी पराकाष्ठा परमार्थतः एकमात्र आत्मा ही है—यह बात निश्चित है। समस्त आत्माओंके भी प्रिय परमात्मा—श्रीहरि हैं। वे जीवोंकी अविद्याको दूर करके उनके नित्य-स्वरूपको प्रकाशित करते हैं। वे परमानन्द-स्वरूप हैं और भक्तोंको अपने आप तकको भी दे देते हैं॥ १३॥

यथा तरोर्मूलनिषेचनेन
तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां
तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या॥ १४॥

जिस प्रकार वृक्षकी जड़को भलीभाँति सींचनेसे उसका तना, शाखा, उपशाखा, पत्र-पुष्पादि सभी सञ्जीवित हो जाते हैं तथा जिस प्रकार भोजनके द्वारा प्राणोंको तृप्त करनेसे समस्त इन्द्रियोंकी तृप्ति हो जाती है, उसी प्रकार एकमात्र श्रीकृष्णकी पूजाके द्वारा ही समस्त देव-पितरों आदिकी भी पूजा हो जाती है॥ १४॥

यथैव सूर्यात् प्रभवन्ति वारः
पुनश्च तस्मिन् प्रविशन्ति काले।
भूतानि भूमौ स्थिरजङ्गमानि
तथा हरावेव गुणप्रवाहः॥ १५॥

जिस प्रकार जल वर्षाकालमें सूर्यके तापसे उत्पन्न होकर पुनः ग्रीष्मकालमें सूर्यकी किरणोंमें ही प्रवेश करता है, जिस प्रकार स्थावर-जङ्गमादि प्राणी पृथ्वीसे उत्पन्न होकर पुनः पृथ्वीमें ही लयको प्राप्त

होते हैं, उसी प्रकार यह गुणमय प्रपञ्च सृष्टिके समय भगवान् श्रीहरिसे उत्पन्न होकर प्रलयकालमें भगवान्‌में ही लीन हो जाता है॥ १५॥

एतत् पदं तज्जगदात्मनः परं
सकृद्विभातं सवितुर्यथा प्रभा।
यथासवो जाग्रति सुप्तशक्तयो
द्रव्यक्रियाज्ञानभिदाभ्रमात्ययः ॥ १६॥

जिस प्रकार सूर्यकी किरणें सूर्यसे अभिन्न हैं, उसी प्रकार यह विश्व भी सर्वोपाधिरहित परमात्मासे उत्पन्न होनेके कारण उनसे अभिन्न है (वस्तुतः यह विश्व भगवान्‌से पृथक् तत्त्व नहीं है, अपितु उनकी मायाशक्तिका ही परिणाम है)। जिस प्रकार इन्द्रियाँ जाग्रत अवस्थामें नाना कार्योंमें लगी रहती हैं, किन्तु निद्रित अवस्थामें शान्त हो जाती हैं, उसी प्रकार सृष्टिकालमें यह जगत् भगवान्‌से पृथक् रूपमें प्रतीत होनेपर भी, इन्द्रियादि पञ्चभूतात्मक इस देहमें आत्मबुद्धिके दूर हो जानेपर यह जगत् भगवान्‌से पृथक् प्रतीत नहीं होता तथा उस समय भेद-भ्रम भी तिरोहित हो जाता है॥ १६॥

यथा नभस्यभ्रतमःप्रकाशा
भवन्ति भूपा न भवन्त्यनुक्रमात्।
एवं परे ब्रह्मणि शक्तयस्त्वमू
रजस्तमःसत्त्वमिति प्रवाहः॥ १७॥

हे नृपतियो! जिस प्रकार आकाशमें कभी मेघ, कभी अन्धकार और कभी प्रकाश क्रमशः प्रकट होते हैं और उसीमें लीन हो जाते हैं, उसी प्रकार परब्रह्ममें रज, तम और सत्त्वरूप शक्तियाँ क्रमशः प्रकाशित होती हैं और उन्हींमें लीन हो जाती हैं॥ १७॥

तेनैकमात्मानमशेषदेहिनां
कालं प्रधानं पुरुषं परेशम्।
स्वतेजसा ध्वस्तगुणप्रवाह-
मात्मैकभावेन भजध्वमद्धा॥ १८॥

भगवान् ही समस्त कारणोंके कारण हैं, इसलिए वे ही समस्त देहधारियोंके आत्मा, निमित्त और उपादान कारण हैं। मायाधीश होनेके कारण वे अपनी शक्ति द्वारा गुण-प्रवाहरूप संसारसे निर्मुक्त रहते हैं। अतः तुम परम पुरुष परमेश्वर श्रीहरिको आत्मासे अभिन्न जानकर उनका साक्षात् रूपसे भजन करो॥ १८॥

दयया सर्वभूतेषु सन्तुष्ट्या येन केन वा।
सर्वेन्द्रियोपशान्त्या च तुष्यत्याशु जनार्दनः॥ १९॥

समस्त प्राणियोंपर दया, जो कुछ भी प्राप्त हो जायें उसीमें सन्तोष तथा विषयोंसे समस्त इन्द्रियोंका निग्रह—इन सबके द्वारा भगवान् जनार्दन शीघ्र ही प्रसन्न हो जाते हैं॥ १९॥

अपहतसकलैषणामलात्म-
न्यविरतमेधितभावनोपहूतः ।
निजजनवशगत्वमात्मनोऽयन्
न सरति छिद्रवदक्षरः सतां हि॥ २०॥

जिन सत्पुरुषोंका मन समस्त कामनाओंसे निर्मुक्त होकर परम विशुद्ध हो गया है, उनके द्वारा निरन्तर की जानेवाली भावनाओंके द्वारा आमन्त्रित होकर अधोक्षज श्रीहरि उनके मनमें वास करते हैं। इसके बाद अपनी भक्तवश्यताको चरितार्थ करते हुए हृदयाकाशके समान उस स्थानसे अन्यत्र नहीं जाते॥ २०॥

न भजति कुमनीषिणां स इज्यां
हरिरधनात्मधनप्रियो रसज्ञः।
श्रुतधनकुलकर्मणां मदैर्ये
विदधति पापमकिञ्चनेषु सत्सु॥ २१॥

पार्थिव धनसे हीन होनेपर भी जो भगवान्‌को ही अपना सर्वोत्तम धन समझते हैं, ऐसे साधु ही भगवान्‌को बहुत प्रिय हैं। ऐसे भक्तोंके प्रेमरसको वे रसज्ञ प्रभु ही भलीभाँति जानते हैं। जो व्यक्ति पाण्डित्य, धन, उच्चकुलमें जन्म और कर्मोंके अहङ्कारमें मत्त होकर अकिञ्चन

साधुओंका तिरस्कार करते हैं, श्रीहरि ऐसे दुर्बुद्धियुक्त व्यक्तियोंकी पूजाको कभी भी स्वीकार नहीं करते॥ २१॥

श्रियमनुचरतीं तदर्थिनश्च
द्विपदपतीन् विबुधांश्च यः स्वपूर्णः।
न भजति निजभृत्यवर्गतन्त्रः
कथमममुमुद्विसृजेत् पुमान् कृतज्ञः॥ २२॥

अपने आपमें परिपूर्ण होनेपर भी जो अपने भक्तोंकी अधीनताको अङ्गीकार करते हैं, किन्तु जो निरन्तर सेवामें रत रहनेवाली लक्ष्मीदेवी और लक्ष्मीकी कामना करनेवाले राजाओं एवं देवताओंकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं देते, अहो! ऐसे भक्तवत्सल भगवान्‌को कृतज्ञ पुरुष किस प्रकारसे क्षण भरके लिए भी छोड़ सकता है?॥ २२॥

श्रीमैत्रेय उवाच—

इति प्रचेतसो राजन्नन्याश्च भगवत्कथाः।
श्रावयित्वा ब्रह्मलोकं ययौ स्वायम्भुवो मुनिः॥ २३॥

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—हे विदुर! ब्रह्माजीके पुत्र श्रीनारद मुनि प्रचेताओंको ये समस्त उपदेश एवं अन्यान्य बहुत-सी भगवत्-कथाएँ सुनाकर ब्रह्मलोकको चले गये॥ २३॥

तेऽपि तन्मखनिर्यातं यशो लोकमलापहम्।
हरेर्निशम्य तत्पादं ध्यायन्तस्तद्गतिं ययुः॥ २४॥

प्रचेतागण भी देवर्षि श्रीनारदके मुखसे मोह-कल्मष विनाशक श्रीहरिके गुणानुवादका श्रवण करके भगवान्‌के चरणकमलोंका ध्यान करते-करते अन्तमें विष्णुलोकको प्राप्त हुए॥ २४॥

एतत् तेऽभिहितं क्षत्तर्यन्मां त्वं परिपृष्टवान्।
प्रचेतसां नारदस्य संवादं हरिकीर्तनम्॥ २५॥

हे वत्स विदुर! तुमने मुझसे जिस विषयमें प्रश्न किया था, वह नारद एवं प्रचेता-सम्वादरूप हरि-कीर्त्तन-विषयक आख्यान मैंने तुम्हें सुना दिया॥ २५॥

श्रीशुक उवाच—

य एष उत्तानपदो मानवस्यानुवर्णितः।
वंशः प्रियव्रतस्यापि निबोध नृपसत्तम॥ २६॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—हे नृपश्रेष्ठ परीक्षित्! इस प्रकार यहाँ तक स्वायम्भुव मनुके पुत्र उत्तानपादके वंशका वर्णन हुआ है। अब मनुके द्वितीय पुत्र प्रियव्रतके वंशका वर्णन कर रहा हूँ, श्रवण करो॥ २६॥

यो नारदादात्मविद्यामधिगम्य पुनर्महीम्।
भुक्त्वा विभज्य पुत्रेभ्य ऐश्वरं समगात् पदम्॥ २७॥

प्रियव्रतने देवर्षि श्रीनारदसे आत्मविद्याका ज्ञान प्राप्त करनेके बाद पृथ्वीका पालन किया। अन्तमें पुत्रोंमें राज्यको बाँटकर वे अनायास ही भगवत्-धामको प्राप्त हो गये॥ २७॥

इमान्तु कौषारविणोपवर्णितां
क्षत्ता निशम्याजितवादसत्कथाम्।
प्रवृद्धभावोऽश्रुकलाकुलो मुने-
र्दधार मूर्ध्ना चरणं हृदा हरेः॥ २८॥

इधर श्रीमैत्रेय ऋषिके द्वारा कथित भगवत्-माहात्म्य सम्बन्धी कथा सुनकर विदुरजी भगवत्-भावमें विह्वल हो गये तथा उनके विकल नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगी। तब उन्होंने अपने हृदय द्वारा भगवान् श्रीहरिके चरण तथा अपने सिर द्वारा गुरुवर श्रीमैत्रेय मुनिके चरणकमलोंको धारण किया॥ २८॥

श्रीविदुर उवाच—

सोऽयमद्य महायोगिन् भवता करुणात्मना।
दर्शितस्तमसः पारो यत्राकिञ्चनगो हरिः॥ २९॥

श्रीविदुरने कहा—हे महायोगिन्! आज परदुःखदुःखी आपने मुझे संसार-समुद्रके उस पारका दर्शन कराया है, जहाँ पहुँचनेपर श्रीहरि स्वयं ही अपने अकिञ्चन भक्तोंको दर्शन दिया करते हैं॥ २९॥

श्रीशुक उवाच—

इत्यानम्य तमामन्त्र्य विदुरो गजसाह्वयम्।
स्वानां दिदृक्षुः प्रययौ ज्ञातीनां निर्वृताशयः॥ ३०॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—इस प्रकारसे परमानन्दको प्राप्त कर रहे विदुरजीने मैत्रेय ऋषिके प्रति कृतज्ञता प्रकटकर उन्हें दण्डवत् प्रणाम किया और अपने बन्धुओंसे मिलनेकी कामनासे वे हस्तिनापुरकी ओर चल दिये॥ ३०॥

एतद् यः शृणुयाद्राजन् राज्ञां हर्यर्पितात्मनाम्।
आयुर्धनं यशः स्वस्ति गतिमैश्वर्यमाप्नुयात्॥ ३१॥

हे राजन्! जो मनुष्य भगवान् श्रीहरिमें समर्पितचित्त प्रचेताओंके इस चरित्रका श्रवण करेंगे, उन्हें दीर्घायु, धन, यश, कल्याण, ऐश्वर्य एवं वैकुण्ठादि लोकोंकी प्राप्ति होगी॥ ३१॥

इस अध्यायमें श्रीमन्मध्वाचार्यके अनुगत श्रीविजयध्वज-तीर्थपादने अपनी पदरत्नावली-टीकामें निम्नलिखित श्लोकोंको अतिरिक्त पाठके रूपमें स्वीकार किया है—

यथा, (४/३१/१८) श्लोकके बाद—

निरस्त सङ्कल्पविकल्पमद्वयं
द्वयापवादोपरमोपलम्भनम् ।
अनादिमध्यान्तमजस्रनिर्वृतिं
संज्ञप्तिमात्रं भजतामुया दृशा॥ १॥

जिनकी कृपासे जीवोंका सङ्कल्प-विकल्पात्मक मनोधर्म दूरीभूत होता है, जिनके समान अथवा जिनसे अधिक कोई नहीं है, भेदापवादके हाथसे परित्राण प्राप्त करनेपर [अर्थात् निर्भेद ब्रह्मानुसन्धानमें तत्पर केवलाद्वैतवादी अपने उद्देश्यकी सिद्धिके प्रतिकूल ज्ञानमें जो शुद्धद्वैत अर्थात् पञ्चविध भेद—ईश्वर-जीवमें भेद, जीव-जीवमें भेद, जीव-जड़में भेद, जड़-जड़में भेद, जड़ और ईश्वरमें भेदरूप ज्ञानकी निन्दा करते रहते हैं, वैसे कुतर्कके नष्ट होनेपर] जिनका दर्शन प्राप्त

होता है, जिनका आदि, मध्य अथवा अन्त नहीं है, उन नित्यानन्दस्वरूप, विज्ञान-घनानन्दमय पुरुषका मनोधर्मसे मुक्त भक्तगण भजन करते हैं।

(४/३१/२२) श्लोकके बाद

भवतां वंशधुर्येऽभूद् ध्रुवश्चित्ररथः स्वराट्।
गुरुदारवचोबाणैर्निर्भिन्नहृदयोऽर्भकः ॥ २ ॥

त्यक्त्वा स्त्रैणं च तं गच्छन् दृष्टो मे पथ्युदारधीः।
पञ्चवर्षो मदादेशैः संराध्य पुरुषेश्वरम् ॥ ३ ॥

तत्परं सर्वधिष्णेभ्यो मायाधिष्ठितमारुहत्।
मुनयोऽद्याप्युदीक्षन्ते परं नापुरवाङ्मुखाः ॥ ४ ॥

आपके वंशमें चित्ररथ नामक चक्रवर्ती भक्तश्रेष्ठ ध्रुवका जन्म हुआ था। बाल्यकालमें सौतेली माँके वाक्यरूपी बाणोंसे घायल होकर सरलचित्त पाँच वर्षका बालक ध्रुव अपने स्त्रैण पिताका परित्याग करके वनमें चला गया था। पथमें मेरे (नारदके) साथ उसकी भेंट हुई थी और मेरे उपदेशसे उसने परमपुरुष भगवान्‌की आराधना करके जिस लोकको प्राप्त किया था, उसका नाम ध्रुवलोक है। वह लोक समस्त लोकोंमें श्रेष्ठ एवं विष्णुके सान्निध्यमें अवस्थित है। उसके निम्नलोकमें अवस्थित मुनि आज भी उस लोककी प्राप्तिके लिए चेष्टा करते हैं, किन्तु प्राप्त नहीं कर पाते॥ २-४॥

तं यूयं सर्वभूतानामन्तर्यामिणमीश्वरम्।
रुद्रादिष्टोपदेशेन भजध्वं भवनुत्तये ॥ ५ ॥

आपलोग संसार-बन्धनसे मुक्त होनेके लिए महादेवजीके उपदेशानुसार उन ध्रुव-सेवित सर्वान्तर्यामी भगवान्‌की सेवा कीजिये॥ ५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे ब्रह्मसूत्रभाष्ये पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां चतुर्थस्कन्धे श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे श्रीप्राचेतसोपाख्यानं नामैकत्रिंशोऽध्यायः॥

॥ चतुर्थः स्कन्धः समाप्तः ॥

श्लोक–सूची

अ

अंशांशास्ते	४/७/४३	अङ्गं सुमनसं	४/१३/१७
अंशेन रोमभिः	३/६/१८	अङ्गञ्च मलपङ्केन	३/२३/२५
अंसे सुनाभा–	३/२/२४	अङ्गसङ्गाद्–	४/९/४८
अकरोः सचिवं	१/९/२०	अङ्गिरा मुखतो	३/१२/२४
अकर्त्तुः कर्म–	३/२७/१९	अङ्गुष्ठमात्रं	१/१२/८
अकल्य एषामधि–	४/३/२१	अङ्गेन सन्ध्या–	४/६/३६
अकल्यः स्वाङ्ग–	३/३१/८	अङ्गो द्विज–	४/१३/२९
अकामः सर्व–	२/३/१०	अङ्गोऽश्व–	४/१३/२५
अकामां चकमे	३/१२/२८	अचिराच्छ्रेय	४/२४/७४
अकुन्ठिताखण्ड–	३/४/१७	अचीक्लृपद्यत्र	३/५/८
अक्रूरश्चोग्र–	१/११/१६	अचेष्टत प्रेम–	३/१/३२
अक्षण्वतामधि–	४/२५/५४	अजं प्रजातं	१/५/२१
अक्षिणी चक्षुषा	३/२६/६४	अजं लोक–	४/२/७
अक्षिणी नासिके	४/२९/८–९	अजः सृजति	२/८/९
अक्षौहिणीभिः परि–	१/११/३४	अजस्त्वमस्य	१/८/३३
अक्षौहिणीशतमपा–	१/१६/३५	अजस्य जन्मो–	३/१/४४
अगस्त्यः प्राग्–	४/२८/३२	अजातशत्रवः	३/२५/२१
अग्निराजगवं	४/१५/१८	अजातशत्रावभवन	१/१०/६
अग्निरिन्धे	३/२९/४२	अजातशत्रुं	१/१३/३६
अग्निनिसृष्टौ	१/१३/२४	अजातशत्रुः कृत–	१/१३/३१
अग्निष्टोमम्	४/१३/१६	अजातशत्रुः पृतनां	१/१०/३२
अग्निष्वात्ता	४/१/६२	अजातशत्रोः	३/१/११
अग्निहोत्रं स्वधा	४/७/४५	अजातशत्रौ	१/१०/६
अग्रे गुणेभ्यो	१/१०/२१	अजादयो	३/१९/२७
अग्रेचरो मम	१/१५/१५	अजानतामिवा–	१/१५/२३
अग्रे वृकान्	४/२९/५३	अजानती प्रियतमं	४/२८/४५

अजानन्त्यापरं ३/२३/५४
अजानन्नृप- १/७/२०
अजीघनत् स्वयं ३/३/१०
अजोऽध्यतिष्ठत् ४/८/२०
अटत्युन्मत्तवन्नग्नो ४/२/१४
अणीयसा २/२/२५
अणुर्द्वौ परमाणु ३/११/५
अण्डकोष उवासाप्सु ३/६/६
अण्डकोषे शरीरे २/१/२५
अण्डकोषो बहि- ३/११/४०
अत एनं १/१७/११
अतएव शनै- ३/२७/५
अतः कविर्नामसु २/२/३
अतः कायमिमं ४/२०/५
अतः परं प्रवक्ष्यामि ३/१०/३०
अतः परं यद् १/३/३२
अतः परं सूक्ष्मतम २/१०/३४
अतः पुंभिः १/२/१३
अतः पृच्छामि १/१९/३७
अतः साधोऽत्र १/१/११
अतः सा सुषुवे ३/२३/४८
अतप्यत भस्माखिल- २/९/८
अतस्तदपवादार्थं ४/२९/७९
अतस्तवोत्पन्नम् ४/४/१८
अतस्त्वमुपकुर्वाणः ३/२२/१४
अतस्त्वमृषि- ३/२४/१५
अतिचेरुर्वक्र- ३/१७/१४
अतिमर्त्त्यानि १/१/२०
अतिष्ठदेक- ४/१/१९
अतीव भर्त्तू- ४/२३/२०
अतृप्तदृग्- ४/२०/२२
अतृप्नुम ३/५/१०
अतोऽग्नि- ४/३०/४५
अतो धर्मान् ३/२२/१९
अतो निवर्त्त- ४/८/३२
अतो भगवतो ३/६/३९
अतो भजिष्ये ३/२२/१९
अतो मद्वयुनं ३/४/३१
अतो मयि ३/९/४२
अतो विशेषो ३/२६/४९
अतो वै १/२/२२
अतो ह्यन्योऽन्यम् ३/२२/४
अत्यक्रामत् १/१३/१७
अत्यन्तोपरति- ३/२५/१३
अत्र ते कथयिष्ये ४/२५/९
अत्र प्रमाणं २/८/२५
अत्र मे वदतो ४/२९/५२
अत्र यः प्रथमो ४/१५/४
अत्र सर्गो २/१०/१
अत्रागतास्तनु- ४/१/२७
अत्रानुरूपं १/१७/२०
अत्रिः सन्दर्शयामास ४/१९/२०
अत्रिणा चोदितस्तस्मै ४/१९/२१
अत्रिणा चोदितो ४/१९/१३
अत्रिर्वशिष्ठः १/१९/९
अत्रेः पत्न्य- ४/१/१५
अत्रेरपत्यम् २/७/४
अत्रेर्गृहे ४/१/१६
अत्रैव नरकः ३/३०/२९
अत्रोपसृष्ट- ३/१५/४२
अथ तं सर्व- ३/३२/११
अथ तं सुखम् १/५/१

अथ तस्य पुन– ४/१५/१
अथ तस्याभि– ३/६/११
अथ तस्योशतीं ३/१६/१३
अथ ते तदनु– ३/४/१
अथ ते भगवल्लीला– ३/५/२२
अथ ते भ्रातृ– ३/३/१२
अथ ते मुनयो ३/१६/२७
अथ ते संप्रवक्ष्यामि ३/२६/१
अथ ते सम्परेतानां १/८/१
अथ त्वमसि ४/२४/६८
अथ दूरगता– १/१०/३३
अथ देवगणाः ४/६/१
अथ निर्याय ४/३०/४४
अथ भागवता ४/२४/३०
अथ मय्यन– ४/३०/१८
अथ मां सर्व– ३/२९/२७
अथ मात्रोप– ४/८/३०
अथ मे कुरु ३/१४/१५
अथ मे देव ३/२५/१०
अथ यो गृह– ३/३२/१
अथर्त्विजो ४/५/७
अथर्वणे ३/२४/२४
अथर्वाङ्गिरसाम् १/४/२२
अथवा देव– १/१७/२३
अथवास्य १/१६/६
अथ विश्वेश १/८/४१
अथ सम्प्रस्थिते ३/२१/३५
अथाख्याहि १/१/१८
अथाजगाम १/१३/३८
अथाजनि ३/२४/३५
अथाजिघ्रन् ४/९/४४
अथातः कीर्त्तये ४/८/६
अथात्मनो– ४/२९/३६
अथात्र किमनु– ३/१३/१९
अथात्रापीतिहासो– ३/१४/७
अथादर्शे ३/२३/३०
अथादीक्षत ४/१९/१
अथानघा– ४/२४/५८
अथापि कामम् ३/१४/२२
अथापि कीर्त्तयाम्यङ्ग ३/६/३६
अथापि तदभि– ३/४/५
अथापि भक्त्येश ४/७/३८
अथापि मे ३/२३/५१
अथापि यत् १/१८/२१
अथापि यूयं ४/६/५
अथाप्यजोऽन्तः ३/३३/२
अथ्याप्युदार– ४/१६/३
अथावभाषे १/१३/४०
अथाभजे ४/२०/२७
अथाभिधेह्यङ्ग– २/३/२५
अथाभिध्यायतः ३/१२/२१
अथाभिप्रेतम् ३/९/२७
अथाभिष्टूत ४/९/१८
अथामुमाहू ४/१६/१५
अथायजत ४/१२/१०
अथावमृज्या– ४/२०/२२
अथाविशत् १/११/३०
अथासौ युग– १/३/२५
अथास्मदंश– ४/१/३०
अथास्मिन् ४/१८/३०
अथास्य हृदयं ३/२६/६०
अथाह तन्मन्त्र– ३/१/१०

अथेदं नित्यदा	४/२४/७४	अद्राक्षमेकम्	३/४/६
अथेह धन्या	१/३/३९	अधना अपि	४/२२/१०
अथैकं पौरुषं	२/१०/१४	अधर्मः पृष्ठतो	३/१२/२५
अथैतानि	१/१७/४१	अधर्मचक्रं	१/१५/३७
अथैवानुचराः	१/१४/३२	अधर्मशीलस्य	३/५/३
अथो अनन्तस्य	२/२/२६	अधर्मश्च समेधेत	३/२१/५५
अथोटजम्	३/२१/४८	अधर्मांशैस्त्रयो	१/१७/२४
अथोदीचीं	१/१३/२८	अधर्मांशोद्भवं	४/१३/३९
अथो न	३/५/४५	अधस्तान्नर–	३/३०/३४
अथोपस्पृश्य	१/७/२०,	अधिक्रमन्त्य–	१/१४/३८
	३/१४/३२	अधिजह्नुर्मुदं	१/१२/६
अथोपेत्य	१/७/४१	अधिदैवमथा–	२/१०/१४
अथो भजस्व	४/२७/२६	अधिपुण्यजन–	४/६/३०
अथो महाभाग	१/५/१३	अधिरथयूथप–	३/४/२८
अथोरुधा–	३/१९/१७	अधिष्ठितं यत्र	३/८/१८
अथो व उशती	४/३०/११	अधिष्ठितो	३/१/१७
अथो विदुस्तं	४/२४/६४	अधीततत्त्वात्म–	३/४/२०
अथो विभूतिं	३/२५/३७	अधीतवान्	२/१/८
अथो विहायेमम्	१/१९/५	अधीयानो	४/२४/७६
अदभ्रदयया	३/१५/९	अधुनैषोऽभिजित्–	३/१८/२६
अदान्मे ज्ञानम्	१/५/३९	अधोवदनम्	१/१४/२३
अदीनलीला–	२/२/१२	अध्यगान्महत्–	१/७/११
अदृष्टपारा	४/३०/४१	अध्यर्हणीयासनम्	२/९/१६
अदृष्टमश्रुतञ्चात्र	४/२९/६७	अध्यात्मदीपम्	१/२/३
अदृष्टाय नम–	४/२०/३८	अध्यात्मपारोक्ष्यम्	४/२९/८५
अदृष्टाश्रुत–	१/३/३२	अध्यासितः सकल–	३/९/१८
अदो ददाति	३/२९/४३	अध्वन्युरुक्रम–	१/१५/२०
अद्य नस्तमसः	४/२१/५१	अध्वर्युणात्तहविषा	४/७/१८
अद्यापि तन्मे	४/२१/१०	अध्वर्युणाहूयमाने	४/४/३३
अद्यापि वाचस्पतयः	४/२९/४४	अनन्तपारस्य	१/५/१६
अद्यैव राज्यं	१/१९/३	अनन्तपारे तमसि	४/२८/२७

अनन्तमाहात्म्य–	४/१६/१०
अनन्तरं त्वां	४/१२/७
अनन्तरं विदर्भस्य	४/२८/२८
अनन्तलिङ्गैः	३/१/१८
अनन्तवीर्यः	२/१/३३
अनन्यदृष्ट्या	३/१३/५१
अनन्यपुरुष–	१/१४/२१
अनन्यभावे निज–	४/८/२२
अनन्यभावैकगतिं	४/७/५९
अनन्यवृत्त्यानुगृहाण	४/७/३८
अनन्यवृत्त्या समनु–	३/१/३५
अनन्यहेतुष्वथ	३/२७/३०
अनन्वितं तव	४/७/३४
अनभिप्रेतम्	३/३१/२५
अनर्थोपशमं	१/७/६
अनवेक्षमाणो	१/१५/४३
अनागःस्विह	१/१७/१५
अनागसं दुर्वचसा–	४/३/२४
अनागसश्चित्र–	४/११/६
अनादिमध्यनिधनं	२/१०/३४
अनादिरात्मा	३/२६/३
अनादृता यज्ञ–	४/४/९
अनापृष्टमपि	३/७/३६
अनामरूपात्मनि	१/१०/२२
अनास्थितं ते	४/१२/२६
अनाहुता अप्य–	४/३/१३, १६
अनिच्छतां यानम्	४/३०/४३
अनिच्छतो गतिम्	३/२५/३६
अनिच्छन्नप्यदां	४/२/१३
अनिमित्तनिमित्तेन	३/२७/२१
अनिमित्ता भाग–	३/२५/३२
अनिलेनान्वितं	३/५/३५
अनिलोऽपि	३/५/३४
अनिवृत्तनिमित्त–	३/२७/२०
अनुक्रमिष्ये त	२/६/४६
अनुग्रहं मन्यमानः	१/६/१०
अनुग्रहाद्भगवतः	१/१८/१
अनुग्रहान्महा–	१/६/३२
अनुग्रहाय भक्ताना–	३/२०/२५
अनुग्रहाय भद्रं	४/२४/२७
अनुग्रहायास्त्वपि	३/२१/२०
अनुग्रहायेह	३/५/३
अनुग्रहेणाशृणवं	१/५/२६
अनुदिनमिदम्	४/२३/३९
अनुनिन्येऽथ	४/२६/२०
अनुनीयमानस्तद्	४/१४/२९
अनुप्रविष्टो	३/५/६
अनुप्रवृत्तो–	१/१७/३२
अनुप्राणन्ति	२/१०/१६
अनुरक्तप्रजं	४/९/६६
अनुवत्सरो	३/११/१४
अनुवर्त्तिता स्विद्–	१/१२/१८
अनुव्रतानां	३/७/३६
अनुव्रता यत्र	२/९/१०
अनुशासित आदेशं	४/२०/१७
अनुशेते शयानायाम्	४/२५/५९
अनुहृष्यति हृष्यन्त्यां	४/२५/६१
अनेन ध्वस्त–	४/२४/७३
अनेन पुरुषो	४/२९/७५
अनेन लोकान्	३/१०/७
अन्तःपुरं परि–	४/१२/१६
अन्तःपुरञ्च हृदयं	४/२९/१६

अन्तःपुरस्त्रियः	४/२६/१४	अन्धावमीषां	४/२५/५४
अन्तः पुरुष-	३/२६/१८	अन्नं सर्वगुणो-	३/२३/२९
अन्तःप्रविष्ट	१/२/३०	अन्नञ्चोरुरसं	३/३/२८
अन्तःशरीर	२/१०/१५	अन्नमीप्सितम्	४/१८/१०
अन्तः स तस्मिन्	३/११/३२	अन्नाद्यकाम	२/३/४
अन्तःसरस्युरुबलेन	२/७/१५	अन्यत्र ब्राह्मण-	४/२१/१२
अन्तःस्थः सर्व-	१/८/१४	अन्यत्र वै मुररिपोः	४/२६/२४
अन्तकाले तु	२/१/१५	अन्यथा कर्म	४/२६/८
अन्तरोऽनन्तरो	१/१३/४८	अन्यथा तेऽव्यक्त-	१/१९/३६
अन्तर्गतः स्व-	३/१५/४३	अन्यांश्च दन्तवक्रादीन्	३/३/११
अन्तर्गतोऽर्थो	३/८/१३	अन्यांश्च हस्तचरण-	४/९/६
अन्तर्ग्रामेषु	३/१७/९	अन्यानि चेह	३/१/२३
अन्तर्जलेऽनु-	३/१५/१७	अन्याश्च यामयः	१/१३/४
अन्तर्जलेऽहि-	३/९/२०	अन्ये च कार्ष्णि-	१/१४/३१
अन्तर्द्धानगतिं	४/२४/३	अन्ये च देवर्षि-	१/१९/११
अन्तर्द्धानो नभ-	४/२४/५	अन्ये च मायिनो	४/१८/२०
अन्तर्भवायानुप-	२/४/१२	अन्ये च मुनयः	१/१/७,
अन्तर्महार्णव	२/७/१		१/९/८
अन्तर्बहिर्वायुः	१/१७/३४	अन्ये च ये प्रेत-	२/६/४४
अन्तर्बहिश्च भूतानां	४/१६/१२	अन्ये च विविधाः	२/६/१५
अन्तर्बहिश्च लोकान्	१/६/३२	अन्ये च साल्व-	२/७/३४
अन्तर्बहिश्चामलम्	३/१४/५०	अन्येऽपि चाहम्	१/१५/१२
अन्तर्बहिःस्नान-	४/२४/५८	अन्ये पुनर्भगवतो	३/२३/८
अन्तर्हितस्य स्मरती	१/१६/२४	अन्येषां दुष्कर-	३/४/३४
अन्तर्हितेन्द्रियार्थाय	२/९/३८	अन्येषां पुण्य-	३/१९/३४
अन्तर्हिते भगवति	३/१०/१	अन्योन्यमासीत्	१/१०/२०
अन्तर्हितोऽन्त	४/३०/२९	अन्योन्यश्लेषयो-	३/२०/३०
अन्तश्चरो वायु-	१/५/७	अन्योन्यापाश्रयत्वाच्च	३/२७/१७
अन्तस्त्रिलोक्य-	२/६/२०	अन्वगच्छन् रथै-	१/९/२
अन्ते त्वधर्महर-	२/७/३९	अन्वद्रवदतिक्रुद्धो	४/१९/१६
अन्धः पुरैव	१/१३/२२	अन्वद्रवन्ननुपथाः	४/२८/२३

अन्वधावत पाण्ड्येशं	४/२८/३४	अपश्यत् सर्व–	३/२४/४६
अन्वधावत संक्रुद्धः	४/१९/१३	अपश्यन् सहसो–	१/६/१९
अन्वभूयत	४/१९/३	अपश्यमानः सः	४/१०/२१
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां	२/९/३५	अपश्यमाना–	१/११/९
अन्ववोचन्	१/५/३०	अपहतसकलैषणा–	४/३१/२०
अन्वस्मरदगं	४/१२/३२	अपां रसस्य	३/२७/१८
अन्वाक्रमत्	३/१/१७	अपां वीर्यस्य	२/६/८
अन्वाद्रवद्–	१/७/१७	अपाण्डवमिदं	१/८/११
अन्वारुरुक्षेदपि	४/१२/४३	अपानन्तमपानन्ति	२/१०/१६
अन्विच्छति पतिं	३/२२/९	अपापेषु स्व–	१/१८/४७
अन्वतो ब्रह्म–	४/१९/४	अपामुपस्थे मयि	४/१७/३५
अन्वीक्षते प्रति–	३/२८/३५	अपाययत् सुरान्	१/३/१७
अन्वीयमानः स	४/५/६	अपालिता नादृता	४/१८/७
अन्वीयमानस्तरसा	३/२०/२४	अपावृतैः कर्ण–	३/२२/७
अन्वेषणीयचरणौ	३/१५/३७	अपाश्रितार्भक–	३/४/८
अन्वेषन्ती वनं	४/९/२३	अपि क्षमं	३/४/१८
अन्वेषन्नप्रतिरथो	३/१८/२२	अपि देवर्षिणा	१/१४/८
अन्वेषमाणाम्	४/२५/२१	अपि नः सुहृदः	१/१३/११
अपक्षितमिवा–	३/११/३३	अपि निर्मुक्त–	३/२२/१२
अपङ्क्तोयेषु	३/१/१८	अपि मय्यकृत–	१/१३/३३
अपत्यकामा	३/१४/८	अपि मे भगवान्	१/१९/३५
अपत्यत्रयम्	४/२४/३	अपि वः कुशलं	४/२६/१४
अपत्ये द्रविणे	४/२०/६	अपि स्मरथ नो	१/१३/८
अपरे चानु–	२/८/२५	अपि स्मरन्ति कुशलं	१/१४/३३
अपरे जगृहुः	४/५/१६	अपि स्मरसि	४/२८/५३
अपरे वसुदेवस्य	१/८/३३	अपि स्वदोर्भ्याम्	३/१/३६
अपर्त्तावपि भद्रं	४/१८/११	अपि स्वस्त्यासते	१/१४/३३
अपश्यतापश्यत	३/८/२२	अपिस्वित्	१/१४/४३
अपश्यतामात्म–	२/१/२	अपिस्विदन्ये च	३/१/३५
अपश्यती बालकम्	४/८/१७	अपिस्विदास्ते	३/१/३४
अपश्यत् पुरुषं	१/७/४	अपिस्विद्भगवान्	३/१३/२४

अपीपलद्धर्म–	१/१२/४	अब्भक्ष उप–	१/१३/५३
अपीव्यदर्शनं शश्वत्	३/२८/१७	अब्भक्षः कतिचित्	४/२३/५
अपीव्यदर्शनं श्यामं	१/१२/८	अब्रह्मण्या नृप	१/१७/२७
अपृच्छद्विविधान्	१/९/२५	अब्रह्मण्ये	१/१६/२२
अपृथग्धर्मशीलानां	४/३०/१६	अभद्र हेतु–	१/१५/३६
अपृथग्धर्मशीलेयं	४/३०/१६	अभिद्रवति माम्	१/८/१०
अपेतमन्युं	४/१२/१	अभिद्रुत्य	३/१९/८
अप्यद्य नस्त्वं	१/८/३७	अभिमन्युसुतं	१/४/९
अप्यनाथं वने	४/८/६६	अभिवन्द्य पितुः	४/९/४५
अप्यभद्रम्	४/१४/३७	अभिषेचनिकान्यस्मा	४/१५/११
अप्यर्वाग्वृत्तयो	४/७/२४	अभिष्टुतो विश्व–	३/१८/८
अप्यलङ्कृताः	४/३/१२	अभिसङ्गम्य	१/१३/५
अप्यात्मत्वेनाभि–	३/२८/३९, ४०	अभिसन्धाय यो	३/२९/८
अप्यायुषा	३/१४/२१	अभिसम्भाव्य	३/२०/३३
अप्यावयोरेक–	४/२०/२७	अभीक्ष्नावगाह–	३/३३/१४
अप्युत्तमाङ्गं	२/३/२१	अभीयुर्मृष्ट–	४/२१/४
अप्युपैक्षतायं	३/१/४३	अभूतपूर्वः	१/१८/२९
अप्युरुक्रमस्या–	१/११/२	अभूतशत्रुर्जगतः	३/१४/४९
अप्येवमर्य भगवान्	४/९/१७	अभूतामन्तरा	४/२८/५४
अप्येष वंश्यान्	१/१२/१८	अभूत त्रयाणां	४/१२/३८
अप्रजः सुप्रजतमो	४/२३/३३	अभ्यधाद्भद्रया	३/१२/९
अप्रतर्क्याद–	१/१७/२०	अभ्यधायि	४/७/१
अप्रमत्तः प्रमत्तेषु	१/१८/८	अभ्यधावद्धरिः	३/१८/१६
अप्रमत्तोद्यता	३/२३/३	अभ्यधावन् गजा	४/१०/२६
अप्रमाणविदो	१/११/३९	अभ्यनन्दत तं	४/२५/३२
अप्रायत्यादा–	३/१४/३८	अभ्यर्चतां काम–	३/८/२६
अप्रौढ़ैवात्मना–	४/१/६५	अभ्यर्चती स्वलकम्	३/१५/२२
अप्सरोमुनि–	४/१/२२	अभ्यर्चितस्त्वया	४/९/५२
अवाधन्त मुनीनन्य–	४/५/१६	अभ्यर्च्य राजा	१/१९/११
अविभ्रदर्यमा	१/१३/१५	अभ्यर्थितस्तदा	१/१७/३८
अब्भक्ष उत्तमःश्लोक–	४/८/७४	अभ्यर्द्यमानेषु	३/२/१५

अभ्यवर्षन् प्रकुपिताः ४/१०/१२
अभ्यसेन्मनसा २/१/१७
अभ्याचष्टा– १/९/११
अभ्युज्जहाराम्भस ४/१७/३४
अभ्युत्थितः साध्वस– ४/१२/२१
अमङ्गलानाञ्च ४/६/४५
अमर्षयित्वा ४/५/११
अमायिनः कामदुघा– ४/२१/३३
अमुत्रान्येन देहेन ४/२९/५८
अमुनी भगवद्रूपे २/१०/३५
अमुष्य दुर्भगत्वं ३/७/६
अमूनि पञ्च १/१७/४०
अमूषां क्षुत् ४/१७/२५
अमृतं क्षेममभयं २/६/१९
अमोघवीर्या हि ४/१४/४२
अम्बा वा हत– १/१३/३३, ३९
अम्भोगुण– ३/२६/४८
अम्लानलक्ष्म्या २/२/१०
अयं त्वत्कथा– ४/७/३५
अयं भुवो मण्डल– ४/१६/२०
अयं महीं गां ४/१६/२२
अयं सिद्धगणाधीशः ३/२४/१९
अयजद् यज्ञपुरुषं ३/२२/३१
अयजन् व्यक्तम् २/६/२९
अयने चाहनी ३/११/१२
अयन्तु कथितः ३/११/३७
अयन्तू देव– ४/२/१८
अयन्तु ब्रह्मणः २/१०/४७
अयन्तु लोक– ४/२/१०
अयन्तु साक्षाद्भगवान् ४/१६/१९
अयाजयद्गो– ३/२/३२
अयाजयद्धर्म– ३/३/१८
अयातयामास्तस्यासन् ३/२२/३५
अयातयामोपह– ४/१९/२८
अरक्षतां १/१३/३४
अरक्षिता कर– ४/२०/१४
अरक्ष्यमाणाः स्त्रियः १/१६/२२
अरक्ष्यमाणो– १/१८/४३
अरण्यपात्रे ४/१८/२३
अराजक–भयादेष ४/१४/९
अराजके तदा ४/१३/२०
अरिष्टनेमि– १/१९/९
अरुद्रभागं ४/४/९
अर्चन्ति कल्पकतरुं ४/९/९
अर्चादावर्चयेत् ३/२९/२५
अर्चदावर्चयेद्यो ३/२९/९
अर्चित्वा क्रतुना ४/७/५५
अर्चिर्नाम महाराज्ञी ४/२३/१९
अर्चिर्नाम वरारोहा ४/१५/५
अर्जुनः सहसा १/७/५५
अर्थज्ञात् संशय– २/२९/३२
अर्थलिङ्गाय ४/२४/४०
अर्थाभावं विनिश्चित्य ३/७/१८
अर्थाय जातस्य ३/१/४५
अर्थार्थिभिः स्व– ३/१६/२०
अर्थाश्रयत्वं ३/२६/३३
अर्थेन्द्रियाराम– ४/२२/२३
अर्थेन्द्रियार्था– ४/२२/३३
अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि ३/२७/४, ४/२९/३५, ७३
अर्थैरापादितैः ३/३०/१०
अर्वाक् पतन्तम– ४/७/१५

अर्वाक् सृतौ	३/२/१३	अवतारानुचरितं हरे-	२/१०/५
अर्वाक्स्रोतस्तु	३/१०/२६	अवतारा ह्यसंख्येया	१/३/२६
अर्हणमुप-	१/९/४१	अवतारे	१/३/२०
अर्हत्तमः कस्य	४/६/४०	अवधार्य विरिञ्चस्य	३/१९/१
अर्हत्युद्धव	३/४/३०	अवधूतसखः	४/२५/४८
अर्हयेद्दान-	३/२९/२७	अवन्दताङ्ग विनमय्य	४/९/३
अर्हस्यलङ्कर्त्तुम्	४/२५/२९	अवबोधरसैकात्म्यम्	४/१३/८
अर्हितार्हणको	४/८/६३	अवभात्यर्थ-	३/३२/२८
अलं ते क्रतुभिः	४/१९/३२	अवमेने महाभागान्	४/१४/४
अलं प्रजाभिः	३/१२/१७	अवरः श्रद्धयोपेत	४/१८/४
अलं प्रसक्तस्य	१/१९/४	अवरुह्य नृपस्तूर्णम्	४/९/४२
अलं वत्सातिरोषेण	४/११/७	अवस्थितानाम्	३/१/४५
अलक्षयन्तः पदवीं	४/१३/४९	अवस्थितो लोकम्	३/८/१६
अलक्षितः स्वैरवधूत-	३/१/१९	अवाङ्मुखं	१/७/४२
अलक्षितो यच्छर-	३/१/३८	अवादयंस्तदा	३/२४/७
अलक्ष्यं सर्व-	१/८/१८	अवाप लक्ष्मीम्	४/२१/३८
अलक्ष्यमाणे	१/१८/४३	अवापुर्दुर-	१/१५/४८
अलक्ष्यलिङ्गो	१/१९/२५	अवापोरुविधान्	४/२८/५
अलङ्कृतां	१/११/१५	अविकाराद-	३/२७/१
अलब्धतृण-	१/१८/२८	अविक्लवस्ते	२/९/२९
अलब्धनिद्रो-	४/१३/४७	अविच्युतोऽर्थः	१/५/२२
अलब्धमानो-	१/१४/३९	अविज्ञातगति-	१/१३/२६
अलब्धाभीप्सितो	३/३१/२८	अविज्ञाय परं	२/५/१०
अलम्पटः शीलधरो	३/१४/४९	अविदो भूरि-	३/१०/२१
अल्पीयसि द्रोह-	१/१८/४१	अविद्ययात्मनि कृते-	१/३/३३
अवकीर्यमाणो	४/१२/३४	अविद्यारचितस्वप्न-	४/१२/१५
अवघ्राय मुदा युक्तः	४/१३/३७	अविद्यासंशय-	३/२४/१८
अवजानन्त्यमी मूढा	४/१४/२४	अविपक्वकषायाणां	१/६/२२
अवज्ञातमिवा-	१/१८/२८	अविरतमेधित-	४/३१/२०
अवञ्चयत्तिरश्चीनो	३/१८/१५	अविलुप्ताव-	३/७/५
अवतारानुचरितं	२/८/१७	अविसह्यतया	४/२२/६०

अवेक्षते महाभाग–	१/४/८
अवैति जन्तुः	१/३/३७
अव्यक्तमाहुर्हृदयं	२/१/३४
अव्यक्तमूलं	३/८/२९
अव्यक्तरस–	२/६/११
अव्यक्तलिङ्गा	४/४/२१
अव्यक्तवर्त्मन्यभि–	३/८/३३
अव्यक्तवर्त्मैष	४/१६/१०
अव्यक्तस्याप्रमेयस्य	४/११/२३
अव्यक्ताय च	४/२०/३८
अव्यवच्छिन्नयोगाग्नि–	४/१३/९
अव्याकृतं भागवतो–	४/२४/२९
अव्याकृतं विशति	३/३२/९
अव्याकृतस्यानन्तस्य	३/११/३८
अशक्नुवंस्तद्	३/२२/२५
अशृणोन्नारदाद्	३/२२/१०
अशेषजन्मोपचितं	४/२१/३१
अशेषसंक्लेश	३/७/१४
अश्नन्त्यां क्वचित्	४/२५/५७
अश्नात्यनन्तः खलु	४/२१/४१
अश्रद्दधानान्	१/४/१७
अश्रूयन्ताशिषः	१/१०/१९
अश्वथाम्नो–	१/१२/१
अश्वाश्वतर्युष्ट्र–	२/१/३५
अश्विनोरोषधीनाञ्च	२/६/२
अष्टमे मेरु–	१/३/१३
अष्टादशाक्षौहिणिको	३/३/१४
अष्टाधिपत्यं	२/२/२२
अष्टायुधैरनुचरैः	४/३०/६
असंसक्तः शरीरे	४/२०/६
असङ्ग आत्म–	४/२२/२१
असङ्गविज्ञान–	४/२१/३२
असत्कृतः	३/१/१४
असत्कृताया	४/५/१
असत्सभाया	१/८/२४
असम्पन्न इवा–	१/४/३०
असम्परायाभिमुखम्	४/२५/३८
असम्भवायाखिल–	२/४/१३
असहन्तस्तन्निनाद–	४/१०/७
असाविहानेक–	४/२१/३४
असावेव वरः	४/३०/३०
असूत मिथुनं	४/८/२
असूत यं	३/१/३०
असूयन् भगवानिन्द्रः	४/१९/१०
असृग्वर्षन्ति	१/१४/१६
असेवयायं	३/२५/२७
असेवितश्री–	३/२२/१८
असौ गुणमयैः–	१/२/३२
अस्ति यज्ञपतिः	४/२१/२७
अस्ति ह्यधस्तादिह	३/८/१८
अस्तौद्विसर्गाभि–	३/८/३३
अस्त्येकं प्राक्तनम्	४/१३/३१
अस्त्येव मे	१/५/५
अस्त्येव राजन्	४/२२/२०
अस्त्रं ब्रह्म–	१/७/१९
अस्त्रग्रामश्च	१/७/४४
अस्त्रतेजः	१/१२/१०
अस्त्रण्यमोघ–	१/१५/१६
अस्त्रौघं व्यधमद्बाणैः	४/१०/१६
अस्पष्टकीर्त्तिः	४/२३/३३
अस्मत्प्रसाद–	२/७/२३
अस्मद्भुजच्युतया	३/१८/५

अस्मद्विधैस्तद्गुण– ४/१७/३६
अस्माल्लोकाद् ३/४/३०
अस्मासु वा ३/१६/२५
अस्मिँल्लोकेऽथवा– ४/१८/३
अस्मिन् कल्पे ३/१०/३२
अस्मिन् कृतमतिः ४/२३/३८
अस्मिन् विधूय २/७/३
अस्मै नृपालाः ४/१६/२१
अस्या उद्धरणे ३/१३/१५
अस्यानुभावं १/९/१९
अस्याप्रतिहतं ४/१६/१४
अस्राक्षीद्भगवान् ३/७/४
अहं तत्त्वाद्वि– ३/५/३०
अहं त्वमित्यपार्था ४/१२/४
अहं त्वाश्रृणवं ३/२२/१४
अहं दण्डधरो ४/२१/२२
अहं पुरातीत– १/५/२३
अहं ब्रह्मा च ४/७/५०
अहं भवान् न ४/२८/६२
अहं भवान् भवश्चैव २/६/१३
अहं भवो यज्ञ २/६/४३
अहं ममाभिमान– ३/२५/१६
अहंममेति स्वीकृत्य ४/२८/१७
अहंममेत्यसद्ग्राहः ३/३१/३०
अहं सर्वेषु ३/२९/२१
अहं स्वपुत्रान् ३/१/४१
अहं हिं पृष्टो १/१८/२३
अहङ्कारविमूढस्य ३/२६/१६
अहङ्कारविमूढात्मा ३/२७/२
अहङ्कारस्ततो ३/२६/६१
अहञ्च तद् १/६/८
अहञ्च तस्मिन् ४/३/९
अहञ्च तस्मै १/६/२६
अहञ्च लोकानु– ३/२१/१६
अहञ्चाध्यगमं १/३/४४
अहञ्चान्य इमे ३/६/४०
अहञ्चोक्तो भगवता ३/४/४
अहनिष्यत् कथं ४/१७/१९
अहन्यमाना ३/१७/२५
अहमात्मात्मनां ३/९/४२
अहमुच्चावचै– ३/२९/२४
अहमेवासमेवाग्रे २/९/३२
अहयोऽशनि निश्वासा ४/१०/२६
अहस्तानि १/१३/४७
अहारषीद्यस्य ४/१६/२४
अहिंसया पारमहंस्य ४/२२/२४
अहिंसा सत्य– ३/२८/४
अहीन्द्रतल्पे ३/८/१०
अहेरिव पयःपोषः ४/१४/९
अहैतुक्यप्रतिहता १/२/६
अहैतुक्यव्यवहिता ३/२९/१२
अहो अद्भुतम् ३/१२/५०
अहो अद्य वयं १/१९/३२
अहो अधर्मः पालानां १/१८/३३
अहो अनात्म्यं ४/४/२९
अहो अलं पुण्य– १/१०/२६
अहो अलं श्लाघ्य– १/१०/२६
अहो आचरितं ४/२२/७
अहो इमां को ३/१९/२७
अहो इयं वधू– ४/२३/२५
अहो उभयतः ४/१४/८
अहो एतज्जगत्– ३/२०/५१

अहो कष्टमहो १/९/१२
अहो तेजः ४/८/२६
अहो देवर्षि– १/६/३९
अहो नृलोके १/१६/९
अहो पापच्य– ३/२४/२७
अहो पृथापि ३/१/४०
अहो ममामी ४/२१/३६
अहो मया नीच– १/१९/१
अहो महीयसी १/१३/२३
अहो मे पश्यता ज्ञानं १/८/४८
अहो मे यक्ष– ३/२०/२१
अहो मे बत ४/८/६७
अहो रूपमहो धैर्यम् ३/२०/३२
अहो बकी यं ३/२/२३
अहो बत ममानात्म्यं ४/९/३१
अहो बत श्वपचोऽतो ३/३३/७
अहो बत स्वर्यशसः १/१०/२७
अहो बतांहो १/१८/४१
अहो बताश्चर्यम् ३/१३/२३
अहो वयं जन्मभूतो १/१८/१८
अहो वयं धन्यतमा १/१९/१३
अहो वयं ह्यद्य ४/२१/४९
अहो विभूम्नः ३/१४/२९
अहो विरज्येत ३/१३/५२
अहो सनाथा १/११/७
अह्न्यापृतं निशि २/७/३१
अह्न्यापृतार्त्त करणा ३/९/१०

आ

आकण्ठमग्नः ४/२३/६
आकर्णयन् पत्र– ३/२१/३४
आकर्ण्यात्मजम् ४/९/३७
आकूतिं रुचये ३/१२/५६
आकूतिं रुचये प्रादात् ४/१/२
आकूतिर्देवहूतिश्च ३/१२/५५, ४/१/१
आकूतिर्विक्रमो ४/२९/२०
आकूतिसूनु– २/७/२
आक्रम्योरसि ४/५/२२
आक्रीड बालवद् ३/१८/२३
आक्रीडे क्रीड़तो ४/१३/४१
आक्षिप्तं तेज ३/१६/३६
आक्षिप्तात्मेन्द्रियः ३/३०/८
आख्यातान्य– १/१/६
आख्यानमत्यद्भुत– १/१८/१७
आख्याहि वृष १/१७/१३
आख्याह्यनन्ता– १/१८/१७
आगतः शमयामास ४/३०/४६
आगस्कृद्भय– ३/१८/२२
आग्नेय इष्टयो ४/१/६१
आचक्ष आत्मा– १/१८/२३
आचक्ष्व जीव– ३/२९/३
आचार्यवान् ज्ञान– ४/२२/२६
आजघ्ने स तु ३/१८/१७
आजहाराश्वमेधां १/१६/३
आजहारोल्बणं ३/१८/१३
आज्ञप्त एवं ४/५/५
आज्ञाकरी यस्य ३/१४/२९
आज्यं दृशि ३/१३/३७
आततायिभिः ३/१९/२१
आतप्यमान– ३/३१/१३
आतिष्ठ जगतां ४/१२/२६
आतिष्ठ तच्चन्द्र ४/१२/२५

आतिष्ठ तत्तात ४/८/१९
आतोद्यं विनुदञ् ४/१२/४०
आत्मजाः परि– ३/२४/१५
आत्मजामसिता– ३/२१/२७
आत्मजायासुतागार २/४/२, ३/३०/६
आत्मजेष्वात्म– ४/२३/३
आत्मतत्त्वविशुद्ध्यर्थं २/९/४
आत्मतत्त्वावबोधेन ३/३२/३६
आत्मतुल्यबलैः १/११/११
आत्मनः सदृशं ४/१/६४
आत्मनः सर्व– ३/२५/४१
आत्मनश्च परस्यापि ३/२९/२६
आत्मनश्च परस्यापि भिदां ४/२२/२९
आत्मनश्च परस्यापि गोत्रं ४/२५/३३
आत्मनात्मस्थम् १/६/१६
आत्मना वर्द्धिताशेष– ४/२३/१
आत्मनि प्रोत– ३/१५/६
आत्मनो बन्धमोक्षौ २/८/२२
आत्मनो विभ्रतीं ३/२३/३६
आत्मनोऽभि १/८/१२
आत्मनोऽयनम् २/१०/१०
आत्मनोऽवसितो ३/६/३८
आत्मन् भावयसे २/५/५
आत्मन् यदृच्छया २/५/२१
आत्मन्यात्मा १/९/४३
आत्मन्यात्मानमावेशत् ३/१०/४
आत्मन्येवात्मनान्वीक्षन् ३/२४/३९
आत्मन् लभन्ते ३/५/४०
आत्मप्रसाद– २/३/१२
आत्ममांसादनं ३/३०/२५
आत्ममायां समाविश्य ४/७/५१
आत्ममायामृते राजन् २/९/१
आत्मयोगबलेनेमा– ४/१७/२७
आत्मवित्सम्मतः २/१/१
आत्मवृत्त्यनुसारेण ४/८/७२
आत्मवैरूप्य– १/१७/१३
आत्मशक्तिमवष्टभ्य २/५/५
आत्मस्त्र्यपत्य– ४/१२/१६
आत्मस्थं व्यञ्जयामास ३/१२/३२
आत्मा च जरया १/१३/२१
आत्मा तथा पृथक् ३/२८/४१
आत्मात्मन्यात्मना– २/६/३९
आत्मानं कन्यया ४/२८/८
आत्मानं क्रीडयन् २/४/७
आत्मानं तोषयन् ४/८/३३
आत्मानं ब्रह्म– ३/३३/३०, ४/१३/८
आत्मानं व्यकरोद् ३/५/२८
आत्मानं शोचती ४/२८/४७
आत्मानं सर्व– ३/२४/४६
आत्मानञ्च कुरुश्रेष्ठ ३/४/३५
आत्मानञ्च परि– १/१६/१५
आत्मानञ्च प्रजाः ४/१७/२१
आत्मानञ्च प्रवयसम् ४/९/६७
आत्मानञ्चानु– १/१६/३२
आत्मानञ्चास्य ३/६/२५
आत्मानञ्चोग्र– ३/३३/१४
आत्मानमङ्ग मनसा २/७/१८
आत्मानमत्र ३/२८/३७

आत्मानमनु ये	३/२५/३९	आदिश्य पुत्रान्	४/२९/८१
आत्मानमन्विच्छ-	४/११/२९	आदीपनं स्व-	३/३०/२५
आत्मानमम्भः	३/८/३२	आदीप्य चानु	४/२८/५०
आत्मानमर्हयाञ्चक्रे	४/२६/१२	आदेशेऽहं	३/१३/१४
आत्मानमात्मनि नभो	३/१५/३३	आदौ गृहीतम्	३/९/२
आत्मानमात्मन्यवरुध्य	२/२/१६	आदौ सनात्	२/७/५
आत्मानमाशु	३/३१/२१	आद्यं मनुं	४/६/३९
आत्मानमिन्द्रियार्थञ्च	४/२२/२८	आद्यः स्थिर-	३/३२/१२
आत्मानुभूत्यानुगत-	३/२४/३३	आद्यस्तु महतः	३/१०/१५
आत्मा प्रियोऽर्थो	२/२/६	आद्योऽवतारः	२/६/४२
आत्मा यथा	२/१/३९	आद्योऽवतारो	३/६/८
आत्मारामं कथं	४/२/२	आधत्त वीर्यं	३/२६/१९
आत्मारामं पुर्ण-	१/११/४	आधत्ताम्भो रस-	३/५/३५
आत्मारामाय	१/८/२७	आधयो व्याधयः	४/२९/२३
आत्मारामाश्च	१/७/१०	आधारं महदादीनां	४/८/७८
आत्मारामोऽपि	४/२४/१८	आधिपत्यकामः	२/३/६
आत्मेच्छयात्म-	३/९/१९	आध्यात्मिकानु-	३/२९/१८
आत्मेच्छानु-	३/५/२३	आनन्दमात्र उपपन्न-	४/११/३०
आत्मेन्द्रिय-जयेनापि	३/३२/३४	आनन्दमात्रमविकल्प-	३/९/३
आत्मेश्वर उपद्रष्टा	४/७/५०	आनन्दमात्रमविकार-	४/९/१६
आत्मेश्वरम्	१/१३/३५	आनन्दमानन्दमयो-	२/२/३१
आत्मेश्वरो-	३/३३/३	आनन्दबाष्पकलया	४/१२/१८
आत्मैकभावेन	४/३१/१८	आनन्द-संप्लवे	१/६/१८
आत्मौपम्येन	१/११/३७	आनर्त्तान् भार्गवो	१/१०/३५
आत्यन्तिकी यत्र	३/२७/३०	आनर्तान् स	१/११/१
आत्यन्तिकेन सत्त्वेन	३/६/२८	आनिन्ये स्वगृहं	४/१/५
आदाय तत्र	२/७/१२	आनुपूर्व्येण तत्	२/८/२९
आदायान्तरधाद्	३/२/११	आन्वीक्षिकी त्रयी	३/१२/४४
आदित्सोरन्न-	२/१०/२९	आन्वीक्षिकीम्	१/३/११
आदिदेश	३/४/१९	आपणो व्यवहारः	४/२९/१२
आदिदैत्यो	३/१४/२	आपन्नः संसृतिं	१/१/१४

आपाययति १/१८/१२
आपीय कर्णा– ३/१३/५२
आपीयतां कर्ण– २/६/४६
आपुः परां ३/१५/२६
आपूर्यमाणः १/१२/३१
आपूर्यमाणो धिबुधैः ३/१८/८
आपो गाङ्ग्य इव ३/२०/५
आपोऽस्य तालू २/१/३०
आप्तकामम् ४/२२/४९
आप्तोर्यामाति– ३/१२/४०
आप्याययत्यसौ ४/१६/९
आप्लुता हरि– १/८/२
आप्लुत्यावभृथं ४/२/३५
आबभाषे ३/२९/६
आब्रह्मघोषो– ४/४/६
आभात्यपार्थं ३/७/१६
आभाषतैनान् १/१९/२२
आभासश्च निरोधश्च २/१०/७
आभिषेचनिकान्यस्मा ४/१५/११
आभीरशुह्मा २/४/१८
आभृतात्मा मुनिः ४/८/५६
आमन्त्रितस्तत् ३/३/६
आमन्त्रितो जनतायाः ४/१७/९
आमन्त्र्य चाभ्यनु– १/१०/८
आमन्त्र्य तं मुनि– ३/२२/२६
आमन्त्र्य पाण्डु– १/८/७
आमन्त्र्य वीणां १/६/३८
आमपात्रे महाभाग ४/१८/१८
आमयाव्यप्रदीप्ता– ३/३०/१५
आमयो यश्च १/५/३३
आमुक्तमिव पाषण्डं ४/१९/१२
आयतिं नियतिं ४/१/४३
आयान्ति बहुशो ४/२९/६८
आयामतो ३/८/२५
आयास्यति दिदृक्षुः ३/२१/२६
आयुः श्री–बल– ४/१४/१४
आयुर्धनं यशः ४/३१/३१
आयुर्मनांसि १/१५/१५
आयुर्वृथावाद– ३/५/१४
आयुर्वेदं धनु– ३/१२/३८
आयुर्हरति वै २/३/१७
आयुर्हरतो ४/२९/५४
आयुषोऽपचयं ४/११/२१
आयुष्कामोऽश्विनौ २/३/५
आयुष्यवेदम् २/७/२१
आरब्ध इति ४/२०/५
आरब्ध उग्र– ४/२३/४
आरब्ध–कर्म– १/६/२९
आरब्धानेव बुभुजे ४/२१/११
आरभ्य सप्तमान् ३/३१/१०
आराधनं भगवतस्तव ३/९/१३
आराधयाधोक्षज– ४/८/१९
आराधयिष्यति ३/१७/३०
आराधितः सुर– ३/९/१२
आराधितो भगवान् २/२/३२
आराधितो यथैवैष ४/१३/३४
आराध्य भक्त्या– ४/१६/२५
आराध्य लेभे ४/११/२८
आराध्य विप्रान् ३/१/२८
आराध्याप दुराराध्यं ४/११/११
आरिराधयिषुः ४/२३/७, ४/२८/३३

आरुरोह १/१०/८
आरुह्य शिविकां ४/९/४१
आरोपितभ्रूभिः ४/३/१८
आरोप्य करिणीं ४/९/५३
आरोप्य स्वां ३/२१/३६
आर्जवेनार्य– ३/२९/१८
आर्त्तोपसर्पणं ३/१४/१५
आर्या नताः ४/३०/३९
आर्या वहेयाधि– ४/२१/४३
आर्योऽनुज– १/१५/९
आलक्षये १/१६/२०
आलक्ष्य किञ्चिच्च ४/२३/२१
आलिङ्ग्य गाढं ३/१/२५
आलोक्य वदनं १/७/५२
आवयोरनुरूपो ३/२२/१५
आवर्त्तनाभिं १/१९/२७
आवर्त्तनाभिरोजस्वी ४/२१/१६
आविर्भवत्– ३/८/३०
आविर्हितस्त्वनुयुगं २/७/३६
आविवेश सरस्वत्याः ३/२३/२५
आविशत्यप्रमत्तो ३/२९/३९
आविष्कृतं नः ४/३०/२७
आवृत्य रोदसी १/७/३०
आशंसमानः १/१३/३३
आशासते योगिनो ३/२१/१३
अशासाना जीवित– ४/६/६
आशासे पुत्रयोः ३/१४/४२
आशास्महेऽजां ३/१४/२६
आशिषो युयुजुः ४/१९/४१
आशीर्भिर्युज्य– १/११/२३
आशीस्तथानु– ४/९/१७
आशु संपद्यते २/१/२१
आशृण्वतो मा– ३/४/१०
आश्रमांश्च यथा ३/१२/४१
आश्रयः सर्व– १/१२/२३
आश्रुत्यर्षि– १/१९/२२
आश्वास्य चाश्व– १/११/२२
आसते कुशलं १/१४/२९
आसते सस्नुषाः १/१४/२७
आसनानि च ३/३३/१६
आसनानि महार्हाणि ४/९/६१
आसन् कृत– ४/३/४
आसन्नशौण्डीरम् ३/१८/२१
आसन् सपत्न– १/१४/९
आससाद महाह्रादः ४/१०/२७
आससाद स ४/२७/१२
आसां मुहूर्त्त– ३/३/८
आसात उर्व्याः ३/१/२६
आसादितस्ते ३/४/१२
आसाद्य तरसा ३/१८/१४
आसाद्य देवं ४/३०/२
आसिञ्चदम्ब ३/२२/२५
आसिसृप्सोः २/१०/२८
आसीच्च तूष्णीम् ३/२२/२१
आसीत् पुरञ्जनो ४/२५/१०
आसीत् संविग्न– ४/२८/४६
आसीद्यदुदरात् २/८/८
आसीनमुर्व्यां ३/८/३
आसीना दीर्घसत्रेण १/१/२१
आसीनोऽप १/७/३
आसुरीं वृत्तिम् ४/२६/५
आसुरी नाम ४/२५/५२

आसुरी मेढ्रम् ४/२९/१४
आसेदिवांस्तात ३/१७/२६
आसेवितो गरुड- ४/३०/६
आस्तीर्य दर्भैः ४/२९/४९
आस्तृतास्ता रणभुवो ४/१०/१९
आस्ते कृत्वा ३/३१/८
आस्तेऽग्रणी ३/१/३०
आस्तेऽधुना स १/१७/४४
आस्ते बलं ३/३/१४
आस्ते भवान- ४/७/२६
आस्ते यदु- १/१४/३५
आस्ते योगं ३/३३/३५
आस्तेऽवमत्यो ३/३०/१५
आस्ते विशुद्धम् ३/३१/१३
आस्ते स्थाणुः ४/२८/३९
आस्ते स्म बिन्दु- ३/२१/३५
आस्ते स्वपुर्यां ३/१/१२
आस्थाय जैत्रं ४/१६/२०
आस्थाय योगं २/६/३५
आस्थितेन परां ३/३३/१०
आस्थितो रमते ३/३१/३२
आ स्माभिपृच्छे- ३/२४/३४
आस्याद्वाक्- ३/१२/२६
आस्से श्रुतेक्षितपथो- ३/९/११
आह चायुधम् ३/१९/१०
आह राजा- १/८/४७
आहरिष्ये १/७/३८
आहर्त्तास्मिन् भुजं १/१७/१५
आहर्त्तैषो १/१२/२५
आहुर्धूम्रधियो ४/२९/४८
आहूत इव १/६/३४
आहूतं मन्यते ४/२५/१९
आहूतो भगवान् १/१२/३६
आहेदमादिपुरुष- २/७/१५
आहैनमेह्यज्ञ ३/१८/३
आहो सुरादीन् १/१६/२१
आहोस्वित् संहताः ३/२०/११
आह्वयन्तमिवो- ४/६/१३

इ

इक्ष्वाकुरैल-मुचुकुन्द- २/७/४४
इक्ष्वाकुवंशः २/७/२३
इङ्गितज्ञाः पुरु- ३/२/९
इच्छन्तस्तत् प्रतीकर्त्तुम् ४/१०/१२
इच्छन्ति यत्- ४/९/९
इच्छन्नितो ३/३१/१७
इच्छया क्रीडितुः १/१३/४३
इच्छाद्वेष- ३/२४/४७
इज्यते स्वेन ४/१४/१८
इज्यमानो भगवता ४/१३/४
इज्यात्ममूर्त्तिः १/१७/३४
इडोदरे चमसाः ३/१३/३८
इतस्ततः पुण्यजनाः ४/११/४
इतस्ततो वा १/१६/२३
इति कौशारवाख्यातम् ३/१९/३३
इति चाधोक्षजेशस्य ४/१९/१०
इति चिन्तयतः १/१४/२२
इति चोदीरिता १/११/१०
इति तद् गृणतां ३/१६/१
इति तस्य वचः ३/१२/९
इति तस्य वचः श्रुत्वा ४/१/२८
इति तां वीर ३/१४/१६

इति तासां ३/६/१
इति तेऽभिहितं २/६/३३
इति ते वर्णितः ३/१२/१
इति तेऽसत्कृताः ४/१४/३०
इति तौ दम्पती ४/२५/४३
इति दक्षः कविः ४/७/४८
इति देवर्षिणा ४/८/७०
इति द्विजा ४/५/७
इति धर्मं १/१७/२८
इति न्यवारयद्धर्मं ४/१४/६
इति पुत्रकृता १/१८/४९
इति प्रचेतसां ४/३१/८
इति प्रचेतसो ४/३१/२३
इति प्रचेतोभिः ४/३०/४३
इति प्रदर्श्य ३/३३/१२
इति प्रियं हितं ४/१८/१२
इति प्रियां १/७/१७
इति ब्रुवंश्चित्ररथः ४/१०/२२
इति ब्रुवाणं नृपतिं ४/१६/१, ४/२१/४५
इति ब्रुवाणं विदुरं ३/१३/५
इति ब्रुवाणं संस्तूय १/४/१
इति भागवतः पृष्टः ३/२/१
इति भारत– १/४/२५
इति भीतः १/९/१
इति मति– १/९/३२
इति मातुर्वचः ३/२९/६
इति मीमांसतस्तस्य ३/१३/२५
इति मूर्त्यभिधानेन १/५/३८
इति मे न तु १/८/५०
इति राज्ञ १/१२/२९
इति लङ्घित– १/१८/३७
इति वेदविदां ४/२९/५९
इति वेद स ४/२९/५१
इति वैण्यस्य ४/२०/३४
इति व्यवच्छिद्य १/१९/७
इति व्यवसितं ४/१२/३३
इति व्यवसिता विप्राः ४/१३/३५
इति व्यवसितो बुद्ध्या ४/१७/१३
इति संप्रश्न– १/२/१
इति सन्दिश्य ४/२५/१
इति सम्भृतसम्भारः २/६/२८
इति सह विदुरेण ३/४/२७
इति सायन्तनीं ३/२०/३७
इति स्म राजाध्यवसाय १/१९/१७
इति स्वमातु– ३/२५/१२
इतिहासपुराणञ्च १/४/२०
इतिहासपुराणानां १/४/२२
इतिहास–पुराणानि ३/१२/३९
इतोऽर्वाक् १/१३/२८
इत्थं पुरञ्जनं नारी ४/२५/३२
इत्थं पुरञ्जनं सध्र्यक् ४/२७/१
इत्थं पृथुमभिष्टूय ४/१८/१
इत्थं भावेन २/१०/४५
इत्थं मुनि– २/२/१९
इत्थं विपर्ययमतिः ४/१४/२९
इत्थं व्यवसिता हन्तुम् ४/१४/३४
इत्थं व्रजन् ३/१/२०
इत्थं शरत्प्रावृषिका– १/५/२८
इत्थं स लोक– ४/१९/३९
इत्थम्भूतानुभावो– १/१७/४५
इत्थम्भूतानुभावोऽसौ ४/२३/३०

इत्यजेना– ४/७/१
इत्यध्वरे दक्ष– ४/४/२४
इत्यनुक्रोश– ४/२४/३२
इत्यभिध्यायतो ३/१३/२०
इत्यभिव्याहृतं राजा २/३/१३
इत्यर्चितः सः ४/९/२६
इत्यव्यलीकं ३/२१/२२
इत्यादिराजेन ४/२०/३२
इत्यादिष्टः स्वगुरुणा ३/१२/१५
इत्यादृतोक्तः ३/४/१४
इत्यानम्य तम् ४/३१/३०
इत्यामन्त्र्य क्रतुपतिं ४/१९/२९
इत्यावेदित– ३/४/१९
इत्युक्तः स तया ३/१९/१०
इत्युक्तस्तं परिक्रम्य ४/८/६२
इत्युक्तो धर्म– १/१३/१२
इत्युक्त्वाथा– १/१३/६०
इत्युक्त्वा रोष– १/१८/३६
इत्युत्तानपदः पुत्रो ४/१२/३८
इत्युदाहृतमाकर्ण्य ४/८/३९
इत्युद्धवादुपाकर्ण्य ३/४/२३
इत्युपस्थीयमानो– ३/१३/४८
इत्युपामन्त्रितो राज्ञा २/४/११
इत्युचिवांस्तत्र ३/१/१४
इत्येतत् कथितं ३/३२/३१
इत्येवं शैशवं ३/३१/२८
इदं जपत ४/२४/६९
इदं पवित्रं ४/७/६१
इदं भागवतं नाम १/३/४०, २/१/८, २/७/५१
इदं ममाचक्ष्व १/१६/२५
इदं मया ते ४/१२/५२
इदं यः कल्य ४/२४/७८
इदं विविक्तं ४/२४/३१
इदं शुक्लकृतं ३/२३/२३
इदं स्वस्त्ययनं ४/२३/३४
इदं हि पुंसः १/५/२२
इदं हि विश्वं १/५/२०
इदञ्च देव– २/६/२४
इदमप्यच्युत ४/७/३२
इदमाह पुरा– ४/२४/७२
इदानीं धर्म– १/१७/२५
इध्मः कवि– ४/१/७
इन्द्रः किरीटमुत्कृष्टं ४/१५/१५
इन्द्रञ्च साम– १/१५/८
इन्द्रमिन्द्रिय– २/३/२
इन्द्रादयो बाहव २/१/२९
इन्द्राय कुपितो ४/१९/२६
इन्द्रारिव्याकुलं १/३/२८
इन्द्रियाणि दश ३/२६/१३
इन्द्रियार्थप्रसङ्गेन ३/२३/५३
इन्द्रियार्थेषु ३/२३/५४
इन्द्रियेषु मन– ४/२३/१७
इन्द्रियैर्विषयाकृष्टैः ४/२२/३०
इन्द्रेणानुष्ठितं ४/१९/३१
इमं लोकं ३/२५/३९
इमं लोकममुञ्चैव ३/३/२१
इमं स्वनिगमम् १/५/३९
इमां त्वम् ४/२५/३७
इमा दुहितरः ३/२४/१४
इमान्तु कौषारविणा ४/३१/२८
इमामुपपुरीं ४/२५/२६

इमे जनपदाः १/८/४०
इमे जनपदा ग्रामाः १/१४/२०
इयञ्च तत्परा हि ४/१५/६
इयञ्च देवी सुदती ४/१५/५
इयञ्च भूर्भगवता १/१७/२६
इयञ्च लक्ष्म्याः ४/१५/३
इयानसावीश्वर– २/१/३८
इयेष तदधिष्ठातुं ४/१२/२९
इरावती स्वधा ३/१२/१३
इलायामपि भार्यायां ४/१०/२
इष्टस्ते पुत्रकामस्य ४/१३/३२
इष्टापूर्त्तस्य काम्यानां २/८/२१
इष्ट्वाग्निजिह्वं ३/१४/९
इष्ट्वाभिपेदे ४/८/२१
इष्ट्वा मां यज्ञ– ४/९/२४
इष्ट्वा स वाजपेयेन ४/३/३
इहागतोऽहं ३/४/२०
इहाद्य सन्तम् ४/२५/३४
इहामुत्र च ४/२१/२७
इहोपहूतो १/१६/८

ई

ईक्षमाणो विहाय ४/२८/४२
ईक्षेत चिन्ता– २/२/१२
ईक्षेतानन्य– ३/२८/४२
ईजे च क्रतुभिः ४/२७/११
ईडितो भगवान् ३/३३/९
ईदृग् गृहं ३/२३/२२
ईदृशानाम् ४/२१/२९
ईयते भगवान् ३/३२/३६
ईशस्य केशान् २/१/३४
ईशस्य हि वशे १/६/७
ईश्वरस्य विमुक्तस्य ३/७/९
ईश्वरात् क्षीण– ४/९/३५
ईश्वरेण परिच्छिन्नं ३/१०/१२
ईश्वरो जीव ३/२९/३४

उ

उक्तं समात्रापि ४/८/१९
उक्थेन रहितो १/१५/६
उग्ररेता भवः ३/१२/१२
उच्चाटयिष्यदुरगं २/७/२८
उच्चाट्टहासः ४/५/१०
उच्चारितं स्तोम– ३/२१/३४
उच्छिष्टलेपात् १/५/२५
उच्छिषितं भगवता ३/१५/२२
उज्जहार सदःस्थो– ४/५/२०
उज्जह्रुस्ते ४/३०/४७
उतथ्य इन्द्र– १/१९/९
उतथ्यो भगवान् ४/१/३४
उतात्मानम् १/१६/२१
उत्कृत्य रुद्रः ४/५/२
उत्क्षिप्तबालः ३/१३/२९
उत्तमं नारुरुक्षन्तं ४/८/९
उत्तमःश्लोकचरितं १/३/४०
उत्तमश्च ध्रुवश्च ४/९/४८
उत्तमस्त्वकृतोद्वाहो ४/१०/३
उत्तरायां धृतः ३/३/१७
उत्तराया हतो १/१२/१
उत्तस्थूरारात् १/११/३१
उत्तानपादो राजर्षिः ४/९/६५
उत्तिष्ठन्नेक– ४/१/२३
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ राजर्षे ४/२८/४८
उत्तुङ्गरक्त– ३/२८/२१

उत्थाप्यापाययत्	३/२/३१
उत्थाय चक्रे	४/६/४०
उत्थाय विश्व-	३/९/२५
उत्थाय सद्यो	३/३/७
उत्थितं पुरुषो	३/२६/५१
उत्थितः सदसो	४/२१/१४
उत्पत्त्यध्वन्यशरण	४/७/२८
उत्पाता बहवः	३/१७/३
उत्पाद्य शास	३/१३/११
उत्पारपारं	३/१३/३२
उत्पेतुरुत्पात-	४/५/१२
उत्सङ्गान्नारदो	३/१२/२३
उत्सर्गयंस्तु	४/२३/१५
उत्सिसृक्षो-	२/१०/२७
उत्सुनोषीक्ष-	३/२०/३५
उत्सृज्य सर्वतः	१/१८/३
उत्सृष्टदीर्घोर्मि-	३/१३/३१
उत्स्रोतसस्तमः-	३/१०/२०
उदङ्मुखो दक्षिण-	१/१९/१७
उदतिष्ठद्रथस्तस्य	४/१०/१५
उदतिष्ठन् सदस्या	४/२/६
उदपद्यत वै	२/५/२७
उदरं विदितं	२/६/११
उदरस्य सहर्त्विग्भिः	४/७/५६
उदानगत्योरसि	२/२/२०
उदाप्लुतं विश्वं	३/८/१०
उदासीन इवाध्यक्षो	४/१६/१२
उदासीनमिवा-	४/२०/११
उदीचीं प्रविवेशासां	१/१५/४४
उद्ग्रन्थयो	३/१५/४७
उद्दामभाव-	१/११/३६
उद्दीपितस्मररुजां	२/७/३३
उद्धन्त्यसाव-	२/७/२२
उद्धरिष्यन्नुपादत्त	१/३/७
उद्धवः सात्यकिः	१/१०/१८
उद्धसत्तडिद्	३/१७/६
उद्धृत्य पुष्पेभ्यः	३/५/१५
उद्यतस्य हि	३/२२/१२
उद्यम्य शूलं	४/५/६
उद्यानानि च	४/९/६३
उद्यानोपवनारामैः-	१/११/१२
उद्वहिष्यामि	४/२५/३६
उद्वीक्ष्य विप्रान्	३/१३/३०
उद्वीक्ष्य सुन्दर-	३/१५/४४
उन्निद्रहृत्पङ्कज-	२/२/१०
उन्नीयमानञ्च	४/३/१०
उन्नीय मे दर्शय	४/२५/३१
उन्नेष्यति व्रजमतो-	२/७/२९
उन्मत्त-मूक-	१/४/६
उन्मथ्नताममृतलब्धय	२/७/१३
उन्मीलयन्तं	३/८/४
उन्मील्य शनकैः	१/१८/३९
उन्मूलनन्त्वितरथा	२/७/२७
उन्मूलयन्नग-	३/१७/५
उपकल्पय तत्	२/१/१४
उपगम्य कुशावर्त्त	३/२०/४
उपगीयमानममर-	४/२४/२४
उपगीयमानो गन्धर्वैः	४/१९/४
उपगीयमानो ललितं	४/२५/४४
उपगुह्य च	३/२२/२४
उपगुह्य जहावाधिं	४/९/४९
उपजह्रुः प्रयुञ्जाना	४/९/५८

उपधार्य मतिं २/४/१
उपधार्यवचः १/८/११
उपनीतं बलिं ४/२७/१८
उपपद्यत वै २/५/२७
उपयास्यथ मद्धाम ४/३०/१८
उपयेमे भ्रमिं ४/१०/१
उपयेमे वीर्यपणां ४/२८/२९
उपरिष्टादृषिभ्यस्त्वं ४/९/२५
उपर्यधश्च ये ३/७/२६
उपर्यधो वा ४/२९/३१
उपर्युपरिविन्यस्त– ३/२३/१६
उपलभते ३/३३/३७
उपलभ्य पुरै– ४/६/३
उपलभ्यात्मना ३/२७/१०
उपलभ्यासुरा ३/२०/३१
उपलेभे– १/८/८
उपवर्णितम् १/१८/९
उपविष्टं दर्भ– ४/६/३७
उपव्रज्याब्रुवन् ४/१४/१३
उपश्रुत्य भवेन्मोदः ३/१९/३४
उपसंसृत्य मलिनं ३/२१/४७
उपसङ्गम्य ३/१४/३३
उपसर्पति सर्वात्मन् ३/१८/२५
उपसृज्य तम् ४/१९/१९
उपस्कृतं प्रतिद्वारम् ४/९/५५
उपस्थ आसीत् २/१०/२६
उपस्थापितमायुष्मन् ४/१२/२७
उपस्थितोऽग्रे १/१९/१२
उपस्थितोऽन्यं ४/१७/३०
उपस्थितो दुर्मदः ४/२९/१४
उपस्पृशन्तः ३/८/५
उपायनमुपाजह्रुः ४/१९/९
उपायादाश्रमपदं ३/२१/३७
उपाविशत् १/१९/५
उपाश्रृणोद् २/९/६
उपाश्रितः कञ्जमु ३/८/१७
उपासते काम– ३/२१/१४
उपासितो यत् १/५/६
उपास्यमानं सख्या ४/६/३४
उपाहरद्– १/७/१४
उपेयिवान् मूलम् ३/२१/१५
उभयत्रापि ३/७/१५
उभयोरन्तरं ३/६/२९
उभयोर्ऋषि– ३/२२/२७
उभाभ्यां रहितः ४/११/२१
उभावपि हि ४/१९/३३
उभे अपि न २/१०/३५
उभे ते ४/१/६३
उरःस्थलं ज्योति– २/१/२८
उरुक्रमस्याखिल– १/५/१३
उरुगायगुणो– २/३/१६
उल्मुकोऽजनयत् ४/१३/१७
उल्बणो वसु– ४/१/४०
उल्बेन संवृत– ३/३१/८
उवाच च महाभागं ४/१७/१८
उवाच चासहन्त्यस्य १/७/४३
उवाच ललितां ३/२३/५०
उवाच वामं ४/२/८
उवास कतिचिन्मासान् १/१२/३६
उवास तस्मिन् ३/८/११
उषित्वा हास्तिन– १/१०/७
उष्माणमिन्द्रियाणि ३/१२/४६

ऊ

ऊचिवानिदम् ४/२१/१९
ऊचुः परमसन्तुष्टाः ४/१५/२
ऊचुः प्रजानुग्रह– १/१९/१९
ऊचुः सुहृत्तम– ३/१५/३१
ऊचुर्विपाको ४/५/९
ऊचे ययात्मशमलं २/७/३
ऊरुद्वयं वितल– २/१/२७
ऊरुभिर्हेमतालाभै– ४/१०/१८
ऊरू सुपर्ण– ३/२८/२४
ऊरौ निपात्य २/७/१४
ऊर्जस्वन्तं मन्यमान ३/२०/४२
ऊर्जायां ४/१/३९
ऊर्वाक्षिबाहवो १/१४/११
ऊर्वोर्निधाय ३/२८/२३
ऊर्वोर्वैश्यो २/५/३७
ऊहुः सर्वरसान् ४/१९/८

ऋ

ऋग्यजुःसामा– १/४/२०, ३/१२/३७
ऋचो यजूंषि २/६/२५
ऋतमधिकर्त्तुं १/९/३७
ऋते परानुग्रह– १/१९/२३
ऋते पशूनसतीं २/२/७
ऋते भवन्तं ४/४/११
ऋतेऽर्थं यत् २/९/३३
ऋते विरिञ्चा– ४/२/६
ऋते स्वसृर्वै ४/४/७
ऋभवो नाम ४/४/३३
ऋषभं यवनानां ४/२७/२४
ऋषयश्चाशिषः ४/१५/१९
ऋषयो दुदुहुः ४/१८/१४
ऋषयोऽपि हि ४/२९/५७
ऋषयो मनवो– १/३/२७
ऋषयो यैः ३/२२/३०
ऋषिं नारायणम् ३/३१/३७
ऋषिभिः स्वाश्रमपदं ४/१४/३५
ऋषिभिर्याचितो १/३/१४
ऋषिमाद्यं न ३/९/३५
ऋषीणां जन्म– ३/७/२९
ऋषीणां भूरि– ३/१२/४९
ऋषीणां श्रोतु– ३/२५/१४
ऋषीणामुप– ३/२२/२७
ऋषीनृषिर्हृषीकेशः ३/२०/५२
ऋषीन् षष्टि– ४/१/३८
ऋषीन् समेतान् ४/१३/४९
ऋषे न तुप्यति ३/१४/४
ऋषे विदन्ति २/६/४१

ए

एक एवाति– १/६/१४
एकं व्यभाङ्क्षीद् ३/१०/८
एकं ह्येव हरेः ४/८/४१
एकः प्रपद्यते ३/३०/३१
एकः शुद्धः ४/२०/७
एकः सृजसि २/५/४
एकः स्वयं सन् ३/२१/१९
एकदा धनुः १/१८/२४
एकदा निर्गतां १/६/९
एकदा मुनयस्ते तु ४/१४/३६
एकदासीन्महा– ४/२१/१३
एकदा सुरुचेः ४/८/९
एकद्वित्रिचतुष्पादं ४/२९/२

एकमेकतराभावे २/१०/९
एकरश्म्येकदमनम् ४/२६/२
एकस्त्वमेव भगवन् ४/९/७
एकां त्रिनेत्रा– ४/४/४
एकातपत्राम् ३/१/२०
एकात्मजा मे १/६/६
एकादशचमूनाथः ४/२६/३
एकादशविधः ३/३२/२९
एकादशसमाः ३/२/२६
एकादशेन्द्रियचमूः ४/२९/२०
एकान्ततो निगमिभिः ४/२२/४७
एकान्तभक्त्या १/१५/३३
एकान्त भक्त्या को ४/२४/५५
एकान्तमति– १/४/४
एकान्तलाभं ३/६/३७
एके कालं परे ४/११/२२
एकैकं युगपत् ४/१०/८
एकैकशोऽङ्गानि २/२/१३
एकैकस्यां दश ३/३/९
एकैकस्याभवत् ४/२८/३१
एकोनविंशे १/३/२३
एको नानात्वम् २/१०/१३
एको नानेयते ३/३२/३३
एको मयेह ४/१/२७
एको रथेन १/१५/१४
एतच्चतुर्विंशतिकं ३/२६/११
एतच्च नो ३/५/९
एतच्छुश्रूषतां २/३/१४
एतत् कुतो वा ३/८/१८
एतत् क्षत्तर्भगवतो ३/६/३५
एतत्त आदि– ३/२२/३९
एतत् तेऽभिहितं ४/१२/४४
एतत्तेऽभिहितं क्षत्त– ४/३१/२५
एतत् पदं तत् ४/३१/१६
एतत् पुरैव ३/१६/३०
एतत् संसूचितं १/५/३२
एतत् स्पर्शस्य ३/२६/३६
एतदण्डं ३/२६/५२
एतदध्यात्म– ४/२९/८३
एतदर्थं हि भगवान् १/१६/९
एतदाख्याहि मे ४/२/३, ४/१३/२४
एतदीशनम् १/११/३८
एतदेवात्मभूः २/४/२५
एतद्ध्यातुर– १/६/३५
एतद्भगवतः शम्भोः ४/७/६०
एतद्भगवतो रूपं २/१०/३३
एतद्भगवतो रूपं ब्रह्म– ३/२९/३६
एतद् यः शृणुयात् ४/३१/३१
एतद्रूपं भगवतो १/३०/३०
एतद्रूपमनुध्येयम् ४/२४/५३
एतद्वः पाण्डवेयानां १/१७/१७
एतद्विमानप्रवर– ४/१२/२७
एतद्वेदितुमिच्छामि २/८/२
एतद्वै श्रद्धया ३/३२/३०
एतन्नानावताराणां १/३/५
एतन्निगदितं ३/३३/३६
एतन्निर्विद्यमानानाम् २/१/११
एतन्मतं समातिष्ठ २/९/३६
एतन्महापुण्यम् ३/१९/३८
एतन्मुकुन्द– ४/२९/८४
एतन्मे जन्म ३/२४/३६

एतन्मे पृच्छतः २/५/८
एतस्मिन् मे ३/७/७
एतस्यां साध्वि ३/१४/२४
एतां गतिं २/२/३१
एताः परं १/१०/३०
एतान् मे पृच्छतः ३/७/४०
एतान्यसंहत्य ३/२६/५०
एतावतालं कालेन ३/२३/५३
एतावतालं ननु १/१८/२०
एतावत्त्वं हि ४/३०/२८
एतावत्यात्मजैः ३/१३/१०
एतावत्येव ३/२४/१३
एतावदुक्त्वा ४/४/१
एतावदुक्त्वो– १/६/२६
एतावदेव जिज्ञास्यं २/९/३५
एतावानेव यजतामिह २/३/११
एतावानेव योगेन ३/३२/२७
एतावानेव लोके– ३/२५/४४
एतावनेव संख्यातो ३/२६/१५
एतावान् जीव– ३/१०/९
एतावान् पौरुषो ४/२७/२६
एतावान् सांख्य– २/१/६
एता वा ललनाः ४/२५/२७
एते चांश– १/३/२८
एते चान्ये च १/१६/३०, ४/१४/२७
एते चैकशफाः ३/१०/२३
एते त्वां ४/२५/८
एते देवाः कलाः ३/५/३८
एतेन धर्म– ४/१/५५
एते वयं न्यास– ३/१८/११
एते वर्णाः ३/६/३४
एतेषामपि वंशांश्च ३/७/२६
एते सखायः ४/२५/३५
एते सृती २/२/३२
एते ह्यभ्युत्थिता ३/२६/६२
एतैरन्यैश्च ३/२८/७
एतैरुपद्रुतो ४/२९/४१
एतौ तौ पार्षदौ ३/१९/२९
एतौ द्वौ पार्षदौ ३/१६/२
एतौ सुरेतर– ३/१६/२६
एभिः सृज प्रजा ३/१२/१४
एभिरिन्द्रोपसंसृष्टैः ४/१९/३६
एवं कर्मसु ४/२५/५६
एवं कामवरं ४/२/३१
एवं कायेन मनसा ४/८/५९
एवं कालोऽप्यणु– ३/११/३
एवं कुटुम्बं ३/३०/३०
एवं कुटुम्बभरणे ३/३०/१८
एवं कृतमतिः ३/३१/२२
एवं कृपणया ४/२८/२२
एवं कृष्णमतेः १/६/२८
एवं कृष्णसखः १/१५/१
एवं गदाभ्यां ३/१८/१८
एवं गिरित्रः ४/३/२५
एवं गृहेषु १/१३/१७
एवं चकार १/४/२४
एवं चिन्तयतो १/१५/२८
एवं जन्मानि १/३/३५
एवं तदैव ३/१५/३७
एवं तमनुभाष्याथ ३/२१/३३
एवं त्रिलोक– ३/४/३२

एवं त्रिवृद् ३/२७/१२
एवं दाक्षायणी ४/७/५८
एवं द्रष्टरि १/३/३१
एवं द्विजाग्र्या– ४/२०/१५
एवं धर्मे १/१७/२१
एवं निशम्य १/६/१
एवं निशम्य कपिलस्य ३/३३/१
एवं नृणां १/५/३४
एवं नृपाणां १/११/३४
एवं पञ्चविधं ४/२९/७४
एवं पराभिध्यानेन ३/२६/६
एवं परीक्षता १/७/४०
एवं परेत्य ३/३२/१०
एवं परे ब्रह्मणि ४/३१/१७
एवं पुरा धारणया २/२/१
एवं पृथ्वादयः ४/१८/२७
एवं प्रत्यवमृश्य ३/२७/१६
एवं प्रवर्त्तते सर्गः ४/११/१६
एवं प्रवृत्तस्य १/४/२६
एवं प्रवृत्तस्य विशुद्ध– १/५/२५
एवं प्रसन्न– १/२/२०
एवं प्राग्देहजं ४/२९/६३
एवं बलिष्ठैः १/१५/२६
एवं बहुविधैः ४/२९/२४
एवं बहुसवं ४/१२/१४
एवं ब्रुवाणं ३/७/१
एवं ब्रुवाणं पुरुषार्थ ४/३०/२१
एवं ब्रुवाणमबला– ३/२३/९
एवं भगवतादिष्टः ४/७/५५
एवं भगवतो ४/८/५२
एवं मदान्ध ४/१४/५
एवं मन्युमयीं ४/१७/२८
एवं मृशन्त ऋषयो ४/१४/३८
एवं यतन्तं १/६/२१
एवं युक्तकृतः ३/१२/५१
एवं योगरतं ३/२९/२०
एवं योगानु– ३/२३/४६
एवं रजःप्लुतः ३/१०/३०
एवं राजा १/१३/२९
एवं विदित– ३/२७/२६
एवंविधान्यनेकानि ४/१०/२८
एवंविधा वदन्ति १/१०/३१
एवं विधैरहो– ३/११/३३
एवं विराजं २/६/१७
एवं विलपती बाला ४/२८/४९
एवं वैण्यसुतः ४/१९/१६
एवं व्याहृतयः ३/१२/४४
एवं संजल्पितं ४/८/२४
एवं सञ्चिन्त्य ३/३/१६
एवं सञ्चोदितस्तेन ३/१०/३
एवं स निर्विण्णमना ४/१३/४७
एवं स भगवान् ३/५/१७
एवं स भगवान् वैण्यः ४/१७/१
एवं स मानसो ४/२८/६४
एवं समुदितः ३/२४/४१
एवं सम्भाष्य १/६/३८
एवं स वीर– ४/२३/१३
एवं सा कपिल– ३/३३/३०
एवं सुरगणै– ४/१/५७
एवं स्त्रियाश्रयः ४/२९/८५
एवं स्वचित्ते २/२/६
एवं स्वदेहं ४/४/२६

एवं स्वभरणा– ३/३०/१३
एवं स्वायम्भुवः ४/११/३५
एवं हरौ ३/२८/३४
एवं हिरण्याक्षम् ३/१९/३१
एवञ्च तस्मिन् १/१९/१८
एवमध्यवसायैनं ४/१४/१३
एवमध्यात्मयोगेन ४/२२/५२
एवमात्मभुवादिष्टः ३/१२/२०
एवमाभाषितः १/१९/४०
एवमाविष्कृताशेष– ३/२२/१
एवमिन्द्रे हरत्यश्वं ४/१९/२४
एवमुग्रश्रवाः पृष्ट ३/२०/७
एवमेतत् पुरा ३/१/१
एवमेतन्निवेदितम् २/३/१
एष आत्मपथो ३/२४/३७
एष एव हि ४/२/३१
एष कर्दम– ४/१/४५
एष किं निभृत– १/१८/३१
एष चेतनया ४/२९/७४
एष तेऽकारषीत् ४/२०/२
एष ते देव– ३/१८/२२
एष ते रुद्र ४/६/५३
एष तेऽहं ३/१४/१७
एष दाता १/१२/२०
एष देव दितेः ३/१५/१०
एष दैनन्दिनः ३/११/२६
एष धर्मभूतां ४/१६/४
एष प्रपन्न– ३/९/२३
एष भूतानि भूतात्मा ४/११/२६
एष मां त्वत् ३/१४/१०
एष मानवि ३/२४/१८
एष मे शिष्यतां ४/२/११
एष राज्ञः १/१७/११
एष विष्णोर्भगवतः ४/१५/३
एष वै भगवान् १/९/१८
एष वै लोक– ४/१६/५
एष साक्षाद्धरेरंशो ४/१५/६
एष स्वसद्मोपवने ४/१६/२५
एष हि ब्रह्म– १/७/५७
एष ह्यशेष– ३/६/८
एष ह्यस्मिन् १/१२/१५
एषा घोरतमा ३/१४/२३
एषा घोरतमा सन्ध्या ३/१८/२५
एषोऽश्वमेधान् ४/१६/२४
एष्यत्यचिरतो ४/८/६९

ऐ

ऐक्याद्वयस्य १/१५/१९
ऐन्द्रीञ्च माया– ४/१९/३८
ऐश्वर्यं पारमेष्ठ्यं ३/३२/१५
ऐश्वर्यमष्टाङ्गम् ३/२५/३७
ऐश्वर्यवैराग्य– ३/२४/३२

ओ

ॐ नमो भगवते १/५/३७, ४/८/५३
ॐ नैमिशे १/१/४
ओजः सहस्वद्– २/६/४५
ओजः सहो बलं २/१०/१५
ओजोनिधी ३/२८/२४

औ

औत्कन्ठ्यबाष्प– ३/२८/३४, ४/७/११

औत्कन्ठ्याश्रु– १/६/१७
औत्तरेयेण १/१७/४०
औत्तानपादिं ४/११/६
औत्तनपादिः स ४/१०/१३
औत्तानपादिर्मयि ४/८/८२
औत्तानपादे भगवान् ४/१०/३०
औत्पत्तिकैः सम– ३/१५/४५

क

क एतेऽनुपथा ४/२५/२७
क एनमत्रोप– ३/१/१५
क एव ते ३/२२/१६
क एष योऽसौ ३/८/१८
कं नु त्वदन्यं ४/२५/३८
कं वा दयालुं ३/२/२३
कं वृणीत वरं ३/१४/१३
कंसेन रुद्धा– १/८/२३
कः श्रद्दधीतान्य– ३/१३/४५
कः श्रद्दध्याद् ३/६/३५
कः स्तावकैः ४/१५/२४
ककुद्मिनो– ३/३/४
ककुभ्युदीच्यां ४/५/७
कक्षाः समान– ३/१५/२७
कक्षीवान् १/९/७
कङ्क–गृध्र–बक– ३/१०/२५
कचलुलित– १/९/३४
कच्चिच्छिवं देवक– ३/१/३३
कच्चित् कुरूणां ३/१/२७
कच्चित्तेऽनामयं १/१४/३९
कच्चित्वं नागमो– १/१४/४२
कच्चित्त्वं ब्राह्मणं १/१४/४१
कच्चित् पुराणौ ३/१/२६
कच्चित् पुरे १/१४/३४
कच्चित् प्रेष्ठ– १/१४/४४
कच्चित् सुखं ३/१/२९
कच्चिदानर्त्त– १/१४/२५
कच्चिदास्ते १/४/१४
कच्चिद्धरेः सौम्य ३/१/३०
कच्चिद्बुधः ३/१/३२
कच्चिद्भद्रे १/१६/२०
कच्चिद्यशोधा ३/१/३८
कच्चिद्राजा– १/१४/२८
कच्चिद्वरूथाधि– ३/१/२८
कच्चिन्न कुशलं ४/२२/१३
कच्चिन्नाभिहतो १/१४/४०
कञ्चित् कालम् १/१३/१४
कटुतीक्ष्नोष्ण ३/३१/७
कट्यादिभिरधः २/५/३६
कट्या सुकाञ्च्यार्क– ३/१७/१७
कण्टकं कण्टकेनेव १/१५/३४
कन्ठञ्च कौस्तभ– ३/२८/२६
कन्ठाद्भ्रुवो– ४/४/२५
कण्डोः प्रम्लोचया ४/३०/१३
कथं गुणज्ञो ४/२०/२६
कथं चेदमुद– १/६/३
कथं नु दारका ४/२८/२१
कथं नु मां ४/१७/३१
कथं नु यस्यो ३/३३/४
कथं पुनः कर्म ४/२०/३०
कथं प्रवृत्तः १/१०/१
कथं वयं १/११/९
कथं वा पाण्डवेयस्य १/४/७
कथं वृणीते ४/२०/२३

कथं स वीरः	१/४/११	कन्दाष्टिभिर्मूल-	४/२८/३६
कथं सुतायाः	४/३/१३	कन्योपगूढो	४/२८/६
कथं स्रक्ष्याम्यहं	३/१२/३४	कपालखट्वाङ्गधरं	४/१९/२०
कथं स्वमात्मानम्	४/९/२८	कपालमाली	४/५/३
कथन्त्वनाथाः	१/१३/४५	कपिध्वजो गुरु-	१/७/१७
कथन्त्ववद्यं	४/११/१२	कपिलमुनेः	३/३३/३७
कथमन्यांस्तु	१/१३/४६	कपिलस्तत्त्व-	३/२५/१
कथममुम्	४/३१/२२	कपिलस्य च	३/३३/३६
कथमालक्षितः	१/४/६	कपिलो नारदो	४/१९/६
कथमेनां	३/१३/१६	कपिलोऽपि महा-	३/३३/३३
कथयस्व महाभाग	२/८/३	कया वृत्त्या	१/१३/९
कथां भागवतीं	१/४/२	करन्तपूति	३/२६/४५
कथां सुभद्रां	३/१३/५०	करामलकवद्विश्वं	२/५/३
कथामृतं श्रवण-	२/२/३७	करालदंष्ट्रं	३/१९/२७
कथायां कथनीय-	३/३२/१८	करालदंष्ट्रः	३/१९/८
कथासुधायाम्	३/६/३७	करालदंष्ट्रा-	४/५/११
कथा हरिकथो-	२/३/१४	करालदंष्ट्रो-	३/१३/३०,
कथ्यतां भगवन्	३/२१/१		३/१८/७, ४/५/३
कदपत्यं वरं	४/१३/४६	करालस्रोतो	३/२१/१८
कदपत्यभृतं दुःखं	४/१३/४३	करिष्यत्युत्तमःश्लोक-	४/८/५७
कदम्बकिञ्जल्क-	२/२/९,	करिष्यथ स्तोत्रम्	४/१५/२३
	३/८/२८	करेण कर्णमूले	३/१९/२५
कदम्बचम्पका	३/२१/४२	करोति कर्मानि	३/५/५
कदर्थीकृत्य मां	३/१६/२	करोति मानं	२/९/१३
कदलीषण्ड	४/६/२१	करोति विग्रहं	३/३१/२९
कदाचिदटमाना	४/२७/२१	करोत्यकर्त्तैव	४/११/१८
कदाचिदुपलभ्येत	४/२९/६४	करोत्यविरतं	३/३०/७
कदाचिद्ध्यायतः	३/१२/३४	करोरुवाह्वं स-	१/१९/२६
कदा वा सह	३/१/३	करोषि फल्ग्वप्युरु	४/२०/२८
कन्दमूलफलाहारः	४/२३/५	कर्णधार इवा-	१/१३/३९
कन्दर्प इव	४/२२/६०	कर्णावस्य विनिर्भिन्नौ	३/६/१७

कर्णोर्णैकपदा–	४/६/२०
कर्णो च	२/१०/२२
कर्णौ दिशः	२/१/२९
कर्णौ दिशाञ्च	२/६/३
कर्णौ पिधाय	४/४/१७
कर्त्तुं प्रकृष्टम्	३/१५/३४
कर्त्तुं भवान्	४/३/१४
कर्त्तुः शास्तु–	४/२१/२६
कर्त्तुः स्वलोकं	४/६/४५
कर्त्तृत्वं करणत्त्वञ्च	३/२६/२६
कर्त्तृत्वप्रतिषेधार्थं	२/१०/४६
कर्त्तृत्वात् सगुणं	३/३२/१३
कर्मणांशेन	३/६/२५
कर्मणा तेन	४/२६/७
कर्मणा दैव–	३/३१/१
कर्मणो जन्म	२/५/२२
कर्मणोदवसानेन	४/७/५६
कर्मण्ययं त्वदुदिते	३/९/१७
कर्मण्यवग्रहधियो	४/७/२७
कर्मण्यस्मिन्	१/१८/१२
कर्मतन्त्रं	४/२/२२
कर्मनिर्हारम्	३/२९/१०
कर्म प्रवृत्तञ्च	४/४/२०
कर्मभिः कथमात्मानं	४/१५/२६
कर्मभिर्गृहमेधीयैः	१/१८/५१
कर्मभिर्वा त्रयी–	४/३१/१०
कर्म यत् क्रियते	४/२९/५९
कर्मश्रेयसि	१/४/२५
कर्मश्रेष्ठं	४/१/३७
कर्म सन्तानयामास	४/७/१६
कर्मसु क्रियमाणेषु	३/२६/६

कर्माणि च यथा–	४/२२/५०
कर्माणि चात्म–	२/७/२६
कर्माणि निर्वाण	१/१६/२४
कर्माणि भूयांसि	४/२१/७
कर्माण्यकर्त्तुः	३/१/४४
कर्मान्यनीहस्य	३/४/१६
कर्माण्यारभते	४/२९/५८
कर्मात्मन्याहितं	४/२९/६१
कर्माध्यक्षञ्च	४/२२/५१
कर्माशयं ग्रथितम्	४/२२/३९
कललन्त्वेक–	३/३१/२
कलहंसकुल–	४/६/२९
कलाः सर्वे	१/३/२७
कलावतारस्य	४/१६/३
कलिं प्रविष्टं	१/१६/११
कलिं सत्त्वहरं	१/१/२२
कलिनाधर्म–	१/१५/४५
कलिमागतम्	१/१/२१
कलेवरं	१/१३/५७
कलेवरं यावत्–	१/९/२४
कलेवरं यावदसौ	१/१९/२१
कलौ नष्टदृशां	१/३/४३
कल्पान्त इदं	१/६/३०
कल्पान्त एतदखिलं	४/८/१४
कल्पायुषो	२/२/२५
कल्पो यत्र	३/११/३५
कवयस्तद्विजानन्ति	४/२९/१
कविश्च भार्गवो	४/१/४४
कश्चित् स्यान्मे	३/२३/५२
कश्यपं पूर्णिमानञ्च	४/१/१३
कषायो मधुरः	३/२६/४२

कस्त्वं चराचर–	४/२/२
कस्त्वं प्रजापदेशं	४/१३/४५
कस्तस्य मेढ्रं	२/१/३२
कस्तां न	१/१९/६
कस्तात्वनादृत्य	२/२/७
कस्तृप्नुयात्तीर्थ–	३/५/११
कस्त्वं मच्छरणे	१/१७/५
कस्त्वत्पदाब्जं	४/२४/६७
कस्माद्दधार गोरूपं	४/१७/३
कस्माद्भजन्ति	२/२/५
कस्मिन् युगे	१/४/३
कस्य रूपमभूद्	३/१२/५१
कस्य वा बृहतीम्	१/७/९
कस्य हेतो–	१/१६/५
कस्यान्ववाये प्रख्याताः	४/१३/२
कस्या मनस्ते	४/२५/४२
काककृष्णोऽति–	४/१४/४४
काक्षीवान्	१/९/७
काचित् त्वय्युचिता	३/२५/२८
काञ्चीकलाप–	३/२०/२९
काञ्चीकलाप–परि–	३/२८/२४
काञ्चीकलाप–पर्यस्तं	४/८/४९
काञ्चीगुणो–	३/२८/२६
काञ्च्याशिभिः	३/१५/४०
का त्वं कञ्ज–	४/२५/२६
का त्वं कस्यासि	४/२८/५२
का देवरं	४/२६/२६
का नाम वीर	४/२५/४१
कान्त्या ससर्ज	३/२०/३८
कान्यन्वतिष्ठद्	३/२०/१
कामं कषायं	४/२२/२०
कामं दहतु	१/८/१०
कामं दहन्ति	२/७/७
कामं भवः	३/१५/४९
कामं ववर्ष	१/१०/४
कामः कथं नु	२/७/७
कामः स भुयान्	३/२२/१६
कामकामो यजेत्	२/३/९
काममर्थञ्च	३/३२/१
कामस्य नेन्द्रिय–	१/२/१०
कामाग्निाऽच्युत–	३/९/८
कामानभिलषन्	४/२८/९
कामानमोघान्	१/१७/३४
कामानुजेन	३/१५/३१
कामान् कामयमानः	४/२५/१२
कामान् सिषेवे	३/३/१९
कामास्तपः	१/१६/३३
काम्यकर्मविपाकजं	४/२९/५४
काम्बोजमत्स्य–	२/७/३५
कायानाविविशु–	४/१०/१७
कारण्डवैः प्लवैः	३/२१/४३
कात्स्न्र्येन चाद्येऽ–	३/२/१३
कार्दमं वीर्यम्	३/२४/६
कार्यकारण–	२/५/१९, ३/२६/८
कार्यकारणकर्त्रात्मा	३/५/२९
काल एव हि	४/१२/३
कालं कर्म	२/५/२१
कालं कविं	३/२४/३३
कालं पराख्यं	३/३२/९
कालं प्रतीक्षणं	१/६/२७
कालं प्रधानं	४/३१/१८

कालः प्रादुः	१/६/२८	कालेन भूयसा	३/२३/५
कालः स्वभावः	२/६/४२	कालेन भूयसा नूनं	३/२४/२७
कालकन्या जरा	४/२९/२२	कालेन मीलित-	२/७/३६
कालकन्यापि	४/२८/३	कालेन यावद-	३/१/२०
कालकन्योदित-	४/२७/२७	कालेन वाते	१/१६/२५
कालकर्म-	१/१३/४६	कालेन सर्वत्र-	१/५/१८
कालकर्मगुणो-	३/२६/५०	कालेन सोऽजः	३/८/२२
कालकर्मतमो-	१/१५/३०	कालेनानुगत-	३/११/२८
कालकर्मस्वभाव-	२/५/३४	कालोपसृष्टमिति	४/१२/१६
कालद्रव्यगुणैः	३/१०/१४	कालोऽयं द्वि-	३/११/३८
कालमागध-	३/३/१०	कालोऽयं परमाणु-	३/११/३९
कालमायांश-	३/५/३३	काल्यमानोऽपि	३/३०/१
कालरूपो-	१/१३/४९	का वा सहेत	१/१६/३६
काललवविशेषा-	४/२९/५४	काशिष्णुना कनक-	४/३०/६
कालवृत्त्या तु	३/५/२६	काष्ठां भगवतो	३/२८/१२
कालसंज्ञां तदा	३/६/२	कासश्वास-	३/३०/१६
कालस्य चाव्यक्त-	३/३२/३७	कासि कस्यासि	३/२०/३४
कालस्य च	१/१४/३	किं क्षत्रबन्धून्	१/१६/२३
कालस्य दुहिता	४/२७/१९	किं जन्मभिः	४/३१/१०
कालस्यानुगतिर्या तु	२/८/१३	किं तस्य दुर्लभतरमिह	४/२२/८
कालस्येश्वर-	३/२९/४	किं ते कामाः	१/१२/६
कालाख्यं लक्षणं	३/१०/१०	किं दुरापादनं	३/२३/४२
कालाख्यया गुण-	३/११/१५	किं दुर्लभं	३/१३/५१
कालाख्ययासादित	३/८/१२	किं नु नः कुशलं	३/२/७
कालात्मनो यत्	३/४/१६	किं पुनर्दर्शन-	१/१९/३३
कालात्मिकां	३/८/११	किं प्रमत्तस्य	२/१/१२
कालादगुण-	२/५/२२	किं वांहो	४/१३/२२
कालिन्द्याः कतिभिः	३/४/३६	किं वा कृताघेषु	३/१/३७
काले काले यथा	४/१६/५	किंवा न रिष्यते	४/८/६४
कालेन कर्म-	३/८/१४	किंवान्तकासि-	४/९/१०
कालेन तावद्-	३/१/२४	किंवा भागवता	१/४/३१

किं वा योगेन ४/३१/१२
किं बार्हस्पत्येह ४/३०/२
किं वा शिवाख्यम् ४/४/१६
किं वा श्रेयोभिः ४/३१/१२
किञ्चिच्चकार ३/३३/२०
किञ्चिच्चिकीर्षवो ४/१/१६
किञ्जल्कमिश्र– ३/१५/४३
किन्नराप्सरसो २/१०/३८
किन्नराप्सरसो मर्त्त्याः ४/२०/३५
किन्नु बालेषु १/१८/८
किमन्यत् पृष्टवान् २/३/१३
किमन्यैरसद– १/१६/७
किमन्वपृच्छन्मैत्रेयं ३/२०/४
किमारभत मे ३/२०/९
किमाश्रयो मे स्तव ४/१५/२२
किमिदं स्वित् १/७/२६
किमुत त्वद्विधा– ४/१७/२०
किमेतच्छूकर– ३/१३/२३
किम्पुरुषादीनि १/१६/१३
किम्वन्यदर्पितभयं ३/१५/४८
कियान् भुवोऽयं ३/३/१४
किरातहूणान्ध्र– २/४/१८
किरीटकोटी ३/२/२१
किरीटसाहस्र– ३/८/६
किराटसाहस्रहिरण्य– ३/८/३०
किरीटहाराङ्गद– ४/१२/२०
किरीटिनं कुण्डलिनं २/९/१५
किरीटिनं कुण्डलिनं केयूर– ४/८/४८
किरीटिनं कुण्डलिनं शङ्ख– ३/२१/१०
कीदृशः कति ३/२५/२९
कीर्त्तन्यतीर्थ– ३/१५/४८
कीर्त्तन्यतीर्थयशसं ३/२८/१८
कीर्त्तिं वितन्वता ३/५/१८
कीर्त्तिं हरेः ३/६/३६
कीर्त्तितं तस्य ४/२३/३०
कीर्त्त्यमानं १/१०/११
कीर्त्त्यमाने नृभिः ४/७/४७
कीर्त्त्यमाने हृषीकेशे ४/७/४८
कीर्त्त्योर्ध्वगीतया ४/२२/६३
कुक्षिः समुद्रा २/१/३२
कुजेन दृष्ट्वा ३/३/७
कुटुम्बभरणे ३/३०/१२
कुठारैश्चिश्छिदुः ४/२८/२६
कुण्डेष्वमूत्रयन् ४/५/१५
कुतः पुनः शश्वत् १/५/१२
कुतः पुनर्गृणतो १/१८/१९
कुतः पुनस्तत्– ३/७/१४
कुतः पुनस्ते ३/३३/६
कुतः सञ्चोदितः १/४/३
कुतो नु देवा २/२/१७
कुत्र कौशारवेस्तस्य २/१०/५०
कुत्र क्षत्तु– ३/१/३
कुन्दमन्दार– ३/२१/४२
कुब्जकैर्मल्लिका– ४/६/१६
कुमतिमह– १/९/३६
कुमन्त्रपाकेन– ३/३/१३
कुमारमुख्या ३/८/३
कुमारहोद्विग्न– १/७/१८
कुमुदोत्पल– ४/६/१९
कुयज्विनो येन ४/६/५०

कुयोगिनां नो	४/२०/२५	कूटस्थ आत्मा	४/१६/१९
कुरुजाङ्गल–	१/१०/३४	कूटस्थ आदि–	४/९/१५
कुरुताधोक्षज–	४/२१/२५	कूटस्थ आद्यः	३/५/५०
कुरु प्रतिश्रुतं	१/७/५४	कूटस्थमिमम्	४/२०/११
कुरुप्रधानेन	३/७/४२	कृच्छ्रप्राणाः	४/१६/८
कुरून् मधून्	१/११/८	कृच्छ्रात् संस्तभ्यः	४/७/१२
कुर्यान्मनस्य–	३/२८/२६	कृच्छ्रेण पृष्ठे	३/३०/२२
कुर्वत्यः कुसुमासारं	४/२३/२४	कृच्छ्रेण संस्तभ्य	१/१५/३
कुर्वध्वरस्यो–	४/६/५०	कृच्छ्रो महानिह	४/२२/४०
कुर्वन्ति कामसुख–	३/९/७	कृतं त्रेता	३/११/१८
कुर्वन्ति तत्र	४/६/४८	कृतक्षणः स्वात्म–	३/८/१०
कुर्वन्ति सर्वा–	१/३/३९	कृतक्षणौ कुशलं	३/१/२६
कुर्वन्त्यप्रति–	३/३२/१६	कृतज्ञः को न	३/१९/३६
कुर्वन्त्यहैतुकीं	१/७/१०	कृतप्रणामं	४/६/४१
कुर्वन् दुःख–	३/३०/९	कृतप्रणामः	१/१९/१२
कुर्वन् शशासा–	४/२१/७	कृतप्रतीकार–	३/१८/२१
कुर्वाणा यत्र	१/५/३६	कृतमनुकृत–	१/९/४०
कुलाचलेन्द्रस्य	३/१३/४३	कृतवान् किल	१/१/२०
कुले स्वयं	४/२१/३७	कृतवान् भारतं	१/५/३
कुवेर इव	४/२२/५९	कृतशोकानु–	३/१४/४४
कुशकाशमयं	३/२२/३१	कृतश्रियापाश्रित	३/८/२५
कुशलाकुशला	२/१०/४०	कृतस्नानोचिताहारः	४/२६/११
कुशलाकुशला यत्र	४/२२/१४	कृतस्वस्त्ययनां	४/२७/२
कुशलान्याशु	१/१८/७	कृतागःस्वात्मसात्	४/२६/२१
कुशलेतर–	३/३०/३१	कृताञ्जलिं ब्रह्ममयेन	४/९/४
कुशस्थली	१/१०/२७	कृतानि नाना–	३/१/२३
कुशा काशास्त	३/२२/३०	कृताभिषेकः	४/१२/२८
कुष्माण्डयादो–	२/६/४४	कृतावतारः प्रगृहीत–	३/५/१६
कुस्माण्डोन्माद–	२/१०/३९	कृतावतारस्य पदाम्बुजं	३/५/४३
कूजद्विहङ्ग–	३/३३/१८	कृतावतारस्य सुमित्र	३/१९/३२
कूजद्विहङ्गमिथुनैः	४/९/६३	कृतावतारस्य हरे–	१/१६/२४

कृतावनामाः प्रययुः ४/९/१
कृतावभृथस्नानाय ४/१९/४०
कृतो मेऽनुग्रहः ४/२२/४२
कृतो मेऽनुग्रहश्च ३/१६/१६
कृत्रिमान् मन्य- ३/२३/२०
कृत्वा दयाञ्च ३/२१/३१
कृत्वा भ्रमद्भ्रुकुटि- २/७/१४
कृत्वा ममाहमिति ४/७/४४
कृत्वा वत्सं ४/१८/१५
कृत्वा समानावनिलौ ४/४/२५
कृत्वोचितानि ४/८/४३
कृत्वोडुपं व्यसनम् ४/२२/४०
कृत्वोरौ दक्षिणे ४/६/३८
कृत्स्नप्रसाद- ३/१५/३९
कृन्तनञ्चावयवशो ३/३०/२७
कृपयातिथिरूपेण १/१९/३२
कृपया सम्परीतस्य ३/२१/३८
कृपया स्नेह- १/१३/३५
कृपालोर्दीननाथस्य ४/१२/५१
कृपावलोकेन ४/१/२४
कृमिभिः क्षत- ३/३१/६
कृष्ण एवं १/९/४३
कृष्ण कृष्ण महाबाहो- १/७/२२
कृष्णञ्च तत् १/९/१०
कृष्णद्युमणि- ३/२/७
कृष्णस्तु भगवान् १/३/२८
कृष्णस्य नारदो- १/४/३२
कृष्णाङ्घ्रिरेण्व- १/१९/६
कृष्णाङ्घ्रिसेवाम् १/१९/५
कृष्णाजिनधरः ४/२१/१८
कृष्णात्मनां ३/१५/२०
कृष्णानुभावश्रवणे २/४/३
कृष्णाय वासुदेवाय १/८/२१
कृष्णावेशेन १/१५/४९
कृष्णासुतानां १/७/१४
कृष्णे गते भगवति १/१८/३५
कृष्णे निवेश्य २/८/३
कृष्णे लसत्- १/९/३०
कृष्णे स्वधामो- १/३/४३
कृष्णोऽस्त्री १/९/१५
कॢप्तहर्म्यस्थलीं ४/२५/१५
कॢप्तैः कशिपुभिः ३/२३/१६
केचित् कर्म ४/११/२२
केचित् स्वदेहान्त- २/२/८
केचिदाहुरजं १/८/३२
केचिद्बभञ्जुः ४/५/१४
केचिद्विकल्प- १/१७/१९
के ते प्रचेतसो ४/१३/२
केन वा ते १/१८/४०
केयूरकुण्डल- ३/१५/२७
के वयं नाम १/८/३८
केवलेन ह्यधर्मेण ३/३०/३३
केशश्मश्रु- २/६/५
केशभिमर्षे ३/१/७
कैलासमद्रिप्रवरं ४/६/८
कैवल्यं परमम् ३/११/२
कैवल्यनाथप्रिय- ४/३०/२
कैवल्यसम्मत २/३/१२
को नानुमन्येत ३/२२/१८
को नाम तत् ४/२२/४७
को नाम तत्प्रति ३/३१/१८
को नाम तृप्येत् १/१८/१४

को नाम मुत्युं ६/१०/३२
को नाम लोके १/१८/२१
को नाम लोके पुरुषार्थ– ३/१३/५२
को निर्वृतो २/३/१२
को न्वस्य कीर्त्तिं ४/२१/१०
को न्वीश ते ३/४/१५
कोपिता मुनयः ३/३/२४
को यज्ञपुरुषो ४/१४/२५
कोलाहलो विरमते ३/१५/१८
को वा अमुष्य ३/२/१८
को वात्मवत् ३/१५/३२
को वा भगवतः १/१/१६
को वामिहैत्य ३/१५/३२
को वार्थ आप्तो– १/५/१७
को विश्रम्भेत ३/३/२३
कोऽवृश्चत् १/१७/१२
को वैनं परिचक्षीत ४/१४/३३
कौटुम्बिकः ४/२८/१२
कौमारीं दर्शयन् ३/२/२८
कौमोदकीं ३/२८/२८
कौरवेन्द्रपुर– १/१०/२०
कौरव्य मह्यां ३/१८/२०
कौशिक्याप १/१८/३६
कौषारविं प्राह ४/२१/८
कौस्तुभाभरण ४/८/४८
क्रतुर्विरमतामेष ४/१९/३५
क्रतोरपि ४/१/३८
क्रमशः समनुक्रम्य ३/३०/३४
क्रव्यादाः प्राणिनः ४/१८/२४
क्रियया क्रतु– ३/३२/३४
क्रियाकलापैः ४/२४/६२
क्रियाकाण्डेषु ४/२४/९
क्रियाफलत्वेन ४/२१/३५
क्रियायोगेन ३/२९/१५
क्रियावसाने २/२/१४
क्रियाशक्ति– ३/२६/२३
क्रीडन्ति परमानन्दं १/१४/३६
क्रीडन्ति पुंसः ४/६/२५
क्रीडन् परिवृतः ४/२५/४४
क्रीडन् वने निशि २/७/३३
क्रीडन् विधत्ते ३/५/७
क्रीडयोपात्त– ३/४/३३
क्रीडस्यमोघ– २/९/२७
क्रीडाभाण्डं ४/७/४३
क्रीडामृगो नूनम् ३/३/५
क्रीडायामुद्यमो ३/७/३
क्रुद्धः सुदष्टौष्ठ– ४/५/२
क्रोडापदेशः ३/१३/३०
क्रोधं दुर्विषहं ३/१२/६
क्रोशन्तीनां करेणूनां ३/१९/३५
क्रौडीं तनुं २/७/१
क्लिश्यमानः शतं ४/२९/२४
क्लेदनं पिण्डनं ३/२६/४३
क्लेशव्ययाय २/७/२६
क्वचिच्च शोचतीं ४/२५/६१
क्वचिच्छ्रृणोति ४/२५/६०
क्वचित्तत्त्वा– ३/२७/२०
क्वचित् पिबन्त्यां ४/२५/५७
क्वचित् पुमान् ४/२९/२९
क्वचिद्गायति ४/२५/५८
क्वचिद्धसन्त्यां ४/२५/५८

क्वचिद्भावति	४/२५/५९	क्षिप्रप्रसादं	४/६/५
क्व पद्मकोशः	४/२५/२८	क्षीयते तद्यशः	३/२२/१३
क्व वर्त्तते सा	४/२६/१६	क्षीयन्ते चास्य	१/२/२१
क्षणमिव पुलिने	३/४/२७	क्षीयमाणे स्वसम्बन्ध	४/२७/१७
क्षणान् पञ्च विदुः	३/११/७	क्षीरोदधावमर–	२/७/१३
क्षणार्द्धमिव राजेन्द्र	४/२७/५	क्षुत्क्षामदेहाः	४/१७/९
क्षणार्द्धेनापि	४/२४/५७	क्षुत्क्षामाया	४/३०/१४
क्षणेनाच्छादितं	४/१०/२३	क्षुत्तृट्त्रिधातुभिः	३/९/८
क्षतजपरिप्लुत–	१/९/३८	क्षुत्तृट्परीतो–	३/३०/२२
क्षतजाक्षं	१/१२/९	क्षुत्तृट्श्रमयुतो	१/१८/४६
क्षतास्रवघ्राण–	३/१८/१९	क्षुत्तृड्भ्यामुदरं	३/२६/६८
क्षत्तानन्दं परं	३/१९/३३	क्षुत्तृड्भ्यामुपमृष्टाः	३/२०/२०
क्षत्ता निशम्या–	४/३१/२८	क्षुत्परीतो	४/२९/३०
क्षत्ता महाभागवतः	३/२०/२	क्षुत्पिपासे	३/२६/६०
क्षत्ता महाभागवतः सदम्पते		क्षुद्रञ्चरं सुमनसां	४/२९/५३
	४/२१/८	क्षुद्रायुषां	१/१६/७
क्षत्ता सकर्णानु–	३/१/१४	क्षुधार्दितानां	४/१७/११
क्षत्तोपसृत्य	३/५/१	क्षुल्लेलिहानः	४/२४/६६
क्षत्रं क्षयाय	२/७/२२	क्षेत्रज्ञ एतां	२/२/१६
क्षत्रा वनं	३/१/१	क्षेत्राणि नानुव्रजतो	२/३/२२
क्षमापयध्वं	४/६/६	क्षेत्रे मदीये	१/१७/३१
क्षमापयत आत्मानं	४/२०/२	क्षेमं जनाय	३/१६/२४
क्षमाप्यैवं	४/७/१६	क्षेमं न	२/४/१७
क्षयिष्णु माया–	३/१३/२७	क्षेमं वदन्ति	४/२५/४०
क्षिणोति देवः	३/५/१४	क्षेमं विधास्यति	३/१६/३७
क्षितावुदीचीं	४/४/२४	क्षेमं स कच्चिद्–	३/१/३१
क्षितिमम्भसि तत्	४/२३/१६	क्षेमस्य सध्र्यग्	४/२२/२१
क्षितौ शयानं	३/१९/२७	क्षेमाय कर्माण्य–	३/५/७
क्षिप्तो दुरुक्ति–	४/७/१५	क्षेमाय तत्र	४/६/४
क्षिप्तोऽप्यसद्विषय–	४/७/४४	क्षेमाय पाद–	३/२५/४३
क्षिप्रं विनेशुर्विदुर	४/११/२	क्षौणीमयो निखिल–	२/७/१२

क्ष्मां वामनेन २/७/१७
क्ष्मामुत्क्षिपन्तं ३/१३/३५
क्ष्माम्भोऽनल– ३/३२/९

ख

खट्वाङ्गो नाम २/१/१३
खद्योताविर्मुखी ४/२५/४७
खद्योताविर्मुखी चात्र ४/२९/१०
खराश्च कर्कशैः ३/१७/११
खरोऽश्वो– ३/१०/२३
खर्जूराम्रातक– ४/६/१८
खान्याकाशे ४/२३/१६
खार्कारारभसा ३/१७/११
खुराहताभ्रः ३/१३/२९
खुरैः क्षुरप्रैः ३/१३/३२
खेटखर्वट– १/६/११
खे रूपभेद– ४/१/५५
ख्यातिञ्च भृगवे ३/२४/२३

ग

गङ्गा च देवी १/१९/१५
गङ्गायमुनयोः ४/२१/११
गच्छ कामं मया ३/२४/३८
गजमात्रः प्रववृधे ३/१३/२१
गजाह्वयात् ३/१/१७
गजाह्वये १/१७/४४
गजेन्द्रलीलो ३/१३/२८
गण्डस्थलोन्नस– ३/१५/४१
गतयो मतयश्चैव २/६/२७
गतव्यथोऽषाद्– ३/१/१६
गतव्यलीकैरज– २/४/१९
गतस्वार्थमिमं १/१३/२६
गतह्रियां किं ३/१८/७
गतह्रियो गदया ३/१८/११
गताः सप्ताधुना १/१४/७
गतासोस्तस्य ४/१३/१९
गतिं जिगीषतः २/१०/२५
गतिं तदीयां ३/१/३१
गतिर्वयः कर्म २/१/३३
गते शतधृतौ ३/२४/२१
गत्या स्वांशेन ३/६/२२
गत्वा चान्द्रमसं ३/३२/३
गत्वोदीचीं दिशं ४/१०/५
गदादयः स्वस्ति ३/१/३५
गदाधरं २/२/८
गदापरिघनिस्त्रिंश– ४/१०/२५
गदापाणिर्दिवं ३/१७/२०
गदायामपविद्धायां ३/१९/५
गन्तुं कृतमति– १/८/८
गन्तुमैच्छत् ४/२८/१४
गन्धमात्रमभूत् ३/२६/४४
गन्धर्वमुख्याः प्रजगुः ४/१२/३१
गन्धर्वयवना– ४/२८/१०
गन्धर्व–विद्याधर– २/१/३६
गन्धर्वविद्याधर–चारणेशा २/६/४४
गन्धर्वाप्सरसः ३/१०/२८
गन्धर्वाप्सरसोऽधुक्षन् ४/१८/१७
गन्धर्वाप्सरसोः २/६/१४
गन्धर्वास्तस्य ४/२७/१३
गन्धर्व्यस्तादृशीरस्य ४/२७/१४
गन्धेन खण्डित– ३/१५/१७
गन्धेऽर्चिते ३/१५/१९
गमिष्ये दयितं ३/४/२१

गम्भीरनादो	४/५/२	गावल्गणे	१/१३/३२
गम्भीररयो	१/१४/३०	गावोऽत्रसन्न–	३/१७/१३
गम्भीरवेगो–	४/१२/३९	गावो न काल्यन्त	४/५/८
गम्भीरवेधा	४/१६/१०	गावो यथोता	४/११/२७
गम्भीरश्लक्ष्नया	१/६/२१	गास्यन्ति यद्–	३/१४/४५
गर्भं काल उपावृत्ते	४/१३/३८	गिरः श्रुतायाः	४/२/२५
गर्भान्न निर्जिगमिषे	३/३१/२०	गिरयः प्रत्यदृश्यन्त	३/१९/२०
गर्भे त्वं साधयात्मानं	४/८/१३	गिरयो हिमवत्	४/१८/२५
गर्भे दृष्टमनु–	१/१२/३०	गिरागृणन्	४/३०/२१
गर्भे द्युमान्	४/९/१४	गीतं भगवता	१/१५/३०
गर्भे बाल्ये–	४/२९/७२	गीतं मयेदं	४/२४/७९
गवयैः शरभैः	४/६/२०	गीतसंस्तुति–	३/२२/२८
गां कम्पयन्त्यौ	३/१७/१७	गीतायनैर्दुन्दुभि–	४/४/५
गां पर्यटंस्तुष्टमना	१/६/२७	गीर्भिश्चाभ्यगृणात्	३/२१/१२
गां पर्यटन्	३/१/१९	गुणकथया	३/४/२७
गाञ्च धर्मदुघां	१/१७/३	गुणकर्माश्रयाः	१/१८/१०
गाण्डीवधन्वोप–	३/१/३८	गुणप्रवाहं	३/३३/२
गाण्डीवमुक्तैः	१/७/१६	गुणप्रवाह–पतितो	४/२६/८
गाण्डीवलक्षण–	१/१५/१३	गुणप्रवाहेण	३/३३/३, ४/११/१८
गान्धर्ववृत्त्या	३/३/३	गुणव्यतिकरा–	३/१०/११
गान्धारीं पुत्र–	१/८/३	गुणव्यतिकरात्	४/११/१६
गान्धारी द्रौपदी	१/१३/४	गुणव्यत्यय	३/१०/३१
गान्धारी धृत–	१/१०/९	गुणांश्च फल्गून्	४/४/१२
गान्धार्या वा	१/१३/३७	गुणात्मकानीन्द्रियाणि	२/१०/३२
गाम्भीर्यं स्थैर्यं	१/१६/२९	गुणाधिकान्मुदं	४/८/३४
गायन् कलपदं	३/२/३४	गुणानां गुणिनाञ्चैव	२/८/१४
गायन् गुणान्	२/७/४१	गुणानां वृत्तयो	३/६/२७
गायन्ति च	१/११/२०	गुणानुवादश्रवणं	३/७/१४
गायन्ति तं	३/२४/७	गुणाभिधानेन	४/२२/२५
गायन्ति यत्र	३/१५/१७	गुणाभिमानिनो	३/२९/४४
गायन्माद्यन्	१/६/३९	गुणाभिमानी स	४/२९/२८

गुणायनं शीलधनं ४/२१/४४
गुणालयं पद्म- ४/२०/२७
गुणावतारैर्विश्वस्य ३/७/२८
गुणावभासे ३/२४/४३
गुणेन कालानु- ३/८/१३
गुणेषु सक्तं ३/२५/१५
गुणेषु सत्सु ३/२७/१९
गुणैरशेषैः ४/२१/८
गुणैरसाम्या- १/१८/२०
गुणैर्विचित्राः ३/२६/५
गुदं पुंसो ३/६/२०
गुदं मृत्युः ३/२६/६६
गुदादपानो ३/२६/५७
गुहाशयायैव ४/३/२२
गुह्यानि भद्राणि १/६/२७
गूहन्तीं व्रीडया ३/२०/३१
गृणन्ति गुण- १/५/३६
गृणन्त्यविद्यापटलं ३/१४/२७
गृणन् प्रपेदे ४/७/२५
गृध्रा रुषा ३/१६/१०
गृहं प्रविष्टो १/१३/३१
गृहञ्च विष्णुं ४/१२/५२
गृहमेधेषु ३/३/२२
गृहाणैतानि ३/१२/१४
गृहात् प्रव्रजितो २/१/१६
गृहान् प्रतीयाद- ४/३/१८
गृहान् प्रविष्टो ३/१/१३
गृहीतगुण- ३/१५/५
गृहीतचेता राजर्षे २/१/९
गृहीतमाया- ४/३०/२३
गृहीतमायोरुगुणः २/६/३१
गृहीतवान् ३/१/१२
गृहीतवाराहतनोः ३/१८/२०
गृहीतशक्ति- २/४/१२
गृहीतार्हणम् ३/२१/४९
गृहीतोऽनन्य- ३/५/१९
गृहीत्वा मृग- ४/२/१२
गृहेषु कूटधर्मेषु ३/३०/९
गृहेषु कूटधर्मेषु पुत्र- ४/२५/६
गृहेषु कूटधर्मेषु सक्तो ४/२/२२
गृहेषु जातो ३/२४/२९
गृहेषु वर्त्तमानो- ४/२२/५२
गृहेष्वाविशतां ४/३०/१९
गृहोद्यानं ३/३३/१८
गृह्णन्ति केचिन्न ४/४/१२
गृह्णीत यद्यदुप- २/७/३०
गृह्णीयात् तत् ४/२९/६२
गोत्रं त्वदीयं ४/४/२३
गोत्रलीलातपत्रेण ३/२/३३
गोपान् विलेषु २/७/३१
गोपीथाय जगत्- ४/२२/५४
गोपुच्छैर्हरिभिः ३/२१/४४
गोपुरद्वार- १/११/१३
गोपैरसद्भिः १/१५/२०
गोपैर्मखे प्रतिहते २/७/३२
गोप्तर्यसति ४/१४/१
गोप्ता च धर्म- ४/१६/४
गोप्तारं धर्म- ४/१२/१२
गोप्ता वृषस्त्वर- ३/१६/२३
गोप्तैकवीरो ४/१६/२०
गोप्याददे १/८/३१
गोविन्द गोद्विज- १/८/४३

गोविप्रार्थासवः ३/३/२८
गौः सत्यपाद्रव– ४/१७/१४
गौरजो महिषः ३/१०/२२
गौरवाद् यन्त्रितः ४/२२/४
ग्रन्थिं विभेत्स्यसि ४/११/३०
ग्रहर्क्षकेतव– २/६/१५
ग्रहनक्षत्रताराणां ३/७/३३
ग्रहर्क्षतारा– १/१९/३०
ग्रहर्क्षताराः ४/१२/२५
ग्रहर्क्षताराचक्रस्थः ३/११/१३
ग्रहान् पुण्य– ३/१७/१४
ग्रहीतुं कृत– ४/२८/२२
ग्रामकं नाम– ४/२५/५२
ग्रामान् पुरः ४/१८/३१
ग्राम्यधर्मनिवृत्तिः ३/२८/३
ग्राहाहतः सकरेणुः ३/१८/६
ग्राहेण यूथपतिः २/७/१५
ग्रीवा महर्वदनं २/१/२८
ग्रीवायां जन– २/५/३९
ग्रीष्मे पञ्चतपा– ४/२३/६

घ

घटस्व नोऽस्वस्तय ३/१८/१२
घनावलीर्वायुः ४/२४/६५
घनो यथा– १/११/२७
घातयित्वासतो १/८/५
घोरं प्रतिभयाकारं १/६/१४
घोषान् व्रजान् ४/१८/३१
घोषेऽरण्ये च ३/१७/१२
घ्नन्त्या मुहुः ३/२०/३६
घ्राणाद्वायुः ३/२६/५५
घ्राणेन गन्धं २/२/२९
घ्राणेन नासिके ३/२६/६३
घ्राणेन पृथ्व्याः ३/१३/३०
घ्राणेनांशेन ३/६/१४
घ्राणोऽवधूतो ४/२९/११
घ्राणोऽस्य गन्धो २/१/२९

च

चकार कर्माणि ३/५/१६
चकार राज्यं १/९/४९
चकासदन्तःखः ३/१९/१४
चकास्ति शृङ्गोढ– ३/१३/४३
चक्रञ्च दिक्ष्वविहतं २/७/२०
चक्रायुधं तद्यश ४/१६/२१
चक्रायुधः पतग– २/७/१६
चक्रुः कृपां १/५/२४
चक्रेण चिच्छेद ३/१९/१४
चक्रेण नक्रवदनं २/७/१६
चक्रे वेद– १/३/२१
चक्रे हिरण्य– ३/१७/१९
चक्षुषांशेन ३/६/१५
चक्षुष्मत्पद्म– ३/२३/१९
चचार तीर्थानि २/१०/४९
चचार तीर्थायतनेषु ३/१/१८
चचार दुस्तरं १/३/६
चचार मृगयां ४/२६/४
चचाल भूः ३/३/१२
चण्डवेग इति ४/२७/१३
चण्डेशः पूषणं ४/५/१७
चतुर्थ इन्द्रियः ३/१०/१६
चतुर्थमपि वै मासं ४/८/७५
चतुर्दशं नार– १/३/१८
चतुर्धा लक्ष्यते ३/२६/१४

चतुर्भिर्धातवः ३/३१/४
चतुर्भिर्वर्त्तसे १/१६/२६
चतुर्भुजं २/२/८
चतुर्युगानाञ्च ३/८/१२
चतुर्विधं पुरम् ४/२४/६४
चत्वारि त्रीणि ३/११/१९
चत्वारि लेभे ३/८/१६
चन्दनागुरुतोयार्द्र- ४/२१/२
चरणरतिः १/९/३६
चरध्वमन्ते ४/२४/७९
चरन्तं विश्वसुहृदं ४/६/३५
चरन्ति दक्षिणीकृत्य ४/९/२१
चरन्ति यस्यां ३/१४/२३
चरन्ति श्रद्धया ४/२२/१२
चरन्महोर्मीन् ३/१७/२६
चरन् विन्दति ४/२९/३०
चरमः सद्विशेषाणाम् ३/११/१
चरमेणाश्वमेधेन ४/१९/११
चराचरस्याखिल- ४/८/८१
चराचरौको ३/८/३०
चरामि पश्यन् ३/१/४२
चराम्युभाभ्यां ४/२७/३०
चरितं तस्य ३/१३/३
चरित्रेणानवद्येन ३/३/२०
चरिष्ये त्वा हृदि ३/२४/३४
चलत्-प्रवाल- ४/२५/१८
चलत्यशक्तो ३/३०/२२
चलापि यच्छ्रीर्न १/११/३३
चषालयूपतः ४/१९/१९
चस्कम्भ यः २/७/४०
चाक्षुषे त्वन्तरे ४/३०/४९
चातुर्होत्रं १/४/१९
चातुर्होत्रं कर्म ३/१२/३५
चारयन्ननुगान् ३/२/२९
चारु चित्रपदं ४/२१/२०
चालनं व्यूहनं ३/२६/३७
चार्वायत चतुर्बाहुं ४/२४/४५
चार्वायताक्ष्नोन्न- १/१९/२६
चिकीर्षया शं ३/३/१
चिकीर्षुर्दैव- ४/२७/२७
चिकीर्षुर्भगवान् ३/२४/३०
चिकीर्षुर्भगवानस्याः ३/२/२५
चिच्छेद संशयपदं ४/२३/११
चिताभस्मकृत- ४/२/१५
चितामथारोपयत् ४/२३/२१
चितिं दारुमयीं ४/२८/५०
चित्तं नियच्छ ४/२९/५५
चित्तस्य यत्तो ३/२५/२६
चित्तिस्त्वथर्वणः ४/१/४१
चित्तीकृतः ४/१/२७
चित्तेन हृदयं ३/२६/७०
चित्तेनांशेन ३/६/२६
चित्रकेतुः ४/१/४०
चित्रकेतुप्रधानाः ४/१/३९
चित्रधातु- १/६/१२
चित्रध्वजपताका- १/११/१३
चित्रस्वनैः १/६/१३
चित्रा वाचोऽतद्- ३/१९/६
चिन्तां परां ४/२७/१७
चिन्मात्रमेकमभयं ४/७/२६
चिरं प्रसुप्तस्य ३/२९/५
चिरं भृतेन २/९/१९

चीरवासा निराहारो १/१५/४३
चीरवासा व्रत- ४/२८/४४
चीराणि किं पथि २/२/५
चुकोप लोकानिव ४/४/९
चुक्रोश यज्ञेश्वर- ३/१३/३१
चुक्रोश विमना ३/१७/७
चुक्षोभान्योन्यम् ३/६/५
चुम्बन्निवास्येन ४/९/३
चूडामणिं सुभग- ३/१५/३९
चूतपल्लववासः ४/९/५५
चूतैः कदम्बैः ४/६/१५
चूर्णयंश्च धनुष्कोट्या- ४/१८/२९
चेतआकूति- ४/२४/४३
चेत एतैः १/२/१९
चेतः खल्वस्य ३/२५/१५
चेतनां हरते बुद्धेः ४/२२/३०
चेतसो वचस- १/१७/२३
चेतस्तत्प्रवणं ४/१/२५
चेतोऽलिवद् ३/१५/४९
चेरुर्विहायसा ३/१५/१२
चेष्टा यतः ३/२६/१७
चेष्टा विभूम्नः ४/११/१८
चैत्त्यस्य तत्त्वम् ३/२८/२८
चैत्यध्वजपताकाभिः ४/२५/१६
चैद्यस्य कृष्णं ३/२/१९
चोदितो विदुरेण ४/१७/८
चौरप्रायं जनपदं ४/१४/४०
चौरीभूतेऽथ ४/१८/७

छ

छन्द सुपर्णैः ३/५/४१
छन्दयामास तान् ४/१७/१
छन्दांसि यस्य ३/१३/३७
छन्दांस्यनन्तस्य २/१/३१
छन्दांस्ययातयामानि ४/१३/२७
छन्दोमयस्तपो- ३/२२/२
छन्दोमयो मख- २/७/११
छन्नोऽयथेन्द्रिय- ३/३१/१४
छायां सविद्या- ३/५/४०
छायामुपेत्या- ४/९/३०
छायायाः कर्दमो ३/१२/२७
छित्त्वा स्वेषु १/१३/२९
छिन्दन्ति कोविदा- १/२/१५
छिन्दन्नपि ४/५/२२
छिन्द्यां स्वबाहुम् ३/१६/६
छिन्द्यात् प्रसह्य ४/४/१७
छिन्द्यादसङ्ग- २/१/१५
छिन्नान्यधीरधिगता- ४/२३/१२
छेत्ता ते हृदय- ३/२४/४

ज

जगज्जनन्यां ४/२०/२८
जगतस्तस्थूषः ४/२३/२
जगत् पवित्रं १/५/१०
जगत् पवित्रञ्च ४/२१/३८
जगदुद्भवस्थिति- ४/७/३९
जगद्गुरुर्यानि ३/१/९
जगद्गुरो- ४/४/२७
जगद्विरिञ्चो १/१८/२१
जगर्ह सामर्ष- ४/४/१०
जगाद नारायणम् ३/१८/२१
जगाद मे देहि ३/१७/२७
जगाद सोऽस्मद् ३/८/८
जगाम कौरव्य ४/२/१९

जगाम बिन्दुसरसः ३/२१/३३
जगाम मातुः ४/८/१४
जगाम लोकं ३/१९/३१
जगृहुर्यक्षरक्षांसि ३/२०/१९
जगृहुस्तद्विसृष्टां ३/२०/४१
जगृहे पौरुषं १/३/१
जग्धस्य मोहाद्धि ४/४/१८
जग्राह त्रिशिखं ३/१९/१३
जग्राह वासो ३/१४/३०
जग्राह लीलया ३/१९/११
जघान रुन्धानम् ३/१३/३४
जघानोत्पत्य ३/१९/२
जघ्नेऽश्मतः ३/३/४
जज्ञे च कर्दम– २/७/३
जज्ञे वंश– १/१२/१२
जज्ञे हिमवतः ४/७/५८
जटां तडिद्वह्नि– ४/५/२
जटिलं भस्मना– ४/१९/१४
जडान्धबधिरोन्मत्त– ४/१३/१०
जनं जनेन ३/२९/४५, ४/११/१९
जनः सद्यो १/१३/२०
जनन्याभिहितः ४/८/४०
जनमेजयादींश्च १/१६/२
जनयत्याशु १/२/७, ३/३२/२३
जनस्तपःसत्य– ३/१३/२७
जनस्तपःसत्यनिवासिनो ३/१३/४६
जनस्य कृष्णाद्– ३/५/३
जनार्दनं प्राञ्जलयः ४/३०/२१
जनार्दनः सानुचरः ४/२१/४४
जनार्दनोऽस्य ३/१३/५०
जनावहासं कुमतिः ४/१५/२४
जनिता विष्णु– १/३/२५
जनेन दक्षस्य ४/५/१२
जनेऽनागस्यघं १/१७/१४
जनेषु प्रगृणत्सु ४/२२/१
जन्तुर्वै भव ३/३०/४
जन्म कर्म च १/८/३०
जन्मकर्मरहस्यं १/६/३७
जन्म गुह्यं १/३/२९
जन्मलाभः परः २/१/६
जन्माद्यस्य यतः १/१/१
जन्मैश्वर्यश्रुत– १/८/२६
जन्मौषधितपोमन्त्र– ४/६/९
जपति न गणये ४/७/२९
जपन्त एकान्तधियः ४/२४/७९
जपन्तस्ते तपः ४/२५/२
जपयज्ञेन तपसा ४/३०/३
जप्यश्च परमो– ४/८/५३
जम्बुद्वीपाधिपत्यञ्च १/१२/५
जरयत्याशु ३/२५/३३
जरयोपात्त– ३/३०/१४
जलाशयम् १/१८/२५
जलाशयाञ्छिव– १/६/१२
जले चैतस्य २/१०/२०
जलोर्मिचक्रात् ३/८/१७
जलौकसां जले १/१५/२५
जहावसून् केन ४/४/२८
जहावसून् यत् ४/४/२९
जहास चाहो ३/१८/२
जहि यज्ञहनं ४/१९/१५
जहौ स्वतन्वा १/१५/३६
जह्यङ्गनाश्रमम् ४/२९/५५

जह्यस्त्रतेजः १/७/२८
जह्युः स्वराडिव २/७/४८
जह्रे पदं ३/३/३
जातः करिष्यति २/७/२६
जातः पराशरात् १/४/१४
जातः ससर्ज ३/२०/१३
जातः स्वयमजः ३/२५/१
जातकं कार- १/१२/१३
जातक्षोभाद्भगवतो ३/२०/१२
जातभावो विमानं ३/२३/३७
जातस्नेहो ३/२५/३१
जातहर्षोऽपतत्- ३/२१/१२
जाते गुणव्यति- ३/३२/१४
जातैकभक्ति- १/१३/२
जातो नारायणांशेन ४/१३/२०
जातो रुचे- २/७/२
जानासि किं ४/२८/५२
जानुद्वयं जल- ३/२८/२३
जानुभ्यां सुतलं २/५/४०
जाने त्वामीशं ४/६/४२
जामातुः श्वशुर- ४/३/१
जाये उत्तानपादस्य ४/८/८
जालार्करश्म्य- ३/११/५
जिगाय तद्भक्तगुणैः ४/१२/४२
जिगीषया सुसंरब्धा- ३/१८/१८
जिघांसया- ३/२/२३
जिघृक्षतस्त्वङ्- २/१०/२३
जिघ्रन्ति कर्णविवरैः ३/९/५
जिज्ञासयाध्यात्मिक- ४/२२/२२
जिज्ञासयाहं ३/२५/११
जिज्ञासित- १/५/४
जिज्ञासितं १/५/३
जिज्ञासितात्म- १/१२/२८
जितं जितं २/२/१३
जितं जितं ते ३/१३/३६
जितं त आत्म- ४/२४/३३
जितानिलात्मा २/९/८
जितासनान् ४/३१/३
जितासनो १/१३/५४, २/१/२३
जितेन्द्रिया १/१०/२३
जित्वा सुदुर्जयं ३/२४/३८
जिहासती दक्ष- ४/४/२६
जिहाससि स्वित् १/८/३७
जिह्मप्रायं १/१४/४
जिह्वयांशेन च ३/६/१३
जिह्वा प्रवर्ग्यस्तव ३/१३/३९
जिह्वामसूनपि ४/४/१७
जिह्वासती २/३/२०
जीवञ्छवो भागवता- २/३/२३
जीवतश्चान्द्रा- ३/३०/२६
जीवताद्यजमानो- ४/६/५१
जीवन् जगदसावाशु ४/१४/३१
जीवन्ति तत्रैष १/१०/२५
जीवन्ति नात्मार्थ- १/४/१२
जीवस्य गतयो ३/७/३१
जीवस्य तत्त्व- १/२/१०
जीवस्य न व्यवच्छेदः ४/२९/३२
जीवस्य संसृतीः ३/३२/३८
जीवाः श्रेष्ठाः ३/२९/२८
जीवाभयप्रदानस्य ३/७/४१
जीवितुमार्हथ १/९/१२
जीवेम ते १/११/९

जीवो हस्यानुगो ३/३१/४४
जुगुप्सितं कर्म १/७/१४
जुगुप्सितं कर्म किञ्चित् १/१४/४३
जुगुप्सितं धर्म– १/५/१५
जुगुप्सितं न ४/१५/२३
जुगुप्सितस्य ४/४/१८
जुष्टं किन्नर– ४/६/९
जुष्टं बताद्याखिल– ३/२१/१३
जुष्टं विचित्र– ३/२३/१९
जुष्टां पुण्यजन– ४/६/२७
जुहावैतच्छिरः ४/५/२६
जुह्वतः स्रुव– ४/५/१९
जैत्रं स्यन्दनम् ४/१०/४
ज्ञातं यदर्थमधि– ४/७/२७
ज्ञाततत्त्वाप्य– ३/३३/२१
ज्ञातुञ्च पुण्य– १/१४/१, ६
ज्ञातोऽसि मेऽद्य ३/९/१
ज्ञातोऽहं भवता ३/९/३६
ज्ञात्वागात् १/१३/१
ज्ञात्वा तद्धृदये ३/१२/४९
ज्ञात्वास्य सर्वस्य ४/९/४
ज्ञानं गुह्यतमं १/५/३०
ज्ञानं निःश्रेयस– ३/२६/२
ज्ञानं परं ३/४/१३
ज्ञानं परं स्वात्म– ३/४/१८, २५
ज्ञानं परमगुह्यं २/९/३०
ज्ञानं यतो ब्रह्म ४/१६/२५
ज्ञानं यत्तदधीनं १/५/३५
ज्ञानं यदा २/३/१२
ज्ञानं यदेतद् ३/३१/१६
ज्ञानं विरक्तिः १/१६/२८
ज्ञानं विरक्तिमत् ४/२३/११
ज्ञानं सतत्त्व– ३/५/४
ज्ञानञ्च तत्त्व– ३/१५/२४
ज्ञानञ्च नैगमं ३/७/३८
ज्ञानञ्च भागवतम् २/७/१९
ज्ञानमज्ञाततत्त्वाय ४/१२/५१
ज्ञानमात्रं परं ३/३२/२६
ज्ञानमेकं ३/३२/२८
ज्ञानयोगश्च ३/३२/३२
ज्ञानविज्ञानयोगेन ३/२४/१७
ज्ञानवैराग्ययुक्तेन ३/२५/१८, ४३
ज्ञानवैराग्यवीर्येण ४/२३/१८
ज्ञानशक्तिः २/५/३१
ज्ञानस्य चार्थस्य ४/७/३१
ज्ञानाय विद्या– ३/१३/४१
ज्ञानेन दृष्ट– ३/२७/९, २२
ज्ञानेन वैयासकि– १/१८/१६
ज्ञानेन वैराग्य– ३/५/४२
ज्ञानेन वैराग्यविजृम्भि– ३/२५/२७
ज्ञानेना शमयत् ३/४/२३
ज्यायान् गुणैः २/७/१७
ज्येष्ठा च माया १/१७/३२
ज्योतिर्बभासे ३/१३/२९
ज्योतिर्मयो २/२/२८
ज्योतिषाम्भोऽनु– ३/५/३६
ज्योत्स्नाभिराहत– ३/२८/२१

त

त आत्मयोगपतय ४/२२/४८
त आत्मसर्गं ३/२०/४३
त ऊचुर्विस्मिता– ४/१३/२५
त एकदा तु मुनयः १/१/५

त एकदा तु रभसा ४/२८/२
त एकदा भगवतो ३/१५/१३
त एत ऋषयो १/४/२३
त एते साधवः ३/२५/२४
त एनं लोलुपतया ३/२०/२३
त एव चाददुः ३/२०/३९
त एव पश्यन्त्य- १/८/३६
त एवमुत्सन्नभया ४/९/१
त एव वेदा १/४/२४
त एवात्म- १/५/३४
त एवैकोन- ४/१/६०
तं किं करोमि ४/५/४
तं कृष्णपादा- ४/१२/२२
तं जिघांसु- १/१७/२९
तं जिघृक्षत्य- १/१७/२५
तं जीवकर्म- ३/३१/१६
तं तं धुनोति ३/३०/२
तं तादृशाकृतिं ४/१९/१४
तं त्वां विदाम ३/१५/४७
तं त्वा गताहं ३/२५/११
तं त्वानुभूत्यो- ३/२१/२१
तं त्वामहं ३/३३/८
तं दंष्ट्रयाद्रिमिव २/७/१
तं दुराराध्यम् ४/२४/५५
तं दृष्ट्वोपवना- ४/९/४२
तं द्व्यष्टवर्षं १/१९/२६
तं धावमानम् ४/११/२०
तं नस्त्वं ४/७/३३
तं नाध्यगच्छत् २/६/३५
तं नारदः २/९/४०
तं निःसरन्तं ३/१८/७
तं नित्यमुक्त- ४/२२/३८
तं निरन्तर- ४/८/६१
तं निर्वृतः २/२/६
तं निश्वसन्तं ४/८/१५
तं पादयो- १/१४/२३
तं प्रजासर्ग- ४/३०/५१
तं प्रवर्त्तयितुं ३/२४/३७
तं प्रष्टुं व्यसृजत् ४/१३/२९
तं प्रसादय- ४/११/३४
तं प्रीयमाणं २/९/१८
तं बन्धुमागतं १/१३/३
तं ब्रह्मदण्डम् ३/१५/३५
तं ब्रह्मनिर्वाण- ४/६/३९
तं भक्तिभावो ४/९/५
तं भुक्तवन्तं १/१३/७
तं मुष्टिभिः ३/१९/२५
तं मेनिरे १/११/३९
तं मोपयातं १/१९/१५
तं यज्ञपशवः ४/२८/२६
तं यज्ञियं ४/७/४१
तं विचक्ष्य खलं ४/१३/४२
तं वीक्ष्य दुःसह- ३/१७/२१
तं वीरमाराद् ३/१७/३१
तं वै हिरण्य- ३/१७/१८
तं व्यग्रचक्रं ३/१९/६
तं व्याससूनुम् १/२/३
तं सत्यमानन्द- २/१/३९
तत् सप्रपञ्चम् ३/२८/३८
तं सर्वगुण- ४/२३/१८
तं सर्वभूत- १/२/२
तं सर्वयज्ञः ३/१३/४०

तं सर्वलोकामर–	४/१४/२१
तं सुखाराध्यम्	३/१९/३६
तं स्कन्धेन स	४/२९/३३
तक्षकादात्मनो	१/१२/२७
तच्चापि चित्त–	३/२८/३४
तच्छुद्धयेऽति	२/७/२८
तच्छोचिषा	४/१/२५
तच्छ्रद्दधाना	१/२/१२
तच्छ्रद्धयाक्रान्त–	३/३२/३
तज्जन्म तानि	४/३१/९
तज्जन्म धिग्	४/४/२२
तज्जोषणादाश्वपवर्ग–	३/२५/२५
तञ्चानुशयमात्मस्थम्	४/२३/१८
तत आत्मनि	३/९/३१
तत आसाद्य	१/७/३३
तत उत्पन्नविज्ञाना	४/३१/१
तत औषधयः	३/२६/५६
ततः कतिपयैः	३/३/२५
ततः कलौ	१/३/२४
ततः कालाग्नि–	२/१०/४४
ततः क्षुत्तृट्–	४/२६/११
ततः खेऽदृश्यत	४/१०/२५
ततः परिघनिस्त्रिंशैः	४/१०/११
ततः परीक्षित्–	१/१६/१
ततः पायुस्ततो	२/१०/२७
ततः प्रादुष्कृतं	१/७/२१
ततः स आगत्य	३/३/१
ततः सचित्ताः	३/२९/२८
ततः सद्यो	१/१/१४
ततः सपत्नं	३/१९/२
ततः सप्तदशे	१/३/२१
ततः सप्तम–	१/३/१२
ततः समाधियुक्तेन	३/२१/७
ततः सर्व–	१/१२/१२
ततः सर्वे–	३/१७/१
ततः स्वभर्त्तु–	४/४/२७
ततश्च गदया	३/१८/१७
ततश्च मनवः	२/६/३०
ततश्च वः	१/१९/२४
ततस्त ऋषयः	३/२४/२५
ततस्ते कृष्ण–	१/९/४७
ततस्ते क्षीण–	३/३२/२१
ततस्तेनानु–	३/२६/५१
ततस्ते भ्रातरः	२/६/२९
ततस्त्वतिव्रज्य	३/१/२४
ततस्त्वामभिधास्यन्ति	३/१२/१०
ततो गन्तासि	४/९/२५
ततोऽतिकायः	४/५/३
ततो नन्दव्रजम्	३/२/२६
ततो नानारसो	२/१०/१८
ततो निवृत्तः	३/८/२१
ततो निवृत्तः क्रीडि–	३/१७/२४
ततो निवृत्ता	१/१९/२९
ततो निष्क्रम्य	४/१०/७
ततोऽनुसन्धाय	२/२/२०
ततोऽनृतं	१/१७/३९
ततोऽन्यथा	१/५/१४
ततोऽन्ये च	४/१८/१३
ततोऽपराम्	३/१२/४८
ततोऽप्यासीद्भय–	४/१४/९
ततोऽभवन्महत्	३/५/२७
ततो भवान्	१/५/१६

ततोऽभ्येत्याश्रमं	१/१८/३८	तत्त्राणायासृजत्	३/२२/३
ततो मनस्ततश्चन्द्रः	२/१०/३०	तत् तं कुरु	४/२०/३३
ततो महीपतिः	४/१८/२८	तत्त्वं न ते	४/७/२७
ततो मीढ्वां	४/७/७	तत् त्वं नरेन्द्र	४/२२/३७
ततो युधिष्ठिरो	१/९/४८	तत्त्वं परं	२/६/४५
ततो राज्ञा	१/१२/३७	तत्त्वं ब्रह्म	४/२४/६०
ततोऽर्थकामाभि–	१/१८/४५	तत् त्वं हरेभगवतो	४/२२/४०
ततो वयं मत्–	३/५/५१	तत्त्वतोऽर्हस्यु–	२/८/२४
ततो वर्णाश्च	३/२९/३१	तत्त्वसंख्यान–	३/२४/१०
ततो विनशनं	१/९/१	तत्त्वानां परिसंख्यानं	२/८/१९
ततो विनिश्वस्य	४/४/३	तत्त्वानां भगवन्	३/७/३७
ततो विशेषं	२/२/२८	तत्त्वाम्नायं	३/२५/३१
ततो विहत–	४/२७/२३	तत्पञ्चत्वमहं	३/३१/४५
ततो हसन् स	३/२०/२४	तत् पश्यतां	४/४/२८
तत्कट्याञ्चातलं	२/५/४०	तत्पादमूलं	१/१७/२९
तत् कथ्यतां	१/१६/६	तत्पादमूलं शरणं	४/२९/५०
तत् कर्दमाश्रम–	३/२४/९	तत्पादशौच–	४/२२/५
तत् कर्म दिव्यमिव	२/७/२९	तत्पुण्यसलिलैः	४/२८/३५
तत् कर्म हरितोषं	४/२९/४९	तत् पुत्रपौत्र–	४/१/९
तत्कुलं	१/७/४८	तत्पुत्रावपरा–	४/१/३४
तत्कृतं	१/९/२१	तत् प्रजा भर्त्तृ–	४/२१/२५
तत् तत्यजेऽच्छिनत्	४/२३/१२	तत् प्रतीच्छ	३/२२/११
तत्तद्गुणानुश्रवणं	३/१३/४	तत्प्रभावमविज्ञाय	४/८/६८
तत्तद्वपुः प्रणयसे	३/९/११	तत् प्रयच्छामि	४/९/१९
तत् तस्य कैङ्कर्यम्	३/२/२२	तत्प्रादुर्भाव–	४/१/२३
तत्तस्य चाद्भुतं	४/१९/१८	तत्र कन्यां	४/३०/१५
तत् तात गच्छ	४/८/४२	तत्र कीर्त्तयतो	१/३/४४
तत्तेजसा हतरुचः	४/७/२३	तत्र गान्धर्वम्	४/२४/२३
तत्तेऽनभीष्टमिव	३/१६/२४	तत्र गोमिथुनं	१/१७/१
तत्ते निरीक्ष्यो	४/३/२४	तत्र चन्द्ररसा	४/२८/३५
तत्ते वयं लोक–	३/५/४८	तत्र चान्तर्बहि–	२/१०/२३

तत्र चास्ते सह ३/२३/३४
तत्र तत्र गिरः ४/१६/२६
तत्र तत्र पतन् ३/३०/२३
तत्र तत्र प्रशंसद्भिः ४/१२/३४
तत्र तत्र विनिक्षिप्तं ३/२३/१७
तत्र तत्र हि १/१०/३६
तत्र तत्राञ्जसा– १/१/९
तत्र तत्रोप– १/१६/१४
तत्र तत्रोपसंक्लृप्तैः ४/९/५४
तत्र दुन्दुभयो १/९/४५
तत्र दृष्टेन योगेन ४/१८/८
तत्र निर्भिन्न– ४/२६/९
तत्र पूर्वतरः ४/२८/५१
तत्र प्रविष्ट– ४/२/५
तत्र ब्रह्मर्षयः १/९/५
तत्र मोहं ४/२९/१६
तत्रर्ग्वेदधरः १/४/२१
तत्र लब्धस्मृतिः ३/३१/९
तत्र वायु– २/१०/२०
तत्र शीलवतां ४/२२/५
तत्र सञ्जयम् १/१३/३२
तत्र सर्व उपाजग्मुः ४/१५/८
तत्र स्नात्वा ३/३/२६
तत्र स्वसृर्मे ४/३/१०
तत्रागतश्चारण– ४/१२/१
तत्राथ शुश्राव ३/१/२१
तत्रानु देवप्रवरौ ४/१२/२०
तत्रान्वहं कृष्ण– १/५/२६
तत्रापानस्ततो २/१०/२८
तत्रापि दैत्यं ३/१३/३३
तत्रापि मोक्ष एव ४/२२/३५
तत्रापि स्पर्श– ३/२९/२९
तत्रापि हंसं ४/२४/७
तत्राप्यजात– ३/३०/१४
तत्राप्यदाम्य– ४/२३/४
तत्राप्येकैकशो २/१०/४२
तत्राब्दकोटि– १/११/८
तत्राभवद्– १/१९/२५
तत्राभिषिक्तः ४/८/७१
तत्रावशिष्टा ये ४/३०/४७
तत्रासीनं कुरु– १/८/३
तत्रास्मदीय– ३/१६/३७
तत्रास्मासन् ३/१९/६
तत्राहामर्षितो १/७/५१
तत्राहृतास्ता– ३/३/७
तत्रेतिकृत्यम् ३/२३/११
तत्रेमं क ३/७/३७
तत्रैकाग्रमना ४/२९/८२
तत्रैकावयवं २/१/१९
तत्रैव मे १/१५/१३
तत्रोद्धवं ३/१/२४
तत्रोपजग्मुः १/१९/८, ४/२२/१
तत्रोपनीत– १/११/४
तत्रोपलभ्यासुर– ३/१७/२७
तत्सङ्कुलं ३/१५/२०
तत्सङ्गादीदृशीं ४/२८/५९
तत्सङ्गोन्मथित– ४/२६/१८
तत्सम्बन्धि श्रुत– ४/१/१०
तत्सम्मतानाम् ४/२२/२३
तत् सर्वं नः १/४/१३
तत् साधुवर्यादिश ३/५/४
तत्सृष्टसृष्ट– ३/३१/३७

तथा कामाशयो	४/२९/३१	तथारिभिर्न	४/३/१९
तथा च कृत्वा	४/१९/३९	तथा समं	१/१८/२३
तथा चिकीर्षमाणं	४/८/१०	तथा ससर्जेदम्	२/२/१
तथा तथोपद्रष्टात्मा	४/२९/१७	तथा साधय भद्रं	४/१३/३२
तथा तद्विषयां	२/९/२७	तथा स्वभागधेयानि	४/१३/३३
तथा तमेवार्हसि	४/२०/३१	तथाहयो दन्दशूकाः	४/१८/२२
तथा परमहंसानां	१/८/२०	तथा हरावेव	४/३१/१५
तथापरे च	४/१८/१३	तथाहृतं पशुवत्	१/७/४२
तथापरे चात्म–	३/५/४७	तथैव चान्ये	३/२/२०
तथापरे सिद्धगणा	४/६/४१	तथैव तत्त्वविज्ञानम्	२/९/३१
तथापि किमिदं	३/१३/१७	तथैव सर्वार्हणम्	४/३१/१४
तथापि चाहं	३/२१/१५	तथैव हरिणैः	३/२१/४४
तथापि तस्याङ्घ्रि–	१/११/३३	तथैवानुचराः	१/१४/३२
तथापि नः	३/१३/७	तदद्य नः	१/१८/४४
तथापि नात्मा	१/५/५	तदध्यवस्यत्	२/२/३४
तथापि नाथमानस्य	२/९/२५	तदन्नतृप्तै–	४/४/२१
तथापि नाहं	३/४/१५	तदभिज्ञाय भगवान्	४/१९/२६
तथापि पृच्छे	३/२१/५६	तदभिप्रेतम्	१/१२/३४
तथापि मानं	४/३/२०	तदभिप्रेत्य भगवान्	४/१९/२
तथापि मेऽविनीतस्य	४/८/३६	तदर्थं कुरुते	३/३१/३१
तथापि वत मे	१/४/३०	तदवद्यं हरेः	४/१९/२२
तथापि शोचस्या–	१/५/४	तदश्मसारं	२/३/२४
तथापि सान्त्वयेमामु	४/१४/११	तदसौ वध्यतां	१/७/३९
तथापि ह्यनहङ्कारो	४/११/२५	तदस्तु कामं	१/१९/२
तथाप्यहं योषिद्–	४/३/११	तदस्य कौशारव	३/५/१५
तथाप्येकान्त–	१/९/२२	तदस्य संसृतिः	३/२६/७
तथाप्रियो देह–	४/४/११	तदहं कृतविश्रम्भः	४/२२/१५
तथा मनुर्वो	४/८/२१	तदहं तेऽभिधास्यामि	२/१/१०
तथामरगणाः	४/२/४	तदाकर्ण्य विभुः	४/६/४
तथायञ्चावतारस्ते	१/७/२५	तदा तदहम्	१/६/१०
तथायमप्यात्म–	३/३३/५	तदा ते भ्रातरः	१/९/२

तदा दितेः	३/१९/२३
तदादिराजस्य	४/२१/८
तदा दुन्दुभयो–	४/१२/३१
तदा निलिल्युः	४/१६/२३
तदा पुरुषः	३/२५/१७
तदाभिषिच्य–	४/९/५०
तदा मनून्	३/२०/४९
तदा मिथुन–	३/१२/५४
तदा रजस्तमो	१/२/१९
तदारुदद्	१/७/१५
तदार्यधर्मश्च	१/१८/४५
तदा लोका–	३/३२/४
तदा विकुण्ठ–	३/१६/३४
तदा विश्वेश्वरः	३/१४/४१
तदा वृषध्वजद्वेष–	४/७/१०
तदा शुचस्ते	१/७/१६
तदा संहत्य	२/५/३३
तदा सर्वाणि	४/७/६
तदा स्वप्रभया	४/७/१९
तदाहरेवा	१/१५/३६
तदा हि चौर–	१/१८/४३
तदाहुरक्षरं	३/११/४२
तदिदं ग्राहयामास	१/३/४१
तदिदं पश्यत	४/१९/३१
तदिदं भगवान्	१/१३/४८
तदिदं श्रोतुम्	१/१२/३
तदीक्षयैवाशु	१/९/३१
तदुपद्रवमाज्ञाय	४/१४/३९
तदुपश्रुत्य नभसि	४/३/५
तदेतन्मे विजानीहि	३/२५/३०
तदेवमाकर्ण्य	३/१८/१
तदेव ह्यामयं	१/५/३३
तदैव चक्षुषो	३/३१/४५
तदैव तद्धर्म–	४/२१/३९
तदैव सेतवः	३/२१/५४
तदैवेहानुवृत्तो	१/१८/६
तदोजसा दैत्यम्	३/१९/१४
तदोत्तानपदः	४/१२/३०
तदोपसंहृत्य	१/९/३०
तद्गच्छ ध्रुव	४/१२/५
तद्गात्रं वस्तु	२/६/४
तद्गुणाश्रयया	३/३२/२२
तद्गृहीत–	४/१९/२४
तद्गृहेषु	४/३१/६
तद्दर्शनध्वस्त–	४/३०/२
तद्दर्शनाह्लाद–	२/९/१७
तद्दर्शनेनागत–	४/९/३
तद्दर्शनोद्गतान्	४/२२/३
तद्दृष्ट्वा मिथुनं	४/१५/२
तद्देवयजनं	४/५/२६
तद्देहः परतः	३/३३/२८
तद्देहतो विष्णु–	४/१९/३७
तद्द्रव्यम्	२/६/२२
तद्धर्म एवात्म–	१/५/२५
तद्धर्मज्ञ	१/७/४६
तद्धर्मिणां	३/१५/३२
तद्धि स्वयं वेद	१/५/२०
तद्धीत्यात्मकृतं	३/१६/४
तद्धेलनं नार्हसि	४/१४/२२
तद्ध्यानोद्रिक्तया	१/१५/४७
तद्ध्यायन्तो	४/२४/१५
तद्वधस्तस्य हि	१/७/३७

तद्ब्रह्म परमं	४/२/३२	तद्वै भगवतो	१/३/३
तद्ब्रह्म विश्व-	४/९/१६	तद्वोऽभिधास्ये	२/१०/५२
तद्ब्राह्मणान्	४/७/१४	तद्व्याहृतामृत-	३/२१/४६
तद्भग्नमानानपि	३/३/४	तन्तु तेऽवनतं	४/१४/४५
तद्भवान् दह्य-	३/१४/११	तन्त्रं सात्वतम्	१/३/८
तद्भिन्नसेतुम्	१/१८/३५	तन्त्वागतं	३/१५/३८
तद्भ्रूविजृम्भः	२/१/३०	तन्नः परं	१/१८/१७
तद्यशः पावनं	१/८/६	तन्नः पराणुद	३/७/७
तद्रक्तपङ्काङ्कित-	३/१३/३४	तन्नः प्रद्योतया-	४/३१/७
तद्रोधं कवयः	४/२२/३१	तन्नः शुश्रूष-	१/१/१३
तद्वः प्रसादयाम्यद्य	३/१६/४	तन्निरोधोऽस्य	३/३१/४४
तद्वन्न रिक्तमतयो	४/२२/३९	तन्नैच्छद्रचयन्	३/२/२
तद्वयं निर्व्यलीकेन	३/२१/५६	तन्नैच्छन्मोक्ष-	३/१२/५
तद्वा इदं	३/९/४	तन्नो भवान् वै	१/१८/१५
तद्वाग्विसर्गो	१/५/११	तन्नो भवानीहतु	४/१७/११
तद्वाममुष्य	३/१५/३४	तन्नो मनो	३/४/१७
तद्वायसं तीर्थम्	१/५/१०	तन्मयापादितं	३/९/२९
तद्विजानीहि	२/५/१	तन्मात्रत्वञ्च	३/२६/३३
तद्विदित्वा विमुच्येत	३/२६/१	तन्मात्राणि च	३/२६/१२
तद्विद्यादात्मनो	२/९/३३	तन्मायया दुर्जयया-	४/१७/३२
तद्विद्वद्भिरसद्वृत्तो	४/१४/११	तन्मायया मोहित-	२/६/३७
तद्विधेहि नमः	३/१३/८	तन्माल्यभस्म-	४/४/१६
तद्विलोक्य वियद्	३/१०/७	तन्मूलमव्यक्तम्	१/५/५
तद्विलोक्याब्ज-	३/१०/५	तन्मे धर्मभृतां	१/१७/३७
तद्विश्वगुर्व-	३/१५/२६	तन्मे प्रसीद	४/२६/२६
तद्विश्वनाभिं	२/२/२५	तन्मे प्रसीदेदम्	४/३/१४
तद्वीक्ष्य पृच्छति	१/४/५	तन्मे स्वभर्त्तुः	३/१६/१२
तद्वीरासीत्	३/३३/३१	तप आतिष्ठ	३/१२/१८
तद्वै धनुस्त	१/१५/२१	तपःप्रभावस्य	४/१२/४१
तद्वै पदं	२/७/४७	तपः शौचं	१/१७/२४
तद्वै बिन्दुसरो	३/२१/३९	तपन्ति विविधाः	३/२५/२३

तपसाराध्य	४/८/१३	तमस्यपारे	३/८/२०
तपसा विद्यया पक्क–	४/२८/३८	तमागतं त	४/३१/४
तपसा विद्यया युक्तो	३/२०/५२	तमात्मजैः	१/११/३२
तपसा ह्येधमानेन	३/१०/६	तमात्मतन्त्रं	४/२४/६१
तपसैव परं	३/१२/१९	तमापतन्तं स विलोक्य	१/७/१८
तपसैव यथा	३/१२/१८	तमापादयितुं	४/२२/४२
तपस्तपीयान्	२/९/८	तमायान्तमभि–	३/२२/२८
तपस्युपादिष्ट	२/९/७	तमालनीलं	३/१३/३५
तपस्विनो दानपरा	२/४/१७	तमालैः शाल–	४/६/१४
तपो द्रविण–	३/२४/३	तमावभाषे	३/२१/२२
तपो मे हृदयं	२/९/२३	तमाशु देवं	४/६/६
तपोयुक्तेन	३/२७/२२	तमासीनम्	३/२५/६
तपो रराटीं	२/१/२८	तमाह राजन् मयि	४/२०/३२
तपोवनं गते	४/८/६३	तमाहागाधया	३/९/२८
तप्तं तपो	२/७/५	तमिमं ते	३/२५/१४
तप्तहेमनिकायाभं	४/२४/२५	तमिममहमजं	१/९/४२
तप्य मानं	४/१/२१	तमुद्यतासिमाहेदं	१/१७/३५
तप्ये द्वितीये	४/९/३३	तमुपश्रुत्य निनदं	१/११/३
तम एतद्विभो	३/१५/३	तमुपागतमालक्ष्य	४/७/२२
तमः किमेतत्	४/५/७	तमूचुर्ब्राह्मणा–	१/१२/१५
तमः प्रधानः	२/५/२३	तमृत्विजः शक्र–	४/१९/२७
तमत्रिर्भगवान्	४/१९/१२	तमेनमङ्गात्मनि	४/११/२९
तमधर्मे कृत–	३/१२/२९	तमेवं शीलसम्पन्नं	४/१२/१२
तमन्वीयुर्भागवता	४/१९/६	तमेव दयितं	४/७/५९
तमभिज्ञाय	१/४/३३	तमेव ध्यायती	३/३३/२२
तमभ्यधावन्	४/११/४	तमेव पुरुषं	२/६/२८
तमयं मन्यते	१/११/३७	तमेव मृत्युम्	४/११/२७
तमवज्ञाय	३/२९/२१	तमेव यूयम्	४/२१/३३
तमश्चन्द्रमसी–	४/२९/६९	तमेव वत्साश्रय	४/८/२२
तमसस्तु रज–	१/२/२४	तमेवात्मानम्	४/२४/७०
तमस्मिन् प्रत्यग्	३/२६/७२	तमेवान्वपिधीयन्ते	३/११/२९

तमेवाहुर्युगं	३/११/२०
तमो गुहायाञ्च	४/२४/५९
तमो जुषाणो	३/१/८
तमोऽभिभूतो	४/२७/४
तमो मात्राम्	३/११/२८
तमो विशीर्यते	२/४/५
तया रजः	४/२४/६३
तया विभ्रंसिते–	३/४/१
तया विलसितेषु	१/२/३०
तया संस्थापयति	३/७/४
तया हतात्म–	४/६/४९
तयैवं रममाणस्य	४/२७/५
तयैव सोऽयं	४/१७/३१
तयोः संवदतोः	३/२०/५
तयोः समभवत्	४/८/३
तयोः समुच्चयो	३/११/११
तयोः स्पृधोस्तिग्म–	३/१८/१९
तयोपगूढः	४/२७/३
तयोपभुज्यमानां	४/२८/४
तयोपसृष्टो	४/२५/३०
तयोरसुरयोः	३/१६/३६
तयोरेवं कथयतोः	१/१६/३७
तयोर्निर्भिन्न–	३/३०/२१
तयोर्व्यवायात्	४/११/१५
तयोश्च मिथुनं	४/८/४
तयोस्तु बलवानिन्द्रः	२/१०/२४
तरत्ययत्नेन	४/१२/८
तरन्ति ह्यञ्जसा	३/१६/१९
तरवः किं	२/३/१८
तरवो भूरिवर्ष्माणः	४/१९/८
तरीव सव्येतरतः	४/८/७९
तरुणं रमणीयाङ्गम्	४/८/४६
तरुपल्लव–	४/२१/३
तर्पयित्वाथ	३/३/२६
तर्ह्येव तन्नाभिसरः–	३/८/३२
तर्ह्येव नङ्क्ष्यति	३/१६/२३
तर्ह्येव सरसः	४/२४/२४
तर्ह्येवाथ	१/८/१२
तलातलं वै	२/१/२६
तल्लक्षणज्ञा	१/१९/२८
तल्लभ्यते दुःख–	१/५/१८
तल्लोकपद्मं	३/८/१५
तव क्षेत्रे	३/२१/३२
तव चंक्रमणं	४/३१/५
तव वरद	४/७/२९
तव सन्दर्शनादेव	३/२२/५
तवाप्येतर्हि	२/१/१४
तवेहमानस्य	१/८/२९
तस्थौ तदङ्गुष्ठ–	४/८/७९
तस्मा अदाद्–	२/७/८
तस्मा अप्यनुभावेन	४/७/५७
तस्मा इदं	२/९/४३
तस्मा इदं भगवते	३/१५/५०
तस्मा उन्माद–	४/२/१६
तस्मा एवं	३/९/४४
तस्माज्जह्यङ्ग	१/१३/४५
तस्मात् कर्मसु	४/२९/४७
तस्मात्त्वं सर्व–	३/३२/२२
तस्मात् परोक्षे–	४/१५/२३
तस्मात् पुरुष	४/१३/३६
तस्मात् सर्वात्मना	२/२/३६
तस्मात् सूर्यो	३/२६/५५

तस्मादहं ३/३१/२१
तस्मादिदं १/९/१७
तस्मादिमां स्वां ३/२८/४४
तस्मादेकेन १/२/१४
तस्माद्धारत २/१/५
तस्माद्भ्रुवो– २/२/२१
तस्माद्युगान्त– ३/८/१७
तस्माद्विनिष्क्रम्य ४/२/१९
तस्मान्न कार्यः ३/३१/४६
तस्मान्नाम्ना १/१२/१७
तस्मान्मय्यर्पित– ३/२९/३३
तस्मान्मां कर्मभिः ४/१४/२८
तस्मिंस्तदा १/५/२७
तस्मिंस्तुष्टे ४/१४/२०
तस्मिंस्त्वं ४/२८/५९
तस्मिँल्लब्धपदं ३/२८/२०
तस्मिन् दधे ४/२६/२४
तस्मिन्नतीत्य ३/१५/२७
तस्मिन्नभिध्यायति ४/८/८०
तस्मिन्नर्हत्सु ४/२१/१४
तस्मिन्नलुप्त– ३/२३/३८
तस्मिन् नारायणपदे १/१५/४७
तस्मिन्नाश्रम– ३/३३/१३
तस्मिन् निर्मनुजे १/६/१६
तस्मिन् न्यस्त– १/१०/१२
तस्मिन् प्रतीपः ३/१/१५
तस्मिन् प्रविष्टे ३/१७/२५
तस्मिन् प्रशान्त– ३/१५/३२
तस्मिन् प्रसन्ने ३/१३/५१
तस्मिन् प्रसूनः ४/१/१८
तस्मिन् बिन्दुसरे ३/२५/५
तस्मिन् ब्रह्मण्य– ४/७/५२
तस्मिन् ब्रह्मर्षयः ४/३/४
तस्मिन् भगिन्यो ४/३/९
तस्मिन् महन्मुखरिता ४/२९/४०
तस्मिन् महाभागवतो ३/४/९
तस्मिन् महायोगमये ४/६/३३
तस्मिन् महिम्नि ३/२८/३६
तस्मिन् ययौ ३/१५/३७
तस्मिन् वरीयसि ३/१/४
तस्मिन् विमान ३/२३/४५
तस्मिन् समस्तात्मनि ४/४/११
तस्मिन् सुधन्वन् ३/२१/३७
तस्मिन् स्व आश्रमे १/७/३
तस्मिन् स्वयं ३/८/१५
तस्मिन् स्वविक्रमम् ३/९/२३
तस्मिन् स्वस्तिकम् ३/२८/८
तस्मै गुणगण– ३/२२/२२
तस्मै जहार ४/१५/१४
तस्मै नमः कारण– ३/१३/३६
तस्मै नमन्ति ४/९/४७
तस्मै नमस्त ३/९/२१
तस्मै नमो भगवते २/५/१२
तस्मै नमो भगवतेऽधि– ३/९/१८
तस्मै नमो भगवतेऽनु– ३/९/४
तस्मै नमो भगवते पुरुषो– ३/९/१९
तस्मै नमो भगवते भुवन– ३/९/१६
तस्मै नमो भगवते य ३/१२/३२
तस्मै नित्यं ४/७/४३
तस्मै प्रादाद् ३/३/२

तस्मै बलिं ३/११/१५
तस्मै भवान् ४/४/१५
तस्मै सपर्यां १/१९/२९
तस्मै समुन्नद्ध– ४/१७/३३
तस्मै सुभद्रश्रवसे २/४/१५–१७
तस्मै स्वलोकं २/९/९
तस्य कर्माण्युदाराणि १/१/१७
तस्य चोद्धरतः ३/१४/३
तस्य जन्म १/४/९
तस्य जन्म महाबुद्धेः १/१२/२
तस्य ते चापनिर्मुक्ता ४/१०/१७
तस्य त्वं तमसो ३/२५/८
तस्य नाभेरभूत् ३/२०/१६
तस्य निर्हरणादीनि १/९/४६
तस्य पुत्रो १/४/४
तस्य पुत्रोऽति– १/१८/३२
तस्य प्रपन्नाखिल– ३/१/४५
तस्य प्रीतमना १/१२/१३
तस्य प्रीतेन ४/१२/९
तस्य भिन्नदृशो ३/२९/२६
तस्य भ्रातृष्वात्म– ४/३०/९
तस्य मत्तस्य १/१७/१०
तस्य मात्रा २/५/२५
तस्य मे तदनु– ४/२१/२३
तस्य मेध्यं ४/१७/४
तस्य यक्षपतिः ४/१/३६
तस्य राज्ञो ४/१४/१९
तस्यर्त्ते यत् २/३/१७
तस्य वंश्यास्तु ४/१४/४६
तस्य वै दुहिता ३/२१/३
तस्य व्यभिचरन्त्यर्था ४/१८/५
तस्य शीलनिधेः ४/१३/२१
तस्यां जातः ३/६/३३
तस्यां तस्यां ३/३०/४
तस्यां त्रितस्या– ३/१/२२
तस्यां प्रपीड्य– ४/२८/५
तस्यां प्रविष्टो ३/२२/३२
तस्यां बहुतिथे ३/२४/६
तस्यां विशुद्ध– ४/१२/१७
तस्यां स ४/२८/३०
तस्यां स चाम्भोरुह– ३/८/१६
तस्यां सन्दह्य– ४/२८/१२
तस्यां स वै ३/२१/४
तस्यां ससर्ज ४/१/४६
तस्याः कामं ३/१४/१७
तस्याखिलजगत्– ४/१२/२४
तस्याग्निरास्यं ३/६/१२
तस्यात्मनो– १/७/४५
तस्यानया भगवतः ४/२३/११
तस्यानुरक्तस्य ३/४/१०
तस्यानुविहितो १/९/१७
तस्यान्तरायो १/१३/५७
तस्यापवर्ग्य– ४/९/८
तस्यापि तव १/१३/२५
तस्यापि द्रष्टुरीशस्य २/५/१७
तस्याभिपश्यतः ३/१३/२१
तस्याभिषेक ४/१५/११
तस्यामजनयत् ४/२७/६
तस्यामाधत्त ३/२३/४७
तस्यामेवं हि ४/१७/२३
तस्यारविन्दनयनस्य ३/१५/४३
तस्यार्थसूक्ष्माभि– ३/८/१३

तस्यार्षास्त्रं	४/११/३
तस्यावलोकम्	३/२८/३१
तस्याविज्ञातनामा–	४/२५/१०
तस्याशु सम्प्रसीद	३/९/४०
तस्यास्तद्योग–	३/३३/३२
तस्याहमब्ज–	१/१६/३४
तस्याहानीह	४/२९/२१
तस्यैतस्य जनो	३/३०/१
तस्यैवं खिलम्	१/४/३२
तस्यैवं मे	१/५/२९
तस्यैवं रममाणस्य	३/३/२२
तस्यैवं वदतः	४/२/२७, ३३
तस्यैवं वर्त्तमानस्य	१/१६/२८
तस्यैव दैत्य–	३/१९/२८
तस्यैव मेऽघस्य	१/१९/१४
तस्यैव हेतोः	१/५/१८
तस्यैवानुग्रहेणान्नं	४/२२/४६
तस्यैवान्ते च	३/११/३६
तस्योपसन्नम्	३/३१/१२
तस्योञ्चिगासीत्	३/१२/४५
ता इमा जभितुं	३/२०/२६
तां कामयानां	४/१/६
तां क्वणचरण	३/२०/२९
तां दिशो	३/१२/३४
तां दृष्ट्वा	३/२३/२७
तां नाध्यगच्छद्–	२/९/५
तां प्रविश्य	४/२५/४३
तां प्रार्थयन्तीं	३/२२/१८
तां बाढम्	१/८/४५
तां शशंसुर्जना	४/९/५१
तां स आपततीं	३/१९/११
तां स्वान्त्वयन्नाह	१/७/१५
तां सारिका–	४/४/५
तांस्तान् कामान्	४/१३/३४
तांस्तान् क्षिपन्ति	३/१५/२३
तांस्तु सिद्धेश्वरान्	४/२२/२
ताः पुत्रमङ्कम्	१/११/२९
ताः श्रद्धया	१/५/२६
ताश्चापविद्धां	४/३०/१३
ताञ्चापि युष्मत्–	३/७/१८
तातप्यमान–	२/७/२४
ताताम्ब कंसाद्	३/२/१७
ता नः कीर्त्तय	३/२०/६
ताननादृत्य यो–	४/१८/५
तानातिष्ठति	४/१८/४
तानि चैकैकशः	३/२०/१४
तानि पापस्य	४/१९/२३
तानि मे श्रद्दधानस्य	३/२५/३
तानीश कैवल्य–	४/२०/२३
तानेव ते मदनु–	३/२३/७
तान् दृष्ट्वा ये	३/२०/५०
तान् न स्पृशन्त्य–	४/२९/४०
तान् निर्जितप्राण–	४/३१/३
तान् बभाषे	३/१२/५
तान् मा वधी–	४/६/४७
तान्येव ते	३/२४/३१
तान् वदस्वानु–	३/१०/२
तान् वीक्ष्य वात–	३/१५/३०
तान् वै ह्यसद्–	३/५/४५
तान् शोच्यशोच्यान्	३/५/१४
तान् समेतान्	१/९/९
तान् हन्यमानान्	४/११/६

तापत्रयेण ३/५/४०
तापत्रयोप– ३/२८/३१
तापत्रयोपशमनाय वयं ३/३१/१६
तापापनोदो ३/२६/४३
ताभ्यां क्रोधश्च ४/८/३
ताभ्यां तयो– ४/१/४३
ताभ्यां मिषत्स्व– ३/१५/३१
ताभ्यां रूप– ३/१२/५२
ताभ्यामन्तर्हृदि ३/९/३०
ता मन्त्रहृदयेनैव ४/८/५८
तामन्वगच्छन् द्रुत– ४/४/४
तामन्वधावत् तत् ४/१७/१५
तामसाच्च ३/२६/३२
तामसादपि २/५/२५
तामसो भूत– ३/५/३२
तामागतां तत्र ४/४/७
तामात्मनो ३/३१/४२
तामाह ललितं ४/२५/२५
तामिक्षेतात्मनो ३/३१/४०
तामिस्रमन्ध– ३/२०/१८
तामेव मनसा गृह्णन् ४/२८/२८
तामेव वीरो ४/२७/४
ता ये पिबन्त्य– ४/२९/४०
तारहेममहारत्न– ४/६/२७
ताराभिरावृत– ३/२३/३८
तार्त्तीयेन स्वभावेन ३/६/२९
तावच्छशास ३/१/२०
तावत् कलिर्न १/१८/५
तावत् त्रिभुवनं ३/११/३१
तावत् प्रसन्नो ३/२१/८
तावत्येव निशा ३/११/२२
तावत् स रुद्रा– ४/५/१३
तावत् स्थवीयः २/२/१४
तावदध्यासते ३/३२/८
तावद्भयं द्रविण– ३/९/६
तावद्भवत्प्रसङ्गानां ४/३०/३३
तावद्यूयम् १/१३/५०
तावन्न योग– ४/२३/१२
तावन्न संसृतिः ३/९/९
तावन्ममेत्यसद– ३/९/६
तावादिदैत्यौ ३/१७/१६
तावानसाविति २/८/८
तावाश्वास्य ३/२४/२०
ताविमौ वै ४/१/५८
तावुभौ सुखम् ३/७/१७
तावेव ह्यधुना ३/१६/३५
तासां प्रसूति– ४/१/१२
तास्वपत्यान्य– ३/३/९
तास्ववात्सीत् २/१०/११
तितिक्षतो ३/१/११
तितिक्षत्यक्रमं ४/१६/७
तितिक्षया करुणया ४/११/१३
तितिक्षया तपसा ४/२१/३७
तितिक्षया धरित्रीव ४/२२/५७
तितिक्षवः ३/२५/२१
तितिक्षुर्यतवाग् ४/२३/७
तितिक्षुर्वसु– १/१२/२२
तिरश्चामष्टमः ३/१०/२१
तिरस्कृता विप्र– १/१८/४८
तिरोभवित्री ३/२७/२३
तिरोहितं ४/९/२
तिर्यग्जना अपि २/७/४६

तिर्यङ्नगद्विज– ४/९/१३
तिर्यङ्नृपितृ– ३/११/२६
तिर्यङ्नृषिषु १/८/३०
तिर्यङ्मनुष्य– ३/९/१९
तिर्यङ्मानुष– ३/७/२७
तिष्ठंस्तयैव ४/७/२६
तिष्ठन् निषण्णं ३/२/२२
तिष्ठन् वनं २/७/२३
तिष्ठामहे ३/१८/११
तीर्थं सुदासस्य ३/१/२२
तीर्थपाद– ४/६/२४
तीर्थश्रवः श्रवण– २/७/१५
तीर्थानि क्षेत्र– १/१३/९
तीर्थीकुर्वन्ति १/१३/१०
तीर्थेन मूर्ध्न्य– ३/२८/२२
तीर्थेषु प्रति– ४/२६/६
तीव्रया मयि ३/२७/२१
तीव्रेण भक्तियोगेन २/३/१०, ३/२/४, ३/२५/४४
तुदन्त्यामत्वचं ३/३१/२७
तुभ्यं मद्विचिकित्सा– ३/९/३७
तुभ्यं हरेश्च ४/७/१३
तुभ्यञ्च नारद २/७/१९
तुर्ये धर्म– १/३/९
तुलयाम लवेनापि १/१८/१३, ४/३०/३४
तुल्यनामव्रताः ४/२४/१३
तुषिता नाम ४/१/८
तुष्टं निशाम्य २/९/४२
तुष्टस्य मय्य– ३/१६/८
तुष्टायां ४/१/६
तुष्टाव जन्यं १/९/३१
तुष्टाव तत्त्व– ३/३३/१
तुष्टुवुर्वरदा ४/२३/२३
तुष्टुवुर्मुनयो १/९/४७
तुष्टुवुर्हृष्ट– ४/२१/२५
तुष्टुवुस्तुष्ट– ४/१६/१
तुष्टोऽहमद्य ३/२३/६
तुष्यद्धृदः स्मित– ३/१६/११
तुष्यन्त्वदभ्र– ४/२२/४७
तृणपर्णादिभिः ४/८/७३
तृतीयञ्चानयन्मासं– ४/८/७४
तृतीयमृषिसर्गं १/३/८
तृप्ताममंस्त १/१५/११
तृप्तिदाय च ४/२४/३८
तृप्यन्ति तत्स्कन्ध– ४/३१/१४
तृषार्त्तोऽवगाढो ४/७/३५
तेऽचक्षताक्ष– ३/१५/३८
ते चण्डवेगा– ४/२७/१५
ते च ब्रह्मण ४/३०/४८
तेजः क्षतं ३/१६/२४
तेजसस्तु २/५/२८
तेजसा मणिना १/७/५६
तेजसो वृत्तयः ३/२६/४०
तेजस्त्वं तेजसः ३/२६/३९
तेजास्पदं मणि– १/१५/१४
तेजीयसामपि ३/१२/३१
तेजोगुण– ३/२६/४८
तेजोऽवन्नानि ४/२८/५७
तेजोवारि– १/१/१
तेजो विहस्य ३/१५/३०
तेजो हृतं १/१५/७

ते तु तज्जगृहू	३/२०/४६	तेऽपि विश्व-	४/२/३४
ते दुस्तराम्	२/७/४२	तेपुस्तपस्ते	३/३३/७
ते द्वे मुहूर्त्तः	३/११/८	तेपे तपो	३/९/१८
तेन क्रमानु-	४/२३/८	ते ब्रह्मविष्णु-	४/१/२६
तेन खेदयसे	२/५/७	तेभ्यः कः	४/१/२६
तेन नारायणो	२/१०/११	तेभ्यः परम-	१/१६/१६
तेन संभृत-	१/१२/३५	तेभ्यः सो-	३/२०/५०
तेन संसार-	३/२७/३	तेभ्यश्चैकैकशः	३/२०/५३
ते न स्मरन्ति	४/९/१२	तेभ्यो गन्धविदः	३/२९/२९
तेनात्मनात्मानम्	२/२/३१	तेभ्योऽग्नयः	४/१/६०
तेनात्मनापो-	२/२/२८	तेभ्योऽददात्	३/२०/४४
तेनाभिवन्दितः	४/११/३५	तेभ्यो दधार	४/१/६३
तेनावसृष्टः	३/३१/२३	तेभ्यो नमो	४/१७/३६
तेनाविकुण्ठ-	३/३१/१४	तेभ्यो विराजम्	३/७/२१
तेनाष्टलोक-	३/२३/३९	ते मय्यपेता-	१/५/२४
तेनास्य तादृशं	४/२९/६५	ते यद्यनुत्-	४/३/१६
तेनाहं गुण-	१/१६/३१	ते योगमायया	३/१६/१५
तेनाहमद्य	१/१५/१३	ते रुद्रगीतेन	४/३०/१
तेनाहृताः	१/१५/९	ते वयं नोदिताः	४/२४/७३
ते निनीयोदकं	१/८/२	ते वा अमुष्य	३/१५/४४
तेऽनेकजन्म-	३/९/१५	ते वै ब्रह्मणः	३/२०/१०
तेनेत्थमाहतः	३/१९/१६	ते वै ललाट-	४/१०/९
तेनेदमावृतं	२/६/१६	ते वै विदन्त्य-	२/७/४६
तेने ब्रह्म	१/१/१	तेषां दुरापं	४/२३/२७
तेनेश निर्वृतिम्	३/१५/५०	तेषां परानु-	३/५/३७
तेनैकमात्मानम्	४/३१/१८	तेषां प्रमत्तो	२/१/४
तेनैव तु मुनि-	३/१४/२	तेषां बहुपदाः	३/२९/३०
तेनैव मे दृशम्	३/९/२२	तेषां मैरेय-	३/४/२
तेनैव साकममृतं	३/३२/१०	तेषां विचरतां	४/३०/३७
तेऽपि चामुम्	४/१०/१०	तेषां श्रमः	३/५/४७
तेऽपि तन्मुख-	४/३१/२४	तेषां श्रमो	३/१३/१३

तेषां संस्थां ३/७/२७
तेषां सतां ३/१३/२८
तेषां सुपक्व- ३/१५/७
तेषामहं पाद- ४/२१/४३
तेषामापततां ४/४/३२
तेषामाविरभूत् ४/३०/४
तेषामितीरितम् ३/१५/३५
तेषामृते ३/५/१०
तेषु तद्रिक्थ- ४/२७/१०
तेषु यज्ञस्य २/६/२४
तेष्वशान्तेषु ३/३१/३४
ते साधुकृत- १/१५/४६
तेऽस्याभविष्यन्निति ४/१५/२४
तेऽहार्षुर्देवयन्तो ३/२०/२२
तैजसात्तु २/५/३१, ३/२६/२९
तैजसानीन्द्रियान्येव ३/५/३१
तैजसानीन्द्रियान्येव क्रियाज्ञान- ३/२६/३१
तैरद्यमानाः ४/५/१८
तैरलातायुधैः ४/४/३४
तैर्दर्शनीया- ३/२५/३६
तैस्तिग्मधारैः ४/११/४
तोकेन जीव- २/७/२७
तोदं मृषन्निरगादम्बु- ३/१८/६
तोयनीव्याः १/१५/३८
तोयादिभिः ३/२६/५२
तोषः प्रतोषः ४/१/७
तौ तु गीर्वाण- ३/१६/३३
त्यक्त्वा स्वधर्मं १/५/१७
त्यजन् कलेवरं १/९/२३
त्यजाश्वशैवं ३/१/१३
त्रयाणामपि ३/३३/३५
त्रयाणामेक- ४/७/५४
त्रयीं तनुं ३/१३/३६
त्रयीमयं द्रव्यमयं ४/१४/२१
त्रयीमयं रूपम् ३/१३/४३
त्रयीमयो धर्म- २/४/१९
त्रयी यथा ३/१/३३
त्रयोदशा- ४/१/४७
त्रयोदशाददात् ३/१४/१४
त्रयोदशारं ३/२१/१८
त्रयोविंशति- ३/६/२
त्रसरेणु- ३/११/६
त्रस्ता तदा ४/१७/१७
त्रात्वार्थितो २/९/७
त्राहि मामपि ४/१७/२८
त्रिःकृत्व इदम् ४/२३/३३
त्रिः श्रुत्वैतत् ४/८/५
त्रिःसप्तकृत्वः १/३/२०
त्रिःसप्तकृत्व उरु २/७/२२
त्रितयं तत्र २/१०/९
त्रित्वे हुत्वा १/१५/४२
त्रिभिः पवित्रैः ३/१३/२७
त्रिभिर्मुहूर्त्तैः ३/३०/२४
त्रिभुवन-कमनं १/९/३३
त्रिरात्रान्ते ४/८/७२
त्रिलोकीं देवयानेन ४/१२/३५
त्रिलोक्यां दह्यमानायां ३/११/३०
त्रिलोक्या युग- ३/११/२२
त्रिवर्गौपयिकं ४/१२/१४
त्रिष्टुम्मांसात् ३/१२/४५
त्रीनत्यरोच १/१६/३४

त्रैकालिकं	३/३१/१६	त्वचमस्य	३/६/१८
त्रैपिष्टपानाम्	१/११/७	त्वचि विलसत्	१/९/३४
त्रैपिष्टपोरु–	२/७/१४	त्वञ्च सम्यग्	३/२१/३०
त्रैमासिकस्य	२/७/२७	त्वत्तः सनातनो	३/१६/१८
त्रैवर्गिकास्ते	३/३२/१८	त्वत्पदैरङ्किता	१/८/३९
त्रैवर्गोऽर्थो	४/२२/३५	त्वत्पादभक्त्या	३/१९/३०
त्वं कर्मणां	४/६/४५	त्वदङ्घ्रिकामाप्त–	४/२५/२८
त्वं क्रतुस्त्वं	४/७/४५	त्वदङ्घ्रिमूलम्	४/३०/३२
त्वं खल्वोषधि–	४/१७/२४	त्वदाननं सुभ्रु	४/२५/३१
त्वं देवशक्त्यां	३/५/५०	त्वद्दत्तया	४/९/८
त्वं देहतन्त्रः	३/३३/५	त्वद्भ्रातर्युत्तमे	४/९/२३
त्वं नः सन्दर्शितो	१/१/२२	त्वन्माययाऽद्धा	४/२०/३१
त्वं नः सपत्नै–	३/१८/४	त्वन्माययार्थ–	४/७/४४
त्वं नः सुराणाम्	३/५/५०	त्वमग्रणी रुद्र	४/५/४
त्वं नः स्वचक्षुः	३/५/५१	त्वमप्यदभ्र–	१/५/४०
त्वं नित्यमुक्त–	४/९/१५	त्वमप्रमत्तः	४/२४/६६
त्वं पद्रथानां	३/१८/१२	त्वमव्यक्तगतिः	४/२७/२९
त्वं पर्यटन्नर्क–	१/५/७	त्वमात्मनात्मानम्	१/५/२१
त्वं पुरा गां	४/७/४६	त्वमाद्यः पुरुषः	१/७/२३
त्वं प्रत्यगात्मनि	४/११/३०	त्वमाविरासीः	३/२९/५
त्वं प्रायनीयो–	३/१३/३९	त्वमेक आद्यः	४/२४/६३
त्वं भक्तियोग–	३/९/११	त्वमेकः किल	३/२०/२७
त्वं लोकपालो	३/१७/२८	त्वमेकः सर्व–	३/१३/७
त्वं वा मृणाल–	१/१७/७	त्वमेको दह्य–	१/७/२२
त्वं सदस्यर्त्विजो	४/७/४५	त्वमेव क्लेशदः	३/२०/२७
त्वं सद्गुरु–	१/११/६	त्वमेव धर्मार्थ–	४/६/४४
त्वं हि मन्त्रः	४/७/४५	त्वमेव भगवन्नेतत्	४/६/४३
त्वं ह्रीर्भवान्यस्यथ	४/२५/२८	त्वमेव माताथ	१/११/६
त्वक्चर्म–	२/१०/३१	त्वमेवाद्य–	४/७/४२
त्वगस्य स्पर्श	२/६/४	त्वया खलु	१/१/६
त्वचं रोमभिः	३/२६/६५	त्वयात्मनोऽर्द्ध–	४/३/१४

त्वयानुसृष्टा– ३/५/४८
त्वयाभिपृष्ठे २/२/३२
त्वया मेऽपचितिः ३/२४/१२
त्वयावतीर्ण ३/२४/३४
त्वयाऽसमाप्तस्य ४/६/५०
त्वयाहं तोषितः २/९/१९
त्वयाहूता ४/१९/४२
त्वयि मे अनन्य– १/८/४२
त्वयि संस्थिते ३/१८/५
त्वयेरितो ३/७/२३
त्वयेव नाथेन ४/२१/४९
त्वयैव नाथेन मुहु– १/८/२३
त्वयैव लोके ४/६/४४
त्वयोदितं ४/३/१६
त्वयोपसृष्टो ४/२५/३०
त्वयेतदाश्चर्य– ४/३/११
त्वां दुःस्थ– १/१६/३५
त्वां योगमाया– ३/१८/४
त्वां वर्त्तमानं १/१७/३२
त्वां सूरिभिः ३/२४/३२
त्वां स्तब्धां ४/१७/२७
त्वाक्रम्य यत् १/७/१६
त्वामद्य याताः ४/१७/१०
त्वामृतेऽधीश ४/७/३६
त्वामेव धीराः ३/५/४७

द

दंष्ट्रया पद्मिनीं ४/७/४६
दंष्ट्राग्रकोट्या ३/१३/४२
दंष्ट्राग्रगां ३/१८/६
दंष्ट्रा यमः २/१/३१
दक्षं तत्पार्षदा ४/४/३१
दक्षं बभाष ४/७/४९
दक्षं सयज्ञं ४/५/४
दक्षादयः प्रजाध्यक्षा ४/२९/४२
दक्षादयो ये २/६/४३
दक्षाय ब्रह्म– ४/१/११
दक्षाय शापं ४/२/२०
दक्षायादात् ३/१२/५६
दक्षिणा दक्षिणः ४/२९/९
दक्षिणीकृत्य ३/२४/४१
दक्षिणेन १/१३/५१
दक्षिणेन पथा ३/३२/२०
दक्षेण सूत्रेण ४/६/४४
दक्षो गिरित्राय ४/२/१९
दक्षो गृहीता– ४/७/२५
दक्षोऽथाप ४/२/१७
दक्षो मम ४/३/२४
दग्धाशयो ४/२२/२७
दङ्क्ष्यति स्म १/१८/३७
दण्डयत्यात्मजमपि ४/१६/१३
दण्डव्रतधरे ४/१३/२२
दण्डस्त्वया मयि ४/७/१३
दण्डहस्तञ्च १/१७/१
दत्तं दुर्वाससं ४/१/१५
दत्तां सपर्यां ४/४/८
दत्ता बत मया ४/२/१६
दत्तोदकं ४/२३/२२
दत्तो मया– २/७/४
दत्त्वा तदन्तःपुरम् ३/३/६
ददर्श गां ३/१३/३२
ददर्श घोर– १/१४/२
ददर्श तत्राखिल– २/९/१४

ददर्श तत्राभिजितं ३/१८/२
ददर्श देवो ३/८/३२
ददर्श देहो ४/४/२७
ददर्श नवभिः ४/२५/१३
ददर्श पुरुषं १/१२/७
ददर्श मुनिम् ३/२१/४५
ददर्श मुनिमासीनं १/१८/२५
ददर्श लोके ४/१३/७
ददर्श हिमवत् ४/१०/५
ददर्शात्मनि ४/१२/११
ददामि यत्तद्- ३/४/११
ददार करजै- १/३/१८
ददाह तां ४/२८/११
ददृशुः शिवम् ४/६/३३
ददृशुस्तत्र ते ४/६/२३
ददृशे येन २/८/९
दधार गात्रेष्वनिला- ४/४/२६
दधार मूर्ध्ना ४/३१/२८
दधार वर्षाणि ३/१५/१
दध्मौ दरवरं १/११/१
दध्मौ शङ्खं ४/१०/६
दध्यञ्चमश्व- ४/१/४१
दध्यौ प्रमदया ४/२८/१७
दध्यौ मुकुन्दाङ्घ्रि- १/१९/७
दध्यौ स्वयं ३/३३/२
दध्रे कमठ- १/३/१६
दन्तैर्विडम्बित- २/७/२५
दन्दह्यमानं २/२/२६
दम्पत्योः पर्यदात् ३/२२/२३
दयया सर्वभूतेषु ४/३१/१९
दयालुः शालिनीमाह ३/२४/१
दर्शनं ते ४/७/४७
दर्शनं नो ४/२४/४४
दर्शनस्पर्शनालाप- १/१०/१२
दर्शनीयतमं ३/२८/१६, ४/८/४९
दर्शयन्नात्मनो १/१५/४३
दर्शयन् वर्त्म १/३/१३
दर्शयामास तत् ३/२१/८
दर्शयामासतुर्देवीं ४/१२/३३
दर्शितः कृपया ४/८/३५
दर्शितस्तमसः ४/३१/२९
दर्शितात्मगतिः ४/२२/४१
दशचन्द्रमसिं ४/१५/१७
दशत्वलं १/१९/१५
दशमस्य विशुद्ध्यार्थं २/१०/२
दश वर्षसहस्राणि ४/२४/१४
दशवर्षसहस्रान्ते ४/३०/४
दशाहेन तु ३/३१/२
दशैते विदुर- ३/१०/२९
दशोत्तराधिकैः ३/११/४१
दस्युभ्यः क्षत्र- ४/२८/४८
दहत्यवीर्यं ४/२२/२६
दहत्वभद्रस्य १/१९/३
दह्यमानाः प्रजाः १/७/३१
दह्यमानेऽग्निभिः १/१३/५८
दाक्षायणीत्याह ४/४/२३
दातुं सकृष्णा १/८/१
दात्यूहहंस ३/१५/१८
दाध्मायमानः १/११/२
दानधर्मान् १/९/२७
दानस्य तपसो ३/७/३४
दानेन चोग्रतपसा ३/९/१३

दान्तेऽधृत– १/५/२४
दाराद्विसृष्टं १/१९/१३
दारुणान् शंसतो १/१४/१०
दारुण्युभयतो ४/१४/८
दारैः संयोजयामास ४/२७/८
दावाग्निना दाव– ४/८/१६
दावाग्निना शुचिवने २/७/२९
दाशार्हकाणाम् ३/१/२९
दास्याः सुतं ३/१/१५
दास्याश्च कस्या– १/५/२३
दिगम्बरं वक्र– १/१९/२७
दिग्देशकाला– १/६/८
दिग्भ्यो निपेतुः ३/१९/१८
दिग्भ्योऽहरन् १/१५/८
दिग्वल्कलादौ २/२/४
दिग्वातार्क– २/५/३०
दिग्वामराति– ३/२८/२८
दिग्वाससो मुक्त– ३/२०/४०
दिग्वाससो यातु– ३/१९/२०
दितिर्दाक्षायणी ३/१४/८
दितिस्तु भर्त्तु– ३/१७/२
दितिस्तु व्रीडिता ३/१४/३३
दितेर्जठर– ३/१६/३५
दिदृक्षुरागाद् ३/१८/२०
दिदृक्षुस्तत्– १/६/२०
दिनक्षये व्यतीपाते ४/१२/४९
दिवा चार्थेहया २/१/३
दिवानिशं ४/३/१९
दिवा निशेति ४/२७/३
दिवि भुव्यन्तरिक्षे ३/१७/३
दिविस्पृशौ हेम– ३/१७/१७
दिव्यं विचित्र– ३/१५/२६
दिव्यं सहस्राब्दम् २/९/८
दिव्यवर्षसहस्राणां ४/३०/१७
दिव्यवाद्यन्त ४/१/५२
दिव्याः स्तुवन्ति २/७/८
दिव्यान् नरैः ३/२३/८
दिव्यैर्द्वादशभिः ३/११/१८
दिव्योपस्करणो– ३/२३/१४
दिशं प्रतीचीं ४/२४/१९
दिशस्तिमिरयन् ३/१५/१०
दिशो विजित्या– ४/१६/२७
दिष्ट्यागतोऽसि ४/२५/३६
दिष्ट्या त्वया– ३/२२/७
दिष्ट्या त्वां ३/१८/२७
दिष्ट्या ददृश्वान् ३/४/१२
दिष्ट्या पादरजः ३/२२/६
दिष्ट्या मे भगवान् ३/२२/६
दिष्ट्या हतोऽयं ३/१९/३०
दिष्ट्येदृशी ४/२०/३२
दीक्षानुजन्म– ३/१३/३९
दीक्षिता ब्रह्म– ४/३१/२
दीनस्तदीश ३/२३/११
दीना दिदृक्षे ४/३/११
दीयमानं न ३/२९/१३
दीर्घं दध्यौ ४/१७/१२
दीर्घं श्वसन्ती ४/८/१७
दुःखच्छिदं ते ४/८/२३
दुःखहानिः ४/२५/४
दुःखेष्वेकतरेणापि ४/२९/३२
दुःखोदर्कान् ४/२९/२८
दुकूलक्षौम– ३/२३/१५

दुकूले निर्मले ३/२३/२८
दुग्धा वसूनि २/७/९
दुग्धोमामोषधी– १/३/१४
दुनोति चेतः ३/२/१७
दुनोति दीनां ३/१४/१०
दुरत्यं व्यसनं १/१९/२
दुरन्तचिन्ताम् ४/२८/८
दुरन्त–दुःख– २/२/२७
दुरन्तभावाः १/११/३२
दुरन्तयाऽस्पष्ट– ४/६/४९
दुरन्तया स्पृष्ट– ४/६/४८
दुरन्तवीर्यस्य १/३/३८
दुरन्तसर्गो २/१/३१
दुरापा ह्यल्प– ३/७/२०
दुराशयः काम– ३/२१/१५
दुरासदो दुर्विषह ४/१६/११
दुरुक्तौ कलि– ४/८/४
दुर्गाश्रयोऽथ ३/४/१६
दुर्दर्शनं देव ३/१३/३७
दुर्धर्षस्तेजसेवाग्निः ४/२२/५६
दुर्बलान् बलिनो १/१५/२५
दुर्भगांश्च १/४/१८
दुर्भगो बत ३/२/८
दुर्योधनोऽतप्यत ३/१/३६
दुर्लभो मुनयो ४/२४/१७
दुर्वाससो– १/१५/११
दुर्वासाः ४/१/३२
दुर्विभाव्यमिवाभाति २/४/८
दुर्विभाव्यां ३/२८/४४
दुष्टेषु राजसु २/७/२०
दुहितृत्वे चकार ४/१८/२८
दुहितृः पुत्र– ४/२८/१६
दुहितृर्दशोत्तर– ४/२७/७
दूरे बन्धुः १/१६/२०
दूरेयमा ह्युपरि– ३/१५/२५
दूरे सुहृन्मथित– २/७/२४
दृग्भ्यां प्रपश्यन् ४/९/३
दृढं प्रलब्धो ३/१७/२९
दृढव्रतः सत्यसन्धो ४/१६/१६
दृढा रतिर्ब्रह्मणि ४/२२/२१
दृप्तो हृष्टः ४/२६/१३
दृशो नृणां ३/१/४२
दृश्यते यत्र १/४/२९
दृश्यतेऽसन्नपि ३/७/११
दृश्याददभ्र– ४/१/५६
दृशादिभिः पृथक् ३/३२/२६
दृशैर्बुद्ध्यादिभिः २/२/३५
दृष्टः किं नो ४/७/३७
दृष्टश्रुतान्मद्– ३/२५/२६
दृष्टाः श्रुता १/१३/११
दृष्टात्मनो भगवतो २/७/६
दृष्टा भवद्भि– ३/२/१९
दृष्टा योगाः ४/१८/३
दृष्टासु सम्पत्सु ४/२०/१२
दृष्टिं प्रपश्य ३/२३/७
दृष्टोऽङ्गुष्ठ– ३/१३/२४
दृष्ट्यार्द्रया स ४/७/१५
दृष्ट्वा खे ३/२१/११
दृष्ट्वा तच्छौकरं ३/१३/२२
दृष्ट्वात्मानं ४/२३/१
दृष्ट्वा निपतितं १/९/४
दृष्ट्वानुयान्तम् १/४/५

दृष्ट्वान्यांश्च	३/१७/१५
दृष्ट्वा पापीयसीं	३/१२/३
दृष्ट्वाभ्युपायानपि	४/१२/४१
दृष्ट्वा संज्ञपनं	४/५/२४
दृष्ट्वा सुनाभो–	३/३/६
दृष्ट्वास्त्रतेजस्तु	१/७/३१
दृष्ट्वा स्वनिलयाभ्यासे	४/३/७
देदीप्यमानेऽजित–	४/२१/३७
देवं गुहं	३/१/३०
देवः क्षिणोत्ववनता–	४/१०/३०
देवकुल्यां हरेः	४/१/१४
देवक्यां वसुदेवस्य	१/१/१२
देव क्रियार्थे	३/५/५१
देवताः प्रभया	३/२०/२२
देवतानुक्रमः	२/६/२६
देवदत्ताम्	१/६/३३
देवदेव जगत्–	३/१५/४
देवदेव नमस्ते	२/५/१
देवद्विषां	२/७/३७
देवमायाभिभूतानां	४/७/२
देवर्षिः परिपप्रच्छ	२/९/४२
देवर्षिः प्राह	१/५/१
देवर्षिपितृ–	४/२०/३५
देवर्षिर्नारदः	१/९/१९
देवर्षिवर्यमुख–	४/२९/८४
देवव्रतो वलिरमूर्त्त–	२/७/४४
देवसर्गश्चाष्ट–	३/१०/२८
देवस्तानाह	३/२०/२१
देवस्त्रिभिः	३/१४/२५
देवस्य मायया	३/२/१०
देवहूतिमदात्	४/१/१०
देवहूत्यपि	३/२४/५
देवहूर्नाम	४/२५/५१
देवाः प्रकृत–	४/७/४
देवानां गुण–	३/२५/३२
देवानां भग्न–	४/६/५२
देवानृषीन् पितॄन्	१/१६/३२
देवान् पितॄन्	४/२७/११
देवा ब्रह्मादयः	४/१/५४
देवावचक्षत	३/१५/२७
देवासुरादयो	३/१०/३२
देवीं मायान्तु	२/३/३
देवीं सरस्वतीं	१/२/४
देवेऽभिवर्षति	२/७/३२
देवेऽवर्षत्यसौ	४/१६/८
देवोऽदेवान्	३/२०/२३
देवो मनुष्यः	४/२९/२९
देव्यस्त्वनङ्ग–	२/७/६
देव्यो ह्रिया	१/४/५
देशकालार्थ–	१/१५/२७
देशतः कालतो	३/७/५
देशीनीं रोदमानाया	४/३०/१४
देशे च काले	२/२/१५
देहं विपन्ना–	४/२३/२१
देहञ्च तं	३/२८/३७
देहन्यासञ्च	३/४/३४
देहापत्य–	२/१/४
देहिनामात्मवत्	४/१६/१८
देहेन जीव–	३/३१/४३
देहेन लोक–	३/८/२५
देहेन वै	३/२०/४७
देहेन्द्रियासु धिषणा–	४/२२/३७

देहे भवन्ति ४/१४/२७
देहे स्वधातु– २/७/४९
देहोद्भवेना– ४/४/२२
देहोऽपि दैव– ३/२८/३८
देहो रथ– ४/२९/१८
देह्यन्यदेह– ३/३१/१७
दैतेया दानवा ४/१८/१६
दैत्यराजस्य च ३/१४/३
दैत्यस्य यज्ञा– ३/१८/२०
दैत्येन्द्रमाशु २/७/१४
दैत्येन्द्रसिद्धेश्वर– २/६/४४
दैवगुप्तं ३/३३/२९
दैवतानि रुदन्ति १/१४/२०
दैवमन्येऽपरे १/१७/१९
दैवात् क्षुभित– ३/२६/१९
दैवादपेतमथ ३/२८/३७
दैवाद्गरीयसः ३/२३/४
दैवाधीनेषु ३/३/२३
दैवाल्लब्धेन ३/२८/२
दैवाहतार्थ– ३/९/१०
दैवीं परिज्ञात– ४/९/५
दैवीं मायाम् ४/९/३३
दैवेन ते ३/९/७
दैवेन दुर्वितर्क्येण ३/२०/१२
दैवेनाप्रति– १/१२/१६
दैवेनासादितं ३/३०/३२
दैवोपसादितं ४/८/२९
दैवोपसादितं मृत्युं ३/३१/४२
दोग्धारञ्च ४/१८/१०
दोग्धि स्माभीप्सिता– ४/१९/७
दोर्दण्डषण्ड– ३/१५/४१
दोर्भिश्चतुर्भि– ३/४/७
दोषान् परेषां ४/४/१२
दोहवत्सादि– ४/१८/२७
दौर्भाग्ये नात्मनो ४/२७/२०
दौष्कुल्यमाधिं १/१८/१८
दौहित्रादीनृते ४/२१/३०
द्युभिर्हत– ३/८/२३
द्यूतं पानं १/१७/३८
दूते त्वधर्मेण ३/१/८
द्योतनं पचनं ३/२६/४०
द्यौः क्षितिः ४/१५/१२
द्यौरक्षिणी २/१/३०
द्यौर्नष्टभगणा– ३/१९/१९
द्रक्ष्यन्त्यघक्षत– ३/१६/१०
द्रक्ष्ये चिरोत्कण्ठ– ४/३/१०
द्रव्यं कर्म च २/५/१४,
२/१०/१२
द्रव्यं विकारो २/६/४२
द्रव्यक्रियाकारक– ४/१७/२९, ३३;
४/२०/१२
द्रव्यक्रियाज्ञान– ४/३१/१६
द्रव्यक्रियादेवतानां ४/१२/१०
द्रव्यशक्ति–क्रिया– २/५/२४
द्रव्यस्फुरण– ३/२६/२९
द्रव्याकृतित्वं ३/२६/२९
द्रव्यात्मकः २/१/३७
द्रव्याय सर्व– ३/१३/४१
द्रव्यावयव– ३/२६/४५
द्रव्योपलब्धि– ३/३१/४५
द्रष्टासि मां ३/९/३१
द्रष्टासि सिद्धान् ४/२०/१५

द्रष्टा स्थिता– ४/९/१५
द्रष्टा स्फुरत्– ३/१४/५०
द्रष्टुं यतन्ते ३/२४/२८
द्रुमजातिभि– ४/६/१८
द्रुमैः कामदुघैः ४/६/२८
द्रुह्यत्यज्ञः ४/२/२१
द्रोणीष्वनङ्ग– ३/२३/३९
द्रोण्यस्त्रतश्चास्म १/८/२४
द्रौपदी च १/१५/५०
द्वन्द्वं नखारुण– ३/१५/४४
द्वन्द्वश्वभ्रे ४/७/२८
द्वयं तथा ब्रह्मणि ४/४/२०
द्वयं ह्यविद्योपसृतं ४/२९/३४
द्वयोरप्येक ३/३२/३२
द्वाःस्थावादिश्य ३/१६/३२
द्वादशार्द्धपल– ३/११/९
द्वापरे सम– १/४/१४
द्वारं निरुध्या– ४/८/८०
द्वारि द्युनद्या ३/५/१
द्वारि द्वारि १/११/१५
द्वार्भिः प्रविश्य ४/२८/४
द्वार्येतयो ३/१५/२९
द्वार्षु विद्रुम– ३/२३/१८
द्वाविमावनु– ४/२७/२६
द्विकर्मचक्र– ४/२९/१८
द्विजोपसृष्टः १/१९/१५
द्वितीयञ्च तथा ४/८/७३
द्वितीयन्तु भवायास्य १/३/७
द्वितीययात्मन् ३/२१/१९
द्वितीयस्त्वहमो ३/१०/१५
द्विधाभूतम् ४/२८/६३
द्विपदपतीन् ४/३१/२२
द्विपरार्द्धाव– ३/३२/८
द्विविधातुश्चर्विधाः २/१०/३९
द्विशफाः ३/१०/२२
द्विषतः परकाये ३/२९/२३
द्वीषं द्विचक्रम् ४/२६/१
द्वे जानुनी २/१/२७
द्वे द्वे द्वारौ ४/२९/८
द्वेष्यश्च यस्मिन् १/८/२९
द्वैपायनसखः ३/२५/४
द्वैपायनादनवरो ३/२०/३
द्वैपायनादि– १/८/७
द्वैपायनो भगवान् १/१९/१०
द्वैपायनो विरह– १/२/२
द्वौ तावृतुः ३/११/११

ध

धत्ते भगं १/१०/२५
धनं प्रहीणम् १/१२/३४
धनुर्द्वितीयः ३/१/४०
धनुर्विस्फूर्जयन् ४/१०/१६
धन्यं यशस्यं ३/१९/३८
धन्यं यशस्यमायुष्यं पुण्यं ४/१२/४५
धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं ४/२३/३४
धन्यार्पिताङ्घ्रि– ३/१६/२०
धन्वन्तरिश्च भगवान् २/७/२१
धन्विनामग्र– १/१२/२१
धरां रजःस्वभावेन ३/६/२८
धर्त्तोच्छिलीन्ध्रमिव २/७/३२
धर्म आचारितः ४/१४/१५

धर्म इत्युपधर्मेषु ४/१९/२५
धर्म एव मतिं ४/७/५७
धर्मं जनानां ४/१९/३७
धर्मं प्रवदतः १/९/२९
धर्मं ब्रवीषि १/१७/२२
धर्मः पदैकेन १/१६/१९
धर्मः प्रोज्झित- १/१/२
धर्मः स्तनाद्- ३/१२/२५
धर्म- स्तनोऽधर्म- २/१/३२
धर्मः स्वनुष्ठितः १/२/८
धर्मज्ञान् शील- ४/२४/२६
धर्मपालो नरपतिः १/१८/४६
धर्मप्रधानो- ४/२०/१५
धर्मराडिव ४/२२/५८
धर्मव्यतिकरो ४/१९/३५
धर्मश्चतुष्पान् ३/११/२१
धर्मस्य ते भगवतः ३/१६/२२
धर्मस्य दक्ष- २/७/६
धर्मस्य परमो ३/१६/१८
धर्मस्य पादा- ३/१२/३५
धर्मस्य मम २/६/१२
धर्मस्य ह्यनिमित्तस्य ३/१०/९
धर्मस्य ह्यप- १/२/९
धर्मार्थ उत्तमः- २/३/८
धर्मार्थकाममोक्षांश्च १/९/२८
धर्मार्थकाममोक्षाख्यं ४/८/४१
धर्मार्थकाममोक्षाणां ३/७/३२
धर्मार्थकाममोक्षाणां यद- ४/२२/३४
धर्मार्थकाममोक्षाणां स- ४/२३/३५
धर्मावितर्य- ४/४/१७
धर्मेण धर्मः ३/१/३६
धर्मेण सत्येन १/१७/३३
धर्मेणोभय- ३/३२/३५
धर्मोऽग्निः ४/९/२१
धर्मोपलक्षण- ४/७/२७
धर्मोऽर्पितः ३/९/१३
धर्मो ह्यत्रार्थ- ४/२५/३९
धर्म्यं न्यायं १/७/४९
धातर्यदस्मिन् ३/५/४०
धातारञ्च ४/१/४२
धात्रा यतोऽयं ४/१७/३०
धान्वन्तरं १/३/१७
धाम्ना स्वेन १/१/१
धावन्ती तत्र ४/१७/१६
धियां पतिर्लोक- २/४/२०
धिया निगृह्यमाणो ३/१२/७
धियानुपश्यन्ति २/४/२१
धियाभिनन्द्य ३/२५/१२
धिया विशुद्धया ४/७/१८
धियोपगृह्णन् ३/२२/२१
धियोऽवतस्थुः ३/२/१४
धीर्धृती रस- ३/१२/१३
धुनोति शमलं २/८/५
धुनोत्यघं ४/७/६१
धुन्धुर्यानक- १/१०/१५
धूम्रा दिशः १/१४/१५
धृतरथचरणो १/९/३७
धृतराष्ट्रः सह १/१३/५१
धृतराष्ट्रो १/१३/३
धृतव्रतासि भद्रं ३/२४/३
धृतव्रतेन १/४/२८
धृतहयरश्मिनि १/९/३९

धृत्या बलिसमः १/१२/२५
धोक्ष्ये क्षीरमयान् ४/१८/९
धौतात्मा पुरुषः २/८/६
ध्यातुर्मनः– ३/२८/२२
ध्यानाद्भवज्जन– ४/९/१०
ध्यानायनं ३/२८/३३
ध्यानास्पदं ३/१५/४५
ध्याने स्म नो ३/९/४
ध्यायंस्तद्व्यवहितो ४/१२/१७
ध्यायतश्चरण– १/६/१७
ध्यायती भगवद् ३/३३/२३
ध्यायते ब्रह्म २/९/४४
ध्यायतो विषयानस्य ३/२७/४, ४/२९/७३
ध्यायन् गते ३/४/३५
ध्यायन् जजाप ३/१४/३२
ध्यायन्ति लिङ्गाद् ३/१९/२८
ध्यायन् ब्रह्म ४/८/७६
ध्यायन् भगवतो ४/८/७७
ध्यायेच्चिरं ३/२८/२२, ३१
ध्यायेत् स्वदह्– ३/२८/३३
ध्यायेदेवं ३/२८/१८
ध्यायेद्द्वयं ३/२८/२५
ध्यायेन्मनोमयम् ३/२८/३०
ध्रुवं गमिष्यन्ति ४/३/९
ध्रुवं ततो मे १/१९/२
ध्रुवं निवृत्तं ४/१२/१
ध्रुवस्य चोत्कलः ४/१३/६
ध्रुवस्य विख्यात– ४/१२/५२
ध्रुवस्य वैकुण्ठपदा– ४/१३/१
ध्रुवस्योद्दाम– ४/१२/४४
ध्रुवाणि मन्यते ३/३०/३
ध्रुवाय पथि ४/९/५८
ध्रुवे प्रयुक्ताम् ४/१०/२९
ध्रुवो भ्रातृवधं ४/१०/४
ध्रुवो महाभागवतो ४/१२/८
ध्वस्तमाया– १/१३/५६

न

नः स्वस्ति यास्य– ३/१८/३
न करोति हरेः ४/२९/४१
न कर्मभिस्तां २/२/२३
न कर्हिचित् क्वापि १/५/१४
न कर्हिचिन्मत्पराः ३/२५/३८
न कश्चिन्म्रियते १/१६/८
न कामये नाथ ४/२०/२४
न कालरंहो ४/२७/३
न किञ्चनोवाच ४/२०/२१
न कुर्यात् कर्हिचित् ४/२२/३४
नकुलः सहदेवश्च १/७/५०
न खद्युभिर्न्नो– ४/२४/५२
नखलोमास्थि– ३/३१/३
न खादन्ति २/३/१८
न गृहीतो मया ४/८/११
न घटेतार्थ– २/९/१
नङ्क्ष्यन्ति नो ३/२५/३८
न चातितृप्तो ३/१४/१
न चापश्यत् १/१३/३१
न चाबुध्यत ३/२३/४५
न चार्पितं १/५/१२
न चास्य कश्चिद्दयितो ३/२९/३९
न चास्य कश्चिन्निपुनेन १/३/३७
न चैते पुत्रक ४/११/२४

न चोपगायत्युरु– २/३/२०
न जातु कौरवेन्द्रानां १/१७/८
न जातु मर्त्त्यो– २/३/२३
न जात्वपैत्या– १/१०/३०
न जानामि ४/२५/५
न ज्ञायते भगवतो ३/९/१
न ज्ञायते मोहित– ४/१७/३६
न ज्वलत्यग्नि– १/१४/१८
नटनर्त्तक– १/११/२०
न तथा वासुदेवस्य १/५/९
न तथास्य ३/३१/३५
न तथैतर्हि ४/२६/१५
नताः स्म ते १/११/५
न तानि पुंसाम् ३/१/९
न तीर्थपद– ३/२३/५६
न ते गुडाकेश– १/१७/३१
न तेऽजराक्षभ्रमि– ३/२१/१८
न तेषां विद्यते ४/२२/३६
न तैः सुखं ३/५/२
नतोऽस्म्यहं २/६/३६
न त्यजेनम्रियमाणः ४/२९/७६
न त्वं द्विजोत्तम– ३/१६/२३
न त्वं विदर्भ– ४/२८/६०
नत्वा गिरा १/१९/३१
नत्वा दिविस्था– ४/२३/२२
नत्वा दिष्टाय ३/१४/३१
न दत्तमुक्तं १/१४/४०
नदत्सु यातुधानेषु ४/१०/१५
नदत्स्वमर– ४/२३/२४
नदद्विहङ्गा– ४/२५/१७
नदन् प्रहत्यान्त– ३/१९/१६
नद्यः समुद्राश्च २/१०/२९
नद्यस्ततः ३/२६/५९
नद्यो नदाश्च १/१४/१८
नद्योऽस्य २/१/३३
न धारयिष्ये ४/४/१८
ननाम तत्रार्द्ध– ४/८/७९
ननाम नामानि ४/१२/२१
ननाम पादाम्बुजमस्य २/९/१७
ननाम मातरौ ४/९/४५
न निष्क्रामति ४/७/३५
ननु ते तत्त्व– ३/४/२६
न नौ पश्यन्ति ४/२८/६२
नन्दगोपकुमाराय १/८/२१
नन्दञ्च मोक्ष्यति २/७/३१
नन्दयामास ३/३/१६
नन्दा चालकनन्दा ४/६/२४
नन्दीश्वरो रोष– ४/२/२०
नन्वञ्जसा सूरिभिः ३/१३/४
नन्वन्यथा को ३/१/४४
नन्वप्रियं १/१३/१३
नन्वेकस्या– ४/११/९
नन्वेष सत्त्वं १/१०/२३
न पतिस्त्वं ४/२८/६०
न परं विन्दते ४/२५/६
न पश्यामि ३/२९/३३
न पिबन्ति १/१४/१९
न पौर्वापर्यम् ३/१०/३१
नप्तृत्रिगर्त्त– १/१५/१६
न प्रत्यषेधन्मृत– ४/४/३०
न प्राहरन् १/१५/१७
न बध्यो भवताम् ४/१९/३०

न बुधस्तद्वशं	४/११/३२	न मन्यते तस्य	१/५/१५
न ब्रह्मदण्ड–	३/१४/४३	न मन्यते स्वयम्	४/७/३४
न ब्रह्मबन्धुषु	४/७/१३	न मय्यनाशिते	४/२८/१९
नभः पतन्त्यात्म–	१/१८/२३	नमस्कृतं	२/२/२५
न भजति कुमनीषिणां	४/३१/२१	नमस्कृतः प्राह	४/६/४१
न भजति निजभृत्य–	४/३१/२२	नमस्त आशिषामीश	४/२४/४२
न भर्त्तुनात्मन–	१/७/५१	नमस्तस्मै भगवते	२/४/२४
न भवानवधीद्–	४/१२/३	नमस्ते श्रितसत्त्वाय	४/७/४०
नभसः शब्द–	३/२६/३५	नमस्त्रैलोक्य–	४/२४/३९
नभसोऽथ	२/५/२६	नमस्ये पुरुष–	१/८/१८
नभसोऽनुसृतं	३/५/३३	नमाम ते देव	३/५/३९
नभस्तलं नाभिसरो	२/१/२७	नमामि सद्धर्म–	३/२५/११
नभस्वतो दिक्षु	४/१०/२२	नमाम्यभीक्ष्नं	३/२१/२१
न भारती मेऽङ्ग	२/६/३४	न मायिनां वेद	४/१०/२१
नभोगुण–	३/२६/४७	न मुञ्चस्यात्मरुद्धानि	४/१७/२४
नभोविमानैः	४/३/१२	न मुह्यन्ति	४/३०/२०
नम ऊर्ज	४/२४/३८	न मृत्युपाशैः	३/१८/१०
नमः कमलकिञ्जल्क–	४/३०/२६	न मे गर्भमिमं	३/१४/३४
नमः कमलनाभाय	४/३०/२५	न मेऽसवः	२/८/२६
नमः कमलपादाय	४/३०/२५	न मे स्यान्निरया–	१/८/४९
नमः पङ्कजनाभाय	१/८/२२	न मे हृषीकाणि	२/६/३४
नमः पङ्कजनाभाय भूत–	४/२४/३४	नमोऽकिञ्चन–	१/८/२७
नमः पङ्कजनेत्राय	१/८/२२	नमो जगत्स्थान–	४/३०/२३
नमः परमहंसाय	४/२४/३६	नमोऽधर्म–	४/२४/४१
नमः परस्मै पुरुषाय	२/४/१२, ४/१७/२९, ३३	नमो धर्माय	४/२४/४२
		नमो नमः क्लेश–	४/३०/२२
नमः पुण्याय	४/२४/४०	नमो नमस्ते	२/४/१४
नमः समाय	४/३०/४२	नमो नमस्तेऽखिलमन्त्र	३/१३/४१
नमः स्वरूपानुभवेन	४/१७/२९	नमो नमस्तेऽखिलयज्ञ–	३/१९/३०
न मद्भागवतानाञ्च	४/२४/३०	नमो नमोऽनिरुद्धाय	४/२४/३६
नमन्ति यत्–	१/४/११	नमो रुद्राय	३/१४/३५

नमो विज्ञानवीर्याय ३/१५/५
नमो विशुद्धसत्त्वाय ४/२१/५२
नमो विशुद्धसत्त्वाय हरये ४/३०/२४
नमो विश्व– ४/२४/३५
नमो हिरण्यवीर्याय ४/२४/३७
न यं विदन्ति २/६/३८
नयतो दीर्घम् ३/३०/२०
न यत्कर्णपथोपेतो २/३/१९
न यत्र कालः १/११/५
न यत्र कालोऽनिमिषां २/२/१७
न यत्र भागं ४/६/५०
न यत्र भूयः १/३/३९
न यत्र माया २/९/१०
न यत्र युष्मत् ४/२०/२४
न यत्र शोको २/२/२७
न यत्र सत्त्वं २/२/१७
न यत्र हंसा १/५/१०
न यदा रथम् ३/२१/५२
न यद्वचश्चित्र– १/५/१०
न यष्टव्यं न ४/१४/६
न यस्य कश्चित् १/८/२९
न यस्य चित्तं ४/२४/५९
न यस्य लोके ३/१४/२६
न यस्य लोकेऽस्तति– ४/४/११
न याचतोऽदात् ३/१/८
न यावदेष ३/१८/२४
न यावन्महतां ४/११/३४
न युज्यतेऽत्रान्य– ४/१९/२७
न युज्यते स– १/११/३८
न युज्यमानया ३/२५/१९
नरकस्थोऽपि देहं ३/३०/५
नरदेवत्वमा– १/३/२२
नरदेवेह भवतो ४/१३/३१
नरदेवोऽसि १/१७/५
नरनाथ न ४/२६/१७
नर्माण्युदार– १/१५/१८
न लक्ष्यते यः ४/१७/३२
न लक्ष्यते हि १/१९/३९
न लक्ष्यसे १/८/१९
न लभ्यते यद्– १/५/१८
नलवेणुशर– १/६/१३
नलिनी नालिनी ४/२५/४८
नलिनी नालिनी नासे ४/२९/११
नलिनीषु कलं ४/६/१९
न लोलुपाय ३/३२/४०
न वत्स नृपतेः ४/८/११
नवद्वारं ४/२९/४
न वयं क्लेश– १/१७/१८
न वयं प्रभव– ३/१४/२१
न वयं भगवन् ३/१६/१६
न वर्त्तितव्यं तदधर्म– १/१७/३३
न वर्त्तितव्यं भवता १/१७/३१
न वा इदं १/१९/२०
न वामदेवः २/६/३७
न वारयामास ३/१/७
न विक्रियन्ते ४/२०/१२
न विक्रेयेताथ २/३/२४
न विगृह्णाति ३/३२/२४
न विदाम वयं ४/२५/३३
न विदामेह ४/१३/२८
न विदुर्मृगयन्तो– ४/८/३१

न विस्मयोऽसौ ३/१३/४५
न वृणीत प्रियं ४/२५/४१
न वेद कश्चिद् १/८/२९
न वेदवादान् ४/४/१९
न वै क्वचिन्मे २/६/३४
न वै चिकीर्षितं ४/११/२३
न वै जनो १/५/१९
न वै जातु ३/२१/२४
न वै तथा ४/२१/४१
न वै नृभिः १/१८/४२
न वै मुकुन्दस्य ४/९/३६
न वै विकारो २/२/१७
न वै सतां ४/६/४६
न वै स्वपक्षोऽस्य ४/११/२०
न व्यचष्ट ४/२६/१३
न व्यथन्ति १/१८/५०
नव्यवद्धृदये ४/३०/२०
न शक्नुमस्तत्– ३/५/४८
न श्रृण्वतः २/३/२०
न शेके सः ४/२८/१४
न शोभते ज्ञानमलं १/५/१२
नश्यत्यमुं ४/२१/४३
न श्रीर्विरक्तमपि ३/१६/७
नष्टप्रज्ञो ४/२८/६
नष्टप्रायेष्वभद्रेषु १/२/१८
नष्ट शौचा ४/२/२९
नष्टस्मृतिः पुनरयं ३/३१/१५
नष्टां स्मृतिं २/२/१
नष्टेऽहङ्करणे ३/२७/१५
न संसृतिं ४/२१/३२
न सन्देहो १/१२/१७
न सन्मुमोहोरु– १/१८/२
न सरति ४/३१/२०
न सस्मार ३/३३/२७
न साधवो दैव– ४/६/४८
न साधु मेने ४/२५/१२
न सेहिरे १/१०/१०
न स्तब्धाय ३/३२/३९
न स्यात् कृत– ४/२०/३७
न ह्यतोऽन्यः २/२/३३
न ह्यन्तरं ३/१५/३३
न ह्यन्तो त्वद्– ४/३०/३१
न ह्यल्पार्थोदय– ३/१/४
न ह्यव्यक्तं ३/१५/३
न ह्यस्य कर्हिचित् १/९/१६
न ह्यस्य वर्ष्मणः ३/२५/२
न ह्यस्यान्य १/७/२८
न ह्येधन्ते ३/१२/५०
न ह्येष व्यवधात् १/६/४
नाकम्पत मनाक् ३/१९/१६
नागच्छन्त्याहुता ४/१३/३०
नाघं प्रजेश ४/७/२
नाङ्गस्य वंशो ४/१४/४२
नाजग्मुर्देवताः ४/१३/२५
नाज्यते प्रकृति– ४/२०/८
नाट्यं सुगीतं ४/१५/१९
नाडीर्नद्यो ३/२६/६७
नाडीभिरन्तः– ३/८/१९
नाड्यो नद– २/६/१०
नाड्योऽस्य ३/२६/५९
नातः परं परम ३/९/३
नातः परं परम वेद्मि ४/९/१३

नातः परं लोक–	३/८/३२
नातः परतरो	४/२२/३२
नातिक्षामं	३/२१/४६
नातिदीर्घेण कालेन	२/८/४
नातिदूरे किल	१/१६/१८
नातिप्रसीद–	१/४/२७
नातिप्रसीदति	३/९/१२
नात्मन् श्रितं	४/७/३०
नात्मानमद्धा–	३/८/१७
नात्मानमस्मरद–	४/१२/१८
नात्मावसीदति	३/९/३४
नात्यद्भुतमिदं	४/२१/५०
नात्यन्तिकं	३/१५/४८
नात्यादृतो	३/१४/२६
नात्याद्रियत्	३/१६/२१
नाथमान ऋषि–	३/३१/११
नादण्ड्यं दण्डयत्येष	४/१६/१३
नादत्त पित्रा–	४/४/८
नाद्रियन्ते यथा	३/३०/१३
नाधयो व्याधयः	१/१०/६
नाधुनाप्यवमानं	४/८/२७
नानाकर्म–	३/९/३४
नानाख्यानेति–	१/९/२८
नानाजनेष्ववहितः	३/९/१२
नानातनोर्भुवि	३/३१/१२
नानात्वात् स्वक्रिया–	३/५/३८
नानद्रुमलता–	४/६/१०
नानाभिधाभीज्य–	२/१/३७
नानामणिमयैः	४/६/१०
नानामनोरथ–	३/९/१०
नानामलप्रस्रवणैः	४/६/११
नानायुधैर्वामनकै–	४/५/१३
नानारण्यमृग–	४/२५/१९
नानार्षेरप्रवरान्	१/१९/११
नानाशङ्कास्पदं	१/१५/१
नानुद्वेष्टि	१/१८/७
नानुभूतं	४/२९/६४
नानुरूपं यदाविन्द–	४/२५/११
नानुरूपानुरूप–	१/१०/१९
नानुविन्दन्ति	४/१४/२४
नानृतं तव	२/५/१०
नानेव दारुषु	४/९/७
नानेव भाति	१/२/३१
नान्तं गुणानाम्	१/१८/१४
नान्तं विदाम्य–	२/७/४१
नान्यं ततः	४/८/२३
नान्यं त्वदभयं	१/८/९
नान्यत्त्वदस्ति	३/९/१
नान्यत्र मद्भगवतः	३/२५/४१
नान्यत्र सज्जेद्–	२/१/३९
नान्यद्भगवतः	२/६/३३
नान्यैरधिष्ठितं	४/९/२०
नान्योपलक्ष्यः	३/१/४२
नापैषि नाथ	३/९/५
नाभक्ताय	३/३२/४०
नाभिं विचिन्वन्	३/८/१९
नाभिद्रुह्यन्ति	४/२०/३
नाभिनन्दति लोकः	४/२७/२८
नाभिह्रदं	३/२८/२५
नाभिह्रदादिह	३/९/२४
नाभिह्रदाम्बुजात्	१/३/२
नाभेरसावृषभः	२/७/१०

नाभ्यां कोष्ठेषु	४/२३/१४	नारायणो नर इति	२/७/६
नाभ्यां स्थितं	२/२/२०	नारायणोऽन्ते	३/१९/३८
नामधेयं ददुः	४/१९/१८	नारायणो विश्व–	३/५/९
नामधेयानि मन्त्राश्च	२/६/२६	नार्त्तिर्न	२/२/२७
नामरूपक्रिया	२/१०/३६	नार्थस्य धर्म–	१/२/९
नामरूपगुणै–	२/५/६	नार्थो बलेरयम्	२/७/१८
नामानि कुरु	३/१२/८	नार्वाग्गतः	३/८/१९
नामानि ये–	३/९/१५	नालं वयं ते	४/१६/२
नामानि रूपाणि	१/३/३७	नालेन सलिले	३/९/३७
नामान्यनन्तस्य	१/५/११	नावध्येयः	४/१३/२३
नामान्यन्तस्य हतत्रपः	१/६/२७	नाविदं यज्ञ–	१/६/२३
नाम्ना नृणां	२/७/२१	नाविन्दतार्त्तिं	४/२३/२०
नाम्ना सिद्धपदं	३/३३/३१	नाविन्दत्तमसा–	४/२८/२५
नायं मार्गो	४/११/१०	नावेक्षितः	३/२३/६
नायमर्हत्यसद्वृत्तो	४/१४/३२	नावेदयत्	१/१३/१३
नायाति कस्य	१/१४/७	नाव्यारोप्य	१/३/१५
नारकाश्चानु–	३/१४/४३	नाशं यदूनां	१/१५/३३
नारक्यां निर्वृतौ	३/३०/५	नाश्चर्यमेतद्	४/४/१३
नारदः प्राह	२/९/४४	नासज्जतेन्द्रियार्थेषु	४/२२/५२
नारदस्तदुपाकर्ण्य	४/८/२५	नासत्यदस्रौ	२/१/२९
नारदाय प्रवोचन्तं	४/६/३७	नासां वरोर्व–	४/२५/२९
नारदोऽध्यात्म–	४/२५/३	नासिके निरभिद्येतां	२/१०/२०
नाराधनं भगवतो	३/१५/२४	नास्मत्कुलोचितं	४/११/८
नारायणं नमस्कृत्य	१/२/३४	नास्मिन् भवे	४/२९/८४
नारायणकलाः	१/२/२६	नास्य कर्मणि	२/१०/४६
नारायणपरं ज्ञानं	२/५/१६	नास्य तत् प्रति	१/१८/४८
नारायणपरा लोका	२/५/१५	नास्वाद्य मन्यु–	३/१६/१३
नारायणपरा वेदा	२/५/१५	नाहं तथाद्मि	३/१६/८
नारायणपरो योगो	२/५/१६	नाहं न यज्ञो	४/६/७
नारायणश्च विश्वात्मा	४/६/३	नाहं न यूयं	२/६/३७
नारायणे भगवति	२/६/३१	नाहं मखैर्वै	४/२०/१६

नाहं ममेति	४/२९/७०
नाहं वेदगतिं	१/१३/३९
नाहं वेदपरं	२/५/६
नाहं वेद्मि	१/१३/३७
निःश्रेयसं स्व–	३/२७/२८
निःश्रेयसकरञ्चापि	४/२४/३१
निःश्रेयसाय लोकस्य	१/३/४०
निःसङ्गा न्यस्त–	३/३२/५
निःसङ्गो व्यचरत्	३/२४/४२
निःस्पृहः सर्व–	१/१२/४
निकायभेदो	३/५/८
निकृत्तबाहूरुशिरोधरो–	४/११/५
निगमकल्प–	१/१/३
निगूढजत्रुं	१/१९/२७
निगृह्य देवी	४/४/१०
निग्रहीता कलेः	१/१२/२६
निजग्राहौजसा	१/१६/४
निजघ्नुर्हूङ्कृतै–	४/१४/३४
निजजनवशगत्वम्	४/३१/२०
निजपरयोः	१/९/३५
नितरां म्रिय–	१/१९/३६
नित्यं निरीक्ष–	१/११/२५
नित्यं पर्यचरत्	३/२३/१
नित्यं हरि–	४/२१/३८
नित्यारूढ–	३/३३/२७
निदिध्यासोरात्म–	२/१०/३०
निदेशभाजाञ्च	३/३३/५
निद्रया ह्रियते	१/१६/१०, २/१/३
निद्राक्षणोऽद्रि–	२/७/१३
निद्रामिन्द्रिय–	३/२०/४१
निद्रामुवाह	३/९/२०
निद्रावसान–	३/९/२१
निधनञ्च	१/१२/२
निधनमुपगतेषु	३/४/२८
निनाय लोकं	४/११/५
निपात्य तुङ्गाद्रि–	३/३/१
निपेतुर्गगनादस्य	४/१०/२४
निमज्यास्मिन्	३/२३/२३
निमित्तमन्यद्भगवन्	४/२०/२९
निमित्तमात्रं	४/११/१७
निमित्तानि च	३/७/३९
निमित्तानत्य–	१/१४/५
निमित्ते सति सर्वत्र	४/२२/२९
निमीलितात्मन्	१/१०/२१
निमील्य दृग्–	४/४/२४
निमेषस्त्रिलवो	३/११/७
निम्लोचति रवा–	३/४/२
निम्लोचत्यर्क	३/१४/९
नियच्छेद्	२/१/१८
नियतेनैक–	४/८/५१
निरन्तरं क्षौणितले	४/२१/३६
निरन्तरं स्वयं	३/२५/१७
निरन्धसां	४/३०/४०
निरभिद्यत शिश्नो	२/१०/२६
निरभिद्यतास्य	३/२६/५४
निरभिद्यन्त	३/६/११
निरस्ततेजःसु	४/४/१३
निरस्तशौचं	१/१०/३०
निरस्तसाम्यातिशयेन	२/४/१४
निरस्तसाम्यातिशयोऽपि	३/१४/२७
निरहङ्कृति–	३/२४/४४
निरागसि ब्रह्मणि	१/१९/१

निरीक्षणेन	१/१०/३१	निर्ममो निरहङ्कारः	१/१५/४०
निरीक्षतस्तस्य	३/२१/३४	निर्माय शेते	२/४/२३
निरीक्ष्य कृष्ण–	१/७/४२	निर्याति सिद्धेश्वर–	२/२/२६
निरीक्ष्य दृक्–	३/२/१३	निर्यात्यगारान्	१/१०/१४
निरीहया द्वन्द्व–	४/२२/२४	निर्यापितो यज्ञ–	४/३/८
निरुद्धकाष्ठौ	३/१७/१७	निर्यापितो येन	३/१/४१
निरुद्धमप्यास्र–	१/११/३२	निर्वास्यते कृपण–	३/३१/१७
निरुद्धसप्ता–	२/२/२१	निर्वृत्त्या परया	४/८/५२
निरूढमूलहृदय–	३/३०/६	निर्वाणमृच्छति	३/२८/३५
निरूढेन ममत्वेन	४/२७/१०	निर्वासितः पञ्चवर्षः	४/८/६५
निरूपितः प्रजापालः	४/१४/१०	निर्वास्यतामाशु	३/१/१५
निरूपिता मानुगृहाण	४/३/१४	निर्विण्णा नितरां	३/२५/७
निरूपितोदार–	४/३०/२२	निर्विद्येत गृहान्	४/१३/४६
निरूपितो बालक–	१/५/२३	निर्वेदमूलो	१/१९/१४
निरोधोऽस्यानु–	२/१०/६	निर्वेदवादिनीम्	३/२४/१
निर्ऋतिर्नाम	४/२५/५३	निर्वैरं यत्र	४/३०/३५
निर्गतेन मुनेः	४/१/२१	निर्वैरादिभिः	३/१४/४६
निर्गते नारदे	१/७/१	निलिल्युर्दस्यव्यः	४/१४/३
निर्गुणाय च यत्–	४/७/४०	निवर्त्तयिष्ये	४/८/८२
निर्घातश्च महांस्तात	१/१४/१५	निवर्त्तिताखिला–	१/१३/५६
निर्घाता रथ–	३/१७/८	निवारयामासुः	४/१९/२७
निर्जित्य सङ्ख्ये	१/१४/३७	निवासान् कल्प–	४/१८/३०
निर्णिक्तबाहु–	३/२८/२७	निवीतमाम्नाय–	३/८/३१
निर्विभेद विराजः	३/२६/५६	निवृत्तजीव–	३/३३/२७
निर्भिद्य मूर्द्धन्	२/२/२१	निवृत्तबुद्ध्य–	३/२७/१०
निर्भिन्नं तालु	३/६/१३	निवृत्तसन्ध्या–	३/१४/३७
निर्भिन्नान्यस्य	३/६/१६	निवृत्त–सर्वेन्द्रिय–	१/९/३१
निर्भिन्ने अक्षिणी	३/६/१५	निवृत्तिधर्म–	३/३२/६
निर्भिन्ने आश्विनौ	३/६/१४	निवृत्तिधर्माभि–	३/८/७
निर्भिन्ने ह्यक्षिणी	२/१०/२१	निवेशयित्वा	१/१०/२
निर्मत्सराय	३/३२/४२	निवेशितात्म–	१/१५/३३

निवेष्य वैकुण्ठम् ३/१४/४८
निशम्य कौशार- ३/१४/१, ४/१३/१
निशम्य गदताम् ४/११/१
निशम्य गोरुद्धरणं ३/२०/८
निशम्य घोरं १/७/१५
निशम्य तत्पौर- ४/८/१५
निशम्य तद्वक्तृ- २/९/७
निशम्य ते ३/१३/२७
निशम्य देहः ४/३/१३
निशम्य पुंसाम् ३/१५/१२
निशम्य प्रेष्ठम् १/११/१६
निशम्य भगवन्- १/१५/३२
निशम्य भीम- १/७/५२
निशम्य भीष्मो- १/१०/३
निशम्य वाचं ३/१३/१
निशम्य वार्त्ताम् १/१६/११
निशम्य वैकुण्ठ- ४/१२/२८
निशम्य शप्तम- १/१८/४१
निशम्यात्मभुवा ३/१७/१
निशातमाददे १/१७/२८
निशामयास्मद्वच ४/१९/३४
निशाम्य तद्योग- ३/२३/३५
निशाम्य तस्य ४/१०/२९
निशाम्यासंख्यशो ३/१२/१६
निशायामनु- ३/११/२९
निशावसान ३/११/२३
निशीथ उत्थाय ४/१३/४७
निश्चक्राम ततः ४/२/३३
निश्चक्राम पुरात् ४/९/४०
निश्चक्राम भातृ- १/१३/२९
निषिध्यमानः स ४/२/१९
निषीदेत्यब्रुवंस्तात ४/१४/४५
निषेवितं ब्रह्म- ४/४/१५
निषेवितानिमित्तेन ३/२९/१५
निषेव्य पुन- ३/३२/१५
निष्कग्रीवं ३/२३/३१
निष्किञ्चनानां नृप २/९/६
निष्क्रामती निर्विशती ४/४/१
निष्णातं योग- ३/२२/३४
निष्पादितं १/१३/५०
निष्पादितश्च ४/२२/४३
निष्पादितेश्वरा- ४/२३/२
निष्प्लुष्ट-पौरुष- २/७/९
निसृष्टभाण्डं ४/४/६
नीलरक्तोत्पला- ४/२४/२१
नीलस्फटिक- ४/२५/१५
नीलालकभ्रमर- ४/७/२०
नीलालकालिभिः ४/२६/२३
नीलोत्पल- ३/२८/१३
नूनं चंक्रमणं ३/२१/५०
नूनं जनैरीहितम् ४/१७/३६
नूनं ता वीरुधः ४/१८/८
नूनं दैवेन ३/३२/१९
नूनं नृपाणां ३/१/४३
नूनं भगवतो १/१९/३९, २/४/८
नूनं भवान् ४/८/३८
नूनं भृतं ३/१६/२२
नूनं वतेशस्य ४/१७/३२
नूनं विमृष्टमतयः ४/९/९
नूनं वेद भवान् ४/८/१२
नूनं व्रत-स्नान- १/१०/२८

नूनं सुनीतेः	४/१२/४१	नैकान्ततः प्रतीकारः	४/२९/३४
नूनन्त्वकृतपुण्याः	४/२६/२१	नैच्छद्द्रदां	३/१९/१२
नृणां यन्प्रिय–	२/३/१	नैच्छद्धन्तुं	१/७/४०
नृणां वर्णाश्रमाणाञ्च	३/२२/३८	नैच्छन्मुक्तिपते–	४/९/२९
नृणां साधारणो	२/८/१८	नैतच्चित्रं त्वयि	३/५/१९
नृत्यन्ति स्म	४/१/५३	नैतज्जानन्त्यु–	४/२९/५६
नृदेवचिह्नधृक्	१/१६/५	नैतत् खलाय	३/३२/३९
नृपमग्रजम्	१/१५/४	नैतत् पूर्वैः	३/१२/३०
नृपलिङ्गधरं	१/१६/४	नैतत् स्वरूपं	४/७/३१
नृपवर्य	४/१४/१४	नैतद्बताधीश	३/२१/२०
नृपासनाशां	३/१/२९	नैतादृशानां	४/३/१८
नृलोकपाला–	२/६/४३	नैतावता त्र्यधि–	३/१६/२४
नृणां येन	४/३१/९	नैते गृहान्	४/८/१
नेच्छंस्तत्रा–	४/१२/५०	नैतेन देहेन	४/४/२२
नेच्छन्ननुकरोत्यज्ञः	४/२५/६२	नैदाघिकं	३/१४/४९
नेत्थं भावेन	२/१०/४५	नैनो राज्ञः	१/८/५०
नेत्रे जलं	२/३/२४	नैर्गुण्यस्था	२/१/७
नेत्रे पिधाप्य	२/७/२९	नैवं विदाम	४/८/८१
नेत्रैः पिबन्तो	३/२/२०	नैव तुष्ये	३/२९/२४
नेमुर्निरीक्ष्य	३/१५/४२	नैव तृप्यन्ति	१/११/२५
नेयं शोभिष्यते	१/८/३९	नैव लक्षयते	४/२२/९
नेशः कण्डूयने	३/३१/२६	नैवाङ्घ्रिपाः	२/२/५
नेश्वरस्याशुभं	३/२७/२४	नैवात्मने महेन्द्राय	४/१९/३३
नेष्ये भवद्गुण–	४/९/११	नैवात्मनो बहिः	४/२२/२७
नेहतेऽहमिति	४/२९/७१	नैवाधिगन्तुं	४/१२/४१
नेहमानः प्रजासर्गं	२/९/२८	नैवाभिभवितुं	४/१६/११
नेह यत् कर्म	३/२३/५६	नैवार्हत्य–	१/८/२६
नेहाथ नामुत्र	१/१९/२३	नैवासौ वेद	१/७/२७
नैकत्र ते जयति	३/२०/३६	नैवेशितुं प्रभुः	३/११/३९
नैकत्रास्ते सूति–	३/३१/१०	नैषां ममा–	२/७/४२
नैकात्मतां मे	३/२५/३४	नैषां वधोपाय	३/३/१५

नैष्कर्म्यस्य च ३/७/३०
नैष्कर्म्यमप्य- १/५/१२
नो एवादृश्यत ४/१०/१३
नोत्तमःश्लोक- १/१८/४
नोत्पादयेद् १/२/८
नोद्धवोऽण्वपि ३/४/३१
नोधा विधाय ३/२३/४७
नोपस्पृशुः १/१५/१६
न्यपतन् यत्र ३/२२/२९
न्यबोधयद्देव ३/२/२२
न्यरुन्धन्नुद्गलद्- १/१०/१४
न्यवेदयत्तं १/७/४१
न्यवेदयन् पौरव ४/१३/४९
न्यवेदयन् विश्व- ३/१५/२
न्यवोचदङ्गो- ३/१७/२९
न्यषीददारूढ- ३/८/२१
न्यहनन्निशितैः ४/२६/५
न्यासे कुटीचकः ३/१२/४३

प

पक्षः पञ्चदशा- ३/११/१०
पक्ष्माणि विष्णो- २/१/३०
पञ्चदशं वामनकं १/३/१९
पञ्च द्वारस्तु ४/२५/४६
पञ्चप्रहरणं ४/२६/२
पञ्चभिः पञ्चभि- ३/२६/११
पञ्चमः कपिलो १/३/१०
पञ्चमे मास्यनु- ४/८/७६
पञ्चशीर्ष्णाहिना ४/२५/२१
पञ्चात्मकं योनिम् ४/२२/२६
पञ्चारामं नव- ४/२८/५६
पञ्चालाः पञ्च ४/२९/७
पञ्चेन्द्रियार्थप्रक्षेपः ४/२९/१९
पञ्चेन्द्रियार्था आरामा ४/२८/५७
पट्टिकाभिः ३/२३/१४
पठन्ति पार्ष्णि- २/१/२६
पण्डितो बहु- ४/१३/४५
पतन्ति विवशा ३/३२/२१
पतिं परम- ४/२८/४३
पतिं प्रयान्तं १/१३/३०
पतिं भूतपतिं ४/३/७
पतिं सा ३/२३/४९
पतिः प्रमथ- ४/२/१५
पतितं पादयो- १/१७/३०
पतिता पादयोः ४/२८/४९
पतितो भुव्य- ३/३१/२५
पतिर्गतिश्चान्धक- २/४/२०
पतिर्भवद्विधो ३/१४/१२
पतिव्रता चानु- १/१३/३०
पत्नी प्रजापतेः ३/२१/३
पत्नी मनोः २/७/४३
पत्नी मरीचेः ४/१/१३
पत्न्यः पतिं १/११/३१
पत्न्यङ्गनाशं ४/४/१
पत्न्यार्चिषा- ४/१५/१३
पत्न्यास्तवाधि- १/१५/१०
पत्युः पृथिव्या ४/२३/२१
पथा पापीयसा ३/३०/२३
पथि श्वभिर्भक्ष्य- ३/३०/२१
पदं गुरो ४/२४/५२
पदं जितात्म- ४/८/२०
पदं तत् २/१/१९

पदं त्रिभुवनो– ४/८/३७
पदं पदं तीर्थ– ३/५/४१
पदं यथाहं ४/२४/२९
पदा शरत्– ४/२४/५२
पदा सव्येन ३/१९/९
पदा स्पृशन्तं ४/२०/२२
पदे पदे का १/११/३३
पदे पदे नूतनयसि ३/८/१
पद्भिश्चराचरम् ३/१६/२२
पद्भ्यां क्वणद्भ्यां ४/२५/२३
पद्भ्यां नखमणि– ४/८/५०
पद्भ्यां भगवतो ३/६/३३
पद्भ्यां यज्ञः २/१०/२५
पद्मं यदर्चन्त्य– ३/८/५
पद्मकोश–पलाशाक्षं ४/२४/४६
पद्मकोशरजो ४/२४/२२
पद्मकोशस्पृधा ३/२३/३३
पद्मकोषं तदा ३/१०/८
पद्ममम्भश्च ३/१०/५
पद्मे निषण्णाय ३/४/१३
पनसोडूम्बरा– ४/६/१७
पपुर्ज्ञानमयं २/४/२४
पप्रच्छ चेममेवार्थं २/४/३
पप्रच्छ रथम् १/१७/४
पप्रच्छ सौशील्य– ३/५/१
पयःफेननिभाः ३/३३/१६, ४/९/६१
पयः स्तनाभ्यां ४/९/५०
परं किमत्रास्ति ४/२१/४०
परं पदं द्वेष्टि ४/३/२१
परं पदं भूषण– ३/२/१२
परं पदं वैष्णवम् २/२/१८
परं परं शुध्यति २/२/१३
परं प्रधान– ३/२९/३६
परं प्रधानं ३/२४/३३
परं प्रमाणं ३/२२/२०
परं शुश्रूषणं ३/१३/१२
परच्छन्दमविदुषा ३/३१/२५
परमाणुः स ३/११/१
परमेष्ठी त्वपां ३/१३/१६
परमोऽनुग्रहो ४/२६/२२
परस्ताद्यद् ४/१२/३५
परस्परं घ्नन्ति १/१८/४४
परस्परं त्वद् ३/२१/१७
परस्य दृश्यते ३/२६/४९
परस्य पुंसः १/५/२१, ४/२४/७९
परस्य मृत्योः ४/११/२०
परस्य मे ते ३/२५/३७
परागसेवा– ३/७/१४
पराजितो वाथ १/१४/४२
परात्मनोर्यत् ४/२२/२७
परात् सुपर्णाविव ३/१/३९
पराद्रवत् प्राण– १/७/१८
परानुषक्तं ३/१८/९
परान् दुरुक्तैः ४/६/४७
परान्वयाच्छब्दवांश्च २/५/२६
परान्वयाद्रसस्पर्श– २/५/२९
पराभूतेरधर्मस्य २/६/१०
परायणं क्षेमं १/११/५
परायणं राजसु १/८/३७
परार्ध्यकेयूर– ३/८/२९
परार्ध्यहार– ३/२८/१५
परावरज्ञः १/४/१६

परावरे ब्रह्मणि १/५/७
परावरे यथारूपे २/९/२५
परावरेशं ३/३२/७
परावरेशो १/५/६
परावरेशो महदंश– ३/२/१५
परावरेषां भगवन् ३/५/१०
पराशरायाथ ३/८/८
पराशरो गाधि– १/१९/९
पराहृतान्तः ३/५/४५
परिक्रमत्प्राध– ३/८/३१
परिक्रमन्ती– ४/२४/११
परिक्रमन् व्योम्नि ३/८/१६
परिक्षिणोत्य– ३/८/२०
परिचर्यमाणो ४/८/५९
परिचर्या भगवतो ४/८/५८
परितुष्टात्म– ४/७/६
परितुष्यति विश्वात्मा ४/१४/१९
परितुष्यति शारीर १/५/२
परितुष्येत् ततः ४/८/२९
परितो भूत– ३/१४/२४
परितो वत्सपैः ३/२/२७
परित्यक्तगुणः ४/२०/१०
परिध्युपान्ताम् १/१०/३
परिनिष्ठतोऽपि २/१/९
परिपश्यत्यु– ३/२५/१८
परिभ्रमंस्तत्र २/२/२
परिभ्रमद्गात्रः ३/१९/२६
परिभ्रमन्तमुल्का– १/१२/९
परिमाणञ्च कालस्य २/१०/४८
परिरेभेऽङ्गजः ४/९/४३
परिवृत्त्या विलुम्पन्ति ४/२७/१४
परिव्रजत् पदवीमा– ३/२४/३४
परिश्रमं तत्र २/२/३
परिश्रान्तेन्द्रिया– १/६/१५
परिश्रुतोरु– ४/९/५
परिष्वज्याह जीवेति ४/९/४६
परिस्फुरत्कुण्डल– ३/८/२७
परिस्फुरत्कुण्डलमौलि– २/९/११
परीक्षितैवमादिष्टः १/१७/३५
परीक्षितोऽथ राजर्षे १/७/१२
परीक्षिन्नाम १/१६/३७
परीत्याभ्यर्च्य– ४/१२/२९
परेण भक्ति– ३/२४/४५
परेण विशता ३/६/५
परे ब्रह्मणि चात्मानं ४/२८/४२
परेभ्यः शङ्कितः १/१०/३२
परेऽमले ब्रह्मणि योजिता– ४/३१/३
परेऽवरे च ४/२२/३६
परेषां गतिम् ३/११/१६
परेषामपरेषां ३/१५/४
परैत्यनिच्छतो १/१३/२५
परोक्षेण समुन्नद्ध– १/१५/३
परो गुणानामुत ३/१/४४
परोदयेनार्पित– ४/६/४७
परोऽपि मनुते १/७/५
पर्जन्यनादरुतया ४/३०/७
पर्जन्यो धनदः ४/१४/२६
पर्यक्कृताचल– ४/६/३२
पर्यङ्क एकं ३/८/२३
पर्यटन्तीं न ४/२७/१९
पर्यटन् रथमास्थाय ४/१४/५
पर्यष्यते दक्षिणतो ४/१६/२०

पर्यस्तं नन्दया	४/६/२२	पश्ये न वीत–	४/२६/२४
पर्यस्तदोर्दण्ड–	३/८/२९	पश्ये मयि	१/५/२७
पर्याद्रवद्भिः	४/५/१३	पश्येम रूपं	१/११/७
पर्वतो नारदो	१/९/६	पश्ये बहिर्हृदि	३/३१/१९
पवित्रकीर्त्तिं	४/४/१४	पश्ये स्तनावपि	४/२६/२५
पशवः पितरः	२/६/१४	पश्योत्पातान्	१/१४/१०
पशवो यवसं	४/१८/२३	पश्पर्श पादयुगलमाह	४/२६/२०
पशुवद्यवनैः	४/२८/२३	पस्पर्श बालं	४/९/४
पशून् स्त्रियो	१/१८/४४	पांशुः समुत्थितो	४/१४/३८
पश्चादहं	२/९/३२	पाटलाशोक–	४/६/१५
पश्चिमे इत्यधो–	४/२९/९	पाणिं विप्रा–	४/२/११
पश्चिमे द्वे	४/२५/४६	पाण्डुपुत्रानुपा–	१/९/११
पश्यंस्तदात्मकं	४/२९/७९	पाण्डोः सुतानाम्	१/१५/५१
पश्यतस्तस्य तद्रूपम्	२/९/३७	पातनं गिरि–	३/३०/२७
पश्यतां राज–	४/२५/१	पातालं पाद–	२/५/४१
पश्यतास्मान्	४/२३/२६	पातालमेतस्य	२/१/२६
पश्यतोऽन्तर्दधे	४/१२/९	पादग्रहाव–	३/१५/३५
पश्यत्ययं धिषणया	३/३१/१९	पादत्रयं	१/३/१९
पश्यन् जनं पतितं	२/२/७	पादयोररविन्दञ्च	४/१५/१०
पश्यन्ति ते मे	३/२५/३५	पादादि यावद्–	२/२/१४
पश्यन्ति नानात्वम्	४/१६/१९	पादारविन्दं भव–	३/२१/१४
पश्यन्ति नित्यं	१/१०/२७	पादारविन्दं हृदयेषु	३/१७/४
पश्यन्ति भक्त्युत्–	१/१०/२३	पादारविन्दस्य गुणा	४/२२/२०
पश्यन्ति यत्र	३/१५/३३	पादावस्य विनि–	३/६/२२
पश्यन्तोऽपि न	४/२९/४४	पादास्त्रयो	२/६/२०
पश्यन्त्यदोरूप–	१/३/४	पादेषु सर्व–	२/६/१९
पश्यन्त्यात्मनि	१/२/१२	पादैर्न्यूनं	१/१६/२१
पश्यन् पद्म–	४/२०/२०	पादौकस्ते	४/७/२८
पश्य प्रयान्ती–	४/३/१२	पादौ च निरभि–	३/२६/५८
पश्यामि नान्यं	३/१७/३०	पादौ नृणां	२/३/२२
पश्यामि विश्वसृजम्	३/९/३	पाद्मानुवृत्त्येह	३/१/२६

पानेन ते	३/५/४६
पापं कृतं	१/१८/४७
पापच्यमानेन	४/३/२१
पापीयसस्त्रयः	३/१५/३४
पापीयसीं नृणां	१/१४/३
पापीयसी धीः	१/१९/३
पायुनांशेन	३/६/२०
पायुर्यमस्य	२/६/९
पारकस्यैव	१/८/४८
पारक्यबुद्धिं	४/७/५३
पारावतान्य-	३/१५/१८
पाराशर्य	१/५/२
पारिजातेऽञ्जसा	४/३०/३२
पारीक्षितं	१/१८/१७
पार्थ प्रजाविता	१/१२/१९
पार्थांस्तु देवो	३/१/१२
पार्थार्ष्टिषेण-	२/७/४५
पार्थास्त्रपूताः	३/२/२०
पार्थिवाद्दारुणो	१/२/२४
पार्थैर्वृतौ	३/१/३९
पार्श्वभ्रमद्व्यजन-	४/७/२१
पार्षत्प्रधानाविति	४/१२/२१
पार्षदाविह	४/१२/२४
पालः पशूनिव	४/७/१४
पालानजीवयद्-	२/७/२८
पावकं पवमानञ्च	४/१/५९
पावकः पवमानश्च	४/२४/४
पाषण्डपथ-	३/७/३१
पाषण्डिनस्ते	४/२/२८
पाषण्डिनो द्विज-	२/७/३८
पाहि पाहि महा-	१/८/९
पाहि मां परम-	३/२०/२६
पिङ्गैः पिशङ्गैः	४/५/१३
पितरं वीक्ष्य	१/१८/३८
पितरं सर्व-	१/११/४
पितरं सान्त्वयामास	१/९/४८
पितरि प्रस्थितेऽरण्यं	३/२५/५
पितरो विबुधा	२/६/३०
पितर्यप्रति-	४/१/६५
पितर्युपरते पाण्डौ	१/१३/३४
पितामहसमः	१/१२/२३
पितामहेनोप-	१/१७/४३
पितृदेव-मनुष्याणामायुः	३/११/१६
पितृदेवर्षि-	४/२५/४०
पितृभूत-	१/२/२७
पितृभ्य एकां	४/१/४७
पितृभ्यां प्रस्थिते	३/२३/१
पितृभ्रातृ-सुहृत्पुत्रा	१/१३/२१
पितृमातृ-	१/१४/४
पितृयानं	४/२९/१३
पितृहूर्दक्षिणः	४/२९/१२
पितृहूर्नृप-	४/२५/५०
पितॄन् यजन्ति	३/३२/१७
पित्रा च देवे	४/४/९
पित्रा चानुमतो	१/९/४९
पित्रादिष्टाः	४/२४/१४
पित्रानुवर्णित-	३/१५/४६
पित्रोरगात्	४/४/३
पिपासतो	२/१०/१७
पिबत भागवतम्	१/१/३
पिबतोऽच्युत-	२/८/२६
पिबन्ति याः	१/१०/२८

पिबन्ति ये भगवत	२/२/३७	पुत्राणाञ्चाभवन्	४/२७/९
पिशङ्गनीवीं	४/२५/२३	पुत्रानुत्पादयामास	४/२२/५३
पिशङ्गवस्त्राः	२/९/११	पुत्रान् पौत्रानुगामात्यान्	४/२८/७
पिशङ्गवासा वन–	१/११/२७	पुत्रिकाधर्मम्	४/१/२
पिशाचचर्या–	३/१४/२७	पुत्रेण जयते	४/२१/४६
पीतं मया	३/१३/१७	पुत्र्याः समाम्नाय–	३/२२/१६
पीतवासा मणिग्रीवः	४/३०/५	पुत्रमुत्कल–	४/१०/२
पीतांशुकं	२/९/१५	पुत्रशोकातुराः	१/७/५८
पीतांशुके	३/१५/४०	पुत्रेति तन्मयतया	१/२/२
पीनायता–	४/३०/७	पुनः कतिपयैः	३/१९/२९
पीयूषनिर्यापित–	३/२१/१७	पुनः स पप्रच्छ	३/१४/१
पीयूषशेष–	४/२९/४०	पुनन्ति ते	२/२/३७
पुंसः शिश्नः	२/६/८	पुनराविविशुः	३/२६/६२
पुंसां गतिं	३/१५/४५	पुनराहावनि–	४/१८/१
पुंसां निःश्रेयस–	३/५/१७	पुनर्गदां	३/१८/१६
पुंसां पुनः	२/४/१३	पुनश्च तस्मिन्	४/३१/१५
पुंसां मनो–	३/२८/२६	पुनश्च भूयात्	१/१९/१६
पुंसां सुदूरं	३/५/४४	पुनश्च याचमानाय	१/१७/३९
पुंसामतो	३/९/१३	पुनाति सेशान्	१/१९/६
पुंसाममायिनां	४/८/६०	पुन्नागनागवकुला–	३/१५/१९
पुंसामीशकथाः	२/१०/५	पुमाँल्लभेतान्	४/२१/४०
पुंसामेकान्ततः	१/१/९	पुमान् योषिदुत	४/१७/२६
पुंसां स्वकामाय	३/८/२६	पुमान् शेषे	४/७/४२
पुंसोऽभ्रमाय	३/११/१५	पुरः स्थितेऽमीलित–	१/९/३०
पुंसो मोहमृते	४/८/२८	पुरञ्जनः स्वमहिषीं	४/२६/१८
पुण्यं मधुवनं	४/८/४२	पुरञ्जनपुरा–	४/२७/१६
पुण्यं शिवामृत–	३/२१/३९	पुरञ्जनस्य चरितं	४/२५/९
पुण्यद्रुमलता–	३/२१/४०	पुरञ्जनी महाराज	४/२७/१
पुण्यश्रवः कथया	४/२२/२२	पुराकथानां	३/१३/५२
पुत्रयोश्च वधं	३/१४/५१	पुरा कल्पापाये	४/७/४२
पुत्रस्यैव च	३/१४/४५	पुराद्व्यवात्सीद्	३/२/१६

पुरापवारिता	३/१६/३०	पुरोहितामात्य–	४/१३/४८
पुरा पिता तो	३/१४/१३	पुर्यां कदाचित्	३/३/२४
पुरा मया	३/४/१३	पुर्यां प्रज्वार–	४/२८/१३
पुरा विश्व–	४/२/४	पुर्यास्तु बाह्योपवने	४/२५/१७
पुरा सृष्टा	४/१८/६	पुलकोद्भिन्न–	३/२/५
पुरीं दिदृक्षन्नपि	४/१०/२१	पुलस्त्योऽजनयत्	४/१/३५
पुरीं विहाय	४/२८/२४	पुलहस्य गतिः	४/१/३७
पुरीमिमां	४/२५/२९	पुलहाय गतिं	३/२४/२३
पुरुं कुत्सं	४/१३/१६	पुलहो नाभितो	३/१२/२४
पुरुषं तं	१/१७/१८	पुष्णन्नधर्मेण	३/१/६
पुरुषं पुरञ्जनं	४/२९/२	पुष्णाति येषां	३/३०/१०
पुरुषं प्रकृति–	३/२७/१७	पुष्णाति स्थापयन्	२/१०/४३
पुरुषस्तदुपा–	३/१०/११	पुष्णासि कृष्णाद्–	३/१/१३
पुरुषस्तु विषज्जेत	४/२९/२६	पुष्पाक्षतफलैः	४/२१/२
पुरुषस्य च	३/७/३८	पुष्पार्णं तिग्मकेतुञ्च	४/१३/१२
पुरुषस्य मुखं	२/५/३७	पुष्पार्णस्य प्रभा	४/१३/१३
पुरुषस्याञ्जसा	३/२९/१९	पूजयध्वं गृणन्तश्च	४/२४/७०
पुरुषस्येह यत्	१/१९/३७	पूजयामास धर्मज्ञो	१/९/९
पुरुषस्वभाव–	१/९/२६	पूजयामास विधिवन्नारदं	१/४/३३
पुरुषा यदि	४/२०/४	पूजयित्वा यथा–	४/३१/४
पुरुषाय पुराणाय	४/२४/४२	पूजितः पूजयामास	४/२१/६
पुरुषाराधन–	२/८/१९	पूजिता दान–	४/१९/४२
पुरुषावयवैरेते	२/६/२७	पूजितोऽनु–	४/२०/३४
पुरुषावयवैर्लोकाः	२/८/११	पूररेचक–	४/२४/५०
पुरुषेणात्म–	३/५/२६	पूर्णार्थो लक्षितः	३/२/५
पुरुषोऽण्डं	२/१०/१०	पूर्णिमासूत	४/१/१४
पुरे च राष्ट्रे	१/१५/३७	पूर्णे वर्षशते	३/१७/२
पुरेषु पुण्योप	३/१/१८	पूर्त्तेन तपसा	३/९/४१
पुरोडाशं निरवपन्	४/१३/३५	पूर्भिर्मयेन	२/७/३७
पुरोडाशं निरवपन् वीर–	४/७/१७	पूर्येत ते	३/१५/४९
पुरोवृषेन्द्राः	४/४/४	पूर्वः परार्द्धो–	३/११/३४

पूर्वस्यादौ पर–	३/११/३५
पूर्वा यथा पुरट–	३/१५/२९
पूषा तु	४/७/४
पूष्णो ह्यपातयत्	४/५/२१
पृच्छति स्म	१/१४/२४
पृच्छति स्माश्रु–	१/१६/१९
पृच्छाम हे	१/५/५
पृच्छेः प्रभो	३/४/१७
पृथग्दृशस्तत्–	१/५/१४
पृथग्धियः	४/६/४७
पृथग्विधद्रव्य–	४/२१/३४
पृथग्विषय–	४/२५/४५
पृथयेत्थं	१/८/४४
पृथाप्युपश्रुत्य	१/१५/३३
पृथुः प्रचेता	४/१६/१०
पृथुः प्रजानां	४/१७/१२
पृथुकीर्त्ते पृथोः	४/१९/३२
पृथुचरितं	४/२३/३९
पृथुर्नाम	४/१५/४
पृथोरथाग्नेः	३/१/२२
पृथोस्तत् सूक्तम्	४/२२/१७
पृष्टो वार्त्तां	३/२/३
पृष्ठतोऽन्वगमं	३/४/५
पृष्ठेन कच्छप–	२/७/१३
पृष्ठे मृगं	४/२९/५३
पेतुः सुमनसो	३/२४/८
पैतृष्वस्रेयप्रीत्यर्थं	१/१९/३५
पौंस्नं वपु–	३/१५/४५
पौत्रस्तव	३/१४/५०
पौरवेन्द्र गृहं	३/१/२
पौरान् जानपदा–	४/२१/६
पौरान् जानपदान् श्रेणीः	४/१७/२
पौर्णमास्यां	४/१२/४९
प्रकल्प्य वत्सं	४/१८/१९
प्रकृतिः पुरुषस्येह	३/२७/२३
प्रकृतिमगमन्	१/९/४०
प्रकृतिमुपेयुषि	१/९/३२
प्रकृतिस्थोऽपि	३/२७/१
प्रकृतेः पुरुषस्यापि	३/२६/९
प्रकृतेर्गुण–	३/२६/१७
प्रकृत्यसम्मतं	४/१४/२
प्रकृत्या विषमा	४/१७/४
प्रकोपित ब्रह्म–	१/१९/३
प्रख्याहि दुःखैः	१/५/४०
प्रगायतः स्व–	१/६/३४
प्रगीयमानञ्च	१/१६/१४
प्रचण्डपाषण्ड–	४/१९/३८
प्रचण्डमन्युः	३/१८/९
प्रचेतसः पितुः	४/२४/१९
प्रचेतसां गिरित्रेण	४/२६/१६
प्रचेतसां नारदस्य	४/३१/२५
प्रचेतसोऽन्तरुदधौ	४/३०/३
प्रचोदिता येन	२/४/२२
प्रजा उतस्वित्	१/१६/२१
प्रजाः ससर्ज	३/१०/१
प्रजाः सृज	३/९/४३
प्रजाः सृजेति	३/२१/६
प्रजाः सिसृक्षन्	३/८/३३
प्रजा देवासुर–	३/१३/१८
प्रजानां शमलं	४/२१/२४
प्रजा निरन्ने	४/१७/९
प्रजानुरागो महतां	४/२१/५०

प्रजापतिः सः ४/१/३
प्रजापतिः स्वां ३/३१/३६
प्रजापतिपतिः साक्षाद्- ४/२९/४२
प्रजापतिपतिः सृष्ट्वा ३/२०/९
प्रजापतिपतिस्तन्वं ३/१२/३३
प्रजापतिर्धर्म- २/९/३९
प्रजापतिर्नाम ३/१७/१८
प्रजापतिर्वृत्तिकरः ४/१६/२२
प्रजापतिसुतः ३/२१/२५
प्रजापतीनां पतिरेष ३/२२/२०
प्रजापतीनां स ३/७/२५
प्रजापतीनां सर्वेषाम् ४/३/२
प्रजापतीनामभि- २/६/३५
प्रजापतीन् मनून् २/१०/३७
प्रजापतेः कर्दमस्य ३/३३/१५
प्रजापतेर्दग्ध- ४/७/३
प्रजापतेर्दुहितरं ४/१०/१
प्रजापतेर्यस्य ४/४/२९
प्रजापतेस्ते ४/३/८
प्रजापतेस्ते वचसा- ३/२१/१६
प्रजा भवानद्य ४/१७/३५
प्रजामनु प्रजायन्ते ३/३२/२०
प्रजामात्मसमां ४/१/२०
प्रजावतीनां ३/१४/११
प्रजा विचित्राकृतय ३/७/२४
प्रजाविसर्ग आदिष्टाः ४/३०/१५
प्रजाविसर्गे २/९/१८, २९
प्रजासर्ग- १/६/२५
प्रजासु पितृवत् ४/१६/१७
प्रजासु विमनः ४/२३/३
प्रजास्तं दीप- ४/२१/४
प्रजोपद्रवमालक्ष्य १/७/३२
प्रज्ञाचक्षुर्बोधितो १/१३/२९
प्रज्ञाय बद्धा- ३/१३/३५
प्रज्वारकाल- ४/२८/१
प्रज्वारोऽयं ४/२७/३०
प्रणता प्राञ्जलिः ४/१७/२८
प्रणताश्रयणं ४/८/४६
प्रणम्य दण्डवद्- ४/१/२४
प्रणम्य पादौ ३/४/२०
प्रणम्य मुर्ध्नावहितः १/१९/३१
प्रणयनिरीक्षण- १/९/४०
प्रणीयमानो ३/१३/५
प्रणेमुः पाण्डवा- १/९/४
प्रणेमुः सहसोत्थाय ४/७/२२
प्रतस्थे रथम् ३/२२/२६
प्रतिकूलेन वा ३/२८/९
प्रतिक्रिया न १/१३/१९
प्रतिचक्षीत ३/९/३२
प्रतिजग्मुः प्रमुदिताः ३/१६/२८
प्रतिदृशमिव १/९/४२
प्रतिनन्द्य जगादेदं ३/१६/१
प्रतिपूज्य वचस्तेषां १/२/१
प्रतिरुद्धेन्द्रिय- १/१८/२६
प्रतिलब्धश्चिरं ४/९/५१
प्रतिलभ्य प्रियां ३/१३/२
प्रतिवक्तुं न ३/२/१
प्रतिश्रुतञ्च भवता १/७/३८
प्रतिष्ठाकामः २/३/५
प्रतिष्ठिताः क्रियाः ३/२०/५१
प्रतिसंक्रामयत् ४/२४/५०
प्रतिसन्दध १/१७/४२

प्रतीक्षणानुग्रह– ३/४/१४
प्रतीचीं वृक– ४/२४/२
प्रतीच्यां दिशि वेलायां ४/३१/२
प्रतीयत उप– ३/७/१०
प्रत्तां दुहितरं ३/२२/२४
प्रत्यक् चकास्ति ४/२२/३७
प्रत्यक् प्रशान्तधी– ३/२४/४४
प्रत्यक् स्रोत– ३/३३/८
प्रत्यग्द्रष्टा ४/७/३७
प्रत्यग्धामा स्वयं ३/२६/३
प्रत्यग्धृताक्ष– ३/८/४
प्रत्यङ्गमुख्य– ३/१/२३
प्रत्यभाषत १/१९/४०
प्रत्यभ्यधत्त ४/३/१५
प्रत्यर्हयन्तं ३/८/२७
प्रत्याचष्टात्मभूः ३/१५/११
प्रत्यादिष्टं मया २/९/२२
प्रत्याह तं सुबहुवित् ३/१/५
प्रत्याह भगवत्– ३/७/८
प्रत्याहानुनयन् ३/१४/१६
प्रत्याहार– ३/२८/५
प्रत्याहारेण ३/२८/११
प्रत्याहुः श्लक्ष्नया ४/१/२८
प्रत्याहृतं १/१५/१४
प्रत्युजग्मुः प्रहर्षेण १/१३/५
प्रत्युज्जग्मू रथैः १/११/१९
प्रत्युत्थानाभि– ४/२/१२
प्रत्युत्थायाभि– १/१३/३८
प्रत्युत्थितास्ते १/१९/२८
प्रत्युद्गमप्रश्रयणा– ४/३/२२
प्रत्युद्ययुः १/११/३
प्रत्युलूकश्च १/१४/१४
प्रत्यूढकर्म– ४/२२/३८
प्रत्यूषेष्वनुविद्धेन ३/२२/३३
प्रत्येत्य विस्तीर्णम् ३/१९/१५
प्रत्येष्य तं निकाशं ३/१६/३१
प्रदर्शयन्तं कृपया ३/८/२६
प्रदर्शय स्वीयम् ४/२४/५२
प्रदर्श्य नृपम् ४/२९/८१
प्रदर्श्यातप्त– ३/२/११
प्रदोषो निशिथो ४/१३/१४
प्रद्युम्न आस्ते ३/१/२८
प्रद्युम्नः सर्व– १/१४/३०
प्रद्युम्नश्चारु– १/११/१७
प्रद्युम्नसाम्बा– १/१०/२९
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय १/५/३७
प्रद्योतितोद्दाम– ३/८/६
प्रधक्ष्यतीवैक्षत ४/४/२
प्रधर्षिता दूरतरं ३/१७/२५
प्रधानं प्रकृतिं ३/२६/१०
प्रधानकाला– ४/२१/३५
प्रपञ्चनिर्माण– २/९/५
प्रपत्स्यत १/१२/२७
प्रपन्नं विरथं १/७/३६
प्रपन्नतापो– ३/५/३९
प्रसन्नदृष्ट्या– १/११/९
प्रबाधतेऽथानु– ४/२५/३०
प्रवालवैदूर्य– २/९/११
प्रबुद्धकर्मा ३/६/४
प्रबोधयति ४/२८/२०
प्रबोधितो– १/८/४६
प्रभवन्ति विना ३/२६/७१

प्रभवो ह्यात्मनः ४/१५/२५
प्रभावं पौरुषं ३/२६/१६
प्रभाषसे भागवत– २/३/२५
प्रमत्तमुच्चैरिति– ४/२४/६६
प्रमथ्य चैद्य– १/१०/२९
प्रमाणमण्ड– २/८/१६
प्रमोदभाव– ३/४/१०
प्रयतः कीर्त्तयेत् ४/१२/४८
प्रयाणाभिमुखं १/८/१७
प्रयाति चक्रं २/२/२४
प्रयुक्तान् भोज– ३/२/३०
प्रयुज्यमाने १/६/२९
प्ररूढभावो– ४/१३/१
प्रलम्बबाहुं १/१९/७
प्रलोभयन्तीं ३/२०/३७
प्रवर्त्तते यत्र २/९/१०
प्रवर्त्तमानस्य १/५/१६
प्रवर्त्तये भागवतं ३/८/२
प्रववर्वुर्वायवः ३/१९/१८
प्रवासस्थस्य ३/७/३४
प्रविश्य तत्तीर्थ– ३/२१/४५
प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण २/८/५
प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेषु ४/२२/६३
प्रविष्टस्तु गृहं १/११/२८
प्रविष्टान्य– २/९/३४
प्रवृत्तञ्च निवृत्तञ्च ४/२९/१३
प्रवृत्तयोगेन ३/८/२२
प्रवृत्तविज्ञान– १/१०/३
प्रवृत्ताय निवृत्ताय पितृ– ४/२४/४१
प्रवृद्धकोप– ३/१/१४
प्रवृद्धभक्त्या विशदा– ३/५/४६
प्रवृद्धभक्त्या ह्यनु– ३/१४/४८
प्रवृद्धभावोऽश्रु– ४/३१/२८
प्रवृद्धरोषः ३/१९/१५
प्रवृद्धलोभं ४/२४/६६
प्रवृद्धहर्षो ३/७/४२
प्रवेकनिष्का– २/९/११
प्रवेपमाणा ४/१७/१४
प्रवेश्य लाक्षा– ३/१/६
प्रशंसन्ति स्म ४/१५/७
प्रशस्य तं ४/१७/८
प्रशस्य भूमौ १/१९/१८
प्रशस्य साध्वि– १/१९/१९
प्रशान्तमासीनम् १/१९/३१
प्रश्न एवं हि ४/२९/५२
प्रश्रयावनतो राजा १/१३/७
प्रष्टुं पुनस्तं ४/१३/१
प्रसंख्यानाय ३/२४/३६
प्रसङ्गमजरं ३/२५/२०
प्रसन्नवक्त्रं नलिना– २/२/९
प्रसन्नवक्त्रारुण– ३/२५/३५
प्रसन्नवदनाम्भोजं पद्म– ३/२८/१३
प्रसन्नहासारुण– १/९/२४, २/९/१५
प्रसन्नो भगवान् ४/३०/३०
प्रसभमभिससार १/९/३८
प्रसह्य निरनुक्रोशः ४/१३/४१
प्रसह्य राजन् ४/१९/२८
प्रसादयध्वं परिशुद्ध– ४/६/५
प्रसादसुमुखं वीक्ष्य ४/२४/२५
प्रसादाभिमुखं ४/८/४५
प्रसाद्य जगद्– ४/९/३४
प्रसाद्य वैकुण्ठम् ४/१२/४३

प्रसीदतं नो– ३/२/१७
प्रसीदतां ब्रह्मकुलं ४/२१/४४
प्रसीदतां मे २/४/२०
प्रसीदतोऽत्यन्त– ४/२१/४०
प्रसुप्तलोक– ३/६/१
प्रसूतिं मानवीं ४/१/४६
प्रसूतिमिश्राः ४/५/९
प्रसूनवर्षैरभि– १/११/२७
प्रसेदुश्च दिशः ३/२४/८
प्रस्तूयते सत्– ४/३०/३६
प्रस्थानाभिमुखो– ४/२०/२०
प्रस्थिते तु ४/९/२२
प्रहरन्ति न वै ४/१७/२०
प्रहर्षवेगोच्छशित– १/११/१७
प्रहस्य प्रेम– ३/१९/१
प्रहस्य भावगम्भीरं ३/२०/३८
प्रहृष्टरोमा ३/१३/५
प्रहृष्यमाणैः ३/२४/११
प्रह्लादस्य बलेः ४/२१/२९
प्रह्वाभिवादन– १/११/२२
प्रांशुं पद्म– ३/२१/४७
प्रांशुः पीनायत– ४/२१/१५
प्राकारैर्गोपुर– ४/९/५६
प्राकारोपवना– ४/२५/१४
प्राकृतेनत्मना १/८/४७
प्राक्कल्प– १/६/४
प्राक्कल्पसंप्लव– २/७/५
प्राक् पृथोरिह ४/१८/३२
प्रागल्भ्यं १/१६/२८
प्राङ्निषण्णं ४/२/८
प्राचीनबर्हि– ४/५/८
प्राचीनबर्हि ऋभुरङ्ग– २/७/४३
प्राचीनबर्हिषं ४/२५/३
प्राचीनबर्हिषः पुत्राः ४/२४/१३
प्राचीनबर्ही ४/२९/८१
प्राचीन–मूलेषु १/१९/१७
प्राचीनाग्रैः ४/२४/१०
प्राजापत्यं हि ३/१५/१
प्राजापत्यां १/१५/३९
प्राज्ञैः परस्मै ४/३/२२
प्राञ्जलिः प्रणत– ३/१३/६
प्राणस्य शोधयेन्मार्गं ३/२८/९
प्राणस्य हि ३/२६/३१
प्राणा दाराः ४/२२/४४
प्राणाद्वशिष्ठः ३/१२/२३
प्राणान् नमो ४/९/६
प्राणान् नियच्छेत् २/२/१५
प्राणापदम् १/७/२१
प्राणायामेन त्रिवृता ४/८/४४
प्राणयामेन संयम्य ४/१/१९
प्राणायामैः सन्निरुद्ध– ४/२३/८
प्राणायामैर्दहेद् ३/२८/११
प्राणिनां हन्य– ३/१४/४०
प्राणेन चाकूतिम् २/२/२९
प्राणेनांशेन ३/६/१६
प्राणेनाक्षिपता २/१०/१७
प्राणेन्द्रियमनोधर्मा– ४/२९/२५
प्राणेन्द्रियाणां ३/१९/३८
प्राणेन्द्रियात्म– ३/२६/३४
प्राणोपहाराच्च ४/३१/१४
प्रातर्मध्यन्दिनं ४/१३/१३
प्रातिष्ठन् नन्दि– ३/२४/२५

प्रादात् स्वन्नञ्च १/१२/१४
प्रादुश्चकर्थ ३/१५/५०
प्रादुश्चकार ४/१/५५
प्रादुष्कृतानां ३/१९/२२
प्रादेशमात्रं पुरुषं २/२/८
प्रादेशमात्रं भवतः १/५/२०
प्राधान्यतो २/६/४६
प्रापद्यत स्वः ३/४/३६
प्रापुः परं ४/३०/२
प्राप्त ईदृशम् ४/१४/३३
प्राप्तं किम्पुरुषैः ४/६/३१
प्राप्ता वयं त्वां ४/८/८१
प्राप्तो महेन्द्र– १/१५/१२
प्राप्नोतीहाञ्जसा ३/२७/२९
प्राप्य सङ्कल्प– ४/९/२७
प्रायच्छद्यत्– ४/१/११
प्रायशः साधवो १/१८/५०
प्रायेण तीर्था– १/१९/८
प्रायेण मुनयो २/१/७
प्रायेण रोषो– ४/६/४६
प्रायेण सज्जते भ्रान्त्या ४/१९/२५
प्रायेणाभ्यर्चितो ४/१३/४३
प्रायेणाल्पा– १/१/१०
प्रायेणैतत् १/१५/२४
प्रायोपविष्टं १/३/४२
प्रायोपविष्टे दिवि १/१९/१८
प्रायोपविष्टो गङ्गा– १/४/१०
प्रायोपवेशं १/१९/७
प्रायो विवृक्ना– ४/१०/२०
प्रार्थ्या महत्त्वम् १/१६/३०
प्रावीविशत् ३/८/१५
प्रावोचं भक्ति– ३/३२/३७
प्राशित्रमास्ये ३/१३/३८
प्रासङ्गिकैः कर्म– ३/२७/३
प्रासादशिखरारूढा कुरु– १/१०/१६
प्रासादा यत्र १/११/३०
प्राह भागवतं २/८/२८
प्राहार्जुनं १/७/३४
प्राहेदं विदुरं ३/२५/४
प्रियं प्रभु– ३/३/५
प्रियः प्रियं २/९/१८
प्रियञ्च भीम– १/७/५४
प्रियव्रतस्य ४/२१/२८
प्रियव्रतोत्तानपदोः स्वसेयं ३/२२/९
प्रियव्रतोत्तानपादौ ४/८/७
प्रियव्रतोत्तानपादौ तिस्रः ३/१२/५५
प्रियव्रतोत्तानपादौ मनु– ४/१/९
प्रियव्रतोत्तानपादौ सुतौ ३/२१/२
प्रियश्रवस्य– १/५/२७
प्रियश्रवस्यङ्ग १/५/२६
प्रियस्य सख्युः ४/३०/३८
प्रियाः परम– १/४/३१
प्रियात्मजानामसि ४/३/२०
प्रियायाः प्रियम् ३/२३/१२
प्रीणयन्निव ३/७/१
प्रीणीहि हंस– ४/२९/५५
प्रीतः प्रत्याह तं ४/८/३९
प्रीतः प्रत्याहतान् ३/१०/३
प्रीतस्तथेत्याह ४/३०/४३
प्रीतस्तुभ्यमहं ३/१३/९
प्रीतिदः सर्व– १/१२/३२
प्रीतिप्रहसिता– ४/२४/४७

प्रीतोऽहमस्तु ३/९/३९
प्रीत्युत्फुल्ल– १/११/४
प्रीत्योचतुः पुष्कर– ४/१२/२२
प्रेक्षणीयेहितं ३/२८/१९
प्रेक्षयित्वा भुवो ३/२३/४३
प्रेक्षां क्षिपन्तं ३/८/२४
प्रेक्षालवार्थम् ३/१६/७
प्रेङ्खं श्रिता २/९/१३
प्रेतावासेषु ४/२/१४
प्रेमगद्गदया वाचा पीडितः ३/२३/५
प्रेमस्मित– १/११/७
प्रेमस्मितेन ३/९/२५
प्रेमस्मितोद्वीक्षण ३/२१/२२
प्रेमातिभर– १/६/१८
प्रेमावलोक १/१६/३६
प्रेमाश्रुकन्ठ्यः ४/४/७
प्रेम्णात्मनो ४/४/३
प्रेम्णा पर्यचरत् ४/२८/४३
प्रेयस्कर स्पर्शनम् ४/२३/२०
प्रेयस्याः स्नेह– ४/२६/१९
प्रेयान् न ४/७/३८
प्रेरितोऽजनयत् ३/६/४
प्रेष्यान्विता– ३/१५/२२
प्रोक्तं किलैतत् ३/८/७
प्रोक्तं भगवता प्राह २/९/४३
प्रोचुः प्राञ्जलयो ३/१६/१५
प्रोन्नीयमाना– ३/१८/२
प्रोवाच कस्मै ३/४/१८
प्रोवाच मह्यं ३/८/९
प्रोवाच वै भक्ति ३/२५/३१
प्रोवाचासुरये १/३/१०
प्लावयन्त्युत्कटा– ३/११/३१
प्लाविते रक्त– ४/६/१२

फ

फणातपत्रा ३/८/२३
फलं ब्रह्मणि ४/२२/५१
फलन्त्योषधयः १/१०/५
फल्गूनि तत्र १/१३/४७

ब

बदरीं त्वं ३/४/४
बदर्याश्रममासाद्य ३/४/३२
बद्धाञ्जलिं प्रश्रय ४/१२/२२
बद्धाञ्जलिं भगवान् ४/५/४
बद्धाञ्जलीन् राज– ४/२४/३२
बद्धाञ्जलेर्वै १/१७/३१
बद्धासनं जितमरुत् ४/१२/१७
बध्नन्ति नित्यदा २/५/१९
बन्धुत्याग– २/१०/५१
बभावुप पतिं ४/२८/४४
बभाष ईषत्स्मित– २/९/१८
बभाष ईषत्स्मितशोभिता– ३/२५/१२
बभूवाचिरतो ३/३३/२२
बभूविथेहाजित ३/८/१
बभूविमात्मन् ३/५/५१
बभौ मलैः ३/३३/२८
बभ्राज उत्कच– ३/२३/३८
बर्हायिते ते २/३/२२
बर्हिषत् सुमहाभागो ४/२४/९
बर्हिषदं गयं ४/२४/८
बर्हिष्मतः पुरुषः ४/३०/७

बर्हिष्मतीं नाम ३/२२/३२
बर्हिष्मती नाम पुरी ३/२२/२९
बर्हिष्मन्नेतद्- ४/२८/६५
बलं मे ३/३१/३८
बलिं तस्मै ४/२३/३६
बलिं हरद्भि- ३/२/२१
बलिं हरन्तो- ३/५/४९
बलिं हरन्त्यृ- ३/१८/५
बलिं हरिष्यन्ति ४/१६/२१
बलिञ्च मह्यं ४/१४/२८
बलिञ्च शुक्ला- ३/२१/१६
बलीयसा ४/३/१६
बलेन जित्वा ३/५/४७
बवन्धामर्षता- १/७/३३
बहिःस्थितं तद्- ४/९/२
बहिःस्थिता पतिं १/१३/५८
बहिर्जात- ३/३२/४२
बहिस्त्रिलोक्याः पवना २/२/२३
बहुजन्मविपक्वेन ३/२४/२८
बहुभिद्यमान- ४/७/३९
बहुभिर्यक्ष- ३/१९/२१
बहुरूप इवाभाति २/९/२
बह्वाश्चर्यं महा- ३/२३/४३
बह्वेवमुद्विग्न- ४/५/१२
बाढमित्यनुमन्येत ३/२४/१३
बाढमित्यमुमामन्त्र्य ३/१२/२०
बाढमुद्वोढुकामो ३/२२/१५
बाल एव स १/१२/३२
बालः क्रीडनकैः २/३/१५
बालद्विज- १/८/४९
बालस्य पश्यतो ४/९/२६
बालिशा बत ४/१४/२३
बाला न वेद ४/२६/२२
बालोऽपि सन्न पगत- २/७/८
बालोऽप्ययं ४/८/२६
बालोऽसि बत ४/८/१२
बाहवो लोक- १/११/२६, २/६/६
बाहुं प्रकोष्ठे ४/६/३८
बाहुभ्यां मथ्य ४/१५/१
बाहुभ्यामश्विनोः ४/७/५
बाहुभ्योऽवर्त्तत ३/६/३१
बाहूंश्च मन्दर- ३/२८/२७
बाहौ स्वसिद्धौ २/२/४
बिभर्त्ति भूयः ४/२४/६१
बिभर्त्ति भूरिश- २/४/९
बिभर्मि तपसा २/९/२३
बिभ्रत् स ४/२१/९
बुद्धिञ्चास्य ३/६/२३
बुद्धिन्तु प्रमदां ४/२९/५
बुद्धिर्मेधा ४/१/४८
बुद्धो नाम्ना- १/३/२४
बुद्ध्या पराभि- ४/२/२३
बुद्ध्या ब्रह्मापि ३/२६/६९
बुद्ध्या युञ्जीत ३/२८/७
बुद्ध्या वा किं ४/३२/११
बुध्वा जीव- ३/३१/४६
बृहदश्वो भरद्वाजः १/८/६
बृहद्बलं मनो ४/२९/७
बृहस्पतिर्ब्रह्म- ४/२२/६१
बृहस्पतिसरं ४/३/३
बृहस्पतेः प्राक् ३/१/१५
बोधेनांशेन ३/६/२३

बोध्यमानस्य	२/१०/२२	ब्रह्मरुद्रो च	४/७/५२
ब्रह्मकोपो–	१/१८/२	ब्रह्मर्षि–राजर्षि–	१/१९/३०
ब्रह्म च ब्राह्मणा–	४/२/३०	ब्रह्मवर्चसकामस्तु	२/३/२
ब्रह्मचर्यं तपः	३/२८/४	ब्रह्मशापापदेशेन	३/४/२९
ब्रह्मचर्येण मौनेन	३/२७/७	ब्रह्मा जगद्गुरुः	४/१५/९
ब्रह्मणा चोदितः	४/१/१७	ब्रह्माणं हर्षयामास	३/१३/२६
ब्रह्मणा चोदितो	२/८/१	ब्रह्मात्मतत्त्व–	४/७/१४
ब्रह्मणा देव–	३/१४/७	ब्रह्मादयस्तनुभृत–	४/७/३०
ब्रह्मणे दर्शयन्	२/९/४	ब्रह्मादयस्तम्	४/४/१६
ब्रह्मणे भगवत्	२/८/२८	ब्रह्मादयो	१/१६/३३
ब्रह्मणो गुण–	२/१०/३	ब्रह्मादयो यत्	३/१४/२९
ब्रह्मण्यः सत्य–	१/१२/१९	ब्रह्माननं क्षत्रभुजो	२/१/३७
ब्रह्मण्यदेवः पुरुषः	४/२१/३८	ब्रह्मानुचुर्नाम	३/३३/७
ब्रह्मण्यदेवस्य	४/२१/४९	ब्रह्मा ब्रह्ममयं	४/१५/१६
ब्रह्मण्यवस्थित–	३/३३/२६	ब्रह्मावधार्यात्म–	३/१३/२८
ब्रह्मण्यस्य परं	३/१६/१७	ब्रह्मावभाति	३/१२/४७
ब्रह्मण्यात्मानमाधारे	१/१३/५५	ब्रह्मावर्त्तं	१/१०/३४
ब्रह्मतेजः समर्थो	३/१६/२९	ब्रह्मावर्त्तं यो–	३/२१/२५
ब्रह्मतेजो	१/८/१७	ब्रह्मावर्त्ते मनोः	४/१९/१
ब्रह्मदण्डहतः	४/२१/४६	ब्रह्मावर्त्ते यत्र	१/१७/३३
ब्रह्मधारयमाणस्य	४/८/७८	ब्रह्मासृजत् स्व–	३/२२/२
ब्रह्मध्रुगुज्झित	२/७/२२	ब्रह्मेति परमात्मेति	१/२/११
ब्रह्मनद्यां	१/७/२	ब्रह्मेति यद्विदु–	२/७/४७
ब्रह्मन् कथं	३/७/२	ब्रह्मेन्द्राद्या	४/७/४३
ब्रह्मन् दुहितृभि–	३/२३/५२	ब्राह्मणं प्रत्य–	१/१८/२९
ब्रह्मन् श्रेयः	२/९/२०	ब्राह्मणः समदृक्	४/१४/४१
ब्रह्मपुत्रा–	३/१७/१५	ब्राह्मणप्रमुखान्	४/१७/२
ब्रह्म प्रधानम्	३/३२/१०	ब्राह्मणेष्वपि	३/२९/३१
ब्रह्मबन्धुर्न	१/७/५३	ब्राह्मणैः कुल–	४/९/३९
ब्रह्मभूतो दृढं	४/२३/१३	ब्राह्मणैः क्षत्र–	१/१८/३४
ब्रह्मरातो भृशं	२/८/२७	ब्राह्मणो ब्रह्म–	४/२३/३२

ब्रूत प्रसीदत ४/१/२७
ब्रूयुः स्निग्धस्य १/१/८
ब्रूहि कारणयोः ३/२६/९
ब्रूहि नः श्रद्दधानानां १/१/११
ब्रूहि नः श्रद्दधानानां यस्य १/१२/३
ब्रूहि नः श्रद्दधानानां लीलया १/१/१७
ब्रूहि नस्तदिदं २/१०/५१
ब्रूहि मे ३/१३/३
ब्रूहि मेऽज्ञस्य ३/७/४०
ब्रूहि मे विमलं ४/२५/५
ब्रूहि योगेश्वरे १/१/२३
ब्रूह्यस्मत्– ४/८/३७

भ

भक्ताय चानुरक्ताय तव ४/१७/७
भक्तिं करोति १/१६/१७
भक्तिं मुहुः ४/९/११
भक्तिं विधाय ४/११/३०
भक्तिं हरौ ४/१२/१८
भक्तिः प्रवृत्तात्म– १/५/२८
भक्तिप्रवाह– ३/३३/२४
भक्तियोगविधानार्थं १/८/२०
भक्तियोगश्च ३/२९/३५
भक्तियोगस्य मे ३/२९/२
भक्तियोगेन १/७/४
भक्तियोगेन तीव्रेन ३/२७/५
भक्तियोगो बहुविधो ३/२९/७
भक्तिरुत्पद्यते १/७/७
भक्तिर्भगवति ४/२३/१०
भक्तिर्भवेद्भगवति यया ४/१२/४६
भक्त्या गृहीत– ३/९/५
भक्त्या गोगुरु– ४/२२/६२
भक्त्या द्रवद्धृदय– ३/२८/३४
भक्त्या निर्मथिता– १/१५/२९
भक्त्या पुमान् ३/२५/२६
भक्त्यार्द्रया– ३/२८/३३
भक्त्या विरक्त्य ३/२६/७२
भक्त्यावेश्य १/९/२३
भक्त्या ह्यसङ्गः ४/२२/२५
भगवंस्ते वचः ४/२९/१
भगवच्छक्ति– ३/१२/२१
भगवच्छिक्षितमहं २/९/२८
भगवति कृतधीः ३/३३/३७
भगवति भवसिन्धु– ४/२३/३९
भगवति रति– १/९/३९
भगवति सात्वत– १/९/३२
भगवत्तत्त्व– १/२/२०
भगवत्यचलो २/३/११
भगवत्यर्पिता– ३/२०/७
भगवत्युत्तमःश्लोक ४/३१/८
भगवत्युत्तमःश्लोके १/२/२८
भगवत्युरुमानाच्च ३/१४/४४
भगवत्सङ्गि– १/१८/१३, ४/२४/५७, ४/३०/३४
भगवद्गुणानु– ४/२९/३९
भगवद्धर्मिणः साधोः ४/२३/१०
भगवद्ध्यानपूतेन ३/१२/३
भगवद्भक्ति– ३/७/१२
भगवद्भक्तियोगेन प्राप्ता ३/२४/४७
भगवद्रचिता ३/२१/५४
भगवन्तं परं ३/२४/१०

भगवन्तं परिक्रम्य ३/१६/२८
भगवन्तं वासुदेवं ४/२४/२८
भगवन् सर्व– २/९/२४
भगवांस्तत्र १/११/२१
भगवांस्तु गदा– ३/१८/१५
भगवांस्तेऽक्षरो ३/२४/२
भगवांस्ते प्रजा– ३/१३/१२
भगवानथ विश्वात्मा ४/२०/१९
भगवाननुगावाह ३/१६/२९
भगवानपि गोविन्दो १/१४/३४
भगवानपि राजर्षेः ४/२०/३७
भगवानपि विप्रर्षे १/९/३
भगवानपि विश्वात्मा ३/३/१९
भगवानपि वैकुण्ठः ४/२०/१
भगवानेक ३/५/२३
भगवानेक एवैष ३/७/६
भगवान् देवकीपुत्रो ये १/७/५०
भगवान् ब्रह्म २/२/३४
भगवान् यज्ञ– ३/१३/२५
भगवान् वासुदेवः ४/८/४०
भगवान् वेद ३/११/१७
भगवान् सर्व– २/२/३५
भगवान् स्वात्म– ३/४/३
भगवान् स्वेन ४/७/४९
भगस्य नेत्रे ४/५/२०
भग्नायां भव्य ४/१४/३०
भग्नोरुदण्डे १/७/१३
भग्नोरुमुर्व्यां ३/३/१३
भजते शनकैः ४/२०/९
भजन्त्यथ त्वामत ४/२०/२९
भतन्त्यनन्यया ३/२५/४०
भजन्नपक्वोऽथ १/५/१७
भजस्व भजनीयाङ्घ्रिम् ४/१२/६
भजेत तत्पाद– १/३/३८
भजेम तत्ते ३/५/४४
भद्रं प्रजानाम् २/९/३९
भद्रं भवत्या ४/३/२५
भद्राश्वं केतु– १/१६/१३
भयनाम्नो– ४/२८/११
भयावहा दिवि ४/५/१२
भरद्वाजो १/१९/१०
भर्त्तर्याप्तो– ३/१४/१२
भर्त्तर्युपरते ४/१४/३९
भर्त्तुः पुरस्ताद् ३/२३/३५
भर्त्तुः प्रियं १/७/१४
भर्त्तुर्गुरो– ४/३/१३
भर्त्तुर्मिथः ३/१५/२५
भर्त्तुश्च विप्रियं १/७/३९
भर्त्तृस्नेह– ४/१४/२५
भल्लैः संछिद्य ४/१०/१८
भवं भवान्य– ४/४/२
भवच्छिदं स्वस्त्ययनं २/६/३६
भवच्छिदः पादमूलं ४/९/३१
भवच्छिदमयाचे– ४/९/३४
भवतानुगृहीतानामाशु ४/६/५२
भवतानुदित– १/५/८
भवता राधसा ४/२४/३३
भवता विदुषा ४/२२/१८
भवतो दर्शनं १/८/२५, ३८
भवत्पदानुस्मरणादृते ४/२०/२९
भवत्पदाम्भोज– ३/४/१५
भवत्पदाम्भोजसुधा– ४/२०/२५

भवत्यकर्त्तुः	३/२६/७
भवत्सु कुशल-	४/२२/१४
भवत्सु कृष्णं	१/१९/२०
भवद्विधा	१/१३/१०
भवद्विधेष्वति-	३/२१/२४
भवन्ति चैते	३/११/२५
भवन्ति भूपा	४/३१/१७
भवन्ति हृत्कर्ण-	३/२५/२५
भवन्त्वध्वर्यव-	४/७/५
भवप्रदां	३/५/११
भवप्रवाहो	१/८/३६
भवव्रजधरा	४/२/८
भवसिन्धु-	१/६/३५
भवस्तवाय कृतधीः	४/७/११
भवस्य पत्नी	४/१/६४
भवांस्तु पुंसः	४/६/४९
भवानहो द्वेष्टि	४/४/१४
भवान् कल्प-	२/९/३६
भवान् परित्रातुम्	४/१९/३७
भवान् भक्तिमता	४/२४/५४
भवान् भगवतः	३/५/२१
भवान् हि वेद	१/१६/२६
भवाय नस्त्वं	१/११/६
भवाय रूपाणि	१/१०/२५
भवितारोऽङ्ग	४/१/३०
भविता विश्रुतः	४/३०/१२
भविष्यतश्च भद्रं	४/२९/६६
भविष्यतस्तव	३/१४/३९
भवे शीलवतां	४/२/१
भवेऽस्मिन्	१/८/३५
भवो भवान्या	४/५/१

भस्मन् हुतं	१/१५/२१
भस्मस्मात् क्रियमाणान्	४/३०/४६
भस्मावगुण्ठाम्	३/१४/२५
भागं बर्हिषि	४/१७/२२
भागवतमुख्यो	४/२९/८०
भामः स आस्ते	३/१/२७
भारं कृतान्तेन	३/२/१८
भारः परं	२/३/२१
भारतव्यपदेशेन	१/४/२९
भारव्ययाय	४/१/५८
भारावतरणाय	१/८/३४
भार्येति वा	४/८/१८
भावनं ब्रह्मणः	३/२६/४६
भावयत्येष	१/२/३३
भावस्य भाव-	२/७/४९
भावेन साधु	२/७/१९
भासारुणा-	३/२८/३३
भिक्षुभिर्विप्र-	१/६/२,५
भित्व्य त्रिपाद्ववृध	३/९/१६
भिद्यते हृदय-	१/२/२१
भिन्दन् समां	४/१६/२२
भिन्नं संयोजयामास	३/६/३
भिन्नस्य लिङ्गस्य	४/२०/१२
भिन्नहृदयं	४/२९/५४
भिन्नेन यातो	४/१२/४२
भिषक्तमं त्वाद्य	४/३०/३८
भीतस्य किं	४/३०/३७
भीता निलिल्यिरे	३/१७/२२
भीमापवर्जितं	१/१३/२३
भीमोर्मि-	३/९/२०
भीमोऽहिवद्-	३/१/३७

भुक्तभोगा परि– ३/२७/२४
भुक्त्वा चेहाशिषः ४/९/२४
भुक्त्वा विभज्य ४/३१/२७
भुङ्क्ते कुटुम्ब– ३/३०/३२
भुङ्क्ते गुणान् २/४/२३
भुङ्क्ते जनो ४/८/१७
भुङ्क्ते नरो ३/३०/२८
भुङ्क्ते हृषीकैः ४/२४/६४
भुङ्क्ते हृव्यवधानेन ४/२९/६०
भुजदण्डैरुप– ४/७/३२
भुज्यमाना मया ४/१८/६
भुञ्जान एव ३/३१/४३
भुवि लोलायुषो ४/२३/२७
भूः–पाताल– २/८/१५
भूः पादुके ४/१५/१८
भूतं नभो– १/६/२६
भूतप्रेत– ३/१०/२९
भूतप्रेतपिशाचानाम् ४/५/२५
भूतभव्य– २/८/१२
भूतमात्मेन्द्रिय– २/१०/३
भूतले निरवस्तारे ४/२६/१७
भूतलेऽनुपतन्त्य– १/१७/८
भूतसर्ग– ३/१०/१६
भूतसूक्ष्मेन्द्रिय– ३/२७/१४
भूतहत्यां १/८/५२
भूतादिना– ४/२३/१७
भूतादिभिः ३/३२/९
भूतानां करुणः ४/१६/७
भूतानां छिद्र ३/२६/३४
भूतानां नभ– ३/५/३७
भूतानां महद्– ३/२९/३७
भूतानां शेवधिं ३/२४/१६
भूतानि चात्मन्य– ४/६/४६
भूतानि भव्यानि ३/५/३
भूतानि भूतैः ४/२४/६५
भूतानि भूमौ ४/३१/१५
भूतान्यलब्ध– ३/१६/१०
भूतेन्द्रियात्मकम् ३/९/३
भूतेन्द्रियान्तः ३/२८/४१
भूतेन्द्रियान्तःकरणात्मकं ४/१७/३४
भूतेन्द्रियान्तःकरणोप– ४/२४/६२
भूतेन्द्रियार्थात्ममयं ३/३३/२
भूतेन्द्रियाशयमयी– ३/३१/१३
भूतेशवत्सा ४/१८/२१
भूतेषु कालस्य १/८/४
भूतेषु कृत– ३/३२/४१
भूतेषु चान्तर्हित– १/३/३६
भूतेषु निरनुक्रोशो ४/१७/२६
भूतेषु बद्ध– ३/२९/२३
भूतेषु मद्भावनया ३/२९/१६
भूतेषु सर्वेषु ४/६/४६
भूतेष्वनुक्रोश– ४/२४/५८
भूतैः पञ्चभिः ३/३१/३०
भूतैः पञ्चभिरारब्धै ४/११/१५
भूतैर्महद्भिर्यः २/४/२३
भूतोपसर्गा– ४/२९/२३
भूत्या स्वया ३/२८/३०
भूत्वात्मोपशम– १/३/९
भूभारः क्षपितो १/१५/३५
भूमण्डलं जलधि ४/१२/१६
भूमण्डलमिदं ४/१८/२९
भूमण्डलेनाथ ३/१३/४३

भूमेः सुरेतर–	२/७/२६	भृत्याः स्वभृत्यार्थ–	३/४/२५
भूमेर्गुण–	३/२६/४८	भृत्यानुकम्पित–	३/२८/२९
भूम्यप्तेजोमयाः	२/१०/३१	भृत्यानुरक्तो	४/९/१८
भूय एव	२/४/६	भृत्यैर्दशभिः	४/२५/२०
भूयः पप्रच्छ	१/६/१	भृशं नदद्भिः	४/५/६
भूयः पप्रच्छ कौरव्यो	३/१३/१	भेजिरे मुनयो–	१/२/२५
भूयः सकाशम्	३/१६/२६	भेजे खगेन्द्र–	१/१८/१६
भूयस्तद्देव–	४/७/७	भेदग्रहैः पुरुषो	४/७/३१
भूयस्त्वं तप	३/९/३०	भेददृष्ट्याभि–	३/३२/१३
भूयादघोनि	३/१५/३६	भोः सूत हे	४/१५/२२
भूयादनन्त महताम्	४/९/११	भोक्तृत्वे सुख–	३/२६/८
भूयाद्गरीयसि	३/२३/१०	भोक्ष्यते यत्	४/२८/३१
भूयाननुग्रह	४/७/१३	भोगैः पुण्यक्षयं	४/१२/१३
भूयो नमः	२/४/१३	भो भोः क्षत्रिय–	४/१२/२
भूयो ममान्तिकम्	३/१६/१२	भो भोः प्रजापते	४/२५/७
भूयो यथा	३/३१/२१	भो भो राजन्	४/१२/२३
भूरीणि भूरि–	१/१/११	भौतिकानां विकारेण	३/२६/४२
भूर्जैरोषधिभिः	४/६/१७	भौतिकानाञ्च	१/४/१७
भूर्लोकः कल्पितः	२/५/३८, ४२	भौतिकाश्च कथं	३/२२/३७
भूषणानि परार्द्ध्याणि	३/२३/२९	भौमं सुखं	४/८/२१
भृगुं बबन्ध	४/५/१७	भौमान् भोक्ष्यथ	४/३०/१७
भृगुः ख्यात्यां	४/१/४२	भंशितो ज्ञान–	४/२२/३३
भृगुः प्रत्यसृज–	४/२/२७	भ्रश्यत्यनुस्मृतिः	४/२२/३१
भृगुर्वसिष्ठ	४/२९/४३	भ्रष्टश्रियो	१/१४/२०
भृगुर्वसिष्ठो	३/१२/२२	भ्राजत्कपोल–	४/३०/६
भृगोः श्मश्रूणि	४/६/५१	भ्राजमानं	४/२/५
भृगोर्लुलुञ्जे	४/५/१९	भ्राजिष्णुना	३/२३/४१
भृग्वादयस्ते मुनयो	४/१४/१	भ्राजिष्णुभिर्यः	२/९/१२
भृग्वादीनाम्	४/२४/७२	भ्रातुः क्षेत्रे	३/५/२०
भृङ्गाधिपे हरि–	३/१५/१८	भ्रातुः पुरो	३/१/१६
भृत्यप्रसादाभिमुखं	२/९/१५	भ्रातुर्ज्येष्ठस्य	१/१३/१४

भ्रातुर्यविष्ठस्य ३/१/६
भ्रातुर्वधा– ४/११/९
भ्रातृभिर्लोक– १/१३/१६
भ्रात्रे परेताय ३/१/४१
भ्राम्यतां नष्ट– ४/२१/५१
भ्राम्यते धीर्न ३/२/१०
भ्रूभङ्गसंसूचित– २/२/१२
भ्रूमण्डलं मुनि– ३/२८/३२

म

मंस्यन्त एषां ४/१६/२१
मङ्गलाय च १/१४/३५
मज्जायाः पङ्क्तिः ३/१२/४५
मणिं जहार १/७/५५
मणिप्रदीपा ४/९/६२
मतङ्गजेन्द्रस्य ३/१३/४२
मतञ्च वासुदेवस्य १/७/३२
मतिर्गृहीता ३/५/१२
मतिर्मयि १/६/२५
मतिर्विदूषिता ४/९/३२
मत्कामः शनकैः १/६/२३
मत्कृते त्यक्त– ३/२५/२२
मत्तं प्रमत्तम् १/७/३६
मत्तद्विजगणै– ३/२१/४१
मत्तद्विरेफकलया ३/२८/१५
मत्तद्विरेफवन– ३/१५/२८
मत्तबर्हिनटाटोप– ३/२१/४१
मत्तभ्रमरसौस्वर्य– ४/२४/२२
मत्तस्त्वमौत्तानपदे ४/१२/७
मत्पादसेवा– ३/२५/३४
मत्वा तं ४/१३/११
मत्वा निरस्तम् ४/१०/९
मत्सिद्धिकामेन ३/४/११
मत्स्यो युगान्त– २/७/१२
मथुरायां तथा १/१५/३९
मथ्ना चोन्मथिता– ४/२/२५
मदादेशकरो ४/२०/३३
मदाश्रयाः कथा ३/२५/२३
मदाश्रयात् कः ४/३/२०
मद्गीतगीतात् ४/२४/७७
मद्गुणश्रुति– ३/२९/११
मद्धर्मणो गुणै– ३/२९/१९
मद्धिष्ण्यदर्शन– ३/२९/१६
मद्भक्तः प्रति– ३/२७/२८
मद्भयाद्वाति ३/२५/४२
मद्वार्त्तायात– ४/३०/१९
मधुच्युतं ४/१२/२८
मधुभोजद– १/११/११, १/१४/२५
मधोर्वनं भृत्य– ४/९/१
मध्यं विषीदति ३/२०/३६
मध्ये कामय– ३/२०/३२
मध्वामदाताम्र– ३/३/१५
मन एव मनुष्यस्य ४/२९/६६
मन एव मनुष्येन्द्र ४/२९/७७
मनः कर्मभि– २/१/१८
मनः सर्व– २/१०/३२
मनः स्वबुद्ध्या न २/१/३८
मनः स्वबुद्ध्यामलया २/२/१६
मनसश्चन्द्रमा ३/२६/६१
मनसश्चेन्द्रियाणाञ्च ३/२६/२४
मनसांशेन ३/६/२४
मनसा धारया– १/१५/४६

मनसा लिङ्गरूपेण ४/२९/३५
मनसैतानि ३/२९/३४
मनसो देहतश्च ३/१२/२७
मनस्यपार्थं ४/३०/२३
मनस्यवस्थाप्य ४/८/२२
मनस्विनामिव १/१३/३०
मनस्विनी मानम् ४/४/२९
मनस्विनो मन्त्र- २/४/१७
मनस्विनो यं ३/१७/३०
मनांसि ककुभो ४/१/५२
मनागसं ४/३/२४
मनीषितानु- २/९/२१
मनुः स्यन्दनम् ३/२१/३६
मनुः स्वयम्भूः ४/३०/४१
मनुर्जगादो- ४/११/६
मनुर्मनीषा मनुजो २/१/३६
मनोगतिरविच्छिन्ना ३/२९/११
मनोऽचिरात् ३/२८/१०
मनोऽतिरुष्टं ४/१९/३४
मनो न तृप्यति ३/५/७
मनो निर्विषयं २/१/१९
मनो बुद्धि- ३/२६/१४
मनो ब्रह्मणि ३/२४/४३
मनोमयं देव- २/२/३०
मनोमयं सत्त्व- ३/१/३४
मनो यच्छेज्जित- २/१/१७
मनो येनैव ३/२८/१
मनोरश्मिः ४/२९/१९
मनोरसूत ४/१३/१५
मनोरुत्तानपादस्य ४/२१/२८
मनोवचःकाय- ४/२१/३३
मनोवचोवेग- ४/३०/२२
मनोवाग्वृत्तिभिः ४/२२/५५
मनोवारणः ४/७/३५
मनोवीर्यवर- ३/१७/२२
मनोस्तु शत- ४/१/१
मन्त्रलिङ्गैः ४/२९/४५
मन्त्राय पृष्टः ३/१/१०
मन्त्रेणानेन देवस्य ४/८/५४
मन्त्रेषु मां ३/४/१७
मन्दं जहास १/८/४४
मन्दस्य मन्द- १/१६/१०
मन्दाः सुमन्द- १/१/१०
मन्दारकुन्द- ३/१५/१९
मन्दारैः पारिजातैश्च ४/६/१४
मन्निदेशा- ३/१४/३८
मन्य एतैः १/१४/२१
मन्यमान इदं विश्वं ४/१२/१५
मन्यमानस्तदा- ३/२७/१५
मन्यमानो दीर्घ- ४/२४/६
मन्यसे नोभयं ४/२८/६१
मन्युप्लुतं ४/५/११
मन्युर्मनु- ३/१२/१२
मन्ये गिरं ४/२०/३०
मन्ये त्वां कालम् १/८/२८
मन्ये त्वां विषये १/४/१३
मन्ये महाभागवतं ४/१३/३
मन्येऽसुरान् ३/२/२४
मन्वन्तराणि सद्धर्म २/१०/४
मन्वन्तरेशानुकथा २/१०/१
मन्वनतरेषु भगवन् ३/११/२७
मन्वन्तरेषु मनवः ३/११/२५, २६

मन्वन्तरेषु मनुवंश– २/७/२०
मन्वादिभिरिदं ३/११/२७
मम दृशि १/९/४१
मम निशित– १/९/३४
ममन्थुरूरुं ४/१४/४३
ममाहमित्यूढ– ३/५/४४
ममैते मनसा ४/२९/६२
मयं प्रकल्प्य ४/१८/२०
मया निरूपित– ४/२७/२८
मया प्रोक्तं ३/२४/३५
मया यथानूक्तम् ३/१९/३२
मया सह दहन्तीभिः ३/१२/१७
मयि तीर्थीकृता– ३/२१/३०
मयि भावेन ३/२७/६
मयि रुष्टे ४/२८/१९
मयि संरभ्य ४/२७/२२
मयि संरम्भ– ३/१६/३१
मयूखभिन्ना– ३/८/२६
मयूरकेकाभि– ४/६/१२
मयैतत् प्रार्थितं ४/९/३४
मयैवोभयम् १/७/५३
मयोपक्लप्ता– ४/२०/१३
मयोपदिष्टम् ४/२७/२३
मयोपनीतान् ४/२५/३७
मय्यनन्येन ३/२५/२२
मय्यर्पितात्मनः पुंसो ३/२९/३३
मय्यात्मजे– १/६/६
मय्यात्मानं सह ३/२१/३१
मर्युद्यतेऽन्तः ३/३/१५
मरीचये कलां ३/२४/२२
मरीचिप्रमुखैः ३/१३/२२
मरीचिमिश्रा ऋषयः १/६/३१
मरीचिमिश्रा ऋषयो यज्ञः ४/१/८
मरीचिमुख्या ३/१२/२९
मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ ३/१२/२२, ४/२९/४३
मरुधन्वम् १/१०/३५
मर्त्यादिभिः ४/९/१३
मर्माण्यभीक्ष्नं ३/१८/९
मल्लेभकंस– २/७/३४
महतस्तु विकुर्वाणाद् २/५/२३
महतां बहु– ३/२९/१७
महताञ्चानुचरितं २/८/१६
महत्तत्त्वाद्विकुर्वाणा– ३/२६/२३
महत्तत्त्वाद्विकुर्वाणादहं– ३/५/२९
महत्तमानाम् १/१८/१८
महत्तमानुग्रह– १/१९/१३
महत्तमान्तर्हृदयात् ४/२०/२४
महत्तमान्तेषु ४/४/१२
महत्तमैकान्त– १/१८/१४–१५, १९
महत्त्वमिच्छत– ४/१२/४७
महत्सु यां १/१९/१६
महद्व्रतानां ३/८/२
महद्गुणत्वात् १/१८/१९
महद्गुणानात्मनि ४/१५/२४
महद्विनिन्दा ४/४/१३
महन्मन इव ४/२४/२०
महर्षयो वै १/१९/१९
महागदं काञ्चन– ३/१८/९
महातलं विश्व– २/१/२६
महातलन्तु गुल्फाभ्यां २/५/४१
महाधनानि १/१६/१६

महाधने दुकूलाग्र्ये	४/२१/१७
महाधनैर्नूपुर–	२/२/११
महानहं खं	४/२४/६३
महानुभावाः	१/१९/८
महानुभावाभ्युदय–	१/५/२१
महानुभावो भविता	४/१६/२७
महानुभावो महतां	३/१४/४८
महाभागवतो	२/९/४१
महाभूतानि	३/२६/१२
महामणिव्रातमये	४/९/६०
महामनास्तद्–	३/१८/१
महामरकतस्थल्या	३/२३/१७
महामृधे कञ्चन	४/१०/२१
महामृधे क्रीडन–	३/१९/३२
महामोहञ्च	३/१२/२
महार्हतल्पे	४/२७/४
महासने	१/१९/२९
महासुरभिभि–	४/२१/१
महिमानं विलोक्यास्य	४/१२/४०
महिमा वेदगर्भो	३/२१/१
महिमैष ततो	२/६/१८
महिषी यद्–	४/२५/५६
महीं गन्धगुणाम्	३/५/३६
महीं निर्वीरुधं	४/३०/३५
महीं प्रतिष्ठा–	३/२०/१
महीं महाभागवतः	१/१६/१
महीं मुहुः	३/१/४३
महीतलं तज्जघनं	२/१/२७
महीन्द्रबन्धुं	३/८/३०
महीन्द्रभोगैः	३/८/२९
महीपतिस्त्वथ	१/१८/१
महीयसां तात	४/५/५
महीरुहा विश्व–	२/१/३३
मह्यं भवस्य	३/१५/४२
मह्यं शुश्रूषवे	४/१३/५
मह्यादिभिश्चा	२/१०/३३
मां खेदयत्येतद्	३/२/१६
मां प्रत्यगात्मानं	३/२५/२७
मां विपाट्या–	४/१७/२१
मां श्रान्तवाहम्	१/१५/१७
मा कञ्चन	१/१३/४१
मा खिदो राज–	३/२४/२
मा जातु तेजः	४/२१/३७
माण्डव्यशापाद्	३/५/२०
मातरं समनु–	३/३३/३३
मातरिश्वेव	४/२२/५९
माता शिशूनां	१/७/१५
मातुः सपत्न्या	४/९/२९
मातुः सपत्न्या वचसा	४/११/२८
मातुः सपत्न्याः	४/८/१४
मातुर्गर्भगतो वीरः	१/१२/७
मातुर्जग्धान्न–	३/३१/५
मातुलः सानुजः	१/१४/२६
मातृभक्तिः	४/१६/१७
मातृभुक्तैरुप–	३/३१/७
मातृरक्षः–	२/१०/३८
मातृष्वसृः	४/३/१०
मात्रा च मातृ–	४/४/८
मात्रे चाध्यात्मिकीं	३/२४/४०
माध्व्या गिराप–	३/९/२५
मानयन्नात्मना–	३/२०/४५
मानयन् स मृधे	३/१९/४

मानयामास	१/१९/५	मायाबलेन मुनयः	३/१५/२६
मानसा मे	३/१५/१२	मायामया–	४/७/३१
मानसे चैत्ररथ्ये	३/२३/४०	मायामये वासनया	२/२/२
मानिता निर्व्यलीकेन	१/४/२८	मायायवनिका–	१/८/१९
मान्धात्रलर्क–	२/७/४४	मायाविनस्तचरणा–	४/९/२८
मा भूवंस्त्वादृशा	१/१७/१२	मायाविभूतय इमाः	२/७/३९
मा भैष्ट बालं	४/८/८२	मायाविभूतिः	३/१६/९
मामङ्गलं	४/८/१७	मायाविरचिते	३/३१/४७
मामङ्ग सारमेयो	१/१४/१२	माया विवेक–	४/२२/३८
मा मंस्था	१/८/१६	मायासु सिद्धस्य	३/२७/३०
मा मयभूवन्	४/१५/२२	माया ह्येषा	४/७/३७
मामात्मान	३/२४/३९	माया ह्येषा मया	४/२८/६१
मा मा शुचः	४/८/६८	मा रक्षतैनं	३/२०/२०
मा मे भविष्यद्	३/३१/२१	मा रीरिषीष्ट	३/९/२४
मा मे समुन्नद्ध–	२/९/२९	मा रोदीदस्य	१/७/४७
मायां मदीयां तरति	४/२०/३२	मा रोदीरम्ब	१/१७/९
मायां वर्णयतो	२/७/५३	मार्कण्डेयो	४/१/४४
मायां विविदिषन्	२/९/४१	मार्गं गदायाः	३/१/३७
मायां व्युदस्य	१/७/२३	मार्गं सपद्य–	२/७/२४
मायाकिरातो	३/१/३८	मार्गन्ति यत्	३/५/४१
मायाख्ययोरु–	४/९/७	मार्गेणानेन	३/३३/१०
मायागुणव्यति–	३/९/१	मार्थदृष्टिं	४/२९/४७
मायागुणैः	१/३/३०	मालां मधुव्रत–	३/२८/२८
मायागुणैरनु–	४/१/२६	मा वः पदव्यः	४/४/२१
मायाधिपे त्वयि	३/२३/१०	मा वेदगर्भ	३/९/२९
माया नाम	३/५/२५	मा वोऽनुताप–	३/१५/३६
मायानुभाव–	१/५/३१	मासेन तु	३/३१/३
माया परैत्यभिमुखे	२/७/४७	मासैरहं	४/९/३०
मायाबलं दर्शयता	३/२/१२	मा सौरभेयात्र	१/१७/९
मायाबलं भगवतो	३/९/९	मास्मिन् महाराज	४/१९/३४
मायाबलस्य पुरुषस्य	२/७/४१	मितमेध्यादनं	३/२८/३

मित्रस्य चक्षुषेक्षेत	४/७/३	मुनयस्तुष्टुवु	४/१/५३
मिथुनं ब्रह्म–	४/१/३	मुनिं नृपो	१/१९/३१
मिथुनीभूय	३/२०/४६	मुनिः पुलस्त्येन	३/८/९
मिथो निघ्नन्ति	१/१५/२४	मुनिगण–	१/९/४१
मिथा यदैषां	३/३/१५	मुनिर्विचष्टे	४/२४/५९
मिथो वधे–	१/११/३४	मुनिर्विवक्षुः	३/५/१२
मिथ्यामतिर्यद्	३/३१/२०	मुनिव्रतो मुक्त–	१/१९/७
मिषतो दश–	१/१२/११	मुनीन् प्रणम्या–	४/१२/२८
मीनद्वयाश्रयम्	३/२८/३०	मुनेः सुतोक्तो	१/१९/४
मुकुन्दसेवया	१/६/३६	मुमुक्षवो घोर–	१/२/२६
मुकुन्दसेव्यन्य–	१/५/१९	मुमुक्षुभिर्मृग्य–	४/८/२२
मुक्तलिङ्गं	३/२७/११	मुमुचुः प्रेम–	१/१३/६
मुक्तसङ्गप्रसङ्गो–	४/१६/१८	मुमुचुः सुमनोधाराः	४/१५/७
मुक्तसङ्गस्ततो	३/२९/३२	मुमोच निर्विद्य	१/४/१२
मुक्तसर्व–	२/८/६	मुष्णंस्तेज	४/७/१९
मुक्तान्यसङ्गो	४/२३/३७	मुष्णन्तमक्ष्ना	३/१८/२
मुक्ताश्रयं	३/२८/३५	मुहुः परिधयो	३/१७/८
मुक्तिर्हित्वा–	२/१०/६	मुहुः समारोपित–	४/४/२६
मुक्त्वात्ममायां	२/८/१०	मुहुरहो	१/१/३
मुखं प्रपश्यन्	३/१९/२८	मुहुर्गृणन्तो	३/८/६
मुखतस्तालुः	२/१०/१८	मुहूर्त्तात् सर्वम्	२/१/१३
मुखतोऽवर्त्तत	३/६/३०	मूर्च्छयित्वा	१/६/३३
मुखाम्बुजो	१/८/२४	मूर्च्छामाप्नोत्यु–	३/३१/६
मुखेन चेतो	३/२२/२१	मूर्त्तिः सर्व–	४/१/५१
मखेन लोकार्त्ति–	३/८/२७	मूर्द्धभिः सत्य–	२/५/३९
मुख्या नाम	४/२५/४९	मूर्ध्ना कृताञ्जलि–	४/७/२३
मुच्यतां मुच्यतां	१/७/४३	मृगयन्तीं पतिं	३/२१/२७
मुञ्चञ्छुचः	३/४/१४	मृगाननुगतः	१/१८/२४
मुदा मुहुः	१/१९/१८	मृगान् खगान्	२/१०/३९
मुनयः पदवीं	४/८/३१	मृगेन्द्र इव	१/१२/२२
मुनयः साधु	१/२/५	मृगेन्द्र–विक्रीडित–	४/१०/२०

मृगैः शाखामृगैः ४/६/२०
मृडयन्ति युगे १/३/२८
मृणाल-गौरायत- ३/८/२३
मृत्यावपानं १/१५/४१
मृत्युदूतः १/१४/१४
मृत्योः कृत्वैव ३/१४/६
मृत्योमूर्ध्नि- ४/१२/३०
मृदङ्गशङ्खभेर्यश्च १/१०/१५
मृदु तीव्रं ३/४/२२
मृदुत्वं कठिनत्वञ्च ३/२६/३६
मृद्वार्वयः- ४/४/६
मृधे मृधेऽनेक १/८/२४
मृषाऽधर्मस्य ४/८/२
मृषासमाधि- १/१८/३१
मृष्टचत्वर- ४/९/५७
मेघगम्भीरया वाचा समा- १/१७/४
मेघनिर्ह्रादया ४/१५/२१
मेढ्रं तस्य ३/६/१९
मेधातिथिर्देवल १/१९/१०
मेधा स्मृतिं ४/१/५०
मेध्यां गोचक्रवत् ४/९/२०
मेध्यानन्यांश्च ४/२६/१०
मेने तदात्मानम् ४/५/५
मेनेऽसन्तमिवा- ३/५/२४
मैत्रस्तु सर्वत्र १/१९/१६
मैत्रीं समाना- ४/९/३४
मैत्रेय औार्वः १/१९/१०
मैत्रेयमासीनम् ३/५/१
मैत्र्या चैवात्म- ३/२९/१७
मैनं पार्थार्हसि १/७/३५
मैनं मायाविनं ३/१८/२३
मोहं प्रसादं ४/२५/५५
मोहयन् मायया १/९/१८
मोहाय बोध- ३/९/१४
मोहो भवेदिह ३/१५/३६
मौक्तिकैः कुसुम- ४/२१/१
मौनं सदासन- ३/२८/५
मौर्व्याभिजघ्ने ३/१७/२६
म्रियते रुदतां ३/३०/१८

य

य आद्यो ३/२५/९
य आहवे ३/२/२०
य इदं मायया १/८/१६
य इदं शृणुयादम्ब ३/३२/४३
य इदं सुमहत् ४/२३/३१
य इदमनुशृणोति ३/३३/३७
य इन्द्रमश्व- ४/२४/५
य इमं श्रद्धया ४/२४/७६
य उत्तमःश्लोक- १/४/१२
य उत्तमःश्लोकतमस्य ४/२१/४९
य उद्धरेत् ४/२१/२४
य उद्यतमनादृत्य ३/२२/१३
य एक आसीत् १/१०/२१
य एक ईशो १/१०/२४
य एतदादाव- ४/१७/३१
य एतन्मर्त्त्य- ४/२/२१
य एतामात्म- ४/३०/१२
य एतेन पुमान् ३/९/४०
य एवं कर्म ४/२६/७
य एवं सन्तम् ४/२०/८
य एवमेतां ३/१३/५०

य एष उत्तानपदो ४/३१/२६
यं जिघांसथ ४/१९/३०
यं तं हिरण्याक्षम् ३/१७/१८
यं नित्यदा ४/२१/४३
यं पञ्चवर्ष– ४/१२/२३
यं पूर्वे ४/२/३१
यं प्रव्रजन्तम् १/२/२
यं मन्यसे १/९/२०
यं यमर्थम् ३/३०/२
यं योगिनो ३/१९/२८
यं रुक्मिणी ३/१/२८
यं वा आत्मविदां ४/२३/२९
यं वानयोर्दमम् ३/१६/२५
यं वै विभूतिः ३/१६/२०
यं सप्तरात्रं ४/८/५३
यः कर्णनाडीं ३/५/११
यः कर्मणां ३/१३/४७
यः कीर्त्त्यमानम् ४/२९/८४
यः कृष्णपादा– ३/१/३२
यः क्षत्रबन्धुर्भुवि– ४/१२/४३
यः क्षेत्रवित्त– ४/२२/३७
यः पञ्चभूत– ३/३१/१४
यः पञ्चवर्षो ४/११/२८
यः पञ्चवर्षो गुरु– ४/१२/४२
यः पञ्चहायनो ३/२/२
यः परं रहसः ४/२४/२८
यः पार्थिवान्यपि २/७/४०
यः पृष्टो मुनिभिः ३/२२/३८
यः प्राक् स्वदेहाद् ३/१७/१८
यः फाल्गुनात् ३/१/३१
यः श्रावयेद्यः ४/२९/८३
यः संयुगे त्वां ३/१७/३०
यः सन्निवेशः २/१/३८
यः ससर्ज प्रजा ४/३०/४९
यः सात्वतां ३/१/३४
यः साधितो ४/१७/१०
यः सृज्यशक्तिम् ३/११/१५
यः स्वकात् परतो १/१३/२७
यः स्वधर्मेण ४/२०/९
यः स्वां प्रतिज्ञां ३/१८/१२
यः स्वानुभाव– १/२/३
यक्षरक्षांसि ४/१८/२१
यक्ष्यमाणोऽश्व– १/१२/३३
यच्चकर्थाङ्ग ३/९/३८
यच्चर्वणं ते ३/१३/३८
यच्च व्रजन्ति ३/१५/२५
यच्चान्यदपि कृष्णस्य ४/१७/६
यच्चित्ततोऽदः २/२/२७
यच्छृण्वतां १/१/१९
यच्छेद्धारणया २/१/२०
यच्छौचनिःसृत– ३/२८/२२
यच्छ्रद्धया श्रुत– ३/५/४२
यच्छ्रद्धयैतद्– १/१५/५१
यच्छ्राद्धदेवस्य ३/१/२२
यच्छ्रीनिकेतम् ३/२८/३०
यच्छ्रीनिकेतममलं ४/१/५६
यच्छ्रोतव्यमथो १/१९/३८
यजंस्तल्लोक– ४/२४/७
यजते क्रतुभिः ३/३२/२
यजते यज्ञ– १/५/३८
यजमानपशोः ४/५/२४
यजेद्ष्टव्यम् ३/२९/१०

यज्जघ्निवान् पुण्य–	४/११/३३	यत् कृतः कृष्ण–	१/२/५
यज्जिह्वाग्रे	३/३३/७	यत् कृत्वेह यशो	३/१३/८
यज्जृम्भतोऽस्य	२/७/३०	यत्तः परेषां	४/१०/२२
यज्ञं यजेद्	२/३/७	यत्तत् त्रिगुणम्	३/२६/१०
यज्ञघ्नघ्नेन	४/४/३२	यत्तत् सत्त्व–	३/२६/२१
यज्ञविघ्नाः क्षयं	४/७/४७	यत्तत् समाधि–	३/२०/५३
यज्ञस्ते रुद्र	४/६/५३	यत्तेजसा	१/१८/४२
यज्ञस्य च	३/७/३०	यत्तेजसाथ	१/१५/१२
यज्ञात्मन् नलिन–	४/७/३३	यत्तेजसा नृप–	१/१५/९
यज्ञाय धृत–	३/१९/१३	यत्तेजसाहं	४/७/४१
यज्ञे च भागम्	२/७/२१	यत्तेऽनुताप–	३/१५/४७
यज्ञेन युष्मद्विषये	४/१४/२२	यत्त्वं दुहितरं	३/१२/३०
यज्ञेश्वरं यज्ञ–	१/१७/३३	यत् त्वं पितामहा–	४/१२/२
यज्ञेश्वरं विश्व–	४/७/२५	यत् त्वं पृच्छसि	३/१४/५
यज्ञेश्वरधिया	४/२०/३६	यत् त्वं षष्ठः	४/७/३७
यज्ञैर्यज्ञपतिः	४/२०/१	यत् त्वां विमुक्तिदं	३/२३/४७
यज्ञैर्विचित्रै–	४/१४/२१	यत् परोक्ष–	४/२८/६५
यज्ञोऽयं तव	४/७/३३	यत् पश्यन्तीनां	४/५/९
यतः पापीयसी	४/१३/४४	यत्पादपङ्कज–	२/७/४
यतः सन्धार्यमाणायां	२/१/२१	यत्पादपङ्कजपलाश–	४/२२/३९
यतिष्यति भवान्	४/८/३२	यत्पादपद्मं	४/४/१५
यतिष्यते ऋजुभिः	३/२५/२६	यत्पादपद्ममभवाय	१/१५/१७
यतो जगत्स्थान–	१/५/२०	यत्पाद–शुश्रूषण–	१/१४/३७
यतोऽप्राप्य	३/६/४०	यत्पाद–संश्रयाः	१/१/१५
यतोऽभवद्विश्वम्	३/२२/२०	यत्पादसेवाभि–	४/२१/३१
यतो विरोधः	४/१३/४४	यत्पादसौभगम्	१/१६/३३
यतो हि वः	४/८/८२	यत् पारमहंस्यमृषयः	२/७/१०
यत् कल्प्यताम्	३/१६/१२	यत् पारमहंस्येन	२/९/१७
यत्कारणं	३/१४/२९	यत् प्रसादं स	४/८/३०
यत् किञ्च लोके	२/६/४५	यत्प्रसादादिदं	३/१४/४७
यत्कीर्त्तनं	२/४/१५	यत्प्रह्वणाद्	३/३३/६

यत्र क्व वा	१/५/१७	यत्संस्थं यत्-	२/५/२
यत्र क्व वाथ	१/१७/३६	यत्सङ्कल्प-	३/२६/२७
यत्र ग्रहर्क्ष-	४/९/२०	यत् सन्निधावहमु	१/१५/८
यत्र चाद्यः पुमान्	३/१५/१५	यत्सम्भाषण-	४/२२/१९
यत्र तेज-	४/१२/४७	यत् सर्वभूत-	३/९/१२
यत्र धर्मदुघा	४/१९/७	यत् सानुबन्धे	३/५/४४
यत्र धर्मसुतो	१/९/१५	यत् साम्पराये	४/२०/१४
यत्र नारायणः	४/३०/३६	यत् सूरयो ३/४/१३,	४/१२/२५
यत्र नारायणो	३/४/२२	यत् सृष्टया स	३/३१/१९
यत्र निर्विष्ट-	४/२४/५६	यत्सेवया चरण-	३/१६/७
यत्र नैःश्रेयसं	३/१५/१६	यत्सेवया भगवतः	३/७/१९
यत्र पुत्रैश्च	३/७/२४	यत्सेवयाशेष-	४/२१/३९
यत्र प्रविष्ट-	३/३३/१९	यत् स्वयं भगवान्	३/२२/५
यत्र प्रसक्तो	१/१९/१४	यत् स्वयञ्चात्म-	३/६/३९
यत्र भागवता	४/२९/३९	यथा कृतस्ते	४/१/२९
यत्र यज्ञपतिः	४/१९/३	यथा क्रीडोप-	१/१३/४३
यत्र लोक-	३/२६/५२	यथाक्ष्नोर्द्रव्या-	३/३१/४५
यत्र विश्व इमे	३/७/२२	यथा गजेन्द्रो	३/१३/३४
यत्र स्फटिक-	४/९/६२	यथा गतिर्देव	४/४/१९
यत्रात्मयोनि-	३/२८/२५	यथा गन्धस्य	३/२७/१८
यत्रानुरक्ताः	१/१८/२२	यथा गावो	१/१३/४२
यत्रेड्यन्ते कथा	४/३०/३५	यथा गुणांस्तु	२/४/९
यत्रेदं दृश्यते	२/१/२४	यथा गोपायति	२/४/७
यत्रेदं व्यज्यते	४/२४/६०	यथाग्निना कोटरस्थेन	४/१७/१०
यत्रेदमादर्श	४/२१/४२	यथा चरेद्बाल-	४/२०/३१
यत्रेमे सद्-	१/३/३३	यथा जलस्थः	३/२७/१२
यत्रैव नियतो	१/१७/३७	यथा जले	३/७/११
यत्रोद्यतः क्षिति-	२/७/१	यथाञ्जसान्वीयुः	३/५/४६
यत्रोपगीयते	३/७/२०	यथा तथानु-	४/२९/६७
यत्रोपयातं	३/३१/२०	यथा तरोर्मूल-	४/३१/१४
यत्संश्रयाद्-	१/१५/७	यथा तृण-	४/२९/७६

यथात्मतन्त्रो	२/८/२३	यथार्कोऽग्निः	२/५/११
यथात्ममाया–	२/९/२६	यथावतारास्तव	३/३३/५
यथाधर्मं जुगुपतुः	३/२१/२	यथा वनं भीम–	४/११/३
यथा धर्मादय–	१/५/९	यथा वनान्निःसरतो	३/१३/४२
यथाधिकारा–	४/२१/३३	यथा वयञ्च	३/५/४९
यथा न कुर्यां	१/१९/२	यथा वातरथो	३/२९/२०
यथा नगेन्द्रो	३/१९/२६	यथाविदासिनः	१/३/२६
यथा नभसि	१/३/३१	यथाविध्युपसङ्गम्य	१/११/२१
यथा नभस्य–	४/३१/१७	यथाब्जषण्डे	१/११/२
यथा नभस्वन्तम्	२/६/३६	यथा सन्धार्यते	२/१/२२
यथानलो दारु–	३/८/११	यथा सर्वदृशं	४/२२/९
यथानलो दारुषु	४/२१/३५	यथासवो जाग्रति	४/३१/१६
यथा निगूढं	४/१३/४८	यथा ससर्ज	३/२१/५
यथानुभूतं	१/१३/१२	यथा ससर्जाग्रे	३/५/५
यथानुमीयते	४/२९/६३	यथा साङ्ख्येषु	३/२९/२
यथा पङ्केन	१/८/५२	यथासीत् तदुपाख्यास्ये	२/९/४५
यथा पदाङ्गुष्ठ–	४/२१/३१	यथासुखं	४/१८/३२
यथा पुत्राच्च	३/२८/३९	यथाहं मृत–	१/७/४७
यथा पुनः स्वे	३/५/६	यथा हरौ	२/७/५२
यथा पुमान्	४/७/५३	यथा हि पुरुषो	४/२९/३३
यथा पुरस्ताद्	२/१०/४८	यथा हिरण्याक्षः	३/१९/३२
यथा पुरुष	४/२८/६३	यथा हि सूत्याम्	१/१६/१
यथाप्ययात्	२/२/१	यथा हृषीकेश	१/८/२३
यथा प्रसुप्तं	३/२६/७१	यथा ह्यप्रतिबुद्धस्य	३/२७/२५
यथामति गृणन्ति	४/७/२४	यथा ह्यवहितो	१/२/३१
यथा मत्स्यादि–	१/१५/३५	यथेदं सृजते	२/४/६
यथा महानहं	३/३२/२९	यथेदानीं तथा	३/१०/१३
यथा महान्ति	२/९/३४	यथेन्द्रियैः पृथक्	३/३२/३३
यथा मां नाति–	३/१४/२२	यथैव सूर्यात् प्रभवन्ति	४/३१/१५
यथा यथा विक्रियते	४/२९/१७	यथोचितं यथा–	४/२२/५०
यथ रजांस्यनिलं	४/११/२०	यथोदितं स्व–	३/२४/२१

यथोपजोषं रचितै–	३/२३/२१	यदा जिघृक्षन्	४/२९/४
यथोपदेशं	४/१६/३	यदा जिहासु–	२/२/१५
यथोभयेषां	३/५/४९	यदा तदेवासत्–	२/६/४१
यथोर्णनाभिर्भगवन्	३/२१/१९	यदा तमेवानु	४/२८/२४
यथोल्मुकाद्–	३/२८/४०	यदा तु भवतः	३/२२/१०
यदङ्गजां स्वां	४/४/३०	यदा तु राजा	३/१/६
यदङ्‌घ्रिमूले	४/२१/३२	यदा तु सर्व–	३/९/३२
यदङ्‌घ्र्यभिध्यान–	२/४/२१	यदात्थ बहु–	३/१०/१०
यदत्र क्रियते	१/५/३५	यदात्मनाचरसि	४/७/३४
यदत्र युक्तं	३/५/२	यदात्मनि निरालोकम्	२/१०/२१
यदधर्मकृतः	१/१७/२२	यदात्मनोऽङ्ग–	१/१४/८
यदधातुमतो ब्रह्मन्	२/८/७	यदात्मानं पराग्–	४/११/१०
यदध्यन्यस्य प्रेयः	४/२२/३२	यदात्मानमविज्ञाय	४/२९/२६
यदध्रुवस्य देहस्य	३/३०/३	यदादिष्टं	४/३१/६
यदनुग्रहतः	२/१०/१२	यदा न योग–	३/२७/३०
यदनुध्यायिनो	४/९/५२	यदा न शासितुं	४/१३/४२
यदनुध्यासिना	१/२/१५	यदा नोपलभेता–	४/२८/४६
यदनुस्मर्यते	४/३०/२८	यदा परीक्षित्	१/१६/११
यदन्यदाशास्त	४/२०/३१	यदाभिषिक्तः पृथुः	४/१७/९
यदरोदीः सुर–	३/१२/१०	यदाभिषिक्तो दक्षस्तु	४/३/२
यदर्थमात्मनियमैः	३/२१/२३	यदा भ्रंशयितुं	३/२२/३४
यदर्थेन विना–	३/७/१०	यदा मनः सुविरजं	३/२८/१२
यदर्द्धमायुषस्तस्य	३/११/३४	यदा मुकुन्दो	१/१५/३६
यदविद्या च	२/६/२१	यदा मृधे	१/७/१३
यदसौ लोकपालानां	४/१३/२३	यदायतननिर्माणे	२/५/३२
यदस्तौषीर्गुणमयं	३/९/३९	यदा यस्यानुगृह्णाति	४/२९/४६
यदहं चोदितः	२/५/९	यदा रतिर्ब्रह्मणि	४/२२/२६
यदाक्षैश्चरितान्	४/२९/७८	यदा रहितम्	३/९/३३
यदा च पार्थ–	३/१/९	यदाशरणम्	१/७/१९
यदाचरत्	४/१६/२३	यदा सभायां	३/१/७
यदा चाहीन्द्र–	३/३२/४	यदा स सद्यो–	४/३/२५

यदा सस्मार ३/२३/३४
यदास्य चित्तम् ३/३२/२४
यदास्य नाभ्यान्नलिनाद् २/६/२३
यदा स्वभार्यया ३/१३/६
यदाह नो भवान् २/१०/४९
यदाह पादावभिवन्द्य ३/२/१७
यदाह योगेश्वर ३/४/२५
यदाह वैयासकिः २/३/२५
यदाह साक्षाद् ३/८/२
यदाहुर्वर्णये ३/२६/२
यदाहुर्वासुदेवाख्यं ३/२६/२१
यदा ह्यधर्मेण १/१०/२५
यदि न स्याद्गृहे ४/२६/१५
यदि प्रयास्यन् २/२/२२
यदि रचितधियं ४/७/२९
यदि व्रजिष्यस्यतिहाय ४/३/२५
यदीच्छसे ४/८/१९
यदीयते तत्र ४/३/२३
यदीश्वरे भगवति १/५/३२
यदुक्तं पथि ४/२४/१५
यदुताहं त्वया २/९/४५
यदुताह हरः ४/२४/१६
यदुत्तमःश्लोक– १/५/२२
यदुत्तमःश्लोकगुणाभि– १/१९/१९
यदुपश्रुत्य रहसि २/९/२२
यदुप्रवीरा १/१४/३८
यदून् यदुभिः १/१५/२६
यदृच्छयागतां तत्र ४/२५/२०
यदृच्छया गाम् १/१९/२५
यदृच्छया चोप– ४/२०/२६
यदृच्छया लब्धमनः ४/९/३६
यदृच्छया हेतुना २/८/७
यदृच्छयैवोपगताम् ३/२६/४
यदृच्छयोपस्थितेन ३/२७/८
यदेन्द्रियोप– ३/७/१३
यदेष पुंसाम् १/१०/२६
यदेष माऽपाङ्ग– ४/२५/३०
यदैकपादेन ४/८/७९
यदैकैकतरो २/१०/४२
यदैतेऽसङ्गता २/५/३२
यदैवमध्यात्म– ३/२७/२७
यदोः प्रियस्या– १/८/३२
यदोकः सर्व– ३/१३/१५
यदोपहूतो ३/१/१०
यद्ज्ञात्वा न ३/२७/२९
यद्गृहास्तीर्थ– ४/२२/११
यद्गृहा ह्यर्हवर्याम्बु– ४/२२/१०
यद्गृह्यमाणैः २/३/२४
यद्दर्शनं जन्मभिः ३/२१/१३
यद्दर्शनात् कृष्णम् ३/१/२३
यद्दुर्भगाया ४/८/१८
यद्दोःषु मा १/१५/१६
यद्दौःशील्यात् ४/१३/२८
यद्द्रोण–भीष्मा– ३/३/१४
यद्द्वैपरार्द्ध्यं २/२/२६
यद्द्व्यक्षरं नाम ४/४/१४
यद्धरेर्नाभि– ३/११/३६
यद्धर्मसूनोः ३/२/१३
यद्ध्यायतो दैव– ४/१९/३४
यद्बान्धवः कुरु– १/१५/१४
यद्बाहुदण्डगुप्तायां १/१४/३६
यद्बाहुदण्डाभ्युदया– १/१४/३८

यद्बुद्ध्यवस्थिति–	४/९/१५	यद्वाक्यतो धर्म	१/५/१५
यद्ब्रह्म नित्यं	४/२१/४२	यद्वा तपसि	३/९/३८
यद्ब्रह्मबन्धोः	१/७/१६	यद्वाम्ब ते	१/१६/२४
यद्ब्राह्मणस्य मुखतः	३/१६/८	यद्वा स भगवान्	२/१०/५०
यद्भक्तियोगानु–	४/२४/५९	यद्वासुदेवाभि–	३/८/४
यद्भक्तियोगोऽभयदः	४/२४/५३	यद्वासुदेवशरणा	२/७/१९
यद्भयाद्वर्षते	३/२९/४०	यद्वासुदेवेऽखिल–	१/३/३९
यद्भयाद्वाति	३/२९/४०	यद्विक्रमोच्छिष्टम्	४/२१/१०
यद्भेदबुद्धिः	४/२४/६१	यद्विजिज्ञासया	१/९/१६
यद्भ्राजमानं	४/१२/३६	यद्विज्ञानो यदा–	२/५/४
यद्यज्ञपूरुषः	४/१३/३३	यद्विदित्वा विमुच्येत	३/२६/१
यद्यत् करिष्यति	३/९/२३	यद्विदुर्ह्य–	३/२६/२८
यद्यत् परीक्षिदृषभः	२/८/२९	यद्विस्फुरन्मकर–	३/२८/२९
यद्यद्धिया	३/९/११	यद्वृत्तमनुतिष्ठन्	३/१२/३१
यद्यद्भूतक्रम–	२/७/४६	यद्वेणमुत्पथ–	२/७/९
यद्यद्येनासृजद्–	३/१२/३६	यद्वै व्रजे	२/७/२८
यद्यद्विधत्ते	३/२५/३	यद्व्रीडया नाभि–	४/२५/३१
यद्यप्यसौ	१/११/३३	यन्नः सुतप्तं	४/३०/४०
यद्यप्यस्त्रं	१/८/१५	यन्नः स्वधीतं	४/३०/३९
यद्यर्थितामी	४/३/८	यन्नः गृह्णन्ति भागान्	४/१३/२८
यद्यसद्भिः पथि	३/३१/३२	यन्न विज्ञायते	४/२९/३
यद्यूयं पितुः	४/३०/११	यन्न व्रजन्त्यघ–	३/१५/२३
यद्येषोपरता	१/३/३४	यन्नष्टनाथस्य	१/१८/४४
यद्योगमाया–	३/१३/४७	यन्नाभिपद्म–	३/९/२, २१
यद्राजसूयेन	३/१७/२८	यन्नाभिसिन्धु–	४/९/१४
यद्रिङ्गतान्तर–	२/७/२७	यन्नामधेय–	३/३३/६
यद्रूपं यदधिष्ठानं	२/५/२	यन्नामधेयमभि–	४/१०/३०
यद्रोमगर्त्तेषु	३/१३/३६	यन्नामभिर्ध्यायति	२/२/२
यद्वनस्पतयो	३/२९/४१	यन्नामानि च	३/१६/५
यद्वन्दनं यत्–	२/४/१५	यन्नाव्रजन् जन्तुषु	४/१२/३६
यद्वा अयं	३/१/२	यन्नित्यसम्बन्ध–	४/२१/४०

यन्निद्रयाऽमीलित–	३/८/१०	ययाभिभूतः पुरुषः	४/२८/३
यन्निर्व्यलीकेन	३/१३/९	यया सम्मोहितो	१/७/५
यन्नेति नेती–	२/२/१८	ययाहमेतत्	१/५/२७
यन्मनो मयि	३/९/३५	ययाहरद् भुवो	१/१५/३४
यन्मन्त्रिणो वैदुरिकं	३/१/१०	ययुः प्रभासं	३/३/२५
यन्मन्यसे ध्रुवं	१/१३/४४	ययुर्वैकुण्ठ–	३/१५/१३
यन्मर्त्त्यलीलौ–	३/२/१२	ययोः सुरस्त्रियः	४/६/२५
यन्मां त्वं मन्यसे	३/९/३६	ययोत्तानपदः	३/१४/६
यन्मां नृलोकान्	३/४/१२	ययोरेकतरेण	३/२९/३५
यन्मायया गहनया–	४/७/३०	ययोर्जन्मन्यदो	४/१/५१
यन्मायया दुर्जयया	२/५/१२	ययोस्तत्स्नान–	४/६/२६
यन्मायया नः	३/२१/२०	ययौ द्वारवतीं	१/१२/३७
यन्माययोरु–	३/३१/१५	ययौ मधुवनं	४/८/६२
यत्मूलकेता	३/५/३९	ययौ स्वधामान्	४/३०/४३
यन्मे संजगृहे	३/२४/१२	ययौ स्वधिष्ण्या–	४/६/८
यन्मेऽसूंस्त्यजतः	१/९/२२	यर्हि वाव महिम्नि	२/९/३
यन्मे हृदौत्कन्ठ्य–	२/६/३४	यर्ह्यम्बुजाक्षापससार	१/११/८
यन्मोचिता–	१/१५/९	यर्ह्यालयेष्वपि	२/७/३८
यमङ्ग शेपुः	४/१३/१९	यर्ह्येव कर्ण–	३/१५/४६
यमदूतौ तदा	३/३०/१९	यल्लोकपालो	३/८/१
यमभ्यषिष्णाच्छत–	३/१/२९	यल्लोकशास्त्रो–	४/२७/२५
यमादिभिर्योग–	१/६/३६	यवनैररिभी	४/२८/१५
यमादिभिर्योगपथैरभ्यसन्	३/२७/६	यवनोपरूद्धा–	४/२८/१३
यमानन्ति स्म	३/१/३४	यवसं जग्ध्यनुदिनं	४/१७/२३
यमावुतस्वित्	३/१/३९	यवीयसः सप्त	४/२८/३०
यमाहुराद्यं	३/७/२२	यवीयोभ्योऽददात्	४/२४/१
यमिह निरीक्ष्य	१/९/३९	यशः शिवं सुश्रव	४/२०/२६
यमुनोपवने कूजद्	३/२/२७	यशस्यमायुष्यम्	४/७/६१
यमेकमत्या	४/८/२१	यशो वितनिता	१/१२/२०
यमैरकामैः	४/२२/२४	यश्च मूढतमो	३/७/१७
यया पदं ते	३/२५/२८	यश्चानुशायिनां	२/८/२१

यस्तत्त्याजाग्रजं	३/२०/२
यस्तत्रोभयविच्छेदः	२/१०/८
यस्तत्स्त्रियोऽकृत	१/१५/१०
यस्तयोः पुरुषः	४/१/४
यस्तां विविक्त-	३/१६/२१
यस्तावदस्य	३/९/१७
यस्तु तत्र पुमान् सो-	३/१२/५३
यस्तून्मुखत्वाद्	३/६/३०
यस्तेऽभ्यधायि	३/२३/१०
यस्तेऽवमान-	४/२४/६७
यस्त्वं कृष्णे	१/१७/६
यस्त्वं शंससि	१/१८/११
यस्त्वत्र बद्ध इव	३/३१/१३
यस्त्वद्विधानाम्	३/१७/३१
यस्त्वन्तकाले व्युप्त	४/५/१०
यस्त्वेकवीरो	३/१/४०
यस्त्वेतयोर्धृतो	३/१६/३
यस्मा अदादुदधि-	२/७/२४
यस्मात् त्रिसाम्य-	२/७/४०
यस्मादण्डं विराड्-	२/६/२२
यस्माद्बिभेम्य-	३/९/१८
यस्मान्नः सम्पदो	१/१४/९
यस्मिंस्तपः	३/१५/१९
यस्मिन् कर्म-	२/८/१४
यस्मिन् दशविधः	३/७/२३
यस्मिन्नविद्या-	४/१६/१९
यस्मिन्नहनि	१/१८/६
यस्मिन्नहिंसो	१/१८/२२
यस्मिन्निदं भेदम्	४/११/२९
यस्मिन्निदं सदसद्	४/२२/३८
यस्मिन् नृणां	३/५/१२
यस्मिन् प्रतिश्लोकम्	१/५/११
यस्मिन् भगवतो	३/२१/३८
यस्मिन् भ्रमति	४/१२/३९
यस्मिन् यदा	४/६/४८
यस्मिन् विनष्टे	४/१४/१६
यस्मिन् विरुद्ध-	४/९/१६
यस्मिन् विरुध्य	२/७/२३
यस्मिन् हरि-	१/१७/३४
यस्मै बलिं विश्व-	४/११/२७
यस्मै यस्मै यथा	२/८/१
यस्य क्षण-	१/१५/६
यस्य ज्ञानोपदेशाय	३/५/२१
यस्य पालयतः	१/१७/४५
यस्य प्रसन्नो	४/९/४७
यस्य यद्दैव-	४/८/३३
यस्य राष्ट्रे पुरे	४/१४/१८
यस्य राष्ट्रे प्रजाः	१/१७/१०
यस्य वाचा प्रजाः	३/१५/८
यस्य विप्राः प्रसीदन्ति	४/२२/८
यस्य वो दर्शनं	४/२२/७
यस्य श्रद्दधतामाशु	२/१/१०
यस्यां दृढच्युतो	४/२८/३२
यस्यां महदवज्ञानात्	४/३०/४८
यस्यां वै	१/७/७
यस्यांशांशेन	१/३/५
यस्यां स्वतेजो-	३/१३/४४
यस्यां स्वधुर-	३/१४/१९
यस्याघमर्षोद-	३/५/४१
यस्याङ्घ्रि पद्मं	४/८/२०
यस्याङ्घ्रि पातं	३/१/३७
यस्याङ्घ्रिरेणुं	१/१८/२०

यस्यात्मतन्त्रस्य ४/६/७
यस्यानवद्याचरितं ३/१४/२७
यस्यानुरागप्लुत– ३/२/१४
यस्यानुवृत्त्या १/११/६
यस्याप्रतिहतं ४/१५/१०
यस्यामृतामल– ३/१६/६
यस्याम्भसि शयानस्य १/३/२
यस्यावतारकर्माणि २/६/३८
यस्यावतारगुण– ३/९/१५
यस्यावतारो भूतानां १/१/१३
यस्यावयव– १/३/३
यस्याहं हृदया– ३/१३/१९
यस्येदं देव– ४/२४/१०
यस्येदृश्यच्युते ४/२१/४८
यस्येन्द्रियं विमथितुं १/११/३६
यस्येहावयवैः २/५/३६
यां जीवधानीं ३/१३/३२
यां दुदोह ४/१७/३
यां मन्यते पतिं ३/३१/४१
यां यां शक्तिम् २/४/७
यां योगिनः ३/२/१९
यां विलोक्य ३/१९/१७
यां वीक्ष्य चारु– ४/२४/११
यां हर्म्यपृष्ठे ३/२२/१७
याः कर्दम— ४/१/१२
या करोति पदा– ३/३१/३८
याच्ञामृते पथि २/७/१७
याजयित्वाश्व– १/८/६
या त आत्मभृतं ३/२१/२९
यातनादेह– ३/३०/२०
याति जीवोऽन्ध– ३/३०/३३
या तुष्टा राज– ४/२७/२०
या ते दशाश्रु– १/८/३१
यादृशी वा २/१/२२
यादोगणाः ३/१७/२५
यादोगणानाम् ३/१७/२७
यानाह को ४/३/१५
यानि यानि च ३/२४/३१
यानि रूपाणि ४/१९/२३
या निर्वृतिः ४/९/१०
यानि वेदविदां १/१/७
यानीश्वरः कीर्त्तय ३/५/१६
यान्त्यञ्जसाच्युत– ४/१२/३७
यान्त्युष्मणा मह– ३/११/३०
यान् ब्राह्मणाः ४/६/४४
यान्यात्मतन्त्रो ३/५/५
यामधिष्ठाय ४/२९/५
या मामुद्धरते ४/२६/१६
यामाश्चत्वार– ३/११/१०
यामाश्रित्ये– ३/१४/२०
यामाहुरात्मनो ३/१४/१९
या यज्ञशालासु ४/४/२१
या याः कथा १/१८/१०
या यात्ना वै ३/३०/२९
यावतः कृतवान् १/१३/२
यावत्तेजो ३/२२/१९
यावत्ते मायया ४/३०/३३
यावत् पृथक्त्वम् ३/९/९
यावत्यः कर्मगतयो २/८/१३
यावत् सखा २/९/२९
यावदन्यं न ४/२९/७७
यावदर्थमलं लुब्धो ४/२६/६

यावदीशो महा–	१/१८/५
यावद्गदाग्रज–	४/२३/१२
यावद्भ्रमं रुद्र–	१/७/१८
यावद्दधार शूद्रत्वं	१/१३/१५
यावद्दिनं भगवतो	३/११/२३
यावद्‌बलिं तेऽज	३/५/४९
यावद्‌बुद्धि–	४/२९/७०
यावन्न जायेत	२/२/१४
यावन्न तेऽङ्‌घ्रिम्	३/९/६
यावन्न नङ्‌क्ष्यामह	४/१७/११
यावन्न वेद	३/२९/२५
यावन्मनो धारणया–	२/२/१२
यावन्मनोवचः	३/९/२६
या वा काचित्	३/२०/३५
यावानयं वै	२/८/८
यावानहं यथा–	२/९/३१
यावान् कल्पो	२/८/१२
या वीर्यशुल्केन	१/१०/२९
या वै लसत्–	१/१९/६
या वै स्वगर्भेन	३/१/३३
याश्चाहृता भौम–	१/१०/२९
यासां गृहात्	१/१०/३०
यासां व्रजद्भिः	४/३/१२
यास्ता देवर्षिणा	४/१३/५
यास्तामिस्रान्ध–	३/३०/२८
यास्तु श्रुता हत–	३/१५/२३
या स्त्री सा	४/१/४
यास्यत्ययं	१/१९/२१
यास्यन्त्यदर्शनमलं	२/७/३५
यास्वङ्ग प्रविशन्	३/३२/३८
या हि मे पृतना	४/२७/२९
युक्तं विरहितं	४/१२/६
युक्तः परः	१/२/२३
युक्तानुष्ठान–	३/३३/२४
युक्तेष्वेवं	४/२७/१२
युक्त्या कया	३/३१/१५
युगधर्म–	१/४/१६
युगानि युग–	२/८/१७
युज्यतेऽभिमतो	३/३२/२७
युञ्जतो नापकुरुत	३/२७/२६
युञ्जीत कर्म–	३/९/२३
युतं भगैः	२/९/१६
युधि तुरग–	१/९/३४
युधि निर्जित्य	४/२८/२९
युधिष्ठिरं प्रीति–	१/१०/२
युधिष्ठिरः कारयित्वा	१/९/४६
युधिष्ठिरस्तत्परि–	१/१५/३७
युधिष्ठिरस्तदाकर्ण्य	१/९/२५
युधिष्ठिरो धर्म–	१/१०/१
युधिष्ठिरो लब्ध–	१/१३/१६
युधिष्ठिरो वचस्तस्य	१/१३/६०
युयुजे ब्रह्मणि	४/२८/३८
युयोज युयुजे	४/३०/५१
युवैषतोत्–	१/४/११
युष्मत्कथामृत–	४/७/४४
युष्मत्कृते बहून्	१/९/१३
युष्मत्प्रसङ्ग–	३/९/१०
युष्माद्विधान् मृगये	३/१८/१०
युष्मद्व्यतिक्रम–	३/१६/१२
यूयं तदनुमोदध्वं	४/२१/२६
यूयं भवश्च	२/७/४३
यूयं वेदिषदः	४/२४/२७

येऽङ्ग त्वदङ्घ्रि–	३/१५/४८	येनाहमात्मा–	४/१७/३०
ये च प्रलम्ब–	२/७/३४	येनाहरज्जायमानो	४/१४/४६
ये च मे भगवन्	३/१०/२	येऽनिमित्त–	३/१५/१४
ये चान्वदः सुत–	४/९/१२	येनेदृशीं गतिम्	३/३१/१८
ये चान्वमोद–	४/२/२०	येनेदृशी गति–	३/३१/१२
ये तु त्वदीय–	३/९/५	येनेयं निर्मिता	४/२५/३४
ये तु मां रुद्र–	४/३०/१०	येनैवारभते	४/२९/६०
ये ते पदन्यास–	३/५/४५	येनैवासौ न	१/५/८
ये त्वब्जनाभ	४/९/१२	येनेवाहं	१/५/३१
ये त्वयाभिहिता	४/३०/१	येनैष मे	३/२३/११
ये त्वां भवाप्यय–	४/९/९	येनोच्छिष्टान्	३/२०/४१
ये त्वानन्येन	३/१५/६	येनोद्विग्नदृशः	४/१०/६
ये त्विहासक्त–	३/३२/१६	येनोपशान्तिः	४/३०/२९
ये देहभाजो	४/६/७	येनोपसृष्टात्	४/११/३२
येऽध्यासनं	१/१९/२०	येऽन्ये च पापा	२/४/१८
येन चैवाभिपन्नो	१/१३/२०	सेऽन्ये तपो–	४/३०/४१
येन पुण्यजनान्	४/११/७	येऽन्ये विभीषण–	२/७/४५
येन प्रजानाम्	३/५/९	येऽन्योन्यतो	३/२५/३४
येन प्रोक्तः क्रिया–	४/१३/३	ये ब्राह्मणान् मयि	३/१६/११
येन मामभयं	३/३३/११	येऽभ्यर्थितामपि	३/१५/२४
येन मेऽपहृतं	१/१५/५	येऽभ्यागतान्	४/३/१८
येन वा भगवान्	३/७/३५	ये मरीच्यादयो	३/२०/१०
येन सम्भाव्यमानेन	३/२५/७	ये मायया ते	३/२१/१४
येन स्वरोचिषा	२/५/११	ये मूर्द्धभिः	४/४/१६
येऽनागसौ वयम्	३/१६/२५	ये मे तनूः	३/१६/१०
येनाञ्जसा तरिष्यामो	४/३१/७	ये मे स्वधर्म–	३/२३/७
येनाञ्जसोल्बणम्	४/९/११	ये यक्षरक्षो–	२/६/४४
येनातिव्रज्य	३/२९/१४	ये योगिनो	३/३२/१०
येनापवर्गाख्य–	१/१८/१६	ये बर्हिषो	४/६/५
ये नारकाणामपि	४/२०/२३	ये वा ऋषीनाम्	२/६/४४
येनावबुध्यते	३/३२/३१	ये वा मृधे	२/७/३५

ये वृत्तिदं ४/१४/२३
ये वै पुरा २/२/३२
ये वै समन्तादनू ४/६/४१
येषां गुणगणैः १/१७/१७
येषां न चान्य– १/८/३७
येषां न तुष्टो ३/१३/१३
येषां बिभर्म्यं– ३/१६/९
येषां बृहत्– ३/१५/२०
येषां स एष २/७/४२
येषां संस्मरणात् १/१९/३३
येषामहं प्रिय ३/२५/३८
ये संयुगे ३/२/२४
ये संवसन्तो ३/२/८
ये सञ्चरन्त्य– ३/१५/२९
ये स्वधर्मं न ३/३२/५
येऽहीयन्तामुतः ३/२०/४८
यैः कोपितं १/७/४८
यैराश्रितस्तीर्थ– ३/२३/४२
यैरीदृशी भगवतो ४/२२/४७
यैर्वस्त्रमाल्या– ३/१४/२८
यैर्वै पौरञ्जनो ४/२७/९
यैस्तत्त्वभेदैः ३/५/८
योग आध्यात्मिकः ३/२५/१३
योगं क्रियोन्नतिः ४/१/५०
योगं तेनैव ४/२३/९
यो गजेन्द्रं ३/१९/३५
योगनिद्रा– ३/११/३२
योगर्द्धिमापु– २/७/४
योगस्य पारं ३/३१/३९
योगस्य लक्षणं ३/२८/१
योगादेशम् ४/२४/७१
योगिनः स ३/१६/१९
योगिनां नृप २/१/११
योगेन कस्तद् ३/२/१९
योगेन मय्य– ३/२५/२७
योगेन वा यत् ४/२०/१६
योगेन विविधा– ३/३२/३५
योगेश्वराखिल– १/८/४३
योगेश्वराणां २/२/२३
योगेश्वराधीश्वरः ३/५/६
योगेश्वरा ये १/१८/१४
योगेश्वरास्थापित– २/२/१०
योगेश्वरैः कुमाराद्यैः ३/३२/१२
योगेश्वरैरपि ३/१६/३७
योगेश्वरैश्वर्य– २/८/२०
योगेश्वरोपासनया ४/२२/२२
योगैर्हेमेव ३/१४/४६
योऽङ्कं प्रेम्णा– ४/८/६७
योजनानां सहस्राणि ३/३०/२४
यो जातस्त्रायते ३/६/३१
यो जायमानः ४/३०/५०
यो देववर्यो ४/१६/२
यो देहभाजां ३/८/२०
यो देहिनाम् ३/२३/६
योऽधियज्ञपतिं ४/१४/३२
योऽध्यात्मिकोऽयं २/१०/८
योऽनन्तशक्तिः १/१८/१९
योऽनात्मनां ३/१५/५०
योऽनाथवर्गा– ४/२५/४२
योऽनादृतो ३/९/४
यो नारदवचः ४/९/३२
यो नारदात् ४/३१/२७

यो नित्यदाकर्ण्य	४/७/६१
योनीनां गुण–	३/२८/४३
योऽनुयाति ददत्	३/३१/३१
योऽनुस्मरति	४/३०/९
योऽनेक एकः	४/१७/३२
यो नो जुगोप	१/१५/११
यो नौ हरेत	३/१५/३६
योऽन्तः प्रविश्य	३/२९/३८
योऽन्तः प्रविश्य मम	४/९/६
योऽन्तर्हितो हृदि	३/१५/४६
योऽन्यत्र भूसुर–	४/२६/२४
योपयाति शनैः	३/३१/४०
यो ब्रह्म क्षत्रम्	४/२१/५२
यो भीष्मकर्ण–	१/१५/१५
यो मां पयस्यु–	४/१७/३५
यो मां सर्वेषु	३/२९/२२
योऽमायया	१/३/३८
यो मायया विरचितं	४/१/५५
यो मायया हन्ति	३/१८/४
यो माययेदं	३/१३/४५
यो माययेदं पुरु–	४/२४/६१
यो मृग्यते	४/८/२३
यो मे स्वधर्म–	३/२३/७
यो योगिनश्छन्द–	१/९/२९
यो योगो भगवद्–	३/२५/२९
योऽर्केन्द्वग्नीन्द्र–	३/२१/५१
यो लीलयाद्रीन्	४/१६/२२
योऽवग्रहोऽहं–	३/२५/१०
यो वानुशायिनां	२/८/२२
यो वा अहञ्च	३/९/१६
यो वाऽभिधत्ते	३/३२/४३
योऽविज्ञाताहृतः	४/२९/३
योऽविद्ययानुप–	३/९/२०
यो विश्वसृग्–	४/३/२४
यो विस्फुरद्–	३/२/१८
यो वै चचार	२/७/१०
यो वै दौण्यस्त्र–	१/१८/१
यो वै प्रतिश्रुतम्	२/७/१८
यो वै ममाति–	१/१६/३५
यो वै स्वसृणां	३/१/२७
यो वै हिरण्याक्ष–	३/१९/३७
योषित्सङ्गाद्	३/३१/३५
योऽसावनागसः	१/७/३५
योऽसौ मया–	४/७/१५
यो ह्यात्ममायाभि–	२/६/३६
र	
रक्तं षडङ्घ्रि–	४/२९/५३
रक्तकण्ठखगा–	४/६/२९
रक्तेक्षणेन	३/१५/२८
रक्षति स्माव्ययो	३/२२/४
रक्षन् यथा	४/१४/१७
रक्षाकामः	२/३/८
रक्षिता वृत्तिदः	४/२१/२२
रक्षोगणाः	४/१०/२०
रघ्वम्वरीष–	२/७/४४
रचितात्मभेद–	४/७/३९
रजःप्रधाना–	३/२०/१३
रजसा कुण्ठ–	३/३२/१७
रजस्तमःप्रकृतयः	१/२/२७
रजस्तमःसत्त्वमिति	४/३१/१७
रजस्तमोभ्यामा–	२/१/२०
रजोजुषस्तात	४/९/३६

रजोऽधिकाः	३/१०/२६	राजन्यवंश–	१/८/४३
रजोभाजो–	३/१०/१८	राजन्यवर्य–	१/१५/१५
रञ्जयिष्यति यल्लोक	४/१६/१५	राजन् स्वदेशान्	४/१४/२१
रतिः प्रसङ्गश्च	१/१९/१६	राजन् हवींष्यदुष्टानि	४/१३/२७
रतिमुद्वहतात्	१/८/४२	राजमार्गं	१/११/२४
रतिरासो भवेत्	३/७/१९	राजर्षयश्च	१/९/५
रतिर्दुरापा	४/२२/२०	राजर्षिवर्या	१/१९/११
रत्नदण्डं	१/१०/१७	राजर्षिवर्येण	३/१/४०
रत्न प्रदीपा	३/३३/१७	राजर्षीणां जन–	१/१२/२६
रत्नोदधारौषधि–	३/८/२४	राजलक्ष्मीमनादृत्य	४/८/७०
रथं मृगेन्द्र–	१/१६/१२	राजा तम्	१/१३/६
रथाङ्गपाणा–	१/१८/४३	राजा धर्मसुतो	१/७/४९
रन्तिदेव इव	१/१२/२४	राजा न श्रद्दधे	४/९/३७
रमणं विहरन्तीनां	४/५/११	राजालब्धधनो	१/१२/३३
रममाणो गुणेष्वस्या	२/९/२	राजेत्यधान्नाम–	४/२२/५५
रमेत गत–	२/९/३	राजोरु मेने	३/१/९
रविं विना	१/११/८	राज्ञः कथमभूद्	४/१३/२१
रविकरगौर–	१/९/३३	राज्ञः प्रत्यागमद्–	१/१४/२२
रसज्ञः को	३/२०/६	राज्ञां कुलं	१/१९/१३
रसमात्रमभूत्	३/२६/४१	राज्ञां वृत्तिं	४/२४/६
रसमात्राद्–	३/२६/४४	राज्ञां स्वयं	१/१५/७
रसां गताया	३/१३/४५	राज्ञार्घं प्रापितं	१/१८/३२
रसातलं निर्विवेश	३/१८/१	राज्ञा परीक्षिता	२/१०/५२
रसाया लीलयो–	३/१३/४९	राज्ञो हि परमो	१/१७/१६
रसौकसां	३/१८/३	राज्यं बलं	४/२२/४४
रहोऽनुमन्त्रै–	४/२७/३	राज्यकामो मनून्	२/३/९
रहोरचितया–	३/३०/८	राज्ये चाविकले	२/४/२
राजंस्त्वयानु–	१/१५/२२	रातो वोऽनु–	१/१२/१६
राजन् किं	४/८/६४	राद्धं निःश्रेयसं	३/९/४१
राजन्नसाध्वमात्येभ्यः	४/१४/१७	राद्धं बत द्विज–	३/२३/१०
राजन् निर्गम्यतां	१/१३/१८	रामकृष्णाविति	१/३/२३

रामां निरमयन् ३/२३/४४
रावणः कुम्भकर्णश्च ४/१/३६
राष्ट्रं दक्षिण– ४/२५/५०
राष्ट्रमुत्तर– ४/२५/५१
राष्ट्राणि वा १/१६/२३
रासाय ते नम ३/९/१४
रासीश कामान् ३/२१/१४
रासोन्मुखः २/७/३३
रुचिर्यो भगवान् ३/२१/५
रुदन्तं विगत– ३/३१/२७
रुदन्तो रासभात्रस्ता ३/१७/१२
रुदन्त्यश्रुमुखा १/१४/१९
रुदन्निव हसन् ३/२/२८
रुद्धा गुहाः २/२/५
रुद्रः पतिर्हि ३/१४/३४
रुद्रगीतं भगवतः ४/२५/२
रुद्रञ्च स्वेन ४/७/५६
रुद्राणां रुद्र– ३/१२/१६
रुद्रोऽभिमत्या ३/२६/६९
रुरुजुर्यज्ञ– ४/५/१५
रुरुधुर्भौम– ४/२८/२
रुषा स्वदन्तच्छदम– ३/१९/७
रुषोपगूहमाणो ३/१९/२४
रूपं तवैतन्ननु ३/१३/३७
रूपं प्रियतमं ४/२४/४४
रूपं भगवता ४/३०/२७
रूपं भगवतो १/६/१९
रूपं यदेतद् ३/९/२
रूपं विचित्रम् ३/९/२४
रूपं विभ्राजितं ४/२९/१०
रूपं स जगृहे १/३/१५
रूपं स्थविष्ठमज– ४/९/१३
रूपञ्च दृष्ट्या २/२/२९
रूपद्रविणपण्येन ३/२०/३४
रूपभेदविद– ३/२९/३०
रूपभेदास्पदं ३/२९/३७
रूपमात्राद् ३/२६/४१
रूपवत् स्पर्श– २/५/२८
रूपाणां तेजसां २/६/३
रूपाणि दिव्यानि ३/२५/३५
रूपाणि धत्ते ३/१७/३१
रूपाणि स्थान– ३/२१/५१
रूपाभिकामः २/३/६
रूपाभिधानञ्च ३/५/९
रेतसांशेन ३/६/१९
रेतसा शिश्नम् ३/२६/६५
रेतस्तस्मादाप ३/२६/५७
रेतस्त्वजायां ३/५/५०
रेमात उद्दाय ३/१/३९
रेमे क्षणदया ३/३/२१
रेमे चिरं ३/२३/३९
रेमे निरस्त– ३/९/१९
रेमे स्त्रीरत्न– १/११/३५
रोमाण्युद्भिज– २/६/५
रोमोत्सवो १/१६/३६
रोरूयति गते ३/३१/२४
रोषं दहन्तमुत २/७/७
रोषं समुत्थं ३/१७/२९
रोहिद्भूतां ३/३१/३६

ल

लक्षणं भक्ति– ३/२९/१२
लक्षणं महदादीनां ३/२९/१

लक्षयामः कुमारस्य	४/८/२७	लिङ्गं न दृश्यते	४/२९/७२
लक्षये तत्र	१/१७/३६	लिङ्गञ्च तापसा–	४/६/३६
लक्षितः पथि	४/१३/१०	लिङ्गानि विष्णोर्न	२/३/२२
लक्ष्म्याखिलस्य	३/२८/२३	लीनप्रकृति–	१/१५/३१
लक्ष्यतेऽन्तर्गताः	३/११/४१	लीनेष्वसति	३/२७/१४
लघुनि वै	३/११/८	लीलया मिषतः	३/१९/९
लब्धयुष्मत्–	३/१५/७	लीलया वापि	३/७/२
लब्धापचितयः	१/१२/२९	लीलया व्यनुदत्	३/२/३०
लब्धावलोकैः	४/१/५७	लीलां हिरण्याक्षम्	३/२०/८
लब्धाशिषः पुनः	३/१५/४४	लीलाम्बुजेन	३/१५/२१
लब्ध्वा सभा	१/१५/८	लीलावतारान्	२/६/४६
लब्धोपशान्तिः	२/२/१६	लीलावतारानुरतो	१/२/३३
लब्ध्वा ज्ञानं	४/१७/५	लीलावलोक–	३/२/१४
लब्ध्वा द्रव्यमयीम्	४/८/५६	लीला विदधतः	१/१/१८
लब्ध्वापवर्ग्यं	४/२३/२८	लुप्तक्रियाया–	४/२/१३
लब्ध्वाप्यसिद्धार्थम्	४/९/२८	लुब्धकः कृतान्तो–	४/२९/५४
लब्ध्वा हरौ	१/१५/५१	लेभे गतिं	३/२/२३
लभेत वाताहत–	१/५/१४	लेभेऽञ्जसाधोक्षज–	३/१/३१
ललितगति–	१/९/४०	लोकं परं	१/१९/२१
लसत्कुण्डलः	१/११/१९	लोकं परं श्रीरिव	४/२५/२९
लसत्तुलस्या	३/२१/२०	लोकं मधुव्रत–	३/१६/२०
लसत्पङ्कजकिञ्जल्क–	३/२८/१४	लोकं विकुण्ठम्	२/७/३१
लसत्पङ्कजकिञ्जल्क–दुकूलं	४/२४/४७	लोकं स्वदेहं	३/२९/४३
		लोकः किलायं	३/२१/१६
लसद्विमानावलिभिः	२/९/१२	लोकः सपालः	४/६/६
लसन्महारत्न–	२/२/९	लोकत्रयस्य महती–	२/७/२
लाङ्गूलमुद्यम्य	४/१६/२३	लोकत्रयोप–	३/९/२१
लाजाक्षतैः पुष्पफलैः	४/९/५७	लोकधिक्कारसन्दग्धं	४/१४/१२
लालितो नितरां	४/९/६०	लोकसंस्थां यथा	३/२०/१७
लाल्यमानं जनैः	४/९/५३	लोकसंस्थान–	३/९/२८
लिखन्त्यधोमुखी	३/२३/५०	लोकस्य तमसा	३/२५/९

लोकस्य मिथ्या– ३/२९/५
लोकस्य यद्वर्षति ४/४/१५
लोकस्य सद्यो २/४/१५
लोकस्याजानतो १/७/६
लोकांश्च लोकानु– ३/२१/१७
लोकाः सपाला ४/२१/१०
लोकाः सपाला यस्येमे १/३१/४१
लोकाः सपाला ह्येतस्मै ४/१४/२०
लोकाः स्युः ४/२१/२३
लोकाननुचरन् सिद्ध ३/४/९
लोकानपापान् ४/२२/२
लोकानपीतान् ३/८/१२
लोकानलोकान् ३/५/८
लोकानितो व्रज– ३/१५/३४
लोका निरुच्छ्वास– ४/८/८०
लोकान् घ्नतां २/७/३७
लोकान्तरं गतवति ४/२८/१८
लोकान् नावारयन् ४/१४/४०
लोकान् विचक्रम २/७/१७
लोकान् विशोकान् ४/१४/१५
लोकान् सपाला– ३/१४/३९
लोकान् स मां १/१६/३४
लोकाय पत्नीम् ३/१३/४४
लोका विशोकाः ४/२५/३९
लोकास्त्रयो ह्यनु ४/१२/३६
लोके कपिलः ३/२४/१९
लोके च कीर्त्ति– ४/४/३०
लोके तेन ३/१५/२
लोकेऽधुनास्पष्ट– ४/१५/२२
लोके नाविन्दत ४/१७/१७
लोकैरमुष्यावयवाः २/८/११
लोकोऽग्रहीष्यद् ३/१६/२३
लोकोऽञ्जसा ४/१०/३०
लोकोऽधुना ४/५/८
लोको विकर्म ३/९/१७
लोभाद्यधर्म– १/१४/५
लोभाभिभूतमनसः ३/९/७
लोभाभिभूतो ३/३०/११
लोभोऽनृतं १/१७/३२

व

वंशं कुरो– १/१०/२
वंशं प्रियव्रतस्यापि ४/३१/२६
वक्तुं भवान् ३/४/२५
वक्तुमर्हसि यो– ४/१७/७
वक्तुं न ते ४/२६/२५
वक्त्रं निनीय १/८/३१
वक्त्रं भ्रुवा ३/१५/२८
वक्षःस्थलस्परश– २/७/२५
वक्षस्यधिश्रित– ४/७/२१
वक्षोऽधिवासम् ३/२८/२६
वज्राङ्कुशध्वज– ३/२८/२१
वज्र्याद्द्रवत् तं ३/३/५
वञ्चितोऽहं १/१५/५
वटवत्साश्च ४/१८/२५
वत्सं कल्पय ४/१८/९
वत्सं कृत्वा ४/१८/१२
वत्सं विश्वावसुं ४/१८/१७
वत्सं बृहस्पतिं ४/१८/१४
वत्सरं भूपतिं ४/१३/११
वत्सां मनोरुच्च– ३/२२/१८
वत्सेन पितरः ४/१८/१८
वदत्येवं जने ४/४/३१

वद नः सर्ग-	३/७/२७
वदन्ति चैतत्	२/४/२१
वदन्ति तत्	१/२/११
वदन्ति या निरय-	३/३१/३९
वदाञ्जसा यद्	३/४/१८
वधं भगवता	३/१४/४२
वधात् प्रपन्नार्त्ति-	३/१/४३
वधान्निवृत्तं तं	४/१९/१५
वधाय चासतां	३/२१/५०
वधो यदुप-	४/११/८
वनं गतस्तपसा	४/११/२८
वनं प्रव्रजिते	३/३३/२१
वनं मदादेश-	४/१२/४२
वनं यथा	३/१/२१
वनं विरक्तः	४/९/६७
वनं सौगन्धिक-	४/६/२३
वनकुञ्जरसंघृष्ट-	४/६/३०
वनस्पत्योषधि-	३/१०/१९
वनस्रजो वेणु-	३/८/२४
वनाद्रिनद्युद-	१/८/४०
वन्दे परं	३/३१/१४
वन्दे विष्णुं	३/३३/८
वपनं द्रविणा-	१/७/५७
वपुरलक-	१/९/३३
वपुरानन्दकरं	४/७/३२
वयं कर्मकरी-	३/२३/२७
वयं जयेम	३/१४/२०
वयं मरुत्वन्तम्	४/१९/२८
वयं राजन्	४/१७/१०
वयं व्रतैर्यत्-	३/१४/२६
वयञ्च तत्राभि-	४/३/८
वयन्तु न	१/१/१९
वयन्तु साक्षाद्भगवान्	४/३०/३८
वयन्त्वविदितो	४/१५/२६
वयांसि तद्व्याकरणं	२/१/३६
वरं मुहूर्त्तं	२/१/१२
वरं वरय भद्रं	२/९/२०
वरं वरार्होऽम्बुज-	४/१२/७
वरं वृणीध्वं	४/३०/८
वरं वृणीमहेऽथापि	४/३०/३१
वरं वृणीष्वेति	४/२०/३०
वरञ्च मत् कञ्चन	४/२०/१६
वरान् ददुस्ते	४/१९/४०
वरान् वदान्यो	३/१/२७
वरान् विभो	४/२०/२३
वराहतोको	३/१३/२०
वरीयानेष ते	२/१/१
वरुणः सलिल-	४/१५/१४
वर्गस्वर्गाप-	४/२१/३०
वर्णयन्ति महात्मानः	२/१०/२
वर्णयन्ति स्म	१/३/३५
वर्णश्रमविभागांश्च	३/७/२९
वर्णाश्रमाचारयुत-	१/१८/४५
वर्णितं वर्णनीयस्य	३/२२/३९
वर्त्तते भगवान्	४/१६/१४
वर्त्तन्तेऽनुयुगं	३/२९/४४
वर्त्तमानः शनैः	४/२८/३६
वर्त्तमानो वयस्याद्ये	१/६/२, ५
वर्त्तिष्यते कथन्त्वेषा	४/२८/१८
वर्त्तिष्यन्ते मयि	४/२८/२१
वर्त्मैतद्गृह-	४/२८/२०
वर्षति स्म यथा-	४/२२/५७

वर्षतीन्द्रे व्रजः	३/२/३३	वाचश्च नस्तुलसि–	३/१५/४९
वर्षतीन्द्रो दहत्य–	३/२५/४२	वाचस्पतीनामपि	४/१६/२
वर्षद्भिः पूयकेशा–	३/१९/१९	वाचां वह्नेर्मुखं	२/६/१
वर्षपूगसहस्रान्ते	२/५/३४	वाचा नु तन्त्र्या	४/२०/३०
वर्षो महीध्रमनघै–	२/७/३२	वाचाविक्लव	३/३३/९
वल्गुप्रकोष्ठ–	३/१५/४०	वाचा स्वांशेन	३/६/१२
ववन्दे शिरसा	१/११/२८	वाचो बभूवुरुशतीः	२/७/११
ववृधातेऽश्मसारेण	३/१७/१६	वाच्यमानोऽपि न	३/३०/१७
ववृषुः कुसुमैः	१/१०/१६	वाजिमेधैः	१/१२/३५
ववृषू रुधिरौ–	४/१०/२४	वाञ्छन्ति तद्वास्यमृते	४/९/३६
ववौ वायुः सुदु–	३/१७/५	वाण्यानुराग–	३/१६/११
वव्रो बृहद्व्रतं	४/२७/२१	वाण्या वह्निरथो	३/२६/५४
वशिष्ठ इन्द्र–	१/९/७	वाता न वान्ति	४/५/८
वशे सपालान्	३/१७/१९	वात्सल्ये मनुवत्	४/२२/६१
वसन्ति यत्र	३/१५/१४	वापीषु विद्रुम–	३/१५/२२
वसिष्ठशापाद्	४/२४/४	वाप्यामुत्पल–	३/३३/१९
वसुकामो वसून्	२/३/३	वाप्यो वैदूर्य–	४/९/६४
वसुकाल उपादत्ते	४/१६/६	वाम ऊरावधि–	३/४/८
वसुदेवस्य देवक्यां	३/२/२५	वामस्वभावा	१/७/४२
वसुधे त्वां	४/१७/२२	वायुं वायौ	४/२३/१५
वसुन्धरे येन	१/१६/२५	वायुनोत्क्रमतो–	३/३०/१६
वस्तुनो मृदु–	२/१०/२३	वायुभक्षो जित–	४/८/७५
वस्तून्योषधयः	२/६/२५	वायुर्वाति खर–	१/१४/१६
वस्त्रान्तेन निगूहन्तीं	४/२५/२४	वायुश्च बालव्यजने	४/१५/१५
वह्निर्वाचां	३/२६/६३	वायोरपि	२/५/२७
वाक्करौ चरणौ	३/२६/१३	वायोर्गुण–	३/२६/४७
वाक् तन्त्र्यां	१/१३/४२	वायोश्च स्पर्श–	३/२६/३८
वाक्यं सपत्न्याः	४/८/१६	वाय्वग्निभ्यां यथा	३/२८/१०
वाचं जुहाव	१/१५/४१	वाय्वात्मना खं	२/२/२८
वाचं दुहितरं	३/१२/२८	वारणेन्द्रं पुरस्कृत्य	१/११/१८
वाचं देवीं	१/१६/२२	वारमुख्याश्च शतशो	१/११/१९

वाराह इति ३/११/३७
वारुणीं मदिरां १/१५/२३
वार्त्तयांशेन ३/६/२१
वार्त्तां सखे ३/१/४५
वार्त्तापतिस्त्वत् ४/१७/११
वार्त्तायां लुप्य– ३/३०/११
वार्त्ताया दण्ड– ३/७/३२
वार्त्तासञ्चय– ३/१२/४२
वार्त्ताहर्त्त रति– ४/९/३८
वार्भिः श्रवद्भिः ४/१/१८
वाश्रेव वत्सकम् ४/९/१७
वासस्तु सन्ध्यां २/१/३४
वासुदेवकथो– १/१८/९
वासुदेवपरं ज्ञानं १/२/२८
वासुदेवपरा योगाः १/२/२८
वासुदेवपरा वेदाः १/२/२८
वासुदेवपरो धर्मो १/२/२८
वासुदेव–प्रसङ्गेन ३/२२/३६
वासुदेवस्य कलया ४/८/७
वासुदेवाङ्घ्रि– १/१५/२९
वासुदेवात् परो २/५/१४
वासुदेवाय कृष्णाय ४/३०/२४
वासुदेवाय शान्ताय ४/२४/३४
वायुदेवाय सत्त्वाय ४/३०/४२
वासुदेवे भगवति आत्म– २/४/४
वासुदेवे भगवति कुर्वन्त्यात्म– १/२/२२
वासुदेवे भगवति नान्यद्– ४/२८/३९
वासुदेवे भगवति भक्ति– १/२/७, २/२/३३, ३/३२/२३, ४/२९/३८
वासुदेवे भगवति सर्वज्ञे ३/२४/४५
वासुदेवे भगवति ह्येकान्तम् १/१५/५०
वासो यथा ३/२८/३७
वाहांश्च पुरुष– १/१४/१३
विकत्थनं तव ३/१८/१०
विकर्षन् महतीं ३/२१/५३
विकर्षसि त्वं ४/२४/६५
विकल्पे विद्यमाने ४/८/२८
विकारैः सहितो ३/११/४०
विकीर्णविद्योत ३/१४/२५
विकीर्यमाणः कुसुमै १/१०/१८
विकृष्यमाणः प्रसभं ४/२८/२५
विक्रमो भूर्भुवः २/६/७
विक्रम्यैनं मृधे ३/१८/२७
विक्रीडतीं कन्दुक– ३/२२/१७
विक्रीडितं कारण– ३/१९/३७
विक्लिद्यमानहृदयः ४/१२/१८
विगतात्मगति– ४/२८/९
विगर्ह्य यात ४/२/३२
विगाह्यागाध– ३/१६/१४
विगीयमाना प्रिय– २/९/१३
विग्लापयत्यङ्ग ३/२/२२
विघूर्णितापतद् ३/१९/३
विचक्षणा यच्चरणो– २/४/१६
विचक्षणोऽस्या– १/५/१६
विचक्ष्य दुष्प्रेक्ष्यम् ४/१९/२७
विचरन् पदम् ४/२८/५५
विचिकित्सितमेतन्मे २/४/१०
विचिक्युरुर्व्याम् ४/१३/४८
विचित्रदिव्या– ३/८/२५

विचित्रमार्गान्	३/१८/१९	वितर्कयन् विविक्तस्थ	१/४/२७
विचिन्तयन्नात्म–	१/१९/१	वितर्कयन्तो बहुधा	३/२०/३३
विचिन्वती किं	४/२५/२८	वितर्क्यलिङ्गो	२/४/१९
विचिन्वतोऽभूत्	३/८/२०	वितायमानयशस–	४/१/२२
विच्छायासि	१/१६/२०	वितायमानेन सुराः	४/१४/२२
विजगाहे महा–	३/१७/२४	वितृषोऽपि	४/६/२६
विजयरथ–	१/९/३९	वित्तदेहे–	४/२/२६
विजयसखे रतिः	१/९/३३	वित्तस्य चोरु–	३/२/३२
विजयाभिमुखो	४/२३/३६	विदधति पापम्	४/३१/२१
विजानीहि तथैवेदम्	२/५/८	विदित्वा तव	३/२१/२३
विजिताः सूर्यया	४/२४/१२	विदित्वार्थं	३/२५/३१
विजिताश्वं धूम्र–	४/२२/५३	विदुः प्रमाणं	४/६/७
विजिताश्वोऽधि–	४/२४/१	विदुः सनन्दादय	४/९/३०
विजित्य लोके	३/१७/२८	विदुरस्तद्	१/१३/१८
विज्ञानतत्त्वं	२/२/३०	विदुरस्तीर्थ–	१/१३/१
विज्ञानदृग्वीर्य–	२/२/१९	विदुरस्तु तदा–	१/१३/५९
विज्ञानशक्तिं	२/१/३५	विदुरोऽपि परि–	१/१५/४९
विज्ञानशक्तिरहम्	३/९/२४	विदुरोऽप्युद्धवात्	३/४/३३
विज्ञानस्य च	२/६/१२	विदूरकाष्ठाय	२/४/१४
विज्ञानात्मनि	१/१३/५५	विद्धः सपत्न्युदित–	२/७/८
विज्ञानात्मात्म–	३/५/२७	विद्याकामस्तु	२/३/७
विज्ञापयामास	१/१९/१२	विद्यातपोयोग	४/६/३५
विज्ञाय तावुत्तम–	४/१२/२१	विद्यातपो–योग–समाधि–	२/२/२३
विज्ञाय निर्विद्य	४/१३/३८	विद्यातपोवित्त–	४/३/१७
विज्ञाय शापं	४/२/२०	विद्यातपोव्रत–	४/७/१४
विडम्बनं यद्वसु–	३/२/१६	विद्यात्मयोग–	३/२३/७
विडूरुरङ्घ्रिश्रित–	२/१/३७	विद्यादयो विविध–	४/९/१६
विन्मूत्रकूप–	३/३१/१७	विद्या दानं	३/१२/४१
वितत्य नृत्य–	४/५/१०	विद्याधरीभिरुप–	३/२३/३८
वितन्वताजस्य	२/४/२२	विद्याधरीसहस्रेण	३/२३/३७
वितरिष्ये यया	३/२४/४०	विद्याबुद्धि–	४/२/२४

विद्याविचक्षणम्	३/२३/९
विद्युत्क्षिपन्मकर–	३/१५/४१
विद्योतमानं वपुषा	३/२१/४६
विद्योतमानः प्रमदो–	२/९/१२
विद्योतयन्नर्क	३/८/१४
विद्योतितामल–	३/२८/२९
विद्रावितं क्रोध–	४/५/१
विद्वान् स्वप्न	४/२८/४०
विद्वेषमकरोत्	४/२/१
विद्वेषस्तु यतः	४/२/३
विधत्से स्वेन	१/७/२४
विधत्स्व कर्णायुतम्	४/२०/२४
विधत्स्व वीराखिल–	४/२०/१३
विधमन्तं सन्निकर्षे	१/१२/१०
विधाय कात्स्न्र्येन	४/७/८
विधाय कृत्यं	४/२३/२२
विधाय दुदुहुः	४/१८/१६
विधाय वत्सं	४/१८/२२
विधाय वैरं	१/११/३४
विधिः साधारणो	२/१०/४७
विधित्समानो–	१/१०/२२
विधित्सु–	३/३/५
विधिवत् पूजयाञ्चक्रे	४/२२/४
विधीयते साधु	४/३/२२
विधुन्वता वेदमयं	३/१३/४६
विधूतकल्कोऽथ	२/२/२४
विधूतकल्मषास्थानं	१/१५/४८
विधूय तदमेयात्मा	१/१२/११
विधेम चास्यै	३/१३/४४
विधेहि तन्नो	४/८/८१
विध्वस्तः पशुपतिना–	४/७/३३
विनद्य भूयो विबुधो–	३/१३/२८
विनष्टासु स्व–	३/१९/२४
विना हरेर्गुण–	४/२२/२३
विनिःसृता	४/११/३
विनिन्द्यैवं स	४/२/१७
विनिर्गच्छन्	१/१८/३०
विनिर्जिताशेष	३/१/१२
विनिर्द्धुताशेष–	४/२१/३२
विनिर्मितं भाति	४/३/११
विनिर्मितञ्चात्म–	२/६/३७
विनिर्वर्त्तितभ्रम–	४/७/३९
विनिश्चित्यैवमृषयो	४/१४/४३
विनिष्क्रामति कृच्छ्रेण	३/३१/२३
विनुदन्नटते	४/८/३८
विनोपपत्तिं	४/२४/६७
विन्दते पुरुषः	४/२४/७७
विन्दन्ति भद्राण्य–	१/१८/४२
विन्दन्ति हि	२/४/१६
विन्देत भूयः	३/५/२
विन्यस्तचरणाम्भोज–	३/२१/११
विन्यस्तनानातनवे	४/१७/२९
विन्यस्तयासित–	३/१५/२८
विन्यस्तहस्तमितरेण	३/१५/४०
विन्यस्तहस्ताग्र–	४/२०/२२
विन्यस्य तस्य	३/१८/८
विपणस्तु क्रिया–	४/२८/५८
विपदः सन्तु नः	१/८/२५
विपद्गणाद्–	१/१३/८
विपन्नान् विष–	३/२/३१
विपर्ययः केन	४/६/४५
विप्रकीर्णजटा–	१/१८/२७

विप्रप्रियस्तुष्यति	४/२१/३९
विप्रलब्धो महिष्यैवं	४/२५/६२
विप्रर्षभान् कृतो–	३/२४/२४
विप्रर्षिजुष्टं	४/४/६
विप्रशापविमूढानां	१/१५/२२
विप्राः सत्याशिषः	४/१९/४१
विप्राणां देव–	३/१६/१७
पिप्राणां सौरभेयीनां	३/१८/२२
विप्रान् नत्वा	१/१३/३१
विप्रान् नु को	३/१६/९
विप्राश्च वृद्धाश्च	४/३०/३९
विप्लवोऽभूद्	४/२६/९
विवभाजात्मना	३/६/७
विबुधासुरगन्धर्व–	४/२४/१२
विभज्य तनयेभ्यः	४/२८/३३
विभज्य नवधा	३/२३/४४
विभावनायात्त–	४/८/२०
विभाव्य लोभा–	१/१५/३७
विभुं तमेवानु–	१/१५/२
विभूतये यत	४/७/३४
विभूषितं मेखलया–	२/२/११
विभ्रंशितार्थ–	३/२३/८
विभ्राजयद्दश दिशो	४/१२/१९
विभ्राजितं जनपदं	४/२५/४७
विमर्शितौ	१/१९/५
विमानं कामगं	३/२३/१२
विमानयानाः	४/३/६
विमानितां यज्ञ–	४/४/७
विमुक्तसङ्गं मनः	१/९/३०
विमुक्तसङ्गोऽनुभजन्	४/२९/८२
विमुक्तो जीव–	४/११/१४
विमुच्यते ब्रह्म–	३/१९/३७
विमुच्य रसना–	१/७/५६
विमुञ्चात्मतनुं	३/२०/२८
विमृज्य तेत्रे	३/२/६
विमृज्यमाना	३/१३/४६
विमृज्याश्रूणि	१/१३/३६
विमृश्य लोक–	४/१४/७
विमोचिताहञ्च	१/८/२३
विमोहिता विकत्थन्ते	२/५/१३
विम्बाधरं विगत–	४/२६/२५
विरक्तश्चेन्द्रियरतौ	४/८/६१
विरक्तिमन्यत्र	३/५/१३
विरजं कृत–	३/२३/३०
विरजेनात्मना	४/२/३५
विरागो येन	३/२९/३
विराजते भूधर–	३/१३/४२
विराजमतपत्	३/६/१०
विराट् तदैव	३/२६/७०
विराट् प्राणो	३/६/९
विराट् स्वराट्	२/६/४२
विरिञ्चतामेति	४/२४/२९
विरिञ्चवैरिञ्च्य–	१/११/५
विरिञ्चिमुख्या	३/१३/३५
विरिञ्चोऽपि तथा	३/१०/४
विरोचमाना–	२/२/११
विरोधि तद्	४/४/२०
विलक्ष्य देत्यं	३/१८/२१
विलक्ष्यैकत्र	३/२८/२०
विलज्जतीनां	१/११/३२
विलज्जमानया यस्य	२/५/१३
विलासहासेक्षित–	३/२५/३६

विलीयन्ते तदा ३/७/१३
विलुम्पन् विसृजन् २/९/२६
विले वतोरुक्रम– २/३/२०
विलोकितुं ४/२०/२१
विलोक्य चामर्ष– ३/१९/७
विलोक्य तत्रान्यद्– २/९/७
विलाक्य भूतेश– ४/६/२२
विलोक्य मुमुहे ३/२६/५
विलोक्य सञ्जात– १/११/३१
विलोक्य सम्मोह– ३/२२/१७
विलोक्यानुगतां ४/२३/२३
विलोक्योद्विग्न– १/१४/२४
विवक्षमाणो ३/८/८
विवक्षोर्मुखतो २/१०/१९
विवत्सामश्रु– १/१७/३
विविक्त उपसङ्गम्य ३/२४/२६
विविक्त एकः १/४/१५
विविक्तरुच्या ४/२२/२३
विविक्तशरणः ३/२७/८
विविक्षुरत्यगात् ४/२१/४७
विवित्सवस्तत्त्वम् ३/८/३
विवृद्धविज्ञान– ३/१०/६
विवेश भवनं ४/२१/५
विवेश वह्निं ४/२३/२२
विशङ्कयास्मद्– ४/२४/६७
विशन्तु शिव– ४/२/२९
विशारदो नृपतिं २/३/२५
विशीर्णकुक्षिः ३/१३/३१
विशीर्णदन्तो १/१३/२२
विशीर्णबाह्वङ्घ्रि– ३/१९/२६
विशीर्णां स्वपुरीं ४/२८/७
विशुद्धं केवलं २/६/४०
विशुद्धज्ञान– ४/२८/४१
विशुद्धया धारणया १/९/३१
विशुद्धविज्ञान– ४/२१/३४
विशुद्धेन तद्– ३/३३/२५
विशुष्यत्तालु– १/१८/२७
विशृण्वतो मे– १/५/२८
विशेषतो धर्म– १/१७/४१
विशेषस्तस्य २/१/२४
विशेषस्तु २/५/२९
विशोको ब्रह्म– १/१५/३१
विशोऽवर्त्तन्त ३/६/३२
विश्रभ्य विप्रा १/१९/२४
विश्रम्भादभ्यधत्त ३/४/२४
विश्रम्भेणात्म– ३/२३/२
विश्रुतौ श्रुत– ३/२५/२
विश्वं पुरुषरूपेण २/६/३२
विश्वं युगान्ते ३/३३/४
विश्वं रुद्रभय– ४/२४/६८
विश्वं विचक्षते ३/११/१७
विश्वं विध्वंसयन् ४/२४/५६
विश्वं वै ब्रह्म ३/१०/१२
विश्वं समस्तं ३/१३/४७
विश्वं सृजसि ४/६/४३
विश्वमात्मगतं ३/२६/२०
विश्वस्थित्युद्भव– ३/५/२२
विश्वस्य जन्म– ३/५/४३
विश्वस्य यः ३/१६/३७
विश्वात्मनीक्षेत्र ४/७/३८
विश्वान् देवान् २/३/४
विश्वावसुर्न्यपतत् ३/२२/१७

विश्वेश्वरे द्रष्टरि	२/२/१४	विस्मापनं स्वस्य	३/२/१२
विश्वोद्भवस्थिति–	३/९/१४,	विस्मापितः	१/१५/१२
	४/१/२६	विस्रंसितानुरुभये	२/७/१२
विषण्णचेतसस्तेन	३/९/२७	विस्रस्तपौंस्नम्	४/२६/२६
विषयानभिसन्धाय	३/२९/९	विस्रस्तमोह–	३/३३/१
विषयौ याति	४/२५/४९	विहातुमिच्छेन्न	१/५/१९
विषान्महाग्नेः	१/८/२४	विहाय जायाम्	४/२६/४
विष्णुप्रजाया	३/१/३३	विहारस्थान–	३/२३/२१
विष्णुर्गत्यैव	३/२६/६७	वीक्षन्तः स्नेह–	१/१०/१३
विष्णुर्विरिञ्चो	४/१४/२६	वीक्षमाणोऽपि	१/६/२०
विष्णोर्धाम परं	३/११/४२	वीक्ष्याकुप्यन्	४/३०/४४
विष्णोर्नु वीर्य–	२/७/४०	वीक्ष्योढवयसं	४/९/६६
विष्वक्सेनाङ्घ्रि–	४/९/४३	वीक्ष्योत्थितान्	४/१४/३७
विसर्गादानयो–	४/११/२४	वीतं यदा मनः	३/२५/१६
विससर्ज तनुं	३/२०/३९	वीरः स्वपशुम्	४/१९/१७
विससर्जात्मनः	३/२०/१९	वीरमातरमाहूय	४/१४/२
विसिस्म्यू राज–	४/२४/२३	वीरवर्य पितः	४/२१/४८
विसृज्य कामं	३/२३/३	वीरश्चाश्वम्	४/१९/२२
विसृज्य तञ्च	१/१८/४०	वीरासनानुगमन–	१/१६/१७
विसृज्य तत्र	१/१५/४०	वीरेष्वथो वीर–	१/७/१३
विसृज्य दौरात्म्यम्	२/२/१८	वीर्यं हिरण्मयं	२/१०/१३
विसृज्य वा यथा	२/८/२३	वीर्यश्रियां	३/२४/३२
विसृज्य सर्वान्	३/२५/४०	वीर्यापहो दुर्मद–	३/१७/२८
विसृज्येहोभयं	३/३०/३०	वीर्ये त्वदीये	३/२१/२९
विस्फुरत्तडिता दिक्षु	४/१०/२३	वृकोदरश्च	१/१०/१०
विस्फूर्जच्चण्ड–	३/२१/५२	वृकोदराविद्ध–	१/७/१३
विस्फूर्जयन्नाजगरं	४/१६/२३	वृक्णे स्वशूले	३/१९/१५
विस्फूर्जितैर्धनुषः	२/७/२५	वृजिनं नार्हति	१/७/४६
विस्मयं परमापन्नो	४/५/२३	वृणीमहे ते	४/३०/४०
विस्मर्त्तूमीशीत	३/२/१८	वृणीष्व तेऽहं	४/२०/१६
विस्मर्यते कृतविदा	४/९/८	वृणीहि कामं	४/१२/७

वृतं चतुःषोडश–	२/९/१६	वेदेषु गुह्येषु	१/१०/२४
वृतश्च बालैः	१/१९/२५	वेदोपवेद–	२/८/२०
वृतो रथाश्व–	१/१६/१२	वेद्यं वास्तवम्	१/१/२
वृत्तिं नु वा	३/१६/२५	वेपथुश्चापि	१/१४/११
वृत्तिभिर्लक्षणं	३/२६/२२	वेपमानं	१/१७/२
वृद्धः कुलपतिः	१/४/१	वेषं विधाय	२/७/३७
वृद्धानुवृत्त्यापि	१/१८/१८	वैकारिकस्तु यः	३/१०/२७
वृद्धान् दशार्द्ध–	३/१५/३०	वैकारिकस्तैजसश्च	२/५/२४, ३/५/२९, ३/२६/२४
वृद्धाश्रयं संवृणते	४/२१/४४		
वृषं मृणाल–	१/१७/२	वैकारिकाद्–	३/२६/२७
वृषरूपेण किं	१/१७/७	वैकारिकान्मनो	२/५/३०
वृषस्य नष्टां	१/१७/४२	वैकारिकाश्च ये	३/५/३०
वृषहंससुपर्णस्थान्	४/१/२४	वैकारिको देव–	३/१०/१७
वृषेन्द्रमारोप्य	४/४/५	वैकुण्ठं तद्–	३/१६/२७
वेणः प्रकृत्यैव	४/१४/१०	वैकुण्ठलीला–	३/२८/६
वेणस्यावेक्ष्य	४/१४/७	वैकृतास्त्रय एवैते	३/१०/२७
वेणाङ्गजातस्य	४/१६/२	वैक्लव्यबाष्प–	३/१५/२५
वेणापचाराद्	४/१९/३७	वैखानसा वालिखिल्यौ–	३/१२/४३
वेत्थ त्वं सौम्य	१/१/८	वैचित्रवीर्या–	४/२३/३८
वेत्थेदं द्रोण–	१/७/२७	वैजयन्त्या स्रजा	३/१७/२१
वेत्रेण चास्खलयताम्	३/१५/३०	वैण्यस्तु धुर्यो–	४/२२/४९
वेदगर्भोऽभ्यधात्	२/४/२५	वैण्यस्य चरितं	४/२३/३७
वेदद्रुमं विटपशो	२/७/३६	वैण्यस्य दक्षिणे	४/१५/९
वेद ह्यप्रतिरुद्धेन	२/९/२४	वैण्ये यज्ञपशुं	४/२९/११
वेदा यथा मूर्त्ति–	१/१९/२३	वैतानिके कर्मणि	४/१/६१
वेदाहं ते	४/९/१९	वैदूर्यकृतसोपाना	४/६/३१
वेदाहमङ्ग	२/७/४३	वैदूर्यमारकत–	३/१५/२०
वेदाहमन्त–	३/४/११	वैमानिकाः सललनाः	३/१५/१७
वेदाहमाद्यं	३/२४/१६	वैमानिकानत्यशेत	३/२३/४१
वेदे च तन्त्रे	४/२४/६२	वैयासकिश्च	२/३/१६
वेदे विविच्योभय–	४/४/२०	वैयासकेरिति	२/४/१

वैयासकेर्जहौ	१/१८/३	व्यरोचतालं	१/१९/३०
वैराग्यभक्त्यात्म–	३/१३/४१	व्यर्थापि दुःख–	३/९/९
वैराग्यरागो	१/९/२६	व्यवस्थितं पद्म–	३/१९/७
वैराग्यसारं	३/५/४६	व्यवस्थितानामनु–	२/४/१३
वैराजः पुरुषो	२/१/२५	व्यवहितपृतना–	१/९/३६
वैशम्पायन एवैको	१/४/२१	व्यसनं वीक्ष्य	१/८/१३
वैशसं नरकं	४/२९/१५	व्यसनार्णवम्	३/१४/१८
वैशसं नाम	४/२५/५३	व्यसनावाप एतस्मिन्	४/२२/१३
वैश्यः पठन्	४/२३/३२	व्याजाह्वयेन	२/७/३५
वैश्यस्तदुद्भवो	३/६/३२	व्याधस्याप्यनु–	३/१४/३६
वैश्रम्भके सुरसने	३/२३/४०	व्यालम्बि–नीलालक–	४/२५/३१
वैश्वानरं याति	२/२/२४	व्यालम्बिपीत–	३/२८/२४
वैष्णवं तेज	१/८/१६	व्यालान्विष्टे विषय–	४/७/२८
वैष्णवं यज्ञसन्तत्यै	४/७/१७	व्यालालयद्रुमा	४/२२/११
वैहायसानामुत	२/२/२२	व्यासक्तचित्तस्य	१/१९/१४
व्यक्तं त्वमुत्कृष्ट–	४/३/२०	व्यासाद्यैरीश्वर–	१/८/४६
व्यक्तमात्मवता–	४/२२/१६	व्युज्जहर्थ त्रयीगात्र	४/७/४६
व्यक्ताव्यक्तमिदं	४/११/१७	व्युत्पादितं	३/१५/३३
व्यग्रैर्हिरण्मय–	४/७/२०	व्युत्स्रक्ष्य एतत्	४/४/२३
व्यङ्गे रथ इव	४/२६/१५	व्युदस्तमायागुण–	४/२०/२९
व्यज्येदं स्वेन	३/९/४४	व्युपाश्रितं	४/६/३९
व्यञ्जिताशेष–	४/२१/१८	व्युष्टः सुतं	४/१३/१४
व्यतीताः कतिचित्	१/१४/२	व्यूढं हरिन्मणि–	३/२८/२५
व्यदधात् यज्ञ–	१/४/१९	व्यूढवक्षा बृहत्–	४/२१/१६
व्यपाश्रितं	४/११/२९	व्योमेव तत्र	२/७/४९
व्यपेतनर्म–	४/४/२३	व्योम्नि प्रविष्ट–	३/१७/६
व्यपेतसंक्लेश–	२/९/९	व्रजन्तमिव मातङ्गैः	४/६/१३
व्यपोह्य देह	१/१८/२२	व्रजन्ति तच्चरण–	२/२/३७
व्यभादिलायामिव	३/१८/१९	व्रजन्ति तत्	१/१८/२२
व्यमुञ्चन् विविधा	३/१७/१०	व्रजन्ति निर्भिद्य	४/११/५
व्यरुदन् देव–	३/१७/१३	व्रजन्ति भद्राणि	४/१२/३६

व्रजन्तीः सर्वतो ४/३/६
व्रजस्त्रियः सं- १/१०/२८
व्रजस्त्रियो दृक्- ३/२/१४
व्रजे च वासो ३/२/१६
व्रजेम तत् ३/५/४२
व्रजेम सर्वे ३/५/४३
व्रतं स आस्थितो ३/२४/४२
व्रतानि चेरे ३/१/१९
व्रीडानुराग- ३/३/७
व्रीडा ममाभूत् ४/४/२२
व्रीडावलोकनिहतो १/११/३६
व्रीडावलोक-विलसद्- ३/२३/९
व्रीडाविलम्ब- ४/२६/२३
व्रीडोत्तरौष्ठो- २/१/३२

श

शक्तित्रय- ४/२४/४३
शक्तेः शिवस्य ४/६/४२
शक्त्यधीश ४/२८/५८
शक्त्याप्रमत्तैः ३/१३/१०
शक्त्या युक्तो ४/२४/१८
शक्त्यृष्टिभिर्भुशुण्डीभि- ४/१०/११
शङ्खचक्रगदापद्ममाला- ४/२४/४८
शङ्खचक्रगदापद्मैः ४/८/४७
शङ्खञ्च तत्कर- ३/२८/२७
शङ्खतूर्यनिनादेन १/११/१८
शङ्खतूर्यमृदङ्गाद्या ४/१५/८
शङ्खदुन्दभिघोषेण ४/२१/५
शङ्खदुन्दुभिनादेन ४/९/४०
शङ्खाब्जचक्र- ४/७/२०
शतं व्यतीयुः ३/२३/४६
शतक्रतुं ४/२०/१८
शतक्रतुर्न ४/१९/२
शतक्रतुश्चरमे ४/१६/२४
शतभागस्तु ३/११/६
शतरूपा महा- ३/२२/२३
शतान्येकादश ४/२७/६
शनकैर्भगवत् ३/२/६
शनैर्जितश्वास- ३/८/२१
शनैर्व्युदस्या- ४/८/४४
शनैर्हृदि स्थाप्य ४/४/२५
शप्यमाने ४/५/२१
शब्दब्रह्मणि दुष्पारे ४/२९/४५
शब्दब्रह्मात्मनः ३/११/४७
शब्दमात्रम् ३/२६/३२
शब्दो न यत्र २/७/४७
शमयिष्यामि ४/१७/२५
शमोदमस्तपः साम्यं १/१६/२७
शमो दमो ३/३१/३३
शम्बरं द्विविदं ३/३/११
शम्याप्रास १/७/२
शयान उन्नद्धमदो ४/२७/४
शयानः परि- ३/३०/१७
शयानमिममुत्सृज्य ४/२९/६१
शयाने त्वयि ३/२१/५५
शयिष्यसे वीर- ३/१७/३१
शय्यासनाटनविकत्थन- १/१५/१९
शरं धनुषि सन्धाय ४/१७/१५
शरच्छशिकरैः ३/२/३४
शरणं तं ४/१/२०
शरणोपसृतं १/१४/४१
शरण्यः सर्वभूतानां ४/१६/१६
शरण्यो नावधीत् १/१७/३०

शरासनं	१/१६/११	शास्त्रेष्वियानेव	४/२२/२१
शरीर एष	४/२१/३५	शिखरेष्विन्द्र–	३/२३/१८
शरैरविध्यन्	४/१०/१०	शितविशिख–	१/९/३८
शशंस निर्व्यलीकेन	४/७/१२	शिथिलावयवो	४/२८/१५
शशंसुः साधवो	१/९/४५	शिवद्विषं धूम–	४/४/१०
शशान् वराहान्	४/२६/१०	शिवापदेशो	४/२/१५
शशास गामिन्द्र	१/१०/३	शिवाय नः	३/५/१५
शश्वत् प्रशान्तमभयं	२/७/४७	शिवाय नस्त्वं	३/१८/२६
शश्वत् स्वरूपमह–	३/९/१४	शिवाय न्यस्त–	३/१४/३५
शश्वन्निवृत्ततमसः	३/९/२	शिवाय लोकस्य	१/४/१२
शस्ताः कुर्वन्ति	१/१४/१३	शिवाय हानीय	१/४/११
शस्ताङ्कुरांशुकैः	४/८/५५	शिवावलोकात्	४/७/१०
शस्त्रमिज्यां	३/१२/३७	शिविराय	१/७/३४
शस्त्रैरस्त्रन्वितैः	४/५/२३	शिवैषोद्य–	१/१४/१२
शकान्नशिष्टम्	१/१५/११	शिशयिषोरनु–	१/६/३०
शान्तघोर–	३/२६/२६	शिशिरस्निग्धताराक्षः	४/२१/१९
शान्ताः समदृशः	४/१२/३७	शिष्यैः प्रशिष्यै–	१/४/२३
शान्तिं मे	४/२०/१०	शिष्यैरुपेता	१/९/८
शान्तिः सुखं	४/१/४९	शीतोष्णवातवरषैः–	३/९/८
शापो मयैव	३/१६/२६	शीतोष्णवातवर्षाणि	४/२८/३७
शाब्दस्य हि	२/२/२	शीर्षहीनः	४/७/३६
शाब्दे ब्रह्मणि	२/४/१०	शीर्ष्णावनामं	१/६/२६
शायितोऽशुचि–	३/३१/२६	शीर्ष्णोऽस्य	३/६/२७
शारदेन्दीवर–	३/२६/२८	शीलं तदीयं	४/२२/४८
शारद्वतं गुरुं	१/१६/३	शीलौदार्य–	४/२७/७
शारीरके	३/३१/१९	शुकमध्यापयामास	१/७/८
शारीरा मानसा	३/२२/३७	शुकमुखादमृत–	१/१/३
शावौ करौ	२/३/२१	शुक्लं कृष्णं	४/२९/२७
शाश्वतीरनुभूयार्त्तिं	४/२८/२७	शुक्लप्रोक्तान्	३/२२/१९
शासतोऽन्यान्	१/१७/१६	शुक्लात् प्रकाश–	४/२९/२८
शास्ता भविष्यति	२/७/३८	शुचिश्रवाः सत्य–	१/५/१३

शुचौ देशे ३/२८/८
शुचौ विविक्त २/१/१६
शुद्धं समं २/७/४७
शुद्धं स्वधाम्न्यु- ४/७/२६
शुद्धञ्च तत्रा- १/१९/२४
शुद्धाय शान्ताय ४/३०/२३
शुद्धिकामो १/१/१६
शुध्यन्ति तस्मै २/४/१८
शुनां कपीनामिव १/१८/४५
शुभ्रातपत्र- ३/१५/३८
शुल्वं सुतस्य २/७/३०
शुश्राव शब्दं ४/१०/२२
शुश्रूषणे प्रावृषि १/५/२३
शुश्रूषतां नो १/१८/१५
शुश्रूषमाणः शीलेन २/९/४०
शुश्रूषमाणश्च १/१९/२२
शुश्रूषमाणे १/५/२४
शुश्रूषया चारष- ४/२३/२०
शुश्रूषया परमया ३/२३/६
शुश्रूषया सौहृदेन ३/२३/२
शुश्रूषो श्रद्दधानस्य १/२/१६
शून्योऽस्मि १/१४/४४
शूरो मातामहः १/१४/२६
शूलपट्टिश- ४/६/१
शृगालोलूक- ३/१७/९
शृणुयाच्छ्रावयेत् ४/२४/७८
शृणोति गायति ३/१९/३७
शृणोत्यलं १/१५/५१
शृण्वंस्तद्गुण- ४/९/५९
शृण्वतः श्रद्दधानस्य नित्यदा ४/२९/३८
शृण्वतः श्रद्दधानस्य सद्यः ४/१/४५
शृण्वतः श्रद्धया नित्यं २/७/४३, २/८/४
शृण्वतां स्वकथाः १/२/१७
शृण्वतो ध्यायतो ३/२२/३५
शृण्वन्ति गायन्ति १/५/११
शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्य- १/८/३६
शृण्वन्ति येऽन्य- ३/१५/२३
शृण्वानोऽनु- १/११/१०
शृण्वीत भक्त्या ३/१३/५०
शेते काम-लवान् ४/२९/२५
शेते गुहायां ३/५/६
शेते पुमान् ४/९/१४
शेतेऽर्दिताङ्गो ४/३/१९
शेते विण्मूत्रयो- ३/३१/५
शेते स्म माया- ३/३३/४
शेषोऽधुनापि २/७/४१
शोकः स्पृहा ३/९/६
शोकाश्रुसागर- ३/२८/३२
शोकेन रोषेण ४/४/३
शोकेन शुष्यद्- १/१५/२
शोचत्यश्रुकला १/१७/२७
शोचस्यथो १/१६/२२
शोचामि रहितं १/१६/३१
शोच्योऽस्य- १/१७/६
शोणायितेन ३/८/२७
श्च्योतद्घृत- ३/१६/८
श्मशानचक्रा- ३/१४/२५
श्यामं सदापीव्य- १/१९/२८
श्यामश्रोण्यधि- ४/२४/५१

श्यामावदातं ३/४/७
श्यामावदाताः २/९/११
श्यामे पृथावुरसि ३/१५/३९
श्यामो हिरण्य– ४/७/२०
श्यामौ किशोरा– ४/१२/२०
श्रद्दधानस्य बालस्य १/५/२९
श्रद्दधानाय ३/१४/४
श्रद्दधानाय भक्ताय ३/३२/४१
श्रद्दधानाय भक्ताय त्वं ४/१३/२४
श्रद्धत्स्वाननुभूतो– ४/२९/६५
श्रद्धत्स्वैतन्मतं ३/३३/११
श्रद्धयात्मविशुद्ध्यर्थं ३/६/३४
श्रद्धयैतदनुश्राव्यं ४/२३/३५
श्रद्धातपोमङ्गल– ४/२१/४२
श्रद्धा त्वङ्गिरसः ४/१/३३
श्रद्धान्विताः ४/२४/६२
श्रद्धामङ्गिरसे ३/२४/२२
श्रद्धा मैत्री ४/१/४८
श्रद्धाय वाक्यं ४/९/३८
श्रद्धा रति– ३/२५/२५
श्रद्धालवे ३/८/९
श्रद्धासंयम– ४/२२/६
श्रद्धासूत ऋतं ४/१/४९
श्रद्धाहुतं यत् ४/२१/४१
श्रम एव परं ४/२०/४
श्रवः सुश्रवसः ४/१७/६
श्रवण–स्मरणार्हाणि १/८/३५
श्राद्धस्य च ३/७/३३
श्रान्तं शयानं ४/८/६६
श्रान्तस्य कर्म– ३/२९/५
श्रान्तेव दृष्टिः ३/२०/३६
श्रावयित्वा ब्रह्मलोकं ४/३१/२३
श्रावयेच्छृणुयात् ४/२३/३१
श्रावयेत् श्रद्दधानानां ४/१२/५०
श्रियं भगवतीं ३/२५/३७
श्रियः पतिं २/९/१४
श्रियं पतिर्यज्ञपतिः २/४/२०
श्रियः सवर्णेन ३/३/३
श्रियमनुचरतीं ४/३१/२२
श्रिया दृशा ४/८/१६
श्रियानपायिन्या– ४/२४/४९
श्रिया विहीनः ३/३०/१२
श्रियेतरैरङ्ग ४/८/२३
श्रियो निवासो १/११/२६
श्रीकृष्ण श्रीकृष्णसख– १/८/४३
श्रीनिकेतं ३/४/६
श्रीनिवास श्रिया ४/७/३६
श्रीमत्पदैः १/१६/३४
श्रीमद्दीर्घ– १/२२/९
श्रीमद्भागवते १/१/२
श्रीमद्भिस्तत्– १/१७/२६
श्रीरूपिणी ३/१५/२१
श्रीर्यत् प्रवव्रे ४/२०/२६
श्रीर्यत्र रूपिण्युरुगाय– २/९/१३
श्रीलक्ष्मणं २/२/१०
श्रीवत्सलक्ष्म ३/१६/२१
श्रीवत्सवक्षः– ३/८/२८
श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत्– ३/२८/१४
श्रीवत्साङ्कं घनश्यामं ४/८/४७
श्रीविष्णुपद्या २/३/२३
श्रीह्री–विभूत्यात्म– २/६/४५
श्रुतं भागवतात् ४/७/६०

श्रुतधनकुल– ४/३१/२१
श्रुतमन्वीक्षितं ४/२९/५६
श्रुतवांस्तत्– १/७/१
श्रुतस्य पुंसां ३/१३/४
श्रुतानि मे ३/५/१०
श्रुतानुभावं ३/३२/११
श्रुतेन तपसा ४/३१/११
श्रुतेन भूयसा ४/११/३१
श्रुतेश्च विद्वद्भिः ३/६/३७
श्रुत्वा दृष्ट्वा– ४/९/६५
श्रुत्वा नृपासन– ४/१४/३
श्रुत्वा भगवता १/७/२९
श्रुत्वा भागवतं ३/१४/५१
श्रुत्वा हरि– २/७/१६
श्रुत्वैतच्छ्रद्धया– ४/१२/४६
श्रूयतां ब्रह्म– ४/२/९
श्रेणीनां २/८/१८
श्रेयः प्रजा– ४/२०/१४
श्रेयसामपि ४/३१/१३
श्रेयसामिह ४/२४/७५
श्रेयस्त्वं कतमत् ४/२५/४
श्रेयांसि तत्र १/२/२३
श्रेयो दिशत्य– ४/८/६०
श्रोण्योरध्यस्तया ३/२३/३२
श्रोतव्यः कीर्त्तितव्यश्च २/१/५, २/२/३६
श्रोतव्यः कीर्त्तितव्यश्च ध्येयः १/२/१४
श्रोतव्यादीनि २/१/२
श्रोतुमर्हति ३/२२/८
श्रोत्रं त्वग्घ्राण– २/५/३१
श्रोत्रेण कर्णौ ३/२६/६४
श्रोत्रेण चोपेत्य २/२/२९
श्रोत्रेणांशेन ३/६/१७
श्रोष्यत्यात्माश्रिता ४/१६/२६
श्लक्ष्नया सूक्तया ४/१/२५
श्लाघिष्ठचारु– १/१५/१०
श्लाघ्यानि कर्माणि ४/१६/३
श्वफल्कपुत्रो ३/१/३२
श्वभोजनं ३/१४/२८
श्वविड्वराहोष्ट्र– २/३/१९
श्वसञ्छ्वो २/३/२३
श्वसन् रुषा ३/१/११
श्वसन् रुषा दण्ड– ४/८/१४
श्वादोऽपि ३/३३/६
श्वा शृगालो ३/१०/२४
श्वेतातपत्रव्यजन– ४/४/५
श्वेतातपत्रशशि– ४/७/२१
श्वेतोत्पल– ३/२१/१०

ष

षट्कुलं पञ्च– ४/२८/५६
षट्त्रिंशद्वर्षसाहस्रं ४/९/२२
षट्त्रिंशद्वर्षसाहस्रं शशास ४/१२/१३
षट्पञ्चवर्षो ४/१२/४३
षडङ्घ्रिगणसामगीत– ४/२९/५४
षडिमे प्राकृताः ३/१०/१८
षड्भिर्जरायुना ३/३१/४
षड्वर्गनक्र– ४/२२/४०
षण्णेम्यनन्तच्छदि ३/२१/१८
षष्ठमत्रे– १/३/११
षष्ठस्तु तमसः ३/१०/१७
षाड्वर्गिकं १/३/३६

षोडश्युक्थौ ३/१२/४०

स

स आत्मानं ३/२०/४९
स आदिदेवो २/९/५
स आदिराजो ४/२०/२१
स आरूढ–नृपस्थान ४/१४/४
स आश्रयः परं २/१०/७
स आहतो विश्व– ३/१९/२६
स इत्थं गृणतः ३/१२/३३
स इत्थं चोदितः ३/७/८
स इत्थं भगवान् ३/१३/४९
स इत्थं लोक– ४/२०/१७
स इत्थमत्युल्बण– ३/१/१६
स इत्थमादिश्य ४/६/८
स इत्थमापृष्ट– ३/७/४२
स इत्थमुद्वीक्ष्य ३/८/१९
स उग्रधन्वन् ३/२२/२१
स उच्चकाशे १/११/२
स उत्तमःश्लोकमहन्– ४/२०/२५
स उत्तरस्य १/१६/२
स उत्थितः ३/१३/३३
स उपव्रज्य ३/२०/२५
स उपामन्त्रितो २/८/२७
स एकदा महेष्वासो ४/२६/१
स एकदा हिमवतो ४/२५/१३
स एवं ब्रह्मपुत्रेण ४/२२/४१
स एवं स्वान्तरं ३/२२/३६
स एव गोधनं ३/२/२९
स एव जीव– १/७/२४
स एव पुरुष– २/५/३५
स एव पुर्यां ४/२७/१८
स एव प्रतिबुद्धस्य न ३/२७/२५
स एव प्रथमं १/३/६
स एव भक्ति– ३/२९/१४
स एव भगवानद्य ३/२४/२९
स एव भगवान् द्रोणः १/७/४५
स एव भूयो १/१०/२२
स एव मां हन्तुम् ४/१७/३०
स एवमादीन्यनवद्य– ४/२१/७
स एवमाराधित– ३/४/२०
स एवमुत्सिक्त– ३/१७/२९
स एवमृषिवर्योऽयं ३/१/५
स एव लोके १/१२/३०
स एव विश्वं सृजति ४/११/२५
स एव विश्वस्य ३/३३/३
स एव साधुषु कृतो ३/२३/५५
स एव साधुषु कृतो मोक्ष– ३/२५/२०
स एवाद्याक्ष्नो– ४/७/४२
स एवानुमतो ३/१६/३
स एवान्येषु– ३/११/२१
स एवेदं जगद्धाता २/१०/४३
स एवेदं ससर्जाग्रे १/२/२९
स एष आत्मात्मवताम् २/४/१९
स एष आद्यः २/६/३९
स एष एत १/१७/४३
स एष दोषः ३/१/१३
स एष नर– १/११/३५
स एष प्रकृतिं ३/२६/४
स एष भगवाँल्लिङ्गैः २/५/२०
स एष भगवान् कालः १/१३/१९

स एष यर्हि	३/२७/२	संवत्सरश्चण्डवेगः	४/२९/२०
स एष लोकान्	४/२४/६५	संवत्सरसहस्र–	३/६/३८
स एष साधो	३/४/१२	संवत्सरावसानेन	३/११/१३
संक्लेशनिर्वाणम्	१/५/४०	संवादः सम–	१/४/७
संक्षोभमक्षर–	३/१५/४३	संविधाय महेष्वास	४/२/३४
संख्यातानि	३/११/१९	संवीक्ष्य शङ्कितमनाः	२/७/३०
संगीयमानसत्–	३/२२/३३	संशयोऽत्र तु	४/२९/५७
संग्रहेण मया–	४/८/५	संशयोऽथ	३/२६/३०
संग्रहोऽयं विभूतीनां	२/७/५१	संसरन्त्विह	४/२/२४
संग्राहितः पुरु–	३/३१/१८	संसाद्य गत्या	२/२/३०
संछिन्नः संशयो	३/७/१५	संसारदुःखं	३/५/३९
संज्ञापितान्	४/२५/७	संसारहेतूपरमश्च	२/२/६
संनियम्यात्मना–	४/८/२४	संसारिणां	१/२/३
संपश्यतो मन	३/९/८	संसृतिस्तद्व्यवच्छेदो	४/२९/३६
संपृच्छे भव	४/२२/१५	संस्तूयमानो न्यवदत्	४/१२/१
संप्रश्रयप्रणय–	३/२३/९	संस्थां विज्ञाय	२/४/४
संप्रसीदति	३/७/३५	संस्थाञ्च पाण्डु–	१/७/१२
संप्लवः सर्वभूतानां	२/८/२१	संस्थानभुक्त्या	३/११/३
संमृज्यमाने	३/५/४२	संस्थापयिष्यन्नज	४/१७/३४
संयच्छ रोषं	४/११/३१	संस्थापयैनां	३/१३/४४
संयान्त्यपावृतम्	३/९/१६	संस्थाप्य चास्मान्	३/१८/१२
संरम्भभीमम्	४/२६/२५	संस्थाप्य मूढ	३/१८/४
संरम्भमार्गाभि–	३/२/२४	संस्थाप्य वृत्तिं	३/५/५
संरम्भसम्भृत–	३/१६/२६	संस्थाविभेदास्तव	३/१३/४०
संरम्भी भिन्न–	३/२९/८	संस्थास्यते यत्र	३/२२/२०
संराधितो	३/५/४	संस्थितेऽतिरथे	१/९/१३
संरोहयित्वा	१/१०/२	संस्पर्द्धया दग्धम्	३/१/२१
संलक्ष्यते स्फटिक–	३/१५/२१	संस्मारितो	४/३/१५
संलालितं	३/२८/२३	संहत्य दैवयोगेन	३/२०/१४
संवत्सरः परि–	३/११/१४	संहत्यान्यो–	१/७/३०
संवत्सरशतं	३/११/१२	संहत्य स्वकुलं	३/४/२९

स कथं तद्- १/१८/३४
य कथं सेवया ३/२/३
स कदाचित् १/४/१५
स कर्णदुःशासन- ३/३/१३
स कर्मबीजं ३/८/३३
स कालः परमाणुः ३/११/४
सकिन्नरान् ३/२०/४५
सकृत् प्रसङ्गात् ४/४/१४
सकृत् स्म भुञ्जे १/५/२५
सकृद्यद्दर्शितं १/६/२३
सकृद्विभातं ४/३१/१६
स खल्विदं ४/११/१८
सखा गुरुः ३/२५/३८
सखापि ते ३/५/१२
सखाय इन्द्रियगणा ४/२९/६
सख्यं मैत्रीं १/१५/४
सख्यस्तद्वृत्तयः ४/२९/६
सख्या प्रियेण १/१५/२०
सख्युः सखेव १/१५/१९
सगामुदस्तात् ३/१८/८
स गोदोहन- १/४/८
सङ्कर्षणं देवम् ३/८/३
सङ्कर्षणाख्यं ३/२६/२५
सङ्कर्षणाय ४/२४/३५
सङ्कल्पनं ४/१९/३८
सङ्कल्पस्त्वयि ४/२७/२४
सङ्कीर्त्यमानं १/५/२८
सङ्गं न कुर्यात् ३/३१/३४, ३९
सङ्गं व्युदस्यो- २/४/१६
सङ्गमः खलु विप्रर्षे ४/२४/१७
सङ्गमः खलु साधूनाम् ४/२२/१९
सङ्गस्तेष्वथ ३/२५/२४
सङ्गीतवद्रोदन- ३/१७/१०
सङ्गो यः संसृतेः ३/२३/५५
स चक्षुः सुतम् ४/१३/१५
स च निपुणां ४/२३/३९
स चन्द्रमाः २/१/३४
स च स्वर्लोकम् ४/१२/३२
स चापि भगवद्- ३/३२/२
स चापि यत्र २/८/१०
स चापि शत- ३/१२/५५
स चावतीर्णं त्रियुगम् ३/२४/२६
स चिन्तयन् द्व्यक्षर- २/९/६
स चिन्तयन्नित्थम् १/१९/४
स चेह विप्र ३/२१/२६
सच्चक्षुर्जन्मनाम् ३/२५/८
स जन्मनो- ४/१३/७
स जहाति ४/२९/४६
सँञ्जीकृतेन १/१५/७
सञ्चिन्तयेद्- ३/२८/२१, २९
सञ्चिन्तयेद्दश- ३/२८/२७
सञ्चोदितस्तं ३/७/४२
सञ्छिन्नभिन्न- ४/६/२
सञ्जल्पितानि १/१५/१८
सञ्जातहर्षो ३/२०/८
सञ्जीवयत्यखिल- ४/९/६
सटा विधुन्वन् ३/१३/२९
सटाशिखोद्धूत- ३/१३/४६
सत एव ३/११/२
स तं निशाम्यात् ३/१९/७
स तं महाभागवतं ३/४/२४
स तं विरजम् ३/२१/९

स तं विवक्षन्तम् ४/९/४
स तदा लब्धतीर्थो ३/१९/४
स तदैवात्मना ३/३२/२५
स तां कृतमल- ३/२३/३६
सतां गुणैः ४/३/१७
सतां प्रसङ्गान् ३/२५/२५
स तानापततो वीरा- ४/१०/८
स तान् वृषत्कै- ४/११/५
स तान् प्रपन्ना- ४/२४/२६
सति कर्मण्य- ४/२९/७८
सतीं व्यादाय ३/१६/१४
सती दाक्षायणी ४/३/५
स तु कथम् ३/४/२८
स तुद्यमानो ३/१८/६
स तु ब्रह्म- १/१८/३०
स तु संश्रावयामास १/३/४२
स तूपलभ्या- ४/६/४०
स ते मा विनशेद् ४/१४/१६
स तैर्व्यरोचत १/९/३
सतो बन्धुम् ३/२७/११
सतोऽविशेष- ३/११/४
सत्कृतम् १/१/५
सत्त्व एवैक- ३/२५/३२
सत्त्वं रजस्तम इति तिस्रः २/१०/४१
सत्त्वं रजस्तम इति निर्गुणस्य २/५/१८
सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृते- १/२/२३
सत्त्वं विशुद्धं १/२/२५
सत्त्वं विशुद्धं वसुदेव- ४/३/२३
सत्त्वं विष्टभ्य ३/१५/१५
सत्त्वञ्च मिश्रं २/९/१०
सत्त्वञ्चास्य ३/६/२६
सत्त्वाकृति- ३/१२/१५
सत्त्वात्मनस्तत् ४/२३/११
सत्त्व च तस्मिन् ४/३/२३
सत्त्वेन नः सुर- ४/१/५६
सत्त्वेन नो ३/१६/२२
सत्त्वेन यन्मृडयते ३/९/२२
सत्त्वेन सम्प्रति ३/१५/४७
सत्त्वैकनिष्ठे ४/२९/६९
सत्यं पूर्णम् २/६/४०
सत्यं वयं ३/१८/१०
सत्यं शौचं १/१६/२७
सत्यं शौचं दया मौनं ३/३१/३३
सत्यं सुरुच्या- ४/८/१८
सत्यञ्जलौ २/२/४
सत्यन्तु शीर्षाणि २/१/२८
सत्यां क्षितौ २/२/४
सत्यादयो १/१४/३७
सत्यावलम्बस्य ३/१/८
सत्याशय ४/२२/२८
सत्याशिषो हि ४/९/१७
सत्युत्तमश्लोक- ४/१५/२३
सत्ये त्रिपृष्ठ २/७/२०
सत्रः स्वर्गाय- १/१/४
सत्रानि सर्वाणि ३/१३/४०
सत्रे पुरा ३/४/११
सत्रे ममास २/७/११
सत्रेषु वः ३/५/११
स त्वं जिघांससे ४/१७/१९

स त्वं द्विजानु–	३/१६/२१	स देवदेवो	१/९/२४
स त्वं भृतो	३/३३/४	सद्धिराचरितः	४/२/१०
स त्वं विचक्ष्य	४/२९/५५	सद्यः क्षताखिल–	३/१६/७
स त्वं विधत्स्व	३/१५/९	सद्यः क्षिणोत्य–	४/२१/३१
स त्वं विमृश्यास्य	४/१९/३८	सद्यः क्षिपति	३/३१/२२
स त्वं विहाय	४/२८/५५	सद्यः पुन्यन्तुपस्पृष्टाः	१/१/१५
स त्वं हरेः	४/११/१२	सद्यः पुनाति जगदा–	३/१६/६
स त्वमस्याम्	३/१३/११	सद्यः पुनाति सह–	३/१६/९
स त्वयाराधितः	३/२४/४	सद्यः प्रजज्वाल	४/४/२७
सत्सङ्कल्पस्य	४/१/२९	सद्यः समुद्रा गिरयः	१/१०/५
सत्सङ्गान्मुक्त–	१/१०/११	सद्यः सुप्त	४/७/९
सत्सु जिज्ञासुभिः	४/२१/२१	सद्यश्छिनत्त्य–	३/९/१७
सत्सेवनीयो	३/८/१	सद्यो जहुः	१/१९/२०
सत्सेवया दीर्घयापि	१/६/२४	सद्योऽजायत	३/१२/७
सत्सेवया प्रति–	३/३१/३९	सद्यो नश्यन्ति	१/१९/३४
सद आग्नीध्र–	४/५/१४	सद्योऽसुभिः सह	२/७/२५
स ददर्श विमानाग्र्यं	४/१२/१९	सद्यो हरेरनु–	३/१५/३५
सदश्वं रथमारुह्य	४/९/३९	सद्यो हृद्यव–	१/१/२
सदसत्त्वमुपादाय	२/५/३३	सद्वितीयाः किम्	३/२०/११
सदसद्रूपया	१/२/२९	सध्रीचीनेन	४/२९/३७
सदसस्पतयो ब्रूत	४/१३/३०	सध्रङ्नियम्य यतयो	२/७/४८
सदसस्पतिभिः	४/२/७	स नः प्रसीदतां	३/१४/३६
सदसि युधिष्ठिर–	१/९/४१	सनकञ्च सनन्दञ्च	३/१२/४
स दह्यमान–	३/३०/७	सनकाद्या नारदश्च	४/८/१
सदाप्लुतोऽधः	३/१/१९	सनत्कुमारं	४/१६/२५
सदाभिवादार्हण–	३/२४/३२	सनत्कुमारञ्च	३/१२/४
सदा विद्विषतो–	४/३/१	सनत्कुमाराद्भगवतो	४/१७/५
सदुद्भवस्थान–	२/४/१२	सनत्कुमाराय	३/८/७
सदृशोऽस्ति	३/२५/१९	सनत्कुमारो भगवान्	४/२३/९
स दृष्ट्वा त्रस्त–	३/३०/१९	सनन्दनाद्यैर्महा–	४/६/३४
स देवदेवं	४/५/५	स निर्गतः	३/१/१७

सन्तं वयसि	३/२८/१७	सप्रम–नाना–	३/८/५
सन्तन्वतो नट–	१/३/३७	स बाल एव	४/१३/३९
सन्तप्यमानः	३/३०/२२	स ब्राह्मणो	१/१८/४१
सन्दधुः कस्य	४/७/८	स भवतु मे	१/९/३८
सन्दधे विशिखं	४/१७/१३	स भवानचरद्–	२/५/७
सन्दधेऽस्त्रमुपस्पृश्य	४/११/१	स भवान् दुहितृ–	३/२२/८
सन्दर्शयामास	२/९/९	सभां सुधर्मां	१/१४/३८
सन्धार्य तेऽस्मिन्	२/१/३८	सभाचत्वररथ्याभि–	४/२५/१६
सन्धीयमान एतस्मिन्	४/११/२	सभाजयन्ते मम	३/२५/३४
सन्धीयमाने शिरसि	४/७/९	सभाजयन् विशुद्धेन	३/२४/११
सन्ध्याभ्रनीवेरु–	३/८/२४	सभाजिताः	४/१/३१
सन्ध्यासन्ध्यांशयोः	३/११/२०	सभाजिता ययुः	४/२०/३६
सन्निकरान् किम्	३/२०/४५	सभाजितास्तयो	४/१/३१
सन्नियच्छति	२/१०/४४	सभार्यः सप्रजः	३/२२/३३
सन्नियच्छाभिभो	४/१८/२	स भूतसुक्ष्मेन्द्रिय–	२/२/३०
सन्निवर्त्त्य दृढं	१/१०/३३	सभ्याः श्रृणुत	४/२१/२१
सन्निवेशो मया	३/२६/१५	सत्यावसथ्यं	३/१३/३९
स पञ्चालपतिः	४/२७/८	समं चरन्तं	१/८/२८
सपदि सखि–	१/९/३५	समं मधु–	१/१९/२२
स पद्मकोषः	३/८/१४	समः समानोत्तम–	४/२०/१३
सपर्यया प्रति–	३/२१/४८	समः सर्वेषु	४/१६/६
सपर्यां विविधैः	४/८/५४	समचार्वङ्घ्रि–	४/२४/५१
सपार्षदयक्षा	४/४/४	समत्वेन च	४/११/१३
सपालो यद्वशे	१/९/१४	समधिगतोऽस्मि	१/९/४२
सप्तमो मुख्यसर्गः	३/१०/१९	समन्वितः पितृभिः	४/६/८
सप्त स्वसार–	१/१४/२७	समन्वेत्येष	३/२६/१८
सप्तानां प्रीतये	१/१३/५२	समर्चितो ह्यस्य	१/१०/२८
सप्तोक्ष–शम्बर–	२/७/३४	समविन्यस्त–	४/२५/२२
सप्तोपरि कृता	४/२५/४५	समस्तदुःख–	३/५/१३
स प्रसीद त्वम्	४/७/४७	समागताः सर्वतः	१/१९/२३
स प्रहस्य	३/१५/११	समाञ्च कुरु	४/१८/११

समादिशन्	१/१६/१	सम्पन्न एवेति	१/३/३४
समाधिनानुस्मर	१/५/१३	सम्परेतमय–	४/२५/८
समाधिना नैक–	४/९/३०	सम्पादयन्	१/१६/३५
समाधिना विभ्रति	४/२१/४२	सम्पीड्य पायुं	४/२३/१४
समानशीलां	३/२१/१५	सम्प्रदिश्यैवमजनो	२/९/३७
समाप्यते येन	१/५/४०	सम्प्रपेदे	३/२१/७
समासेन हरे–	२/७/५०	सम्प्रसन्ने	४/११/१४
समाहितं ते	३/२१/२८	सम्प्रस्थिते	१/१४/१
समाहितः पर्यचरत्	४/८/७१	सम्प्राद्रवद्घोषण–	४/५/६
समाहितधियः	४/२४/७१	सम्प्रेषितो	१/१४/६
समाहितात्मा	३/३२/३०	सम्बोधयन्त्य–	३/१६/११
समाहितेन मनसा	१/१७/२१	सम्भावितस्य	४/३/२५
समाहुता भीष्मक–	३/३/३	सम्भूतं षोडश–	१/३/१
समीक्षया	३/४/१०	सम्मातुमर्हस्य–	१/१८/४२
समीचीनं वचो	२/४/५	सम्मार्जतीव	३/१५/२१
समीडितः पुष्कर–	३/१९/३१	सम्मार्जित–	१/११/१४
समुज्जिहानया	४/२०/१९	सम्मुह्य चापम्	१/११/३६
समुत्थितं ततः	३/२६/३८	सम्मोहनाय	३/२८/३२
समुद्र इव	४/२२/५८	सम्मोहिता विततया	३/१५/२४
समुद्र ऊर्मिभि–	४/१०/२७	सम्यक् कारुणिकस्येदं	२/५/९
समुद्रनिग्रहा–	१/३/२२	सम्यक् श्रद्धाय	३/२४/५
समुद्रपत्न्या	१/१९/१७	सम्यग् जगाद	२/७/५
समुद्रमुप	४/२४/२०	सम्यग्दर्शनया	३/३१/४७
समुषित औपगवि–	३/४/२७	सम्राट् पौत्रं	१/१५/३८
स मुहूर्त्तमभूत्	३/२/४	स यर्ह्यन्तःपुर–	४/२५/५५
समृद्धिभिः	४/३/२१	स यामाद्यैः	१/३/१२
स मे ऋषीणाम्	२/४/२२	स योजनशतो–	४/६/३२
स मे मुकुन्दो	२/४/२१	सरजं विभ्रती	३/२३/२४
सम्पदः क्रतवो	१/१२/५	सरस्वतीं प्रत्यगियाय	३/१/२१
सम्पद्यतेऽर्थाशय–	४/२१/३४	सरस्वती प्रादुः	४/१६/२४
सम्पद्यमानम्	१/९/४४	सरस्वतीमुपस्पृश्य	३/४/३

सरस्वत्यां तपः	३/२१/६	सर्वजीवनिकायौको	३/२०/१६
सरहस्यं तदङ्गञ्च	२/९/३०	सर्वतः सारमादत्ते	४/१८/२
सरहस्यो धनुर्वेदः	१/७/४४	सर्वतो मन	४/८/७७
स राजपुत्रो	१/१२/३१	सर्वतो मुखमायाति	१/७/२६
स राजराजेन	४/१२/८	सर्वतोऽलङ्कृतं	४/९/५६
स राजा महिषीं	४/२७/२	सर्वत्र जात–	३/२७/२७
सरित्समुद्र–	२/८/१५	सर्वत्र तेऽविषमया	३/१५/२९
सरित्समुद्रा गिरयो	४/१५/१२	सर्वत्रास्खलिता–	४/२१/१२
सरीसृपान्न–	३/१३/१८	सर्वथा नहि	१/१३/४४
सरोजमल्पीयसि	३/२१/२१	सर्वभक्षा द्विजा	४/२/२६
सर्गमेतं	३/२४/१४	सर्वभूतगुहा–	३/१२/१९
सर्गांश्चैवानु–	३/७/२५	सर्वभूतनिवासाय	४/३०/२६
सर्गादि योऽस्य	४/१७/३३	सर्वभूतमयो	२/९/३८
सर्गाद्यनीहो	३/३३/३	सर्वभूतसमत्वेन	३/२७/७
सर्गेऽनुपचिते	३/२०/४७	सर्वभूतात्मनां	४/७/५४
सर्गो नवविधः	३/१०/१४	सर्वभूतात्मभावेन	४/११/११
सर्पवृश्चिक–	३/३०/२६	सर्वभूतात्मभावेन सर्व–	४/१२/५
सर्पाः प्रसर्पतः	३/२०/४८	सर्वभूताशया–	३/२३/२२
सर्पोऽदशत्	१/६/९	सर्वभूतेषु	३/२८/४२
सर्व एवर्त्विजो	४/५/१८	सर्वमात्मन्य–	१/१५/४२
सर्वं कालकृतं	१/९/१४	सर्वमेतच्च भगवन्	२/८/२४
सर्वं क्षणेन	१/१५/२१	सर्वर्त्तुफल–	३/२१/४०
सर्वं तदिदं	१/६/३७	सर्वर्तु श्रीभिः	३/१५/१६
सर्वं तदेतत्	४/३०/४०	सर्वर्तु सर्व–	१/११/१२
सर्वं तद्भगवान्	३/२३/५१	सर्वर्द्धुप–	३/२३/१३
सर्वं पुरुषः	२/६/१६	सर्वलोका–	४/२२/४५
सर्वं ह्येतद्भवान्	२/५/३	सर्ववर्णाश्रमाणां	१/४/१८
सर्वकाम–	२/६/७	सर्ववेदमयेने–	३/९/४३
सर्वकामदुघं	३/२३/१३	सर्ववेदेतिहासानां	१/३/४१
सर्वकामदुघां पृथ्वीं	४/१८/२६	सर्वसत्त्वगुणो–	३/२६/४६
सर्वगोऽनावृतः	४/२०/७	सर्वसत्त्वात्म–	४/२४/३९

सर्वसद्गुण– १/१२/२४
सर्वाः किशोर– ३/२३/२६
सर्वाक्षमार्गैः ४/३०/२२
सर्वाणि भूतान्य– ४/३०/३९
सर्वातिशयया ३/१६/३२
सर्वात्मकेनापि १/४/२६
सर्वात्मनः समदृशो १/९/२१
सर्वात्मनानुरूपां ३/२२/११
सर्वात्मना पतिं ४/२३/२५
सर्वात्मना ब्रह्मकुलं ४/२१/३९
सर्वात्मना म्रिय– १/१९/२४
सर्वात्मनाश्रितः ३/२०/३
सर्वात्मनाश्रितपदो २/७/४२
सर्वात्मनोऽन्तःकरणं २/१/३५
सर्वात्मनोपेहि ४/११/२७
सर्वात्मन्यखिला– २/७/५२
सर्वात्मन्यच्युते– ४/१२/११
सर्वाशुभो– ३/९/७
सर्वाश्रमानु– ३/१४/१८
सर्वासूनाञ्च २/६/२
सर्वास्ताश्चारु– ३/२३/४८
सर्वे क्रमानुरोधेन ४/२९/६८
सर्वे चतुर्बाहवः २/९/११
सर्वे तमनु– १/१५/४५
सर्वे तेऽनिमिषै– १/१०/१३
सर्वे ते मुनयः ४/१/४४
सर्वेन्द्रियाणाम् ३/२६/३७
सर्वेन्द्रियोपशान्त्या ४/३१/१९
सर्वे बभूवुस्ते १/९/४४
सर्वेभ्य एव ३/१२/३९
सर्वे मृगाः २/१/३५
सर्वे वयं १/१९/२१
सर्वे वियुक्ताः ३/५/४८
सर्वे वेदाश्च ३/७/४१
सर्वेषां लोक– ४/२२/५४
सर्वेषामपि भूतानां ४/३१/१३
सर्वेषामुपकारार्थं ४/२१/२०
सर्वे स्वमुख्य– ४/१८/२६
सलिले स्वखुरा– ३/१३/४८
सलिलैः शुचिभिः ४/८/५५
सलीलयेभं ३/१३/३४
सलोकपालाः शरणं ४/८/८०
सलोकपाला मुनयो ४/६/३९
स वज्रकूटाङ्ग– ३/१३/३१
स वञ्चितो ४/२३/२८
स वर्षपूगान् ३/१७/२६
स वा अद्य १/१७/५७
स वा अयं यत्– १/१०/२३
स वा अयं सख्यनु– १/१०/२४
स वा आङ्गिरसो १/१८/३९
य वा इदं १/३/३६
स वा एष ३/५/२४
स वाच्य– २/१०/३६
स वासुदेवा– ३/१/२५
स विदित्वात्मजानां ३/१४/१४
स विदित्वाथ ३/१४/३१
सविद्युदभ्रा– २/९/१२
सविधं जगृहे ३/३/८
स विप्रानुमतो ४/१३/३७
स विश्वजन्म– ३/५/१६
स विष्णुरातो १/१९/२९
स विष्ण्वाख्यो ३/२९/३८

स वीरमूर्त्तिः	४/१७/३५	स संवृतस्तत्र	१/१९/३०
सवृन्तैः कदली–	४/९/५४	स संसृत्य	३/३२/१४
सवृन्दैः कदली–	४/२१/३	स संहितां	१/७/८
स वेद धातुः	१/३/३८	ससङ्कुलै–	१/१४/१७
य वै किलायां	१/१०/२१	ससदस्यानुगो	४/२२/३
स वै तदैव	४/९/५	स सप्तभिः	४/२७/१६
स वै तिरोहितान्	३/१७/२३	स सम्राट् कस्य	१/४/१०
स वै देवर्षि–	३/२३/४	ससर्ज कतिधा	३/२१/४
स वै द्रौण्यस्त्र–	३/३/१७	ससर्जच्छायया	३/२०/१८
स वै धिया	४/९/२	ससर्ज रूप–	३/५/३४
स वै निवृत्ति–	१/७/९	ससर्जाग्रेऽन्ध–	३/१२/२
स वै निवृत्तिधर्मेण	३/७/१२	स सर्वधी–	२/१/३९
स वै पुंसां	१/२/६	स सादयित्वा	३/१९/३१
स वै पुनर्नेह	२/२/३१	स साधु मेने	१/१९/४
स वै प्रियतमः	४/२९/५१	स सान्त्वयित्वा	१/७/१७
स वै भवान् वेद	१/५/६	ससृजुस्तिग्म–	४/१०/२८
स वै भवानात्म–	४/१७/३४	स स्वदृग्भगवान्	३/१४/४७
स वै भागवतो	२/३/१५	सह देहेन	३/३१/२९
स वै महाभागवतः	१/१८/१६	सह पत्न्या	४/१/१७
स वै महाभागवतो	३/१४/४८	सह भागं	४/२/१८
स वै रुरोद	३/१२/८	सहस्रपादोरु–	१/३/४
स वै बत भ्रष्टमति–	३/१३/४७	सहस्रबाहुर्घन–	४/५/३
स वै विश्वसृजां	३/६/७	सहस्रमूर्द्ध–	१/३/४
स वै विश्वसृजामीशो	३/१२/३६	सहस्रमौलि–	१/३/४
स वै स्वायम्भुवः	३/१३/२	सहस्रयुग–	१/६/३१
स व्यापकतया–	४/२८/४०	सहस्रशिरसं	३/२६/२५
सव्रीड इव	३/२२/१	सहस्रशीर्षापि	४/९/१
सव्रीडभाव–	४/२५/३०	सहस्रशीर्ष्ण–	३/१३/५
स शरासनमुद्यम्य	४/१३/४०	सहस्रोर्वङ्घ्रि–	२/५/३५
स श्रेयसामपि	२/७/४९	सहाचला	३/१७/४
स संयुनक्ति	१/१३/४१	सहानुजः	१/१०/१

सहानुजो यत्र ३/१/११
सहाहं स्वांश– ३/२१/३२
सहैव गच्छेत् २/२/२२
सहोपनीतं ४/३/९
सांख्यायनः ३/८/८
सांख्यायनायाङ्ग ३/८/७
सांसारिके ३/३१/१५
सांसिद्ध्यमक्ष्नो– ३/२१/१३
साकं वाचं ३/२५/३५
साकं व्रतैः १/११/३१
सा कर्दमस्य ३/३३/१
साक्षात् सः २/७/११
साक्षाद्भगवता ३/४/२६
साक्षाद्भगवतोक्तेन ४/२८/४१
साक्षान्महाभागवतो १/१८/४६
साग्नयोऽनग्नय– ४/१/६२
साग्रं वै ३/२०/१५
सा चापि ३/३३/१३
सा तत् पुंसवनं ४/१३/३८
सा तद्भर्त्तूः ३/२३/२४
सा त्वं मुखं ४/२६/२३
सात्वतामृषभं ३/२/९
सा त्वां ब्रह्मन् ३/२१/२८
सा दिशो ४/१७/१६
साधयित्वाजात– १/८/५
साधु पृष्टं त्वया ३/५/१८
साधु पृष्टं महाराज ४/२२/१८
साधुवादस्तदा ४/५/२५
साधु वीर ३/१४/५
साधूच्छिष्टं ४/२२/४३
साधूनां ब्रुवतो ४/२/९
साधूनां भद्रमेव १/१७/१४
साध्यात्मः साधिदैवश्च ३/६/९
साध्यान् गणान् ३/२०/४२
साध्येभ्यश्च ३/२०/४३
साध्वलङ्कृत– ४/२६/१२
साध्वेतद्व्याहृतं ३/७/१६
सानुबन्धे च ३/२७/९
सानुरागावलोकेन ४/१६/९
सान्तः सरसि ३/२३/२६
सान्त्वयन् वल्गुना ४/२८/५१
सान्त्वयन् श्लक्ष्नया ४/२६/१९
सान्त्वयामास मुनिभि– १/८/४
सान्त्विवतो यदि ४/१४/१२
सान्दीपनेः ३/३/२
सान्निध्यात्ते १/१९/३४
सा ब्रह्मणि ४/९/१०
सा मां विमोहयति १/८/३१
सामुद्रीं देव– ४/२४/११
साम्राज्यलक्ष्म्या ३/१/३६
सायं प्रातः– १/३/२९
सायं भेजे १/१०/३६
सायञ्च पुण्य– ४/१२/४८
सारथ्य पारषद– १/१६/१७
सारसैश्चक्र– ३/२१/४३
सारस्वतोद्धव– २/७/४५
सार्थदृष्टिं ४/२९/४९
सार्वभौमश्रियं ४/१३/६
सालोक्य–सार्ष्टि– ३/२९/१३
सा वा एतस्य ३/५/२५
सावित्रं ३/१२/४२
सा विव्यथे ४/८/१५

सा श्रद्दधानस्य ३/५/१३
सा श्रद्धया ४/२२/२२
सा श्रीः १/१६/३३
सास्वतन्त्रा १/६/७
साहं भगवतो ३/२३/५७
साहङ्कारस्य ३/२७/१६
सा हता तेन ३/१९/३
सिंहः कपि- ३/१०/२४
सिंहस्कन्धत्विषो ४/२४/४९
सिक्तां गन्ध- १/११/१४
सितातपत्र- १/११/२७
सितातपत्रं १/१०/१७
सिद्धचारणगन्धर्वान् २/१०/३७
सिद्धचारणगन्धर्वै- ३/३३/३४
सिद्धान् विद्याधरान् ३/२०/४४
सिद्धार्थाक्षत- ४/९/५८
सिद्धा विद्याधराः ४/१९/५
सिद्धासि भुङ्क्ष्व ३/२३/८
सिद्धिं नभसि ४/१८/१९
सिद्धेऽन्यथार्थे २/२/३
सिद्धेश्वराभिष्टुत- ३/२१/३४
सिद्धैर्नुतो ३/२३/३९
सिद्धो विपश्यति ३/२८/३७
सिध्येत ते ३/२३/११
सिनीवाली कुहू ४/१/३३
सिन्धवः पर्वताः ४/१५/२०
सिन्धवो रत्ननिकरान् ४/१९/९
सिषिचुः स्म १/१०/४
सीदन्त्या भूरि १/८/३४
सुकुमार्यतदर्हा ४/२३/१९
सुखं तरति ४/२४/७५
सुखं बुध्येय ३/२५/३०
सुखदुःखे इति ४/२८/३७
सुखाय कर्माणि ३/५/२
सुखे च दुःखे ४/२०/१३
सुखेपविष्टेष्वथ १/१९/१२
सुतं मृधे ३/३/६
सुतः प्रसन्न- ३/३३/२३
सुतां सतीम् ४/५/९
सुतो मे बालको ४/८/६५
सुदता सुभ्रुवा ३/२३/३३
सुदर्शनास्त्रं ३/१९/२२
सुदर्शनेन १/८/१३
सुदुर्जयं ४/१२/२५
सुदुर्लभं यत् ४/९/२८
सुदुर्लभोऽर्थेषु ३/४/१५
सुदुश्चिकित्सस्य ४/३०/३८
सुदुष्करं कर्म ४/८/६९
सुद्विजं ४/२४/४६
सुधियः साधवो ४/२०/३
सुनन्दनन्दप्रबला- २/९/१४
सुनन्दनन्दप्रमुखाः ४/१९/५
सुनन्द-नन्दशीर्षण्या १/१४/३२
सुनन्दनन्दाद्य- ४/७/२५
सुनन्दनन्दावुपस्मृत्य ४/१२/२२
सुनाभसन्दीपित- ३/१३/३३
सुनासं सुभ्रुवं ४/८/४५
सुनासः सुमुखः ४/२१/१५
सुनासां सुदतीं ४/२५/२२
सुनासां सुद्विजां ३/२०/३०
सुनीतिः सुरुचिः ४/९/४१
सुनीतिरस्य ४/९/४९

सुनीतिरुत्सङ्ग ४/८/१५
सुनीथाङ्गस्य ४/१३/१८
सुनीथा पालयामास ४/१४/३५
सुपर्णपक्षोपरि ३/२१/२२
सुपर्णमुन्नद्धफणा ४/११/४
सुपर्णवत्सा ४/१८/२४
सुपर्णस्कन्धम् ४/३०/५
सुप्तप्रबुद्ध ४/९/८
सुप्तायां ४/२५/३५
सुप्तिमूर्च्छो– ४/२९/७१

सुभद्रा द्रौपदी १/१०/९
सुभ्र्वाननं १/१९/२६
सुमनःसम– ४/२९/५४
सुयोधनं ३/३/१३
सुरर्षयो ४/२४/६३
सुरविद्विट् ४/७/३२
सुराधमासादित– ३/१८/३
सुरार्चितं किं १/१६/२५
सुरासुरनराः २/६/१३
सुरासुराणाम् १/३/१६
सुरासुरेड्यो ४/३१/३
सुरासुरेन्द्रैः– ४/१६/२७
सुरासुरेशैः ४/६/४०
सुरुचिः प्रयसी ४/८/८
सुरुचिः श्रृण्वतो ४/८/१०
सुरुचिस्तं ४/९/४६
सुरुच्या दुर्वचो– ४/८/३६
सुवर्णपुङ्खाः ४/११/३
सुश्लोकमौले– ३/५/७
सूश्लोकमौलेर्गुण– ३/६/३७
सुषुम्नया ब्रह्म– २/२/२४
सुषेणश्चारु– १/१४/३१
सुस्थिरासनम् ४/२८/४५
सुहृदाञ्च १/१०/७
सुहृद्दिदृक्षा– ४/४/२
सुहृद्दिदृक्षुः परि– ४/४/१
सूक्ष्मवक्रासित– ४/२१/१७
सूत जानासि १/१/१२
सूत जीव समाः १/१८/११
सूत सूत १/४/२
सूतोऽथ मागधो ४/१५/२०
सूर्यं हत– १/१४/१७
सूर्यद्वारेण ३/३२/७
सूर्यवद्विसृजन् ४/२२/५६
सूर्यश्चन्द्रस्तप– ३/१२/११
सूर्येन्दुवाय्व– ३/८/३१
सूष्यंस्तदा– ३/८/१३
सृजतः श्रीनिवासस्य ३/७/२८
सृजतो मे ३/१३/१९
सृजत्यमोघ– ३/१०/३०
सृजत्यवत्यत्ति गुणैः १/५/६
सृजत्यवत्यत्ति न १/३/३६, १/१०/२४
सृजन्नमर्षितः ३/१८/१४
सृजन् रक्षन् ४/७/५१
सृजस्यदः पासि ३/२१/१९
सृजामि तन्नियुक्तो २/६/३२
सृजामि तपसा २/९/२३
सृज्यं सृजामि २/५/१७
सृती विचक्रमे २/६/२१
सृष्टं स्वशक्त्येदम् ४/२४/६४

सृष्ट्वाग्रे महद्– ३/७/२१
सृष्ट्वनुविश्य पुरुष– ४/९/७
सृष्ट्वा भूत– ३/२०/४०
सेतुं विधरणं ४/२/३०
सेन्द्राः श्रिता १/१५/१३
सेन्द्रान् देवगणान् ३/१७/२३
सेयं भगवतो ३/७/९
सेर्ष्यं महापूरुष– ४/४/१३
सेशं पुनात्यन्य– १/१८/२१
सेहे महान् १/१५/१९
सैनापत्यञ्च ४/२२/४५
सैनिका भय– ४/२८/१
सैवं संविदिते ३/१४/३०
सैषा नूनं ४/२३/२६
सोऽचिरादेव ४/२९/३८
सोत्सृज्य धैर्यं ४/८/१६
सोदपानाश्च ३/१७/७
सोदानमुत्थाप्य ४/४/२५
सोऽद्यैव नो ३/१५/४६
सोऽधिक्षिप्तो ३/१८/१३
सोऽनन्तोऽन्तकरः ३/२९/४५, ४/११/१९
सोऽनु ज्ञात्वा ३/२२/२२
सोऽनुप्रविष्टो ३/६/३
सोऽनुविष्टो ३/२०/१७
सोऽन्तःशरीरे ३/८/११
सोऽन्यजन्मनि ४/१/३५
सोऽन्वेषमाणः ४/२५/११
सोऽपि क्ष्मामनुजै ३/३/१८
सोऽपि सङ्कल्पजं ४/९/२७
सोऽप्यंशगुण– ३/५/२८
सोऽप्येतया ३/२८/३६
सोऽभिषिक्तः पृथुः ४/२१/९
सोऽभिषिक्तो महाराजः ४/१५/१३
सोमस्तु रेतः ३/१३/४०
सोऽमृतस्या– ३/६/१८
सोमोऽभूत्– ४/१/३२
सोमोऽमृतमयान् ४/१५/१७
सोऽयं ते २/७/५०
सोऽयं दुर्मर्ष– ४/४/३०
सोऽयं प्रसीदतु ४/७/३०
सोऽयं यदन्तरमलं २/७/७
सोऽयं शमो ४/८/३५
सोऽयं समस्त– ३/९/२२
सोऽयं स्थिति– ४/१/५६
सोऽयमद्य १/१३/४९
सोऽयमद्य महायोगिन् ४/३१/२९
सोऽलङ्कृषीष्टा– २/४/२३
सोल्काश्चाशनयः ३/१७/४
सोऽवधार्यास्य ३/२०/२८
सोऽवध्यातः ३/१२/६
सोऽशयिष्टाब्धि– ३/२०/१५
सोऽश्वं रूपञ्च ४/१९/१७, २१
सोऽसाधुवादः ३/१६/५
सोऽसावदभ्र– ३/९/२५
सोऽहं तद्दर्शन– ३/४/२१
सोऽहं तवैतत् ३/८/९
सोऽहं नृणां ३/८/२
सोऽहं नृपेन्द्र– १/१५/२०
सोऽहं भवद्भ्य ३/१६/६
सोऽहं रथी १/१५/२१
सोऽहं वः १/३/४४

सोऽहं वसन्नपि	३/३१/२०
सोऽहं व्रजामि	३/३१/१२
सोऽहं समाम्नाय-	२/६/३५
सोऽहं हरेः	३/१/४२
सोऽहङ्कार इति	२/५/२४
सौगन्धलुब्ध-	४/९/१२
सौत्ये वृतः	१/१५/१७
सौदर्यसम्प्रश्न-	४/४/८
सौभर्युतङ्क-	२/७/४५
सौम्यानुशोचे	३/१/४१
सौवीरमत्स्यान्	३/१/२४
सौहार्देनाति-	१/१५/२८
सौहार्देनापृथक्-	४/३०/८
स्खलत्पदेन	३/८/६
स्तनावासिच्य	४/२८/४७
स्तनौ व्यञ्जित-	४/२५/२४
स्तन्येन वृद्धश्च	४/८/१८
स्तब्धा न	४/३/१७
स्तब्धो बृहद्वधात्	४/२९/४९
स्तावकांस्तान्	४/१५/२१
स्तुवतीष्वमर-	४/२३/२९
स्तुवन्त्यथो	४/३०/४१
स्तुवन्त्यहं काम-	४/३०/१०
स्तुवीत तं	३/३१/११
स्तूयमानः समुद्रेण	३/३३/३४
स्तूयमानो नदँल्लीलया	४/७/४६
स्तोकायुषां	२/७/३६
स्त्रियश्च स्वपुरं	१/८/४५
स्त्रियाः प्रविष्टः	३/३१/१
स्त्रिया न सज्जेद्-	४/२५/४२
स्त्रीकामः सो-	४/२/२३
स्त्रीणां निगृह्य-	३/१४/४०
स्त्रीणां मद्धत-	१/८/५१
स्त्रीणां मनोज्ञं	१/१९/२८
स्त्रीत्वं स्त्रीसङ्गतः	३/३१/४१
स्त्रीधर्मान्	१/९/२७
स्त्रीपुंभिदा	१/४/५
स्त्रीभिः समं	२/७/३
स्त्री यासीच्छत-	३/१२/५३
स्त्री-शूद्र-द्विज-	१/४/२५
स्त्री-शूद्र-हूण-	२/७/४६
स्थातुमर्हसि	४/२७/२२
स्थानत्रयात्	१/१८/२६
स्थानन्त्विहानु-	३/१३/१४
स्थानेऽथ धर्म-	२/७/३९
स्थानेषु षट्	२/२/१९
स्थापत्यञ्चा-	३/१२/३८
स्थितं व्रजन्तम्	३/२८/१९
स्थितवति	१/९/३५
स्थिताववष्टभ्य	४/१२/२०
स्थितिर्वैकुण्ठ-	२/१०/४
स्थितिसर्ग-	२/५/१८
स्थितौ गृहीत-	३/१९/३०
स्थित्यादये	१/२/२३
स्थित्युद्भवप्रलय-	३/९/१६
स्थित्वा मुहूर्त्तार्द्धम्	२/२/२१
स्थिरं सुखञ्चा-	२/२/१५
स्थूले दधार	४/१२/१७
स्थूले भगवतो	२/१/२३
स्थेयं क्व यामो	३/१८/११
स्थैर्यं समान-	१/१६/३६
स्नपयामास तनयं	४/९/४४

स्नातं कृतशिरः	३/२३/३१
स्नातस्य मे	१/५/७
स्नात्वानुसवनं	१/१३/५३
स्नात्वानुसवनं तस्मिन्	४/८/४३
स्नात्वा पीत्वा	१/६/१५
स्नानव्यवायो-	१/१६/२३
स्नानेन तां	३/२३/२८
स्निग्धनीलालक-	३/२१/९
स्निग्धप्रावृड्-	४/२४/४५
स्निग्धस्मितानु-	३/२८/३१
स्निग्धस्मिताव-	३/३/२०
स्निग्धामलाकुञ्चित-	२/२/११
स्निग्धेनापाङ्ग-	४/२५/२५
स्निग्धेषु पाण्डुषु जगत्-	१/१६/१७
स्नेहञ्च वृष्णि-	१/१६/१५
स्नेहपाशमिमं	१/८/४१
स्नेहाद्रुदत्यश्रु-	४/४/२
स्नेहावलोक-	३/१५/३९
स्नेहोत्थरोमा	३/४/१४
स्पर्द्धश्रिया परिवृतो	४/३०/७
स्पर्शं बालं	४/९/४
स्पर्शस्तस्याभवत्	३/१२/४६
स्पर्शेषु यत्	२/९/६
स्पर्शोऽभवत्	३/२६/३५
स्पृशन्तं पादयोः	४/२०/१८
स्पृष्टं विकीर्य	१/१५/१०
स्पृष्ट्वा जलं	४/४/२४
स्पृष्ट्वापस्तं	१/७/२९
स्पृष्ट्वा मूर्द्धन्य-	४/८/२५
स्फीतं निधाय	४/२१/७
स्फीतान् जन-	१/६/११
स्फुरत्किरीटवलय	४/२४/४८
स्फुरन्महारत्न-	२/२/९
स्मयन् प्रलब्धं	३/१७/२७
स्मयमान इव प्रीत्या	४/२२/१७
स्मयमानमभिध्यायेत्	४/८/५१
स्मयमाना विक्लवेन	३/२३/४९
स्मरन्त आत्मजे	४/३१/१
स्मरन्ति नन्दन्ति	१/८/३६
स्मरन्त्या भर्त्तुः	३/१९/२३
स्मरन् दीर्घम्	३/३१/९
स्मरन् भगवद्-	३/२१/४९
स्मरन् मुकुन्दाङ्घ्रि-	१/५/१९
स्मरन् विश्वसृजाम्	३/६/१०
स्मर्त्तव्यं भजनीयं	१/१९/३८
स्मर्त्तुर्लुठन्ति	१/१५/१८
स्मितावलोकं	१/१०/२७
स्मितावलोकेन चरत्य-	४/२५/४२
स्मृतं प्रयच्छत्य-	३/५/४३
स्मृतिं पुनर्विस्मृत-	४/२०/२५
स्मृतौ हतायां	४/३/१७
स्मृत्या मुकुन्दाचरिता-	४/२२/२४
स्यात् सङ्गमो	४/२४/५८
स्यात् सम्भ्रमो	१/१८/४
स्यात् स्वस्ति	४/५/११
स्यादप्रमत्तो	२/२/३
स्यादेव यत्	४/२०/२८
स्यान्निर्गुणे ब्रह्मणि	४/२२/२५
स्यान्महत्सेवया	१/२/१६
स्रक्ष्यामि पूर्ववद्	३/९/२२
स्रग्भिर्विचित्र-	३/२३/१५
स्रवते ब्रह्म तस्यापि	४/१४/४१

स्रवन्ति सरितो ३/२९/४२
स्रुक् तुण्ड आसीत् ३/१३/३८
स्रुग्घस्तान् ४/१९/२९
स्रोतसां प्रवरा ३/३३/३२
स्रोतोगणास्तमरणं ४/२२/३९
स्रोतोभिः सप्त १/१३/५२
स्व एव धर्मे ४/४/१९
स्व एव धामन् २/९/१६
स्व एव धिष्ण्ये ४/२०/२८
स्व एव लोके ४/४/१९
स्वं लोकं ४/२९/४८
स्वं स्वं कालं ३/११/२४
स्वः पथाय १/१५/३२
स्वकर्मजान् २/२/७
स्वकीर्त्तिमया ३/८/३१
स्वगर्जितेन ३/१३/२६
स्वगार्हस्थ्यम् ३/३३/१५
स्वच्छत्वम् ३/२६/२२
स्वच्छन्दशक्तिं ३/२४/३३
स्वच्छस्फटिक– ३/३३/१७
स्वजनवधाद् १/९/३६
स्वजन्मना १/१०/२६
स्वजीवमायां १/१०/२२
स्वतस्तृप्तस्य ३/७/३
स्वतालुमूलं २/२/२०
स्वतेजसा ध्वस्तगुण– ३/३३/८, ४/३१/१८
स्वतेजसापिबत् ३/२६/२०
स्वतेजसा भूत– ४/४/१०
स्वतेजसोत्पाटित– ४/१६/२७
स्वतो ज्ञानं ३/७/३९
स्वत्तावशिष्टं ४/२८/१६
स्वद्रंष्ट्रयोद्धृत्य ३/१३/३३
स्वदृष्टवद्भिः २/९/९
स्वधर्मनिष्ठः शत– ४/२४/२९
स्वधर्ममनुतिष्ठन्तो ४/२४/६९
स्वधर्मयोगेन ४/२१/३६
स्वधर्मशीलैः पुरुषैः ४/१३/४
स्वधर्माचारणं ३/२८/२
स्वधर्मात्तेन ३/३२/६
स्वधामनि ब्रह्मणि २/४/१४
स्वधिष्ण्यं प्रतपन् २/६/१७
स्वधिष्ण्यमासाद्य ३/८/२१
स्वधिष्ण्यमास्थाय २/९/५
स्वधिष्ण्यमास्थाय विमृश्य २/९/७
स्वधिष्ण्यानाम् ३/२८/६
स्वनिगममपहाय १/९/३७
स्वनिर्मितेषु १/२/३२
स्वनुग्रहं कर्त्तुम् ४/६/४९
स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य १/२/१३
स्वपन् स्वयोदी– ३/८/१२
स्वपार्षदमुख्येन ३/१९/६
स्वपार्षदसैन्यञ्च ४/५/१
स्वपार्षदाग्र्यैः २/९/१४
स्वपार्ष्णिना– २/२/१९
स्वपुरुषेच्छानु– ३/१४/५०
स्वपौरुषे प्रतिहते ३/१९/१२
स्वप्ने यथा पुरुषः ४/२२/२७
स्वप्राणान् यः १/७/३७
स्वभावगुण– ३/२९/७
स्वभावरक्तस्य १/५/१५
स्वभृत्यसंसार– ३/२५/११

स्वमात्रा ब्रह्म-	३/३३/१२
स्वमाययात्मा-	४/१७/३१
स्वमायया वर्त्तित-	३/२१/२१
स्वमाययावृणो-	१/८/१४
स्वमेव धिष्ण्यं	३/८/४
स्वमेव ब्राह्मणो	४/२२/४६
स्वयं तदन्तः-	३/८/२२
स्वयं धनुर्द्वारि	३/१/१६
स्वयंवरे नाग्न-	३/३/४
स्वयं विधत्ते स्व-	३/१३/५१
स्वयं विप्रकृतो	१/१८/४९
स्वयं सर्वेन	३/१८/५
स्वयं हि तीर्थानि	१/१९/८
स्वयञ्च गुरु-	१/११/२३
स्वयन्त्वसाम्याति-	३/२/२१
स्वयम्भुवं यं	३/८/१५
स्वयम्भुवे नमस्कृत्य	४/६/२
स्वयम्भूः साकम्	३/२४/९
स्वयैव कान्त्या	३/२२/१६
स्वयोनिषु	३/२८/४३
स्वयोपादत्त	४/३०/५०
स्वरस्मृतीरसुरा	२/१/३६
स्वरा सप्त	३/१२/४६
स्वरूपं लक्ष्यते	३/२९/१
स्वरूपं बत	३/२९/४
स्वरूपमवरुन्धानो	४/१३/९
स्वरूपेण मया	३/९/३३
स्वरोचिषा तत्	३/८/१४
स्वर्गापवर्गद्वाराय	४/२४/३७
स्वर्गो तपो-	२/७/३९
स्वर्ग्यं ध्रौव्यं	४/१२/४५
स्वर्णमाषैः	३/११/९
स्वर्णरौप्यायसैः	४/२५/१४
स्वर्णार्णशतपत्रैश्च	४/६/१६
स्वर्धुन्युदार्द्रैः	३/८/५
स्वर्लोकः कल्पितो	२/५/४२
स्वर्लोकपालाः	२/६/४३
स्वर्वीथिर्वत्सरस्येष्टा	४/१३/१२
स्वर्हत्तमा ह्यपि	३/१५/३१
स्वलक्षणा	२/४/२२
स्वलक्षितगतिः	२/५/२०
स्वलङ्कृतं मेखलया	३/८/२८
स्वलङ्कृतं श्याम-	१/१६/१२
स्वशक्त्या मायया	४/११/२६
स्वशान्तरूपेषु	३/२/१५
स्वशूलसूच्यर्पित-	४/५/१०
स्वसम्भवं	३/९/२६
स्वसर्गस्याशिषं	३/१४/३७
स्वसारं जगृहे	४/२९/२२
स्वसुखमुपगते	१/९/३२
स्वसुतं देवहूत्याह	३/२५/६
स्वसेनया	१/१६/१२
स्वसैन्यचरण-	३/२१/५३
स्वस्थः प्रशान्त-	२/७/१०
स्वस्थस्तद्व्यभिचारेण	४/२८/६४
स्वां काष्ठाम्	१/१/२३
स्वां देवमायाम्	३/१८/२४
स्वागतं ते प्रसीदेश	४/७/३६
स्वागतं ते सुरर्षे	४/३१/५
स्वागतं वो द्विज-	४/२२/१२
स्वाङ्गं तपो-	३/३३/२९
स्वाज्यं दृशि	३/१३/३५

स्वातन्त्र्यं १/१६/२८
स्वात्मन् रतस्या– ३/१४/२८
स्वातन् रते ३/४/१६
स्वात्मन् विधत्त ३/२८/३६
स्वानां दिदृक्षुः ४/३१/३०
स्वानां धिया ३/१५/४२
स्वानां प्रदर्शय ४/२६/२३
स्वानां मृतानां १/७/५८
स्वानां यथा ४/३/१९
स्वानां विबुध्य ३/१५/३७
स्वानाञ्चानन्य– १/७/२५
स्वानामनुग्रहाय ४/२२/१६
स्वानामपृच्छत् ३/१/२५
स्वानुभूत्या ३/३३/२५
स्वाप इत्युच्यते ३/२६/३०
स्वाप्नं पुनर्न ३/२८/२८
स्वाप्नीवाभात्य– ४/१२/४
स्वाभासेन ३/२७/१२
स्वाभासैर्लक्षितो ३/२७/१३
स्वामिन्यघं १/१८/३३
स्वायम्भुव कया १/६/३
स्वायम्भुवस्य च ३/२१/१
स्वायम्भुवस्यापि ४/८/६
स्वायम्भुवेन २/७/२
स्वायम्भुवो मुदा ४/१/५
स्वारम्भकं प्रति ३/२८/३७
स्वाराज्यं यच्छतो ४/९/३५
स्वाराज्यलक्ष्म्याप्त– ३/२/२१
स्वाराज्यस्या– ४/२४/५४
स्वास्त्रैर्हरन्त्याः ३/१/७
स्वाहाभिमानिन– ४/१/५९
स्वाहा स्वधा २/७/३८
स्विष्टं यजुर्भिः ४/७/४१
स्विष्टस्य सूक्तस्य च १/५/२२
स्विष्टाः सुतुष्टाः ४/१४/२२
स्वीयं वाक्यमृतं ३/२४/३०
स्वेच्छावतार– ४/८/५७
स्वेनैव तुष्यतु ३/३१/१८
स्वे स्वे काले ३/२९/४१
स्वैरं गतस्य ४/२६/२६

ह

हंसकारण्डवकुलैः ४/९/६४
हंसपारावत– ३/२३/२०
हंसश्रियोः ३/१५/३८
हंससारस–चक्राह्व– ३/१०/२५
हंससारस–चक्राह्व–कारणव– ४/२४/२१
हंसावहञ्च त्वञ्चार्य ४/२८/५४
हंसो हंसेन ३/२४/२०
हतं व्यकर्षद् ३/३/१
हतः पुण्य– ४/१०/३
हतश्रियौ ब्रह्म– ३/१६/३३
हतावशिष्टा ४/१०/२०
हतोद्यमाः ४/१३/४९
हतोऽयं मानवः ४/१०/१४
हत्वा स्वरिक्थ– १/१०/१
हनिष्यत्यवतीर्य ३/१४/४१
हन्त प्रिया ४/४/२८
हन्तास्मिन् जन्मनि १/६/२२
हन्त्यसाधु– ४/१३/४०
हन्यतां हन्यतामेष ४/१४/३१

हन्यमाना दिशो	४/४/३४	हर्म्याण्यारुरुहुः	१/११/२४
हयानिभान्	३/३/२७	हर्यक्षायादिशत्	४/२४/२
हरन्ति बलिमायत्ता-	३/१५/८	हर्षं शोकं	४/२९/७५
हरन्ति वज्रा-	१/१४/३७	हर्षविह्वलिता-	१/११/२९
हरन्ति स्मरतः	१/१५/२७	हर्षशोकयुत-	१/१३/५९
हरन्त्यायुः	४/२९/२१	हविर्द्धानाद्धविः	४/२४/८
हरन्निव मनो-	४/२०/३७	हवींषि हूयमानानि	४/१३/२६
हरिं गुरुं	४/२१/३६	हव्यं वहे	४/७/४१
हरिः सुदर्शनं	४/१५/१६	हव्यकव्या-	२/६/१
हरिभावनया	१/१३/५४	हसन्ति यस्या-	३/१४/२८
हरिरधनात्म-	४/३१/२१	हस्तपादौ पुमान्	४/२९/१५
हरिरपि	३/४/२८	हस्तावस्य विनि-	३/६/२१
हरिरिव हन्तुम्	१/९/३७	हस्ताविन्द्रो	३/२६/६६
हरिर्देहभृताम्	४/२९/५०	हस्ते प्रगृह्य	२/७/१६
हरिर्यथा ताक्ष्र्य-	३/१९/१४	हस्तौ च निरभि-	३/२६/५८
हरेः कथां	३/१४/१	हस्तौ रुरुहतुस्तस्य	२/१०/२४
हरेः कथामेव	३/५/१५	हाटकासन आसीनान्	४/२२/६
हरेः कथायां	३/५/१४	हातुं प्रचक्रमे	४/२८/१०
हरेः पदानुस्मृति-	३/५/१३	हारकेयूरमुकुटैः	४/१०/१९
हरेरद्भुत-	२/८/२	हारेण कन्धर-	३/१५/४१
हरेरुदारं	१/१८/१५	हारेण च महा-	३/२३/३२
हरेर्गुणाक्षिप्त-	१/७/११	हारेण चानन्त-	३/८/२८
हरेर्धृतक्रोड-	३/२०/८	हासं हरेरवनत-	३/२८/३२
हरेर्निशम्य	४/३१/२४	हासावलोककलया	४/७/२१
हरेर्मुहुस्तत्	४/२२/२५	हासो जनोन्माद	२/१/३१
हरेर्लसत्-	२/३/२१	हाहाकारस्तदैवासीत्	४/१०/१४
हरेर्विदित्वा	३/१८/१	हाहाकारो महान्	३/१६/३४
हरौ स वव्रे-	४/१२/८	हाहेति वादः	४/४/२८
हर्त्तान्यथा हृतपुण्यः	४/२०/१४	हिंसाया निर्ऋतेः	२/६/९
हर्त्तुमारेभिरे	४/२७/१५	हित्वा गतो	४/१३/४७
हर्त्तर्हरिष्यति शिरो	२/७/३३	हित्वा गृहान्	४/२८/३४

हित्वा तदीप्सित- ३/३३/२०
हित्वा मां पदम् ४/२८/५३
हित्वा मिषन्तं ४/८/१४
हित्वा यक्षेश्वर- ४/६/२८
हित्वार्चां भजते ३/२९/२२
हित्वार्भकः ४/१२/५२
हित्वावद्यमिमं १/६/२४
हित्वा शृण्वन्ति ३/३२/१९
हित्वा श्रितास्ते ३/२१/१७
हित्वेतरान् प्रार्थ- १/१८/२०
हित्वेदं नृप १/१२/२८
हिमनिर्झर- ४/२५/१८
हिमालयं न्यस्त- १/१३/३०
हिरण्मयं स ३/६/६
हिरण्मया- ३/२६/५३
हिरण्मयेन पात्रेन वीर्य ४/१८/१५
हिरण्मयेण पात्रेण सिद्ध- ४/१३/३६
हिरण्यं गां १/१२/१४
हिरण्यं रजतं ३/३/२७
हिरण्यकशिपुश्चापि ४/२१/४७
हिरण्यकेशः पद्माक्षः ३/२४/१७
हिरण्यकेशो ३/१८/७
हिरण्याक्षोऽनुजः ३/१७/२०
हुताश इव १/१२/२१
हुताशने ४/२१/४१
हुत्वाग्नीन् ४/१४/३६
हृतं क्षेत्रं १/१३/२४
हृतवति १/९/३५
हृतात्मनो ३/२५/३६
हृत्पद्मकर्णिका- ४/८/५०
हृत्पद्मकोषे ४/९/२
हृदयं तस्य ३/२२/३
हृदयं मनसा ३/२६/६८
हृदयञ्चास्य ३/६/२४
हृदा स्वर्लोक २/५/३८
हृदि कामो ३/१२/२६
हृदि कृत्वा १/१३/२७
हृदिन्द्रियाण्यसुः ३/१२/११
हृदि ब्रह्म १/१५/४४
हृदिस्थं १/९/१०
हृदि स्थितो ३/५/४
हृदि हृदि १/९/४२
हृदीकः ससुतो १/१४/२८
हृदीकसत्यात्मज- ३/१/३५
हृदोपगुह्या- ४/२०/२१
हृदोपगुह्यार्ह- २/२/१८
हृद्यन्तस्थो १/२/१७
हृषीकेशमनु- २/४/११
हृष्टः परर्द्ध्या ३/१४/४९
हृष्यत्तनुः प्रेम- २/९/१७
हेतुत्वमप्यसति ३/२८/३६
हे पार्थ हे १/१५/१८
हेयोपादेय- ३/३२/२५
हेलनं गिरिश- ४/११/३३
हैमोपस्करम् ४/२६/३
ह्यजोऽपि जातो ३/२/१५
ह्यधोक्षजो ४/३/२३
ह्यपि मुनिभि- ४/७/२९
ह्रस्वपान्निम्न- ४/१४/४४
ह्रस्वेन कालेन ४/२०/१५
ह्रियमाणं विचक्ष्वैनं ४/१९/३६

ह्रिया प्रश्रय– ४/२२/६२
ह्रीमन्तः परमोदाराः ४/१५/२५
ह्वयामहे त्वच्छ्रवसा ४/१९/२८

  